कार्ल मार्क्स
पूंजी

कार्ल मार्क्स

पूंजी

Karl Marx

दुनिया के मज़दूरो, एक हो!

राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना

खण्ड

१

पहली पुस्तक।
पूंजी के उत्पादन की प्रक्रिया

प्रगति प्रकाशन · मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

प्रकाशक की ओर से

कार्ल मार्क्स की 'पूंजी' के प्रथम खंड का प्रस्तुत हिंदी संस्करण अंग्रेज़ी में १८८७ में प्रकाशित और फ़्रेडरिक एंगेल्स द्वारा संपादित संस्करण के अनुसार तैयार किया गया है।

एंगेल्स द्वारा चौथे जर्मन संस्करण (१८९०) में स्वयं किये गये परिवर्तनों को ही १८८७ के अंग्रेज़ी संस्करण वाले पाठ में और प्रस्तुत हिंदी अनुवाद में समाविष्ट किया गया है। ये परिवर्तन जहां किये गये हैं, वहां उनकी ओर संकेत कर दिया गया है। मूल पाठ के साथ लेखक की पाद-टिप्पणियों में उद्धृत रचनाओं के नामों की फिर से तुलना करके भूलों को भी सुधार दिया गया है।

पुस्तक के आरंभ में मार्क्स और एंगेल्स द्वारा लिखित जर्मन, फ़्रांसीसी तथा अंग्रेज़ी संस्करणों की भूमिकाएं और अनुकथन दिये गये हैं। पुस्तक के अंत में उद्धृत प्रकाशनों की सूची, नाम-निर्देशिका, साहित्यिक और पौराणिक नाम-सूची और विषय-निर्देशिका भी दी गयी हैं।

इस संस्करण में अनुवाद को फिर से सावधानीपूर्वक दोहराया और संशोधित किया गया है। पहले संस्करण से एक महत्त्वपूर्ण अंतर अनेक पारिभाषिक शब्दों का है। इस संस्करण में भारत सरकार के केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा प्रकाशित बृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह तथा अन्य पारिभाषिक संग्रहों का यथासंभव उपयोग किया गया है।

विषय-सूची

'पूंजी' के जर्मन, फ़्रांसीसी और अंग्रेज़ी संस्करणों के लिए कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स द्वारा लिखित भूमिकाएं और अनुकथन

पहली पुस्तक

पूंजीवादी उत्पादन

भाग १

पण्य और द्रव्य

भाग २

द्रव्य का पूंजी में रूपांतरण

भाग ३

निरपेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन

भाग ४

सापेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन

पूंजीवादी उत्पादन

भाग ४ (जारी)

सापेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन

भाग ५

निरपेक्ष और सापेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन

भाग ६

मज़दूरी

भाग ७

पूंजी का संचय

भाग ८

तथाकथित आदिम संचय

निर्देशिकाएं

अपने अविस्मरणीय मित्र,
सर्वहारा के निडर, निष्ठावान, उदात्त नेता

विल्हेल्म वोल्फ़ को समर्पित,

जिनका जन्म २१ जून १८०९ को तारनाऊ में और मृत्यु ९ मई १८६४ को मैंचेस्टर में निर्वासन में हुई

'पूंजी' के जर्मन, फ़्रांसीसी और अंग्रेज़ी संस्करणों के लिए कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स द्वारा लिखित भूमिकाएं और अनुकथन

पहले जर्मन संस्करण की भूमिका

यह रचना, जिसका प्रथम खंड मैं अब जनता के सामने पेश कर रहा हूं, १८५६ में प्रकाशित मेरी पुस्तक *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* की ही अगली कड़ी है। पहले हिस्से और उसकी बाद की कड़ी के बीच समय के इतने बड़े अंतराल का कारण मेरी कई वर्ष लंबी बीमारी है, जिसने मेरे काम में बार-बार बाधा डाली।

उस पूर्ववर्ती रचना का सारतत्त्व इस खंड के पहले तीन अध्यायों में संक्षेप में दे दिया गया है। यह केवल संदर्भ और पूर्णता की दृष्टि से ही नहीं किया गया है। विषय-वस्तु का प्रस्तुतीकरण सुधारा गया है। जहां तक परिस्थितियों ने किसी भी तरह इजाज़त दी है, पूर्ववर्ती पुस्तक में जिन बहुत सी बातों की ओर इशारा भर किया गया था, इस पुस्तक में उनपर अधिक पूर्णता के साथ विचार किया गया है। इसके विपरीत, वहां जिन बातों पर पूर्णता के साथ विचार किया गया था, इस ग्रंथ में उनको छुआ भर गया है। मूल्य और द्रव्य के सिद्धांतों के इतिहास से संबंधित हिस्से अब अलबत्ता बिल्कुल छोड़ दिये गये हैं। किंतु जिस पाठक ने पहली पुस्तक को पढ़ा है, वह पायेगा कि पहले अध्याय की पाद-टिप्पणियों में इन सिद्धांतों के इतिहास से संबंध रखनेवाली बहुत सी नयी सामग्री का हवाला दे दिया गया है।

यह नियम सभी विज्ञानों पर लागू होता है कि विषय-प्रवेश सदा कठिन होता है। इसलिए पहले अध्याय को और विशेषकर उस अंश को, जिसमें पण्यों का विश्लेषण है, समझने में सबसे अधिक कठिनाई होगी। उस हिस्से को, जो मूल्य के सार तथा मूल्य के परिमाण के विश्लेषण से विशेषकर संबद्ध है, मैंने जहां तक संभव हुआ है, सरल बना दिया है।[1] मूल्य-रूप, जिसकी पूरी तरह विकसित शक्ल द्रव्य-रूप है, बहुत ही सीधी और सरल चीज़ है। फिर भी मानव-मस्तिष्क को उसकी तह तक पहुंचने का प्रयत्न करते हुए २,००० वर्ष से ज़्यादा हो गये हैं, पर

---

[1] यह इसलिए और भी आवश्यक था कि शुल्ज़-डेलिच के मत का खंडन करनेवाले फ़र्दीनांद लासाल की रचना के उस हिस्से में भी, जिसमें वह इन विषयों की मेरी व्याख्या का "बौद्धिक सारतत्त्व" देने का दावा करते हैं, महत्त्वपूर्ण ग़लतियां मौजूद हैं। यदि फ़० लासाल ने अपनी आर्थिक रचनाओं की समस्त मुख्य सैद्धांतिक प्रस्थापनाएं, जैसे पूंजी के ऐतिहासिक स्वरूप से तथा उत्पादन की अवस्थाओं और उत्पादन की प्रणाली के बीच पाये जानेवाले संबंध से ताल्लुक रखनेवाली प्रस्थापनाएं, इत्यादि और यहां तक कि वह शब्दावली भी, जिसे मैंने रचा है, मेरी रचनाओं से कोई भी आभार प्रदर्शन किये बिना ही अक्षरशः उठा ली हैं, तो उन्होंने संभवतः प्रचार के प्रयोजनों के कारण ही ऐसा किया है। अलबत्ता इन प्रस्थापनाओं का उन्होंने जिस तरह विस्तारपूर्वक विवेचन किया है और उनको जिस तरह लागू किया है, मैं यहां उसका ज़िक्र नहीं कर रहा हूं। उससे मेरा कोई संबंध नहीं है।

बेसूद, जब कि दूसरी तरफ़, उससे कहीं अधिक जटिल और संश्लिष्ट रूपों के सफल विश्लेषण के कम से कम निकट तो पहुंचा जा सका है। इसका क्या कारण है? यही कि एक सजीव इकाई के रूप में शरीर का अध्ययन करना उस शरीर की कोशिकाओं के अध्ययन से ज्यादा आसान होता है। इसके अलावा आर्थिक रूपों का विश्लेषण करने में न तो सूक्ष्मदर्शक यंत्रों से कोई मदद मिल सकती है, न ही रासायनिक अभिकर्मकों से। दोनों का स्थान अमूर्तीकरण की शक्ति को लेना होगा। लेकिन बुर्जुआ समाज में श्रम के उत्पाद का पण्य-रूप – या पण्य का मूल्य-रूप – आर्थिक कोशिका-रूप होता है। सतही नज़र रखनेवाले पाठक को लगेगा कि इन रूपों का विश्लेषण करना फ़िज़ूल ही बहुत छोटी-छोटी चीज़ों में माथा खपाना है। बेशक यह छोटी-छोटी चीज़ों में माथा खपानेवाली बात है, पर ये वैसी ही छोटी-छोटी चीजें हैं, जैसी चीज़ों से सूक्ष्म शरीररचनाविज्ञान का वास्ता पड़ता है।

अतएव मूल्य-रूप विषयक हिस्से को छोड़कर इस पुस्तक पर कठिन होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता। पर ज़ाहिर है, मैं ऐसे पाठक को मानकर चलता हूं, जो एक नयी चीज़ सीखने को और इसलिए ख़ुद अपने दिमाग़ से सोचने को तैयार है।

भौतिकविज्ञानी या तो भौतिक परिघटनाओं का प्रेक्षण वहां करता है, जहां वे अपने सबसे विशिष्ट रूप में होती हैं और विघ्नकारी प्रभावों से अधिकतम मुक्त होती हैं, या जहां भी संभव होता है, वह ऐसी परिस्थितियों में ख़ुद प्रयोग करके देखता है, जो परिघटना का अपने सामान्य रूप में होना सुनिश्चित करती हैं। इस रचना में मुझे पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और इसके अनुरूप उत्पादन और विनिमय की अवस्थाओं का अध्ययन करना है। अभी तक इनकी आदर्श भूमि इंगलैंड है। यही कारण है कि अपने सैद्धांतिक विचारों के प्रतिपादन में मैंने इंगलैंड को मुख्य उदाहरण के रूप में इस्तेमाल किया है। किंतु यदि जर्मन पाठक इंगलैंड के औद्योगिक तथा खेतिहर मज़दूरों की हालत को देखकर अपने कंधे उचका देता है या बड़े आशावादी ढंग से अपने दिल को यह दिलासा देता है कि ख़ैर, जर्मनी में हालत कम से कम इतनी ख़राब नहीं है, तो मुझे उससे साफ़-साफ़ कहना होगा कि De te fabula narratur! [क़िस्सा आपका ही है!]।

असल में यह पूंजीवादी उत्पादन के नैसर्गिक नियमों के परिणामस्वरूप पैदा होनेवाले सामाजिक विरोधों के विकास की ज्यादा या कम मात्रा का सवाल नहीं है। सवाल ख़ुद इन नियमों का, लौह अनिवार्यता के साथ अवश्यंभावी परिणाम पैदा करने के लिए कार्यरत इन प्रवृत्तियों का है। औद्योगिक दृष्टि से अधिक विकसित देश कम विकसित देश को सिर्फ़ उसके अपने भविष्य का बिंब ही दिखलाता है।

लेकिन इसके अलावा एक बात और भी है। जर्मन लोगों के यहां पूंजीवादी उत्पादन जहां पूरी तरह से स्वाभाविक बन गया है (उदाहरण के लिए, वास्तविक कारख़ानों में), वहां हालत इंगलैंड से कहीं ज्यादा ख़राब है, क्योंकि वहां फ़ैक्टरी अधिनियमों के प्रतिभार का अभाव है। बाक़ी तमाम क्षेत्रों में, यूरोपीय महाद्वीप के पश्चिमी भाग के अन्य सभी देशों की तरह, हमें भी न सिर्फ़ पूंजीवादी उत्पादन के विकास से ही, बल्कि इस विकास की अपूर्णता से भी कष्ट भोगना पड़ रहा है। आधुनिक बुराइयों के साथ-साथ उत्पादन की कालातीत विधियों के निष्क्रिय रूप से अभी तक बचे रहने से जनित और सामाजिक तथा राजनीतिक असंगतियों के अपने अनिवार्य सिलसिले समेत विरासत में मिली बेशुमार बुराइयां हमें कुचल रही हैं। हमें न केवल जीवित, बल्कि मृत चीजें भी सता रही हैं। Le mort saisit le vif! [मुरदे ज़िंदों को जकड़े हुए हैं!]

[illegible] 2 Uhr Nachts. 16 Aug. 1867

[illegible]

Dear Fred,

Soeben den letzten Bogen (49.) des Buchs fertig corrigirt. Der Anhang — Werthform — kleingedruckt, umfaßt 1¼ Bogen.

Vorrede ditto gestern corrigirt zurückgeschickt. Also dieser Band ist fertig. Bloß Dir verdanke ich es, daß dieß möglich war! Ohne Deine Aufopferung für mich konnte ich unmöglich die ungeheuren Arbeiten zu den 3 Bänden machen. I embrace you, full of thanks!

Inliegend 2 Bogen Reinabzug.

Die 15 £ mit bestem Dank erhalten.

Salut, mein lieber, theurer Freund!

Dein K. Marx

१६ अगस्त १८६७ को मार्क्स द्वारा एंगेल्स को लिखे गये एक पत्र की अनुलिपि
(चित्र में आकार छोटा कर दिया गया है)

१६ अगस्त १८६७, दो बजे रात

प्रिय फ़्रेड,

किताब के **आखिरी फ़र्मे** (४६वें फ़र्मे) को शुद्ध करके मैंने अभी-अभी काम समाप्त किया है। परिशिष्ट — **मूल्य का रूप — छोटे टाइप** में सवा फ़र्मे में आया है।

भूमिका को भी शुद्ध करके मैंने कल वापस भेज दिया था। सो **यह खंड समाप्त हो गया है।** उसे समाप्त करना संभव हुआ, इसका श्रेय एकमात्र **तुम्हें** है। तुमने मेरे लिए जो आत्मत्याग किया है, उसके अभाव में मैं तीन खंडों के लिए इतनी ज़बर्दस्त मेहनत संभवतः हरगिज़ न कर पाता। कृतज्ञता से ओतप्रोत होकर मैं तुम्हारा आलिंगन करता हूं!

दो फ़र्मे इस ख़त के साथ रख रहा हूं, जिनका प्रूफ़ मैं देख चुका हूं।

१५ पाउंड मिल गये थे, धन्यवाद।

नमस्कार, मेरे प्रिय, स्नेही मित्र!

तुम्हारा

कार्ल मार्क्स

इंगलैंड की तुलना में जर्मनी और बाक़ी महाद्वीपीय पश्चिमी यूरोप में सामाजिक आंकड़े बहुत ही ख़राब ढंग से संकलित किये जाते हैं। लेकिन वे घूंघट को इतना तो जरूर उठा देते हैं कि उसके पीछे छिपे हुए मेदूसा के ख़ौफ़नाक सिर की एक झलक हमें मिल जाये। इंगलैंड की तरह अगर हमारी सरकारें और संसदें भी समय-समय पर आर्थिक अवस्थाओं की जांच करने के लिए आयोग नियुक्त करतीं, इन आयोगों के हाथ में भी अगर सत्य का पता लगाने के लिए उतने ही पूर्ण अधिकार होते और इस काम के लिए अगर हमारे देशों में भी इंगलैंड के फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों, सार्वजनिक स्वास्थ्य की डाक्टरी रिपोर्टें तैयार करनेवालों और स्त्रियों तथा बच्चों के शोषण और आवास तथा आहार की स्थिति के जांच आयुक्तों जैसे योग्य और पक्षपातरहित तथा लोगों की लिहाज़दारी से आज़ाद लोगों को पाना संभव होता, तो हम अपने देश में हालत देखकर विस्मयाभिभूत हो जाते। पर्सियस ने एक जादू की टोपी ओढ़ ली थी, ताकि वह जिन दानवों को खोजकर मारने के लिए निकला था, वे उसे देख न पायें। हम अपनी आंखों और कानों को जादू की टोपी से इसलिए ढंक लेते हैं कि हम यह मान सकें कि दानव हैं ही नहीं।

इस मामले में अपने को धोखा नहीं देना चाहिए। जिस प्रकार १८वीं सदी में अमरीका के स्वातंत्र्य-युद्ध ने मध्य वर्ग को जागृत करने के लिए घंटा बजाया था, उसी प्रकार १९वीं सदी में अमरीका के गृह-युद्ध ने यूरोप के मज़दूर वर्ग के जागरण का घंटा बजाया है। इंगलैंड में सामाजिक विघटन को बढ़ते हुए कोई भी देख सकता है। जब वह एक ख़ास बिंदु पर पहुंच जायेगा, तो उसकी यूरोपीय महाद्वीप पर प्रतिक्रिया होना अनिवार्य है। वहां ख़ुद मज़दूर वर्ग के विकास के अनुसार यह विघटन अधिक पाशविक या अधिक मानवीय रूप ग्रहण करेगा। इसलिए अधिक ऊंचे उद्देश्यों की बात रहने भी दी जाये, तो भी जो वर्ग इस समय सत्तारूढ़ हैं, उनके अपने सबसे महत्त्वपूर्ण हित मज़दूर वर्ग के स्वतंत्र विकास के रास्ते से क़ानूनी ढंग से जितनी रुकावटें हटायी जा सकती हैं, उनके हटाये जाने का तक़ाज़ा कर रहे हैं। इस तथा अन्य कारणों से भी मैंने इस ग्रंथ में इंगलैंड के फ़ैक्टरी अधिनियमों के इतिहास, उनके ब्यौरों तथा परिणामों को इतना अधिक स्थान दिया है। हर क़ौम दूसरी क़ौमों से सीख सकती है और उसे सीखना चाहिए। और जब कोई समाज अपनी गति के स्वाभाविक नियमों का पता लगाने के लिए सही रास्ते पर चल पड़ता है – और इस रचना का अंतिम उद्देश्य आधुनिक समाज की गति के आर्थिक नियम को खोलकर रख देना ही है – तब भी अपने सामान्य विकास के क्रमिक चरणों में सामने आनेवाली रुकावटों को वह न तो हिम्मत के साथ छलांग मारकर पार कर सकता है और न ही क़ानून बनाकर उन्हें रास्ते से हटा सकता है। लेकिन वह प्रसव की पीड़ा को कम कर सकता है और उसकी अवधि को छोटा कर सकता है।

एक संभव ग़लतफ़हमी से बचने के लिए दो शब्द कह दिये जायें। मैंने पूंजीपति और भूस्वामी को बहुत सुहावने रंगों में कदापि चित्रित नहीं किया है। लेकिन यहां व्यक्तियों की चर्चा केवल उसी हद तक की गयी है, जिस हद तक कि वे किन्हीं आर्थिक संवर्गों के साकार रूप या किन्हीं ख़ास वर्गीय संबंधों और वर्गीय हितों के मूर्त रूप बन गये हैं। मेरे दृष्टिकोण के अनुसार समाज की आर्थिक व्यवस्था का विकास प्राकृतिक इतिहास की एक प्रक्रिया है; इसलिए और किसी भी दृष्टिकोण की अपेक्षा मेरा दृष्टिकोण व्यक्ति पर उन संबंधों की कम ज़िम्मेदारी डालेगा, जिनका वह सामाजिक दृष्टि से सदा उपज बना रहता है, चाहे आत्मगत दृष्टि से वह अपने को उनसे कितना भी ऊपर क्यों न उठा ले।

राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में स्वतंत्र वैज्ञानिक अन्वेषण को केवल अन्य सभी क्षेत्रों में

सामने आनेवाले शत्रुओं का ही सामना नहीं करना पड़ता। यहां उसे जिस विशेष प्रकार की सामग्री की छानबीन करनी पड़ती है, उसका स्वरूप ही ऐसा है कि वह मानव-हृदय के सबसे हिंसक, नीच और घृणित आवेगों – निजी स्वार्थ की राक्षसी प्रवृत्तियों – को शत्रुओं के रूप में मैदान में ले आता है। उदाहरण के लिए, इंगलैंड का राज्यानुमोदित चर्च अपने ३९ में से ३८ धर्मसिद्धांतों पर किसी भी हमले को चाहे स्वेच्छा से माफ़ कर दे, पर अपनी आमदनी के ३९वें हिस्से पर चोट को हरगिज़ नहीं सहेगा। आजकल मौजूदा संपत्ति-संबंधों की आलोचना के मुक़ाबले में तो ख़ुद अनीश्वरवाद भी culpa levis [क्षम्य पाप] है। फिर भी एक असंदिग्ध प्रगति हुई है। मैं मिसाल के लिए पिछले कुछ सप्ताहों में ही प्रकाशित हुई सरकारी रिपोर्ट *Correspondence with Her Majesty's Missions Abroad, regarding Industrial Questions and Trades' Unions* का उल्लेख कर रहा हूं। इसमें विदेशों में तैनात ब्रिटिश ताज के प्रतिनिधि साफ़-साफ़ कहते हैं कि जर्मनी में, फ्रांस में – और संक्षेप में कहा जाये, तो यूरोपीय महाद्वीप के सभी सभ्य देशों में – पूंजी और श्रम के मौजूदा संबंधों में आमूल परिवर्तन बिल्कुल इंगलैंड की ही भांति प्रत्यक्ष और अनिवार्य है। इसके साथ-साथ, अटलांटिक महासागर के उस पार, संयुक्त राज्य अमरीका के उपराष्ट्रपति मि० वेड ने सार्वजनिक सभाओं में ऐलान किया है कि दास-प्रथा के उन्मूलन के बाद अब अगला काम पूंजी के और भूमि पर निजी स्वामित्व के संबंधों का आमूलतः बदला जाना है। ये समय के संकेत हैं, जो पादरियों के बैंगनी लबादों या काले चोग़ों द्वारा नहीं छिपाये जा सकते। उनका यह अर्थ नहीं है कि कल कोई चमत्कार हो जायेगा। वे यह दिखलाते हैं कि ख़ुद शासक वर्गों के भीतर अब यह पूर्वाभास पैदा होने लगा है कि मौजूदा समाज कोई ठोस स्फटिक नहीं है, बल्कि वह एक ऐसा काय है, जो बदल सकता है और बराबर बदलता रहता है।

इस रचना के दूसरे खंड में पूंजी के परिचलन की प्रक्रिया का[2] (दूसरी पुस्तक) और पूंजी द्वारा अपने विकास के दौरान धारण किये जानेवाले विविध रूपों का (तीसरी पुस्तक) विवेचन किया जायेगा और तीसरे तथा अंतिम खंड (चौथी पुस्तक) में सिद्धांत के इतिहास पर प्रकाश डाला जायेगा।

वैज्ञानिक आलोचना पर आधारित प्रत्येक मत का मैं स्वागत करता हूं। जहां तक तथाकथित लोकमत के पूर्वाग्रहों का संबंध है, जिनके लिए मैंने कभी कोई रिआयत नहीं की, पहले की तरह आज भी उस महान फ़्लोरेंसवासी का यह सिद्धांत ही मेरा भी सिद्धांत है कि Segui il tuo corso, e lascia dir le genti! [तुम अपनी राह पर चलते चलो, लोग कुछ भी कहें, कहने दो!]

लंदन, २५ जुलाई १८६७　　　　**कार्ल मार्क्स**

---

[2]पृ० ५९६ पर लेखक ने बताया है कि इसमें वह किन-किन चीज़ों को शामिल करता है।

Das Kapital.

Kritik der politischen Oekonomie.

Von

Karl Marx.

Erster Band.

Buch I: Der Produktionsprocess des Kapitals.

Hamburg

Verlag von Otto Meissner.

1867.

New-York: L. W. Schmidt. 24 Barclay-Street.

'पूंजी', खंड १, के पहले जर्मन संस्करण का आवरण

दूसरे जर्मन संस्करण का अनुकथन

मुझे शुरूआत प्रथम संस्करण के पाठकों को यह बताने से करनी चाहिए कि दूसरे संस्करण में क्या-क्या परिवर्तन किये गये हैं। पहली नज़र में ही यह बात ध्यान आकृष्ट करती है कि पुस्तक की व्यवस्था अब अधिक सुस्पष्ट हो गयी है। जो नयी पाद-टिप्पणियां जोड़ी गयी हैं, उनके आगे हर जगह लिख दिया गया है कि वे दूसरे संस्करण की पाद-टिप्पणियां हैं। मूल पाठ के बारे में निम्नलिखित बातें सबसे महत्त्वपूर्ण हैं:

पहले अध्याय के अनुभाग १ में उन समीकरणों के विश्लेषण से, जिनके द्वारा प्रत्येक विनिमय-मूल्य अभिव्यक्त किया जाता है, मूल्य की व्युत्पत्ति का विवेचन पहले से अधिक वैज्ञानिक कड़ाई के साथ किया गया है; इसी प्रकार सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल द्वारा मूल्य के परिमाण के निर्धारण और मूल्य के सार के आपसी संबंध की तरफ़ जहां पहले संस्करण में इशारा भर किया गया था, वहां अब उसपर ख़ास ज़ोर दिया गया है। पहले अध्याय के अनुभाग ३ ('मूल्य का रूप') को पूर्णत: संशोधित किया गया है, जो और कुछ नहीं तो इसलिए भी ज़रूरी हो गया था कि पहले संस्करण में इस विषय का दो जगहों पर विवेचन हो गया था।—यहां प्रसंगवश यह भी बता दूं कि यह दोहरा विवेचन मेरे मित्र, हैनोवर के डाक्टर एल० कुगेलमान के कारण हुआ था। १८६७ के वसंत में मैं उनके यहां ठहरा हुआ था कि हैम्बर्ग से किताब के पहले प्रूफ़ आ गये और डा० कुगेलमान ने मुझे इस बात का क़ायल कर दिया कि अधिकतर पाठकों के लिए मूल्य के रूप की एक और, पहले से ज़्यादा शिक्षात्मक व्याख्या की आवश्यकता है।—पहले अध्याय का अंतिम अनुभाग—'पण्य की जड़-पूजा, इत्यादि'—बहुत-कुछ बदल दिया गया है। तीसरे अध्याय के अनुभाग १ ('मूल्यों की माप') को बहुत ध्यानपूर्वक दुहराया गया है, क्योंकि पहले संस्करण में इस अनुभाग की तरफ़ लापरवाही बरती गयी थी और पाठक को बर्लिन से १८५६ में प्रकाशित *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* में दी गयी व्याख्या का हवाला भर दे दिया गया था। सातवें अध्याय को, ख़ासकर उसके दूसरे हिस्से [अंग्रेज़ी संस्करण में नौवें अध्याय के अनुभाग २] को बहुत हद तक फिर से लिख डाला गया है।

पुस्तक के पाठ में जो बहुत से आंशिक परिवर्तन किये गये हैं, उन सबकी चर्चा करना समय का अपव्यय करना होगा, क्योंकि बहुधा वे विशुद्ध शैलीगत परिवर्तन हैं। ऐसे परिवर्तन पूरी किताब में मिलेंगे। फिर भी अब, पेरिस से निकलनेवाले फ़ांसीसी अनुवाद को दुहराने पर, मुझे लगता है कि जर्मन भाषा के मूल पाठ के कई हिस्से ऐसे हैं, जिनको संभवतया बहुत मुकम्मल ढंग से नये सिरे से ढालने की आवश्यकता है, कई अन्य हिस्सों का बहुत काफ़ी शैलीगत संपादन करने की ज़रूरत है और कुछ और हिस्सों में कहीं-कहीं जो भूलें हो गयी थीं,

उन्हें लगनपूर्वक सुधारना आवश्यक है। लेकिन इसके लिए समय नहीं था। कारण कि पहले संस्करण के ख़त्म होने और दूसरे संस्करण की छपाई के जनवरी १८७२ में आरंभ होने की सूचना मुझे केवल १८७१ के शरद में ही मिली। तब मैं दूसरे ज़रूरी कामों में फंसा हुआ था।

'पूंजी' को जर्मन मज़दूर वर्ग के व्यापक क्षेत्रों में तेज़ी से जो आदर प्राप्त हुआ, वही मेरी मेहनत का सबसे बड़ा इनाम है। आर्थिक मामलों में पूंजीवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करनेवाले वियेना के एक कारख़ानेदार हर मायर ने फ़्रांसीसी-जर्मन युद्ध के दौरान प्रकाशित एक पुस्तिका में इस विचार का बहुत ठीक-ठीक प्रतिपादन किया था कि जर्मनी के शिक्षित कहलानेवाले वर्गों में सैद्धांतिक चिंतन-मनन की महान क्षमता, जो जर्मन लोगों का पुश्तैनी गुण समझी जाती थी, अब लगभग पूर्णतया ग़ायब हो गयी है, किंतु इसके विपरीत जर्मन मज़दूर वर्ग में यह क्षमता अपने पुनरुत्थान का उत्सव मना रही है।

जर्मनी में इस समय तक राजनीतिक अर्थशास्त्र एक विदेशी विज्ञान जैसा है। गुस्ताव फ़ोन गूलीह ने अपनी पुस्तक *Geschichtliche Darstellung des Handels, der Gewerbe und des Ackerbaus etc.*, (5 Vols., Jena, 1830-1845) में और ख़ासकर उसके १८३० में प्रकाशित पहले दो खंडों में उन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर विस्तार-पूर्वक विचार किया है, जो जर्मनी में उत्पादन की पूंजीवादी विधि के विकास में बाधक हुईं और इसलिए जिनके कारण उस देश में आधुनिक बुर्जुआ समाज का विकास नहीं हो पाया। इस प्रकार, वहां वह मिट्टी ही नहीं थी, जिसमें राजनीतिक अर्थशास्त्र का पौधा उगता है। इस विज्ञान को तैयार माल के रूप में इंगलैंड और फ़्रांस से मंगाना पड़ा और इसके जर्मन प्रोफ़ेसर स्कूली लड़के ही बने रहे। उनके हाथों में विदेशी वास्तविकता की सैद्धांतिक अभिव्यक्ति जड़ सूत्रों का संग्रह बन गयी, जिनकी व्याख्या वे अपने इर्दगिर्द की टुटपुंजिया दुनिया के ढंग से करते थे और इसलिए यह ग़लत व्याख्या होती थी। वैज्ञानिक नपुंसकता की भावना, जो बहुत दबाने पर भी पूरी तरह कभी नहीं दबती, और यह परेशान करनेवाला अहसास कि हम एक ऐसे विषय को हाथ लगा रहे हैं, जो हमारे लिए वास्तव में एक पराया विषय है – इनको या तो साहित्यिक एवं ऐतिहासिक पांडित्य-प्रदर्शन के नीचे छिपा दिया जाता था, या इनपर तथा-कथित कामेराल विज्ञानों, अर्थात् अनेक विषयों की उस पंचमेल, सतही और अपूर्ण जानकारी से उधार मांगकर लायी हुई कुछ बाहरी सामग्री का पर्दा डाल दिया जाता था, जिसकी वैत-रणी को जर्मन नौकरशाही का सदस्य बनने की आशा रखनेवाले हर उम्मीदवार को पार करना पड़ता है; लेकिन फिर भी यह भावना और यह अहसास पूरी तरह नहीं छिप पाते थे।

१८४८ से जर्मनी में पूंजीवादी उत्पादन का बहुत तेज़ी से विकास हुआ है, और इस वक़्त तो वह सट्टेबाज़ी और धोखेधड़ी के रूप में पूरी जवानी पर है। लेकिन हमारे पेशेवर अर्थशास्त्रियों पर भाग्य ने अब भी दया नहीं की है। जिस समय ये लोग राजनीतिक अर्थशास्त्र का वस्तु-गत अध्ययन कर सकते थे, उस समय जर्मनी में आधुनिक आर्थिक परिस्थितियां वास्तव में मौजूद नहीं थीं। और जब ये परिस्थितियां वहां पैदा हुईं, तो हालत ऐसी थी कि पूंजीवादी क्षितिज की सीमाओं के भीतर रहते हुए उनकी वास्तविक एवं निष्पक्ष छानबीन करना असंभव हो गया। जिस हद तक राजनीतिक अर्थशास्त्र इस क्षितिज की सीमाओं के भीतर रहता है, अर्थात् जिस हद तक पूंजीवादी व्यवस्था को सामाजिक उत्पादन के विकास की एक अस्थायी ऐतिहासिक मंज़िल नहीं, बल्कि उसका एकदम अंतिम रूप समझा जाता है, उस हद तक राजनीतिक अर्थशास्त्र केवल उसी समय तक विज्ञान बना रह सकता है, जब तक कि वर्ग-संघर्ष

सुषुप्तावस्था में है या जब तक कि वह केवल इक्की-दुक्की और अलग-थलग परिघटनाओं के रूप में प्रकट होता है।

हम इंगलैंड को लें। उसका राजनीतिक अर्थशास्त्र उस काल का है, जब वर्ग-संघर्ष का विकास नहीं हुआ था। आख़िर में जाकर उसके अंतिम महान प्रतिनिधि – रिकार्डो – ने वर्ग-हितों के विरोध को, मज़दूरी और मुनाफ़े के तथा मुनाफ़े और किराये के विरोध को सचेतन ढंग से अपनी खोज का प्रस्थान-बिंदु बनाया और अपने भोलेपन में यह समझा कि यह विरोध प्रकृति का एक सामाजिक नियम है। किंतु इस प्रकार प्रारंभ करके पूंजीवादी अर्थशास्त्र का विज्ञान उस सीमा पर पहुंच गया था, जिसे लांघना उसकी सामर्थ्य के बाहर था। रिकार्डो के जीवन-काल में ही और उनके विरोध के तौर पर सिस्मोंदी ने इस दृष्टिकोण की कड़ी आलोचना की।[1]

इसके बाद जो काल आया, अर्थात् १८२० से १८३० तक, वह इंगलैंड में राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में वैज्ञानिक छानबीन की दृष्टि से उल्लेखनीय था। किंतु यह रिकार्डो के सिद्धांत का बाज़ारूकरण तथा विस्तार करने का और साथ ही पुराने मत के साथ इस सिद्धांत के संघर्ष का काल भी था। बड़े शानदार दंगल हुए। उनमें जो कुछ हुआ, उसकी यूरोपीय महाद्वीप में बहुत कम जानकारी है, क्योंकि इस वाद-विवाद का अधिकतर भाग पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाले लेखों और जब-तब प्रकाशित साहित्य तथा पुस्तिकाओं में बिखरा हुआ है। इस वाद-विवाद के पूर्वाग्रहरहित स्वरूप का कारण – हालांकि कुछ ख़ास-ख़ास मौक़ों पर रिकार्डो का सिद्धांत तभी से बुर्जुआ अर्थशास्त्र पर हमला करने के हथियार का काम देने लगा था – उस समय की परिस्थितियां थीं। एक ओर तो आधुनिक उद्योग ख़ुद उस समय अपने बचपन से निकल ही रहा था, जिसका प्रमाण यह है कि १८२५ के संकट के साथ पहली बार उसके आधुनिक जीवन के आवधिक चक्र का श्रीगणेश होता है। दूसरी ओर, पूंजी और श्रम का वर्ग-संघर्ष पृष्ठभूमि में धकेल दिया गया था, राजनीतिक दृष्टि से उस झगड़े द्वारा, जो एक तरफ़ Holy Alliance [पवित्र गुट] के इर्दगिर्द एकत्रित सरकारों तथा सामंती अभिजात वर्ग और दूसरी तरफ़, बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में साधारण जनता के बीच चल रहा था; और उस झगड़े द्वारा, जो औद्योगिक पूंजी तथा अभिजातवर्गीय भूसंपत्ति के बीच चल रहा था। यह दूसरा झगड़ा फ़्रांस में छोटी और बड़ी भूसंपत्ति के झगड़े से छिप गया था, और इंगलैंड में वह अनाज-क़ानूनों के बाद खुल्लमखुल्ला शुरू हो गया था। इस समय का इंगलैंड का राजनीतिक अर्थशास्त्र संबंधी साहित्य उस तूफ़ानी प्रगति की याद दिलाता है, जो फ़्रांस में डा० केने की मृत्यु के बाद हुई थी, मगर उसी तरह, जैसे अक्तूबर की अल्पकालीन गरमी वसंत की याद दिलाती है। १८३० में निर्णायक संकट आ पहुंचा।

फ़्रांस और इंगलैंड में बुर्जुआ वर्ग ने राजनीतिक सत्ता पर अधिकार कर लिया था। उस समय से ही वर्ग-संघर्ष व्यावहारिक तथा सैद्धांतिक दोनों दृष्टियों से अधिकाधिक बेलाग और डरावना रूप धारण करता गया। इसने वैज्ञानिक बुर्जुआ अर्थशास्त्र की मौत की घंटी बजा दी। उस वक़्त से ही सवाल यह नहीं रह गया कि अमुक प्रमेय सही है या नहीं, बल्कि सवाल यह हो गया कि वह पूंजी के लिए हितकर है या हानिकारक, उपयोगी है या अनुपयोगी, राजनीतिक दृष्टि से ख़तरनाक है या नहीं। निष्पक्ष छानबीन करनेवालों की जगह किराये के पहलवानों ने ले ली; सच्ची वैज्ञानिक खोज का स्थान दुर्भावना तथा पक्षमंडन के कुत्सित

[1] देखिये मेरी रचना *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, Berlin, 1859, S. 39.

इरादे ने ग्रहण कर लिया। इसके बावजूद उन धृष्टतापूर्ण पुस्तिकाओं का भी यदि वैज्ञानिक नहीं, तो ऐतिहासिक महत्त्व ज़रूर है, जिनसे कॉबडन और ब्राइट नामक कारख़ानेदारों के नेतृत्व में चलनेवाली अनाज-क़ानून विरोधी लीग ने दुनिया को पाट दिया था। उनका ऐतिहासिक महत्त्व इसलिए है कि उनमें अभिजातवर्गीय भूस्वामियों की बातों का खंडन किया गया था। लेकिन उसके बाद से स्वतंत्र व्यापार के क़ानूनों ने, जिनका उद्‌घाटन सर रॉबर्ट पील ने किया था, सतही राजनीतिक अर्थशास्त्र के इस आख़िरी कांटे को भी निकाल दिया है।

१८४८-१८४९ में यूरोप के महाद्वीपीय भाग में जो क्रांति हुई, उसकी प्रतिक्रिया इंगलैंड में भी हुई। जो लोग अब भी वैज्ञानिक होने का थोड़ा-बहुत दावा करते थे और महज़ शासक वर्गों के ज़रख़रीद दार्शनिक तथा मुसाहिब ही नहीं बने रहना चाहते थे, उन्होंने पूंजी के राजनीतिक अर्थशास्त्र का सर्वहारा के उन दावों के साथ ताल-मेल बैठाने की कोशिश की, जिनकी अब अवहेलना नहीं की जा सकती थी। इससे एक छिछला समन्वयवाद आरंभ हुआ, जिसके सबसे अच्छे प्रतिनिधि जॉन स्टुअर्ट मिल हैं। इस प्रकार बुर्जुआ अर्थशास्त्र ने अपने दिवालियेपन की घोषणा कर दी, जो एक ऐसी घटना थी, जिसपर महान रूसी विद्वान एवं आलोचक नि० चेर्नीशेव्स्की ने अपनी रचना 'मिल के अनुसार राजनीतिक अर्थशास्त्र की रूपरेखा' में पांडित्यपूर्ण प्रकाश डाला है।

इसलिए जर्मनी में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली उस वक़्त सामने आयी, जब उसका विरोधी स्वरूप इंगलैंड और फ़्रांस में वर्गों के भीषण संघर्ष में अपने को पहले ही प्रकट कर चुका था। इसके अलावा इसी बीच जर्मन सर्वहारा वर्ग ने जर्मन बुर्जुआ वर्ग की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट वर्ग-चेतना प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार, जब आख़िर वह घड़ी आयी कि जर्मनी में राजनीतिक अर्थशास्त्र का बुर्जुआ विज्ञान संभव प्रतीत हुआ, ठीक उसी समय वह वास्तव में फिर असंभव हो गया।

ऐसी परिस्थितियों में इसके प्रोफ़ेसर दो दलों में बंट गये। एक दल, जिसमें व्यावहारिक, बुद्धिमान, व्यवसायी लोग थे, बस्तिया के झंडे तले इकट्ठा हुआ, जो कि अशास्त्रीय अर्थशास्त्र का सबसे ज़्यादा सतही और इसलिए सबसे ज़्यादा अधिकारी प्रतिनिधि है। दूसरा दल, जिसे अपने विज्ञान की प्रोफ़ेसराना प्रतिष्ठा का गर्व था, जॉन स्टुअर्ट मिल का अनुसरण करते हुए ऐसी चीज़ों में समझौता कराने की कोशिश करने लगा, जिनमें कभी समझौता हो ही नहीं सकता। जिस तरह बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्र के शास्त्रीय काल में जर्मन लोग महज़ स्कूली लड़के, नक़्क़ाल, पिछलग्गू और बड़ी विदेशी थोक व्यापार कंपनियों के माल के खुदरा विक्रेता और फेरीवाले बनकर रह गये थे, ठीक वही हाल उनका अब इसके पतन के काल में हुआ।

अतएव जर्मन समाज का ऐतिहासिक विकास जिस विशेष ढंग से हुआ है, वह उस देश में बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के मौलिक कार्य की इजाज़त नहीं देता, पर उस अर्थशास्त्र की आलोचना करने की छूट अवश्य दे देता है। जिस हद तक यह आलोचना किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, उस हद तक वह केवल उसी वर्ग का प्रतिनिधित्व कर सकती है, जिसको इतिहास में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का तख़्ता उलट देने और सभी वर्गों को अंतिम रूप से मिटा देने का काम मिला है, अर्थात् उस हद तक वह केवल सर्वहारा वर्ग का ही प्रतिनिधित्व कर सकती है।

जर्मन बुर्जुआ वर्ग के पंडित और अपंडित, सभी तरह के प्रवक्ताओं ने शुरू में 'पूंजी'

को खामोशी के ज़रिये मार डालने की कोशिश की, जैसा कि वे मेरी पहले वाली रचनाओं के साथ भी कर चुके थे। पर ज्यों ही उन्होंने यह देखा कि यह चाल अब समयानुकूल नहीं रह गयी है, त्यों ही उन्होंने मेरी किताब की आलोचना करने के बहाने "बुर्जुआ मस्तिष्क को शांत करने" के नुसख़े लिखने शुरू कर दिये। लेकिन मज़दूरों के अख़बारों के रूप में उनको अपने से शक्तिशाली विरोधियों का सामना करना पड़ा – मिसाल के लिए, *Volksstaat* में जोज़ेफ़ दीत्सगेन के लेखों को देखिये – और उनका वे आज तक जवाब नहीं दे पाये हैं।[2]

'पूंजी' का एक बहुत अच्छा रूसी अनुवाद १८७२ के वसंत में प्रकाशित हुआ था। ३,००० प्रतियों का यह संस्करण लगभग समाप्त भी हो गया है। कीयेव विश्वविद्यालय में राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर एन० ज़ीबेर ने १८७१ में अपनी रचना 'डेविड रिकार्डो का मूल्य और पूंजी का सिद्धांत' में मूल्य, द्रव्य और पूंजी के मेरे सिद्धांत का ज़िक्र किया था और कहा था कि जहां तक उसके सार का संबंध है, यह सिद्धांत स्मिथ और रिकार्डो के सिद्धांतों का आवश्यक सिलसिला है। इस सुंदर रचना को पढ़ने पर जो बात पश्चिमी यूरोप के पाठकों को आश्चर्य में डाल देती है, वह यह है कि विशुद्ध सैद्धांतिक प्रश्नों पर लेखक का बहुत ही सुसंगत और दृढ़ अधिकार है।

'पूंजी' में प्रयोग की गयी पद्धति के बारे में जो तरह-तरह की परस्पर विरोधी धारणाएं लोगों ने बना ली हैं, उनसे मालूम होता है कि इस पद्धति को लोगों ने बहुत कम समझा है।

चुनांचे पेरिस के *Revue Positiviste* ने मेरी इसलिए भर्त्सना की है कि एक तरफ़ तो मैं अर्थशास्त्र का तत्त्वमीमांसीय ढंग से विवेचन करता हूं और दूसरी तरफ़ – ज़रा सोचिये तो! – मैं भविष्य के बावर्चीख़ाने के लिए नुसख़े (शायद कोंतवादी नुसख़े?) लिखने के बजाय केवल वास्तविक तथ्यों के आलोचनात्मक विश्लेषण तक ही अपने को सीमित रखता हूं। जहां तक तत्त्वमीमांसा की शिकायत है, उसके जवाब में प्रोफ़ेसर ज़ीबेर ने यह लिखा है कि "जहां तक वास्तविक सिद्धांत के विवेचन का संबंध है, मार्क्स की पद्धति पूरी अंग्रेज़ी धारा की निगमन-पद्धति है, और इस धारा में जो भी गुण और अवगुण हैं, वे सभी सर्वोत्तम सैद्धांतिक अर्थशास्त्रियों में पाये जाते हैं।" एम० ब्लोक ने *Les Théoriciens du Socialisme en Allemagne. Extrait du Journal des Economistes, Juillet et Août 1872* में यह आविष्कार किया है कि मेरी पद्धति विश्लेषणात्मक है, और लिखा है कि "इस रचना द्वारा श्रीमान मार्क्स ने सबसे

[2]जर्मनी के सतही राजनीतिक अर्थशास्त्र के चिकनी-चुपड़ी बातें करनेवाले बकवासियों ने मेरी पुस्तक की शैली की निंदा की है। 'पूंजी' के साहित्यिक दोषों का जितना अहसास मुझे है, उससे ज्यादा किसी को नहीं हो सकता। फिर भी मैं इन महानुभावों के तथा उनको पढ़नेवाली जनता के लाभ और मनोरंजन के लिए इस संबंध में एक अंग्रेज़ी तथा एक रूसी समालोचना को उद्धृत करूंगा। *Saturday Review* ने, जो मेरे विचारों का सदा विरोधी रहा है, पहले संस्करण की आलोचना करते हुए लिखा था: "विषय को जिस ढंग से पेश किया गया है, वह नीरस से नीरस आर्थिक प्रश्नों में भी एक अनोखा आकर्षण पैदा कर देता है।" 'सांक्त-पेतेरबुर्गस्किये वेदोमोस्ती' ['सेंट पीटर्सबर्ग जर्नल'] ने अपने ८ (२०) अप्रैल १८७२ के अंक में लिखा है: "एक-दो बहुत ही ख़ास हिस्सों को छोड़कर विषय को पेश करने का ढंग ऐसा है कि वह सामान्य पाठक की भी समझ में आ जाता है, ख़ूब साफ़ हो जाता है और वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत जटिल होते हुए भी असाधारण रूप से सजीव हो उठता है। इस दृष्टि से लेखक... अधिकतर जर्मन विद्वानों से बिल्कुल भिन्न है, जो... अपनी पुस्तकें ऐसी नीरस और दुरूह भाषा में लिखते हैं कि साधारण इनसानों के सिर तो उनसे टकराकर ही टूट जाते हैं।"

प्रमुख विश्लेषणकारी प्रतिभाओं की पंक्ति में स्थान प्राप्त कर लिया है"। जर्मन पत्रिकाएं, ज़ाहिर है, "हेगेलवादी ढंग से बाल की खाल निकालने" के ख़िलाफ़ चीख़ रही हैं। सेंट पीटर्सबर्ग के 'वेस्तनिक येव्रोपी ['यूरोपियन मैसंजर'] नामक पत्र ने एक लेख में 'पूंजी' की केवल पद्धति की ही चर्चा की है (मई का अंक, १८७२, पृ० ४२७-४३६)। उसको मेरा खोज का तरीक़ा तो अति यथार्थवादी लगता है, लेकिन विषय को पेश करने का मेरा ढंग, उसकी दृष्टि से, दुर्भाग्यवश जर्मन द्वंद्ववादी है। उसने लिखा है: "यदि हम विषय को पेश करने के बाहरी रूप के आधार पर अपना मत क़ायम करें, तो पहली दृष्टि में लगेगा कि मार्क्स प्रत्ययवादी दार्शनिकों में भी सबसे अधिक प्रत्ययवादी है, और यहां हम इस शब्द का प्रयोग उसके जर्मन अर्थ में, यानी बुरे अर्थ में, कर रहे हैं। लेकिन असल में वह आर्थिक आलोचना के क्षेत्र में अपने समस्त पूर्वगामियों से कहीं अधिक यथार्थवादी है। उसे किसी भी अर्थ में प्रत्ययवादी नहीं कहा जा सकता।" मैं इस लेखक को उत्तर देने का इससे अच्छा कोई ढंग नहीं सोच सकता कि ख़ुद उसकी आलोचना के कुछ उद्धरणों की सहायता लूं; हो सकता है कि रूसी लेख जिनकी पहुंच के बाहर है, मेरे कुछ ऐसे पाठकों को भी उनमें दिलचस्पी हो।

१८५९ में बर्लिन से प्रकाशित मेरी पुस्तक *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* की भूमिका का एक ऐसा उद्धरण (S. IV-VII) देने के बाद, जिसमें मैंने अपनी पद्धति के भौतिकवादी आधार की चर्चा की है, इस लेखक ने आगे लिखा है: "मार्क्स के लिए जिस एक बात का महत्त्व है, वह यह है कि जिन परिघटनाओं की छानबीन में वह किसी वक़्त लगा हुआ है, उनके नियम का पता लगाया जाये। और उसके लिए केवल उस नियम का ही महत्त्व नहीं है, जिसके द्वारा इन परिघटनाओं का उस हद तक नियमन होता है, जिस हद तक कि उनका कोई निश्चित स्वरूप होता है और जिस हद तक कि उनके बीच किसी ख़ास ऐतिहासिक काल के भीतर पारस्परिक संबंध होता है। मार्क्स के लिए इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है उनके परिवर्तन का, उनके विकास का, अर्थात् उनके एक रूप से दूसरे रूप में बदलने का, संबंधों के एक क्रम से दूसरे क्रम में परिवर्तित होने का नियम। इस नियम का पता लगा लेने के बाद वह विस्तार के साथ इस बात की जांच करता है कि यह नियम सामाजिक जीवन में किन-किन रूपों में प्रकट होता है... परिणामस्वरूप मार्क्स को केवल एक ही बात की चिंता रहती है, वह यह कि कड़ी वैज्ञानिक जांच के द्वारा सामाजिक परिस्थितियों की एक के बाद दूसरी आनेवाली अलग-अलग निश्चित व्यवस्थाओं की आवश्यकता सिद्ध करके दिखा दी जाये और अधिक से अधिक निष्पक्ष भाव से उन तथ्यों की स्थापना की जाये, जो मार्क्स के लिए बुनियादी प्रस्थान-बिंदुओं का काम करते हैं। इसके लिए बस इतना बहुत काफ़ी है, यदि वह वर्तमान व्यवस्था की आवश्यकता सिद्ध करने के साथ-साथ उस नयी व्यवस्था की आवश्यकता भी सिद्ध कर दे, जिसमें कि वर्तमान व्यवस्था को अनिवार्य रूप से बदल जाना है। और यह परिवर्तन हर हालत में होता है, चाहे लोग इसमें विश्वास करें या न करें और चाहे वे इसके बारे में सजग हों या न हों। मार्क्स सामाजिक प्रगति को प्राकृतिक इतिहास की एक प्रक्रिया के रूप में पेश करता है, जो ऐसे नियमों के अनुसार चलती है, जो न केवल मनुष्य की इच्छा, चेतना और समझ-बूझ से स्वतंत्र होते हैं, बल्कि इसके विपरीत जो इस इच्छा, चेतना और समझ-बूझ को निर्धारित करते हैं... यदि सभ्यता के इतिहास में चेतन तत्त्व की भूमिका इतनी गौण है, तो यह बात स्वतः स्पष्ट है कि जिस आलोचनात्मक अन्वेषण की विषय-वस्तु सभ्यता है, वह अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा चेतना के किसी भी रूप

पर अथवा चेतना के किसी भी परिणाम पर कम ही आधारित हो सकता है। तात्पर्य यह है कि यहां विचार नहीं, बल्कि केवल भौतिक परिघटना ही प्रस्थान-बिंदु का काम कर सकती है। इस प्रकार की जांच किसी तथ्य का मुक़ाबला और तुलना विचारों से नहीं करेगी, बल्कि वह एक तथ्य का मुक़ाबला और तुलना किसी दूसरे तथ्य से करने तक ही अपने को सीमित रखेगी। इस जांच के लिए महत्त्वपूर्ण बात सिर्फ़ यह है कि दोनों तथ्यों की छानबीन यथासंभव सही-सही की जाये, और यह कि एक दूसरे के संबंध में वे एक विकास-क्रिया की दो भिन्न अवस्थाओं का सचमुच प्रतिनिधित्व करें; लेकिन सबसे अधिक महत्त्व इस बात का है कि एक के बाद एक सामने आनेवाली उन अवस्थाओं, अनुक्रमों और शृंखलाओं के क्रम का कड़ाई के साथ विश्लेषण किया जाये, जिनके रूप में इस प्रकार के विकास की अलग-अलग मंज़िलें प्रकट होती हैं। लेकिन यह कहा जा सकता है कि आर्थिक जीवन के सामान्य नियम तो सदा एक से होते हैं, चाहे वे भूतकाल पर लागू किये जायें अथवा वर्तमान पर। इस बात से मार्क्स साफ़ तौर पर इनकार करता है। उसके मतानुसार ऐसे अमूर्त नियम होते ही नहीं। इसके विपरीत, उसकी राय में तो प्रत्येक ऐतिहासिक युग के अपने अलग नियम होते हैं... जब समाज विकास के किसी ख़ास युग को पीछे छोड़ देता है और एक मंज़िल से दूसरी मंज़िल में प्रवेश करने लगता है, तब उसी वक़्त से उसपर कुछ दूसरे नियम भी लागू होने लगते हैं। संक्षेप में कहा जाये, तो आर्थिक जीवन हमारे सामने एक ऐसी परिघटना प्रस्तुत करता है, जो जीवविज्ञान की अन्य शाखाओं में पाये जानेवाले क्रमविकास के इतिहास से मिलती-जुलती है। पुराने अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक नियमों को भौतिकी तथा रसायनविज्ञान के नियमों के समान बताकर उनकी प्रकृति को ग़लत समझा था। परिघटनाओं का अधिक गहरा अध्ययन करने पर पता लगा कि सामाजिक अवयवियों के बीच अलग-अलग ढंग के पौधों या पशुओं के समान ही बुनियादी भेद होता है। ऐसे ही नहीं, बल्कि यह कहना चाहिए कि चूंकि इन सामाजिक अवयवियों की पूरी बनावट अलग-अलग ढंग की होती है और उनके अंग अलग-अलग प्रकार के होते हैं तथा अलग-अलग तरह की परिस्थितियों में काम करते हैं, इसलिए उनमें एक ही परिघटना बिल्कुल भिन्न नियमों के अधीन हो जाती है। उदाहरण के लिए, मार्क्स इससे इनकार करता है कि आबादी का नियम प्रत्येक काल और प्रत्येक स्थान में एक सा रहता है। इसके विपरीत, उसका कहना है कि विकास की हरेक मंज़िल का अपना आबादी का नियम होता है... उत्पादक शक्ति का विकास जितना कम-ज्यादा होता है उसके अनुसार सामाजिक परिस्थितियां और उनपर लागू होनेवाले नियम भी बदलते जाते हैं। जब मार्क्स अपने सामने यह काम निर्धारित करता है कि उसको इस दृष्टिकोण से पूंजी के प्रभुत्व के द्वारा स्थापित आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन एवं स्पष्टीकरण करना है, तब वह केवल उसी उद्देश्य की सर्वथा वैज्ञानिक ढंग से स्थापना कर रहा होता है, जो आर्थिक जीवन की प्रत्येक परिशुद्ध जांच का उद्देश्य होना चाहिए। ऐसी जांच का वैज्ञानिक महत्त्व इस बात में है कि वह उन विशेष नियमों को खोलकर रख दे, जिनके द्वारा किसी सामाजिक अवयवी की उत्पत्ति, अस्तित्व, विकास और अंत का तथा उसकी जगह किसी और, अधिक ऊंची श्रेणी के अवयवी द्वारा लिये जाने का नियमन होता है। और असल में मार्क्स की पुस्तक का महत्त्व इसी बात में है।"

यहां पर लेखक ने जिसे मेरी पद्धति समझकर इस सुंदर और [जहां तक इसका संबंध है कि ख़ुद मैंने उसे किस तरह लागू किया है] उदार ढंग से चित्रित किया है, वह द्वंद्ववादी पद्धति के सिवा और क्या है?

जाहिर है, किसी विषय को पेश करने का ढंग जांच के ढंग से भिन्न होना चाहिए। जांच के समय विस्तार में जाकर सारी सामग्री पर अधिकार करना पड़ता है, उसके विकास के विभिन्न रूपों का विश्लेषण करना होता है और उनके आंतरिक संबंध का पता लगाना पड़ता है। जब यह काम संपन्न हो जाता है, तभी जाकर कहीं वास्तविक गति का पर्याप्त वर्णन करना संभव होता है। यदि यह काम सफलतापूर्वक पूरा हो जाता है, यदि विषय-वस्तु का जीवन दर्पण के समान विचारों में झलकने लगता है, तब यह संभव है कि हमें ऐसा प्रतीत हो कि जैसे किसी ने अपने दिमाग़ से सोचकर कोई तसवीर गढ़ दी है।

मेरी द्वंद्ववादी पद्धति हेगेलवादी पद्धति से न केवल भिन्न है, बल्कि ठीक उसकी उल्टी है। हेगेल के लिए मानव-मस्तिष्क की जीवन-प्रक्रिया, अर्थात् चिंतन की प्रक्रिया, जिसे "विचार" के नाम से उसने एक स्वतंत्र कर्ता तक बना डाला है, वास्तविक संसार की सृजनकर्त्री है और वास्तविक संसार "विचार" का बाहरी, इंद्रियगम्य रूप मात्र है। इसके विपरीत, मेरे लिए विचार इसके सिवा और कुछ नहीं कि भौतिक संसार मानव-मस्तिष्क में प्रतिबिंबित होता है और चिंतन के रूपों में बदल जाता है।

हेगेलवादी द्वंद्ववाद के रहस्यमय पहलू की मैंने लगभग तीस वर्ष पहले आलोचना की थी, यानी तब, जब उसका अभी काफ़ी चलन था। लेकिन जिस समय मैं 'पूंजी' के प्रथम खंड पर काम कर रहा था, ठीक उसी समय इन चिड़चिड़े, घमंडी और प्रतिभाहीन Ἐπίγονοι [योग्य नेता के अयोग्य अनुयायियों] को, जो कि आजकल सुसंस्कृत जर्मनी में बड़ी लंबी-लंबी हांक रहे हैं, हेगेल के साथ ठीक वैसा ही व्यवहार करने की सूझी, जैसा लेस्सिंग के काल में बहादुर मोसेज़ मेण्डेल्सन ने स्पिनोज़ा के साथ किया था, यानी उन्होंने भी हेगेल के साथ "मरे हुए कुत्ते" जैसा व्यवहार करने की सोची। तब मैंने खुल्लमखुल्ला यह स्वीकार किया कि मैं उस महान विचारक का शिष्य हूं, और मूल्य के सिद्धांत वाले अध्याय में जहां-तहां मैंने अभिव्यक्ति के उस ढंग का उपयोग किया है, जो हेगेल का ख़ास ढंग था। हेगेल के हाथों में द्वंद्ववाद पर रहस्य का आवरण पड़ जाता है, लेकिन इसके बावजूद सही है कि हेगेल ने ही सबसे पहले विस्तृत और सचेत ढंग से यह बताया था कि अपने सामान्य रूप में द्वंद्ववाद किस प्रकार काम करता है। हेगेल के यहां द्वंद्ववाद सिर के बल खड़ा है। यदि आप उसके रहस्यमय आवरण के भीतर छिपे तर्कबुद्धिपरक सारतत्त्व का पता लगाना चाहते हैं, तो आपको उसे उलटकर फिर पैरों के बल सीधा खड़ा करना होगा।

अपने रहस्यावृत रूप में द्वंद्ववाद का जर्मनी में इसलिए चलन हुआ था कि वह विद्यमान व्यवस्था को गौरवान्वित करता प्रतीत होता था। पर अपने तर्कबुद्धिपरक रूप में वह बुर्जुआ संसार तथा उसके पंडिताऊ प्रोफ़ेसरों के लिए एक निंदनीय और घृणित वस्तु है, क्योंकि उसमें वर्तमान व्यवस्था की उसकी समझ तथा सकारात्मक स्वीकृति में साथ ही साथ इस व्यवस्था के निषेध और उसके अवश्यंभावी विनाश की स्वीकृति भी शामिल है; क्योंकि द्वंद्ववाद ऐतिहासिक दृष्टि से विकसित प्रत्येक सामाजिक रूप को सतत परिवर्तनशील मानता है और इसलिए उसके अस्थायी स्वरूप का उसके क्षणिक अस्तित्व से कम ख़याल नहीं रखता है; क्योंकि द्वंद्ववाद किसी चीज़ को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता और क्योंकि अपने सारतत्त्व में वह आलोचनात्मक एवं क्रांतिकारी है।

पूंजीवादी समाज की गति में जो अंतर्विरोध निहित हैं, वे व्यावहारिक बुर्जुआ के दिमाग़ पर सबसे अधिक ज़ोर से उस सामयिक चक्र के परिवर्तनों के रूप में प्रभाव डालते हैं, जिससे

आधुनिक उद्योग को गुज़रना पड़ता है और जिसका सर्वोच्च बिंदु सर्वव्यापी संकट होता है। वह संकट एक बार फिर आने को है, हालांकि अभी वह अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही है; और इस संकट की लपेट इतनी सर्वव्यापी होगी और उसका प्रभाव इतना तीव्र होगा कि वह इस नये पवित्र प्रशाई-जर्मन साम्राज्य के बरसात में कुकुरमुत्तों की तरह पैदा होनेवाले नये नवाबों के दिमाग़ों में भी द्वंद्ववाद को ठोक-ठोक कर घुसा देगा।

कार्ल मार्क्स

लंदन, २४ जनवरी १८७३

फ़्रांसीसी संस्करण की भूमिका

नागरिक मौरिस लशात्रे के नाम

प्रिय नागरिक,

'पूंजी' के अनुवाद का एक धारावाहिक के तौर पर प्रकाशन का आपका विचार प्रशंसनीय है। इस रूप में पुस्तक मज़दूर वर्ग के लिए अधिक सुलभ बन जायेगी, और मेरे लिए यह बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

यह तो आपके सुझाव का अच्छा पहलू हुआ, पर अब तसवीर के दूसरे पहलू पर भी ग़ौर करें: मैंने विश्लेषण की जिस पद्धति का प्रयोग किया है और जिसका इसके पहले कभी आर्थिक विषयों के लिए प्रयोग नहीं हुआ था, उसने शुरू के अध्यायों को पढ़ने में कुछ कठिन बना दिया है। फ़्रांसीसी पाठक सदा परिणाम पर पहुंचने के लिए व्यग्र और यह जानने को उत्सुक रहते हैं कि जिन तात्कालिक प्रश्नों ने उन्हें उद्वेलित किया हुआ है, उनका सामान्य सिद्धांतों के साथ क्या संबंध है। मुझे डर है कि तेज़ी से आगे न बढ़ पाने के कारण उन्हें कुछ निराशा होगी।

यह एक ऐसी कठिनाई है, जिसे दूर करना मेरी शक्ति के बाहर है। मैं तो केवल इतना ही कर सकता हूं कि जिन पाठकों को सत्य की खोज करने की धुन है, उनको पहले से चेतावनी देकर आनेवाली कठिनाई का सामना करने के लिए तैयार कर दूं। विज्ञान का कोई सीधा और सपाट राजमार्ग नहीं है, और उसकी प्रकाशमान चोटियों तक वे ही पहुंच सकते हैं, जो उसके खड़े रास्तों की थका देनेवाली चढ़ाई से नहीं डरते।

आपका कृतज्ञ,
कार्ल मार्क्स

लंदन, १८ मार्च १८७२

Londres 18 Mars 1872

Au citoyen Maurice La Châtre.

Cher citoyen,

J'applaudis à votre idée de publier la traduction de "Das Kapital" en livraisons périodiques. Sous cette forme l'ouvrage sera plus accessible à la classe ouvrière et pour moi cette considération l'emporte sur toute autre.

Voilà le beau côté de votre médaille, mais en voici le revers: la méthode d'analyse que j'ai employée et qui n'avait pas encore été appliquée aux sujets économiques, rend assez ardue la lecture des premiers chapitres, et il est à craindre que le public français toujours impatient de conclure, avide de connaître le rapport des principes généraux avec les questions immédiates qui le passionnent, ne se rebute parce qu'il n'aura pu tout d'abord passer outre.

C'est là un désavantage contre lequel je ne puis rien si ce n'est toutefois prévenir et prémunir les lecteurs soucieux de vérité. Il n'y a pas de route royale pour la science et ceux-là seulement ont chance d'arriver à ses sommets lumineux qui ne craignent pas de se fatiguer à gravir ses sentiers escarpés.

Recevez, cher citoyen, l'assurance de mes sentiments dévoués.

Karl Marx.

मार्क्स द्वारा 'पूंजी' के फ़्रांसीसी अनुवाद के प्रकाशक लशात्रे को लिखे गये एक पत्र की अनुलिपि। फ़्रांसीसी संस्करण में मार्क्स का यह पत्र भूमिका की तरह दिया गया था।

फ़्रांसीसी संस्करण का अनुकथन

मि० जे० रॉय ने एक ऐसा संस्करण तैयार करने का बीड़ा उठाया था, जो अधिक से अधिक सही हो और यहां तक कि जिसमें मूल का अक्षरशः अनुवाद किया गया हो, और उन्होंने यह काम बड़ी निष्ठा के साथ पूरा किया है। लेकिन उनकी इसी निष्ठा ने मुझे उनके पाठ में कुछ तब्दीलियां करने के लिए मजबूर कर दिया है, ताकि वह ज्यादा आसानी से पाठक की समझ में आ सके। ये तब्दीलियां आये रोज़ करनी होती थीं, क्योंकि किताब टुकड़ों-टुकड़ों में प्रकाशित हो रही थी, और चूंकि सब तब्दीलियों में बराबर सतर्कता नहीं बरती गयी, इस-लिए लाज़िमी तौर पर यह नतीजा हुआ कि शैली में ऊबड़खाबड़पन आ गया।

पुस्तक को दोहराने का काम एक बार हाथ में लेने पर मैं मूल पाठ (दूसरे जर्मन संस्करण) को भी दोहराने लगा, ताकि कुछ युक्तियों को और अधिक सरल बना दूं, दूसरी कुछ युक्तियों को और पूर्ण कर दूं, कुछ नयी ऐतिहासिक सामग्री या नये आंकड़े शामिल कर दूं और कुछ आलोचनात्मक टिप्पणियां जोड़ दूं, इत्यादि। इसलिए इस फ़्रांसीसी संस्करण में साहित्यिक दोष चाहे जैसे रह गये हों, इसका मूल संस्करण से स्वतंत्र वैज्ञानिक महत्त्व है और इसे उन पाठकों को भी देखना चाहिए, जो जर्मन संस्करण से परिचित हैं।

नीचे मैं दूसरे जर्मन संस्करण के अनुकथन के उन अंशों को दे रहा हूं, जिनमें जर्मनी में राजनीतिक अर्थशास्त्र के विकास और मेरी इस रचना में प्रयोग की गयी पद्धति की चर्चा की गयी है।

कार्ल मार्क्स

लंदन, २८ अप्रैल १८७५

तीसरे जर्मन संस्करण की भूमिका

इस तीसरे संस्करण को प्रेस के लिए ख़ुद तैयार करना मार्क्स के भाग्य में नहीं बदा था। उस सशक्त विचारक की, जिसकी महानता के सामने अब उसके विरोधी तक शीश नवाते हैं, १४ मार्च १८८३ को मृत्यु हो गयी है।

मार्क्स की मृत्यु से मैंने अपना सबसे अच्छा, सबसे सच्चा और चालीस वर्ष पुराना मित्र खो दिया है। वह मेरा ऐसा मित्र था, जिसका मुझपर इतना ऋण है, जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसकी मृत्यु के बाद इस तीसरे संस्करण के और साथ ही उस द्वितीय खंड के प्रकाशन की देखरेख की ज़िम्मेदारी मुझपर आयी, जिसे मार्क्स हस्तलिपि के रूप में छोड़ गये थे। अब मुझे यहां पाठक को यह बताना है कि इस ज़िम्मेदारी के पहले हिस्से को मैंने किस ढंग से पूरा किया है।

मार्क्स का शुरू में यह इरादा था कि प्रथम खंड के अधिकतर भाग को फिर से लिख डालें; वह बहुत से सैद्धांतिक नुक़तों को ज्यादा सही ढंग से पेश करना चाहते थे, कुछ नये नुक़ते जोड़ना और नवीनतम ऐतिहासिक सामग्री तथा आंकड़े शामिल करना चाहते थे। परंतु उनकी बीमारी ने और द्वितीय खंड का जल्द से जल्द अंतिम संपादन करके उसे तैयार कर देने की आवश्यकता ने उनको यह योजना त्याग देने पर मजबूर कर दिया। तय हुआ कि महज़ बहुत ही ज़रूरी तब्दीलियां की जायें और केवल वे ही नये अंश जोड़े जायें, जो फ़्रांसीसी संस्करण (*Le Capital*, par Karl Marx, Paris, Lachâtre, 1872-1875) में पहले ही मौजूद हैं।

मार्क्स जो किताबें छोड़ गये हैं, उनमें 'पूंजी' की एक जर्मन प्रति थी, जिसे उन्होंने ख़ुद जहां-तहां सही किया था और जिसमें फ़्रांसीसी संस्करण के हवाले भी दिये थे; उसके साथ-साथ उन किताबों में फ़्रांसीसी प्रति भी थी, जिसमें उन्होंने ठीक उन अंशों को इंगित किया था, जिनको इस्तेमाल करने की आवश्यकता थी। कतिपय अपवादों को छोड़कर ये सारे परिवर्तन और मूल पाठ में जोड़े गये नये अंश पुस्तक के केवल उस आख़िरी (अंग्रेज़ी संस्करण के उपांतिम) भाग तक ही सीमित हैं, जिसका शीर्षक है 'पूंजी का संचय', यहां पहले वाला पाठ दूसरी सभी जगहों की तुलना में मूल मसविदे के अधिक अनुरूप था, जब कि उससे पहले वाले हिस्सों को ज्यादा ध्यान के साथ दोहराया जा चुका था। इसलिए शैली अधिक सजीव और जैसे कि एक ही सांचे में ढाली गयी लगती थी, लेकिन साथ ही उसमें कुछ ज्यादा लापरवाही भी झलकती थी, उसमें अंग्रेज़ी मुहावरे और प्रयोग छाये हुए थे और अनेक स्थानों पर भाषा अस्पष्ट हो गयी थी; जहां-तहां लगता था कि दलीलों को पेश करने में जैसे कुछ छूट गया है और कुछ महत्त्वपूर्ण बातों की तरफ़ इशारा भर करके छोड़ दिया गया है।

КАПИТАЛЪ.

КРИТИКА ПОЛИТИЧЕСКОЙ ЭКОНОМІИ.

СОЧИНЕНІЕ

КАРЛА МАРКСА.

ПЕРЕВОДЪ СЪ НѢМЕЦКАГО.

ТОМЪ ПЕРВЫЙ.

КНИГА I. ПРОЦЕССЪ ПРОИЗВОДСТВА КАПИТАЛА.

С.-ПЕТЕРБУРГЪ.
ИЗДАНІЕ Н. П. ПОЛЯКОВА.

1872

'पूंजी', खंड १, के पहले रूसी संस्करण का आवरण

जहां तक शैली का संबंध है, कुछ अनुभागों के टुकड़ों को मार्क्स ने ख़ुद अच्छी तरह दोहरा दिया था, और इस प्रकार तथा अनेक ज़बानी सुझावों के ज़रिये भी वह मुझे यह बता गये थे कि अंग्रेज़ी के पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य अंग्रेज़ी मुहावरों और प्रयोगों को पुस्तक से निकालने में मैं कितनी दूर तक छूट ले सकता हूं। मार्क्स ख़ुद यह काम करते, तो नये जोड़े हुए अंशों और पूरक सामग्री को हर हालत में दोहराते और साफ़-सुथरी फ़ांसीसी को अपनी नपी-तुली जर्मन से बदल देते। लेकिन मुझे इन अंशों को जर्मन संस्करण में जोड़ते समय केवल इतने से ही संतोष कर लेना पड़ा कि उनका मूल पाठ के साथ अधिक से अधिक ताल-मेल बैठा दूं।

इस प्रकार इस तीसरे संस्करण में मैंने एक शब्द भी उस वक़्त तक नहीं बदला है, जब तक कि मुझे यह विश्वास नहीं हो गया कि मार्क्स ख़ुद भी उसे ज़रूर बदल देते। 'पूंजी' में उस ऊलजलूल शब्दावली को लाने की बात तो मैं कभी सोच ही नहीं सकता था, जिसका आजकल बहुत चलन है और जिसे इस्तेमाल करने का जर्मन अर्थशास्त्रियों को बहुत शौक़ है – इस गपड़-सपड़ बोली में, मिसाल के लिए, जो आदमी दूसरों को नक़द पैसे देकर उन्हें अपना श्रम देने के लिए मजबूर करता है, वह **श्रम-दाता** (Arbeit*geber*) कहलाता है। और मज़दूरी के एवज़ में जिसका श्रम उससे छीन लिया जाता है, उसे **श्रम-ग्रहीता** (Arbeit*nehmer*) कहा जाता है। फ़ांसीसी भाषा में भी "travail" ("श्रम") शब्द रोज़मर्रे के जीवन में "धंधे" के अर्थ में इस्तेमाल किया जाता है। लेकिन यदि कोई अर्थशास्त्री पूंजीपति को donneur de travail (श्रम-दाता) या मज़दूर को receveur de travail (श्रम-ग्रहीता) कहने लगे, तो फ़ांस के लोग उसे ठीक ही पागल समझेंगे।

अंग्रेज़ी मुद्रा, मापों और वज़नों को, जिनको पूरी किताब में इस्तेमाल किया गया है, उनके समतुल्य जर्मन मुद्रा, मापों और वज़नों में बदल देने की भी मैंने आज़ादी नहीं ली है। जिस समय पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था, उस समय जर्मनी में इतने विभिन्न प्रकार की मापें और वज़न इस्तेमाल किये जाते थे कि जितने साल में दिन होते हैं; इसके अलावा मार्क भी दो तरह के थे (उस समय राइख़्समार्क केवल ज़ेतबेर की कल्पना में ही मौजूद था, जिसने कि चौथे दशक के अंत में उसका आविष्कार किया था), गुल्डन दो तरह के थे और टालर कम से कम तीन तरह के थे, जिनमें से एक neues Zweidrittel [नया दो तिहाई] कहलाता था। प्राकृतिक विज्ञानों में दशमिक प्रणाली का चलन था, दुनिया की मंडी में अंग्रेज़ी मापें और वज़न चलते थे। ऐसी परिस्थिति में एक ऐसी किताब में अंग्रेज़ी माप की इकाइयों का प्रयोग करना बिल्कुल स्वाभाविक था, जिसे लगभग सब के सब तथ्यात्मक प्रमाण केवल ब्रिटेन के औद्योगिक संबंधों से लेने पड़े थे। यह आख़िरी कारण आज भी निर्णायक महत्त्व रखता है, ख़ास तौर पर इसलिए कि दुनिया की मंडी के उन जैसे संबंधों में बहुत कम परिवर्तन हुआ है और मुख्य उद्योगों पर – यानी लोहे तथा कपास के उद्योगों पर – आज भी अंग्रेज़ी वज़नों और मापों का ही लगभग एकच्छत्र अधिकार है।

अंत में कुछ शब्द मार्क्स द्वारा उद्धरणों का प्रयोग करने की कला के संबंध में कह भी दिये जायें, जिसे लोगों ने बहुत कम समझा है। जब उद्धरणों में केवल तथ्यों का विवरण या किसी चीज़ का वर्णन मात्र होता है, जैसे कि, मिसाल के लिए, इंगलैंड के सरकारी प्रकाशनों के उद्धरणों में, तब, ज़ाहिर है, उनको केवल दस्तावेज़ी प्रमाण के रूप में इस्तेमाल किया

गया है। लेकिन जब दूसरे अर्थशास्त्रियों के सैद्धांतिक विचारों को उद्धृत किया जाता है, तब ऐसा नहीं होता। वहां उद्धरण का उद्देश्य केवल यह बताना होता है कि विकास के दौरान अमुक आर्थिक विचार की स्पष्ट रूप में सबसे पहले किसने, कहां और कब स्थापना की थी। ऐसे उद्धरण को चुनते समय केवल इसी बात को ध्यान में रखा गया है कि वह उद्धरण जिस आर्थिक अवधारणा से संबंध रखता है, उसका इस विज्ञान के इतिहास के लिए कुछ महत्त्व हो और अपने काल की आर्थिक परिस्थिति को कमोबेश सैद्धांतिक अभिव्यक्ति हो। लेकिन इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि लेखक के दृष्टिकोण से इस अवधारणा में आज भी कोई निरपेक्ष अथवा सापेक्ष सचाई है या वह एकदम गुज़रे हुए इतिहास की चीज़ बन गयी है। अतएव, ये उद्धरण केवल मूल पाठ की चलती टीका का, यानी जो टीका आर्थिक विज्ञान के इतिहास से उधार ली गयी है, उसका काम करते हैं और आर्थिक सिद्धांत के क्षेत्र में उठाये गये प्रगति के कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण क़दमों की तारीख़ों की तथा उनके प्रवर्तकों के नामों की पुष्टि करते हैं। यह करना उस विज्ञान के लिए अत्यंत आवश्यक था, जिसके इतिहासकारों ने अभी तक केवल अपने मतलबभरे अज्ञान के लिए ही नाम कमाया है, जो कि पदलोलुपों का गुण होता है। और इससे यह बात भी समझ में आ जानी चाहिए कि दूसरे संस्करण के अनकथन के अनुसार मार्क्स को क्यों केवल कुछ अत्यंत असाधारण प्रसंगों में ही जर्मन अर्थशास्त्रियों को उद्धृत करने की आवश्यकता पड़ी थी।

आशा है कि द्वितीय खंड १८८४ के दौरान प्रकाशित हो जायेगा।

फ़्रेडरिक एंगेल्स

लंदन, ७ नवंबर १८८३

CAPITAL:

A CRITICAL ANALYSIS OF CAPITALIST PRODUCTION

BY KARL MARX

TRANSLATED FROM THE THIRD GERMAN EDITION, BY SAMUEL MOORE AND EDWARD AVELING

AND EDITED BY

FREDERICK ENGELS

VOL. I.

LONDON:
SWAN SONNENSCHEIN, LOWREY, & CO.,
PATERNOSTER SQUARE.
1887.

'पूंजी' के पहले अंग्रेज़ी संस्करण का मुखपृष्ठ

अंग्रेज़ी संस्करण की भूमिका

'पूंजी' के एक अंग्रेज़ी संस्करण के प्रकाशन की सफ़ाई देने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, इस बात की सफ़ाई की आशा की जा सकती है कि इस अंग्रेज़ी संस्करण में इतनी देर क्यों हुई, जब कि इस पुस्तक में जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है, उनकी इंगलैंड और अमरीका, दोनों देशों के नियतकालिक प्रकाशनों तथा समकालीन साहित्य में पिछले कुछ वर्षों से लगातार चर्चा हो रही है, आलोचना-प्रत्यालोचना हो रही है, तरह-तरह के अर्थ लगाये जा रहे हैं और अर्थ का अनर्थ किया जा रहा है।

१८८३ में इस पुस्तक के लेखक की मृत्यु के शीघ्र बाद जब यह बात स्पष्ट हो गयी कि इसके एक अंग्रेज़ी संस्करण की सचमुच आवश्यकता है, मि० सैम्युएल मूर ने, जो अनेक वर्षों तक मार्क्स तथा इन पंक्तियों के लेखक के मित्र रहे हैं और जिनसे अधिक शायद और किसी को इस पुस्तक की जानकारी नहीं है, उस अनुवाद की ज़िम्मेदारी अपने कंधों पर ली, जिसे मार्क्स की साहित्यिक वसीयत के प्रबंधक जनता के सामने पेश करने के लिए उत्सुक थे। ख़याल यह था कि अनुवाद की हस्तलिपि को मैं मूल रचना से मिलाकर देखूंगा और यदि मुझे कोई परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होंगे, तो अनुवादक को बता दूंगा। जब धीरे-धीरे यह मालूम हुआ कि मि० मूर अपने पेशे से संबंधित कामधाम के कारण उतनी जल्दी अनुवाद ख़त्म नहीं कर पा रहे हैं, जितनी जल्दी हम सब लोग चाहते थे, तो हमने डा० एवेलिंग का यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया कि काम का एक भाग वह निपटा देंगे। साथ ही मार्क्स की सबसे छोटी पुत्री श्रीमती एवलिंग ने यह तत्परता प्रकट की कि वह उद्धरणों को देख लेंगी कि सब ठीक हैं या नहीं, और मार्क्स ने अंग्रेज़ी लेखकों तथा सरकारी रिपोर्टों से जो अनेक अंश लिये थे तथा जिनको उन्होंने जर्मन भाषा में उलटा करके अपनी पुस्तक में इस्तेमाल किया था, उनका मूल अंग्रेज़ी पाठ अनुवाद में शामिल कर देंगी। कतिपय अपरिहार्य अपवादों के सिवा पूरी पुस्तक में यह बात कर दी गयी है।

पुस्तक के निम्नलिखित हिस्सों का अनुवाद डा० एवेलिंग ने किया है: (१) दसवां अध्याय ('काम का दिन') और ग्यारहवां अध्याय ('बेशी मूल्य की दर और बेशी मूल्य की राशि'); (२) छठा भाग ('मजदूरी', जिसमें अध्याय १९-२२ शामिल हैं); (३) चौबीसवें अध्याय के चौथे अनुभाग ('बेशी मूल्य के, आदि') से पुस्तक के अंत तक, जिसमें चौबीसवें अध्याय का अंतिम हिस्सा, पच्चीसवां अध्याय और पूरा आठवां भाग (छब्बीसवें अध्याय से तैंतीसवें अध्याय तक) शामिल हैं; (४) लेखक की दो भूमिकाएं। बाक़ी पूरी पुस्तक का अनुवाद मि० मूर ने किया है। इस प्रकार जहां प्रत्येक अनुवादक केवल अपने-अपने हिस्से के काम के लिए ज़िम्मेदार है, वहां मैं पूरे अनुवाद के लिए समान रूप से ज़िम्मेदार हूं।

इस अनुवाद में हमने जिस तीसरे जर्मन संस्करण को बराबर अपना आधार बनाया है, उसे मैंने, लेखक जो नोट छोड़ गये थे, उनकी मदद से १८८३ में तैयार किया था। इन नोटों में मार्क्स ने बताया था कि दूसरे संस्करण के किन अंशों को १८७३ में प्रकाशित फ़ांसीसी संस्करण[1] के किन अंशों से बदल दिया जाये। इस प्रकार दूसरे संस्करण के पाठ में जो परिवर्तन किये गये, वे आम तौर पर उन परिवर्तनों से मेल खाते थे, जिनके बारे में मार्क्स कुछ हस्तलिखित हिदायतें छोड़ गये हैं। ये हिदायतें उन्होंने उस अंग्रेज़ी अनुवाद के संबंध में दी थीं, जिसकी योजना लगभग दस वर्ष पहले अमरीका में बनायी गयी थी, मगर जिसका विचार मुख्यतया एक योग्य और समर्थ अनुवादक के अभाव के कारण बाद में छोड़ दिया गया था। इन हिदायतों की हस्तलिपि हमें अपने पुराने मित्र, होबोकेन, न्यूजर्सी, के निवासी मि० एफ़० ए० जोर्गे से प्राप्त हुई थी। उसमें फ़्रांसीसी संस्करण से कुछ और अंश लेने की भी बात थी, मगर चूंकि ये हिदायतें मार्क्स की उन आखिरी हिदायतों से बहुत पुरानी थीं, जो वह तीसरे संस्करण के लिए छोड़ गये थे, इसलिए कुछ ख़ास जगहों को छोड़कर उनका आम तौर पर इस्तेमाल मैंने उचित नहीं समझा। मुख्य तौर पर मैंने इन हिदायतों का इस्तेमाल उन जगहों पर किया है, जहां उनसे कुछ कठिनाइयों को हल करने में मदद मिलती। इसी प्रकार अधिकतर कठिन अंशों के संबंध में फ़्रांसीसी पाठ से भी यह मालूम करने में मदद ली गयी है कि अनुवाद में जहां कहीं मूल पाठ के संपूर्ण अर्थ का कोई एक अंश छोड़ना ज़रूरी हुआ है, वहां ख़ुद लेखक क्या छोड़ना उचित समझता।

किंतु एक कठिनाई ऐसी है, जिससे हम पाठक को नहीं बचा सके। इस पुस्तक में कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग ऐसे अर्थों में हुआ है, जो न केवल साधारण जीवन में, बल्कि साधारण राजनीतिक अर्थशास्त्र में भी इन शब्दों को जिन अर्थों में लिया जाता है, उनसे भिन्न हैं। लेकिन इस कठिनाई से बचना संभव न था। किसी भी विज्ञान का जब कोई नया पहलू सामने आता है, तो उस विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों में भी एक क्रांति हो जाती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण रसायनविज्ञान है, जिसमें लगभग हर बीस साल बाद पूरी शब्दावली आमूल बदल जाती है और जिसमें आपको शायद ही कोई ऐसा कार्बनिक यौगिक मिलेगा, जिसका नाम अभी तक अनेक बार न बदल चुका हो। राजनीतिक अर्थशास्त्र ने आम तौर पर व्यापारिक एवं औद्योगिक जीवन के पारिभाषिक शब्दों को ज्यों का त्यों इस्तेमाल करके संतोष किया है। वह यह देखने में बिल्कुल असमर्थ रहा है कि ऐसा करके उसने अपने आपको उन विचारों के संकुचित दायरे में बंद कर लिया है, जिनको ये पारिभाषिक शब्द व्यक्त करते हैं। उदाहरणतः, यह बात अच्छी तरह मालूम होते हुए भी कि मुनाफ़ा और किराया दोनों ही मज़दूर के उत्पाद के उस हिस्से के टुकड़े या अंश मात्र हैं, जिसकी उसे उजरत नहीं मिलती और जिसको उसे अपने नियोजक को दे देना पड़ता है (नियोजक ही उस हिस्से पर सबसे पहले अधिकार जमाता है, हालांकि वह उसका अंतिम और एकमात्र स्वामी नहीं है), फिर भी क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र मुनाफ़े और किराये की दूसरों से ली हुई इन परिकल्पनाओं से कभी आगे नहीं बढ़ा और उसने उत्पाद के इस हिस्से पर, जिसकी मज़दूर को कोई उजरत

---

[1] *Le Capital*, par Karl Marx. Traduction de M. J. Roy, entièrement revisée par l'auteur, Paris, Lachâtre. इस अनुवाद में, ख़ासकर पुस्तक के बाद वाले हिस्से में, दूसरे जर्मन संस्करण के पाठ की तुलना में काफ़ी परिवर्तन किये गये हैं और कुछ नये अंश जोड़े गये हैं।

नहीं मिलती (और जिसे मार्क्स ने बेशी उत्पाद का नाम दिया है), उसकी संपूर्ण अखंडता में कभी विचार नहीं किया और इसलिए वह न तो कभी उसकी उत्पत्ति के रहस्य तथा उसके स्वरूप को साफ़-साफ़ समझ पाया और न ही उन नियमों को, जिनके अनुसार बाद को इस हिस्से के मूल्य का वितरण होता है। इसी प्रकार, खेती और दस्तकारी को छोड़कर बाक़ी सारे उद्योग-धंधों को, बिना किसी भेदभाव के मैन्यूफ़ैक्चर शब्द में शामिल कर लिया जाता है और इस तरह आर्थिक इतिहास के दो बड़े और बुनियादी तौर पर भिन्न युगों का सारा अंतर ख़त्म कर दिया जाता है: एक तो ख़ास मैन्यूफ़ैक्चर का काल, जो हस्तश्रम के विभाजन पर आधारित था, और दूसरा आधुनिक उद्योगों का काल, जो मशीनों पर आधारित है। फिर भी ज़ाहिर है कि जो सिद्धांत आधुनिक पूंजीवादी उत्पादन को मनुष्यजाति के आर्थिक इतिहास की एक अस्थायी अवस्था मात्र समझता है, उसका काम उन पारिभाषिक शब्दों से नहीं चल सकता, जिनको वे लेखक इस्तेमाल करने के आदी हैं, जो उत्पादन के इस रूप को अजर-अमर और अंतिम समझते हैं।

दूसरी रचनाओं के अंश उद्धृत करने का लेखक ने जो ढंग अपनाया है, दो शब्द उसके बारे में कह देना अनुचित न होगा। जैसा कि साधारण चलन है, अधिकतर स्थानों पर उद्धरण मूल पाठ में दी गयी स्थापनाओं के समर्थन में लिखित साक्ष्य प्रस्तुत करने का काम करते हैं। लेकिन अनेक ऐसे स्थान भी हैं, जहां अर्थशास्त्र के लेखकों के उद्धरण यह इंगित करने के लिए दिये गये हैं कि कोई स्थापना सबसे पहले किस ने, कहां और कब स्पष्ट रूप में पेश की थी। ऐसा वहां किया गया है, जहां उद्धृत स्थापना इसलिए महत्त्व रखती है कि वह अपने काल की सामाजिक उत्पादन एवं विनिमय की विद्यमान परिस्थितियों को कमोबेश पर्याप्त रूप में व्यक्त करती थी। मार्क्स उस स्थापना को आम तौर पर सही समझते थे या नहीं, इसका उसे उद्धृत करने के सिलसिले में कोई महत्त्व नहीं है। इस तरह, इन उद्धरणों के रूप में मूल पाठ के साथ-साथ विज्ञान के इतिहास से ली गयी एक धारावाहिक टीका भी मिल जाती है।

हमारे इस अनुवाद में इस रचना का केवल प्रथम खंड ही आया है। लेकिन यह प्रथम खंड बहुत हद तक अपने में एक संपूर्ण रचना है और बीस साल से एक स्वतंत्र रचना माना भी जाता रहा है। जर्मन में मेरे द्वारा १८८५ में संपादित द्वितीय खंड निश्चय ही तृतीय खंड के बिना अपूर्ण है, और तृतीय खंड १८८७ के ख़त्म होने के पहले प्रकाशित नहीं हो सकता। जब तृतीय खंड मूल जर्मन में प्रकाशित हो जायेगा, तभी इन दोनों खंडों का अंग्रेज़ी संस्करण तैयार करने की बात सोची जायेगी।

यूरोप में 'पूंजी' को अकसर "मज़दूर वर्ग की बाइबल" कहा जाता है। जिसे मज़दूर आंदोलन की जानकारी है, वह इस बात से इनकार नहीं करेगा कि यह पुस्तक जिन निष्कर्षों पर पहुंची है, वे न केवल जर्मनी और स्विट्ज़रलैंड में, बल्कि फ़्रांस, हालैंड, बेल्जियम, अमरीका में और यहां तक कि इटली और स्पेन में भी दिन प्रति दिन अधिकाधिक स्पष्ट रूप में इस महान आंदोलन के बुनियादी सिद्धांत बनते जा रहे हैं और हर जगह मज़दूर वर्ग में इस बात की अधिकाधिक समझ पैदा होती जा रही है कि उसकी हालत तथा उसकी आशाएं-आकांक्षाएं अपने सबसे पूर्ण रूप में इस पुस्तक के निष्कर्षों में व्यक्त हुई हैं। और इंगलैंड में भी मार्क्स के सिद्धांत इस समय भी उस समाजवादी आंदोलन पर सशक्त प्रभाव डाल रहे हैं, जो "सुसंस्कृत" लोगों में मज़दूर वर्ग से कम तेज़ी से नहीं फैल रहा है। लेकिन बात इतनी ही नहीं है। वह समय तेज़ी से नज़दीक आ रहा है, जब इंगलैंड की आर्थिक

स्थिति का गहरा अध्ययन एक राष्ट्रीय आवश्यकता के रूप में अनिवार्य हो जायेगा। उत्पादन का और इसलिए मंडियों का भी लगातार और तेज़ी के साथ विस्तार किये बिना इस देश की औद्योगिक व्यवस्था का काम करना असंभव है, और यह व्यवस्था एकदम ठप होती जा रही है। स्वतंत्र व्यापार अपने साधनों को समाप्त कर चुका है; यहां तक कि मैंचेस्टर को भी अपने इस पुराने पड़ चुके आर्थिक उपदेश में संदेह पैदा हो गया है।[2] अंग्रेज़ी उत्पादन को हर जगह, न सिर्फ़ रक्षित मंडियों में, बल्कि तटस्थ मंडियों में भी, और यहां तक कि चैनेल के इस तरफ़ भी, तेज़ी से विकसित होते हुए विदेशी उद्योगों का सामना करना पड़ रहा है। उत्पादक शक्ति की जहां गुणोत्तर श्रेढ़ी में वृद्धि होती है, वहां मंडियों का विस्तार अधिक से अधिक समांतर श्रेढ़ी में होता है। ठहराव, समृद्धि, अति उत्पादन और संकट का दसवर्षीय चक्र, जो १८२५ से १८६७ तक लगातार चलता रहा, अब थम गया मालूम होता है, लेकिन हमें महज़ एक स्थायी और चिरकालिक मंदी की निराशा के दलदल में धकेलने के लिए ही। समृद्धि के जिस काल की प्रबल आकांक्षा की जा रही थी, वह अब नहीं आयेगा। जब-जब हमें लगता है कि उसके आगमन के लक्षण दिखायी दे रहे हैं, तब-तब वे फिर शून्य में विलीन हो जाते हैं। इस बीच हर बार जब जाड़े का मौसम आता है, तो यह गंभीर सवाल नये सिरे से उठ खड़ा होता है कि "बेकारों का क्या किया जाये"। बेकारों की संख्या हर वर्ष बढ़ती जा रही है, पर इस सवाल का जवाब देनेवाला कोई नहीं मिलता; और हम उस क्षण का लगभग सही अनुमान लगा सकते हैं, जब बेकारों का धैर्य समाप्त हो जायेगा और वे अपने भाग्य का निर्णय ख़ुद करने के लिए उठ खड़े होंगे। ऐसे क्षण में उस आदमी की आवाज़ निश्चय ही सुनी जानी चाहिए, जिसका पूरा सिद्धांत इंगलैंड के आर्थिक इतिहास तथा दशा के आजीवन अध्ययन का परिणाम है और जो इस अध्ययन के आधार पर इस नतीजे पर पहुंचा था कि कम से कम यूरोप में इंगलैंड ही एकमात्र ऐसा देश है, जहां वह सामाजिक क्रांति, जिसका होना अनिवार्य है, सर्वथा शांतिपूर्ण और क़ानूनी उपायों के द्वारा हो सकती है। निश्चय ही वह आदमी इसके साथ-साथ यह जोड़ना भी कभी नहीं भूला था कि यह आशा शायद ही की जा सकती है कि अंग्रेज शासक वर्ग बिना एक "दासता-समर्थन विद्रोह" का संगठन किये इस शांतिपूर्ण एवं क़ानूनी क्रांति के सामने आत्मसमर्पण कर देंगे।

फ़ेडरिक एंगेल्स

५ नवंबर १८८६

---

[2] आज तीसरे पहर मैंचेस्टर के चेंबर आफ़ कामर्स की त्रैमासिक बैठक हुई। उसमें स्वतंत्र व्यापार के प्रश्न पर ज़ोरदार बहस हुई। एक प्रस्ताव पेश किया गया, जिसमें कहा गया था कि "४० वर्ष तक इस बात की वृथा प्रतीक्षा कर चुकने के बाद कि दूसरे राष्ट्र भी स्वतंत्र व्यापार के मामले में इंगलैंड का अनुकरण करेंगे, चेंबर समझता है कि अब इस मत पर पुनर्विचार का समय आ गया है।" प्रस्ताव ठुकरा दिया गया, पर केवल एक के बहुमत से: उसके पक्ष में २१ और विपक्ष में २२ मत पड़े। *Evening Standard*, Nov. 1, 1886.

चौथे जर्मन संस्करण की भूमिका

चौथे संस्करण के लिए ज़रूरी था कि मैं जहां तक संभव हो, मूल पाठ और पाद-टिप्पणियों दोनों का अंतिम रूप तैयार कर दूं। नीचे दिये हुए संक्षिप्त स्पष्टीकरण से मालूम हो जायेगा कि मैंने यह काम किस ढंग से पूरा किया है।

फ़्रांसीसी संस्करण तथा मार्क्स की हस्तलिखित हिदायतों को एक बार फिर मिलाने के बाद मैंने फ़्रांसीसी अनुवाद से कुछ और अंश लेकर जर्मन पाठ में जोड़ दिये हैं। ये अंश पृ० ८० (तीसरे संस्करण का पृ० ८८) [वर्तमान संस्करण के पृ० १३०-१३२], पृ० ४५८-४६० (तीसरे संस्करण के पृ० ५०९-५१०) [वर्तमान संस्करण के पृ० ५५५-५५६],* पृ० ५४७-५५१ (तीसरे संस्करण का पृ० ६००) [वर्तमान संस्करण के पृ० ६५६-६५९], पृ० ५९१-५९३ (तीसरे संस्करण का पृ० ६४४) [वर्तमान संस्करण के पृ० ७०२-७०४] और पृ० ५९६ (तीसरे संस्करण का पृ० ६४८) [वर्तमान संस्करण का पृ० ७०७] की पाद-टिप्पणी १ में मिलेंगे। फ़्रांसीसी और अंग्रेज़ी संस्करणों का अनुकरण करते हुए मैंने खान-मज़दूरों से संबंधित लंबी पाद-टिप्पणी मूल पाठ में शामिल कर दी है (तीसरे संस्करण के पृ० ५०९-५१५, चौथे संस्करण के पृ० ४६१-४६७) [वर्तमान संस्करण के पृ० ५५९-५६६]। इसके अलावा जो और छोटे-छोटे परिवर्तन किये गये हैं, वे सर्वथा तकनीकी ढंग के हैं।

इसके अलावा मैंने कुछ नयी व्याख्यात्मक पाद-टिप्पणियां जोड़ी हैं, ख़ासकर उन स्थलों पर, जहां वे बदली हुई ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण आवश्यक प्रतीत होती थीं। इन तमाम नयी टिप्पणियों को बड़े कोष्ठकों में बंद किया गया है और उनके साथ या तो मेरे नाम के प्रथमाक्षर हैं या "डी० एच०" छपा है।"**

इस बीच अंग्रेज़ी संस्करण के प्रकाशन के फलस्वरूप बहुत से उद्धरणों को नये सिरे से दोहराना आवश्यक हो गया था। इस संस्करण के लिए मार्क्स की सबसे छोटी पुत्री एलियानोर ने तमाम उद्धरणों को उनके मूल पाठ से मिलाने की जिम्मेदारी ली थी, ताकि अंग्रेज़ी प्रकाशनों से लिये गये उद्धरण, जिनकी संख्या सबसे अधिक है, अंग्रेज़ी संस्करण में जर्मन भाषा से पुनः अनुवाद करके न दिये जायें, बल्कि अपने मूल अंग्रेज़ी रूप में दिये जायें। इसलिए चौथा संस्करण तैयार करते समय मेरे लिए अंग्रेज़ी संस्करण को देखना ज़रूरी हो गया। मिलान करने पर अनेक छोटी-छोटी अशुद्धियों का पता चला। कई जगहों पर ग़लत पृष्ठों का हवाला दिया गया था,

---

*१८८७ के अंग्रेज़ी संस्करण में यह अंश ख़ुद एंगेल्स ने जोड़ दिया था। – सं०

**वर्तमान संस्करण में वे बड़े कोष्ठकों में बंद किये गये हैं और उनके साथ "फ़्रे० एं०" छपा है। – सं०

जिसका कारण कुछ तो यह है कि नोट-बुकों से नक़ल करते समय ग़लतियां हो गयी थीं, और कुछ यह कि तीन संस्करणों की छापे की ग़लतियां भी एक साथ जमा हो गयी थीं, उद्धरण-चिह्न या छोड़े हुए अंश को इंगित करनेवाले चिह्न ग़लत स्थानों पर लगे हुए थे — जब नोट-बुकों में उतारे हुए अवतरणों में से बहुत से उद्धरणों की नक़ल की जाती है, तब इस तरह की ग़लतियों से नहीं बचा जा सकता ; जहां-तहां किसी शब्द का कुछ भद्दा अनुवाद भी हो गया था। कुछ अंश १८४३-१८४५ की पुरानी, पेरिस वाली नोट-बुकों से उद्धृत किये गये थे। उस ज़माने में मार्क्स अंग्रेज़ी नहीं जानते थे और अंग्रेज़ अर्थशास्त्रियों की रचनाओं के फ़ांसीसी अनुवाद पढ़ा करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि दोहरा अनुवाद होने के फलस्वरूप उद्धरणों के अर्थ कुछ बदल गये, उदाहरण के लिए, स्टुअर्ट, यूर, आदि के उद्धरणों के मामले में, जहां अब अंग्रेज़ी पाठ इस्तेमाल करना ज़रूरी था। इस प्रकार की छोटी-छोटी अशुद्धियों या लापरवाही के और भी कई उदाहरण थे। लेकिन जो कोई भी चौथे संस्करण को पहले के संस्करणों से मिलाकर देखेगा, वह पायेगा कि बड़ी मेहनत से की गयी इन तमाम तब्दीलियों से किताब में कोई छोटा सा भी उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया है। केवल एक उद्धरण ऐसा था, जिसके मूल का पता नहीं लगाया जा सका। वह रिचर्ड जोन्स का उद्धरण (चौथे संस्करण के पृ० ५६२ पर पाद-टिप्पणी ४७) था। मार्क्स शायद पुस्तक का नाम लिखने में भूल कर गये हों।* बाक़ी तमाम उद्धरणों की प्रभावशीलता ज्यों की त्यों है, या उनका वर्तमान रूप पहले से अधिक सही होने के कारण उनकी प्रभावशीलता और बढ़ गयी है।

लेकिन यहां मेरे लिए एक पुरानी कहानी दोहराना आवश्यक है।

मुझे केवल एक उदाहरण मालूम है, जब मार्क्स के दिये हुए किसी उद्धरण की विशुद्धता पर संदेह प्रकट किया गया था। लेकिन यह सवाल चूंकि उनके जीवन-काल के बाद भी उठता रहा है, इसलिए मैं यहां उसकी अवहेलना नहीं कर सकता।

७ मार्च १८७२ को जर्मन कारख़ानेदारों के संघ के मुखपत्र, बर्लिन के *Concordia* में एक गुमनाम लेख छपा, जिसका शीर्षक था 'कार्ल मार्क्स कैसे उद्धरण देते हैं'। इस लेख में नैतिक क्रोध से उबलते और असंसदीय भाषा का प्रयोग करते हुए कहा गया था कि १६ अप्रैल १८६३ के ग्लैडस्टन के बजट-भाषण से जो उद्धरण दिया गया है (यह उद्धरण पहले १८६४ में अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के उद्घाटन-वक्तव्य में इस्तेमाल किया गया था और फिर 'पूंजी' के प्रथम खंड के तीसरे संस्करण के पृ० ६७१ तथा चौथे संस्करण के पृ० ६१७ पर [वर्तमान संस्करण के पृ० ७२६ पर] दोहराया गया था), उसमें जालसाज़ी की गयी है और *Hansard* में प्रकाशित (अर्ध-सरकारी) शार्टहैंड रिपोर्ट में निम्न वाक्य का एक शब्द भी नहीं मिलता: "धन और शक्ति की यह मदोन्मत्त कर देनेवाली वृद्धि ... पूर्णतया सम्पत्तिवान वर्गों तक ही सीमित ... है।" लेख के शब्द थे: "लेकिन यह वाक्य ग्लैडस्टन के भाषण में कहीं भी नहीं मिलता। उसमें इससे ठीक उल्टी बात कही गयी है।" इससे आगे मोटे अक्षरों में छपा था: **"यह वाक्य अपने रूप तथा सार, दोनों दृष्टियों से एक ऐसा झूठ है, जिसे मार्क्स ने गढ़कर जोड़ दिया है।"**

---

*मार्क्स ने पुस्तक का नाम लिखने में ग़लती नहीं की थी, बल्कि पृष्ठसंख्या लिखने में उनसे भूल हुई थी। ३७ के बजाय उन्होंने ३६ लिख दिया था। (देखिये वर्तमान संस्करण का पृ० ६३१)।—सं०

Concordia का यह अंक अगली मई में मार्क्स के पास भेजा गया, और उन्होंने इस गुमनाम लेखक को पहली जून के *Volksstaat* में जवाब दिया। चूंकि उन्हें यह याद नहीं था कि उन्होंने उद्धरण के लिए किस अख़बार की रिपोर्ट को इस्तेमाल किया था, इसलिए उन्होंने एक तो दो अंग्रेज़ी प्रकाशनों से उसके जैसे उद्धरण देने और दूसरे *The Times* अख़बार की रिपोर्ट का हवाला दे देने तक ही अपने को सीमित रखा। *The Times* की रिपोर्ट के अनुसार ग्लैडस्टन ने यह कहा था:

"जहां तक इस देश की संपदा का संबंध है, तो स्थिति ऐसी ही है। मैं तो अवश्य ही यह कहूंगा कि यदि मुझे यह विश्वास होता कि धन और शक्ति की यह मदोन्मत्त कर देनेवाली वृद्धि केवल उन वर्गों तक ही सीमित है, जिनकी हालत अच्छी है, तो मैं इसे लगभग भय और पीड़ा के साथ देखता। इसमें मेहनत करनेवाली आबादी की हालत की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है: जिस वृद्धि का मैंने वर्णन किया है और जो, मेरे विचार से, सही हिसाब-किताब पर आधारित है, वह एक ऐसी वृद्धि है, जो पूर्णतया संपत्तिवान वर्गों तक ही सीमित है।"

इस प्रकार, यहां ग्लैडस्टन ने यह कहा है कि यदि स्थिति ऐसी होती, तो उनको अफ़सोस होता, लेकिन स्थिति ऐसी ही है: धन और शक्ति की यह मदोन्मत्त कर देनेवाली वृद्धि पूर्णतया संपत्तिवान वर्गों तक ही सीमित है। और जहां तक अर्ध-सरकारी *Hansard* का संबंध है, मार्क्स ने आगे लिखा: "अपने भाषण पर थोड़ी हाथ की सफ़ाई दिखाकर मि० ग्लैडस्टन ने बाद में उसका जो संस्करण तैयार किया, उसमें से उन्होंने इस अंश को ग़ायब कर देने की चतुराई दिखायी, क्योंकि इंगलैंड के वित्त-मंत्री के मुंह से यदि ऐसे शब्द निकलते, तो यह निश्चय ही भेद खोलने की बात होती। और इसी सिलसिले में हम यह भी बता दें कि इंगलैंड की संसद में इस तरह की चीज़ परंपरा से होती चली आयी है और यह कोई ऐसी तरकीब नहीं है, जिसे महज़ नन्हे लास्केर ने ही बेबेल को नीचा दिखाने के लिए ईजाद किया हो।"

गुमनाम लेखक का ग़ुस्सा बढ़ता ही गया। ४ जुलाई के *Concordia* में अपने जवाब में उसने तमाम अन्य स्रोतों से प्राप्त होनेवाले प्रमाणों को हटाकर अलग कर दिया और बड़े गंभीर ढंग से कहा कि संसद के भाषणों को शार्टहैंड रिपोर्टों से ही उद्धृत करने का "रिवाज" है। लेकिन साथ ही उसने यह भी जोड़ा कि *The Times* की रिपोर्ट (जिसमें वह "झूठा, गढ़ा हुआ" वाक्य शामिल है) और *Hansard* की रिपोर्ट (जिसमें वह वाक्य छोड़ दिया गया है) दोनों "सारतत्त्व की दृष्टि से एक दूसरे से बिल्कुल मेल खाती हैं" और *The Times* की रिपोर्ट में भी "उद्घाटन-वक्तव्य के उस बदनाम अंश की ठीक उलटी बात कही गयी है।" यह शख़्स इस बात को बड़ी एहतियात के साथ छिपा जाता है कि *The Times* की रिपोर्ट में "उलटी बात" के साथ-साथ वह "बदनाम अंश" भी साफ़ तौर पर शामिल है। किंतु इस सब के बावजूद गुमनाम व्यक्ति ने महसूस किया कि वह बुरी तरह फंस गया है और अब कोई नयी तरकीब ही उसे बचा सकती है। चुनांचे, जहां उसका लेख, जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं, "धृष्टतापूर्ण झूठी बातों" से भरा पड़ा है और जहां उसमें जगह-जगह पर ऐसी ज्ञानवर्द्धक गालियां पढ़ने को मिलती हैं, जैसे "कुटील भावना", "बेईमानी", "झूठी तोहमत", "वह नक़ली उद्धरण", "धृष्टतापूर्ण झूठी बातें", "सर्वथा झूठा, गढ़ा हुआ उद्धरण", "यह झूठ", "सरासर अनुचित", इत्यादि, वहां वह यह भी आवश्यक समझता है कि सवाल को एक दूसरी दिशा में मोड़ दे, और इसलिए वह यह वायदा करता है कि वह एक दूसरे लेख में बतायेगा कि "ग्लैडस्टन के शब्दों के सारतत्त्व का हम (यानी धृष्टताविहीन गुमनाम लेखक) क्या मतलब

लगाते हैं।" जैसे कि उसका ख़ास मत, जिसका कि, ज़ाहिर है, कोई निर्णायक महत्त्व नहीं हो सकता, इस मामले से कोई सरोकार रखता है! यह दूसरा लेख ११ जुलाई को *Concordia* में प्रकाशित हुआ।

मार्क्स ने एक बार फिर ७ अगस्त के *Volksstaat* में जवाब दिया। इस बार उन्होंने १७ अप्रैल १८६३ के *Morning Star* और *Morning Advertiser* नामक पत्रों की रिपोर्टों के उद्धरण दिये, जिनमें यह अंश मौजूद था। इन दोनों रिपोर्टों के अनुसार ग्लैडस्टन ने कहा था कि धन और शक्ति की इस वृद्धि को वह भय, आदि के साथ देखते, यदि उनको यह विश्वास होता कि यह वृद्धि केवल उन वर्गों तक ही सीमित है, "जिनकी हालत अच्छी है"। लेकिन उनके कथनानुसार यह वृद्धि "सचमुच पूर्णतया संपत्तिवान वर्गों तक ही सीमित" थी। इस प्रकार इन रिपोर्टों में भी उस वाक्य का एक-एक शब्द मौजूद था, जिसके बारे में आरोप लगाया गया था कि मार्क्स ने उसे "गढ़कर जोड़ दिया है"। इसके बाद मार्क्स ने *The Times* और *Hansard* के पाठों का मिलान करके एक बार फिर यह साबित किया कि यह वाक्य, जिसके बारे में भाषण की अगली सुबह को एक दूसरे से स्वतंत्र रूप से प्रकाशित होनेवाले तीन अख़बारों ने बिल्कुल एक सी रिपोर्ट छापकर यह प्रमाणित कर दिया था कि वह सचमुच कहा गया था, *Hansard* की उस रिपोर्ट से ग़ायब है, जिसे जाने-पहचाने "रिवाज" के अनुसार बदल दिया गया था, और इसलिए यह बात स्पष्ट है कि उसे ग्लैडस्टन ने, मार्क्स के शब्दों में, "हाथ की सफ़ाई दिखाकर ग़ायब करवा दिया था"। अंत में मार्क्स ने कहा कि गुमनाम लेखक से अब और बहस करने के लिए उनके पास समय नहीं है। उस लेखक का भी, लगता है, जी भर चुका था। बहरहाल *Concordia* का कोई और अंक मार्क्स के पास नहीं पहुंचा।

इसके साथ लगा कि मामला ख़त्म और दफ़न हो गया है। यह सच है कि बाद को भी एक-दो बार कैंब्रिज विश्वविद्यालय से संपर्क रखनेवाले कुछ व्यक्तियों से कुछ इस तरह की रहस्यमयी अफ़वाहें हमारे पास पहुंचीं कि मार्क्स ने 'पूंजी' में कोई अकथनीय साहित्यिक अपराध किया है, लेकिन तमाम छानबीन के बाद भी इससे ज़्यादा निश्चित कोई बात मालूम न हो सकी। तब, मार्क्स की मृत्यु के आठ महीने बाद, २९ नवंबर १८८३ को *The Times* में एक पत्र छपा, जिसके सिरनामे पर ट्रिनिटी कालेज, कैंब्रिज, लिखा था और जिसके नीचे सेडली टेलर के हस्ताक्षर थे। इस पत्र में इस आदमी ने, जो बहुत ही साधारण ढंग के सहकारी मामलों पर क़लम घिसा करता है, मौक़ा पाकर हमें आख़िर न सिर्फ़ कैंब्रिज की उन अस्पष्ट अफ़वाहों की असलियत से परिचित करवा डाला, बल्कि *Concordia* के उस गुमनाम लेखक की जानकारी भी दे दी।

ट्रिनिटी कालेज के इस आदमी ने लिखा: "जो बात बहुत ही अजीब मालूम होती है, वह यह है कि मि० ग्लैडस्टन के भाषण को [उद्घाटन-] वक्तव्य में उद्धृत करने के पीछे स्पष्ट ही जो दुर्भावना छिपी थी, उसका भंडाफोड़ करने की... ज़िम्मेदारी **प्रोफ़ेसर ब्रेन्तानो** (जो कि उस वक़्त ब्रेस्लौ विश्वविद्यालय में थे और आजकल स्ट्रासबुर्ग विश्वविद्यालय में हैं) के कंधों पर जाकर पड़ी। हर कार्ल मार्क्स ने... उद्धरण को सही सिद्ध करने की कोशिश की। पर ब्रेन्तानो ने इस उस्तादी के साथ उनपर धावा बोला कि उन्हें बार-बार पैंतरा बदलना पड़ा और उनकी जान पर बन आयी। इस परिस्थिति में हर कार्ल मार्क्स ने यह कहने की धृष्टता की मि० ग्लैडस्टन ने १७ अप्रैल १८६३ के *The Times* में प्रकाशित अपने भाषण की रिपोर्ट

पर उसके *Hansard* में प्रकाशित होने के पहले हाथ की सफ़ाई का प्रयोग किया था और एक ऐसे अंश को उससे ग़ायब कर दिया था, जो इंगलैंड के वित्त-मंत्री के लिए सचमुच भेद खोलने की बात होती। ब्रेन्तानो ने *The Times* तथा *Hansard* में प्रकाशित रिपोर्टों के पाठ का सूक्ष्मता से मिलान करके यह साबित किया कि इन रिपोर्टों में यह समानता है कि चालाकी के साथ संदर्भ से अलग किया हुआ उपर्युक्त उद्धरण मि० ग्लैडस्टन के शब्दों को जो अर्थ प्रदान करता था, उसकी इन दोनों ही रिपोर्टों में कोई गुंजायश नहीं है। तब मार्क्स ने 'समय के अभाव' का बहाना बना करके बहस जारी रखने से इनकार कर दिया।"

सो इस पूरे मामले की तह में यह बात थी! और *Concordia* के ज़रिये चलाया गया हर ब्रेन्तानो का वह गुमनाम आंदोलन कैंब्रिज की उत्पादक सहकारी कल्पना में इस शानदार रूप में प्रतिबिंबित हुआ था। जर्मन कारख़ानेदारों के संघ के इस संत जार्ज ने इस प्रकार तलवार हाथ में लेकर पाताल लोक के उस अजगर मार्क्स का सामना किया था, उससे लोहा लिया था और उस्तादी के साथ उसपर धावा बोला था कि उसे बार-बार पैंतरा बदलना पड़ा और उसकी जान पर बन आयी और उसने बहुत जल्द हर ब्रेन्तानो के चरणों में गिरकर दम तोड़ दिया।

लेकिन कवि अरिओस्तो द्वारा प्रस्तुत किये गये रणभूमि के दृश्य से मिलता-जुलता यह चित्र केवल हमारे संत जार्ज की पैंतरेबाज़ी पर पर्दा डालने का ही काम करता है। यहां "झूठमूठ गढ़कर जोड़ दिये गये वाक्य" की या "जालसाज़ी" की कोई चर्चा नहीं है, बल्कि अब तो "चालाकी के साथ संदर्भ से अलग किये हुए उद्धरण" का ज़िक्र हो रहा है। सवाल का पूरा स्वरूप ही बदल दिया गया है, और संत जार्ज तथा उनके कैंब्रिजवासी अनुचर को अच्छी तरह मालूम था कि ऐसा क्यों किया गया है।

एलियानोर मार्क्स ने इसका मासिक पत्रिका *To-day* (फ़रवरी १८८४) में जवाब दिया, क्योंकि *The Times* ने उनका पत्र छापने से इनकार कर दिया था। उन्होंने एक बार फिर बहस को इस एक सवाल पर केंद्रित कर दिया कि क्या मार्क्स ने उस वाक्य को "झूठमूठ गढ़कर जोड़ दिया था"? इस सवाल का मि० सेडली टेलर ने यह जवाब दिया कि उनकी राय में "यह प्रश्न कि मि० ग्लैडस्टन के भाषण में यह वाक्य सचमुच इस्तेमाल हुआ था या नहीं," ब्रेन्तानो-मार्क्स विवाद में "इस सवाल की अपेक्षा बहुत ही गौण महत्त्व रखता है कि विवादग्रस्त अंश पाठकों को मि० ग्लैडस्टन के शब्दों का सही अर्थ बताने के उद्देश्य से उद्धृत किया गया था अथवा उसे विकृत ढंग से पेश करने के उद्देश्य से।" इसके बाद मि० सेडली टेलर ने यह स्वीकार किया कि *The Times* की रिपोर्ट में "एक शाब्दिक असंगति" है; लेकिन यदि संदर्भ की सही तौर पर व्याख्या की जाये, अर्थात् यदि उसकी ग्लैडस्टनवादी उदारपंथी अर्थ में व्याख्या की जाये, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मि० ग्लैडस्टन क्या कहना **चाहते थे** (*To-day*, मार्च १८८४)। यहां सबसे ज्यादा मज़ाक की बात यह है कि हमारे कैंब्रिजवासी का इसरार अब यह नहीं है कि भाषण *Hansard* से उद्धृत किया जाये, जैसा कि गुमनाम ब्रेन्तानो के कथनानुसार "रिवाज" है, बल्कि अब वह उसे *The Times* की रिपोर्ट से उद्धृत करना चाहता है, जिसे उन्हीं ब्रेन्तानो महाशय ने "आवश्यक रूप से गड़बड़ कर देनेवाली" रिपोर्ट कहा था। उसका यह इसरार करना स्वाभाविक है, क्योंकि *Hansard* की रिपोर्ट में मुसीबत की जड़ वह वाक्य ग़ायब है।

एलियानोर मार्क्स को इन सारी दलीलों को फूंक मारकर हवा में उड़ा देने में कोई कठि-

नाई नहीं हुई (उनका जवाब *To-day* के उसी अंक में प्रकाशित हुआ था)। उन्होंने कहा कि या तो मि० टेलर ने १८७२ की बहस को पढ़ा था और उस सूरत में वह अब न सिर्फ़ "झूठमूठ गढ़कर" बातें जोड़ रहे हैं, बल्कि कुछ बातों को दबाकर "झूठ" भी बोल रहे हैं, या फिर उन्होंने उस बहस को पढ़ा नहीं था और इसलिए उन्हें ख़ामोश रहना चाहिए। दोनों सूरतों में यह निश्चित है कि अब वह एक क्षण के लिए भी यह दावा करने की हिम्मत नहीं कर सकते कि उनके मित्र ब्रेन्तानो का यह आरोप सही था कि मार्क्स ने कोई बात "झूठमूठ गढ़कर" जोड़ दी थी। इसके विपरीत, अब तो यह प्रतीत होता है कि मार्क्स ने झूठमूठ गढ़कर कोई बात जोड़ी नहीं थी, बल्कि एक महत्त्वपूर्ण वाक्य दबा दिया था। लेकिन यही वाक्य उद्घाटन-वक्तव्य के पृष्ठ ५ पर तथाकथित "झूठमूठ गढ़कर जोड़े गये वाक्य" से कुछ पंक्तियां पहले उद्धृत किया गया है। और जहां तक ग्लैडस्टन के भाषण में पायी जानेवाली "असंगति" का प्रश्न है, क्या ख़ुद मार्क्स ने 'पूंजी' के पृ० ६१८ (तीसरे संस्करण के पृ० ६७२) के नोट १०५ [वर्तमान संस्करण के पृ० ६८५ की पाद-टिप्पणी 105] में "ग्लैडस्टन के १८६३ और १८६४ के बजट-भाषणों की लगातार सामने आनेवाली भयानक असंगतियों" का ज़िक्र नहीं किया है? हां, उन्होंने बतर्ज़ मि० सेडली टेलर उनको आत्मसंतुष्ट उदारपंथी भावनाओं में बदल देने की जरूर कोई कोशिश नहीं की। अपने उत्तर के अंत में एलियानोर मार्क्स ने पूरी बहस का निचोड़ निकालते हुए यह कहा था :

"मार्क्स ने उद्धृत करने योग्य कोई बात नहीं दबायी है और न ही उन्होंने 'झूठमूठ गढ़कर' कोई बात जोड़ी है। लेकिन उन्होंने मि० ग्लैडस्टन के भाषण के एक ख़ास वाक्य को पुनर्जीवित जरूर किया है और उसे विस्मृति के गर्त से बाहर निकाला है, और यह वाक्य असंदिग्ध रूप से मि० ग्लैडस्टन द्वारा कहा गया था, लेकिन किसी ढंग से *Hansard* से ग़ायब हो गया।"

इस तरह मि० सेडली टेलर की भी काफ़ी ख़बर ली जा चुकी थी; और बीस वर्ष से दो बड़े देशों में जो प्रोफ़ेसराना ताना-बाना बुना जा रहा था, उसका आख़िरी नतीजा यह हुआ कि उसके बाद से कभी किसी ने मार्क्स की साहित्यिक ईमानदारी पर कोई और आरोप लगाने की हिम्मत नहीं की; और जहां तक मि० सेडली टेलर का संबंध है, वह अब निस्संदेह हर ब्रेन्तानो की साहित्यिक युद्ध-विज्ञप्तियों पर उतना ही कम भरोसा किया करेंगे, जितना हर ब्रेन्तानो *Hansard* की पोप-मार्का सर्वज्ञता पर।

फ़्रेडरिक एंगेल्स

लंदन, २५ जून १८९०

पहली पुस्तक

पूंजीवादी उत्पादन

भाग १

पण्य और द्रव्य

अध्याय १

पण्य

अनुभाग १—पण्य के दो कारक: उपयोग-मूल्य और मूल्य (मूल्य का सार और मूल्य का परिमाण)

जिन समाजों में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली व्याप्त है, उनमें धन "पण्यों के विशाल संचय"[1] के रूप में सामने आता है और उसकी इकाई होती है एक पण्य। इसलिए हमारी खोज अवश्य ही पण्य के विश्लेषण से आरंभ होनी चाहिए।

पण्य या जिंस के बारे में सबसे पहली बात यह है कि वह हमसे बाहर की कोई वस्तु होती है। वह अपने गुणों से किसी न किसी प्रकार की मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करती है। इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि इन आवश्यकताओं का क्या स्वरूप है, उदाहरण के लिए, वे पेट से पैदा हुई हैं या कल्पना से।[2] न ही हम यहां जानना चाहते हैं कि कोई वस्तु इन आवश्यकताओं को किस तरह पूरा करती है: सीधे-सीधे, जीवन-निर्वाह के साधन के रूप में, या अप्रत्यक्ष ढंग से, उत्पादन के साधन के रूप में।

लोहा, काग़ज़, आदि प्रत्येक उपयोगी वस्तु को गुणवत्ता और परिमाण, इन दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। प्रत्येक उपयोगी वस्तु में बहुत से गुणों का समावेश होता है और इसलिए वह नाना प्रकार से उपयोग में आ सकती है। वस्तुओं के विभिन्न उपयोगों का पता लगाना इतिहास का काम है।[3] इसी प्रकार इन उपयोगी वस्तुओं के परिमाणों के सामाजिक दृष्टि से

---

[1] Karl Marx, *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, Berlin, 1859, S. 3.

[2] "इच्छा का मतलब है आवश्यकता का होना। वह दिमाग़ की क्षुधा और उतनी ही स्वाभाविक होती है, जितनी कि शरीर की भूख... अधिकतर (चीज़ों) का मूल्य इसलिए होता है कि वे दिमाग़ की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।" (Nicholas Barbon, *A Discourse Concerning Coining the New Money Lighter. In Answer to Mr. Locke's Considerations etc.*, London, 1696, pp. 2, 3.)

[3] "सभी चीज़ों का अपना एक स्वाभाविक गुण (उपयोग-मूल्य के लिए बार्बोन ने इस विशेष नाम का प्रयोग किया है) होता है। यह गुण सभी स्थानों में एक जैसा रहता है, जैसे कि चुंबक पत्थर में लोहे को अपनी ओर खींचने का स्वाभाविक गुण" (N. Barbon, l.c., p. 6.)। चुंबक पत्थर में लोहे को अपनी ओर खींचने का जो गुण होता है, वह केवल उसी समय उपयोग में आया, जब पहले इस गुण के द्वारा चुंबक के ध्रुवत्व की खोज हो गयी।

मान्य मापदंडों की स्थापना करना भी इतिहास का ही काम है। इन मापदंडों की विविधता का मूल आंशिक रूप से तो इस बात में है कि मापी जानेवाली वस्तुएं नाना प्रकार की होती हैं, और आंशिक रूप से उसका मूल रीति-रिवाजों में निहित है।

किसी वस्तु की उपयोगिता उसे उपयोग-मूल्य प्रदान करती है।[4] लेकिन यह उपयोगिता कोई हवाई चीज़ नहीं होती। वह चूंकि पण्य के भौतिक गुणों से सीमित होती है, इसलिए पण्य से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। इसलिए कोई भी पण्य, जैसे लोहा, अनाज या हीरा, जहां तक वह एक भौतिक वस्तु है, वहां तक वह उपयोग-मूल्य, यानी उपयोगी वस्तु होता है। पण्य का यह गुण इस बात से स्वतंत्र है कि उसके उपयोगी गुणों से लाभ उठाने के लिए कितने श्रम की आवश्यकता होती है। जब हम उपयोग-मूल्य पर विचार करते हैं, तब हम सदा यह मानकर चलते हैं कि हम निश्चित परिमाणों की चर्चा कर रहे हैं, जैसे इतनी दर्जन घड़ियां, इतने गज़ कपड़ा या इतने टन लोहा। पण्यों के उपयोग-मूल्यों का अलग से अध्ययन किया जाता है, यह पण्यों के वाणिज्यिक ज्ञान का विषय है।[5] उपयोग-मूल्य केवल उपयोग अथवा उपभोग के द्वारा ही वास्तविकता बनते हैं, और धन का सामाजिक रूप चाहे जैसा हो, उसका सारतत्त्व भी सदा ये उपयोग-मूल्य ही होते हैं। इसके अलावा, समाज के जिस रूप पर हम विचार करनेवाले हैं, उसमें उपयोग-मूल्य विनिमय-मूल्य के भौतिक आधान भी होते हैं।

पहली दृष्टि में विनिमय-मूल्य एक परिमाणात्मक संबंध के रूप में, यानी उस अनुपात के रूप में सामने आता है, जिस अनुपात में एक प्रकार के उपयोग-मूल्यों का दूसरे प्रकार के उपयोग-मूल्यों से विनिमय होता है।[6] यह संबंध समय और स्थान के अनुसार लगातार बदलता रहता है। इसलिए विनिमय-मूल्य एक सांयोगिक और सर्वथा सापेक्ष चीज़ मालूम होता है, चुनांचे यथार्थ मूल्य, अर्थात् ऐसा विनिमय-मूल्य, जो पण्यों से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ तथा उनमें अंतर्निहित है, ऐसा यथार्थ मूल्य स्वतः विरोधी प्रतीत होता है।[7] आइये, इस मामले पर थोड़ा और गहराई से विचार करें।

---

[4] "किसी भी चीज़ का स्वाभाविक मूल्य मानव-जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने या उसकी सुविधाओं के हेतु काम आने की उसकी योग्यता में निहित है।" (John Locke, *Some Considerations of the Consequences of the Lowering of Interest, 1691*; देखिये *Works*, London, 1777, Vol. II, p. 28.) १७ वीं सदी के अंग्रेज़ी लेखकों की रचनाओं में हम अकसर उपयोग-मूल्य के अर्थ में ""worth" शब्द का और विनिमय-मूल्य के अर्थ में "value" शब्द का प्रयोग पाते हैं। यह उस भाषा की भावना के सर्वथा अनुरूप है, जिसको वास्तविक वस्तु के लिए ट्यूटोनिक भाषाओं के शब्द और उसके प्रतिबिंब के लिए रोमांस भाषाओं के शब्द का इस्तेमाल पसंद है।

[5] बुर्जुआ समाजों में आर्थिक क्षेत्र में इस fictio juris [विधि की परिकल्पना] को मानकर चला जाता है कि ख़रीदार के रूप में हरेक को पण्यों का सर्वांगीण ज्ञान है।

[6] "मूल्य इस बात में निहित है कि किसी चीज़ का दूसरी चीज़ से, एक उत्पाद की एक निश्चित मात्रा का किसी दूसरे उत्पाद की एक निश्चित मात्रा से किस अनुपात में विनिमय होता है।" (Le Trosne, *De l'Intérêt Social. Physiocrates*, éd. Daire, Paris, 1846, p. 889.)

[7] "यथार्थ मूल्य किसी चीज़ में नहीं हो सकता" (N. Barbon, *A Discourse Concerning Coining the New Money Lighter etc.*, London, 1696, p. 6.) या जैसा कि बटलर ने कहा है :

माना कि एक पण्य – मिसाल के लिए, एक क्वार्टर गेहूं – है, जिसका x बूटपालिश, y रेशम और z सोने, आदि से विनिमय होता है। संक्षेप में यह कहिये कि उसका दूसरे पण्यों से बहुत ही भिन्न-भिन्न अनुपातों में विनिमय होता है। इसलिए गेहूं का एक विनिमय-मूल्य होने के बजाय कई विनिमय-मूल्य होंगे। लेकिन चूंकि x बूटपालिश, y रेशम की मात्रा या z सोने, आदि में से प्रत्येक एक क्वार्टर गेहूं के विनिमय-मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए विनिमय-मूल्यों के रूप में x बूटपालिश, y रेशम या z सोने, आदि में एक दूसरे का स्थान लेने की योग्यता होनी चाहिए, यानी वे सब एकज दूसरे के बराबर होने चाहिए। इसलिए पहली बात तो यह निकली कि किसी एक पण्य के मान्य विनिमय-मूल्य किसी समान वस्तु को व्यक्त करते हैं, और दूसरी यह कि विनिमय-मूल्य आम तौर पर किसी ऐसी वस्तु को व्यक्त करने का ढंग अथवा किसी ऐसी वस्तु का इंद्रियगम्य रूप मात्र है, जो उसमें निहित है और उससे भिन्न भी है।

दो पण्यों, मिसाल के लिए, अनाज और लोहे को ही लें। जिन अनुपातों में उनका विनिमय किया जा सकता है, वे अनुपात चाहे जो भी हों, उनको सदा ऐसे समीकरण के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, जिसमें अनाज की एक निश्चित मात्रा लोहे की किसी एक मात्रा के बराबर होती है: मिसाल के लिए, १ क्वार्टर अनाज=x हंड्रेडवेट लोहा। यह समीकरण हमें क्या बतलाता है? वह हमें यह बतलाता है कि दो अलग-अलग चीज़ों में – १ क्वार्टर अनाज और x हंड्रेडवेट लोहे में – कोई ऐसी चीज़ पायी जाती है, जो दोनों में समान मात्राओं में मौजूद है। इसलिए इन दो चीज़ों को एक तीसरी चीज़ के बराबर होना चाहिए, जो ख़ुद न तो पहली चीज़ हो सकती है और न दूसरी। इसलिए दोनों ही चीज़ों को, जहां तक वे विनिमय-मूल्य हैं, इस तीसरी चीज़ में बदल देना संभव होना चाहिए।

ज्यामिति का एक सरल उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा। ऋजुरेखीय आकृतियों के क्षेत्रफलों का हिसाब लगाने और उनकी आपस में तुलना करने के लिए हम उनको त्रिकोणों में विभाजित कर डालते हैं। लेकिन ख़ुद त्रिकोण का क्षेत्रफल एक ऐसी चीज़ के द्वारा व्यक्त किया जाता है, जो उसकी दृश्य आकृति से बिल्कुल भिन्न है, अर्थात् उसका क्षेत्रफल आधार तथा ऊंचाई के गुणनफल के आधे के बराबर होता है। इसी तरह पण्यों के विनिमय-मूल्यों को भी किसी ऐसी चीज़ के द्वारा व्यक्त करना संभव होना चाहिए, जो उन सबमें मौजूद हो और जिसकी कम या ज़्यादा मात्रा का वे सारे पण्य प्रतिनिधित्व करते हों।

यह "चीज़", जो सबमें मौजूद है, पण्यों का ज्यामितीय, भौतिक, रासायनिक अथवा कोई अन्य प्राकृतिक गुण नहीं हो सकता। ऐसे गुणों की ओर तो हम केवल उसी हद तक ध्यान देते हैं, जिस हद तक कि उनका इन पण्यों की उपयोगिता पर प्रभाव पड़ता है, या जिस हद तक कि ये गुण उनको उपयोग-मूल्य बनाते हैं। लेकिन ज़ाहिर है कि पण्यों का विनिमय एक ऐसा कार्य है, जिसकी मुख्य विशेषता यह होती है कि उसमें उपयोग-मूल्य को बिल्कुल अनदेखा किया जाता है। तब एक उपयोग-मूल्य उतना ही अच्छा होता है, जितना कोई दूसरा उपयोग-मूल्य, बशर्ते कि वह पर्याप्त मात्रा में मौजूद हो। या, जैसा कि बार्बोन ने बहुत पहले कहा था, "यदि उनके विनिमय-मूल्य बराबर हों, तो एक तरह की जिंस उतनी ही अच्छी है, जितनी

"मूल्य वस्तु का उतना ही है,
जितना वह बदले में पाये।"

दूसरी तरह की जिंस। समान मूल्य की चीज़ों में कोई अंतर या भेद नहीं होता... सौ पाउंड की क़ीमत का सीसा या लोहा उतना ही मूल्य रखता है, जितना सौ पाउंड की क़ीमत की चांदी या सोना।"[8] उपयोग-मूल्यों के रूप में पण्यों के बारे में सबसे बड़ी बात यह होती है कि उनमें अलग-अलग प्रकार के गुण होते हैं, लेकिन विनिमय-मूल्यों के रूप में वे महज़ अलग-अलग परिमाण होते हैं। और इसलिए उपयोग-मूल्य का उनमें एक कण भी नहीं होता।

अतएव यदि हम पण्यों के उपयोग-मूल्य की ओर ध्यान न दें, तो उनेमें केवल एक ही समान तत्त्व बचता है, और वह यह कि वे सब श्रम के उत्पाद हैं। लेकिन हमारे हाथों में ख़ुद श्रम के उत्पाद में भी एक परिवर्तन हो गया है। यदि हम उसे उसके उपयोग-मूल्य से अलग कर लेते हैं, तो उसके साथ-साथ हम उसे उन भौतिक तत्त्वों और आकृतियों से भी अलग कर डालते हैं, जिन्होंने इस उत्पाद को उपयोग-मूल्य बनाया है। तब हम उसमें मेज़, घर, सूत या कोई भी अन्य उपयोगी वस्तु नहीं देखते। तब एक भौतिक वस्तु के रूप में उसका अस्तित्व आंखों से ओझल हो जाता है। और न ही तब उसे बढ़ई, राज और कातनेवाले के श्रम के उत्पाद के रूप में या निश्चित ढंग के किसी भी अन्य उत्पादक श्रम के उत्पाद के रूप में माना जा सकता है। तब ख़ुद उत्पादों के उपयोगी गुणों के साथ-साथ हम उनमें निहित श्रम के विभिन्न प्रकारों के उपयोगी स्वरूप को तथा उस श्रम के ठोस रूपों को भी अनदेखा कर देते हैं; तब उस एक चीज़ को छोड़कर, जो उन सबमें समान रूप से मौजूद होती है, और कुछ नहीं बचता, और सभी प्रकार के श्रम एक ही ढंग के श्रम में बदल जाते हैं, और वह होता है अमूर्त मानव-श्रम।

अब हम इसपर विचार करें कि इन विभिन्न प्रकार की उत्पादित वस्तुओं में से प्रत्येक में अब क्या बच रहा है। हरेक में एक सी अमूर्त वास्तविकता बच रही है, हरेक समांग मानव-श्रम का जमाव, ख़र्च की गयी श्रम-शक्ति का जमाव भर रह गया है, और अब इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि वह श्रम-शक्ति किस ढंग से ख़र्च की गयी है। अब ये सारी चीज़ें हमें सिर्फ़ इतना बताती हैं कि उनके उत्पादन में मानव-श्रम ख़र्च हुआ है और उनमें मानव-श्रम निहित है। जब इन चीज़ों पर उनमें समान रूप से मौजूद इस सामाजिक तत्त्व के स्फटिकों के रूप में विचार किया जाता है, तब वे सब मूल्य होती हैं।

हम यह देख चुके हैं कि जब पण्यों का विनिमय होता है, तब उनका विनिमय-मूल्य एक ऐसी चीज के रूप में प्रकट होता है, जो उनके उपयोग-मूल्य से एकदम स्वतंत्र होती है। परंतु यदि हम उनको उनके उपयोग-मूल्यों से अलग कर लें, तो उनका मात्र मूल्य बच जाता है, जिसकी परिभाषा हम ऊपर दे चुके हैं। इसलिए पण्यों के विनिमय-मूल्य के रूप में जो समान तत्त्व प्रकट होता है, वह उनका मूल्य है। हमारी खोज जब आगे बढ़ेगी, तो हमें पता चलेगा कि विनिमय-मूल्य ही एक मात्र ऐसा रूप है, जिसमें पण्यों का मूल्य प्रकट हो सकता है, या जिसके द्वारा उसे व्यक्त किया जा सकता है; मगर फ़िलहाल हमें इससे – यानी मूल्य के इस रूप से – स्वतंत्र होकर मूल्य की प्रकृति पर विचार करना है।

अतएव किसी भी उपयोग-मूल्य अथवा उपयोगी वस्तु में मूल्य केवल इसीलिए होता है कि उसमें अमूर्त रूप में मानव-श्रम निहित है, या यूं कहिये कि उसमें अमूर्त मानव-श्रम भौतिक रूप धारण किये होता है। किंतु इस मूल्य का परिमाण मापा कैसे जाये? जाहिर है, वह इस बात

---

[8] N. Barbon, l.c., pp. 53, 7.

से मापा जायेगा कि उस वस्तु में मूल्य पैदा करनेवाले तत्त्व की – यानी श्रम की – कितनी मात्रा मौजूद है। लेकिन श्रम की मात्रा उसकी अवधि से मापी जाती है, और श्रम-काल का मापदंड हफ़्ते, दिन या घंटे होते हैं।

कुछ लोग शायद इससे यह समझें कि यदि किसी भी पण्य का मूल्य उसपर ख़र्च किये गये श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, तो मजदूर जितना सुस्त और अकुशल होगा, उसके द्वारा उत्पादित पण्य उतना ही अधिक मूल्यवान होगा, क्योंकि उसके उत्पादन में उतना ही ज्यादा समय लगेगा। किंतु वह श्रम, जो मूल्य का सार है, वह तो समांग मानव-श्रम है, उसमें तो एक सी समरूप श्रम-शक्ति ख़र्च की जाती है। समाज की कुल श्रम-शक्ति, जो उस समाज द्वारा उत्पादित तमाम पण्यों के मूल्यों के कुल जोड़ में साकार बनी है, यहां पर मानव श्रम-शक्ति की एक समांग राशि के रूप में गिनी जाती है, भले ही वह राशि असंख्य अलग-अलग इकाइयों का जोड़ हो। इनमें से प्रत्येक इकाई, जहां तक कि उसका स्वरूप समाज की औसत श्रम-शक्ति का है और जहां तक कि वह इस रूप में व्यवहार में आती है, यानी जहां तक कि उसे पण्य तैयार करने में औसत से ज्यादा – अर्थात् सामाजिक दृष्टि से आवश्यक समय से अधिक – समय नहीं लगता, वहां तक वह किसी भी दूसरी इकाई जैसी ही होती है। सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल वह है, जो उत्पादन की सामान्य परिस्थितियों में और उस ज़माने में प्रचलित औसत दर्जे की निपुणता तथा तीव्रता के द्वारा किसी वस्तु को पैदा करने के लिए आवश्यक हो। इंगलैंड में जब पावरलूम करघों का इस्तेमाल शुरू हुआ, तो सूत की एक निश्चित मात्रा को कपड़े की शक्ल देने पर ख़र्च होनेवाली श्रम की मात्रा पहले की तुलना में संभवतः आधी रह गयी। ज़ाहिर है, हाथ का करघा इस्तेमाल करनेवाले बुनकरों को इसके बाद भी पहले जितना ही समय ख़र्च करना पड़ता था, लेकिन उसके बावजूद इस परिवर्तन के बाद उनके एक घंटे के श्रम का उत्पाद केवल आधे घंटे के सामाजिक श्रम का ही प्रतिनिधित्व करता था और इसलिए उस उत्पाद का मूल्य पहले से आधा रह गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी वस्तु के मूल्य का परिमाण इस बात से निश्चित होता है कि उसके उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से कितना श्रम चाहिए, अथवा सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल कितना है।[9] इस संबंध में हर अलग-अलग ढंग के पण्य को अपने वर्ग का औसत नमूना समझना चाहिए।[10] इसलिए जिन पण्यों में श्रम की बराबर मात्राएं निहित हैं या जिनको बराबर समय में पैदा किया जा सकता है, उनका एक सा मूल्य

---

[9] "जब उनका" (जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का) "आपस में विनिमय होता है, तब उनका मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि उनको पैदा करने में कितने श्रम की लाज़िमी तौर पर आवश्यकता होती है और आम तौर पर उनके उत्पादन में कितना श्रम लगता है।" (*Some Thoughts on the Interest of Money in General, and Particularly in the Public Funds etc.*, London, p. 36.) पिछली शताब्दी में लिखी गयी इस उल्लेखनीय गुमनाम रचना पर कोई तारीख़ नहीं है। परंतु अंदरूनी प्रमाणों से यह बात साफ़ है कि वह जार्ज द्वितीय के राज्य-काल में, १७३६ या १७४० के आसपास प्रकाशित हुई थी।

[10] "एक ही प्रकार की सभी उत्पादित वस्तुओं को मूलतया केवल एक ही राशि समझना चाहिए, जिसका दाम सामान्य बातों से निर्धारित होता है और जिसके संबंध में विशिष्ट बातों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।" (Le Trosne, *De l'Intérêt Social. Physiocrates*, éd. Daire, Paris, 1846, p. 893.)

होता है। किसी भी पण्य के मूल्य का दूसरे किसी पण्य के मूल्य के साथ वही संबंध होता है, जो पहले पण्य के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल का दूसरे पण्य के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल के साथ होता है। "मूल्यों के रूप में तमाम पण्य घनीभूत श्रम-काल की निश्चित राशियां मात्र हैं।"[11]

इसलिए, यदि किसी पण्य के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल स्थिर रहता है, तो उसका मूल्य भी स्थिर रहेगा। लेकिन आवश्यक श्रम-काल श्रम की उत्पादिता में होनेवाले प्रत्येक परिवर्तन के साथ बदलता जाता है। यह उत्पादिता विभिन्न परिस्थितियों से निर्धारित होती है। अन्य बातों के अलावा, वह इस बात से निर्धारित होती है कि मजदूरों की औसत निपुणता कितनी है, विज्ञान की क्या दशा है तथा उसका व्यावहारिक प्रयोग कितना हो रहा है, उत्पादन का सामाजिक संगठन कैसा है, उत्पादन के साधनों का विस्तार तथा सामर्थ्य कितनी है और प्राकृतिक परिस्थितियां कैसी हैं। उदाहरण के लिए, अनुकूल मौसम होने पर ८ बुशेल अनाज में जितना श्रम निहित होता है, प्रतिकूल मौसम होने पर उतना श्रम केवल चार बुशेल में निहित होता है। घटिया खानों के मुक़ाबले में बढ़िया खानों से उतना ही श्रम ज्यादा धातु निकाल लेता है। हीरे ज़मीन की सतह पर बहुत बिरले ही मिलते हैं, और इसलिए उनकी खोज में औसतन बहुत अधिक श्रम-काल ख़र्च होता है। इसलिए यहां बहुत छोटी सी चीज़ बहुत अधिक श्रम का प्रतिनिधित्व करती है। जेकब को तो इसमें भी संदेह है कि सोने का कभी पूरा मूल्य अदा किया गया है। हीरों पर यह बात और भी ज्यादा लागू होती है। एश्वेगे का कहना है कि ब्राज़ील की हीरे की खानों से १८२३ तक के ८० बरस में जितने हीरे प्राप्त हुए थे, उनसे इतने दाम भी नहीं मिले कि जितने उसी देश के ईख और क़हवे के बाग़ानों की डेढ़ बरस की औसत पैदावार से मिल जाते थे, हालांकि हीरों में बहुत ज्यादा श्रम ख़र्च हुआ था और इसलिए वे अधिक मूल्य का प्रतिनिधित्व करते थे। यदि खानें अधिक अच्छी हों, तो उतना ही श्रम ज्यादा हीरों में निहित होगा और उनका मूल्य गिर जायेगा। यदि हमें थोड़ा सा श्रम ख़र्च करके कार्बन को हीरे में बदलने में कामयाबी मिल जाये, तो हो सकता है कि हीरों का मूल्य ईंटों से भी कम रह जाये। आम तौर पर, श्रम की उत्पादिता जितनी अधिक होती है, किसी भी वस्तु के उत्पादन के लिए उतना ही कम श्रम-काल आवश्यक होता है, उस वस्तु में उतना ही कम श्रम निहित होता है और उसका मूल्य भी उतना ही कम होता है। इसके विपरीत, श्रम की उत्पादिता जितनी कम होती है, किसी भी वस्तु के उत्पादन के लिए उतना ही अधिक श्रम-काल आवश्यक होता है और उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होता है। इसलिए किसी भी पण्य का मूल्य उसमें निहित श्रम की मात्रा के अनुलोम अनुपात में और उत्पादिता के प्रतिलोम अनुपात में बदलता रहता है।

यह संभव है कि किसी वस्तु में मूल्य न हो, मगर वह उपयोग-मूल्य हो। जहां कहीं मनुष्य के लिए किसी वस्तु की उपयोगिता श्रम के कारण नहीं होती, वहां यही सूरत होती है। हवा, अछूती धरती, प्राकृतिक चरागाह, आदि सब ऐसी ही चीज़ें हैं। यह भी संभव है कि कोई चीज़ उपयोगी हो और मानव-श्रम की पैदावार हो, मगर पण्य न हो। जो कोई सीधे तौर पर ख़ुद अपने श्रम के उत्पाद से अपनी आवश्यकताएं पूरी करता है, वह उपयोग-मूल्य तो ज़रूर पैदा करता है, मगर पण्य पैदा नहीं करता। पण्य पैदा करने के लिए ज़रूरी है कि वह न सिर्फ़

---

[11] Karl Marx, *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, Berlin, 1859, S. 6.

उपयोग-मूल्य पैदा करे, बल्कि दूसरों के लिए उपयोग-मूल्य – यानी सामाजिक उपयोग-मूल्य – पैदा करे। (और केवल दूसरों के लिए पैदा करना ही काफ़ी नहीं है, उसके अलावा कुछ और भी चाहिए। मध्ययुगी किसान अपने सामंती स्वामी के लिए बेगार के तौर पर और अपने पादरी के लिए दक्षिणा के तौर पर अनाज पैदा करता था। लेकिन न तो बेगार का अनाज और न दक्षिणा का अनाज, दोनों में से कोई भी इसलिए पण्य नहीं था कि वह दूसरों के लिए पैदा किया गया था। पण्य बनने के लिए ज़रूरी है कि उत्पाद एक के हाथ से विनिमय के ज़रिये दूसरे के हाथ में जाये, जिसके पास वह उपयोग-मूल्य के रूप में काम करेगा।)[11a] आख़िरी बात यह है कि यदि कोई चीज़ उपयोगी नहीं है, तो उसमें मूल्य भी नहीं हो सकता। यदि कोई चीज़ व्यर्थ है, तो उसमें निहित श्रम भी व्यर्थ है; ऐसे श्रम की गिनती श्रम के रूप में नहीं होती और इसलिए उससे कोई मूल्य पैदा नहीं होता।

अनुभाग २ – पण्यों में निहित श्रम का दोहरा स्वरूप

पहली दृष्टि में पण्य दो चीज़ों – उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य – के संश्लेष के रूप में हमारे सामने आया था। बाद में हमने यह भी देखा कि श्रम का भी वैसा ही दोहरा स्वरूप है, क्योंकि जहां तक कि वह मूल्य के रूप में व्यक्त होता है, वहां तक उसमें वे गुण नहीं होते, जो उपयोग-मूल्य के सृजनकर्त्ता के नाते उसमें होते हैं। पण्यों में निहित श्रम की इस दोहरी प्रकृति की ओर इशारा सबसे पहले मैंने किया था और उसका आलोचनात्मक अध्ययन भी सबसे पहले मैंने ही किया था।[12] यह बात चूंकि राजनीतिक अर्थशास्त्र को स्पष्ट रूप से समझने की धुरी है, इसलिए हमें विस्तार में जाना होगा।

दो पण्य ले लीजिये। मान लीजिये, एक कोट है और दूसरा १० गज़ सन का बना कपड़ा है, और कोट का मूल्य १० गज़ कपड़े के मूल्य का दुगुना है, यानी यदि १० गज़ कपड़ा = W, तो कोट = २ W.

कोट एक उपयोग-मूल्य है, जो एक ख़ास आवश्यकता को पूरा करता है। उसका अस्तित्व एक ख़ास ढंग की उत्पादक कार्रवाई का परिणाम है। इस उत्पादक कार्रवाई का स्वरूप उसके उद्देश्य, कार्य-पद्धति, विषय, साधनों और परिणाम से निर्धारित होता है। वह श्रम, जिसकी उपयोगिता इस प्रकार उसके उत्पाद के उपयोग-मूल्य में व्यक्त होती है या जो अपने उत्पाद को उपयोग-मूल्य बनाकर प्रकट होता है, उसे हम उपयोगी श्रम कहते हैं। इस संबंध में हम केवल उसके उपयोगी प्रभाव पर विचार करते हैं।

जिस प्रकार कोट और कपड़ा गुणात्मक दृष्टि से दो अलग-अलग तरह के उपयोग-मूल्य हैं, उसी प्रकार उनको पैदा करनेवाले श्रम भी अलग-अलग तरह के दो श्रम हैं – एक में दर्ज़ी ने कोट सिया है, दूसरे में बुनकर ने कपड़ा बुना है। यदि ये दो वस्तुएं गुणात्मक दृष्टि से अलग-

---

[11a] [**चौथे जर्मन संस्करण की पाद-टिप्पणी:** कोष्ठक के भीतर छपा यह अंश मैंने यहां इसलिए जोड़ दिया है कि उसके छूट जाने से अक्सर यह ग़लतफ़हमी पैदा हो जाती थी कि मार्क्स हर उस उत्पाद को पण्य समझते थे, जिसका उपयोग उसको पैदा करनेवाले के सिवा कोई और आदमी करता था। – फ़्रे० एं०]

[12] Karl Marx, *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, Berlin, 1859, S. 12.

अलग न होतीं, यदि वे दो अलग-अलग गुणों वाले श्रम से पैदा न हुई होतीं, तो उनका एक दूसरे के साथ पण्यों का संबंध नहीं हो सकता था। कोटों का विनिमय कोटों से नहीं होता, एक उपयोग-मूल्य का उसी प्रकार के दूसरे उपयोग-मूल्य से विनिमय नहीं किया जाता।

जितने प्रकार के उपयोग-मूल्य पाये जाते हैं, उनके अनुरूप उपयोगी श्रम के भी उतने ही प्रकार होते हैं; सामाजिक श्रम-विभाजन में जिस श्रेणी, प्रजाति, जाति एवं प्रभेद से श्रम का संबंध होता है, उसी के अनुसार उसका वर्गीकरण होता है। श्रम-विभाजन पण्यों के उत्पादन की ज़रूरी शर्त है, लेकिन इसकी उल्टी बात सत्य नहीं है, यानी पण्यों का उत्पादन श्रम-विभाजन की ज़रूरी शर्त नहीं है। आदिम भारतीय ग्राम-समुदाय में श्रम का सामाजिक विभाजन तो होता है, लेकिन उसमें पण्यों का उत्पादन नहीं होता। या, यदि हम नज़दीक की मिसाल लें, तो हर फ़ैक्टरी के भीतर एक व्यवस्था के अनुसार श्रम का विभाजन होता है, लेकिन वह विभाजन इस तरह नहीं होता कि वहां काम करनेवाले कर्मचारी अपने अलग-अलग क़िस्म के उत्पादों का आपस में विनिमय करने लगें। उत्पादों की केवल वे ही क़िस्में एक दूसरी के संबंध में पण्य बन सकती हैं, जो अलग-अलग ढंग के श्रम से पैदा हुई हों और जिनको पैदा करनेवाला हर ढंग का श्रम स्वतंत्र रूप से और व्यक्तियों की ख़ातिर किया गया हो।

अस्तु हम अपनी चर्चा फिर जारी करते हैं। प्रत्येक पण्य के उपयोग-मूल्य में उपयोगी श्रम निहित होता है, अर्थात् एक निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर की गयी एक निश्चित ढंग की उत्पादक कार्रवाई। यदि प्रत्येक उपयोग-मूल्य में निहित उपयोगी श्रम गुणात्मक दृष्टि से अलग ढंग का न हो, तो विभिन्न उपयोग-मूल्य पण्यों के रूप में एक दूसरे के मुक़ाबले में नहीं खड़े हो सकते। किसी भी ऐसे समाज में, जिसके उत्पाद आम तौर पर पण्यों का रूप धारण कर लेते हैं, अर्थात् पण्य पैदा करनेवालों के किसी भी समाज में, अलग-अलग उत्पादक स्वतंत्र रूप से तथा निजी तौर पर जो विभिन्न प्रकार के उपयोगी श्रम करते हैं, उनके बीच का यह गुणात्मक अंतर विकसित होकर एक जटिल व्यवस्था – यानी सामाजिक श्रम-विभाजन – बन जाता है।

बहरहाल दर्ज़ी अपना बनाया हुआ कोट चाहे ख़ुद पहने या चाहे उसका ख़रीदार उसे पहने, दोनों सूरतों में कोट उपयोग-मूल्य के रूप में काम आता है। कोट तथा उसे पैदा करनेवाले श्रम का संबंध इस बात से भी नहीं बदल जाता है कि कपड़े सीने का काम एक ख़ास धंधा, अर्थात् सामाजिक श्रम-विभाजन की एक स्वतंत्र शाखा, बन गया है। हज़ारों वर्ष तक जहां कहीं मनुष्यजाति को कपड़े की ज़रूरत महसूस हुई, लोग कपड़े तैयार करते रहे, लेकिन इससे एक भी आदमी दर्ज़ी न बना। किंतु भौतिक धन के प्रत्येक ऐसे तत्त्व की भांति, जो प्रकृति के स्वयंस्फूर्त उत्पाद नहीं है, कोट और कपड़ा भी अनिवार्य रूप से एक ऐसी उत्पादक क्रिया के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आते हैं, जो एक निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर की जाती है और जो प्रकृति की दी हुई विशेष प्रकार की सामग्री को विशेष प्रकार की मानव-आवश्यकताओं के अनुकूल बनाती है। इसलिए जहां तक श्रम उपयोग-मूल्य का सृजनकर्त्ता है, यानी जहां तक वह उपयोगी श्रम है, वहां तक वह समाज के सभी रूपों से स्वतंत्र, मनुष्य-जाति के अस्तित्व की आवश्यक शर्त है; यह प्रकृति द्वारा लागू की गयी ऐसी स्थायी आवश्यकता है, जिसके बग़ैर मनुष्य तथा प्रकृति के बीच कोई भौतिक आदान-प्रदान नहीं हो सकता और इसलिए जिसके बग़ैर मानव-जीवन भी नहीं हो सकता।

कोट, कपड़ा, आदि उपयोग-मूल्य, अर्थात् पण्यों के ढांचे, दो तत्त्वों के योग होते हैं – पदार्थ

और श्रम के। उनपर जो उपयोगी श्रम ख़र्च किया गया है, यदि आप उसे अलग कर दें, तो एक ऐसा भौतिक आधार-तत्त्व हमेशा बचा रहेगा, जो बिना मनुष्य की सहायता के प्रकृति से मिलता है। मनुष्य केवल प्रकृति की तरह काम कर सकता है, अर्थात् वह भी केवल पदार्थ का रूप बदलकर ही काम कर सकता है।[13] यही नहीं, रूप बदलने के इस काम में उसे प्रकृति की शक्तियों से बराबर मदद मिलती रहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अकेला श्रम ही भौतिक संपत्ति का, अथवा श्रम के पैदा किये हुए उपयोग-मूल्यों का एकमात्र स्रोत नहीं है। जैसा कि विलियम पैटी ने कहा है, श्रम उसका बाप है और पृथ्वी उसकी मां है।

आइये, अब उपयोग-मूल्य के रूप में पण्य पर विचार करना बंद करके पण्यों के मूल्य पर विचार करें।

हम यह मानकर चल रहे हैं कि कोट की क़ीमत कपड़े की दुगुनी है। लेकिन यह महज़ एक परिमाणात्मक अंतर है, जिससे फ़िलहाल हमारा संबंध नहीं है। किंतु हम यह याद रखते हैं कि यदि कोट का मूल्य १० गज़ कपड़े के मूल्य का दुगुना है, तो २० गज़ कपड़े का अवश्य वही मूल्य होना चाहिए, जो एक कोट का है। जहां तक कोट और कपड़ा दोनों मूल्य हैं, वहां तक वे समान तत्त्व की चीजें हैं, वे मूलतया समान श्रम की दो वस्तुगत अभिव्यक्तियां हैं। लेकिन सिलाई और बुनाई गुणात्मक दृष्टि से दो अलग-अलग ढंग के श्रम हैं। फिर भी समाज की कुछ ऐसी दशाएं भी हैं, जिनमें एक ही आदमी सिलाई और बुनाई का काम बारी-बारी से करता है। इस सूरत में श्रम के ये दो रूप एक ही व्यक्ति के श्रम के दो रूपांतर मात्र होते हैं न कि अलग-अलग व्यक्तियों के अलग और निश्चित काम। यह उसी तरह की बात है, जैसे हमारा दर्ज़ी यदि एक रोज़ कोट बनाता है और दूसरे रोज पतलून, तो उससे एक ही व्यक्ति के श्रम के महज़ परिवर्तित रूप हमारे सामने आते हैं। इसके अलावा, यह सहज ही दिखायी दे जाता है कि पूंजीवादी समाज में मानव-श्रम का एक निश्चित भाग घटती-बढ़ती मांग के अनुसार कभी सिलाई के रूप में इस्तेमाल होता है और कभी बुनाई के रूप में। यह परिवर्तन संभवतया बिना टकराव के नहीं होता, मगर उसका होना जरूरी है।

यदि हम उत्पादक क्रिया के विशेष रूप की ओर, अर्थात् श्रम के उपयोगी स्वरूप की ओर, ध्यान न दें, तो उत्पादक त्रिया मानव की श्रम-शक्ति को ख़र्च करने के सिवा और कुछ नहीं है। सिलाई और बुनाई गुणात्मक दृष्टि से अलग-अलग ढंग की उत्पादक क्रियाएं हैं, फिर भी उन दोनों में मानव-मस्तिष्क, स्नायुओं और मांस-पेशियों का उत्पादक ढंग से ख़र्च होता है,

---

[13] "विश्व की सभी परिघटनाएं चाहे वे मनुष्य के हाथ का फल हों अथवा प्रकृति के सार्विक नियमों का परिणाम, वास्तव में सृजन नहीं, बल्कि केवल पदार्थ के रूपों में परिवर्तन हैं। मानव-बुद्धि जब कभी उत्पादन के विचार का विश्लेषण करती है, तो उसे केवल दो ही तत्त्व दिखायी पड़ते हैं – एक जोड़ना, दूसरा तोड़ना; यही बात मूल्य" (उपयोग-मूल्य, हालांकि फ़िज़ियोक्रेटों के साथ वाद-विवाद के इस अंश में वेर्री के मन में भी यह बात पूरी तरह साफ़ नहीं है कि वह किस प्रकार के मूल्य की चर्चा कर रहा है) "अथवा धन के उत्पादन के संबंध में भी लागू होती है, जब मनुष्य द्वारा पृथ्वी, वायु और जल को अनाज में रूपांतरित कर दिया जाता है, या एक कीड़े के चेपदार स्राव को रेशम में, या धातु के अलग-अलग टुकड़ों को एक घड़ी में बदल दिया जाता है।" – Pietro Verri, *Meditazioni sulla Economia Politica* (पहली बार १७७१ में प्रकाशित)। यह उद्धरण कुस्तोदी द्वारा प्रकाशित इतालवी अर्थशास्त्रियों की रचनाओं के संस्करण के Parte Moderna, t. XV, p. 22 से लिया गया है।

और इस अर्थ में वे दोनों मानव-श्रम हैं। वे मानव की श्रम-शक्ति को ख़र्च करने की महज़ दो भिन्न पद्धतियां हैं। श्रम-शक्ति अपने तमाम रूपांतरों में एक सी रहती है। पर ज़ाहिर है कि इसके पहले कि वह अलग-अलग ढंग की बहुत सी पद्धतियों में ख़र्च की जाये, उसका विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुंचना ज़रूरी है। लेकिन किसी पण्य का मूल्य अमूर्त मानव-श्रम का, अर्थात् सामान्य रूप से मानव-श्रम के ख़र्च का, प्रतिनिधित्व करता है। और जिस प्रकार समाज में एक सेनापति अथवा एक साहूकार की भूमिका तो महान होती है, लेकिन उसके मुक़ाबले में मामूली आदमी की भूमिका बहुत अदना ढंग की होती है,[14] ठीक वही बात यहां मामूली मानव-श्रम पर भी लागू होती है। मामूली मानव-श्रम साधारण श्रम-शक्ति को, अर्थात् उस श्रम-शक्ति को, ख़र्च करता है, जो औसत ढंग से और किसी विशेष विकास के बिना हर साधारण व्यक्ति के शरीर में मौजूद होती है। यह सच है कि **साधारण औसत श्रम** का रूप अलग-अलग देशों और अलग-अलग कालों में बदलता रहता है, लेकिन किसी भी ख़ास समाज में उसका एक निश्चित रूप होता है। कुशल श्रम की गिनती केवल साधारण श्रम के **गहन रूप में**, या शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि साधारण श्रम के **गुणित रूप में** होती है, और कुशल श्रम की एक निश्चित मात्रा साधारण श्रम की उससे अधिक मात्रा के बराबर समझी जाती है। अनुभव बताता है कि हम इस तरह कुशल श्रम को लगातार साधारण श्रम में बदलते रहते हैं। कोई पण्य अत्यंत कुशल श्रम का उत्पाद हो सकता है, लेकिन उसका **मूल्य** चूंकि साधारण अकुशल श्रम की पैदावार के साथ उसका समीकरण कर देता है, इसलिए वह केवल साधारण अकुशल श्रम की किसी निश्चित मात्रा का ही प्रतिनिधित्व करता है।[15] अलग-अलग ढंग का श्रम जिन भिन्न-भिन्न अनुपातों में उनके मापदंड के रूप में साधारण अकुशल श्रम में बदला जाता है, वे एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया के द्वारा निर्धारित होते हैं, जो उत्पादकों के पीछे-पीछे चलती रहती है, और इसलिए रीति-रिवाज के ज़रिये निश्चित हुए लगते हैं। विषय को सरल बनाने की दृष्टि से हम आगे हर तरह के श्रम को अकुशल, साधारण श्रम मानकर चलेंगे। ऐसा करके हम केवल कुशल श्रम को हर बार साधारण श्रम में बदलने के झंझट से बच जायेंगे।

इसलिए जिस प्रकार हम कोट और कपड़े पर मूल्यों के रूप में विचार करते समय उनके अलग-अलग उपयोग-मूल्यों को अनदेखा कर देते हैं, उसी तरह उस श्रम के साथ भी होता है, जिसका ये मूल्य प्रतिनिधित्व करते हैं, यानी हम इस श्रम के उपयोगी रूपों – सिलाई और बुनाई – के अंतर को अनदेखा कर देते हैं। उपयोग-मूल्यों के रूप में कोट और कपड़ा दो ख़ास तरह की उत्पादक क्रियाओं के साथ वस्त्र और सूत के योग हैं, जब कि दूसरी ओर, मूल्य – कोट और कपड़ा – अविभेदित श्रम के समांग जमाव मात्र हैं; इस कारण, इन मूल्यों में निहित श्रम का महत्त्व इस बात में नहीं होता कि वस्त्र और सूत के साथ उसका कोई उत्पादक संबंध है, बल्कि उसका महत्त्व केवल इस बात में होता है कि इनमें मानव की श्रम-शक्ति ख़र्च हुई है। कोट और कपड़े के रूप में उपयोग-मूलयों के सृजन में सिलाई और बुनाई ठीक इसीलिए

---

[14] तुलना कीजिये Hegel, *Philosophie des Rechts*, Berlin, 1840, S. 250, §190 से।

[15] पाठक को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हम यहां मज़दूरी की या मज़दूर को एक निश्चित श्रम-काल का जो मूल्य मिलता है, उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, बल्कि हम यहां पण्य के उस मूल्य की चर्चा कर रहे हैं, जिसमें उस श्रम-काल ने भौतिक रूप धारण किया है। मज़-दूरी एक ऐसी प्रवर्ग है, जिसका अभी, हमारी खोज की मौजूदा मंज़िल पर, कोई अस्तित्व नहीं है।

आवश्यक तत्त्वों का काम करती हैं कि गुणगत दृष्टि से श्रम के ये दो प्रकार अलग-अलग हैं; लेकिन सिलाई और बुनाई कोट और कपड़े के मूल्यों का सारतत्त्व केवल उसी हद तक बनती हैं, जिस हद तक कि श्रम के इन दो प्रकारों को उनके विशेष गुणों से अलग कर दिया जाता है और जिस हद तक कि इन दोनों प्रकारों में मानव-श्रम होने का एक सा गुण मौजूद रहता है।

किंतु कोट और कपड़ा केवल मूल्य ही नहीं, बल्कि निश्चित परिमाण के मूल्य हैं, और हम यह मानकर चले हैं कि कोट की क़ीमत दस गज़ कपड़े की क़ीमत से दुगुनी है। उनके मूल्यों में यह अंतर कहां से पैदा होता है? यह इस बात से पैदा होता है कि कपड़े में कोट का केवल आधा श्रम ख़र्च हुआ है, और चुनांचे वह इस बात से पैदा होता है कि कपड़े के उत्पादन के लिए जितने समय तक श्रम-शक्ति ख़र्च करने की आवश्यकता है, कोट के उत्पादन में उससे दुगुने समय तक श्रम-शक्ति ख़र्च की गयी होगी।

इसलिए जहां उपयोग-मूल्य के संबंध में किसी भी पण्य में निहित श्रम का महत्त्व केवल गुण की दृष्टि से होता है, वहां मूल्य के संबंध में उसका महत्त्व केवल परिमाण की दृष्टि से होता है और उसे पहले विशुद्ध और साधारण मानव-श्रम में बदलना पड़ता है। उपयोग-मूल्य के संबंध में प्रश्न होता है: कैसा और क्या? मूल्य के संबंध में प्रश्न होता है: कितना? कितने समय तक? चूंकि किसी भी पण्य के मूल्य का परिमाण केवल उसमें निहित श्रम की मात्रा का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ ख़ास अनुपातों में तमाम पण्यों के मूल्य समान होंगे।

यदि एक कोट के उत्पादन के लिए आवश्यक तमाम अलग-अलग ढंग के उपयोगी श्रम की उत्पादक शक्ति एक सी रहती है, तो तैयार किये गये कोटों के मूल्यों का जोड़ उनकी संख्या के अनुसार बढ़ता जायेगा। यदि एक कोट x दिनों के श्रम का प्रतिनिधित्व करता है, तो दो कोट २x दिनों के श्रम का प्रतिनिधित्व करेंगे, और इसी तरह यह क्रम आगे चलता जायेगा। लेकिन मान लीजिये कि एक कोट के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की अवधि दुगुनी या आधी हो जाती है। पहली सूरत में एक कोट की क़ीमत अब उतनी हो जायेगी, जितनी पहले दो कोटों की थी, और दूसरी सूरत में दो कोटों की क़ीमत अब सिर्फ़ इतनी ही रह जायेगी, जितनी पहले एक कोट की थी, हालांकि दोनों सूरतों में एक कोट अब भी उतना ही काम देता है, जितना वह पहले देता था, और उसमें निहित उपयोगी श्रम में वही गुण रहता है, जो उसमें पहले था। लेकिन कोट के उत्पादन पर ख़र्च किये गये श्रम की मात्रा बदल गयी है।

उपयोग-मूल्यों के परिमाण में वृद्धि होने का मतलब है भौतिक धन में वृद्धि होना। दो कोट दो आदमी पहन सकते हैं, एक कोट केवल एक ही आदमी पहन सकता है। फिर भी यह संभव है कि भौतिक धन के परिमाण में वृद्धि होने के साथ-साथ उसके मूल्य के परिमाण में कमी आ जाये। इस विरोधी गति का मूल श्रम के दोहरे स्वरूप में है। उत्पादक शक्ति का, ज़ाहिर है, किसी मूर्त उपयोगी रूप के श्रम से संबंध होता है; कोई ख़ास तरह की उत्पादक क्रिया किसी निश्चित समय में कितनी कारगर होती है, यह उसकी उत्पादिता पर निर्भर करता है। इसलिए उपयोगी श्रम की उत्पादिता जितनी बढ़ती या घटती है, उसी अनुपात में वह ज्यादा या कम बहुतायत के साथ उत्पाद तैयार करता है। दूसरी ओर, इस उत्पादिता में जो परिवर्तन होते हैं, उनका उस श्रम पर कोई असर नहीं पड़ता, जिसका प्रतिनिधित्व मूल्य करता है। चूंकि उत्पादक शक्ति श्रम के मूर्त, उपयोगी रूपों का गुण है, इसलिए ज़ाहिर है कि जब हम श्रम

को उसके मूर्त, उपयोगी रूपों से अलग कर लेते हैं, तब उत्पादक शक्ति का उस श्रम पर प्रभाव पड़ना बंद हो जाता है। इसलिए उत्पादक शक्ति में चाहे जैसा परिवर्तन हो जाये, एक सा श्रम यदि समान अवधि तक किया जायेगा, तो उससे सदा समान परिमाण में मूल्य उत्पन्न होगा। लेकिन समान अवधि में उससे उपयोग-मूल्य भिन्न-भिन्न परिमाणों में पैदा होंगे: यदि उत्पादक शक्ति बढ़ गयी होगी, तो अधिक परिमाण में उपयोग-मूल्य पैदा होंगे, और यदि वह घट गयी होगी, तो कम परिमाण में। उत्पादक शक्ति का जो परिवर्तन श्रम की फलप्रदता को और उसके परिणामस्वरूप उस श्रम से पैदा होनेवाले उपयोग-मूल्यों के परिमाण को बढ़ा देता है, वही उपयोग-मूल्यों के इस बढ़े हुए परिमाण के कुल मूल्य को घटा देगा, बशर्ते कि इस परिवर्तन से इन उपयोग-मूल्यों के उत्पादन के लिए आवश्यक कुल श्रम-काल कम हो गया हो। ऐसा ही विपरीत क्रम में भी।

एक ओर, शरीरक्रियात्मक दृष्टि से हर प्रकार का श्रम मानव की श्रम-शक्ति को ख़र्च करना है, और एक जैसे, अमूर्त मानव-श्रम के रूप में वह पण्यों के मूल्य को उत्पन्न करता है और उसका निर्माण करता है। दूसरी ओर, हर प्रकार का श्रम मानव की श्रम-शक्ति को एक ख़ास ढंग से और एक निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर ख़र्च करना है, और अपने इस रूप में, यानी मूर्त, उपयोगी श्रम के रूप में, वह उपयोग-मूल्यों को पैदा करता है।[16]

---

[16] यह साबित करने के लिए कि श्रम ही एकमात्र ऐसी सर्वथा पर्याप्त एवं वास्तविक माप है, जिससे कभी भी तमाम पण्यों के मूल्यों का अनुमान लगाया जा सकता है और उनकी एक दूसरे से तुलना की जा सकती है, ऐडम स्मिथ ने लिखा है: "श्रम की समान मात्राओं का मज़दूर के लिए सब समय और सब जगह एक सा मूल्य होना चाहिए। उसके स्वास्थ्य, बल और क्रियाशीलता की सामान्य अवस्था में और उसमें जितनी औसत कुशलता हो, उसके साथ उसे अपने अवकाश, अपनी स्वतंत्रता तथा अपने सुख का सदा एक सा अंश त्यागना पड़ता है।" (*Wealth of Nations*, Vol. I, Ch. V.) एक ओर तो यहां (किंतु हर जगह नहीं) ऐडम स्मिथ ने पण्यों के उत्पादन में ख़र्च किये गये श्रम की मात्रा के द्वारा मूल्य के निर्धारित होने को श्रम के मूल्य के द्वारा पण्यों के मूल्य के निर्धारित होने के साथ गड़बड़ा दिया है और इसके फलस्वरूप यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि श्रम की समान मात्राओं का सदा एक सा मूल्य होता है। दूसरी ओर, उनको अंदेशा है कि जहां तक श्रम पण्यों के मूल्य के रूप में प्रकट होता है, वहां तक वह केवल श्रम-शक्ति के ख़र्च के रूप में ही गिना जाता है, लेकिन श्रम-शक्ति का यह ख़र्च उनके लिए महज़ अवकाश, स्वतंत्रता और सुख का त्याग करना है, न कि इसके साथ भी जीवित प्राणियों की साधारण कार्रवाई। लेकिन ऐडम स्मिथ का आशय तो केवल मज़दूरी पर काम करनेवाले आधुनिक मज़दूर से ही है। उनके उस गुमनाम पूर्ववर्ती का, जिसे हमने नौवीं पाद-टिप्पणी में उद्धृत किया है, यह कहना ज्यादा सही लगता है कि "जीवन की इस आवश्यक वस्तु को प्राप्त करने के लिए एक आदमी ने हफ़्ते भर तक काम किया है... और वह जो उसे बदले में कुछ देता है, वह जब इसका हिसाब लगाने बैठता है कि उसका ठीक समतुल्य क्या है, तो वह इससे बेहतर और कुछ नहीं कर सकता कि अनुमान लगाकर देखे कि इतना ही श्रम और समय उसका किस चीज़ में लगा था। और यह – असल में देखा जाये, तो – एक चीज़ में किसी निश्चित समय तक लगे एक आदमी के श्रम का किसी दूसरी चीज़ में उसी समय तक लगे किसी दूसरे आदमी के श्रम के साथ विनिमय करने के सिवा और कुछ नहीं है।" (l. c., p. 39.) [यहां श्रम के जिन दो पहलुओं पर विचार किया गया है, उनके लिए अंग्रेज़ी भाषा में सौभाग्य से दो अलग-अलग शब्द हैं। वह श्रम, जो उपयोग-

अनुभाग ३ – मूल्य का रूप अथवा विनिमय-मूल्य

पण्य दुनिया में उपयोग-मूल्यों, वस्तुओं अथवा जिंसों के रूप में आते हैं, जैसे लोहा, कपड़ा, अनाज, इत्यादि। यह उनका साधारण, सादा, शारीरिक रूप है। लेकिन वे यदि पण्य हैं, तो सिर्फ़ इसलिए कि वे दोहरी क़िस्म की चीज़ें हैं; वे उपयोग की वस्तुएं भी हैं और उसके साथ-साथ मूल्य के आधान भी। इसलिए ये चीज़ें केवल उसी हद तक पण्य के रूप में प्रकट होती हैं, अथवा पण्यों का रूप धारण करती हैं, जिस हद तक कि उनके दो रूप होते हैं: एक – भौतिक अथवा प्राकृतिक रूप, और दूसरा – मूल्य-रूप।

पण्यों के मूल्य की वास्तविकता इस दृष्टि से श्रीमती क्विकली से भिन्न है कि हम नहीं जानते कि "उसे कहां से पकड़ें"। पण्यों का मूल्य उनके सारतत्त्व की अनगढ़ भौतिकता का बिल्कुल उल्टा होता है, पदार्थ का एक परमाणु भी उसकी बनावट में प्रवेश नहीं कर पाता। किसी भी पण्य को ले लीजिये और फिर उसे चाहे जितनी बार इधर-उधर घुमाकर देख लीजिये, लेकिन जिस हद तक वह मूल्य है, उस हद तक उसे पकड़ पाना असंभव प्रतीत होता है। किंतु यदि हम यह याद रखें कि पण्यों के मूल्य की केवल सामाजिक वास्तविकता होती है, और यह वास्तविकता वे केवल उसी हद तक प्राप्त करते हैं, जिस हद तक कि वे एक समान सामाजिक तत्त्व की, अर्थात् मानव-श्रम की, अभिव्यंजनाएं अथवा मूर्त रूप हैं, तो उससे स्वाभाविकतः यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल्य केवल पण्य के साथ पण्य के सामाजिक संबंध के रूप में अपने को प्रकट कर सकता है। असल में तो हमने विनिमय-मूल्य से, अथवा पण्यों के विनिमय-संबंध से, ही अपनी यह खोज आरंभ की थी, जिसका उद्देश्य उस मूल्य का पता लगाना था, जो इस संबंध के पीछे छिपा हुआ है। अब हमें फिर उस रूप की तरफ़ लौटना चाहिए, जिस रूप में मूल्य पहली बार हमारे सामने आया था।

हर आदमी, यदि वह और कुछ नहीं जानता, तो इतना ज़रूर जानता है कि सभी पण्यों के लिए सामान्य मूल्य-रूप होता है, जो उनके उपयोग-मूल्यों के नाना प्रकार के भौतिक रूपों से बहुत भिन्न होता है। मेरा मतलब पण्यों के द्रव्य-रूप से है। लेकिन यहां हमारे सामने एक ऐसा काम आकर खड़ा हो जाता है, जिसे बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्र ने आज तक कभी हाथ में भी नहीं लिया है। वह काम यह है कि इस द्रव्य-रूप की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका पता लगाया जाये, और पण्यों के मूल्य-संबंध में व्यक्त मूल्य किस प्रकार अपनी सबसे सरल, लगभग अदृश्य रूपरेखा से आरंभ करके आंखों को चकाचौंध कर देनेवाले द्रव्य-रूप तक विकास करता है, इसे समझा जाये। यदि हम यह काम कर लेंगे, तो द्रव्य के रूप में जो पहेली हमारे सामने पेश है, उसे भी लगे हाथों बूझ डालेंगे।

सबसे सरल मूल्य-संबंध, ज़ाहिर है, वह है, जो किसी पण्य और दूसरी तरह के किसी अन्य पण्य के बीच क़ायम होता है। इसलिए दो पण्यों के मूल्यों का संबंध हमारे सामने एक पण्य के मूल्य की सबसे सरल अभिव्यंजना को पेश कर देता है।

मूल्य पैदा करता है और जिसका महत्त्व गुणात्मक होता है, work कहलाता है, जो labour से अलग होता है; और जो श्रम मूल्य पैदा करता है और जिसका महत्त्व परिमाणात्मक होता है, वह labour कहलाता है, जो work से अलग होता है। – फ़्रे० एं०]

क) मूल्य का प्राथमिक अथवा सांयोगिक रूप

क पण्य का x परिमाण = ख पण्य का y परिमाण, अथवा
क पण्य के x परिमाण का मूल्य है ख पण्य का y परिमाण।
२० गज कपड़ा = १ कोट, अथवा
२० गज कपड़े का मूल्य है १ कोट।

१) मूल्य की अभिव्यंजना के दो ध्रुव : सापेक्ष रूप और समतुल्य-रूप

मूल्य के रूप का सारा रहस्य इस प्राथमिक रूप में छिपा हुआ है। इसलिए इस रूप का विश्लेषण करना ही हमारी असली कठिनाई है।

यहां दो भिन्न प्रकार के पण्य (हमारे उदाहरण में कपड़ा और कोट), स्पष्ट ही, दो अलग-अलग भूमिकाएं अदा करते हैं। कपड़ा अपना मूल्य कोट में व्यक्त करता है; कोट उस सामग्री का काम करता है, जिसमें यह मूल्य व्यक्त होता है। कपड़े की भूमिका सक्रिय है, कोट की निष्क्रिय। कपड़े का मूल्य सापेक्ष मूल्य के रूप में सामने आता है, या यूं कहिये कि वह सापेक्ष रूप में प्रकट होता है। कोट समतुल्य का काम करता है, या यूं कहिये कि वह समतुल्य-रूप में प्रकट होता है।

सापेक्ष रूप और समतुल्य-रूप मूल्य की अभिव्यंजना के दो घनिष्ठ रूप से संबंधित, एक दूसरे पर निर्भर और अपृथक तत्त्व हैं, लेकिन साथ ही साथ वे एक दूसरे के अपवर्जक, विरोधी छोर, यानी एक ही अभिव्यंजना के दो ध्रुव भी हैं। ये दो रूप क्रमशः उन दो भिन्न पण्यों में बंट गये हैं, जिनको इस अभिव्यंजना ने एक दूसरे के संबंध में ला खड़ा किया है। कपड़े के मूल्य को कपड़े के रूप में व्यक्त करना संभव नहीं है। २० गज कपड़ा = २० गज कपड़ा – यह मूल्य की अभिव्यंजना नहीं है। इसके विपरीत, इस प्रकार का समीकरण तो केवल इतना ही बताता है कि २० गज कपड़ा २० गज कपड़े के सिवा – या कपड़ा नामक उपयोग-मूल्य की एक निश्चित मात्रा के सिवा – और कुछ नहीं है। अतएव, कपड़े का मूल्य केवल सापेक्ष ढंग से ही – अर्थात् किसी और पण्य के रूप में ही – व्यक्त किया जा सकता है। इसलिए कपड़े के मूल्य का सापेक्ष रूप पहले से यह मानकर चलता है कि कोई और पण्य भी – यहां पर कोट – समतुल्य के रूप में मौजूद है। दूसरी ओर, जो पण्य समतुल्य के रूप में सामने आता है, वह साथ ही सापेक्ष रूप नहीं धारण कर सकता। जिसका मूल्य व्यक्त किया जा रहा है, वह दूसरा पण्य नहीं है। उसकी भूमिका तो बस पहले पण्य का मूल्य व्यक्त करनेवाली सामग्री बनना है।

इसमें संदेह नहीं कि २० गज कपड़ा = १ कोट, या २० गज कपड़े का मूल्य है १ कोट, इस अभिव्यंजना से यह उल्टा संबंध भी प्रकट होता है कि १ कोट = २० गज कपड़ा, या १ कोट का मूल्य है २० गज कपड़ा। लेकिन तब मुझे कोट का मूल्य सापेक्ष ढंग से व्यक्त करने के लिए समीकरण को उलटना पड़ेगा, और जैसे ही मैं यह करता हूं, वैसे ही कोट के बजाय कपड़ा समतुल्य बन जाता है। अतएव, मूल्य की एक ही अभिव्यंजना में कोई एक पण्य एक साथ

दोनों रूप धारण नहीं कर सकता। इन रूपों की ध्रुवता ही उनको परस्पर अपवर्जी बना देती है।

इसलिए कोई पण्य सापेक्ष रूप धारण करेगा या उसका उल्टा समतुल्य-रूप, यह पूर्णतया इस बात पर निर्भर करता है कि मूल्य की अभिव्यंजना में संयोगवश उसकी कौन सी स्थिति है – अर्थात् वह ऐसा पण्य है, जिसका मूल्य व्यक्त किया जा रहा है, या ऐसा पण्य जिसके रूप में मूल्य व्यक्त किया जा रहा है।

२) मूल्य का सापेक्ष रूप

क) इस रूप की प्रकृति और उसका अर्थ

इसका पता लगाने के लिए कि किसी पण्य के मूल्य की प्राथमिक अभिव्यंजना दो पण्यों के मूल्य-संबंध में कैसे छिपी रहती है, हमें सबसे पहले इस मूल्य-संबंध को उसके परिमाणात्मक पहलू से बिल्कुल अलग करके उसपर विचार करना चाहिए। साधारणतया इससे उल्टी कार्यविधि अपनायी जाती है, और मूल्य-संबंध को दो अलग-अलग ढंग के पण्यों की उन निश्चित मात्राओं के अनुपात के सिवा और कुछ नहीं समझा जाता, जिनको एक दूसरे के बराबर माना जाता है। बहुधा यह भुला दिया जाता है कि अलग-अलग वस्तुओं के परिमाणों की तुलना केवल उसी सूरत में की जा सकती है, जब ये परिमाण एक ही इकाई के रूप में व्यक्त किये हुए हों। इस प्रकार की किसी इकाई की अभिव्यंजनाओं के नाते ही ये परिमाण एक श्रेणी के होते हैं, और इसलिए उनको एक मापदंड से नापा जा सकता है।[17]

चाहे २० गज़ कपड़ा = १ कोट, या = २० कोट, या = x कोट, अर्थात् कपड़े की किसी निश्चित मात्रा का मूल्य चाहे तो थोड़े से कोट हों अथवा बहुत सारे कोट, ऐसे हर कथन का यह मतलब होताहै कि मूल्य के परिमाणों के रूप में कपड़ा और कोट एक ही इकाई की अभिव्यंजनाएं हैं, एक ही क़िस्म की चीज़ें हैं। कपड़ा = कोट समीकरण का यही मूल आधार है।

लेकिन ये दो जिंसें, जिनके गुण की एकरूपता को हम इस प्रकार मान कर चल रहे हैं, एक सी भूमिका नहीं अदा करतीं। मूल्य केवल कपड़े का ही व्यक्त होता है। और किस तरह? कोट का अपने समतुल्य के रूप में हवाला देकर, यानी ऐसी चीज़ के रूप में, जिसके साथ उसका विनिमय किया जा सकता है। इस संबंध में कोट मूल्य के अस्तित्व की अवस्था है, वह मूल्य का मूर्त रूप है, क्योंकि केवल इसी शक्ल में वह चीज़ है, जो कपड़ा भी है। दूसरी ओर, कपड़े का ख़ुद अपना मूल्य सामने आता है, स्वतंत्र अभिव्यक्ति प्राप्त करता है, क्योंकि मूल्य होने के कारण ही तो उसका समान मूल्य की चीज़ के रूप में कोट के साथ मुक़ाबला किया

---

[17] जिन चंद अर्थशास्त्रियों ने मूल्य के रूप का विश्लेषण करने में दिलचस्पी दिखायी है, – और उनमें से एक एस० बेली हैं, – वे भी किसी नतीजे पर नहीं पहुंच सके हैं। एक तो इस-लिए कि वे मूल्य के रूप को ख़ुद मूल्य के साथ गड़बड़ा देते हैं, और दूसरे इसलिए कि वे व्यावहारिक बुर्जुआ लोगों के कुप्रभाव में आकर इस सवाल के केवल परिमाणात्मक पहलू पर ही अपना सारा ध्यान केंद्रित कर देते हैं। "कोई निश्चित परिमाण प्राप्त करने की क्षमता ही... मूल्य होती है।" (*Money and its Vicissitudes*, London, 1837, p. 11, by S. Bailey.)

जा सकता है या कोट के साथ उसका विनिमय किया जा सकता है। हम रसायनविज्ञान से एक उदाहरण लें। ब्यूटीरिक एसिड प्रोपिल फ़ॉर्मेट से अलग पदार्थ है। फिर भी वे दोनों एक से रासायनिक तत्वों से बने हैं–कार्बन (C), हाइड्रोजन (H) और ऑक्सीजन (O), और दोनों में इन तत्वों का अनुपात भी एक सा है–$C_4H_8O_2$। अब यदि हम ब्यूटीरिक एसिड की प्रोपिल फ़ॉर्मेट के साथ बराबरी करते हैं, तो इस संबंध में एक तो प्रोपिल फ़ॉर्मेट $C_4H_8O_2$ के अस्तित्व की एक अवस्था मात्र होगा, और दूसरे हमारे कहने का यह मतलब होगा कि ब्यूटीरिक एसिड भी $C_4H_8O_2$ से बना है। इसलिए दो पदार्थों की इस तरह बराबरी करके हम उनकी रासायनिक बनावट को तो व्यक्त करेंगे, मगर उनके अलग-अलग शारीरिक रूपों की उपेक्षा कर देंगे।

अगर हम यह कहते हैं कि मूल्यों के रूप में पण्य मानव-श्रम के जमाव मात्र हैं, तो यह सच है कि हम अपने विश्लेषण द्वारा उन्हें अमूर्त मूल्य में बदल डालते हैं, लेकिन इस मूल्य को हम इन पण्यों के भौतिक रूप के अलावा कोई और रूप नहीं देते। किंतु जब एक पण्य का दूसरे पण्य के साथ मूल्य का संबंध स्थापित होता है, तब यह बात नहीं होती। यहां एक पण्य दूसरे पण्य के साथ अपने संबंध के कारण ही मूल्य के रूप में सामने आता है।

कोट को कपड़े का समतुल्य बनाकर हम कोट में निहित श्रम को कपड़े में निहित श्रम के बराबर मान लेते हैं। अब यह बात तो सच है कि सिलाई, जिससे कोट तैयार होता है, बुनाई से, जिससे कि कपड़ा तैयार होता है, भिन्न प्रकार का एक उपयोगी मूर्त श्रम है। लेकिन जब हम सिलाई का बुनाई के साथ समीकरण करते हैं, तो हम सिलाई को उस चीज़ में बदल डालते हैं, जो दोनों प्रकार के श्रम में सचमुच समान है, अर्थात् हम उसे मानव-श्रम के उनके समान स्वरूप में परिणत कर देते हैं। अतः इस घुमावदार ढंग से यही तथ्य व्यक्त किया जाता है कि जहां तक बुनाई का श्रम भी मूल्य बनता है, वहां तक उसमें और सिलाई के श्रम में कोई भेद नहीं है, और इसलिए वह भी अमूर्त मानव-श्रम है। यह केवल अलग-अलग ढंग के पण्यों की समतुल्यता की अभिव्यंजना ही है, जो मूल्य का सृजन करनेवाले श्रम के विशिष्ट स्वरूप को सामने ले आती है, और यह काम वह अलग-अलग ढंग के पण्यों में निहित अलग-अलग प्रकार के श्रम को सचमुच अमूर्त मानव-श्रम होने के उनके समान गुण में परिणत करके करती है।[17a]

लेकिन कपड़े का मूल्य जिस श्रम से बना है, उसके विशिष्ट स्वरूप की अभिव्यंजना से आगे भी किसी की आवश्यकता है। मानव की गतिमान श्रम-शक्ति, अथवा मानव-श्रम मूल्य को उत्पन्न करता है, किंतु वह स्वयं मूल्य नहीं होता। वह केवल अपनी घनीभूत अवस्था में ही

[17a] ख्यातिनामा फ्रैंकलिन विलियम पैटी के बाद आनेवाले उन पहले अर्थशास्त्रियों में से थे, जो मूल्य की प्रकृति को समझ सके, वह लिखते हैं: "व्यापार चूंकि सामान्यतया श्रम के साथ श्रम के विनिमय के सिवा और कुछ नहीं होता, इसलिए यह सर्वथा उचित बात है कि सभी चीज़ों का मूल्य... श्रम के द्वारा मापा जाता है।" (*The Works of B. Franklin etc.*, edited by Sparks, Boston, 1836, Vol. 2, p. 267.) फ्रैंकलिन नहीं जानते कि हर चीज का मूल्य श्रम में आंककर वह श्रम के जिन अलग-अलग प्रकारों का विनिमय हो रहा है, उनके आपसी भेद की अवहेलना किये दे रहे हैं और इस तरह उन सबको समान मानव-श्रम में बदल डाल रहे हैं। लेकिन इससे अनजान होने पर भी वह इसे कह ही जाते हैं। पहले वह "एक श्रम" की चर्चा करते हैं, फिर "दूसरे श्रम" की और अंत में हर चीज के मूल्य के सारतत्त्व के रूप में बिना कोई विशेषण जोड़े "श्रम" का ज़िक्र करने लगते हैं।

मूल्य बनता है, यानी जब वह किसी वस्तु में रूपायित होता है। मानव-श्रम के जमाव के रूप में कपड़े के मूल्य को व्यक्त करने के लिए ज़रूरी है कि वह मूल्य इस प्रकार व्यक्त किया जाये, जैसे उसका वस्तुगत अस्तित्व हो, जैसे वह कोई ऐसी चीज़ हो, जो ख़ुद भौतिक रूप से कपड़े से भिन्न, किंतु जो फिर भी कपड़े में तथा अन्य सभी पण्यों में सामान्य रूप से पायी जाती है। समस्या यहीं पर हल हो जाती है।

जब मूल्य के समीकरण में कोट समतुल्य की स्थिति में होता है, तब गुणात्मक दृष्टि से वह इसलिए कपड़े के बराबर होता है और उसी तरह की एक चीज़ समझा जाता है, क्योंकि वह मूल्य है। इस स्थिति में वह एक ऐसी चीज़ होता है, जिसमें हम मूल्य के सिवा और कुछ नहीं देखते या जिसका इंद्रियगोचर भौतिक रूप मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है। फिर भी कोट ख़ुद – यानी कोट नामक पण्य का शरीर – महज़ एक उपयोग-मूल्य होता है। कपड़े का जो पहला टुकड़ा आपको मिले, उसे उठाकर देखिये, वह आपसे यह नहीं कहता कि वह मूल्य है। उसी तरह कोट भी कोट के रूप में यह नहीं कहता। इससे पता चलता है कि कोट का कपड़े के साथ मूल्य का संबंध स्थापित हो जाने पर उसका महत्त्व बढ़ जाता है, जब कि इस संबंध के अभाव में उसका यह महत्त्व नहीं होता। यह ठीक उसी तरह की बात है, जैसे बहुत से आदमियों का, जब वे सादे कपड़े पहने हुए होते हैं, तब कोई ख़ास महत्त्व नहीं होता, पर जब वे भड़कीली वर्दी पहनकर अकड़कर चलने लगते हैं, तो उनका महत्त्व बढ़ जाता है।

कोट के उत्पादन में सिलाई के रूप में मानव की श्रम-शक्ति का अवश्य ही वास्तविक ख़र्च किया गया होगा। इसलिए उसमें मानव-श्रम संचित है। इस दृष्टि से कोट मूल्य का आधान है, हालांकि वह घिसकर तार-तार हो जाने पर भी इस सचाई को बाहर झलकने नहीं देता। और मूल्य के समीकरण में कपड़े के समतुल्य के रूप में उसका अस्तित्व केवल इसी दृष्टि से होता है, और इसलिए उसका महत्त्व मूर्तिमान मूल्य के रूप में, अथवा एक ऐसी वस्तु के रूप में होता है, जो ख़ुद मूल्य है। उदाहरण के लिए **क** उस वक़्त तक **ख** के लिए "महामहिम सम्राट्" नहीं हो सकता, जब तक कि **ख** की नज़रों में "सम्राट् की महिमा" उसी समय **क** का भौतिक रूप न धारण कर ले, और जो इससे भी बड़ी बात है, जब तक कि "सम्राट् की महिमा" प्रजा के हर नये पिता के सिंहासन पर आसीन होने के साथ अपना चेहरा-मोहरा, बाल और अन्य बहुत सी चीज़ें न बदलती जाये।

इसलिए मूल्य के उस समीकरण में, जिसमें कोट कपड़े का समतुल्य है, कोट मूल्य के रूप की भूमिका अदा करता है। कपड़ा नामक पण्य का मूल्य कोट नामक पण्य के भौतिक रूप द्वारा व्यक्त होता है, एक पण्य का मूल्य दूसरे पण्य के उपयोग-मूल्य द्वारा व्यक्त होता है। उपयोग-मूल्य के रूप में कपड़ा कोट से स्पष्टतः भिन्न है, पर मूल्य के रूप में वह वही है, जो कोट है, और अब उसकी शक्ल कोट की हो जाती है। इस प्रकार कपड़ा एक ऐसा मूल्य-रूप प्राप्त कर लेता है, जो उसके भौतिक रूप से भिन्न है। वह मूल्य है, यह सत्य कोट के साथ उसकी समानता से प्रकट होता है, जैसे किसी ईसाई का भेड़ जैसा स्वभाव भगवान के मेमने के साथ उसके सादृश्य द्वारा दिखाया जाता है।

तो इस तरह हम देखते हैं कि पण्यों के मूल्य का विश्लेषण करके अब तक हम जो कुछ मालूम कर चुके हैं, वह सब कपड़ा ख़ुद, जैसे ही वह एक दूसरे पण्य के – यानी कोट के – संपर्क में आता है, वैसे ही हमें बताने लगता है। मुश्किल सिर्फ़ यही है कि वह अपने विचार

केवल उस एकमात्र भाषा में व्यक्त करता है, जिससे वह परिचित है, अर्थात् पण्यों की भाषा में। हमें यह बतलाने के लिए कि ख़ुद उसके मूल्य को श्रम ने मानव-श्रम के अपने अमूर्त रूप में उत्पन्न किया है, वह कहता है कि जिस हद तक कोट की वही क़ीमत है, जो कपड़े की है, और इसलिए जिस हद तक वह मूल्य है, उस हद तक वह भी उसी श्रम से बना है, जिससे कपड़ा बना है। हमें यह बतलाने के लिए कि मूल्य के रूप में उसकी उदात्त वास्तविकता वह नहीं है, जो उसके बकरम के शरीर की है, वह कहता है कि मूल्य की शक्ल कोट की है और इसलिए जिस हद तक कपड़ा मूल्य है, उस हद तक वह और कोट ऐसे हैं, जैसे मटर के दो दाने। यहां हम यह भी बता दें कि पण्यों की भाषा की, यहूदियों की इबरानी के अलावा, और भी बहुत सी कमोबेश सही बोलियां हैं। उदाहरण के लिए, जर्मन शब्द "Wertsein", अर्थात् "क़ीमत होना", रोमांस भाषाओं की क्रियाओं "valere", "valer", "valoir" की अपेक्षा कुछ कम ज़ोर के साथ यह विचार व्यक्त करता है कि पण्य क के साथ पण्य ख का समीकरण करना पण्य क का अपना मूल्य प्रकट करने का ख़ास ढंग है। Paris vaut bien une messe! [पेरिस की क़ीमत इतनी ज़रूर है कि एक बार ख्रीष्ट-भोज की प्रार्थना में शामिल हो लिया जाये!]

इसलिए हमारे समीकरण में मूल्य का जो संबंध व्यक्त किया गया है, उसके द्वारा पण्य ख का भौतिक रूप पण्य क का मूल्य-रूप बन जाता है, अथवा पण्य ख का शरीर पण्य क के मूल्य के लिए दर्पण का काम करता है।[18] मूल्य in propriâ personâ [मूर्त मूल्य] के रूप में, अथवा उस पदार्थ के रूप में, जिसकी शक्ल में मानव-श्रम ने मूर्त रूप धारण किया है, पण्य ख के साथ संबंध स्थापित करके पण्य क उपयोग-मूल्य ख को उस तत्त्व में बदल डालता है, जिसमें वह अपना – ख़ुद क का – मूल्य व्यक्त करता है। क का मूल्य जब इस प्रकार ख के उपयोग-मूल्य के रूप में व्यक्त होता है, तब वह सापेक्ष मूल्य का रूप धारण कर लेता है।

ख) सापेक्ष मूल्य का परिमाणात्मक निर्धारण

हर वह पण्य, जिसका हमें मूल्य व्यक्त करना होता है, एक निश्चित मात्रा की उपयोगी वस्तु होता है, जैसे १५ बुशेल अनाज या १०० पाउंड क़हवा। और किसी भी पण्य की एक ख़ास मात्रा में मानव-श्रम की एक निश्चित मात्रा होती है। इसलिए मूल्य-रूप को न केवल सामान्य तौर पर मूल्य को व्यक्त करना चाहिए, बल्कि उसे किसी निश्चित मात्रा के मूल्य को भी व्यक्त करना चाहिए। अतएव पण्य ख के साथ पण्य क का – या कोट के साथ कपड़े का – जो मूल्य का संबंध है, उसमें कोट न सिर्फ़ आम तौर पर मूल्य के रूप में गुणात्मक दृष्टि

---

[18] एक ढंग से यह बात लोगों पर भी लागू होती है। इनसान चूंकि न तो हाथ में दर्पण लेकर इस दुनिया में आता है और न ही फ़िख़्तेवादी दार्शनिक बनकर, जिसके लिए "मैं मैं हूं" कह देना ही पर्याप्त होता है, इसलिए इनसान अपने को पहले दूसरे इनसानों में देखकर पहचानता है। पीटर जब पहले अपने ही प्रकार के प्राणी के रूप में पॉल से अपनी तुलना कर लेता है, तभी वह अपने आपको इनसान के रूप में पहचान पाता है। और तब पॉल अपने समस्त पॉलीय व्यक्तित्व को लिये हुए पीटर के लिए मनुष्यजाति का प्रतिनिधि-रूप बन जाता है।

से कपड़े के बराबर हो जाता है, बल्कि कोट की एक निश्चित मात्रा (१ कोट) कपड़े की एक निश्चित मात्रा (२० गज़) की समतुल्य बन जाती है।

२० गज़ कपड़ा=१ कोट या २० गज़ कपड़े की क़ीमत है एक कोट – इस समीकरण का मतलब यह है कि दोनों में मूल्य-तत्त्व (संपीडित श्रम) की एक सी मात्रा निहित है, अर्थात् दोनों पण्यों में श्रम की बराबर मात्रा अथवा बराबर श्रम-काल ख़र्च हुआ है। लेकिन बुनाई या सिलाई के श्रम की उत्पादिता में आनेवाले प्रत्येक परिवर्तन के साथ २० गज़ कपड़े या १ कोट के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल बदलता रहता है। अब हमें इसपर विचार करना है कि ऐसे परिवर्तनों का मूल्य की सापेक्ष अभिव्यंजना के परिमाणात्मक पहलू पर क्या प्रभाव पड़ता है।

१) माना कि कोट का मूल्य स्थिर रहता है,[19] मगर कपड़े का मूल्य बदल जाता है। जैसे कि यदि सन पैदा करनेवाली धरती की उर्वरता नष्ट हो जाये और उसके परिणामस्वरूप सन के बने कपड़े के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल दुगुना हो जाये, तो उस कपड़े का मूल्य भी दुगुना हो जायेगा। तब इस समीकरण के बजाय कि २० गज़ कपड़ा=१ कोट, यह समीकरण होगा कि २० गज़ कपड़ा=२ कोट, क्योंकि २० गज़ कपड़े में अब जितना श्रम-काल निहित होगा, १ कोट में उसका महज़ आधा होगा। दूसरी तरफ़, यदि मान लीजिये कि उन्नत ढंग के करघों की बदौलत यह श्रम-काल आधा रह गया है, तो कपड़े का मूल्य भी आधा रह जायेगा। और तब यह समीकरण होगा कि २० गज़ कपड़ा=$\frac{१}{२}$ कोट। अतएव यदि पण्य ख का मूल्य स्थिर मान लिया जाये, तो पण्य क का सापेक्ष मूल्य – अर्थात् पण्य ख के रूप में व्यक्त किया गया उसका मूल्य — क के मूल्य के अनुलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है।

२) मान लीजिये कि कपड़े का मूल्य स्थिर रहता है, मगर कोट का मूल्य बदल जाता है। ऐसी परिस्थिति में, उदाहरण के लिए, यदि ऊन की पैदावार अच्छी न होने के कारण कोट के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल पहले से दुगुना हो जाता है, तो इस समीकरण के बदले कि २० गज़ कपड़ा=१ कोट, समीकरण यह हो जायेगा कि २० गज़ कपड़ा=$\frac{१}{२}$ कोट। दूसरी तरफ़, यदि कोट का मूल्य आधा रह जाता है, तो समीकरण यह हो जायेगा कि २० गज़ कपड़ा=२ कोट। इसलिए, यदि पण्य क का मूल्य स्थिर रहता है, तो पण्य ख के रूप में व्यक्त होनेवाला उसका सापेक्ष मूल्य ख के मूल्य के प्रतिलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है।

यदि हम १ और २ दृष्टांतों में दिये हुए अलग-अलग उदाहरणों की तुलना करें, तो हम देखेंगे कि सापेक्ष मूल्य के परिमाण में सर्वथा विरोधी कारणों से एक सा परिवर्तन हो सकता है। इस प्रकार, जब २० गज़ कपड़ा=१ कोट का समीकरण २० गज़ कपड़ा=२ कोट में बदलता है, तो उसके दो कारण हो सकते हैं – या तो यह कि कपड़े का मूल्य पहले से दुगुना हो गया है, या यह कि कोट का मूल्य पहले से आधा रह गया है। और जब वही समीकरण २० गज़ कपड़ा=$\frac{१}{२}$ कोट का रूप लेता है, तब उसके भी दो कारण हो सकते हैं – या तो

---

[19] इसके पहले के पृष्ठों में यदा-कदा और यहां पर भी "मूल्य" शब्द का उस मूल्य के अर्थ में प्रयोग हुआ है, जिसकी मात्रा निर्धारित हो चुकी है, अथवा यह कहिये कि मूल्य के परिमाण के अर्थ में उसका प्रयोग हुआ है।

यह कि कपड़े का मूल्य पहले से आधा रह गया है, या यह कि कोट का मूल्य पहले से दुगुना हो गया है।

३) मान लीजिये कि कपड़े तथा कोट के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल की क्रमशः मात्राएं एक ही दिशा और एक से अनुपात में बदलती हैं। इस सूरत में कपड़े के तथा कोट के मूल्य चाहे जितने बदल जायें, पर २० गज़ कपड़ा १ कोट के ही बराबर रहता है। पर जैसे ही उनकी किसी ऐसे तीसरे पण्य से तुलना की जाती है, जिसका मूल्य स्थिर रहा है, वैसे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका मूल्य बदल गया है। यदि तमाम पण्यों के मूल्य एक साथ और एक ही अनुपात में घट जायें या बढ़ जायें, तो उनके सापेक्ष मूल्यों में कोई परिवर्तन न होगा। उनके मूल्य में होनेवाला वास्तविक परिवर्तन इस बात से ज़ाहिर होगा कि एक निश्चित समय में अब पहले से कितने कम या ज़्यादा परिमाण में पण्य तैयार होते हैं।

४) संभव है कि कपड़े के तथा कोट के उत्पादन के लिए क्रमशः आवश्यक श्रम-काल और उसके फलस्वरूप इन पण्यों का मूल्य एक साथ और एक ही दिशा में बदलें, लेकिन दोनों के बदलने की गति समान न हो, या संभव है कि दोनों उल्टी दिशाओं में बदलें या किसी और ढंग से बदलें। इस तरह की जितनी अलग-अलग सूरतें मुमकिन हैं, उनका किसी पण्य के सापेक्ष मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह १, २ और ३ के परिणामों से निष्कर्ष निकालकर जाना जा सकता है।

अतएव, मूल्य के परिमाण में होनेवाले वास्तविक परिवर्तन अपनी सापेक्ष अभिव्यंजना में – अर्थात् सापेक्ष मूल्य का परिमाण व्यक्त करनेवाले समीकरण में – न तो असंदिग्ध रूप में प्रतिबिंबित होते हैं और न ही संपूर्ण रूप में। किसी पण्य का मूल्य स्थिर रहते हुए भी उसका सापेक्ष मूल्य बदल सकता है। यह भी संभव है कि उसका मूल्य बदलते रहने पर भी उसका सापेक्ष मूल्य स्थिर रहे। और आखिरी बात यह है कि मूल्य के परिमाण में तथा उसकी सापेक्ष अभिव्यंजना में एक साथ होनेवाले परिवर्तनों के लिए मात्रा की दृष्टि से एक जैसा होना क़तई जरूरी नहीं है।[20]

---

[20] मूल्य के परिमाण तथा उसकी सापेक्ष अभिव्यंजना के बीच पायी जानेवाली इस असंगति से सतही अर्थशास्त्रियों ने अपनी परंपरागत चालाकी से फ़ायदा उठाया है। उदाहरण के लिए: "एक बार आपने यह माना नहीं कि क का मूल्य इसलिए गिर जाता है कि ख का, जिसके साथ कि उसका विनिमय होता है, चढ़ जाता है, हालांकि इस बीच क में पहले से कम श्रम ख़र्च नहीं हुआ है, आपका मूल्य का सामान्य सिद्धांत भरराकर गिर पड़ेगा... जब उसने [रिकार्डो ने] यह मान लिया कि ख से सापेक्षता में क का मूल्य चढ़ जाने पर क से सापेक्षता में ख का मूल्य गिर जाता है, तो इस तरह उसने वह नींव ही काट डाली, जिसपर उसकी यह शानदार स्थापना टिकी थी कि किसी भी पण्य का मूल्य सदा उसमें निहित श्रम द्वारा निर्धारित होता है। क्योंकि यदि क की लागत में होनेवाला परिवर्तन न केवल ख से, जिसके साथ कि उसका विनिमय होता है, सापेक्षता में स्वयं उसके अपने मूल्य को बदल देता है, बल्कि क से सापेक्षता में ख के मूल्य को भी बदल देता है, हालांकि ख को पैदा करने के लिए आवश्यक श्रम-मात्रा में कोई तब्दीली नहीं हुई है, तो न सिर्फ़ वह सिद्धांत भरराकर गिर पड़ता है, जिसका दावा है कि किसी वस्तु में जितना श्रम लगाया जाता है, वह उसके मूल्य का नियमन करता है, बल्कि वह सिद्धांत भी झूठा हो जाता है, जिसका कहना है कि किसी वस्तु की लागत ही उसके मूल्य का नियमन करती है।" (J. Broadhurst, *Political Economy*, London, 1842, pp. 11, 14.)

३) मूल्य का समतुल्य-रूप

हम यह देख चुके हैं कि जब पण्य क (कपड़ा) अपने से भिन्न प्रकार के पण्य ख (कोट) के उपयोग-मूल्य के रूप में अपना मूल्य व्यक्त करता है, तब वह उसके साथ-साथ उस दूसरे पण्य पर भी मूल्य के एक विशिष्ट रूप की, अर्थात् मूल्य के समतुल्य-रूप की, छाप अंकित कर देता है। कपड़ा नामक पण्य मूल्य धारण करने के अपने गुण को इस तथ्य के द्वारा प्रकट करता है कि कोट को उसके अपने भौतिक रूप से भिन्न कोई मूल्य-रूप धारण किये बग़ैर ही कपड़े के बराबर कर दिया जाता है। इसलिए यह तथ्य कि कपड़े में मूल्य है, इस कथन द्वारा व्यक्त किया जाता है कि कोट का उसके साथ सीधा विनिमय हो सकता है। अतएव, जब हम यह कहते हैं कि कोई पण्य समतुल्य-रूप में है, तब हम वास्तव में यह तथ्य व्यक्त करते हैं कि अन्य पण्यों के साथ उसका सीधा विनिमय हो सकता है।

जब कोट जैसा कोई पण्य कपड़े जैसे किसी दूसरे पण्य के समतुल्य का काम करता है और जब इसके परिणामस्वरूप कोटों में यह विशेष गुण पैदा हो जाता है कि उनका कपड़े के साथ सीधा विनिमय किया जा सकता है, तब उससे हमें यह बिल्कुल पता नहीं चलता कि दोनों का किस अनुपात में विनिमय हो सकता है। चूंकि कपड़े के मूल्य का परिमाण दिया हुआ है, इसलिए यह अनुपात कोट के मूल्य पर निर्भर करता है। चाहे कोट समतुल्य का काम करे और कपड़ा सापेक्ष मूल्य का, या चाहे कपड़ा समतुल्य का काम करे और कोट सापेक्ष मूल्य का, कोट के मूल्य का परिमाण हर हालत में उसके मूल्य-रूप से स्वतंत्र इस बात से निर्धारित होता है कि उसके उत्पादन के लिए कितना श्रम-काल आवश्यक है। लेकिन जब कभी कोट मूल्य के समीकरण में समतुल्य की स्थिति में आ जाता है, तब उसका मूल्य कोई परिमाणात्मक अभिव्यंजना नहीं प्राप्त करता; इसके विपरीत तब कोट नामक पण्य केवल किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा के रूप में सामने आता है।

मिसाल के लिए, ४० गज़ कपड़े की क़ीमत है – क्या? २ कोट। कोट नामक पण्य यहां चूंकि समतुल्य की भूमिका अदा करता है, चूंकि यहां कपड़े के विपरीत कोट नामक उपयोग-मूल्य मूल्य के मूर्त रूप के तौर पर सामने आता है, इसलिए कोटों की एक निश्चित संख्या कपड़े में पाये जानेवाले मूल्य की एक निश्चित मात्रा को व्यक्त करने के लिए काफ़ी होती है। इसलिए दो कोट ४० गज़ कपड़े के मूल्य की मात्रा को तो व्यक्त कर सकते हैं, लेकिन वे ख़ुद अपने मूल्य की मात्रा को कभी व्यक्त नहीं कर सकते। इस तथ्य को सतही तौर पर समझने के कारण कि मूल्य के समीकरण में समतुल्य सदा केवल किसी वस्तु के, किसी उपयोग-मूल्य के,

---

यदि यह बात सच है, तो मि० ब्रॉडहर्स्ट उतनी ही सचाई के साथ यह भी कह सकते थे कि इन प्रभागों पर विचार कीजिये: $\frac{१०}{२०}$, $\frac{१०}{५०}$, $\frac{१०}{१००}$, इत्यादि। इनमें १० की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता और फिर भी उसका सानुपातिक परिमाण – यानी २०, ५०, १००, आदि की तुलना में उसका परिमाण – बराबर घटता जाता है। अतएव, यह महान सिद्धांत झूठा सिद्ध हो जाता है कि किसी भी पूर्ण संख्या के परिमाण का, जैसे कि १० के परिमाण का, इस बात से "नियमन" होता है कि उसमें कितनी इकाइयां मौजूद हैं। [इस अध्याय के अनुभाग ४ में पृ० ६६ की पाद-टिप्पणी 31 में लेखक ने बताया है कि "सतही राजनीतिक अर्थशास्त्र" से उसका क्या मतलब है। – फ़े० एं०]

साधारण परिमाण के रूप में ही सामने आता है, बेली, अपने अनेक पूर्वगामियों तथा अनुगामियों की तरह, इस ग़लतफ़हमी में फंस गये हैं कि मूल्य की अभिव्यंजना में केवल एक परिमाणात्मक संबंध ही प्रकट होता है। सचाई यह है कि किसी पण्य द्वारा समतुल्य का काम किये जाने में उसके अपने मूल्य का कोई परिमाणात्मक निर्धारण व्यक्त नहीं होता है।

समतुल्य के रूप पर विचार करते हुए जो पहली विलक्षणता हमारा ध्यान खींचती है, वह यह है कि उपयोग-मूल्य अपनी उल्टी चीज़ – मूल्य – की अभिव्यक्ति का रूप, इंद्रियगम्य रूप बन जाता है।

पण्य का भौतिक रूप उसका मूल्य-रूप बन जाता है। लेकिन यह बात अच्छी तरह समझ लीजिये कि ख नामक किसी भी पण्य के साथ यह quid pro quo [अदल-बदल] केवल उसी वक़्त होता है, जब क नामक कोई दूसरा पण्य उसके साथ मूल्य का संबंध स्थापित करता है; और तब भी वह अदल-बदल केवल इस संबंध की सीमाओं के भीतर ही होता है। कोई भी पण्य चूंकि ख़ुद अपने समतुल्य का काम नहीं कर सकता और इस तरह ख़ुद अपने भौतिक रूप को अपने मूल्य की अभिव्यंजना नहीं बना सकता, इसलिए हरेक पण्य को अपने समतुल्य के रूप में किसी और पण्य को चुनना पड़ता है और उस दूसरे पण्य के उपयोग-मूल्य को, अर्थात् उसके भौतिक रूप को, अपने मूल्य के रूप में स्वीकार करना पड़ता है।

भौतिक पदार्थों के रूप में, यानी उपयोग-मूल्यों के रूप में, पण्यों के लिए हम जिन मापों का प्रयोग करते हैं, उनमें से एक के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मिसरी का कूजा चूंकि एक वस्तु है, इसलिए वह भारी होता है और उसमें वज़न होता है। लेकिन इस वज़न को हम न तो देख सकते हैं और न छू सकते हैं। तब हम लोहे के कुछ ऐसे टुकड़े इस्तेमाल करते हैं, जिनका वज़न पहले से मालूम है। जैसे मिसरी का कूज़ा वज़न की अभिव्यक्ति का रूप नहीं है, वैसे ही लोहा भी लोहे के तौर पर वज़न की अभिव्यक्ति का रूप नहीं है। फिर भी जब हम मिसरी के कूजे को एक निश्चित वज़न के रूप में व्यक्त करना चाहते हैं, तब हम उसका लोहे के साथ वज़न का संबंध स्थापित कर देते हैं। इस संबंध में लोहा एक ऐसी वस्तु का काम करता है, जो वज़न के सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करती। इसलिए लोहे की एक निश्चित मात्रा मिसरी के कूजे के वज़न की माप का काम करती है और मिसरी के कूजे के संबंध में मूर्तिमान वज़न – अथवा वज़न की अभिव्यक्ति के रूप – का प्रतिनिधित्व करती है। लोहा यह भूमिका केवल इस संबंध के भीतर ही अदा करता है, जो मिसरी या कोई और ऐसी वस्तु, जिसका वज़न मालूम करना हो, लोहे के साथ स्थापित करती है। यदि ये दोनों वस्तुएं वज़नदार न होतीं, तो वे आपस में यह संबंध स्थापित नहीं कर सकती थीं, और इसलिए तब एक वस्तु दूसरी के वज़न को व्यक्त करने का काम नहीं कर सकती थी। जब हम इन दोनों वस्तुओं को तराज़ू के पलड़ों पर रख देते हैं, तब हम देखते हैं कि सचमुच वज़न के रूप में वे दोनों एक ही हैं और इसलिए जब उनको सही अनुपात में लिया जाता है, तब दोनों का एक सा वज़न होता है। जिस प्रकार लोहा नामक पदार्थ, वज़न की माप के रूप में, मिसरी के कूजे के संबंध में केवल वज़न का ही प्रतिनिधित्व करता है, ठीक उसी प्रकार मूल्य की हमारी अभिव्यंजना में कोट नामक भौतिक वस्तु कपड़े के संबंध में केवल मूल्य का ही प्रतिनिधित्व करती है।

किंतु यह तुलना यहां समाप्त हो जाती है। मिसरी के कूजे के वज़न को व्यक्त करते हुए लोहा दोनों वस्तुओं में समान रूप से पाये जानेवाले एक स्वाभाविक गुण – अर्थात् वज़न – का

प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन कपड़े के मूल्य को व्यक्त करते हुए कोट दोनों वस्तुओं के एक अस्वाभाविक गुण का, एक विशुद्ध सामाजिक चीज़ का – अर्थात् उनके मूल्य का – प्रतिनिधित्व करता है।

किसी भी पण्य के – उदाहरण के लिए, कपड़े के – मूल्य का सापेक्ष रूप चूंकि उस पण्य के मूल्य को इस तरह व्यक्त करता है, जैसे वह उसके भौतिक तत्त्व तथा गुणों से सर्वथा भिन्न हो, यानी जैसे वह, मिसाल के लिए, कोट के समान हो, इसलिए ख़ुद इस प्रकार की अभिव्यंजना से भी हमें यह संकेत मिलता है कि उसकी तह में कोई सामाजिक संबंध विद्यमान है। समतुल्य रूप में इसकी ठीक उल्टी बात होती है। इस रूप का सारतत्त्व ही यह है कि भौतिक पण्य ख़ुद – मिसाल के लिए, कोट – जिस हालत में वह है, उसी हालत में मूल्य को व्यक्त करता है, और स्वयं प्रकृति ने उसे मूल्य का रूप दे रखा है। ज़ाहिर है, यह बात केवल तभी तक सच रहती है, जब तक मूल्य का वह संबंध क़ायम रहता है, जिसमें कोट कपड़े के समतुल्य की स्थिति में है।[21] लेकिन किसी भी चीज़ के गुण चूंकि दूसरी चीज़ों के साथ उसके संबंधों का फल नहीं होते, बल्कि इन संबंधों द्वारा केवल अपने को प्रकट करते हैं, इसलिए ऐसा मालूम होता है कि जिस तरह कोट को वज़नदार होने या हमें गरम रखने का गुण प्रकृति से मिला है, उसी तरह उसका समतुल्य-रूप – यानी दूसरे पण्यों के साथ विनिमेयता का गुण – भी उसे प्रकृति से प्राप्त हुआ है। इसीलिए समतुल्य-रूप की शक्ल एक पहेली जैसी है, जिसे बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्री उस वक़्त तक नहीं देख पाता, जब तक कि यह रूप पूरी तरह विकसित होकर द्रव्य की शक्ल में उसके सामने नहीं आ जाता। तब वह सोने और चांदी के रहस्यमय स्वरूप को उनकी जगह पर आंखों को कम चकाचौंध करनेवाले पण्यों की प्रतिस्थापना करके और ऐसे तमाम संभव पण्यों की सूची नित नये आत्मसंतोष के साथ गिनाकर रफ़ादफ़ा करने की कोशिश करता है, जिन्होंने कभी न कभी समतुल्य की भूमिका अदा की है। उसे इस बात का लेश मात्र भी आभास नहीं होता कि मूल्य की सबसे सरल अभिव्यंजना – मसलन, २० गज़ कपड़ा = १ कोट – ने समतुल्य-रूप की पहेली को पहले ही से हमारे बूझने के लिए पेश कर दिया है।

समतुल्य का काम करनेवाले पण्य का शरीर अमूर्त मानव-श्रम के मूर्त रूप के तौर पर सामने आता है, और इसके साथ-साथ वह किसी विशिष्ट ढंग से उपयोगी मूर्त श्रम का उत्पाद होता है। अतः यह मूर्त श्रम अमूर्त मानव-श्रम को व्यक्त करने का माध्यम बन जाता है। यदि एक ओर, कोट की गिनती इसके सिवा और किसी रूप में नहीं होती कि वह अमूर्त मानव-श्रम का मूर्त रूप है, तो, दूसरी ओर, कोट में सिलाई का जो श्रम सचमुच संचित हुआ है, उसकी इसके सिवा और किसी तरह गिनती नहीं होती कि उसके रूप में यह अमूर्त मानव-श्रम मूर्त हुआ है। कपड़े के मूल्य की अभिव्यंजना में सिलाई के श्रम की उपयोगिता वस्त्र सीने में नहीं, बल्कि एक ऐसी वस्तु तैयार करने में है, जिसको देखते ही हम तुरंत यह पहचान लेते हैं कि वह मूल्य है और इसलिए श्रम का जमाव है, किंतु ऐसे श्रम का जमाव है, जिसका उस

---

[21] संबंधों की इस प्रकार की अभिव्यंजनाएं साधारणतया बहुत अजीब ढंग की होती हैं। हेगेल ने उनको "प्रतिवर्ती संवर्ग" कहा था। उदाहरण के लिए, कोई आदमी यदि राजा है, तो केवल इसीलिए कि दूसरे आदमियों का उसके साथ प्रजा का संबंध है। वे लोग, इसके विपरीत, अपने को इसलिए प्रजा समझते हैं कि वह आदमी राजा है।

श्रम के साथ कोई भेद नहीं किया जा सकता, जो कपड़े के मूल्य में मूर्त हुआ है। मूल्य के ऐसे दर्पण का काम करने के लिए यह ज़रूरी है कि सिलाई के श्रम में आम तौर पर मानव-श्रम होने के उसके अमूर्त गुण के सिवा और कोई चीज़ न झलकने पाये।

जैसे बुनाई में, वैसे ही सिलाई में भी मानव की श्रम-शक्ति ख़र्च होती है। इसलिए दोनों में ही मानव-श्रम होने का एक सामान्य गुण विद्यमान है, और इसलिए यह मुमकिन है कि कुछ परिस्थितियों में, जैसे कि मूल्य के उत्पादन में, उनपर केवल इसी दृष्टि से विचार किया जाये। इसमें कोई रहस्य की बात नहीं है। लेकिन मूल्य की अभिव्यंजना में नक़शा एकदम उलट जाता है। मिसाल के लिए, इस तथ्य को किस प्रकार व्यक्त किया जाये कि जब बुनाई का श्रम कपड़े का मूल्य पैदा करता है, तब वह बुनाई का श्रम होने के नाते नहीं, बल्कि मानव-श्रम होने के अपने सामान्य गुण के नाते यह मूल्य पैदा करता है? इस तथ्य को व्यक्त करने का सरल उपाय यह है कि बुनाई के श्रम के मुक़ाबले में वह दूसरे प्रकार का मूर्त श्रम (इस उदाहरण में सिलाई का श्रम) पेश कर दिया जाये, जो बुनाई के श्रम के उत्पाद का समतुल्य पैदा करता है। जिस प्रकार कोट अपने भौतिक रूप में मूल्य की प्रत्यक्ष अभिव्यंजना बन गया था, उसी प्रकार अब सिलाई का श्रम – श्रम का एक मूर्त रूप – सामान्य मानव-श्रम का प्रत्यक्ष और इंद्रिय-गम्य साकार रूप बनकर सामने आता है।

अतएव समतुल्य-रूप की दूसरी विलक्षणता यह है कि मूर्त श्रम वह रूप बन जाता है, जिसके द्वारा उसका उल्टा, अमूर्त मानव-श्रम अपने को प्रकट करता है।

लेकिन यह मूर्त श्रम – हमारे उदाहरण में सिलाई का श्रम – चूंकि अविभेदित मानव-श्रम की श्रेणी में गिना जाता है और सीधे अविभेदित मानव-श्रम ही माना जाता है, इसलिए वह अन्य किसी भी प्रकार के श्रम के सर्वसम है और इसलिए कपड़े में निहित श्रम के भी सर्वसम है। परिणामतः यद्यपि पण्य का उत्पादन करनेवाले अन्य सभी श्रमों की भांति यह भी निजी तौर पर काम करनेवाले व्यक्तियों का श्रम होता है, तथापि यह साथ ही प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक प्रकृति वाला श्रम भी होता है। इसी कारण उसके परिणामस्वरूप एक ऐसा उत्पाद तैयार होता है, जिसका दूसरे पण्यों से सीधा विनिमय हो सकता है। अतएव, यह समतुल्य-रूप की तीसरी विलक्षणता है कि निजी तौर पर काम करनेवाले व्यक्तियों का श्रम अपनी उल्टी चीज़ का – यानी सीधे-सीधे सामाजिक श्रम का – रूप धारण कर लेता है।

यदि हम उस महान विचारक की तरफ़ लौट चलें, जिसने चिंतन, समाज एवं प्रकृति के इतने बहुत से रूपों का और उनमें मूल्य के रूप का भी सबसे पहले विश्लेषण किया था, तो समतुल्य-रूप की अंतिम दो विलक्षणताएं ज़्यादा अच्छी तरह हमारी समझ में आ जायेंगी। मेरा मतलब अरस्तू से है।

सबसे पहले अरस्तू स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करते हैं कि पण्यों का द्रव्य-रूप मूल्य के सरल रूप – अर्थात् एक पण्य के मूल्य की किसी दूसरे पण्य के रूप में अभिव्यंजना – की केवल विकसित अवस्था है। कारण, अरस्तू ने लिखा है कि

५ पलंग = १ मकान (χλίυαι πέντε ἀυτί οἰκίας) और

५ पलंग = इतना द्रव्य – इनमें कोई अंतर नहीं है (χλίναι πέντε ἀντί... ὅσου αἱ πέντε κλίναι)

अरस्तू ने आगे कहा है कि मूल्य का वह संबंध, जिससे यह अभिव्यंजना उत्पन्न होती है, यह ज़रूरी बना देता है कि मकान को गुणात्मक दृष्टि से पलंग के बराबर समझा जाये, और इस तरह उनको बराबर समझे बिना इन दो स्पष्ट रूप से भिन्न वस्तुओं की एक दूसरी के साथ

एक ही मापदंड से मापी जानेवाली मात्राओं की भांति तुलना नहीं की जा सकती। उन्होंने लिखा है: "विनिमय समानता के बिना नहीं हो सकता, और समानता उस वक़्त तक नहीं हो सकती, जब तक कि दोनों वस्तुएं एक ही मापदंड से न मापी जा सकती हों।" लेकिन यहां आकर वह ठहर जाते हैं और मूल्य के रूप का आगे विश्लेषण करना बंद कर देते हैं। उनके शब्द हैं: "किंतु वास्तव में यह असंभव है कि इतनी असमान वस्तुएं एक मापदंड से मापी जा सकती हों"–अर्थात वे गुणात्मक दृष्टि से बराबर हों। इस प्रकार का समानीकरण इन वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति के लिए एक परायी चीज़ है और इसलिए केवल "व्यावहारिक उद्देश्य के लिए इस्तेमाल की गयी कामचलाऊ तरकीब" ही हो सकता है।

इस तरह, अरस्तू ने ख़ुद हमें बता दिया है कि किस चीज ने उनको आगे विश्लेषण नहीं करने दिया; वह चीज़ थी मूल्य की किसी भी प्रकार की धारणा का अभाव। पलंगों और मकान, दोनों में वह कौन सी समान वस्तु है, वह कौन सा समान तत्त्व है, जिसके कारण यह संभव होता है कि पलंगों का मूल्य मकान के द्वारा व्यक्त हो जाये? अरस्तू का कहना है कि ऐसी कोई वस्तु "असल में हो ही नहीं सकती"। किंतु क्यों नहीं हो सकती? मकान की पलंगों से तुलना करने पर मकान उस हद तक ज़रूर पलंगों के समान किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व करता है, जिस हद तक कि वह उस चीज़ का प्रतिनिधित्व करता है, जो पलंगों तथा मकान, दोनों में सचमुच बराबर है। और वह चीज़ है–मानव-श्रम।

लेकिन एक महत्त्वपूर्ण तथ्य था, जिसने अरस्तू के यह समझने में बाधा डाली कि पण्यों में मूल्य का आरोपण करना हर प्रकार के श्रम को समान मानव-श्रम के रूप में और इसलिए समान गुण के श्रम के रूप में व्यक्त करने का ही एक ढंग है। यूनानी समाज दासता पर आधारित था, और इसलिए उसका स्वाभाविक आधार था मनुष्यों तथा उनकी श्रम-शक्तियों की असमानता। मूल्य की अभिव्यंजना का रहस्य यह है कि हर प्रकार का श्रम क्योंकि और जिस हद तक साधारण मानव-श्रम होता है, इसलिए और उस हद तक वह समान और समतुल्य होता है। लेकिन यह रहस्य उस वक़्त तक नहीं समझा जा सकता, जब तक कि मानव-समता का विचार एक बहुमान्य धारणा जैसी स्थिरता नहीं प्राप्त कर लेता। किंतु यह केवल उसी समाज में संभव है, जिसमें श्रम के उत्पाद का अधिकतर भाग पण्यों का रूप धारण कर लेता है और इसके परिणामस्वरूप जिसमें मनुष्य और मनुष्य का प्रमुख संबंध पण्यों के मालिकों के बीच जो संबंध होता है, वह हो जाता है। अरस्तू की प्रतिभा का चमत्कार इसी बात में प्रकट होता है कि उन्होंने पण्यों के मूल्य की अभिव्यक्ति में समानता का संबंध देखा। वह जिस समाज में रहते थे, केवल उसकी विशेष परिस्थितियों ने ही उन्हें यह पता नहीं लगाने दिया कि इस समानता की तह में "सचमुच" क्या था।

४) मूल्य के प्राथमिक रूप पर उसकी समग्रता में विचार

पण्य के मूल्य का प्राथमिक रूप भिन्न प्रकार के किसी दूसरे पण्य के साथ उसके मूल्य-संबंध को व्यक्त करनेवाले समीकरण में निहित है, अर्थात् वह इस दूसरे पण्य के साथ उसके विनिमय-संबंध में निहित है। पण्य क का मूल्य गुणात्मक दृष्टि से इस तथ्य द्वारा व्यक्त होता है कि पण्य ख का उसके साथ सीधा विनिमय हो सकता है। उसका मूल्य परिमाणात्मक दृष्टि से इस तथ्य द्वारा व्यक्त होता है कि ख की एक निश्चित मात्रा का क की एक निश्चित मात्रा के साथ विनिमय हो सकता है। दूसरे शब्दों में, विनिमय-मूल्य का रूप धारण करके किसी भी

पण्य का मूल्य स्वतंत्र एवं निश्चित अभिव्यंजना प्राप्त कर लेता है। जब इस अध्याय के आरंभ में हमने आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग करते हुए यह कहा था कि पण्य उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य दोनों होता है, तब ठीक-ठीक कहा जाये, तो हम ग़लत थे। पण्य उपयोग-मूल्य अथवा उपयोगी वस्तु और मूल्य होता है। इस दोहरी चीज़ के रूप में, जो कि वह है, वह उसी वक़्त प्रकट हो जाता है, जब उसका मूल्य एक स्वतंत्र रूप धारण कर लेता है, अर्थात् जब उसका मूल्य विनिमय-मूल्य का रूप धारण कर लेता है। लेकिन अलग पड़े रहते हुए वह यह रूप कभी धारण नहीं करता। यह रूप वह केवल उसी समय धारण करता है, जब उसका अपने से भिन्न प्रकार के किसी दूसरे पण्य के साथ मूल्य का – अथवा विनिमय का – संबंध स्थापित होता है। एक बार यह समझ लेने के बाद यदि ऊपर दी गयी शब्दावली का प्रयोग किया जाये, तो कोई बुराई नहीं है; वह केवल संकेत-चिह्न का काम करेगी।

हमारे विश्लेषण से सिद्ध हो चुका है कि पण्य के मूल्य का रूप, अथवा अभिव्यंजना, मूल्य की प्रकृति से उत्पन्न होती है, न कि मूल्य तथा उसका परिमाण विनिमय-मूल्य के रूप में अपनी अभिव्यंजना से उत्पन्न होते हैं। किंतु यह बात जिस प्रकार वाणिज्यवादियों के कट्टर विरोधी बस्तिया जैसे स्वतंत्र व्यापार के आधुनिक एजेंटों को, उसी प्रकार ख़ुद वाणिज्यवादियों और उनके आधुनिक भक्त फ़ेरिये, गानिल्ह,[22] आदि को भी भ्रम में डाले हुए है। वाणिज्यवादी मूल्य की अभिव्यंजना के गुणात्मक पहलू पर और इसलिए पण्यों के समतुल्य रूप पर ख़ास ज़ोर देते हैं, जो द्रव्य की शक्ल में अपना पूर्ण विकास प्राप्त करता है। दूसरी ओर, स्वतंत्र व्यापार के आधुनिक फेरीवाले, जिनके लिए किसी भी दाम पर अपनी जिंस से पिंड छुड़ाना ज़रूरी है, सबसे ज्यादा ज़ोर मूल्य के सापेक्ष रूप के परिमाणात्मक पहलू पर देते हैं। इसलिए, उनके लिए मूल्य का और मूल्य के परिमाण का अस्तित्व पण्यों के विनिमय-संबंध द्वारा उनकी अभिव्यक्ति के सिवा और कहीं नहीं है, यानी उनके लिए वे रोज़ के बाज़ार-भावों के सिवा और कहीं नहीं हैं। मैक्लिओड, जिन्होंने लोम्बार्ड स्ट्रीट के गड़बड़ विचारों को अत्यंत पंडिताऊ पोशाक पहनाने का काम अपने कंधों पर लिया है, अंधविश्वासी वाणिज्यवादियों और स्वतंत्र व्यापार के जाग्रत फेरीवालों के बीच एक सफल वर्णसंकर हैं।

ख के साथ क के मूल्य-संबंध को व्यक्त करनेवाले समीकरण में क के मूल्य की ख के रूप में जो अभिव्यंजना निहित है, उससे यह बात स्पष्ट हो गयी है कि इस संबंध के अंतर्गत क का भौतिक रूप केवल एक उपयोग-मूल्य की तरह सामने आता है और ख का भौतिक रूप केवल मूल्य के रूप अथवा पहलू की तरह सामने आता है। इस तरह, हरेक पण्य के भीतर उपयोग-मूल्य और मूल्य के बीच जो विरोध अथवा वैषम्य निहित है, वह उस समय स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है, जब दो पण्यों के बीच इस प्रकार का संबंध स्थापित कर दिया जाता है कि जिस पण्य का मूल्य व्यक्त करना होता है, वह प्रत्यक्ष ढंग से महज़ उपयोग-मूल्य की तरह सामने आता है, और जिस पण्य के रूप में इस मूल्य को व्यक्त करना होता है, वह प्रत्यक्ष ढंग से महज़ विनिमय-मूल्य की तरह सामने आता है। इसलिए किसी भी पण्य के मूल्य का

---

[22] चुंगी के सब-इंस्पेक्टर F. L. A. Ferrier, *Du Gouvernement considéré dans ses rapports avec le commerce*, Paris, 1805, और Charles Ganilh, *Des Systèmes d' Economie Politique*, 2 ème éd., Paris, 1821.

प्राथमिक रूप वह है, जिसमें कि उस पण्य में निहित उपयोग-मूल्य और मूल्य का वैषम्य प्रकट होता है।

श्रम का प्रत्येक उत्पाद समाज की सभी अवस्थाओं में उपयोग-मूल्य होता है। किंतु यह उत्पाद सामाजिक विकास के एक ख़ास ऐतिहासिक युग के आरंभ हो जाने पर ही पण्य बनता है, अर्थात् जब वह युग आरंभ हो जाता है, जिसमें किसी भी उपयोगी चीज़ के उत्पादन पर ख़र्च किया गया श्रम उस चीज़ के एक वस्तुगत गुण के रूप में – यानी उसके मूल्य के रूप में – व्यक्त होने लगता है। अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राथमिक मूल्य-रूप ही वह आदिम रूप है, जिसमें श्रम का उत्पाद इतिहास में पहले-पहल पण्य की तरह सामने आता है, और ऐसा उत्पाद मूल्य-रूप के विकास के साथ-साथ धीरे-धीरे पण्य का रूप धारण करता जाता है।

मूल्य के प्राथमिक रूप के दोष पहली दृष्टि में ही दिखायी दे जाते हैं: वह महज़ एक बीजाणु है, और दाम-रूप की परिपक्वता प्राप्त करने के लिए इसका अनेक रूपांतरणों में से गुज़रना ज़रूरी है।

पण्य क के मूल्य की किसी भी अन्य पण्य ख के रूप में अभिव्यंजना केवल क के उपयोग-मूल्य से उसके मूल्य के भेद को स्पष्ट करती है, और इसलिए वह क का महज़ एक ही अन्य पण्य ख से विनिमय-संबंध स्थापित करती है। लेकिन यह अभिव्यंजना सभी पण्यों के साथ क की गुणात्मक समता और परिमाणात्मक अनुपातिता व्यक्त करने से अभी बहुत दूर है। हर पण्य के प्राथमिक सापेक्ष मूल्य-रूप के अनुरूप किसी एक और पण्य का अकेला समतुल्य-रूप होता है। अतएव, कपड़े के मूल्य की सापेक्ष अभिव्यंजना में कोट अकेले एक पण्य के संबंध में – यानी अकेले कपड़े के संबंध में – ही समतुल्य का रूप धारण करता है, या यूं कहिये कि सीधे तौर पर केवल कपड़े के साथ ही विनिमय करने के योग्य बनता है।

इस सबके बावजूद मूल्य का प्राथमिक रूप एक सहज संक्रमण द्वारा अधिक पूर्ण रूप में बदल जाता है। यह सच है कि प्राथमिक रूप के द्वारा पण्य क का मूल्य केवल एक ही अन्य पण्य के रूप में व्यक्त होता है। परंतु यह एक पण्य कोट, लोहा, अनाज या और किसी भी तरह का पण्य हो सकता है। इसलिए एक ही पण्य के मूल्य की अनेक प्राथमिक अभिव्यंजनाएं हो सकती हैं।[22a] यह केवल इसपर निर्भर करता है कि उसका किस पण्य के साथ मूल्य-संबंध स्थापित किया गया है। उसकी समस्त संभव अभिव्यंजनाओं की संख्या केवल इस बात से सीमित होती है कि उस पण्य से भिन्न और कितने प्रकार के पण्य हैं। अतएव, पण्य क के मूल्य की एक अकेली अभिव्यंजना को उस मूल्य की अनेक अलग-अलग प्राथमिक अभिव्यंजनाओं के एक पूरे क्रम में परिवर्तित किया जा सकता है, और इस क्रम को किसी भी सीमा तक लंबा किया जा सकता है।

[22a] उदाहरण के लिए, होमर की रचनाओं में एक वस्तु का मूल्य बहुत सी भिन्न-भिन्न वस्तुओं के रूप में व्यक्त किया गया है।

ख) मूल्य का संपूर्ण अथवा विस्तारित रूप

क पण्य की z मात्रा = ख पण्य की u मात्रा, या = ग पण्य की v मात्रा, या = घ पण्य की w मात्रा, या = च पण्य की x मात्रा, या = इत्यादि। (२० गज़ कपड़ा = १ कोट, या = १० पाउंड चाय, या = ४० पाउंड क़हवा, या = १ क्वार्टर अनाज, या = २ आउंस सोना, या = $\frac{१}{२}$ टन लोहा, या = इत्यादि।)

१) मूल्य का विस्तारित सापेक्ष रूप

किसी भी पण्य का – उदाहरण के लिए, कपड़े का – मूल्य अब पण्यों की दुनिया के अन्य असंख्य घटकों के रूप में व्यक्त होता है। दूसरा हर पण्य अब कपड़े के मूल्य का दर्पण बन जाता है।[23] इस प्रकार यह मूल्य पहली बार अपने सच्चे रूप में – अर्थात् अविभेदित मानव-श्रम के जमाव के रूप में – सामने आता है। कारण कि इस मूल्य को पैदा करने में जो श्रम ख़र्च हुआ है, वह अब साफ़-साफ़ उस श्रम के रूप में प्रकट होता है, जो हर प्रकार के अन्य मानव-श्रम के बराबर है, चाहे वह श्रम सिलाई का श्रम हो, या हल चलाने का, या खान खोदने का, या और किसी प्रकार का, और चाहे वह श्रम कोटों के रूप में अथवा अनाज के रूप में, लोहे के रूप में, या सोने के रूप में मूर्त होता हो। अब कपड़े का अपने मूल्य-रूप के फलस्वरूप अन्य प्रकार के किसी एक पण्य के साथ नहीं, बल्कि पण्यों की पूरी दुनिया के साथ एक सामाजिक संबंध स्थापित हो जाता है। पण्य के रूप में कपड़ा इस दुनिया का नागरिक है। साथ ही मूल्य के समीकरणों का यह अंतहीन क्रम बताता है कि जहां तक किसी पण्य के मूल्य का संबंध है,

---

[23] इस कारण, जब कपड़े का मूल्य कोटों के रूप में व्यक्त किया जाता है, तब हम कपड़े के कोट-मूल्य की चर्चा कर सकते हैं; जब वह अनाज के रूप में व्यक्त किया जाता है, तब हम उसके अनाज-मूल्य की चर्चा कर सकते हैं, और इसी तरह यह सिलसिला जारी रह सकता है। इस प्रकार की प्रत्येक अभिव्यक्ति हमें यह बताती है कि कोट, अनाज, आदि प्रत्येक उपयोग-मूल्य के रूप में जो कुछ प्रकट होता है, वह कपड़े का मूल्य है। "विनिमय द्वारा अपने संबंध को व्यक्त करनेवाले किसी भी पण्य के मूल्य को हम... जिस पण्य के साथ भी उसका मुक़ाबला किया जाये, उसके अनुसार अनाज-मूल्य, कपड़ा-मूल्य, आदि कह सकते हैं; और इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार के हज़ारों मूल्य होते हैं; दुनिया में जितने प्रकार के पण्य मौजूद हैं, उतने ही प्रकार के मूल्य भी होते हैं, और वे सब समान रूप से वास्तविक और समान रूप से बराय नाम होते हैं।" (*A Critical Dissertation on the Nature, Measures and Causes of Value; chiefly in reference to the writings of Mr. Ricardo and his followers. By the Author of Essays on the Formation etc. of Opinions*, London, 1825, p. 39.) इस गुमनाम रचना के लेखक एस० बेली थे। अपने ज़माने में इस रचना ने इंगलैंड में बहुत हलचल पैदा की थी। बेली का ख़याल था कि इस तरह एक ही मूल्य की अनेक सापेक्ष अभिव्यंजनाओं की ओर संकेत करके उन्होंने यह साबित कर दिया है कि मूल्य की अवधारणा को किसी भी प्रकार निर्धारित करना असंभव है। उनके अपने विचार चाहे जितने संकुचित रहे ों, फिर भी उन्होंने रिकार्डो के सिद्धांत के कुछ गंभीर दोषों को इंगित कर दिया था। इसका प्रमाण यह है कि रिकार्डो के अनुयायियों ने बड़ी कटुता के साथ उनपर हमला किया। मिसाल के लिए, देखिये *Westminster Review*.

इसका कोई महत्त्व नहीं है कि वह किस ख़ास रूप या प्रकार के उपयोग-मूल्य में प्रकट होता है।

२० गज़ कपड़ा=१ कोट, इस पहले रूप में, जब तक कुछ और न निकले, बहुत संभव है कि यह एक विशुद्ध रूप से सांयोगिक घटना हो कि इन दो पण्यों का निश्चित मात्राओं में विनिमय होता है। इसके विपरीत दूसरे रूप में वह आधार हमें तुरंत दिखायी दे जाता है, जो इस घटना को निर्धारित करता है और जो इस सांयोगिक रूप से बुनियादी तौर पर भिन्न है। कपड़े का मूल्य परिमाण में अपरिवर्तित रहता है, चाहे वह कोटों के रूप में व्यक्त किया गया हो, या क़हवे के, या लोहे के या असंख्य अन्य पण्यों के रूप में, जिनके अलग-अलग मालिकों की संख्या भी उतनी ही बड़ी होगी। दो पण्यों के दो मालिकों के बीच संयोग से स्थापित हो जानेवाला संबंध अब ग़ायब हो जाता है। यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पण्यों का विनिमय उनके मूल्य के परिमाण का नियमन नहीं करता, बल्कि इसके विपरीत उनके मूल्य का परिमाण उनके विनिमय के अनुपातों का नियंत्रण करता है।

२) विशिष्ट समतुल्य-रूप

कपड़े के मूल्य की अभिव्यंजना में कोट, चाय, अनाज, लोहा, आदि प्रत्येक पण्य समतुल्य के रूप में और इसलिए एक ऐसी वस्तु के रूप में सामने आता है, जो मूल्य है। इनमें से प्रत्येक पण्य का भौतिक रूप अब बहुत से समतुल्य-रूपों में से एक विशिष्ट समतुल्य-रूप की तरह सामने आता है। इसी तरह इन अलग-अलग पण्यों में निहित नाना प्रकार का मूर्त उपयोगी श्रम अब केवल इन नाना रूपों में साकार या प्रकट होनेवाला अविभेदित मानव-श्रम माना जाता है।

३) मूल्य के संपूर्ण अथवा विस्तारित रूप के दोष

मूल्य की सापेक्ष अभिव्यंजना सबसे पहले तो इसलिए अपूर्ण है कि उसको व्यक्त करनेवाला क्रम अंतहीन होता है। हर नये प्रकार का पण्य तैयार होने के साथ-साथ मूल्य की एक नयी अभिव्यंजना की सामग्री तैयार हो जाती है और इस तरह मूल्य का प्रत्येक समीकरण जिस शृंखला की एक कड़ी मात्र है, वह शृंखला किसी भी क्षण और लंबी खिंच सकती है। दूसरे, यह मूल्य की बहुत सी असंबद्ध और स्वतंत्र अभिव्यंजनाओं से जुड़कर बनी मानो बहुरंगी पच्चीकारी होती है। और आख़िरी बात यह है कि यदि, जैसा कि वास्तव में होता है, बारी-बारी से हर पण्य का सापेक्ष मूल्य इस विस्तारित रूप में व्यक्त होता है, तो उनमें से प्रत्येक के लिए एक भिन्न सापेक्ष मूल्य-रूप तैयार हो जाता है, जो मूल्य की अभिव्यंजनाओं का एक अंतहीन क्रम होता है। विस्तारित सापेक्ष मूल्य-रूप के दोष उसके समतुल्य-रूप में झलकते हैं। चूंकि हर अलग-अलग पण्य का भौतिक रूप असंख्य अन्य विशिष्ट समतुल्य-रूपों में से एक होता है, इसलिए कुल मिलाकर हमारे पास खंडित समतुल्य-रूपों के सिवा और कुछ नहीं बचता, जिनमें से प्रत्येक दूसरों का अपवर्जन कर देता है। इसी प्रकार प्रत्येक विशिष्ट समतुल्य में निहित विशिष्ट प्रकार का मूर्त, उपयोगी श्रम भी केवल एक ख़ास प्रकार के श्रम के रूप में ही सामने आता है, और इसलिए वह सामान्य मानव-श्रम के सर्वतः पूर्ण प्रतिनिधि के रूप में सामने नहीं आता। यह तो सच है कि सामान्य मानव-श्रम अपने नाना प्रकार के विशिष्ट, मूर्त रूपों की संपूर्णता में पर्याप्त अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है। परंतु इस सूरत में एक अंतहीन क्रम के रूप में उसकी अभिव्यंजना सदा अपूर्ण रहती है और उसमें एकता का अभाव रहता है।

किंतु विस्तारित सापेक्ष मूल्य-रूप पहले प्रकार की प्राथमिक सापेक्ष अभिव्यंजनाओं – अथवा समीकरणों – के जोड़ के सिवा और कुछ नहीं है, जैसे :

२० गज़ कपड़ा = १ कोट,

२० गज़ कपड़ा = १० पाउंड चाय, इत्यादि।

इनमें से प्रत्येक में उसका उल्टा समीकरण भी निहित है :

१ कोट = २० गज़ कपड़ा,

१० पाउंड चाय = २० गज़ कपड़ा, इत्यादि।

सच तो यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने कपड़े का बहुत से दूसरे पण्यों के साथ विनिमय करता है और, इस तरह, अपने कपड़े के मूल्य को अन्य पण्यों की एक शृंखला के रूप में व्यक्त करता है, तब इससे लाज़िमी तौर पर यह नतीजा भी निकलता है कि अन्य सब पण्यों के विभिन्न मालिक उन पण्यों का कपड़े के साथ विनिमय करते हैं और इसलिए अपने विभिन्न पण्यों के मूल्यों को उस एक ही पण्य के रूप में – यानी कपड़े के रूप में – व्यक्त करते हैं। अतएव यदि हम इस शृंखला – अर्थात् २० गज़ कपड़ा = १ कोट, या = १० पाउंड चाय, इत्यादि – को उलट दें, अर्थात् यदि हम उस विपरीत संबंध को व्यक्त करें, जो कि इस शृंखला में पहले से निहित है, तो हमें मूल्य का सामान्य रूप मिल जाता है।

ग) मूल्य का सामान्य रूप

१ कोट	= २० गज़ कपड़ा
१० पाउंड चाय	
४० पाउंड क़हवा	
१ क्वार्टर अनाज	
२ आउंस सोना	
$\frac{१}{२}$ टन लोहा	
क माल का x परिमाण, इत्यादि	

१) मूल्य के रूप का बदला हुआ स्वरूप

अब तमाम पण्य अपना मूल्य (१) सरल रूप में व्यक्त करते हैं, क्योंकि सबका मूल्य केवल एक पण्य के रूप में व्यक्त किया जाता है, और (२) एकता के साथ व्यक्त करते हैं, क्योंकि सबका मूल्य उसी एक पण्य के रूप में व्यक्त किया जाता है। मूल्य का यह रूप सब पण्यों के लिए प्राथमिक और एक सा है, इसलिए वह सामान्य रूप है।

क और ख रूप केवल इस योग्य थे कि किसी एक पण्य के मूल्य को उसके उपयोग-मूल्य – अथवा भौतिक रूप – से भिन्न किसी चीज़ के रूप में व्यक्त कर दें।

पहले रूप क से ऐसे समीकरण मिलते थे, जैसे १ कोट = २० गज़ कपड़ा, १० पाउंड चाय = $\frac{१}{२}$ टन लोहा। कोट के मूल्य का कपड़े के और चाय के मूल्य का लोहे के साथ

समीकरण कर दिया जाता है। लेकिन कपड़े के साथ और फिर लोहे के साथ समीकरण किया जाना उतना ही भिन्न होता है, जितने भिन्न कपड़ा और लोहा हैं। ज़ाहिर है कि यह रूप व्यावहारिक दृष्टि से केवल बिल्कुल शुरू में ही पाया जा सकता है, जब कि श्रम से पैदा होनेवाली वस्तुएं सांयोगिक और यदा-कदा होनेवाले विनिमय के द्वारा ही पण्यों का रूप धारण करती हैं।

दूसरा रूप ख पहले रूप की तुलना में किसी पण्य के उपयोग-मूल्य से उसके मूल्य के अंतर को अधिक पूरी तरह स्पष्ट करता है, क्योंकि उसमें कोट का मूल्य तमाम संभव रूपों में कोट के भौतिक रूप के मुक़ाबले में रखा जाता है; उसका कपड़े, लोहे, चाय, संक्षेप में यह कि सिर्फ़ कोट को छोड़कर बाक़ी हर चीज़ के साथ समीकरण किया जाता है। दूसरी ओर, मूल्य की किसी ऐसी सामान्य अभिव्यंजना का, जो सब पण्यों के लिए साझी हो, सीधे तौर पर अपवर्जन कर दिया जाता है, क्योंकि प्रत्येक पण्य के मूल्य के समीकरण में अब बाक़ी सब पण्य केवल समतुल्य के रूप में सामने आते हैं। मूल्य के विस्तारित रूप का पहली बार वास्तव में उस वक़्त जन्म होता है, जब श्रम के किसी ख़ास उत्पाद का, जैसे ढोरों का, अपवाद-रूप में नहीं, बल्कि आदतन नाना प्रकार के दूसरे पण्यों से विनिमय होने लगता है।

मूल्य का तीसरा और सबसे बाद में विकसित होनेवाला रूप पण्यों की पूरी दुनिया के मूल्यों को केवल एक पण्य के रूप में – यानी कपड़े के रूप में – व्यक्त करता है, जो इस काम के लिए अलग कर दिया जाता है। इस प्रकार यह तीसरा रूप इन तमाम पण्यों के मूल्यों को कपड़े के साथ उनकी समता की शक्ल में प्रस्तुत करता है। अब चूंकि हर पण्य के मूल्य का कपड़े के साथ समीकरण किया जाता है, इसलिए यह मूल्य न केवल उसके अपने उपयोग-मूल्य से, बल्कि आम तौर पर सभी उपयोग-मूल्यों से भिन्न हो जाता है, और इसी तथ्य के फलस्वरूप यह उस तत्त्व के रूप में व्यक्त होता है, जो सब पण्यों में समान रूप से मौजूद है। इस रूप के द्वारा पण्यों का पहली बार कारगर ढंग से मूल्यों के रूप में एक दूसरे के साथ संबंध स्थापित होता है या यों कहिये कि वे विनिमय-मूल्यों के रूप में सामने लाये जाते हैं।

शुरू के पहले दो रूपों में प्रत्येक पण्य का मूल्य या तो उससे भिन्न प्रकार के किसी एक पण्य के रूप में या ऐसे बहुत से पण्यों के रूप में व्यक्त होता है। दोनों सूरतों में हर अलग-अलग पण्य का, यूं कहिये, अपना निजी काम है कि अपने मूल्य के लिए किसी अभिव्यंजना की तलाश करे, और यह काम वह बाक़ी सब पण्यों की मदद के बिना पूरा करता है। ये बाक़ी पण्य उस पण्य के संबंध में समतुल्य की निष्क्रिय भूमिका अदा करते हैं। मूल्य का सामान्य रूप ग पण्यों की पूरी दुनिया की संयुक्त कार्रवाई के फलस्वरूप अस्तित्व में आता हैं, और उसके अस्तित्व में आने का यही एकमात्र ढंग है। कोई भी पण्य अपने मूल्य की सामान्य अभिव्यंजना केवल उसी दशा में प्राप्त कर सकता है, जब उसके साथ-साथ बाक़ी सब पण्य भी एक ही समतुल्य के रूप में अपने मूल्यों को व्यक्त करें, और हर नये पण्य को भी उनका अनुसरण करते हुए अनिवार्य रूप से ऐसा ही करना होता है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मूल्यों के रूप में पण्यों का अस्तित्व चूंकि विशुद्ध "सामाजिक अस्तित्व" होता है, इसलिए यह "सामाजिक अस्तित्व" केवल उनके तमाम सामाजिक संबंधों की संपूर्णता के द्वारा ही व्यक्त हो सकता है और इसलिए उनके मूल्य का रूप कोई सामाजिक तौर पर मान्य रूप होना चाहिए।

सब पण्यों को चूंकि अब कपड़े के बराबर किया जाता है, इसलिए वे सामान्य रूप से मूल्य के नाते न केवल गुणात्मक दृष्टि से समान प्रतीत होते हैं, बल्कि ऐसे मूल्यों की तरह भी सामने आते हैं, जिनके परिमाणों का आपस में मुक़ाबला किया जा सकता है। उनके मूल्यों के

परिमाणों को चूंकि एक ही वस्तु के रूप में – यानी कपड़े के रूप में – व्यक्त किया जाता है, इसलिए इन परिमाणों का एक दूसरे के साथ भी मुक़ाबला हो जाता है। उदाहरण के लिए, चूंकि १० पाउंड चाय = २० गज़ कपड़ा और ४० पाउंड क़हवा = २० गज़ कपड़ा, इसलिए १० पाउंड चाय = ४० पाउंड क़हवा। दूसरे शब्दों में, १ पाउंड चाय में मूल्य का जितना तत्त्व – अर्थात् जितना श्रम – निहित है, १ पाउंड क़हवे में उसका केवल एक चौथाई निहित है।

सापेक्ष मूल्य का सामान्य रूप, जिसके अंतर्गत पण्यों की पूरी दुनिया आ जाती है, उस एक पण्य को, जो बाक़ी सब पण्यों से अलग कर दिया जाता है और जिससे समतुल्य की भूमिका अदा करायी जाती है – यानी हमारे उदाहरण में कपड़ा – सार्विक समतुल्य में बदल देता है। अब सभी पण्यों का मूल्य समान ढंग से कपड़े का भौतिक रूप धारण कर लेता है; अतएव अब कपड़े का सभी पण्यों से और प्रत्येक पण्य से सीधा विनिमय हो सकता है। कपड़ा नामक पदार्थ हर प्रकार के मानव-श्रम का दृश्यमान अवतार, उसका सामाजिक कोशशायी रूप बन जाता है। बुनाई, जो कि एक ख़ास चीज़ – कपड़ा – तैयार करनेवाले कुछ व्यक्तियों का निजी श्रम होती है, इसके परिणामस्वरूप एक सामाजिक रूप – यानी श्रम के अन्य सभी प्रकारों के साथ समानता का रूप – प्राप्त कर लेती है। मूल्य को सामान्य रूप देनेवाले असंख्य समीकरण कपड़े में निहित श्रम को दूसरे हरेक पण्य में निहित श्रम के बराबर कर देते हैं, और इस प्रकार वे बुनाई के श्रम को अविभेदित मानव-श्रम की अभिव्यक्ति का सामान्य रूप बना देते हैं। इस ढंग से पण्यों के मूल्यों के रूप में मूर्त श्रम न केवल अपने नकारात्मक रूप में सामने आ जाता है, जिससे वास्तविक कार्य के प्रत्येक मूर्त रूप तथा उपयोगी गुण का अमूर्तीकरण अलग कर दिया जाता है, बल्कि उसकी अपनी सकारात्मक प्रकृति भी स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाती है। सामान्य मूल्य-रूप में वास्तविक श्रम के सभी प्रकार सामान्यतः मानव-श्रम होने के – या मानव की श्रम-शक्ति का व्यय होने के – अपने समान स्वरूप में परिणत हो जाते हैं।

सामान्य मूल्य-रूप, जिसमें श्रम से पैदा होनेवाली तमाम वस्तुओं को विभेदित मानव-श्रम के जमाव मात्र के रूप में व्यक्त किया जाता है, अपनी बनावट से ही यह बात स्पष्ट कर देता है कि वह पण्यों की दुनिया का सामाजिक सारांश है। अतएव, यह रूप निर्विवाद ढंग से यह बात स्पष्ट कर देता है कि पण्यों की दुनिया में सभी प्रकार के श्रम में मानव-श्रम होने का जो गुण समान रूप से मौजूद है, उसी से उसको विशिष्ट सामाजिक स्वरूप प्राप्त होता है।

२) मूल्य के सापेक्ष रूप और समतुल्य-रूप का अन्योन्याश्रित विकास

मूल्य के सापेक्ष रूप के विकास का स्तर समतुल्य-रूप के विकास के स्तर के अनुरूप होता है। परंतु हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि समतुल्य-रूप का विकास केवल सापेक्ष रूप के विकास की ही अभिव्यक्ति एवं परिणाम होता है।

किसी एक पण्य का प्राथमिक, अथवा इक्का-दुक्का, सापेक्ष रूप किसी और पण्य को एक पृथक समतुल्य बना देता है। सापेक्ष मूल्य का विस्तारित रूप, जिसमें एक पण्य का मूल्य बाक़ी सब पण्यों के रूप में व्यक्त होता है, इन तमाम बाक़ी पण्यों को अलग-अलग प्रकार के विशिष्ट समतुल्यों का रूप प्रदान कर देता है। और अंत में एक ख़ास प्रकार का पण्य सार्विक समतुल्य का स्वरूप प्राप्त कर लेता है, क्योंकि बाक़ी तमाम पण्य उससे उस पदार्थ का काम लेने लगते हैं, जिसके रूप में वे सबके सब अपना मूल्य व्यक्त करते हैं।

मूल्य-रूप के दो ध्रुव हैं: मूल्य का सापेक्ष रूप और समतुल्य-रूप। उनके बीच जो विरोध है, वह स्वयं मूल्य-रूप के विकास के साथ बढ़ता है।

पहला रूप है: २० गज़ कपड़ा = १ कोट। उसमें अभी से यह विरोध मौजूद है, हालांकि उसने अभी टिकाऊ रूप नहीं प्राप्त किया है। इस समीकरण को आप बायीं से दायीं ओर या दायीं से बायीं ओर, जैसे भी पढ़ेंगे, वैसे ही कपड़े और कपड़े की भूमिकाएं भी बदल जायेंगी। एक सूरत में कपड़े का सापेक्ष मूल्य कोट के रूप में व्यक्त होगा, दूसरी सूरत में कोट का सापेक्ष मूल्य कपड़े के रूप में। अतएव मूल्य के इस पहले रूप में ध्रुवीय वैषम्य को समझ पाना कठिन है।

रूप ख में एक समय में केवल एक ही प्रकार का पण्य अपने सापेक्ष मूल्य को पूरी तरह विस्तृत कर पाता है, और वह यह विस्तारित रूप केवल इसलिए और केवल इसी हद तक प्राप्त करता है कि बाक़ी सब पण्य उसके संबंध में समतुल्यों का काम करने लगते हैं। यहां हम समीकरण को उस तरह उलट नहीं सकते, जिस तरह २० गज़ कपड़ा = १ कोट के समीकरण को उलट सकते हैं। यदि हम उसे उलटते हैं, तो उसका आम स्वरूप बदल जाता है और वह मूल्य के विस्तारित रूप से मूल्य का सामान्य रूप बनकर रह जाता है।

अंत में, रूप ग में चूंकि एक पण्य को छोड़कर बाक़ी सब पण्यों को समतुल्य-रूप से अलग किया जाता है, इसीलिए और इसी हद तक उससे पण्यों की दुनिया को मूल्य का एक सामान्य एवं सामाजिक सापेक्ष रूप मिल जाता है। अतएव एक अकेला पण्य, यानी कपड़ा, इसीलिए और इसी हद तक अन्य हरेक पण्य के साथ प्रत्यक्ष विनिमेयता का गुण प्राप्त कर लेता है कि अन्य हरेक पण्य इस गुण से वंचित कर दिया जाता है।[24]

दूसरी ओर, जो पण्य सार्विक समतुल्य का काम करता है, उसको सापेक्ष मूल्य-रूप से अलग किया जाता है। यदि कपड़ा या सार्विक समतुल्य का काम करनेवाला कोई और पण्य इसके साथ-साथ मूल्य के सापेक्ष रूप में भी हिस्सा बंटाने लगे, तो उसे ख़ुद अपना समतुल्य बनना पड़ेगा। तब समीकरण यह हो जायेगा कि २० गज़ कपड़ा = २० गज़ कपड़ा। यह पुनरुक्ति न तो मूल्य को और न मूल्य के परिमाण को ही व्यक्त करती है। सार्विक समतुल्य के सापेक्ष मूल्य को व्यक्त करने के लिए हमें रूप ग को उलट देना पड़ेगा। इस समतुल्य के मूल्य का

---

[24] यह बात कदापि स्वतःस्पष्ट नहीं है कि सीधे और सार्विक विनिमेयता का यह गुण गोया एक ध्रुवीय गुण है, और वह अपने उल्टे ध्रुव से, यानी सीधे विनिमेयता के अभाव से, उसी अंतरंग ढंग से जुड़ा हुआ है, जिस अंतरंग ढंग से चुंबक का धनात्मक ध्रुव उसके ऋणात्मक ध्रुव से जुड़ा होता है। इसलिए जिस तरह यह कल्पना की जा सकती है कि कैथोलिक मत माननेवाले सभी लोगों का एक साथ पोप बन जाना संभव है, उसी प्रकार यह कल्पना भी की जा सकती है कि तमाम पण्य एक साथ यह गुण प्राप्त कर सकते हैं। उस निम्न बुर्जुआ वर्ग की नज़रों में, जिसके लिए पण्यों का उत्पादन मानव-स्वतंत्रता और व्यक्तिगत स्वाधीनता की चरमावस्था है, यह, ज़ाहिर है, अत्यंत वांछनीय बात होगी, यदि पण्यों का सीधा विनिमय न हो सकने से पैदा होनेवाली यह कठिनाई दूर हो जाये। प्रूदों का समाजवाद इस कूपमंडूक कल्पना-लोक का ही विस्तार से प्रतिपादित रूप है। जैसा कि मैंने अन्यत्र प्रमाणित किया है, प्रूदों के इस समाजवाद में तो मौलिकता भी नहीं है। उनसे बहुत पहले ग्रे, ब्रे और अन्य लोग यह काम अधिक सफलतापूर्वक कर चुके थे। लेकिन इस सबके बावजूद कुछ हल्क़ों में आज भी इस तरह का ज्ञान "विज्ञान" के नाम से फल-फूल रहा है। "विज्ञान" शब्द का जैसा दुरुपयोग प्रूदों की विचारधारा के अनुयायियों ने किया है, वैसा और किसी ने नहीं किया होगा, क्योंकि "जब विचारों से काम नहीं चलता, तब सही मौक़े पर एक शब्द काम कर जाता है।" गेटे कृत काव्य-नाटक 'फ़ाउस्ट', भाग १, दृश्य ४ से उद्धृत।

कोई ऐसा सापेक्ष रूप नहीं है, जो दूसरे पण्यों का भी हो, मगर सापेक्ष ढंग से उसका मूल्य अन्य पण्यों के एक अंतहीन क्रम के रूप में व्यक्त होता है।

इस प्रकार प्रकट होता है कि सापेक्ष मूल्य का विस्तारित रूप – अथवा ख रूप – ही सम-तुल्य-पण्य के सापेक्ष मूल्य का विशिष्ट रूप है।

३) मूल्य के सामान्य रूप से द्रव्य-रूप में संक्रमण

सार्विक समतुल्य-रूप सामान्य मूल्य का रूप है। इसलिए कोई भी पण्य यह रूप धारण कर सकता है। दूसरी ओर, यदि किसी पण्य ने सचमुच सार्विक समतुल्य-रूप (रूप ग) धारण कर लिया है, तो उसका एक यही कारण हो सकता है और वह इसी हद तक यह रूप धारण कर सकता है कि उसको बाक़ी तमाम पण्यों से और उन्हीं के द्वारा उनके समतुल्य के रूप में अलग किया गया है। और जिस क्षण यह अलगाव अंतिम तौर पर किसी एक ख़ास पण्य तक सीमित हो जाता है, केवल उसी क्षण से पण्यों की दुनिया के सापेक्ष मूल्य का सामान्य रूप वास्तविक स्थिरता एवं सामान्य सामाजिक मान्यता प्राप्त करता है।

इस प्रकार जिस ख़ास पण्य के भौतिक रूप के साथ समतुल्य-रूप सामाजिक तौर पर एका-कार हो जाता है, वह अब द्रव्य-पण्य बन जाता है, या यों कहिये कि वह द्रव्य का काम करने लगता है। इस पण्य का यह विशिष्ट सामाजिक कार्य तथा इसलिए सामाजिक एकाधिकार हो जाता है कि वह पण्यों की दुनिया में सार्विक समतुल्य की भूमिका अदा करे। रूप ख में जो बहुत से पण्य कपड़े के विशिष्ट समतुल्य के रूप में सामने आते हैं और जो रूप ग में अपना-अपना सापेक्ष मूल्य समान ढंग से कपड़े के रूप में व्यक्त करते हैं, उनमें से ख़ास तौर पर एक पण्य ने – यानी सोने ने – यह सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया है। अतएव, यदि रूप ग में हम कपड़े के स्थान पर सोना रख दें, तो यह समीकरण प्राप्त होता है:

घ) द्रव्य-रूप

२० गज़ कपड़ा =
१ कोट =
१० पाउंड चाय =
४० पाउंड क़हवा = } २ आउंस सोना
१ क्वार्टर अनाज =
$\frac{1}{2}$ टन लोहा =
क पण्य का x परिमाण =

रूप क से रूप ख की ओर बढ़ने में, और रूप ख से रूप ग की ओर बढ़ने में जो परिवर्तन हुए, वे बुनियादी ढंग के परिवर्तन हैं। दूसरी ओर, रूप ग और रूप घ में सिवाय इसके और कोई अंतर नहीं है कि घ में कपड़े के स्थान पर सोने ने समतुल्य का रूप धारण कर लिया है। रूप ग में जो कुछ कपड़ा था, वही रूप घ में सोना है, अर्थात् वह सार्विक समतुल्य है। प्रगति

केवल इस बात में है कि सीधे एवं सार्विक विनिमेयता का गुण – दूसरे शब्दों में, सार्विक सम-तुल्य-रूप – अब सामाजिक रूढ़ि के फलस्वरूप अंतिम तौर पर सोना नामक पदार्थ के साथ एकाकार हो गया है।

अब यदि बाक़ी तमाम पण्यों के संबंध में सोना द्रव्य बन गया है, तो केवल इसीलिए कि पहले वह उनके संबंध में एक साधारण पण्य था। बाक़ी सब पण्यों की तरह उसमें भी या तो संयोगवश होनेवाले इक्के-दुक्के विनिमयों में साधारण समतुल्य की भांति, या दूसरे पण्यों के साथ-साथ एक विशिष्ट समतुल्य की भांति समतुल्य का काम करने की योग्यता थी। धीरे-धीरे वह कभी संकुचित और कभी विस्तृत सीमाओं के भीतर सार्विक समतुल्य का काम करने लगा। जैसे ही पण्यों की दुनिया के लिए उसने मूल्य की अभिव्यंजना में इस स्थान पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया, वैसे ही वह द्रव्य-पण्य बन गया और फिर – मगर उसके पहले नहीं – रूप घ रूप ग से साफ़ तौर पर अलग हो गया और मूल्य का सामान्य रूप द्रव्य-रूप में बदल गया।

जब कपड़े जैसे किसी एक पण्य का सापेक्ष मूल्य सोने जैसे किसी पण्य के रूप में, जो द्रव्य की भूमिका अदा करता है, प्राथमिक अभिव्यंजना प्राप्त करता है, तब वह अभिव्यंजना उस पण्य का दाम-रूप होती है। अतएव, कपड़े का दाम-रूप है: २० गज़ कपड़ा = २ आउंस सोना, अथवा, यदि २ आउंस सोना सिक्के के रूप में ढलने पर २ पाउंड हो जाता है, तो २० गज कपड़ा = २ पाउंड।

द्रव्य-रूप को ठीक से समझने में कठिनाई इसलिए होती है कि सार्विक समतुल्य-रूप को और उसके एक अनिवार्य परिणाम के रूप में मूल्य के सामान्य रूप को – यानी रूप ग को – साफ़-साफ़ समझना कठिन होता है। रूप ग को रूप ख से – यानी मूल्य के विस्तारित रूप से – निगमन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, और जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, रूप ख का आवश्यक अंग रूप क है, जिसमें २० गज़ कपड़ा = १ कोट, या क पण्य का x परिमाण = ख पण्य का y परिमाण। अतएव साधारण पण्य-रूप द्रव्य-रूप का बीजाणु होता है।

अनुभाग ४ – पण्यों की जड़-पूजा और उसका रहस्य

पहली दृष्टि में पण्य बहुत मामूली सी और आसानी से समझ में आनेवाली चीज मालूम होता है। किंतु उसका विश्लेषण करने पर पता चलता है कि वास्तव में वह एक बहुत अजीब चीज़ है, जो आधिभौतिक सूक्ष्मताओं और धर्मशास्त्रीय बारीकियों से ओतप्रोत है। जहां तक वह उपयोग-मूल्य है, वहां तक, चाहे हम उसपर इस दृष्टिकोण से विचार करें कि वह अपने गुणों से मानव-आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ है, और चाहे इस दृष्टिकोण से कि वे गुण मानव-श्रम का उत्पाद हैं, उसमें रहस्य की कोई बात नहीं है। यह बात दिन के प्रकाश की तरह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने कार्यकलाप से प्रकृति के दिये हुए पदार्थों के रूप को इस तरह बदल देता है कि वे उसके लिए उपयोगी बन जायें। उदाहरण के लिए, लकड़ी का रूप उसकी एक मेज़ बनाकर बदल दिया जाता है। पर इस परिवर्तन के बावजूद मेज़ वही रोज़मर्रे की साधारण चीज़ – लकड़ी – ही बनी रहती है। लेकिन जैसे ही वह पण्य के रूप में सामने आती है, वैसे ही वह मानो किसी इंद्रियातीत वस्तु में बदल जाती है। तब वह न सिर्फ़ अपने पैरों के बल खड़ी होती है, बल्कि दूसरे तमाम पण्यों के संबंध में सिर के बल खड़ी हो जाती है और अपने

काठ के दिमाग़ से ऐसे-ऐसे अजीबोग़रीब विचार निकालती है कि उनके सामने मृतात्माओं को बुलानेवाली प्रेत-विद्या भी मात खा जाती है।

अतएव पण्यों का रहस्यमय रूप उनके उपयोग-मूल्य से उत्पन्न नहीं होता। और न ही वह उन कारकों के स्वभाव से उत्पन्न होता है, जिनसे मूल्य निर्धारित होता है। कारण, पहली बात तो यह है कि श्रम के उपयोगी रूप, अथवा उत्पादक कार्रवाइयां चाहे कितने भी भिन्न प्रकार की क्यों न हों, यह एक शरीरविज्ञान से संबंध रखनेवाला तथ्य है कि वे सबकी सब मानव-शरीर की कार्रवाइयां होती हैं, और ऐसी हर कार्रवाई में, उसका स्वभाव और रूप चाहे जैसा हो, बुनियादी तौर पर मनुष्य का मस्तिष्क, स्नायु और मांस-पेशियां, आदि ख़र्च होती हैं। दूसरे, जहां तक उस चीज़ का संबंध है, जिसके आधार पर मूल्य को परिमाणात्मक दृष्टि से निर्धारित किया जाता है, अर्थात् जहां तक इस ख़र्च की मियाद का – यानी श्रम की मात्रा का – संबंध है, यह बात बिल्कुल साफ़ है कि श्रम के परिमाण तथा गुण में स्पष्ट अंतर होता है। समाज की सभी अवस्थाओं में लोगों को इस बात में लाज़िमी तौर पर दिलचस्पी रही होगी कि जीवन-निर्वाह के साधनों को पैदा करने में कितना श्रम-काल ख़र्च होता है, हालांकि विकास की हर मंज़िल पर यह दिलचस्पी बराबर नहीं रही होगी।[25] और आख़िरी बात यह है कि जिस क्षण लोग किसी भी ढंग से एक दूसरे के लिए काम करने लगते हैं, उसी क्षण से उनका श्रम सामाजिक रूप धारण कर लेता है।

तब श्रम का उत्पाद पण्यों का रूप धारण करते ही रहस्यमय कैसे बन जाता है? स्पष्ट है कि इसका कारण स्वयं यह पण्य-रूप ही है। हर प्रकार के मानव-श्रम की समानता वस्तुगत ढंग से इस प्रकार व्यक्त होती है कि हर प्रकार के श्रम का उत्पाद समान रूप से मूल्य होता है; श्रम-शक्ति के व्यय की उसकी अवधि द्वारा माप श्रम के उत्पाद के मूल्य के परिमाण का रूप धारण कर लेती है; और अंतिम बात यह कि उत्पादकों के पारस्परिक संबंध, जिनके भीतर ही उनके श्रम का सामाजिक स्वरूप अभिव्यक्त होता है, उनकी पैदा की हुई वस्तुओं के सामाजिक संबंध का रूप धारण कर लेते हैं।

अतएव पण्य एक रहस्यमयी वस्तु इसलिए है कि मनुष्यों के श्रम का सामाजिक स्वरूप उनको अपने श्रम के उत्पाद का वस्तुगत लक्षण प्रतीत होता है; क्योंकि उत्पादकों के अपने श्रम से जो कुल उत्पाद पैदा हुआ है, उसके साथ उनका संबंध उनको एक ऐसा सामाजिक संबंध प्रतीत होता है, जो स्वयं उनके बीच नहीं, बल्कि उनके श्रम से पैदा होनेवाली वस्तुओं के बीच क़ायम है। यही कारण है कि श्रम से पैदा होनेवाली वस्तुएं पण्य, यानी ऐसी सामाजिक वस्तुएं बन जाती हैं, जिनके गुण इंद्रियगम्य भी हैं और इंद्रियातीत भी। इसी प्रकार किसी वस्तु से आनेवाला प्रकाश हमें अपनी आंख की प्रकाशीय स्नायु का मनोगत उत्तेजन नहीं प्रतीत होता, बल्कि आंख के बाहर की किसी चीज़ का वस्तुगत रूप मालूम पड़ता है। लेकिन देखने की क्रिया में तो हर सूरत में एक चीज़ से दूसरी चीज़ तक, बाह्य वस्तु से आंख तक, सचमुच प्रकाश जाता है। इस क्रिया में भौतिक वस्तुओं के बीच एक भौतिक संबंध क़ायम होता है। लेकिन

---

[25] प्राचीन जर्मनों में ज़मीन मापने की इकाई उतनी ज़मीन होती थी, जितनी ज़मीन से एक दिन में फ़सल काटी जा सकती थी और जो Tagwerk (या Tagwanne) (jurnale या jurnalis, terra jurnalis, jornalis या diurnalis), Mannwerk, Mannskraft, Mannsmaad, Mannshauet, आदि कहलाती थी। देखिये G. L. von Maurer, *Einleitung zur Geschichte der Mark-, Hof-, u.s.w. Verfassung etc.*, München, 1854, S. 129 sq.

पण्यों के बीच ऐसा कुछ नहीं होता। वहां पण्यों के रूप में वस्तुओं के अस्तित्व का और श्रम से पैदा होनेवाली वस्तुओं के बीच पाये जानेवाले उस मूल्य के संबंध का, जो कि इन वस्तुओं को पण्य बना देता है, उनके भौतिक गुणों से तथा इन गुणों से पैदा होनेवाले भौतिक संबंधों से कोई ताल्लुक़ नहीं होता। वहां मनुष्यों के बीच क़ायम एक ख़ास प्रकार का सामाजिक संबंध है, जो उनकी नज़रों में वस्तुओं के संबंध का अजीबोग़रीब रूप धारण कर लेता है। इसलिए यदि इसकी उपमा खोजनी है, तो हमें धार्मिक दुनिया के कुहासे से ढंके क्षेत्रों में प्रवेश करना होगा। उस दुनिया में मानव-मस्तिष्क से उत्पन्न कल्पनाएं स्वतंत्र और जीवित प्राणियों जैसी प्रतीत हैं, जो आपस में और मनुष्यजाति के साथ भी संबंध स्थापित करती रहती हैं। पण्यों की दुनिया में मनुष्य के हाथों से उत्पन्न होनेवाली वस्तुएं भी यही करती हैं। मैंने इसे जड़-पूजा का नाम दिया है; श्रम से पैदा होनेवाली वस्तुएं जैसे ही पण्यों के रूप में पैदा होने लगती हैं, वैसे ही उनके साथ यह गुण चिपक जाता है, और इसलिए यह जड़-पूजा पण्यों के उत्पादन से अलग नहीं की जा सकती।

जैसा कि ऊपर दिये हुए विश्लेषण से स्पष्ट हो गया है, पण्यों की इस जड़-पूजा का मूल उनको पैदा करनेवाले श्रम के अनोखे सामाजिक स्वरूप में है।

एक सामान्य नियम के रूप में उपयोगी वस्तुएं केवल इसी कारण पण्य बनती हैं कि वे एक दूसरे से स्वतंत्र रूप से काम करनेवाले व्यक्तियों अथवा व्यक्तियों के दलों के निजी श्रम का उत्पाद होती हैं। इन तमाम व्यक्तियों के निजी श्रम का जोड़ समाज का कुल श्रम होता है। अलग-अलग उत्पादक चूंकि उस वक़्त तक एक दूसरे के सामाजिक संपर्क में नहीं आते, जिस वक़्त तक कि वे अपनी-अपनी पैदा की हुई वस्तुओं का विनिमय नहीं करने लगते, इसलिए हरेक उत्पादक के श्रम का विशिष्ट सामाजिक स्वरूप केवल विनिमय-कार्य में ही दिखायी देता है और अन्य किसी तरह नहीं। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति का श्रम समाज के श्रम के एक भाग के रूप में केवल उन संबंधों द्वारा ही सामने आता है, जिनको विनिमय-कार्य प्रत्यक्ष ढंग से पैदा की गयी वस्तुओं के बीच और उनके ज़रिये अप्रत्यक्ष ढंग से उनको पैदा करनेवालों के बीच स्थापित कर देता है। इसलिए उत्पादकों को एक व्यक्ति के श्रम को बाक़ी व्यक्तियों के श्रम के साथ जोड़नेवाले संबंध कार्यरत अलग-अलग व्यक्तियों के प्रत्यक्ष सामाजिक संबंध नहीं, बल्कि वैसे प्रतीत होते हैं, जैसे कि वे वास्तव में हैं – अर्थात् व्यक्तियों के बीच भौतिक संबंध और वस्तुओं के बीच सामाजिक संबंध।

जब श्रम से पैदा होनेवाली वस्तुओं का विनिमय होता है, केवल तभी वे मूल्यों के रूप में एक समरूप सामाजिक हैसियत प्राप्त करती हैं, जो उपयोगी वस्तुओं के नाते उनके नाना प्रकार के अस्तित्व-रूपों से भिन्न होती है। श्रम से पैदा होनेवाली किसी भी वस्तु का उपयोगी वस्तु तथा मूल्य में यह विभाजन केवल उसी समय व्यावहारिक महत्त्व प्राप्त करता है, जब विनिमय का इतना विस्तार हो जाता है कि उपयोगी वस्तुएं विनिमय करने के उद्देश्य से ही पैदा की जाती हैं और इसलिए मूल्यों की शक्ल में उनके स्वरूप का पहले से, यानी उत्पादन के दौरान ही, ध्यान रखा जाता है। इस क्षण से ही हर अलग-अलग उत्पादक का श्रम सामाजिक दृष्टि से दोहरा स्वरूप प्राप्त कर लेता है। एक ओर तो उसको एक ख़ास प्रकार के उपयोगी श्रम के रूप में किसी ख़ास सामाजिक आवश्यकता को पूरा करना पड़ता है और इस तरह सभी के सामूहिक श्रम के आवश्यक अंग के रूप में, उस सामाजिक श्रम-विभाजन की एक शाखा के रूप में अपने लिए स्थान बनाना पड़ता है, जो स्वयंस्फूर्त ढंग से पैदा हो गया

है। दूसरी ओर, वह उस एक उत्पादक की नाना प्रकार की आवश्यकताओं को केवल उसी हद तक पूरा कर सकता है, जिस हद तक कि निजी उपयोगी श्रम के विभिन्न प्रकारों की पारस्परिक विनिमेयता एक स्थापित सामाजिक तथ्य बन गयी है और इसलिए जिस हद तक कि हर उत्पादक का निजी उपयोगी श्रम बाक़ी सब उत्पादकों के श्रम के बराबर माना जाता है। श्रम के अत्यंत भिन्न रूपों का समानीकरण केवल इसी का फल हो सकता है कि इन रूपों की असमानताओं को अनदेखा कर दिया जाये अथवा उनको उनके सामान्य स्वरूप में – अर्थात् मानव की श्रम-शक्ति के व्यय में, या अमूर्त मानव-श्रम में – परिणत कर दिया जाये। जब व्यक्ति के श्रम का दोहरा सामाजिक स्वरूप उसके मस्तिष्क में झलकता है, तो वह उसे केवल उन शक्लों में दिखायी देता है, जो रोज़मर्रा के व्यवहार में श्रम से उत्पन्न वस्तुओं के विनिमय ने उस श्रम को दे दी हैं। इस तरह, उसके अपने श्रम में सामाजिक दृष्टि से उपयोगी होने का जो गुण मौजूद है, वह इस शर्त का रूप धारण कर लेता है कि श्रम से उत्पन्न वस्तु को न केवल उपयोगी, बल्कि दूसरों के लिए उपयोगी होना चाहिए, और उसके विशिष्ट श्रम में श्रम के अन्य सब विशिष्ट प्रकारों के समान होने का जो सामाजिक गुण विद्यमान रहता है, वह यह रूप धारण कर लेता है कि श्रम से पैदा होनेवाली, शारीरिक रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार की तमाम वस्तुओं में एक गुण समान रूप से मौजूद है, और वह यह कि उन सबमें मूल्य है।

इसलिए जब हम अपने श्रम से उत्पन्न वस्तुओं का मूल्यों के रूप में एक दूसरे के साथ संबंध स्थापित करते हैं, तब हम यह इसलिए नहीं करते हैं कि हम इन वस्तुओं को समांग मानव-श्रम के भौतिक आवरण समझते हैं। बात इसकी ठीक उल्टी है। जब कभी हम विनिमय द्वारा अपने श्रम से उत्पन्न भिन्न-भिन्न वस्तुओं का मूल्यों के रूप में समीकरण करते हैं, तब हम उसी कार्य द्वारा उन वस्तुओं पर ख़र्च किये गये श्रम के विभिन्न प्रकारों का भी मानव-श्रम के रूप में समीकरण कर डालते हैं। हम अनजाने ही ऐसा करते हैं, किंतु फिर भी करते ज़रूर हैं।[26] अतएव मूल्य अपने पर कोई ऐसा लेबुल लगाकर नहीं घूमता, जिसपर लिखा हो कि वह क्या है। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि यह मूल्य ही है, जो श्रम से पैदा होनेवाली प्रत्येक वस्तु को एक सामाजिक चित्राक्षर बना देता है। बाद को हम इस चित्रलिपि को पढ़ने की कोशिश करते हैं और ख़ुद अपने सामाजिक उत्पाद का रहस्य समझने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि जिस प्रकार भाषा एक सामाजिक उत्पाद है, उसी प्रकार किसी उपयोगी वस्तु पर मूल्य की छाप अंकित कर देना भी एक सामाजिक उत्पाद है। हाल का यह नया वैज्ञानिक आविष्कार सचमुच मनुष्यजाति के विकास के इतिहास में एक नये युग के आरंभ का द्योतक है कि श्रम से उत्पन्न तमाम वस्तुएं, जहां तक वे मूल्य हैं, वहां तक अपने उत्पादन में ख़र्च किये गये मानव-श्रम की भौतिक अभिव्यंजना मात्र होती हैं। लेकिन इससे भी वह कुहासा नहीं छंटता, जिसके आवरण से ढंका हुआ श्रम का सामाजिक स्वरूप हमें ख़ुद श्रम से उत्पन्न वस्तुओं का वस्तुगत गुण प्रतीत होता है। यह तथ्य कि उत्पादन के जिस ख़ास रूप पर हम विचार

---

[26] इसलिए जहां गालियानी यह कहता है कि मूल्य व्यक्तियों के बीच पाया जानेवाला एक संबंध है – "La Ricchezza è una ragione tra due persone" – वहां उसको यह और जोड़ देना चाहिए था कि वह व्यक्तियों के बीच पाया जानेवाला एक ऐसा संबंध है, जो वस्तुओं के बीच पाये जानेवाले संबंध के रूप में व्यक्त होता है। Galiani, *Della Moneta*; Custodi's collection: *Scrittori Classici Italiani di Economia Politica*. Vol. III, p. 221, Parte. Moderna, Milano, 1803.)

कर रहे हैं, उसमें – यानी पण्यों के उत्पादन में – स्वतंत्र रूप से किये जानेवाले निजी श्रम का विशिष्ट सामाजिक स्वरूप इस बात में निहित होता है कि इस प्रकार का प्रत्येक श्रम मानव-श्रम होने के नाते एक दूसरे के समान होता है और इसलिए श्रम का यह सामाजिक स्वरूप उत्पाद में मूल्य का रूप धारण कर लेता है – यह तथ्य उत्पादकों को उपर्युक्त आविष्कार के बावजूद उतना ही यथार्थ और अंतिम प्रतीत होता है, जितना यह तथ्य कि वायु जिन गैसों से मिलकर बनी है, उनका विज्ञान द्वारा आविष्कार हो जाने के बाद भी ख़ुद वायुमंडल में कोई परिवर्तन नहीं होता।

जब उत्पादक लोग कोई विनिमय करते हैं, तब व्यावहारिक रूप में उन्हें सबसे पहले इस बात की चिंता होती है कि अपने उत्पाद के बदले में उन्हें कोई और उत्पाद कितना मिलेगा या विभिन्न प्रकार के उत्पाद का किन अनुपातों में विनिमय हो सकता है। जब ये अनुपात रीति और रिवाज के आधार पर कुछ स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं, तब ऐसा लगता है, जैसे वे अनुपात उत्पादित वस्तुओं की प्रकृति से उत्पन्न हो गये हों। मिसाल के लिए, तब एक टन लोहे और दो आउंस सोने का मूल्य में बराबर होना उतनी ही स्वाभाविक बात लगती है, जितनी यह बात कि दोनों वस्तुओं के भिन्न-भिन्न भौतिक एवं रासायनिक गुणों के बावजूद एक पाउंड सोना और एक पाउंड लोहा वज़न में बराबर होते हैं। जब एक बार श्रम से उत्पन्न वस्तुएं मूल्य का गुण प्राप्त कर लेती हैं, तब यह गुण केवल मूल्य की मात्राओं के रूप में इन वस्तुओं की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से स्थिरता प्राप्त करता है। मूल्य की ये मात्राएं बराबर बदलती रहती हैं; ऐसी तब्दीलियां उत्पादकों की इच्छा, दूरदर्शिता और कार्यकलाप से स्वतंत्र होती हैं। उत्पादकों के लिए उनका अपना सामाजिक कार्यकलाप वस्तुओं के कार्यकलाप का रूप धारण कर लेता है और वस्तुएं उत्पादकों के शासन में रहने के बजाय उलटे उनपर शासन करने लगती हैं। जब पण्यों का उत्पादन पूरी तरह विकसित हो जाता है, उसके बाद ही केवल संचित अनुभव से यह वैज्ञानिक विश्वास पैदा होता है कि एक दूसरे से स्वतंत्र और फिर भी सामाजिक श्रम-विभाजन की स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित शाखाओं के रूप में किये जानेवाले निजी श्रम के तमाम विभिन्न प्रकार लगातार उन परिमाणात्मक अनुपातों में परिणत होते रहते हैं, जिनमें समाज को श्रम के इन विभिन्न प्रकारों की आवश्यकता होती है। और ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि श्रम से पैदा होनेवाली वस्तुओं के तमाम सांयोगिक और सदा चढ़ते-उतरते रहनेवाले विनिमय-संबंधों के बीच उनके उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल प्रकृति के किसी उच्चतर नियम की भांति बलपूर्वक अपनी सत्ता का प्रदर्शन करता है। जब कोई मकान भरराकर गिर पड़ता है, तब गुरुत्व का नियम भी इसी तरह, अपनी सत्ता का प्रदर्शन करता है।[27] अतएव मूल्य के परिमाण का श्रम-काल द्वारा निर्धारित होना एक ऐसा रहस्य है, जो पण्यों के सापेक्ष मूल्यों के प्रकट उतार-चढ़ाव के नीचे छिपा रहता है। उसका पता लग जाने से यह ख़याल तो दूर जाता है कि श्रम से उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं के मूल्यों के परिमाण केवल

---

[27] "ऐसे नियम के बारे में हम क्या सोचें, जो केवल नियतकालिक क्रांतियों के द्वारा ही अपनी सत्ता का प्रदर्शन करता है? वह प्रकृति के नियम के सिवा और कुछ नहीं है, जो उन व्यक्तियों के ज्ञानाभाव पर टिका होता है, जिनके कार्यों से वह नियम संबंध रखता है।" (Friedrich Engels, *Umrisse zu einer Kritik der Nationalökonomie*, *Deutsch-Französische Jahrbücher*, éd. by Arnold Ruge and Karl Marx, Paris, 1844.)

सांयोगिक ढंग से निर्धारित होते हैं, किंतु उससे उनके निर्धारित होने के ढंग में कोई तब्दीली नहीं आती।

सामाजिक जीवन के रूपों के विषय में मनुष्य के विचार और उनके फलस्वरूप उसके द्वारा इन रूपों का वैज्ञानिक विश्लेषण भी इन रूपों के वास्तविक ऐतिहासिक विकास की ठीक उल्टी दिशा ग्रहण करते हैं। मनुष्य उनपर उस समय विचार करना आरंभ करता है, जब विकास की क्रिया के परिणाम पहले से उसके सामने मौजूद होते हैं। जिन गुणों के फलस्वरूप श्रम से उत्पन्न वस्तुएं पण्य बन जाती हैं और जिनका उन वस्तुओं में होना पण्यों के परिचलन की आवश्यक शर्त है, वे पहले से ही सामाजिक जीवन के स्वाभाविक एवं स्वतःस्पष्ट रूपों का स्थायित्व प्राप्त कर लेते हैं, और उसके बाद कहीं मनुष्य इन गुणों के ऐतिहासिक स्वरूप को नहीं, क्योंकि उसकी दृष्टि में वे तो अपरिवर्तनीय होते हैं, बल्कि उनके अर्थ को समझने की कोशिश शुरू करता है। चुनांचे मूल्यों का परिमाण केवल उस वक्त निर्धारित हुआ, जब पहले पण्यों के दामों का विश्लेषण हो गया, और सभी पण्यों को मूल्यों के रूप में केवल उस वक़्त मान्यता मिली, जब पहले सभी पण्यों को समान रूप से द्रव्य के रूप में व्यक्त किया जाने लगा। किंतु पण्यों की दुनिया का यह अंतिम द्रव्य-रूप ही है कि जो निजी श्रम के सामाजिक स्वरूप को और अलग-अलग उत्पादकों के बीच पाये जानेवाले सामाजिक संबंधों को प्रकट करने के बजाय वास्तव में उनपर पर्दा डाल देता है। जब मैं यह कहता हूं कि कोट या जूतों का कपड़े से इसलिए एक ख़ास प्रकार का संबंध है कि कपड़ा अमूर्त मानव-श्रम का सार्विक अवतार है, तो मेरे कथन का बेतुकापन ख़ुद ब ख़ुद जाहिर हो जाता है। फिर भी जब कोट और जूतों के उत्पादक इन वस्तुओं की तुलना सार्विक समतुल्य के रूप में कपड़े से या – जो कि एक ही बात है – सोने अथवा चांदी से करते हैं, तो वे ख़ुद अपने निजी श्रम और समाज के सामूहिक श्रम के संबंध को उसी बेतुके रूप में व्यक्त करते हैं।

बुर्जुआ अर्थशास्त्र के संवर्ग ऐसे ही रूपों के होते हैं। ये चिंतन के ऐसे रूप होते हैं, जो उत्पादन की एक ख़ास, इतिहास द्वारा निर्धारित प्रणाली की – अर्थात् पण्यों के उत्पादन की – परिस्थितियों और संबंधों को सामाजिक मान्यता के साथ व्यक्त करते हैं। इसलिए, पण्यों का यह पूरा रहस्य, यह सारा जादू और इंद्रजाल, जो श्रम से उत्पन्न वस्तुओं को उस वक़्त तक बराबर घेरे रहता है, जब तक कि वे पण्यों के रूप में रहती हैं, यह सब, जैसे ही हम उत्पादन के दूसरे रूपों पर विचार करना आरंभ करते हैं, वैसे ही फ़ौरन ग़ायब हो जाता है।

रॉबिन्सन क्रूसो के अनुभव चूंकि राजनीतिक अर्थशास्त्रियों का एक प्रिय विषय हैं,[28] इसलिए आइये, उसके द्वीप में चलकर एक नज़र उसपर भी डालें। उसकी आवश्यकताएं बेशक बहुत

---

[28] यहां तक कि रॉबिन्सन-मार्का कहानियां रिकार्डो के पास भी हैं। "आदिम शिकारी और आदिम मछलीमार से वह पण्यों के मालिकों के रूप में फ़ौरन मछली और शिकार का विनिमय करा देते हैं। विनिमय उस श्रम-काल के अनुपात में होता है, जो इन विनिमय-मूल्यों में लगा होता है। पर इस अवसर पर उनके उदाहरण में यह काल-दोष पैदा हो जाता है कि वह इन लोगों से, जहां तक कि उन्हें अपने औज़ारों का हिसाब लगाना होता है, उन वार्षिकी-सारणियों को इस्तेमाल कराने लगते हैं, जो १८१७ में लंदन-एक्सचेंज में इस्तेमाल हो रही थीं। मालूम होता है कि बुर्जुआ रूप के सिवा रिकार्डो समाज के केवल एक ही और रूप से परिचित थे, और वह था 'मि० ओवेन के समांतर चतुर्भुजों का रूप'।" (Karl Marx, *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, S. 38, 39.)

कम और बहुत साधारण ढंग की हैं, मगर फिर भी उसे कुछ आवश्यकताओं को तो पूरा करना ही पड़ता है, और इसलिए उसे विभिन्न प्रकार के थोड़े से उपयोगी काम भी करने पड़ते हैं, जैसे औज़ार और फ़र्नीचर बनाना, बकरियां पालना, मछली मारना और शिकार करना। बस वह जो भगवान की प्रार्थना या उसी तरह के दूसरे और काम करता है, उनका हमारे हिसाब में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि इन कामों से उसे आनंद प्राप्त होता है और उनको वह अपना मनोरंजन समझता है। इस बात के बावजूद कि उसे तरह-तरह का काम करना पड़ता है, वह जानता है कि उसके श्रम का रूप कुछ भी हो, वह है उसी एक रॉबिन्सन का काम, और इसलिए वह मानव-श्रम के विभिन्न रूपों के सिवा और कुछ नहीं है। आवश्यकता ख़ुद उसे इसके लिए मजबूर कर देती है कि वह अलग-अलग ढंग के कामों में अपना समय ठीक-ठीक बांटे। अपने कुल काम में वह किस तरह के काम को अधिक समय देता है और किसको कम, यह इस बात पर निर्भर करता है कि जिस उपयोगी उद्देश्य को वह उस काम द्वारा प्राप्त करना चाहता है, उसकी प्राप्ति में उसे कितनी कम या ज़्यादा कठिनाइयों पर क़ाबू पाना होगा। यह हमारा मित्र रॉबिन्सन अनुभव से जल्दी ही सीख जाता है और जहाज़ के भग्नावशेष से घड़ी, खाताबही और क़लम तथा रोशनाई निकाल लाने के बाद एक सच्चे अंग्रेज़ की तरह हिसाब-किताब रखना शुरू कर देता है। उसके पास जितनी उपयोगी वस्तुएं हैं, उनकी सूची वह अपनी जमा पण्य की बही में दर्ज कर देता है और यह भी लिख लेता है कि उनके उत्पादन के लिए उसे किस तरह का काम करना पड़ा और इन वस्तुओं की निश्चित मात्राओं के उत्पादन में औसतन कितना श्रम-काल ख़र्च हुआ। रॉबिन्सन और उन तमाम वस्तुओं के बीच, जिनसे उसकी यह ख़ुद पैदा की हुई दौलत तैयार हुई है, जितने भी संबंध हैं, वे सब इतने सरल और स्पष्ट हैं कि मि० सेडली टेलर तक उनको बिना कोई ख़ास मेहनत किये समझ सकते हैं। और फिर भी मूल्य के निर्धारण के लिए जितनी चीज़ों की आवश्यकता है, वे सब इन संबंधों में मौजूद हैं।

आइये, अब हम रॉबिन्सन के सूर्य के प्रकाश से चमचमाते द्वीप को छोड़कर अंधकार के आवरण में ढंके मध्ययुगी यूरोप को चलें। यहां स्वाधीन मनुष्य के स्थान पर हर आदमी पराधीन है। यह कृषि-दासों और सामंतों, अधीन सरदारों और अधिपतियों, जनसाधारण और पादरियों की दुनिया है। यहां व्यक्तिगत पराधीनता उत्पादन के सामाजिक संबंधों की उसी हद तक मुख्य विशेषता है, जिस हद तक कि वह इस उत्पादन के आधार पर संगठित जीवन के अन्य क्षेत्रों की मुख्य विशेषता है। लेकिन यहां चूंकि व्यक्तिगत पराधीनता समाज की बुनियाद है, ठीक इसीलिए श्रम तथा उससे उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं को अपनी वास्तविकता से भिन्न कोई अजीबोग़रीब रूप धारण करने की आवश्यकता नहीं होती। वे समाज के लेनदेन में सेवाओं और वस्तुओं के रूप में भुगतान का रूप धारण कर लेती हैं। यहां श्रम का तात्कालिक सामाजिक रूप उसका सामान्य अमूर्त रूप नहीं है, जैसा कि पण्यों के उत्पादन पर आधारित समाज में होता है, बल्कि श्रम का विशिष्ट और स्वाभाविक रूप ही यहां उसका तात्कालिक सामाजिक रूप है। जिस तरह पण्य पैदा करनेवाले श्रम को समय द्वारा मापा जाता है, उसी तरह बेगार के श्रम को भी मापा जाता है; लेकिन प्रत्येक कृषि-दास जानता है कि अपने सामंत की सेवा में वह जो कुछ ख़र्च कर रहा है, वह उसकी अपनी व्यक्तिगत श्रम-शक्ति की एक निश्चित मात्रा है। आय का जो दसवां हिस्सा पादरी को दे देना पड़ता है, वह उसके आशीर्वाद से ज़्यादा ठोस वास्तविकता होती है। इसलिए इस समाज में अलग-अलग वर्गों के लोगों की भूमिकाओं

के बारे में हमारा जो भी विचार हो, श्रम करनेवाले व्यक्तियों के सामाजिक संबंध हर हालत में उनके आपसी व्यक्तिगत संबंधों के रूप में ही प्रकट होते हैं और उनपर कभी ऐसा पर्दा नहीं पड़ता कि वे श्रम से पैदा होनेवाली वस्तुओं के सामाजिक संबंध प्रतीत होने लगें।

सामूहिक श्रम, अथवा प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध श्रम के किसी उदाहरण का अध्ययन करने के लिए हमें उस स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित रूप की ओर लौटने की आवश्यकता नहीं है, जिससे सभी सभ्य जातियों के इतिहास के प्रवेश-द्वार पर हमारी भेंट होती है।[29] एक उदाहरण हमारे बिल्कुल नज़दीक है। वह उस किसान परिवार के दादापंथी ढंग के धंधों का उदाहरण है, जो अपने घरेलू इस्तेमाल के लिए अनाज, ढोर, सूत, कपड़ा और पोशाक तैयार करता है। जहां तक परिवार का संबंध है, ये विविध वस्तुएं उसके श्रम के उत्पाद हैं, मगर जहां तक इन वस्तुओं के आपसी संबंधों का सवाल है, वे पण्य नहीं हैं। श्रम के वे विभिन्न रूप, जिनसे ये तरह-तरह की वस्तुएं तैयार होती हैं, जैसे खेत जोतना, ढोर पालना, कातना, बुनना और कपड़े सीना, वे सब स्वयं अपने में और अपने वास्तविक रूप में प्रत्यक्ष सामाजिक कार्य हैं। कारण कि वे ऐसे परिवार के कार्य हैं, जिसमें पण्यों के उत्पादन पर आधारित समाज की तरह श्रम-विभाजन की एक स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित प्रणाली पायी जाती है। परिवार के भीतर काम का बंटवारा और उसके अनेक सदस्यों के श्रम-काल का नियमन जिस तरह अलग-अलग मौसम के साथ बदलनेवाली प्राकृतिक परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं, उसी तरह आयु-भेद और लिंग-भेद पर भी निर्भर करते हैं। इस सूरत में प्रत्येक व्यक्ति की श्रम-शक्ति स्वभावतः परिवार की कुल श्रम-शक्ति के एक निश्चित अंश के रूप में ही व्यवहार में आती है, और इसलिए ऐसी हालत में यदि व्यक्तिगत श्रम-शक्ति के व्यय को उसकी अवधि द्वारा मापा जाता है, तो उसका कारण प्रत्येक व्यक्ति के श्रम का सामाजिक स्वरूप ही है।

आइये, अब तनिक परिवर्तन के लिए स्वतंत्र व्यक्तियों के एक ऐसे समाज की कल्पना करें, जिसके सदस्य साझे के उत्पादन के साधनों से काम करते हैं और जिसमें तमाम अलग-अलग व्यक्तियों की श्रम-शक्ति को सचेतन ढंग से समाज की संयुक्त श्रम-शक्ति के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। इस समाज में रॉबिन्सन के श्रम की सारी विलक्षणताएं फिर से दिखायी देती हैं, लेकिन इस अंतर के साथ कि यहां ये व्यक्तिगत न होकर सामाजिक होती हैं। रॉबिन्सन जो कुछ भी पैदा करता था, वह केवल उसके अपने व्यक्तिगत श्रम का फल और इसलिए महज़ उसके अपने इस्तेमाल की चीज़ होता था। हमारे इस समाज की कुल पैदावार सामाजिक होती है। उसका एक हिस्सा उत्पादन के नये साधनों के रूप में काम में आता है और इसलिए सामा-

---

[29] "हाल के कुछ दिनों से यह हास्यास्पद धारणा फैल गयी है कि अपने आदिम रूप में सामूहिक संपत्ति ख़ास तौर पर एक स्लाव रूप है, या यहां तक कहा जाता है कि वह विशुद्ध रूसी रूप है। हम साबित कर सकते हैं कि यह वही आदिम रूप है, जो रोमन, ट्यूटन और कैल्ट लोगों में था और जिसके अनेक उदाहरण ध्वंसावशेषों की शक्ल में ही सही, पर आज भी हिंदुस्तान में मिलते हैं। सामूहिक संपत्ति के एशियाई और विशेषकर हिंदुस्तानी रूपों का अधिक पूर्ण ढंग से अध्ययन यह स्पष्ट कर देगा कि आदिम सामूहिक संपत्ति के विभिन्न रूपों से किस प्रकार उसके भंग होने के अलग-अलग ढंग निकले हैं। मिसाल के लिए, यह साबित किया जा सकता है कि रोमन और ट्यूटन लोगों में पाये जानेवाले निजी संपत्ति के तरह-तरह के मूल रूप हिंदुस्तानी सामूहिक संपत्ति के विभिन्न रूपों के आधार पर समझे जा सकते हैं।" (Karl Marx, *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, S. 10.)

जिक ही बना रहता है। लेकिन एक दूसरे हिस्से का समाज के सदस्य जीवन-निर्वाह के साधनों के रूप में उपभोग करते हैं। चुनांचे इस हिस्से का उनके बीच बंटवारा ग्रावश्यक होता है। इस बंटवारे की पद्धति समाज के उत्पादक संगठन के बदलने के साथ ग्रौर उत्पादकों के ऐतिहासिक विकास की ग्रवस्था के ग्रनुरूप बदलती जायेगी। हम माने लेते हैं – मगर हम पण्यों के उत्पादन के साथ मुक़ाबला करने के लिए ही ऐसा मान रहे हैं – कि जीवन-निर्वाह के साधनों में उत्पादन करनेवाले हर ग्रलग-ग्रलग व्यक्ति का हिस्सा उसके श्रम-काल द्वारा निर्धारित होता है। इस सूरत में श्रम-काल दोहरी भूमिका ग्रदा करेगा। जब एक निश्चित सामाजिक योजना के ग्रनुसार उसका बंटवारा किया जाता है, तब उसके द्वारा ग्रलग-ग्रलग ढंग के कामों तथा समाज की विभिन्न ग्रावश्यकताग्रों के बीच सही ग्रनुपात क़ायम रखा जाता है। दूसरी ग्रोर, वह इस बात की माप का काम भी देता है कि हर व्यक्ति के कंधों पर सम्मिलित श्रम के कितने भाग का भार पड़ा है ग्रौर समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत उपयोग के लिए निश्चित किये गये कुल पैदावार के भाग का हर व्यक्ति को कितना ग्रंश मिलना चाहिए। इस सूरत में उत्पादन करनेवाले ग्रलग-ग्रलग व्यक्तियों के श्रम तथा उनकी पैदा की हुई वस्तुग्रों, इन दोनों दृष्टियों से उनके सामाजिक संबंध ग्रत्यंत सरल ग्रौर सहज ही समझ में ग्रा जानेवाले होते हैं, ग्रौर यह बात न केवल उत्पादन के लिए, बल्कि वितरण के लिए भी सच होती है।

धार्मिक दुनिया वास्तविक दुनिया का प्रतिबिंब मात्र होती है। ग्रौर पण्यों के उत्पादन पर ग्राधारित समाज के लिए, जिसमें उत्पादन करनेवाले लोग ग्राम तौर पर ग्रपने श्रम से उत्पन्न वस्तुग्रों को पण्यों तथा मूल्यों के रूप में इस्तेमाल करके एक दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं ग्रौर इस तरह ग्रपने व्यक्तिगत एवं निजी श्रम को एकरूप मानव-श्रम के मानदंड में परिवर्तित कर देते हैं – ऐसे समाज के लिए ग्रमूर्त मानव को पूजनेवाला ईसाई धर्म, ख़ासकर ग्रपने बुर्जुग्रा रूपों में – प्रोटेस्टेंट मत, तटस्थेश्वरवाद, ग्रादि में – सबसे उपयुक्त धर्म है। उत्पादन की प्राचीन एशियाई प्रणाली तथा ग्रन्य प्राचीन प्रणालियों में हम यह पाते हैं कि उत्पादों के पण्यों में बदल जाने ग्रौर इसलिए मनुष्यों के पण्यों के उत्पादकों में बदल जाने का गौण स्थान होता है, हालांकि जैसे-जैसे ग्रादिम समाज विघटन के ग्रधिकाधिक निकट पहुंचते जाते हैं, वैसे-वैसे इस बात का महत्त्व बढ़ता जाता है। जिनको सचमुच व्यापारी जातियों का नाम दिया जा सकता था, ऐसी जातियां प्राचीन संसार में केवल बीच-बीच की ख़ाली जगहों में ही पायी जाती थीं, जैसे एपिक्यूरस के देवता दो लोकों के बीच के स्थान में रहते थे, या जैसे यहूदी लोग पोलिश समाज के छिद्रों में छिपे रहते थे। बुर्जुग्रा समाज की तुलना में उत्पादन के ये प्राचीन सामाजिक संघटन ग्रत्यंत सरल ग्रौर सहज ही समझ में ग्रा जानेवाले थे। लेकिन उनकी नींव या तो व्यक्तिगत रूप से मनुष्य के ग्रपरिपक्व विकास पर, जिसने कि उस वक़्त तक ग्रपने को उस नाल से मुक्त नहीं किया था, जिसने उसे ग्रादिम क़बीले के समाज के ग्रपने सहयोगी मनुष्यों के साथ बांध रखा था, या पराधीनता के प्रत्यक्ष संबंधों पर टिकी हुई थी। ऐसे सामाजिक संघटन केवल उसी हालत में पैदा हो सकते हैं ग्रौर क़ायम रह सकते हैं, जब श्रम की उत्पादक शक्ति एक निम्न स्तर से ऊपर न उठी हो ग्रौर इसलिए जब मनुष्य तथा मनुष्य के बीच ग्रौर मनुष्य तथा प्रकृति के बीच भौतिक जीवन के क्षेत्र में पाये जानेवाले सामाजिक संबंध उतने ही संकीर्ण हों। यह संकीर्णता प्राचीन प्रकृति-पूजा में तथा लोक-धर्मों के ग्रन्य तत्त्वों में प्रतिबिंबित हुई है। वास्तविक दुनिया के धार्मिक प्रतिबिंब का बहरहाल केवल उसी समय ग्रंतिम रूप में लोप होगा, जब रोज़मर्रा के जीवन के व्यावहारिक संबंधों में मनुष्य को

अपने सहयोगी मनुष्यों तथा प्रकृति के साथ सहज ही समझ में आ जानेवाले तथा युक्तिसंगत संबंधों के सिवा और किसी प्रकार के संबंधों का सामना नहीं करना पड़ेगा।

समाज की जीवन-प्रक्रिया भौतिक उत्पादन की प्रक्रिया पर आधारित होती है। उसके ऊपर पड़ा हुआ रहस्य का आवरण उस समय तक नहीं हटता, जब तक कि वह स्वतंत्र रूप से संबद्ध मनुष्यों द्वारा किया जानेवाला उत्पादन नहीं बन जाती और जब तक कि एक निश्चित योजना के अनुसार उसका सचेतन ढंग से नियमन नहीं किया जाता। लेकिन इसके लिए ज़रूरी है कि समाज के पास एक ख़ास तरह की भौतिक बुनियाद या अस्तित्व की विशेष प्रकार की भौतिक परिस्थितियां हों, जो ख़ुद विकास की एक लंबी और कष्टदायक प्रक्रिया का ही स्वयंस्फूर्त फल होती हैं।

यह सच है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र ने मूल्य तथा उसके परिमाण का विश्लेषण किया है, भले ही वह कितना भी अपूर्ण क्यों न हो,[30] और यह पता लगाया है कि इन रूपों के पीछे क्या

---

[30] मूल्य के परिमाण का रिकार्डो ने जो विश्लेषण किया है—और उन्होंने सबसे अच्छा विश्लेषण किया है—उसकी अपर्याप्तता इस रचना की तीसरी और चौथी पुस्तकों में ज़ाहिर होगी। जहां तक आम तौर पर मूल्य का संबंध है, राजनीतिक अर्थशास्त्र की क्लासिकीय धारा की कमज़ोरी यह है कि उसने कहीं पर भी साफ़-साफ़ और पूर्णतः सचेतन ढंग से श्रम के दो रूपों का अंतर नहीं दिखाया है—एक वह रूप, जब श्रम किसी उत्पाद के मूल्य में प्रकट होता है, और दूसरा वह, जब वही श्रम उस उत्पाद के उपयोग-मूल्य में प्रकट होता है। व्यवहार में, ज़ाहिर है, यह भेद किया जाता है, क्योंकि यह धारा यदि एक समय श्रम के परिमाणात्मक पहलू पर विचार करती है, तो दूसरे समय उसके गुणात्मक पहलू को लेती है। लेकिन इसका उसे तनिक भी आभास नहीं है कि जब श्रम के विभिन्न प्रकारों के बीच केवल परिमाणात्मक अंतर देखा जाता है, तब उनकी गुणात्मक एकता अथवा समानता पहले से ही मान ली जाती है और इसलिए उनको पहले से ही अमूर्त मानव-श्रम में बदल दिया जाता है। उदाहरण के लिए, रिकार्डो ने कहा है कि वह देस्तु दे त्रासी की इस स्थापना से सहमत हैं कि "यह बात चूंकि निश्चित है कि हमारी मूल संपत्ति केवल हमारी शारीरिक और मानसिक क्षमताएं ही हैं, इसलिए इन क्षमताओं का प्रयोग, किसी न किसी प्रकार का श्रम, हमारा एकमात्र मूल कोष है, और वे तमाम वस्तुएं, जिनको हम धन कहते हैं, सदा इस प्रयोग से ही पैदा होती हैं... यह बात भी निश्चित है कि ये सब वस्तुएं केवल उस श्रम का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिसने उनको पैदा किया है, और यदि उनका कोई मूल्य है या यदि उनके दो अलग-अलग ढंग के मूल्य भी हैं, तो वे केवल उस श्रम के मूल्य से ही निकले हैं, जिससे ये वस्तुएं निकली हैं।" (Ricardo, *The Principles of Political Economy*, 3rd Ed., London, 1821, p. 334.) हम यहां पर केवल यही कह सकते हैं कि रिकार्डो ने देस्तु के शब्दों को ख़ुद अपनी, अधिक गूढ़, व्याख्या पहना दी है। देस्तु सचमुच जितनी बात कहते हैं, वह यह है कि एक तरफ़ तो धन कहलानेवाली तमाम चीज़ें उस श्रम का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिसने उनको पैदा किया है, लेकिन, दूसरी तरफ़, वे अपने "दो अलग-अलग ढंग के मूल्यों" (उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य) को "श्रम के मूल्य से" प्राप्त करती हैं। इस प्रकार वह उन सतही राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की आम भद्दी ग़लती को ही दोहराते हैं, जो बाक़ी पण्यों का मूल्य निर्धारित करने के लिए एक पण्य का (यहां पर श्रम का) ख़ुद कुछ मूल्य मान लेते हैं। लेकिन रिकार्डो देस्तु के शब्दों को इस तरह पढ़ते हैं, जैसे उन्होंने यह कहा हो कि श्रम (न कि श्रम का मूल्य) उपयोग-मूल्य तथा विनिमय-मूल्य दोनों में निहित होता है। फिर भी रिकार्डो ने ख़ुद श्रम के दोहरे स्वरूप की ओर, जो दोहरे ढंग से मूर्त रूप प्राप्त करता है, इतना कम ध्यान दिया है कि अपनी *Value and Riches, Their Distinctive Properties* शीर्षक कृति

छिपा है। लेकिन राजनीतिक अर्थशास्त्र ने यह सवाल एक बार भी नहीं उठाया है कि श्रम का प्रतिनिधित्व उसके उत्पाद का मूल्य और श्रम-काल का प्रतिनिधित्व उस मूल्य का परिमाण क्यों करते हैं।[31] जिन सूत्रों पर साफ़ तौर पर इस बात की छाप देखी जा सकती है कि वे समाज की एक ऐसी अवस्था से संबंध रखते हैं, जिसमें उत्पादन की क्रिया मनुष्य द्वारा नियंत्रित होने के बजाय उसके ऊपर शासन करती है – ये सूत्र बुर्जुआ बुद्धि को प्रकृति द्वारा अनिवार्य बना दी गयी वैसी ही स्वतःस्पष्ट आवश्यकता लगते हैं, जैसी आवश्यकता ख़ुद उत्पादक श्रम है।

का पूरा अध्याय उन्होंने जे० बी० सेय जैसे व्यक्ति की तुच्छ बातों की श्रमपूर्ण समीक्षा करने में ख़र्च कर डाला, और उसके अंत में उनको यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ है कि देस्तु एक ओर तो उनसे इस बात में सहमत हैं कि मूल्य का स्रोत श्रम है, और दूसरी ओर, वह मूल्य की धारणा के संबंध में जे० बी० सेय से सहमत हैं।

[31] क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र की यह एक मुख्य कमज़ोरी है कि पण्यों के और, ख़ास तौर पर, उनके मूल्य के विश्लेषण द्वारा वह कभी यह नहीं पता लगा पाया है कि मूल्य किस रूप के अंतर्गत विनिमय-मूल्य बन जाता है। यहां तक कि ऐडम स्मिथ और रिकार्डो भी, जो कि इस धारा के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं, मूल्य के रूप को महत्त्वहीन चीज़ समझते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में पण्यों के मौलिक स्वभाव से उसका कोई संबंध नहीं है। इसका केवल यही कारण नहीं है कि उनका सारा ध्यान महज़ मूल्य के परिमाण के विश्लेषण पर केंद्रित हो गया है। इसका असली कारण और गहरा है। श्रम के उत्पाद का मूल्य-रूप उसका न केवल सबसे अमूर्त रूप है, बल्कि बुर्जुआ उत्पादन के अंतर्गत वह उस उत्पाद का सबसे अधिक सार्विक रूप भी है, और यह रूप इस उत्पादन को सामाजिक उत्पादन की एक ख़ास क़िस्म बना देता है और इस प्रकार उसे उसका विशिष्ट ऐतिहासिक स्वरूप प्रदान कर देता है। अतएव, यदि फिर हम उत्पादन की इस विधि को एक ऐसी विधि समझ बैठते हैं, जिसे प्रकृति ने समाज की प्रत्येक अवस्था के लिए सदा-सदा के लिए निश्चित कर दिया है, तो हम लाज़िमी तौर पर उन गुणों को अनदेखा कर जाते हैं, जो मूल्य-रूप के और इसलिए पण्य-रूप के तथा उसके और विकसित रूपों के – यानी द्रव्य-रूप और पूंजी-रूप, आदि – के विशिष्ट एवं भेदकारक गुण हैं। फलतः हम पाते हैं कि उन अर्थशास्त्रियों में, जो इस बात से पूरी तरह से सहमत हैं कि मूल्य के परिमाण का मापदंड श्रम-काल है, द्रव्य के विषय में, जो कि सार्विक समतुल्य का पूर्णतया विकसित रूप है, बहुत ही अजीबोग़रीब और परस्पर विरोधी विचार पाये जाते हैं। यह बात उस वक़्त बहुत उग्र रूप से सामने आती है, जब वे बैंकों के कारोबार पर विचार करना आरंभ करते हैं, जहां द्रव्य की साधारण परिभाषाओं से तनिक भी काम नहीं चलता। इसी से एक नयी वाणिज्यवादी प्रणाली (गानिल्ह, आदि) का जन्म हुआ है, जो मूल्य में एक सामाजिक रूप के सिवा – या कहना चाहिए कि उस रूप के अमूर्त प्रेत के सिवा – और कुछ नहीं देखती। यहां पर मैं साफ़ और दो टूक तौर पर यह बता दूं कि क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र से मेरा मतलब उस राजनीतिक अर्थशास्त्र से है, जिसने डब्लयू० पैटी के समय से ही बुर्जुआ समाज में पाये जानेवाले उत्पादन के वास्तविक संबंधों की छानबीन की है, जो सतही राजनीतिक अर्थशास्त्र नहीं करता है। सतही राजनीतिक अर्थशास्त्र केवल सतही बातों का अध्ययन करता है। वह अनवरत उसी सामग्री की जुगाली किया करता है, जिसे वैज्ञानिक राजनीतिक अर्थशास्त्र ने बहुत पहले प्रस्तुत कर दिया था, और इस सामग्री में वह अति स्पष्ट घटनाओं के ऊपर से युक्तिसंगत प्रतीत होनेवाले स्पष्टीकरण की तलाश किया करता है, ताकि वह पूंजीपतियों के रोज़मर्रा के इस्तेमाल में आ सके। मगर इसके अलावा उसका काम बस यही रहता है कि आत्मसंतुष्ट बुर्जुआ वर्ग की दुनिया के बारे में, जिसे यह वर्ग सभी संभव दुनियाओं से अच्छी समझता है, इस वर्ग के घटिया क़िस्म के घिसे-पिटे विचारों को बड़े पण्डिताऊ ढंग से सुनियोजित विचारधारा के रूप में पेश कर दे और उन्हें चिरंतन सत्य घोषित करे।

अतएव सामाजिक उत्पादन के बुर्जुआ रूप के पहले उसके जो रूप आ चुके हैं, उनके साथ बुर्जुआ वर्ग कुछ-कुछ वैसा ही व्यवहार करता है, जैसा ईसाई धर्म के सर्वेसर्वा ईसाई धर्म से पहले के धर्मों के साथ करते थे।[32]

---

[32] "अर्थशास्त्रियों का तर्क-वितर्क अजीब ढंग का होता है। उनके लिए केवल दो प्रकार की ही संस्थाएं हैं: बनावटी संस्थाएं और प्राकृतिक संस्थाएं। सामंती संस्थाएं बनावटी संस्थाएं हैं, बुर्जुआ संस्थाएं प्राकृतिक संस्थाएं हैं। इस बात में वे धर्मशास्त्रियों से मिलते हैं। वे लोग भी दो प्रकार के धर्म मानते हैं। उनके अपने धर्म को छोड़कर उनकी दृष्टि में बाक़ी हर धर्म मनुष्यों की मनगढ़ंत है, जब कि अपने धर्म के बारे में वे समझते हैं कि वह ईश्वर से उद्‌भूत हुआ है।– मतलब यह कि अभी तक तो इतिहास का क्रम चल रहा था, पर हमारे साथ संपूर्ण हो गया है।" (Karl Marx, *Misère de la Philosophie. Réponse à la Philosophie de la Misère par M. Proudhon*, 1847, p. 113.) मि० बस्तिया के हाल पर सचमुच हंसी आती है। उनका ख़याल है कि प्राचीन काल में यूनानी और रोमन लोग केवल लूट-मार के सहारे ही जीवन बसर करते थे। लेकिन जब लोग सदियों तक लूट-मार करते हैं, तो कोई ऐसी चीज़ हमेशा होनी चाहिए, जिसे वे लूट सकें; लूट-मार की चीज़ों का लगातार पुनरुत्पादन होते रहना चाहिए। परिणामतः इससे ऐसा लगेगा कि यूनानियों और रोमनों के यहां भी उत्पादन की कोई क्रिया थी। चुनांचे उनके यहां कोई अर्थव्यवस्था भी रही होगी, और जिस प्रकार बुर्जुआ अर्थव्यवस्था हमारी आधुनिक दुनिया का भौतिक आधार है, उसी प्रकार वह अर्थव्यवस्था यूनानियों और रोमनों की दुनिया का भौतिक आधार रही होगी। या शायद बस्तिया के कथन का अर्थ यह है कि दास-प्रथा पर आधारित उत्पादन-विधि लूट-मार की प्रणाली पर आधारित होती है? यदि यह बात है, तो बस्तिया ख़तरनाक ज़मीन पर पांव रख रहे हैं। यदि अरस्तू जैसा महान विचारक दासों के श्रम को समझने में ग़लती कर गया, तो फिर बस्तिया जैसा बौना अर्थशास्त्री मज़दूरी लेकर काम करनेवाले मज़दूरों के श्रम को कैसे सही तौर पर समझ सकता है? मैं इस अवसर से लाभ उठाकर अमरीका में प्रकाशित एक जर्मन पत्र के उस एतराज़ का संक्षेप में जवाब दे देना चाहता हूं, जो उसने मेरी रचना *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, 1859 पर किया है। मेरा मत है कि प्रत्येक विशिष्ट उत्पादन-प्रणाली और उसके अनुरूप सामाजिक संबंध, या संक्षेप में कहिये, तो समाज का आर्थिक ढांचा ही वह वास्तविक आधार होता है, जिसपर क़ानूनी एवं राजनीतिक ऊपरी ढांचा खड़ा किया जाता है और जिसके अनुरूप चिंतन के भी कुछ निश्चित सामाजिक रूप होते हैं; मेरा मत है कि उत्पादन की प्रणाली आम तौर पर सामाजिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक जीवन के स्वरूप को निर्धारित करती है। इस पत्र की राय में, मेरा यह मत हमारे अपने ज़माने के लिए तो बहुत सही है, क्योंकि उसमें भौतिक स्वार्थों का बोलबाला है, लेकिन वह मध्य युग के लिए सही नहीं है, जिसमें कैथोलिक धर्म का बोलबाला था, और वह एथेंस और रोम के लिए भी सही नहीं है, जहां राजनीति का ही डंका बजता था। अब सबसे पहले तो किसी का यह सोचना सचमुच बड़ा अजीब लगता है कि मध्य युग और प्राचीन संसार के बारे में ये पिटी-पिटायी बातें किसी दूसरे को मालूम नहीं हैं। बहरहाल इतनी बात तो स्पष्ट है कि मध्य युग के लोग केवल कैथोलिक धर्म के सहारे या प्राचीन संसार के लोग केवल राजनीति के सहारे ज़िंदा नहीं रह सकते थे। इसके विपरीत, उनके जीविका कमाने के ढंग से ही यह बात साफ़ हो जाती है कि क्यों एक काल में राजनीति की और दूसरे काल में कैथोलिक धर्म की भूमिका प्रधान थी। जहां तक बाक़ी बातों का संबंध है, तो, उदाहरण के लिए, रोमन गणतंत्र के इतिहास की मामूली जानकारी भी यह जानने के लिए काफ़ी है कि रोमन गणतंत्र का गुप्त इतिहास वास्तव में उसकी भूसंपत्ति का इतिहास है। दूसरी ओर, डॉन क्विकज़ोट बहुत पहले अपनी इस ग़लत समझ का ख़मियाज़ा अदा कर चुका है कि मध्य युग के सूरमा-सरदारों जैसा आचरण समाज के सभी आर्थिक रूपों से मेल खा सकता है।

पण्यों में जो जड़-पूजा निहित है या श्रम के सामाजिक गुण जिस वस्तुपरक रूप में प्रकट होते हैं, उसने कुछ अर्थशास्त्रियों को किस बुरी तरह भटका दिया है, इसका कुछ अनुमान अन्य बातों के अलावा उस नीरस और थका देनेवाली बहस से लग सकता है, जो इस विषय को लेकर चल रही है कि विनिमय-मूल्य के निर्माण में प्रकृति का कितना हाथ है। विनिमय-मूल्य चूंकि किसी भी वस्तु में लगाये गये श्रम की मात्रा को व्यक्त करने का एक ख़ास सामाजिक ढंग होता है, इसलिए प्रकृति का उससे ठीक उसी प्रकार कोई संबंध नहीं होता, जिस प्रकार उसका विनिमय के क्रम को निश्चित करने से कोई संबंध नहीं होता।

उत्पादन की वह प्रणाली, जिसमें उत्पाद पण्य का रूप धारण कर लेता है या जिसमें उत्पाद सीधे विनिमय करने के लिए पैदा किया जाता है, बुर्जुआ उत्पादन का सबसे अधिक सामान्य और सबसे कम विकसित रूप है। इसलिए वह इतिहास के बहुत शुरू के दिनों में ही दिखायी देने लगती है, हालांकि उस वक़्त वह आजकल की तरह इतने ज़ोरदार एवं ठेठ रूप में सामने नहीं आती है। अतएव उस ज़माने में उसके साथ जुड़ी हुई जड़-पूजा को अपेक्षाकृत अधिक आसानी से समझा जा सकता है। लेकिन जब हम अधिक ठोस रूपों पर आते हैं, तो यह दिखावटी सरलता भी ग़ायब हो जाती है। द्रव्य-प्रणाली की भ्रांतियां कहां से पैदा हुईं? इस प्रणाली के अनुसार जब सोना और चांदी द्रव्य का काम करते हैं, तो वे उत्पादकों के बीच किसी सामाजिक संबंध का प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि कुछ अजीबोग़रीब सामाजिक गुण रखनेवाली प्राकृतिक वस्तुओं के रूप में सामने आते हैं। और आधुनिक राजनीतिक अर्थशास्त्र को भी ले लीजिये, जो द्रव्य-प्रणाली कोबहुत तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। जब कभी वह पूंजी पर विचार करने बैठता है, तब उसका अंधविश्वास क्या दिन के प्रकाश की तरह स्पष्ट नहीं हो जाता? राजनीतिक अर्थशास्त्र को इस फ़िज़ियोक्रैटिक भ्रांति से छुटकारा पाये हुए भी अभी कितने दिन हुए हैं कि किराये का उद्भव-स्रोत समाज नहीं, बल्कि धरती है?

जो बात आगे आनेवाली है, उसकी अभी से चर्चा किये बिना हम पण्य-रूप से संबंध रखनेवाला केवल एक उदाहरण और देकर संतोष कर लेंगे। यदि पण्य ख़ुद बोल पाते, तो वे कहते: हमारे उपयोग-मूल्य में इनसानों को दिलचस्पी हो सकती है, पर वस्तुओं के रूप में वह हमारा अंश नहीं है। वस्तुओं के रूप में हमारा अंश हमारा मूल्य है। पण्यों के रूप में हमारा स्वाभाविक आदान-प्रदान इस बात का प्रमाण है। एक दूसरे की दृष्टि में हम विनिमय-मूल्यों के सिवा और कुछ नहीं हैं। और अब ज़रा सुनिये कि ये ही पण्य अर्थशास्त्रियों के मुख से किस तरह बोलते हैं। "मूल्य" (अर्थात् विनिमय-मूल्य) "चीज़ों का गुण होता है, और धन-संपदा" (अर्थात् उपयोग-मूल्य) "मनुष्यों का। इस अर्थ में मूल्य का लाज़िमी तौर पर मतलब होता है विनिमय, किंतु धन-संपदा का यह मतलब नहीं होता।"[33] "धन-संपदा" (उपयोग-मूल्य) "मनुष्यों का गुण है और मूल्य पण्यों का गुण है। मनुष्य या समाज धनी होता है, और मोती या हीरा मूल्यवान होता है... मोती या हीरा" मोती या हीरे के रूप में "मूल्यवान होता है।"[34] अभी तक किसी रसायनवेत्ता ने न तो मोती में विनिमय-मूल्य खोजा है और न ही हीरे में। लेकिन इस रासायनिक तत्त्व के आर्थिक आविष्कारक, जो प्रसंगतः आलोचना के क्षेत्र में बड़ी

---

[33] *Observations on Certain Verbal Disputes in Political Economy, Particularly Relating to Value, and to Demand and Supply*, London, 1821, p. 16.

[34] S. Bailey, *A Critical Dissertation on the Nature etc. of Value*, p. 165.

सूक्ष्म दृष्टि रखने का दावा करते हैं, पाते हैं कि वस्तुओं में उपयोग-मूल्य उनके भौतिक गुणों से स्वतंत्र होता है, जब कि उनका मूल्य, इसके विपरीत वस्तुओं के रूप में उनका एक अंश होता है। जो बात उनके इस विचार को और पक्का कर देती है, वह यह विचित्र तथ्य है कि वस्तुओं का उपयोग-मूल्य विनिमय के बिना ही मनुष्य के साथ इन वस्तुओं के सीधे संबंध के ज़रिये प्रत्यक्ष रूप में सामने आ जाता है, जब कि दूसरी तरफ़, उनका मूल्य केवल विनिमय के द्वारा, अर्थात् एक सामाजिक प्रक्रिया के ज़रिये ही, प्रत्यक्षतः सम्मुख आता है। इस संबंध में हमारे भले मित्र डोगबेरी की किसको याद न आयेगी, जिसने अपने पड़ोसी सीकोल से कहा था कि "सुंदरता भाग्य की देन होती है, पर लिखना-पढ़ना प्रकृति से मिलता है।"[35]

---

[35] *Observations* के लेखक और एस० बेली ने रिकार्डो पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने विनिमय-मूल्य को सापेक्ष से निरपेक्ष चीज़ में बदल दिया है। सचाई इसके विपरीत है। रिकार्डो ने वस्तुओं के बीच, जैसे हीरों और मोतियों के बीच, जो प्रकट संबंध होता है, यानी जिस संबंध में वस्तुएं विनिमय-मूल्यों के रूप में सामने आती हैं, उसका स्पष्टीकरण किया है और इस आभासी संबंध के पीछे छिपे हुए असली संबंध को खोलकर बताया है कि यह केवल मानव-श्रम की अभिव्यंजनाओं का संबंध है। यदि रिकार्डो के अनुयायियों ने बेली को किसी क़दर कठोर उत्तर दिया है और फिर भी वे उनको समुचित उत्तर नहीं दे पाये हैं, तो इसका कारण हमें इस बात में खोजना चाहिए कि इन लोगों को रिकार्डो की ही रचनाओं में कोई ऐसी कुंजी नहीं मिल सकी थी, जिससे वे मूल्य तथा उसके रूप – विनिमय-मूल्य – के बीच विद्यमान गुप्त संबंधों को समझ पाते।

अध्याय २

विनिमय

यह बात साफ़ है कि पण्य ख़ुद मंडी में जाकर अपने आप अपना विनिमय नहीं कर सकते। इसलिए इस मामले में हमें उनके संरक्षकों का सहारा लेना होगा, जो कि उनके मालिक भी होते हैं। पण्य वस्तु होते हैं, और इसलिए उनमें मनुष्य का प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं होती। यदि उनमें नम्रता का अभाव हो, तो मनुष्य बल-प्रयोग कर सकता है; दूसरे शब्दों में, वह ज़बर्दस्ती उनपर अधिकार कर सकता है।[36] इसलिए कि इन वस्तुओं के बीच पण्यों के रूप में संबंध स्थापित हो सके, यह ज़रूरी है कि उनके संरक्षक ऐसे व्यक्तियों के रूप में एक दूसरे के साथ संबंध स्थापित करें, जिनकी इच्छा इन वस्तुओं में निवास करती हो, और इस तरह का व्यवहार करें कि उनमें से किसी को भी पारस्परिक रज़ामंदी से की हुई कार्रवाई के सिवा और किसी तरह दूसरे का पण्य हथियाने अथवा अपने पण्य से हाथ धोने का मौक़ा न मिले। अतः पण्यों के संरक्षकों को एक दूसरे के निजी स्वामित्व के अधिकार को मानना पड़ेगा। यह क़ानूनी संबंध, जो इस प्रकार अपने को एक समझौते के रूप में व्यक्त करता है– चाहे वह समझौता किसी विकसित क़ानूनी प्रणाली का अंग हो या न हो– दो इच्छाओं का संबंध होता है, और वह उन दोनों के वास्तविक आर्थिक संबंध का प्रतिबिंब मात्र ही होता है। यह आर्थिक संबंध ही प्रत्येक ऐसी क़ानूनी कार्रवाई की विषय-वस्तु को निर्धारित करता है।[37]

---

[36] १२वीं सदी में, जो कि अपनी धर्मभीरु वृत्ति के लिए विख्यात थी, कुछ बहुत ही नाज़ुक चीज़ें भी पण्यों में गिनी जाती थीं। चुनांचे उस काल के एक फ़ांसीसी कवि ने लांदी की मंडी में मिलनेवाले मालों में न सिर्फ़ कपड़े, जूते, चमड़ा, खेती के औज़ार, आदि गिनाये हैं, बल्कि “femmes folles de leur corps” [“वेश्याओं”] का भी ज़िक्र किया है।

[37] प्रूदों शाश्वत न्याय की, justice éternelle की अपनी कल्पना को पण्यों के उत्पादन से मेल खानेवाले क़ानूनी संबंधों से लेने से शुरू करते हैं। कहा जा सकता है कि इस तरह वह साबित कर देते हैं– और इससे सभी भले नागरिकों को बड़ी सांत्वना भी मिलती है– कि पण्यों का उत्पादन उत्पादन का उतना ही शाश्वत रूप है, जितना शाश्वत न्याय है। उसके बाद वह पलटकर पण्यों के वास्तविक उत्पादन में और उससे मेल खानेवाली क़ानूनी व्यवस्था में अपनी इस कल्पना के अनुसार सुधार करना चाहते हैं। उस रसायनशास्त्री के बारे में हमारी क्या राय होगी, जो पदार्थ की रचना और विघटन में आणविक परिवर्तनों के वास्तविक नियमों का अध्ययन करने और उसकी बुनियाद पर निश्चित समस्याओं को हल करने के बजाय “स्वाभाविकता” और “बंधुता” के “शाश्वत विचारों” की सहायता से पदार्थ की रचना और विघटन का नियमन करने का दावा करता है? जब हम कहते हैं कि सूदख़ोरी “justice éternelle” [“शाश्वत न्याय”], “équité éternelle” [“शाश्वत साम्य”], “mutualité éternelle” [“शाश्वत पारस्परिकता”] और अन्य “vérités éternelles” [“शाश्वत

व्यक्तियों का एक दूसरे के लिए केवल पण्यों के प्रतिनिधियों के रूप में और इसलिए पण्यों के मालिकों के रूप में अस्तित्व होता है। अपनी खोज के दौरान हम आम तौर पर पायेंगे कि आर्थिक रंगमंच पर आनेवाले पात्र केवल उनके बीच पाये जानेवाले आर्थिक संबंधों के ही साकार रूप होते हैं।

किसी पण्य और उसके मालिक में प्रमुख अंतर यह होता है कि पण्य दूसरे हर पण्य को ख़ुद अपने मूल्य के अभिव्यक्त होने का रूप मात्र समझता है। पण्य जन्म से ही हर प्रकार की ऊंच-नीच को बराबर करता चलता है और सर्वथा आस्थाहीन होता है। वह न केवल अपनी आत्मा का, बल्कि अपने शरीर तक का किसी भी दूसरे पण्य के साथ विनिमय करने को सदा तैयार रहता है, भले ही वह पण्य ख़ुद मारितोर्नेस से भी ज़्यादा घिनौना क्यों न हो। पण्य में यथार्थ को पहचानने की क्षमता के इस अभाव को उस पण्य का मालिक अपनी पांच या इससे भी अधिक ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पूरा कर देता है। ख़ुद उसके लिए अपने पण्य का कोई तात्कालिक उपयोग-मूल्य नहीं होता। अन्यथा वह उसे मंडी में लेकर न आता। उसका दूसरों के लिए उपयोग-मूल्य होता है, लेकिन ख़ुद अपने मालिक के लिए उसका केवल यही प्रत्यक्ष उपयोग-मूल्य होता है कि वह विनिमय-मूल्य का आधान और इसलिए विनिमय का साधन होता है।[38] चुनांचे पण्य का मालिक तय कर लेता है कि वह अपने पण्य का ऐसे पण्यों से विनिमय करेगा, जिनका उपयोग-मूल्य उसके काम आ सकता है। सभी पण्यों के बारे में यह बात सच है कि वे अपने मालिकों के लिए उपयोग-मूल्य नहीं होते, और जो उनके मालिक नहीं हैं, उनके लिए वे उपयोग-मूल्य होते हैं। चुनांचे सभी पण्यों के लिए ज़रूरी है कि वे एक के हाथ से दूसरे के हाथ में जायें। लेकिन एक के हाथ से दूसरे के हाथ में जाना ही तो विनिमय है, और वह विनिमय मूल्यों के रूप में उनका एक दूसरे के साथ संबंध स्थापित कर देता है और पण्यों को मूल्यों के रूप में व्यवहार में आने का अवसर देता है। इसलिए पण्यों के उपयोग-मूल्यों के रूप में व्यवहार में आने के पहले यह ज़रूरी है कि वे मूल्यों के रूप में व्यवहार में आयें।

दूसरी ओर, पण्यों के मूल्यों के रूप में व्यवहार में आने के पहले उनका यह ज़ाहिर करना ज़रूरी है कि वे उपयोग-मूल्य हैं। कारण कि उनपर ख़र्च किये गये श्रम का महत्त्व केवल उसी हद तक होता है, जिस हद तक कि वह ऐसे ढंग से ख़र्च किया जाता है, जो दूसरों के लिए उपयोगी हो। वह श्रम दूसरों के लिए उपयोगी है या नहीं और चुनांचे उससे पैदा होनेवाली वस्तु दूसरों की आवश्यकताओं को पूरा करने की योग्यता रखती है या नहीं, यह केवल विनिमय-कार्य द्वारा ही सिद्ध हो सकता है।

सत्यों"] के ख़िलाफ़ है, तब क्या हमें सूदख़ोरी के बारे में सचमुच उससे कुछ अधिक जानकारी प्राप्त हो जाती है, जो धर्मगुरुओं को प्राप्त थी, जब उन्होंने कहा था कि सूदख़ोरी "grâce éternelle", "foi éternelle" ["शाश्वत अनुकंपा", "शाश्वत विश्वास"] और "volonté éternelle de Dieu ["भगवान की शाश्वत इच्छा"] के प्रतिकूल है?

[38] "कारण कि हर वस्तु का दोहरा उपयोग होता है... एक उपयोग ख़ुद उस वस्तु की विशेषता होता है, दूसरा नहीं; जैसे कि चप्पल पहनी जा सकती है और उसका विनिमय भी किया जा सकता है। ये दोनों चप्पल के ही उपयोग हैं, क्योंकि जो आदमी उस द्रव्य या अनाज के साथ चप्पल का विनिमय करता है, जिसकी उसे ज़रूरत होती है, वह भी चप्पल का चप्पल के रूप में ही उपयोग करता है। लेकिन वह प्राकृतिक ढंग से उसका उपयोग नहीं करता। कारण कि चप्पल विनिमय करने के लिए नहीं बनायी गयी थी।" (Aristoteles, *De Republica*, खंड १, अध्याय ९)।

पण्य का प्रत्येक मालिक केवल ऐसे पण्यों से उसका विनिमय करना चाहता है, जिनके उपयोग-मूल्य से उसकी कोई आवश्यकता पूरी होती हो। इस दृष्टि से विनिमय उस के लिए केवल एक निजी सौदा होता है। दूसरी ओर, वह चाहता है कि उसके पण्य के मूल्य को मूर्त रूप प्राप्त हो, यानी वह समान मूल्य के किसी अन्य उपयुक्त पण्य में बदल जाये, भले ही दूसरे पण्य के मालिक के लिए उसके अपने पण्य का कोई उपयोग-मूल्य हो या न हो। इस दृष्टि से विनिमय उसके लिए एक सामान्य ढंग का सामाजिक सौदा होता है। लेकिन यह नहीं हो सकता कि सौदों की कोई एक ही तरतीब पण्यों के सभी मालिकों के लिए एक ही समय में विशुद्ध निजी चीज़ भी हो और विशुद्ध सामाजिक एवं सामान्य चीज़ भी।

आइये, इस मामले की थोड़ी और गहराई में जायें। किसी भी पण्य के मालिक के लिए दूसरा हर पण्य उसके अपने पण्य का एक विशिष्ट समतुल्य होता है और इसलिए ख़ुद उसका पण्य बाक़ी सब पण्यों का सार्विक समतुल्य होता है। लेकिन चूंकि यह बात हर मालिक पर लागू होती है, इसलिए वास्तव में कोई पण्य सार्विक समतुल्य का काम नहीं करता और पण्यों के सापेक्ष मूल्य का कोई ऐसा सामान्य रूप नहीं होता, जिसमें उनको मूल्यों के रूप में बराबर किया जा सके और उनके मूल्यों के परिमाण का मुक़ाबला किया जा सके। इसलिए अभी तक पण्य पण्यों के रूप में एक दूसरे का सामना नहीं करते, बल्कि केवल उत्पाद के रूप में या उपयोग-मूल्यों के रूप में एक दूसरे के सामने आते हैं।

इस कठिनाई के पैदा होने पर हमारे पण्यों के मालिक फ़ाउस्ट की तरह सोचते हैं कि "Im Anfang war die That" ["शुरूआत अमल से हुई थी"]। चुनांचे उन्होंने सोचने के पहले अमल किया और सौदा कर डाला। पण्यों का स्वभाव जिन नियमों को अनिवार्य बना देता है, उनका वे सहज प्रवृत्ति से पालन करते हैं। अपने पण्यों का मूल्यों के रूप में और इसलिए पण्यों के रूप में एक दूसरे के साथ संबंध स्थापित करने का उनके सामने सिर्फ़ यही एक तरीक़ा है कि अपने पण्यों का सार्विक समतुल्य के रूप में किसी और पण्य के साथ मुक़ाबला करें। यह बात हम पण्य के विश्लेषण से जान चुके हैं। लेकिन कोई ख़ास पण्य केवल एक सामाजिक कार्रवाई से ही सार्विक समतुल्य बन सकता है। इसलिए बाक़ी सब पण्यों की सामाजिक कार्रवाई उस ख़ास पण्य को अलग कर देती है, जिसके रूप में वे सब अपने मूल्यों को व्यक्त करते हैं। चुनांचे इस पण्य का भौतिक रूप सामाजिक तौर पर मान्य सार्विक समतुल्य का रूप बन जाता है। इस सामाजिक क्रिया के परिणामस्वरूप सार्विक समतुल्य होना उस पण्य का ख़ास काम बन जाता है, जिसे बाक़ी पण्य इस तरह अपने से अलग कर देते हैं। इस प्रकार वह पण्य द्रव्य बन जाता है। "इनका एक सा दिमाग़ होता है और वे सब अपनी शक्ति और अपना अधिकार हैवान को सौंप देंगे।" "और सिवाय उसके, जिसके ऊपर हैवान का निशान होगा या जिसके पास उसका नाम या उसके नाम का हिन्दसा होगा, और कोई न तो ख़रीद पायेगा और न बेच पायेगा।"–अपोकलिप्स, अध्याय १७, १३।

द्रव्य एक ऐसा स्फटिक है, जिसका विनिमयों की क्रिया के दौरान अनिवार्य रूप से निर्माण हो जाता है और जिसके द्वारा श्रम से पैदा होनेवाली अलग-अलग वस्तुओं का व्यावहारिक रूप में एक दूसरे के साथ समीकरण किया जाता है और इस तरह उनको व्यवहार में पण्यों में बदल दिया जाता है। पण्यों में उपयोग-मूल्य और मूल्य का जो विरोध छिपा रहता है, उसे विनिमयों की ऐतिहासिक प्रगति और उनका विस्तार विकसित करता है। व्यापारिक आदान-प्रदान के

लिए इस विरोध को चूंकि बाह्य रूप से अभिव्यक्त करना जरूरी होता है, इसलिए मूल्य के एक स्वतंत्र रूप की स्थापना की आवश्यकता बढ़ती जाती है, और यह क्रिया उस वक्त तक जारी रहती है, जब तक कि पण्यों के पण्यों और द्रव्य में विभेदीकरण के फलस्वरूप यह आवश्यकता सदा-सदा के लिए पूरी नहीं हो जाती। अतएव, जिस गति से श्रम से उत्पन्न होनेवाली वस्तुएं पण्यों में परिणत होती हैं, उसी गति से एक ख़ास पण्य द्रव्य में भी बदलता जाता है।[39]

श्रम से पैदा होनेवाली वस्तुओं का सीधा विनिमय एक दृष्टि से तो मूल्य की सापेक्ष अभिव्यंजना का प्राथमिक रूप प्राप्त कर लेता है, लेकिन दूसरी दृष्टि से नहीं। यह प्राथमिक रूप है: क पण्य का x परिमाण = ख पण्य का y परिमाण। सीधी अदला-बदली का रूप यह होता है: क उपयोग-मूल्य का x परिमाण = ख उपयोग-मूल्य का y परिमाण।[40] इस अवस्था में क और ख नामक वस्तुएं अभी पण्य नहीं बन पायी हैं, बल्कि वे केवल अदला-बदली के जरिये ही पण्य बनती हैं। कोई भी उपयोगी वस्तु विनिमय-मूल्य प्राप्त करने की ओर उस समय पहला क़दम उठाती है, जब वह अपने मालिक के लिए उपयोग-मूल्य नहीं रह जाती, और यह उस समय होता है, जब वह अपने मालिक की तात्कालिक आवश्यकताओं के लिए जरूरी किसी वस्तु का फ़ाज़िल भाग बनती है। वस्तुओं का मनुष्य से अलग अस्तित्व होता है, और इसलिए मनुष्य उनको हस्तांतरित कर सकता है। हस्तांतरण की यह क्रिया दोनों तरफ़ से हो, इसके लिए केवल यह जरूरी है कि लोग एक मौन समझौते के द्वारा इन हस्तांतरित करने योग्य वस्तुओं पर निजी स्वामित्व रखनेवालों के रूप में और चुनांचे स्वाधीन व्यक्तियों के रूप में एक दूसरे के साथ व्यवहार करें। लेकिन सामूहिक संपत्ति पर आधारित आदिम समाज में ऐसी पारस्परिक स्वाधीनता की स्थिति नहीं होती, चाहे वह समाज पितृसत्तात्मक परिवार के रूप में हो, चाहे प्राचीन हिंदुस्तानी ग्राम-समुदाय के रूप में, और चाहे वह पेरू देश के इंका राज्य के रूप में हो। इसलिए पण्यों का विनिमय शुरू में ऐसे समाजों के सीमांत प्रदेशों में ऐसे स्थानों पर आरंभ होता है, जहां उन समाजों का उसी प्रकार के अन्य समाजों से, अथवा उनके सदस्यों से, संपर्क क़ायम होता है। परंतु श्रम से उत्पन्न वस्तुएं जैसे ही किसी समाज के बाहरी संबंधों में पण्य बन जाती हैं, वैसे ही इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उसके अंदरूनी व्यवहार में भी उनका यही रूप हो जाता है। शुरू में उनका किन अनुपातों में विनिमय होता है, यह बात केवल संयोग पर निर्भर रहती है। उनका विनिमय इसलिए संभव होता है कि उनके मालिकों में उनको हस्तांतरित करने की इच्छा होती है। इस बीच दूसरों की उपयोगी वस्तुओं की जरूरत धीरे-

---

[39] इससे हम निम्न बुर्जुआ समाजवाद की चतुराई का कुछ अनुमान लगा सकते हैं, जो पण्यों के उत्पादन को तो ज्यों का त्यों क़ायम रखना चाहता है, पर द्रव्य और पण्यों के "विरोध" को मिटा देना चाहता है, और चूंकि द्रव्य का अस्तित्व केवल इस विरोध के कारण ही होता है, इसलिए वह ख़ुद द्रव्य को ही मिटा देना चाहता है। तब तो हम पोप को मिटाकर कैथोलिक संप्रदाय को क़ायम रखने की चेष्टा भी कर सकते हैं। इस विषय के बारे में और जानने के लिए देखिये मेरी रचना *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, पृ० ६१ और आगे।

[40] जब तक कि दो अलग-अलग उपयोग-मूल्यों का विनिमय होने के बजाय किसी एक वस्तु के समतुल्य के रूप में नाना प्रकार की अनेक वस्तुएं दी जाती हैं, जैसा कि जंगली लोगों में अकसर होता है, तब तक उत्पाद की सीधी अदला-बदली भी अपनी आरंभिक अवस्था के प्रथम चरण में ही रहती है।

धीरे जोर पकड़ती जाती है। लगातार दोहराये जाने के फलस्वरूप विनिमय एक साधारण सामाजिक कृत्य बन जाता है। इसलिए कुछ समय बाद यह जरूरी हो जाता है कि श्रम के उत्पाद का कुछ हिस्सा जरूर विनिमय के ही ख़ास उद्देश्य से तैयार किया जाये। बस उसी क्षण से उपयोग की दृष्टि से किसी भी वस्तु की उपभोग-उपयोगिता और विनिमय की दृष्टि से उसकी उपयोगिता का भेद साफ़ तौर पर पक्का हो जाता है। उसका उपयोग-मूल्य उसके विनिमय-मूल्य से अलग हो जाता है। दूसरी ओर, यह बात कि वस्तुओं का विनिमय किन परिमाणात्मक अनुपातों में हो सकता है, ख़ुद उनके उत्पादन पर निर्भर करने लगती है। रिवाज वस्तुओं पर निश्चित परिमाणों के मूल्यों की छाप अंकित कर देता है।

उत्पादों के सीधे विनिमय में हरेक पण्य अपने मालिक के लिए प्रत्यक्ष ढंग से विनिमय का साधन होता है, और दूसरे तमाम व्यक्तियों के लिए वह समतुल्य होता है, लेकिन केवल उसी हद तक, जिस हद तक कि उसमें इन व्यक्तियों के लिए उपयोग-मूल्य होता है। इसलिए इस अवस्था में विनिमय की जानेवाली वस्तुओं को ख़ुद अपने उपयोग-मूल्य से स्वतंत्र, या विनिमय करनेवालों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं से स्वतंत्र, कोई मूल्य-रूप प्राप्त नहीं होता। जैसे-जैसे विनिमय किये गये पण्यों की संख्या और विविधता बढ़ती जाती हैं, वैसे-वैसे किसी मूल्य-रूप की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। समस्या और उसको हल करने के साधन एक साथ पैदा होते हैं। पण्यों के मालिक अपने पण्यों की दूसरे लोगों के पण्यों से बराबरी और विनिमय उस वक़्त तक बड़े पैमाने पर नहीं करते हैं, जब तक कि अलग-अलग मालिकों के विभिन्न प्रकार के पण्यों का किसी एक ख़ास पण्य के साथ विनिमय करना और मूल्यों के रूप में बराबरी करना संभव नहीं हो जाता। ऐसा कोई ख़ास पण्य अन्य विभिन्न पण्यों का समतुल्य बन जाने के फलस्वरूप तुरंत ही एक सामान्य सामाजिक समतुल्य का स्वरूप धारण कर लेता है, हालांकि उसका यह स्वरूप कुछ संकुचित सीमाओं में ही होता है। जिन क्षणिक सामाजिक कृत्यों के कारण यह स्वरूप जन्म लेता है, वह उनके साथ ही प्रकट और लोप होता रहता है। बारी-बारी से और थोड़ी-थोड़ी देर के लिए यह रूप कभी इस पण्य में प्रकट होता है, तो कभी उस पण्य में। लेकिन विनिमय के विकास के साथ-साथ वह केवल कुछ ख़ास ढंग के पण्यों के साथ ही कसकर और अनन्य रूप से जुड़ जाता है, और द्रव्य-रूप धारण करने के फलस्वरूप उसका स्फटिकीकरण हो जाता है। पहले-पहल यह स्वरूप किस ख़ास पण्य से जुड़ता है, यह संयोग की बात होती है। फिर भी दो बातों का प्रभाव निर्णयात्मक होता है। द्रव्य-रूप या तो बाहर से आनेवाली सबसे महत्त्वपूर्ण विनिमय की वस्तुओं के साथ जुड़ जाता है—और सच पूछिये, तो घरेलू उत्पाद के विनिमय-मूल्य के अभिव्यंजना प्राप्त करने के आदिम और स्वाभाविक रूप ये वस्तुएं ही होती हैं, या वह ढोर जैसी किसी ऐसी उपयोगी वस्तु के साथ जुड़ जाता है, जो हस्तांतरित करने योग्य स्थानीय दौलत का मुख्य हिस्सा हो। ख़ानाबदोश क़ौमें सबसे पहले द्रव्य-रूप को विकसित करती हैं, क्योंकि उनकी सारी दुनियावी दौलत चल वस्तुओं के रूप में होती है और इसलिए उसे सीधे तौर पर हस्तांतरित किया जा सकता है, और क्योंकि उनके जीवन का ढंग ही ऐसा होता है कि परदेशी समुदायों से उनका निरंतर संपर्क क़ायम होता रहता है और इसलिए उनके लिए उत्पाद का विनिमय जरूरी हो जाता है। मनुष्य ने अकसर ख़ुद मनुष्य से दासों के रूप में द्रव्य की आदिम सामग्री का काम लिया है, लेकिन इस उद्देश्य के लिए उसने जमीन का उपयोग कभी नहीं किया है। इस प्रकार का विचार केवल अच्छी तरह विकसित बुर्जुआ समाज में ही जन्म ले सकता था। १७वीं सदी की आख़िरी तिहाई में

यह विचार पहले-पहल सामने आया, और उसे राष्ट्रव्यापी पैमाने पर अमल में लाने की पहली कोशिश उसके सौ बरस बाद, फ़्रांस की बुर्जुआ क्रांति के ज़माने में हुई।

जिस अनुपात में विनिमय अपने स्थानीय बंधनों को तोड़ता जाता है और पण्यों का मूल्य अधिकाधिक विस्तार प्राप्त करके अमूर्त मानव-श्रम का मूर्त रूप बनता जाता है, उसी अनुपात में द्रव्य का स्वरूप उन पण्यों के साथ जुड़ता जाता है, जो क़ुदरती तौर पर सार्विक समतुल्य का सामाजिक कार्य करने के लिए उपयुक्त हैं। बहुमूल्य धातुएं ही इस तरह के पण्य होती हैं।

कहा जाता है कि "सोना और चांदी यद्यपि स्वभाव से द्रव्य नहीं होते, तथापि द्रव्य स्वभाव से सोना और चांदी होता है।"[41] इस स्थापना की सचाई इस बात से सिद्ध हो जाती है कि इन धातुओं के भौतिक गुण द्रव्य का काम करने के लिए उपयुक्त हैं।[42] लेकिन अभी तक हमने द्रव्य के केवल एक ही काम का परिचय प्राप्त किया है, यानी अभी तक हमने द्रव्य का एक यही काम देखा है कि वह पण्यों के मूल्य की अभिव्यक्ति के रूप की तरह, या उस पदार्थ के रूप में काम में आता है, जिसमें पण्यों के मूल्यों के परिमाण सामाजिक तौर पर व्यक्त होते हैं। केवल वही पदार्थ मूल्य को पर्याप्त ढंग से अभिव्यक्त कर सकता है, केवल वही पदार्थ अमूर्त, अविभेदित और अतएव समान मानव-श्रम का साकार रूप बनने के योग्य हो सकता है, जिसके हरेक नमूने में एक से, समरूप गुण पाये जाते हों। दूसरी ओर, चूंकि मूल्यों के परिमाणों का अंतर विशुद्ध परिमाणात्मक होता है, इसलिए द्रव्य का काम करनेवाला पण्य ऐसा होना चाहिए, जिसके अलग-अलग नमूनों में केवल परिमाणात्मक भेद किया जा सके, जिसको चुनांचे इच्छानुसार बांटा जा सके और इच्छानुसार फिर से जोड़ा जा सके। सोने और चांदी में ये गुण प्रकृति के दिये हुए होते हैं।

द्रव्य बन जानेवाले पण्य का दोहरा उपयोग-मूल्य हो जाता है। पण्य के रूप में उसका जो विशिष्ट उपयोग-मूल्य होता है (मिसाल के लिए, सोना दांत में भरने के काम में आता है, उससे तरह-तरह की विलास की वस्तुएं बनायी जाती हैं, इत्यादि), उसके अलावा वह एक औपचारिक उपयोग-मूल्य भी प्राप्त कर लेता है, जो उसके ख़ास ढंग के सामाजिक कार्य द्वारा उसमें पैदा हो जाता है।

चूंकि तमाम पण्य द्रव्य के अलग-अलग समतुल्य मात्र होते हैं और द्रव्य उनका सार्विक समतुल्य होता है, इसलिए सार्विक पण्य के नाते द्रव्य के संबंध में वे विशिष्ट पण्यों की भूमिका अदा करते हैं।[43]

हम यह देख चुके हैं कि द्रव्य-रूप केवल एक पण्य में बाक़ी सब पण्यों के मूल्य के संबंधों का प्रतिबिंब मात्र होता है। इसलिए द्रव्य का पण्य होना[44] केवल उन्हीं लोगों के लिए एक नया

---

[41] Karl Marx, *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, S. 135. "धातुएं... स्वभावतः द्रव्य होती हैं।" (Galiani, *Della Moneta*, *Custodi's Collection:* Parte Moderna, t. III, p. 137.)

[42] इस विषय की और विस्तृत जानकारी हासिल करने के लिए मेरी उपर्युक्त रचना का 'बहुमूल्य धातु' शीर्षक अध्याय देखिये।

[43] "मुद्रा सार्विक वाणिज्य-वस्तु होती है।" (Verri, l.c., p. 16.)

[44] "सोना और चांदी ख़ुद (जिनको हम बुलियन का सामान्य नाम भी दे सकते हैं)... पण्य होते हैं... जिनका मूल्य... घटता-बढ़ता रहता है... अतः बुलियन का मूल्य उस समय अधिक ऊंचा समझा जायेगा, जब उसकी अपेक्षाकृत कम मात्रा देश के उत्पाद की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा ख़रीद सकेगी", इत्यादि। ([S. Clement,] *A Discourse of the General*

ग्राविष्कार है, जो जब द्रव्य का विश्लेषण करने बैठते हैं, तो उसके पूरी तरह विकसित रूप से ग्रारंभ करते हैं। द्रव्य में बदल जानेवाले पण्य को विनिमय-कार्य से ग्रपना मूल्य नहीं, बल्कि विशिष्ट मूल्य-रूप प्राप्त होता है। इन दो ग्रलग-ग्रलग चीज़ों को ग्रापस में गड़बड़ा देने का नतीजा यह हुग्रा है कि कुछ लेखक सोने ग्रौर चांदी के मूल्य को काल्पनिक समझने लगे हैं।[45] इस बात से कि जहां तक द्रव्य के कुछ ख़ास कामों का संबंध है, उसे महज़ उसके प्रतीकों से बदला जा सकता है, – इस बात से यह दूसरा भ्रम पैदा होता है कि द्रव्य ख़ुद भी महज़ एक प्रतीक ही है। फिर भी इस भ्रम के पीछे यह ग्रनुमान छिपा हुग्रा था कि किसी भी वस्तु का द्रव्य-रूप उस वस्तु का ग्रविच्छिन्न भाग नहीं होता, बल्कि केवल वह रूप भर होता है, जिसमें कुछ सामाजिक संबंध ग्रभिव्यक्त होते हैं। इस ग्रर्थ में तो प्रत्येक पण्य प्रतीक है, क्योंकि जिस हद तक वह मूल्य होता है, उस हद तक वह ग्रपने ऊपर ख़र्च किये गये मानव-श्रम का भौतिक ग्रावरण मात्र होता है।[46] लेकिन जहां यह कहा जाता है कि उत्पादन की एक निश्चित प्रणाली

Notions of Money, Trade, and Exchanges, as They Stand in Relation Each to Other. By a Merchant, London, 1695, p. 7.) "हालांकि सोना ग्रौर चांदी, चाहे वे सिक्के के रूप में हों या न हों, दूसरी तमाम वस्तुग्रों के मापदंड के रूप में इस्तेमाल किये जाते हैं, फिर भी वे पण्य ही होते हैं – ठीक उसी तरह, जैसे शराब, तेल, तंबाकू, कपड़ा या ग्रौर सामान पण्य होता है।" (*A Discourse Concerning Trade, and that in Particular of the East-Indies etc.*, London, 1689, p. 2.) "राज्य के स्टाक तथा धन को द्रव्य तक ही सीमित कर देना उचित नहीं है, ग्रौर न ही सोने ग्रौर चांदी को वाणिज्य-वस्तुग्रों की श्रेणी के बाहर रखा जा सकता है।" (*The East-India Trade a Most Profitable Trade*, London, 1677, p. 4.)

[45] "सोने ग्रौर चांदी में द्रव्य होने के पहले धातुग्रों के रूप में मूल्य होता है।" (Galiani, l.c.) लॉक कहते हैं: "चांदी को उसके उन गुणों के कारण, जिनसे वह द्रव्य बनने के योग्य हो गयी थी, मनुष्यजाति की सार्विक सम्मति से एक काल्पनिक मूल्य प्राप्त हो गया।" दूसरी ग्रोर, लॉ लिखते हैं: "किसी एक ही चीज़ को ग्रलग-ग्रलग क़ौमें एक काल्पनिक मूल्य कैसे दे सकती थीं... या यह काल्पनिक मूल्य ग्रपने को कैसे क़ायम रख सकता था?" लेकिन उनके ही निम्न कथन से ज़ाहिर होता है कि इस मामले को वह ख़ुद कितना कम समझ पाये थे: "चांदी का विनिमय उसके उपयोग-मूल्य के ग्रनुपात में होता था, यानी उसका विनिमय उसके वास्तविक मूल्य के ग्रनुपात में होता था। जब वह द्रव्य के रूप में ग्रपना ली गयी, तो उसे एक ग्रतिरिक्त मूल्य (une valeur additionnelle) प्राप्त हो गया।" (Jean Law, *Considérations sur le numéraire et le commerce*, E. Daire's Edit. of *Économistes Financiers du XVIII siècle*, pp. 469, 470.)

[46] "द्रव्य उनका (पण्यों का) प्रतीक होता है।" (V. de Forbonnais, *Éléments du commerce*, Nouv. Edit., Leyde, 1766, t. II, p. 143.) "प्रतीक के रूप में उसे पण्य ग्रपनी ग्रोर ग्राकर्षित करते हैं।" (l.c., p. 155.) "द्रव्य किसी वस्तु का प्रतीक होता है ग्रौर उसका प्रतिनिधित्व करता है।" (Montesquieu, *Esprit des Lois*, Oeuvres, London, 1767, t. II, p. 3.) "द्रव्य केवल एक प्रतीक नहीं है, कारण कि वह ख़ुद दौलत होता है; वह मूल्यों का प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि उनका समतुल्य होता है।" (Le Trosne, l.c., p. 910.) "मूल्य के विचार के सिलसिले में मूल्यवान वस्तु केवल एक प्रतीक के रूप में सामने ग्राती है; वस्तु स्वयं जो कुछ होती है, उसका कोई महत्त्व नहीं होता, बल्कि वस्तु की जो क़ीमत होती है, महत्त्व उसका होता है।" (Hegel, *Philosophie des Rechts*, S. 100.) ग्रर्थशास्त्रियों से बहुत पहले वकीलों ने इस विचार का श्रीगणेश किया था कि द्रव्य एक प्रतीक मात्र है ग्रौर बहुमूल्य धातुग्रों

के अंतर्गत वस्तुओं द्वारा धारण किये गये सामाजिक रूप, अथवा श्रम के सामाजिक गुणों द्वारा धारण किये गये भौतिक रूप प्रतीक मात्र हैं, वहां उसी सांस में हमसे यह भी कहा जाता है कि ये रूप कपोल-कल्पना मात्र हैं, जिनको मनुष्यजाति की तथाकथित सार्वजनिक सम्मति की मान्यता मिल गयी है। १८वीं सदी में जिस ढंग की व्याख्या का चलन था, उसके साथ यह बात मेल खाती थी। मनुष्य के साथ मनुष्य के सामाजिक संबंधों ने दिमाग़ को उलझन में डाल देनेवाले जो रूप धारण कर लिये थे, लोग जब उनकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं बता पाते थे, तब वे कोई रूढ़ कारण बताकर उनकी विचित्रता को ख़त्म कर देने की कोशिश करते थे।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि किसी भी पण्य के समतुल्य-रूप का अर्थ यह नहीं होता कि उसके मूल्य का परिमाण भी निर्धारित हो गया है। इसलिए हम भले ही यह जानते हों कि सोना द्रव्य है और चुनांचे दूसरे सभी पण्यों से उसका सीधा विनिमय किया जा सकता है, फिर भी इस बात से हमें इसका कोई ज्ञान नहीं होता कि, मिसाल के लिए, १० पाउंड सोने की कितनी क़ीमत है। दूसरे प्रत्येक पण्य की भांति सोना भी अपने मूल्य के परिमाण को दूसरे पण्यों से अपनी तुलना द्वारा ही व्यक्त कर सकता है। यह मूल्य सोने के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल द्वारा निर्धारित होता है, और वह व्यक्त होता है अन्य किसी भी पण्य के उस परिमाण के ज़रिये, जिसके उत्पादन में उतना ही श्रम-काल लगा हो।[47] उसके सापेक्ष मूल्य को इस प्रकार परिमाणात्मक ढंग से निर्धारित करने का कार्य उसके उत्पादन के मूल स्थान पर

का मूल्य केवल काल्पनिक होता है। समूचे मध्य युग में वे राजाओं की चाटुकारितापूर्ण सेवकाई के लिए और सिक्कों में खोट मिलाने के उनके अधिकार का समर्थन करने के लिए ऐसा करते रहे। इसके लिए उन्होंने रोमन साम्राज्य की परंपराओं तथा द्रव्य के संबंध में पांडेक्ट नामक क़ानून-ग्रंथों में पायी जानेवाली धारणाओं की दुहाई दी। इन वकीलों के योग्य शिष्य वलुआ के फ़िलिप ने १३४६ के एक आदेश में कहा था: "इस बात में कोई तनिक भी संदेह नहीं कर सकता और न करना ही चाहिए कि द्रव्य का व्यवसाय, वास्तविकता, अवस्था, व्यवस्था और अधिनियम... केवल हमारे क्षेत्र में और हमारे राज्याधिकार के भीतर आते हैं; और यह हमारी इच्छा पर निर्भर करता है कि हम द्रव्य को जितना उचित समझें, उतना चला दें, और उनका जितना ठीक समझें, उतना दाम रखें।" रोमन क़ानून का यह एक बुनियादी सिद्धांत था कि द्रव्य का मूल्य सम्राट् के आदेश के ज़रिये निश्चित किया जाता था। द्रव्य को पण्य मानने की कड़ी मनाही थी। "द्रव्य ख़रीदने का किसी को कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि द्रव्य सार्वजनिक उपयोग के लिए होता है और इसलिए उसको वाणिज्य-वस्तु बना देना उचित नहीं है।" इस प्रश्न पर जी० एफ़० पान्यीनी (G. F. Pagnini) ने कुछ अच्छा काम किया है। देखिये उनकी रचना *Saggio sopra il giusto pregio delle cose*, 1751; Custodi, Parte Moderna, t. II. अपनी रचना के दूसरे भाग में पान्यीनी ने वकीलों की ख़ास तौर पर ख़बर ली है।

[47] "यदि कोई आदमी, जितने समय में वह एक बुशेल अनाज पैदा कर सकता है, उतने ही समय में पेरू की धरती से एक आउंस चांदी निकालकर लंदन ला सकता है, तो एक बुशेल अनाज और एक आउंस चांदी एक दूसरे के स्वाभाविक दाम हैं। अब नयी अथवा पहले से अच्छी खानों के खुल जाने के कारण कोई आदमी यदि पहले जैसी आसानी के साथ एक के बजाय दो आउंस चांदी हासिल कर सकता है, तो caeteris paribus [अन्य बातें समान होने पर] अनाज दस शिलिंग फ़ी बुशेल के भाव पर भी उतना ही सस्ता रहेगा, जितना सस्ता वह पहले पांच शिलिंग फ़ी बुशेल के भाव पर था।" (William Petty, *A Treatise of Taxes and Contributions*, London, 1667, p. 32.)

अदला-बदली द्वारा किया जाता है। सोने का जब द्रव्य के रूप में परिचलन प्रारंभ होता है, तब उसका मूल्य पहले से मालूम होता है। १७वीं सदी के अंतिम दशकों में यह बात प्रमाणित हो चुकी थी कि द्रव्य भी एक पण्य है। लेकिन यह विश्लेषण की प्रारंभिक अवस्था का ही क़दम था। कठिनाई यह समझने में नहीं होती कि द्रव्य भी एक पण्य है, बल्कि कठिनाई यह खोजने में सामने आती है कि कोई पण्य कैसे, क्यों और किन उपायों से द्रव्य बन जाता है।[48]

मूल्य की सबसे सरल अभिव्यंजना – अर्थात् क पण्य का x परिमाण = ख पण्य का y परिमाण – में हम यह पहले ही देख चुके हैं कि जिस वस्तु में किसी अन्य वस्तु के मूल्य का परिमाण व्यक्त हो जाता है, उसका यह समतुल्य-रूप ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वह इस संबंध से स्वतंत्र और प्रकृति का दिया हुआ कोई सामाजिक गुण हो। हम यह भी बता चुके हैं कि यह दिखावटी रूप कैसे उत्तरोत्तर अधिक दृढ़ होता गया और अंत में कैसे उसकी स्थापना हुई। जैसे ही सार्विक समतुल्य-रूप किसी ख़ास पण्य के भौतिक रूप के साथ एकाकार हो जाता है और इस प्रकार जैसे ही उसका द्रव्य-रूप में स्फटिकीकरण हो जाता है, वैसे ही यह दिखावटी रूप अंतिम तौर पर स्थापित हो जाता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सोना इसलिए द्रव्य नहीं बन गया है कि बाक़ी सब पण्य अपना मूल्य उसके द्वारा व्यक्त करते हैं, बल्कि इसके विपरीत बाक़ी सब पण्य सार्विक ढंग से इसलिए सोने में अपना मूल्य व्यक्त करते हैं कि सोना द्रव्य है। प्रक्रिया के बीच के क़दम परिणाम में लुप्त हो जाते हैं, और उनका चिह्न तक कहीं दिखायी नहीं देता। पण्य देखते हैं कि उनके कुछ किये-धरे बिना ही उनका मूल्य उनके साथ-साथ पाया जानेवाला एक और पण्य पहले से ही पूरी तरह व्यक्त कर रहा है। ये चीज़ें – सोना और चांदी – पृथ्वी के गर्भ से निकलते ही तत्काल समस्त मानव-श्रम का प्रत्यक्ष अवतार बन जाती हैं। इसी से द्रव्य का जादू पैदा होता है। समाज के जिस रूप पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के दौरान मनुष्यों का व्यवहार विशुद्ध परमाणुओं जैसा होता है। इसलिए उत्पादन के दौरान एक दूसरे के साथ उनके बीच जो संबंध स्थापित होते हैं, वे एक ऐसा भौतिक स्वरूप धारण कर लेते हैं, जो उनके अपने नियंत्रण से तथा उनके

---

[48] विद्वान प्रोफ़ेसर रोशर पहले हमें यह बताकर कि "द्रव्य की झूठी परिभाषाएं दो मुख्य वर्गों में बांटी जा सकती हैं: वे परिभाषाएं, जो द्रव्य को पण्य से कुछ अधिक समझती हैं, और वे, जो द्रव्य को पण्य से कुछ कम समझती हैं", द्रव्य की प्रकृति के बारे में लिखी गयी अनेक रचनाओं की एक लंबी और पंचमेल सूची गिना जाते हैं। इस सूची से पता चलता है कि वह द्रव्य के सिद्धांत के वास्तविक इतिहास की जानकारी के पास तक नहीं फटक पाये हैं। फिर वह हमें यह उपदेश सुनाते हैं कि "जहां तक बाक़ी बातों का संबंध है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अधिकतर आधुनिक अर्थशास्त्री उन विलक्षणताओं को पर्याप्त रूप से ध्यान में नहीं रखते, जिनके कारण द्रव्य बाक़ी तमाम पण्यों से भिन्न होता है" (क्योंकि तब वह आख़िर या तो पण्य से कुछ अधिक होता है या उससे कुछ कम होता है!)... "इस हद तक गानिल्ह की अर्ध-वाणिज्यवादी प्रतिक्रिया सर्वथा निराधार नहीं है।" (Wilhelm Roscher, *Die Grundlagen der Nationalökonomie*, 3 Aufl., 1858, S. 207-210.) "कुछ अधिक! कुछ कम! पर्याप्त रूप से नहीं! इस हद तक! सर्वथा नहीं!" वाह, विचारों और भाषा के मामले में कैसी स्पष्टता तथा सटीकता है! कहीं की ईंट, कहीं के रोड़े से कुनबा जोड़नेवाली इस प्रोफ़ेसराना बकवास को मि० रोशर ने बहुत नम्रतापूर्वक राजनीतिक अर्थशास्त्र की "शरीररचनात्मक-शरीरक्रियात्मक पद्धति" का नाम दिया है। किंतु एक आविष्कार का श्रेय तो उनको मिलना ही चाहिए, और वह यह कि द्रव्य एक "सुखद पण्य" है।

सचेतन व्यक्तिगत कार्यकलाप से स्वतंत्र है। ये बातें पहले इस रूप में प्रगट होती हैं कि श्रम से पैदा होनेवाली वस्तुएं सामान्यतया पण्यों का रूप धारण कर लेती हैं। हम यह देख चुके हैं कि पण्य पैदा करनेवालों का समाज जब उत्तरोत्तर विकास करता है, तब वह किस तरह विशेष पण्य पर द्रव्य की छाप अंकित कर देता है। इसलिए द्रव्य की पहेली असल में पण्यों की ही पहेली है; अब वह केवल अपने सबसे चकाचौंध करनेवाले रूप में हमारे सामने आयी है।

अध्याय ३

द्रव्य, या पण्यों का परिचलन

अनुभाग १ – मूल्यों की माप

इस सारी रचना में मैं सरलता की ख़ातिर यह मानकर चलूंगा कि द्रव्य का काम करनेवाला पण्य सोना है।

द्रव्य का पहला मुख्य कार्य यह है कि वह पण्यों को उनके मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए सामग्री प्रदान करे, या यह कि उनके मूल्यों को एक ही मान के ऐसे परिमाणों के रूप में व्यक्त करे, जो गुणात्मक दृष्टि से समान और मात्रा की दृष्टि से तुलनीय हों। इस प्रकार द्रव्य मूल्य की सार्विक माप का काम करता है। सिर्फ़ यह काम करने के कारण ही सोना, जो par excellence [सबसे उत्तम] समतुल्य पण्य है, द्रव्य बन जाता है।

द्रव्य पण्यों को एक ही मापदंड से मापने के योग्य बनाता हो, ऐसा नहीं है। बात ठीक इसकी उल्टी है। मूल्यों के रूप में तमाम पण्य चूंकि मूर्त मानव-श्रम होते हैं और इसलिए उनको चूंकि एक ही मापदंड से मापा जा सकता है, यही कारण है कि उनके मूल्यों को एक ही ख़ास पण्य द्वारा मापना संभव हो जाता है और इस ख़ास पण्य को उनके मूल्यों को समान माप में – अर्थात् द्रव्य में – बदला जा सकता है। मूल्य की माप के तौर पर द्रव्य वह इन्द्रियगम्य रूप होता है, जो पण्यों में निहित मूल्य की माप – यानी श्रम-काल – को लाज़िमी तौर पर धारण करना पड़ता है।[49]

---

[49] यह सवाल कि द्रव्य सीधे श्रम-काल का प्रतिनिधित्व क्यों नहीं करता, जिससे कि, मिसाल के लिए, काग़ज़ का एक टुकड़ा x घंटे के श्रम का प्रतिनिधित्व कर पाये – यह सवाल, यदि उसकी तह तक पहुंचा जाये, तो असल में बस वही सवाल बन जाता है कि यदि पण्यों का उत्पादन पहले से ही मान लिया जाता है, तो श्रम से उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं को पण्यों का रूप क्यों धारण करना पड़ता है? इसका कारण स्पष्ट है, क्योंकि श्रम से पैदा होनेवाली वस्तुओं के पण्यों का रूप धारण करने का यह मतलब भी होता है कि वे पण्यों तथा द्रव्य में बंट जाती हैं। या इसी तरह का एक और सवाल यह है कि निजी श्रम को – यानी व्यक्तियों के निमित्त किये गये श्रम को – उसका उल्टा, अव्यवहित सामाजिक श्रम क्यों नहीं समझा जा सकता? अन्यत्र मैंने पण्यों के उत्पादन पर आधारित समाज में "श्रम-द्रव्य" के कल्पनावादी विचार का भरपूर विश्लेषण किया है (देखिये *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, पृ० ६१ और आगे)। इस विषय के संबंध में मैं यहां केवल इतना ही और कहूंगा कि जैसे, मिसाल के लिए, थियेटर का टिकट द्रव्य नहीं होता, वैसे ही ओवेन का "श्रम-द्रव्य" भी द्रव्य नहीं हो सकता। ओवेन सीधे तौर पर संबद्ध श्रम को, उत्पादन के एक ऐसे रूप को मानकर चलते हैं, जो पण्यों के उत्पादन से क़तई मेल नहीं खाता। श्रम का प्रमाणपत्र केवल इस बात का सबूत है कि व्यक्ति विशेष ने सामूहिक श्रम में भाग लिया है और सामूहिक उत्पाद के उपभोग के लिए निर्धारित भाग के एक निश्चित अंश पर उसका अधिकार है। लेकिन यह बात ओवेन के दिमाग़ में कभी नहीं आती कि पहले से पण्यों का उत्पादन मानकर चला जाये

किसी पण्य का मूल्य जब सोने के रूप में व्यक्त होता है, यानी जब क पण्य का x परिमाण = द्रव्य-पण्य का y परिमाण, तब वह उसका द्रव्य-रूप, अथवा दाम, होता है। अब केवल एक ही समीकरण, जैसे १ टन लोहा = २ आउंस सोना, लोहे के मूल्य को सामाजिक दृष्टि से मान्य ढंग से व्यक्त करने के लिए पर्याप्त होता है। अब इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती कि यह समीकरण बाक़ी तमाम पण्यों के मूल्यों को व्यक्त करनेवाले समीकरणों की शृंखला की एक कड़ी बनकर सामने आये। कारण कि अब समतुल्य का काम करनेवाले पण्य – सोने – ने द्रव्य का रूप धारण कर लिया है। सापेक्ष मूल्य के सामान्य रूप ने फिर से सरल अथवा इक्के-दुक्के, पृथक सापेक्ष मूल्य का प्रारंभिक स्वरूप धारण कर लिया है। दूसरी ओर, सापेक्ष मूल्य की विस्तारित अभिव्यंजना, यानी समीकरणों का वह अंतहीन क्रम अब द्रव्य-पण्य के सापेक्ष मूल्य के लिए ही विशिष्ट रूप बन गया है। यह क्रम ख़ुद भी अब पहले से दिया हुआ है और वास्तविक पण्यों के दामों के रूप में उसे सामाजिक मान्यता प्राप्त है। दामों की कोई सूची लेकर उसमें दिये हुए भावों को उल्टी तरफ़ से पढ़ना शुरू कर दीजिये, आपको तरह-तरह के पण्यों के रूप में द्रव्य के मूल्य का परिमाण मालूम हो जायेगा। लेकिन ख़ुद द्रव्य का कोई दाम नहीं होता। इस दृष्टि से उसे अन्य सब पण्यों के साथ बराबरी के दर्जे पर रखने के लिए हमें ख़ुद उसे ही उसका समतुल्य मानकर ख़ुद उसके साथ ही उसका समीकरण करना पड़ेगा।

पण्यों का दाम अथवा द्रव्य-रूप उनके सामान्य तौर पर मूल्य-रूप की भांति, उनके इंद्रिय-गम्य शारीरिक रूप से बिल्कुल भिन्न होता है, इसलिए वह एक विशुद्ध प्रत्ययात्मक अथवा मानसिक रूप है। लोहे, कपड़े तथा अनाज का मूल्य यद्यपि दिखायी नहीं देता, तथापि इन्हीं वस्तुओं के भीतर उसका वास्तविक अस्तित्व होता है: सोने के साथ इन वस्तुओं की समानता करके मूल्य प्रत्ययात्मक ढंग से बोधगम्य बना दिया जाता है, यानी वह एक ऐसे संबंध द्वारा बोधगम्य बनाया जाता है, जिसका अस्तित्व मानो केवल इन वस्तुओं के मस्तिष्क में ही है। अतएव इन वस्तुओं के मालिक को या तो ज़बान इस्तेमाल करनी होगी या उनपर पर्ची टांगनी पड़ेगी, ताकि बाहरी दुनिया को उनके दामों का पता चल सके।[50] सोने के रूप में पण्यों के मूल्य

और उसके साथ-साथ द्रव्य की बाज़ीगरी के ज़रिये उत्पादन की इस विधि की लाज़िमी शर्तों से भी बचने की कोशिश की जाये।

[50] जंगली और अर्ध-सभ्य जातियां अपनी ज़बान का भिन्न रूप से प्रयोग करती हैं। बाफ़िन की खाड़ी के पश्चिमी तट के निवासियों के बारे में कप्तान पैरी ने बताया है: "इस सूरत में (वह वस्तुओं की अदला-बदली का ज़िक्र कर रहा है) वे लोग उसे (यानी उस चीज़ को, जो अदला-बदली के लिए उनके सामने पेश की गयी है) ज़बान से दो बार चाटते थे और चाटने के बाद मानो समझते थे कि सौदा संतोषजनक ढंग से हो गया है।" इसी तरह पूर्वी एस्किमो जाति के लोग भी विनिमय में मिलनेवाली वस्तुओं को चाटा करते थे। यदि उत्तर में इस तरह ज़बान वस्तुओं पर अपना स्वामित्व स्थापित करने के साधन की तरह इस्तेमाल की जाती थी, तो कोई आश्चर्य नहीं कि दक्षिण में संचित संपत्ति के बारे में जानने का साधन पेट है और काफ़िर जाति के लोग आदमी के पेट का आकार देखकर उसकी दौलत का अनुमान लगाते हैं। काफ़िर लोग समझ-बूझकर ही यह करते हैं, इसका सबूत यह है कि ठीक उसी समय, जब १८६४ की ब्रिटिश स्वास्थ्य रिपोर्ट ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला था कि मज़दूर वर्ग के अधिकतर भाग को चरबीवृद्धि में सहायक खाद्य-पदार्थ पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते, तब डा० हार्वे नामक एक व्यक्ति (बेशक रक्त-संचार के विख्यात आविष्कारक हार्वे से भिन्न व्यक्ति) ने

को अभिव्यक्त करना क्योंकि महज़ एक प्रत्ययमूलक कार्य है, अतः हम उसके लिए काल्पनिक, अथवा प्रत्ययात्मक, द्रव्य का भी प्रयोग कर सकते हैं। हर व्यापारी जानता है कि अपने पण्य का मूल्य दाम के रूप में या किसी काल्पनिक द्रव्य के रूप में व्यक्त करके ही वह उसे द्रव्य में बदलने में कामयाब नहीं हो जाता, वह तो तब भी बहुत दूर की बात रहती है। हर व्यापारी यह भी जानता है कि लाखों और करोड़ों पाउंड की क़ीमत के सामान के मूल्य का सोने के रूप में अनुमान लगाने के लिए उसे वास्तविक सोने के ज़रा से टुकड़े की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिए द्रव्य जब मूल्य की माप का काम करता है, तब वह केवल काल्पनिक अथवा प्रत्ययात्मक द्रव्य के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। इसके फलस्वरूप हद से ज़्यादा अजीबोग़रीब सिद्धांत प्रस्तुत किये गये हैं।[51] लेकिन मूल्य की माप का काम करनेवाला द्रव्य हालांकि केवल प्रत्ययात्मक द्रव्य होता है, फिर भी दाम सर्वथा उस वास्तविक पदार्थ पर ही निर्भर करता है, जो द्रव्य कहलाता है। एक टन लोहे में जो मूल्य, अथवा मानव-श्रम की जितनी मात्रा, निहित है, वह कल्पना में द्रव्य-पण्य के एक ऐसे परिमाण के द्वारा व्यक्त की जाती है, जिसमें लोहे के बराबर श्रम निहित है। इसलिए जब मूल्य की माप का काम सोना करेगा और जब यह काम चांदी करेगी या तांबा करेगा, तब हर बार एक टन लोहे का मूल्य बहुत ही भिन्न दामों में व्यक्त किया जायेगा, या यूं कहिये कि उसका दाम इन धातुओं के क्रमशः बहुत भिन्न परिमाणों द्वारा व्यक्त किया जायेगा।

इसलिए यदि एक समय में दो अलग-अलग पण्य, जैसे सोना और चांदी मूल्य की माप का काम करते हैं, तो तमाम पण्यों के दो दाम होते हैं – एक सोने वाला दाम और दूसरा चांदी वाला दाम। जब तक सोने के मूल्य के साथ चांदी के मूल्य का अनुपात नहीं बदलता, मिसाल के लिए, जब तक कि वह १५:१ पर स्थिर रहता है, तब तक ये दोनों प्रकार के दाम चुपचाप साथ-साथ चलते रहते हैं। पर उनके अनुपात में होनेवाला प्रत्येक परिवर्तन पण्यों के सोने वाले दामों और चांदी वाले दामों के अनुपात को गड़बड़ा देता है और इस तरह यह साबित कर देता है कि मूल्य का दोहरा मापदंड रखना मापदंड के कामों से मेल नहीं खाता।[52]

बुर्जुआ वर्ग और अभिजात वर्ग के लोगों की फ़ालतू चरबी घटाने के नुसख़ों का विज्ञापन करके ख़ूब हाथ रंगे थे।

[51] देखिये Karl Marx, *Zur Kritik etc. Theorien von der Masseinheit des Geldes*, S. 53, seq.

[52] जहां कहीं भी क़ानूनी तौर पर सोने और चांदी दोनों से साथ-साथ द्रव्य का, या मूल्य की माप का, काम लिया गया है, वहां सदा इस बात की बेकार कोशिश की गयी है कि दोनों को एक ही पदार्थ समझा जाये। यह मानकर चलना कि सोने और चांदी के ऐसे परिमाणों के बीच, जिनमें श्रम-काल का एक निश्चित परिमाण निहित है, सदा एक ही अनुपात रहता है, जो कभी नहीं बदलता, असल में यह मान लेने के समान है कि सोना और चांदी दोनों एक ही पदार्थ हैं और कम मूल्य वाली धातु – चांदी – की एक निश्चित राशि सोने की एक निश्चित राशि का एक ऐसा अंश है, जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। एडवर्ड तृतीय के राज्य-काल से जार्ज द्वितीय के राज्य-काल तक इंगलैंड में द्रव्य का इतिहास सोने और चांदी के मूल्यों के बीच क़ानूनी तौर पर निर्धारित अनुपात और उनके वास्तविक मूल्यों के उतार-चढ़ाव के टकराव से पैदा होनेवाली अनेक गड़बड़ियों के एक लंबे क्रम का इतिहास है। एक

जिन पण्यों के निश्चित दाम होते हैं, वे इस रूप में सामने आते हैं: क पण्य का a = सोने का x, ख पण्य का b = सोने का z, ग पण्य का c = सोने का y, इत्यादि; यहां a, b और c, क, ख और ग नामक पण्यों के निश्चित परिमाणों का और x, z और y सोने की निश्चित मात्राओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए इन पण्यों के मूल्य हमारी कल्पना में सोने की भिन्न-भिन्न मात्राओं में बदल जाते हैं। और इसलिए दिमाग़ को उलझन में डालनेवाले तरह-तरह के पण्य होने के बावजूद उनके मूल्य एक ही मान की मात्राओं में, यानी सोने की मात्राओं में, बदल जाते हैं। अब उनका एक दूसरे के साथ मुक़ाबला किया जा सकता है और उनको मापा जा सकता है, और इस बात की प्राविधिक आवश्यकता महसूस होती है कि माप की इकाई के रूप में सोने की किसी एक निश्चित मात्रा से उनकी तुलना की जाये। यह इकाई बाद में अशेषभाजक खंडों में बंट जाने के फलस्वरूप ख़ुद मापदंड, अथवा पैमाना, बन जाती है। सोने, चांदी और तांबे के पास द्रव्य बनने के पहले से ही अपने तौल के मापदंड के रूप में इस प्रकार के मापदंड मौजूद होते हैं; चुनांचे, मिसाल के लिए, यदि एक पाउंड का तौल इकाई का काम करता है, तो उसको एक तरफ़ तो आउंसों में बांटा जा सकता है और दूसरी तरफ़, अनेक पाउंडों का जोड़ करके हंड्रेडवेट तैयार किये जा सकते हैं।[53] यही कारण

समय सोना बहुत ऊंचे चढ़ जाता था, दूसरे समय चांदी। जिस समय जिस धातु की क़ीमत उसके मूल्य से कम लगायी जाती थी, उस समय वह धातु संचलन से निकाल ली जाती थी और उसके सिक्कों को गलाकर विदेशों को भेज दिया जाता था। तब दोनों धातुओं के अनुपात को क़ानून द्वारा फिर बदल दिया जाता था, लेकिन यह नया नाममात्र का अनुपात शीघ्र ही फिर वास्तविक अनुपात से टकरा जाता था। हमारे अपने ज़माने में भारत और चीन में चांदी की मांग होने के परिणामस्वरूप चांदी की तुलना में सोने के मूल्य में जो थोड़ी सी क्षणिक कमी हुई थी, उससे फ़्रांस में यही बात और भी विस्तृत पैमाने पर देखने में आयी थी, यानी वहां भी चांदी का निर्यात होने लगा था और सोने ने उसे संचलन से बाहर निकाल दिया था। १८५५, १८५६ और १८५७ में फ़्रांस से बाहर जानेवाले सोने की तुलना में फ़्रांस में आनेवाले सोने की क़ीमत ४,१५,८०,००० पाउंड अधिक थी, जब कि फ़्रांस से चांदी के निर्यात की क़ीमत आयात की तुलना में ३,४७,०४,००० पाउंड अधिक थी। सच तो यह है कि जिन देशों में क़ानून की दृष्टि से दोनों धातुएं मूल्य की माप का काम करती हैं और इसलिए दोनों वैध मुद्रा मानी जाती हैं, जिससे कि हर व्यक्ति दोनों में से किसी भी धातु में भुगतान कर सकता है, उन देशों में जिस धातु का मूल्य ऊपर चढ़ जाता है, उसका महत्त्व बढ़ जाता है, और दूसरे प्रत्येक पण्य की भांति वह अपना दाम उस धातु में मापने लगती है, जिसका मूल्य अधिक लगाया जा रहा है और जो अब असल में अकेली ही मूल्य के मापदंड का काम कर रही है। इस प्रश्न के संबंध में समस्त अनुभव और इतिहास का निष्कर्ष केवल यह है कि जहां कहीं क़ानून के अनुसार दो पण्यों से मूल्य की माप का काम लिया जाता है, वहां व्यवहार में उनमें से केवल एक ही इस स्थिति को क़ायम रख पाता है।" (Karl Marx, *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, S. 52, 53.)

[53] इंगलैंड में एक आउंस सोना तो द्रव्य के मापदंड की इकाई का काम करता है, पर पाउंड स्टर्लिंग सिक्का उसका अशेषभाजक खंड नहीं होता। इस विचित्र स्थिति का यह कारण बताया गया है कि "हमारी सिक्कों की प्रणाली पहले केवल चांदी के प्रयोग के आधार पर ही ढाली गयी थी, इसलिए एक आउंस चांदी हमेशा ही सिक्कों की एक निश्चित संख्या में बांटी जा सकती है; लेकिन इस प्रणाली में सोने का इस्तेमाल चूंकि बाद में शुरू हुआ, इसलिए एक

है कि धातु की जितनी भी मुद्राएं प्रचलित हैं, उनमें द्रव्य के, अथवा दाम के, मापदंडों को जो नाम दिये गये हैं, वे शुरू में पहले से मौजूद **तौल** के मापदंडों के नामों से लिये गये थे।

मूल्य की माप के रूप में और दाम के मापदंड के रूप में द्रव्य को दो बिल्कुल अलग-अलग ढंग के काम करने पड़ते हैं। वह चूंकि मानव-श्रम का सामाजिक दृष्टि से मान्य अवतार होता है, इसलिए वह मूल्य की माप का काम करता है, और चूंकि वह एक निश्चित तौल की धातु होता है, इसलिए वह दाम के मापदंड का काम करता है। मूल्य की माप के रूप में वह नाना प्रकार के पण्यों के मूल्यों को दामों में—यानी सोने की काल्पनिक मात्राओं में—बदलने का काम करता है, और दाम के मापदंड के रूप में वह सोने की इन मात्राओं को मापने का काम करता है। मूल्यों की माप से पण्यों को मूल्यों के रूप में मापा जाता है; इसके विपरीत दाम के मापदंड से सोने की मात्राओं को इकाई के रूप में मान ली गयी सोने की एक ख़ास मात्रा से मापा जाता है, और ऐसा नहीं होता कि सोने की एक मात्रा का मूल्य दूसरी मात्रा के **तौल** से मापा जाये। सोने को दाम का मापदंड बनाने के लिए एक निश्चित **तौल** को इकाई मानना ज़रूरी होता है। यहां पर, और यहां पर ही क्यों, जहां पर भी एक ही मान की मात्राओं को मापना आवश्यक होता है, वहीं यह बात सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त कर लेती है कि माप की कोई ऐसी इकाई स्थापित की जाये, जिसमें कोई हेर-फेर न हो। इसलिए इस इकाई में जितना कम हेर-फेर होता है, दाम का मापदंड उतनी ही अच्छी तरह अपना काम करता है। लेकिन सोना मूल्य की माप का काम केवल उसी हद तक कर सकता है, जिस हद तक कि वह ख़ुद श्रम का उत्पाद है और इसलिए ख़ुद उसके मूल्य में हेर-फेर होने की हमेशा संभावना रहती है।[54]

सबसे पहले तो यह बात बिल्कुल साफ़ है कि सोने के मूल्य में परिवर्तन हो जाने से दाम के मापदंड के रूप में उसके काम में कोई अंतर नहीं आता। उसके इस मूल्य में चाहे जितना परिवर्तन हो जाये, धातु की अलग-अलग मात्राओं के मूल्यों का अनुपात बराबर एक सा ही रहता है। सोने का मूल्य चाहे जितना नीचे क्यों न गिर जाये, १२ आउंस सोने का मूल्य तब भी १ आउंस सोने के मूल्य का बारह गुना ही रहेगा। जहां तक दामों का संबंध है, अकेली चीज़ जिसे ध्यान में रखा गया है, वह सोने की विभिन्न मात्राओं का आपसी संबंध है। दूसरी ओर, चूंकि एक आउंस सोने का मूल्य घटने या बढ़ जाने से उसके **तौल** में कोई तब्दीली नहीं आती, इसलिए उसके अशेषभाजक खंडों के तौल में भी कोई परिवर्तन नहीं आ सकता। इस प्रकार सोने के मूल्य में चाहे जितना हेर-फेर हो जाये, वह दामों के अपरिवर्तनीय मापदंड के रूप में सदा एक सा काम देता है।

दूसरी बात यह है कि सोने के मूल्य में परिवर्तन हो जाने से मूल्य की माप के रूप में उसके कामों में कोई अंतर नहीं आता। इस परिवर्तन का सभी पण्यों पर एक साथ प्रभाव पड़ता है, और इसलिए caeteris paribus [अन्य बातें यदि समान रहती हैं, तो]

आउंस सोने के सिक्के अशेषभाजक संख्या में नहीं बनाये जा सकते।" (Maclaren, *A Sketch of the History of the Currency*, London, 1858, p. 16.)

[54] अंग्रेज़ी लेखकों ने तो मूल्य की माप (measure of value) और दाम के मापदंड (standard of value) को इस बुरी तरह एक दूसरे से उलझा दिया है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनकी रचनाओं में लगातार एक के कामों की जगह दूसरे के कामों का वर्णन और एक के नाम की जगह दूसरे के नाम का उपयोग मिलता है।

तमाम पण्यों के सापेक्ष मूल्य inter se [आपस में] ज्यों के त्यों रहते हैं, हालांकि ये मूल्य अब सोने के पहले से ऊंचे या नीचे दामों में व्यक्त किये जाते हैं।

जैसे जब हम किसी पण्य के मूल्य का अनुमान किसी अन्य पण्य के उपयोग-मूल्य की एक निश्चित मात्रा द्वारा करते हैं, वैसे ही उस पण्य के मूल्य का सोने के रूप में अनुमान लगाते समय भी हम इसमें अधिक और कुछ नहीं मानकर चलते कि किसी भी काल में सोने की एक निश्चित मात्रा के उत्पादन में श्रम की एक ख़ास मात्रा ख़र्च होती है। जहां तक दामों के आम उतार-चढ़ाव का संबंध है, वे प्राथमिक सापेक्ष मूल्य के उन नियमों के अधीन रहते हैं, जिनकी हम पहले एक अध्याय में छानबीन कर चुके हैं।

सामान्य रूप से पण्यों के दाम तभी चढ़ सकते हैं, जब या तो द्रव्य का मूल्य स्थिर रहते हुए पण्यों के मूल्य बढ़ जायें या पण्यों के मूल्य स्थिर रहते हुए द्रव्य का मूल्य घट जाये। दूसरी तरफ़, सामान्य रूप से पण्यों के दाम तभी गिर सकते हैं, जब या तो द्रव्य का मूल्य स्थिर रहते हुए पण्यों के मूल्य घट जायें या पण्यों के मूल्य स्थिर रहते हुए द्रव्य का मूल्य बढ़ जाये। अतएव इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि द्रव्य का मूल्य बढ़ जाने पर पण्यों के दाम लाज़िमी तौर पर उसी अनुपात में घट जाते हैं या द्रव्य का मूल्य घट जाने पर पण्यों के दाम लाज़िमी तौर पर उसी अनुपात में बढ़ जाते हैं। इस प्रकार का परिवर्तन केवल उन्हीं पण्यों के दामों में होता है, जिनका मूल्य स्थिर रहता है। मिसाल के लिए, जिन पण्यों का मूल्य द्रव्य के मूल्य की वृद्धि के साथ-साथ और उसी अनुपात में बढ़ जाता है, उनके दामों में कोई परिवर्तन नहीं होता। यदि उनका मूल्य द्रव्य के मूल्य की अपेक्षा धीमी या तेज़ गति से बढ़ता है, तो उनके दामों का उतार या चढ़ाव इस बात से निर्धारित होगा कि उनके मूल्य में जो परिवर्तन आया है और द्रव्य के मूल्य में जो परिवर्तन हुआ है, उनके बीच कितना अंतर है, इत्यादि।

आइये, अब हम पीछे लौटकर दाम-रूप पर विचार करें।

द्रव्य का काम करनेवाली बहुमूल्य धातु के अलग-अलग वज़नों के चालू द्रव्य-नामों और इन नामों द्वारा शुरू में जिन वास्तविक वज़नों को व्यक्त किया जाता था, उनके बीच धीरे-धीरे एक असंगति पैदा हो जाती है। यह असंगति कुछ ऐतिहासिक कारणों से पैदा होती है। इनमें से मुख्य कारण ये हैं: (१) अपर्याप्त विकास वाले समाज में विदेशी मुद्रा का आयात। यह बात रोम में उसके प्रारंभिक दिनों में हुई थी, जब वहां सोने और चांदी के सिक्कों का विदेशी पण्यों के रूप में पहले-पहल परिचलन आरंभ हुआ था। इन विदेशी सिक्कों के नाम देशी तौलों के नामों से कभी मेल नहीं खाते थे। (२) जैसे-जैसे दौलत बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे अधिक मूल्यवान धातु मूल्य की माप के रूप में कम मूल्यवान धातु का स्थान ग्रहण करती जाती है। परिवर्तन का यह क्रम कवियों के काल्पनिक काल-क्रम के चाहे जितना उल्टा पड़ता हो, पर तांबे का स्थान चांदी ले लेती है और चांदी का स्थान सोना।[55] उदाहरण के लिए, पाउंड शब्द शुरू में सचमुच एक पाउंड वज़न की चांदी के द्रव्य-नाम के तौर पर इस्तेमाल किया जाता था। जब मूल्य की माप के रूप में चांदी का स्थान सोने ने ले लिया, तो सोने और चांदी के मूल्यों के बीच जो अनुपात था, उसका ध्यान रखते हुए यही शब्द संभवतः पाउंड के $\frac{१}{१५}$

---

[55] कवियों का काल्पनिक काल-क्रम ऐतिहासिक दृष्टि से भी आम तौर पर सत्य नहीं है।

वज़न के बराबर सोने के लिए इस्तेमाल होने लगा। इस तरह पाउंड शब्द के मुद्रा-नाम और तौल-नाम में अंतर हो जाता है।[56] तीसरा कारण था राजाओं और बादशाहों का सदियों तक सिक्कों में खोट मिलाना और इस चीज़ का इस हद तक बढ़ जाना कि सिक्कों का मौलिक वज़न लगभग ग़ायब हो गया और केवल नाम बाक़ी रह गया।[57]

इन ऐतिहासिक कारणों के फलस्वरूप द्रव्य-नाम का तौल-नाम से अलग हो जाना समाज के लोगों की पक्की आदत का हिस्सा बन गया। द्रव्य का मापदंड चूंकि एक ओर तो केवल रूढ़िगत है और दूसरी ओर, चूंकि उसे सार्वजनिक मान्यता प्राप्त होनी चाहिए, इसलिए अंत में उसका क़ानून द्वारा नियमन होने लगता है। किसी एक बहुमूल्य धातु का कोई निश्चित वज़न, जैसे, मिसाल के लिए, एक आउंस सोना, सरकारी तौर पर अशेषभाजक खंडों में बांटा जाता है, जिन्हें क़ानूनी तौर पर कुछ ख़ास नाम, जैसे पाउंड, डालर, आदि दे दिये जाते हैं। ये खंड, जो इसके बाद से द्रव्य की इकाइयों का काम करने लगते हैं, आगे और निश्चित खंडों में बांट दिये जाते हैं और इनको शिलिंग, पेनी, आदि जैसे कुछ क़ानूनी नाम दे दिये जाते हैं।[58] लेकिन इस तरह का बंटवारा होने के पहले भी और बाद में भी धातु का एक निश्चित वज़न ही धातु-द्रव्य का मापदंड रहता है। अंतर केवल यह पड़ता है कि इसके भाग हो जाते हैं और नये नाम दे दिये जाते हैं।

अतएव पण्यों के मूल्यों को जिन दामों में, अथवा सोने की जिन मात्राओं में, प्रत्ययात्मक ढंग से बदल दिया गया है, उन्हें अब सिक्कों के नामों द्वारा, या यूं कहिये कि सोने के मापदंड के उपभागों के क़ानूनी तौर पर मान्य नामों द्वारा, व्यक्त किया जाने लगता है। चुनांचे यह कहने के बजाय कि एक क्वार्टर गेहूं की क़ीमत एक आउंस सोना है, अब हम यह कहते हैं कि उसकी क़ीमत ३ पाउंड १७ शिलिंग और साढ़े १० पेंस है। इस तरह, दामों के ज़रिये पण्य यह बताते हैं कि उनकी कितनी क़ीमत है, और जब कभी किसी वस्तु के मूल्य को उसके द्रव्य-रूप में निश्चित करने का सवाल होता है, तब द्रव्य हिसाब के द्रव्य, या लेखा-द्रव्य, का कार्य संपन्न करता है।[59]

---

[56] यही कारण है कि अंग्रेज़ी पाउंड स्टर्लिंग का शुरू में जो वज़न था, अब उसका एक तिहाई से कम वज़न रह गया है, स्कॉटलैंड और इंगलैंड के एक हो जाने के पहले स्कॉटिश पाउंड का वज़न उसके शुरू के वज़न का केवल $\frac{१}{३६}$ रह गया था, फ़्रांस के लीव्र का वज़न $\frac{१}{७४}$ रह गया था, स्पेन के मारावेदी का वज़न $\frac{१}{१,०००}$ से भी कम रह गया था और पुर्तगाली रे का वज़न उससे भी कम रह गया था।

[57] "जो मुद्राएं आज काल्पनिक हैं, वे प्रत्येक जाति की अति प्राचीन मुद्राएं हैं। एक समय वे सब वास्तविक थीं, और चूंकि वे वास्तविक थीं, इसलिए हिसाब रखने के लिए उनका प्रयोग होता था।" (Galiani, *Della Moneta*, p. 153.)

[58] डेविड अर्कहार्ट ने अपनी रचना *Familiar Words* में इस भयानक ज्यादती (!) का ज़िक्र किया है कि आजकल पाउंड (स्टर्लिंग), जो द्रव्य के अंग्रेज़ी मापदंड की इकाई है, लगभग चौथाई आउंस सोने के बराबर रह गया है। उन्होंने लिखा है कि "यह मापदंड क़ायम करना नहीं, माप को झूठा बना देना है।" दूसरी हर चीज़ की तरह सोने की तौल के इस "झूठे मान" में भी अर्कहार्ट सभ्यता का हाथ देखते हैं, जो उनकी राय में हर चीज़ को झूठा बना देती है।

[59] जब अनाकार्सिस से यह पूछा गया कि यूनानी लोग द्रव्य से क्या काम लेते हैं, तो उसने

किसी भी वस्तु का नाम उसके गुणों से भिन्न चीज़ होता है। यह जानकर कि फ़लां ग्रादमी का नाम जैकब है, मुझे उसके बारे में कुछ भी जानकारी नहीं होती। इसी प्रकार द्रव्य के संबंध में भी पाउंड, डालर, फ्रांक, डुकाट, ग्रादि नामों में मूल्य-संबंध का प्रत्येक चिह्न ग़ायब हो जाता है। इन रहस्यमय प्रतीकों को एक गुप्त ग्रर्थ दे देने के फलस्वरूप जो गड़बड़ी पैदा होती है, वह इसलिए ग्रौर भी बढ़ जाती है कि द्रव्य के इन नामों द्वारा पण्यों के मूल्यों को ग्रौर उसके साथ-साथ धातु का जो वज़न द्रव्य का मापदंड है, उसके ग्रशेषभाजक खंडों को भी व्यक्त किया जाता है।[60] दूसरी ग्रोर, पण्यों के तरह-तरह के शारीरिक रूपों से मूल्य को ग्रलग देख पाने के लिए यह नितांत ग्रावश्यक है कि वह यह भौतिक एवं निरर्थक, किंतु साथ ही विशुद्ध सामाजिक रूप धारण कर ले।[61]

दाम किसी पण्य में मूर्त होनेवाले श्रम का द्रव्य-नाम होता है। इसलिए जो रक़म किसी पण्य का दाम है, उसके साथ उस पण्य की समतुल्यता की ग्रभिव्यंजना एक पुनरुक्ति मात्र होती है,[62] जैसे कि किसी भी पण्य के सापेक्ष मूल्य की ग्रभिव्यंजना में सामान्यतया दो पण्यों की

जवाब दिया: "हिसाब रखने का।" (Athenaeus, *Deipnosophistarum* [*libri quindecim*], I, IV, 49, v. II, ed. Schweighäuser, 1802, [p. 120.])

[60] द्रव्य जब दाम के मापदंड का काम करता है, तब वह हिसाब रखने के उन्हीं नामों में सामने ग्राता है, जिन नामों में पण्यों के दाम सामने ग्राते हैं, ग्रौर इसलिए ३ पाउंड १७ शिलिंग ग्रौर साढ़े १० पेंस की रक़म का मतलब एक तरफ़ तो एक ग्राउंस वज़न का सोना हो सकता है ग्रौर दूसरी तरफ़, उसका मतलब एक टन लोहे का मूल्य हो सकता है। इसलिए द्रव्य के इस हिसाब रखने के नाम को उसका टकसाली दाम कहा गया है। इसी से यह ग्रसाधारण धारणा पैदा हुई कि सोने के मूल्य का ख़ुद उसी के पदार्थ के रूप में ग्रनुमान लगाया जाता है ग्रौर दूसरे तमाम पण्यों के विपरीत उसका दाम राज्य निश्चित करता है। यह भ्रांति इस ग़लत विचार से पैदा हुई कि सोने के कुछ निश्चित वज़नों को हिसाब रखने के कुछ नाम दे देना ग्रौर इन वज़नों का मूल्य तय कर देना एक ही बात है।" (Karl Marx, l.c., S. 52.)

[61] देखिये *Zur Kritik der Politischen Oekonomie. Theorien von der Masseinheit des Geldes*, S. 53. सोने या चांदी के कुछ निश्चित वज़नों को पहले से जो क़ानूनी नाम मिल गये हैं, वही नाम इन धातुग्रों के थोड़े कम या ज्यादा वज़नों को देकर द्रव्य के टकसाली दाम को कम कर देने या बढ़ा देने की कुछ ग्रजीबोग़रीब धारणाएं देखने में ग्राती हैं। कम से कम जिन मामलों में इन धारणाग्रों का उद्देश्य भोंडे ग्रार्थिक दांव-पेंचों के ज़रिये सार्वजनिक तथा निजी दोनों ही प्रकार के ऋणदाताग्रों की गिरह काटना नहीं, बल्कि नीम हकीमों जैसे ग्रार्थिक नुसखे पेश करना है, उन मामलों में उनपर विलियम पैटी ने ग्रपनी रचना *Quantulumcunque Concerning Money. To the Lord Marquis of Halifax*, 1682 में इतने मुकम्मिल तौर पर विचार किया है कि उनके बाद के ग्रनुयायियों की बात तो रही दूर, तात्कालिक ग्रनुयायी – सर डडली नॉर्थ ग्रौर जॉन लॉक – भी ग्रधिक से ग्रधिक उनके शब्दों में केवल पानी ही मिला पाये हैं। पैटी ने लिखा है: "यदि ऐलान के ज़रिये किसी जाति की दौलत दस गुना बढ़ायी जा सकती है, तो फिर यह बड़े ग्राश्चर्य की बात है कि हमारे गवर्नरों ने बहुत पहले ही ऐसे ऐलान क्यों नहीं जारी कर दिये।" (l. c., p. 36.)

[62] "यदि ऐसा न होता, तो हमें यह मानना पड़ता कि द्रव्य के रूप में दस लाख के मूल्य की बिकाऊ सामान के रूप में समान मूल्य की ग्रपेक्षा ज्यादा क़ीमत होती है" (Le Trosne, l.c., p. 919.), जो यह कहने के बराबर है कि "किसी मूल्य की उसके समान मूल्य से ज्यादा क़ीमत होती है।"

समतुल्यता ही व्यक्त की जाती है। किंतु दाम यद्यपि पण्य के मूल्य के परिमाण का द्योतक होने के कारण द्रव्य के साथ उसके विनिमय के अनुपात का द्योतक होता है, तथापि उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि विनिमय के इस अनुपात का द्योतक अनिवार्य रूप से पण्य के मूल्य के परिमाण का द्योतक भी होता है। मान लीजिये कि क्रमशः १ क्वार्टर गेहूं और २ पाउंड (लगभग आधा आउंस सोना) सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम की दो समान मात्राओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस हालत में २ पाउंड १ क्वार्टर गेहूं के मूल्य के परिमाण की द्रव्य के रूप में अभिव्यंजना होंगे, यानी २ पाउंड १ क्वार्टर गेहूं का दाम होंगे। अब यदि कुछ परिस्थितियों के कारण इस दाम को बढ़ाकर ३ पाउंड कर देना संभव हो जाये या उसे घटाकर १ पाउंड कर देना जरूरी हो जाये, तब ३ पाउंड या १ पाउंड ही उसके दाम हो जायेंगे, हालांकि सच पूछिये, तो ३ पाउंड और १ पाउंड १ क्वार्टर गेहूं का मूल्य व्यक्त करने के लिए या तो बहुत ज्यादा होंगे या बहुत कम। इसका कारण यह है कि एक तो ३ पाउंड और १ पाउंड वे रूप हैं, जिनमें गेहूं का मूल्य प्रकट होता है, यानी वे द्रव्य हैं, और दूसरे, वे द्रव्य के साथ गेहूं के विनिमय-अनुपात के द्योतक हैं। यदि उत्पादन की परिस्थितियां स्थिर रहती हैं, दूसरे शब्दों में, यदि श्रम की उत्पादन-शक्ति एक सी रहती है, तो दाम में परिवर्तन होने के पहले भी और बाद में भी एक क्वार्टर गेहूं के पुनरुत्पादन में पहले जितना ही सामाजिक श्रम-काल ख़र्च करना होगा। यह बात न तो गेहूं पैदा करनेवाले की इच्छा पर निर्भर करती है और न ही अन्य पण्यों के मालिकों की इच्छा पर। मूल्य का परिमाण सामाजिक उत्पादन के एक संबंध को व्यक्त करता है। यह परिमाण किसी वस्तु विशेष और उसके उत्पादन के लिए समाज के कुल श्रम-काल के आवश्यक भाग के बीच अनिवार्य रूप से रहनेवाले संबंध को व्यक्त करता है। जैसे ही मूल्य का परिमाण दाम में बदल दिया जाता है, वैसे ही उपर्युक्त अनिवार्य संबंध किसी एक पण्य तथा द्रव्य-पण्य नामक एक अन्य पण्य के बीच कमोबेश सांयोगिक ढंग से स्थापित हो जानेवाले विनिमय-अनुपात का रूप धारण कर लेता है। लेकिन यह विनिमय-अनुपात या तो पण्य के मूल्य के वास्तविक परिमाण को व्यक्त कर सकता है या उस मूल्य से कम या ज्यादा सोने की उस मात्रा को व्यक्त कर सकता है, जिसके एवज़ में परिस्थितियों के अनुसार वह पण्य हस्तांतरित किया जाना संभव है। इसलिए दाम तथा मूल्य के परिमाण के बीच परिमाणात्मक असंगति पैदा हो जाने, या दाम के मूल्य के परिमाण से भिन्न हो जाने की संभावना तो ख़ुद दाम-रूप में ही निहित है। यह उसका कोई दोष नहीं है, बल्कि इसके विपरीत यह संभावना तो दाम-रूप को बड़े सुंदर ढंग से उत्पादन की उस प्रणाली के अनुरूप ढाल देती है, जिसके अंतर्निहित नियम केवल ऐसी अनियमितताओं के मध्यमान के रूप में ही लागू होते हैं, जो ऊपर से देखने में किसी नियम के अधीन नहीं होतीं, पर जो एक दूसरे के असर को बराबर कर देती हैं।

किंतु दाम-रूप न केवल मूल्य के परिमाण और दाम की – यानी मूल्य के परिमाण और उसकी द्रव्य-अभिव्यंजना की – असंगति की संभावना के अनुरूप है, बल्कि उसमें गुणात्मक असंगति भी छिपी हो सकती है। यह असंगति इस हद तक जा सकती है कि यद्यपि द्रव्य पण्यों के मूल्य-रूप के सिवा और कुछ नहीं होता, फिर भी यह संभव है कि दाम मूल्य को क़तई तौर पर व्यक्त करना बंद कर दे। कुछ वस्तुएं हैं, जो ख़ुद पण्य नहीं हैं, जैसे अंतःकरण, आत्म-सम्मान, आदि, पर जिनके मालिक उनको बेच सकते हैं और जो इस तरह अपने दामों के माध्यम से पण्यों का रूप धारण कर सकती हैं। अतएव किसी वस्तु में मूल्य न होते हुए भी

उसका दाम हो सकता है। ऐसी सूरत में दाम गणित की कुछ राशियों की भांति काल्पनिक होता है। दूसरी ओर, यह भी संभव है कि काल्पनिक दाम-रूप कभी-कभार किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वास्तविक मूल्य-संबंध पर पर्दा डाल दे। उदाहरण के लिए, परती ज़मीन का कोई मूल्य नहीं होता, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का मानव-श्रम नहीं लगा होता, पर उसका दाम हो सकता है।

आम तौर पर सापेक्ष मूल्य की भांति दाम भी किसी पण्य का (जैसे एक टन लोहे का) मूल्य इस प्रकार व्यक्त करता है कि समतुल्य की अमुक मात्रा का (जैसे एक आउंस सोने का) लोहे के साथ सीधा विनिमय हो सकता है। लेकिन दाम इसकी उल्टी बात कि लोहे का सोने के साथ सीधा विनिमय हो सकता है, कदापि व्यक्त नहीं करता। इसलिए यदि किसी पण्य को व्यवहार में कारगर ढंग से विनिमय-मूल्य की तरह काम करना है, तो उसके लिए ज़रूरी है कि वह अपना शारीरिक रूप त्याग दे और केवल काल्पनिक सोना न रहकर वास्तविक सोना बन जाये, हालांकि पण्य के लिए यह पदार्थांतरण हेगेल की "धारणा" के "आवश्यकता" से "स्वतंत्रता" तक पहुंच जाने, झींगा मछली के अपना खोल उतारकर फेंक देने अथवा संत जेरोम के बाबा आदम से मुक्ति पा जाने[63] की अपेक्षा अधिक कठिन सिद्ध हो सकता है। कोई पण्य (जैसे, मिसाल के लिए, लोहा) अपने वास्तविक रूप के साथ-साथ हमारी कल्पना में सोने का रूप तो ले सकता है, पर वह एक ही समय में सचमुच सोना और लोहा दोनों नहीं हो सकता। उसका दाम तय करने के लिए यह काफ़ी होता है कि कल्पना में उसको सोने के बराबर कर दिया जाये। पर यदि उसे एक सार्विक समतुल्य के रूप में अपने मालिक के काम आना है, तो इसके लिए ज़रूरी है कि उसके स्थान पर सचमुच सोना आ जाये। यदि लोहे का मालिक विनिमय के लिए पेश किये गये किसी अन्य पण्य के मालिक के पास जाकर लोहे के दाम का हवाला दे और उसकी बिना पर यह दावा करे कि लोहा अभी से द्रव्य बन गया है, तो उसको वही जवाब मिलेगा, जो स्वर्ग में संत पीटर ने दांते को दिया था, जब उसने यह श्लोक पढ़ा था कि

"इस सिक्के के धातु-मिश्रण और तौल की तो काफ़ी चर्चा हो चुकी, पर अब मुझे यह बता कि क्या यह सिक्का तेरी जेब में है।"

अतएव दाम का अर्थ जहां यह होता है कि किसी पण्य का द्रव्य के साथ विनिमय हो सकता है, वहां उसका अर्थ यह भी होता है कि उसका द्रव्य के साथ विनिमय होना ज़रूरी है। दूसरी ओर, सोना मूल्य की आदर्श माप के रूप में केवल इसीलिए काम में आता है कि उसने विनिमय की क्रिया के दौरान पहले से अपने आपको द्रव्य-पण्य के रूप में जमा लिया है। मूल्यों की आदर्श माप के पीछे वास्तव में नक़दी छिपी रहती है।

---

[63] जेरोम को न केवल अपनी युवावस्था में भौतिक काया से कठिन संघर्ष करना पड़ा था, जो इस बात से स्पष्ट है कि मरुस्थल में उन्हें अपने कल्पना-लोक की सुंदर नारियों से जूझना पड़ा था, बल्कि उनको अपनी वृद्धावस्था में आध्यात्मिक काया से भी कठिन संघर्ष करना पड़ा था। जेरोम ने कहा है: "मैंने समझा कि मैं विश्व के न्यायाधीश के दरबार में आत्मा के रूप में पेश हूं। तभी एक आवाज़ ने प्रश्न किया: 'तू कौन है?' 'मैं ईसाई हूं।' 'तू झूठ बोलता है,' वह महान न्यायाधीश गरजकर बोला, 'तू सिसेरोवादी है, और कुछ नहीं।'"

अनुभाग २ – परिचलन का माध्यम

क) पण्यों का रूपांतरण

हम एक पहले अध्याय में देख चुके हैं कि पण्यों के विनिमय के लिए कुछ परस्पर विरोधी और एक दूसरे का अपवर्जन करनेवाली परिस्थितियां आवश्यक होती हैं। जब पण्यों में पण्य और द्रव्य का भेद पैदा हो जाता है, तब उससे ये असंगतियां दूर नहीं हो जातीं, बल्कि उससे एक ऐसी modus vivendi [व्यवस्था], या यूं कहिये कि एक ऐसा रूप निकल आता है, जिसमें ये असंगतियां साथ-साथ क़ायम रह सकती हैं। आम तौर पर वास्तविक विरोधों का इसी तरह समाधान किया जाता है। मिसाल के लिए, किसी वस्तु के बारे में यह कहना एक परस्पर विरोधी बात है कि वह लगातार किसी दूसरी वस्तु की ओर गिर भी रही है और साथ ही लगातार उससे दूर भी होती जा रही है। परंतु दीर्घवृत्त गति का एक ऐसा रूप है, जो इस विरोध को बनाये भी रखता है और साथ ही उसका समाधान भी कर देता है।

जहां तक विनिमय एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा पण्य उन हाथों से निकलकर, जिनके लिए वे ग़ैर-उपयोग-मूल्य हैं, उन हाथों में पहुंच जाते हैं, जिनके पास वे उपयोग-मूल्य हो जाते हैं, वहां तक वह विनिमय पदार्थ का सामाजिक परिचलन है। उसके द्वारा एक ढंग के उपयोगी श्रम का उत्पाद दूसरे ढंग के उपयोगी श्रम के उत्पाद का स्थान ले लेता है। जब एक बार कोई पण्य उस विश्राम-स्थल पर पहुंच जाता है, जहां वह उपयोग-मूल्य का काम कर सकता है, तब वह विनिमय के क्षेत्र से निकलकर उपभोग के क्षेत्र में चला जाता है। लेकिन इस समय हमारी दिलचस्पी केवल विनिमय के क्षेत्र में ही है। इसलिए अब हमें विनिमय पर एक औपचारिक दृष्टि से विचार करना होगा और पण्यों के उस रूप-परिवर्तन – अथवा रूपांतरण – की छानबीन करनी होगी, जिसके द्वारा पदार्थ का सामाजिक परिचलन कार्यान्वित होता है।

साधारणतया इस रूप-परिवर्तन को बहुत अपूर्ण ढंग से समझा जाता है। इस अपूर्णता का कारण ख़ुद मूल्य के बारे में लोगों में बहुत अस्पष्ट धारणाएं होने के अलावा यह है कि किसी भी पण्य के रूप में होनेवाला प्रत्येक परिवर्तन दो पण्यों के विनिमय के फलस्वरूप होता है, जिनमें से एक तो साधारण पण्य होता है और दूसरा द्रव्य-पण्य होता है। यदि हम केवल इस भौतिक तथ्य को अपने सामने रखते हैं कि किसी पण्य का सोने के साथ विनिमय किया गया है, तो हम उसी चीज़ को अनदेखा कर देते हैं, जिसे हमें देखना चाहिए था – और वह यह कि पण्य के रूप को क्या हो गया है। हम इन तथ्यों को अनदेखा कर देते हैं कि जब सोना महज़ पण्य होता है, तब वह द्रव्य नहीं होता, और जब दूसरे पण्य अपने दामों को सोने के रूप में व्यक्त करते हैं, तब यह सोना ख़ुद इन पण्यों का द्रव्य-रूप भर होता है।

शुरू में पण्य अपने स्वाभाविक रूप में विनिमय की प्रक्रिया में प्रवेश करते हैं। फिर यह प्रक्रिया उनमें पण्य और द्रव्य का भेद पैदा कर देती है और इस प्रकार पण्यों के एक साथ उपयोग-मूल्य और मूल्य होने के नाते उनमें अंतर्निहित विरोध के अनुरूप एक बाहरी विरोध भी पैदा कर देती है। उपयोग-मूल्यों के रूप में पण्य अब विनिमय-मूल्य के रूप में द्रव्य के मुक़ाबले में आ खड़े होते हैं। दूसरी तरफ़, दोनों विरोधी पक्ष पण्य ही होते हैं, यानी दोनों उपयोग-मूल्य तथा मूल्य की एकता होते हैं। लेकिन भिन्नताओं की यह एकता दो विरोधी ध्रुवों पर प्रकट होती है और प्रत्येक ध्रुव पर विरोधी ढंग से प्रकट होती है। ध्रुव होने के कारण दोनों

अनिवार्य रूप से वैसे ही परस्पर विरोधी होते हैं, जैसे परस्पर संबद्ध भी होते हैं। समीकरण के एक तरफ़ एक साधारण पण्य होता है, जो वास्तव में एक उपयोग-मूल्य है। उसका मूल्य दाम के रूप में केवल प्रत्ययात्मक ढंग से व्यक्त होता है, दाम के ज़रिये उसका अपने मूल्य के वास्तविक मूर्त रूप के तौर पर अपने विरोधी – सोने – के साथ समीकरण किया जाता है। दूसरी ओर, सोना अपनी धातुगत वास्तविकता में मूल्य के साकारीभूत रूप में, यानी द्रव्य के रूप में, विद्यमान है। सोना सोने के रूप में स्वयं विनिमय-मूल्य होता है। जहां तक उसके उपयोग-मूल्य का संबंध है, उसका केवल प्रत्ययात्मक अस्तित्व है, जिसका प्रतिनिधित्व सापेक्ष मूल्य की अभिव्यंजनाओं का वह क्रम करता है, जिसमें वह बाक़ी उन तमाम पण्यों के मुक़ाबले में खड़ा होता है, जिनके उपयोगों का कुल जोड़ सोने के विभिन्न उपयोगों का कुल जोड़ होता है। पण्यों के ये परस्पर विरोधी रूप वे वास्तविक रूप हैं, जिनमें से पण्यों के विनिमय की प्रक्रिया को गुज़रना पड़ता है और जिनमें से होकर वह संपन्न होती है।

आइये, अब हम किसी पण्य के मालिक – मिसाल के तौर पर, अपने पुराने मित्र, कपड़ा बुननेवाले बुनकर – के साथ कार्यस्थल में, यानी मंडी में चलें। उसके २० गज़ कपड़े का एक निश्चित दाम है। मान लीजिये, उसका दाम २ पाउंड है। वह कपड़े का २ पाउंड के साथ विनिमय कर डालता है, और फिर पुराने ढंग का आदमी होने के नाते वह इसी दाम की एक पारिवारिक बाइबल के एवज़ में ये २ पाउंड भी दे डालता है। कपड़े को, जो उसकी नज़रों में महज़ एक पण्य है, केवल मूल्य का आधान है, वह सोने के एवज़ में दूसरे को दे डालता है; सोना कपड़े का मूल्य-रूप है, और इस रूप को वह फिर एक और पण्य के एवज़ में, यानी बाइबल के एवज़ में, दे डालता है, जो अब एक उपयोगी वस्तु के रूप में उसके घर में प्रवेश करेगी और घर के निवासियों का नैतिक स्तर ऊपर उठाने के काम में आयेगी। इस प्रकार विनिमय दो परस्पर विरोधी और फिर भी एक दूसरे के पूरक रूपांतरणों द्वारा संपन्न होता है: एक रूपांतरण में पण्य द्रव्य में बदल दिया जाता है, दूसरे में द्रव्य फिर पण्य में बदल दिया जाता है।[64] इस रूपांतरण की ये दो अवस्थाएं दो अलग-अलग कार्य हैं, बुनकर जिनको संपन्न करता है। एक बार वह बेचता है, यानी द्रव्य से पण्य का विनिमय करता है। दूसरी बार वह ख़रीदता है, यानी एक पण्य से द्रव्य का विनिमय करता है। इन दो कार्यों में एकता भी है, क्योंकि वह ख़रीदने के लिए बेचता है।

इस पूरे कार्यकलाप का बुनकर के लिए यह नतीजा निकलता है कि अब उसके पास कपड़े के बजाय बाइबल होती है; शुरू में जो पण्य उसके पास था, अब उसके बजाय उसके पास उतने ही मूल्य का, लेकिन एक भिन्न उपयोग का एक नया पण्य आ जाता है। वह अपने जीवन-निर्वाह के अन्य साधन तथा उत्पादन के साधन भी इसी ढंग से प्राप्त करता है। उसके दृष्टिकोण से इस पूरी क्रिया के द्वारा इससे अधिक और कुछ नहीं संपन्न होता कि उसके श्रम के उत्पाद का किसी और के श्रम के उत्पाद से विनिमय हो जाता है, उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के विनिमय से अधिक और कुछ नहीं होता।

---

[64] "जिस तरह सोना पण्यों में बदल जाता है और पण्य सोने में बदल जाते हैं, उसी तरह अग्नि सब वस्तुओं में बदल जाती है, और सब वस्तुएं अग्नि में बदल जाती हैं।" (F. Lassalle, *Die Philosophie Herakleitos des Dunkeln*, Berlin, 1858, Bd. I, S. 222.) पृ० २२४ पर लासाल ने इस अंश के संबंध में जो नोट (नोट ३) दिया है, उसमें उसने ग़लती से सोने को मूल्य का प्रतीक मात्र बना दिया है।

अतएव पण्यों के विनिमय के साथ-साथ उनके रूप में निम्नलिखित परिवर्तन हो जाता है :

पण्य – द्रव्य – पण्य
C — M — C

जहां तक ख़ुद वस्तुओं का संबंध है, पूरी क्रिया का फल होता है C — C, यानी एक पण्य के साथ दूसरे पण्य का विनिमय, अर्थात् भौतिक रूप प्राप्त सामाजिक श्रम का परिचलन। जब यह फल प्राप्त हो जाता है, तब क्रिया समाप्त हो जाती है।

C — M. पहला रूपांतरण, अथवा बिक्री

मूल्य पण्य के शरीर से छलांग मारकर जिस प्रकार सोने के शरीर में पहुंच जाता है, वह जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा है, पण्य की salto mortale [मौत की छलांग] होती है। यदि छलांग में पूरी सफलता नहीं मिलती, तो ख़ुद पण्य का तो कुछ नहीं होता, पर उसके मालिक का निश्चय ही नुक़सान होता है। उसके मालिक की आवश्यकताएं जितनी बहुमुखी हैं, सामाजिक श्रम-विभाजन उसके श्रम को उतना ही एकांगी बना देता है। ठीक यही कारण है कि उसके श्रम का उत्पाद केवल विनिमय-मूल्य के रूप में ही उसके काम आता है। लेकिन वह सामाजिक दृष्टि से मान्य सार्विक समतुल्य का गुण केवल तभी प्राप्त कर सकता है, जब कि उसे द्रव्य में बदल डाला जाये। किंतु वह द्रव्य किसी और की जेब में है। उस जेब से द्रव्य को बाहर निकालने के लिए सबसे ज्यादा ज़रूरी बात यह है कि हमारे मित्र का पण्य द्रव्य के मालिक के लिए उपयोग-मूल्य हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि पण्य पर ख़र्च किया गया श्रम सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हो, अर्थात् वह श्रम सामाजिक श्रम-विभाजन की एक शाखा हो। लेकिन श्रम-विभाजन उत्पादन की एक ऐसी प्रणाली है, जिसका स्वयंस्फूर्त ढंग से विकास हुआ है और यह विकास उत्पादकों के पीठ पीछे अब भी जारी है। जिस पण्य का विनिमय होता है, वह, संभव है, किसी नये प्रकार के श्रम का उत्पाद हो, जो किन्हीं नयी आवश्यकताओं को पूरा करने का या हो सकता है कि किन्हीं नयी आवश्यकताओं को पैदा कर देने का भी दावा करता हो। कल तक जो क्रिया विशेष संभवतः किसी पण्य को तैयार करने के लिए किसी उत्पादक द्वारा की जानेवाली अनेक क्रियाओं में से एक ही थी, वह हो सकता है कि आज अपने को इस संबंध से अलग कर ले, अपने को श्रम की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में जमा ले और अपने अपूर्ण उत्पाद को एक स्वतंत्र पण्य के रूप में मंडी में भेज दे। इस प्रकार के संबंध-विच्छेद के लिए परिस्थितियां परिपक्व भी हो सकती हैं और अपरिपक्व भी। आज कोई उत्पाद एक सामाजिक आवश्यकता पूरी करता है। कल को मुमकिन है कि और अधिक उपयोगी उत्पाद पूर्णतया अथवा आंशिक रूप से उस वस्तु का स्थान ले ले। इसके अलावा, हमारे बुनकर का श्रम सामाजिक श्रम-विभाजन की एक मान्य शाखा तो हो सकता है, परंतु यह बात उसके २० गज़ कपड़े की उपयोगिता की गारंटी करने के लिए काफ़ी नहीं है। यदि समाज की कपड़े की आवश्यकता – और प्रत्येक दूसरी आवश्यकता की तरह इस प्रकार की आवश्यकता की भी एक सीमा होती है – प्रतिद्वंद्वी बुनकरों के उत्पाद से पहले ही तृप्त हो गयी है, तो हमारे मित्र का उत्पाद फ़ालतू, अनावश्यक और इसलिए अनुपयोगी हो जाता है। यह

तो सही है कि जब घोड़ा मुफ़्त में मिलता हो, तो कोई उसके दांत नहीं देखता, लेकिन हमारा मित्र लोगों को तोहफ़े बांटने के लिए मंडी में नहीं घूमता। लेकिन मान लीजिये कि उसका उत्पाद वास्तव में उपयोग-मूल्य सिद्ध होता है और इस प्रकार द्रव्य को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। तब सवाल उठता है कि वह कितने द्रव्य को अपनी ओर आकर्षित करेगा? इसमें संदेह नहीं कि इस प्रश्न का उत्तर इस वस्तु के दाम के रूप में, अर्थात् उसके मूल्य के परिमाण के द्योतक के रूप में, पहले से ही दे दिया गया है। मूल्य का हिसाब लगाने में यदि हमारा मित्र अकस्मात् कोई ग़लती कर गया है, तो उसकी ओर हम यहां कोई ध्यान नहीं देंगे, ऐसी ग़लती मंडी में जल्दी ही ठीक हो जाती है। हम यह भी मान लेते हैं कि उसने अपने उत्पाद पर केवल इतना ही श्रम-काल ख़र्च किया है, जितना सामाजिक दृष्टि से औसतन आवश्यक है। अतएव, दाम केवल उसके पण्य में मूर्त होनेवाले सामाजिक श्रम की मात्रा का द्रव्य-नाम है। लेकिन हमारे बुनकर से पूछे बिना और उसके पीठ पीछे कपड़ा बुनने की पुराने ढंग की प्रणाली में परिवर्तन हो जाता है। जो श्रम-काल कल तक निस्संदेह एक गज़ कपड़े के उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक था, वह आज आवश्यक नहीं रहता। यह बात ऐसी है, जिसे द्रव्य का मालिक हमारे मित्र के प्रतिद्वंद्वियों द्वारा बताये गये दामों के आधार पर सिद्ध करने के लिए अत्यंत उत्सुक है। हमारे मित्र के दुर्भाग्य से बुनकर भी संख्या में बहुत थोड़े और दुर्लभ हों, ऐसी बात नहीं है। अंत में मान लीजिये कि मंडी में कपड़े के जितने भी टुकड़े मौजूद हैं, उनमें से किसी में भी सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल से अधिक श्रम-काल नहीं लगा है। इसके बावजूद यह मुमकिन है कि कुल मिलाकर इन सब टुकड़ों पर आवश्यकता से अधिक श्रम-काल ख़र्च हो गया हो। यदि २ शिलिंग फ़ी गज़ के सामान्य भाव पर सारा कपड़ा मंडी में नहीं खप पाता, तो इससे यह साबित हो जाता है कि समाज के कुल श्रम का आवश्यकता से अधिक भाग बनाई के रूप में ख़र्च कर डाला गया है। इसका असर वही होता है, जो प्रत्येक अलग-अलग बुनकर द्वारा अपने ख़ास उत्पाद पर सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल से अधिक श्रम-काल ख़र्च कर देने से होता है। यहां वह जर्मन कहावत लागू होगी कि "साथ पकड़े गये, साथ ही लटका दिये गये"। मंडी में जितना कपड़ा मौजूद है, वह सब केवल एक वाणिज्य-वस्तु गिना जाता है, जिसका हरेक टुकड़ा उसका केवल एक अशेषभाजक खंड होता है। और सच पूछिये, तो हर एक-एक गज़ कपड़े का मूल्य भी सजातीय मानव-श्रम की एक सी, निश्चित एवं सामाजिक रूप से निर्धारित मात्रा का साकारीभूत रूप मात्र ही है।*

अतएव यहां हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि पण्यों को द्रव्य से प्रेम हो गया है, मगर "सच्चे प्रेम का मार्ग सदा कांटों से भरा होता है"। श्रम का परिमाणात्मक विभाजन भी ठीक वैसे ही स्वयंस्फूर्त तथा सांयोगिक ढंग से होता है, जैसे उसका गुणात्मक विभाजन होता है। इसलिए पण्यों के मालिकों को पता चलता है कि जिस श्रम-विभाजन ने उनको निजी तौर

---

*न० फ़० दनियेलसोन (निकोलाई–ओन) के नाम २८ नवंबर १८७८ के अपने पत्र में मार्क्स ने सुझाव दिया था कि इस वाक्य को यूं बदल दिया जाये: "और सच पूछिये, तो हर एक गज़ कपड़े का मूल्य तमाम गज़ों के ऊपर ख़र्च किये गये सामाजिक श्रम के एक भाग का साकारीभूत रूप मात्र ही है।" 'पूंजी' के प्रथम खंड के दूसरे जर्मन संस्करण की मार्क्स की एक निजी प्रति में भी इसी से मिलता-जुलता परिवर्तन किया गया था, परंतु यह परिवर्तन ख़ुद मार्क्स की लिखावट में नहीं है। (रूसी संस्करण में मार्क्सवाद-लेनिनवाद इंस्टीट्यूट की पाद-टिप्पणी)। – सं०

पर उत्पादन करनेवाले स्वतंत्र उत्पादकों का रूप दे दिया है, उसी ने उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया और उस प्रक्रिया के भीतर अलग-अलग उत्पादकों के पारस्परिक संबंधों को भी इन उत्पादकों की इच्छा से सर्वथा स्वतंत्र कर दिया है और व्यक्तियों की दिखावटी पारस्परिक स्वाधीनता के पूरक के तौर पर उत्पाद के माध्यम से, या उत्पाद के ज़रिये, सामान्य एवं पारस्परिक पराधीनता की एक व्यवस्था क़ायम हो गयी है।

श्रम-विभाजन श्रम के उत्पाद को पण्य में बदलता है और इस प्रकार उसका आगे द्रव्य में बदला जाना ज़रूरी बना देता है। इसके साथ-साथ श्रम-विभाजन के फलस्वरूप इस पदार्थांतरण का संपन्न होना बिल्कुल संयोग की बात बन जाता है। किंतु यह हमारा संबंध घटना के केवल समग्र रूप से है, और इसलिए हम यह मान लेते हैं कि उसकी सामान्य ढंग से प्रगति होती है। इसके अलावा यदि पण्यों का परिवर्तन किसी भी तरह होना ही है, यानी अगर पण्य ऐसा नहीं है, जो किसी भी तरह नहीं बिक सकता, तो उसका रूपांतरण अवश्य होता है, भले ही उसके एवज़ में मिलनेवाला दाम मूल्य की अपेक्षा असाधारण ढंग से ज़्यादा या कम हो।

बेचनेवाले के पण्य का स्थान सोना ले लेता है, ख़रीदनेवाले के सोने के स्थान पर एक पण्य आ जाता है। यहां हमारी आंखों के सामने आनेवाला तथ्य यह है कि एक पण्य और सोना – यानी २० गज़ कपड़ा और २ पाउंड – हस्तांतरित और स्थानांतरित हुए हैं, या यूं कहिये कि उनका विनिमय हुआ है। लेकिन पण्य का किस चीज़ के साथ विनिमय हुआ है? ख़ुद उसके मूल्य ने जो रूप धारण कर लिया है, उसके साथ, यानी सार्विक समतुल्य के साथ। और सोने का किस चीज़ के साथ विनिमय हुआ है? उसके अपने उपयोग-मूल्य के एक विशिष्ट रूप के साथ। कपड़े के मुक़ाबले में खड़े होने पर सोना द्रव्य का रूप क्यों धारण कर लेता है? इसलिए कि कपड़े का २ पाउंड दाम, यानी द्रव्य के रूप में उसका अंकित मूल्य, पहले से ही द्रव्य के रूप में सोने के साथ कपड़े का समीकरण कर चुका है। कोई भी पण्य जब वह हस्तांतरित होता है, यानी ज्यों ही उसका उपयोग-मूल्य सचमुच उस सोने को अपनी ओर आकर्षित करता है, जो इसके पहले केवल प्रत्ययात्मक ढंग से ही उसके दाम में विद्यमान था, त्यों ही वह अपने मूल पण्य-रूप को त्याग देता है। इसलिए किसी भी पण्य के दाम का, यानी उसके प्रत्ययात्मक मूल्य-रूप का मूर्त हो जाना साथ ही द्रव्य के प्रत्ययात्मक उपयोग-मूल्य का भी मूर्त हो जाना है। इसी प्रकार किसी पण्य का द्रव्य में बदल जाना साथ ही द्रव्य का पण्य में बदल जाना भी है। देखने में इकहरी मालूम होनेवाली यह प्रक्रिया वास्तव में दोहरी प्रक्रिया है। पण्य के मालिक के ध्रुव पर खड़े होकर देखिये, तो वह बिक्री है, और द्रव्य के मालिक के विरोधी ध्रुव के दृष्टिकोण से देखिये, तो वह ख़रीद है। दूसरे शब्दों में, बिक्री ख़रीद भी होती है यानी C—M M—C भी है।[65]

यहां तक हमने मनुष्यों की केवल एक ही आर्थिक हैसियत पर विचार किया है, और वह है उनकी पण्यों के मालिकों की हैसियत, जिस हैसियत में वे ख़ुद अपने श्रम के उत्पाद को हस्तांतरित करके दूसरों के श्रम के उत्पाद को हस्तगत करते हैं। इसलिए यदि पण्य का

---

[65] "हर बिक्री ख़रीद होती है।" (Dr. Quesnay, *Dialogues sur le Commerce et les Tra aux des Artisans. Physiocrates*, éd. Daire, partie I, Paris, 1846, p. 170.), या, जैसा कि उसी केने ने अपनी रचना *Maximes générales* में कहा है, "बेचना ख़रीदना है"।

एक मालिक किसी दूसरे ऐसे मालिक से मिलना चाहता है, जिसके पास द्रव्य हो, तो उसके लिए ज़रूरी है कि या तो उस दूसरे व्यक्ति के – अर्थात् ख़रीदार के – श्रम का उत्पाद ख़ुद द्रव्य हो, यानी सोना अथवा वह पदार्थ हो, जिससे द्रव्य बनता है, या उसका उत्पाद पहले से अपना चोला बदल चुका हो और उपयोगी वस्तु का अपना मूल रूप त्याग चुका हो। द्रव्य की भूमिका अदा करने के लिए, ज़ाहिर है, यह ज़रूरी है कि सोना किसी न किसी स्थान पर मंडी में प्रवेश कर जाये। यह स्थान सोने का उत्पादन-स्थल होता है, जहां इस धातु की, श्रम के तात्कालिक उत्पाद के रूप में, समान मूल्य की किसी अन्य उत्पाद के साथ अदला-बदली होती है। बस इसी क्षण से सोना सदा किसी न किसी पण्य के मूर्त रूप प्राप्त दाम का प्रतिनिधित्व करने लग जाता है।[66] अपने उत्पादन-स्थल पर अन्य पण्यों के साथ सोने का जो विनिमय होता है, उसके अलावा, सोना चाहे जिसके हाथ में हो, वह किसी ऐसे पण्य का परिवर्तित रूप होता है, जिसे उसके मालिक ने हस्तांतरित कर दिया है: वह बिक्री का, अथवा पहले रूपांतरण C — M का उत्पाद होता है।[67] जैसा कि हमने ऊपर देखा था, सोना इसलिए आदर्श द्रव्य, अथवा मूल्यों की माप, हो गया कि सब पण्य उससे अपने मूल्यों को मापने लगे थे और इस प्रकार उपयोगी वस्तुओं के तौर पर उनके प्राकृतिक रूप उससे प्रत्ययात्मक स्तर पर मुक़ाबला करने लगे थे, और उसे उन्होंने अपने मूल्य का रूप बना लिया था। वह वास्तविक द्रव्य बना है पण्यों के आम हस्तांतरण के फलस्वरूप उपयोगी वस्तुओं के रूप में पण्यों के प्राकृतिक रूपों से स्थान-परिवर्तन करके और इस प्रकार वास्तव में उनके मूल्यों का मूर्त रूप बनकर। जब पण्य यह द्रव्य-रूप धारण करते हैं, तब वे अपने को समांगीय मानव-श्रम के एकरूप एवं सामाजिक दृष्टि से मान्य अवतार में रूपांतरित करने के लिए अपने प्राकृतिक उपयोग-मूल्य को और उस विशेष ढंग के श्रम को, जिससे वे उत्पन्न हुए हैं, इस तरह अपने से अलग कर देते हैं कि उनका लेश मात्र भी बाक़ी नहीं रहता। किसी सिक्के को महज़ देखकर हम यह नहीं बता सकते कि उसका किस ख़ास पण्य से विनिमय हुआ है। अपने द्रव्य-रूप में सब पण्य एक से दिखायी देते हैं। इसलिए द्रव्य कूड़ा भी हो सकता है, हालांकि कूड़ा द्रव्य नहीं होता। हम यह मानकर चलेंगे कि सोने के जिन दो टुकड़ों के एवज़ में हमारे बुनकर ने अपना कपड़ा त्याग दिया है, वे एक क्वार्टर गेहूं का रूपांतरित रूप हैं। कपड़े की बिक्री, C — M, साथ ही उसकी ख़रीद, M — C, भी होती है। लेकिन बिक्री उस प्रक्रिया में पहला कर्म है, जो एक विरोधी ढंग के कर्म से, अर्थात् एक बाइबल की ख़रीद से, समाप्त होती है; दूसरी ओर, कपड़े की ख़रीद उस प्रक्रिया को समाप्त करती है, जो एक विरोधी ढंग के कर्म से, अर्थात् गेहूं की बिक्री से, आरंभ हुई थी। C — M (कपड़ा – द्रव्य), जो C — M — C (कपड़ा – द्रव्य – बाइबल) की पहली अवस्था है, M — C (द्रव्य – कपड़ा) भी है, जो एक दूसरी प्रक्रिया की, यानी C — M — C (गेहूं – द्रव्य – कपड़ा) की अंतिम अवस्था है। अतएव, किसी पण्य का पहला रूपांतरण, यानी किसी पण्य

---

[66] "किसी पण्य का दाम अदा करने का केवल यही तरीक़ा है कि किसी और पण्य के दाम के द्वारा उसे निपटाया जाये।" (Mercier de la Rivière, *L'Ordre naturel et essentiel des Sociétés politiques. Physiocrates*, éd. Daire, partie II, p. 554.)

[67] "इस द्रव्य को हासिल करने के लिए उसने ज़रूर कोई चीज़ बेची होगी।" (l. c., p. 543.)

का द्रव्य में परिवर्तन, अनिवार्य रूप से सदा किसी अन्य पण्य का दूसरा रूपांतरण, अर्थात् उसका द्रव्य से पण्य में परिवर्तन, भी होता है।[68]

M — C, अथवा ख़रीद। पण्य का दूसरा और अंतिम रूपांतरण

द्रव्य चूंकि अन्य सब पण्यों का बदला हुआ रूप और उनके सामान्य हस्तांतरण का फल है, इसलिए उसे बिना किसी बाधा या शर्त के हस्तांतरित किया जा सकता है। द्रव्य सब दामों को पीछे की ओर से पढ़ता है और इस तरह मानो अन्य सब पण्यों में अपने को प्रतिबिंबित करता है, और वे उसे ख़ुद अपने उपयोग-मूल्य को व्यवहार में लाने के लिए उपयुक्त सामग्री प्रदान करते हैं। इसके साथ-साथ दाम, यानी जिन्हें द्रव्य से प्रेम-निवेदन करनेवाले पण्यों के नयन कहा जा सकता है, द्रव्य की मात्रा की ओर संकेत करके उसकी परिवर्तनीयता की सीमाओं को निश्चित करते हैं। चूंकि प्रत्येक पण्य द्रव्य बन जाने पर पण्य के रूप में ग़ायब हो जाता है, इसलिए ख़ुद द्रव्य को देखकर यह बताना असंभव है कि वह अपने मालिक के हाथ में कैसे पहुंचा है या किस वस्तु को द्रव्य में बदला गया है। उसका मूल कुछ भी हो, द्रव्य से कभी बू नहीं आती। वह एक ओर, बिके हुए पण्य का, तो दूसरी ओर, ख़रीदे जानेवाले पण्य का प्रतिनिधित्व करता है।[69]

M — C, जो कि ख़रीद है, साथ ही C — M, यानी बिक्री भी होती है; एक पण्य का अंतिम रूपांतरण किसी और पण्य का पहला रूपांतरण होता है। जहां तक हमारे बुनकर का संबंध है, उसके पण्य की ज़िंदगी बाइबल के साथ ख़त्म हो जाती है, जिसमें उसने अपने २ पाउंडों को बदल डाला है। लेकिन मान लीजिये कि जिसने उसे बाइबल बेची है, वह बुनकर द्वारा मुक्त किये गये २ पाउंडों को ब्राण्डी में बदल डालता है। C — M — C (कपड़ा — द्रव्य — बाइबल) की अंतिम अवस्था M — C साथ ही C — M — C (बाइबल — द्रव्य — ब्राण्डी) की पहली अवस्था भी है। किसी एक पण्य को पैदा करनेवाले के पास बेचने के लिए अकेला वही पण्य होता है और उसे वह अकसर बहुत बड़े-बड़े परिमाणों में बेचता है। लेकिन उसकी नाना प्रकार की अनेक आवश्यकताएं उसे मजबूर करती हैं कि अपने पण्य के उसे जो दाम मिलें, या इस तरह जो रक़म मुक्त हो, उसे वह बहुत सी ख़रीदारियों में बांटकर ख़र्च करे। चुनांचे एक बिक्री के फलस्वरूप विविध प्रकार की वस्तुओं की अनेक ख़रीदारियां होती हैं। इस प्रकार किसी एक पण्य का अंतिम रूपांतरण तरह-तरह के अन्य पण्यों के प्रथम रूपांतरणों का जोड़ होता है।

अब यदि हम किसी एक पण्य के पूर्ण निष्पादित रूपांतरण पर विचार करें, तो सबसे पहले तो यह प्रकट होता है कि वह दो विरोधी एवं पूरक गतियों से मिलकर बना है, एक

---

[68] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सोने या चांदी का वास्तविक उत्पादक इसका अपवाद होता है। वह अपने उत्पाद को पहले बेचता नहीं, बल्कि बिना बेचे ही उसका किसी अन्य पण्य से सीधा विनिमय कर लेता है।

[69] "यदि हमारे हाथ में द्रव्य उन वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करता है, जिनको हम ख़रीदना चाहते हैं, तो साथ ही वह उन वस्तुओं का भी प्रतिनिधित्व करता है, जिनको हमने इस द्रव्य को प्राप्त करने के लिए बेच डाला है।" (Mercier de la Rivière, l.c., p. 586.)

है C—M और दूसरी M—C. पण्य के ये दो परस्पर विरोधी तत्त्वांतरण उसके मालिक के दो परस्पर विरोधी सामाजिक कृत्यों के फलस्वरूप होते हैं, और ये सामाजिक कृत्य ख़ुद मालिक की दो आर्थिक भूमिकाओं पर अपनी-अपनी छाप अंकित कर देते हैं। बिक्री करनेवाले व्यक्ति के रूप में वह बेचनेवाला होता है, ख़रीद करनेवाले व्यक्ति के रूप में वह ख़रीदार होता है। लेकिन जिस तरह किसी भी पण्य के इस प्रकार के तत्त्वांतरण के समय उसके दो रूप – पण्य-रूप और द्रव्य-रूप – साथ-साथ, मगर दो विरोधी ध्रुवों पर विद्यमान होते हैं, ठीक उसी प्रकार हर बेचनेवाले के मुक़ाबले में एक ख़रीदार होता है और हर ख़रीदार के मक़ाबले में एक बेचनेवाला होता है। जिस समय कोई ख़ास पण्य बारी-बारी से अपने दो तत्त्वांतरणों में से गुज़र रहा होता है, यानी जब वह पहले पण्य से द्रव्य में और फिर द्रव्य से किसी और पण्य में बदल रहा होता है, उस समय पण्य के मालिक की भूमिका भी बेचनेवाले से ख़रीदार की भूमिका में तब्दील हो रही होती है। अतएव बेचनेवाले और ख़रीदार की ये भूमिकाएं स्थायी नहीं होतीं, बल्कि वे पण्यों के परिचलन में भाग लेनेवाले अनेक व्यक्तियों से बारी-बारी से संबंधित होती रहती हैं।

किसी भी पण्य के संपूर्ण रूपांतरण के यदि सबसे सरल रूप को लिया जाये, तो उसमें चार चरमावस्थाएं और तीन personae dramatis [नाटक के तीन पात्र] होते हैं। पहले पण्य द्रव्य का सामना करता है; द्रव्य पण्य के मूल्य द्वारा धारण किया हुआ रूप होता है और अपनी ठोस और वास्तविक शक्ल में ख़रीदार की जेब में होता है। इस प्रकार पण्य के मालिक का द्रव्य के मालिक से संपर्क क़ायम हो जाता है। अब जैसे ही पण्य द्रव्य में बदल दिया जाता है, वैसे ही द्रव्य उसका अस्थायी समतुल्य-रूप बन जाता है, जिस समतुल्य-रूप का उपयोग-मूल्य अन्य पण्यों के शरीरों में पाया जाता है। पहले तत्त्वांतरण का अंतिम चरण, यानी द्रव्य साथ ही दूसरे तत्त्वांतरण का प्रस्थान-बिंदु होता है। जो व्यक्ति पहले सौदे में विक्रेता होता है, वह, इस प्रकार, दूसरे सौदे में ग्राहक बन जाता है, और पण्यों का एक तीसरा मालिक विक्रेता के रूप में घटनास्थल पर आकर उपस्थित हो जाता है।[70]

किसी भी पण्य के रूपांतरण में जो दो, एक दूसरे की उल्टी अवस्थाएं शामिल होती हैं, उनको यदि जोड़ दिया जाये, तो एक वृत्ताकार गति, अथवा एक परिपथ बन जाता है: पहले पण्य-रूप, फिर उस रूप का परित्याग और अंत में फिर पण्य-रूप में लौट जाना। इसमें संदेह नहीं कि पण्य यहां दो भिन्न-भिन्न स्वरूपों में सामने आता है। प्रस्थान-बिंदु पर वह अपने मालिक के लिए उपयोग-मूल्य नहीं होता, समाप्ति-बिंदु पर वह उपयोग-मूल्य होता है। इसी प्रकार द्रव्य पहली अवस्था में मूल्य के ठोस स्फटिक के रूप में सामने आता है, जिसमें पण्य बड़ी उत्सुकता के साथ बदल जाता है, और दूसरी अवस्था में वह महज़ अस्थायी समतुल्य के रूप में घुलकर रह जाता है, जिसका स्थान बाद में कोई उपयोग-मूल्य ले लेता है।

जिन दो रूपांतरणों से मिलकर यह परिपथ तैयार होता है, वे साथ ही साथ दो अन्य पण्यों के उल्टे और आंशिक रूपांतरण भी होते हैं। एक ही पण्य (कपड़ा) ख़ुद अपने रूपांतरणों का क्रम आरंभ करता है और साथ ही एक दूसरे पण्य (गेहूं) के रूपांतरण को पूरा भी कर देता है। पहली अवस्था में, यानी बिक्री में, कपड़ा ये दोनों भूमिकाएं ख़ुद अपने ही

---

[70] "अतएव इसमें... चार चरमावस्थाएं और सौदा करनेवाले तीन पक्ष होते हैं, जिनमें से एक पक्ष दो बार हस्तक्षेप करता है।" (Le Trosne, l.c., p. 909.)

रूप में संपन्न करता है। लेकिन उसके बाद सोने में बदल जाने पर वह अपना दूसरा और अंतिम रूपांतरण पूरा करता है और साथ ही एक तीसरे पण्य का पहला रूपांतरण संपन्न कराने में मदद देता है। चुनांचे अपने रूपांतरणों के दौरान कोई भी पण्य जिस परिपथ से गुज़रता है, वह अन्य पण्यों के परिपथों से इस तरह उलझा रहता है कि उसे उनसे अलग नहीं किया जा सकता। तमाम अलग-अलग परिपथों का कुल जोड़ पण्यों का परिचलन कहलाता है।

पण्यों का परिचलन पैदावारों के प्रत्यक्ष विनिमय (अदला-बदली) से न केवल रूप में, बल्कि सारतत्त्व में भी भिन्न होता है। घटनाओं के क्रम पर एक नज़र डाल कर देखिये, बात साफ़ हो जायेगी। सच पूछिये, तो बुनकर ने अपने कपड़े का विनिमय बाइबल से किया है, यानी उसने अपना पण्य किसी और के पण्य से बदल लिया है। लेकिन यह बात केवल वहीं तक सच है, जहां तक ख़ुद उसका अपना संबंध है। जिसने बाइबल बेची है, उसे कोई ऐसी चीज़ चाहिए, जो उसके भीतर गरमाहट पहुंचा सके। जिस प्रकार हमारे बुनकर को यह मालूम नहीं था कि उसके कपड़े का गेहूं के साथ विनिमय हुआ है, उसी प्रकार बाइबल बेचनेवाले को अपनी बाइबल का कपड़े के साथ विनिमय करने का तनिक भी ख़याल न था। क के पण्य का स्थान ख का पण्य ले लेता है। लेकिन क और ख ख़ुद इन पण्यों का विनिमय नहीं करते। बेशक यह भी मुमकिन है कि क और ख एक ही समय में और एक दूसरे से ख़रीदारी कर डालें, पर इस प्रकार के सौदे अपवादस्वरूप होते हैं, वे पण्यों के परिचलन की सामान्य परिस्थितियों का अनिवार्य परिणाम कदापि नहीं होते। यहां हम एक ओर, यह देखते हैं कि किस प्रकार पण्यों का विनिमय उन तमाम स्थानीय एवं व्यक्तिगत बंधनों को तोड़ डालता है, जो प्रत्यक्ष विनिमय के साथ अनिवार्य रूप से जुड़े होते हैं, और सामाजिक श्रम की पैदावार के परिचलन को विकसित करता है; और दूसरी ओर, हम यहां यह देखते हैं कि किस प्रकार पण्यों का विनिमय ऐसे सामाजिक संबंधों का एक पूरा जाल तैयार कर डालता है, जो स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित होते हैं और नाटक के पात्रों के नियंत्रण से सर्वथा स्वतंत्र रहते हैं। क्योंकि किसान ने अपना गेहूं बेच डाला है, इसीलिए बुनकर अपना कपड़ा बेच पाता है; हमारा वह ब्राण्डी-प्रेमी यदि अपनी बाइबल बेच पाता है, तो केवल इसीलिए कि बुनकर ने अपना कपड़ा बेच डाला है; और शराब बनानेवाला यदि अपनी जीवनदायिनी सुरा बेच पाता है, तो केवल इसीलिए कि हमारे ब्राण्डी-प्रेमी ने अपनी eau-de-vie [अमरत्वदायिनी पुस्तक] बेच डाली है; और इसी तरह क्रम आगे बढ़ता जाता है।

अतएव परिचलन की प्रक्रिया, पैदावार के प्रत्यक्ष विनिमय की तरह, उपयोग-मूल्यों के स्थानांतरित और हस्तांतरित होने पर समाप्त नहीं हो जाती। किसी एक पण्य के रूपांतरण के परिपथ से बाहर निकल जाने पर द्रव्य ग़ायब नहीं हो जाता। उसका तो लगातार परिचलन के क्षेत्र के उन नये स्थानों में अवक्षेपण होता रहता है, जिनको दूसरे पण्य ख़ाली कर जाते हैं। मिसाल के लिए, कपड़े के संपूर्ण रूपांतरण में, यानी कपड़ा – द्रव्य – बाइबल में, पहले कपड़ा परिचलन के बाहर चला जाता है और उसका स्थान द्रव्य ले लेता है, फिर बाइबल परिचलन के बाहर चली जाती है और एक बार फिर द्रव्य उसका स्थान ले लेता है। जब कोई पण्य किसी दूसरे पण्य का स्थान ले लेता है, तो द्रव्य-पण्य सदा किसी तीसरे व्यक्ति के

हाथों में बना रहता है।[71] परिचलन के प्रत्येक रंध्र से द्रव्य पसीने की तरह बाहर निकलता रहता है।

इस जड़सूत्र से अधिक बचकानी बात और कोई नहीं हो सकती कि चूंकि हर बिक्री ख़रीद होती है और हर ख़रीद बिक्री होती है, इसलिए पण्यों के परिचलन का लाज़िमी तौर पर यह मतलब है कि बिक्रियों और ख़रीदारियों का सदा संतुलन रहता है। यदि इस सूत्र का यह अर्थ है कि वास्तव में जितनी बिक्रियां होती हैं, उनकी संख्या ख़रीदारियों की संख्या के बराबर रहती है, तो यह केवल एक पुनरुक्ति है। किंतु इस सूत्र का वास्तविक उद्देश्य तो यह सिद्ध करना है कि हर बेचनेवाला अपने ख़रीदार को साथ लेकर मंडी में आता है। ऐसा कुछ नहीं होता। बेचना और ख़रीदना एक ही और समान कार्य हैं – पण्य के मालिक और द्रव्य के मालिक के बीच विनिमय दो ऐसे व्यक्तियों के बीच विनिमय है, जो एक दूसरे के वैसे ही विरोधी हैं, जैसे चुंबक के दो ध्रुव। जब एक ही व्यक्ति बेचता भी है और ख़रीदता भी है, तब भी वे दो अलग-अलग, प्रतिध्रुवस्थ तथा विरोधी कार्य होते हैं। बिक्री और ख़रीद के एकाकार होने का मतलब यह है कि पण्य बेकार है, यदि परिचलन के कीमियाई भभके में डाले जाने पर वह द्रव्य के रूप में फिर बाहर नहीं निकल आता, दूसरे शब्दों में, यदि उसका मालिक उसे बेच नहीं पाता और इसलिए द्रव्य का मालिक उसे ख़रीद नहीं पाता। बिक्री और ख़रीद के एकाकार होने का इसके अलावा यह भी मतलब है कि यदि विनिमय हो जाता है, तो वह पण्य के जीवन में विश्राम का क्षण या अवकाश का दीर्घ अथवा अल्प काल होता है। किसी भी पण्य का पहला रूपांतरण चूंकि एक साथ बिक्री और ख़रीद दोनों होता है, इसलिए वह अपने में एक स्वतंत्र क्रिया होता है। ख़रीदार के पास पण्य होता है, बेचनेवाले के पास द्रव्य, अर्थात् उसके पास एक ऐसा पण्य होता है, जो किसी भी क्षण परिचलन में प्रवेश करने को तैयार है। जब तक कोई दूसरा आदमी ख़रीदता नहीं, तब तक कोई बेच नहीं सकता। लेकिन सिर्फ़ इसलिए कि किसी आदमी ने अभी-अभी कोई चीज़ बेची है, उसके लिए यह ज़रूरी नहीं हो जाता कि वह फ़ौरन कुछ ख़रीद भी डाले। प्रत्यक्ष विनिमय समय, स्थान और व्यक्तियों के जितने बंधन लागू करता है, परिचलन उन सबको तोड़ डालता है। यह काम वह प्रत्यक्ष विनिमय के अंतर्गत अपने उत्पाद को हस्तांतरित करने और किसी और व्यक्ति के उत्पाद को प्राप्त करने के बीच जो प्रत्यक्ष एकात्म्य होता है, उसे भंग करके तथा बिक्री और ख़रीद के परस्पर विरोधी स्वरूप में बदलकर संपन्न करता है। यह कहना कि इन दो स्वतंत्र और परस्पर विरोधी कार्यों के बीच एक आंतरिक एकता होती है और वे बुनियादी तौर पर एक होते हैं, यह तो यह कहने के समान है कि यह आंतरिक एकता एक बाहरी विरोध में व्यक्त होती है। यदि किसी पण्य के संपूर्ण रूपांतरण की दो पूरक अवस्थाओं के बीच के समय का बहुत लंबा अंतराल हो जाता है, यानी यदि बिक्री और ख़रीद का संबंध-विच्छेद बहुत उग्र रूप धारण कर लेता है, तो उनके बीच पाये जानेवाला अंतरंग संबंध, उनकी एकता संकट पैदा करके अपनी सत्ता का प्रदर्शन करती है। उपयोग-मूल्य और मूल्य का विरोध; यह विरोध कि निजी श्रम को लाज़िमी तौर पर प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम की तरह प्रकट होना पड़ता है और श्रम के एक विशिष्ट, मूर्त प्रकार को अमूर्त मानव-श्रम

---

[71] यह बात स्वतःस्पष्ट भले ही हो, पर फिर भी अर्थशास्त्री और विशेषकर स्वतंत्र व्यापार के अधकचरे समर्थक उसे प्रायः अनदेखा कर जाते हैं।

के रूप में सामने आना पड़ता है; यह विरोध कि वस्तुओं का व्यक्तिकरण हो जाना और वस्तुओं द्वारा व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व – ये सारे विरोध और विसंगतियां, जो पण्यों में निहित हैं, पण्य के रूपांतरण की परस्पर विरोधी अवस्थाओं में अपना ज़ोर दिखाते हैं और अपनी गति के रूपों को विकसित करते हैं। अतएव, इन रूपों का अर्थ संकट की संभावना है, और संकट की संभावना से अधिक उनका कुछ अर्थ नहीं है। जो मात्र संभावना है, वह वास्तविकता बनती है कुछ ऐसे संबंधों के एक लंबे क्रम के फलस्वरूप, जिनका पण्यों के साधारण परिचलन के हमारे वर्तमान दृष्टिकोण में अभी कोई अस्तित्व नहीं है।[72]

ख) द्रव्य का चलन

श्रम के भौतिक उत्पाद का परिचलन उसके रूप-परिवर्तन C — M — C द्वारा संपन्न होता है। इस रूप-परिवर्तन के लिए आवश्यक है कि एक निश्चित मूल्य एक पण्य के रूप में क्रिया को आरंभ करे और पण्य के रूप में ही उसे समाप्त कर दे। चुनांचे पण्य की गति एक परिपथ में होती है। दूसरी ओर, इस गति का रूप ऐसा है कि द्रव्य पूरा परिपथ नहीं बना पाता। परिणाम यह होता है कि द्रव्य वापस नहीं लौटता, बल्कि अपने प्रस्थान-बिंदु से बराबर अधिकाधिक दूर होता जाता है। जब तक बेचनेवाला अपने द्रव्य से चिपका रहता है, जो कि उसके पण्य की बदली हुई शक्ल है, तब तक वह पण्य अपने रूपांतरण की पहली अवस्था में ही रहता है और रूपांतरण के केवल आधे भाग को ही पूरा कर पाता है। लेकिन विक्रेता जैसे ही इस प्रक्रिया को पूरा कर देता है, जैसे ही वह अपनी बिक्री के अनुपूरक के रूप में ख़रीद भी कर डालता है, वैसे ही द्रव्य अपने मालिक के हाथ से फिर निकल जाता है। यह सच है कि यदि बाइबल ख़रीदने के बाद बुनकर थोड़ा और कपड़ा बेंच डालता है, तो द्रव्य उसके हाथों में लौट आता है। लेकिन उसका यह लौट आना पहले २० गज़ कपड़े के परिचलन के कारण नहीं होता; उस परिचलन का तो यह नतीजा निकला था कि द्रव्य बाइबल बेचनेवाले के हाथों में पहुंच गया था। बुनकर के हाथों में द्रव्य केवल उस वक़्त लौटता है, जब नये पण्य को लेकर परिचलन की क्रिया को दोहराया जाता है या उसे पुनः प्रारंभ किया जाता है; और यह दोहरायी हुई क्रिया भी उसी नतीजे के साथ समाप्त हो जाती है, जिस नतीजे के

---

[72] *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* में पृ० ७४-७६ पर जेम्स मिल के संबंध में मेरी टिप्पणियों को देखिये। जहां तक इस विषय का ताल्लुक है, वर्तमान आर्थिक व्यवस्था की सफ़ाई पेश करनेवाला अर्थशास्त्र ख़ास तौर पर दो तरीक़े इस्तेमाल करता है। पहला तो पण्यों के परिचलन और उत्पाद के प्रत्यक्ष विनिमय के अंतरों को अनदेखा करके दोनों को एक में मिला देना है। दूसरा, उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली में लगे हुए व्यक्तियों के संबंधों को पण्यों के परिचलन से पैदा होनेवाले सरल संबंधों में परिणत करके पूंजीवादी उत्पादन के विरोधों को रफ़ा-दफ़ा करने की कोशिश है। लेकिन पण्यों का उत्पादन और परिचलन ऐसी बातें हैं, जो न्यूनाधिक रूप से बहुत ही भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्पादन-प्रणालियों में पायी जाती हैं। यदि हम उत्पादन की इन सभी प्रणालियों में समान रूप से पायी जानेवाली परिचलन की इन अमूर्त परिकल्पनाओं के सिवा और किसी चीज़ से परिचित नहीं हैं, तो संभवतः हम यह क़तई नहीं जान सकते कि इन प्रणालियों में किन ख़ास-ख़ास बातों का अंतर है, और न ही तब हम उनपर कोई निर्णय दे सकते हैं। बहुत ही घिसे-पिटे सत्यों को लेकर जैसा हंगामा राजनीतिक अर्थशास्त्र में बरपा किया जाता है, वैसा और किसी विज्ञान में नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए, जे० बी० सेय को चूंकि यह मालूम है कि पण्य एक उत्पाद होता है, इसलिए वह संकटों के अधिकारी विद्वान बन बैठे हैं।

साथ उसकी पूर्वगामी क्रिया समाप्त हुई थी। अतएव, पण्यों का परिचलन प्रत्यक्ष ढंगों से द्रव्य में जिस गति का संचार करता है, वह एक ऐसी अनवरत गति होती है, जिसके द्वारा द्रव्य अपने प्रस्थान-बिंदु से अधिकाधिक दूर हटता जाता है और जिसके दौरान वह पण्य के एक मालिक के हाथ से दूसरे मालिक के हाथ में घूमता रहता है। गति के इस पथ को द्रव्य का चलन (carrency, cours de la monnaie) कहते हैं।

द्रव्य के चलन में एक ही क्रिया लगातार एक ही नीरस ढंग से दोहरायी जाती है। पण्य हमेशा विक्रेता के हाथ में रहता है, द्रव्य, ख़रीदने के साधन के रूप में, सदा ग्राहक के हाथ में रहता है। द्रव्य पण्य के दाम को मूर्त रूप प्रदान करके सदा ख़रीदने के साधन का काम करता है। दाम के मूर्त रूप प्राप्त करने के फलस्वरूप पण्य विक्रेता के पास से ग्राहक के पास पहुंच जाता है और द्रव्य ग्राहक के हाथ से निकलकर विक्रेता के हाथ में पहुंच जाता है, जहां किसी और पण्य के साथ वह फिर उसी प्रक्रिया में से गुज़रता है। इस तथ्य पर सदा पर्दा पड़ जाता है कि द्रव्य की गति का यह एकमुखी स्वरूप पण्य की गति के दोमुखी स्वरूप से उत्पन्न होता है। पण्यों के परिचलन की प्रकृति ही ऐसी है कि देखने में बात इसकी उल्टी मालूम होती है। किसी भी पण्य का पहला रूपांतरण ऊपर से देखने में न सिर्फ़ द्रव्य की ही, बल्कि ख़ुद पण्य की हरकत भी मालूम होता है; दूसरे रूपांतरण में इसके विपरीत अकेला द्रव्य ही हरकत करता मालूम होता है। अपने परिचलन की पहली अवस्था में पण्य द्रव्य से स्थान-परिवर्तन करता है। तब वह एक उपयोगी वस्तु के रूप में परिचलन से बाहर निकलकर उपभोग के क्षेत्र में चला जाता है।[73] उसके बदले में हमारे पास उसका मूल्य-रूप, यानी द्रव्य रह जाता है। उसके बाद वह अपने स्वाभाविक रूप में नहीं, बल्कि द्रव्य के रूप में अपने परिचलन की दूसरी अवस्था में से गुज़रता है। इसलिए गति की निरंतरता को केवल द्रव्य ही क़ायम रखता है। वही गति, जो, जहां तक पण्य का संबंध है, दो परस्पर विरोधी ढंग की प्रक्रियाओं का जोड़ होती है, जब उसपर द्रव्य की गति के रूप में विचार किया जाता है, तब केवल एक ही गति होती है, जिसमें द्रव्य नित नये पण्यों के साथ स्थान-परिवर्तन करता रहता है। अतएव पण्यों के परिचलन का जो परिणाम होता है, यानी एक पण्य द्वारा दूसरे पण्य का स्थान लेना, वह ऐसा रूप धारण कर लेता है, जिससे मालूम पड़ता है कि यह पण्यों के रूप में परिवर्तन हो जाने का नतीजा नहीं है, बल्कि यह परिचलन के माध्यम के रूप में द्रव्य के कार्य का परिणाम है, और वह ऐसा कार्य है, जो ऊपर से देखने में सर्वथा गतिहीन मालूम होनेवाले पण्यों का परिचलन करता है और जिन हाथों में वे ग़ैर-उपयोग-मूल्य होते हैं, उनसे उनको निकालकर उन हाथों में पहुंचाता है, जिनमें वे उपयोग-मूल्य होते हैं, और सो भी उस दिशा में, जो सदा द्रव्य की गति की उल्टी दिशा होती है। द्रव्य लगातार पण्यों को परिचलन के बाहर निकालता और ख़ुद उनका स्थान ग्रहण करता जाता है; इस तरह वह लगातार अपने प्रस्थान-बिंदु से अधिकाधिक दूर हटता जाता है। इसलिए द्रव्य की गति यद्यपि केवल पण्यों के परिचलन की ही अभिव्यंजना होती है, फिर भी इसकी उल्टी बात

---

[73] जहां पण्य बार-बार बेचा जाता है – और ऐसी समस्या का फ़िलहाल हमारे लिए कोई अस्तित्व नहीं है – वहां पर भी जब वह आख़िरी बार बेच दिया जाता है, तब वह परिचलन के क्षेत्र से निकलकर उपभोग के क्षेत्र में चला जाता है, जहां वह या तो जीवन-निर्वाह के साधन की तरह, या उत्पादन के साधन की तरह काम में आता है।

ही सत्य प्रतीत होती है और लगता है कि पण्यों का परिचलन द्रव्य की गति का परिणाम है।[74]

इसके अलावा द्रव्य केवल इसीलिए परिचलन के माध्यम का काम करता है कि उसके रूप में पण्यों के मूल्य स्वतंत्र वास्तविकता प्राप्त कर लेते हैं, अतएव परिचलन के माध्यम के रूप में द्रव्य की गति वास्तव में केवल पण्यों की ही गति होती है, जिसके दौरान उनके रूप बदलते जाते हैं। इसलिए द्रव्य के चलन में यह तथ्य साफ़-साफ़ दिखायी देना चाहिए। चुनांचे * मिसाल के तौर पर, कपड़ा सबसे पहले अपने पण्य-रूप को अपने द्रव्य-रूप में बदल डालता है। उसके पहले रूपांतरण C — M का दूसरा पद, यानी द्रव्य-रूप, तब उसके अंतिम रूपांतरण M — C का पहला पद बन जाता है, जब कि वह फिर बाइबल में बदल जाता है। लेकिन रूप के ये दोनों परिवर्तन पण्य और द्रव्य के विनिमय, उनके पारस्परिक स्थान-परिवर्तन के फल-स्वरूप होते हैं। वे ही सिक्के, जो बेचनेवाले के हाथ में पण्य के हस्तांतरित रूप की तरह आते हैं, वे उसके हाथ से पण्य के सर्वथा हस्तांतरणीय रूप की तरह जाते हैं। वे दो बार स्थानांतरित होते हैं। कपड़े का पहला रूपांतरण इन सिक्कों को बुनकर की जेब में डाल देता है, दूसरा रूपांतरण उनको उसकी जेब से निकाल लेता है। एक ही पण्य दो बार जिन परस्पर उल्टे परिवर्तनों में से गुज़रता है, वे इस बात में प्रतिबिंबित होते हैं कि वे ही सिक्के दो बार, मगर उल्टी दिशाओं में स्थानांतरित हो जाते हैं।

इसके विपरीत यदि रूपांतरण की केवल एक अवस्था ही पूरी होती है, यानी अगर केवल विक्रय या केवल क्रय ही होता है, तो द्रव्य का एक ख़ास सिक्का केवल एक बार अपना स्थान बदलता है। उसका दूसरी बार अपने स्थान को बदलना सदा पण्य के दूसरे रूपांतरण को व्यक्त करता है, जब कि उसके द्रव्य-रूप का परिवर्तन फिर से होता है। उन्हीं सिक्कों का बार-बार अपना स्थान बदलना न केवल उन असंख्य रूपांतरणों के क्रम का प्रतिबिंब है, जिनमें से एक अकेला पण्य गुज़र चुका है, बल्कि वह आम तौर पर पण्यों की दुनिया में होनेवाले असंख्य रूपांतरणों के एक दूसरे के साथ गुंथे हुए होने का भी प्रतिबिंब है। यह बात स्वतःस्पष्ट है कि यह सब केवल पण्यों के साधारण परिचलन पर ही लागू होता है, और अभी हम केवल इसी रूप पर विचार कर रहे हैं।

प्रत्येक पण्य जब पहली बार परिचलन में प्रवेश करता है और प्रथम रूप-परिवर्तन से गुज़रता है, तो ऐसा वह केवल फिर परिचलन के बाहर जाने के लिए ही करता है, ताकि उसका स्थान दूसरे पण्य ले लें। इसके विपरीत द्रव्य परिचलन के माध्यम के रूप में लगातार परिचलन के क्षेत्र के भीतर ही बना और उसी में चक्कर काटता रहता है। इसलिए सवाल यह उठता है कि यह क्षेत्र लगातार कितना द्रव्य हज़म करता जाता है?

किसी भी देश में हर रोज़ एक ही समय पर, लेकिन अलग-अलग जगहों में पण्यों के बहुत से एकांगी रूपांतरण होते रहते हैं, यानी, दूसरे शब्दों में, बहुत से क्रय और विक्रय होते रहते

---

[74] "उस (द्रव्य) की उस गति के सिवा और कोई गति नहीं होती, जो श्रम से उत्पन्न वस्तुएं उसमें पैदा कर देती हैं।" (Le Trosne, l. c., p. 885.)

* यहां पर ("चुनांचे, मिसाल के तौर पर..." से लेकर "गुंथे हुए होने का भी प्रतिबिंब है" तक) अंग्रेज़ी (अतः हिंदी) पाठ चौथे जर्मन संस्करण के अनुसार बदल दिया गया है। – सं०

हैं। पण्यों को उनके दामों के द्वारा पहले से ही द्रव्य की निश्चित मात्राओं के साथ कल्पना में बराबर कर लिया जाता है। और चूंकि परिचलन के जिस रूप पर हम इस समय विचार कर रहे हैं, उसमें द्रव्य और पण्य सदा भौतिक रूप में आमने-सामने आकर खड़े होते हैं, और एक क्रय के धनात्मक ध्रुव पर खड़ा हो जाता है और दूसरा विक्रय के ऋणात्मक ध्रुव पर, इसलिए यह बात साफ़ है कि परिचलन के माध्यम की आवश्यक मात्रा पहले से ही इस बात से निश्चित हो जाती है कि इन सब पण्यों के दामों को जोड़ने पर कुल कितनी रक़म बैठती है। सच पूछिये, तो द्रव्य असल में सोने की उस मात्रा या रक़म का प्रतिनिधित्व करता है, जो पण्यों के दामों के कुल जोड़ के द्वारा पहले से ही प्रत्ययात्मक ढंग से अभिव्यक्त हो चुकी है। इसलिए इन दो रक़मों की समानता स्वतःस्पष्ट है। किंतु हम यह जानते हैं कि पण्यों के मूल्यों के स्थिर रहने पर उनके दाम सोने के (द्रव्य के पदार्थ के) मूल्य-परिवर्तन के साथ घटते-बढ़ते रहते हैं। सोने का मूल्य जितना गिरता है, पण्यों के दाम उसी अनुपात में चढ़ जाते हैं; वह जितना चढ़ता है, पण्यों के दाम उसी अनुपात में गिर जाते हैं; अब यदि सोने के मूल्य में इस तरह के चढ़ाव या गिराव के फलस्वरूप पण्यों के दाम गिरते या चढ़ते हैं, तो परिचलनगत द्रव्य की मात्रा भी उसी हद तक कम हो जाती है या बढ़ जाती है। यह सच है कि संचलनशील माध्यम की मात्रा में परिवर्तन इस सूरत में स्वयं द्रव्य के कारण ही होता है। परंतु यह परिवर्तन परिचलन के माध्यम के रूप में द्रव्य जो काम करता है, उसके कारण नहीं होता, बल्कि वह मूल्य की माप के रूप में जो काम करता है, उसके कारण यह परिवर्तन होता है। पण्यों का दाम पहले द्रव्य के मूल्य के प्रतिलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है, और फिर परिचलन के माध्यम की मात्रा पण्यों के दामों के प्रत्यक्ष अनुपात में घटती-बढ़ती है। ठीक यही बात उस सूरत में भी होगी, यदि, मिसाल के लिए, सोने का मूल्य गिरने के बजाय मूल्य की माप के रूप में उसका स्थान चांदी ले ले, या यदि चांदी का मूल्य चढ़ने के बजाय सोना चांदी को मूल्य की माप के पद से हटा दे। एक सूरत में यह होगा कि पहले जितना सोना चालू था, उससे ज्यादा चांदी चालू हो जायेगी; दूसरी सूरत में यह होगा कि पहले जितनी चांदी चालू थी, उससे कम सोना चालू हो जायेगा। हर सूरत में द्रव्य के पदार्थ का मूल्य, यानी उस पण्य का मूल्य, जो मूल्य की माप का काम करता है, थोड़ा-बहुत बदल जायेगा, और चुनांचे पण्यों के मूल्यों को द्रव्य के रूप में व्यक्त करनेवाले उनके दाम भी बदल जायेंगे, और इसलिए इन दामों को मूर्त रूप देना जिसका काम है, उस परिचलनगत द्रव्य की मात्रा में भी परिवर्तन हो जायेगा। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि परिचलन के क्षेत्र में एक सूराख़ होता है, जिसके ज़रिये सोना (या आम तौर पर द्रव्य का पदार्थ) एक निश्चित मूल्य के पण्य के रूप में इस क्षेत्र में घुस आता है। अतएव, जब द्रव्य मूल्य की माप के रूप में अपने कामों को पूरा करना शुरू करता है, यानी जब वह दामों को व्यक्त करना शुरू करता है, तब उसका मूल्य पहले से ही निश्चित होता है। अब यदि उसका मूल्य गिर जाये, तो यह तथ्य बहुमूल्य धातुओं के उत्पादन-स्थल पर उनके साथ जिन पण्यों का प्रत्यक्ष विनिमय होता है, उन पण्यों के दामों के परिवर्तन के रूप में दिखायी देता है। बाक़ी सभी पण्यों के अधिकांश के मूल्य को आंका जाना अब भी बहुत दिनों तक मूल्य की माप के भूतपूर्व, पुराने और काल्पनिक मूल्य के द्वारा ही आंका जाता रहेगा। अल्पविकसित समाजों में तो ख़ास तौर पर ऐसा होता रहेगा। फिर भी पण्यों के सामूहिक मूल्य-संबंध के द्वारा एक पण्य से दूसरे पण्य को छूत लगती जाती है, जिसके परिणामस्वरूप उनके दाम, वे चाहे सोने के रूप में अभिव्यक्त होते हों और चाहे

चांदी के रूप में, धीरे-धीरे उनके तुलनात्मक मूल्यों द्वारा निर्धारित अनुपातों के स्तर पर आ जाते हैं, जब तक कि अंत में सभी पण्यों का मूल्य द्रव्य का काम करनेवाली धातु के नये मूल्य के रूप में नहीं आंका जाने लगता। इस क्रिया के साथ-साथ बहुमूल्य धातुओं की मात्रा में लगातार वृद्धि होती जाती है। यह वृद्धि इस कारण होती है कि बहुमूल्य धातुओं के उत्पादन-स्थल पर उनके साथ जिन वस्तुओं की सीधी अदला-बदली होती है, उनका स्थान लेने के लिए बहुमूल्य धातुएं धारा-प्रवाह की तरह आती रहती हैं। अतएव जिस अनुपात में पण्य आम तौर पर अपने सच्चे दाम प्राप्त कर लेते हैं, यानी जिस अनुपात में उनके मूल्यों का बहुमूल्य धातु के गिरे हुए मूल्य के द्वारा निर्धारण किया जाने लगता है, उसी अनुपात में इन नये दामों को मूर्त रूप देने के लिए आवश्यक बहुमूल्य धातु की भी पहले से ही व्यवस्था कर दी जाती है। सोने और चांदी के नये भंडारों का पता लगने पर जो परिणाम देखने में आये, उनको एकांगी ढंग से देखने के कारण १७ वीं और ख़ास तौर पर १८ वीं सदी में कुछ अर्थशास्त्री इस ग़लत नतीजे पर पहुंचे कि पण्यों के दाम इसलिए बढ़ गये हैं कि अब सोने और चांदी की पहले से ज़्यादा मात्रा परिचलन के माध्यम का काम करने लगी है। आगे हम सोने का मूल्य स्थिर मानकर चलेंगे, क्योंकि जब कभी हम किसी पण्य के दाम का निर्धारण करते हैं, तब क्षणिक रूप से सोने का मूल्य सचमुच स्थिर होता भी है।

अतएव यदि यह मानकर चला जाये कि सोने का मूल्य स्थिर है, तो परिचलन के माध्यम की मात्रा उन दामों के जोड़ से निर्धारित होती है, जिनको मूर्त रूप देना होता है। अब यदि हम यह और मान लें कि हर पण्य का दाम पहले से निश्चित है, तो दामों का जोड़ स्पष्टतया इस बात पर निर्भर करता है कि परिचलन में कितने पण्य भाग ले रहे हैं। यह समझने के लिए दिमाग़ पर बहुत ज़्यादा ज़ोर डालने की आवश्यकता नहीं है कि यदि एक क्वार्टर गेहूं की क़ीमत २ पाउंड है, तो १०० क्वार्टर गेहूं की क़ीमत २०० पाउंड होगी और २०० क्वार्टर गेहूं की ४०० पाउंड होगी, और इसी तरह आगे भी; और चुनांचे गेहूं के बिकने पर जो द्रव्य उसका स्थान लेता है, उसकी मात्रा गेहूं की मात्रा की वृद्धि के साथ बढ़ती जायेगी।

यदि पण्यों की मात्रा स्थिर रहती है, तो परिचलनगत द्रव्य की मात्रा इन पण्यों के दामों के उतार-चढ़ाव के अनुसार बदलेगी। दाम में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप दामों का कुल जोड़ घट-बढ़ जायेगा, और उसके अनुसार चालू द्रव्य की मात्रा भी घट-बढ़ जायेगी। यह असर पैदा करने के लिए यह कदापि ज़रूरी नहीं है कि तमाम पण्यों के दाम एक साथ बढ़ें या एक साथ घट जायें। कुछ प्रमुख वस्तुओं के दामों में उतार या चढ़ाव इसके लिए काफ़ी है कि सभी पण्यों के दामों का जोड़ एक सूरत में बढ़ जाये और दूसरी सूरत में घट जाये और उसके फल-स्वरूप पहले से ज़्यादा या कम द्रव्य परिचलन में आ जाये। दाम में होनेवाला परिवर्तन चाहे पण्यों के मूल्य में होनेवाले किसी वास्तविक परिवर्तन के अनुरूप हो और चाहे वह महज़ बाज़ार-भाव के उतार-चढ़ाव का नतीजा हो, परिचलन के माध्यम की मात्रा पर उसका एक सा प्रभाव होता है।

मान लीजिये कि भिन्न-भिन्न स्थानों में निम्नलिखित वस्तुएं एक साथ बेच दी जाती हैं, या यूं कहिये कि उनका आंशिक रूपांतरण हो जाता है: एक क्वार्टर गेहूं, २० गज़ कपड़ा, एक बाइबल और ४ गैलन ब्रांडी। यदि प्रत्येक वस्तु का दाम २ पाउंड है और चुनांचे जिन दामों को मूर्त रूप दिया जाता है, उनका जोड़ ८ पाउंड है, तो ज़ाहिर है कि द्रव्य के रूप

में ८ पाउंड को परिचलन में आ जाना चाहिए। दूसरी तरफ़, मान लीजिये कि ये ही वस्तुएं रूपांतरणों की इस शृंखला की कड़ियां हैं: १ क्वार्टर गेहूं – २ पाउंड – २० गज़ कपड़ा – २ पाउंड – १ बाइबल – २ पाउंड – ४ गैलन ब्रांडी – २ पाउंड। इस शृंखला से हम पहले से परिचित हैं। इस सूरत में २ पाउंड एक के बाद दूसरे पण्य का परिचलन करते जायेंगे और एक के बाद दूसरे पण्य के दाम को मूर्त रूप देने और इसलिए उनके दामों के कुल जोड़ – ८ पाउंड – को मूर्त रूप देने के बाद वे शराब बनानेवाले की जेब में आराम करने लगेंगे। ये दो पाउंड इस तरह चार बार गतिमान होते हैं। द्रव्य के उन्हीं टुकड़ों का यह बार-बार होनेवाला स्थानांतरण पण्यों के दोहरे रूप-परिवर्तन के अनुरूप होता है; वह पण्यों की उल्टी दिशाओं में चलनेवाली उस गति के अनुरूप होता है, जो परिचलन की दो अवस्थाओं में से गुज़रती है, और वह विभिन्न पण्यों के रूपांतरणों के आपस में गुंथे हुए होने के अनुरूप होता है।[75] ये परस्पर विरोधी और पूरक अवस्थाएं, जिनके जोड़ से रूपांतरण की क्रिया बनती है, एक साथ नहीं, बल्कि एक के बाद एक के क्रम में आती हैं। चुनांचे क्रम को पूरा करने के लिए समय की आवश्यकता होती है। इसलिए द्रव्य के चलन का वेग इस बात से मापा जाता है कि किसी निश्चित समय में द्रव्य का कोई ख़ास टुकड़ा या सिक्का कितनी बार गतिमान होता है। मान लीजिये कि ४ वस्तुओं के परिचलन में एक दिन लग जाता है। दिन भर में जिन दामों को मूर्त रूप दिया जाना है, उनका जोड़ ८ पाउंड है, द्रव्य के दो टुकड़े ४ बार गतिमान होते हैं और परिचलन में भाग लेनेवाले द्रव्य की मात्रा २ पाउंड है। चुनांचे परिचलन की क्रिया के दौरान एक निश्चित काल में निम्नलिखित संबंध हमारे सामने आता है: संचलनशील माध्यम का काम करनेवाली द्रव्य की मात्रा उस रक़म के बराबर होती है, जो पण्यों के दामों के जोड़ को एक ही मान के सिक्कों के गतिमान होने की संख्या से भाग देने पर मिलती है। यह नियम सामान्य रूप से लागू होता है।

किसी ख़ास देश में एक निश्चित समय के भीतर पण्यों के कुल परिचलन में एक ओर तो वे अनेक अलग-अलग और एक साथ होनेवाले आंशिक परिवर्तन शामिल होते हैं, जो विक्रय भी होते हैं और साथ ही क्रय भी और जिनमें प्रत्येक सिक्का केवल एक बार अपना स्थान बदलता है, या केवल एक बार गतिमान होता है; दूसरी ओर, उसमें रूपांतरणों के वे अलग-अलग बहुत से क्रम शामिल होते हैं, जो कुछ हद तक साथ-साथ चलते हैं और कुछ हद तक आपस में गुंथ जाते हैं और जिनमें प्रत्येक सिक्का कई-कई बार गतिमान होता है, और गतिमान होने की संख्या परिस्थितियों के अनुसार कम या ज़्यादा होती है। यदि एक मान के चालू सिक्कों के गतिमान होने की कुछ संख्या मालूम हो, तो हम यह पता लगा सकते हैं कि उस मान का एक सिक्का औसतन कितनी बार गतिमान होता है, या यूं कहिये कि हम द्रव्य के चलन के औसत वेग का पता लगा सकते हैं। प्रत्येक दिन के शुरू में कितना द्रव्य परिचलन में डाला जाता है, यह, ज़ाहिर है, इस बात से निर्धारित होता है कि परिचलन में साथ-साथ भाग लेनेवाले तमाम पण्यों के दामों का कुल जोड़ क्या है। लेकिन एक बार परिचलन

---

[75] "श्रम से उत्पन्न वस्तुएं उस (द्रव्य) में गति का संचार करती हैं और उसे एक हाथ से दूसरे हाथ में घुमाती हैं... उस (द्रव्य) की गति की तेज़ी उसकी मात्रा की कमी को पूरा कर सकती है। आवश्यकता होने पर वह एक क्षण के लिए भी कहीं नहीं रुकता और बराबर एक हाथ से दूसरे हाथ में घूमता जाता है।" (Le Trosne, l. c., pp. 915, 916.)

में ग्रा जाने पर सिक्के मानो एक दूसरे के लिए जिम्मेदार बना दिये जाते हैं। यदि एक सिक्का अपना वेग बढ़ा देता है, तो दूसरा या तो अपना वेग कम कर देता है, या परिचलन के एकदम बाहर चला जाता है। कारण कि परिचलन में सोने की केवल उतनी ही मात्रा खप सकती है, जो एक अकेले सिक्के, अथवा तत्त्व, के गतिमान होने की औसत संख्या से गुना करने पर उन दामों के जोड़ के बराबर होती है, जिनको मूर्त रूप दिया जाना है। चुनांचे यदि अलग-अलग सिक्कों के गतिमान होने की संख्या बढ़ जाती है, तो परिचलन में भाग लेने-वाले सिक्कों की कुल संख्या घट जाती है। यदि गतिमान होने की संख्या कम हो जाती है, तो सिक्कों की कुल संख्या बढ़ जाती है। चूंकि चलन के एक ख़ास औसत वेग के रहते हुए यह निश्चित होता है कि परिचलन में द्रव्य की कितनी मात्रा खपेगी, इसलिए सावरन नामक स्वर्ण-सिक्कों की एक निश्चित संख्या को परिचलन से अलग करने के लिए केवल इतना करना ही काफ़ी है कि एक-एक पाउंड के नोट उसी संख्या में परिचलन में डाल दिये जायें। सभी बैंकर यह तरकीब अच्छी तरह जानते हैं।

जिस प्रकार सामान्य रूप में द्रव्य का चलन पण्यों के परिचलन का – या पण्यों को जिन परस्पर विरोधी रूपांतरणों में से गुज़रना पड़ता है, उनका – प्रतिबिंब मात्र होता है, उसी प्रकार द्रव्य के चलन का वेग पण्यों के रूप-परिवर्तन की तेज़ी का प्रतिबिंब होता है, वह रूपांतरणों के एक क्रम के दूसरे क्रम के साथ लगातार गुंथे रहने का, पदार्थ के जल्दी-जल्दी होने-वाले सामाजिक विनिमय का, परिचलन के क्षेत्र से पण्यों के शीघ्रता के साथ ग़ायब हो जाने और उतनी ही शीघ्रता के साथ उनके स्थान पर नये पण्यों के ग्रा जाने का प्रतिबिंब होता है। अतएव द्रव्य के चलन के वेग में हम परस्पर विरोधी एवं पूरक अवस्थाओं की प्रवाहमान एकता – पण्यों के उपयोगी पहलू के उनके मूल्य-पहलू में बदले जाने और उनके मूल्य-पहलू के फिर से उपयोगी पहलू में बदले जाने की एकता, या यूं कहिये कि उसमें हम विक्रय और क्रय की दो क्रियाओं की एकता – को देखते हैं। दूसरी ओर, चलन का धीमा पड़ जाना इस बात का प्रतिबिंब होता है कि ये दोनों क्रियाएं परस्पर विरोधी अवस्थाओं में अलग-अलग बंट गयी हैं; वह रूप के परिवर्तन में और इसलिए पदार्थ के सामाजिक विनिमय में ठहराव ग्रा जाने का प्रतिबिंब होता है। ख़ुद परिचलन से, जाहिर है, इसका कोई पता नहीं चलता कि यह ठहराव क्यों ग्रा गया है। उससे तो केवल इस घटना का प्रमाण मिलता है। साधारण जनता मुद्रा के चलन के धीमे पड़ने के साथ-साथ यह देखती है कि परिचलन की परिधि पर द्रव्य पहले की अपेक्षा कम जल्दी-जल्दी प्रकट होता है और ग़ायब होता है, और इसलिए वह स्वभावतया यह समझती है कि चलन का वेग संचलनशील माध्यम की मात्रा में कमी ग्रा जाने के कारण धीमा पड़ गया है।[76]

---

[76] "द्रव्य चूंकि . . . ख़रीदने और बेचने की सामान्य रूप से माप है, इसलिए हर वह आदमी, जिसके पास बेचने के लिए कोई चीज़ है और जिसे अपनी चीज़ बेचने के लिए ग्राहक नहीं मिलते, शीघ्र ही यह सोचने लगता है कि राज्य में अथवा देश में द्रव्य की कमी हो गयी है, जिसके कारण उसका सामान नहीं बिक पा रहा है, और चुनांचे सब द्रव्य की कमी का रोना शुरू कर देते हैं, जो कि बहुत बड़ी ग़लती है . . . ये लोग, जो द्रव्य के लिए चीख़ रहे हैं, क्या चाहते हैं? . . काश्तकार शिकायत करता है . . . उसका ख़याल है कि यदि देश में थोड़ा और द्रव्य होता, तो उसके माल का भी उसे कोई दाम मिल जाता। इससे पता लगता है कि मानो काश्तकार को द्रव्य की नहीं, बल्कि अपने अनाज और ढोर के लिए, जिसे

किसी निश्चित अवधि में संचलनशील माध्यम का काम करनेवाले द्रव्य की कुल मात्रा एक ओर तो परिचलनगत पण्यों के दामों के जोड़ से निर्धारित होती है और दूसरी ओर, वह इस बात से निर्धारित होती है कि रूपांतरणों की परस्पर विरोधी अवस्थाएं किस तेज़ी से एक दूसरी का अनुसरण करती हैं। इस तेज़ी पर ही यह निर्भर करता है कि हर अलग-अलग सिक्का दामों के जोड़ के औसतन कितने भाग को मूर्त रूप दे सकता है। लेकिन परिचलनगत पण्यों के दामों का जोड़ पण्यों के दामों के साथ-साथ उनकी मात्रा पर भी निर्भर करता है। किंतु ये तीनों तत्त्व – दामों की हालत, परिचलनगत पण्यों की मात्रा और द्रव्य के चलन का वेग – परिवर्तनशील होते हैं। इसलिए जिन दामों को मूर्त रूप दिया जाना है, उनका जोड़ और चुनांचे इस जोड़ पर निर्भर करनेवाली संचलनशील माध्यम की मात्रा – ये दोनों चीज़ें, इन तीनों तत्त्वों में कुल मिलाकर जो अनेक परिवर्तन होते हैं, उनके साथ बदलती जायेंगी। इन परिवर्तनों में से हम केवल उनपर विचार करेंगे, जिनका दामों के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्व रहा है।

यदि दाम स्थिर रहते हैं, तो संचलनशील माध्यम की मात्रा या तो इसलिए बढ़ सकती है कि परिचलनगत पण्यों की संख्या बढ़ गयी हो, या इसलिए कि चलन का वेग कम हो, या वह इन दोनों बातों के सम्मिलित प्रभाव का परिणाम हो सकता है। दूसरी ओर, संचलनशील माध्यम की मात्रा या तो इसलिए घट सकती है कि परिचलनगत पण्यों की संख्या घट गयी हो, या इसलिए कि उनके परिचलन की तेज़ी बढ़ गयी हो।

पण्यों के दामों में आम चढ़ाव आ जाने पर भी संचलनशील माध्यम की मात्रा स्थिर रहेगी, बशर्ते कि दामों में जितनी वृद्धि हुई है, उसी अनुपात में परिचलन में शामिल पण्यों की

वह बेचना चाहता है, पर बेच नहीं पाता, दाम की ज़रूरत है... दाम उसे क्यों नहीं मिलते? .. (१) या तो इसलिए कि देश में बहुत ज्यादा अनाज और ढोर हो गये हैं, जिसके फलस्वरूप जो लोग मंडी में जाते हैं, उनमें से ज़्यादातर बेचना चाहते हैं, जब कि ख़रीदना बहुत कम लोग चाहते हैं; या (२) परिवहन के द्वारा विदेशों को सामान भेजने की सुविधा नहीं है...; या (३) चीज़ों की खपत कम हो गयी है, जैसा कि उस वक़्त होता है, जब लोग ग़रीबी के कारण अपने घरों में उतना ख़र्च नहीं करते, जितना वे पहले किया करते थे। मतलब यह कि विशिष्ट द्रव्य में वृद्धि हो जाने से काश्तकार के माल की बिक्री में कोई भी मदद न होगी। उसकी मदद के लिए इन तीनों कारणों में से बाज़ार को सचमुच ठंडा करनेवाले कारण को दूर करना होगा... इसी तरह सौदागर और दूकानदार भी द्रव्य चाहते हैं, यानी वे जिन चीज़ों का व्यापार करते हैं, उनकी निकासी चाहते हैं, क्योंकि मंडियां ठंडी पड़ गयी हैं... जब धन एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता है, तब [कोई क़ौम] जितना फलती-फूलती है, उतना और कभी नहीं फलती-फूलती।" (Sir Dudley North, *Discourses upon Trade*, London, 1691, pp. 11-15, passim.) हेरेनश्वांड की विचित्र धारणाओं का कुल निचोड़ महज़ यह है कि पण्यों की प्रकृति से जो विरोध उत्पन्न होता है और जो फिर उनके परिचलन में भी दिखायी पड़ता है, वह संचलनशील माध्यम को बढ़ाकर दूर किया जा सकता है। लेकिन यदि एक ओर, संचलनशील माध्यम की कमी को उत्पादन और परिचलन के ठहराव का कारण समझना एक प्रचलित भ्रम है, तो दूसरी ओर, उससे यह निष्कर्ष भी कदापि नहीं निकलता कि यदि, मिसाल के लिए, क़ानून के ज़रिये चलन का नियमन करने की अनाड़ीपन से भरी कोशिशों के फलस्वरूप संचलनशील माध्यम की सचमुच कमी हो जाये, तो उससे इस तरह का ठहराव नहीं पैदा हो सकता।

मात्रा में कमी आ जाये, या परिचलन में शामिल पण्यों की मात्रा के स्थिर रहते हुए दामों में जितना चढ़ाव आया है, द्रव्य के चलन के वेग में उतनी ही तेज़ी आ जाये। संचलनशील माध्यम की मात्रा कम हो सकती है, यदि दामों के चढ़ाव की अपेक्षा पण्यों की मात्रा ज्यादा तेज़ी से गिर जाये या यदि दामों के चढ़ाव की अपेक्षा चलन का वेग ज्यादा तेज़ी से बढ़ जाये।

पण्यों के दामों में आम कमी हो जाने पर भी संचलनशील माध्यम की मात्रा स्थिर रहेगी, बशर्ते कि दामों में जितनी कमी हुई हो, उसी अनुपात में पण्यों की मात्रा में वृद्धि हो जाये, या बशर्ते कि द्रव्य के चलन के वेग में उसी अनुपात में कमी आ जाये। यदि दामों में होनेवाली कमी की तुलना में पण्यों की मात्रा जल्दी से बढ़ती है या द्रव्य के चलन का वेग जल्दी से कम होता है, तो संचलनशील माध्यम की मात्रा बढ़ जायेगी।

अलग-अलग तत्त्वों में होनेवाले परिवर्तन एक दूसरे के प्रभाव की क्षति-पूर्ति कर सकते हैं। ऐसा होने पर, उनके लगातार अस्थिर रहते हुए भी, जिन दामों को मूर्त रूप दिया जाना है, उनका जोड़ और परिचलन में लगी द्रव्य की मात्रा स्थिर रहती हैं। चुनांचे, ख़ास तौर पर यदि हम लंबे कालों पर विचार करें, तो हम पाते हैं कि किसी भी देश में चालू द्रव्य की मात्रा में हम उसके औसत स्तर में जितना अंतर होने की उम्मीद करते थे, वास्तव में उससे बहुत कम अंतर रहता है। पर ज़ाहिर है कि औद्योगिक एवं व्यापारिक संकटों से या फिर, जैसा कि बहुत कम होता है, द्रव्य के मूल्य में होनेवाले उतार-चढ़ाव से जो ज़बर्दस्त गड़बड़ पैदा हो जाती है, वह और बात है।

इस नियम को कि संचलनशील माध्यम की मात्रा परिचलनगत पण्यों के दामों के जोड़ और चलन के औसत वेग से निर्धारित होती है,[77] इस तरह भी पेश किया

---

[77] "किसी भी क़ौम के व्यापार को चालू रखने के लिए द्रव्य की एक ख़ास मात्रा और अनुपात आवश्यक होते हैं, जिनके कम या ज्यादा होने पर व्यापार में गड़बड़ी पैदा हो जाती है। यह ठीक उसी तरह की बात है, जैसे छोटे पैमाने के फुटकर व्यापार में चांदी के सिक्कों को भुनाने के लिए और ऐसा हिसाब साफ़ करने के लिए, जो छोटे से छोटे चांदी के सिक्कों से भी ठीक नहीं बैठता, एक निश्चित अनुपात में फ़ार्दिंग सिक्कों की आवश्यकता होती है... अब जिस तरह व्यापार के लिए आवश्यक फ़ार्दिंग सिक्कों की संख्या इस बात से तय होती है कि लोगों की कितनी संख्या है, वे कितनी जल्दी-जल्दी विनिमय करते हैं, और साथ ही मुख्यतया इस बात से कि चांदी के छोटे से छोटे सिक्कों का क्या मूल्य है, उसी तरह हमारे व्यापार के लिए आवश्यक द्रव्य [सोने और चांदी के सिक्कों] का अनुपात इन बातों पर निर्भर करता है कि विनिमय कितनी जल्दी होते हैं और भुगतान की रक़में कितनी बड़ी होती हैं।" (William Petty, *A Treatise of Taxes and Contributions*, London, 1667, p. 17.) जे० स्टुअर्ट, आदि के हमलों के मुक़ाबले में ह्यूम के सिद्धांत का समर्थन ए० यंग ने अपनी रचना *Political Arithmetic*, London, 1774 में किया था, जिसमें पृ० ११२ और उसके आगे के पृष्ठों पर *Prices depend on quantity of money* शीर्षक एक विशेष अध्याय है। मैंने *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* के पृ० १४६ पर लिखा है कि "वह (ऐडम स्मिथ) संचलनगत सिक्कों की मात्रा के सवाल के बारे में बिना कुछ कहे ही कन्नी काट जाते हैं और बहुत ग़लत ढंग से द्रव्य की महज़ एक पण्य के रूप में चर्चा करते हैं।" यह बात केवल वहीं तक सही है, जहां तक ऐडम स्मिथ ने ex officio [रस्मी तौर पर] द्रव्य पर विचार किया है। परंतु कभी-कभी, जैसे कि राजनीतिक अर्थशास्त्र की पुरानी प्रणालियों की आलोचना करते हुए, वह सही दृष्टिकोण अपनाते हैं। "प्रत्येक देश में सिक्के की मात्रा का उन पण्यों के मूल्य द्वारा नियमन होता है, जिनका उस सिक्के को परिचलन

जा सकता है कि यदि पण्यों के मूल्यों का जोड़ और उनके रूपांतरणों की औसत तेज़ी मालूम हो, तो द्रव्य के रूप में चालू बहुमूल्य धातु की मात्रा उस धातु के मूल्य पर निर्भर करती है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसके विपरीत दाम संचलनशील माध्यम की मात्रा से निर्धारित होते हैं और यह मात्रा किसी देश में पायी जानेवाली बहुमूल्य धातुओं की मात्रा पर निर्भर करती है [78] – इस ग़लत धारणा को पहले-पहल जन्म देनेवाले लोगों ने उसे इस परिकल्पना पर आधारित किया था कि जब पण्य और द्रव्य परिचलन में प्रवेश करते हैं, तब पण्यों का कोई दाम नहीं होता और द्रव्य का कोई मूल्य नहीं होता, और एक बार परिचलन में प्रवेश कर जाने के बाद नाना प्रकार के पण्यों के एक निश्चित भाग का बहुमूल्य धातुओं के ढेर के एक भाग के साथ विनिमय किया जाता है। [79]

करना होता है... साल भर में किसी देश में किये जानेवाले पण्यों के क्रय और विक्रय के मूल्य के लिए द्रव्य की एक निश्चित मात्रा की आवश्यकता होती है, ताकि उन पण्यों का परिचलन और सही उपभोगियों में वितरण हो सके, और वह देश उससे अधिक द्रव्य को काम में नहीं लगा सकता। परिचलन की नाली के भरने के लिए जितनी रक़म काफ़ी होती है, उतनी वह लाज़िमी तौर पर अपनी तरफ़ खींच लेती है, पर उससे ज़्यादा को कभी अंदर नहीं आने देती।" (*Wealth of Nations*, Bk. IV, Ch. I.) इसी प्रकार अपनी पुस्तक को ex officio आरंभ करते हुए ऐडम स्मिथ ने श्रम-विभाजन को मानो देवताओं के स्थान पर बैठा दिया है। पर बाद को अपनी अंतिम पुस्तक में, जिसमें कि सार्वजनिक आय के स्रोतों की चर्चा की गयी है, उन्होंने यदा-कदा श्रम-विभाजन की अपने गुरु ए० फ़र्ग्यूसन की भांति ही अत्यंत कटु आलोचना की है।

[78] "जैसे-जैसे लोगों के पास सोना और चांदी बढ़ते जायेंगे, वैसे-वैसे निश्चय ही हर देश में चीज़ों के दाम भी बढ़ते जायेंगे, और इसलिए जब किसी देश में सोना और चांदी कम हो जाते हैं, तो तमाम चीज़ों के दामों का द्रव्य की इस कमी के अनुपात में घट जाना भी अनिवार्य हो जाता है।" (Jacob Vanderlint, *Money Answers All Things*, London, 1734, p. 5.) इस पुस्तक का ह्यूम के *Essays* से ध्यानपूर्वक मुक़ाबला करने के बाद मेरे दिमाग़ में इस विषय में तनिक भी संदेह नहीं रह गया है कि वैंडरलिन्ट की इस रचना से, जो निस्संदेह एक महत्त्वपूर्ण रचना है, ह्यूम परिचित थे और उन्होंने उसका उपयोग किया था। बार्बोन का और उसके बहुत पहले के अन्य लेखकों का भी यह मत था कि दाम संचलनशील माध्यम की मात्रा से निर्धारित होते हैं। वैंडरलिन्ट ने लिखा है: "अनियंत्रित व्यापार से कोई असुविधा नहीं पैदा हो सकती, बल्कि बहुत बड़ा लाभ हो सकता है, क्योंकि यदि उससे राष्ट्र की नक़दी कम हो जाती है, जिसे कम होने से रोकना ही व्यापार पर लगाये हुए बंधनों का उद्देश्य है, तो जिन राष्ट्रों को वह नक़दी मिलेगी, उनके यहां निश्चय ही नक़दी के बढ़ने के साथ-साथ हर चीज़ के दाम चढ़ जायेंगे। और... हमारे कारख़ानों की बनी चीज़ें और अन्य सब वस्तुएं शीघ्र ही इतनी सस्ती हो जायेंगी कि व्यापार का संतुलन हमारे पक्ष में हो जायेगा और उससे फिर द्रव्य हमारे यहां लौट आयेगा।" (l. c., pp. 43, 44.)

[79] यह एक स्वतःस्पष्ट प्रस्थापना है कि हर अलग प्रकार के पण्य का दाम परिचलन में शामिल तमाम पण्यों के दामों के जोड़ का एक भाग होता है। लेकिन यह बात क़तई समझ में नहीं आती कि उपयोग-मूल्यों का, जिनकी कि एक दूसरे से तुलना नहीं की जा सकती, सबका एक साथ किसी देश में पाये जानेवाले कुल सोने और चांदी के साथ कैसे विनिमय किया जा सकता है। यदि हम इस विचार से आरंभ करें कि सब पण्यों को मिलाकर एक पण्य बन जाता है, जिसका हरेक पण्य एक अशेषभाजक होता है, तो हमारे सामने यह सुंदर निष्कर्ष निकल आता है कि कुल पण्य = x हंड्रेडवेट सोना, पण्य क = कुल पण्य का अशेषभाजक = x

ग) सिक्का और मूल्य के प्रतीक

द्रव्य सिक्के का रूप धारण करता है, यह बात उसके संचलनशील माध्यम के काम से उत्पन्न होती है। दाम – या पण्यों के द्रव्य-नाम – के रूप में सोने के जिन वज़नों का कल्पना में प्रतिनिधित्व होता है, उनको परिचलन की क्रिया में एक निश्चित मान के सिक्कों या सोने के टुकड़ों के रूप में पण्यों के मुक़ाबले में खड़ा होना पड़ता है। दामों का मापदंड निर्धारित करने की तरह सिक्के ढालना भी राज्य का काम है। सोना और चांदी सिक्कों के रूप में स्वदेश में जो भिन्न-भिन्न प्रकार की राष्ट्रीय पोशाकें पहने रहते हैं और जिनको वे दुनिया की मंडी में पहुंचते ही फिर उतारकर फेंक देते हैं, वे पण्यों के परिचलन के अंदरूनी अथवा राष्ट्रीय क्षेत्रों तथा उनके सार्विक क्षेत्र के अलगाव की सूचक होती हैं।

हंड्रेडवेट सोने का उतना ही अशेषभाजक। मोंतेस्क्यू ने पूरी गंभीरता के साथ यही बात कही है: "यदि हम दुनिया में पाये जानेवाले सोने और चांदी की कुल मात्रा का दुनिया में पायी जानेवाली वाणिज्य-वस्तुओं की कुल मात्रा से मुक़ाबला करें, तो यह निश्चय ही स्पष्ट हो जायेगा कि वाणिज्य-वस्तुओं में से प्रत्येक वस्तु विशेष अथवा पण्य विशेष का सोने-चांदी के एक निश्चित भाग से मुक़ाबला किया जा सकता है... मान लीजिये कि दुनिया में केवल एक वाणिज्य-वस्तु अथवा केवल एक पण्य है या केवल एक पण्य ही बिक्री के लिए पेश किया जा सकता है, और द्रव्य की तरह उसे टुकड़ों में बांटा जा सकता है। तब वाणिज्य-वस्तुओं का एक भाग द्रव्य की मात्रा के एक भाग के अनुरूप होगा: कुल वाणिज्य-वस्तुओं का आधा भाग कुल द्रव्य के आधे भाग के अनुरूप होगा, इत्यादि... चीज़ों के दामों को निश्चित करना बुनियादी तौर पर सदा इस बात पर निर्भर करता है कि कुल चीज़ों और कुल प्रतीकों के बीच क्या अनुपात है।" (Montesquieu, l.c., t. III, pp. 12, 13.) जहां तक रिकार्डो और उनके शिष्यों जेम्स मिल, लार्ड ओवरस्टोन, आदि के द्वारा इस सिद्धांत के विकास का संबंध है, तो *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* के पृ० १४०-१४६ और पृ० १५० तथा उसके आगे के पृष्ठ देखिये। जॉन स्टुअर्ट मिल अपनी समाहारी तर्क-शैली के बल पर अपने पिता जेम्स मिल के मत और उसके विरोधी मत, दोनों को एक साथ अंगीकार करने का गुर जानते हैं। जब हम उनकी पाठ्यपुस्तक *Principles of Political Economy* का उसके पहले संस्करण के लिए उनके द्वारा लिखी गयी भूमिका से मुक़ाबला करते हैं, जिसमें उन्होंने ऐलान किया है कि वह अपने जमाने के ऐडम स्मिथ हैं, तो हमारी समझ में नहीं आता कि हम इस आदमी की सरलता की ज़्यादा प्रशंसा करें या उन लोगों की सरलता की, जिन्होंने सद्भाव के साथ उसके इस दावे पर विश्वास कर लिया था कि वह सचमुच ऐडम स्मिथ है, हालांकि उसमें और ऐडम स्मिथ में लगभग उतनी ही समानता है, जितनी कार्स के जनरल विलियम्स और वेलिंगटन के ड्यूक में है। मि० जे० एस० मिल ने राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में जितनी नयी खोजें की हैं, जो न तो बहुत व्यापक और न ही गंभीर हैं, वे सबकी सब आपको उनकी छोटी सी रचना *Some Unsettled Questions of Political Economy* में, जो कि १८४४ में प्रकाशित हुई थी, संग्रहीत मिल जायेंगी। लॉक ने बिना किसी लाग-लपेट के इस बात पर ज़ोर दिया है कि सोने और चांदी के मूल्य के अभाव का इस बात से संबंध है कि उनका मूल्य केवल मात्रा से निर्धारित होता है। उन्होंने लिखा है: "मनुष्य-जाति ने चूंकि सोने और चांदी को एक काल्पनिक मूल्य दे देने का निश्चय कर लिया है... इसलिए इन धातुओं का स्वाभाविक मूल्य मात्रा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।" (*Some Considerations of the Consequences of the Lowering of Interest*, 1691, *Works*, 1777, Vol. II. p. 15.)

अतएव सिक्कों तथा बुलियन में एकमात्र अंतर शक्ल का होता है, और सोना किसी भी समय एक शक्ल छोड़कर दूसरी शक्ल अख़्तियार कर सकता है।[80] लेकिन जैसे ही सिक्का टकसाल से बाहर निकलता है, वैसे ही वह अपने को धातु गलाने के बर्तन की ओर बढ़ता हुआ पाता है। चलन के दौरान सिक्के घिस जाते हैं – कुछ ज़्यादा, कुछ कम। नाम और पदार्थ के अलगाव, अंकित वज़न और वास्तविक वज़न के अलगाव की क्रिया शुरू हो जाती है। एक ही मान के सिक्कों का मूल्य भिन्न हो जाता है, क्योंकि उनके वज़न में फ़र्क़ पड़ जाता है। सोने का जो वज़न दामों का मापदंड मान लिया गया था, वह उस वज़न से भिन्न हो जाता है, जो संचलनशील माध्यम का काम कर रहा है, और इसलिए संचलनशील माध्यम जिन पण्यों के दामों को मूर्त रूप देता है, वह अब उनका वास्तविक समतुल्य नहीं रहता। मध्य युग और यहां तक कि १८ वीं सदी तक का सिक्का-ढलाई का इतिहास उपर्युक्त कारण से पैदा होनेवाली नित नयी गड़बड़ी का इतिहास है। परिचलन की नैसर्गिक प्रवृत्ति सिक्के जो कुछ होने का दावा करते हैं, उनको उसका आभास मात्र बना देती है, सरकारी तौर पर उनमें जितना वज़न होना चाहिए, उनको उसका केवल प्रतीक मात्र बना देती है। आधुनिक क़ानूनों ने इस प्रवृत्ति को मान्यता दी है। वे यह निश्चित कर देते हैं कि कितना वज़न कम हो जाने पर सोने के सिक्के का निर्मुद्रीकरण हो जायेगा, या वह वैध द्रव्य नहीं रहेगा।

सिक्कों का चलन ख़ुद उनके अंकित वज़न और असली वज़न के बीच अलगाव पैदा कर देता है, एक ओर, केवल धातु के टुकड़ों के रूप में और दूसरी ओर, कुछ निश्चित ढंग के काम करनेवाले सिक्कों के रूप में उनमें भेद पैदा कर देता है – इस तथ्य में यह संभावना भी छिपी हुई है कि धातु के सिक्कों की जगह पर किसी और पदार्थ के बने हुए टोकनों से, सिक्कों का कार्य करनेवाले प्रतीकों से काम लिया जाये। सोने या चांदी की बहुत ही सूक्ष्म मात्राओं के सिक्के ढालने के रास्ते में जो व्यावहारिक कठिनाइयां सामने आती हैं, यह बात कि शुरू में अधिक मूल्यवान धातु के बदले कम मूल्यवान धातु – चांदी के बदले तांबा और सोने के बदले चांदी – मूल्य की माप के रूप में इस्तेमाल की जाती है, तथा यह कि कम मूल्यवान धातु उस वक़्त तक चालू रहती है, जब तक कि अधिक मूल्यवान धातु उसे इस

---

[80] सिक्कों की ढलाई और उसपर लगाये जानेवाले कर जैसे विषयों पर विचार करना, ज़ाहिर है, इस पुस्तक के क्षेत्र के बिल्कुल बाहर है। किंतु रोमानी चाटुकार ऐडम मूलर के हितार्थ, जो अंग्रेज़ सरकार की इस "उदारता" के बड़े प्रशंसक हैं कि वह मुफ़्त में सिक्के ढालती है, मैं सर डडली नॉर्थ का निम्नलिखित मत अवश्य उद्धृत करूंगा: "दूसरे पण्यों की तरह चांदी और सोने में भी वृद्धि और कमी होती है। जब स्पेन से धातु आ जाती है, तो... वह टॉवर में ले जायी जाती है और वहां उसके सिक्के ढाले जाते हैं। उसके कुछ ही समय बाद फिर से सोने-चांदी का विदेशों को निर्यात करने की मांग सामने आती है। परंतु यदि देश में बुलियन न हो और वह सिक्कों की शक्ल में हो, तब क्या हो? उसे फिर गला दो; उसमें नुक़सान नहीं होगा, क्योंकि सिक्के ढालने में धातु के मालिक का कुछ भी तो ख़र्च नहीं होता। तो इस तरह राष्ट्र के गले यह बला डाली जाती है और गधों के घास चरने के लिए घास जुटाने का ख़र्च उसके मत्थे मढ़ दिया जाता है। यदि सौदागर से सिक्के ढालने के दाम लिये जाते, तो वह बिना कुछ सोचे-विचारे अपनी चांदी ढलवाने के लिए टॉवर में न भेजता, और सिक्कों के रूप में द्रव्य का बग़ैर ढली हुई चांदी की अपेक्षा हमेशा अधिक मूल्य होता।" (North, l. c., p. 18.) चार्ल्स द्वितीय के राज्यकाल में नार्थ ख़ुद एक सबसे प्रमुख सौदागर था।

श्रासन से नहीं उतार देती – यही सभी बातें ऐतिहासिक क्रम में चांदी श्रौर तांबे के बने प्रतीकों द्वारा की जानेवाली सोने के सिक्कों के प्रतिस्थापकों की भूमिका को स्पष्ट करती हैं। चांदी श्रौर तांबे के बने प्रतीक परिचलन के उन प्रदेशों में सोने का स्थान ले लेते हैं, जहां सिक्के सबसे ज़्यादा तेज़ी के साथ एक हाथ से दूसरे हाथ में श्राते-जाते हैं श्रौर जहां उनकी सबसे ज़्यादा घिसाई होती है। यह वहां होता है, जहां पर बहुत ही छोटे पैमाने का क्रय-विक्रय लगातार होता रहता है। ये श्रनुषंगी कहीं स्थायी रूप से सोने के स्थान पर न जम जायें, इसके लिए क़ानून बनाकर यह निश्चित कर दिया जाता है कि भुगतान के समय सोने के बदले में उनको किस हद तक स्वीकार करना श्रनिवार्य है। विभिन्न प्रकार के चालू सिक्के जिन विशिष्ट पथों का श्रनुसरण करते हैं वे, ज़ाहिर है, श्रकसर एक दूसरे से जा मिलते हैं। सोने के सबसे छोटे सिक्के के भिन्नात्मक भागों का भुगतान करने के लिए ये प्रतीक सोने के साथ रहते हैं; सोना एक तरफ़ तो लगातार फुटकर परिचलन में श्राता रहता है, श्रौर दूसरी तरफ़, वह इसी निरंतरता के साथ प्रतीकों में बदला जाकर फिर परिचलन के बाहर फेंक दिया जाता है।[81]

चांदी श्रौर तांबे के प्रतीकों में धातु का वज़न क़ानून द्वारा मनमाने ढंग से निश्चित किया जाता है। वे चलन में सोने के सिक्कों से भी ज़्यादा तेज़ी से घिसते हैं। इसलिए वे जो काम करते हैं, वह उनके वज़न से श्रौर इसलिए सब प्रकार के मूल्य से सर्वथा स्वतंत्र होता है। सिक्के के रूप में सोने का काम सोने के धातुगत मूल्य से पूर्णतया स्वतंत्र हो जाता है। इसलिए उसके स्थान पर वे चीज़ें भी सिक्कों का काम कर सकती हैं, जो श्रपेक्षाकृत मूल्यरहित होती हैं, जैसे कि काग़ज़ के नोट। यह विशुद्ध प्रतीकात्मक स्वरूप धातु के प्रतीकों में किसी हद तक छिपा हुश्रा रहता है। पर काग़ज़ी द्रव्य में वह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। सच पूछिये, तो ce n'est que le premier pas qui coûte [सिर्फ़ पहला क़दम ही सदा मुश्किल होता है]।

हम यहां केवल उस श्रपरिवर्तनीय काग़ज़ी द्रव्य की चर्चा कर रहे हैं, जिसे राज्य जारी करता है श्रौर जिसे श्रनिवार्य रूप से परिचलन में इस्तेमाल करना पड़ता है। इसका प्रत्यक्ष उद्भव-स्रोत धातु के द्रव्य के चलन में होता है। दूसरी श्रोर, उधार पर श्राधारित द्रव्य के लिए कुछ ऐसी परिस्थितियां श्रावश्यक होती हैं, जिनसे हम पण्यों के साधारण परिचलन के श्रपने दृष्टिकोण से श्रभी सर्वथा श्रपरिचित हैं। लेकिन हम इतना ज़रूर कह सकते हैं कि जिस प्रकार सच्चा काग़ज़ी द्रव्य संचलनशील माध्यम के रूप में द्रव्य के कार्य से उत्पन्न हुश्रा है,

---

[81] "श्रपेक्षाकृत छोटे भुगतानों के लिए जितनी चांदी की श्रावश्यकता होती है, यदि चांदी कभी उससे ज़्यादा नहीं होती, तो श्रपेक्षाकृत बड़े भुगतान करने के लिए पर्याप्त मात्रा में चांदी को इकट्ठा करना श्रसंभव हो जाता है... ख़ास भुगतानों में सोना इस्तेमाल करने का लाज़िमी तौर पर यह मतलब भी होता है कि उसे फुटकर व्यापार में भी इस्तेमाल किया जाये: जिनके पास सोने के सिक्के होते हैं, वे छोटी ख़रीदारियां करने के समय सोने के सिक्के देते हैं, श्रौर उनको बदले में ख़रीदे हुए पण्य के साथ-साथ बाक़ी रक़म चांदी के सिक्कों के रूप में वापस मिल जाती है। इस प्रकार वह श्रतिरिक्त चांदी, जो फुटकर दूकानदार के पास इकट्ठा होकर फ़ज़ूल का बोझा बन जाती, उसके पास से खिंचकर श्राम परिचलन में बिखर जाती है। लेकिन यदि चांदी इतनी हो कि सोने से स्वतंत्र रहते हुए छोटे भुगतानों का काम चल जाये, तो फुटकर व्यापारी को छोटी ख़रीदारियों के एवज़ में चांदी मंज़ूर करनी पड़ेगी, श्रौर वह लाज़िमी तौर पर उसके पास इकट्ठी हो जायेगी।" (David Buchanan, *Inquiry into the Taxation and Commercial Policy of Great Britain*, Edinburgh, 1844, pp. 248, 249.)

उसी प्रकार उधार पर आधारित द्रव्य भुगतान के साधन के रूप में द्रव्य के कार्य से स्वत: उत्पन्न होता है।[82]

राज्य काग़ज़ के कुछ ऐसे टुकड़े चालू कर देता है, जिनपर उनकी अलग-अलग राशियां – जैसे १ पाउंड, ५ पाउंड, इत्यादि – छपी रहती हैं। जिस हद तक कि ये काग़ज़ के टुकड़े सचमुच सोने की उतनी ही मात्रा का स्थान ले लेते हैं, उस हद तक उनकी गति उन्हीं नियमों के अधीन होती है, जिनके द्वारा स्वयं द्रव्य के चलन का नियमन होता है। काग़ज़ी द्रव्य के परिचलन से ख़ास तौर पर संबंध रखनेवाला नियम केवल उस अनुपात का फल हो सकता है, जिस अनुपात में वह काग़ज़ी द्रव्य सोने का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा एक नियम है। उसे यदि सरल रूप में पेश किया जाये, तो वह नियम यह है कि काग़ज़ी द्रव्य का निर्गम सोने की (या परिस्थिति के अनुसार चांदी की) उस मात्रा से अधिक नहीं होना चाहिए, जो उस हालत में परिचलन में सचमुच भाग लेती, यदि उसका स्थान प्रतीक न ग्रहण कर लेते। अब परिचलन सोने की जिस मात्रा को खपा सकता है, वह लगातार एक निश्चित स्तर के ऊपर-नीचे चढ़ा-गिरा करती है। फिर भी किसी भी देश में संचलनशील माध्यम की राशि कभी एक अल्पतम स्तर से नीचे नहीं गिरती, और इस अल्पतम राशि का वास्तविक अनुभव से सहज ही पता लगाया जा सकता है। इस अल्पतम राशि की मात्रा में या उसके परिचलन की निरंतरता में इस बात से, ज़ाहिर है, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि वह राशि जिन संघटक भागों से मिलकर बनी है, वे बराबर बदलते रहते हैं, या सोने के जो टुकड़े उसमें शामिल होते हैं, उनका स्थान बराबर नये टुकड़े लेते रहते हैं। इसलिए इस अल्पतम राशि की जगह पर काग़ज़ के प्रतीक इस्तेमाल किये जा सकते हैं। दूसरी ओर, यदि परिचलन की नालियों को उनकी क्षमता के अनुसार आज काग़ज़ी द्रव्य से ठसाठस भर दिया जाये, तो कल को पण्यों के परिचलन में कोई परिवर्तन होने के फलस्वरूप काग़ज़ी द्रव्य नालियों के बाहर बह निकल सकता है। ऐसा होने पर कोई मापदंड नहीं रह जायेगा। यदि काग़ज़ी द्रव्य अपनी उचित सीमा से अधिक हो, यानी यदि वह उसी मान के सोने के सिक्कों की उस मात्रा से अधिक हो, जो सचमुच चलन में आ सकती है, तो उसे न केवल आम बदनामी का ख़तरा

---

[82] चीनी वित्त-मंत्री मंदारिन वान-माओ-इन के मन में एक रोज़ यह विचार आया कि देव-पुत्र सम्राट् के सामने एक ऐसा सुझाव रखा जाये, जिसका गुप्त उद्देश्य साम्राज्य के assignats [अपरिवर्तनीय काग़ज़ी द्रव्य] को परिवर्तनीय बैंकनोटों में बदल देना हो। काग़ज़ी द्रव्य समिति ने अप्रैल १८५४ की अपनी रिपोर्ट में वित्त-मंत्री की बुरी तरह ख़बर ली है। रिपोर्ट में यह नहीं बताया गया है कि मंत्री महोदय की परंपरागत शैली में बांसों से भी ख़बर ली गयी थी या नहीं। रिपोर्ट का अंतिम अंश इस प्रकार है: "समिति ने उनके सुझाव पर ध्यानपूर्वक विचार किया है और वह इस नतीजे पर पहुंची है कि यह सुझाव पूरी तरह सौदागरों के हित में है और उससे सम्राट् को कोई लाभ न होगा।" (*Arbeiten der Kaiserlich Russischen Gesandtschaft zu Peking über China*. Aus dem Russischen von Dr. K. Abel und F. A. Mecklenburg. Erster Band, Berlin, 1858, S. 47 sq.) बैंक संबंधी क़ानूनों के बारे में लार्ड-सभा की समिति के सामने गवाही देते हुए बैंक आफ़ इंगलैंड के एक गवर्नर ने चलन के दौरान सोने के सिक्कों के घिसने के बारे में यह कहा है: "हर साल सावरनों की एक और श्रेणी बहुत ज्यादा हल्की हो जाती है। जो श्रेणी एक वर्ष पूरे वज़न के साथ चालू रहती है, वह साल भर में इतनी अधिक घिस जाती है कि अगले वर्ष तराज़ू पर खोटी उतरती है।" (House of Lords' Committee, 1848, No. 429.)

मोल लेना होगा, बल्कि वह सोने की केवल उस मात्रा का प्रतिनिधित्व करेगा, जो पण्यों के परिचलन के नियमों के अनुसार जरूरी है और काग़ज़ी द्रव्य जिसका प्रतिनिधित्व कर सकता है। काग़ज़ी द्रव्य की मात्रा जितनी होनी चाहिए, यदि उसका दुगुना काग़ज़ी द्रव्य जारी कर दिया जाये, तो १ पाउंड $\frac{१}{४}$ आउंस सोने का नहीं, बल्कि वास्तव में $\frac{१}{८}$ आउंस सोने का द्रव्य-नाम हो जायेगा। इसका उसी तरह का प्रभाव होगा, जैसे कि दामों के मापदंड के रूप में सोने के कार्य में कोई परिवर्तन होने से होता है। जिन मूल्यों को पहले १ पाउंड का दाम व्यक्त करता था, उनको अब २ पाउंड का दाम व्यक्त करेगा।

काग़ज़ी द्रव्य सोने का, अथवा द्रव्य का, प्रतिनिधित्व करनेवाला प्रतीक होता है। उसके और पण्यों के मूल्य के बीच यह संबंध होता है कि पण्यों के मूल्य भावात्मक ढंग से सोने की उन्हीं मात्राओं में व्यक्त होते हैं, जिनका काग़ज़ के ये टुकड़े प्रतीकात्मक ढंग से प्रतिनिधित्व करते हैं। काग़ज़ी द्रव्य केवल उसी हद तक मूल्य का प्रतीक होता है, जिस हद तक कि वह सोने का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका अन्य सब पण्यों की तरह मूल्य होता है।[83]

अंत में कोई यह प्रश्न कर सकता है कि सोने में यह क्षमता क्यों है कि उसका स्थान ऐसे प्रतीक ले सकते हैं, जिनमें कोई मूल्य नहीं होता? किंतु, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, उसमें यह क्षमता केवल उसी हद तक होती है, जिस हद तक कि वह एकमात्र सिक्के की तरह, केवल संचलनशील माध्यम की तरह काम करता है और जिस हद तक कि वह और किसी रूप में काम नहीं करता। अब, द्रव्य के, इसके सिवा, कुछ और भी काम होते हैं, और महज़ संचलनशील माध्यम की तरह काम करने का यह अकेला कार्य ही सोने के सिक्के से संबंधित एकमात्र कार्य नहीं होता, हालांकि जो घिसे हुए सिक्के चालू रहते हैं, उनके बारे में यह बात सच है। द्रव्य का हर टुकड़ा केवल उतनी ही देर तक महज़ एक सिक्का या परिचलन का माध्यम रहता है, जितनी देर तक वह सचमुच परिचलन में भाग लेता है। पर सोने की उस उपरोक्त अल्पतम राशि के बारे में यही सच है, जिसमें इस बात की क्षमता होती है कि उसका स्थान काग़ज़ी द्रव्य ले ले। वह राशि बराबर परिचलन के क्षेत्र में ही रहती है, लगातार संचलनशील माध्यम की तरह काम करती है, और उसका अस्तित्व ही केवल इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए होता है। अतएव उसकी गति इसके सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करती कि रूपांतरण C—M—C की एक दूसरी की उल्टी वे अवस्थाएं बारी-बारी से सामने आती

[83] जहां तक द्रव्य के विभिन्न कार्यों को समझने का प्रश्न है, वहां तक द्रव्य पर लिखनेवाले सबसे अच्छे लेखकों के विचारों में भी स्पष्टता का कितना अभाव है, इसका एक उदाहरण फ़ुलार्टन का निम्नलिखित अंश है: "यह बात कि जहां तक हमारे घरेलू विनिमयों का संबंध है, द्रव्य के वे सारे काम, जो साधारणतया सोने और चांदी के सिक्कों से लिये जाते हैं, वे उतने ही कारगर ढंग से उन अपरिवर्तनीय नोटों के द्वारा भी संपन्न हो सकते हैं, जिनमें उस बनावटी और रूढ़ मूल्य के सिवा, जो उनको क़ानून से मिलता है, और कोई मूल्य नहीं होता, — यह एक ऐसा तथ्य है, जिससे, मैं समझता हूं, किसी तरह इनकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के मूल्य से स्वाभाविक मूल्य के सारे काम लिये जा सकते हैं, और यदि केवल नोटों के निर्गम के परिमाण को उचित सीमा में रखा जाये, तो मापदंड की आवश्यकता तक समाप्त हो सकती है।" (Fullartcn, *Regulation of Currencies*, 2nd Ed., London, 1845, p. 21.) परिचलन में द्रव्य का काम करनेवाले पण्य का स्थान चूंकि मूल्य के प्रतीक मात्र ले सकते हैं, इसलिए यहां पर यह घोषित कर दिया गया है कि मूल्य की माप और दामों के मापदंड के रूप में उस पण्य के कार्य अनावश्यक होते हैं!

रहती हैं, जिनमें पण्य अपने मूल्य-रूपों के मुक़ाबले में खड़े होते हैं और तत्काल ही फिर ग़ायब हो जाते हैं। पण्य के विनिमय-मूल्य का स्वतंत्र अस्तित्व यहां एक क्षणिक घटना ही होता है, जिसके द्वारा तुरंत ही एक पण्य का स्थान दूसरा पण्य ले लेता है। इसलिए इस क्रिया में, जो द्रव्य को लगातार एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुंचाती रहती है, द्रव्य का केवल प्रतीकात्मक अस्तित्व ही पर्याप्त होता है। उसका कार्यगत अस्तित्व मानो उसके भौतिक अस्तित्व को हज़म कर जाता है। पण्यों के दामों का एक क्षणिक एवं वस्तुरूप प्रतिबिंब होने के कारण वह केवल अपने प्रतीक के रूप में काम करता है, और इसलिए उसमें यह क्षमता होती है कि स्वयं उसका स्थान एक प्रतीक ले ले।[84] लेकिन एक चीज़ ज़रूरी होती है; उस प्रतीक को ख़ुद वस्तुगत सामाजिक मान्यता प्राप्त होनी चाहिए, और काग़ज़ का प्रतीक यह मान्यता इस तरह प्राप्त करता है कि राज्य जबरन उसका चलन अनिवार्य बना देता है। राज्य का यह आदेश, जिसे मानना सबके लिए ज़रूरी होता है, परिचलन के केवल उस अंदरूनी क्षेत्र में ही कारगर साबित हो सकता है, जिसकी सीमाएं उस समाज के प्रदेश की सीमाएं होती हैं; लेकिन द्रव्य भी केवल इसी क्षेत्र में संचलनशील माध्यम के रूप में अपना कार्य पूरी तरह पूरा करता है, यानी सिक्का बन जाता है।

अनुभाग ३ – द्रव्य

द्रव्य वह पण्य है, जो मूल्य की माप का काम करता है और जो या तो ख़ुद या किसी प्रतिनिधि के द्वारा परिचलन के माध्यम का काम करता है। इसलिए सोना (या चांदी) द्रव्य है। एक ओर तो वह उस वक़्त द्रव्य की तरह काम करता है, जब उसे अपने सुनहरे व्यक्तित्व के साथ उपस्थित होना पड़ता है। उस समय वह द्रव्य-पण्य होता है, जो केवल प्रत्ययात्मक नहीं होता, जैसा कि वह मूल्य की माप का काम करते समय होता है, और जिसमें यह क्षमता भी नहीं होती कि उसका प्रतिनिधित्व कोई प्रतीक कर सके, जैसी कि संचलनशील माध्यम का काम करते समय उसमें होती है। दूसरी ओर, सोना उस वक़्त भी द्रव्य की तरह काम करता है, जब अपने कार्य के प्रताप से, चाहे यह कार्य वह ख़ुद करता हो या चाहे किसी प्रतिनिधि के द्वारा कराता हो, वह मूल्य का वह अनन्य रूप बनकर रह जाता है, जो उपयोग-मूल्य के मुक़ाबले में जिसका प्रतिनिधित्व कि बाक़ी सब पण्य करते हैं, विनिमय-मूल्य के अस्तित्व का एकमात्र पर्याप्त रूप होता है।

---

[84] इस बात से कि जहां तक सोना और चांदी सिक्के हैं, अथवा जहां तक वे केवल परिचलन के माध्यम का काम करते हैं, वहां तक वे अपने प्रतीक मात्र बन जाते हैं, निकोलस बार्बोन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सरकारों को "द्रव्य को ऊपर उठाने" का अधिकार होता है, यानी वे चांदी के उस वज़न को, जो शिलिंग कहलाता है, उससे बड़े वज़न का – जैसे कि क्राउन का – नाम दे सकती हैं और इस तरह अपने लेनदारों को क्राउनों के बजाय शिलिंग दे सकती हैं। उन्होंने लिखा है: "द्रव्य बार-बार गिने जाने पर घिस जाता है और हल्का हो जाता है... सौदा करते समय लोग चांदी की मात्रा का नहीं, द्रव्य के अंकित मूल्य और चलन का ख़याल करते हैं..." "धातु पर लगी हुई सरकारी मुहर उसे द्रव्य बनाती है।" (N. Barbon, l.c., pp. 29, 30, 25.)

क) अपसंचय

पण्यों के दो परस्पर विरोधी रूपांतरण जिस प्रकार लगातार परिपथों में घूमते रहते हैं, या क्रय और विक्रय का अनवरत अबाध और बारी-बारी से सामने आनेवाला क्रम द्रव्य के अविराम चलन में, या द्रव्य परिचलन की perpetuum mobile [शाश्वत प्रेरक शक्ति] का जो काम करता है, उसमें प्रतिबिंबित होता है। किंतु जैसे ही रूपांतरणों का क्रम बीच में रुक जाता है, जैसे ही विक्रय बाद में होनेवाले क्रयों से अनुपूरित नहीं होते, वैसे ही द्रव्य गतिमान नहीं रहता, वैसे ही वह, बुआगिल्बेर के शब्दों में, meuble [चल] से immeuble [अचल] में, सिक्के से द्रव्य में बदल जाता है।

पण्यों के परिचलन का अत्यंत प्रारंभिक विकास होते ही पहले रूपांतरण की पैदावार को पकड़ रखने की आवश्यकता एवं ज़ोरदार इच्छा का भी विकास हो जाता है। यह पैदावार पण्य की बदली हुई शक्ल, या उसका सुवर्ण-कोशशायी रूप होती है।[85] इस प्रकार पण्यों को दूसरे पण्य ख़रीदने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि उनके पण्य-रूप को उनके द्रव्य-रूप में बदलने के उद्देश्य से बेचा जाता है। यह रूप-परिवर्तन पण्यों का परिचलन संपन्न करने का साधन मात्र न रहकर लक्ष्य और ध्येय बन जाता है। इस प्रकार पण्य के बदले हुए रूप को उसके पूर्णतया हस्तांतरणीय रूप की तरह – या उसके केवल क्षणिक द्रव्य-रूप की तरह – काम करने से रोक दिया जाता है। द्रव्य अपसंचित धन में बदल जाता है, और पण्य बेचनेवाला द्रव्य का अपसंचय करनेवाता बन जाता है।

पण्यों के परिचलन की प्रारंभिक अवस्थाओं में केवल बेशी उपयोग-मूल्य ही द्रव्य में बदलते हैं। सोना और चांदी इस तरह ख़ुद-ब-ख़ुद अतिरेक अथवा धन की सामाजिक अभिव्यंजनाएं बन जाते हैं। अपसंचय का यह भोला रूप उन समाजों में एक स्थायी चीज़ बन जाता है, जिनमें कुछ निश्चित एवं सीमित ढंग की घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परंपरागत पद्धति का उत्पादन होता है। एशिया के और ख़ास कर भारत के लोगों में हम यही चीज पाते हैं। वैंडरलिन्ट, जिसको यह भ्रम है कि किसी भी देश में पण्यों के दाम वहां पाये जानेवाले सोने और चांदी की मात्रा से निर्धारित होते हैं, अपने से प्रश्न करता है कि हिंदुस्तानी पण्य इतने सस्ते क्यों होते हैं। और फिर अपने प्रश्न का ख़ुद जवाब देता है कि इसका कारण यह है कि हिंदू लोग अपना द्रव्य ज़मीन में गाड़कर रखते हैं। वैंडरलिन्ट ने बताया है कि १६०२ से १७३४ तक हिंदुओं ने १५ करोड़ पाउंड स्टर्लिंग की क़ीमत की चांदी गाड़ दी थी, जो मूलतः अमरीका से यूरोप में आयी थी।[86] १८५६ से १८६६ तक के दस साल में इंगलैंड ने हिंदुस्तान और चीन को १२ करोड़ पाउंड क़ीमत की चांदी भेजी, जो कि उसे आस्ट्रेलिया के सोने के एवज़ में मिली थी। चीन को जो चांदी जाती है, उसका भी अधिकांश हिंदुस्तान पहुंच जाता है।

पण्यों के उत्पादन का जैसे-जैसे आगे विकास होता है, वैसे-वैसे पण्यों के प्रत्येक उत्पादक के लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि वह nexus rerum, अथवा सामाजिक बंधक का पक्का

---

[85] "द्रव्य के रूप में धन... द्रव्य में रूपांतरित हुई पैदावार के रूप में धन के सिवा और कुछ नहीं होता।" (Mercier de la Rivière, l.c., p. 573.) "पैदावार के रूप में एक मूल्य ने केवल अपना रूप बदल डाला है।" (Id., p. 486.)

[86] "ये लोग इसी आदत की वजह से अपने तमाम मालों और विनिर्मित पण्यों के दाम सदा इतना कम बनाये रखते हैं।" (Vanderlint, l.c., pp. 95, 96.)

इन्तज़ाम करे।[87] उत्पादक की आवश्यकताएं बराबर दबाव डालती और लगातार दूसरे लोगों का पण्य ख़रीदना आवश्यक बनाती रहती हैं। उधर उसके अपने सामान के उत्पादन और बिक्री में समय लगता है, और वे परिस्थितियों पर भी निर्भर करते हैं। इसलिए कुछ बेचे बिना कोई दूसरा पण्य ख़रीदने के लिए ज़रूरी है कि उसने पहले बिना कुछ ख़रीदे कुछ बेचा हो। यह क्रिया जब आम तौर पर होने लगती है, तो ऐसा लगता है, मानो उसके भीतर एक विरोध निहित है। लेकिन बहुमूल्य धातुओं का उनके उत्पादन-स्थलों पर अन्य पण्यों के साथ सीधा विनिमय होता है। यहां (पण्यों के मालिक) विक्रय तो करते हैं, पर (सोने या चांदी के मालिक) क्रय नहीं करते।[88] और बाद में दूसरे उत्पादकों द्वारा किये जानेवाले विक्रय पर साथ ही साथ क्रय न करने का केवल यह परिणाम होता है कि नव-उत्पादित बहुमूल्य धातुएं पण्यों के तमाम मालिकों में बंट जाती हैं। इस तरह विनिमय की क्रिया के हर क़दम पर सोने और चांदी की विभिन्न आकारों की अपसंचित राशियां इकट्ठी हो जाती हैं। किसी एक ख़ास पण्य की शक्ल में विनिमय-मूल्य को संभाले रखने और जमा करने की संभावना पैदा होने पर सोने का लालच भी जन्म लेता है। परिचलन का विस्तार बढ़ने के साथ-साथ द्रव्य की – अर्थात् धन के उस सर्वथा सामाजिक रूप की, जो हर घड़ी व्यवहार में लाया जा सकता है – शक्ति बढ़ती जाती है। "सोना एक आश्चर्यजनक वस्तु है! जिसके पास सोना है, वह जो भी चाहे, हासिल कर सकता है। सोने के द्वारा आत्माओं को स्वर्ग तक में भेजा जा सकता है" (१५०३ में जमैका से लिखे गये कोलम्बस के एक पत्र की उक्ति)। सोना चूंकि यह नहीं बताता कि कौनसी चीज़ उसमें रूपांतरित हुई है, इसलिए हर चीज़, चाहे वह पण्य हो या न हो, सोने में बदली जा सकती है। हर चीज़ बिकाऊ बन जाती है और हर चीज़ ख़रीदी जा सकती है। परिचलन वह महान सामाजिक भभका बन जाता है, जिसमें हर चीज़ डाली जाती है और जिसमें से हर चीज़ सुवर्णस्फटिक बनकर बाहर निकल आती है। यहां तक कि संतों की हड्डियां भी इस कीमियागरी के सामने नहीं ठहर पातीं, और उनसे ज़्यादा नाज़ुक res sacrosanctae, extra commercium hominum [पवित्र वस्तुएं, जो मनुष्यों के व्यापारिक लेन-देन से बाहर होती हैं] तो इस कीमियागरी के सामने और भी कम ठहर पाती हैं।[89] जिस प्रकार पण्यों के बीच पाये जानेवाले प्रत्येक गुणात्मक भेद का द्रव्य में लोप हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य, हर

---

[87] "द्रव्य ... एक बंधक होता है।" (John Bellers, *Essays about the Poor, Manufactures, Trade, Plantations, and Immorality*, London, 1699, p. 13.)

[88] "निरपेक्ष" अर्थ में क्रय का मतलब यह होता है कि उसके लिए जो सोना और चांदी इस्तेमाल किये जाते हैं, वे पहले ही पण्यों के बदले हुए रूप – या किसी विक्रय का फल – होते हैं।

[89] फ़्रांस का अत्यंत धर्म-भीरू ईसाई राजा हेनरी तृतीय ख़ानक़ाहों को लूटता था और उनमें रखे हुए पवित्र अवशेषों को द्रव्य में बदलवा लेता था। फ़ोकियन लोगों द्वारा देल्फ़ी के मंदिर की लूट ने यूनान के इतिहास में जो भूमिका अदा की थी, वह तो सुविदित है ही। प्राचीन काल में मंदिर पण्यों के देवताओं के निवास-स्थानों का काम देते थे। वे "पवित्र बैंक" थे। फ़िनीशियन लोग एक par excellence [उत्कृष्ट] व्यापारी क़ौम थे। उनकी दृष्टि में द्रव्य हर चीज़ का तत्त्वांतरित रूप था। इसलिए उनके यहां यह सर्वथा उचित समझा जाता था कि प्रेम की देवी के उत्सव पर अपने आपको अजनबियों को भेंट कर देनेवाली कुमारियां बदले में मिले हुए सिक्के देवी को अर्पित कर दें।

ऊंच-नीच ख़त्म करके सबको बराबर बना देनेवाला होने के नाते, अपनी बारी आने पर हर तरह का भेदभाव मिटा देता है।[90] परंतु द्रव्य ख़ुद एक पण्य है, एक बाह्य वस्तु है, जो किसी भी व्यक्ति की निजी संपत्ति बन जाने की क्षमता रखती है। इस प्रकार सामाजिक शक्ति अलग-अलग व्यक्तियों की निजी संपत्ति बन जाती है। इसीलिए प्राचीन काल के लोग द्रव्य को आर्थिक एवं नैतिक व्यवस्था को भंग करनेवाला समझते थे और उसकी भर्त्सना करते थे।[91] आधुनिक समाज, जिसने पैदा होते ही पाताल-लोक के देवता प्लूटो के बाल पकड़कर उसे पृथ्वी के गर्भ से खींचकर निकालने की कोशिश की थी,[92] सोने को अपना पवित्र ग्रेल समझता है और स्वयं अपने जीवन के मूल सिद्धांत के कांतिमय मूर्त रूप की तरह उसका अभिनंदन करता है।

पण्य एक उपयोग-मूल्य की हैसियत से किसी ख़ास आवश्यकता की पूर्ति करता है और भौतिक धन का एक विशिष्ट तत्त्व होता है। किंतु किसी पण्य का मूल्य इस बात की माप होता है कि उसमें भौतिक धन के अन्य सब तत्त्वों को अपनी ओर आकर्षित करने की कितनी शक्ति है, और इसलिए वह अपने मालिक के सामाजिक धन की माप होता है। पण्यों के बर्बर मालिक की दृष्टि में, और यहां तक कि पश्चिमी यूरोप के किसान की दृष्टि में भी, मूल्य-रूप ही मूल्य होता है, और इसलिए जब उसके सोना और चांदी के अपसंचित कोष में बढ़ती होती है, तो वह समझता है कि मूल्य में बढ़ती हुई है। यह सच है कि द्रव्य का मूल्य बदलता रहता है; वह कभी तो स्वयं उसके अपने मूल्य के परिवर्तन का परिणाम होता है और कभी पण्यों के मूल्य में होनेवाले परिवर्तन का। किंतु इससे एक ओर तो इसमें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि २०० आउंस सोने में अब भी १०० आउंस से ज्यादा मूल्य रहता है, और दूसरी ओर, इस वस्तु के ठोस धात्वीय रूप के अन्य सब पण्यों का सार्विक समतुल्य-रूप और समस्त मानव-श्रम का तात्कालिक

---

[90] "स्वर्ण, पीतवर्ण, ज्योतिर्मय, अद्भुत अमूल्य स्वर्ण!
रंच मात्र ही कर देता श्याम को जो दुग्ध-धवल, असुंदर को सुंदर,
अनुचित को उचित, घृणित को उत्तम, वृद्ध को युवा, कायर को वीर-प्रवर।
...सावधान, देवताओ, सावध! अरे यह तो भक्तों और पुजारियों को तुमसे विलग कर देगा,
वीर नर पुंगवों के शीश के नीचे से वस्त्र तक हटा देगा,
पीतवर्ण क्रीत यह
धर्मों की शृंखलाएं जोड़ेगा-तोड़ेगा, श्राप-युक्त नर को मुक्ति-वर देगा,
देगा रूप कोढ़-ग्रस्त वृद्धा को अन्यतम रूपसी का,
पदवी, पदक, सम्मान दस्युओं को देगा,
पंक्ति में महामंत्रियों की उनको बिठा देगा; यही, हां, यही तो
मांस-रक्त हीन विधवा को नववधू बना देगा।
...आ, उठ नीच धरती,
मानव मात्र की कुत्सित रखैल ओ!"
(Shakespeare, *Timon of Athens.*)

[91] "संसार में जितनी बुराइयां हैं, उनमें सबसे बड़ी बुराई द्रव्य है। यह द्रव्य ही है कि जो शहरों को वीरान कर देता है और लोगों से घर-द्वार छुड़ा डालता है। वह नैसर्गिक पवित्रता को विकृत और भ्रष्ट कर देता है और मनुष्य को बेईमानी की आदत सिखाता है।"
(सोफ़ोक्लीज, 'ऐण्टीगोन'।)

[92] "लाभ का मोह स्वयं प्लूटो को पृथ्वी के गर्भ से खींचकर बाहर निकाल लेना चाहता था" (Athenaeus, *Deipnosophistarum* [*libri quindecim* I. VI, 23, v. II ed. Schweighäuser, 1802, p. 397].)

सामाजिक अवतार बने रहने में भी कोई बाधा नहीं पड़ती। अपसंचय करने की इच्छा की प्रकृति ही ऐसी है कि उसकी कभी तुष्टि नहीं होती। यदि द्रव्य के गुणात्मक पहलू की ओर ध्यान दिया जाये, या उसपर औपचारिक रूप से विचार किया जाये, तो द्रव्य का प्रभाव असीम होता है, अर्थात् वह भौतिक धन का सार्विक प्रतिनिधि होता है, क्योंकि उसे सीधे-सीधे किसी भी अन्य पण्य में बदला जा सकता है। किंतु इसके साथ ही द्रव्य की हर वास्तविक रक़म माला में सीमित होती है, और इसलिए क्रय-साधन के रूप में उसका प्रभाव भी सीमित होता है। द्रव्य की परिमाणात्मक सीमाओं और गुणात्मक सीमाहीनता का यह विरोध अपसंचय करनेवाले को संचय करते रहने की उसकी सिसाइफ़स-सदृश मेहनत में निरंतर प्रेरित करता रहता है। उसकी वही हालत होती है, जो किसी विजेता की होती है, जो हर नये देश को जीतने पर उसके रूप में केवल एक नयी सीमा देखता है।

सोने को द्रव्य के रूप में रोक रखने और उसे अपसंचित धन की शक्ल देने के लिए जरूरी है कि उसे परिचलन में भाग न लेने दिया जाये, या उसे भोग के साधन में रूपांतरित न होने दिया जाये। इसलिए अपसंचय करनेवाला विषय-सुख की इच्छाओं का अपने सुवर्णदेव के सामने बलिदान कर देता है। वह सचमुच संन्यास-धर्म का पालन करता है। दूसरी ओर, उसने पण्यों के रूप में परिचलन में जितना डाला है, उससे अधिक वह उसमें से बाहर नहीं निकाल सकता। वह जितना ज़्यादा पैदा करता है, उतना ही ज़्यादा बेच पाता है। अतः कठोर परिश्रम करना, पैसा बचाना और लालच – ये उसके तीन मुख्य गुण हैं, और उसका सारा राजनीतिक अर्थशास्त्र यही होता है कि ज़्यादा बेचो और कम ख़रीदो।[93]

अपसंचित धन के इस सामान्य स्वरूप के साथ-साथ हम सोने और चांदी की बनी हुई वस्तुओं के संग्रह के रूप में उसका कलापूर्ण स्वरूप भी पाते हैं। यह रूप पूंजीवादी समाज के धन के साथ-साथ बढ़ता जाता है। दिदेरो ने कहा है: "Soyons riches ou paraissons riches" ["हमें धनी होना चाहिए या धनी प्रतीत होना चाहिए"]। इस प्रकार एक तरफ़ तो सोने और चांदी द्वारा द्रव्य के रूप में जो कार्य किये जाते हैं, उनसे संबंध न रखनेवाली, सोने और चांदी के लिए एक लगातार बढ़नेवाली मंडी पैदा हो जाती है, और दूसरी तरफ़, द्रव्य की आपूर्ति के लिए एक गुप्त स्रोत तैयार हो जाता है, जिसका मुख्यतया संकटों और सामाजिक उपद्रवों के समय सहारा लिया जाता है।

धात्विक परिचलन की अर्थव्यवस्था में अपसंचय नाना प्रकार के कार्य करता है। उसका पहला कार्य सोने और चांदी के सिक्कों के चलन पर लागू होनेवाली परिस्थितियों से उत्पन्न होता है। हम देख चुके हैं कि किस तरह पण्यों के परिचलन के विस्तार एवं तीव्रता तथा उनके दामों में लगातार आते रहनेवाले उतार-चढ़ाव के साथ-साथ चालू द्रव्य की माला में भी निरंतर ज्वार-भाटा आता रहता है। अतएव, चालू द्रव्य की राशि में फैलने और सिकुड़ जाने की क्षमता होनी चाहिए। एक समय द्रव्य को आकर्षित किया जाना चाहिए कि वह आकर चालू सिक्कों की तरह काम करे, दूसरे समय चालू सिक्कों को धकेलकर बाहर कर देना चाहिए, ताकि वे फिर न्यूनाधिक निश्चल द्रव्य की तरह काम करने लगें। इसलिए कि वास्तव में चालू द्रव्य

---

[93] "हर तरह की वाणिज्य-वस्तुओं के बेचनेवालों की संख्या को अधिक से अधिक बढ़ा देना और ख़रीदारों की संख्या को अधिक से अधिक कम कर देना – इन्हीं दो कुलाबों के सहारे राजनीतिक अर्थशास्त्र की सारी क्रियाएं चलती हैं।" (Verri, l.c., p. 52.)

की राशि परिचलन का द्रव्य खपाने की शक्ति को सदा पूरी तरह तृप्त करती रहे, तो उसके लिए यह ज़रूरी है कि सिक्के का काम करने के लिए जितने सोने-चांदी की ज़रूरत है, देश में उससे सदा अधिक मात्रा में सोना-चांदी हो। यह शर्त द्रव्य के अपसंचित धन का रूप ले लेने से पूरी होती है। ये सुरक्षित द्रव्याशय परिचलन में द्रव्य भेजने और वहां से द्रव्य वापस खींचने की नालियों का काम करते हैं, और इस तरह द्रव्य कभी तट-प्लावन नहीं करने पाता।[94]

ख) भुगतान के साधन

अभी तक हमने पण्य के परिचलन के जिस साधारण रूप पर विचार किया है, उसमें प्रत्येक निश्चित मूल्य सदा दोहरी शक्ल में हमारे सामने आया है – एक ध्रुव पर पण्य की शक्ल में और उसके उल्टे ध्रुव पर द्रव्य की शक्ल में। इसलिए पण्यों के मालिक सदा ऐसी चीज़ों के प्रतिनिधियों के रूप में एक दूसरे के संपर्क में आते थे, जो पहले ही से एक दूसरी की सम-तुल्य थीं। लेकिन परिचलन का विकास होने के साथ-साथ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं, जिनमें पण्यों के हस्तांतरण और उनके दामों की वसूली के बीच कालांतराल पैदा हो जाता है। इनमें जो सबसे सरल परिस्थितियां हैं, यहां उनकी ओर संकेत कर देना काफ़ी होगा। एक तरह की चीज़ के उत्पादन में ज्यादा और दूसरी तरह की चीज़ के उत्पादन में कम समय लगता है। फिर अलग-अलग पण्यों का उत्पादन अलग-अलग मौसमों पर निर्भर करता है। मुमकिन है कि एक तरह का पण्य अपनी मंडी के इलाके में ही पैदा होता हो और दूसरा पण्य लंबा सफ़र पूरा करके मंडी में पहुंचता हो। और इसलिए यह मुमकिन है कि इसके पहले कि दूसरे नंबर के पण्य का मालिक ख़रीदने के लिए तैयार हो, पहले नंबर के पण्य का मालिक बेचने के लिए तैयार हो जाये। जब उन्हीं व्यक्तियों के बीच में एक ही प्रकार के सौदे लगातार दोहराये जाते हैं, तब बिक्री की शर्तों का नियमन उत्पादन की परिस्थितियों के अनुसार होता है।

---

[94] "राष्ट्र का व्यापार चलाने के लिए विशिष्ट द्रव्य की एक निश्चित रक़म की आवश्यकता होती है, जो बदलती रहती है और हमारी परिस्थितियों के अनुसार कभी ज्यादा होती है और कभी कम... द्रव्य का यह ज्वार और भाटा अपने आप ही आता-जाता रहता है और अपने आप ही संतुलन प्राप्त कर लेता है – उसके लिए राजनीतिज्ञों की किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं होती... ये डोल बारी-बारी से काम करते हैं: जब द्रव्य की कमी होती है, तब सोने-चांदी के सिक्के ढाल दिये जाते हैं; जब सोने-चांदी की कमी होती है, तब सिक्के गला दिये जाते हैं।" (Sir D. North, l.c., Postscript, p. 3.) जॉन स्टुअर्ट मिल, जो बहुत दिनों तक ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारी रहे थे, इस बात की पुष्टि करते हैं कि हिंदुस्तान में चांदी के ज़ेवर अब भी सीधे तौर पर अपसंचित धन का काम करते हैं। "जब सूद की दर ऊंची होती है, तब चांदी के ज़ेवर बाहर निकल आते हैं और उनके सिक्के ढल जाते हैं, और जब सूद की दर गिर जाती है, तब वे फिर वापस चले जाते हैं।" (J. S. Mill's Evidence. *Reports on Bank Acts, 1857*, Nos. 2084, 2101.) हिंदुस्तान के सोने और चांदी के आयात और निर्यात के संबंध में १८६४ की एक संसदीय दस्तावेज़ के अनुसार १८६३ में हिंदुस्तान से सोने और चांदी का जितना निर्यात हुआ था, उससे १,९३,६७,७६४ पाउंड अधिक का आयात हुआ था। १८६४ तक जो आठ साल बीत चुके थे, उनमें बहुमूल्य धातुओं का जितना निर्यात हुआ था, उससे १०,९६,५२,९१७ पाउंड अधिक का आयात हुआ था। इस शताब्दी में हिंदुस्तान में २० करोड़ पाउंड से कहीं ज्यादा के सिक्के ढाले जा चुके हैं।

दूसरी ओर, एक प्रकार के पण्य का – उदाहरण के लिए, एक मकान का – उपयोग एक निश्चित काल के लिए बेचा जाता है (या यदि प्रचलित भाषा का प्रयोग किया जाये, तो उसे किराये पर उठा दिया जाता है)। ऐसी सूरत में केवल नियत काल की समाप्ति पर ही ख़रीदार को पण्य का उपयोग-मूल्य सचमुच प्राप्त हो पाता है। इसलिए वह उसे ख़रीद पहले लेता है और दाम का भुगतान बाद को करता है। बेचनेवाला एक ऐसा पण्य बेचता है, जो पहले से मौजूद है; ख़रीदार महज़ द्रव्य के – बल्कि कहना चाहिए कि भावी द्रव्य के – प्रतिनिधि के रूप में ख़रीदता है। बेचनेवाला लेनदार बन जाता है, ख़रीदार देनदार हो जाता है। यहां चूंकि पण्यों का रूपांतरण – अथवा उनके मूल्य-रूप का विकास – एक नयी अवस्था में सामने आता है, इसलिए द्रव्य भी एक नया कार्य करने लगता है। वह भुगतान का साधन बन जाता है।[95]

यहां पर लेनदार या देनदार का रूप साधारण परिचलन का फल होता है। उस परिचलन का रूप-परिवर्तन ग्राहक और विक्रेता पर इस नयी मुहर की छाप लगा देता है। इसलिए शुरू-शुरू में ये नयी भूमिकाएं उतनी ही क्षणिक और बारी-बारी से आनेवाली होती हैं, जितनी कि विक्रेता और ग्राहक की भूमिकाएं, और वही अभिनेता अपनी-अपनी जगह उन्हें अदा करते हैं। मगर विरोध लगभग इतना ही सुखद नहीं है, और उसका स्फटिकीकरण हो जाना कहीं ज़्यादा संभव होता है।[96] किंतु देनदार और लेनदार की ये भूमिकाएं पण्यों के परिचलन से स्वतंत्र रूप से भी उत्पन्न हो सकती हैं। प्राचीन काल के वर्ग-संघर्ष मुख्यतया देनदारों और लेनदारों के संघर्ष का रूप धारण कर लेते थे। रोम में इसी प्रकार का संघर्ष देनदार जनसाधारण के सत्यानाश के साथ समाप्त हुआ था, और उनका स्थान ग़ुलामों ने ले लिया था। मध्य युग में देनदारों और लेनदारों का संघर्ष सामंती देनदारों के सत्यानाश के साथ समाप्त हुआ, जिनकी राजनीतिक सत्ता भी अपने आर्थिक आधार के साथ-साथ नष्ट हो गयी। फिर भी इन दो अवधियों में देनदार और लेनदार के बीच विद्यमान द्रव्य का संबंध केवल संबंधित वर्गों के अस्तित्व के लिए आवश्यक सामान्य आर्थिक परिस्थितियों के बीच पाये जानेवाले कहीं अधिक गहरे विरोध का ही प्रतिबिंब था।

आइये, अब फिर पण्यों के परिचलन की ओर लौट चलें। बिक्री की क्रिया के दो ध्रुवों पर पण्य और द्रव्य नामक दो समतुल्य अब एक साथ प्रकट नहीं होते। अब द्रव्य पहले बिकनेवाले पण्य का दाम निर्धारित करने में मूल्य की माप का काम करता है। सौदे में जो दाम तय होता है, वह देनदार की ज़िम्मेदारी की माप होता है, यानी वह बताता है कि एक निश्चित तारीख़ को उसे द्रव्य के रूप में कितनी रक़म अदा कर देनी पड़ेगी। दूसरे, द्रव्य क्रय के प्रत्ययात्मक साधन की तरह काम करता है। यद्यपि उसका अस्तित्व केवल ग्राहक के भुगतान करने के

---

[95] लूथर क्रय साधन के रूप में द्रव्य और भुगतान साधन के रूप में द्रव्य के बीच अंतर करते हैं। "तुम मुझे दोहरी हानि पहुंचा रहे हो, क्योंकि यहां मैं भुगतान नहीं कर सकता और वहां ख़रीद नहीं सकता।" (Martin Luther, *An die Pfarrherrn, wider den Wucher zu predigen*, Wittemberg, 1540.)

[96] १८ वीं सदी के शुरू में अंग्रेज व्यापारियों में देनदार और लेनदार के बीच कैसे संबंध थे, इसका वर्णन निम्न शब्दों में देखिये: "यहां इंगलैंड के व्यापारियों में निर्दयता की ऐसी क्रूर भावना पायी जाती है, जैसी न तो मनुष्यों के किसी और समाज में पायी जाती है और न संसार के किसी और राज्य में।" (*An Essay on Credit and the Bankrupt Act*, London, 1707, p. 2.)

वायदे में ही होता है, फिर भी वह पण्य को एक हाथ से निकालकर दूसरे हाथ में पहुंचा देता है। भुगतान के लिए जो दिन निश्चित होता है, उसके पहले भुगतान का साधन सचमुच परिचलन में प्रवेश नहीं करता, उसके पहले वह ग्राहक के हाथ से निकलकर विक्रेता के हाथ में नहीं जाता। यहां संचलनशील माध्यम अपसंचित धन में रूपांतरित हो गया, क्योंकि पहली अवस्था के बाद क्रिया बीच में ही रुक गयी, और वह भी इसलिए कि पण्य का परिवर्तित रूप, यानी द्रव्य परिचलन के बाहर खींच लिया गया। भुगतान का माध्यम परिचलन में प्रवेश करता है, मगर केवल उसी वक़्त, जब कि पण्य परिचलन के बाहर जा चुका होता है। अब द्रव्य क्रिया को क्रियान्वित करनेवाला साधन नहीं है। अब वह विनिमय-मूल्य के अस्तित्व के निरपेक्ष रूप की तरह, या सार्विक पण्य की तरह सामने आकर, केवल क्रिया को समाप्त करता है। विक्रेता ने अपने पण्य को द्रव्य में इसलिए बदला कि अपनी कोई आवश्यकता पूरी कर सके; अपसंचय करनेवाले ने यही काम इसलिए किया कि अपने पण्य को द्रव्य की शक्ल में रख सके, और देनदार ने इसलिए किया कि वह भुगतान कर सके, क्योंकि यदि वह भुगतान नहीं करेगा, तो क़ुर्क़-अमीन आकर उसका पण्य नीलाम कर डालेगा अतएव पण्यों का मूल्य-रूप – द्रव्य – ही अब हर बिक्री का ध्येय और लक्ष्य है, और इसका कारण स्वयं परिचलन की क्रिया से उत्पन्न होनेवाली एक सामाजिक आवश्यकता है।

ख़रीदार पण्यों को द्रव्य में बदलने से पहले द्रव्य को पण्यों में बदल डालता है। दूसरे शब्दों में, वह पण्यों के प्रथम रूपांतरण के पहले ही उनका दूसरा रूपांतरण संपन्न कर देता है। विक्रेता का पण्य परिचलन में भाग लेता है और उसका दाम भी मूर्त रूप प्राप्त कर लेता है, लेकिन केवल द्रव्य के ऊपर एक क़ानूनी दावे की शक्ल में। द्रव्य में बदले जाने के पहले ही वह एक उपयोग-मूल्य में बदल दिया जाता है। उसका प्रथम रूपांतरण केवल बाद को संपन्न होता है।[97]

किसी ख़ास काल में जिन देनदारियों का भुगतान करना जरूरी होता है, वे उन पण्यों के दामों के जोड़ का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनकी बिक्री के फलस्वरूप इन देनदारियों का जन्म हुआ था। इस रक़म की अदायगी के लिए सोने की कितनी मात्रा आवश्यक होगी, यह सबसे पहले तो भुगतान के साधनों के चलन की तेज़ी पर निर्भर करता है। यह तेज़ी स्वयं दो बातों पर निर्भर करती है। एक तो देनदारों और लेनदारों के बीच जो संबंध होते हैं, उनसे एक तरह की शृंखला बन जाती है, जिससे कि जब क को अपने देनदार ख से द्रव्य मिलता है तो वह उसे सीधे अपने लेनदार ग को सौंप देता है, और यह क्रम इसी तरह चलता रहता है।

---

[97] १८५९ में मेरी जो पुस्तक प्रकाशित हुई थी, उसके निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायेगा कि वर्तमान पुस्तक के मूल पाठ में इसके एक विरोधी स्वरूप की कोई चर्चा मैं क्यों नहीं करता हूं: "इसके विपरीत M — C क्रिया में द्रव्य का क्रय के वास्तविक साधन के रूप में हस्तांतरण हो सकता है, और इस तरह द्रव्य का उपयोग-मूल्य वसूल होने तथा पण्य के सचमुच ख़रीदार को मिलने के पहले ही पण्य का दाम वसूल किया जा सकता है। पूर्व-भुगतान की प्रचलित प्रथा के मातहत यह चीज बराबर होती रहती है। और अंग्रेज सरकार हिंदुस्तान के किसानों से इसी प्रथा के अनुसार अफ़ीम ख़रीदती है... लेकिन ऐसी सूरत में द्रव्य सदा क्रय के साधन का काम करता है... ज़ाहिर है, पूंजी भी द्रव्य की शक्ल में ही पेशगी लगायी जाती है... किंतु यह दृष्टिकोण साधारण परिचलन के क्षेत्र में नहीं आता।" (*Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, S.119, 120.)

दूसरी बात यह देखनी पड़ती है कि अलग-अलग देनदारियों की अदायगी के लिए जो तारीखें निश्चित हैं, उनमें समय का अंतर कितना-कितना है। भुगतानों की – अथवा बीच में रोक दिये गये प्रथम रूपांतरणों की – सतत श्रृंखला रूपांतरणों के एक दूसरे से गुंथे हुए उन क्रमों से बुनियादी तौर पर भिन्न है, जिनपर हमने पीछे एक पृष्ठ पर विचार किया था। ग्राहकों और विक्रेताओं के बीच जो संबंध होता है, वह संचलनशील माध्यम के चलन के द्वारा केवल व्यक्त ही नहीं होता। इस संबंध का उद्भव भी केवल परिचलन में ही होता है, और उसी के भीतर उसका अस्तित्व भी होता है। इसके विपरीत, भुगतान के साधनों की गति एक ऐसे सामाजिक संबंध को व्यक्त करती है, जो बहुत पहले से ही मौजूद था।

अनेक बिक्रियां चूंकि एकही समय पर और साथ-साथ होती हैं, इसलिए चलन की तेज़ी एक हद से ज्यादा सिक्के का स्थान नहीं ले सकती। दूसरी ओर, यही तथ्य भुगतान के साधनों की बचत करने के लिए एक नयी प्रेरणा देता है। जिस अनुपात में बहुत से भुगतान एक स्थान पर केंद्रित हो जाते हैं, उसी अनुपात में उनका परिसमापन करने के लिए ख़ास तरह की संस्थाओं और पद्धतियों का विकास हो जाता है। मध्य युग में लिओं शहर में virements [ऋण-कटौती] नामक ऐसी ही संस्थाएं थीं। क का ख पर जितना क़र्ज़ है और ख का ग पर तथा ग का क पर, और इसी तरह अन्य लोगों का क़र्ज़ – इन सब क़र्ज़ों को केवल एक दूसरे के सामने रखा जाता था, ताकि सकारात्मक और नकारात्मक मात्राओं की भांति उन्हें आपस में मंसूख़ कर दिया जाये। और इस प्रकार केवल एक राशि बक़ाया बच रहती है, जिसका भुगतान करना ज़रूरी होता है। भुगतानों की राशि का जितना अधिक संकेंद्रण होगा, इस राशि की तुलना में यह बकाया राशि उतनी ही कम होगी और परिचलन में शामिल भुगतान के साधनों की मात्रा भी उतनी ही कम होगी।

भुगतान के साधन के रूप में द्रव्य जो काम करता है, उसमें एक प्रत्यक्ष विरोध निहित है। जिस हद तक कि अलग-अलग भुगतान एक दूसरे को मंसूख़ कर देते हैं, उस हद तक द्रव्य लेखा-द्रव्य के रूप में, मूल्य की माप के रूप में केवल प्रत्ययात्मक ढंग से काम करता है। जिस हद तक कि सचमुच भुगतान करने होते हैं, उस हद तक द्रव्य संचलनशील माध्यम की तरह या वस्तुओं के आदान-प्रदान के मात्र एक क्षणिक अभिकर्त्ता की तरह नहीं, बल्कि सामाजिक श्रम के वैयक्तिक अवतार, विनिमय-मूल्य के अस्तित्व के स्वतंत्र रूप और सार्विक पण्य की तरह काम करता है। यह विरोध औद्योगिक तथा व्यापारिक संकटों की उन अवस्थाओं में खुलकर सामने आता है, जो द्रव्य का संकट कहलाती हैं।[98] ऐसा संकट केवल वहीं पर आता है, जहां भुगतानों की बराबर लंबी खिंचती चली जानेवाली श्रृंखला और भुगतानों को निपटाने की एक बनावटी व्यवस्था का पूर्ण विकास हो गया है। जब कभी इस ढांचे में कोई सामान्य एवं व्यापक गड़बड़ी पैदा हो जाती है – उसका कारण चाहे कुछ भी हो – तब द्रव्य यकायक और तत्काल लेखा-द्रव्य

---

[98] पाठ में जिस द्रव्य-संकट का ज़िक्र किया गया है, वह प्रत्येक संकट की एक अवस्था होती है और उसे उस ख़ास ढंग के संकट से बिल्कुल अलग करके देखना चाहिए, जो द्रव्य-संकट भी कहलाता है, लेकिन जो एक स्वतंत्र घटना के रूप में अलग से भी उत्पन्न हो सकता है और जिसका उद्योग तथा व्यापार पर केवल अप्रत्यक्ष ढंग से प्रभाव पड़ता है। इन संकटों की धुरी द्रव्य-रूप पूंजी होती है, और चुनांचे उनके प्रत्यक्ष प्रभाव का क्षेत्र इस पूंजी का क्षेत्र, अर्थात् बैंक, स्टाक-एक्सचेंज और वित्त होते हैं।

के मात्र प्रत्ययात्मक रूप को त्यागकर ठोस नक़दी बन जाता है। अब तुच्छ पण्य उसका स्थान नहीं ले सकते। पण्यों का उपयोग-मूल्य मूल्यहीन हो जाता है, और उनका मूल्य स्वयं अपने स्वतंत्र रूप का सामना होने पर ग़ायब हो जाता है। संकट के कुछ ही पहले तक बुर्जुआ लोग मदोन्मत्त कर देनेवाली समृद्धि से उत्पन्न आत्मनिर्भरता के गर्व के साथ यह घोषणा करते थे कि द्रव्य एक वृथा का भ्रम है और केवल पण्य ही द्रव्य हैं। परंतु अब हर तरफ़ यह शोर मचता है कि द्रव्य ही एकमात्र पण्य है! जिस प्रकार हिरन ताज़ा पानी के लिए तड़पता है, उसी प्रकार अब बुर्जुआ की आत्मा द्रव्य के लिए, उस एकमात्र धन के लिए तड़पती है।[99] संकट पैदा होने पर पण्यों और उनके मूल्य-रूप – द्रव्य – का विरोध तीव्र होकर एक निरपेक्ष विरोध बन जाता है। इसलिए ऐसी हालत पैदा होने पर इसका कोई महत्त्व नहीं रहता कि द्रव्य किस रूप में प्रकट होता है। भुगतान चाहे सोने में करने पड़ें और चाहे बैंक-नोटों जैसे उधार-द्रव्य में, द्रव्य का अकाल जारी रहता है।"[100]

अब यदि हम किसी निश्चित काल में परिचलनगत द्रव्य के कुल जोड़ पर विचार करें, तो हम पायेंगे कि अगर हमें संचलनशील माध्यम के तथा भुगतान के साधन के चलन की तेज़ी मालूम हो, तो परिचलनगत द्रव्य का कुल जोड़ इस तरह मालूम हो सकता है कि जिन दामों को मूर्त रूप धारण करना है, उनको जोड़ लिया जाये और उसके साथ उन भुगतानों को रक़म को भी जोड़ दिया जाये, जिनको निबटाने की तारीख़ इस काल में पड़नेवाली है, फिर इस जोड़ में से उन भुगतानों को घटाना होगा, जो एक दूसरे को मंसूख़ कर देते हैं, और परिचलन के साधन के रूप में और भुगतान के साधन के रूप में बारी-बारी से एक अकेला सिक्का

---

[99] "उधार की प्रणाली को त्यागकर सबका यकायक फिर ठोस नक़दी की प्रणाली पर लौट आना – यह क्रिया व्यावहारिक बदहवासी तो फैलाती ही है, ऊपर से सैद्धांतिक बदहवासी भी पैदा कर देती है; और वे तमाम व्यक्ति, जिनके ज़रिये परिचलन संपन्न होता है, उस दुर्गम रहस्य को देखकर थर-थर कांपने लगते हैं, जिसमें उनके अपने आर्थिक संबंध उलझ गये हैं।" (Karl Marx, l.c., S. 126.) "ग़रीब हाथ पर हाथ रखकर खड़े हो जाते है, क्योंकि धनियों के पास उनको नौकर रखने के लिए द्रव्य नहीं होता, हालांकि उनके पास भोजन और कपड़ा तैयार करने के लिए वह ज़मीन और वे हाथ अब भी होते हैं, जो उनके पास पहले थे; ... और असल में तो किसी भी राष्ट्र का सच्चा धन द्रव्य नहीं, यह ज़मीन और ये हाथ ही होते हैं।" (John Bellers, *Proposals for Raising a College of Industry*, London, 1696, p. 3.)

[100] नीचे दिये उदाहरण से मालूम हो जायेगा कि जो लोग अपने को "amis du commerce" ["व्यापार के मित्र"] कहते हैं, वे ऐसी हालत से किस तरह फ़ायदा उठाते हैं। "एक बार (१८३६ में) एक पुराने लालची महाजन ने (सिटी में) अपने निजी कमरे में अपने डेस्क का ढक्कन खोलकर बैंक-नोटों की एक गड्डी अपने एक मित्र को दिखायी और बहुत मज़ा लेते हुए कहा कि ये ६ लाख पाउंड के नोट हैं, जिनको उसने द्रव्य को अप्राप्य बना देने के लिए बंद कर रखा है, और अब वह उसी रोज़ तीसरे पहर के तीन बजे उन सबको मुक्त कर देनेवाला है।" (*The Theory of Exchanges. The Bank Charter Act of 1844*, London, 1864, p. 81.) अर्ध-सरकारी समाचारपत्र *The Observer* में २४ अप्रैल १८६४ को यह ख़बर छपी थी: "बैंक-नोटों का अकाल पैदा करने के लिए जो तरीक़े इस्तेमाल किये गये हैं, उनके बारे में कुछ बहुत अजीबोग़रीब अफ़वाहें फैली हुई हैं... ऊपर से यह बात भले ही संदेहास्पद लगे कि कोई इस तरह की चाल चली गयी होगी, फिर भी यह ख़बर इतनी आम है कि उसका ज़िक्र करना ज़रूरी हो जाता है।"

जितने परिपथों में काम करता है, उनकी संख्या को भी इस जोड़ में से कम कर देना पड़ेगा और तब हमें परिचलनगत द्रव्य का कुल जोड़ मिल जायेगा। इसलिए उस वक़्त भी, जब दाम, चलन की तेज़ी, और भुगतानों में बरती जानेवाली मितव्ययिता की मात्रा पहले से निश्चित होते हैं, तब भी किसी एक निश्चित काल में – जैसे दिन भर – परिचलन में रहनेवाले द्रव्य की मात्रा और उसी काल में परिचलन में भाग लेनेवाले पण्यों का परिमाण एक दूसरे के अनुरूप नहीं होते। जो पण्य परिचलन से हटा लिये गये हैं, उनका प्रतिनिधित्व करनेवाला द्रव्य इसके बाद भी परिचलनगत रहता है। ऐसे पण्य परिचलन में भाग लेते रहते हैं, जिनका द्रव्य के रूप में समतुल्य अभी किसी भावी तिथि पर ही सामने आयेगा। इसके अलावा हर रोज़ जो सौदे उधार किये जाते हैं और उसी रोज़ जिन भुगतानों को निबटाने की तारीख़ पड़ती है, उनकी मात्राएं बिल्कुल असमान होती हैं।[101]

उधार-द्रव्य प्रत्यक्ष रूप से भुगतान के साधन के रूप में द्रव्य के कार्य से उत्पन्न होता है। ख़रीदे हुए पण्यों के लिए किये गये क़र्ज़ों के प्रमाणपत्र इन क़र्ज़ों को दूसरों के कंधों पर डालने के लिए चालू हो जाते हैं। दूसरी ओर, उधार की व्यवस्था का जितना विस्तार बढ़ता है, भुगतान के साधन के रूप में द्रव्य का कार्य उतना ही विस्तार प्राप्त करता जाता है। भुगतान के साधन का काम करते हुए द्रव्य अनेक ऐसे विचित्र रूप धारण करता है, जो केवल द्रव्य की ही विशेषता होते हैं। इन रूपों में वह बड़े-बड़े वाणिज्य संबंधी सौदों के क्षेत्र में अपने को जमा लेता है। दूसरी ओर, सोने और चांदी के बने सिक्के मुख्यतया फुटकर व्यापार के क्षेत्र में डाल दिये जाते हैं।[102]

पण्यों का उत्पादन जब काफ़ी विस्तार प्राप्त कर लेता है, तब द्रव्य पण्यों के परिचलन के क्षेत्र के बाहर भी भुगतान के साधन का काम करने लगता है। द्रव्य वह पण्य बन जाता है,

---

[101] "किसी एक ख़ास दिन जो ख़रीदारियां या सौदे होते हैं, उनका उस रोज़ परिचलन में मौजूद द्रव्य की मात्रा पर कोई असर नहीं पड़ेगा, लेकिन अधिकांशतया ये न्यूनाधिक समय बाद आनेवाली तारीख़ों पर जो द्रव्य परिचलन में होगा, उसके लिए नाना प्रकार के ड्राफ़्ट बन जायेंगे... आज जो हुंडियां मंजूर की जाती हैं या जो ऋण दिये जाते हैं, उनमें और कल को या परसों को जो हुंडियां मंजूर की जायेंगी या जो ऋण दिये जायेंगे, उनमें मात्रा, परिमाण या अवधि की कोई भी समानता होगी, यह क़तई ज़रूरी नहीं है। नहीं, बल्कि जब आज की बहुत सी हुंडियों और ऋण की रक़मों के भुगतान की तारीख़ आयेगी, तब उनके साथ-साथ बहुत सी ऐसी देनदारियों को निबटाने का समय भी आ जायेगा, जिनका मूल कुछ पहले की सर्वथा अनिश्चित तारीख़ों का है; उनके साथ-साथ कुछ १२ महीने, ६ महीने, ३ महीने और १ महीने की पुरानी हुंडियों को निबटाने का समय भी आ जायेगा, और वे सब मिलकर एक ख़ास दिन की सामान्य देनदारियों को बहुत बढ़ा देंगी..." (*The Currency Theory Reviewed: in a Letter to the Scottish People. By a Banker in England*, Edinburgh, 1845, pp. 29, 30 passim.)

[102] वाणिज्य की वास्तविक क्रियाओं में कितने कम नक़द द्रव्य की ज़रूरत होती है, इसके एक उदाहरण के रूप में मैं लंदन की सबसे बड़ी कंपनियों में से एक का वार्षिक आय तथा भुगतान विवरण नीचे दे रहा हूं। १८५६ में उसने जो अनेक सौदे किये थे और जो कई-कई करोड़ पाउंड स्टर्लिंग के बैठते थे, वे इस विवरण में दस लाख के अनुमाप के अनुसार परिवर्तित करके दिये गये हैं।

जो सभी सौदों की सार्विक विषय-वस्तु होता है।[103] लगान, कर और इसी तरह के अन्य भुगतान जिंस के रूप में किये जानेवाले भुगतानों से द्रव्य-भुगतानों में रूपांतरित कर दिये जाते हैं। यह रूपांतरण उत्पादन की सामान्य परिस्थितियों पर किस हद तक निर्भर करता है, इसका एक उदाहरण यह है कि रोमन साम्राज्य ने दो बार सारे कर द्रव्य के रूप में वसूल करने की कोशिश की और वह दोनों बार असफल रहा। लुई चौदहवें के राज्य-काल में फ़्रांस की खेतिहर आबादी जिस अवर्णनीय ग़रीबी में रहती थी और जिसकी बुआगिल्बेर, मार्शल वोबां और अन्य लेखकों ने इतने ज़ोरदार शब्दों में निंदा की है, उसका कारण केवल इतना ही न था कि करों का बोझा बहुत भारी था, बल्कि उसका कारण यह भी था कि जिंस के रूप में वसूल किये जानेवाले कर द्रव्य-करों में बदल दिये गये थे।[104] दूसरी ओर, एशिया में यदि राज्य के कर मुख्यतया जिंस के रूप में अदा किये जानेवाले लगान की शक्ल में होते हैं, तो इसका कारण उत्पादन की परिस्थितियां हैं, जिनका प्राकृतिक घटनाओं की नियमितता के साथ पुनरुत्पादन होता रहता है। उधर भुगतान का यह ढंग प्राचीन उत्पादन-प्रणाली को भी क़ायम रखता है। उस्मान साम्राज्य की स्थिरता का एक कारण यह भी था। जापान की कृषि-व्यवस्था दूसरे देशों के लिए मिसाल समझी जाती है, पर यूरोप के लोग जापान पर जिस तरह का विदेशी

आय	पाउंड
बैंकरों और सौदागरों की हुंडियां, जो निश्चित तिथि के बाद देय हो जायेंगी.	५,३३,५९६
बैंकरों, आदि के चेक, जो मांगते ही चुकाये जायेंगे . .	३,५७,७१५
स्थानीय बैंकों के जारी किये हुए नोट . . .	९,६२७
बैंक आफ़ इंगलैंड के नोट .	६८,५५४
सोना	२८,०८९
चांदी और तांबा	१,४८६
पोस्ट आफ़िस के आर्डर. . .	९३३
कुल जोड़	१०,००,०००

भुगतान	पाउंड
हुंडियां जो निश्चित तिथि के बाद देय हो जायेंगी . .	३,०२,६७४
लंदन के बैंकरों पर चेक. .	६,६३,६७२
बैंक आफ़ इंगलैंड के नोट. .	२२,७४३
सोना	९,४२७
चांदी और तांबा . . .	१,४८४
कुल जोड़	१०,००,०००

(*Report from the Select Committee on the Bank Acts*, July 1858, p. LXXI.)

[103] "जब व्यापार का क्रम इस तरह बदल जाता है, जब सामान के साथ सामान का विनिमय करने और सामान देने और सामान लेने के बजाय क्रय और विक्रय शुरू हो जाता है, तब इन सारे सौदों का... द्रव्य के रूप में दामों के आधार पर हिसाब लगाया जाता है।" ([D. Defoe] *An Essay upon Public Credit*, 3rd. Ed., London, 1710, p. 8.)

[104] "द्रव्य एक तरह का सार्वजनिक बधिक बन गया है।" वित्त "एक भभका है, जिसमें बेशुमार उपयोगी चीज़ों और जीवन-यापन के साधनों को गरम करके यह ख़तरनाक अवशेष पैदा करने के लिए नष्ट कर दिया जाता है।" "द्रव्य संपूर्ण मानवजाति के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देता है।" (Boisguillebert, *Dissertation sur la nature des richesses, de l'argent et des tributs*, édit. Daire, *Économistes financiers*, Paris, 1843, t. I, pp. 413, 419, 417.)

व्यापार जबर्दस्ती थोप रहे हैं, यदि उसके परिणामस्वरूप जिंस के रूप में वसूल किये जानेवाले लगान की जगह पर द्रव्य के रूप में लगान वसूल किया जाने लगा, तो इस कृषि-व्यवस्था का अंत हो जायेगा। यह कृषि-व्यवस्था जिन संकीर्ण आर्थिक परिस्थितियों के भीतर काम करती है, उनका सफ़ाया हो जायेगा।

हर देश में बड़े-बड़े और आवर्ती भुगतानों को निबटाने के लिए वर्ष के कुछ ख़ास दिन परंपरा के रूप में नियत हो जाते हैं। ये तिथियां पुनरुत्पादन के चक्र के अन्य परिक्रमणों के अलावा मौसम से गहरा ताल्लुक रखनेवाली परिस्थितियों पर भी निर्भर करती हैं। ये तिथियां कर, लगान, इत्यादि जैसे भुगतानों की तिथियों का भी नियमन करती हैं, जिनका पण्यों के परिचलन से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता। इन तिथियों पर पूरे देश में एक साथ जिन भुगतानों को निबटाना पड़ता है, उनके लिए जो द्रव्य आवश्यक होता है, उससे भुगतान के साधन की व्यवस्था में कुछ नियतकालिक, यद्यपि सतही गड़बड़ी पैदा हो जाती है।[105]

भुगतान के साधनों के चलन की तेज़ी के नियम से यह निष्कर्ष निकलता है कि समस्त नियतकालिक भुगतानों के लिए, वे चाहे जिस भी स्रोत से किये जाते हों, भुगतान के साधनों की जो माला आवश्यक होती है, वह भुगतानों के नियत काल की लंबाई के प्रतिलोम * अनुपात में होती है।[106]

---

[105] मि० क्रेग हाउस आफ़ कामन्स की १८२६ की समिति के सामने कहते हैं: "१८२४ में ह्विटसनटाइड [ईस्टर के बाद के सातवें रविवार] के दिन एडिनबरा के बैंकों में से इतनी भारी संख्या में नोट निकाले गये कि ११ बजे तक उनके पास एक भी नोट नहीं बचा। उन्होंने दूसरे तमाम बैंकों से नोट उधार मंगवाये, मगर वहां भी नहीं मिले, और बहुत से सौदे काग़ज़ के पुर्ज़े देकर निबटाये गये। और फिर भी तीसरे पहर के तीन बजे तक सारे नोट उन बैंकों में लौट आये, जहां से वे जारी हुए थे! ये नोट महज़ एक हाथ से दूसरे हाथ में घूमे थे।" यद्यपि स्कॉटलैंड में बैंक-नोटों का औसत कारगर संचलन ३० लाख पाउंड स्टर्लिंग से कम का है, फिर भी वर्ष में भुगतान के कुछ ख़ास ऐसे दिन आते हैं, जब बैंकरों के पास कुल जितने नोट होते हैं—और उनके पास कुल नोट लगभग ७० लाख पाउंड के होते हैं—उनमें से एक-एक इस्तेमाल हो जाता है। इन अवसरों पर नोटों को केवल एक विशिष्ट कार्य करना पड़ता है, और उसे पूरा करते ही वे उन विभिन्न बैंकों में लौट जाते हैं, जिनसे वे जारी हुए थे। (John Fullarton, *Regulation of Currencies*, 2nd Ed., London, 1845, p. 86, Note.) बात को स्पष्ट करने के लिए यहां यह बता देता आवश्यक है कि जिस ज़माने में फ़ुलार्टन की यह रचना लिखी गयी थी, उस ज़माने में स्कॉटलैंड के बैंकों में जमा की गयी रक़में निकालने के लिए चेक नहीं, बल्कि नोट इस्तेमाल किये जाते थे।

* प्रत्यक्षतः यह लेखनी की एक चूक है। "प्रतिलोम" लिखते हुए लेखक का आशय स्पष्टतः "अनुलोम" से था।—सं०

[106] "यदि प्रति वर्ष ४ करोड़ के लेन-देन की ज़रूरत हो, तो व्यापार के लिए द्रव्य के जितने आवर्त और परिचलन आवश्यक होंगे, उनके लिए क्या ६० लाख (सोने में)... काफ़ी होंगे?" —इस प्रश्न का पैटी ने अपने सहज अधिकारपूर्ण ढंग से यह उत्तर दिया है कि "मेरा उत्तर है: हां। क्योंकि यदि ४०० लाख ख़र्च होते हैं और यदि आवर्त इतने छोटे-छोटे चक्रों में—मिसाल के लिए, साप्ताहिक—होते हैं, जैसा कि ग़रीब दस्तकारों और मज़दूरों में होता है, जिनको हर शनिवार को मज़दूरी मिलती है और जो हर शनिवार को भुगतान करते हैं, तो १० लाख द्रव्य के $\frac{४०}{५२}$ हिस्से से ही काम चल जायेगा। लेकिन यदि आवर्तों के चक्र लगान

द्रव्य का भुगतान के साधन में विकास हो जाने पर यह आवश्यक हो जाता है कि अपने ऊपर चढ़ी हुई रक़मों का भुगतान करने के लिए जो तिथियां निश्चित हों, उनके लिए पहले से द्रव्य का संचय किया जाये। बुर्जुआ समाज की प्रगति के साथ-साथ धन प्राप्त करने के एक विशिष्ट ढंग के रूप में अपसंचय का तो लोप हो जाता है, पर भुगतान के साधनों के संचित कोषों का निर्माण इस समाज की प्रगति के साथ-साथ बढ़ता जाता है।

ग) सार्विक द्रव्य

जब द्रव्य परिचलन के घरेलू क्षेत्र के बाहर निकलता है, तो वहां वह दामों के मापदंड की – सिक्कों की, प्रतीकों की और मूल्य के चिह्न की – जो स्थानीय पोशाक पहने हुए था, उसे उतारकर फेंकता है और बुलियन का अपना मूल स्वरूप धारण कर लेता है। दुनिया की मंडियों के बीच जो व्यापार होता है, उसमें पण्यों का मूल्य इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाता है कि उसे सार्विक मान्यता प्राप्त हो। अतएव यहां पण्यों का स्वतंत्र मूल्य-रूप भी सार्विक द्रव्य की शक्ल में उनके सामने आकर खड़ा हो जाता है। केवल दुनिया की मंडियों में ही द्रव्य पूरी तरह उस पण्य का स्वरूप प्राप्त करता है, जिसका शारीरिक रूप साथ ही अमूर्त मानव-श्रम का तात्कालिक सामाजिक अवतार भी होता है। इस क्षेत्र में उसके अस्तित्व की वास्तविक अवस्था पर्याप्त रूप से उसकी प्रत्ययात्मक धारणा के अनुरूप होती है।

घरेलू परिचलन के क्षेत्र के भीतर केवल एक ही ऐसा पण्य हो सकता है, जो मूल्य की माप का काम करने के कारण द्रव्य बन जाता है। दुनिया की मंडियों में मूल्य की दोहरी माप का प्रभुत्व रहता है – सोना और चांदी दोनों यह काम करते हैं।[107]

देने और कर वसूलने की हमारी प्रथा के अनुसार त्रैमासिक चक्र हैं, तो एक करोड़ की आवश्यकता होगी। इसलिए यदि भुगतानों को आम तौर पर एक सप्ताह से लेकर १३ सप्ताह तक के मिश्रित चक्र का मान लिया जाये, तो दस लाख के $\frac{४०}{५२}$ हिस्से में हमें एक करोड़ और जोड़ना पड़ेगा, जिसका आधा ५५ लाख होंगे, और चुनांचे यदि हमारे पास ५५ लाख होंगे, तो उनसे काम चल जायेगा।" (William Petty, *Political Anatomy of Ireland 1672*, edit. London, 1691, pp. 13, 14.)

[107] इसलिए हर ऐसा क़ानून बेमानी है, जो यह चाहता है कि किसी देश के बैंक केवल उसी बहुमूल्य धातु के संचित कोषों का निर्माण करें, जो ख़ुद उस देश के अंदर चालू हो। बैंक आफ़ इंगलैंड ने ऐसा करके अपने लिए ख़ुद जो "सुखद कठिनाइयां" पैदा कर ली हैं, वे सुविदित हैं। सोने और चांदी के सापेक्ष मूल्य में होनेवाले परिवर्तनों के इतिहास में जो ख़ास-ख़ास दौर आये हैं, उनके बारे में जानने के लिए देखिये कार्ल मार्क्स की उपर्युक्त रचना, पृ० १३६ और उसके आगे के पृष्ठ। सर रॉबर्ट पील ने १८४४ का बैंक-क़ानून बनाकर इस कठिनाई से बचने की कोशिश की थी। इस क़ानून के द्वारा बैंक आफ़ इंगलैंड को चांदी के आधार और इस शर्त पर नोट जारी करने की इजाज़त दे दी गयी थी कि सुरक्षित कोष में चांदी की मात्रा सोने के सुरक्षित कोष के चौथाई भाग से कभी ज़्यादा न रहे। इस काम के लिए चांदी के मूल्य का अनुमान लंदन की मंडी में प्रचलित भाव के आधार पर लगाया जाता था। [**चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया नोट:** आजकल हम फिर अपने को एक ऐसे काल में पाते हैं, जब सोने और चांदी के सापेक्ष मूल्यों में गंभीर परिवर्तन हो रहा है। क़रीब २५

सार्वभौम द्रव्य भुगतान के सार्विक साधन का काम करता है, ख़रीदारी के सार्विक साधन का काम करता है और सारी धन-दौलत के सार्विक मान्यता प्राप्त मूर्त रूप का काम करता है। अंतर्राष्ट्रीय लेन-देन की बक़ाया रक़मों को निबटाने के लिए भुगतान के साधन का काम करना उसका मुख्य काम होता है। इसीलिए व्यापार-संतुलन ही वाणिज्यवादियों का सिद्धांत-निर्देशक

साल हुए चांदी के साथ सोने का अनुपात १५$\frac{1}{2}$: १ था, अब वह कोई २२ : १ है, और सोने के अनुपात में चांदी का मूल्य बराबर गिरता जा रहा है। बुनियादी तौर पर यह अनुपात-परिवर्तन इन दो धातुओं की उत्पादन-प्रणाली में एक क्रांति हो जाने का परिणाम है। पहले सोना हासिल करने का लगभग एक ही ढंग था। स्वर्णमय चट्टानों के ऋतु-क्षरण के फलस्वरूप जिस रेतीली मिट्टी में सोना मिल जाता है, पहले उसे धोकर सोना निकाला जाता था। परंतु अब यह तरीक़ा काफ़ी नहीं है, और एक दूसरे तरीक़े ने उसका महत्त्व कम कर दिया है। यह स्फटिक के ऐसे स्तरों को, जिनमें सोना हो, खोदने का तरीक़ा है। प्राचीन काल के लोगों को भी यह तरीक़ा मालूम था, लेकिन अब तक वह एक गौण तरीक़ा था। (Diodorus, III, 12-14.) (Diodor's von Sicilien, *Historische Bibliothek*, III, 12-14, Stuttgart, 1828, S. 258-261.) इसके अलावा न केवल उत्तरी अमरीका के रॉकी पर्वतों के पश्चिमी भाग में चांदी के नये विशाल भंडारों का पता चल गया है, बल्कि रेल की लाइनों के बिछ जाने से ये भंडार और मेक्सिको की चांदी की खानें सचमुच सुलभ हो गयीं और रेलों के द्वारा आधुनिक मशीनें तथा ईंधन भेजना संभव हो गया, जिसके परिणामस्वरूप चांदी बहुत बड़े पैमाने और कम लागत पर निकाली जाने लगी। लेकिन ये दोनों धातुएं जिन शक्लों में स्फटिक की परतों में मिलती हैं, उनमें बड़ा भारी अंतर होता है। सोना प्राय: शुद्ध रूप में होता है, लेकिन स्फटिक की परतों में सूक्ष्म मात्राओं में बिखरा रहता है। इसलिए परत में से जो कुछ मिलता है, उस सबका चूरा कर देना पड़ता है और सोना या तो उसे धोकर या पारे के ज़रिये निकाला जाता है। अकसर दस लाख ग्राम स्फटिक में से केवल १ से लेकर ३ ग्राम तक ही सोना निकलता है, उससे अधिक नहीं। कभी-कभार ३० से लेकर ६० ग्राम तक भी निकल आता है। चांदी शुद्ध रूप में बहुत कम पायी जाती है। किंतु वह विशेष प्रकार के स्फटिक में मिलती है, जिसे अपेक्षाकृत सुगमता के साथ चट्टानों की परतों से अलग कर लिया जाता है और जिसमें प्राय: ४० से ६० प्रतिशत तक चांदी होती है। या इससे कम मात्राओं में चांदी तांबे, सीसे तथा अन्य कच्ची धातुओं में मिलती है, जिनको खोदकर निकालना वैसे भी लाभदायक होता है। केवल इतनी जानकारी ही यह समझने के लिए काफ़ी है कि जहां सोना निकालने के लिए पहले से अधिक श्रम ख़र्च होता है, वहां चांदी निकालने के लिए निश्चय ही पहले से कम श्रम ख़र्च होता है, और इससे स्वभावतया चांदी का मूल्य गिर गया है। यदि चांदी के दामों को इसके बाद भी बनावटी ढंग से ऊंचा न रखा जाता, तो उसके मूल्य में जो गिराव आया है, वह दामों की इससे भी बड़ी घटती के रूप में व्यक्त होता। किंतु अमरीका के चांदी के बड़े भंडारों को तो अभी तक लगभग छुआ नहीं गया है। इसलिए इस बात की बहुत संभावना है कि अभी बहुत समय तक चांदी का मूल्य बराबर गिरता ही जायेगा। इस गिराव को इस बात से और बढ़ावा मिला है कि रोज़मर्रा के इस्तेमाल की चीज़ों और विलास की चीज़ों के लिए अब चांदी की मांग अपेक्षाकृत कम हो गयी है, क्योंकि उसकी जगह चांदी का पत्तर चढ़ी हुई वस्तुएं और अल्यूमीनियम का सामान, आदि इस्तेमाल होने लगे हैं। इस हालत में पाठक ख़ुद निर्णय करें कि यह द्विधातुवादी विचार कितना निराधार है कि चांदी का अंतर्राष्ट्रीय भाव ज़बर्दस्ती नियत करके उसके मूल्य को फिर १ : १५$\frac{1}{2}$ वाले उसके पुराने स्तर पर लाया जा सकता है। अधिक संभावना इस बात की है कि दुनिया की मंडियों में चांदी द्रव्य का काम करने से अधिकाधिक वंचित होती जायेगी। — फ़े० एं०]

शब्द है।[108] सोना और चांदी पण्य ख़रीदने के अंतर्राष्ट्रीय साधन का काम मुख्यतया और आवश्यक रूप से उन कालों में करते हैं, जिनमें अलग-अलग राष्ट्रों के बीच होनेवाले उत्पादों के विनिमय का परंपरागत संतुलन यकायक गड़बड़ा जाता है। और अंत में, जब कभी सवाल ख़रीदने या भुगतान करने का नहीं, बल्कि एक देश से दूसरे देश में धन का स्थानांतरण करने का होता है और जब कभी या तो मंडियों में कुछ ख़ास तरह की परिस्थितियां हो जाने के फलस्वरूप, या स्वयं उस उद्देश्य के कारण, जिसके लिए कि यह स्थानांतरण किया जा रहा है, पण्यों के रूप में स्थानांतरण करना असंभव हो जाता है, तब सोना और चांदी सामाजिक धन के सार्विक मान्यता प्राप्त मूर्त रूप का काम करते हैं।[109]

जिस प्रकार हर देश को अपने घरेलू परिचलन के लिए द्रव्य के एक सुरक्षित कोष की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उसे दुनिया की मंडियों में बाहरी परिचलन के लिए भी द्रव्य के एक सुरक्षित कोष की ज़रूरत होती है। इसलिए अपसंचित कोषों के कार्य आंशिक रूप से द्रव्य के उन कामों से उत्पन्न होते हैं, जो उसे घरेलू परिचलन और घरेलू भुगतानों के माध्यम के रूप में करने पड़ते हैं, और आंशिक रूप में वे द्रव्य के उन कामों से उत्पन्न होते हैं, जो उसे संसार के द्रव्य के रूप में करने पड़ते हैं।[110] संसार के द्रव्य का काम करने के लिए सच्चे

---

[108] वाणिज्यवादी संप्रदाय एक ऐसा संप्रदाय था, जिसके लिए व्यापार का अधिशेष सोने और चांदी में निपटाना ही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का उद्देश्य था। उसके विरोधी ख़ुद यह क़तई नहीं समझ पाये थे कि संसार के द्रव्य के क्या कार्य हैं। मैंने रिकार्डो का उदाहरण देकर दिखाया है कि संचलनशील माध्यम की मात्रा का नियमन करनेवाले नियमों के विषय में ग़लत धारणा किस प्रकार बहुमूल्य धातुओं की अंतर्राष्ट्रीय गति के विषय में उतने ही ग़लत विचार में प्रतिबिंबित होती है (Karl Marx, l.c., S. 150 sq.) रिकार्डो का यह ग़लत सूत्र कि "प्रतिकूल व्यापार-संतुलन फ़ालतू द्रव्य के सिवा कभी और किसी चीज़ से नहीं पैदा होता... सिक्के का निर्यात उसके सस्तेपन के कारण होता है, और वह प्रतिकूल संतुलन का प्रभाव नहीं, बल्कि कारण होता है", उसके पहले हमें बार्बोन की रचनाओं में मिलता है। बार्बोन ने लिखा है: "व्यापार-संतुलन यदि हो, तो वह द्रव्य को राष्ट्र के बाहर भेजने का कारण नहीं हो सकता। द्रव्य तो प्रत्येक देश में बुलियन के मूल्य में जो अंतर होता है, उसके कारण बाहर भेजा जाता है।" (N. Barbon, l.c., pp. 59, 60.) *The Literature of Political Economy: a Classified Catalogue*, London, 1845 में मैककुलोच ने इस बात को रिकार्डो से पहले ही कह देने के लिए बार्बोन की प्रशंसा की है, लेकिन बार्बोन ने उस ग़लत मान्यता को, जिसपर "मुद्रा सिद्धांत" आधारित है, जिन भोलेपन से भरे रूपों की पोशाक पहना रखी है, उनको वह बड़ी सतर्कता के साथ अनदेखा कर जाते हैं। इस सूचीपत्र में वास्तविक आलोचना का और यहां तक कि ईमानदारी का भी जो अभाव है, वह उन परिच्छेदों में पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है, जिनमें द्रव्य के सिद्धांत के इतिहास की चर्चा है। कारण यह है कि अपनी रचना के इस भाग में मैककुलोच लार्ड ओवरस्टोन की ख़ुशामद करने लगता है, जिनके बारे में वह कहते हैं कि वह "facile princeps argentariorum" ["सहज ही प्रधान अर्थदाता"] हैं।

[109] उदाहरणत:, आर्थिक सहायता के लिए, युद्ध चलाने के वास्ते दिये गये क़र्ज़ों के लिए या उन क़र्ज़ों के लिए, जो बैंकों को इसलिए दिये जाते हैं कि वे फिर से नक़द भुगतान शुरू कर सकें – इन सब और दूसरे इस तरह के कामों के लिए मूल्य के केवल द्रव्य-रूप की ही आवश्यकता होती है और किसी रूप की नहीं।

[110] "सोना-चांदी के सिक्कों में भुगतान करनेवाले देशों में अपसंचित कोषों का यंत्र अंतर्राष्ट्रीय समंजन से संबंध रखनेवाला प्रत्येक कार्य सामान्य परिचलन से बिना कोई प्रकट सहायता

द्रव्य-पण्य की – यानी वास्तविक सोने और चांदी की – आवश्यकता होती है। इसलिए सर जेम्स स्टुअर्ट ने सोने और चांदी तथा उनके विशुद्ध स्थानीय प्रतिस्थापकों में भेद करने के लिए सोने और चांदी को "संसार का द्रव्य" कहा है।

सोना और चांदी एक दोहरी धारा में बहते हैं। एक ओर तो वे अपने मूल स्थानों से दुनिया की तमाम मंडियों में फैलते हैं, ताकि वहां वे परिचलन के विभिन्न राष्ट्रीय क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न सीमाओं तक जज़्ब हो जायें, चलन की नालियों को भर दें, सोने और चांदी के घिसे हुए सिक्कों का स्थान ग्रहण कर लें, विलास की वस्तुओं की सामग्री की पूर्ति करें और अपसंचित कोषों में जम जायें।[111] इस पहली धारा को वे देश आरंभ करते हैं, जो पण्यों में निहित अपने श्रम का सोना और चांदी पैदा करनेवाले देशों के बहुमूल्य धातुओं में निहित श्रम के साथ विनिमय करते हैं। दूसरी ओर, परिचलन के विभिन्न राष्ट्रीय क्षेत्रों के बीच सोने और चांदी का आगे-पीछे प्रवाह जारी रहता है। इस धारा की गति विनिमय-दरों के क्रम में होनेवाले अनवरत उतार-चढ़ाव पर निर्भर रहती है।[112]

जिन देशों में उत्पादन की बुर्जुआ प्रणाली का एक निश्चित हद तक विकास हो गया है, वे बैंकों के कोषागारों में केंद्रीभूत अपसंचित कोषों को उस अल्पतम मात्रा तक ही सीमित कर देते हैं, जो उनके विशिष्ट कार्यों को भली भांति संपन्न करने के लिए आवश्यक होती है।[113] जब कभी ये अपसंचित कोष अपने औसत स्तर से बहुत अधिक ऊपर चढ़ जाते हैं, तब कुछ

लिये हुए किस कुशलता के साथ कर सकता है, इसका मेरी दृष्टि में इससे बड़ा कोई प्रमाण नहीं है कि जब फ़्रांस एक सत्यानाशी विदेशी आक्रमण के धक्के से अभी संभल ही रहा था, तभी उसने केवल २७ महीने के अरसे में लगभग २ करोड़ (पाउंड स्टर्लिंग) की वह रक़म मित्र शक्तियों को आसानी से अदा कर दी, जो उसपर ज़बर्दस्ती लाद दी गयी थी, और इस रक़म का काफ़ी बड़ा हिस्सा उसने सिक्कों में अदा किया, और फिर भी उसके घरेलू द्रव्य के चलन में कोई संकुचन या अव्यवस्था नहीं दिखायी दी, और यहां तक कि उसकी विनिमय-दरों में भी कोई चिंताजनक उतार-चढ़ाव नहीं आया।" (Fullarton, l.c., p. 141.) [**चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया फ़ुटनोट :** इससे भी ज्यादा जोरदार प्रमाण यह है कि उसी फ़्रांस ने १८७१ और १८७३ के बीच, ३० महीने के अंदर, युद्ध के हर्जाने के तौर पर इससे दस गुनी अधिक बड़ी रक़म सहज ही अदा कर दी, और उसका भी काफ़ी बड़ा हिस्सा उसने सिक्कों के रूप में दिया। – फ़े० एं०]

[111] "द्रव्य राष्ट्रों के बीच उनकी अलग-अलग आवश्यकताओं के अनुपात में बंट जाता है... क्योंकि वह सर्वत्र उत्पादों की ओर आकर्षित होता है।" (Le Trosne, l.c., p. 916.) "जो खानें लगातार सोना और चांदी देती रहती हैं, वे इतना अवश्य दे देती हैं, जो प्रत्येक राष्ट्र के लिए ऐसे आवश्यक बक़ाया की पूर्ति के लिए काफ़ी होता है।" (J. Vanderlint, l.c., p. 40.)

[112] "विनिमय-दरें प्रति सप्ताह चढ़ती और उतरती रहती हैं, और वर्ष में कुछ ख़ास मौक़ों पर वे किसी राष्ट्र के बहुत प्रतिकूल हो जाती हैं और अन्य मौक़ों पर वे उसके प्रतिस्पर्द्धी देशों के उसी तरह प्रतिकूल हो जाती हैं।" (N. Barbon, l.c., p. 39.)

[113] जब कभी सोने और चांदी को बैंक-नोटों के परिवर्तन के लिए कोष का भी काम करना पड़ता है, तब उनके इन विभिन्न कार्यों के एक दूसरे के साथ ख़तरनाक ढंग से टकरा जाने की आशंका पैदा हो जाती है।

अपवादों के साथ ये सदा इस बात के सूचक होते हैं कि पण्यों के परिचलन में ठहराव पैदा हो गया है और उनके रूपांतरणों के सम-प्रवाह में कोई रुकावट आ गयी है।[114]

---

[114] "घरेलू व्यापार के लिए जितने द्रव्य की नितांत आवश्यकता है, उससे अधिक जितना भी द्रव्य है, वह निष्क्रिय धन है... और जिस देश में ऐसा द्रव्य रखा जाता है, उसको व्यापार में इस द्रव्य के आयात-निर्यात से जितना लाभ होता है, उसके सिवा और कोई लाभ ऐसे द्रव्य से नहीं होता।" (John Bellers, *Essays about the Poor*, London, 1699, p. 13.) "यदि हमारे पास बहुत ज्यादा सिक्के हों, तो क्या होगा? सबसे भारी सिक्कों को गलाकर हम सोने-चांदी के शानदार बर्तनों और पात्रों में बदल सकते हैं, या हम सिक्कों को पण्य के रूप में वहां भेज सकते हैं, जहां उनकी आवश्यकता या मांग हो, या जहां सूद की दर ऊंची हो, वहां हम उन्हें सूद पर दे सकते हैं।" (W. Petty, *Quantulumcunque Concerning Money*, 1682, p. 39.) "द्रव्य राजनीति के शरीर की चर्बी है; उसका जरूरत से ज्यादा होना उसी तरह शरीर की फुर्ती में कमी कर देता है, जिस तरह उसका कम होना शरीर को बीमार बना डाल देता है... जिस प्रकार चर्बी मांस-पेशियों की गति का स्नेहन करती है, खाद्य-पदार्थों के अभाव को दूर करती है, शरीर के गढ़ों को भरती है और उसे सुंदर बनाती है, उसी प्रकार द्रव्य राज्य में उसके कार्य को वेग प्रदान करता है, देश में अभाव होने पर विदेश से मंगाकर राज्य को खिलाता-पिलाता है, हिसाब-किताब ठीक रखता है... और समष्टि को सुंदर बनाता है, हालांकि यह उन विशिष्ट व्यक्तियों पर ही ख़ास तौर से लागू होता है, जिनके पास द्रव्य बहुतायत से है।" (W. Petty, *Political Anatomy of Ireland*, pp. 14, 15.)

भाग २

द्रव्य का पूंजी में रूपांतरण

अध्याय ४

पूंजी का सामान्य सूत्र

पण्यों का परिचलन पूंजी का प्रस्थान-बिंदु है। पण्यों का उत्पादन, उनका परिचलन और परिचलन का वह अधिक विकसित रूप, जो वाणिज्य कहलाता है, इनसे वह ऐतिहासिक आधार तैयार होता है, जिससे पूंजी उद्भूत होती है। पूंजी का आधुनिक इतिहास १६ वीं शताब्दी में संसारव्यापी वाणिज्य तथा संसारव्यापी मंडी की स्थापना से आरंभ होता है।

यदि हम पण्यों के परिचलन के भौतिक सार को, अर्थात् नाना प्रकार के उपयोग-मूल्यों के विनिमय को अनदेखा कर दें और केवल परिचलन की इस प्रक्रिया से उत्पन्न होनेवाले आर्थिक रूपों पर ही विचार करें, तो हम द्रव्य को ही इसका अंतिम फल पाते हैं : पण्यों के परिचलन का यह अंतिम फल वह पहला रूप है, जिसमें पूंजी प्रकट होती है।

अपने ऐतिहासिक रूप में पूंजी भूसंपत्ति के मुक़ाबले में पहले अनिवार्य रूप से द्रव्य का रूप धारण करती है ; पूंजी पहले-पहल द्रव्यगत धन के रूप में, सौदागर और सूदख़ोर की पूंजी के रूप में सामने आती है।[1] परंतु यह जानने के लिए कि पूंजी पहले-पहल द्रव्य के रूप में प्रकट होती है, पूंजी की उत्पत्ति का ज़िक्र करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह हम हर रोज़ अपनी आंखों के सामने होते हुए देख सकते हैं। हमारे ज़माने में भी समस्त नयी पूंजी शुरू-शुरू में द्रव्य के रूप में रंगमंच पर उतरती है, यानी मंडी में आती है, चाहे वह मंडी पण्यों की हो, या श्रम की, अथवा द्रव्य की ; और फिर इस द्रव्य को एक निश्चित प्रक्रिया के द्वारा पूंजी में रूपांतरित होना पड़ता है।

वह द्रव्य, जो केवल द्रव्य है, और वह द्रव्य, जो पूंजी है, उनके बीच हम जो पहला भेद देखते हैं, वह इससे अधिक और कुछ नहीं होता कि उनके परिचलन के रूपों में अंतर होता है।

पण्यों के परिचलन का सरलतम रूप है $C—M—C$, यानी पण्यों का द्रव्य में रूपांतरण

---

[1] प्रभुत्व और दासत्व के व्यक्तिगत संबंधों पर आधारित सत्ता, जो भूसंपत्ति की देन होती है, और वह अवैयक्तिक सत्ता, जो द्रव्य से प्राप्त होती है, – उनका विरोध इन दो फ़्रांसीसी कहावतों में बहुत अच्छी तरह व्यक्त हुआ है : "Nulle terre sans seigneur" ["बिना श्रीमंत के कोई भूमि नहीं होती"] और "L'argent n'a pas de maître" ["मुद्रा का स्वामी कोई नहीं होता"]।

और द्रव्य का पुनः पण्यों में परिवर्तन; अथवा ख़रीदने के लिए बेचना। लेकिन इस रूप के साथ-साथ हम एक और रूप पाते हैं, जो उससे विशिष्ट तौर पर भिन्न होता है। वह है $M-C-M$, अर्थात् द्रव्य का पण्यों में रूपांतरण और पण्यों का पुनः द्रव्य में परिवर्तन; अथवा बेचने के लिए ख़रीदना। जो द्रव्य इस दूसरे ढंग से परिचालित होता है, वह उसके द्वारा पूंजी में रूपांतरित हो जाता है, वह पूंजी बन जाता है और पहले से भी संभावी पूंजी होता है।

अब आइये, हम $M-C-M$ परिपथ पर थोड़ा और ध्यान से विचार करें। दूसरे परिपथ की भांति यह परिपथ भी दो परस्पर विरोधी अवस्थाओं से बनता है। पहली अवस्था में, $M-C$ में, यानी ख़रीद में, द्रव्य पण्य में बदल दिया जाता है। दूसरी अवस्था में, $C-M$ में, यानी बिक्री में, पण्य फिर द्रव्य में बदल दिया जाता है। इन दो अवस्थाओं का जोड़ ही वह गति है, जिसके द्वारा द्रव्य का किसी पण्य से विनिमय होता है और फिर उसी पण्य का पुनः द्रव्य के साथ विनिमय कर दिया जाता है; इस तरह कोई पण्य बेचने के उद्देश्य से ख़रीदा जाता है, या ख़रीदने और बेचने के बीच रूप का जो अंतर है, यदि हम उसे अनदेखा कर दें, तो इस तरह पहले द्रव्य से एक पण्य ख़रीदा जाता है और फिर एक पण्य से द्रव्य ख़रीदा जाता है।[2] पूरी प्रक्रिया का परिणाम, जिसमें उसकी अवस्थाओं का लोप हो जाता है, यह होता है कि द्रव्य का द्रव्य के साथ विनिमय, यानी $M-M$, होता है। यदि मैं २,००० पाउंड कपास १०० पाउंड से ख़रीदता हूं और २,००० पाउंड कपास को ११० पाउंड में बेच देता हूं, तो वास्तव में मैं १०० पाउंड का ११० पाउंड के साथ, द्रव्य का द्रव्य के साथ विनिमय कर डालता हूं।

अब यह बात स्पष्ट है कि यदि $M-C-M$ परिपथ का उद्देश्य द्रव्य की दो बराबर रक़मों का – १०० पाउंड के साथ १०० पाउंड का – विनिमय करना हो, तो यह परिपथ बिल्कुल बेकार और निरर्थक होगा। उससे तो कंजूस आदमी की योजना कहीं अधिक सरल और अचूक होगी। वह अपने १०० पाउंड को परिचलन के ख़तरों में डालने के बजाय उनसे चिपककर बैठ जाता है। किंतु फिर भी वह सौदागर, जिसने अपनी कपास के लिए १०० पाउंड दिये हैं, चाहे वह उसे ११० पाउंड में बेचे और चाहे १०० पाउंड में ही दे दे और चाहे तो ५० पाउंड में ही दे डाले, उसका द्रव्य हर हालत में एक विशिष्ट एवं सर्वथा नये प्रकार की गति से गुज़रता है, जो उस गति से बिल्कुल भिन्न होती है, जिससे उस किसान के हाथ के द्रव्य को गुज़रना होता है, जो अनाज बेचता है और इस तरह जो द्रव्य प्राप्त करता है, उससे कपड़े ख़रीद लेता है। अतएव हमें पहले $M-C-M$ और $C-M-C$, इन दो परिपथों के रूपों के विशिष्ट गुणों को समझना होगा। केवल उनके बाहरी रूप के अंतर में जो वास्तविक अंतर छिपा हुआ है, वह ऐसा करने पर अपने आप प्रकट हो जायेगा।

आइये, पहले हम यह देखें कि दोनों रूपों में समान बातें क्या हैं।

दोनों परिपथ दो एक सी परस्पर विरोधी अवस्थाओं में परिणत किये जा सकते हैं, जिनमें से एक $C-M$, यानी बिक्री, और दूसरी $M-C$, यानी ख़रीद, होती है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में वे ही दो भौतिक तत्त्व – कोई पण्य और द्रव्य – और आर्थिक नाटक के वे ही दो पात्र – एक ग्राहक और विक्रेता – एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़े होते हैं। प्रत्येक परिपथ उन्हीं

---

[2] "द्रव्य से हम वाणिज्य-वस्तुएं ख़रीदते हैं, और वाणिज्य-वस्तुओं से हम द्रव्य ख़रीदते हैं।" (Mercier de la Rivière, *L'Ordre naturel et essentiel des Sociétés politiques*, p. 543.)

दो परस्पर विरोधी अवस्थाओं का मेल होता है, और हर बार यह मिलाप सौदा करनेवाले तीन पक्षों के हस्तक्षेप के ज़रिये संपन्न होता है, जिनमें से एक केवल बेचता है, दूसरा केवल ख़रीदता है और तीसरा ख़रीदता भी है और बेचता भी है।

लेकिन परिपथ C—M—C और परिपथ M—C—M के बीच पहला और सबसे प्रमुख भेद यह है कि उनमें दो अवस्थाएं एक दूसरे के उल्टे क्रम में आती हैं। पण्यों का साधारण परिचलन विक्रय से शुरू होता है और क्रय के साथ समाप्त हो जाता है, उधर पूंजी के रूप में द्रव्य का परिचलन क्रय से शुरू होता है और विक्रय के साथ समाप्त हो जाता है। एक सूरत में प्रस्थान-बिंदु और लक्ष्य दोनों पण्य होते हैं, दूसरी में दोनों द्रव्य होते हैं। पहले रूप में गति द्रव्य के हस्तक्षेप द्वारा, दूसरे रूप में वह एक पण्य के हस्तक्षेप द्वारा संपन्न होती है।

परिचलन C—M—C में द्रव्य अंत में पण्य में बदल दिया जाता है, जो एक उपयोग-मूल्य का काम करता है; अर्थात् द्रव्य एक बार में सदा के लिए ख़र्च हो जाता है। उसके उल्टे रूप, यानी M—C—M में इसके विपरीत ग्राहक द्रव्य इसलिए लगाता है कि बेचनेवाले के रूप में वह उसे वापस पा जाये। अपना पण्य ख़रीदकर वह इस उद्देश्य से परिचलन में द्रव्य डालता है कि उसी पण्य को बेचकर वह द्रव्य को फिर परिचलन से निकाल ले। वह द्रव्य को अपने पास से जाने देता है, किंतु इस चतुराई भरे उद्देश्य से कि वह उसे फिर वापस मिल जाये। इसलिए इस सूरत में द्रव्य ख़र्च नहीं किया जाता, बल्कि महज़ पेशगी के रूप में लगाया जाता है।[3]

परिपथ C—M—C में वही द्रव्य दो बार अपनी जगह बदलता है। ग्राहक से विक्रेता उसे पाता है, और वह उसे किसी और विक्रेता को दे देता है। पूरा परिचलन, जो पण्य के बदले में द्रव्य की प्राप्ति से आरंभ होता है, पण्य के बदले में द्रव्य की अदायगी से समाप्त हो जाता है। परिपथ M—C—M में उसका ठीक उल्टा होता है। यहां द्रव्य नहीं, बल्कि पण्य दो बार अपनी जगह बदलता है। ग्राहक विक्रेता के हाथ से पण्य ले लेता है और फिर उसे किसी अन्य ग्राहक को दे देता है। जिस प्रकार पण्यों के साधारण परिचलन में उसी द्रव्य के दो बार अपना स्थान-परिवर्तन करने के फलस्वरूप द्रव्य एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुंच जाता है, ठीक उसी प्रकार यहां पर उसी पण्य के दो बार अपना स्थान-परिवर्तन करने के फलस्वरूप द्रव्य फिर अपने प्रस्थान-बिंदु पर लौट आता है।

द्रव्य का इस तरह प्रत्यावर्तन इस बात पर निर्भर नहीं करता कि पण्य जितने में ख़रीदा गया है, उससे ज़्यादा में बेचा जाये। इस बात से केवल वापस लौटनेवाले द्रव्य की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है। द्रव्य का प्रत्यावर्तन उसी समय संपन्न हो जाता है, जब ख़रीदा हुआ पण्य फिर से बेच दिया जाता है, अर्थात्, दूसरे शब्दों में, जब परिपथ M—C—M संपूर्ण हो जाता है। इसलिए, यहां पूंजी के रूप में द्रव्य के परिचलन और केवल द्रव्य के रूप में उसके परिचलन में एक सहज ग्राह्य भेद हमारे सामने आ जाता है।

---

[3] "जब कोई चीज़ फिर बेचने के उद्देश्य से ख़रीदी जाती है, तब उसमें जो रक़म इस्तेमाल होती है, उसके बारे में कहा जाता है कि इतना द्रव्य पेशगी के रूप में लगाया गया; जब वह बेचने के उद्देश्य से नहीं ख़रीदी जाती, तब कहा जा सकता है कि वह ख़र्च कर दिया गया।" (James Steuart, *Works* etc., edited by General Sir James Steuart, his son, London, 1805, Vol. 1, p. 274.)

परिपथ C—M—C उसी समय पूर्णतया समाप्त हो जाता है, जिस समय एक पण्य की बिक्री से मिला हुआ द्रव्य किसी और पण्य की ख़रीद के फलस्वरूप फिर हाथ से निकल जाता है। इसके बाद भी यदि द्रव्य फिर अपने प्रस्थान-बिंदु पर लौट आता है, तो यह केवल इस क्रिया को नये सिरे से किये जाने अथवा दोहराये जाने के फलस्वरूप ही हो सकता है। यदि मैं एक क्वार्टर अनाज ३ पाउंड में बेचता हूं और इस ३ पाउंड की रक़म से कपड़े ख़रीद लेता हूं, तो जहां तक मेरा संबंध है, द्रव्य सदा के लिए ख़र्च हो गया है। इसके बाद कपड़ों का सौदागर उसका मालिक हो जाता है। अब यदि मैं एक क्वार्टर अनाज और बेचूं, तो, ज़ाहिर है, द्रव्य मेरे पास लौट आता है, लेकिन वह पहले सौदे के परिणाम के रूप में नहीं, बल्कि सौदे के दोहराये जाने के परिणामस्वरूप लौटता है। और जब मैं कोई नयी ख़रीदारी करके इस दूसरे सौदे को पूरा कर देता हूं, तो द्रव्य तुरंत ही फिर मेरे पास से चला जाता है। इसलिए परिपथ C—M—C में द्रव्य के ख़र्च किये जाने का द्रव्य के वापस लौटने से कोई संबंध नहीं होता। इसके विपरीत M—C—M में द्रव्य का वापस लौटना स्वयं ख़र्च किये जाने की विधि पर निर्भर होता है। यदि द्रव्य इस प्रकार वापस नहीं लौटता, तो क्रिया अपनी पूरक एवं अंतिम अवस्था—बिक्री—की अनुपस्थिति के कारण असफल हो जाती है, या प्रक्रिया बीच में रुक जाती है और अपूर्ण रह जाती है।

परिपथ C—M—C एक पण्य से आरंभ होता है और दूसरे पण्य पर समाप्त हो जाता है, जो कि परिचलन से बाहर जाकर उपभोग में चला जाता है। उपभोग, आवश्यकताओं की तुष्टि, या एक शब्द में कहें, तो उपयोग-मूल्य उसका लक्ष्य एवं उद्देश्य होता है। इसके विपरीत परिपथ M—C—M द्रव्य से आरंभ होता है और द्रव्य पर समाप्त होता है। अतः उसका प्रमुख उद्देश्य तथा वह लक्ष्य, जो उसे आकर्षित करता है, केवल विनिमय-मूल्य होता है।

पण्यों के साधारण परिचलन में परिपथ के दो चरम बिंदुओं का एक सा आर्थिक रूप होता है। वे दोनों पण्य, और वह भी समान मूल्य के पण्य होते हैं। किंतु उसके साथ-साथ वे गुणों में भिन्न दो उपयोग-मूल्य भी होते हैं, जैसे कि अनाज और कपड़ा। उत्पादित वस्तुओं का विनिमय, या उन अलग-अलग सामग्रियों का विनिमय, जिनमें समाज का श्रम निहित है, यहां पर गति का आधार होता है। परिपथ M—C—M में यह बात नहीं होती। पहली नज़र में यह परिपथ पुनरुक्ति-सूचक होने के नाते उद्देश्यहीन मालूम होता है। उसके दोनों चरम बिंदुओं का एक सा आर्थिक रूप है। वे दोनों द्रव्य हैं, और इसलिए वे गुणों में भिन्न उपयोग-मूल्य नहीं हैं। कारण कि द्रव्य तो केवल पण्यों का वह बदला हुआ रूप होता है, जिसमें उनके विशिष्ट उपयोग-मूल्यों का लोप हो जाता है। पहले १०० पाउंड का कपास के साथ विनिमय करना और फिर इसी कपास का पुनः १०० पाउंड के साथ विनिमय कर लेना—यह महज़ द्रव्य के साथ द्रव्य का विनिमय करने का एक घुमावदार ढंग ही है, जिसमें एक वस्तु का उसी वस्तु के साथ विनिमय किया जाता है, और यह क्रिया जितनी बेतुकी है, उतनी ही उद्देश्यहीन लगती है।[4] द्रव्य की एक रक़म का दूसरी रक़म से केवल मात्रा द्वारा ही भेद किया जाता है।

---

[4] मर्सिये दे ला रिवियेर ने वाणिज्यवादियों से कहा था: "हम द्रव्य के साथ द्रव्य का विनिमय नहीं करते।" (l. c., p. 486.) एक ऐसी रचना में, जिसमें ex professo [प्रकट रूप से] "व्यापार" तथा "सट्टेबाज़ी" की चर्चा की गयी है, हमें यह पढ़ने को मिलता है: "समस्त व्यापार विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का विनिमय होता है; और उसमें लाभ" (क्या

अतएव $M — C — M$ प्रक्रिया के स्वरूप एवं प्रवृत्ति का कारण यह नहीं होता कि उसके दो चरम बिंदुओं में कोई गुणात्मक भेद होता है, क्योंकि वे दोनों ही द्रव्य हैं, बल्कि केवल उसके दो चरम बिंदुओं का परिमाणात्मक अंतर ही उनका कारण होता है। परिचलन के आरंभ में उसमें जितना द्रव्य डाला जाता है, उसके समाप्त होने पर उससे अधिक द्रव्य उसमें से निकाल लिया जाता है। जो कपास १०० पाउंड में ख़रीदी गयी थी, वह संभवतः १०० पाउंड + १० पाउंड, अथवा ११० पाउंड में बेची जाती है। अतः इस क्रिया का बिल्कुल ठीक-ठीक रूप यह है: $M — C — M'$, जहां $M' = M + \Delta M$ = वह रक़म, जो शुरू में पेशगी के रूप में लगायी गयी थी, + वृद्धि की रक़म। इस वृद्धि को, या जितनी रक़म मूल मूल्य से ज्यादा होती है, उसको मैं बेशी मूल्य कहता हूं। इसलिए, शुरू में जो मूल्य पेशगी के रूप में लगाया जाता है, वह परिचलन के दौरान न सिर्फ़ पूरे का पूरा बना रहता है, बल्कि उसमें बेशी मूल्य भी जुड़ जाता है, यानी उसका विस्तार हो जाता है। यही गति मूल्य को पूंजी में बदल देती है।

ज़ाहिर है, यह भी संभव है कि $C — M — C$ में, दो चरम बिंदु $C — C$, जो, मान लीजिये, अनाज और कपड़ा हैं, मूल्य की अलग-अलग मात्राओं का प्रतिनिधित्व करते हों। काश्तकार अपना अनाज उसके मूल्य से अधिक में बेच सकता है, या वह कपड़ा उसके मूल्य से कम में ख़रीद सकता है। दूसरी ओर, यह भी मुमकिन है कि कपड़ों का व्यापारी यही करने में सफल हो जाये। परंतु परिचलन के जिस रूप पर हम इस समय विचार कर रहे हैं, उसमें मूल्य के ऐसे अंतर केवल सांयोगिक होते हैं। अनाज और कपड़े के एक दूसरे का समतुल्य होने से यह प्रक्रिया सर्वथा निरर्थक नहीं हो जाती, जिस प्रकार वह $M — C — M$ में हो जाती है। बल्कि उनके मूल्यों का समान होना इस प्रक्रिया के स्वाभाविक रूप में संपन्न होने की आवश्यक शर्त है।

व्यापारी को होनेवाला लाभ?) "इस एक भेद के कारण होता है। एक पाउंड रोटी का एक पाउंड रोटी के साथ विनिमय करने से... कोई लाभ न होगा;... इसीलिए व्यापार को जुए से बेहतर समझा जाता है, क्योंकि जुए में महज़ द्रव्य का द्रव्य के साथ विनिमय किया जाता है।" (Th. Corbet, *An Inquiry into the Causes and Modes of the Wealth of Individuals, or the Principles of Trade and Speculation Explained*, London, 1841, p. 5.) यद्यपि कॉर्बेट यह नहीं देखते कि $M — M$, यानी द्रव्य के साथ द्रव्य का विनिमय, केवल सौदागरों की पूंजी के ही नहीं, बल्कि हर प्रकार की पूंजी के परिचलन का प्रधान रूप होता है, फिर भी वह कम से कम इतना ज़रूर मान लेते हैं कि यह रूप जुए में और एक विशेष प्रकार के व्यापार – अर्थात् सट्टेबाज़ी – में समान रूप से पाया जाता है। किंतु इसके बाद मैककुलोच आते हैं, और वह यह फ़रमाते हैं कि बेचने के लिए ख़रीदना ही सट्टेबाज़ी है, और इस प्रकार सट्टेबाज़ी तथा व्यापार का अंतर मिट जाता है। "हर वह सौदा, जिसमें कोई व्यक्ति बेचने के लिए पैदावार ख़रीदता है, असल में सट्टेबाज़ी होता है।" (MacCulloch, *A Dictionary Practical etc. of Commerce*, London, 1847, p. 1009.) पिंटो, जो कि एमस्टरडम की स्टाक एक्सचेंज का पिंदार है, इससे कहीं अधिक भोलेपन के साथ कहता है: "व्यापार क़िस्मत का खेल होता है" (ये शब्द उसने लॉक से लिये हैं); "और जिनके साथ हम यह खेल खेलते हैं, यदि वे भिखारी हैं, तो हम कुछ भी न जीत पायेंगे। यदि अंत में जाकर हमारा कुछ लाभ हो भी जाये, तो जब हम एक बार फिर खेल शुरू करना चाहेंगे, तब हमें अपने नफ़े का अधिकतर भाग फिर दे देना पड़ेगा।" (Pinto, *Traité de la Circulation et du Crédit*, Amsterdam, 1771, p. 231.)

ख़रीदने के लिए बेचने की क्रिया का दोहराया जाना या उसे नये सिरे से किया जाना स्वयं इस क्रिया के उद्देश्य द्वारा सीमाओं में सीमित रखा जाता है। उसका उद्देश्य है उपभोग, अथवा किन्हीं ख़ास आवश्यकताओं की तुष्टि; और यह उद्देश्य परिचलन के क्षेत्र से बिल्कुल अलग है। लेकिन जब हम बेचने के लिए ख़रीदते हैं, तब हम, इसके विपरीत, जिस चीज़ से आरंभ करते हैं, उसी चीज़ पर ख़त्म करते हैं, अर्थात् तब हम द्रव्य से – विनिमय-मूल्य से – आरंभ करते हैं और उसी पर समाप्त करते हैं, और इसलिए यहां पर गति अंतहीन हो जाती है। इसमें संदेह नहीं कि यहां पर $M = M + \Delta M$ हो जाती है, या १०० पाउंड ११० पाउंड बन जाते हैं। लेकिन जब हम उनके केवल गुणात्मक पहलू को देखते हैं, तो ११० पाउंड और १०० पाउंड एक ही चीज़ होते हैं, अर्थात् दोनों द्रव्य होते हैं। और यदि हम उनपर परिमाणात्मक दृष्टि से विचार करें, तो १०० पाउंड की तरह ११० पाउंड भी एक निश्चित एवं सीमित मूल्य की रक़म होते हैं। अब यदि ११० पाउंड द्रव्य के रूप में ख़र्च कर दिये जायें, तो उनकी भूमिका समाप्त हो जाती है। तब वे पूंजी नहीं रहते। परिचलन से बाहर निकाल लिये जाने पर वे जड़ अपसंचित कोष बन जाते हैं, और यदि वे क़यामत के दिन तक उसी रूप में पड़े रहें, तो भी उनमें एक फ़ार्दिंग की वृद्धि नहीं होगी। अतएव यदि एक बार मूल्य का विस्तार करना हमारा उद्देश्य बन जाता है, तो १०० पाउंड के मूल्य में वृद्धि करने के लिए जितनी प्रेरणा थी, उतनी ही ११० पाउंड के मूल्य में वृद्धि करने के लिए भी होती है। कारण कि दोनों ही विनिमय-मूल्य की केवल सीमित अभिव्यंजनाएं हैं और इसलिए दोनों का ही यह पेशा है कि परिमाणात्मक वृद्धि के द्वारा निरपेक्ष धन के जितने निकट पहुंच सकते हैं, पहुंचने की कोशिश करें। क्षणिक तौर पर हम निश्चय ही उस मूल्य में, जो शुरू में लगाया गया था, यानी १०० पाउंड में, और उस १० पाउंड के उस बेशी मूल्य में भेद कर सकते हैं, जो परिचलन के दौरान उसमें जुड़ गया है, परंतु यह भेद तत्काल ही मिट जाता है। क्रिया के अंत में यह नहीं होता कि हमें एक हाथ में शुरू के १०० पाउंड मिलें और दूसरे में १० पाउंड का बेशी मूल्य मिले। हमें तो बस ११० पाउंड का मूल्य मिलता है, जो विस्तार की क्रिया को आरंभ करने के लिए उसी स्थिति में और उसी प्रकार उपयुक्त होता है, जैसे कि शुरू के १०० पाउंड थे। द्रव्य गति को समाप्त करता है, तो केवल इसी उद्देश्य से कि उसे फिर से आरंभ कर दे।[5] इसलिए प्रत्येक अलग-अलग परिपथ का, जिसमें कि एक क्रय और उसके बाद होनेवाला एक विक्रय पूरा हो जाता है, अंतिम परिणाम ख़ुद एक नये परिपथ का प्रस्थान-बिंदु बन जाता है। पण्यों का साधारण परिचलन – ख़रीदने के लिए बेचना – एक ऐसे उद्देश्य को कार्यान्वित करने का साधन है, जिसका परिचलन से कोई संबंध नहीं होता; अर्थात् वह उपयोग-मूल्यों को हस्तगत करने या आवश्यकताओं को तुष्ट करने का साधन है। इसके विपरीत, पूंजी के रूप में द्रव्य का परिचलन स्वयं अपने में ही एक लक्ष्य होता है; कारण कि मूल्य का वि-

---

[5] "पूंजी को मूल पूंजी और मुनाफ़े – अर्थात् पूंजी की वृद्धि – में बांटा जा सकता है... हालांकि व्यवहार में यह मुनाफ़ा तुरंत ही पूंजी में बदल दिया और मूल पूंजी के साथ ही चालू कर दिया जाता है।" (F. Engels, *Umrisse zu einer Kritik der Nationalökonomie*, *Deutsch-Französische Jahrbücher*, herausgegeben von Arnold Ruge und Karl Marx, Paris, 1844, S. 99.)

स्तार केवल बारंबार नये सिरे से होनेवाली इस गति के भीतर हो जाता है। इसलिए पूंजी के परिचलन की कोई सीमाएं नहीं होतीं।[6]

इस गति के सचेत प्रतिनिधि के रूप में द्रव्य का स्वामी पूंजीपति बन जाता है। उसका व्यक्तित्व, या कहना चाहिए कि उसकी जेब ही, वह बिंदु है, जहां से द्रव्य यात्रा आरंभ करता है और जहीं वह फिर लौट जाता है। परिचलन $M-C-M$ का वस्तुगत आधार अथवा उसकी मुख्य कमानी है मूल्य का विस्तार करना। वही उस व्यक्ति का मनोगत लक्ष्य बन जाता है। जिस हद तक कि अधिक से अधिक मात्रा में अमूर्त धन निरंतर जमा करते जाना ही उसकी कार्रवाइयों का एकमात्र ध्येय बन जाता है, केवल उसी हद तक वह पूंजीपति के रूप में – या यूं कहिये कि चेतनायुक्त एवं इच्छायुक्त मूर्तिमान पूंजी के रूप में – कार्य करता है। अतः उपयोग-

---

[6] अरस्तू ने इकानामिक का क्रेमाटिस्टिक [द्रव्य बढ़ाने की प्रवृत्ति] से मुक़ाबला किया है। वह पूर्वोक्त से आरंभ करते हैं। जहां तक वह जीविका कमाने की कला है, वहां तक वह उन वस्तुओं को प्राप्त करने तक सीमित है, जो जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हैं और जो या तो गृहस्थी या राज्य के लिए उपयोगी हैं। "सच्चा धन (ὁ ἀληθινός πλοῦτος) इस प्रकार के उपयोग-मूल्य ही होते हैं, क्योंकि इस तरह की संपत्ति का जो जीवन को सुखद बना सकती है, परिमाण, असीमित नहीं होता। लेकिन, चीज़ें हासिल करने का एक दूसरा ढंग भी होता है, जिसको हम क्रेमाटिस्टिक का नाम देना बेहतर समझते हैं और जिसके लिए यही नाम उचित है। और जहां तक उसका संबंध है, धन और संपत्ति की कोई सीमा प्रतीत नहीं होती। व्यापार (अरस्तू ने जिस शब्द का प्रयोग किया है, वह ἡ καπηλικῆ है; उसका शाब्दिक अर्थ फुटकर व्यापार है, और अरस्तू ने इस ढंग के व्यापार को इसलिए लिया है कि उसमें उपयोग-मूल्यों की प्रधानता होती है) ख़ुद अपने स्वभाव से क्रेमाटिस्टिक में शामिल नहीं है, क्योंकि यहां विनिमय केवल उन्हीं चीज़ों का होता है, जो ख़ुद उनके लिए (ग्राहक या विक्रेता के लिए) आवश्यक होती हैं।" इसलिए जैसा कि अरस्तू इसके आगे बताते हैं, "व्यापार का मूल रूप अदला-बदली का था, लेकिन अदला-बदली का विस्तार बढ़ने पर द्रव्य की ज़रूरत महसूस हुई। द्रव्य का आविष्कार हो जाने पर अदला-बदली लाज़िमी तौर पर καπηλική में, या पण्यों के व्यापार में, बदल गयी, और पण्यों का व्यापार अपनी मूल प्रवृत्ति के विपरीत क्रेमाटिस्टिक – अर्थात् द्रव्य बनाने की कला – में बदल गया। अब क्रेमाटिस्टिक तथा इकानामिक में यह भेद किया जा सकता है कि क्रेमाटिस्टिक में परिचलन धन का स्रोत होता है (ποιητικῆ χρημάτων διά... Χρημάτων μεταβολῆς) और लगता है कि वह द्रव्य के इर्दगिर्द घूमता रहता है, क्योंकि इस प्रकार के विनिमय का आरंभ और अंत भी द्रव्य ही होता है (τὸ γάρ νόμισμα στοχεῖον καὶ πέρας τῆς ἀλλαγῆς ἐστίν)। इसीलिए क्रेमाटिस्टिक जिस धन को प्राप्त करने की कोशिश करता है, वह असीमित होता है। प्रत्येक ऐसी कला का, जो किसी साध्य का साधन नहीं होती, बल्कि स्वयं साध्य होती है, लक्ष्य असीम होता है, क्योंकि वह लगातार उस साध्य के अधिक से अधिक निकट पहुंचने का प्रयत्न करती रहती है। दूसरी ओर, जिन कलाओं का किसी साध्य के साधन के रूप में अभ्यास किया जाता है, वे सीमाहीन नहीं होतीं, क्योंकि ख़ुद उनका लक्ष्य उनपर सीमा लगा देता है। पहली प्रकार की कलाओं की भांति क्रेमाटिस्टिक का लक्ष्य भी सीमाहीन है, क्योंकि उसका लक्ष्य निरपेक्ष धन एकत्रित करना होता है। क्रेमाटिस्टिक की नहीं, इकानामिक की एक सीमा होती है... इकानामिक का लक्ष्य द्रव्य से भिन्न होता है और क्रेमाटिस्टिक का लक्ष्य द्रव्य की वृद्धि करना होता है... ये दो रूप कभी-कभी एक दूसरे से मिल जाते हैं; उनको आपस में गड़बड़ा देने के फलस्वरूप कुछ लोग द्रव्य को सुरक्षित रखने और उसमें असीम वृद्धि करते जाने को ही इकानामिक का लक्ष्य और ध्येय समझ बैठे हैं।" (Aristoteles, *De Republica*, edit. Bekker, lib. 1, c. 8, 9, passim.)

मूल्यों को पूंजीपति का वास्तविक लक्ष्य कभी न समझना चाहिए,[7] और न ही किसी एक सौदे पर मुनाफ़ा कमाना उनका लक्ष्य समझा जाना चाहिए। मुनाफ़ा कमाने की अनवरत और अंतहीन क्रिया ही उसका एकमात्र लक्ष्य होती है।[8] धन का यह कभी संतुष्ट न होनेवाला लोभ, विनिमय-मूल्य की यह प्रबल लालसा[9] पूंजीपति और कंजूस में समान रूप से पायी जाती है। लेकिन कंजूस जहां पगलाया हुआ पूंजीपति होता है, वहां पूंजीपति विवेकपूर्ण कंजूस होता है। कंजूस अपने द्रव्य को परिचलन से बचाकर[10] विनिमय-मूल्य में अंतहीन वृद्धि करने का प्रयास करता है। उससे अधिक चतुर पूंजीपति यही लक्ष्य अपने द्रव्य को हर बार नये सिरे से परिचलन में डालकर प्राप्त करता है।[10a]

साधारण परिचलन में पण्यों का मूल्य जो स्वतंत्र रूप – अर्थात् द्रव्य-रूप – धारण कर लेता है, वह केवल एक ही काम में आता है यानी वह केवल उनके विनिमय के काम में आता है और गति संपूर्ण हो जाने पर ग़ायब हो जाता है। इसके विपरीत परिचलन $M - C - M$ में द्रव्य और पण्य दोनों केवल मूल्य के ही दो भिन्न अस्तित्व-रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं: द्रव्य उसके सामान्य रूप का प्रतिनिधित्व करता है; पण्य उसके विशिष्ट रूप का, या यूं कहिये कि उसके छद्म-रूप का प्रतिनिधित्व करता है।[11] मूल्य लगातार एक रूप को छोड़कर दूसरा रूप ग्रहण करता जाता है, पर इस कारण उसका कभी लोप नहीं होता, और इस प्रकार वह ख़ुद ब ख़ुद ही एक सक्रिय स्वरूप धारण कर लेता है। अपने आप विस्तार करनेवाला यह मूल्य अपने जीवन-क्रम के दौरान बारी-बारी से जो दो अलग-अलग रूप धारण करता है, उनमें से प्रत्येक को यदि हम अलग-अलग लें, तो हमें ये दो स्थापनाएं प्राप्त होती हैं: एक यह कि पूंजी

---

[7] व्यापार करनेवाले पूंजीपति का अंतिम लक्ष्य पण्य (यहां इस शब्द का प्रयोग उपयोग-मूल्यों के अर्थ में किया गया है) नहीं होते; उसका अंतिम लक्ष्य द्रव्य होता है।" (Th. Chalmers, *On Political Economy etc*, 2nd Ed., Glasgow, 1832, pp. 165, 166.)

[8] "व्यापारी जो मुनाफ़ा कमा चुका होता है, उसकी उसे बहुत कम परवाह होती है या बिल्कुल ही नहीं होती, क्योंकि वह तो सदा और मुनाफ़ा कमाने की आशा में रहता है।" (A. Genovesi, *Lezioni di Economia Civile* (1765), इतालवी अर्थशास्त्रियों का कुस्तोदी संस्करण, Parte Moderna, t. VIII, p. 139.)

[9] "कभी न बुझनेवाली नफ़े की चाह, वह auri sacra fames [सोने की घिनौनी भूख] पूंजीपतियों का सदा पथप्रदर्शन करती रहेगी।" (MacCulloch, *The Principles of Political Economy*, London, 1830, p. 179.) परंतु यह मत उन्हीं मैककुलोच और उनकी तरह के अन्य लोगों को मसलन अत्युत्पादन के प्रश्न के विवेचन के दौरान सैद्धांतिक कठिनाइयों में फंस जाने पर इसी पूंजीपति को एक ऐसे सच्चरित्र नागरिक में बदल डालने से नहीं रोकता, जिसे केवल उपयोग-मूल्यों की ही चिंता है और जिसमें यहां तक कि जूतों, टोपियों, अंडों और कपड़े की तथा अन्य बहुत ही जाने-पहचाने ढंग के उपयोग-मूल्यों की अतृप्त भूख पैदा हो जाती है।

[10] Σώζειν [बचाना] अपसंचय के लिए यूनानी भाषा का प्रचलित शब्द है; अंग्रेज़ी भाषा के to save का भी वही दोहरा अर्थ होता है: बचाना और सुरक्षित रखना।

[10a] "सीधे आगे की ओर चलनेवाली वस्तुओं में जो अनंतता नहीं होती वह उनमें उस वक़्त आ जाती है, जब वे घूमने लगती हैं।" (Galiani, [l.c., p. 156.])

[11] "भौतिक पदार्थ पूंजी नहीं होता, भौतिक पदार्थ का मूल्य पूंजी होता है" (J. B. Say, *Traité d'Économie Politique*, 3ème éd., Paris, 1817, t. II, p. 429.)

द्रव्य होती है, और दूसरी यह कि पूंजी पण्य होती है।[12] किंतु वास्तव में मूल्य यहां पर एक ऐसी प्रक्रिया का सक्रिय तत्त्व है, जिसमें वह बारी-बारी से लगातार द्रव्य और पण्यों का रूप धारण करने के साथ-साथ ख़ुद अपने परिमाण को बदल डालता है और अपने में से बेशी मूल्य को उत्पन्न करके ख़ुद अपने में भेद पैदा कर देता है; दूसरे शब्दों में, यह ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें मूल मूल्य स्वयंस्फूर्त ढंग से विस्तार करता जाता है। क्योंकि जिस गति के दौरान उसमें बेशी मूल्य जुड़ जाता है, वह उसकी अपनी गति होती है, इसलिए उसका विस्तार स्वचालित विस्तार होता है। चूंकि वह मूल्य है, इसलिए उसमें ख़ुद अपने में मूल्य जोड़ लेने का अलौकिक गुण पैदा हो गया है। यह जीवित संतान पैदा करता है, या यूं कहिये कि कम से कम सोने के अंडे तो देता है।

अतः मूल्य चूंकि एक ऐसी प्रक्रिया का सक्रिय तत्त्व है और चूंकि वह कभी द्रव्य का और कभी पण्यों का रूप धारण करता रहता है, लेकिन इन तमाम परिवर्तनों के बावजूद ख़ुद सुरक्षित रहता है और विस्तार करता जाता है, इसलिए उसे किसी ऐसे स्वतंत्र रूप की आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा उसे किसी भी समय पहचाना जा सके। और ऐसा रूप उसे केवल द्रव्य की शक्ल में ही प्राप्त होता है। द्रव्य के रूप में ही मूल्य ख़ुद अपने स्वतः जनन की प्रत्येक क्रिया का श्रीगणेश करता है, उसे समाप्त करता है और उसे फिर से आरंभ करता है। उसने शुरू किया था १०० पाउंड की शक्ल में, अब वह ११० पाउंड हो गया है, और यह क्रम आगे भी इसी तरह चलता जायेगा। लेकिन ख़ुद द्रव्य मूल्य के दो रूपों में से केवल एक है। जब तक वह किसी पण्य का रूप नहीं धारण करता, तब तक वह पूंजी नहीं बनता। अपसंचय जैसे यहां भी द्रव्य और पण्यों के बीच कोई विरोध नहीं है। पूंजीपति जानता है कि सभी पण्य, वे चाहे जितने भद्दे दिखायी देते हों या उनमें से चाहे जितनी बदबू आती हो, सचमुच और वास्तव में द्रव्य होते हैं, वे अंदर से ख़तना किये हुए शुद्ध यहूदी होते हैं, और उससे भी बड़ी बात यह है कि वे द्रव्य से और अधिक द्रव्य बनाने का आश्चर्यजनक साधन होते हैं।

साधारण परिचलन $C—M—C$ में पण्यों के मूल्य ने अधिक से अधिक एक ऐसा रूप प्राप्त किया था, जो उनके उपयोग-मूल्यों से स्वतंत्र होता है, यानी उसने द्रव्य का रूप प्राप्त किया था। लेकिन वही मूल्य अब परिचलन $M—C—M$ में, या पूंजी के परिचलन में, यकायक एक ऐसे स्वतंत्र पदार्थ के रूप में सामने आता है, जिसकी स्वयं अपनी गति होती है और जो स्वयं अपने एक ऐसे जीवन-क्रम में से गुज़रता है, जिसमें द्रव्य और पण्य उसके रूप मात्र होते हैं, जिनको वह बारी-बारी से ग्रहण करता और त्यागता रहता है। यही नहीं, केवल पण्यों के संबंधों का प्रतिनिधित्व करने के बजाय वह अब मानो ख़ुद अपने साथ निजी संबंध स्थापित कर लेता है। वह मूल मूल्य के रूप में अपने को बेशी मूल्य के रूप में ख़ुद अपने से अलग कर लेता है, जैसे कि ईसाई धर्म के अनुसार भगवान पिता अपने को भगवान पुत्र के रूप में अपने से अलग करता है, मगर फिर भी दोनों एक ही रहते हैं और दोनों की आयु भी एक सी होती है। कारण कि शुरू में लगाये गये १०० पाउंड १० पाउंड के बेशी मूल्य के द्वारा ही पूंजी बनते

---

[12] "वस्तुओं का उत्पादन करने में इस्तेमाल होनेवाली मुद्रा (!)... पूंजी होती है।" (Macleod, *The Theory and Practice of Banking*, London, 1855, Vol. I, Ch. 1, p. 55.) "पूंजी पण्य होती है।" (James Mill, *Elements of Political Economy*, London, 1821, p. 74.)

हैं, और जैसे ही यह होता है, यानी जैसे ही पुत्र, और पुत्र के द्वारा पिता उत्पन्न होता है, वैसे ही उनका अंतर मिट जाता है और वे फिर एक – यानी ११० पाउंड – हो जाते हैं।

अतः मूल्य अब कार्यरत मूल्य, अथवा कार्यरत द्रव्य, हो जाता है, और इस रूप में वह पूंजी होता है। वह परिचलन के बाहर आता है, उसमें फिर प्रवेश करता है, अपने परिपथ के भीतर अपने को सुरक्षित रखता है और अपना गुणन करता है, पहले से बढ़ा हुआ आकार लेकर फिर परिचलन के बाहर आता है और फिर इसी क्रम को नये सिरे से आरंभ कर देता है।[13] $M—M'$, यानी वह द्रव्य, जो द्रव्य को जन्म देता है – पूंजी के पहले व्याख्याकारों ने, यानी वाणिज्यवादियों ने, पूंजी की यही व्याख्या की है।

बेचने के लिए ख़रीदना, या ज्यादा सही ढंग से कहा जाये, तो महंगे दामों पर बेचने के लिए खरीदना, अर्थात् $M—C—M'$, निश्चय ही एक ऐसा रूप प्रतीत होता है, जो केवल एक ढंग की पूंजी की – यानी व्यापारी पूंजी की – ही विशेषता है। लेकिन औद्योगिक पूंजी भी ऐसा द्रव्य होता है, जो पण्यों में बदला जाता है और इन पण्यों की बिक्री के ज़रिये जो फिर पहले से अधिक द्रव्य में बदल जाता है। परिचलन के क्षेत्र के बाहर, यानी ख़रीदने और बेचने के बीच के समय में, जो घटनाएं होती हैं, उनका इस गति के रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अंतिम बात यह है कि जब सब्याज पूंजी का सवाल होता है, तब परिचलन $M—C—M'$ संक्षिप्त हो जाता है। उसका परिणाम बिना किसी बीच की अवस्था के ही मानो "en style lapidaire" ["नगीनासाज़ी के ढंग से"] $M—M'$ के रूप में, यानी उस द्रव्य के रूप में, जो अपने से अधिक द्रव्य के बराबर होता है, या उस मूल्य के रूप में, जो ख़ुद अपने से बड़ा होता है, हमारे सामने आ जाता है।

अतः परिचलन के क्षेत्र के भीतर पूंजी prima facie [पहली दृष्टि में] जिस तरह प्रकट होती है, $M—C—M'$ वास्तव में उसका सामान्य सूत्र है।

---

[13] पूंजी : "संचित धन का एक फलोत्पादक भाग . . . स्थायी रूप से स्वयं अपना गुणन करनेवाला मूल्य।" (Sismondi, *Nouveaux Principes d'Économie Politique*, t. 1, pp. 88, 89.)

अध्याय ५

पूंजी के सामान्य सूत्र के विरोध

द्रव्य के पूंजी बन जाने पर परिचलन जो रूप धारण करता है, वह पण्यों, मूल्य और द्रव्य, और यहां तक कि स्वयं परिचलन के स्वभाव से संबंध रखनेवाले उन तमाम नियमों का विरोध करता है, जिनका हमने अभी तक अध्ययन किया है। इस रूप और पण्यों के साधारण परिचलन के रूप में ख़ास अंतर यह है कि दोनों में वे दो परस्पर विरोधी क्रियाएं – विक्रय और क्रय – एक दूसरे के उल्टे क्रम में संपन्न होती हैं। यह विशुद्ध रस्मी अंतर इन प्रक्रियाओं के स्वभाव को मानो जादू के ज़ोर से बदल कैसे देता है?

पर बात इतनी ही नहीं है। जो तीन व्यक्ति मिलकर व्यवसाय करते हैं, उनमें से दो के लिए यह उल्टा रूप कोई अस्तित्व नहीं रखता। पूंजीपति के रूप में मैं क से पण्य ख़रीदता हूं और ख के हाथ उनको फिर बेच देता हूं, लेकिन पण्यों के साधारण मालिक के रूप में मैं उनको ख के हाथ बेचता हूं और फिर क से नये पण्य ख़रीद लेता हूं। क और ख को इन दो तरह के सौदों में कोई भेद नहीं दिखायी देता। वे तो मात्र ग्राहक या विक्रेता ही रहते हैं। और मैं हर बार या तो द्रव्य के, या पण्यों के मात्र मालिक के रूप में, यानी या तो ख़रीदार की तरह या बेचनेवाले की तरह, उनसे मिलता हूं। और इससे भी बड़ी बात यह है कि दोनों तरह के सौदों में मैं क का केवल ख़रीदार के रूप में और ख का केवल बेचनेवाले के रूप में सामना करता हूं; मैं एक का सामना केवल द्रव्य के रूप में करता हूं और दूसरे का केवल पण्यों के रूप में। पर मैं पूंजी या पूंजीपति के रूप में, या किसी ऐसी चीज़ के प्रतिनिधि के रूप में दोनों में से किसी का सामना नहीं करता, जो द्रव्य अथवा पण्यों से अधिक कुछ हो, या जो द्रव्य और पण्यों से भिन्न कोई प्रभाव डाल सकती हो। मेरे लिए क से ख़रीदना और ख के हाथ बेचना एक क्रम के भाग हैं। लेकिन इन दो कार्यों के बीच जो संबंध है, उसका अस्तित्व केवल मेरे ही लिए है। क को इसकी कोई चिंता नहीं है कि ख के साथ मैंने क्या सौदा किया है, न ही ख को इसकी कोई परवाह है कि क के साथ मैंने क्या लेन-देन किया है। और यदि मैं उनको यह समझाने लग जाऊं कि प्रक्रियाओं के क्रम को उलटकर मैंने बहुत प्रशंसनीय काम किया है, तो वे शायद मुझसे यह कहेंगे कि जहां तक क्रियाओं के क्रम का संबंध है, मैं ग़लती कर रहा हूं, क्योंकि पूरा सौदा क्रय से आरंभ होने और विक्रय पर ख़त्म होने के बजाय उसके विपरीत विक्रय से आरंभ हुआ था और क्रय के साथ ख़त्म हुआ है। और सचमुच मेरा पहला काम, अर्थात् क्रय, क के दृष्टिकोण से विक्रय था, और मेरा दूसरा कार्य, अर्थात् विक्रय, ख के दृष्टिकोण से क्रय था। इतने से संतुष्ट न होकर क और ख यह घोषणा करेंगे कि पूरा क्रम अनावश्यक और बाज़ीगरी के सिवा और कुछ नहीं है, और आगे से क सीधे ख से ख़रीदेगा और ख सीधे क के हाथ बेचेगा। इस प्रकार पूरा सौदा अकेले एक कार्य में परिणत हो

जायेगा, जो पण्यों के साधारण परिचलन की एक अलग-अलग, अपूरित अवस्था होगी और जो क के दृष्टिकोण से मात्र विक्रय और ख के दृष्टिकोण से महज़ क्रय होगी। इसलिए क्रियाओं के क्रम के उलट जाने से हम पण्यों के साधारण परिचलन के क्षेत्र के बाहर नहीं चले जाते, और इसलिए बेहतर होगा कि हम यह देखें कि क्या इस साधारण परिचलन में कोई ऐसी चीज़ है, जो परिचलन में प्रवेश करनेवाले मूल्य को परिचलन के दौरान ही विस्तार की संभावना देती है और इसके फलस्वरूप बेशी मूल्य का सृजन संभव बनाती है।

आइये, हम परिचलन की क्रिया के उस रूप को लें, जिसमें वह पण्यों के सीधे विनिमय की शक्ल में सामने आती है। यह सदा उस समय होता है, जब पण्यों के दो मालिक एक दूसरे से ख़रीदते हैं और जब हिसाब साफ़ करने के दिन दोनों को बराबर-बराबर रक़म एक दूसरे को देनी होती है और इस तरह हिसाब चुकता हो जाता है। इस सूरत में द्रव्य लेखा-द्रव्य होता है और पण्यों का मूल्य उनके दामों के द्वारा व्यक्त करने के काम में आता है, परंतु वह ख़ुद, नक़दी के रूप में, उनके सामने नहीं आता है। जहां तक उपयोग-मूल्यों का संबंध है, ज़ाहिर है कि इस तरह दोनों पक्षों को कुछ लाभ हो सकता है। दोनों ऐसी वस्तुओं को अपने से अलग कर देते हैं, जो उपयोग-मूल्यों के रूप में उनके किसी काम की नहीं हैं, और दोनों को ऐसी वस्तुएं मिल जाती हैं, जिनका वे उपयोग कर सकते हैं। तथा एक और लाभ भी हो सकता है। क, जो कि शराब बेचता है और अनाज ख़रीदता है, एक निश्चित श्रम-काल में संभवतया ख नामक काश्तकार की अपेक्षा अधिक शराब पैदा कर लेता है, और दूसरी ओर, ख अंगूर की खेती करनेवाले क की अपेक्षा उतने ही श्रम-काल में ज्यादा अनाज पैदा कर लेता है। इसलिए क और ख को बिना विनिमय किये ख़ुद अपना अनाज और ख़ुद अपनी शराब पैदा करने पर जितना अनाज और शराब मिलती, उसकी अपेक्षा विनिमय के द्वारा क को उतने ही विनिमय-मूल्य के बदले में ज्यादा अनाज और ख को ज्यादा शराब मिल सकती है। अतएव जहां तक उपयोग-मूल्य का संबंध है, यह कहने के लिए काफ़ी मज़बूत आधार है कि "विनिमय एक ऐसा सौदा है, जिससे दोनों पक्षों को लाभ होता है।"[14] विनिमय-मूल्य की बात दूसरी है। "एक ऐसा आदमी, जिसके पास बहुत सी शराब है और अनाज बिल्कुल नहीं है, एक ऐसे आदमी के साथ सौदा करता है, जिसके पास बहुत सा अनाज है और शराब ज़रा भी नहीं है; उनके बीच ५० के मूल्य के अनाज का उसी मूल्य की शराब के साथ विनिमय हो जाता है। इस कार्य से दोनों पक्षों में से किसी के पास मूल्य की वृद्धि नहीं होती, क्योंकि उनमें से हरेक को इस विनिमय के द्वारा जितना मूल्य मिला है, उसके बराबर मूल्य विनिमय के पहले ही उसके पास मौजूद था।"[15] परिचलन के माध्यम के रूप में द्रव्य को पण्यों के बीच में डाल देने और विक्रय और क्रय को दो अलग-अलग कार्य बना देने से भी नतीजे में कोई तब्दीली नहीं होती।[16] किसी भी पण्य का मूल्य उसके परिचलन में जाने के पहले दाम के रूप में व्यक्त

---

[14] "विनिमय एक प्रशंसनीय सौदा है, जिससे सौदा करनेवाले दोनों पक्षों को लाभ होता है – हमेशा (!)" (Destutt de Tracy, *Traité de la Volonté et de ses Effets*, Paris, 1826, p. 68.) बाद को यह रचना *Traité d'Économie Politique* शीर्षक से प्रकाशित हुई थी।

[15] Mercier de la Rivière, l. c., p. 544.

[16] "इसका तनिक भी महत्त्व नहीं कि इन दो मूल्यों में एक द्रव्य है या दोनों साधारण वाणिज्य-वस्तुएं हैं।" (Mercier de la Riviére, l. c., p. 543.)

किया जाता है; और उसके मूल्य का दाम के रूप में व्यक्त होना परिचलन का परिणाम नहीं होता, बल्कि उसकी पूर्वगामी शर्त होता है।[17]

यदि इस विषय पर अमूर्त ढंग से विचार किया जाये, यानी यदि विनिमय को उन परिस्थितियों से अलग करके देखा जाये, जो पण्यों के साधारण परिचलन के नियमों से तत्काल ही उत्पन्न नहीं होती हैं, तो विनिमय में (अगर हम एक उपयोग-मूल्य के स्थान पर दूसरे उपयोग-मूल्य के आने की ओर ध्यान न दें) एक रूपांतरण के सिवा, पण्य के रूप में महज़ एक परिवर्तन के सिवा और कुछ नहीं होता। पण्य के मालिक के हाथों में बराबर वही विनिमय-मूल्य, अर्थात् मूर्त बने सामाजिक श्रम की वही मात्रा रहती है—पहले उसके अपने पण्य के रूप में, फिर उस द्रव्य के रूप में, जिसके साथ वह अपने पण्य का विनिमय करता है, और अंत में उस पण्य के रूप में, जो वह उस द्रव्य से ख़रीदता है। इस रूप-परिवर्तन का यह मतलब नहीं है कि मूल्य के परिमाण में भी परिवर्तन हो जाता है। बल्कि इस प्रक्रिया में पण्य के मूल्य में होनेवाला परिवर्तन केवल उसके द्रव्य-रूप के परिवर्तन तक ही सीमित होता है। यह द्रव्य-रूप पहले बिक्री के लिए पेश किये गये पण्य के दाम की शक्ल में होता है, फिर वह द्रव्य की एक वास्तविक रक़म की शक्ल अख़्तियार करता है, जो पहले से ही दाम की शक्ल में अभिव्यक्त हो चुकी होती है, और अंत में वह एक समतुल्य पण्य के दाम के रूप में सामने आता है। जिस प्रकार ५ पाउंड के नोट को गिन्नियों, अधगिन्नियों और शिलिंगों में बदल डालने से उसके मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार इस अकेले रूप-परिवर्तन से भी मूल्य की मात्रा में कोई तब्दीली नहीं होती। इसलिए जहां तक पण्यों के परिचलन का केवल उनके मूल्यों के रूप पर ही प्रभाव पड़ता है और जहां तक वह गड़बड़ पैदा करनेवाले दूसरे प्रभावों से मुक्त होता है, वहां तक वह अनिवार्य रूप से केवल समतुल्यों का विनिमय ही होता है। सतही अर्थशास्त्र मूल्य के स्वभाव के बारे में बहुत कम जानकारी रखता है, पर वह भी जब कभी परिचलन की क्रिया के शुद्ध रूप पर विचार करना चाहता है, तब सदा यह मानकर चलता है कि पूर्ति और मांग बराबर हैं, जिसका मतलब यह है कि उनका असर शून्य है। इसलिए जहां तक उपयोग-मूल्यों का विनिमय होता है, वहां तक अगर यह संभव है कि ग्राहक और विक्रेता दोनों का कुछ लाभ हो जाये, तो विनिमय-मूल्यों के लिए यह बात सच नहीं है। यहां तो बल्कि हमें यह कहना पड़ेगा कि "जहां समानता होती है, वहां लाभ नहीं हो सकता।"[18] यह सच है कि पण्यों को उनके मूल्यों से भिन्न दामों पर बेचना संभव हो सकता है, लेकिन इन प्रकार के विचलन को पण्यों के विनिमय के नियमों का व्यतिक्रमण समझा जाना चाहिए,[19] क्योंकि पण्यों का विनिमय अपनी सामान्य अवस्था में समतुल्यों का विनिमय होता है और इसलिए वह मूल्य में वृद्धि करने का तरीक़ा नहीं हो सकता।[20]

---

[17] "सौदा करनेवाले पक्ष मूल्य को निर्धारित नहीं करते; वह तो सौदा होने के पहले से ही निर्धारित रहता है।" (Le Trosne, l. c., p. 906.)

[18] "जहां समानता होती है, वहां लाभ नहीं हो सकता।" (Galiani, *Della Moneta*, Custodi, Parte Moderna, t. IV, p. 244.)

[19] "जब किसी बाहरी कारण से दाम घट या बढ़ जाते हैं, तब विनिमय से किसी एक पक्ष को हानि हो सकती है; तब समानता का व्यतिक्रमण हो जाता है, लेकिन यह व्यतिक्रमण विनिमय का नहीं, उपरोक्त बाहरी कारण का फल होता है।" (Le Trosne, l. c., p. 904.)

[20] "विनिमय अपने स्वभाव से ही एक ऐसा क़रार है, जो समानता के आधार पर होता

अतएव पण्यों के परिचलन को बेशी मूल्य का स्रोत बताने की तमाम कोशिशों के पीछे quid pro quo [गड़बड़] का भाव, उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य को आपस में गड़बड़ा देने का भाव छिपा रहता है। उदाहरण के लिए, कोंदिलैक ने लिखा है: "यह सच नहीं है कि पण्यों का विनिमय करने पर हम मूल्य के बदले में मूल्य देते हैं। इसके विपरीत, सौदा करने-वाले दो पक्षों में से प्रत्येक हर सूरत में अधिक मूल्य के बदले में कम मूल्य देता है... यदि हम सचमुच समान मूल्यों का विनिमय करने लगें, तो किसी पक्ष का लाभ न होगा। परंतु, वास्तव में, तो दोनों पक्षों को लाभ होता है, या होना चाहिए। क्यों? किसी भी चीज़ का मूल्य केवल हमारी आवश्यकताओं के संबंध में होता है। जो एक के लिए अधिक है, वह दूसरे के लिए कम होता है, और इसके विपरीत बात भी सच है... यह मानकर नहीं चलना चाहिए कि हम बिक्री के लिए उन चीज़ों को पेश करते हैं, जिनकी हमें ख़ुद अपने उपयोग के लिए आवश्यकता होती है... हम तो एक उपयोगहीन वस्तु देकर कोई ऐसी वस्तु पाना चाहते हैं, जिसकी हमें आवश्यकता होती है; हम तो अधिक के बदले में कम देना चाहते हैं... जब कभी विनिमय की जानेवाली प्रत्येक वस्तु मूल्य में सोने की एक समान मात्रा के बराबर होती है, तब स्वाभाविक रूप से यह समझा जाता है कि विनिमय में मूल्य के बदले में मूल्य दिया जाता है... लेकिन अपना हिसाब लगाते हुए हमें एक और बात भी ध्यान में रखनी चाहिए। सवाल यह है: क्या हम दोनों ही किसी अनावश्यक वस्तु का किसी आवश्यक वस्तु के साथ विनिमय नहीं कर रहे हैं?"[21] इस अंश से स्पष्ट है कि कोंदिलैक न केवल उपयोग-मूल्य को विनिमय-मूल्य के साथ गड़बड़ा देते हैं, बल्कि सचमुच बड़े बचकाने ढंग से यह मानकर चलते हैं कि एक ऐसे समाज में, जिसमें पण्यों के उत्पादन का अच्छी तरह विकास हो चुका है, प्रत्येक उत्पादक ख़ुद अपने जीवन-निर्वाह के साधनों को पैदा करता है, और जितना उसकी आवश्यक-ताओं से अधिक होता है, केवल उतना ही वह परिचलन में डालता है।[22] फिर भी आधुनिक अर्थशास्त्री अकसर कोंदिलैक की दलीलों को दोहराया करते हैं, ख़ास तौर पर उस वक़्त, जब उनको यह सिद्ध करना होता है कि पण्यों का विनिमय अपने विकसित रूप में, या यूं कहिये कि व्यापार में, बेशी मूल्य पैदा करता है। उदाहरण के लिए देखिये: "व्यापार... उत्पाद में मूल्य जोड़ देता है, क्योंकि उसी उत्पाद का उत्पादक के हाथ में जितना मूल्य होता है, उपभोगी

है और जिसमें एक मूल्य का समान मूल्य के साथ विनिमय किया जाता है। चुनांचे, वह ऐसा तरीक़ा नहीं है, जिसके ज़रिये कोई धनी बन सकता हो, क्योंकि उसे जितना मिलता है, उतना ही देना भी पड़ जाता है।" (Le Trosne, l. c., p. 903.)

[21] Condillac, *Le Commerce et le Gouvernement* (1776); देखें *Mélanges d'Économic Politique*, Paris, 1847, pp. 267, 290-291, édit, Daire et Molinari.

[22] इसलिए ले त्रोन अपने मित्र कोंदिलैक को ठीक ही यह जवाब देते हैं कि "जिस तरह की अति बहुतायत आप मानकर चलते हैं, वह विकसित समाज में नहीं होती।" साथ ही वह व्यंग्यपूर्ण ढंग से कहते हैं कि "यदि विनिमय करनेवाले दोनों व्यक्तियों को समान मात्रा से ज्यादा मिलता है और दोनों को समान मात्रा से कम देना पड़ता है, तो दोनों को समान मात्रा ही मिलती है"। कोंदिलैक को चूंकि विनिमय-मूल्य के स्वभाव का लेश मात्रा भी ज्ञान नहीं है, इसीलिए श्री प्रोफ़ेसर विल्हेल्म रोशर ने उनको अपने बचकाने विचारों की अकाट्यता का ज़ामिन बनने के लिए सबसे योग्य व्यक्ति समझा है। देखिये रोशर की रचना *Die Grundlagen der Nationalökonomie*, dritte Auflage, 1858.

के हाथ में पहुंचकर उससे अधिक मूल्य हो जाता है। इसलिए व्यापार को असल में एक उत्पादन-कार्य ही समझना चाहिए।"[23] लेकिन पण्यों की क़ीमत दो बार नहीं चुकायी जाती; ऐसा नहीं होता कि एक बार पण्यों के उपयोग-मूल्य की क़ीमत चुकायी जाये और दूसरी बार उनके मूल्य की। हालांकि पण्य का उपयोग-मूल्य विक्रेता की अपेक्षा ग्राहक के ज्यादा काम में आता है, परंतु उसका द्रव्य-रूप विक्रेता के लिए ज्यादा उपयोगी होता है। अन्यथा वह क्या उसे बेचने को तैयार होता? इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि ग्राहक, मिसाल के लिए, मोज़ों को द्रव्य में बदलकर "वास्तव में एक उत्पादन-कार्य ही करता है"।

यदि समान विनिमय-मूल्य के पण्यों का अथवा पण्यों और द्रव्य का विनिमय किया जाता है, यानी यदि समतुल्यों का विनिमय किया जाता है, तो यह बात स्पष्ट है कि कोई भी आदमी परिचलन में जितना मूल्य डालता है, उससे अधिक मूल्य वह उसमें से नहीं निकालता। इस तरह कोई बेशी मूल्य पैदा नहीं होता। अपने प्रकृत रूप में पण्यों का परिचलन समतुल्यों के विनिमय की मांग करता है। लेकिन वास्तविक व्यवहार में प्रक्रिया का प्रकृत रूप क़ायम नहीं रहता। इसलिए आइये, अब हम ग़ैर-समतुल्यों को विनिमय का आधार मानकर चलें।

हर हालत में पण्यों की मंडी में केवल पण्यों के मालिक ही आते-जाते हैं, और ये लोग आपस में एक दूसरे को जितना अपने प्रभाव में ला पाते हैं, वह उनके पण्यों के प्रभाव के सिवा और कुछ नहीं होता। इन पण्यों की भौतिक विभिन्नता विनिमय-कार्य की भौतिक प्रेरणा का काम करती है और ग्राहकों तथा विक्रेताओं को पारस्परिक ढंग से एक दूसरे पर निर्भर बना देती है, क्योंकि उनमें से किसी के पास वह वस्तु नहीं होती, जिसकी उसे ख़ुद आवश्यकता होती है, और हरेक के पास वह वस्तु होती है, जिसकी किसी दूसरे व्यक्ति को आवश्यकता होती है। पण्यों के उपयोग-मूल्यों में ये जो भौतिक भेद होते हैं, उनके अलावा पण्यों में केवल एक ही भेद और होता है। वह है उनके शारीरिक रूप तथा उस रूप का भेद, जिसमें वे बिक्री के फलस्वरूप बदल दिये जाते हैं, यानी वह पण्यों और द्रव्य का अंतर होता है। इसलिए पण्यों के मालिकों में आपस में केवल एक यही भेद होता है कि उनमें से कुछ विक्रेता, या पण्यों के मालिक, और कुछ ग्राहक, या द्रव्य के मालिक, होते हैं।

अब मान लीजिये कि किसी अव्याख्येय विशेष सुविधा के कारण विक्रेता अपने पण्यों को उनके मूल्य से अधिक में बेचने में सफल हो जाता है और जिसकी क़ीमत १०० है, उसे वह ११० में बेच डालता है। इस सूरत में दाम में कहने को १० प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। चुनांचे विक्रेता १० का बेशी मूल्य अपनी जेब में डाल लेता है। लेकिन बेचने के बाद वह ग्राहक बन जाता है। अब पण्यों का एक तीसरा मालिक बेचनेवाले के रूप में उसके पास आता है, और इस रूप में उसको भी अपना पण्य १० प्रतिशत महंगे दामों में बेचने की सुविधा प्राप्त होती है। सो हमारे मित्र ने विक्रेता के रूप में जो १० कमाये थे, उनको वह ग्राहक के रूप में फिर खो देता है।[24] कुल नतीजा यह निकलता है कि पण्यों के तमाम मालिक एक दूसरे को अपना

---

[23] S. Ph. Newman, *Elements of Political Economy*, Andover and New York, 1835, p. 175.

[24] "उत्पाद के अंकित मूल्य में वृद्धि हो जाने से ... विक्रेताओं का धन नहीं बढ़ता... क्योंकि विक्रेताओं के रूप में उनको जो नफ़ा होता है, ठीक वही वे ग्राहकों के रूप में ख़र्च कर डालते हैं।" ([J. Gray] *The Essential Principles of the Wealth of Nations etc.*, London, 1797, p. 66.)

पण्य उसके मूल्य से १० प्रतिशत अधिक में बेच देते हैं; बात वहीं की वहीं आ जाती है, मानो उन सबने अपना-अपना पण्य सही मूल्य पर बेचा हो। दामों में ऐसी सामान्य एवं नामिक वृद्धि हो जाने का ठीक वही परिणाम होता है, जैसे मूल्यों को बजाय सोने के वज़न के चांदी के वज़न में अभिव्यक्त किया जाने लगा हो। यानी पण्यों के अंकित दाम बढ़ जायेंगे, लेकिन उनके मूल्यों के बीच जो वास्तविक संबंध है, वह ज्यों का त्यों रहेगा।

अब उसकी उल्टी बात मानकर चलिए कि ग्राहक को पण्यों को उनके मूल्य से कम में ख़रीदने की सुविधा प्राप्त है। इस सूरत में यह याद रखना ज़रूरी नहीं है कि ग्राहक भी अपनी बारी आने पर बेचनेवाला बन जायेगा। वह तो ग्राहक बनने के पहले ही विक्रेता था। ग्राहक के रूप में १० प्रतिशत का नफ़ा कमाने के पहले ही वह बेचते समय १० प्रतिशत का नुक़सान उठा चुका है।[25] यानी बात वही रहती है, जो पहले थी।

अतएव बेशी मूल्य के सृजन की और इसलिए द्रव्य के पूंजी में बदल जाने की न तो यह मानकर व्याख्या की जा सकती है कि पण्यों को उनके मूल्य से अधिक में बेचा जाता है, और न ही यह मानकर कि पण्यों को उनके मूल्य से कम में ख़रीदा जाता है।[26]

कर्नल टॉरेन्स की तरह अप्रासंगिक बातों को बीच में लाकर भी समस्या को किसी तरह सुगम नहीं बनाया जा सकता। कर्नल टॉरेन्स ने लिखा है: "प्रभावी मांग उसे कहते हैं, जब उपभोक्ताओं में या तो सीधी, या पेचदार अदला-बदली के द्वारा पण्यों के लिए उनके उत्पादन की लागत से अधिक बड़ी पूंजी का कोई भाग... देने की शक्ति एवं इच्छा (!) हो।"[27] जहां तक परिचलन का संबंध है, उत्पादक और उपभोक्ता केवल विक्रेताओं और ग्राहकों के रूप में ही मिलते हैं। यह दावा करना कि उत्पादक को जो बेशी मूल्य मिलता है, वह इस बात से पैदा होता है कि उपभोक्ता पण्यों के लिए उनके मूल्य से अधिक दे डालते हैं, यह तो दूसरे शब्दों में केवल यह कहने के समान है कि पण्यों के मालिक को विक्रेता के रूप में अधिक से अधिक महंगे दामों पर बेचने की विशेष सुविधा प्राप्त होती है। विक्रेता ने या तो ख़ुद पण्य पैदा किया है, या वह उसके उत्पादक का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन ग्राहक ने भी तो वह पण्य पैदा किया है, जिसका प्रतिनिधित्व उसका द्रव्य करता है, या वह उस पण्य के उत्पादक का प्रतिनिधित्व करता है। उनमें अंतर केवल यह है कि एक ख़रीदता है और दूसरा बेचता है। यह तथ्य कि पण्यों का मालिक उत्पादक के रूप में उनको उनके मूल्य से अधिक

---

[25] "यदि हम १८ लिव्र के बदले में किसी पैदावार की ऐसी मात्रा देने के लिए मजबूर हो जाते हैं, जिसकी क़ीमत २४ लिव्र है, तो जब हम इस द्रव्य को ख़रीदने के लिए उपयोग करेंगे, तब हमारी बारी आयेगी और हमें १८ लिव्र के बदले में २४ लिव्र की क़ीमत की चीज़ मिल जायेगी।" (Le Trosne, l. c., p. 897.)

[26] "इसलिए एक नियमित घटना की तरह कोई विक्रेता अपना सामान ज़रूरत से ज्यादा ऊंचे दामों पर उस वक़्त तक नहीं बेच सकता, जब तक कि वह अपनी बारी आने पर नियमित घटना की तरह दूसरे विक्रेताओं के सामान के लिए ज़रूरत से ज्यादा ऊंचे दाम देने को तैयार न हो; और इसी कारण, कोई उपभोक्ता, वह जो कुछ ख़रीदता है, उसके लिए एक नियमित घटना की तरह ज़रूरत से ज्यादा नीचे दाम उस वक़्त तक नहीं दे सकता, जब तक कि वह ख़ुद जो कुछ बेचता है, उसके लिए उतने ही कम दाम लेने के लिए राज़ी न हो।" (Mercier de la Rivière, l. c., p. 555.)

[27] R. Torrens, *An Essay on the Production of Wealth*, London, 1821, p. 349.

में बेचता है और उपभोक्ता के रूप में बहुत अधिक दाम चुकाता है, हमें एक क़दम भी आगे नहीं ले जाता।[28]

चुनांचे जो लोग इस भ्रम के समर्थक हैं कि बेशी मूल्य दामों में नाम मात्र का चढ़ाव आ जाने से या विक्रेता को प्राप्त महंगे दामों पर बेचने की विशेष सुविधा से उत्पन्न होता है, उनको अपनी बातों में संगति पैदा करने के लिए यह मानकर चलना चाहिए कि कोई ऐसा भी होता है, जो केवल ख़रीदता है और बेचता नहीं, यानी जो केवल उपभोग करता है और पैदा नहीं करता। अभी तक हम जिस दृष्टिकोण को अपनाये हुए हैं, उसके अनुसार यानी साधारण परिचलन के दृष्टिकोण से, ऐसे किसी वर्ग की उपस्थिति की व्याख्या नहीं की जा सकती। किंतु, एक क्षण के लिए अभी से मान लीजिये कि कोई ऐसा वर्ग है। यह वर्ग जिस द्रव्य से लगातार क्रय करता रहता है, वह बिना किसी विनिमय के, मुफ़्त में, चाहे किसी क़ानूनी अधिकार के प्रताप सें या चाहे लाठी के ज़ोर से, ख़ुद पण्यों के मालिकों की जेबों से निकलकर इस वर्ग की जेबों में लगातार आते रहना चाहिए। ऐसे किसी वर्ग के हाथ मूल्य से अधिक दामों में पण्य बेचना महज़ उस द्रव्य का एक अंश वापस ले लेना है, जो पहले ही उसे दे दिया गया था।[29] उदाहरण के लिए, एशिया-माइनर के शहर प्राचीन रोम को वार्षिक ख़िराज द्रव्य के रूप में दिया करते थे। और इस द्रव्य से रोम इन शहरों से विभिन्न प्रकार के पण्य ख़रीदा करता था, और बहुत महंगे दामों में ख़रीदा करता था। एशिया-माइनर के वासी व्यापार में रोमनों को धोखा देते थे, और इस तरह वे ख़िराज में जो द्रव्य देते थे, उसका एक भाग व्यापार द्वारा अपने विजेताओं से वापस ले लेते थे। फिर भी इस सब के बावजूद असल में पराजित लोग ही धोखा खाते थे। इस सबके बाद भी उनके पण्य के दाम ख़ुद उनके अपने द्रव्य से चुकाये जाते थे। यह न तो धनी बनने का तरीक़ा है और न बेशी मूल्य पैदा करने का।

इसलिए हमको विनिमय की सीमाओं के भीतर ही रहना चाहिए, जहां पर विक्रेता ग्राहक भी होते हैं और ग्राहक विक्रेता भी। संभव है कि हमारी कठिनाई इस बात से पैदा हुई हो कि हम अपने नाटक के पात्रों के साथ व्यक्तियों के बजाय मूर्तिमान आर्थिक परिकल्पनाओं जैसा व्यवहार कर रहे हैं।

यह मुमकिन है कि क इतना होशियार हो कि वह ख या ग से ज़्यादा दाम वसूल कर ले और ख या ग उसका बदला न ले पायें। मान लीजिये कि क ख को ४० पाउंड की शराब

---

[28] "यह विचार निश्चय ही बहुत बेतुका है कि मुनाफ़ा उपभोक्ताओं से मिलता है। ये उपभोक्ता हैं कौन?" (G. Ramsay, *An Essay on the Distribution of Wealth*, Edinburgh, 1836, p. 183.)

[29] "जब किसी आदमी को मांग की आवश्यकता होती है, तब क्या मि० माल्थस उसे यह सलाह देते हैं कि किसी को थोड़ा पैसा दे दो, ताकि वह तुम्हारा सामान ख़रीद ले?" —यह सवाल रिकार्डो का एक क्रुद्ध शिष्य माल्थस से करता है, जिसने अपने शिष्य पादरी चामर्स की तरह अर्थतंत्र के क्षेत्र में विशुद्ध ग्राहकों या विशुद्ध उपभोक्ताओं के इस वर्ग के महत्त्व का गुणगान किया है। (देखिये *An Inquiry into those Principles, Respecting the Nature of Demand and the Necessity of Consumption, lately advocated by Mr. Malthus etc.*, London, 1821, p. 55.)

बेच देता है और उसके बदले में ख से ५० पाउंड के मूल्य का अनाज ले लेता है। इस तरह क अपने ४० पाउंड को ५० पाउंड में बदल डालता है, कम द्रव्य से ज़्यादा द्रव्य कमा लेता है और इस तरह अपने पण्यों को पूंजी में बदल लेता है। आइये, इस घटना पर थोड़ा और गहराई में जाकर विचार करें। विनिमय के पहले क के पास ४० पाउंड की क़ीमत की शराब थी और ख के पास ५० पाउंड की क़ीमत का अनाज था, यानी दोनों के पास कुल मूल्य ६० पाउंड के बराबर था। विनिमय के बाद भी यह कुल मूल्य वही ६० पाउंड का रहता है। परिचलन में भाग लेनेवाले मूल्य में तनिक भी वृद्धि नहीं होती, क और ख के बीच केवल उसका वितरण पहले से कुछ भिन्न हो जाता है। जो ख के लिए मूल्य की हानि है, वह क के लिए बेशी मूल्य है। जो एक के लिए "ऋण" है, वह दूसरे के लिए "धन" है। यदि क बिना विनिमय की रस्म के सीधे-सीधे ख के १० पाउंड चुरा लेता, तो भी यही परिवर्तन होता। जिस प्रकार कोई यहूदी रानी ऐन के ज़माने की फ़ार्दिंग को एक गिन्नी में बेचकर देश में मौजूद बहुमूल्य धातुओं की मात्रा में कोई तब्दीली नहीं ला सकता, उसी प्रकार परिचलन में भाग लेनेवाले मूल्यों के वितरण में परिवर्तन करके उनके जोड़ में कोई वृद्धि नहीं की जा सकती। किसी भी देश में पूरे का पूरा पूंजीपति-वर्ग ख़ुद अपने को धोखा देकर अधिक धनी नहीं बन सकता।[30]

हम चाहे जितना छटपटायें, चाहे जैसे भी तोड़ें-मरोड़ें, यह तथ्य नहीं बदलता। यदि समतुल्यों का विनिमय होता है, तो बेशी मूल्य नहीं पैदा होता, और यदि ग़ैर-समतुल्यों का विनिमय होता है, तो तब भी बेशी मूल्य नहीं पैदा होता।[31] परिचलन से, या पण्यों के विनिमय से, मूल्य नहीं पैदा होता।[32]

---

[30] देस्तु दे त्रेसी इंस्टीट्यूट [१७६५ में स्थापित 'फ़्रांस की इंस्टीट्यूट' नामक एक उच्च शिक्षा संस्थान – सं०] का सदस्य था, मगर फिर भी, या शायद इसीलिए, उसका मत उल्टा था। वह कहता है कि औद्योगिक पूंजीपति इसलिए मुनाफ़ा कमाते हैं कि "वे सब लागत से ज़्यादा पर अपना पण्य बेचते हैं। और किसको बेचते हैं? सबसे पहले वे एक दूसरे को बेचते हैं।" (l. c., p. 239.)

[31] "जब दो समान मूल्यों का विनिमय होता है, तब समाज में पाये जानेवाले कुल मूल्यों की राशि में विनिमय से न तो कोई वृद्धि होती है और न कोई कमी। न ही जब असमान मूल्यों का विनिमय होता है... तब विनिमय से सामाजिक मूल्यों के कुल जोड़ में कोई तब्दीली नहीं आती, हालांकि उससे एक पक्ष के धन में उतना जुड़ जाता है, जितना वह पक्ष दूसरे पक्ष के धन से लेता है।" (J. B. Say, *Traité d'Économie Politique*. 3ème éd., Paris, 1817, t. II, pp. 443, 444.) सेय ने यह वक्तव्य शब्दशः फ़िज़ियोक्रेटों से उधार लिया है, और उनको इसकी तनिक भी चिंता नहीं है कि इस वक्तव्य का क्या परिणाम होगा। यह निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा कि श्रीमान सेय ने फ़िज़ियोक्रेटों की रचनाओं का, जिनको उनके ज़माने में लोग लगभग बिल्कुल भूल गये थे, किस प्रकार ख़ुद अपना "मूल्य" बढ़ाने के लिए उपयोग किया है। सेय की सबसे प्रसिद्ध उक्ति यह है: "हम केवल उत्पाद से उत्पाद ख़रीदते हैं।" (l. c., t. II, p. 441.) यह उक्ति मूल फ़िज़ियोक्रेटी रचना में इस रूप में मिलती है: "उत्पाद के दाम केवल उत्पाद में ही चुकाये जाते हैं।" (Le Trosne, l. c., p. 899.)

[32] "विनिमय उत्पाद को तनिक भी मूल्य नहीं प्रदान करता।" (F. Wayland, *The Elements of Political Economy*, Boston, 1843, p. 169.)

सो अब यह बात साफ़ हो जाती है कि हमने पूंजी के प्रामाणिक रूप का विश्लेषण करते समय, यानी उस रूप का विश्लेषण करते समय, जिसके अंतर्गत पूंजी आधुनिक समाज के आर्थिक संगठन को निर्धारित करती है, उसके सबसे अधिक प्रचलित और मानो घोर आदिम रूपों – व्यापारी पूंजी और महाजनी पूंजी – की ओर किस कारण तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

परिपथ $M—C—M'$, यानी महंगा बेचने के लिए ख़रीदना, सबसे अधिक स्पष्ट रूप में सच्ची सौदागरी पूंजी में दिखायी देता है। लेकिन यह पूरी गति परिचलन के क्षेत्र के भीतर ही होती है। किंतु द्रव्य के पूंजी में बदलने को, या बेशी मूल्य के निर्माण को चूंकि अकेले परिचलन का परिणाम नहीं समझा जा सकता, इसलिए ऐसा लग सकता है कि जब तक सम-तुल्यों का विनिमय होता है, तब तक व्यापारिक पूंजी एक असंभव चीज़ रहती है,[33] और इसलिए उसकी उत्पत्ति केवल इसी बात से हो सकती है कि व्यापारी विक्रेता उत्पादकों और ग्राहक उत्पादकों के बीच में मुफ़्तख़ोरों की तरह टांग अड़ाकर दोनों के कान काट देता है। फ़्रैंकलिन ने इसी अर्थ में कहा है कि "युद्ध डकैती है और व्यापार आम तौर पर धोखेबाज़ी है।"[34] यदि व्यापारियों के द्रव्य के पूंजी में बदल जाने की उत्पादकों के धोखा खा जाने के सिवा किसी और ढंग से व्याख्या करनी हो, तो उसके लिए बीच के अनेक क़दमों का एक लंबा क्रम आवश्यक होगा, जिसका इस समय, जब कि हम केवल पण्यों का साधारण परिचलन मानकर चल रहे हैं, सर्वथा अभाव है।

व्यापारिक पूंजी के बारे में हमने जो कुछ कहा है, वह महाजनी पूंजी पर और भी अधिक लागू होता है। व्यापारिक पूंजी में दो छोर होते हैं: वह द्रव्य, जो मंडी में डाला जाता है, और वह बढ़ा हुआ द्रव्य जो मंडी से निकाल लिया जाता है। ये दोनों छोर कम से कम एक ख़रीद और एक बिक्री के द्वारा या, दूसरे शब्दों में, परिचलन की गति के द्वारा संबंधित होते हैं। परंतु महाजनी पूंजी में रूप $M—C—M'$ बिना किसी मध्य बिंदु के दो छोरों में, अर्थात् $M—M'$ में परिणत हो जाता है, यानी द्रव्य का उससे अधिक द्रव्य के साथ विनिमय होता है। यह रूप द्रव्य के स्वभाव से मेल नहीं खाता, और इसलिए पण्यों के परिचलन के दृष्टिकोण से वह बिल्कुल समझ में नहीं आता। अरस्तू ने इसीलिए कहा है कि "क्रेमाटिस्टिक चूंकि एक दोहरा विज्ञान है, जिसका एक भाग वाणिज्य से संबंध रखता है और दूसरा भाग अर्थतंत्र से, और उसका दूसरा भाग चूंकि आवश्यक तथा प्रशंसनीय है, जब कि परिचलन पर आधारित होने के कारण पहले भाग की सही तौर पर निंदा की जाती है (क्योंकि वह प्रकृति पर नहीं, बल्कि एक दूसरे को धोखा देने पर आधारित है), इसलिए यह सर्वथा उचित है कि सूदख़ोर से घृणा की जाती है, क्योंकि उसका नफ़ा ख़ुद द्रव्य से उत्पन्न होता है और उसका द्रव्य उस काम में नहीं लाया जाता, जिस काम के लिए द्रव्य का आविष्कार हुआ था। कारण कि द्रव्य का जन्म पण्यों का विनिमय कराने के लिए हुआ था, लेकिन सूद द्रव्य से और अधिक

---

[33] "अपरिवर्तनशील समतुल्यों के राज में व्यापार करना असंभव होगा।" (G. Opdyke, *A Treatise on Political Economy*, New York, 1851, pp. 66-69.) "वास्तविक मूल्य और विनिमय-मूल्य का भेद इस तथ्य पर आधारित है कि किसी भी वस्तु का मूल्य, व्यापार में उसके बदले में जो तथाकथित समतुल्य मिलता है, उससे भिन्न होता है, यानी यह समतुल्य नहीं होता।" (F. Engels, l. c., S. 96.)

[34] Benjamin Franklin, *Works*, Vol. II, edit. Sparks, देखिये *Positions to be examined, concerning National Wealth*, p. 376.

द्रव्य बना डालता है। इसी से उसका यह नाम पड़ा है 'τοκος', जिसका अर्थ है 'ब्याज' और 'पैदा की हुई चीज़'। कारण कि जो उत्पन्न होते हैं, वे अपने उत्पन्न करनेवालों के समान होते हैं। लेकिन ब्याज द्रव्य से पैदा होनेवाला द्रव्य होता है, और इसलिए जीविका कमाने के जितने ढंग हैं, उनमें यह ढंग प्रकृति के सबसे अधिक विपरीत है।"[35]

अपनी खोज के दौरान हम पायेंगे कि व्यापारिक पूंजी और ब्याजी पूंजी, दोनों ही व्युत्पादित रूप हैं, और साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो जायेगी कि इतिहास में ये दो रूप पूंजी के आधुनिक एवं प्रामाणिक रूप के पहले क्यों प्रकट होते हैं।

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि बेशी मूल्य परिचलन द्वारा पैदा नहीं किया जा सकता और इसलिए उसके निर्माण के समय कोई ऐसी बात पृष्ठभूमि में होनी चाहिए, जो ख़ुद परिचलन में दिखायी न देती हो।[36] तो क्या बेशी मूल्य परिचलन के सिवा और कहीं पर पैदा हो सकता है? पण्यों के मालिकों के संबंध जहां तक उनके पण्यों के द्वारा निर्धारित होते हैं, वहां तक उसके समस्त पारस्परिक संबंधों का कुल जोड़ ही परिचलन कहलाता है। और परिचलन के सिवा तो पण्य के मालिक का केवल अपने पण्य से ही संबंध होता है। जहां तक मूल्य का ताल्लुक़ है, यह संबंध केवल इतने तक ही सीमित होता है कि पण्य में उसके श्रम की एक मात्रा निहित होती है, जो कि एक निश्चित सामाजिक मापदंड से मापी जाती है। यह मात्रा पण्य के मूल्य द्वारा व्यक्त होती है, और चूंकि मूल्य का परिमाण लेखा-द्रव्य के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, इसलिए यह मात्रा दाम के द्वारा भी व्यक्त होती है, जो हम मान लेते हैं कि यहां १० पाउंड है। लेकिन ऐसा नहीं होता कि पण्य का मूल्य और उस मूल्य का बेशी भाग भी उसके श्रम का प्रतिनिधित्व करें। यानी उसके श्रम का प्रतिनिधित्व वह दाम नहीं करता, जो १० और साथ ही ११ का भी दाम होता है। या यूं कहिये कि उसके श्रम का प्रतिनिधित्व कोई ऐसा मूल्य नहीं करता, जो स्वयं अपने से बड़ा होता है। पण्य का मालिक श्रम करके मूल्य पैदा कर सकता है, पर वह स्वतः बढ़नेवाला मूल्य पैदा नहीं कर सकता। वह नया श्रम करके और इस प्रकार उसके हाथ में पहले से जो मूल्य है, उसमें नया मूल्य जोड़कर, जैसे, मिसाल के लिए, चमड़े को जूतों में बदलकर, अपने पण्य का मूल्य बढ़ा सकता है। उसी सामग्री का अब पहले से अधिक मूल्य हो जाता है, क्योंकि अब उसमें पहले से ज्यादा श्रम ख़र्च किया गया है। इसलिए जूतों का मूल्य चमड़े से अधिक होता है, लेकिन चमड़े का मूल्य वही रहता है, जो पहले था। वह ख़ुद अपना विस्तार नहीं कर सका है। जूते बनाये जाने के दौरान चमड़ा ख़ुद अपने में कोई बेशी मूल्य नहीं जोड़ पाया है। इसलिए पण्यों का कोई उत्पादक पण्यों के अन्य मालिकों के संपर्क में आये बिना ही परिचलन के क्षेत्र के बाहर मूल्य का विस्तार कर ले और उसके फलस्वरूप द्रव्य को या पण्यों को पूंजी में बदलने में कामयाब हो जाये, यह असंभव है।

अतः पूंजी का परिचलन के द्वारा उत्पन्न होना असंभव है और उसका परिचलन से अलग

---

[35] Aristoteles, *De Republica*, l. I, c. 10, [p. 17.]

[36] "मंडी की साधारण अवस्था में मुनाफ़ा विनिमय के द्वारा नहीं कमाया जाता। यदि मुनाफ़ा विनिमय के पहले से मौजूद न होता, तो वह उस सौदे के बाद भी नहीं हो सकता था।" (Ramsay, l. c., p. 184.)

जन्म लेना भी उतना ही असंभव है। पूंजी का जन्म परिचलन के भीतर होते हुए भी उसके भीतर नहीं होना चाहिए।

इस तरह हम एक दोहरे नतीजे पर पहुंच गये हैं।

हमें पण्यों के विनिमय का नियमन करनेवाले नियमों के आधार पर द्रव्य के पूंजी में बदलने की इस तरह व्याख्या करनी है कि हमारा प्रस्थान-बिंदु समतुल्यों का विनिमय हो।[37] हमारे मित्र श्रीयुत धन्नासेठ को, जो अभी बीज-रूप में ही पूंजीपति हैं, चाहिए कि अपने पण्यों को उनके मूल्य पर ख़रीदें, उनको उनके मूल्य पर ही बेचें और फिर भी परिचलन के आरंभ में उन्होंने जितना मूल्य उसमें डाला था, क्रिया के अंत में उससे अधिक मूल्य परिचलन से बाहर निकाल ले जायें। श्रीयुत धन्नासेठ का परिचलन के क्षेत्र में और परिचलन के बाहर भी पूर्ण विकसित पूंजीपति के रूप में विकास होना चाहिए। समस्या को हमें इन परिस्थितियों में हल करना है। Hic Rhodus, hic salta! [यह रोडस है, यहीं कूद पड़ो!]

---

[37] इसके पहले हम जितनी खोज कर चुके हैं, उससे पाठक ने यह समझ लिया होगा कि हमारे इस कथन का अर्थ केवल यह है कि किसी पण्य का दाम और मूल्य एक होने पर भी पूंजी का निर्माण संभव होना चाहिए, क्योंकि हम यह नहीं कह सकते कि पूंजी का निर्माण दाम और मूल्य में कोई अंतर होने के फलस्वरूप होता है। यदि दाम सचमुच मूल्यों से भिन्न हैं, तो हमें सबसे पहले दामों को मूल्यों में परिणत करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हमें इस अंतर को सांयोगिक मानकर चलना पड़ेगा, ताकि हम घटना पर उसके विशुद्ध रूप में विचार कर सकें और ऐसी विघ्नकारक परिस्थितियां, जिनका इस क्रिया से कोई संबंध नहीं है, हमारे विचारों में कोई बाधा न डाल सकें। इसके अलावा हम यह भी जानते हैं कि दामों को मूल्यों में परिणत करना कोई वैज्ञानिक क्रिया मात्र नहीं है। दामों में लगातार आनेवाले उतार-चढ़ाव, उनका बढ़ना और घटना, एक दूसरे का असर रद्द कर देते और एक औसत दाम में परिणत हो जाते हैं, जो उनका छिपा हुआ नियामक होता है। ऐसे हर व्यवसाय में, जिसमें कुछ समय लगता है, यह औसत दाम सौदागर या कारख़ानेदार के पथ-प्रदर्शक तारे का काम करता है। सौदागर अथवा कारख़ानेदार जानता है कि जब काफ़ी लंबे समय का सवाल होता है, तब पण्य न तो औसत से ज़्यादा दामों पर और न कम दामों पर बिकते हैं, बल्कि वे अपने औसत दामों पर ही बिकते हैं। इसलिए यदि वह इस मामले के बारे में थोड़ा भी सोचता है, तो वह पूंजी के निर्माण की समस्या को इस तरह पेश करेगा: यह मान लेने के बाद कि दामों का नियमन औसत दाम के द्वारा – यानी अंत में पण्यों के मूल्य के द्वारा – होता है, हम पूंजी की उत्पत्ति का क्या कारण बता सकते हैं? "अंत में" शब्दों का प्रयोग मैंने इसलिए किया है कि, ऐडम स्मिथ, रिकार्डो और अन्य लोगों के विश्वास के प्रतिकूल, औसत दाम पण्यों के मूल्यों से सीधे मेल नहीं खाते।

अध्याय ६

श्रम-शक्ति का क्रय और विक्रय

जिस द्रव्य को पूंजी में बदला जाना है, उसके मूल्य में जो परिवर्तन होता है, वह ख़ुद द्रव्य में ही नहीं हो सकता, क्योंकि ख़रीद और भुगतान के साधन का काम करते समय द्रव्य जिस पण्य को ख़रीदता है या जिस पण्य का भुगतान करता है, उसके दाम को मूर्त रूप देने के सिवा और कुछ नहीं करता, और नक़दी की शक्ल में द्रव्य पथराया हुआ मूल्य होता है, जो कभी नहीं बदलता।[38] न ही यह परिवर्तन परिचलन की दूसरी क्रिया में – यानी पण्य के फिर से बेचे जाने के दौरान – हो सकता है, क्योंकि वह क्रिया इससे अधिक कुछ नहीं करती कि वस्तु को उसके शारीरिक रूप से पुनः उसके द्रव्य-रूप में बदल देती है। इसलिए यह परिवर्तन पहली क्रिया $M—C$ के द्वारा ख़रीदे नये पण्य में होना चाहिए, मगर वह उसके मूल्य में नहीं हो सकता, क्योंकि विनिमय समतुल्यों का होता है और पण्य के दाम का भुगतान उसके पूरे मूल्य के अनुसार होता है। अतएव हमें मजबूर होकर इस नतीजे पर पहुंचना पड़ता है कि यह परिवर्तन स्वयं पण्य के उपयोग-मूल्य से, यानी उसके उपभोग से, उत्पन्न होता है। किसी पण्य के उपभोग से मूल्य निकालने के लिए जरूरी है कि हमारे मित्र, श्रीयुत धन्नासेठ इतने भाग्यवान हों कि उनको परिचलन के क्षेत्र के भीतर ही, यानी मंडी में ही, एक ऐसा पण्य मिल जाये, जिसके उपयोग-मूल्य में मूल्य पैदा करने का विशेष गुण हो और इसलिए ख़ुद ही जिसका वास्तविक उपभोग श्रम को साकार रूप देता और इस तरह मूल्य का सृजन करता हो। द्रव्य के मालिक को सचमुच मंडी में श्रम करने की सामर्थ्य – अथवा श्रम-शक्ति – के रूप में एक ऐसा विशेष पण्य मिल जाता है।

श्रम-शक्ति – अथवा श्रम करने की सामर्थ्य – से हमारा अभिप्राय मनुष्य में पायी जानेवाली उन मानसिक तथा शारीरिक क्षमताओं के योग से है, जिनका वह किसी भी प्रकार का उपयोग-मूल्य पैदा करने के समय प्रयोग करता है।

लेकिन हमारा द्रव्य-मालिक पण्य के रूप में बिक्री के लिए पेश की गयी श्रम-शक्ति प्राप्त कर सके, इसके लिए कुछ शर्तों का पूरा होना ज़रूरी है। ख़ुद पण्यों के विनिमय के स्वभाव के फलस्वरूप जो संबंध उत्पन्न हो जाते हैं, विनिमय के साथ उनके सिवा निर्भरता के और कोई संबंध जुड़े हुए नहीं होते। इस अभिधारणा के अनुसार श्रम-शक्ति केवल उसी समय और वहीं तक पण्य के रूप में मंडी में आ सकती है, जब और जहां तक वह व्यक्ति, जिसकी वह श्रम-शक्ति है, उसे पण्य के रूप में बिक्री के लिए पेश करे या बेचे। उसके ऐसा करने के लिए ज़रूरी है कि यह श्रम-शक्ति स्वयं उसके अधीन हो और श्रम करने की अपनी सामर्थ्य

---

[38] "द्रव्य के रूप में... पूंजी से कोई मुनाफ़ा उत्पन्न नहीं होता।" (Ricardo, *Principles of Political Economy*, 3rd Ed., London, 1821, p. 267.)

का, यानी ख़ुद अपने शरीर का, वह पूर्ण स्वामी हो।[39] यह व्यक्ति और द्रव्य का मालिक मंडी में मिलते हैं और एक दूसरे के साथ समानता के आधार पर व्यवहार करते हैं। बस अंतर केवल इतना होता है कि एक ग्राहक होता है और दूसरा विक्रेता। इसलिए क़ानून की नज़रों में दोनों बराबर होते हैं। इसलिए कि यह संबंध क़ायम रहे, यह जरूरी है कि श्रम-शक्ति का मालिक उसे केवल एक निश्चित काल के **लिए ही** बेचे, क्योंकि यदि वह उसे एक बार हमेशा के लिए बेच डालेगा, तो वह असल में अपने आपको बेच देगा और स्वतंत्र मनुष्य से ग़ुलाम बन जायेगा और पण्य का मालिक न रहकर ख़ुद पण्य बन जायेगा। अपनी श्रम-शक्ति को उसे सदा अपनी संपत्ति, स्वयं अपना पण्य समझना चाहिए, और यह वह केवल उसी समय समझ सकता है, जब वह अपनी श्रम-शक्ति को अस्थायी तौर पर और एक निश्चित काल के लिए ही ग्राहक को सौंपे। केवल इसी तरह वह अपनी श्रम-शक्ति पर अपने स्वामित्व के अधिकार से वंचित होने से बच सकता है।[40]

यदि द्रव्य के मालिक को मंडी में श्रम-शक्ति को पण्य के रूप में पाना है, तो उसकी दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि मजदूर अपने श्रम से बनाये गये पण्यों को बेचने की स्थिति में न हो, बल्कि इसके बजाय वह ख़ुद उस श्रम-शक्ति को ही पण्य के रूप में बिक्री के वास्ते पेश करने के लिए मजबूर हो, जो केवल उसके सजीव व्यक्तित्व में ही निवास करती है।

यदि कोई आदमी श्रम-शक्ति के अलावा कोई और पण्य बेचना चाहता है, तो जाहिर है कि उसके पास उत्पादन के साधन होने चाहिए, जैसे कि कच्चा माल, औज़ार, वग़ैरह। बिना

---

[39] प्राचीन काल के रीति-रिवाजों और संस्थाओं के विश्वकोशों में हमें इस तरह की बकवास मिलती है कि प्राचीन काल में पूंजी का पूरा विकास हो चुका था और "बस स्वतंत्र मज़दूर और उधार की व्यवस्था का अभाव था"। इस दृष्टि से मोमजन ने भी अपने 'रोम के इतिहास' में एक के बाद एक भद्दी भूल की है।

[40] इसीलिए अनेक देशों में क़ानून बनाकर श्रम के इक़रारनामों के लिए एक अधिकतम अवधि निश्चित कर दी गयी है। जहां कहीं भी स्वतंत्र श्रम का नियम है, वहां इस तरह के क़रारों को ख़त्म करने की पद्धति का नियमन क़ानूनों के द्वारा होता है। कुछ राज्यों में, विशेषकर मेक्सिको में (अमरीकी गृह-युद्ध के पहले उन प्रदेशों में भी, जो मेक्सिको से ले लिये गये थे, और सच पूछिये, तो कूज़ा की क्रांति के समय तक डेन्यूब नदी के प्रांतों में भी), peonage ऋण-सेवा के रूप में छिपी हुई ग़ुलामी क़ायम है। ऋणों के ज़रिये, जिनका श्रम के रूप में भुगतान करना पड़ता है और जो पीढ़ी दर पीढ़ी बने रहते हैं, न केवल स्वयं मजदूर, बल्कि उसका परिवार भी de facto [व्यवहार में] दूसरे व्यक्तियों और दूसरे परिवारों की संपत्ति बन जाता है। हुआरेस ने ऋण-सेवा की यह प्रथा समाप्त कर दी थी। पर तथाकथित सम्राट मैक्सीमिलियन ने एक फ़रमान जारी करके उसे फिर से बहाल कर दिया। वाशिंगटन में प्रतिनिधि-सभा की बैठक में इस फ़रमान की ठीक ही कड़े शब्दों में निंदा की गयी और कहा गया कि यह मेक्सिको में फिर से ग़ुलामी की प्रथा क़ायम करने का फ़रमान है। हेगेल ने लिखा है: "मैं अपनी विशिष्ट शारीरिक एवं मानसिक योग्यताओं और क्षमताओं का उपयोग करने का अधिकार एक निश्चित काल के लिए किसी और को सौंप सकता हूं, क्योंकि इस प्रतिबंध के फलस्वरूप ये योग्यताएं और क्षमताएं मेरे संपूर्ण व्यक्तित्व से अलग हो जाती हैं। लेकिन यदि मैं अपना सारा श्रम-काल और अपना पूरा काम दूसरे को सौंप दूं, तो मैं ख़ुद सारतत्त्व को, दूसरे शब्दों में, अपनी सामान्य सक्रियता और वास्तविकता को, अपने व्यक्तित्व को, दूसरे की संपत्ति बना दूंगा।" (Hegel, *Philosophie des Rechts*, Berlin, 1840, S. 104, § 67.)

चमड़े के जूते नहीं बनाये जा सकते। इसके अलावा उसे जीवन-निर्वाह के साधनों की भी जरूरत होती है। भावी उत्पाद के सहारे, या ऐसे उपयोग-मूल्यों के सहारे, जो अभी पूरी तरह तैयार नहीं हुए हैं, कोई ज़िंदा नहीं रह सकता, यहां तक कि "भविष्य में महानता का दावा करनेवाला संगीतकार" भी उनके सहारे जीवित नहीं रह सकता; और जबसे मनुष्य संसार के रंगमंच पर उतरा है, वह उस पहले क्षण से ही उत्पादन करने के पहले और उत्पादन करने के दौरान सदा उपभोक्ता रहा है, और आगे भी रहेगा। एक ऐसे समाज में, जहां पैदावार की सभी चीज़े पण्यों का रूप धारण कर लेती हैं, उत्पादन के बाद पण्यों का बिकना ज़रूरी होता है; केवल बिक जाने के बाद ही वे अपने उत्पादक की आवश्यकताओं को पूरा करने में सहायक हो सकते हैं। उनके उत्पादन के लिए जो समय आवश्यक होता है, उसमें वह समय भी जोड़ दिया जाता है, जो उनकी बिक्री के वास्ते ज़रूरी होता है।

अतः द्रव्य का मालिक अपने द्रव्य को पूंजी में बदल सके, इसके लिए ज़रूरी है कि मंडी में उसकी स्वतंत्र मज़दूर से मुलाक़ात हो। और इस मज़दूर को दो मानों में स्वतंत्र होना चाहिए – एक तो इस माने में कि स्वतंत्र मनुष्य के रूप में वह अपनी श्रम-शक्ति को ख़ुद अपने पण्य के रूप में बेच सकता हो, और दूसरे, इस माने में कि उसके पास बेचने के लिए और कोई पण्य न हो, और अपनी श्रम-शक्ति को मूर्त रूप देने के लिए उसे जिन चीज़ों की ज़रूरत होती है, उनका उसके पास पूर्ण अभाव हो।

द्रव्य के मालिक को इस सवाल में कोई दिलचस्पी नहीं है कि मंडी में उसकी इस स्वतंत्र मज़दूर से क्यों मुलाक़ात हो जाती है। वह तो श्रम की मंडी को पण्यों की आम मंडी की ही एक शाखा समझता है। फ़िलहाल हमें भी इस सवाल में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं है। द्रव्य का मालिक व्यवहार में इस तथ्य से चिपका हुआ है, हमने सैद्धांतिक ढंग से उसे स्वीकार कर लिया है। किंतु एक बात स्पष्ट है, वह यह कि प्रकृति ने एक ओर, द्रव्य या पण्यों के मालिकों को और दूसरी ओर, ऐसे लोगों को, जिनके पास अपनी श्रम-शक्ति के सिवा और कुछ भी नहीं है, इन दो तरह के लोगों को पैदा नहीं किया है। इस संबंध का कोई प्राकृतिक आधार नहीं है, और न उसका कोई ऐसा सामाजिक आधार ही है, जो सभी ऐतिहासिक कालों में समान रूप से पाया जाता हो। स्पष्ट ही, यह भूतकाल के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है, बहुत सी आर्थिक क्रांतियों का फल है और सामाजिक उत्पादन के पुराने रूपों के एक पूरे क्रम के विनाश का नतीजा है।

इसी प्रकार उन आर्थिक प्रवर्गों पर भी इतिहास की छाप पड़ी हुई है, जिनपर हम पीछे विचार कर चुके हैं। किसी उत्पाद के पण्य बनने के लिए ज़रूरी है कि कुछ निश्चित ढंग की ऐतिहासिक परिस्थितियां मौजूद हों। उसके लिए आवश्यक है कि उत्पाद ख़ुद उत्पादक के जीवन-निर्वाह के साधन के रूप में न पैदा किया जाये। यदि हमने थोड़ा और आगे बढ़कर इसकी खोज की होती कि समस्त उत्पाद या कम से कम उत्पाद का अधिकांश किन परिस्थितियों में पण्यों का रूप धारण कर लेता है, तो हमें पता चलता कि यह बात केवल एक बहुत ख़ास ढंग के उत्पादन में ही होती है; और वह है पूंजीवादी उत्पादन। परंतु इस प्रकार की खोज पण्यों के विश्लेषण के क्षेत्र के बाहर चली जाती। पण्यों का उत्पादन और परिचलन उस वक़्त भी हो सकता है, जब अधिकतर वस्तुओं का उत्पादन उनके उत्पादकों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता हो, जब वे पण्यों में न बदली जाती हों और इसलिए जब सामाजिक उत्पादन के बहुत बड़े क्षेत्र में और बहुत हद तक विनिमय-मूल्य का

प्रभुत्व क़ायम न हुआ हो। पैदावार की चीज़ों के पण्यों के रूप में सामने आने के लिए यह ज़रूरी है कि सामाजिक श्रम-विभाजन का ऐसा विकास हो चुका हो, जिसमें विनिमय-मूल्य से उपयोग-मूल्य का वह अलगाव, जो पहले-पहल अदला-बदली से आरंभ हुआ था, अब मुकम्मिल हो गया हो। लेकिन इस प्रकार का विकास तो समाज के बहुत से रूपों में समान तौर पर पाया जाता है, जिनकी दूसरी बातों में बहुत अलग-अलग ढंग की ऐतिहासिक विशेषताएं होती हैं।

दूसरी ओर, यदि हम द्रव्य पर विचार करें, तो द्रव्य के अस्तित्व का अर्थ यह होता है कि पण्यों का विनिमय एक ख़ास अवस्था में पहुंच गया है। द्रव्य पण्यों के केवल समतुल्य के रूप में, या परिचलन के साधन के रूप में, या भुगतान के साधन के रूप में, या अपसंचित कोष की शक्ल में, या सार्विक द्रव्य के रूप में जो तरह-तरह के अलग-अलग काम करता है, उनमें से जब जिस ख़ास काम का अधिक विस्तार हो जाता है और जब जो अपेक्षाकृत प्रधानता प्राप्त कर लेता है, तब उसके अनुसार यह पता चलता है कि सामाजिक उत्पादन की क्रिया किस ख़ास अवस्था में पहुंच गयी है। फिर भी हमें अनुभव से मालूम है कि पण्यों का अपेक्षाकृत आदिम ढंग का परिचलन इन तमाम रूपों के लिए पर्याप्त होता है। पूंजी की बात दूसरी है। उसके अस्तित्व के लिए जो ऐतिहासिक परिस्थितियां आवश्यक होती हैं, वे महज़ द्रव्य और पण्यों के परिचलन के साथ ही पैदा नहीं हो जातीं। पूंजी केवल उसी समय जन्म ले सकती है, जब उत्पादन और जीवन-निर्वाह के साधनों के मालिक की अपनी श्रम-शक्ति बेचनेवाले स्वतंत्र मज़दूर से मंडी में भेंट होती है। और इस एक ऐतिहासिक परिस्थिति में संसार का इतिहास अंतर्निहित है। इसलिए पूंजी अपना प्रथम दर्शन देने के साथ ही यह घोषणा कर देती है कि सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में एक नये युग का श्रीगणेश हो गया है।[41]

अब हमें श्रम-शक्ति नामक इस विचित्र पण्य पर थोड़ी और गहराई में जाकर विचार करना चाहिए। अन्य सब पण्यों की तरह इस पण्य का भी मूल्य होता है।[42] वह मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है?

अन्य प्रत्येक पण्य की तरह श्रम-शक्ति का मूल्य भी उसके उत्पादन के लिए आवश्यक और इसलिए इस विशेष वस्तु के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल द्वारा निर्धारित होता है। जहां तक श्रम-शक्ति में मूल्य होता है, वहां तक वह अपने में निहित समाज के औसत श्रम की एक निश्चित मात्रा से अधिक और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करती। केवल एक जीवित व्यक्ति की सामर्थ्य अथवा शक्ति के रूप में ही श्रम-शक्ति का अस्तित्व होता है। इसलिए श्रम-शक्ति का अस्तित्व जीवित व्यक्ति के अस्तित्व पर ही निर्भर है। व्यक्ति पहले से मौजूद हो, तो श्रम-शक्ति के उत्पादन का अर्थ है उस व्यक्ति के द्वारा ख़ुद अपना

---

[41] इसलिए पूंजीवादी युग की यह ख़ास विशेषता होती है कि श्रम-शक्ति ख़ुद मज़दूर की आंखों में एक ऐसे पण्य का रूप धारण कर लेती है, जो उसकी संपत्ति होता है। चुनांचे उसका श्रम मज़दूरी के बदले में किया जानेवाला श्रम बन जाता है। दूसरी ओर, केवल इसी क्षण से श्रम का उत्पाद सार्विक ढंग से पण्य बनता है।

[42] "दूसरी तमाम चीज़ों की तरह किसी मनुष्य का मूल्य या क़ीमत उसका दाम होती है; कहने का मतलब यह कि वह उतनी होती है, जितना उसकी शक्ति के उपयोग के लिए दिया जाता है।" (Th. Hobbes, *Leviathan*, *Works*, edit. Molesworth, London, 1839-1844, Vol. III, p. 76.)

पुनरुत्पादन, या यूं कहिये कि अपना जीवन-निर्वाह। अपने जीवन-निर्वाह के लिए उसे जीवन-निर्वाह के साधनों की एक निश्चित मात्रा की आवश्यकता होती है। इसलिए श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल जीवन-निर्वाह के इन साधनों के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में, श्रम-शक्ति का मूल्य मज़दूर के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधनों का मूल्य होता है। लेकिन श्रम-शक्ति केवल अपने प्रयोग से ही वास्तविकता बनती है; काम के द्वारा ही वह सक्रिय होती है। किंतु उसमें मानव की मांस-पेशियों, स्नायुओं और मस्तिष्क, आदि की एक निश्चित मात्रा ख़र्च हो जाती है, और इसका फिर वापस लाया जाना ज़रूरी होता है। इस बढ़े हुए ख़र्च के लिए बढ़ी हुई आय की आवश्यकता होती है।[43] यदि श्रम-शक्ति का मालिक आज काम करता है, तो उसमें कल फिर से वही क्रिया पहले जैसे स्वास्थ्य और बल के साथ दोहराने की क्षमता होनी चाहिए। अतः उसके जीवन-निर्वाह के साधन इतने होने चाहिए कि वे उसे श्रम करनेवाले व्यक्ति के रूप में उसकी सामान्य अवस्था में ज़िंदा रख सकें। उसकी प्राकृतिक आवश्यकताएं, जैसे भोजन, कपड़ा, ईंधन और रहने का घर, आदि, जिस देश में वह रहता है, उसके जलवायु तथा अन्य प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग प्रकार की होती हैं। दूसरी ओर, उसकी तथाकथित ज़रूरी आवश्यकताओं की संख्या और विस्तार और उन्हें पूरा करने के ढंग भी ख़ुद ऐतिहासिक विकास का फल होते हैं और इसलिए बहुत हद तक देश की सभ्यता के विकास पर निर्भर करते हैं। ख़ास तौर पर वे इस बात पर निर्भर करते हैं कि स्वतंत्र मज़दूरों के वर्ग का किन परिस्थितियों में और इसलिए किन आदतों के साथ तथा कितने आराम ही हालत में निर्माण हुआ है।[44] अतएव अन्य पण्यों के विपरीत, श्रम-शक्ति के मूल्य-निर्धारण में एक ऐतिहासिक तथा नैतिक तत्त्व भी काम करता है। फिर भी किसी ख़ास देश में और किसी निश्चित काल में हमें मज़दूर के जीवन-निर्वाह के साधनों की ज़रूरी औसत मात्रा की व्यावहारिक जानकारी होती है।

श्रम-शक्ति का मालिक नश्वर है। इसलिए अगर उसे लगातार मंडी में आते रहना है – और द्रव्य के लगातार पूंजी में बदलते रहने के लिए यह बात ज़रूरी है – तो श्रम-शक्ति के विक्रेता को अपने को उसी तरह शाश्वत बनाना चाहिए, "जिस तरीक़े से हर जीवित प्राणी अपने को शाश्वत बनाता है, यानी संतान को जन्म देकर"।[45] जो श्रम-शक्ति घिस जाने या मज़दूर की मृत्यु हो जाने के फलस्वरूप मंडी से हटा ली जाती है, उसके स्थान पर कम से कम उतनी ही मात्रा में नयी श्रम-शक्ति बराबर आती रहनी चाहिए। इसलिए श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधनों के कुल जोड़ में उन साधनों को भी शामिल करना पड़ेगा, जो मज़दूर के प्रतिस्थापकों के लिए, यानी उसके बच्चों के लिए, ज़रूरी हैं, ताकि इस विचित्र पण्य के मालिकों की यह नसल मंडी में बराबर मौजूद रहे।[46]

---

[43] चुनांचे रोमनों के यहां खेतों में काम करनेवाले ग़ुलामों के जमादार को "काम करनेवाले ग़ुलामों की अपेक्षा कम भोजन मिलता था, कारण कि उसका काम ग़ुलामों से हल्का था।" (Th. Mommsen, *Römische Geschichte*, 1856, S. 810.)\

[44] देखिये W. Th. Thornton, *Overpopulation and its Remedy*, London, 1846.

[45] पैटी।

[46] "उसका (श्रम का) स्वाभाविक दाम... जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं तथा सुख के साधनों की वह मात्रा होता है, जो देश के जलवायु तथा आदतों को देखते हुए

मानव-शरीर को इस तरह बदलने के लिए कि उसमें उद्योग की किसी ख़ास शाखा के लिए ज़रूरी निपुणता और हस्तकौशल पैदा हो जाये और वह एक ख़ास तरह की श्रम-शक्ति बन जाये, एक ख़ास तरह की शिक्षा और प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, और उसमें भी न्यूनाधिक मात्रा में पण्यों के रूप में एक समतुल्य ख़र्च होता है। यह मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि श्रम-शक्ति का स्वरूप कितना कम या अधिक संश्लिष्ट है। इस शिक्षा का ख़र्च (जो साधारण श्रम-शक्ति की सूरत में बहुत ही कम होता है) pro tanto [उसी परिमाण में] श्रम-शक्ति के उत्पादन पर ख़र्च किये गये कुल मूल्य में शामिल हो जाता है।

इस प्रकार श्रम-शक्ति का मूल्य जीवन-निर्वाह के साधनों की एक निश्चित मात्रा के मूल्य में परिणत हो जाता है। चुनांचे वह इन साधनों के मूल्य के साथ, या इन साधनों के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा के साथ, घटता-बढ़ता रहता है।

जीवन-निर्वाह के साधनों में से कुछ—जैसे भोजन की वस्तुओं और ईंधन—का रोज़ाना उपभोग होता है, और इसलिए उनकी रोज़ाना नयी पूर्ति होती रहनी चाहिए। दूसरे साधन, जैसे कि कपड़े और फ़र्नीचर, ज़्यादा समय तक चलते हैं, और इसलिए उनके स्थान पर ऐसी नयी चीज़ों की व्यवस्था काफ़ी देर के बाद ही करनी ज़रूरी होती है। सो एक वस्तु रोज़, दूसरी हर सप्ताह, तीसरी तीन महीने के बाद ख़रीदनी पड़ती है, या उनका भुगतान करना पड़ता है, और इसी प्रकार अन्य वस्तुओं का हिसाब होता है। लेकिन इन तमाम मदों में किये गये ख़र्चों का कुल जोड़ साल भर में चाहे जिस तरह फैलाया गया हो, वह मज़दूर की दैनिक औसत आमदनी से पूरा होता रहना चाहिए। यदि श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए जिन पण्यों की रोज़ाना आवश्यकता होती है, उनका जोड़ = क, प्रति सप्ताह आवश्यक होनेवाली वस्तुओं का जोड़ = ख और तीन महीने में आवश्यक होनेवाली वस्तुओं का जोड़ = ग और इसी तरह आगे भी, तो इन पण्यों की रोज़ाना औसत मात्रा $= \frac{३६५ \text{ क} + ५२ \text{ ख} + ४ \text{ ग} + \text{इत्यादि}}{३६५}$।

मान लीजिये कि एक औसत दिन में इन पण्यों की जो मात्रा आवश्यक होती है, उसमें ६ घंटे का सामाजिक श्रम निहित होता है। तब श्रम-शक्ति में रोज़ाना आधे दिन का औसत सामाजिक श्रम निहित होता है, या, दूसरे शब्दों में, श्रम-शक्ति के रोज़ाना उत्पादन के लिए आधे दिन का श्रम आवश्यक होता है। श्रम की यह मात्रा ही एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य होती है, या यूं कहिये कि श्रम की यह मात्रा ही रोज़ाना पुनरुत्पादित होनेवाली श्रम-शक्ति का मूल्य होती है। यदि आधे दिन का औसत सामाजिक श्रम तीन शिलिंग में निहित होता हो, तो एक दिन श्रम-शक्ति के मूल्य के अनुसार उसका दाम तीन शिलिंग होगा। इसलिए अगर उसका मालिक उसे तीन शिलिंग रोज़ाना में बेचना चाहे, तो उसका बिक्री-दाम उसके मूल्य के बराबर होगा। और हम जो कुछ मानकर चल रहे हैं, उसके मुताबिक हमारा मित्र धन्नासेठ, जो अपनी तीन शिलिंग की रक़म को पूंजी में बदलने पर तुला हुआ है, यह मूल्य अदा कर देता है।

मज़दूर के ज़िंदा रहने तथा इतने बड़े परिवार का भरण-पोषण करने के लिए ज़रूरी हो, जो मंडी में श्रम की पहले जितनी पूर्ति को बराबर बनाये रख सके।" (R. Torrens, *An Essay on the External Corn Trade*, London, 1815, p. 62.) यहां "श्रम-शक्ति" के स्थान पर "श्रम" शब्द का ग़लत प्रयोग किया गया है।

श्रम-शक्ति के मूल्य की निम्नतम सीमा उन पण्यों के मूल्य से निर्धारित होती है, जिनकी रोज़ाना पूर्ति के अभाव में मज़दूर अपने शरीर में काम करने का बल फिर से नहीं पैदा कर सकता। यानी श्रम-शक्ति के मूल्य की निम्नतम सीमा जीवन-निर्वाह के उन साधनों के मूल्य से निर्धारित होती है, जो शारीरिक दृष्टि से मज़दूर के लिए अनिवार्य होते हैं। यदि श्रम-शक्ति का दाम इस निम्नतम सीमा पर पहुंच जाता है, तो वह उसके मूल्य से कम हो जाता है, क्योंकि ऐसी हालत में श्रम-शक्ति को केवल पंगु अवस्था में ही क़ायम रखा तथा विकसित किया जा सकता है। लेकिन प्रत्येक पण्य का मूल्य तो सामान्य श्रेणी का पण्य तैयार करने में ख़र्च होनेवाले आवश्यक श्रम-काल द्वारा निर्धारित होता है।

श्रम-शक्ति का मूल्य निर्धारित करने का यह तरीक़ा परिस्थितियों के कारण अनिवार्य हो जाता है। उसे एक क्रूर तरीक़ा बताना और रोस्सी की तरह रोना-पीटना बहुत सस्ती क़िस्म की भावुकता है। रोस्सी ने कहा है कि "श्रम करने की क्षमता (puissance de travail) को उत्पादन की क्रिया के दौरान मज़दूर के जीवन-निर्वाह के साधनों से अलग करके देखना कल्पना-सृष्टि (être de raison) देखने के समान है। जब हम श्रम की या श्रम करने की क्षमता की बात करते हैं, तब हम मज़दूर के साथ-साथ उसके जीवन-निर्वाह के साधनों की, मज़दूर और उसकी मज़दूरी की भी बात करते हैं"।[47] जब हम पाचन-शक्ति की बात करते हैं, तब हम पाचन-क्रिया की बात नहीं करते। उसी प्रकार, जब हम श्रम-शक्ति की बात करते हैं, तब हम श्रम की बात नहीं करते। पाचन-क्रिया के लिए अच्छे पेट के अलावा भी कुछ चीज़ों की आवश्यकता होती है। जब हम श्रम करने की क्षमता की बात करते हैं, तब हम उसे जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों से अलग नहीं कर देते। इसके विपरीत उन्हीं का मूल्य श्रम-शक्ति के मूल्य में व्यक्त होता है। यदि मज़दूर की श्रम करने की क्षमता बिना बिके रह जाती है, तो उससे मज़दूर को कोई फ़ायदा नहीं पहुंचता। बल्कि तब उसे यह बात बहुत अखरेगी और प्रकृति द्वारा लादी गयी ज़्यादती और क्रूरता प्रतीत होगी कि उसकी इस क्षमता के उत्पादन में जीवन-निर्वाह के साधनों की एक निश्चित मात्रा ख़र्च हुई है और आगे भी वह उसके पुनरुत्पादन में ख़र्च होती जायेगी। तब वह सिस्मोंदी की इस बात से सहमत होगा कि "श्रम करने की क्षमता... यदि बिकती नहीं, तो कुछ भी नहीं है"।[48]

पण्य के रूप में श्रम-शक्ति की विचित्र प्रकृति का एक परिणाम यह होता है कि ग्राहक और विक्रेता के बीच में क़रार हो जाने पर भी श्रम-शक्ति का उपयोग-मूल्य ग्राहक के हाथ में तुरंत नहीं पहुंच जाता। दूसरे हरेक पण्य की तरह इस पण्य का मूल्य भी उसके परिचलन में प्रवेश करने के पहले से ही निश्चित होता है, क्योंकि उसपर सामाजिक श्रम की एक निश्चित मात्रा ख़र्च हो चुकी होती है। लेकिन इस पण्य का उपयोग-मूल्य इसी बात में निहित है कि बाद में इस शक्ति का प्रयोग किया जाये। श्रम-शक्ति के हस्तांतरण और ग्राहक द्वारा उसके सचमुच हस्तगतकरण – या एक उपयोग-मूल्य के रूप में उसके व्यवहार में लाये जाने – के बीच समय का अंतर होता है। लेकिन जहां कहीं किसी पण्य के उपयोग-मूल्य की बिक्री के द्वारा रस्मी हस्तांतरण के साथ ही वह पण्य सचमुच ख़रीदार को नहीं सौंप दिया जाता, वहां

[47] Rossi, *Cours d'Économie Politique*, Bruxelles, 1842, pp. 370, 371.
[48] Sismondi, *Nouveaux Principes d'Économie Politique*, t. I, p. 113.

ख़रीदार का द्रव्य साधारणतया भुगतान के साधन का काम करता है।[49] ऐसे प्रत्येक देश में, जिसमें पूंजीवादी ढंग का उत्पादन पाया जाता है, यह रिवाज होता है कि जब तक श्रम-शक्ति का क़रार में निश्चित समय तक, जैसे, मिसाल के लिए, एक सप्ताह तक प्रयोग नहीं कर लिया जाता, तब तक उसके दाम नहीं दिये जाते। इसलिए हर जगह श्रम-शक्ति का उपयोग-मूल्य पूंजीपति को पेशगी दे दिया जाता है: मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति के ग्राहक को दाम पाने के पहले ही उसके उपयोग की इजाज़त दे देता है, हर जगह वह पूंजी-पति को उधार देता है। यह उधार महज़ कोई हवाई चीज़ नहीं होता, इसका सबूत न सिर्फ़ यह है कि पूंजीपति का दिवाला निकलने पर मज़दूरी के पैसे अकसर डूब जाते हैं,[50] बल्कि यह भी कि उसके इससे कहीं अधिक स्थायी अनेक दूसरे नतीजे भी होते हैं।[51] फिर भी द्रव्य

---

[49] "श्रम के दाम सदा उसके समाप्त होने के बाद चुकाये जाते हैं।" (*An Inquiry into those Principles, Respecting the Nature of Demand etc.*, p. 104.) "वाणिज्य संबंधी उधार की पद्धति उस समय आरंभ हुई, जब मज़दूर – उत्पादन का वह पहला कारीगर – अपनी बचायी हुई आय के प्रताप से अपनी मजदूरी के लिए सप्ताह, पखवाड़े, महीने या तीन महीने, इत्यादि के अंत तक इंतज़ार करने को तैयार हो गया।" (Ch. Ganilh, *Des Systèmes d'Économie Politique*, 2ème édit., Paris, 1821, t.II, p. 150.)

[50] "मजदूर अपनी श्रम-शक्ति उधार देता है," श्टोर्ख़ कहते हैं। लेकिन वह बड़ी चतुराई के साथ यह भी जोड़ देते हैं कि मजदूर "कोई जोखिम नहीं उठाता," सिवाय इसके कि "उसकी मजदूरी जरूर डूब सकती है... मजदूर कोई ठोस भौतिक चीज नहीं सौंपता।" (Storch, *Cours d'Économie Politique*, Pétersbourg, 1815, t. II, pp. 36, 37.)

[51] एक मिसाल लीजिये। लंदन में डबल रोटी बनानेवाले दो तरह के हैं: एक तो "full priced" ("पूरे दाम वाले"), जो अपनी रोटी पूरे दामों में बेचते हैं, और दूसरे "undersellers" ("सस्ती बेचनेवाले"), जो रोटी के मूल्य से कम दाम लेते हैं। रोटी बनानेवालों की कुल संख्या का तीन चौथाई से अधिक भाग दूसरे प्रकार के रोटी वालों का है। ("रोटी बनानेवाले कारीगरों की शिकायतों, इत्यादि" की जांच करने के वास्ते नियुक्त किये गये जांच-कमिश्नर एच० एस० ट्रेमेनहीर की सरकारी रिपोर्ट का पृष्ठ XXXII, लंदन, १८६२)। सस्ती रोटी बेचनेवाले, लगभग बिना किसी अपवाद के, रोटी में फिटकरी, साबुन, सज्जी, चाक मिट्टी, डर्बीशायर के पत्थरों का चूरा और इसी तरह के अन्य सुखद, पुष्टिकारक एवं स्वास्थ्यप्रद पदार्थ मिलाकर बेचते हैं। (उपरोक्त सरकारी रिपोर्ट देखिये और उसके साथ-साथ *Committee of 1855 on the Adulteration of Bread* की रिपोर्ट तथा डा० हैस्सल की रचना *Adulterations Detected*, 2nd Ed., London, 1861 भी देखिये।) १८५५ की कमिटी के सामने बयान देते हुए सर जान गार्डन ने कहा था कि "इन मिलावटों के परिणामस्वरूप रोज़ाना दो पाउंड रोटी के सहारे ज़िंदा रहनेवाले ग़रीब आदमी को अब पौष्टिक पदार्थ का चौथाई हिस्सा भी नहीं मिलता, और उसके स्वास्थ्य पर जो बुरा असर होता है, वह अलग है।" ट्रेमेनहीर ने कहा है (देखिये l. c., p. XLVIII) कि मजदूर वर्ग का अधिकांश इस मिलावट के बारे में अच्छी तरह जानते हुए भी इस फिटकरी, पत्थरों के चूरे, आदि को क्यों स्वीकार करता है, इसका कारण यह है कि उनकी "यह मजबूरी होती है कि उनका रोटी वाला या chandler's shop [मोदी की दूकान] उनको जैसी रोटी दे, वे वैसी मंजूर कर लें।" मज़दूरों को चूंकि सप्ताह के ख़त्म होने पर मजदूरी मिलती है, इसलिए "उनके परिवार के लोग जिस रोटी का उपभोग करते हैं, उसके दाम वे सप्ताह के दौरान, सप्ताह ख़त्म होने के पहले", नहीं अदा कर पाते। और इसके

चाहे ख़रीदारी के साधन का काम करे या चाहे भुगतान के साधन का, इससे पण्यों के विनिमय के स्वरूप में कोई तब्दीली नहीं आती। श्रम-शक्ति का दाम क़रार द्वारा तय होता है, हालांकि मकान के किराये की तरह वह कुछ समय बीतने के पहले वसूल नहीं होता। श्रम-शक्ति बेच दी जाती है, हालांकि उसका दाम बाद को ही मिलता है। इसलिए दोनों पक्षों के संबंध को साफ़-साफ़ समझने के लिए फ़िलहाल यह मानकर चलना उपयोगी होगा कि श्रम-शक्ति का जो दाम तय होता है, वह उसकी बिक्री होने पर उसके मालिक को हर बार तुरंत ही मिल जाता है।

अब हमें यह मालूम है कि इस विचित्र पण्य के – यानी श्रम-शक्ति के – मालिक को उसका ग्राहक जो मूल्य देता है, वह कैसे निर्धारित होता है। ग्राहक को बदले में जो उपयोग-मूल्य मिलता है, वह केवल उसके वास्तविक फलोपभोग में, यानी श्रम-शक्ति के उपभोग में ही प्रकट होता है। इस उद्देश्य के लिए जितनी चीज़ें ज़रूरी होती हैं, जैसे कच्चा माल, द्रव्य का मालिक उन सबको मंडी में ख़रीद लेता है और उनके पूरे मूल्य के बराबर दाम दे देता है। श्रम-शक्ति का उपभोग पण्यों के उत्पादन के साथ-साथ बेशी मूल्य का उत्पादन भी होता है। अन्य हरेक पण्य की तरह श्रम-शक्ति का उपभोग भी मंडी की सीमाओं अथवा परिचलन के क्षेत्र के बाहर पूरा होता है। इसलिए हम श्रीयुत धन्नासेठ और श्रम-शक्ति के मालिक को अपने साथ लेकर शोर-शराबे से भरे इस क्षेत्र से, जहां हर चीज़ खुलेआम और सब लोगों की आंखों के सामने

आगे ट्रेमेनहीर ने कुछ गवाहियों के आधार पर यह भी कहा है कि "यह एक जानी-मानी बात है कि इन मिलावटों के द्वारा बनायी गयी रोटी ख़ास तौर पर इसी ढंग से बेचने के लिए बनायी जाती है"। "इंगलैंड के बहुत से कृषि-प्रधान ज़िलों में और उससे भी बड़ी संख्या में स्कॉटलैंड के कृषि-प्रधान ज़िलों में मज़दूरी पखवाड़े में एक बार और यहां तक कि महीने में एक बार दी जाती है। हर बार इतने लंबे समय के बाद मज़दूरी पाने के कारण खेतिहर मज़दूर को मजबूर होकर चीज़ें उधार ख़रीदनी पड़ती हैं... उसे ऊंचे दाम देने पड़ते हैं, और सच पूछिये, तो वह उस दूकान से बंध जाता है, जो उसे उधार देती है। मिसाल के लिए, विल्ट्स में होर्निंघम नामक स्थान पर, जहां मज़दूरी महीने में एक बार दी जाती है, मज़दूर जो आटा किसी दूसरी जगह पर १ शिलिंग १० पेंस फ़ी स्टोन [१४ पाउंड] के भाव पर ख़रीद सकता था, वह वहां पर उसे २ शिलिंग ४ पेंस फ़ी स्टोन के भाव पर पाता है।" (*The Medical Officer of the Privy Council etc.*, 1864 की *Public Health, Sixth Report*, p. 264.) "पेज़ली और किल्मारनोक नामक स्थानों के कपड़ा छापनेवाले मज़दूरों ने हड़ताल करके यह बात तय करायी कि उनको महीने में एक बार के बजाय पखवाड़े में एक बार मज़दूरी दी जायेगी।" (*Reports of the Inspectors of Factories for 31st October 1853*, p. 34.) मज़दूरों द्वारा पूंजीपति को दिये जानेवाले इस उधार के एक और सुंदर परिणाम के रूप में हम इंगलैंड की बहुत सी कोयला-खानों में प्रचलित उस तरीक़े का ज़िक्र कर सकते हैं, जिसके अनुसार मज़दूर को महीने के ख़त्म होने तक मज़दूरी नहीं दी जाती और इस बीच वह पूंजीपति से क़र्ज़ लेता रहता है, जो अकसर जिंस की शक्ल में होता है, जिसके लिए खान-मज़दूर को बाज़ार-भाव से ऊंचे दाम देने पड़ते हैं (Trucksystem)। "कोयला-खानों के मालिकों का यह आम रिवाज है कि वे अपने मज़दूरों को महीने में एक बार मज़दूरी देते हैं और बीच में हर सप्ताह के अंत में उनको कुछ पैसा नक़द पेशगी देते रहते हैं। यह पैसा दुकान में दिया जाता है (यह दूकान मालिक की होती है और tommy-shop कहलाती है); वहां मज़दूर एक हाथ से पैसा लेते हैं और दूसरे हाथ से उसे वापस कर देते हैं।" (*Children's Employment Commission, 3rd Report*, London, 1864, p. 38, No. 192.)

होती है, कुछ समय के लिए विदा लेते हैं और उन दोनों के पीछे-पीछे उत्पादन के उस गुप्त प्रदेश में चलते हैं, जिसके प्रवेश-द्वार पर ही हमें यह लिखा दिखायी देता है: "कामकाज के बिना अंदर आना मना है"। यहां पर हम न सिर्फ़ यह देखेंगे कि पूंजी किस तरह उत्पादन करती है, बल्कि हम यह भी देखेंगे कि पूंजी का किस तरह उत्पादन किया जाता है। यहां आख़िर हम मुनाफ़ा कमाने के भेद का पता लगाकर ही छोड़ेंगे।

जिस क्षेत्र से हम विदा ले रहे हैं, यानी वह क्षेत्र, जिसकी सीमाओं के भीतर श्रम-शक्ति का विक्रय और क्रय चलता रहता है, वह सचमुच मनुष्य के मूलभूत अधिकारों का स्वर्ग है। केवल यहीं पर स्वतंत्रता, समानता, संपत्ति और बेंथम महाशय का राज है। स्वतंत्रता का राज इसलिए कि प्रत्येक पण्य के, जैसे कि श्रम-शक्ति के, ग्राहक और विक्रेता दोनों केवल अपनी स्वतंत्र इच्छा के ही अधीन होते हैं। वे स्वतंत्र व्यक्तियों के रूप में क़रार करते हैं, और उनके बीच जो समझौता होता है, उसकी शक्ल में वे केवल अपनी संयुक्त इच्छा को क़ानूनी अभिव्यंजना देते हैं। समानता का राज इसलिए कि यहां हरेक दूसरे के साथ इस तरह का संबंध स्थापित करता है, जैसे वह पण्यों का एक साधारण मालिक भर हो, और यहां सभी समतुल्य का समतुल्य के साथ विनिमय करते हैं। संपत्ति का राज इसलिए कि हरेक केवल वही चीज़ बेचता है, जो उसकी अपनी चीज़ होती है। और बेंथम का राज इसलिए कि हरेक केवल अपनी ही फ़िक्र करता है। केवल एक ही शक्ति है, जो उनको जोड़ती है और उनका एक दूसरे के साथ संबंध स्थापित करती है। वह है स्वार्थ-प्रेम, हरेक का अपना लाभ और हरेक के निजी हित। यहां हर आदमी महज़ अपनी फ़िक्र करता है और दूसरे की फ़िक्र कोई नहीं करता, और क्योंकि वे ऐसा करते हैं, ठीक इसीलिए पूर्वस्थापित सामंजस्य के अनुसार या किसी सर्वज्ञ विधाता के तत्त्वावधान में वे सबके सब एक साथ मिलकर पारस्परिक लाभ के लिए, सर्वकल्याण और सबके हित के लिए काम करते हैं।

पण्यों के साधारण परिचलन या विनिमय के इस क्षेत्र से ही "स्वतंत्र व्यापार के सतही सिद्धांतकार" को उसके सारे विचार और मत प्राप्त होते हैं। उसी से उसको वह मापदंड मिलता है, जिससे वह एक ऐसे समाज को मापता है, जो पूंजी और मज़दूरी पर आधारित है। इस क्षेत्र से अलग होने पर ही हमें अपने dramatis personae [नाटक के पात्रों] की आकृति में कुछ परिवर्तन दिखायी देने लगता है। वह, जो पहले द्रव्य का मालिक था, अब पूंजीपति के रूप में अकड़ता हुआ आगे-आगे चल रहा है; श्रम-शक्ति का मालिक उसके मज़दूर के रूप में उसके पीछे जा रहा है। एक अपनी शान दिखाता हुआ, दांत निकाले हुए, ऐसे चल रहा है, जैसे आज व्यापार करने पर तुला हुआ हो; दूसरा दबा-दबा, हिचकिचाता हुआ जा रहा है, जैसे ख़ुद अपनी खाल बेचने मंडी में आया हो और जैसे उसे सिवाय इसके और कोई उम्मीद न हो कि अब उसकी खाल उधेड़ी जायेगी।

भाग ३

निरपेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन

अध्याय ७

श्रम-प्रक्रिया और बेशी मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया

अनुभाग १ – श्रम-प्रक्रिया अथवा उपयोग-मूल्यों का उत्पादन

पूंजीपति उपयोग में लाने के लिए श्रम-शक्ति ख़रीदता है, और उपयोगगत श्रम-शक्ति स्वयं श्रम है। श्रम-शक्ति का ग्राहक उसके विक्रेता को काम में लगाकर उसका उपभोग करता है। काम करके श्रम-शक्ति का विक्रेता सचमुच वह बन जाता है, जो पहले वह केवल संभाव्य रूप में था, अर्थात् वह कार्यरत श्रम-शक्ति, यानी मजदूर बन जाता है। यदि उसके श्रम को किसी पण्य के रूप में पुनः प्रकट होना है, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह सबसे पहले अपना श्रम किसी उपयोगी वस्तु पर, यानी किसी ऐसी वस्तु पर ख़र्च करे, जिसमें किसी न किसी ढंग की आवश्यकता को पूरा करने की सामर्थ्य हो। इसलिए पूंजीपति मजदूर को जिस चीज़ के उत्पादन में लगाता है, वह कोई विशेष उपयोग-मूल्य या कोई ख़ास वस्तु होती है। इस बात से उपयोग-मूल्यों या वस्तुओं के उत्पादन के सामान्य स्वरूप में कोई अंतर नहीं पड़ता कि यह उत्पादन पूंजीपति के नियंत्रण में और उसकी तरफ़ से होता है। इसलिए श्रम-प्रक्रिया कुछ ख़ास सामाजिक परिस्थितियों में जो विशिष्ट रूप धारण कर लेती है, हमें पहले उसके प्रभाव से स्वतंत्र रहकर श्रम-प्रक्रिया पर विचार करना चाहिए।

श्रम सबसे पहले एक ऐसी प्रक्रिया होता है, जिसमें मनुष्य और प्रकृति दोनों भाग लेते हैं और जिसमें मनुष्य अपनी मर्ज़ी से प्रकृति और अपने बीच भौतिक अन्योन्यक्रियाओं को आरंभ करता है, उनका नियमन करता है और उनपर नियंत्रण रखता है। वह प्रकृति की ही एक शक्ति के रूप में प्रकृति के मुक़ाबले में खड़ा होता है और अपने शरीर की प्राकृतिक शक्तियों को – अपनी बांहों, टांगों, सिर और हाथों को – हरकत में लाकर प्रकृति की पैदावार को एक ऐसी शक्ल में हस्तगत करने का प्रयत्न करता है, जो उसकी अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप होती है। इस प्रकार बाहरी दुनिया पर असर डालकर और उसे बदलकर मनुष्य उसके साथ-साथ ख़ुद अपनी प्रकृति भी बदल डालता है। वह अपनी सुषुप्त शक्तियों का विकास करता है और उन्हें अपने आदेशानुसार काम करने के लिए विवश करता है। अब हम श्रम के उन आदिम नैसर्गिक रूपों की चर्चा नहीं कर रहे हैं, जो हमें महज़ पशु की याद दिलाते हैं। वह अवस्था, जिसमें मनुष्य अपनी श्रम-शक्ति को पण्य के रूप में बेचने के लिए मंडी में

लाता है, और वह, जिसमें मानव-श्रम अभी अपने पहले, नैसर्गिक रूप में ही था, इन दो अवस्थाओं के बीच समय का इतना बड़ा व्यवधान है, जिसे नापना असंभव है। हम श्रम के अंतर्गत विशुद्ध मानव-श्रम को ही मानकर चल रहे हैं। मकड़ी ठीक बुनकर की तरह हीं जाला बुनती है, और शहद की मक्खी इस ख़ूबी के साथ अपनी कोठरियां बनाती है कि बहुत से वास्तुकार देखकर सिर नीचा कर लें। लेकिन अनाड़ी से अनाड़ी वास्तुकार और अच्छी से अच्छी शहद की मक्खी में फ़र्क़ यह होता है कि वास्तुकार वास्तव में भवन बनाने के पहले उसे अपनी कल्पना में बनाता है। प्रत्येक श्रम-क्रिया के समाप्त होने पर एक ऐसा परिणाम हमारे सामने आता है, जो श्रम-प्रक्रिया के आरंभ होने के समय मज़दूर की कल्पना में पहले ही से मौजूद था। मज़दूर जिस सामग्री पर मेहनत करता है, वह केवल उसके रूप को ही नहीं बदलता है, बल्कि वह ख़ुद अपना एक उद्देश्य भी पूरा करता है। यह उद्देश्य उसकी कार्य-प्रणाली के लिए नियम बन जाता है, और उसे अपनी इच्छा को उद्देश्य के अधीन बना देना पड़ता है। यह अधीनता केवल क्षणिक ही नहीं होती। शरीर की इंद्रियों के परिश्रम के अतिरिक्त, श्रम-प्रक्रिया के लिए यह भी ज़रूरी होता है कि काम के दौरान मज़दूर की इच्छा बराबर उसके उद्देश्य के अनुरूप रहे। इसका मतलब यह है कि मज़दूर को बड़ी एकाग्रता से काम करना होता है। काम की प्रकृति और उसे करने की प्रणाली मज़दूर को जितना कम आकर्षित करती हैं और इस तरह उसकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों को व्यवहार में आने का मौक़ा देनेवाली चीज़ के रूप में मज़दूर को उस काम में जितना ही कम मज़ा आता है, उसे उतनी ही अधिक एकाग्रता से काम करने के लिए विवश होना पड़ता है।

श्रम-प्रक्रिया के प्राथमिक तत्त्व ये हैं: १) मनुष्य की व्यक्तिगत क्रियाशीलता, अर्थात् स्वयं श्रम; २) उस श्रम का विषय और ३) श्रम के औज़ार।

अछूती हालत में धरती (जिसमें आर्थिक दृष्टि से पानी भी शामिल है) मनुष्य को जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं या जीवन-निर्वाह के साधन बिल्कुल तैयार हालत में प्रदान करती है।[1] उसका अस्तित्व मनुष्य से स्वतंत्र होता है, और वह मानव-श्रम का सार्विक विषय होती है। वे तमाम चीज़ें, जिनको श्रम महज़ उनके पर्यावरण के साथ अव्यवहित संबंध से अलग कर देता है, श्रम के ऐसे विषय होती हैं, जिनको प्रकृति स्वयंस्फूर्त ढंग से मनुष्य को सौंप देती है। वे मछलियां, जिन्हें हम पकड़ते हैं और उनके पर्यावरण – पानी – से अलग कर देते हैं; वह लकड़ी, जो हम अछूते जंगलों को काटकर हासिल करते हैं; वे खनिज पदार्थ, जो हम पृथ्वी के गर्भ से निकालते हैं, वे सब इसी तरह की चीज़ें हैं। दूसरी ओर, यदि श्रम का विषय मानो पहले किये गये किसी श्रम की छलनी में से छनकर हमें मिला हो, तो हम उसे कच्चा माल कहते हैं। इसकी मिसाल वह खनिज है, जो पृथ्वी के गर्भ से निकाला जा चुका है और अब धुलने के लिए तैयार है। हर प्रकार का कच्चा माल श्रम का विषय होता है, लेकिन श्रम का प्रत्येक विषय कच्चा माल नहीं होता। वह कच्चा माल तभी बन सकता है, जब उसमें श्रम द्वारा कुछ परिवर्तन कर दिया गया हो।

---

[1] "प्रकृति के स्वतःउद्भूत उत्पाद चूंकि परिमाण में थोड़े और मनुष्य के प्रभाव से बिल्कुल स्वतंत्र होते हैं, इसलिए ऐसा लगता है, जैसे प्रकृति ने उन्हें मनुष्य को उसी तरह सौंपा है, जैसे किसी नवयुवक को किसी धंधे में लगाने तथा पैसे कमाने के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए एक छोटी सी रक़म दे दी जाती है।" (James Steuart, *Principles of Political Economy*, edit. Dublin, 1770, Vol. I, p. 116.)

श्रम का औज़ार एक ऐसी वस्तु या वस्तुओं का एक ऐसा संश्लेष होता है, जिसे मज़दूर अपने और अपने श्रम के विषय के बीच में जगह देता है और जो उसकी क्रियाशीलता के संवाहक का काम करता है। मज़दूर कुछ अन्य पदार्थों को अपने उद्देश्य के अधीन बनाने के लिए कुछ पदार्थों के यांत्रिक, भौतिक एवं रासायनिक गुणों का उपयोग करता है।[2] फलों जैसे जीवन-निर्वाह के उन साधनों की ओर ध्यान न देने पर, जिनको इकट्ठा करने में मनुष्य ख़ुद अपनी बांहों और टांगों से श्रम के औज़ारों का काम लेता है, हम यह पाते हैं कि मज़दूर जिस पहली चीज़ पर अधिकार करता है, वह श्रम का विषय नहीं, बल्कि श्रम का औज़ार होती है। इस प्रकार प्रकृति उसकी क्रियाशीलता की एक इंद्रिय बन जाती है, जिसे वह अपनी शारीरिक इंद्रियों के साथ जोड़ लेता है और इस तरह बाइबल के कथन के विपरीत अपना क़द और लंबा कर लेता है। पृथ्वी जैसे मनुष्य का आदिम भंडार-गृह है, वैसे ही वह उसका आदिम औज़ार-ख़ाना भी है। मिसाल के लिए, वह उसे फेंकने, पीसने, दबाने और काटने, आदि के औज़ारों के रूप में तरह-तरह के पत्थर देती है। पृथ्वी ख़ुद भी श्रम का एक औज़ार है, लेकिन जब वह इस रूप में खेती में इस्तेमाल की जाती है, तब उसके अलावा अनेक और औज़ारों की तथा श्रम के अपेक्षाकृत ऊंचे विकास की आवश्यकता होती है।[3] श्रम का तनिक सा विकास होते ही उसे ख़ास तौर पर तैयार किये गये औज़ारों की ज़रूरत होने लगती है। चुनांचे पुरानी से पुरानी गुफाओं में भी हमें पत्थर के औज़ार और हथियार मिलते हैं। मानव-इतिहास के प्राचीनतम काल में ख़ास तौर पर तैयार किये गये पत्थरों, लकड़ी, हड्डियों और घोंघों के साथ-साथ पालतू जानवर भी श्रम के औज़ारों के रूप में मुख्य भूमिका अदा करते हैं।[4] पालतू जानवर वे होते हैं, जो ख़ास तौर पर श्रम के उद्देश्य को सामने रखकर पाले-पोसे गये हों और जिनमें श्रम द्वारा परिवर्तन कर दिये गये हों। श्रम के औज़ारों को इस्तेमाल करना और बनाना हालांकि बीज-रूप में कुछ क़िस्मों के जानवरों में भी पाया जाता है, परंतु विशिष्ट रूप से वह मानव-श्रम की ही विशेषता है, और फ़्रैंकलिन ने इसीलिए मनुष्य की परिभाषा करते हुए उसे एक औज़ार बनानेवाला जानवर बताया है। समाज के जो आर्थिक रूप लुप्त हो गये हैं, उनकी खोज के लिए श्रम के पुराने औज़ारों के अवशेषों का वही महत्त्व होता है, जो पथरायी हुई हड्डियों का जानवरों की उन नसलों का पता लगाने के लिए होता है, जो अब पृथ्वी से ग़ायब हो गयी हैं। अलग-अलग आर्थिक युगों में भेद करने के लिए हम यह नहीं

---

[2] "बुद्धि जितनी बलवती, उतनी ही चतुर भी होती है। उसकी चतुराई मुख्यतया वस्तुओं की बिचवाई का काम करनेवाले के रूप में प्रकट होती है, जिसके द्वारा वह वस्तुओं की अपनी प्रकृति के अनुसार उनकी एक दूसरी के ऊपर क्रिया और प्रतिक्रिया कराती है और इस प्रकार प्रक्रिया में बिना कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किये अपने उद्देश्यों को कार्यान्वित कराती है।" (Hegel, *Enzyklopädie*, Erster Theil, *Die Logik*, Berlin, 1840, S. 382.)

[3] गानिल्ह की रचना (*Théorie de l'Économie Politique*, Paris, 1815) वैसे तो घटिया है, किंतु उसमें उन्होंने फ़िज़ियोक्रेटों को जवाब देते हुए बहुत सुंदर ढंग से उन अनेक प्रक्रियाओं की गणना की है, जिनके संपन्न हो चुकने के बाद ही सही अर्थ में खेती शुरू हो सकती है।

[4] तुर्गो ने अपनी रचना (*Réflexions sur la Formation et la Distribution des Richesses*, 1766) में प्रारंभिक सभ्यता के लिए पालतू जानवरों के महत्त्व को बहुत ज़ोरदार ढंग से स्पष्ट किया है।

देखते कि उन युगों में कौन-कौनसी वस्तुएं बनायी जाती थीं, बल्कि यह पता लगाते हैं कि वे किस तरह और किन औज़ारों से बनायी जाती थीं।[5] श्रम के औज़ार न केवल इस बात के मापदंड का काम देते हैं कि मानव-श्रम किस हद तक विकास कर चुका है, बल्कि वे यह भी इंगित करते हैं कि वह श्रम किन सामाजिक परिस्थितियों में किया जाता है। श्रम के औज़ारों में कुछ यांत्रिक ढंग के होते हैं, जिन्हें यदि एक साथ लिया जाये, तो हम उनको उत्पादन की हड्डियां और मांस-पेशियां कह सकते हैं। दूसरी ओर, नलियां, टब, टोकरियां, मर्तबान, आदि जैसे कुछ औज़ार होते हैं, जो केवल उस सामग्री को रखने के काम में आते हैं, जिसपर श्रम किया जाता है। उन्हें हम आम तौर पर उत्पादन की वाहिका-प्रणाली कह सकते हैं। उत्पादन के किसी भी ख़ास युग की विशेषताओं का दूसरे प्रकार के औज़ारों की अपेक्षा पहले प्रकार के औज़ारों से अधिक निश्चित रूप में पता चलता है। दूसरे प्रकार के औज़ार केवल रासायनिक उद्योगों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगते हैं।

श्रम के औज़ारों का यदि हम अधिक व्यापक अर्थ लगायें तो उनमें ऐसी वस्तुओं के अलावा, जो प्रत्यक्ष रूप से श्रम के विषय तक श्रम का स्थानांतरण करने के काम में आती हैं और इसलिए जो किसी न किसी ढंग से क्रियाशीलता के संवाहकों का काम करती हैं, ऐसी तमाम चीज़ें भी शामिल की जा सकती हैं, जो श्रम-प्रक्रिया संपन्न करने के लिए ज़रूरी होती हैं। ये चीज़ें श्रम-प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित नहीं होतीं, लेकिन उनके बिना या तो श्रम-प्रक्रिया का संपन्न होना ही असंभव हो जाता है या वह केवल आंशिक रूप में ही संपन्न हो पाती है। एक बार फिर हम पृथ्वी को इस प्रकार का सार्विक औज़ार भी पाते हैं, क्योंकि वह मज़दूर को locus standi [खड़े होने का स्थान] और अपनी क्रियाशीलता का उपयोग करने के लिए क्षेत्र प्रदान करती है। ऐसे औज़ारों में, जो पहले किये गये किसी श्रम का परिणाम होते हैं और इस श्रेणी के अंतर्गत भी आते हैं, हम वर्कशापों, नहरों, सड़कों, आदि की चर्चा कर सकते हैं।

अतएव श्रम-प्रक्रिया में मनुष्य की क्रियाशीलता श्रम के औज़ारों की मदद से, जिस सामग्री पर वह श्रम किया जाता है, उसमें कुछ ऐसा परिवर्तन पैदा कर देती है, जिसके बारे में श्रम आरंभ करने के समय ही सोच लिया गया था। श्रम-प्रक्रिया उत्पाद में लोप हो जाती है। उत्पाद एक उपयोग-मूल्य होता है। यानी प्रकृति की दी हुई सामग्री का रूप बदलकर उसे मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुकूल बना दिया जाता है। श्रम अपने विषय में समाविष्ट हो जाता है: श्रम भौतिक रूप धारण कर लेता है, उसका विषय रूपांतरित हो जाता है। जो चीज़ मज़दूर में गति के रूप में प्रकट हुई थी, वही अब उत्पाद में एक गतिहीन,

---

[5] उत्पादन के अलग-अलग युगों का प्रौद्योगिक दृष्टि से मुक़ाबला करने के लिए सबसे कम महत्त्व रखनेवाले पण्य विलास की वस्तुएं हैं। आज तक लिखे गये हमारे इतिहासों में भौतिक उत्पादन के विकास की ओर चाहे जितना कम ध्यान दिया गया हो, जो समस्त सामाजिक जीवन का और इसलिए संपूर्ण वास्तविक इतिहास का आधार होता है, फिर भी प्रागैतिहासिक काल को अलग-अलग युगों में तथाकथित ऐतिहासिक अनुसंधान के निष्कर्षों के अनुसार नहीं, बल्कि भौतिकवादी अनुसंधान के निष्कर्षों के अनुसार बांटा गया है। इन युगों का विभाजन उन सामग्रियों के अनुसार किया गया है, जिनसे उनके औज़ार और हथियार बनाये जाते थे। मिसाल के लिए, प्रागैतिहासिक काल को पाषाण-युग, कांस्य-युग और लौह-युग में बांटा गया है।

स्थिर गुण के रूप में प्रकट होती है। लुहार गढ़ता है, और उसका उत्पाद एक गढ़ी हुई चीज़ होता है।

यदि हम पूरी प्रक्रिया पर उसके फल, यानी उत्पाद के दृष्टिकोण से विचार करें, तो यह बात स्पष्ट है कि श्रम के औज़ार और श्रम का विषय दोनों उत्पादन के साधन होते हैं[6] और श्रम स्वयं उत्पादक श्रम होता है।[7]

यद्यपि किसी उत्पाद के रूप में एक उपयोग-मूल्य श्रम-प्रक्रिया से निकलता है, फिर भी पहले किये गये श्रम के उत्पाद – कुछ और उपयोग-मूल्य – उत्पादन के साधनों के रूप में इस प्रक्रिया में भाग लेते हैं। वही उपयोग-मूल्य पहले की एक श्रम-प्रक्रिया का उत्पाद भी होता है और बाद की एक श्रम-प्रक्रिया में उत्पादन के साधन का भी काम करता है। इसलिए उत्पादित वस्तुएं श्रम का फल ही नहीं, उसकी बुनियादी शर्त भी होती हैं।

निस्सारक उद्योगों में, जैसे खान खोदना, शिकार करना, मछली पकड़ना और खेती (जहां तक कि वह अछूती धरती को तोड़ने तक सीमित है), श्रम की सामग्री सीधे प्रकृति से मिल जाती है। परंतु इन उद्योगों को छोड़कर उद्योग की अन्य सभी शाखाओं में कच्चे माल पर, यानी ऐसी वस्तुओं पर श्रम किया जाता है, जो पहले ही श्रम के द्वारा छनकर आयी होती हैं, यानी जो ख़ुद भी श्रम का उत्पाद होती हैं। खेती में इस्तेमाल होनेवाला बीज इसी श्रेणी में आता है। वे पशु और पौधे, जिनको हम प्रकृति का उत्पाद समझने के आदी हैं, अपने वर्तमान रूप में न केवल पिछले वर्ष के श्रम का उत्पाद होते हैं, बल्कि वे मनुष्य के निरीक्षण में और उसके श्रम के द्वारा संपन्न होनेवाले उस रूपांतरण का फल होते हैं, जो कई पीढ़ियों से बराबर धीरे-धीरे जारी रहा है। लेकिन श्रम के अधिकतर औज़ार ऐसे होते हैं कि केवल सतही चीज़ें देखनेवालों को भी उनमें बीते हुए युगों के श्रम के चिह्न दिखायी दे जाते हैं।

कच्चा माल या तो उत्पाद का प्रधान तत्त्व होता है या वह उसके निर्माण में केवल सहायक के रूप में भाग लेता है। सहायक या तो श्रम के औज़ारों के द्वारा ख़र्च हो सकता है, जैसे कोयला बायलर के नीचे जलाया जाता है, तेल पहिये में डाला जाता है और भूसा गाड़ी या हल खींचनेवाले घोड़े को खिलाया जाता है, या उसे कच्चे माल में कोई परिवर्तन पैदा करने के लिए उसमें मिला दिया जाता है, जैसे क्लोरीन मिलाकर कपड़े को सफ़ेद किया जाता है, कोयला लोहे में मिलाया जाता है और रंग ऊन में। या इसी तरह सहायक ख़ुद काम करने में भी मददगार हो सकता है, जैसे वर्कशाप को गरम रखने और उसमें प्रकाश करने के लिए इस्तेमाल होनेवाली सामग्री काम करने में मदद देती है। वास्तविक रासायनिक उद्योग में प्रधान तत्त्व और सहायक का भेद मिट जाता है, क्योंकि ऐसे उद्योगों में कोई सा भी कच्चा माल अपनी पुरानी बनावट के साथ उत्पाद के सारतत्त्व में पुनः प्रकट नहीं होता।[8]

प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण होते हैं, और इसलिए उसके भिन्न-भिन्न ढंग के उपयोग किये जा सकते हैं। चुनांचे एक उत्पाद कई बहुत ही अलग-अलग क़िस्म की प्रक्रियाओं में कच्चे माल का काम कर सकता है। मिसाल के लिए, अनाज आटा पीसनेवालों, स्टार्च बनानेवालों, शराब

---

[6] यह कहना एक विरोधाभासी कथन प्रतीत होता है कि मसलन जो मछलियां अभी तक पकड़ी नहीं गयी हैं, वे मछली-उद्योग में उत्पादन के साधनों का काम करती हैं। लेकिन अभी तक किसी ने उस पानी में से मछली पकड़ने की कला का आविष्कार नहीं किया है, जिसमें मछली है ही नहीं।

[7] अकेले श्रम-प्रक्रिया के दृष्टिकोण से यह निर्धारित करना कि उत्पादक श्रम क्या होता है, यह तरीक़ा उत्पादन की पूंजीवादी प्रक्रिया पर सीधे हरगिज़ लागू नहीं हो सकता है।

[8] श्टोर्ख़ ने कच्चे मालों को "matières" और सहायक सामग्री को "matériaux" कहा है। शेरबूलिये ने सहायकों को "matières instrumentales" का नाम दिया है।

खींचनेवालों और ढोर पालनेवालों के काम में आता है। इसके साथ-साथ वह बीज की शक्ल में ख़ुद अपने उत्पादन में भी कच्चे माल की तरह भाग लेता है। इसी तरह कोयला खान से कोयला निकालने के उद्योग का उत्पाद भी है और उसमें उत्पादन के साधन का भी काम करता है।

फिर यह भी मुमकिन है कि कोई ख़ास उत्पाद एक ही प्रक्रिया में श्रम के औज़ार की तरह भी इस्तेमाल किया जाये और कच्चे माल की तरह भी। मिसाल के लिए, ढोरों को खिला-पिलाकर मोटा करने की क्रिया को लीजिये। उसमें जानवर कच्चे माल का काम करता है और साथ ही खाद पैदा करने के औज़ार के रूप में भी काम में आता है।

संभव है कि कोई उत्पाद तुरंत उपयोग के लिए तैयार होते हुए भी किसी और उत्पाद के कच्चे माल का काम करे, जैसे कि अंगूर, जब वे शराब के लिए कच्चे माल का काम करते हैं। दूसरी ओर, मुमकिन है कि श्रम अपना उत्पाद हमें ऐसे रूप में दे, जिसमें हम उसका केवल कच्चे माल की तरह ही इस्तेमाल कर सकें। कपास, धागा और सूत इसकी मिसालें हैं। इस तरह के कच्चे माल को, ख़ुद उत्पाद होते हुए भी, मुमकिन है कि अलग-अलग प्रक्रियाओं के एक पूरे क्रम से गुज़रना पड़े। इनमें से प्रत्येक प्रक्रिया में वह बारी-बारी से और लगातार बदलते हुए रूप में उस वक़्त तक कच्चे माल का काम करता जाता है, जब तक कि क्रम की अंतिम प्रक्रिया उसे मुकम्मल उत्पाद नहीं बना देती। इस रूप में वह व्यक्तिगत उपभोग के लिए या श्रम के औज़ार की तरह इस्तेमाल में आने के लिए तैयार हो जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि किसी उपयोग-मूल्य को कच्चा माल समझा जाये, या श्रम का औज़ार माना जाये, या उसे उत्पाद कहा जाये, यह पूर्णतया इस बात से निश्चित होता है कि वह उपयोग-मूल्य श्रम-प्रक्रिया में क्या कार्य करता है और उसमें उसकी क्या स्थिति होती है। स्थिति के बदलने के साथ-साथ उसका स्वरूप भी बदल जाता है।

इसलिए जब कभी कोई उत्पाद उत्पादन के साधन के रूप में किसी नयी श्रम-प्रक्रिया में प्रवेश करता है, तब ऐसा करके वह उत्पाद का रूप खो देता है और श्रम-प्रक्रिया का एक तत्त्व मात्र बन जाता है। सूत कातनेवाला तकुओं को केवल कातने के औज़ार और सन को कातने की सामग्री समझता है। ज़ाहिर है कि बिना सामग्री के और बिना तकुओं के कातना असंभव है; और इसलिए हमें यह मानकर चलना पड़ता है कि कातने की प्रक्रिया के आरंभ होने के समय ये चीज़ें उत्पाद के रूप में पहले से मौजूद थीं। परंतु ख़ुद कातने की प्रक्रिया में इस बात का तनिक भी महत्त्व नहीं है कि ये चीज़ें पहले किये गये किसी श्रम के उत्पाद हैं। यह उसी तरह की बात है, जैसे पाचन-प्रक्रिया में इसका ज़रा भी महत्त्व नहीं होता कि रोटी काश्तकार, आटा पीसनेवाले और रोटी पकानेवाले के श्रम का उत्पाद है। इसके विपरीत किसी भी प्रक्रिया में जब उत्पादन के साधन उत्पाद के रूप में अपनी याद दिलाते हैं, तब आम तौर पर उसका कारण उत्पाद के रूप में उनके दोष होते हैं। एक कुंद चाकू या कमज़ोर धागा हमें ज़बर्दस्ती श्रीयुत क नामक चाकू बनानेवाले या श्रीयुत ख नामक कातनेवाले की याद दिला देता है। तैयार उत्पाद में वह श्रम दृष्टिगोचर नहीं होता, जिसके द्वारा उस उत्पाद ने अपने उपयोगी गुण प्राप्त किये हैं; लगता है कि जैसे वह ग़ायब हो गया हो।

श्रम के काम में न आनेवाली मशीन बेकार होती है। इसके अलावा वह प्राकृतिक शक्तियों के विनाशकारी प्रभावों का शिकार हो जाती है। लोहे में ज़ंग लग जाता है और लकड़ी सड़ जाती है। उस सूत में, जिससे हम न तो कपड़ा तैयार करते हैं और न बुनाई करते हैं, महज़

कपास बरबाद हुई है। जीवित श्रम को इन वस्तुओं को हाथ में लेकर उनको मृत्यु-निद्रा से जगाना चाहिए और मात्र संभावित उपयोग-मूल्यों से वास्तविक और प्रभावी उपयोग-मूल्यों में परिणत करना चाहिए। ये वस्तुएं जब श्रम की आग में तपती हैं, जब उनपर श्रम के संघटन के अभिन्न अंग के रूप में अधिकार कर लिया जाता है और जब उनमें इस उद्देश्य से कि वे श्रम-प्रक्रिया में अपनी भूमिका संपन्न कर सकें, मानो प्राणों का संचार कर दिया जाता है, तब ये वस्तुएं ख़र्च तो होती हैं, पर वे एक उद्देश्य के लिए ख़र्च होती हैं और ऐसे नये उपयोग-मूल्यों या नये उत्पाद के प्राथमिक संघटकों के रूप में ख़र्च होती हैं, जो व्यक्तिगत उपभोग के लिए जीवन-निर्वाह के साधनों के रूप में या किसी नयी श्रम-प्रक्रिया के लिए उत्पादन के साधनों के रूप में काम आने के वास्ते सदा तैयार रहते हैं।

चुनांचे अगर एक तरफ़, तैयार उत्पाद श्रम-प्रक्रिया का न सिर्फ़ फल होते हैं, बल्कि उसकी आवश्यक शर्त भी होते हैं, तो दूसरी तरफ़, उपयोग-मूल्यों के उनके स्वरूप को क़ायम रखने और उन्हें सचमुच उपयोग में लाने का केवल यही एक तरीक़ा है कि उन्हें श्रम-प्रक्रिया में सम्मिलित किया जाये और उनका जीवित श्रम से संपर्क स्थापित किया जाये।

श्रम अपने भौतिक उपकरणों का, अपने विषय का और अपने औज़ारों का इस्तेमाल तथा उपभोग करता है, और इसलिए वह उपभोग की प्रक्रिया होता है। इस प्रकार के उत्पादक उपभोग और व्यक्तिगत उपभोग में यह अंतर होता है कि व्यक्तिगत उपभोग उत्पाद को जीवित व्यक्तियों के जीवन-निर्वाह के साधनों के रूप में ख़र्च करता है और उत्पादक उपभोग उसको उस एकमात्र साधन के रूप में ख़र्च करता है, जिसके द्वारा ही श्रम के लिए – या जीवित व्यक्ति की श्रम-शक्ति के लिए – कार्य करना संभव होता है। अतः व्यक्तिगत उपभोग का उत्पाद ख़ुद उपभोक्ता होता है, और उत्पादक उपभोग का फल उपभोक्ता से अलग होता है।

इसलिए जिस हद तक श्रम के औज़ार और विषय ख़ुद उत्पाद हैं, उस हद तक श्रम उत्पाद को जन्म देने के लिए उत्पाद ख़र्च करता है, या, दूसरे शब्दों में, एक प्रकार के उत्पाद को दूसरे प्रकार के उत्पाद के उत्पादन के साधनों में परिणत करके ख़र्च करता है। लेकिन जिस प्रकार आरंभ में श्रम-प्रक्रिया में भाग लेनेवाले केवल मनुष्य और पृथ्वी, दो ही थे, जिनमें से पृथ्वी का अस्तित्व मनुष्य से स्वतंत्र होता है, उसी प्रकार हम आज भी इस प्रक्रिया में उत्पादन के बहुत से ऐसे साधनों का इस्तेमाल करते हैं, जो हमें सीधे प्रकृति से मिलते हैं और जो प्राकृतिक पदार्थों के साथ मानव-श्रम के किसी मिलाप का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

ऊपर हमने श्रम-प्रक्रिया को उसके साधारण प्राथमिक तत्त्वों में परिणत कर दिया है। इस रूप में श्रम-प्रक्रिया उपयोग-मूल्यों के उत्पादन के उद्देश्य से की गयी मानव की कार्रवाई है; वह प्राकृतिक पदार्थों को मानव-आवश्यकताओं के अनुकूल बनाकर उनको हस्तगत करने की प्रक्रिया है; वह मनुष्य और प्रकृति के बीच पदार्थ का विनिमय संपन्न करने की आवश्यक शर्त है; वह मानव-अस्तित्व की शर्त है, जिसे प्रकृति ने सदा-सदा के लिए अनिवार्य बना दिया है, और इसलिए वह इस अस्तित्व के प्रत्येक सामाजिक रूप से स्वतंत्र होती है, या संभवतः यह कहना ज़्यादा सही होगा कि वह ऐसे प्रत्येक रूप में सामान्यतः मौजूद होती है। इसलिए हम जिस मज़दूर पर विचार कर रहे हैं, उसका ऊपर अन्य मज़दूरों के संबंध में वर्णन करने की आवश्यकता नहीं थी। एक तरफ़, मनुष्य और उसका श्रम और दूसरी तरफ़, प्रकृति और उसकी सामग्रियां ही बस काफ़ी थीं। जिस प्रकार दलिया खाकर यह नहीं बताया जा

सकता कि जई किसने बोयी थी, उसी प्रकार ख़ुद इस सरल श्रम-प्रक्रिया से हमें यह नहीं पता चलता कि वह किन सामाजिक परिस्थितियों के अंतर्गत हो रही है। वह ख़ुद हमें यह नहीं बताती कि वह ग़ुलामों के बेरहम मालिक के कोड़े के ज़ोर पर संपन्न हो रही है या पूंजीपति की व्यग्रतापूर्ण निगरानी में, कि कोई सिंसिन्नटुस अपना छोटा सा खेत जोतकर उसे संपन्न कर रहा है या कोई जंगली आदमी वन्य पशुओं को पत्थरों से मार-मारकर उसे पूरा कर रहा है।[9]

आइये, अब हम अपने भावी पूंजीपति की ओर लौट चलें। हम उससे उस वक़्त अलग हुए थे, जब उसने खुली मंडी में श्रम-प्रक्रिया के तमाम आवश्यक उपकरण – वस्तुगत उपकरण, यानी उत्पादन के साधन, और वैयक्तिक उपकरण, यानी श्रम-शक्ति, दोनों बस – ख़रीदे ही थे। एक विशेषज्ञ की पैनी दृष्टि से उसने अपने विशेष व्यवसाय के लिए, वह चाहे कातने का व्यवसाय हो, चाहे जूते बनाने का और चाहे किसी और क़िस्म का, – सबसे अधिक उपयुक्त ढंग के उत्पादन के साधन और श्रम-शक्ति चुन ली थी। उसके बाद वह श्रम-शक्ति नामक उस पण्य का, जिसको उसने कुछ समय पहले ही ख़रीदा है, उपभोग करना आरंभ करता है। इसके लिए वह उस श्रम-शक्ति की साकार मूर्ति – मज़दूर – से उसके श्रम के द्वारा उत्पादन के साधनों का उपयोग कराता है। श्रम-प्रक्रिया के सामान्य स्वरूप में इस बात से, ज़ाहिर है, कोई अंतर नहीं पड़ता कि मज़दूर यहां ख़ुद अपने लिए काम करने के बजाय पूंजीपति के लिए काम करता है। इसके अलावा जूते बनाने या कातने में जिन ख़ास तरीक़ों और प्रक्रियाओं का उपयोग किया जाता है, पूंजीपति के हस्तक्षेप से उनमें तुरंत कोई परिवर्तन नहीं आ जाता है। मंडी में जैसी भी श्रम-शक्ति मिलती हो, शुरू में पूंजीपति को उसी से आरंभ करना पड़ता है, और इसलिए उसे उसी प्रकार के श्रम से संतोष करना पड़ता है, जिस प्रकार का श्रम पूंजीपतियों के उदय के ठीक पहले वाले काल में मिलता था। श्रम के पूंजी के अधीन हो जाने के कारण उत्पादन के तरीक़ों में होनेवाले परिवर्तन केवल बाद के काल में आते हैं, और इसलिए उनपर हम बाद के किसी अध्याय में विचार करेंगे।

श्रम-प्रक्रिया जब उस प्रक्रिया में बदल जाती है, जिसके ज़रिये पूंजीपति श्रम-शक्ति का उपभोग करता है, तब उसमें दो ख़ास विशेषताएं दिखायी देने लगती हैं। एक तो यह कि मज़दूर उस पूंजीपति के नियंत्रण में काम करता है, जो उसके श्रम का स्वामी होता है, और पूंजीपति इस बात का पूरा ख़याल रखता है कि काम ठीक ढंग से हो और उत्पादन के साधनों का बुद्धिमानी के साथ प्रयोग किया जाये, ताकि कच्चे माल का अनावश्यक अपव्यय न हो और काम में औज़ारों की जितनी घिसाई लाज़िमी है, वे उससे ज़्यादा न घिसने पायें।

दूसरे यह कि अब उत्पाद मज़दूर की – यानी उसके प्रत्यक्ष उत्पादक की – संपत्ति न होकर पूंजीपति की संपत्ति होता है। मान लीजिये कि एक पूंजीपति दिन भर की श्रम-शक्ति का

---

[9] अपनी तर्क-शक्ति का चमत्कारिक प्रयोग करते हुए कर्नल टॉरेन्स ने जंगली आदमी के इस पत्थर में पूंजी की उत्पत्ति का रहस्य खोज निकाला है। उन्होंने लिखा है: "वह [जंगली आदमी] वन्य पशु का पीछा करते हुए उसपर जो पहला पत्थर फेंकता है, अपने सिर के ऊपर लटके हुए फल को नीचे गिराने के लिए जो पहली लकड़ी हाथ में उठाता है, उसमें हम एक वस्तु के उपार्जन में मदद करने के उद्देश्य से एक दूसरी वस्तु का हस्तगतकरण होते हुए देखते हैं और इस तरह पूंजी की उत्पत्ति के रहस्य को जान जाते हैं।" (R. Torrens, *An Essay on the Production of Wealth etc.*, pp. 70-71.)

दाम उसके मूल्य के अनुसार चुका देता है। तब उसको किसी भी अन्य पण्य की तरह, मिसाल के लिए, दिन भर के वास्ते किराये पर लिये गये घोड़े की भांति उस श्रम-शक्ति के भी दिन भर के उपयोग का अधिकार होता है। किसी पण्य के उपयोग का अधिकार उसके ख़रीदार को होता है, और जब श्रम-शक्ति का विक्रेता अपना श्रम देता है, तब वह असल में इससे अधिक कुछ नहीं करता कि उसने जो उपयोग-मूल्य बेच दिया है, उसे अब वह हस्तांतरित कर देता है। वह जिस क्षण से वर्कशाप में क़दम रखता है, उसी क्षण से उसकी श्रम-शक्ति के उपयोग-मूल्य पर और इसलिए उसके उपयोग पर भी, अर्थात् मजदूर के श्रम पर भी, पूंजीपति का अधिकार हो जाता है। श्रम-शक्ति ख़रीदकर पूंजीपति उत्पाद के निर्जीव संघटकों में सजीव किण्व के रूप में श्रम का समावेश कर देता है। उसके दृष्टिकोण से श्रम-प्रक्रिया ख़रीदे हुए पण्य का, अर्थात् श्रम-शक्ति का, उपभोग करने से अधिक और कुछ नहीं होती, लेकिन इस उपभोग को कार्यान्वित करने का इसके सिवा और कोई तरीक़ा नहीं है कि श्रम-शक्ति को उत्पादन के साधन दिये जायें। श्रम-प्रक्रिया उन चीज़ों के बीच होनेवाली प्रक्रिया है, जिनको पूंजीपति ने ख़रीद लिया है और जो उसकी संपत्ति हो गयी हैं। चुनांचे जिस तरह पूंजीपति के तहख़ाने में होनेवाली किण्वन की प्रक्रिया की पैदावार – शराब – पूंजीपति की संपत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार श्रम-प्रक्रिया की पैदावार भी उसकी संपत्ति होती है।[10]

अनुभाग २ – बेशी मूल्य का उत्पादन

पूंजीपति जिस उत्पाद पर अधिकार कर लेता है, वह उपयोग-मूल्य होता है, जैसे, मिसाल के लिए, सूत या जूते। लेकिन यद्यपि एक अर्थ में जूते समस्त सामाजिक प्रगति का आधार होते हैं और हमारा पूंजीपति निश्चित रूप से "प्रगतिवादी" है, फिर भी वह केवल

---

[10] "पैदावार को पूंजी में बदलने के पहले उसे हस्तगत कर लिया जाता है; यह रूपांतरण उसे हस्तगतकरण से नहीं बचा सकता।" (Cherbuliez, *Richesse ou Pauvreté*, édit. Paris, 1841, p. 54.) "जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा के एवज़ में अपना श्रम बेचकर सर्वहारा पैदावार में हिस्सा बंटाने का अपना हर तरह का दावा त्याग देता है। पैदावार हस्तगत करने का ढंग पहले जैसा ही रहता है; ऊपर हमने जिस सौदे का ज़िक्र किया है, उससे इसमें कोई तब्दीली नहीं आती। पैदावार पर एकमात्र उस पूंजीपति का अधिकार होता है, जिसने कच्चा माल तथा जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं जुटायी हैं। और यह हस्तगतकरण के उस नियम का कठोर परिणाम होता है, जिसका मूल सिद्धांत इसके ठीक उलट है, यानी जिसका मूल सिद्धांत यह है कि हर मजदूर जो कुछ पैदा करता है, उसपर एकमात्र उस मजदूर का ही अधिकार होता है।" (James Mill, *Elements of Political Economy etc.*, London, 1821, p. 58.) "जब मज़दूरों को अपने श्रम की मज़दूरी मिल जाती है... तब पूंजीपति न केवल पूंजी का" (पूंजी से उसका मतलब उत्पादन के साधनों से है), "बल्कि श्रम का भी स्वामी होता है। यदि जो कुछ मजदूरी के रूप में दिया जाता है, वह पूंजी की मद में शामिल कर लिया जाता है, जैसा कि आम चलन है, तो पूंजी से अलग श्रम की बात करना कोरी बकवास है। पूंजी शब्द का जब इस रूप में प्रयोग किया जाता है, तब उसमें श्रम और पूंजी दोनों शामिल होते हैं।" (James Mill, l. c., pp. 70, 71.)

जूतों के लिए जूते नहीं बनाता। पण्यों के उत्पादन में उपयोग-मूल्य "qu'on aime pour lui-même" [केवल उसी के लिए प्यार की जानेवाली] चीज़ नहीं होता। पूंजीपति उपयोग-मूल्यों को केवल इसीलिए और उसी हद तक तैयार करते हैं, जिस हद तक कि वे विनिमय-मूल्य के भौतिक आधार, या विनिमय-मूल्य के आधान, होते हैं। हमारे पूंजीपति के सामने दो उद्देश्य होते हैं। एक तो वह कोई ऐसा उपयोग-मूल्य तैयार करना चाहता है, जिसका विनिमय-मूल्य हो, यानी वह कोई ऐसी वस्तु तैयार करना चाहता है, जो बेची जा सके, या यूं कहिये कि वह कोई पण्य तैयार करना चाहता है। दूसरे, वह कोई ऐसा पण्य तैयार करना चाहता है, जिसका मूल्य उसके उत्पादन में इस्तेमाल होनेवाले पण्यों के कुल मूल्य से ज्यादा हो, यानी जिसका मूल्य, पूंजीपति ने मंडी में अपने खरे द्रव्य से उत्पादन के जो साधन और जो श्रम-शक्ति ख़रीदी है, उनके कुल मूल्य से अधिक हो। पूंजीपति का उद्देश्य केवल कोई उपयोग-मूल्य पैदा करना नहीं, बल्कि कोई पण्य पैदा करना है; केवल उपयोग-मूल्य पैदा करना नहीं, बल्कि मूल्य पैदा करना है, केवल मूल्य नहीं, बल्कि बेशी मूल्य पैदा करना है।

हमें यह याद रखना चाहिए कि अब हम पण्यों के उत्पादन की चर्चा कर रहे हैं और यहां तक हमने इस प्रक्रिया के केवल एक पहलू पर ही विचार किया है। जिस प्रकार पण्य उपयोग-मूल्य भी होते हैं और मूल्य भी, उसी प्रकार पण्यों को पैदा करने की प्रक्रिया अनिवार्य रूप से श्रम-प्रक्रिया होती है और साथ ही मूल्य पैदा करने की भी प्रक्रिया होती है।[10a]

आइये, अब हम उत्पादन पर मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया के रूप में विचार करें।

हम जानते हैं कि हरेक पण्य का मूल्य उसपर ख़र्च किये गये तथा उसमें मूर्त होनेवाले श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, या यूं कहिये कि कुछ निश्चित सामाजिक परिस्थितियों में प्रत्येक पण्य के उत्पादन के लिए जितना श्रम-काल आवश्यक होता है, उसी से उसका मूल्य निर्धारित होता है। पूंजीपति के लिए जो श्रम-प्रक्रिया संपन्न की गयी है, उससे उसको जो उत्पाद मिलता है, उसपर भी यही नियम लागू होता है। मान लीजिये कि यह उत्पाद १० पाउंड सूत है। अब हमारा पहला क़दम यह होना चाहिए कि हम हिसाब लगाकर देखें कि उसमें श्रम की कितनी मात्रा लगी है।

सूत कातने के लिए कच्चा माल ज़रूरी होता है। मान लीजिये कि इसके लिए १० पाउंड कपास की ज़रूरत होती है। फ़िलहाल हमें इस कपास के मूल्य की छानबीन करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम यह मानकर चलेंगे कि हमारे पूंजीपति ने कपास उसका पूरा मूल्य – यानी दस शिलिंग – देकर ख़रीदी है। इस दाम में कपास के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम ने समाज के औसत श्रम के रूप में पहले ही से अभिव्यक्ति प्राप्त कर ली है। इसके अलावा हम यह भी मानकर चलेंगे कि तकुए की घिसाई, जिसे यहां पर श्रम के अन्य तमाम प्रयुक्त औज़ारों का प्रतिनिधि माना जा सकता है, २ शिलिंग के मूल्य के बराबर बैठती है। तब यदि बारह शिलिंग सोने की जितनी मात्रा का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसे पैदा करने में

[10a] जैसा कि एक पाद-टिप्पणी में पहले कहा जा चुका है, श्रम के इन दो पहलुओं के लिए अंग्रेज़ी भाषा में दो अलग-अलग शब्द हैं। साधारण श्रम-प्रक्रिया में, अर्थात् उपयोग-मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में, श्रम Work कहलाता है; मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में वह Labour कहलाता है, और यहां पर Labour का उसके विशुद्ध आर्थिक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। – फ़े० एं०।

श्रम के चौबीस घंटे – या काम के दो दिन – लग जाते हैं, तो इससे सर्वप्रथम हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सूत में दो दिन का श्रम समाविष्ट है।

हमको इस बात से ग़लतफ़हमी में नहीं पड़ जाना चाहिए कि कपास ने जहां एक नयी शक्ल अख़्तियार कर ली है, वहां तकुए का मूल्य किसी हद तक ख़र्च हो गया है। मूल्य के सामान्य नियम के अनुसार, यदि ४० पाउंड सूत का मूल्य = ४० पाउंड कपास का मूल्य + पूरे एक तकुए का मूल्य, अर्थात् यदि इस समीकरण के दोनों ओर के पण्यों को पैदा करने में बराबर श्रम-काल लगता है, तो १० पाउंड सूत १० पाउंड कपास और उसके साथ-साथ चौथाई तकुए का समतुल्य होता है। हमने जो उदाहरण लिया है, उसमें एक ओर तो १० पाउंड सूत में और दूसरी ओर, १० पाउंड कपास तथा तकुए के एक अंश में बराबर-बराबर श्रम-काल ने भौतिक रूप धारण किया है। इसलिए मूल्य चाहे कपास के रूप में प्रकट हो, चाहे तकुए के रूप में और चाहे सूत के रूप में, उससे उस मूल्य की मात्रा में कोई अंतर नहीं आता। तकुआ और कपास चुपचाप साथ-साथ पड़े रहने के बजाय श्रम-प्रक्रिया में मिलकर भाग लेते हैं, उनके रूप परिवर्तित हो जाते हैं और वे सूत में बदल जाते हैं। लेकिन जैसे कपास और तकुए का सूत के साथ साधारण विनिमय करने से उनके मूल्य पर कोई असर नहीं पड़ता, उसी तरह श्रम-प्रक्रिया द्वारा उनके सूत में रूपांतरित हो जाने से भी उनके मूल्य पर कोई असर नहीं पड़ता।

कपास सूत का कच्चा माल है। उसके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम सूत को पैदा करने के लिए आवश्यक श्रम का एक भाग होता है, और इसलिए वह सूत में निहित होता है। तकुए में निहित श्रम के लिए भी यह बात सही है, क्योंकि उसके घिसे बिना कपास काती नहीं जा सकती।[11]

इसलिए सूत का मूल्य निर्धारित करते हुए, या सूत के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल निर्धारित करते हुए, हमें पहले कपास और तकुए का घिसा हुआ हिस्सा पैदा करने के लिए और बाद में कपास और तकुए से सूत कातने के लिए अलग-अलग समय पर और अलग-अलग स्थानों पर जितने प्रकार की विशिष्ट प्रक्रियाओं को संपन्न करना आवश्यक होता है, उन सबको मिलाकर एक ही प्रक्रिया की क्रमानुसार सामने आनेवाली भिन्न-भिन्न अवस्थाएं समझना चाहिए। सूत में लगा हुआ सारा श्रम भूतपूर्व श्रम है; और इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि सूत के संघटक तत्त्वों के उत्पादन के लिए आवश्यक प्रक्रियाएं ऐसे समय पर हुई थीं, जो कातने की अंतिम प्रक्रिया की अपेक्षा वर्तमान समय की तुलना में बहुत पहले की बात है। यदि एक मकान बनाने के लिए श्रम की एक निश्चित मात्रा, मान लीजिये, तीस दिन आवश्यक होते हैं, तो मकान में लगे श्रम की कुल मात्रा में इससे कोई फ़र्क़ नहीं आता कि अंतिम दिन का काम पहले दिन के काम से उनतीस दिन बाद किया जाता है। इसलिए कच्चे माल तथा श्रम के औज़ारों में लगे श्रम के बारे में यह समझा जा सकता है कि यह श्रम सचमुच कताई का श्रम आरंभ होने के पहले कातने की प्रक्रिया की एक प्रारंभिक अवस्था में ख़र्च हुआ था।

---

[11] "पण्यों के मूल्य पर उनके उत्पादन पर प्रत्यक्ष रूप से व्यय किये गये श्रम का ही नहीं, बल्कि उस श्रम का भी प्रभाव पड़ता है, जो श्रम किये जाने के लिए आवश्यक औज़ारों, उपकरणों और इमारतों पर व्यय हुआ है।" (Ricardo, *The Principles of Political Economy*, 3rd Ed., London, 1821, p. 16.)

इसलिए उत्पादन के साधनों के मूल्य, अर्थात् कपास और तकुए के मूल्य, जो १२ शिलिंग के दाम में अभिव्यक्त होते हैं, सूत के मूल्य के – या, दूसरे शब्दों में, उत्पाद के मूल्य के – संघटक अंग होते हैं।

लेकिन इस सबके बावजूद दो शर्तों का पूरा होना ज़रूरी है। एक तो यह ज़रूरी है कि कपास और तकुए ने मिलकर कोई उपयोग-मूल्य पैदा किया हो। हमारी मिसाल में उनका सूत पैदा करना ज़रूरी है। मूल्य इस बात से स्वतंत्र है कि उसका आधान कौन सा विशिष्ट उपयोग-मूल्य है, लेकिन उसका किसी न किसी उपयोग-मूल्य में साकार होना ज़रूरी है। दूसरे, यह ज़रूरी है कि हम जिन सामाजिक परिस्थितियों को मानकर चल रहे हैं, उनके अंतर्गत जितना समय सचमुच आवश्यक हो, उत्पादन के श्रम में उससे ज्यादा समय न लगने पाये। चुनांचे अगर १ पाउंड सूत कातने के लिए १ पाउंड से ज्यादा कपास की ज़रूरत नहीं होती, तो हमें इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि १ पाउंड सूत के उत्पादन में इससे ज्यादा कपास ख़र्च न होने पाये। और यही बात तकुए के बारे में भी है। हो सकता है कि हमारे पूंजीपति को इस्पात के तकुए की जगह पर सोने का तकुआ इस्तेमाल करने का शौक़ चर्राया हो, मगर फिर भी सूत के मूल्य के लिए केवल उसी श्रम का कोई महत्त्व होगा, जो इस्पात का तकुआ तैयार करने के लिए ज़रूरी होगा, क्योंकि हम जिन सामाजिक परिस्थितियों को मानकर चल रहे हैं, उनमें इससे अधिक श्रम आवश्यक नहीं है।

अब हम यह जान गये हैं कि सूत के मूल्य का कितना हिस्सा कपास और तकुए के कारण है। वह बारह शिलिंग या दो दिन के काम के मूल्य के बराबर बैठता है। आगे हमें इस बात पर विचार करना है कि कातनेवाले का श्रम कपास में सूत के मूल्य का कितना भाग जोड़ता है।

श्रम-प्रक्रिया के दौरान इस श्रम का जो पहलू सामने आया था, अब हमें उससे एक बहुत भिन्न पहलू पर विचार करना है। तब हमने उसपर केवल उस ख़ास ढंग की मानव-क्रियाशीलता के रूप में विचार किया था, जो कपास को सूत में बदल देती है। तब अन्य बातों के समान रहते हुए श्रम काम के जितना अधिक उपयुक्त होता था, उतना ही अच्छा सूत तैयार होता था। तब हमने कातनेवाले के श्रम को उत्पादक श्रम के अन्य तमाम रूपों से भिन्न एक विशिष्ट प्रकार का श्रम माना था। वह उनसे एक तो अपने विशेष उद्देश्य के कारण भिन्न था, क्योंकि उसका विशिष्ट उद्देश्य कताई करना था; और दूसरे, वह इसलिए उनसे भिन्न था कि उसकी क्रियाएं एक ख़ास ढंग की थीं, उसके उत्पादन के साधन एक विशिष्ट प्रकार के थे और उसके उत्पाद का एक विशेष उपयोग-मूल्य था। कताई की क्रिया के लिए कपास और तकुए बिल्कुल ज़रूरी हैं, मगर पेचदार नली वाली तोप बनाने के लिए वे कुछ भी काम नहीं आयेंगे। लेकिन यहां पर चूंकि हम कातनेवाले के श्रम की ओर केवल उसी हद तक ध्यान देते हैं, जिस हद तक कि वह मूल्य पैदा करनेवाला श्रम है, अर्थात् जिस हद तक कि वह मूल्य का स्रोत है, इसलिए यहां पर कातनेवाले का श्रम तोप में पेचदार नली बनानेवाले आदमी के श्रम से या (जिससे हमारा ज्यादा नज़दीक का संबंध है) सूत के उत्पादन के साधनों में निहित कपास की खेती करनेवाले के श्रम और तकुए बनानेवाले के श्रम से किसी तरह भी भिन्न नहीं है। केवल इस एकरूपता के कारण ही कपास की खेती करना, तकुए बनाना और कातना एक संपूर्ण इकाई के – अर्थात् सूत के मूल्य के – ऐसे संघटक भाग हो सकते हैं, जो केवल परिमाणात्मक दृष्टि से ही एक दूसरे से भिन्न होते हैं। यहां हमारा श्रम के गुण, स्वभाव

और विशिष्ट स्वरूप से कोई संबंध नहीं रहता, केवल उसकी मात्रा से संबंध होता है। इसका महज़ हिसाब लगाना होता है। हम यह मानकर चलते हैं कि कताई साधारण, अकुशल श्रम है, कि वह समाज की एक निश्चित अवस्था का औसत श्रम है। आगे हम देखेंगे कि अगर हम इसकी उल्टी बात मानकर चलें, तब भी कोई अंतर नहीं पड़ेगा।

जब मज़दूर काम करता है, तब उसका श्रम लगातार रूपांतरित होता जाता है: वह गतिवान से एक गतिहीन वस्तु में बदलता जाता है; वह कार्यरत मज़दूर के बजाय उत्पादित वस्तु बन जाता है। एक घंटे की कताई समाप्त होने पर उस कार्य का प्रतिनिधित्व सूत की एक निश्चित मात्रा करती है। दूसरे शब्दों में, श्रम की एक निश्चित मात्रा, यानी एक घंटे का श्रम कपास में समाविष्ट हो जाता है। यहां हम कहते हैं "श्रम" यानी "कातनेवाले का अपनी जीवन-शक्ति को ख़र्च करना"। यहां हम "कताई का श्रम" नहीं कहते – कारण कि यहां कताई के विशेष काम का केवल उसी हद तक महत्त्व है, जिस हद तक कि उसमें आम तौर पर श्रम-शक्ति ख़र्च होती है, और उसका महत्त्व इस बात में नहीं है कि वह कातनेवाले का एक विशिष्ट प्रकार का कार्य है।

जिस प्रक्रिया पर हम इस समय विचार कर रहे हैं, उसमें इस बात का अत्यधिक महत्त्व होता है कि कपास को सूत में रूपांतरित करने के काम में जितना समय किन्हीं ख़ास सामाजिक परिस्थितियों में लगना चाहिए, उससे अधिक न लगने पाये। यदि उत्पादन की सामान्य – अथवा औसत – सामाजिक परिस्थितियों में **क** पाउंड कपास को **ख** पाउंड सूत में बदलने में एक घंटे का श्रम लगता है, तो एक दिन का श्रम उस वक़्त तक १२ घंटे का श्रम नहीं माना जा सकता, जब तक कि वह १२ **क** पाउंड कपास को १२ **ख** पाउंड सूत में न बदल दे। कारण कि मूल्य के सृजन में केवल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल का ही महत्त्व होता है।

अब न केवल श्रम, बल्कि कच्चा माल और उत्पाद भी एक नये रूप में हमारे सामने आते हैं। वह नया रूप उस रूप से बहुत भिन्न है, जिसमें वे विशुद्ध और मात्र श्रम-प्रक्रिया के दौरान हमारे सामने आये थे। अब कच्चा माल केवल श्रम की एक निश्चित मात्रा के अवशोषक का काम करता है। इस अवशोषण के द्वारा वह वास्तव में सूत में बदल जाता है, क्योंकि वह कात दिया जाता है, क्योंकि कताई के रूप में उसके साथ श्रम-शक्ति जोड़ दी जाती है। लेकिन अब उत्पाद, यानी सूत कपास द्वारा अवशोषित श्रम के मापक से अधिक और कुछ नहीं है। यदि एक घंटे में $१\frac{२}{३}$ पाउंड कपास को कातकर $१\frac{२}{३}$ पाउंड सूत तैयार किया जा सकता है, तो १० पाउंड सूत का मतलब है कि ६ घंटे के श्रम का अवशोषण हुआ है। उत्पाद की निश्चित मात्राएं – और ये मात्राएं अनुभव से निर्धारित की जाती हैं – अब श्रम की निश्चित मात्राओं के सिवा, स्फटिकीकृत श्रम-काल की निश्चित राशियों के सिवा, अन्य किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। वे इतने घंटे या इतने दिन के सामाजिक श्रम के मूर्त रूप से अधिक और कुछ नहीं होतीं।

हमारा यहां इन तथ्यों से वैसे ही कोई ख़ास संबंध नहीं है कि इस उदाहरण में श्रम कताई का ख़ास काम है, कि उसका विषय कपास है और उसका उत्पाद सूत है, जैसे इस तथ्य से नहीं है कि विषय स्वयं ही एक उत्पाद है और इसलिए कच्चा माल है। यदि कातनेवाला कताई करने के बजाय कोयले की खान में काम करता होता, तो उसके श्रम का विषय –

कोयला – उसे प्रकृति से मिल जाता। फिर भी खान में से निकाले हुए कोयले की एक निश्चित मात्रा – मिसाल के लिए, एक हंड्रेडवेट – उसमें अवशोषित श्रम की एक निश्चित मात्रा का ही प्रतिनिधित्व करती।

जब श्रम-शक्ति की बिक्री हुई थी, तब हमने यह माना था कि एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य तीन शिलिंग है और तीन शिलिंग की रक़म में ६ घंटे का श्रम निहित होता है, अतः मजदूर को जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की औसतन जितनी मात्रा की हर रोज़ ज़रूरत होती है, उनको पैदा करने के लिए ६ घंटे का श्रम आवश्यक होता है। अब यदि हमारा कातनेवाला एक घंटे तक काम करके १$\frac{२}{३}$ पाउंड कपास को १$\frac{२}{३}$ पाउंड सूत में बदल सकता है,[12] तो वह छः घंटे में १० पाउंड कपास को १० पाउंड सूत में बदल देगा। इस तरह कपास कताई की प्रक्रिया के दौरान छः घंटे के श्रम का अवशोषण कर लेती है। इतनी ही मात्रा का श्रम तीन शिलिंग के मूल्य के सोने के टुकड़े में भी निहित होता है। चुनांचे केवल कताई के श्रम के द्वारा कपास में तीन शिलिंग का मूल्य जुड़ जाता है।

अब आइये, हम उत्पाद के – यानी १० पाउंड सूत के – कुल मूल्य पर विचार करें। उसमें ढाई दिन का श्रम लगा है, जिसमें से दो दिन का श्रम कपास और तकुए के घिसनेवाले अंश में निहित था और आधे दिन के श्रम का कताई की प्रक्रिया के दौरान कपास ने अवशोषण कर लिया है। पंद्रह शिलिंग के मूल्य का सोने का टुकड़ा भी इस ढाई दिन के श्रम का प्रतिनिधित्व करता है। चुनांचे १० पाउंड सूत के लिए पंद्रह शिलिंग पर्याप्त दाम है, या यूं कहिये कि एक पाउंड सूत का सही दाम अठारह पेंस है।

पर यह सुनकर हमारा पूंजीपति तो अचंभे में पड़ जाता है। जितने मूल्य की पूंजी लगायी गयी थी, ठीक उतने ही मूल्य का उत्पाद हुआ। उसमें जो मूल्य लगाया था, वह बढ़ा नहीं, बेशी मूल्य नहीं पैदा हुआ, और चुनांचे द्रव्य पूंजी में नहीं बदला गया। सूत का दाम पंद्रह शिलिंग है, और पंद्रह शिलिंग ही खुली मंडी में उत्पाद के संघटक तत्त्वों को – या, जो कि एक ही बात है, श्रम-प्रक्रिया के उपकरणों को – ख़रीदने पर ख़र्च हुए थे। दस शिलिंग उसे कपास के लिए, दो शिलिंग तकुए के घिसनेवाले अंश के लिए और तीन शिलिंग श्रम-शक्ति के लिए देने पड़े थे। सूत के बढ़े हुए मूल्य से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि वह तो उन मूल्यों का जोड़ भर है, जो पहले कपास, तकुए तथा श्रम-शक्ति में मौजूद थे। पहले से मौजूद मूल्यों को इस तरह महज़ जोड़ देने से बेशी मूल्य पैदा नहीं हो सकता है।[13] अब ये तमाम अलग-अलग मूल्य एक चीज़ में केंद्रीभूत हो जाते हैं। परंतु उसके पहले वे पंद्रह शिलिंग की रक़म में भी

---

[12] संख्याएं सर्वथा कल्पित हैं।

[13] यही वह मूल स्थापना है, जिसपर फ़िज़ियोक्रेटों का यह सिद्धांत आधारित है कि खेती के सिवा और सब प्रकार का श्रम अनुत्पादक होता है। परंपरानिष्ठ अर्थशास्त्री इस तर्क का खंडन नहीं कर सकते। "इस तरह एक चीज़ के मूल्य के साथ दूसरी कई चीज़ों का मूल्य जोड़ देने से (मिसाल के लिए, सन के मूल्य के साथ बुनकर के जीवन-निर्वाह का ख़र्च जोड़ देने से), या मानो एक मूल्य के ऊपर कई मूल्यों की तह पर तह लगा देने से उस मूल्य में सानुपातिक वृद्धि हो जाती है... दस्तकारी की चीज़ों का दाम जिस तरह बनता है, उसके लिए 'जोड़ना' शब्द बहुत उपयुक्त है, क्योंकि ऐसी चीज़ों का दाम उनको तैयार करने में ख़र्च किये गये कई मूल्यों के जोड़ के सिवा और कुछ नहीं होता। लेकिन जोड़ना वही चीज़ नहीं है, जो गुणन है।" (Mercier de la Rivière, l. c., p. 599.)

इसी तरह केंद्रीभूत थे; बाद में, पण्यों की ख़रीद होने पर, वह रक़म तीन अलग-अलग हिस्सों में बंट गयी।

इस नतीजे में दर असल कोई अजीब बात नहीं है। यदि एक पाउंड सूत का मूल्य अठारह पेंस है, तो मंडी में १० पाउंड सूत ख़रीदने के लिए हमारे पूंजीपति को पंद्रह शिलिंग देने पड़ेंगे। ज़ाहिर है कि आदमी चाहे बना-बनाया मकान ख़रीदे और चाहे अपने लिए मकान बनवाये, मकान हासिल करने के ढंग का मकान में लगनेवाले द्रव्य की राशि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

तभी हमारा पूंजीपति, जो घटिया क़िस्म के अर्थशास्त्र में सिद्धहस्त है, बोल उठता है: "वाह! लेकिन मैंने तो स्पष्टतः इसी उद्देश्य से अपना द्रव्य लगाया था कि उससे ज्यादा द्रव्य कमाऊंगा!" पर उद्देश्यों से क्या होता है? कहावत है कि नरक का रास्ता भी सदुद्देश्यों का बना हुआ है। उसका उद्देश्य तो बिना कुछ उत्पादन किये ही पैसा बनाना भी हो सकता था।[14] इसपर हमारा पूंजीपति एकदम आग बबूला हो जाता है। वह धमकी देता है कि अब आगे कभी धोखा नहीं खायेगा। भविष्य में वह पण्य ख़ुद तैयार करने के बजाय मंडी से ख़रीदा करेगा। लेकिन यदि उसके तमाम भाई-बंधु, यानी दूसरे पूंजीपति भी यही करने लगें, तब उसे मंडी से पण्य कैसे मिलेगा? और अपने द्रव्य को वह खा तो नहीं सकता। तब पूंजीपति चिकनी-चुपड़ी बातों का सहारा लेता और कहता है: "ज़रा इसका तो ख़याल करो कि मैंने कितना परहेज़ दिखाया है! मैं चाहता, तो १५ शिलिंग को यों ही लुटा देता। लेकिन उसके बजाय मैंने इस रक़म को उत्पादक ढंग से ख़र्च किया और उससे सूत तैयार किया।" बड़ी अच्छी बात है, और इसका उसे यह पुरस्कार भी मिल गया है कि यदि वह १५ शिलिंग को यों ही लुटा देता, तो उसकी आत्मा कचोटती, पर अब वह बढ़िया सूत का मालिक है। और जहां तक कंजूस की भूमिका अदा करने का सवाल है, सो फिर से ऐसी बुरी लत में पड़ जाने से उसका कोई भला नहीं होगा, क्योंकि हम पहले ही देख चुके हैं कि इस प्रकार की संन्यास-वृत्ति का क्या परिणाम होता है। इसके अलावा, जहां कुछ नहीं होता, वहां तो राजा का अधिकार भी ख़त्म हो जाता है। उसका परहेज़ चाहे जितना प्रशंसनीय हो, किंतु यहां ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जिससे ख़ास तौर पर उसके परहेज़ का मुआवज़ा दिया जा सके, क्योंकि उत्पाद का मूल्य महज़ उन पण्यों के मूल्य का जोड़ है, जो उत्पादन की प्रक्रिया में डाले गये थे। इसलिए अब तो वह केवल इसी विचार से अपने मन को दिलासा दे सकता है कि सत्कर्म स्वयं अपना पुरस्कार होता है। लेकिन नहीं, वह तो इसरार करने लगता है। वह कहता है: "सूत मेरे किसी काम का नहीं है, मैंने तो उसे बेचने के लिए तैयार किया था।" यदि यह बात है, तो उसे अपना सूत बेच देना चाहिए, या उससे भी बेहतर यह होगा कि भविष्य में वह केवल ऐसी चीज़ें तैयार करे, जिनकी उसे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ज़रूरत हो – उसके चिकित्सक मैककुलोच महाशय अत्युत्पादन की महामारी के लिए एक अचूक दवा के रूप में पहले ही इस औषधि का निर्देश कर चुके

---

[14] मिसाल के लिए, १८४४-१८४७ में उसने अपनी पूंजी का कुछ हिस्सा उत्पादक उपयोग से हटाकर रेलों से संबंधित सट्टों में झोंक दिया था। इसी तरह अमरीका के गृह-युद्ध के समय भी उसने लिवरपूल के कपास बाज़ार में सट्टा खेलने के लिए अपनी फ़ैक्टरी बंद कर दी थी और मज़दूरों को सड़क पर धकेल दिया था।

हैं। पर अब तो पूंजीपति ज़िद्दी हो जाता है। वह पूछता है: "क्या मज़दूर केवल अपने हाथों-पैरों से, शून्य से कोई चीज़ तैयार कर सकता है? क्या मैंने उसे वह सामग्री नहीं दी थी, जिसके द्वारा – और केवल जिसके द्वारा ही – उसका श्रम मूर्त रूप धारण कर सकता था? और समाज का अधिकांश चूंकि ऐसे साधनहीन लोगों का ही होता है, इसलिए क्या अपने उत्पादन के औज़ारों से, अपनी कपास और अपने तकुए से मैंने समाज की अकूत सेवा नहीं की है? और समाज की ही क्यों, क्या मैंने उसके साथ-साथ मज़दूर की भी सेवा नहीं की है, जिसको मैंने इन चीज़ों के अलावा जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं भी दी हैं? और क्या इस समस्त सेवा के बदले में मुझे कुछ भी नहीं मिलेगा?" ठीक है, मगर क्या मज़दूर ने पूंजीपति की कपास और तकुए को सूत में बदलकर उसकी इसके बराबर सेवा नहीं कर दी है? इसके अलावा यहां सेवा का कोई सवाल नहीं है।[15] सेवा किसी उपयोग-मूल्य के उपयोगी प्रभाव से अधिक और कुछ नहीं होती, वह उपयोग-मूल्य चाहे किसी पण्य का हो या चाहे श्रम का।[16] लेकिन यहां पर हम विनिमय-मूल्य की चर्चा कर रहे हैं। पूंजीपति ने मज़दूर को ३ शिलिंग का मूल्य दिया था, और मज़दूर ने उसे कपास में ३ शिलिंग का मूल्य और जोड़कर उसका पूरा समतुल्य वापस कर दिया है, उसने मूल्य के बदले में मूल्य दिया है। इसपर हमारा मित्र, जो अभी तक अपनी थैली के घमंड से फूला हुआ था, यकायक ख़ुद अपने मज़दूर की सी विनय-मुद्रा बनाकर कहता है: "पर क्या मैंने कुछ काम नहीं किया है? क्या मैंने निरीक्षण का तथा कातनेवाले पर निगाह रखने का श्रम नहीं किया है? और क्या इस श्रम से भी मूल्य उत्पन्न नहीं होता?" पूंजीपति का निरीक्षक तथा उसका मैनेजर यह बात सुनकर अपनी मुस्कराहट को छिपाने की कोशिश करते हैं। इस बीच पूंजीपति ख़ूब दिल खोलकर हंसने के बाद फिर पहले जैसी मुद्रा बना लेता है। यद्यपि उसने हमें अर्थशास्त्रियों का पूरा पुराण पढ़कर सुना दिया, पर वास्तव में उसका कहना है कि वह इस सबके लिए एक फूटी कौड़ी भी देने को तैयार नहीं है। इस तरह के हथकंडे और बाज़ीगरी उसने राजनीतिक अर्थशास्त्र के उन प्रोफ़ेसरों के लिए छोड़ रखे हैं, जिनको इस काम के पैसे मिलते हैं। वह ख़ुद

---

[15] "अपनी चाहे जितनी तारीफ़ें करो, चाहे जैसी पोशाकें पहनो और चाहे जितने बनठन कर निकलो... लेकिन जो कोई भी, जितना वह देता है, यदि उससे ज़्यादा या उससे बेहतर ले लेता है, तो वह सूदख़ोर है और वह अपने पड़ोसी की सेवा नहीं, बल्कि उसके साथ बुराई करता है चोर या डाकू की तरह ही। सेवा और उपकार कहलानेवाली हर चीज़ सचमुच पड़ोसी की सेवा और उपकार नहीं होती। जैसे कि एक व्यभिचारिणी और व्यभिचारी भी एक दूसरे की बड़ी सेवा करते हैं और एक दूसरे को बड़ा आनंद देते हैं। घुड़सवार मुसाफ़िरों को लूटने और घरों तथा बस्तियों में डाका डालने में मदद देकर आगज़न की बड़ी सेवा करता है। पोपवादी हमारे लोगों की यह बड़ी सेवा करते हैं कि वे सबको नहीं डुबोते, जलाते और क़त्ल करते और न ही सबको जेल में सड़ने के लिए डाल देते हैं, बल्कि कुछ को ज़िंदा रहने देते हैं और सिर्फ़ उनका सब कुछ छीन लेते हैं या उनको निर्वासित कर देते हैं। शैतान ख़ुद अपने सेवकों की अमूल्य सेवा करता है... सारांश यह कि दुनिया बड़ी-बड़ी, उत्तम और दैनिक सेवाओं और सत्कर्मों से भरी पड़ी है।" (Martin Luther, *An die Pfarrherrn, wider den Wucher zu predigen*, Wittemberg, 1540.)

[16] *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* में पृ० १४ पर मैंने इस संबंध में यह कहा है: "यह समझना कठिन नहीं है कि 'सेवा' ('service') के प्रवर्ग को जे० बी० सेय और एफ़० बस्तिया जैसे अर्थशास्त्रियों की क्या 'सेवा' करनी चाहिए।"

तो एक व्यावहारिक आदमी है ; और यद्यपि अपने व्यवसाय के क्षेत्र के बाहर वह सदा बहुत सोच-समझकर बात नहीं करता, किंतु अपने व्यवसाय से संबंधित हर चीज़ वह बहुत समझ-बूझकर करता है।

आइये, इस मामले पर कुछ और गहराई में जाकर विचार करें। एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग होता है, क्योंकि हम जो कुछ मानकर चल रहे हैं, उसके अनुसार इतनी श्रम-शक्ति में आधे दिन का श्रम निहित होता है, अर्थात् क्योंकि श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए रोज़ाना जिन जीवन-निर्वाह के साधनों की आवश्यकता होती है, उनमें आधे दिन का श्रम ख़र्च होता है। लेकिन श्रम-शक्ति में निहित भूतपूर्व श्रम और वह जीवित श्रम, जो यह श्रम-शक्ति व्यवहार में ला सकता है, या श्रम-शक्ति को बनाये रखने की रोज़ाना की लागत और काम की शक्ल में श्रम-शक्ति का दैनिक व्यय, ये दो बिल्कुल अलग-अलग चीज़ें होती हैं। पहला श्रम-शक्ति का विनिमय-मूल्य निर्धारित करता है और दूसरा उसका उपयोग-मूल्य है। इस बात से कि मज़दूर को २४ घंटे ज़िंदा रखने के लिए केवल आधे दिन का श्रम आवश्यक होता है, उसके दिन भर काम करने में कोई रुकावट पैदा नहीं होती। इसलिए श्रम-शक्ति का मूल्य और वह मूल्य, जिसे यह श्रम-शक्ति श्रम-प्रक्रिया के दौरान पैदा करती है, दो बिल्कुल भिन्न मात्राएं होते हैं। और श्रम-शक्ति ख़रीदते समय वास्तव में दो मूल्यों का यह अंतर पूंजीपति के सामने था। श्रम-शक्ति में जो उपयोगी गुण होते हैं और जिनके द्वारा वह सूत या जूते तैयार करती है, वे पूंजीपति की दृष्टि में एक conditio sine qua non [ज़रूरी शर्त] से अधिक और कुछ नहीं थे ; कारण कि मूल्य पैदा करने के लिए श्रम का किसी उपयोगी ढंग से ख़र्च किया जाना ज़रूरी होता है। पूंजीपति पर असल में जिस चीज़ का प्रभाव पड़ा था, वह इस पण्य का यह विशिष्ट उपयोग-मूल्य है कि वह न केवल मूल्य का स्रोत है, बल्कि ख़ुद उसमें जितना मूल्य होता है, वह उससे अधिक मूल्य पैदा कर सकता है। पूंजीपति श्रम-शक्ति से इस विशेष प्रकार की सेवा की आशा करता है, और इस सौदे में वह पण्यों के विनिमय के "शाश्वत नियमों" का ही पालन करता है। अन्य किसी भी तरह का पण्य बेचनेवाले की भांति श्रम-शक्ति का विक्रेता भी उसका विनिमय-मूल्य वसूलता है और उसका उपयोग-मूल्य दूसरे को सौंप देता है। उपयोग-मूल्य दिये बिना वह विनिमय-मूल्य नहीं प्राप्त कर सकता। श्रम-शक्ति के उपयोग-मूल्य पर – या, दूसरे शब्दों में, श्रम पर – उसके बेचनेवाले का उतना ही अधिकार होता है, जितना तेल के उपयोग-मूल्य पर उसे बेच देने के बाद तेल के दूकानदार का होता है। द्रव्य के मालिक ने एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य दिया है ; इसलिए एक दिन तक उसका उपयोग करने का उसे अधिकार है, एक दिन का श्रम उसकी संपत्ति है। इस स्थिति को कि एक तरफ़ तो श्रम-शक्ति के दैनिक पोषण में केवल आधे दिन का श्रम ख़र्च होता है और दूसरी तरफ़, यही श्रम-शक्ति पूरे दिन भर काम कर सकती है और इसलिए एक दिन में उसके उपयोग से पैदा होनेवाला मूल्य श्रम-शक्ति के ख़रीदार द्वारा उसके उपयोग के एवज़ में दिये गये मूल्य का दुगुना होता है, इसे निस्संदेह श्रम-शक्ति के ख़रीदार का सौभाग्य कहा जा सकता है, परंतु वह श्रम-शक्ति के बेचनेवाले के प्रति कोई अन्याय नहीं है।

हमारे पूंजीपति ने पहले ही यह परिस्थिति समझ ली थी, और यही उसके ठठाकर हंसने का कारण था। चुनांचे जब मज़दूर वर्कशाप में पहुंचता है, तो वहां उसे उत्पादन के इतने साधन तैयार मिलते हैं, जो केवल छः घंटे तक नहीं, बल्कि बारह घंटे तक काम करने के

लिए काफ़ी हैं। जिस प्रकार छः घंटे की प्रक्रिया में हमारी १० पाउंड कपास ने छः घंटे के श्रम का अवशोषण कर लिया था और वह १० पाउंड सूत बन गयी थी, ठीक उसी प्रकार अब २० पाउंड कपास १२ घंटे के श्रम का अवशोषण कर लेगी और २० पाउंड सूत में बदल जायेगी। आइये, अब हम इस लंबी की गयी प्रक्रिया के उत्पाद पर विचार करें। अब इस २० पाउंड सूत में पांच दिन के श्रम ने भौतिक रूप धारण कर रखा है, जिसमें चार दिन का श्रम उसमें कपास और तकुए के घिस गये इस्पात के रूप में लगा है और बाक़ी एक दिन के श्रम का कताई की प्रक्रिया के दौरान कपास ने अवशोषण कर लिया है। यदि उसे सोने के रूप में व्यक्त किया जाये, तो पांच दिन का श्रम तीस शिलिंग होता है। अतः २० पाउंड का दाम ३० शिलिंग है, जिसके अनुसार एक पाउंड का दाम फिर अठारह पेंस बैठता है। लेकिन प्रक्रिया में जितने पण्यों ने प्रवेश किया था, उनके मूल्यों का जोड़ २७ शिलिंग है। सूत का मूल्य ३० शिलिंग बैठता है। इसलिए उत्पाद के निर्माण में जितना मूल्य लगाया गया था, उत्पाद का मूल्य उससे $\frac{१}{९}$ अधिक होता है। २७ शिलिंग ३० शिलिंग में बदल दिये गये हैं। यानी ३ शिलिंग का बेशी मूल्य पैदा हो गया है। आख़िर चाल कामयाब रहती है – द्रव्य पूंजी में बदल गया है।

समस्या की हर शर्त पूरी कर दी गयी है, और पण्यों के विनिमय का नियमन करनेवाले नियमों की भी किसी तरह अवहेलना नहीं हुई है। समतुल्य का समतुल्य के साथ विनिमय किया गया है। कारण कि ग्राहक के रूप में पूंजीपति ने हर पण्य के – कपास, तकुए और श्रम-शक्ति के – दाम उसके पूरे मूल्य के अनुसार दिये हैं। उसके बाद उसने वही किया, जो पण्यों का हर ग्राहक करता है। उसने इन पण्यों के उपयोग-मूल्य का उपभोग किया। श्रम-शक्ति के उपभोग से, जो साथ ही पण्यों को पैदा करने की भी प्रक्रिया था, २० पाउंड सूत तैयार हुआ, जिसका मूल्य ३० शिलिंग है। पूंजीपति, जो पहले ग्राहक था, अब पण्यों के विक्रेता के रूप में मंडी में पहुंचता है। वह अपना सूत अठारह पेंस फ़ी पाउंड के भाव से बेचता है, जो कि सूत का बिल्कुल सही मूल्य है। लेकिन इस सबके बावजूद परिचलन में उसने शुरू में जितनी रक़म डाली थी, वह उससे ३ शिलिंग ज्यादा बाहर निकाल लेता है। यह रूपांतरण, द्रव्य का पूंजी में यह परिवर्तन, परिचलन के क्षेत्र के भीतर होते हुए भी उसके बाहर होता है। वह परिचलन के भीतर होता है, क्योंकि वह मंडी में श्रम-शक्ति की ख़रीद के द्वारा निर्धारित होता है। वह परिचलन के बाहर होता है, क्योंकि परिचलन के भीतर जो कुछ होता है, वह बेशी मूल्य के उत्पादन का केवल प्रवेश-द्वार है और बेशी मूल्य का उत्पादन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो पूरी तरह उत्पादन के क्षेत्र तक ही सीमित है। इस प्रकार "सभी मुमकिन दुनियाओं से अच्छी इस दुनिया में हर चीज़ अच्छाई के लिए ही है"।

अपने द्रव्य को ऐसे पण्यों में बदलकर, जो एक नये उत्पाद के भौतिक तत्त्वों का और श्रम-प्रक्रिया के उपादानों का काम करते हैं, और उनके निर्जीव सार के साथ जीवित श्रम का समावेश करके पूंजीपति साथ ही साथ मूल्य को – यानी मूर्त रूप धारण किये हुए भूतपूर्व मृत श्रम को – पूंजी में बदल देता है। वह मूल्य को ऐसे मूल्य में बदल देता है, जिसके गर्भ में और भी मूल्य होता है। वह उसे एक ऐसा ज़िंदा दैत्य बना देता है, जो बच्चे देता है और अपनी नसल बढ़ाता है।

अब यदि हम मूल्य पैदा करने की और बेशी मूल्य का सृजन करने की इन दो प्रक्रियाओं का मुक़ाबला करते हैं, तो हम देखते हैं कि बेशी मूल्य का सृजन करने की प्रक्रिया इससे

अधिक कुछ नहीं है कि मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया एक निश्चित बिंदु से आगे जारी रहती है। एक ओर, यदि यह प्रक्रिया उस बिंदु से आगे जारी नहीं रहती, जहां पर कि श्रम-शक्ति के लिए पूंजीपति द्वारा दिये गये मूल्य का स्थान उसका ठीक समतुल्य ग्रहण कर लेता है, तो वह केवल मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया रहती है। दूसरी ओर, यदि वह इस बिंदु से आगे भी जारी रहती है, तो वह बेशी मूल्य का सृजन करने की प्रक्रिया बन जाती है।

यदि हम और आगे बढ़कर मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया का विशुद्ध श्रम-प्रक्रिया के साथ मुक़ाबला करते हैं, तो पाते हैं कि विशुद्ध श्रम-प्रक्रिया वह उपयोगी श्रम है, या वह काम है, जो उपयोग-मूल्यों को पैदा करता है। यहां हम किसी विशेष वस्तु को पैदा करनेवाले के रूप में श्रम पर विचार करते हैं। यहां पर हम केवल उसके गुणात्मक पहलू पर ही विचार करते हैं और उसके ध्येय तथा लक्ष्य को ही देखते हैं। लेकिन मूल्य पैदा करनेवाली प्रक्रिया के रूप में विचार करने पर यही श्रम-प्रक्रिया केवल अपने परिमाणात्मक पहलू में सामने आती है। यहां एकमात्र यही सवाल होता है कि मज़दूर ने काम करने में कितना समय लगाया है। यहां पर केवल उस अवधि का प्रश्न होता है, जिसमें श्रम-शक्ति को उपयोगी ढंग से ख़र्च किया गया है। यहां जो पण्य प्रक्रिया में भाग लेते हैं, उनका किसी निश्चित उपयोगी वस्तु के उत्पादन में श्रम-शक्ति की आवश्यक सह-वस्तुओं के रूप में महत्त्व नहीं होता। उनका महत्त्व अब केवल अवशोषित अथवा मूर्त रूप धारण किये हुए श्रम की किसी ख़ास मात्रा के आधानों की शक्ल में होता है। यह श्रम चाहे उत्पादन के साधनों में पहले से निहित रहा हो और चाहे उसका पहली बार श्रम-शक्ति के कार्य द्वारा उनमें समावेश हुआ हो, दोनों सूरतों में वह केवल अपनी अवधि के अनुसार ही गिना जाता है। वह सदा इतने घंटों या इतने दिनों का श्रम होता है।

इसके अलावा किसी भी वस्तु के उत्पादन में जो समय ख़र्च होता है, उसका केवल उतना ही भाग गिना जाता है, जो किन्हीं निश्चित सामाजिक परिस्थितियों में सचमुच आवश्यक होता है। इसके कई नतीजे होते हैं। एक तो यह ज़रूरी हो जाता है कि श्रम सामान्य परिस्थितियों में किया जाये। यदि कताई में आम तौर पर स्वचालित म्यूल-मशीन का प्रयोग हो रहा है, तो कातनेवाले को चर्खा और पूनी देना बिल्कुल बेतुकी बात होगी। कपास भी इतनी रद्दी नहीं होनी चाहिए कि कातने में बहुत ज़्यादा बरबाद हो जाये, बल्कि सही क़िस्म की होनी चाहिए। वरना कातनेवाले को एक पाउंड सूत कातने में जितना सामाजिक दृष्टि से आवश्यक है, उससे ज़्यादा समय ख़र्च करना पड़ेगा, और ऐसा होने पर न तो मूल्य पैदा होगा और न द्रव्य। लेकिन प्रक्रिया के भौतिक उपकरणों का सामान्य ढंग का होना या न होना मज़दूर पर नहीं, बल्कि सर्वथा पूंजीपति पर निर्भर करता है। फिर ख़ुद श्रम-शक्ति भी औसत कार्य-क्षमता वाली होनी चाहिए। जिस व्यवसाय में उसका प्रयोग हो रहा है, श्रम-शक्ति में उसमें प्रचलित औसत दर्जे की निपुणता, दक्षता और तेज़ी होनी चाहिए; और हमारे पूंजीपति ने इस प्रकार की सामान्य कार्य-क्षमता की श्रम-शक्ति ख़रीदने का ख़ास ख़याल रखा था। इस श्रम-शक्ति का औसत दर्जे के प्रयास और प्रचलित तीव्रता के साथ प्रयोग होना चा चाहिए; और हमारे पूंजीपति को इस बात का उतना ही ख़याल रहता है, जितना उसे इस बात का रहता है कि उसके मज़दूर एक क्षण के लिए भी ख़ाली न बैठने पायें। उसने एक निश्चित अवधि के लिए श्रम-शक्ति का उपयोग करने का अधिकार ख़रीदा है, और वह अपने अधिकार का पूरा-पूरा प्रयोग करने पर उतारू है। वह इस बात के लिए क़तई तैयार नहीं है कि कोई उसे लूटकर चला जाये। आख़िरी बात यह है—और इसके लिए हमारे मित्र ने

अपना एक अलग दंड-विधान बना रखा है – कि कच्चे माल या श्रम के औज़ारों के अपव्ययपूर्ण उपयोग की सख़्त मनाही कर दी गयी है। कारण कि इस तरह जो कुछ ज़ाया हो जाता है, वह फ़ालतू ढंग से ख़र्च कर दिये गये श्रम का प्रतिनिधित्व करता है; लेकिन ऐसा श्रम उत्पाद में नहीं गिना जाता या उसके मूल्य में प्रवेश नहीं करता।[17]

---

[17] यह भी एक कारण है, जिससे ग़ुलामों के श्रम से उत्पादन कराना इतना महंगा पड़ता है। यदि प्राचीन काल के लोगों के कुछ सारगर्भित शब्दों का प्रयोग किया जाये, तो हम कहेंगे कि यहां श्रम करनेवाला मज़दूर जानवर और औज़ार से केवल इसी बात में भिन्न होता है कि औज़ार instrumentum mutum [मूक औज़ार] होता है तथा जानवर instrumentum semivocale [अर्ध-मूक औज़ार] होता है और उनके मुक़ाबले में ग़ुलाम instrumentum vocale [अमूक औज़ार] होता है। लेकिन ग़ुलाम ख़ुद जानवर और औज़ार दोनों को यह महसूस कराने का ख़ास ख़याल रखता है कि वह उनके समान नहीं है, बल्कि एक मनुष्य है। वह con amore [बहुत उत्साह से] एक के साथ निर्मम व्यवहार करके और दूसरे को तोड़-ताड़कर अत्यंत संतोष के साथ अपने को विश्वास दिलाता रहता है कि वह जानवर और औज़ार दोनों से भिन्न है। इसी से यह सिद्धांत निकला है – और उसका उत्पादन की इस प्रणाली में सर्वत्र उपयोग किया जाता है – कि उत्पादन में सदा अधिक से अधिक अनगढ़ और भारी ऐसे औज़ार इस्तेमाल करने चाहिए, जिनके भद्देपन के कारण उनको नुक़सान पहुंचाना कठिन हो। मेक्सिको की खाड़ी के तट पर बसे ग़ुलामों के राज्यों में गृह-युद्ध के समय तक केवल ऐसे हल मिलते थे, जो पुराने चीनी नमूने के अनुसार बनाये गये थे और जो धरती में कूंड़ नहीं बनाते थे, बल्कि छछूंदर या सुअर की तरह मिट्टी पलटते थे। देखिये J. E. Cairnes, *The Slave Power*, London, 1862, p. 46 sqq. अपनी रचना *Sea Board Slave States* में ओमस्टेड हमें बताते हैं: "मुझे यहां ऐसे औज़ार देखने को मिले हैं, जिनका बोझा हम लोगों के यहां कोई भी आदमी, जिसके होश-हवास दुरुस्त हैं, उस मज़दूर के ऊपर नहीं डालेगा, जिसे वह मज़दूरी देता है। ये औज़ार इतने ज़्यादा भारी और भद्दे हैं कि हम लोगों के यहां साधारण तौर पर जो औज़ार इस्तेमाल होते हैं, उनके मुक़ाबले में इन औज़ारों को इस्तेमाल करने पर, मेरे विचार से, काम कम से कम दस प्रतिशत बढ़ जायेगा। मुझे यह भी बताया गया कि ग़ुलाम लोग इतनी लापरवाही और इतने अनाड़ीपन के साथ औज़ारों को इस्तेमाल करते हैं कि उनको इनसे हल्के या कम भद्दे औज़ार देना हितकर नहीं होगा, और हम लोग अपने मज़दूरों को सदा जिस तरह के औज़ार देते हैं और जिस तरह के औज़ार देने में हम अपना लाभ देखते हैं, उस तरह के औज़ार यहां वर्जीनिया के अनाज के खेत में पूरे एक दिन भी नहीं चलेंगे, हालांकि यहां के खेतों की मिट्टी हमारे खेतों की मिट्टी से नरम होती है और उसमें कम मात्रा में कंकड़-पत्थर होते हैं। इसी तरह जब मैंने यह पूछा कि यहां खेतों में घोड़ों की जगह सर्वत्र खच्चर क्यों इस्तेमाल किये जाते हैं, तो इसकी पहली वजह मुझे यह बतायी गयी – और निस्संदेह यही सबसे बड़ी वजह है – कि हब्शी लोग जानवरों के साथ जैसा व्यवहार करते हैं, उसे घोड़े बरदाश्त नहीं कर सकते। हब्शी लोग घोड़ों को सदा बहुत जल्दी या तो थकाकर बेकार कर देते हैं या लंगड़ा बना देते हैं। उधर खच्चर आसानी से मार खा सकते हैं और कभी-कभार एक-दो जून भूखे भी रह सकते हैं, और उससे उनको कोई ख़ास नुक़सान नहीं पहुंचता। उनके प्रति यदि लापरवाही बरती जाती है या उनसे बहुत-ज़्यादा काम लिया जाता है, तो वे न तो ठंड के शिकार होते हैं और न बीमार ही पड़ते हैं। लेकिन मुझे इसका प्रमाण पाने के लिए उस कमरे की खिड़की से ज़्यादा दूर जाने की ज़रूरत नहीं है, जिसमें बैठा मैं लिख रहा हूं। इस खिड़की से मैं किसी भी समय जानवरों के साथ ऐसा बरताव होते हुए देख सकता हूं, जो उत्तर में लगभग हर काश्तकार को फ़ौरन अपने साईस को यक़ीनी तौर पर बरख़ास्त करने के लिए मजबूर कर देगा।"

अब हम यह देखते हैं कि जब एक ओर, श्रम पर उपयोगी वस्तुएं पैदा करनेवाले श्रम के रूप में विचार किया जाता है और दूसरी ओर, उसपर मूल्य पैदा करनेवाले श्रम के रूप में विचार किया जाता है, तब उनमें जो अंतर नज़र आता है और जिसका पता हमने पण्य का विश्लेषण करके लगाया था, वह अब उत्पादन की प्रक्रिया के दो पहलुओं के अंतर में परिणत हो जाता है।

उत्पादन की प्रक्रिया पर जब एक ओर, श्रम-प्रक्रिया तथा मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया की एकता के रूप में विचार किया जाता है, तब वह पण्यों के उत्पादन की प्रक्रिया होती है। दूसरी ओर, जब उसपर श्रम-प्रक्रिया और बेशी मूल्य के उत्पादन की प्रक्रिया की एकता के रूप में विचार किया जाता है, तब वह उत्पादन की पूंजीवादी प्रक्रिया, अथवा पण्यों का पूंजीवादी उत्पादन, होती है।

पीछे किसी पृष्ठ पर हमने कहा था कि बेशी मूल्य के सृजन में इस बात से तनिक भी फ़र्क़ नहीं पड़ता कि पूंजीपति ने जो श्रम ख़रीदा है, वह औसत दर्जे का साधारण अकुशल श्रम है, या अधिक जटिल कुशल श्रम है। औसत दर्जे के श्रम से अधिक ऊंचे या अधिक जटिल स्वरूप के हर प्रकार के श्रम में ज़्यादा महंगी श्रम-शक्ति ख़र्च की जाती है, ऐसी श्रम-शक्ति, जिसके उत्पादन में अधिक समय और अधिक श्रम ख़र्च हुआ है और इसलिए जिसका अकुशल अथवा साधारण श्रम-शक्ति की अपेक्षा अधिक मूल्य होता है। यह श्रम-शक्ति चूंकि अधिक मूल्यवान होती है, इसलिए उसका उपयोग ऊंचे दर्जे का श्रम होता है, ऐसा श्रम, जो समान समय में अकुशल श्रम की तुलना में अनुपात की दृष्टि से अधिक मूल्य पैदा करेगा। एक कातनेवाले और एक सुनार के श्रम के बीच कुशलता का जो भी अंतर हो, सुनार के श्रम का वह हिस्सा, जिससे वह केवल अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य की पूर्ति करता है, गुणात्मक दृष्टि से उस अतिरिक्त हिस्से से ज़रा भी भिन्न नहीं होता, जिसमें वह बेशी मूल्य पैदा करता है। जिस तरह कताई में, उसी तरह गहने बनाने में बेशी मूल्य श्रम के केवल परिमाणात्मक आधिक्य से उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में, बेशी मूल्य एक ही श्रम-प्रक्रिया के विलंबित हो जाने के फलस्वरूप पैदा होता है। एक उदाहरण में गहने बनाने की प्रक्रिया विलंबित होती है, दूसरे में सूत बनाने की प्रक्रिया।[18]

---

[18] कुशल और अकुशल श्रम का अंतर आंशिक रूप से केवल भ्रम पर, या कम से कम ऐसे भेदों पर आधारित है, जो बहुत समय पहले वास्तविक नहीं रह गये थे और जो केवल एक परंपरागत रूढ़ि के कारण ही अभी तक जीवित हैं, और आंशिक रूप से यह अंतर मजदूर वर्ग के कुछ स्तरों की निस्सहाय अवस्था पर आधारित है, जिसके कारण वे बाक़ी मजदूरों की तरह ही अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य वसूल नहीं कर पाते। इस मामले में सांयोगिक कारण इतनी बड़ी भूमिका अदा करते हैं कि कभी-कभी श्रम के ये दो रूप एक दूसरे का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। मिसाल के लिए, जिन देशों में मजदूर वर्ग का स्वास्थ्य बिगड़ गया है और तुलनात्मक दृष्टि से एकदम चौपट हो गया है—और उन सभी पूंजीवादी देशों में, जहां पूंजीवादी उत्पादन का ख़ासा विकास हो गया है, मजदूरों की यही हालत है—वहां श्रम के निम्न रूपों को, जिनमें मांस-पेशियों के बहुत अधिक व्यय की आवश्यकता पड़ती है, श्रम के उनसे कहीं अधिक सूक्ष्म रूपों की तुलना में आम तौर पर कुशल श्रम समझा जाता है और श्रम के अधिक सूक्ष्म रूप अकुशल श्रम के दर्जे पर उतर आते हैं। मिसाल के लिए राजगीर के श्रम को लीजिये, जिसका दर्जा इंगलैंड में जामदानी बुननेवाले कारीगर के दर्जे से बहुत ऊंचा होता है। फ़स्टियन काटनेवाले के काम में सख़्त शारीरिक मेहनत की ज़रूरत पड़ती है, जिसका स्वास्थ्य

लेकिन दूसरी ओर, मूल्य पैदा करने की हर प्रक्रिया में कुशल श्रम को औसत सामाजिक श्रम में परिणत कर देना – जैसे मिसाल के लिए, एक दिन के कुशल श्रम को छः दिन के अकुशल श्रम में परिणत कर देना – अनिवार्य होता है।[19] इसलिए जब हम यह मानकर चलते हैं कि पूंजीपति ने जिस मजदूर को काम पर रखा है, उसका श्रम अकुशल औसत श्रम है, तब हम असल में एक अनावश्यक हिसाब से बच जाते हैं और अपने विश्लेषण को सरल बना देते हैं।

पर कुप्रभाव पड़ता है, परंतु उसे फिर भी महज़ अकुशल श्रम ही समझा जाता है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि राष्ट्रीय श्रम के क्षेत्र में तथाकथित कुशल श्रम का कोई बहुत बड़ा भाग नहीं है। लेंग का अनुमान है कि इंगलैंड (और वेल्स) में १,१३,००,००० लोगों की जीविका अकुशल श्रम पर निर्भर करती थी। जिस समय लेंग ने अपनी पुस्तक लिखी थी, उस समय कुल आबादी १,८०,००,००० थी। उसमें से यदि अभिजात वर्ग के १०,००,०००, कंगालों तथा बेघरबार व्यक्तियों, अपराधियों और वेश्याओं, आदि की संख्या के १५,००,००० और मध्य वर्ग के ४६,५०,००० लोगों को घटा दिया जाये, तो उपरोक्त १,१३,००,००० ही बचते हैं। लेकिन मध्य वर्ग में उसने छोटी-छोटी पूंजियों के सूद पर रहनेवाले लोगों को, अफ़सरों, लेखकों, कलाकारों, स्कूल-मास्टरों और इसी तरह के अन्य लोगों को भी शामिल कर लिया है, और इस वर्ग की संख्या बढ़ा देने के लिए उसने इन ४६,५०,००० में कारख़ानों के अपेक्षाकृत अच्छी मजदूरी पानेवाले मज़दूरों को भी गिन लिया है! राजगीर भी इसी श्रेणी में रखे गये हैं। (S. Laing, *National Distress etc.*, London, 1844.) "जनता में बहुतायत उस वर्ग की है, जिसके पास भोजन के बदले में देने के लिए साधारण श्रम के सिवा और कुछ नहीं है।" (James Mill, *Colony*, *Encyclopaedia Britannica* के परिशिष्ट में, १८३१)।

[19] "जहां मूल्य की माप के रूप में श्रम की चर्चा होती है, वहां अनिवार्य रूप से एक विशिष्ट प्रकार के श्रम से मतलब होता है... श्रम के अन्य प्रकारों का उसके साथ क्या अनुपात है, यह बहुत आसानी से मालूम हो जाता है।" (*Outlines of Political Economy*, London, 1832, pp. 22, 23.)

अध्याय ८

स्थिर पूंजी और परिवर्ती पूंजी

श्रम-प्रक्रिया के विभिन्न उपादान उत्पाद के मूल्य की रचना में अलग-अलग भूमिका अदा करते हैं।

मजदूर अपने श्रम के विषय पर नये श्रम की एक निश्चित मात्रा खर्च करके उसमें नया मूल्य जोड़ देता है। यहां इस बात का कोई महत्त्व नहीं होता कि उस श्रम का विशिष्ट स्वरूप एवं उपयोग क्या है। दूसरी ओर, श्रम-प्रक्रिया के दौरान खर्च कर दिये गये उत्पादन के साधनों के मूल्य सुरक्षित रहते हैं, और वे उत्पाद के मूल्य के संघटक भागों के रूप में नये सिरे से सामने आते हैं। उदाहरण के लिए, कपास और तकुए के मूल्य एक बार फिर से सूत के मूल्य में सामने आते हैं। अतएव उत्पादन के साधनों का मूल्य उत्पाद में स्थानांतरित हो जाता है और इस प्रकार सुरक्षित रहता है। यह स्थानांतरण इन साधनों के उत्पाद में बदले जाने के समय, यानी श्रम-प्रक्रिया के दौरान होता है। वह श्रम द्वारा संपन्न किया जाता है। परंतु प्रश्न यह है कि किस तरह?

मजदूर एक साथ दो क्रियाएं नहीं करता। ऐसा नहीं होता कि वह एक क्रिया के द्वारा कपास में मूल्य जोड़ता हो और दूसरी क्रिया के द्वारा उत्पादन के साधनों के मूल्य को सुरक्षित रखता हो, या, जो कि एक ही बात है, उत्पाद में, यानी सूत में, उस कपास का मूल्य, जिसपर वह काम करता है, और उस तकुए के मूल्य का एक अंश स्थानांतरित कर देता हो, जिससे वह काम करता है। उसके बजाय वह नया मूल्य जोड़ने की क्रिया के द्वारा ही उनके पुराने मूल्यों को सुरक्षित रखता है। लेकिन अपने श्रम के विषय में नया मूल्य जोड़ना और उसके पुराने मूल्य को सुरक्षित रखना चूंकि दो बिल्कुल अलग-अलग परिणाम हैं, जिनको मजदूर एक साथ और एक ही क्रिया के दौरान पैदा करता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि परिणाम का यह दोहरा स्वरूप उसके श्रम के दोहरे स्वरूप के आधार पर ही समझ में आ सकता है। एक ही समय में एक स्वरूप में उसके श्रम को मूल्य पैदा करना चाहिए और दूसरे स्वरूप में मूल्य को सुरक्षित रखना या स्थानांतरित कर देना चाहिए।

अब प्रश्न यह उठता है कि हर मजदूर नया श्रम और उसके परिणामस्वरूप नया मूल्य किस ढंग से जोड़ता है? जाहिर है कि वह केवल एक विशिष्ट ढंग से उत्पादक श्रम करके ही नया श्रम और नया मूल्य जोड़ता है—कातनेवाला कताई करके, बुननेवाला बुनकर और लोहार गढ़कर। लेकिन इस प्रकार सामान्य रूप से श्रम का, अर्थात् मूल्य का, अपने में समावेश करते हुए उत्पादन के साधन, यानी कपास और तकुआ, सूत और करघा, या लोहा और निहाई केवल श्रम के विशिष्ट रूप के द्वारा ही, यानी केवल कताई, बुनाई और गढ़ाई के श्रम द्वारा

ही, उत्पाद के, एक नये उपयोग मूल्य के, संघटक तत्त्व बन पाते हैं।[20] प्रत्येक उपयोग-मूल्य गायब हो जाता है – लेकिन तुरंत एक नये रूप में एक नये उपयोग-मूल्य में प्रकट होने के लिए ही। जिस समय हम मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया पर विचार कर रहे थे, उस समय हमने देखा था कि यदि कोई उपयोग-मूल्य किसी नये उपयोग-मूल्य के उत्पादन में कारगर ढंग से ख़र्च हो जाये, तो उपभोग की गयी वस्तु के उत्पादन में श्रम की जितनी मात्रा लगी होगी, वह नया उपयोग-मूल्य पैदा करने के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा का एक भाग बन जायेगी। इसलिए यह भाग वह श्रम होगा, जो उत्पादन के साधनों से नये उत्पाद में स्थानांतरित हो जाता है। चुनांचे मज़दूर जब उपभोग में लाये गये उत्पादन के साधनों के मूल्य को सुरक्षित रखता है या उनको उत्पाद में उसके मूल्य के भागों के रूप में स्थानांतरित कर देता है, तब वह यह कार्य नया अमूर्त श्रम जोड़कर नहीं, बल्कि एक विशिष्ट प्रकार का उपयोगी श्रम करके अपने श्रम के विशिष्ट उत्पादक रूप के फलस्वरूप संपन्न करता है। इस तरह, जिस हद तक श्रम ऐसी विशिष्ट उत्पादक कार्रवाई है, यानी जिस हद तक वह कताई, बुनाई या गढ़ाई का श्रम है, उस हद तक वह महज़ अपने संपर्क से उत्पादन के साधनों को मुर्दा से ज़िंदा कर देता है, उनको श्रम-प्रक्रिया के जीवित उपादान बना देता है और उनके साथ जुड़कर नये उत्पाद की रचना करता है।

यदि मज़दूर का विशिष्ट उत्पादक श्रम कताई का श्रम न होता, तो वह कपास को सूत में नहीं बदल पाता और इसलिए कपास और तकुए के मूल्यों को सूत में स्थानांतरित नहीं कर सकता। मान लीजिये कि वह मज़दूर अपना पेशा बदलकर फ़र्नीचर बनानेवाला बढ़ई बन जाता है। बढ़ई के रूप में भी वह जिस सामग्री पर काम करेगा, उसमें एक दिन का श्रम करके नया मूल्य जोड़ देगा। इसलिए पहली बात तो हम यह देखते हैं कि नया मूल्य इसलिए नहीं जुड़ता कि मज़दूर का श्रम ख़ास तौर पर कताई का श्रम है या ख़ास तौर पर फ़र्नीचर बनाने का श्रम है, बल्कि वह इसलिए जुड़ता है कि मज़दूर का श्रम अमूर्त श्रम अथवा समाज के संपूर्ण श्रम का एक भाग है। और दूसरी बात हम यह देखते हैं कि जो नया मूल्य जोड़ा जाता है, वह यदि एक निश्चित मात्रा का मूल्य होता है, तो इसका कारण यह नहीं है कि मज़दूर का श्रम एक ख़ास तरह की उपयोगिता रखता है, बल्कि इसका कारण यह है कि वह एक निश्चित समय तक किया जाता है। इसलिए एक तरफ़ तो कताई का श्रम अपने सामान्य स्वरूप के कारण, यानी इस कारण कि उसमें मानव की अमूर्त श्रम-शक्ति ख़र्च की जाती है, कपास और तकुए के मूल्यों में नया मूल्य जोड़ देता है, और दूसरी तरफ़, अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण, यानी एक मूर्त, उपयोगी क्रिया होने के कारण, कताई का वही श्रम उत्पादन के साधनों के मूल्यों को उत्पाद में स्थानांतरित कर देता है और साथ ही उनको उत्पाद में सुरक्षित भी रखता है। यही कारण है कि एक ही समय में दोहरा परिणाम संपन्न होता है।

श्रम की एक निश्चित मात्रा के केवल जुड़ जाने से नया मूल्य जुड़ जाता है, और इस जोड़े हुए श्रम के विशिष्ट गुण के फलस्वरूप उत्पादन के साधनों के मूल मूल्य उत्पाद में सुरक्षित रहते हैं। यह दोहरा प्रभाव, जो श्रम के दोहरे स्वरूप का परिणाम होता है, अनेक परिघटनाओं में देखा जा सकता है।

---

[20] "जो सृष्टि मिट जाती है, उसके स्थान पर श्रम एक नयी सृष्टि उत्पन्न कर देता है।" (*An Essay on the Political Economy of Nations*, London, 1821, p. 13.)

मान लीजिये कि किसी आविष्कार के फलस्वरूप कातनेवाला छः घंटे में उतनी ही कपास कात डालता है, जितनी वह पहले ३६ घंटे में कातता था। अब उसका श्रम उपयोगी उत्पादन के लिए पहले से छः गुना कारगर हो जाता है। छः घंटे के श्रम का उत्पाद अब छः गुना बढ़ जाता है और छः पाउंड से ३६ पाउंड हो जाता है। लेकिन अब ३६ पाउंड कपास केवल उतने श्रम का अवशोषण करती है, जितने का पहले छः पाउंड कपास करती थी। कपास का हर पाउंड अब पहले की तुलना में नये श्रम के केवल छठे भाग का अवशोषण करता है, और इसलिए इसके पहले हर पाउंड में श्रम द्वारा जितना मूल्य जोड़ा जाता था, अब उसका केवल छठा भाग ही जुड़ता है। दूसरी ओर, उत्पाद में – यानी ३६ पाउंड सूत में – कपास से स्थानांतरित होनेवाला मूल्य पहले का छः गुना होता है। अब छः घंटे की कताई से कच्चे माल का जितना मूल्य सुरक्षित रहता है और उत्पाद में स्थानांतरित होता है, वह पहले का छः गुना होता है, हालांकि इसी कच्चे माल के प्रत्येक पाउंड में कातनेवाले के श्रम द्वारा जो नया मूल्य जुड़ता है, वह पहले का केवल छठा भाग होता है। इससे प्रकट होता है कि श्रम की वे दो विशेषताएं बुनियादी तौर पर बिल्कुल भिन्न होती हैं, जिनमें से एक के फलस्वरूप वह मूल्य को सुरक्षित रखता है और दूसरी के फलस्वरूप मूल्य पैदा करता है। एक तरफ़, कपास के एक निश्चित वज़न को कातकर सूत तैयार करने में जितना अधिक समय लगता है, सामग्री में उतना ही अधिक नया मूल्य जुड़ जाता है। दूसरी तरफ़, किसी निश्चित समय में जितने अधिक वजन की कपास कात डाली जाती है, उतना ही अधिक मूल्य उत्पाद में स्थानांतरित होकर सुरक्षित हो जाता है।

अब मान लीजिये कि कातनेवाले के श्रम की उत्पादिता बढ़ने-घटने के बजाय स्थिर रहती है और इसलिए उसे एक पाउंड कपास को सूत में बदलने के लिए उतने ही समय की आवश्यकता होती है, जितने की पहले होती थी, लेकिन कपास का विनिमय-मूल्य बदल जाता है और या तो बढ़कर पहले का छः गुना हो जाता है या घटकर पहले के मूल्य का केवल छठा भाग रह जाता है। इन दोनों सूरतों में कातनेवाला एक पाउंड कपास में अब भी उतना ही श्रम डालता है, जितना वह पहले डालता था, और इसलिए वह उसमें उतना ही मूल्य जोड़ता है, जितना वह कपास के मूल्य में तब्दीली आने के पहले जोड़ता था। और वह सूत की एक निश्चित मात्रा अब भी उतने ही समय में तैयार करता है, जितने समय में वह पहले तैयार करता था। फिर भी वह कपास से सूत में जो मूल्य स्थानांतरित करता है, वह अब या तो कपास के मूल्य में तब्दीली आने के पहले का छठा भाग होता है, या छः गुना। यही उस वक़्त भी होता है, जब श्रम के औज़ारों के मूल्य में उतार या चढ़ाव आता है, मगर श्रम-प्रक्रिया में उनकी उपयोगी कार्य-क्षमता ज्यों की त्यों रहती है।

फिर यदि कताई की प्रक्रिया की प्राविधिक परिस्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं होता और उत्पादन के साधनों के मूल्य में कोई तब्दीली नहीं आती, तो कातनेवाला समान श्रम-काल में समान मात्रा में कच्चा माल और समान मात्रा में मशीनें ख़र्च करता जाता है, जिनके मूल्य में भी कोई परिवर्तन नहीं होता। वह उत्पाद में जो मूल्य सुरक्षित रखता है, वह उस नये मूल्य के प्रत्यक्ष अनुपात में होता है, जो वह उत्पाद में जोड़ देता है। दो सप्ताह में वह एक सप्ताह से दुगुने श्रम का और इसलिए दुगुने मूल्य का समावेश करता है और एक सप्ताह से दुगुना कच्चा माल ख़र्च कर डालता है तथा दुगुनी मशीनें घिसा देता है, यानी वह दो सप्ताह में एक सप्ताह से दुगुने मूल्य का कच्चा माल तथा मशीनें इस्तेमाल कर डालता है; और इस-

लिए वह एक सप्ताह के उत्पाद में जितना मूल्य सुरक्षित रखता है, दो सप्ताह के उत्पाद में उसका दुगुना मूल्य सुरक्षित रखता है। जब तक उत्पादन की परिस्थितियां एक सी रहती हैं, उस वक़्त तक मज़दूर नया श्रम करके जितना अधिक मूल्य जोड़ता है, वह उतना ही अधिक मूल्य स्थानांतरित करके सुरक्षित कर देता है; लेकिन यह वह केवल इसलिए करता है कि उसने नया मूल्य ऐसी परिस्थितियों में जोड़ा है, जिनमें कोई तब्दीली नहीं आयी है और जो स्वयं उसके श्रम से स्वतंत्र हैं।

ज़ाहिर है कि एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि मज़दूर जिस मात्रा में नया मूल्य जोड़ता है, सदा उसी अनुपात में पुराने मूल्य को सुरक्षित भी रखता है। कपास का मूल्य चाहे एक शिलिंग से बढ़कर दो शिलिंग हो जाये या चाहे घटकर छः पेंस रह जाये, मज़दूर दो घंटे में जितने मूल्य को सुरक्षित रखता है, एक घंटे में सदा उसके आधे मूल्य को ही सुरक्षित रखेगा। इसी प्रकार यदि उसके अपने श्रम की उत्पादिता में कोई परिवर्तन आता है और वह घट-बढ़ जाती है, तो वह उसके घटने पर एक घंटे में पहले से कम और बढ़ने पर पहले से ज़्यादा सूत कातेगा और इसलिए एक घंटे के उत्पाद में पहले से कम या ज़्यादा कपास के मूल्य को सुरक्षित रखेगा। लेकिन इसके बावजूद वह एक घंटे में जितने मूल्य को सुरक्षित रखता है, दो घंटे में उसके दुगुने मूल्य को ही सुरक्षित रखेगा।

मूल्य केवल उपयोगी वस्तुओं में या चीज़ों में होता है। प्रतीकों द्वारा उसे केवल चिह्न-रूप में जिस तरह व्यक्त किया जाता है, हम यहां उसकी चर्चा नहीं करेंगे। (श्रम-शक्ति के मूर्त रूप में मनुष्य स्वयं एक प्राकृतिक वस्तु या एक चीज़ होता है, हालांकि यह चीज़ जीवित और सचेतन होती है, और श्रम उसमें विद्यमान इस शक्ति की अभिव्यक्ति होता है।) इसलिए किसी वस्तु की यदि उपयोगिता जाती रहती है, तो उसका मूल्य भी ग़ायब हो जाता है। उत्पादन के साधन अपना उपयोग-मूल्य खोने के साथ-साथ अपना मूल्य क्यों नहीं खो देते, इसका कारण यह है कि वे श्रम-प्रक्रिया में अपने उपयोग-मूल्य का मूल रूप तो खो देते हैं, पर तुरंत ही उत्पाद में एक नये उपयोग-मूल्य का रूप धारण कर लेते हैं। मूल्य के लिए यह बात चाहे जितनी महत्त्वपूर्ण हो कि उसे कोई न कोई ऐसी उपयोगी वस्तु ज़रूर मिलनी चाहिए, जिसमें वह साकार हो सके, लेकिन् उसके लिए इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि कौन सी ख़ास वस्तु यह काम संपन्न कर रही है; यह बात हम पण्यों के रूपांतरण पर विचार करते समय देख चुके हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रम-प्रक्रिया में उत्पादन के साधन केवल उसी हद तक अपना मूल्य उत्पाद में स्थानांतरित करते हैं, जिस हद तक कि वे अपने उपयोग-मूल्य के साथ-साथ अपना विनिमय-मूल्य भी खोते जाते हैं। वे उत्पाद को केवल वही मूल्य सौंपते हैं, जो वे ख़ुद उत्पादन के साधनों के रूप में खो देते हैं। लेकिन इस मामले में श्रम-प्रक्रिया के सब भौतिक उपादान एक ही तरह का व्यवहार नहीं करते हैं।

बायलर के नीचे जलाया जानेवाला कोयला अपना चिह्न तक बाक़ी न छोड़कर एकदम ग़ायब हो जाता है। पहियों की धुरी को चिकना करने के लिए जो लुब्रिकेंट इस्तेमाल किया जाता है, वह भी इसी तरह एकदम ग़ायब हो जाता है। रंग तथा अन्य सहायक पदार्थ भी ग़ायब हो जाते हैं, पर वे तुरंत ही उत्पाद के तत्त्वों के रूप में फिर प्रकट हो जाते हैं। कच्चा माल उत्पाद का सार बन जाता है, लेकिन अपना रूप बदलने के बाद ही। इसलिए कच्चे माल और सहायक पदार्थों का वह विशिष्ट रूप जाता रहता है, जो उन्होंने श्रम-प्रक्रिया में प्रवेश करते समय धारण कर रखा था। श्रम के औज़ारों के साथ ऐसा नहीं होता। औज़ार, मशीनें, वर्क-

शाप और बर्तन केवल उसी वक़्त तक श्रम-प्रक्रिया में काम आते हैं, जिस वक़्त तक कि उनका मूल रूप क़ायम रहता है और जिस वक़्त तक कि वे हर रोज़ सुबह को अपनी पहले जैसी शक्ल में ही प्रक्रिया को फिर से आरंभ करने के लिए तैयार रहते हैं। और जिस तरह वे अपने जीवन-काल में, यानी उस श्रम-प्रक्रिया के दौरान, जिसमें वे भाग लेते रहते हैं, अपनी शक्ल को उत्पाद से स्वतंत्र ज्यों की त्यों बनाये रहते हैं, उसी तरह मृत्यु के बाद भी वे अपनी शक्ल को क़ायम रखते हैं। मुर्दा मशीनों, औज़ारों, वर्कशापों, आदि की लाशें उस उत्पाद से बिल्कुल भिन्न और अलग होती हैं, जिसके उत्पादन में उन्होंने मदद दी है। श्रम का कोई औज़ार जिस दिन वर्कशाप में प्रवेश करता है, उस दिन से लगाकर जब तक कि वह कबाड़-ख़ाने में नहीं भेज दिया जाता, तब तक के उसके संपूर्ण कार्य-काल पर यदि हम विचार करें, तो पायेंगे कि इस काल में उसका उपयोग-मूल्य पूरी तरह ख़र्च हो गया है और इसलिए उसका विनिमय-मूल्य पूरी तरह उत्पाद में स्थानांतरित हो गया है। मिसाल के लिए, यदि कोई कताई की मशीन १० साल तक चलती है, तो यह बात साफ़ है कि इस कार्य-काल में उसका कुल मूल्य धीरे-धीरे १० वर्ष के उत्पाद में स्थानांतरित होता है। इसलिए श्रम के किसी भी औज़ार का जीवन-काल एक ही प्रकार की क्रियाओं की एक छोटी या बड़ी संख्या को बार-बार दोहराने में ख़र्च होता है। उसके जीवन की मनुष्य के जीवन के साथ तुलना की जा सकती है। हर दिन का अंत मनुष्य की मृत्यु को २४ घंटे और नज़दीक ले आता है; लेकिन महज़ उसे देखकर कोई आदमी ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि क़ब्र की ओर ले जानेवाली सड़क पर अभी उसे कितने दिन और सफ़र करना है। किंतु इस कठिनाई के कारण जीवन-बीमा कार्यालयों द्वारा औसत निकालने के सिद्धांत का प्रयोग करते हुए बहुत ठीक और साथ ही बहुत उपयोगी निष्कर्ष निकालने में कोई रुकावट नहीं पड़ती। श्रम के औज़ारों के साथ भी यही बात है। अनुभव से मालूम हो जाता है कि कोई ख़ास तरह की मशीन औसतन कितने समय तक चल पायेगी। मान लीजिये कि श्रम-प्रक्रिया में उसका उपयोग-मूल्य केवल छः दिन तक चल सकता है। तब वह हर रोज़ अपने उपयोग-मूल्य का औसतन छठा भाग खो देती है और इसलिए रोज़ के उत्पाद में अपने मूल्य का छठा भाग स्थानांतरित कर देती है। चुनांचे इस आधार पर हिसाब लगा लिया जाता है कि विभिन्न औज़ार किस गति से घिसते हैं, वे रोज़ कितना उपयोग-मूल्य खो देते हैं और उसके अनुरूप मूल्य की कितनी मात्रा हर दिन उत्पाद को सौंप देते हैं।

इस प्रकार यह बात बिल्कुल साफ़ हो जाती है कि उत्पादन के साधन श्रम-प्रक्रिया के दौरान अपने उपयोग-मूल्य के नष्ट हो जाने के परिणामस्वरूप ख़ुद जितना मूल्य खो देते हैं, वे उससे ज्यादा मूल्य कभी उत्पाद में स्थानांतरित नहीं करते। यदि किसी औज़ार में खोने के लिए मूल्य है ही नहीं, अर्थात्, दूसरे शब्दों में, यदि वह औज़ार मानव-श्रम का उत्पाद नहीं है, तो वह उत्पाद में कोई मूल्य स्थानांतरित नहीं करता। वह विनिमय-मूल्य के निर्माण में कोई योग दिये बिना ही उपयोग-मूल्य पैदा करने में मदद करता है। मानव-सहायता के बिना ही प्रकृति ने उत्पादन के जितने साधन दे रखे हैं,—जैसे भूमि, वायु, जल, पृथ्वी के गर्भ में पड़ी हुई धातुएं और अछूते जंगलों में मिलनेवाली लकड़ी, वे सब इसी मद में आते हैं।

यहां पर एक और दिलचस्प चीज़ हमारे सामने आती है। मान लीजिये कि किसी मशीन की क़ीमत १,००० पाउंड है, और वह १,००० दिन में घिस जाती है। ऐसी हालत में रोज़ाना इस मशीन के मूल्य का हज़ारवां भाग दैनिक उत्पाद में स्थानांतरित होता जायेगा। पर इसके साथ-साथ पूरी मशीन लगातार श्रम-प्रक्रिया में भाग लेती रहती है, हालांकि उसकी जीवन-शक्ति

बराबर कम होती जाती है। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि श्रम-प्रक्रिया का एक उपादान, उत्पादन का कोई साधन, जहां मूल्य के निर्माण की क्रिया में केवल आंशिक रूप से भाग लेता है, वहां वह श्रम-प्रक्रिया में अपने संपूर्ण रूप में लगातार भाग लेता रहता है। इन दो क्रियाओं का भेद यहां उनके भौतिक उपादानों में इस तरह प्रतिबिंबित होता है कि उत्पादन का वही औज़ार श्रम-प्रक्रिया में अपने संपूर्ण रूप में भाग लेता है और साथ ही मूल्य के निर्माण के एक तत्त्व की तरह वह केवल आंशिक रूप में प्रवेश करता है।[21]

दूसरी ओर, यह भी मुमकिन है कि उत्पादन का कोई साधन मूल्य के निर्माण में अपने संपूर्ण रूप में भाग ले और श्रम-प्रक्रिया में केवल थोड़ा-थोड़ा करके समाविष्ट हो। मान लीजिये कि कपास की कताई में हर ११५ पाउंड कपास में से १५ पाउंड ज़ाया हो जाती है, और वह १५ पाउंड कपास सूत में न बदलकर कूड़ा बन जाती है। अब हालांकि यह १५ पाउंड कपास कभी सूत का संघटक तत्त्व नहीं बनती, फिर भी यदि यह मान लिया जाये कि इतनी कपास का ज़ाया होना कताई की औसत परिस्थितियों में एक सामान्य और अनिवार्य बात है, तो जिस तरह सूत का पदार्थ बननेवाली १०० पाउंड कपास का मूल्य सूत के मूल्य में स्थानांतरित हो जाता है, ठीक उसी तरह इस १५ पाउंड कपास का मूल्य भी उसमें स्थानांतरित हो जायेगा।

---

[21] श्रम के औज़ारों की मरम्मत के विषय से हमारा यहां कोई संबंध नहीं है। जिस मशीन की मरम्मत हो रही है, वह औज़ार की भूमिका अदा करना बंद कर देती है और श्रम के विषय की भूमिका अदा करने लगती है। तब उससे काम नहीं लिया जाता, बल्कि उसपर काम किया जाता है। यहां हमारा यह मानकर चलना सर्वथा उचित होगा कि औज़ारों की मरम्मत में ख़र्च किया गया श्रम उनके मूल उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम में शामिल होता है। परंतु मूल पाठ में हम उस घिसाई का ज़िक्र कर रहे हैं, जिसका कोई डाक्टर इलाज नहीं कर सकता और जो थोड़ा-थोड़ा करके औज़ार को मौत के मुंह पर ला खड़ा करती है। मूल पाठ में हम "उस क़िस्म की घिसाई" का ज़िक्र कर रहे हैं, "जिसे समय-समय पर मरम्मत करके दूर नहीं किया जा सकता और जो यदि औज़ार चाकू है, तो उसे इस हालत में पहुंचा देगी कि चाकू बनानेवाला कहेगा कि अब वह इस लायक़ नहीं है कि उस पर नयी धार चढ़ायी जाये।" मूल पाठ में हम यह बता चुके हैं कि मशीन प्रत्येक श्रम-प्रक्रिया में संपूर्ण मशीन के रूप में भाग लेती है, किंतु उसके साथ-साथ चलनेवाली मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में वह केवल थोड़ा-थोड़ा करके समाविष्ट होती है। अतः ज़रा सोचिये कि निम्नलिखित उद्धरण में विचारों की कैसी गड़बड़ी प्रकट होती है। "मि० रिकार्डो कहते हैं कि (जुर्राबें बनानेवाली) मशीन को तैयार करने में इंजीनियर का जो श्रम ख़र्च हुआ है, उसका एक भाग", उदाहरण के लिए, जुर्राबों की एक जोड़ी में निहित होता है। "फिर भी उस कुल श्रम में, जिससे कि जुर्राबों की हर जोड़ी तैयार हुई है... इंजीनियर के श्रम का एक भाग नहीं, बल्कि उसका पूरा श्रम शामिल है; कारण कि एक मशीन बहुत सी जोड़ियों को तैयार करती है, और इनमें से कोई जोड़ी मशीन के किसी भी एक हिस्से के बिना तैयार नहीं की जा सकती थी।" (*Observations on Certain Verbal Disputes in Political Economy, Particularly Relating to Value and to Demand and Supply*, London, 1821, p. 54.) इस पुस्तक का लेखक एक असामान्यतः आत्मसंतुष्ट लाल-बुझक्कड़ है। उसके गड़बड़ विचार और इसलिए तर्क भी केवल इसी हद तक सही हैं कि न तो रिकार्डो ने और न ही उनके पहले या बाद के किसी और अर्थशास्त्री ने श्रम के दो पहलुओं के भेद को ठीक-ठीक समझा है और इसलिए वे इस बात को तो और भी कम समझ पाये हैं कि इन दो पहलुओं के मातहत श्रम मूल्य के निर्माण में क्या भूमिका अदा करता है।

१०० पाउंड सूत तैयार होने के पहले यह ज़रूरी होता है कि १५ पाउंड कपास का उपयोग-मूल्य धूल में मिल जाये। इसलिए इस कपास का नष्ट होना सूत के उत्पादन की एक ज़रूरी शर्त है। और क्योंकि यह उसकी एक ज़रूरी शर्त है – और किसी अन्य कारणवश नहीं – इस कपास का मूल्य उत्पाद में स्थानांतरित हो जाता है। श्रम-प्रक्रिया के परिणास्वरूप यदि किसी भी तरह का कूड़ा-कचरा निकलता है, तो जिस हद तक इस कूड़े-कचरे को फिर किन्हीं नये तथा स्वतंत्र उपयोग-मूल्यों के उत्पादन में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता, उस हद तक उसपर यही बात लागू होती है। कूड़ा-कचरा किस तरह नये तथा स्वतंत्र उपयोग-मूल्यों के उत्पादन में इस्तेमाल किया जा सकता है, यह मैंचेस्टर के मशीन बनानेवाले बड़े कारखाने में देखा जा सकता है, जहां रोज़ शाम को ख़राद से गिरी हुई लोहे की छीलनों के पहाड़ के पहाड़ गाड़ियों में लादकर ढलाई-घर में ले जाये जाते हैं और अगले रोज़ सुबह वे लोहे के ठोस टुकड़ों के रूप में वर्कशाप में फिर हाज़िर हो जाते हैं।

हम यह देख चुके हैं कि उत्पादन के साधन नये उत्पाद में केवल उसी हद तक मूल्य को स्थानांतरित करते हैं, जिस हद तक कि श्रम-प्रक्रिया के दौरान वे उपयोग-मूल्य के अपने पुराने रूप में अपना मूल्य खो देते हैं। इस प्रक्रिया में वे ज्यादा से ज्यादा कितना मूल्य खो सकते हैं, वह, ज़ाहिर है, इस बात से निर्धारित होता है कि वे कितना मूल मूल्य लेकर इस प्रक्रिया में सम्मिलित हुए थे, या, दूसरे शब्दों में, यह उनके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल से निर्धारित होता है। इसलिए उत्पादन के साधन जिस श्रम-प्रक्रिया में योग देते हैं, उससे स्वतंत्र उनमें जितना मूल्य होता है, वे उससे अधिक मूल्य कभी उत्पाद में नहीं जोड़ सकते। कोई ख़ास कच्चा माल, या कोई मशीन, या उत्पादन का कोई और साधन चाहे कितना ही उपयोगी क्यों न हो, यदि उसमें १५० पाउंड की लागत – या मान लीजिये ५०० दिन का श्रम – लगा हो, तो वह किसी भी हालत में १५० पाउंड से ज्यादा का मूल्य उत्पाद में नहीं जोड़ सकता। उसका मूल्य उस श्रम-प्रक्रिया से निर्धारित नहीं होता, जिसमें वह उत्पादन के साधन के रूप में प्रवेश करता है, बल्कि उसका मूल्य उस श्रम-प्रक्रिया से निर्धारित होता है, जिसमें से वह उत्पाद के रूप में बाहर निकला है। श्रम-प्रक्रिया में वह केवल एक उपयोग-मूल्य की तरह काम में आता है, केवल एक ऐसी वस्तु के रूप में काम में आता है, जिसमें कुछ उपयोगी गुण होते हैं, और इसलिए वह उत्पाद में कोई ऐसा मूल्य स्थानांतरित नहीं कर सकता, जो उसमें पहले से मौजूद नहीं था।[22]

---

[22] इससे हम जे० बी० सेय के बेतुकेपन का अनुमान कर सकते हैं, जो हमें यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि उत्पादन के साधन, भूमि, औज़ार, कच्चा माल अपने उपयोग-मूल्यों के द्वारा श्रम-प्रक्रिया में जो "उत्पादक सेवाएं" करते हैं, वही बेशी मूल्य का (सूद, मुनाफ़े, लगान का) कारण हैं। मि० विल्हेल्म रोशर ने, जो पक्षपोषणात्मक कल्पना की अटपटी उड़ानों को काग़ज़ पर दर्ज करने का अवसर कभी नहीं चूकते, यह नमूना हमारे सामने पेश किया है: "जे० बी० सेय ने *Traité*. t. I, ch. 4 में सच ही कहा है कि तेल निकालने की मिल जो मूल्य पैदा करती है, वह सारा ख़र्च काटने के बाद कोई नयी चीज़, कोई ऐसी चीज़ होती है, जो कि उस से बिल्कुल भिन्न है, जो मिल के निर्माण में ख़र्च किया गया था।" (*Die Grundlagen der Nationalökonomie*, 3. Auff., 1858, S. 82, Note.) सत्य वचन है, प्रोफ़ेसर साहब! तेल की मिल से जो तेल तैयार होता है, वह निश्चय ही उस श्रम से बहुत भिन्न होता है, जो ख़ुद मिल को बनाने में ख़र्च हुआ था! मूल्य को मि० रोशर "तेल" जैसी

जिस समय उत्पादक श्रम उत्पादन के साधनों को किसी नये उत्पाद के संघटक तत्त्वों में बदलता है, उस समय उनके मूल्य का देहांतरण हो जाता है। जो देह श्रम-प्रक्रिया में ख़र्च हो गयी है, मूल्य रूपी आत्मा उसे छोड़कर नव-उत्पादित देह में चली जाती है। पर यह देहांतरण मानो मज़दूर के पीठ पीछे होता है। वह उस वक़्त तक नया श्रम जोड़ने या नया मूल्य पैदा करने में असमर्थ होता है, जब तक कि वह उसके साथ-साथ पुराने मूल्यों को भी सुरक्षित न कर दे, और वह इसलिए कि वह जो नया श्रम जोड़ता है, वह लाज़िमी तौर पर किसी ख़ास तरह का उपयोगी श्रम होता है, और यह उपयोगी श्रम वह उस वक़्त तक नहीं कर सकता, जब तक कि उत्पादित वस्तुओं का नये उत्पादन के साधनों के रूप में न प्रयोग करे और उसके द्वारा उनका मूल्य नये उत्पाद में न स्थानांतरित कर दे। इसलिए कार्यरत श्रम-शक्ति में – जीवित श्रम में – मूल्य जोड़ने के साथ-साथ मूल्य को सुरक्षित रखने का जो गुण होता है, वह प्रकृति की देन है, जिसके लिए मज़दूर को कुछ ख़र्च नहीं करना पड़ता, लेकिन जो पूंजीपति के बड़े फ़ायदे का गुण होता है, क्योंकि वह उसकी पूंजी के पूर्वविद्यमान मूल्य को सुरक्षित रखता है।[22a] जब तक व्यवसाय अच्छा चलता रहता है, तब तक पूंजीपति द्रव्य कमाने में इतना डूबा रहता है कि वह श्रम की इस निःशुल्क देन की ओर आंख तक उठाकर नहीं देखता। परंतु जब कोई संकट आकर बलपूर्वक श्रम-प्रक्रिया को बीच में रोक देता है, तब पूंजीपति इस देन के महत्त्व के बारे में बहुत सहज ही सजग हो जाता है।[23]

चीज़ समझते हैं, क्योंकि तेल में मूल्य होता है, हालांकि "प्रकृति" भी पेट्रोल पैदा करती है, भले ही वह अपेक्षाकृत "थोड़ी मात्रा में" ऐसा करती हो, और इस बात को ध्यान में रखकर ही शायद मि० रोशर ने आगे कहा है: "वह (प्रकृति) शायद ही कभी कोई विनिमय-मूल्य पैदा करती है।" [l. c., p. 79.] मि० रोशर की "प्रकृति" और वह जो विनिमय-मूल्य पैदा करती है, वे उस मूर्ख लड़की की तरह हैं, जिसने यह तो स्वीकार कर लिया था कि कुमारी होते हुए भी उसके बच्चा हो चुका है, पर साथ ही जिसने अपनी सफ़ाई के तौर पर कहा था: "तो क्या हुआ, बच्चा ज़रा सा ही तो है!" इस "महान विद्वान" ने आगे कहा है: "रिकार्डो-संप्रदाय के अर्थशास्त्रियों की आदत है कि वे पूंजी को संचित श्रम के रूप में श्रम की मद में शामिल कर देते हैं। यह बुद्धिमानी का काम नहीं है, क्योंकि आख़िर पूंजी का मालिक महज़ उसे पैदा नहीं करता और सुरक्षित ही नहीं रखता, वह कुछ और भी करता है, यानी वह उसका उपभोग करने का मोह संवरण करता है, जिसके एवज़ में वह, मिसाल के लिए सूद चाहता है।" (l. c.) राजनीतिक अर्थशास्त्र की यह "शरीररचनात्मक तथा शरीरक्रियात्मक" पद्धति भी कितनी बुद्धिमानी से भरी है कि जो "वास्तव में" महज़ एक इच्छा को "आख़िर" मूल्य का स्रोत बना देती है!

[22a] "काश्तकार के व्यवसाय के जितने भी साधन होते हैं, उनमें मनुष्य का श्रम ही... ऐसा साधन होता है, जिसपर वह अपनी पूंजी को फिर से प्राप्त करने के लिए सबसे अधिक भरोसा करता है। दूसरी दो क़िस्मों के साधन – खेती में काम आनेवाले काश्तकार के ढोर और... गाड़ियां, हल, फावड़े, इत्यादि – पहली क़िस्म के साधन [श्रम] की एक निश्चित मात्रा के अभाव में बिल्कुल बेकार होते हैं।" (Edmund Burke, *Thoughts and Details on Scarcity, Originally Presented to the Rt. Hon. W. Pitt in the Month of November 1795*, edit. London, 1800, p. 10.)

[23] *The Times* के २६ नवंबर, १८६२ के अंक में एक कारख़ानेदार ने, जिसकी मिल में ८०० मज़दूर काम करते हैं और औसतन १५० गांठ भारतीय कपास या १३० गांठ अमरीकी कपास (प्रति हफ़्ते) का उपयोग होता है, बहुत रुआंसा होकर यह शिकायत की है

जहां तक उत्पादन के साधनों का संबंध है, जो कुछ सचमुच ख़र्च होता है, वह उनका उपयोग-मूल्य होता है, और श्रम के द्वारा उस उपयोग-मूल्य के उपयोग का फल उत्पाद होता है। उत्पादन के साधनों के मूल्य का उपभोग नहीं होता,[24] और इसलिए यह कहना ग़लत होगा कि उनके मूल्य का पुनरुत्पादन होता है। बल्कि यह कहना सही होगा कि उनका मूल्य सुरक्षित रहता है, इसलिए नहीं कि वह श्रम-प्रक्रिया के दौरान ख़ुद किसी क्रिया में से गुज़रता है, बल्कि इसलिए कि वह मूल्य शुरू में जिस वस्तु में पाया जाता है, वह वस्तु ग़ायब तो होती है, पर तुरंत ही किसी और वस्तु के रूप में प्रकट हो जाती है। इसलिए उत्पाद के मूल्य में उत्पादन के साधनों का मूल्य पुनः प्रकट होता है, लेकिन सही अर्थ में उस मूल्य का पुनरुत्पादन नहीं होता। जो कुछ सचमुच पैदा होता है, वह एक नया उपयोग-मूल्य होता है, जिसमें पुराना विनिमय-मूल्य पुनः प्रकट होता है।[25]

कि उसकी फ़ैक्टरी जब काम नहीं करती, तब भी उससे संबंधित स्थायी ख़र्च का काफ़ी बोझ रहता है। उसका अनुमान है कि इस तरह उसे हर साल ६,००० पाउंड ख़र्च करने पड़ते हैं। इस ख़र्च में कई ऐसी मदें शामिल हैं, जिनसे हमारा यहां कोई संबंध नहीं है, जैसे किराया, कर और टैक्स, बीमे का ख़र्चा और मैनेजर, हिसाबनवीस, इंजीनियर, आदि की तनख़्वाहें। फिर उसने हिसाब लगाया है कि समय-समय पर उसे मिल को गरम करने के लिए और यदा-कदा इंजन चलाने के लिए जो कोयला इस्तेमाल करना पड़ता है, उसपर १५० पाउंड ख़र्च होते हैं। इसके अलावा मशीनों को चालू हालत में रखने के लिए उसे कभी-कभार जिन लोगों को नौकर रखना पड़ता है, उनकी मज़दूरी की भी वह गिनती करता है। अंत में कारख़ानेदार ने १,२०० पाउंड मशीनों के मूल्य ह्रास की मद में डाल दिये हैं, क्योंकि "जब भाप से चलने-वाला इंजन काम करना बंद कर देता है, तब भी मौसम का तथा अपक्षय का प्राकृतिक सिद्धांत काम करना बंद नहीं कर देते।" कारख़ानेदार ने बहुत ज़ोर देकर कहा है कि मूल्य-ह्रास की मद में उसने १,२०० पाउंड की इस छोटी सी रक़म से ज़्यादा इसलिए नहीं डाले हैं कि उसकी मशीन पहले ही से लगभग एकदम घिसी हुई है।

[24] "उत्पादक उपभोग... जहां किसी पण्य का उपभोग उत्पादन की प्रक्रिया का एक अंग होता है... ऐसी सूरतों में मूल्य का उपभोग नहीं होता।" (S. Ph. Newman, l. c., p. 296.)

[25] एक अमरीकी पाठ्यपुस्तक में, जिसके अब तक शायद २० संस्करण निकल चुके हैं, यह लिखा हुआ है कि "इसका कोई महत्त्व नहीं है कि पूंजी किस रूप में पुनः प्रकट होती है"। फिर उत्पादन के ऐसे तमाम संभव तत्वों को विस्तार के साथ गिनाने के बाद, जिनका मूल्य उत्पाद में पुनः प्रकट होता है, इस अंश में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि "मनुष्य के अस्तित्व तथा सुख के लिए जिन नाना प्रकार के खाद्य-पदार्थों, कपड़े और आश्रय की आवश्यकता होती है, वे भी बदल जाते हैं। उनका समय-समय पर उपभोग किया जाता है, और उनका मूल्य पुनः उस नयी शक्ति के रूप में प्रगट होता है, जिसका शरीर तथा मस्तिष्क में संचार हो जाता है और जो नयी पूंजी बन जाती है, जिसका उत्पादन के काम में पुनः उपयोग किया जाता है।" (F. Wayland, l. c., pp. 31, 32.)। यहां जो अन्य अनेक अटपटी बातें कही गयी हैं, उनकी ओर ध्यान न देकर केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि नयी शक्ति के रूप में जो कुछ पुनः प्रकट होता है, वह रोटी का दाम नहीं होता, बल्कि वह रोटी का रक्त-निर्माण करनेवाला अंश होता है। दूसरी ओर, इस नयी शक्ति के मूल्य में जो कुछ पुनः प्रकट होता है, वह जीवन-निर्वाह के साधन नहीं होते, बल्कि उन साधनों का मूल्य होता है। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं यदि वे ही रहें, पर उनका दाम आधा हो जाये, तो उनसे पहले जितनी ही मांस-पेशियां और हड्डियां, पहले जितनी ही नयी

श्रम-प्रक्रिया के वैयक्तिक उपादान की – अर्थात् कार्यरत श्रम-शक्ति की – बात दूसरी है। जहां एक तरफ़, मज़दूर इस कारण कि उसका श्रम एक विशिष्ट प्रकार का श्रम होता है और उसका एक ख़ास उद्देश्य होता है, उत्पादन के साधनों के मूल्य को सुरक्षित रखता है और उनको उत्पाद में स्थानांतरित कर देता है, वहां दूसरी तरफ़, वह इसके साथ-साथ केवल काम करने के परिणामस्वरूप हर बार अतिरिक्त अथवा नया मूल्य भी पैदा कर देता है। मान लीजिये कि उत्पादन की प्रक्रिया ठीक उस समय रुक जाती है, जब मज़दूर ख़ुद अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य का समतुल्य पैदा कर लेता है, यानी मिसाल के लिए, जब वह छः घंटे के श्रम से तीन शिलिंग का मूल्य जोड़ देता है। यह मूल्य उत्पाद के कुल मूल्य का वह भाग देता है, जो उत्पादन के साधनों के कारण उत्पाद में आनेवाले मूल्य के भाग से बेशी होता है। उत्पादन की प्रक्रिया में केवल इतना ही नया मूल्य तैयार होता है, या उत्पाद के मूल्य का केवल यही एक ऐसा भाग है, जो उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा पैदा होता है। ज़ाहिर है, हम यह बात नहीं भूलते कि यह नया मूल्य केवल उस द्रव्य का स्थान लेता है, जो पूंजीपति ने श्रम-शक्ति की ख़रीद में पेशगी ख़र्च किया था और जिसे मज़दूर ने जीवन की आवश्यकताओं पर ख़र्च किया था। जहां तक ख़र्च किये गये द्रव्य का संबंध है, नया मूल्य केवल एक पुनरुत्पादित मूल्य होता है। परंतु फिर भी यह पुनरुत्पादन वास्तविक पुनरुत्पादन होता है; वह उत्पादन के साधनों के मूल्य के पुनरुत्पादन की भांति केवल दिखावटी नहीं होता। यहां भी एक मूल्य का स्थान दूसरा मूल्य ले लेता है, पर यह क्रिया नये मूल्य के सृजन द्वारा संपन्न होती है।

किंतु ऊपर हम यह देख चुके हैं कि केवल श्रम-शक्ति के मूल्य के समतुल्य का पुनरुत्पादन करके उसका उत्पाद में समावेश करने के लिए जितना समय आवश्यक है, श्रम-प्रक्रिया उसके बाद भी जारी रह सकती है। मान लीजिये, उसके लिए छः घंटे काफ़ी होते हैं, पर श्रम-प्रक्रिया बारह घंटे तक जारी रह सकती है। इसलिए श्रम-शक्ति के कार्य से केवल ख़ुद उसके मूल्य का पुनरुत्पादन नहीं होता, बल्कि उसके अलावा और उससे अधिक भी कुछ मूल्य पैदा होता है। उत्पाद के मूल्य और उसके उत्पादन में ख़र्च किये गये तत्त्वों के मूल्य – या, दूसरे शब्दों में, उत्पादन के साधनों और श्रम-शक्ति के मूल्य – का अंतर बेशी मूल्य होता है।

उत्पाद के मूल्य के निर्माण में श्रम-प्रक्रिया के विभिन्न उपादान जो अलग-अलग भूमिकाएं अदा करते हैं, उनकी व्याख्या करके हमने वास्तव में यह बात स्पष्ट कर दी है कि पूंजी के विभिन्न तत्त्वों को ख़ुद पूंजी के मूल्य का विस्तार करने की क्रिया में कौन-कौन से कार्य करने पड़ते हैं। उत्पाद के संघटक उपादानों के मूल्यों के जोड़ से उत्पाद का कुल मूल्य जितना अधिक होता है, वह विस्तारित पूंजी तथा पेशगी लगायी गयी मूल पूंजी का अंतर होता है। जब मूल पूंजी द्रव्य से श्रम-प्रक्रिया के नाना प्रकार के उपादानों में रूपांतरित की जाती है, तब उसका मूल्य जो अलग-अलग प्रकार के अस्तित्व-रूप धारण कर लेता है, वे ही एक तरफ़ तो उत्पादन के साधन और दूसरी तरफ़ श्रम-शक्ति होते हैं।

शक्ति तैयार होगी, लेकिन उनसे पहले जितने मूल्य की नयी शक्ति नहीं तैयार होगी। "मूल्य" तथा "शक्ति" की यह गड़बड़ी और उसके साथ-साथ हमारे लेखक की पाखंडपूर्ण अस्पष्टता असल में इस बात की कोशिश हैं – हालांकि बेसूद ही – कि बेशी मूल्य के पैदा होने का कारण केवल यह बता दिया जाये कि पहले से मौजूद मूल्य पुनः प्रकट हो जाते हैं।

अतः पूंजी के उस भाग के मूल्य में कोई परिमाणात्मक परिवर्तन नहीं होता, जिसका प्रतिनिधित्व उत्पादन के साधन – कच्चा माल, सहायक सामग्री और श्रम के औज़ार – करते हैं। इसलिए इस भाग को मैं पूंजी का स्थिर भाग या, अधिक संक्षेप में, स्थिर पूंजी कहता हूं।

दूसरी ओर, उत्पादन की प्रक्रिया में पूंजी के उस भाग के मूल्य में अवश्य परिवर्तन हो जाता है, जिसका प्रतिनिधित्व श्रम-शक्ति करती है। वह ख़ुद अपने मूल्य के समतुल्य का पुनरुत्पादन भी करता है और साथ ही उससे अधिक बेशी मूल्य भी पैदा कर देता है, जो ख़ुद परिस्थितियों के अनुसार कम या ज़्यादा हो सकता है। पूंजी का यह भाग लगातार एक स्थिर परिमाण से परिवर्ती परिमाण में रूपांतरित होता रहता है। इसलिए उसे मैं पूंजी का परिवर्ती भाग या संक्षेप में परिवर्ती पूंजी कहता हूं। पूंजी के जो तत्त्व श्रम-प्रक्रिया की दृष्टि से क्रमशः वस्तुगत और वैयक्तिक उपादानों के रूप में – या उत्पादन के साधनों और श्रम-शक्ति के रूप में – सामने आते हैं, वे ही बेशी मूल्य पैदा करने की क्रिया की दृष्टि से स्थिर और परिवर्ती पूंजी के रूप में प्रकट होते हैं।

ऊपर हमने स्थिर पूंजी की जो परिभाषा दी है, उससे स्थिर पूंजी के विभिन्न तत्त्वों के मूल्य में परिवर्तन होने की संभावना ख़त्म नहीं हो जाती। मान लीजिये कि एक दिन कपास का दाम छः पेंस फ़ी पाउंड है और दूसरे दिन, कपास की फ़सल ख़राब हो जाने के फलस्वरूप, उसका दाम एक शिलिंग फ़ी पाउंड हो जाता है। छः पेंस के भाव पर ख़रीदी हुई कपास का हर वह पाउंड, जिसे कपास का भाव बढ़ जाने के बाद इस्तेमाल किया जाता है, उत्पाद में एक शिलिंग का मूल्य स्थानांतरित करता है। और जो कपास भाव बढ़ने के पहले ही कात डाली गयी थी और जो शायद मंडी में सूत की शक्ल में घूम रही थी, वह भी इसी तरह अपने मूल मूल्य का दुगुना मूल्य उत्पाद में स्थानांतरित करती है। लेकिन यह बात साफ़ है कि मूल्य के ये परिवर्तन उस वृद्धि से या उस बेशी मूल्य से स्वतंत्र होते हैं, जिसे ख़ुद कताई ने कपास के मूल्य में जोड़ दिया है। यदि पुरानी कपास कभी काती न गयी होती, तो कपास का भाव बढ़ जाने के बाद उसे छः पेंस के बजाय एक शिलिंग फ़ी पाउंड के भाव पर फिर से बेचा जा सकता था। इसके अलावा कपास जितनी ही कम प्रक्रियाओं से गुज़री होगी, उसे उतने ही अधिक निश्चित रूप से इस बढ़े हुए भाव पर बेचा जा सकेगा। इसीलिए जब कभी मूल्य के ऐसे परिवर्तन होते हैं, तब सट्टेबाज़ सदा उस वस्तु का सट्टा खेलना पसंद करते हैं, जिसपर कम मात्रा में श्रम ख़र्च किया गया है। मिसाल के लिए, तब वे कपड़े के बजाय सूत का और सूत के बजाय कपास का सट्टा खेलना ज़्यादा बेहतर समझते हैं। जिस उदाहरण पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें मूल्य का परिवर्तन उस प्रक्रिया के फलस्वरूप नहीं होता, जिसमें कपास उत्पादन के साधन की भूमिका अदा करती है और इसलिए जिसमें वह स्थिर पूंजी का काम करती है, बल्कि यह परिवर्तन उस प्रक्रिया के फलस्वरूप होता है, जिसमें ख़ुद कपास पैदा की जाती है। यह सच है कि किसी भी पण्य का मूल्य उसमें निहित श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, लेकिन यह मात्रा ख़ुद सामाजिक परिस्थितियों से सीमित होती है। यदि किसी पण्य के उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक समय बदल जाता है – और कपास का कोई निश्चित वज़न अच्छी फ़सल के बाद जितने श्रम का प्रतिनिधित्व करता था, बुरी फ़सल के बाद वह उससे अधिक श्रम का प्रतिनिधित्व करने लगता है – तो इसका असर उस श्रेणी के पहले से मौजूद सभी पण्यों पर पड़ता है, क्योंकि वे मानो प्रजाति के

सदस्य मात्र ही तो होते हैं,[26] और किसी भी ख़ास समय पर उनका मूल्य सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम से मापा जाता है, अर्थात् किसी भी ख़ास समय पर उनका मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि उस समय पायी जानेवाली सामाजिक परिस्थितियों में उनके उत्पादन के लिए कितना श्रम आवश्यक होता है।

जिस तरह कच्चे माल का मूल्य बदल सकता है, उसी तरह श्रम के औज़ारों का, उत्पादन-प्रक्रिया में इस्तेमाल होनेवाली मशीनों, आदि का मूल्य भी बदल सकता है, और उसके फलस्वरूप उत्पाद के मूल्य का जो भाग श्रम के औज़ारों से उत्पाद में स्थानांतरित होता है, उसमें भी परिवर्तन संभव है। यदि किसी नये आविष्कार के फलस्वरूप एक ख़ास तरह की मशीन पहले से कम श्रम द्वारा तैयार की जा सकती है, तो पुरानी मशीन का न्यूनाधिक मूल्यह्रास हो जाता है, और चुनांचे वह उत्पाद में उतना ही कम मूल्य स्थानांतरित करने लगती है। परंतु यहां फिर मूल्य का परिवर्तन उस प्रक्रिया के बाहर होता है, जिसमें यह मशीन उत्पादन के साधन का काम करती है। एक बार इस प्रक्रिया में लग जाने के बाद कोई मशीन उससे अधिक मूल्य स्थानांतरित नहीं कर सकती, जितना मूल्य उसमें इस प्रक्रिया से स्वतंत्र रूप में होता है।

जिस प्रकार उत्पादन के साधनों के श्रम-प्रक्रिया में भागी बन जाने के बाद उनके मूल्य में कोई परिवर्तन होने से उनके स्थिर पूंजी के स्वरूप में कोई अंतर नहीं आता, उसी तरह स्थिर पूंजी के संबंध में परिवर्ती पूंजी के अनुपात-परिवर्तन से पूंजी के इन दो प्रकारों के अलग-अलग कार्यों पर भी उसका कोई असर नहीं पड़ता। श्रम-प्रक्रिया की प्राविधिक परिस्थितियों में इतनी बड़ी क्रांति हो सकती है कि जहां पहले दस आदमी कम मूल्य के दस औज़ारों को इस्तेमाल करते हुए कच्चे माल की अपेक्षाकृत छोटी मात्रा का उपयोग कर सकते थे, वहां अब एक आदमी एक महंगी मशीन की सहायता से पहले से सौगुने अधिक कच्चे माल का उपयोग कर सकता है। ऐसा होने पर स्थिर पूंजी में, जिसका प्रतिनिधित्व प्रयुक्त उत्पादन के साधनों का कुल मूल्य करता है, भारी वृद्धि हो जाती है और साथ ही श्रम-शक्ति में लगायी गयी परिवर्ती पूंजी में भारी कमी हो जाती है। लेकिन इस प्रकार की क्रांति से स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के केवल परिमाणात्मक संबंध में ही परिवर्तन आता है, या उससे केवल उस अनुपात में ही परिवर्तन आता है, जिसमें कुल पूंजी अपने स्थिर तथा परिवर्ती संघटकों में बंटी हुई है। स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी में जो बुनियादी अंतर है, उसपर ऐसी क्रांति का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता।

[26] "एक ही प्रकार की सब उत्पादित वस्तुएं, सच पूछिये, एक समूह के समान होती हैं, जिसका दाम कुछ सामान्य बातों से निर्धारित होता है और विशिष्ट परिस्थितियों का जिसके दाम पर कोई असर नहीं पड़ता।" (Le Trosne, l. c., p. 893.)

अध्याय ६

बेशी मूल्य की दर

अनुभाग १–श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा

मूल पूंजी C उत्पादन की प्रक्रिया में जो बेशी मूल्य पैदा करती है, या, दूसरे शब्दों में, पूंजी C के मूल्य का जो स्वतःविस्तार होता है, वह पहले-पहल एक अतिरेक के रूप में, या उत्पाद के मूल्य और उत्पाद के संघटक तत्त्वों के मूल्य के अंतर के रूप में हमारे सामने आता है।

पूंजी C दो संघटकों का योग होती है। उसका एक संघटक द्रव्य की वह रक़म है, जो उत्पादन के साधनों पर ख़र्च की जाती है और जिसे हम c से इंगित कर सकते हैं; और दूसरा संघटक द्रव्य की वह रक़म है, जो श्रम-शक्ति पर ख़र्च की जाती है और जिसे हम v से इंगित करेंगे; यानी c पूंजी का वह भाग है, जो स्थिर पूंजी, और v वह भाग है, जो परिवर्ती पूंजी बन गया है। इसलिए शुरू में $C = c + v$, मिसाल के लिए, यदि मूल पूंजी ५०० पाउंड है, तो उसके संघटक इस प्रकार के हो सकते हैं कि ५०० पाउंड = ४१० पाउंड स्थिर पूंजी + ६० पाउंड परिवर्ती पूंजी। जब उत्पादन की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है, तब हमारे पास एक ऐसा पण्य होता है, जिसका मूल्य $= (c + v) + s$, जहां s बेशी मूल्य है। भूतपूर्व आंकड़ों को लेते हुए इस पण्य का मूल्य हो सकता है (४१० पाउंड c + ६० पाउंड v) + ६० पाउंड s. मूल पूंजी अब C से C′ में–या ५०० पाउंड से ५६० पाउंड में–बदल गयी है। अंतर है s या ६० पाउंड के बराबर बेशी मूल्य। उत्पाद के संघटक तत्त्वों का मूल्य चूंकि मूल पूंजी के मूल्य के बराबर होता है, इसलिए यह कहना एक पुनरुक्ति मात्र है कि उत्पाद के मूल्य की अपने संघटक तत्त्वों के मूल्य से आधिक्य की मात्रा मूल पूंजी के विस्तार के बराबर या उत्पादन की प्रक्रिया में उत्पन्न बेशी मूल्य के बराबर होती है।

फिर भी हमें इस पुनरुक्ति पर थोड़े और निकट से विचार करना चाहिए। जिन दो चीज़ों की यहां तुलना की गयी है, वे हैं उत्पाद का मूल्य और उत्पादन की प्रक्रिया में लगाये गये संघटक तत्त्वों का मूल्य। अब ऊपर हम यह देख चुके हैं कि स्थिर पूंजी का जो भाग श्रम के औज़ारों के रूप में होता है, वह अपने मूल्य का केवल एक अंश ही उत्पाद में स्थानांतरित करता है और बाक़ी मूल्य उन औज़ारों में ही निहित रहता है। यह बाक़ी भाग चूंकि मूल्य के निर्माण में कोई हिस्सा नहीं लेता, इसलिए फिलहाल हम उसे एक तरफ़ छोड़ सकते हैं। उसे हिसाब में शामिल करने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ेगा। मिसाल के लिए, यदि हम अपने उदाहरण को ही लें, जहां c = ४१० पाउंड, तो हम यह मानकर चल सकते हैं कि इस रक़म में ३१२ पाउंड कच्चे माल का, ४४ पाउंड सहायक सामग्री का और ५४ पाउंड उत्पादन-प्रक्रिया में घिस गयी मशीनों का मूल्य है। और मान लीजिये कि उत्पादन-प्रक्रिया में जो मशीनें

इस्तेमाल की गयी हैं, उनका कुल मूल्य १,०५४ पाउंड है। तब इस १,०५४ पाउंड की रक़म में से केवल ५४ पाउंड की रक़म ही उत्पाद को तैयार करने में लगायी जाती है, यानी मशीनें उत्पादन-प्रक्रिया के दौरान घिस जाने के फलस्वरूप इस रक़म के बराबर मूल्य खो देती हैं। कारण कि मशीनें केवल इतना ही मूल्य उत्पाद में स्थानांतरित करती हैं। अब यदि हम यह मानकर चलते हैं कि बाक़ी १,००० पाउंड भी, जो कि फ़िलहाल मशीनों में ही मौजूद हैं, उत्पाद में स्थानांतरित हो गये हैं, तो हमें इस रक़म को मूल पूंजी का ही एक हिस्सा समझना पड़ेगा और अपने हिसाब में दोनों तरफ़ यह रक़म जोड़ देनी पड़ेगी।[26a] इस तरह एक तरफ़, हमारे पास १,५०० पाउंड की रक़म होगी और दूसरी तरफ़, १,५९० पाउंड की। इन दो रक़मों का अंतर, या बेशी मूल्य, फिर भी ९० पाउंड ही होगा। इसलिए इस पुस्तक में हमने जहां कहीं मूल्य के उत्पादन में लगायी गयी स्थिर पूंजी का ज़िक्र किया है, वहां यदि संदर्भ इसके बिल्कुल विपरीत नहीं है, तो हमारा मतलब सदा उत्पादन के साधनों के उस मूल्य से और केवल उसी मूल्य से होता है, जो सचमुच उत्पादन-प्रक्रिया में ख़र्च हो गया है।

यह स्पष्ट कर चुकने के बाद आइये, हम फिर अपने उस सूत्र $C=c+v$ की ओर लौट चलें, जो हमारी आंखों के सामने $C'=(c+v)+s$ में बदल गया था और जिसमें C C' बन गया था। यह हमें मालूम है कि स्थिर पूंजी का मूल्य उत्पाद में स्थानांतरित हो जाता है और उसमें केवल पुनः प्रकट होता है। इसलिए उत्पादन-प्रक्रिया में जिस नये मूल्य का सचमुच सृजन होता है, जो मूल्य पैदा होता है, वह, या यूं कहिये कि उसका मूल्य-उत्पाद, उत्पाद के मूल्य से भिन्न होता है। जैसा कि पहली दृष्टि से लगेगा, यह नया मूल्य $(c+v)+s$, या ४१० पाउंड स्थिर पूंजी + ९० पाउंड परिवर्ती पूंजी + ९० पाउंड बेशी मूल्य, के बराबर नहीं होता, बल्कि वह केवल $v+s$, या ९० पाउंड परिवर्ती पूंजी + ९० पाउंड बेशी मूल्य, के बराबर होता है, या यूं कहिये कि यह नया मूल्य ५९० पाउंड नहीं, बल्कि केवल १८० पाउंड के बराबर होता है। यदि $c=0$, या, दूसरे शब्दों में, यदि उद्योग की कुछ ऐसी शाखाएं होतीं, जिनमें पूंजीपति को कच्चा माल, सहायक सामग्री या श्रम के औज़ारों के रूप में उत्पादन के ऐसे साधन न इस्तेमाल करने पड़ते, जिनमें पहले ही से कुछ श्रम लग चुका है, और केवल श्रम-शक्ति तथा प्रकृति की दी हुई सामग्री से ही उसका काम चल जाता, तो उस हालत में न तो कोई स्थिर पूंजी उत्पादन की प्रक्रिया में भाग लेती और न ही उसका मूल्य उत्पाद में स्थानांतरित होता। तब उत्पाद के मूल्य का यह संघटक, यानी, हमारे उदाहरण में, ४१० पाउंड की रक़म हमारे हिसाब से ग़ायब हो जाती, लेकिन १८० पाउंड की रक़म, यानी वह नया मूल्य, जो कि उत्पादन-प्रक्रिया में तैयार हुआ है, या वह मूल्य, जो पैदा हुआ है और जिसमें ९० पाउंड का बेशी मूल्य शामिल है, तब भी उतना ही बड़ा रहता, जितना बड़ा वह उस समय होता, जब c बड़े से बड़े कल्पनीय मूल्य का प्रतिनिधित्व करता। इस हालत में $C=(0+v)=v$, या विस्तारित पूंजी $C'=v+s$, और इसलिए पहले की तरह ही $C'-C=s$. दूसरी तरफ़, यदि

[26a] "यदि हम विनियोजित स्थायी पूंजी के मूल्य को मूल पूंजी का ही एक भाग मानकर चलते हैं, तो हमें वर्ष के अंत में इस प्रकार की पूंजी के बचे हुए मूल्य को वार्षिक आय का एक भाग समझना पड़ेगा।" (Malthus, *Principles of Political Economy*, 2nd Ed., London, 1836, p. 269.)

$s = 0$, या, दूसरे शब्दों में, यदि श्रम-शक्ति से, जिसका मूल्य परिवर्ती पूंजी के रूप में लगाया जाता है, केवल उसका समतुल्य ही पैदा हो, तो $C = c + v$, या उत्पाद का मूल्य $C' = (c + v) + 0$, या $C = C'$. इस हालत में मूल पूंजी के मूल्य का विस्तार नहीं हो पायेगा।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उससे हमें यह बात मालूम हो गयी है कि बेशी मूल्य केवल v के मूल्य में, या पूंजी के केवल उस भाग के मूल्य में परिवर्तन होने का फल होता है, जो श्रम-शक्ति में रूपांतरित कर दिया जाता है। चुनांचे $v + s = v + v'$ या v धन v की वृद्धि। लेकिन इस तथ्य पर कि केवल v में ही परिवर्तन होता है, और उन परिस्थितियों पर, जिनमें यह परिवर्तन होता है, इस बात से पर्दा पड़ जाता है कि पूंजी के परिवर्ती अंश में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप मूल पूंजी के कुल जोड़ में भी वृद्धि हो जाती है। वह जोड़ शुरू में ५०० पाउंड था और बाद में ५९० पाउंड हो जाता है। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि हमारी खोज से कुछ ठीक-ठीक नतीजे निकलें, तो हमें चाहिए कि हम उत्पाद के मूल्य के उस भाग को अलग कर दें, जिसमें केवल स्थिर पूंजी प्रकट होती है, और चुनांचे स्थिर पूंजी को शून्य मानकर चलें या यह मानकर चलें कि $c = 0$. इस प्रकार हम गणित के केवल उस नियम का ही उपयोग करेंगे, जो सदा उस वक़्त इस्तेमाल किया जाता है, जब हमें ऐसी स्थिर तथा परिवर्ती मात्राओं से काम लेना पड़ता है, जो केवल जोड़ और घटाने के प्रतीकों के द्वारा एक दूसरे से संबंधित होती हैं।

एक और कठिनाई परिवर्ती पूंजी के मूल रूप से पैदा होती है। हमारे उदाहरण में $C' =$ ४१० पाउंड स्थिर पूंजी + ९० पाउंड परिवर्ती पूंजी + ९० पाउंड बेशी मूल्य, परंतु यहां ९० पाउंड पहले से निश्चित और इसलिए एक स्थिर मात्रा है। इसलिए उसे परिवर्ती मानकर चलना बेतुकी बात मालूम होती है। परंतु असल में तो ९० पाउंड परिवर्ती पूंजी नामक पद केवल इसी बात का प्रतीक है कि यह मूल्य एक प्रक्रिया में से गुज़रता है। श्रम-शक्ति की ख़रीद में लगाया गया पूंजी का हिस्सा भौतिक रूप प्राप्त श्रम की एक निश्चित मात्रा होता है, और इसलिए ख़रीदी हुई श्रम-शक्ति के मूल्य की भांति वह भी स्थिर मूल्य होता है। लेकिन उत्पादन की प्रक्रिया में ९० पाउंड का स्थान कार्यरत श्रम-शक्ति ले लेती है, मृत श्रम की जगह पर जीवित श्रम आ जाता है, एक निष्प्रवाह के स्थान पर प्रवाहमान और एक स्थिर वस्तु की जगह पर एक परिवर्ती वस्तु आ जाती है। परिणाम यह होता है कि v का पुनरुत्पादन होने के साथ-साथ v में वृद्धि भी हो जाती है। अतएव पूंजीवादी उत्पादन के दृष्टिकोण से, पूरी प्रक्रिया ऐसी प्रतीत होती है, जैसे कि जो कुछ शुरू में स्थिर मूल्य था, वह श्रम-शक्ति में रूपांतरित हो जाने पर अपने आप बदलने लगता है। यह प्रक्रिया और उसका परिणाम दोनों उस मूल्य का फल प्रतीत होते हैं। इसलिए यदि इस प्रकार के कथन, जैसे "९० पाउंड परिवर्ती पूंजी" या "आत्मविस्तार करनेवाला इतना मूल्य", स्वतःविरोधी प्रतीत होते हैं, तो उसका कारण केवल यही है कि वे पूंजीवादी उत्पादन में अंतर्निहित एक विरोध को सतह पर ले आते हैं।

पहली दृष्टि में यह एक अजीब सी बात मालूम होती है कि स्थिर पूंजी को शून्य के बराबर मान लिया जाये। लेकिन हम रोज़मर्रा यही करते हैं। मिसाल के लिए, अगर हम यह हिसाब लगाना चाहते हैं कि कपास के उद्योग से इंगलैंड को कितना नफ़ा होता है, तो हम सबसे पहले उन रक़मों को घटा देते हैं, जो अमरीका, हिंदुस्तान, मिस्र तथा अन्य देशों को

कपास के बदले में दी जा चुकी हैं। दूसरे शब्दों में, जिस पूंजी का मूल्य उत्पाद के मूल्य में महज़ पुनः प्रकट होता है, हम उसे अपने हिसाब में शून्य के बराबर मान लेते हैं।

ज़ाहिर है कि न केवल पूंजी के उस भाग के साथ, जिससे बेशी मूल्य प्रत्यक्षतः उत्पन्न होता है और जिसके मूल्य में होनेवाले परिवर्तन का वह प्रतिनिधित्व करता है, बल्कि मूल पूंजी के कुल जोड़ के साथ भी बेशी मूल्य के अनुपात का आर्थिक दृष्टि से भारी महत्त्व होता है। इसलिए तीसरी पुस्तक में हम इस अनुपात पर पूर्ण विस्तार के साथ विचार करेंगे। यदि पूंजी के एक भाग को श्रम-शक्ति में परिवर्तित होकर अपने मूल्य का विस्तार करना है, तो उसके लिए ज़रूरी है कि पूंजी का एक और भाग उत्पादन के साधनों में बदल दिया जाये। यदि परिवर्ती पूंजी को अपना कार्य करना है, तो उसके लिए आवश्यक है कि स्थिर पूंजी उचित अनुपात में लगायी जाये। यह उचित अनुपात प्रत्येक श्रम-प्रक्रिया की विशिष्ट प्राविधिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है। लेकिन किसी रासायनिक प्रक्रिया में यदि भभकों तथा अन्य बर्तनों की ज़रूरत पड़ती है, तो इससे यह ज़रूरी नहीं हो जाता कि रसायनज्ञ अपने विश्लेषण के परिणाम पर पहुंचते समय उनकी ओर ध्यान दे। यदि हम मूल्य के सृजन के साथ तथा मूल्य की मात्रा में होनेवाले परिवर्तन के साथ उत्पादन के साधनों के संबंध को ध्यान में रखते हुए उनपर विचार करें और किसी और बात की ओर ध्यान न दें, तो ये साधन केवल उस सामग्री के रूप में सामने आते हैं, जिसमें मूल्य की सृजनकर्त्री, यानी श्रम-शक्ति, अपना समावेश कर देती है। इस सामग्री का न तो स्वरूप किसी महत्त्व का होता है और न मूल्य ही। ज़रूरत सिर्फ़ इतनी होती है कि यह सामग्री इतनी पर्याप्त मात्रा में मौजूद हो कि उत्पादन की प्रक्रिया में जो श्रम ख़र्च किया जाये, उसका वह अवशोषण कर ले। यह मात्रा पहले से निश्चित हो, तो सामग्री का मूल्य चाहे बढ़ जाये, चाहे घट जाये या चाहे तो भूमि और सागर की भांति मूल्यहीन हो जाये, उसका मूल्य के सृजन पर या मूल्य की मात्रा के परिवर्तन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।[27]

इसलिए सबसे पहले हम स्थिर पूंजी को शून्य के बराबर मान लेते हैं। चुनांचे मूल पूंजी $c+v$ से v में परिणत हो जाती है, और उत्पाद के मूल्य $(c+v)+s$ के बजाय अब हमारे पास महज़ वह मूल्य $(v+s)$ होता है, जो उत्पादन-प्रक्रिया में उत्पन्न हुआ है। उत्पादन-प्रक्रिया में जो नया मूल्य उत्पन्न हुआ है, यदि हम उसे १८० पाउंड मान लें, तो यह रक़म उस समस्त श्रम का प्रतिनिधित्व करती है, जो उत्पादन-प्रक्रिया के दौरान ख़र्च किया गया है। इस रक़म में से यदि हम परिवर्ती पूंजी के मूल्य के ९० पाउंड घटा दें, तो हमारे पास ९० पाउंड बच रहते हैं, जो बेशी मूल्य होते हैं। ९० पाउंड की यह रक़म, अथवा s, उत्पादन-प्रक्रिया में उत्पन्न बेशी मूल्य की निरपेक्ष मात्रा को अभिव्यक्त करती है। सापेक्ष उत्पादित मात्रा, या परिवर्ती पूंजी की प्रतिशत वृद्धि, ज़ाहिर है, परिवर्ती पूंजी के साथ बेशी मूल्य के अनुपात से निश्चित होती है, या उसे $\frac{s}{v}$ के द्वारा व्यक्त किया जाता है। हमने जो उदाहरण ले रखा है, उसमें यह अनुपात $\frac{९०}{९०}$ है, जिसका मतलब है १०० प्रतिशत की वृद्धि।

[27] लुक्रेटियस ने जो कुछ कहा है, वह स्वतः स्पष्ट है। "Nil posse creari de nihilo", अर्थात् शून्य में से कुछ नहीं पैदा किया जा सकता। मूल्य का सृजन श्रम-शक्ति का श्रम में रूपांतरण है। श्रम-शक्ति ख़ुद वह ऊर्जा है, जो पोषक पदार्थ द्वारा मानव-शरीर में स्थानांतरित होती है।

परिवर्ती पूंजी के मूल्य की सापेक्ष वृद्धि, या बेशी मूल्य की सापेक्ष मात्रा, को मैं "बेशी मूल्य की दर" कहता हूं।[28]

हम यह देख चुके हैं कि मज़दूर श्रम-प्रक्रिया के एक भाग के दौरान केवल अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य, अर्थात् केवल अपने जीवन-निर्वाह के साधनों का मूल्य, पैदा करता है। अब उसका काम चूंकि सामाजिक श्रम-विभाजन पर आधारित व्यवस्था का अंग है, इसलिए वह जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक जिन वस्तुओं का स्वयं उपभोग करता है, उनको सीधे तौर पर ख़ुद पैदा नहीं करता। उनके बजाय वह कोई ऐसा पण्य, मिसाल के लिए, सूत पैदा करता है, जिसका मूल्य इन आवश्यक वस्तुओं के मूल्य के बराबर होता है, या जिसका मूल्य उस द्रव्य के मूल्य के बराबर होता है, जिसके द्वारा ये आवश्यक वस्तुएं ख़रीदी जा सकती हैं। इस उद्देश्य के लिए ख़र्च होनेवाला उसके दिन भर के श्रम का भाग उन आवश्यक वस्तुओं के मूल्य के अनुपात के अनुसार कम या ज़्यादा होगा, जिनकी उसे औसतन हर दिन आवश्यकता होती है; या, जो कि एक ही बात है, वह उस श्रम-काल के अनुपात में कम या ज़्यादा होगा, जिसकी इन आवश्यक वस्तुओं को पैदा करने के लिए औसतन ज़रूरत होगी। यदि इन आवश्यक वस्तुओं का मूल्य औसतन छः घंटे के श्रम का प्रतिनिधित्व करता है, तो मज़दूर को इतना मूल्य पैदा करने के लिए औसतन छः घंटे काम करना चाहिए। यदि वह पूंजीपति के वास्ते काम करने के बजाय स्वतंत्र रूप से ख़ुद अपने लिए काम करता होता, तो भी अन्य बातों के समान रहते हुए उसे अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य पैदा करने के लिए और उसके द्वारा जीवन-निर्वाह के उन साधनों को प्राप्त करने के लिए, जिनकी उसे अपने को बनाये रखने– अथवा अपना पुनरुत्पादन जारी रखने–के वास्ते ज़रूरत होती है, इतने ही घंटों तक श्रम करना पड़ता। लेकिन, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मज़दूर अपने दिन भर के श्रम के जिस हिस्से में अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य, मान लीजिये ३ शिलिंग, पैदा करता है, उसमें वह केवल अपनी श्रम-शक्ति के उस मूल्य का समतुल्य ही पैदा करता है, जिसे पूंजीपति पेशगी अदा कर चुका है।[28a] इस तरह वह जो मूल्य उत्पन्न करता है, वह केवल मूल परिवर्ती पूंजी का स्थान ले लेता है। इसी कारण तीन शिलिंग के इस नये मूल्य का उत्पादन महज़ पुनरुत्पादन जैसा मालूम होता है। इसलिए काम के दिन के जिस हिस्से में यह पुनरुत्पादन होता है, उसे मैं "आवश्यक" श्रम-काल कहता हूं, और इस काल में ख़र्च किये जानेवाले श्रम को मैं "आवश्यक" श्रम कहता हूं।[29] वह मज़दूर के दृष्टिकोण से आवश्यक होता है, क्योंकि वह

---

[28] मैं इस नाम का उसी ढंग से प्रयोग करता हूं, जिस ढंग से अंग्रेज़ लोग "लाभ की दर", "ब्याज की दर" का प्रयोग करते हैं। पुस्तक ३ में हम देखेंगे कि बेशी मूल्य के नियमों को जानते ही लाभ की दर हमारे लिए कोई रहस्यमयी बात नहीं रह जाती। परंतु क्रम को उलट देने पर हम दोनों में से किसी भी चीज़ को नहीं समझ सकते हैं।

[28a] [**तीसरे जर्मन संस्करण में जोड़ी गयी पाद-टिप्पणी**: लेखक ने यहां अपने ज़माने में प्रचलित अर्थशास्त्र संबंधी भाषा का प्रयोग किया है। पाठक को याद होगा कि पृ० १८२ (वर्तमान संस्करण के पृ० १९८) पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि वास्तव में पूंजीपति मज़दूर को "पेशगी" नहीं देता, बल्कि मज़दूर पूंजीपति को "पेशगी" देता है।–फ़े० एं०]

[29] इस रचना में अभी तक हमने "आवश्यक श्रम-काल" का प्रयोग उस श्रम-काल के लिए किया है, जो किन्हीं ख़ास सामाजिक परिस्थितियों में किसी पण्य के उत्पादन के लिए आवश्यक होता है। आगे से हम उस श्रम-काल के लिए भी इस पद का प्रयोग करेंगे, जो श्रम-शक्ति

उसके श्रम के विशिष्ट सामाजिक रूप से स्वतंत्र होता है। और वह पूंजी तथा पूंजीपतियों के संसार के दृष्टिकोण से भी आवश्यक होता है, क्योंकि मजदूर के अस्तित्व के क़ायम रहने पर ही उनका अस्तित्व भी निर्भर करता है।

श्रम-प्रक्रिया के दूसरे भाग में, यानी श्रम-प्रक्रिया के उस भाग में, जिसमें मज़दूर का श्रम आवश्यक श्रम नहीं होता, यह तो सच कि मजदूर श्रम करता है, अर्थात् श्रम-शक्ति ख़र्च करता है, लेकिन उसका श्रम चूंकि अब आवश्यक श्रम नहीं होता, इसलिए वह अब ख़ुद अपने लिए मूल्य पैदा नहीं करता। अब वह बेशी मूल्य पैदा करता है, और पूंजीपति के लिए उसका आकर्षण शून्य में से पैदा की गयी किसी चीज़ के समान ही होता है। काम के दिन के इस हिस्से को मैंने बेशी श्रम-काल का नाम दिया है, और इस काल में जो श्रम ख़र्च किया जाता है, उसे मैंने बेशी श्रम का नाम दिया है। जिस प्रकार मूल्य को समुचित ढंग से समझने के लिए उसे इतने घंटों के श्रम का जमाव मात्र समझना आवश्यक है और यह ज़रूरी है कि उसे मूर्त रूप प्राप्त श्रम के सिवा और कुछ न समझा जाये ठीक उसी प्रकार बेशी मूल्य को समझने के लिए यह ज़रूरी है कि उसे बेशी श्रम-काल का जमाव मात्र समझा जाये और उसे मूर्त रूप प्राप्त बेशी श्रम के सिवा और कुछ न माना जाये। समाज के विभिन्न आर्थिक रूपों का, तात्त्विक अंतर – उदाहरण के लिए, दास-श्रम पर आधारित समाज और मजदूरी पर आधारित समाज का तात्त्विक अंतर – केवल इस बात में निहित है कि वास्तविक उत्पादक से, अर्थात् मजदूर से, यह बेशी श्रम किस ढंग से निचोड़ा जाता है।[30]

एक तरफ़, चूंकि परिवर्ती पूंजी का मूल्य तथा उस मूल्य द्वारा ख़रीदी हुई श्रम-शक्ति का मूल्य बराबर होते हैं और इस श्रम-शक्ति का मूल्य काम के दिन के आवश्यक भाग को निर्धारित करता है और दूसरी तरफ़, चूंकि बेशी मूल्य काम के दिन के अतिरिक्त भाग के द्वारा निर्धारित होता है, इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परिवर्ती पूंजी के साथ बेशी मूल्य का वही अनुपात होता है, जो आवश्यक श्रम के साथ बेशी श्रम का होता है, या, दूसरे शब्दों में, बेशी मूल्य की दर, अर्थात् $\frac{s}{v} = \frac{\text{बेशी श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$। ये दोनों अनुपात, $\frac{s}{v}$ और

नामक एक ख़ास पण्य के उत्पादन के लिए आवश्यक होता है। किसी एक पारिभाषिक शब्द को अलग-अलग अर्थों में प्रयोग करना असुविधा का कारण हो सकता है, लेकिन ऐसा कोई विज्ञान नहीं है, जिसमें इस चीज़ से एकदम बचा जा सके। उदाहरण के लिए, गणित की निम्न शाखाओं से उसकी उच्च शाखाओं की तुलना कीजिये।

[30] हर विल्हेल्म थ्यूसिडिडीज़ रोशर ने एक महान आविष्कार किया है। उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण बात का पता लगाया है कि यदि एक तरफ़, आजकल बेशी मूल्य या बेशी उत्पाद का निर्माण और उसके फलस्वरूप पूंजी का संचय पूंजीपति की मितव्ययिता के कारण होता है, तो दूसरी तरफ़, सभ्यता की निम्न अवस्थाओं में बलवान निर्बल को बचत करने के लिए मजबूर करता है। (l. c., p. 78.) किसकी बचत करने के लिए? श्रम की? या उस फ़ालतू धन की, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है? क्या वजह है कि रोशर जैसे लोग बेशी मूल्य की उत्पत्ति का कारण बताने के लिए पूंजीपति द्वारा इस बेशी मूल्य पर अधिकार जमा लेने के निमित्त दी गयी न्यूनाधिक युक्तिसंगत प्रतीत होनेवाली सफ़ाइयों को बस दोहरा भर देते हैं? वजह उनके वास्तविक अज्ञान के अतिरिक्त यह है कि कुछ स्वार्थों के वकील होने के नाते ये लोग मूल्य तथा बेशी मूल्य का वैज्ञानिक विश्लेषण करने और उससे किसी ऐसे नतीजे पर पहुंचने से घबराते हैं, जो हो सकता है कि सत्ताधिकारियों को पसंद न आये।

$\frac{\text{बेशी श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$, एक ही चीज़ को दो अलग-अलग ढंग से व्यक्त करते हैं: एक सूरत में मूर्त रूप प्राप्त, समाविष्ट श्रम को आधार बनाकर, और दूसरी सूरत में जीवित, प्रवाहमान श्रम को आधार बनाकर।

अतः बेशी मूल्य की दर बिल्कुल ठीक-ठीक यह बताती है कि पूंजी द्वारा श्रम-शक्ति का – या पूंजीपति द्वारा मज़दूर का – किस मात्रा में शोषण हो रहा है।[30a]

हम अपने उदाहरण में यह मानकर चल रहे हैं कि उत्पाद का मूल्य = ४१० पाउंड स्थिर पूंजी + ६० पाउंड परिवर्ती पूंजी + ६० पाउंड बेशी मूल्य और मूल पूंजी = ५०० पाउंड। चूंकि बेशी मूल्य = ६० पाउंड और मूल पूंजी = ५०० पाउंड, इसलिए यदि हम प्रचलित ढंग से हिसाब करें, तो बेशी मूल्य की दर (जिसे आम तौर पर लाभ की दर के साथ गड़बड़ा दिया जाता है) १८ प्रतिशत बैठती है, जो कि इतनी नीची है कि शायद मि० केरी तथा अन्य समन्वयवादियों को भी इसकी जानकारी से सुखद आश्चर्य हो। लेकिन असल में बेशी मूल्य की दर $\frac{s}{C}$, या $\frac{s}{c+v}$, के बराबर नहीं होती, बल्कि वह $\frac{s}{v}$ के बराबर होती है। और इसलिए यहां पर वह $\frac{६०}{५००}$ नहीं, बल्कि $\frac{६०}{६०}$, यानी १०० प्रतिशत है, जो कि शोषण की प्रकट दर की पांच गुनी बैठती है। जो उदाहरण हम मानकर चल रहे हैं, उसमें यद्यपि हमको काम के दिन की वास्तविक लंबाई का ज्ञान नहीं है और न ही इसका ज्ञान है कि वह श्रम-प्रक्रिया कितने दिन या कितने सप्ताह चलती है और कुल कितने मज़दूरों से काम लिया जा रहा है, फिर भी बेशी मूल्य की दर $\frac{s}{v}$ अपनी समान अभिव्यंजना $\frac{\text{बेशी श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$ के ज़रिये हमको बिल्कुल ठीक-ठीक यह बता देती है कि काम के दिन के दो हिस्सों के बीच क्या संबंध है। यहां पर यह संबंध समानता का है, क्योंकि दर १०० प्रतिशत है। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि हमारे उदाहरण में मज़दूर आधा दिन अपने लिए और आधा दिन पूंजीपति के लिए काम करता है।

इसलिए बेशी मूल्य की दर का हिसाब लगाने का तरीक़ा संक्षेप में यह है। पहले हम उत्पाद के कुल मूल्य को लेते हैं और स्थिर पूंजी को, जो उसमें केवल पुनः प्रकट होती है, शून्य के बराबर मान लेते हैं। जो कुछ बच रहता है, वही वह मूल्य होता है, जो पण्य के उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान सचमुच पैदा हुआ है। यदि बेशी मूल्य की राशि पहले से मालूम हो, तो इस बची हुई रक़म में से उसे घटाने पर हमें परिवर्ती पूंजी का पता चल जाता है। और इसके विपरीत यदि हमें परिवर्ती पूंजी की राशि का पहले से ज्ञान हो और बेशी मूल्य का पता लगाना हो, तो बची हुई रक़म में से परिवर्ती पूंजी की राशि घटाकर हम उसे मालूम कर

[30a] यद्यपि बेशी मूल्य की दर बिल्कुल ठीक-ठीक यह बता देती है कि श्रम-शक्ति का किस मात्रा में शोषण हो रहा है, परंतु उससे यह कदापि नहीं मालूम होता कि कुल निरपेक्ष शोषण कितना हुआ है। मिसाल के लिए, यदि आवश्यक श्रम = ५ घंटे और बेशी श्रम = ५ घंटे, तो शोषण की दर १०० प्रतिशत है। यहां कुल शोषण ५ घंटे हुआ है। दूसरी ओर, यदि आवश्यक श्रम = ६ घंटे और बेशी श्रम = ६ घंटे, तो शोषण की दर पहले की तरह १०० प्रतिशत ही रहती है, मगर कुल शोषण अब २० प्रतिशत बढ़ जाता है और ५ से ६ घंटे हो जाता है।

सकते हैं। और यदि परिवर्ती पूंजी तथा बेशी मूल्य दोनों की राशि का हमें ज्ञान हो, तो हमारे लिए केवल अंतिम क्रिया, अर्थात् $\frac{s}{v}$ का, यानी परिवर्ती पूंजी के साथ बेशी मूल्य के अनुपात का, पता लगाने की क्रिया ही बच रहती है।

यह तरीक़ा हालांकि इतना सरल है, फिर भी अगर हम चंद मिसालों के ज़रिये पाठक को उसमें निहित नये सिद्धांतों को लागू करने का थोड़ा अभ्यास करा दें, तो शायद ग़लत न होगा।

पहले हम एक कताई मिल की मिसाल लेंगे, जिसमें १०,००० म्यूल तकुए हैं और जो अमरीकी कपास से नं० ३२ का सूत कातती है और प्रति सप्ताह फ़ी तकुआ १ पाउंड सूत तैयार करती है। हम मान लेते हैं कि ६ प्रतिशत कपास कताई में ज़ाया हो जाती है। ऐसी हालत में हर सप्ताह १०,६०० पाउंड कपास ख़र्च होती है, जिसमें ६०० पाउंड कपास ज़ाया हो जाती है। अप्रैल १८७१ में कपास का दाम ७$\frac{३}{४}$ पेंस फ़ी पाउंड था, इसलिए पूर्णांकों में कच्चे माल पर ३४२ पाउंड ख़र्च होते हैं। तैयारी संबंधी मशीनों तथा तकुओं को चलानेवाली ऊर्जा-मशीन समेत १०,००० तकुओं की कुल लागत, मान लीजिये, एक पाउंड प्रति तकुआ के हिसाब से १०,००० पाउंड है। उनकी घिसाई हम १० प्रतिशत के हिसाब से १,००० पाउंड सालाना लगाते हैं, जो २० पाउंड प्रति सप्ताह के बराबर बैठती है। इमारत का किराया हम ३०० पाउंड सालाना, या ६ पाउंड प्रति सप्ताह, मान लेते हैं। ख़र्च होनेवाला कोयला (४ पाउंड प्रति अश्वशक्ति फ़ी घंटा के हिसाब से १०० अश्वशक्ति तथा ६० घंटे के लिए, और मिल को गरम करने के वास्ते ख़र्च किये गये कोयले को जोड़कर) ११ टन प्रति सप्ताह बैठता है, जिसपर ८ शिलिंग ६ पेंस फ़ी टन की दर से ४$\frac{१}{२}$ पाउंड प्रति सप्ताह ख़र्च होते हैं। गैस पर प्रति सप्ताह १ पाउंड और तेल, इत्यादि पर ४$\frac{१}{२}$ पाउंड प्रति सप्ताह ख़र्च होते हैं। इन तमाम सहायक सामग्रियों की कुल लागत १० पाउंड प्रति सप्ताह होती है। इसलिए एक सप्ताह के उत्पाद के मूल्य का स्थिर भाग ३७८ पाउंड होता है। मज़दूरी के रूप में प्रति सप्ताह ५२ पाउंड ख़र्च होते हैं। सूत का दाम १२$\frac{१}{४}$ पेंस फ़ी पाउंड है, जिसके अनुसार १०,००० पाउंड सूत का मूल्य ५१० पाउंड के बराबर होता है। इसलिए इस उदाहरण में बेशी मूल्य है ५१० पाउंड $-$ ४३० पाउंड $=$ ८० पाउंड। उत्पाद के मूल्य के स्थिर भाग को हम शून्य के बराबर मान लेते हैं, क्योंकि वह मूल्य के सृजन में कोई हिस्सा नहीं लेता। बचते हैं १३२ पाउंड, यानी प्रति सप्ताह १३२ पाउंड का मूल्य पैदा होता है। वह बराबर है ५२ पाउंड परिवर्ती पूंजी $+$ ८० पाउंड बेशी मूल्य के। इसलिए बेशी मूल्य की दर होती है $\frac{८०}{५२} = १५३\frac{११}{१३}$ प्रतिशत। औसत श्रम के १० घंटे के काम के दिन में परिणाम यह होता है: आवश्यक श्रम $=$ ३$\frac{३१}{३३}$ घंटे और बेशी श्रम $=$ ६$\frac{२}{३३}$ घंटे।[31]

---

[31] ऊपर दिये गये आंकड़ों पर भरोसा किया जा सकता है। वे मुझे मैंचेस्टर की एक कताई मिल के मालिक से मिले थे। इंगलैंड में पहले इंजन के सिलिंडर के व्यास से उसकी अश्वशक्ति का हिसाब लगाया जाता था। अब सूचक पर जो वास्तविक अश्वशक्ति दिखायी पड़ती है, उसे मान लिया जाता है।

एक और मिसाल लीजिये। जेकब ने १८१५ के वर्ष के लिए निम्नलिखित गणना की है। कई मदों के आंकड़ों के पूर्व समंजन के कारण वह बहुत त्रुटिपूर्ण है; फिर भी ये आंकड़े हमारे उद्देश्य के लिए पर्याप्त हैं। इस हिसाब में जेकब यह मानकर चल रहे हैं कि गेहूं का भाव ८ शिलिंग फ़ी क्वार्टर है और गेहूं की औसत उपज २२ बुशेल फ़ी एकड़ है।

प्रति एकड़ उत्पादित मूल्य

	पाउंड	शिलिंग	पेंस		पाउंड	शिलिंग	पेंस
बीज	१	९	०	दशांश, कर एवं टैक्स .	१	१	०
खाद	२	१०	०	लगान	१	८	०
मजदूरी	३	१०	०	किसान का लाभ तथा ब्याज . .	१	२	०
कुल जोड़	७	९	०	कुल जोड़ . . .	३	११	०

यदि यह मान लिया जाये कि उत्पाद का दाम वही है, जो उसका मूल्य है, तो हम यहां पाते हैं कि बेशी मूल्य लाभ, ब्याज, लगान, आदि कई मदों में बंट जाता है। इन सबसे अलग-अलग हमें कुछ लेना-देना नहीं है। हम तो महज़ इन सबको एक साथ जोड़ देते हैं, जिससे कुल बेशी मूल्य ३ पाउंड ११ शिलिंग का होता है। ३ पाउंड १९ शिलिंग की रक़म, जो बीज और खाद पर ख़र्च होती है, स्थिर पूंजी है, और उसे हम शून्य के बराबर मान लेते हैं। ३ पाउंड १० शिलिंग की रक़म बच जाती है, जो कि मूल परिवर्ती पूंजी है। और हम देखते हैं कि अब इसकी जगह ३ पाउंड १० शिलिंग ० पेंस + ३ पाउंड ११ शिलिंग ० पेंस का नया मूल्य पैदा हो गया है। इसलिए $\frac{s}{v} = \frac{\text{३ पाउंड ११ शिलिंग ० पेंस}}{\text{३ पाउंड १० शिलिंग ० पेंस}}$, जिसका मतलब होता है कि यहां बेशी मूल्य की दर १०० प्रतिशत से अधिक है। मज़दूर अपने काम के दिन का आधे से ज़्यादा भाग बेशी मूल्य पैदा करने में लगाता है, जिसे विभिन्न व्यक्ति अलग-अलग बहानों से आपस में बांट लेते हैं।[31a]

अनुभाग २ – उत्पाद के मूल्य के संघटकों का स्वयं उत्पाद के तदनुरूप सानुपातिक अंशों द्वारा प्रतिनिधित्व

आइये, अब हम फिर उस उदाहरण की ओर लौट चलें, जिसके द्वारा हमें यह बताया गया था कि पूंजीपति किस प्रकार द्रव्य को पूंजी में बदल डालता है।

१२ घंटे के एक काम के दिन का उत्पाद २० पाउंड सूत होता है, जिसका मूल्य ३०

[31a] यहां केवल मिसाल के रूप में यह सारा हिसाब लगाया गया है। वस्तुतः हमने यहां यह मान लिया है कि दाम = मूल्य। किंतु पुस्तक ३ में हम देखेंगे कि औसत दामों के बारे में भी हम इस तरह अत्यंत सरल ढंग से पूर्वकल्पना करके नहीं चल सकते।

शिलिंग के बराबर है। इस मूल्य का कम से कम $\frac{८}{१०}$ भाग, अर्थात् २४ शिलिंग, उसमें उत्पादन के साधनों के मूल्य के केवल पुनः प्रकट होने के कारण होता है (इन साधनों में से २० पाउंड कपास का मूल्य २० शिलिंग है और घिसे हुए तकुए का मूल्य ४ शिलिंग है): अतएव यह स्थिर पूंजी है। बचा हुआ $\frac{२}{१०}$ भाग, या ६ शिलिंग, वह नया मूल्य है, जो कताई की प्रक्रिया के दौरान पैदा हुआ है। इसमें से आधा मूल्य दिन भर की श्रम-शक्ति के मूल्य का – या परिवर्ती पूंजी का – स्थान लेता है। बाक़ी आधा भाग, यानी ३ शिलिंग, बेशी मूल्य होता है। चुनांचे २० पाउंड सूत का कुल मूल्य इन संघटकों से मिलकर बना होता है:

सूत का ३० शिलिंग मूल्य = २४ शिलिंग स्थिर पूंजी + ३ शिलिंग परिवर्ती पूंजी + ३ शिलिंग बेशी मूल्य।

चूंकि यह पूरा मूल्य उस २० पाउंड सूत में मौजूद है, जो कताई की प्रक्रिया के द्वारा तैयार हुआ है, इसलिए इस मूल्य के अलग-अलग संघटक अंशों का निरूपण इस ढंग से किया जा सकता है कि जैसे वे उत्पाद के तदनुरूप अंशों में क्रमशः मौजूद हैं।

यदि २० पाउंड सूत में ३० शिलिंग का मूल्य मौजूद है, तो इस मूल्य का $\frac{८}{१०}$ भाग, यानी २४ शिलिंग, जो कि उसका स्थिर अंश है, उत्पाद के $\frac{८}{१०}$ भाग में, या १६ पाउंड सूत में, है। इस १६ पाउंड सूत में से १३$\frac{१}{३}$ पाउंड सूत कच्चे माल का, यानी २० शिलिंग की क़ीमत की कपास का, प्रतिनिधित्व करेगा, और २$\frac{२}{३}$ पाउंड सूत ४ शिलिंग की क़ीमत के बराबर उत्पादन-प्रक्रिया में घिस गये तकुए, आदि का प्रतिनिधित्व करेगा।

इसलिए २० पाउंड सूत कातने में जो कुल कपास ख़र्च होती है, उसका प्रतिनिधित्व १३$\frac{१}{३}$ पाउंड सूत करता है। यह सच है कि इस १३$\frac{१}{३}$ पाउंड सूत में १३$\frac{१}{३}$ पाउंड से ज़्यादा कपास नहीं होती, जिसकी क़ीमत १३$\frac{१}{३}$ शिलिंग होती है। लेकिन उसमें जो ६$\frac{२}{३}$ शिलिंग का नया मूल्य मौजूद होता है, वह बाक़ी ६$\frac{२}{३}$ पाउंड सूत की कताई में ख़र्च हुई कपास का समतुल्य होता है। असर वही होता है, जैसे इस ६$\frac{२}{३}$ पाउंड सूत में कपास बिल्कुल न हो और पूरी की पूरी २० पाउंड कपास १३$\frac{१}{३}$ पाउंड सूत में केंद्रीभूत हो। और इस १३$\frac{१}{३}$ पाउंड सूत में न तो सहायक सामग्री तथा औज़ारों के मूल्य का एक भी कण और न ही उत्पादन-प्रक्रिया के दौरान पैदा हुए मूल्य का लेश मात्र ही होता है।

इसी प्रकार वह २$\frac{२}{३}$ पाउंड सूत, जिसमें स्थिर पूंजी का बचा हुआ भाग, यानी ४ शिलिंग निहित हैं, वह उस सहायक सामग्री तथा श्रम के उन औज़ारों के मूल्य के सिवा और

किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करता, जो २० पाउंड सूत तैयार करने में ख़र्च हो चुके हैं।

अतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यद्यपि उत्पाद का $\frac{८}{१०}$ भाग, या १६ पाउंड सूत, एक उपयोगी वस्तु के रूप में कातनेवाले के श्रम का वैसा ही फल होता है, जैसा कि इसी उत्पाद का बाक़ी हिस्सा, फिर भी जब उसपर इस संबंध में विचार किया जाता है, तब उसमें कताई की प्रक्रिया के दौरान ख़र्च किया गया कोई श्रम नहीं होता और न ही तब वह उस श्रम का अवशोषण करता है। यह वैसी ही बात है, जैसे कपास बिना किसी की मदद के ख़ुद ब ख़ुद सूत में बदल गयी हो; जैसे उसने जो रूप धारण कर लिया है, वह केवल चालबाज़ी और धोखा हो। कारण कि जैसे ही हमारा पूंजीपति इस सूत को २४ शिलिंग में बेच डालता है और इस द्रव्य से अपने उत्पादन के साधनों को बहाल कर देता है, वैसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि १६ पाउंड सूत छद्मवेश में इतनी कपास और इतने तकुओं के अपशिष्ट से अधिक और कुछ नहीं था।

दूसरी ओर, उत्पाद का बाक़ी $\frac{२}{१०}$ भाग, यानी ४ पाउंड सूत, ६ शिलिंग के उस नये मूल्य के सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करता, जो १२ घंटे की कताई की प्रक्रिया के दौरान उत्पन्न हुआ है। इस ४ पाउंड सूत में कच्चे माल तथा श्रम के औज़ारों से जितना मूल्य स्थानांतरित हुआ है, वह मानो उस १६ पाउंड सूत में समाविष्ट करने के लिए, जो पहले कात डाला गया था, बीच ही में रोक दिया गया था। बात कुछ ऐसी लगती है, जैसे कि यह ४ पाउंड सूत कातनेवाले ने हवा में से कात डाला हो या जैसे उसने यह ४ पाउंड सूत उस कपास और उन तकुओं की मदद से तैयार किया हो, जिन्होंने प्रकृति की सहज देन होने के कारण उत्पाद में तनिक भी मूल्य स्थानांतरित नहीं किया है।

इस ४ पाउंड सूत में वह संपूर्ण मूल्य संघटित होता है, जो कताई की प्रक्रिया में नया-नया तैयार हुआ है। उसमें से आधा उत्पादन-प्रक्रिया में ख़र्च हुए श्रम के मूल्य के समतुल्य का प्रतिनिधित्व करता है, या यूं कहिये कि उसमें से आधा ३ शिलिंग परिवर्ती पूंजी का प्रतिनिधित्व करता है, और बाक़ी आधा भाग ३ शिलिंग के बेशी मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है।

चूंकि कातनेवाले के काम के १२ घंटे ६ शिलिंग में निहित होते हैं, इसलिए ३० शिलिंग के मूल्य के सूत में काम के ६० घंटे निहित होंगे। और २० पाउंड सूत में सचमुच श्रम-काल की यह मात्रा निहित होती है। कारण कि $\frac{८}{१०}$ भाग में, या १६ पाउंड सूत में, ४८ घंटे का वह श्रम निहित होता है, जो कताई की प्रक्रिया के आरंभ होने के पहले ही उत्पादन के साधनों पर ख़र्च हो चुका था, और बाक़ी $\frac{२}{१०}$ भाग – या ४ पाउंड सूत – में वह १२ घंटे का काम निहित होता है, जो ख़ुद कताई की प्रक्रिया के दौरान किया गया था।

पहले एक पृष्ठ पर हम देख चुके हैं कि सूत का मूल्य उस सूत के उत्पादन के दौरान पैदा किये गये नये मूल्य और उत्पादन के साधनों में पहले से मौजूद मूल्य के जोड़ के बराबर होता है।

अब यह बात स्पष्ट हो गयी है कि उत्पाद के मूल्य के विभिन्न संघटक अंशों का, जो

शिलिंग के बराबर है। इस मूल्य का कम से कम $\frac{८}{१०}$ भाग, अर्थात् २४ शिलिंग, उसमें उत्पादन के साधनों के मूल्य के केवल पुनः प्रकट होने के कारण होता है (इन साधनों में से २० पाउंड कपास का मूल्य २० शिलिंग है और घिसे हुए तकुए का मूल्य ४ शिलिंग है): अतएव यह स्थिर पूंजी है। बचा हुआ $\frac{२}{१०}$ भाग, या ६ शिलिंग, वह नया मूल्य है, जो कताई की प्रक्रिया के दौरान पैदा हुआ है। इसमें से आधा मूल्य दिन भर की श्रम-शक्ति के मूल्य का – या परिवर्ती पूंजी का – स्थान लेता है। बाक़ी आधा भाग, यानी ३ शिलिंग, बेशी मूल्य होता है। चुनांचे २० पाउंड सूत का कुल मूल्य इन संघटकों से मिलकर बना होता है:

सूत का ३० शिलिंग मूल्य = २४ शिलिंग स्थिर पूंजी + ३ शिलिंग परिवर्ती पूंजी + ३ शिलिंग बेशी मूल्य।

चूंकि यह पूरा मूल्य उस २० पाउंड सूत में मौजूद है, जो कताई की प्रक्रिया के द्वारा तैयार हुआ है, इसलिए इस मूल्य के अलग-अलग संघटक अंशों का निरूपण इस ढंग से किया जा सकता है कि जैसे वे उत्पाद के तदनुरूप अंशों में क्रमशः मौजूद हैं।

यदि २० पाउंड सूत में ३० शिलिंग का मूल्य मौजूद है, तो इस मूल्य का $\frac{८}{१०}$ भाग, यानी २४ शिलिंग, जो कि उसका स्थिर अंश है, उत्पाद के $\frac{८}{१०}$ भाग में, या १६ पाउंड सूत में, है। इस १६ पाउंड सूत में से १३$\frac{१}{३}$ पाउंड सूत कच्चे माल का, यानी २० शिलिंग की क़ीमत की कपास का, प्रतिनिधित्व करेगा, और २$\frac{२}{३}$ पाउंड सूत ४ शिलिंग की क़ीमत के बराबर उत्पादन-प्रक्रिया में घिस गये तकुए, आदि का प्रतिनिधित्व करेगा।

इसलिए २० पाउंड सूत कातने में जो कुल कपास ख़र्च होती है, उसका प्रतिनिधित्व १३$\frac{१}{३}$ पाउंड सूत करता है। यह सच है कि इस १३$\frac{१}{३}$ पाउंड सूत में १३$\frac{१}{३}$ पाउंड से ज्यादा कपास नहीं होती, जिसकी क़ीमत १३$\frac{१}{३}$ शिलिंग होती है। लेकिन उसमें जो ६$\frac{२}{३}$ शिलिंग का नया मूल्य मौजूद होता है, वह बाक़ी ६$\frac{२}{३}$ पाउंड सूत की कताई में ख़र्च हुई कपास का समतुल्य होता है। असर वही होता है, जैसे इस ६$\frac{२}{३}$ पाउंड सूत में कपास बिल्कुल न हो और पूरी की पूरी २० पाउंड कपास १३$\frac{१}{३}$ पाउंड सूत में केंद्रीभूत हो। और इस १३$\frac{१}{३}$ पाउंड सूत में न तो सहायक सामग्री तथा औज़ारों के मूल्य का एक भी कण और न ही उत्पादन-प्रक्रिया के दौरान पैदा हुए मूल्य का लेश मात्र ही होता है।

इसी प्रकार वह २$\frac{२}{३}$ पाउंड सूत, जिसमें स्थिर पूंजी का बचा हुआ भाग, यानी ४ शिलिंग निहित हैं, वह उस सहायक सामग्री तथा श्रम के उन औज़ारों के मूल्य के सिवा और

किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करता, जो २० पाउंड सूत तैयार करने में ख़र्च हो चुके हैं।

अतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यद्यपि उत्पाद का $\frac{८}{१०}$ भाग, या १६ पाउंड सूत, एक उपयोगी वस्तु के रूप में कातनेवाले के श्रम का वैसा ही फल होता है, जैसा कि इसी उत्पाद का बाक़ी हिस्सा, फिर भी जब उसपर इस संबंध में विचार किया जाता है, तब उसमें कताई की प्रक्रिया के दौरान ख़र्च किया गया कोई श्रम नहीं होता और न ही तब वह उस श्रम का अवशोषण करता है। यह वैसी ही बात है, जैसे कपास बिना किसी की मदद के ख़ुद ब ख़ुद सूत में बदल गयी हो; जैसे उसने जो रूप धारण कर लिया है, वह केवल चालबाज़ी और धोखा हो। कारण कि जैसे ही हमारा पूंजीपति इस सूत को २४ शिलिंग में बेच डालता है और इस द्रव्य से अपने उत्पादन के साधनों को बहाल कर देता है, वैसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि १६ पाउंड सूत छद्मवेश में इतनी कपास और इतने तकुओं के अपशिष्ट से अधिक और कुछ नहीं था।

दूसरी ओर, उत्पाद का बाक़ी $\frac{२}{१०}$ भाग, यानी ४ पाउंड सूत, ६ शिलिंग के उस नये मूल्य के सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करता, जो १२ घंटे की कताई की प्रक्रिया के दौरान उत्पन्न हुआ है। इस ४ पाउंड सूत में कच्चे माल तथा श्रम के औज़ारों से जितना मूल्य स्थानांतरित हुआ है, वह मानो उस १६ पाउंड सूत में समाविष्ट करने के लिए, जो पहले कात डाला गया था, बीच ही में रोक दिया गया था। बात कुछ ऐसी लगती है, जैसे कि यह ४ पाउंड सूत कातनेवाले ने हवा में से कात डाला हो या जैसे उसने यह ४ पाउंड सूत उस कपास और उन तकुओं की मदद से तैयार किया हो, जिन्होंने प्रकृति की सहज देन होने के कारण उत्पाद में तनिक भी मूल्य स्थानांतरित नहीं किया है।

इस ४ पाउंड सूत में वह संपूर्ण मूल्य संघटित होता है, जो कताई की प्रक्रिया में नया-नया तैयार हुआ है। उसमें से आधा उत्पादन-प्रक्रिया में ख़र्च हुए श्रम के मूल्य के समतुल्य का प्रतिनिधित्व करता है, या यूं कहिये कि उसमें से आधा ३ शिलिंग परिवर्ती पूंजी का प्रतिनिधित्व करता है, और बाक़ी आधा भाग ३ शिलिंग के बेशी मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है।

चूंकि कातनेवाले के काम के १२ घंटे ६ शिलिंग में निहित होते हैं, इसलिए ३० शिलिंग के मूल्य के सूत में काम के ६० घंटे निहित होंगे। और २० पाउंड सूत में सचमुच श्रम-काल की यह मात्रा निहित होती है। कारण कि $\frac{८}{१०}$ भाग में, या १६ पाउंड सूत में, ४८ घंटे का वह श्रम निहित होता है, जो कताई की प्रक्रिया के आरंभ होने के पहले ही उत्पादन के साधनों पर ख़र्च हो चुका था, और बाक़ी $\frac{२}{१०}$ भाग – या ४ पाउंड सूत – में वह १२ घंटे का काम निहित होता है, जो ख़ुद कताई की प्रक्रिया के दौरान किया गया था।

पहले एक पृष्ठ पर हम देख चुके हैं कि सूत का मूल्य उस सूत के उत्पादन के दौरान पैदा किये गये नये मूल्य और उत्पादन के साधनों में पहले से मौजूद मूल्य के जोड़ के बराबर होता है।

अब यह बात स्पष्ट हो गयी है कि उत्पाद के मूल्य के विभिन्न संघटक अंशों का, जो

कार्य की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं, किस प्रकार स्वयं उत्पाद के तदनुरूप सानुपातिक भागों द्वारा प्रतिनिधित्व किया जा सकता है।

उत्पाद को इस तरह अलग-अलग भागों में बांट देना, जिनमें से एक भाग केवल उस श्रम का प्रतिनिधित्व करता है, जो उत्पादन के साधनों पर पहले ही ख़र्च किया जा चुका है, या जिनमें से एक भाग केवल स्थिर पूंजी का प्रतिनिधित्व करता है, एक और भाग केवल उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान ख़र्च किये आवश्यक श्रम का – या परिवर्ती पूंजी का – प्रतिनिधित्व करता है और एक और तथा अंतिम भाग केवल उसी प्रक्रिया में ख़र्च किये गये बेशी श्रम का – या बेशी मूल्य का – ही प्रतिनिधित्व करता है – उत्पाद को इस तरह अलग-अलग भागों में बांट देना जितना सरल है, उतना ही महत्त्वपूर्ण है। आगे जब इस क्रिया को ऐसी पेचीदा समस्याओं पर लागू किया जायेगा, जिनको अभी तक हल नहीं किया जा सका है, तब यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

अभी ऊपर हमने जिस उदाहरण पर विचार किया है, उसमें हमने कुल उत्पाद को, जो बनकर इस्तेमाल के लिए तैयार हो गया था, १२ घंटे के काम के दिन का अंतिम फल माना था। लेकिन इस कुल उत्पाद का हम उसके उत्पादन की तमाम अवस्थाओं में अनुसरण कर सकते हैं, और यदि हम हर अलग-अलग अवस्था में तैयार होनेवाले आंशिक उत्पाद को अंतिम या कुल उत्पाद के कार्य की दृष्टि से भिन्न-भिन्न अंश मानें, तो इस तरह भी हम उसी नतीजे पर पहुंच जाते हैं, जिसपर हम पहले पहुंचे थे।

कातनेवाला १२ घंटे में २० पाउंड सूत, या १ घंटे में $१\frac{२}{३}$ पाउंड सूत तैयार करता है। चुनांचे वह ८ घंटे में $१३\frac{१}{३}$ पाउंड, या एक ऐसा अपूर्ण उत्पाद तैयार करता है, जो मूल्य में उस तमाम कपास के बराबर होता है, जो दिन भर में काता जाता है। इसी तरह अगले १ घंटे और ३६ मिनट का आंशिक उत्पाद $२\frac{२}{३}$ पाउंड सूत होता है। यह श्रम के उन औज़ारों के मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, जो १२ घंटे में ख़र्च हो जाते हैं। उसके बाद के १ घंटे १२ मिनट में कातनेवाला ३ शिलिंग की क़ीमत का २ पाउंड सूत तैयार करता है। यह मूल्य उस पूरे मूल्य के बराबर होता है, जो वह अपने ६ घंटे के आवश्यक श्रम से पैदा करता है। अंत में वह आख़िरी घंटे तथा १२ मिनट में २ पाउंड और सूत तैयार कर देता है, जिसका मूल्य उस बेशी मूल्य के बराबर होता है, जो उसका बेशी श्रम आधे दिन में पैदा कर देता है। हिसाब का यह ढंग अंग्रेज़ कारख़ानेदार के रोज़मर्रा के काम में आता है। वह कहेगा कि इस तरह उसे यह पता चल जाता है कि पहले ८ घंटों में, काम के दिन के पहले $\frac{२}{३}$ भाग में, उसे अपनी कपास का मूल्य वापस मिल जाता है और इस तरह बाक़ी घंटों में उसे और चीज़ों का मूल्य मिलता जाता है। साथ ही यह हिसाब जोड़ने का बिल्कुल सही तरीक़ा है। क्योंकि सच पूछिये तो यह वही तरीक़ा है, जो ऊपर बताया जा चुका है। फ़र्क़ इतना है कि ऊपर यह तरीक़ा उस स्थान पर लागू किया गया था, जिसमें संपूर्ण उत्पाद के अलग-अलग भाग मानो बराबर-बराबर पड़े हुए थे, और यहां पर उसे उस काल पर लागू किया गया है, जिसमें ये अलग-अलग भाग मानो क्रमानुसार तैयार होते हैं। परंतु हिसाब के इस ढंग के साथ-साथ दिमाग़ में कुछ बहुत ही बर्बर विचार भी आ सकते हैं – ख़ास कर उन

लोगों के दिमाग़ों में, जिनको व्यावहारिक दृष्टि से मूल्य से मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में उतनी ही दिलचस्पी है, जितनी कि सैद्धांतिक दृष्टि से इस प्रक्रिया को ग़लत ढंग से समझने में है। ऐसे लोगों के दिमाग़ों में यह विचार पैदा हो सकता है कि, मिसाल के लिए, एक कातनेवाला अपने काम के दिन के पहले ८ घंटों में कपास का मूल्य पैदा करता है, या उसे बहाल करता है, अगले १ घंटे और ३६ मिनट में वह श्रम के घिस जानेवाले औज़ारों का मूल्य पैदा करता है, या उसे बहाल करता है, उसके बाद के १ घंटे और १२ मिनट में वह मज़दूरी का मूल्य पैदा करता है, या उसे लौटाता है, और कारख़ानेदार के लिए बेशी मूल्य पैदा करने में वह केवल वह सुप्रसिद्ध "अंतिम घंटा" ही लगाता है। इस तरह उस बेचारे कातनेवाले से यह दोहरा चमत्कार संपन्न कराया जाता है कि वह न केवल कपास, तकुओं, भाप के इंजन, कोयले तथा तेल, आदि से कताई करने के साथ-साथ इन तमाम चीज़ों को पैदा भी करता जाता है, बल्कि वह काम के एक दिन को पांच दिनों में बदल देता है। कारण कि जिस उदाहरण पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें कच्चे माल तथा श्रम के औज़ारों के उत्पादन में बारह-बारह घंटे के चार काम के दिनों की और उनको सूत में बदलने के लिए बारह घंटे के ही एक और दिन की ज़रूरत होती है। मुनाफ़े के मोह में पड़कर मनुष्य सहज ही ऐसे चमत्कारों में विश्वास करने लगता है, और उनको सत्य सिद्ध करने के लिए चाटुकार सिद्धांतवेत्ताओं की कभी कमी नहीं होती। इसका प्रमाण ऐतिहासिक ख्याति की यह निम्नलिखित घटना है।

अनुभाग ३ – सीनियर का "अंतिम घंटा"

नस्साउ डब्ल्यू० सीनियर को अंग्रेज़ अर्थशास्त्रियों की आत्मा कहा जा सकता है, और वह जितने अपने आर्थिक "विज्ञान" के लिए प्रसिद्ध हैं, उतने ही अपनी सुंदर शैली के लिए भी विख्यात हैं। १८३६ के एक सुंदर प्रभात की बात है कि उनको आक्सफ़ोर्ड से मैंचेस्टर बुला भेजा गया, ताकि जो अर्थशास्त्र वह आक्सफ़ोर्ड में पढ़ाया करते थे, मैंचेस्टर में उसकी शिक्षा प्राप्त कर सकें। कारख़ानेदारों ने उनको न केवल उस फ़ैक्टरी-क़ानून का विरोध करने के लिए अपना प्रतिनिधि चुना, जो अभी हाल में पास हुआ था, बल्कि उस दस घंटे वाले आंदोलन का मुक़ाबला करने के लिए नियुक्त किया, जो फ़ैक्टरी-क़ानून से भी ज़्यादा ख़तरनाक था। व्यावहारिक मामलों में अपनी स्वाभाविक कुशाग्रता के कारण कारख़ानेदारों ने यह समझ लिया था कि विद्वान प्रोफ़ेसर में "अभी कई आंच की कसर बाक़ी है"। इसीलिए उन लोगों ने प्रोफ़ेसर साहब को लिखकर बुला भेजा था। प्रोफ़ेसर साहब को मैंचेस्टर के कारख़ानेदारों से जो भाषण सुनने को मिला, उसे उन्होंने एक पुस्तिका में लेखबद्ध कर दिया। उस पुस्तिका का शीर्षक था: *Letters on the Factory Act, as it Affects the Cotton Manufacture*, London, 1837. उसमें अन्य बातों के अलावा निम्न उपदेशात्मक अंश भी पढ़ने को मिलता है: "मौजूदा क़ानून के मातहत, किसी ऐसी मिल में, जिसमें १८ वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति काम करते हैं, ११$\frac{१}{२}$ घंटे रोज़ाना से ज़्यादा काम नहीं कराया जा सकता, यानी ऐसी मिलों में सप्ताह में पांच दिन १२ घंटे और शनिवार को नौ घंटे काम कराया जा सकता है।

"अब निम्नलिखित विश्लेषण (!) से पता चलेगा कि जिस मिल में इस तरह काम कराया जाता है, उसमें कुल शुद्ध लाभ अंतिम घंटे से प्राप्त होता है। मैं माने लेता हूं कि एक कारख़ानेदार ने १,००,००० पाउंड की पूंजी लगायी है: ८०,००० पाउंड मिल और मशीनों में और २०,००० पाउंड कच्चे माल और मज़दूरी में। अब यदि यह मान लिया जाये कि पूरी पूंजी का साल में एक बार प्रत्यावर्तन हो जाता है और कुल मुनाफ़ा १५ प्रतिशत है, तो इस मिल का वार्षिक उत्पाद १,१५,००० पाउंड की क़ीमत का सामान होगा... काम के तेईस अध-घंटों में से प्रत्येक में इस १,१५,००० का $\frac{५}{११५}$ भाग, या $\frac{१}{२३}$ वां भाग तैयार होता है। इन तेईस $\frac{१}{२३}$ वें भागों में से, जो कुल मिलाकर १,१५,००० पाउंड के बराबर होते हैं, बीस, यानी १,१५,००० पाउंड में से १,००,००० पाउंड केवल मूल पूंजी को बहाल करते हैं; एक $\frac{१}{२३}$ वां भाग (या १,१५,००० पाउंड में से ५,००० पाउंड) मिल तथा मशीनों की घिसाई का हिसाब पूरा करता है। बाक़ी दो $\frac{१}{२३}$ वें भाग, अर्थात् हर दिन के तेईस अध-घंटों में से अंतिम दो अध-घंटे, १० प्रतिशत का शुद्ध लाभ पैदा करते हैं। इसलिए (दामों के एक से रहते हुए) यदि फ़ैक्टरी में साढ़े ग्यारह घंटे के बजाय तेरह घंटे काम कराया जा सके और प्रचल पूंजी में लगभग २,६०० पाउंड और जोड़ दिये जायें, तो शुद्ध लाभ को दुगुने से भी ज्यादा किया जा सकता है। दूसरी ओर, यदि काम के घंटों में एक घंटा प्रति दिन की कमी कर दी जाये, तो (दामों के एक से रहते हुए) शुद्ध लाभ नष्ट हो जायेगा, और यदि काम के घंटों में डेढ़ घंटे की कमी कर दी जाये, तो सकल लाभ भी नष्ट हो जायेगा।"[32]

---

[32] Senior, l. c., pp. 12, 13; हम उन असाधारण विचारों पर कोई टीका-टिप्पणी नहीं करेंगे, जिनका हमारे उद्देश्य के लिए कोई महत्त्व नहीं है। उदाहरण के लिए, हम इस कथन के बारे में कुछ न कहेंगे कि कारख़ानेदार उस रक़म को भी अपने शुद्ध या सकल लाभ में शामिल कर लेते हैं, जो मशीनों की घिसाई से होनेवाले नुक़सान को पूरा करने के लिए जरूरी होती है, या, दूसरे शब्दों में, जिसकी मूल पूंजी के एक भाग की स्थान-पूर्ति के लिए आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, यदि उनके दिये हुए आंकड़ों की सचाई के बारे में कोई सवाल हो, तो हम उसको भी अनदेखा कर जाते हैं। लेनर्ड हॉर्नर ने अपने *A Letter to Mr. Senior etc.* (London, 1837) में यह बात सिद्ध कर दी है कि मि० सीनियर के दिये हुए आंकड़े उतने ही बेकार हैं, जितना कि उनका तथाकथित "विश्लेषण"। लेनर्ड हॉर्नर १८३३ में फ़ैक्टरियों की जांच करनेवाले कमिश्नरों में से एक था और १८५६ तक वह फ़ैक्टरियों का निरीक्षक – या कहना चाहिए, दोषान्वेषक रहा था। उसने अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग की ऐसी सेवा की है, जिसे कभी नहीं भुलाया जा सकता। उसने न केवल क्रुद्ध कारख़ानेदारों के विरुद्ध, बल्कि उस मंत्रिमंडल के विरुद्ध भी आजीवन संघर्ष किया, जिसके लिए इस बात की अपेक्षा कि मज़दूर मिलों में कितने घंटे काम करते हैं, इस बात का कहीं अधिक महत्त्व था कि उसे संसद के निचले सदन में मिल-मालिकों के कितने वोट मिलेंगे।

सीनियर ने सिद्धांत की दृष्टि से जो ग़लतियां की हैं, उनके अलावा उनका वक्तव्य बहुत उलझा हुआ भी है। वह सचमुच जो कुछ कहना चाहते थे, वह यह है: कारख़ानेदार मज़दूर से रोज़ाना ११$\frac{१}{२}$ घंटे, या २३ अध-घंटे, काम लेता है। काम के दिन की तरह हम काम

और इसे प्रोफ़ेसर साहब "विश्लेषण" कहते हैं! यदि कारख़ानेदारों की चीख़-पुकार पर विश्वास करके उनका यह ख़याल हो गया था कि मजदूर लोग दिन का अधिकांश मकानों, मशीनों, कपास, कोयला, आदि के मूल्य के उत्पादन में—अर्थात् उनके पुनरुत्पादन या उनकी बहाली में—ख़र्च करते हैं, तो उनका विश्लेषण बेकार था। उनको केवल यह उत्तर देना चाहिए था कि महानुभावो! यदि आप लोग ११$\frac{१}{२}$ घंटे के बजाय अपनी मिलें १० घंटे चलाने लगेंगे, तो अन्य बातों के समान रहते हुए आपका कपास, मशीनों, आदि का रोज़ाना ख़र्च भी उसी अनुपात में घट जायेगा। जितना आपका नुक़सान होगा, उतनी ही बचत हो जायेगी। आपके मजदूरों को भविष्य में पेशगी दी गयी पूंजी को पैदा करने अथवा उसकी पुनःस्थापना के लिए पहले से डेढ़ घंटा कम काम करना पड़ेगा। दूसरी ओर, यदि प्रोफ़ेसर साहब बिना और छानबीन किये कारख़ानेदारों की बात पर विश्वास करने को तैयार नहीं थे, मगर इन मामलों के विशेषज्ञ होने के नाते विश्लेषण करना आवश्यक समझते थे, तो यह देखते हुए कि यह एक ऐसा सवाल है, जो सिर्फ़ काम के दिन की लंबाई के साथ शुद्ध लाभ के संबंध से ताल्लुक़ रखता है, उनको सबसे पहले कारख़ानेदारों से यह कहना चाहिए था कि उन्हें मशीनों, वर्कशापों, कच्चे माल और श्रम को एक ढेर में नहीं जमा कर देना चाहिए, बल्कि मकानों, मशीनों, कच्चे माल, आदि में लगी हुई स्थिर पूंजी को हिसाब में एक तरफ़ और मजदूरी की शक्ल में पेशगी दी गयी पूंजी को दूसरी तरफ़ रखना चाहिए। यदि ऐसा करने पर प्रोफ़ेसर साहब को यह पता चलता कि कारख़ानेदारों के हिसाब के मुताबिक़ मजदूर अपनी मजदूरी का

के वर्ष को भी ११$\frac{१}{२}$ घंटों—या २३ अर्ध-घंटों—का बना हुआ मान सकते हैं, बशर्ते कि वर्ष में काम के जितने दिन हों, उनसे ११$\frac{१}{२}$ घंटों—या २३ अर्ध-घंटों—को गुणा कर दिया जाये। इस प्रकार इन गणित २३ अर्ध-घंटों में १,१५,००० पाउंड का वार्षिक उत्पाद होता है; इसलिए एक अर्ध-घंटे में १,१५,००० पाउंड $\times \frac{१}{२३}$ का उत्पाद होता है और २० अर्ध-घंटों में १,१५,००० $\times \frac{२०}{२३}$ पाउंड $=$ १,००,००० पाउंड का उत्पाद होता है, यानी २० अर्ध-घंटों में केवल मूल पूंजी बहाल होती है। बचते हैं ३ अर्ध-घंटे, जिनसे १,१५,००० $\times \frac{३}{२३}$ पाउंड $=$ १५,००० पाउंड का उत्पाद होता है, या यूं कहिये कि बाक़ी तीन अर्ध-घंटों में सकल लाभ होता है। इन ३ अर्ध-घंटों में से १ में १,१५,००० $\times \frac{१}{२३}$ पाउंड $=$ ५,००० पाउंड का उत्पाद होता है, या यूं कहिये कि उनमें से १ अर्ध-घंटे में मशीनों की घिसाई पूरी होती है। बाक़ी २ अर्ध-घंटों में, अर्थात् अंतिम घंटे में, १,१५,००० $\times \frac{२}{२३}$ पाउंड $=$ १०,००० पाउंड का उत्पाद होता है, या यूं कहिये कि अंतिम घंटे में शुद्ध लाभ होता है। सीनियर ने अपनी पुस्तिका में उत्पाद के अंतिम $\frac{२}{२३}$ वें भाग को ख़ुद काम के दिन के हिस्सों में बदल डाला है।

२ अर्ध-घंटों में पुनरुत्पादन, या पुनःस्थापन कर देता है, तो फिर आगे उनको इस तरह विश्लेषण करना चाहिए था:

आपके आंकड़ों के अनुसार मज़दूर अपने अंतिम से पहले एक घंटे में अपनी मज़दूरी पैदा करता है और अंतिम घंटे में आप लोगों का बेशी मूल्य, या शुद्ध लाभ, पैदा करता है। अब चूंकि समान अवधि में वह समान मूल्यों को पैदा करता है, इसलिए उसके अंतिम से पहले एक घंटे के उत्पाद का वही मूल्य होगा, जो उसके अंतिम घंटे के उत्पाद का होगा। इसके अलावा वह कोई मूल्य तभी पैदा करता है, जब वह श्रम करता है और उसके श्रम की मात्रा उसके श्रम-काल से मापी जाती है। आपके कथनानुसार श्रम-काल रोज़ाना ११$\frac{१}{२}$ घंटे होता है। इन ११$\frac{१}{२}$ घंटों में से मज़दूर एक हिस्सा अपनी मज़दूरी पैदा करने – या उसका पुनःस्थापन करने – में लगाता है और बाक़ी हिस्सा आपका शुद्ध लाभ पैदा करने में ख़र्च करता है। उससे अधिक वह कुछ नहीं करता। लेकिन आप चूंकि यह मानकर चल रहे हैं कि मज़दूर की मज़दूरी और आपके लिए वह जो बेशी मूल्य तैयार करता है, दोनों का मूल्य समान होता है, इसलिए यह बात साफ़ है कि वह अपनी मज़दूरी ५$\frac{३}{४}$ घंटों में और आपका शुद्ध लाभ बाक़ी ५$\frac{३}{४}$ घंटों में पैदा करता है। फिर २ घंटों में जितना सूत तैयार होता है, उसका मूल्य चूंकि मज़दूर की मज़दूरी और आपके शुद्ध लाभ के जोड़ के बराबर होता है, इसलिए इस सूत के मूल्य की माप ११$\frac{१}{२}$ घंटे होनी चाहिए, जिनमें से ५$\frac{३}{४}$ घंटे उस सूत के मूल्य की माप हैं, जो अंतिम से पहले एक घंटे में पैदा हुआ है, और ५$\frac{३}{४}$ घंटे उस सूत के मूल्य की माप हैं, जो अंतिम घंटे में पैदा हुआ है। अब हम एक पेचीदा नुक़्ते पर पहुंच गये हैं, इसलिए सावधान हो जाइये! अंतिम से पहला घंटा काम के दिन के प्रथम घंटे के समान एक साधारण घंटा है, न तो वह उससे कम होता है और न ही ज़्यादा। तब कातनेवाला एक घंटे में सूत की शक्ल में इतना मूल्य कैसे पैदा कर सकता है, जिसमें ५$\frac{३}{४}$ घंटे का श्रम निहित है? सच तो यह है कि वह ऐसा कोई चमत्कार करके नहीं दिखाता। वह एक घंटे में जो उपयोग-मूल्य तैयार करता है, वह है सूत की एक निश्चित मात्रा। इस सूत का मूल्य ५$\frac{३}{४}$ घंटों द्वारा मापा जाता है, जिनमें से ४$\frac{३}{४}$ घंटे बिना उसकी किसी मदद के उत्पादन के साधनों में – कपास, मशीनों, आदि में – पहले ही से मौजूद थे। उसने केवल बाक़ी एक घंटा उनमें जोड़ा है। इसलिए उसकी मज़दूरी चूंकि ५$\frac{३}{४}$ घंटे में पैदा होती है और एक घंटे में उत्पन्न सूत में भी ५$\frac{३}{४}$ घंटे का काम निहित होता है, इसलिए यह किसी जादूगरी का नतीजा नहीं है कि ५$\frac{३}{४}$ घंटे की कताई में वह जो मूल्य पैदा करता है, वह एक घंटे में काते गये सूत के मूल्य के बराबर होता है। यदि आपका यह ख़याल है कि वह कपास, मशीनों,

आदि के मूल्यों का पुनरुत्पादन करने या उनके प्रतिस्थापन में अपने काम के दिन का एक क्षण भी ख़र्च करता है, तो आप सरासर ग़लती कर रहे हैं। इसके विपरीत, यदि कपास तथा तकुओं के मूल्य स्वेच्छा से सूत में चले जाते हैं, तो इसका कारण केवल यही है कि उसका श्रम कपास तथा तकुओं को सूत में बदल देता है, या यूं कहिये कि इसका कारण केवल यही है कि वह कताई करता है। इस नतीजे की वजह उसके श्रम की मात्रा नहीं, बल्कि उसका गुण है। यह सच है कि वह आधे घंटे की अपेक्षा एक घंटे में अधिक मूल्य सूत में अंतरित कर देता है, लेकिन वह सिर्फ़ इसलिए कि वह एक घंटे में आधे घंटे से ज्यादा कपास कात देता है। इसलिए आप देखते हैं कि आपका यह कथन कि मज़दूर अंतिम से पहले एक घंटे में अपनी मज़दूरी का मूल्य और अंतिम घंटे में आपका शुद्ध लाभ पैदा करता है, इससे अधिक और कुछ अर्थ नहीं रखता कि वह २ घंटे में जो सूत तैयार करता है, चाहे वे दिन के पहले २ घंटे हों या अंतिम २ घंटे, उस सूत में ११$\frac{१}{२}$ घंटे – या पूरे दिन – का श्रम निहित होता है, यानी उस सूत में दो घंटे का उसका अपना काम और ९$\frac{१}{२}$ घंटे का अन्य लोगों का काम निहित होता है। और मेरे इस कथन का कि मज़दूर पहले ५$\frac{३}{४}$ घंटों में अपनी मज़दूरी और अंतिम ५$\frac{३}{४}$ घंटों में आप लोगों का शुद्ध लाभ पैदा करता है, केवल यह अर्थ है कि आप उसे पहले ५$\frac{३}{४}$ घंटों के दाम तो देते हैं, मगर अंतिम ५$\frac{३}{४}$ घंटों के दाम नहीं देते। श्रम-शक्ति के दाम के बजाय श्रम के दाम की बात मैं केवल इसलिए कर रहा हूं कि इस समय मैं आप लोगों की शब्दावली का इस्तेमाल कर रहा हूं। अब, महानुभावो, जिस श्रम-काल के आप दाम देते हैं, उसके साथ आप यदि उस श्रम-काल की तुलना करें, जिसके दाम आप नहीं देते, तो आप पायेंगे कि उनका एक दूसरे के साथ वही अनुपात है, जो आधे दिन का आधे दिन के साथ होता है; इससे १०० प्रतिशत की दर निकलती है, जो मानना पड़ेगा कि बहुत ही बढ़िया दर है। इतना ही नहीं, इस बात में तनिक भी संदेह नहीं है कि यदि आप अपने मज़दूरों से ११$\frac{१}{२}$ घंटे के बजाय १३ घंटे मेहनत कराने लगें और, जैसी कि आप से आशा की जा सकती है, इस अतिरिक्त डेढ़ घंटे में जो काम होता है, उसे यदि आप विशुद्ध बेशी श्रम मानें, तो बेशी श्रम ५$\frac{३}{४}$ घंटे से बढ़कर ७$\frac{१}{४}$ घंटों का हो जायेगा और बेशी मूल्य की दर १०० प्रतिशत से बढ़कर १२६$\frac{२}{२३}$ प्रतिशत हो जायेगी। इसलिए आप यदि यह सोचते हैं कि काम के दिन में इस तरह १$\frac{१}{२}$ घंटा बढ़ा देने से बेशी मूल्य की दर १०० प्रतिशत से बढ़कर २०० प्रतिशत या उससे भी ज्यादा हो जायेगी, या, दूसरे शब्दों में, वह बढ़कर "दुगुनी से भी ज्यादा" हो जायेगी, तो हम कहेंगे कि आप अत्यधिक आशावादी हैं। दूसरी ओर, जब आपको यह डर सताता है कि श्रम के घंटों को ११$\frac{१}{२}$ से घटाकर १० कर देने पर आपका शुद्ध लाभ सारे का सारा ग़ायब हो जायेगा, तब आप अत्यधिक निराशावादी

हो जाते हैं, मनुष्य का हृदय सचमुच बड़ी ही विचित्र वस्तु होता है, और ख़ास कर उस समय, जब लोग उसे धन की थैली में डाले फिरते हैं। आपका डर सर्वथा निराधार है। यदि अन्य सब बातें पहले जैसी रहती हैं, तो बेशी श्रम ५ $\frac{३}{४}$ घंटों से कम होकर ४ $\frac{३}{४}$ घंटे का रह जायेगा, और इन ४ $\frac{३}{४}$ घंटों में आपको बेशी मूल्य की बहुत लाभदायक दर मिल जायेगी। इन ४ $\frac{३}{४}$ घंटों में आप ८२ $\frac{१४}{२३}$ प्रतिशत की दर से बेशी मूल्य कमायेंगे। लेकिन यह भयानक "अंतिम घंटा", जिसके बारे में आपने इतनी कहानियां गढ़ रखी हैं, जितनी कि ईसा के पुनरावतार तथा सहस्रवर्षीय राज्य की कल्पना में विश्वास करनेवालों ने भी नहीं गढ़ी थीं, वह "अंतिम घंटा" एकदम बकवास है। यदि यह "अंतिम घंटा" जाता भी रहे, तो इससे न तो आपका शुद्ध लाभ ख़त्म हो जायेगा और न ही जिन लड़के-लड़कियों को आपने काम पर रखा हुआ है, उनके दिमाग दूषित हो जायेंगे।[32a]

[32a] यदि एक तरफ़, सीनियर ने यह साबित कर दिया था कि कारख़ानेदार का शुद्ध लाभ, अंग्रेज़ों के सूती उद्योग का अस्तित्व और दुनिया की मंडी पर इंगलैंड का आधिपत्य – सब "काम के अंतिम घंटे" पर निर्भर करते हैं, तो दूसरी तरफ़, डा० एण्ड्रयू यूर ने यह प्रमाणित कर दिया है कि यदि बच्चों को और १८ वर्ष से कम आयु के लड़के-लड़कियों को पूरे १२ घंटे तक फ़ैक्टरी के स्नेहभरे एवं विशुद्ध नैतिक वातावरण में रखने के बजाय उनको एक घंटा पहले ही बाहर निकालकर इस निर्मम एवं तुच्छ संसार में छोड़ दिया जायेगा, तो निठल्लेपन और व्यसनों के कारण उनकी आत्माओं को कभी मुक्ति प्राप्त न हो सकेगी। १८४८ से ही फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर लोग इस "अंतिम" एवं "निर्णायक घंटे" को लेकर मालिकों का मज़ाक़ बना रहे हैं। चुनांचे मि० हौवेल ने अपनी ३१ मई १८५५ की रिपोर्ट में लिखा है: "यदि यह चातुर्यपूर्ण हिसाब (वह सीनियर को उद्धृत करते हैं) सही होता, तो १८५० से ही ब्रिटेन की प्रत्येक सूती फ़ैक्टरी घाटे पर चलती होती।" (*Reports of Inspectors of Factories for the half year ending 30th April 1855*, pp. 19, 20.) १० घंटे का बिल पास हो जाने के बाद, १८४८ में, सन की कताई करनेवाली कुछ मिलों के मालिकों ने, जिनके कारख़ाने संख्या में बहुत ही कम और डॉर्सेट तथा सॉमर्सेट की सीमा पर जहां-तहां बिखरे हुए थे, अपने कुछ मज़दूरों से ज़बर्दस्ती इस बिल के ख़िलाफ़ एक दरख़ास्त पर दस्तख़त कराये। इस दरख़ास्त की एक धारा इस प्रकार थी: "माता-पिता के रूप में आवेदकों का विचार है कि एक घंटे का अतिरिक्त अवकाश उनके बच्चों के नैतिक पतन का कारण बन जायेगा, क्योंकि उनका यक़ीन है कि आलस्य व्यसन का जनक होता है।" इसके बारे में ३१ अक्तूबर १८४८ की फ़ैक्टरी-रिपोर्ट में कहा गया है: "इन नेक एवं कोमल हृदय माता-पिताओं के बच्चे सन कातने की जिन मिलों में काम करते हैं, वे कच्चे माल के रेशे तथा धूल से इस बुरी तरह भरी रहती हैं कि कताई के कमरों में १० मिनट खड़ा होना भी बहुत ही बुरा लगता है। कारण कि इन कमरों में घुसते ही आपकी आंखें, कान, नाक और मुंह फ़ौरन सन की धूल के उन बादलों से भर जाते हैं, जिनसे बचना वहां असंभव होता है, और आपको सख़्त तकलीफ़ होने लगती है। मशीनें ऐसी अंधाधुंध तेज़ी के साथ चलती हैं कि श्रम करनेवाले को लगातार अपनी कुशलता और गति का उपयोग करना पड़ता है, और सो भी कड़े नियंत्रण और अचूक निगरानी के वातावरण में, और यह सचमुच बड़ी निर्दयता प्रतीत होती है कि मां-बाप अपने उन बच्चों को 'आलसी' बतायें, जिनको केवल भोजन का समय छोड़कर पूरे १० घंटे तक ऐसे वातावरण में, ऐसे पेशे के साथ जकड़ दिया जाता है... पड़ोस के गांवों में मज़दूर जितनी देर काम करते हैं, ये बच्चे उससे ज़्यादा देर तक काम करते

और जब कभी सचमुच आप लोगों का "अंतिम घंटा" बजने लगे, तब आप लोग आक्सफ़ोर्ड के उन प्रोफ़ेसर साहब को याद कीजियेगा। और अब, सज्जनो, हम आपसे विदा लेते हैं, और भगवान करे, अब हमारी-आपकी उस अधिक सुंदर दुनिया में ही भेंट हो, उससे पहले नहीं।

सीनियर ने "अंतिम घंटे" के अपने युद्ध-घोष का आविष्कार १८३६ में किया था।[33] १५ अप्रैल १८४८ के लंदन के *Economist* में जेम्स विल्सन ने यही नारा एक बार फिर

हैं... हमें साफ़-साफ़ कहना चाहिए कि 'निठल्लेपन और व्यसन' की यह निर्दयतापूर्ण चर्चा विशुद्ध पाखंड और अत्यंत लज्जाहीन बगुलाभगती है... लगभग १२ वर्ष हुए उच्च अधिकारियों की अनुमति से सार्वजनिक रूप से और अत्यंत गंभीरतापूर्वक यह घोषणा की गयी थी कि कारख़ानेदार का सारा शुद्ध लाभ अंतिम घंटे के श्रम से निकलता है और इसलिए यदि काम के दिन में एक घंटे की कमी की जायेगी, तो उसका शुद्ध लाभ ख़त्म हो जायेगा। जिस आत्मविश्वास के साथ यह घोषणा की गयी थी, उससे जनता के एक भाग को कुछ आश्चर्य हुआ था। हम कहते हैं कि जनता का वही भाग आज तो अपनी आंखों पर विश्वास नहीं कर पायेगा, जब वह यह देखेगा कि 'अंतिम घंटे' के गुणों के उस मूल आविष्कार का अब इतना संस्कार हो चुका है कि मुनाफ़े के साथ-साथ उसमें नैतिकता भी शामिल हो गयी है; और चुनांचे अब यदि बच्चों के श्रम की अवधि घटाकर पूरे १० घंटे कर दी जाये, तो बच्चों के मालिकों के शुद्ध लाभ के साथ-साथ बच्चों की नैतिकता भी नष्ट हो जायेगी, क्योंकि मुनाफ़ा और नैतिकता दोनों ही इस अंतिम, इस निर्णायक घंटे पर निर्भर करते हैं।" (देखिये *Reports of Insp. of Fact., for 31st Oct. 1848*, p. 101.) इसी रिपोर्ट में आगे इन शुद्ध हृदय कारख़ानेदारों की नैतिकता और पवित्रता के अनेक उदाहरण दिये गये हैं और बताया गया है कि पहले चंद निस्सहाय मज़दूरों से इस तरह की दरख़ास्तों पर दस्तख़त कराने के लिए और फिर इन दरख़ास्तों को उद्योग की एक पूरी शाखा या पूरी काउंटी की दरख़ास्त के रूप में संसद पर थोपने के लिए इन कारख़ानेदारों ने कैसी-कैसी तरक़ीबों, चालबाज़ियों और ख़ुशामद का और कैसी-कैसी गीदड़भभकियों और धोखेधड़ी का प्रयोग किया। तथाकथित आर्थिक विज्ञान की वर्तमान अवस्था पर इस बात से काफ़ी प्रकाश पड़ता है कि न तो ख़ुद सीनियर, जिनको इतना श्रेय तो देना ही पड़ेगा कि बाद को उन्होंने फ़ैक्टरी संबंधी क़ानूनों का ज़ोरदार समर्थन किया था, और न ही उनका पहले से आख़िरी तक एक भी विरोधी, कोई भी उनके "मौलिक आविष्कार" के ग़लत परिणामों को स्पष्ट नहीं कर पाया है। ये लोग सबके सब वास्तविक व्यवहार की दुहाई देते हैं, मगर इस वास्तविक व्यवहार के असली कारण और उद्भव स्रोत रहस्य के आवरण में छिपे रहते हैं।

[33] फिर भी यह समझना ग़लत होगा कि विद्वान प्रोफ़ेसर को अपनी मैंचेस्टर-यात्रा से कोई लाभ नहीं हुआ। *Letters on the Factory Act* में उन्होंने "लाभ" और "ब्याज" और यहां तक कि "कुछ और" के भी साथ सारे शुद्ध लाभ को मज़दूर के महज़ एक घंटे के मुफ़्त काम पर निर्भर बना दिया है। उसके एक साल पहले अपनी पुस्तक *Outlines of Political Economy* में, जो आक्सफ़ोर्ड के विद्यार्थियों तथा सुसंस्कृत कूपमंडूकों की शिक्षा के लिए लिखी गयी थी, उन्होंने रिकार्डो के श्रम के द्वारा मूल्य को निर्धारित करने के मुक़ाबले में यह "आविष्कार" किया था कि लाभ पूंजीपति के श्रम से और ब्याज उसके त्याग से – या, दूसरे शब्दों में, उसके "परिवर्जन" से – उत्पन्न होता है। चाल पुरानी थी, मगर "परिवर्जन" शब्द नया था। हर रोशर ने उसका जर्मन भाषा में बिल्कुल सही अनुवाद "Enthaltung" किया है। उनके कुछ देशवासियों ने – जर्मनी के ऐरे-ग़ैरे-नत्थू-ख़ैरों ने, जिनका लैटिन का ज्ञान हर रोशर जैसा अच्छा नहीं है, – इस शब्द का अनुवाद साधु-संन्यासियों जैसा "परित्याग" कर डाला है।

बुलंद किया। जेम्स विल्सन अर्थशास्त्र की दुनिया के एक उच्चाधिकारी हैं। इस बार यह नारा उन्होंने १० घंटे के बिल के विरोध में बुलंद किया।

अनुभाग ४ – बेशी उत्पाद

उत्पाद का जो भाग (अनुभाग २ में जो उदाहरण दिया गया है, उसमें २० पाउंड का दसवां भाग, या २ पाउंड सूत) बेशी मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, उसे हम "बेशी उत्पाद" की संज्ञा देते हैं। जिस प्रकार बेशी मूल्य की दर इससे निर्धारित नहीं होती कि कुल पूंजी के साथ उसका क्या संबंध है, बल्कि वह पूंजी के केवल परिवर्ती भाग के साथ उसके संबंध से निर्धारित होती है, उसी प्रकार बेशी उत्पाद की सापेक्ष मात्रा इस बात से निर्धारित नहीं होती कि इस उत्पाद का कुल उत्पाद के बाक़ी हिस्से के साथ क्या अनुपात है, बल्कि वह इस बात से निर्धारित होती है कि इस उत्पाद का कुल उत्पाद के उस भाग के साथ क्या अनुपात है, जिसमें आवश्यक श्रम निहित है। पूंजीवादी उत्पादन का मुख्य उद्देश्य एवं लक्ष्य चूंकि बेशी मूल्य का उत्पादन होता है, इसलिए यह बात स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति या राष्ट्र की दौलत इससे नहीं मापी जानी चाहिए कि कुल कितनी निरपेक्ष मात्रा का उत्पादन हुआ है, बल्कि वह इस बात से मापी जानी चाहिए कि बेशी उत्पाद की सापेक्ष मात्रा कितनी है।[34]

आवश्यक श्रम और बेशी श्रम का जोड़, अर्थात् जिस अवधि में मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य का पुनःस्थापन करता है और जिस अवधि में वह बेशी मूल्य पैदा करता है, उनका जोड़ ही वह वास्तविक समय होता है, जिसमें मज़दूर काम करता है; अर्थात् उनका जोड़ काम का दिन होता है।

---

[34] "जिस व्यक्ति की पूंजी २०,००० पाउंड है और जिसका मुनाफ़ा २,००० पाउंड सालाना है, उसके लिए इस बात का कोई महत्त्व नहीं होता कि उसकी पूंजी १०० आदमियों को नौकर रखती है या १,००० को, और वे जो पण्य तैयार करते हैं, वह १०,००० पाउंड में बिकता है या २०,००० पाउंड में, बशर्ते कि उसका मुनाफ़ा २,००० पाउंड से कम न हो जाये। क्या राष्ट्र का वास्तविक हित भी ठीक इसी प्रकार का नहीं होता? यदि किसी राष्ट्र की असल आमदनी, उसका लगान और मुनाफ़ा वही रहते हैं, तो इसका कोई महत्त्व नहीं है कि वह १ करोड़ निवासियों का राष्ट्र है या १ करोड़ २० लाख का।" (D. Ricardo, *The Principles of Political Economy*, 3rd Ed., London, 1821, p. 416.) रिकार्डो के बहुत पहले आर्थर यंग ने, जो बेशी उत्पाद के तो कट्टर समर्थक थे, पर बाक़ी बातों में आंखें बंद करके जो मन में आता था, लिखते चले जाते थे और जिनकी ख्याति उनकी प्रतिभा के प्रतिलोम अनुपात में है, कहा था: "एक आधुनिक राज्य में इस तरह बंटा हुआ कोई प्रांत, जो पुरानी रोमन प्रथा के अनुसार छोटे-छोटे स्वतंत्र किसानों में बंटा हो, उसमें चाहे जितनी अच्छी तरह खेती की जाती हो, आदमी पैदा करने के सिवा और किस काम में आ सकता है? और यह अपने में बहुत ही निरर्थक काम है।" (Arthur Young, *Political Arithmetic* etc., London, 1774, p. 47.)

"शुद्ध धन को श्रम करनेवाले वर्ग के लिए हितकारी बताने की ज़ोरदार प्रवृत्ति" बहुत ही विचित्र चीज़ है, "हालांकि, ज़ाहिर है, ऐसा शुद्ध होने के कारण नहीं है।" (Th. Hopkins, *On Rent of Land etc.*, London, 1828, p. 126.)

अध्याय १०

काम का दिन

अनुभाग १–काम के दिन की सीमाएं

हम यह मानकर चले थे कि श्रम-शक्ति अपने मूल्य के बराबर दामों पर ख़रीदी और बेची जाती है। अन्य सब पण्यों की तरह श्रम-शक्ति का मूल्य भी उसके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल से निर्धारित होता है। मज़दूर के लिए दैनिक जीवन-निर्वाह के औसतन जितने साधनों की आवश्यकता होती है, यदि उनके उत्पादन में छः घंटे लग जाते हैं, तो उसे दैनिक श्रम-शक्ति को पैदा करने के लिए, या अपनी श्रम-शक्ति की बिक्री से प्राप्त मूल्य का पुनरुत्पादन करने के लिए, रोज़ाना औसतन छः घंटे काम करना चाहिए। इस तरह उसके काम के दिन का आवश्यक भाग छः घंटे का होता है, और इसलिए जब तक अन्य परिस्थितियों में परिवर्तन नहीं होता, तब तक यह आवश्यक भाग caeteris paribus [अन्य बातों के समान रहते हुए] एक निश्चित मात्रा बना रहता है। लेकिन इस निश्चित मात्रा के ज्ञान से अभी हमें यह नहीं मालूम होता कि ख़ुद काम का दिन कितना लंबा है।

मान लीजिये कि रेखा **क–ख** आवश्यक श्रम-काल का प्रतिनिधित्व करती है, जो कि, मान लीजिये, छः घंटे के बराबर है। यदि **क ख** के आगे श्रम १, ३ या ६ घंटे और बढ़ा दिया जाये, तो हमारे पास तीन रेखाएं और हो जाती हैं:

काम का दिन १	काम का दिन २	काम का दिन ३
क–ख–ग,	**क–ख–ग,**	**क–ख–ग।**

ये तीन रेखाएं ७, ६ और १२ घंटे के तीन अलग-अलग काम के दिनों का प्रतिनिधित्व करती हैं। **क ख** रेखा का **ख ग** विस्तार बेशी श्रम की लंबाई का प्रतिनिधित्व करता है। काम का दिन चूंकि **क ख + ख ग,** या **क ग** है, इसलिए वह **ख ग** नामक अस्थिर मात्रा के बदलने के साथ-साथ बदलता रहता है। **क ख** चूंकि स्थिर है, इसलिए हिसाब लगाकर यह हमेशा पता लगाया जा सकता है कि **क ख** के साथ **ख ग** का क्या अनुपात है। काम का दिन १ में यह अनुपात **क ख** का $\frac{१}{६}$ है, काम के दिन २ में वह **क ख** का $\frac{३}{६}$ है और काम के दिन ३ में वह **क ख** का $\frac{६}{६}$ है। इसके अलावा चूंकि बेशी मूल्य की दर $\frac{\text{बेशी कार्य-काल}}{\text{आवश्यक कार्य-काल}}$ अनुपात से निर्धारित होती है, इसलिए वह **क ख** के साथ **ख ग** के अनुपात से मालूम हो जाती है। ऊपर जो तीन अलग-अलग काम के दिन दिये गये हैं, उनमें क्रमशः यह दर $१६\frac{२}{३}$, ५० और १०० प्रतिशत है। दूसरी ओर, अकेली बेशी मूल्य की दर से हम

यह नहीं जान सकते कि काम का दिन कितना लंबा है। मिसाल के लिए, यदि यह दर १०० प्रतिशत हो, तो काम का दिन ८ घंटे, १० घंटे और १२ घंटे या उससे ज़्यादा का भी हो सकता है। इस दर से तो हम सिर्फ़ इतना ही जान पायेंगे कि काम के दिन के दो संघटक भाग – आवश्यक श्रम-काल और बेशी श्रम-काल – लंबाई में बराबर हैं; परंतु इन दो संघटक भागों में से प्रत्येक कितना लंबा है, यह इस दर से मालूम नहीं हो पायेगा।

अतएव काम का दिन कोई स्थिर मात्रा नहीं, बल्कि एक परिवर्ती मात्रा होता है। उसका एक भाग निश्चय ही स्वयं मज़दूर की श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल से निर्धारित होता है। लेकिन यह पूरी मात्रा बेशी श्रम की अवधि के साथ-साथ बदलती रहती है। इसलिए काम के दिन को निर्धारित तो किया जा सकता है, लेकिन वह ख़ुद अपने में अनिश्चित होता है।[35]

यद्यपि काम का दिन कोई निश्चित नहीं, बल्कि एक परिवर्तनशील मात्रा होता है, फिर भी दूसरी ओर, यह बात भी सही है कि उसमें कुछ ख़ास सीमाओं के भीतर ही परिवर्तन हो सकते हैं। किंतु उसकी अल्पतम सीमा को निश्चित नहीं किया जा सकता। ज़ाहिर है, अगर विस्तार-रेखा ख ग को, या बेशी श्रम को, शून्य के बराबर मान लिया जाये, तो एक अल्पतम सीमा मिल जाती है, अर्थात् दिन का वह भाग, जिसमें मज़दूर को ख़ुद अपने जीवन-निर्वाह के लिए लाज़िमी तौर पर काम करना पड़ता है, उसके काम के दिन की अल्पतम सीमा हो जाता है। लेकिन पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर यह आवश्यक श्रम काम के दिन का केवल एक भाग ही हो सकता है; ख़ुद काम का दिन इस अल्पतम सीमा में कभी परिणत नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, काम के दिन की एक अधिकतम सीमा होती है। उसे एक निश्चित बिंदु से आगे नहीं खींचा जा सकता। यह अधिकतम सीमा दो बातों से निर्धारित होती है। पहली बात श्रम-शक्ति की शारीरिक सीमा है। प्राकृतिक दिन के २४ घंटों में मनुष्य अपनी शारीरिक जीवन-शक्ति की केवल एक निश्चित मात्रा ही ख़र्च कर सकता है। इसी तरह एक घोड़ा भी हर दिन तो केवल ८ घंटे ही काम कर सकता है। दिन के एक भाग में इस शक्ति को विश्राम करना चाहिए, सोना चाहिए। एक और भाग में आदमी को अपनी अन्य शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिए; उसे भोजन करना, नहाना और कपड़े पहनना चाहिए। इन विशुद्ध शारीरिक सीमाओं के अलावा काम के दिन को लंबा खींचने के रास्ते में कुछ नैतिक सीमाएं भी रुकावट डालती हैं। अपनी बौद्धिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी मज़दूर को समय चाहिए, और इन आवश्यकताओं की संख्या तथा विस्तार समाज की सामान्य प्रगति द्वारा निर्धारित होते हैं। इसलिए काम के दिन से संबंधित परिवर्तन शारीरिक एवं सामाजिक सीमाओं के भीतर होते हैं। लेकिन ये दोनों प्रकार की सीमाएं बहुत लोचदार हैं, और दोनों के भीतर बहुत काफ़ी गुंजाइश रहती है। चुनांचे हम कहीं तो काम का दिन ८ घंटे का, कहीं १० घंटे का और कहीं १२, १४, १६ या १८ घंटे का पाते हैं। मतलब यह कि काम के दिन बहुत ही भिन्न लंबाइयों के होते हैं।

पूंजीपति ने श्रम-शक्ति दैनिक दर पर ख़रीदी है। काम के एक दिन के लिए श्रम-शक्ति

---

[35] "एक दिन का श्रम अस्पष्ट वस्तु है, वह लंबा भी हो सकता है और छोटा भी।" (*An Essay on Trade and Commerce, Containing Observations on Taxes etc.*, London, 1770, p. 73.)

के उपयोग-मूल्य पर पूंजीपति का अधिकार होता है। इस प्रकार उसने दिन भर मज़दूर से अपने लिए काम कराने का अधिकार प्राप्त कर लिया है। लेकिन प्रश्न उठता है कि काम के दिन की क्या परिभाषा है?[36] काम का दिन हर हालत में प्राकृतिक दिन से छोटा होगा। लेकिन कितना छोटा? इस ultima Thule* [अंतिम बिंदु] के बारे में – काम के दिन की अनिवार्य सीमा के बारे में – पूंजीपति के कुछ अपने विचार हैं। पूंजीपति की शक्ल में वह महज़ मूर्तिमान पूंजी होता है। उसकी आत्मा पूंजी की आत्मा होती है। किंतु पूंजी केवल एक प्रेरणा से अनुप्रेरित होती है। वह है उसकी मूल्य तथा बेशी मूल्य का सृजन करने की प्रवृत्ति; वह है उसकी अपने स्थिर उपादान – उत्पादन के साधनों – से अधिकतम मात्रा में बेशी श्रम का अवशोषण कराने की प्रवृत्ति।[37] पूंजी मुर्दा श्रम होती है, जो डायन की तरह केवल जीवित श्रम को चूसकर ही ज़िंदा रहता है, और वह जितना अधिक श्रम चूसता है, उतना ही फलता-फूलता है। मज़दूर जिस समय तक काम करता है, उस समय तक पूंजीपति उस श्रम-शक्ति का उपभोग करता है, जिसे उसने मज़दूर से ख़रीदा है।[38] मज़दूर जो समय पूंजीपति को दे सकता है, यदि उसको वह ख़ुद अपने हित में ख़र्च करता है, तो वह पूंजीपति को लूटता है।[39]

तब पूंजीपति पण्यों के विनिमय के नियम को अपना आधार बनाता है। अन्य सब ख़रीदारों की तरह वह भी अपने पण्य के उपयोग-मूल्य से अधिकतम लाभ उठाना चाहता है। पर तभी यकायक मज़दूर की आवाज़ सुनायी पड़ती है, जो अभी तक उत्पादन-प्रक्रिया के शोर-शराबे में दबी हुई थी। वह कहता है:

मैंने जो पण्य तुम्हारे हाथ बेचा है, वह दूसरे पण्यों की भीड़ से इस बात में भिन्न है कि उसका उपयोग मूल्य का सृजन करता है, और वह मूल्य उसके अपने मूल्य से अधिक होता है। इसीलिए तो तुमने उसे ख़रीदा है। तुम्हारी दृष्टि में जो पूंजी का स्वयंस्फूर्त विस्तार है, वह

---

[36] यह प्रश्न सर रॉबर्ट पील के उस प्रसिद्ध प्रश्न से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, जो उन्होंने बर्मिंघम के चेम्बर आफ़ कामर्स से किया था। सर रॉबर्ट पील का प्रश्न था: "पाउंड क्या चीज़ है?" यह एक ऐसा प्रश्न था, जो पूछा जा सकता था, तो केवल इसलिए कि द्रव्य की प्रकृति के विषय में पील भी उतने ही अंधकार में थे, जितने बर्मिंघम के "नन्हे शिलिंग वाले"। [मूल पाठ में "little shilling men" का प्रयोग किया गया था, जिसके दो अर्थ हो सकते हैं: एक तो "अवमूल्यन सिद्धांत के समर्थक" और दूसरा "निकम्मे लोग"]।

* अक्षरशः "छोरवर्ती थूले"। यहां इसका मतलब है – चरम सीमा। (थूले – एक द्वीप-राज्य, जो प्राचीन लोगों के अनुसार यूरोप के बिल्कुल उत्तरी छोर पर स्थित था)। – सं०

[37] "पूंजीपति का उद्देश्य यह होता है कि उसने जितनी पूंजी लगायी है, उससे अधिकतम मात्रा में श्रम प्राप्त करने में सफल हो।" (J. G. Courcelle Seneuil, *Traité théorique et pratique des entreprises industrielles*, 2ème édit., Paris, 1857, p. 62.)

[38] "यदि एक दिन में एक घंटे का श्रम ज़ाया हो जाता है, तो व्यापारिक राज्य की कड़ी हानि होती है..." "इस राज्य के श्रम करनेवाले ग़रीबों में विलास की वस्तुओं का बहुत बड़े पैमाने पर उपयोग होता है; कारख़ानों में काम करनेवाले लोगों में यह बात ख़ास तौर पर देखने में आती है, जिसके कारण वे अपना बहुत सा समय भी ख़र्च कर डालते हैं, और समय का उपभोग सबसे घातक उपभोग होता है।" (*An Essay on Trade and Commerce etc.*, pp. 47, 153.)

[39] "यदि हाथ से काम करनेवाला स्वतंत्र मज़दूर क्षण भर के लिए विश्राम करने लगता है, तो लालची व्यवसायी, जो बड़ी बेचैनी के साथ उसे देख रहा है, दलील देता है कि मज़दूर उसे लूट रहा है।" (N. Linguet, *Théorie des Lois Civiles etc.*, London, 1767, t. II, p. 466.)

मेरी दृष्टि में श्रम-शक्ति का अतिरिक्त उपभोग है। मंडी में तुम और मैं केवल एक ही नियम मानते हैं, और वह है पण्यों के विनिमय का नियम। और पण्य के उपभोग पर बेचनेवाले का, जो पण्य को हस्तांतरित कर चुका है, अधिकार नहीं होता; पण्य के उपभोग पर उसे ख़रीदनेवाले का अधिकार होता है, जिसने पण्य को हासिल कर लिया है। इसलिए मेरी दैनिक श्रम-शक्ति के उपभोग पर तुम्हारा अधिकार है। लेकिन उसका जो दाम तुम हर रोज़ देते हो, वह इसके लिए काफ़ी होना चाहिए कि मैं अपनी श्रम-शक्ति का रोज़ाना पुनरुत्पादन कर सकूं और उसे फिर से बेच सकूं। बढ़ती हुई आयु, इत्यादि के कारण शक्ति का जो स्वाभाविक ह्रास होता है, उसको छोड़कर मेरे लिए यह संभव होना चाहिए कि मैं हर नयी सुबह को पहले जैसे सामान्य बल, स्वास्थ्य तथा ताज़गी के साथ काम कर सकूं। तुम मुझे हर घड़ी "मितव्ययिता" और "परिवर्जन" का उपदेश सुनाते रहते हो। अच्छी बात है! अब मैं भी विवेक और मितव्ययिता से काम लूंगा और अपनी एकमात्र संपत्ति – यानी अपनी श्रम-शक्ति – के किसी भी प्रकार के मूर्खतापूर्ण अपव्यय का परिवर्जन करूंगा। मैं हर रोज़ अब केवल उतनी ही श्रम-शक्ति ख़र्च करूंगा, केवल उतनी ही श्रम-शक्ति से काम करूंगा, केवल उतनी ही श्रम-शक्ति को क्रियाशील बनाऊंगा, जितनी उसकी सामान्य अवधि तथा स्वस्थ विकास के अनुरूप होगी। काम के दिन का मनमाना विस्तार करके, मुमकिन है, तुम एक ही दिन में इतनी श्रम-शक्ति इस्तेमाल कर डालो, जिसे मैं तीन दिन में भी पुनः प्राप्त न कर सकूं। श्रम के रूप में तुम्हारा जितना लाभ होगा, श्रम के सारतत्त्व के रूप में उतना ही मेरा नुक़सान हो जायेगा। मेरी श्रम-शक्ति का उपयोग करना एक बात है, और उसे लूटकर चौपट कर देना बिल्कुल दूसरी बात है। यदि एक औसत मज़दूर (उचित मात्रा में काम करते हुए) औसतन ३० वर्ष तक ज़िंदा रह सकता है, तो मेरी श्रम-शक्ति का वह मूल्य, जो तुम मुझे रोज़ देते हो, उसके कुल मूल्य का $\frac{१}{३६५ \times ३०}$ या $\frac{१}{१०,९५०}$ वां भाग होता है। किंतु यदि तुम मेरी श्रम-शक्ति को ३० के बजाय १० वर्षों में ही ख़र्च कर डालते हो, तो तुम रोज़ाना मुझको मेरी श्रम-शक्ति के कुल मूल्य के $\frac{१}{३,६५०}$ के बजाय उसका $\frac{१}{१०,९५०}$, यानी उसके दैनिक मूल्य का केवल $\frac{१}{३}$ ही देते हो। इस तरह तुम मेरे पण्य के मूल्य का $\frac{२}{३}$ भाग प्रति दिन लूट लेते हो। तुम मुझे दाम दोगे एक दिन की श्रम-शक्ति के, लेकिन इस्तेमाल करोगे ३ दिन की श्रम-शक्ति। यह हम लोगों के क़रार और विनिमय के नियम के ख़िलाफ़ है। इसलिए मैं मांग करता हूं कि काम का दिन सामान्य लंबाई का हो, और इस मांग को मनवाने के लिए मैं तुम्हारे हृदय को द्रवित करना नहीं चाहता, क्योंकि रुपये-पैसे के मामले में भावनाओं का कोई स्थान नहीं होता। मुमकिन है कि तुम एक आदर्श नागरिक हो, संभव है कि तुम पशु-निर्दयता-निवारण-समिति के सदस्य भी हो और ऊपर से तुम्हारा साधुपन सारी दुनिया में विख्यात हो। लेकिन मेरे सामने खड़े हुए तुम जिस चीज़ का प्रतिनिधित्व करते हो, उसकी छाती में हृदय का अभाव है। वहां जो कुछ धड़कता सा लगता है, वह मेरे ही दिल की आवाज़ है। मैं सामान्य दीर्घता के काम के दिन की इसलिए मांग करता हूं कि दूसरे हर विक्रेता की तरह मैं भी अपने पण्य का पूरा-पूरा मूल्य चाहता हूं।[40]

---

[40] १८६०-१८६१ की लंदन के राजगीरों की बड़ी हड़ताल काम के दिन को घटवाकर ९ घंटे का कराने के लिए हुई थी। उस समय राजगीरों की समिति ने एक घोषणापत्र प्रकाशित किया

इस तरह हम देखते हैं कि कुछ बहुत ही लोचदार सीमाओं के अलावा पण्यों के विनिमय का स्वरूप ख़ुद काम के दिन पर, या बेशी श्रम पर, कोई प्रतिबंध नहीं लगाता। पूंजीपति जब काम के दिन को ज़्यादा से ज़्यादा लंबा खींचना चाहता है, और मुमकिन हो, तो एक दिन के दो दिन बनाने की कोशिश करता है, तब वह ख़रीदार के रूप में अपने अधिकार का ही प्रयोग करता है। दूसरी तरफ़, उसके हाथ बेचा जानेवाला पण्य इस अजीब तरह का है कि उसका ख़रीदार एक सीमा से अधिक उसका उपयोग नहीं कर सकता, और जब मज़दूर काम के दिन को घटाकर एक निश्चित एवं सामान्य अवधि का दिन कर देना चाहता है, तब वह भी बेंचनेवाले के रूप में अपने अधिकार का ही प्रयोग करता है। इसलिए यहां असल में दो अधिकारों का विरोध सामने आता है, एक अधिकार दूसरे अधिकार से टकराता है, और दोनों अधिकार ऐसे हैं, जिनपर विनिमय के नियम की मुहर लगी हुई है। जब समान अधिकारों की टक्कर होती है, तब बल-प्रयोग द्वारा ही निर्णय होता है। यही कारण है कि पूंजीवादी उत्पादन के इतिहास में काम का दिन कितना लंबा हो, इस प्रश्न का निर्णय एक संघर्ष के द्वारा होता है, जो संघर्ष सामूहिक पूंजी अर्थात् पूंजीपतियों के वर्ग और सामूहिक श्रम अर्थात् मज़दूर वर्ग के बीच चलता है।

अनुभाग २ – बेशी श्रम का मोह। कारख़ानेदार और सामंत

बेशी श्रम का आविष्कार पूंजी ने नहीं किया है। जहां कहीं समाज के एक भाग का उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार होता है, वहां मज़दूर को, वह स्वतंत्र हो या न हो, अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितने समय तक ज़रूरी तौर पर काम करना होता है, उसके अलावा उसे उत्पादन के साधनों के स्वामियों के जीवन-निर्वाह के साधन तैयार करने के लिए कुछ अतिरिक्त समय भी काम करना पड़ता है।[41] उत्पादन के साधनों का यह स्वामी एथेंस का καλός κἀγαθός [अभिजात] है, या प्राचीन इत्रुरिया के धर्मतंत्र का शासक है, civis Romanus [रोमन नागरिक] है या नॉर्मन सामंत, अमरीकी ग़ुलामों का मालिक है या वैलेशिया का श्रीमंत, या आधुनिक ज़मींदार अथवा पूंजीपति है, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता।[42] किंतु यह

था, जो हमारे इस मज़दूर के उपरोक्त वक्तव्य से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। इस घोषणापत्र में हल्के व्यंग्य के साथ इस बात का भी ज़िक्र था कि राजगीरों को नौकर रखनेवाले मालिकों में जो सबसे बड़ा मुनाफ़ाख़ोर है, वह सर एम० पेटो नाम का व्यक्ति अपने साधुपन के लिए विख्यात है। (१८६७ के बाद इस पेटो का वही अंत हुआ, जो स्ट्रूज़बेर्ग का हुआ था।)

[41] "जो लोग श्रम करते हैं, वे... वास्तव में अपना... और पेंशन पानेवालों का (जो कि धनी कहलाते हैं) – दोनों का – पेट भरते हैं।" (Edmund Burke, *Thoughts and Details on Scarcity*, London, 1800, pp. 2, 3.)

[42] नीबूर ने अपने *Römische Geschichte* में बड़े ही भोलेपन के साथ लिखा है: "यह बात स्पष्ट है कि प्राचीन इत्रुरिया के जैसे निर्माण-कार्य, जिनके ध्वंसावशेष भी हमें आश्चर्यचकित कर देते हैं, यहां के छोटे-छोटे (!) राज्यों में सामंतों और भूदासों का होना आवश्यक बनाते हैं।" सिस्मोंदी ने इसकी अपेक्षा अधिक सूझबूझ का परिचय दिया है। उसने लिखा है कि "ब्रसेल्स की लेस" केवल मज़दूरों से काम लेनेवाले मालिकों और मज़दूरी पर काम करनेवाले दासों के समाज में ही तैयार हो सकती थी।

बात स्पष्ट है कि समाज की किसी भी ऐसी आर्थिक व्यवस्था में, जिसमें पैदावार के विनिमय-मूल्य का नहीं, बल्कि उसके उपयोग-मूल्य का प्रधान महत्त्व होता है, वहां आवश्यकताओं की एक छोटी या बड़ी निश्चित संख्या ही होती है, और यह संख्या बेशी श्रम को सीमित कर देती है; ऐसे किसी भी समाज में स्वयं उत्पादन के स्वरूप से बेशी श्रम की कोई ऐसी प्यास नहीं पैदा हो सकती, जो कभी बुझ न सके। चुनांचे प्राचीन काल में लोगों से अत्यधिक काम लेने की प्रथा केवल उसी समय भयानक रूप धारण करती थी, जब उसका उद्देश्य विशिष्ट एवं स्वतंत्र द्रव्य-रूप में विनिमय-मूल्य प्राप्त करना होता था, यानी केवल सोने और चांदी के उत्पादन में ही अत्यधिक परिश्रम कराने की प्रथा भयंकर रूप धारण करती थी। सोने और चांदी के उत्पादन में श्रम करनेवालों से इस बुरी तरह काम लेना कि वे मेहनत करते-करते मर जायें, एक जानी और मानी हुई बात थी: इसके लिए केवल सिसिली के दिओदोरस की रचना को पढ़कर देखिये, पूरा हाल मालूम हो जायेगा।[43] फिर भी प्राचीन काल में ये बातें अपवादस्वरूप थीं। लेकिन जैसे ही कोई ऐसी कौम, जिसका उत्पादन अभी तक दास-श्रम, भू-दास-श्रम, आदि की निम्न अवस्थाओं में ही है, ऐसी अंतर्राष्ट्रीय मंडी के भंवर में खिंच आती है, जिसमें उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का बोलबाला है, और जब निर्यात के लिए तैयार की गयी पैदावार की बिक्री करना ही उसका प्रधान उद्देश्य हो जाता है, तो वैसे ही दास-प्रथा, सामंती काल की भूदास-प्रथा, आदि की बर्बर विभीषिकाओं के साथ अत्यधिक परिश्रम की सभ्य विभीषिका भी आकर जुड़ जाती है। इसीलिए अमरीकी संघ के दक्षिणी राज्यों में जब तक उत्पादन का मुख्य उद्देश्य तात्कालिक स्थानीय उपभोग था, तब तक वहां के हबशियों से जिस तरह काम लिया जाता था, उसका स्वरूप कुछ-कुछ पितृसत्तात्मक ढंग का था। लेकिन जिस अनुपात में कपास का निर्यात इन राज्यों का प्रधान उद्देश्य बनता गया, उसी अनुपात में हबशियों से अत्यधिक काम लेना और कभी-कभी तो उनकी पूरी ज़िंदगी को ७ साल के परिश्रम में चूस डालना एक स्वार्थ पर आधारित और पाई-पाई का हिसाब रखनेवाली व्यवस्था का अंग बनता गया। तब श्रम करनेवाले से उपयोगी पैदावार की एक निश्चित मात्रा प्राप्त करने का सवाल नहीं रह गया था। तब तो ख़ुद बेशी श्रम के उत्पादन का सवाल पैदा हो गया था। सामंती काल की हरी-प्रथा के साथ भी यही हुआ, जैसा कि डेन्यूब प्रदेश की रियासतों में देखने में आया (जो अब रूमानिया कहलाते हैं)।

डेन्यूब प्रदेश की रियासतों में बेशी श्रम का जो मोह देखने में आया था, उसकी अंग्रेज़ी फ़ैक्टरियों में पाये जानेवाले उसी प्रकार के मोह से तुलना करना विशेष रूप से रोचक है, क्योंकि हरी-प्रथा में बेशी श्रम का एक स्वतंत्र तथा इंद्रियगोचर रूप होता है।

मान लीजिये कि काम के दिन में ६ घंटे आवश्यक श्रम के हैं और ६ घंटे बेशी श्रम के।

---

[43] ("मिस्र, ईथियोपिया और अरब के बीच पायी जानेवाली सोने की खानों में काम करनेवाले) इन अभागों को देखकर कोई भी उनकी दीन दशा पर तरस खाये बिना नहीं रह सकता। ये लोग अपनी देह तक को साफ़ नहीं रख सकते और न ही अपनी नग्नता को छिपाने के लिए कपड़े जुटा सकते हैं। यहां न तो बीमार का कोई ख़याल किया जाता है और न कमज़ोर का; यहां न तो बुढ़ापे पर रहम खाया जाता है और न औरत की शारीरिक दुर्बलता पर। यहां तो कोड़ों की मार के नीचे सबको उस वक़्त तक काम करते रहना पड़ता है, जब तक कि मौत आकर तमाम यातनाओं और पीड़ाओं से छुटकारा नहीं दिला देती।" (*Diodor's von Sicilien Historische Bibliothek*, [Stuttgart, 1828], Buch 3, cap. 13, [S. 260.])

इसका मतलब यह हुआ कि स्वतंत्र मजदूर हर सप्ताह पूंजीपति को ६ × ६, या ३६ घंटे का बेशी श्रम देता है। यह वैसी ही बात है, जैसे वह सप्ताह में ३ दिन अपने लिए और ३ दिन पूंजीपति के लिए मुफ़्त काम करता हो। लेकिन यह बात खुले तौर पर दिखायी नहीं देती। बेशी श्रम और आवश्यक श्रम एक दूसरे में घुले-मिले रहते हैं। इसलिए इसी संबंध को मैं, मिसाल के लिए, यह कहकर भी व्यक्त कर सकता हूं कि मजदूर हर मिनट में ३० सेकंड अपने लिए काम करता है और ३० सेकंड पूंजीपति के लिए; वग़ैरह, वग़ैरह। सामंती काल की हरी-प्रथा की बात दूसरी है। वैलेशिया का किसान ख़ुद अपने जीवन-निर्वाह के लिए जो आवश्यक श्रम करता है, वह उस बेशी श्रम से बिल्कुल साफ़ तौर पर अलग होता है, जो वह अपने सामंत के लिए करता है। अपने लिए वह ख़ुद अपने खेत पर श्रम करता है और सामंत के लिए सामंत के खेतों पर। इसलिए उसके श्रम-काल के दोनों भागों का साथ-साथ और अलग-अलग स्वतंत्र अस्तित्व होता है। हरी-प्रथा में बेशी श्रम को बिल्कुल सही तौर पर आवश्यक श्रम से अलग कर दिया जाता है। लेकिन जहां तक आवश्यक श्रम के साथ बेशी श्रम के परिमाणात्मक संबंध का प्रश्न है, इससे कोई अंतर नहीं पड़ सकता। सप्ताह में तीन दिन का बेशी श्रम, वह चाहे हरी कहलाये या मज़दूरी, तीन दिन का श्रम ही रहता है, जिसके समतुल्य के रूप में ख़ुद मजदूर को कुछ नहीं मिलता। लेकिन पूंजीपति में बेशी श्रम का मोह जहां काम के दिन का अधिक से अधिक विस्तार करने के रूप में प्रकट होता है, वहां सामंत में वह सीधे-सीधे हरी के दिनों की संख्या को बढ़ाने के अधिक सरल रूप में ज़ाहिर होता है।[44]

डेन्यूब प्रदेश में हरी जिंस के रूप में वसूल किये जानेवाले लगान तथा बंधुआ प्रथा के अन्य उपांगों के साथ घुली-मिली रहती थी, परंतु शासक वर्ग को दिये जानेवाले ख़िराज का अधिकांश हरी के रूप में होता था। जहां कहीं ऐसी स्थिति थी, वहां पर हरी-प्रथा कदाचित् ही भूदास-प्रथा से उत्पन्न हुई थी। इसके विपरीत ऐसी जगहों में बहुधा भूदास-प्रथा का जन्म हरी-प्रथा से हुआ था।[44a] रूमानियन प्रांतों में यही हुआ था। इन प्रांतों में उत्पादन की मूल पद्धति सामूहिक भूसंपत्ति पर तो आधारित थी, पर वह स्लाव अथवा हिंदुस्तानी रूप के अनुरूप नहीं थी। भूमि के एक भाग को समाज के सदस्य निजी भूमि के रूप में अलग-अलग जोतते थे;

---

[44] इसके बाद जो कुछ लिखा गया है, वह क्रीमिया के युद्ध के बाद के उत्पन्न परिवर्तनों के पहले रूमानियन प्रांतों की स्थिति से संबंध रखता है।

[44a] यह बात जर्मनी और ख़ास कर प्रशा के एल्ब नदी के पूर्व के भाग के लिए भी सच है। १५ वीं सदी में जर्मनी का किसान लगभग हर जगह एक ऐसा आदमी था, जिसको पैदावार तथा श्रम के रूप में कुछ लगान तो जरूर देना पड़ता था, पर वैसे, कम से कम व्यवहार में, वह स्वतंत्र था। ब्रैंडनबुर्ग, पोमेरानिया, साइलीशिया और पूर्वी प्रशा में नये-नये आकर बसे हुए जर्मन लोग तो क़ानून की नज़रों में भी स्वतंत्र व्यक्ति माने जाते थे। किसानों के युद्ध में अभिजात वर्ग की विजय होने से यह बात ख़त्म हो गयी। उसके फलस्वरूप न सिर्फ़ दक्षिणी जर्मनी के युद्ध में पराजित होनेवाले किसान फिर से ग़ुलाम हो गये, बल्कि १६ वीं सदी के मध्य से पूर्वी प्रशा, ब्रैंडनबुर्ग, पोमेरानिया और साइलीशिया के और उसके बाद शीघ्र ही श्लेस्विग-होल्सटाइन के स्वतंत्र किसान भी भूदासों की अवस्था को पहुंच गये। (Maurer, *Geschichte der Fronhöfe, der Bauernhöfe und Hofverfassung in Deutschland*, Bd. IV; Meitzen, *Der Boden und die landwirtschaftlichen Verhältnisse des Preussischen Staates nach dem Gebietsumfange vor 1866;* Hanssen, *Leibeigenschaft in Schleswig-Holstein.*) – फ़े० एं०।

एक और भाग, जो ager publicus [सार्वजनिक भूमि] कहलाता था, वे सब मिलकर जोतते थे। इस सामूहिक श्रम से जो पैदावार होती थी, वह आंशिक रूप से तो बुरी फ़सल या कोई और दुर्घटना हो जाने पर सुरक्षित कोष का काम देती थी और आंशिक रूप में युद्ध, धर्म तथा अन्य सामूहिक कामों का ख़र्च चलाने के लिए सार्वजनिक भंडार का काम करती थी। समय बीतने के साथ-साथ सैनिक तथा धार्मिक अधिकारियों ने सामूहिक भूमि के साथ-साथ उसपर ख़र्च किये जानेवाले श्रम को भी हथिया लिया। स्वतंत्र किसान अपनी सामूहिक भूमि पर जो श्रम करते थे, वह सामूहिक भूमि चुरानेवालों के लिए की जानेवाली हरी में बदल गया। यह हरी-प्रथा विकसित होकर शीघ्र ही दासता के संबंध में परिणत हो गयी, जिसका वास्तव में तो अस्तित्व था, पर क़ानूनी तौर पर उस वक़्त तक नहीं था, जब तक कि संसार के मुक्तिदाता – रूस – ने भूदास-प्रथा का अंत करने के बहाने उसे क़ानूनी नहीं क़रार दे दिया। १८३१ में रूसी जनरल किसेल्योव ने हरी-प्रथा के जिस नियम-संग्रह की घोषणा की, ज़ाहिर है, ख़ुद सामंतों ने ही उसका आदेश दिया था। इस प्रकार रूस ने एक ही झटके में डेन्यूब प्रदेश के प्रांतों के धनिकों को भी जीत लिया और सारे यूरोप के उदारपंथी भोंदुओं की कृतज्ञता भी प्राप्त कर ली।

हरी-प्रथा के इस नियम-संग्रह का नाम था *Règlement organique*, उसके अनुसार वैलेशिया के प्रत्येक किसान को अपने तथाकथित ज़मींदार को जिंस के रूप में तरह-तरह के अनेक छोटे-छोटे करों के अलावा १) १२ दिन का साधारण श्रम, २) १ दिन का खेत का श्रम और ३) १ दिन का लकड़ी ढोने का श्रम देना पड़ता है। यानी कुल मिलाकर साल में १४ दिन का श्रम। लेकिन राजनीतिक अर्थशास्त्र की गूढ़ समझ का परिचय देते हुए यहां काम के दिन का साधारण अर्थ नहीं लगाया जाता, बल्कि एक औसत दैनिक उत्पाद के उत्पादन के लिए जितना समय आवश्यक होता है, वह काम का एक दिन माना जाता है। और यह औसत दैनिक उत्पाद इतनी चालाकी के साथ निर्धारित किया जाता है कि कोई साईक्लोप भी उसे २४ घंटे में न पैदा कर पाये। स्वयं इस नियम-संग्रह में सच्चे रूसी व्यंग्य का प्रदर्शन करते हुए बड़े नपे-तुले शब्दों में यह बता दिया गया है कि काम के १२ दिनों का मतलब ३६ दिन के हाथ के श्रम का उत्पाद है, १ दिन के खेत के श्रम का अर्थ ३ दिन का श्रम है और इसी प्रकार १ दिन के लकड़ी ढोने के श्रम का अर्थ तीन दिन का श्रम है। दूसरे शब्दों में, कुल मिलाकर ४२ दिन की हरी करनी पड़ती है। इसमें तथाकथित "Jobagie" और जोड़नी पड़ेगी। असाधारण अवसरों पर सामंत की जो चाकरी बजानी पड़ती है, यह उसका नाम है। प्रत्येक गांव को हर वर्ष अपनी जनसंख्या के अनुपात में एक निश्चित तादाद में लोगों को इस प्रकार की सेवा के लिए देना पड़ता है। अनुमान किया जाता है कि वैलेशिया के हरेक किसान के मत्थे इस अतिरिक्त हरी के १४ दिन पड़ते हैं। इस प्रकार नियम के अनुसार प्रत्येक किसान को वर्ष में ५६ दिन हरी की नज़र करने पड़ते हैं। लेकिन वैलेशिया में मौसम बहुत ख़राब होने के कारण, जहां तक खेती का संबंध है, वर्ष केवल २१० दिन का होता है, जिनमें से ४० दिन इतवार के या उत्सवों के होते हैं और औसतन ३० दिन बुरे मौसम के कारण ज़ाया हो जाते हैं। यानी इस तरह २१० में ७० दिन गिने नहीं जाते। बचते हैं १४० दिन। इसलिए आवश्यक श्रम के साथ हरी का अनुपात होता है $\frac{५६}{८४}$, या ६६$\frac{२}{३}$ प्रतिशत। बेशी मूल्य की यह दर उस दर से कहीं नीची है जो इंगलैंड के खेतिहर मज़दूर या फ़ैक्टरी-मज़दूर के श्रम का नियमन

करती है। किंतु यह तो केवल क़ानूनी हरी हुई। *Règlement organique* ने इंगलैंड के फ़ैक्टरी-क़ानूनों से भी अधिक "उदार" भावना के साथ ख़ुद अपने से बचने के सुगम साधन प्रस्तुत कर रखे हैं। १२ दिन के ५६ दिन बनाने के बाद वह हरी के ५६ दिन में से प्रत्येक दिन के काम की इस तरह व्यवस्था करता है कि वह उसी दिन समाप्त न हो और उसका एक हिस्सा अगले रोज़ तक चले। मिसाल के लिए, एक दिन में एक निश्चित क्षेत्रफल की भूमि की निराई करनी पड़ती है। इस काम को पूरा करने के लिए, ख़ास कर मक्का के खेतों में, इसका दुगुना समय चाहिए। खेती में कुछ तरह के श्रम के लिए क़ानूनी दिन का इस तरह अर्थ लगाया जाता है कि दिन मई में शुरू होकर अक्तूबर में ख़त्म होता है। मोल्दाविया में इससे भी अधिक कठिन स्थिति है। एक सामंत ने विजयोन्मत्त होकर कहा था: "*Règlement organique* के हरी के १२ दिन साल में ३६५ दिन के बराबर होते हैं।"[45]

यदि डेन्यूब प्रदेश के प्रांतों का *Règlement organique* बेशी श्रम के लोभ की सकारात्मक अभिव्यंजना था, जिसको उसके प्रत्येक पैरा ने क़ानूनी मान्यता प्रदान की, तो इंगलैंड के फ़ैक्टरी-क़ानूनों को उसी लोभ की नकारात्मक अभिव्यंजना समझना चाहिए। ये क़ानून पूंजीपतियों तथा ज़मींदारों द्वारा शासित राज्य के बनाये हुए कुछ राजकीय नियमों के ज़रिये काम के दिन की लंबाई पर जबर्दस्ती सीमा लगाकर श्रम-शक्ति को अंधाधुंध चूसने की पूंजी की प्रवृत्ति पर रोक लगाते हैं। उस मज़दूर आंदोलन के अलावा, जो दिन प्रति दिन अधिक डरावना रूप धारण करता जा रहा है, कारख़ानों के मज़दूरों के श्रम को सीमित करना उसी तरह आवश्यक हो गया था, जिस तरह इंगलैंड के खेतों में guano [बनावटी खाद] का प्रयोग करना। खेती में लालच से अंधी जिस लूट ने धरती की उर्वरता को नष्ट कर दिया था, उसी ने उद्योग में राष्ट्र की जीवंत शक्ति को मानो जड़ से उखाड़ दिया था। इंगलैंड में समय-समय पर फैलनेवाली महामारियां इसका उतना ही स्पष्ट प्रमाण हैं, जितना कि जर्मनी और फ़्रांस में सैनिकों का घटता क़द।[46]

---

[45] इसके और विस्तृत वर्णन के लिए देखिये E. Regnault, *Histoire politique et sociale des Principautés Danubiennes*, Paris, 1855, [p. 304 sq.]

[46] "यदि किसी प्रजाति के जीव अपनी प्रजाति के औसत आकार से अधिक बड़े होते हैं, तो आम तौर पर और कुछ सीमाओं के भीतर यह उनके फूलने-फलने का प्रमाण होता है। जहां तक मनुष्य का संबंध है, यदि किन्हीं भौतिक अथवा सामाजिक कारणों से उसका जितना विकास होना चाहिए, उतना नहीं होता, तो उसका शारीरिक क़द कम हो जाता है। यूरोप के उन सभी देशों में, जिनमें सैनिक सेवा अनिवार्य है, इस नियम पर अमल शुरू होने के समय की अपेक्षा अब वयस्क पुरुषों का औसत क़द कम हो गया है और सैनिक सेवा के लिए उनकी सामान्य योग्यता का स्तर गिर गया है। क्रांति (१७८९) के पहले फ़्रांस में पैदल सेना में भरती होने के लिए आवश्यक अल्पतम क़द १६५ सेंटीमीटर था, १८१८ में (१० मार्च के क़ानून द्वारा) उसे १५७ सेंटीमीटर कर दिया गया, और २१ मार्च १८३२ के क़ानून के अनु-सार उसे १५६ सेंटीमीटर में बदल दिया गया। फ़्रांस में औसतन आधे से ज़्यादा आदमी क़द कम होने या शारीरिक दुर्बलता के कारण फ़ौज में भरती नहीं किये जाते। १७८० में सेक्सोनी में सैनिक के लिए न्यूनतम क़द १७८ सेंटीमीटर था। अब वह १५५ सेंटीमीटर है। प्रशा में वह १५७ सेंटीमीटर है। ९ मई १८६२ के बवेरियन अख़बार *Bayerische Zeitung* में डा० मायेर का एक बयान छपा है। उसमें बताया गया है कि ९ वर्ष के औसत का यह परिणाम है कि प्रशा में जो आदमी अनिवार्य भरती में बुलाये जाते हैं, उनमें एक हज़ार में से ७१६ आदमी सैनिक सेवा के अयोग्य होते हैं,—३१७ क़द कम होने के कारण और ३९९ शारीरिक

१८५० का फ़ैक्टरी-अधिनियम, जो आजकल (१८६७ में) लागू है, औसतन १० घंटे के काम के दिन की इजाज़त देता है; यानी पहले पांच दिन सुबह ६ बजे से शाम के ६ बजे तक १२ घंटे काम कराया जा सकता है, जिनमें आधे घंटे की नाश्ते की और एक घंटे की खाने की छुट्टी शामिल होती है, और इस तरह $१०\frac{१}{२}$ घंटे काम के बचते हैं, और शनिवार को सुबह छः बजे से तीसरे पहर २ बजे तक ८ घंटे काम कराया जा सकता है, जिनमें से आधा घंटा नाश्ते के लिए होता है। इस तरह काम के कुल ६० घंटे बचते हैं,—पहले पांच दिन $१०\frac{१}{२}$ घंटे रोज़ाना और आख़िरी दिन $७\frac{१}{२}$ घंटे।[47] इन क़ानूनों के कुछ संरक्षक नियुक्त कर दिये गये हैं, जो फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर कहलाते हैं। ये लोग सीधे गृहमंत्री के मातहत काम करते हैं, और संसद के आदेशानुसार हर छमाही को उनकी रिपोर्टें प्रकाशित होती हैं। इन रिपोर्टों में बेशी श्रम के पूंजीवादी लोभ के नियमित एवं सरकारी आंकड़े मिल जाते हैं।

अब ज़रा इन फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की बात सुनिये।[48] "बेईमान मिल-मालिक सुबह को छः बजने के पंद्रह मिनट (कभी इससे कुछ कम, कभी इससे कुछ ज़्यादा) पहले काम शुरू करा देता है और शाम को ६ बजने के पंद्रह मिनट (कभी इससे कुछ कम, कभी इससे कुछ ज़्यादा) बाद मज़दूरों को छोड़ता है। नाश्ते के वास्ते मज़दूरों को बराय नाम जो आधा घंटा दिया जाता है, उसमें से वह ५ मिनट शुरू में और ५ मिनट अंत में काट लेता है; और खाने के वास्ते जो नाम मात्र का एक घंटा मिलता है, उसमें से वह १० मिनट शुरू में और १० मिनट

दोषों के कारण... १८५८ में बर्लिन को जितने रंगरूट देने चाहिए थे, वह नहीं दे सका। उनमें १५६ आदमियों की कमी रह गयी।" (J. von Liebig, *Die Chemie in ihrer Anwendung auf Agrikultur und Physiologie*, 7 Aufl., 1862, Band I, S. 117, 118.)

[47] १८५० के फ़ैक्टरी-अधिनियम का इतिहास इसी अध्याय में आगे मिलेगा।

[48] इंगलैंड में आधुनिक उद्योगों के आरंभ से १८४५ तक के काल का मैं जहां-तहां थोड़ा सा ज़िक्र भर करूंगा। इस काल की जानकारी हासिल करने के लिए मैं पाठक को फ़ेडरिक एंगेल्स की कृति *Die Lage der arbeitenden Klasse in England* (Leipzig, 1845) पढ़ने की सलाह दूंगा। उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की एंगेल्स को कितनी मुकम्मिल समझ थी, इसका प्रमाण उन फ़ैक्टरी-रिपोर्टों, खानों की रिपोर्टों, आदि में मिलता है, जो १८४५ से अब तक प्रकाशित हुई हैं। और मज़दूरों की हालत की छोटी से छोटी बातों का भी एंगेल्स ने कितना चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है, यह उनकी पुस्तक का बाल-सेवायोजन आयोग की उन सरकारी रिपोर्टों से बहुत सतही ढंग से मुक़ाबला करने पर भी मालूम हो जाता है, जो उसके १८-२० बरस बाद (१८६३-१८६७ में) प्रकाशित हुई थीं। ये रिपोर्टें ख़ास तौर पर उद्योग की उन शाखाओं से संबंध रखती हैं, जिनपर फ़ैक्टरी-क़ानून १८६२ तक लागू नहीं हुए थे और जिनपर सच पूछिये, तो वे आज तक लागू नहीं हो पाये हैं। इसलिए उद्योग की इन शाखाओं की जिन परिस्थितियों का एंगेल्स ने वर्णन किया था, उनमें अधिकारियों के हस्तक्षेप से कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, और यदि हुआ है, तो नहीं के बराबर। मैंने अपनी ज़्यादातर मिसालें १८४८ के बाद के उस स्वतंत्र व्यापार के युग से ली हैं, उस स्वर्गिक युग से ली हैं, जिसके विषय में स्वतंत्र व्यापार की बड़ी फ़र्म के वे फेरीवाले, जो जितने जाहिल हैं, उतने ही कल्लादराज भी, इतनी लंबी-लंबी हांकते हैं कि ज़मीन-आसमान एक कर देते हैं। बाक़ी यहां पर यदि इंगलैंड पर सबसे अधिक ज़ोर दिया गया है, तो केवल इसलिए कि वह पूंजीवादी उत्पादन का सर्वमान्य प्रतिनिधि है और केवल उसी के पास उन चीज़ों के आंकड़ों का एक सतत क्रम मौजूद है, जिनपर हम यहां विचार कर रहे हैं।

अंत में काट लेता है। शनिवार को वह तीसरे पहर के २ बजने के पंद्रह मिनट बाद तक (कभी इससे कुछ कम, कभी इससे कुछ ज्यादा देर तक) काम कराता रहता है। इस प्रकार वह इतना श्रम मुफ़्त में पा जाता है:

सुबह ६ बजे के पहले	१५ मिनट
शाम को ६ बजे के बाद	१५ मिनट
नाश्ते के समय	१० मिनट
खाने के समय	२० मिनट
	६० मिनट

पांच दिन में – ३०० मिनट

शनिवार को सुबह ६ बजे के पहले . .	१५ मिनट
नाश्ते के समय	१० मिनट
तीसरे पहर २ बजे के बाद	१५ मिनट
	४० मिनट
पूरे सप्ताह में .	३४० मिनट

यानी ५ घंटे और ४० मिनट प्रति सप्ताह, जिसे यदि वर्ष के ५० सप्ताहों से गुणा कर दिया जाये (दो सप्ताह हम उत्सवों के और कभी-कभार काम बंद हो जाने के छोड़ देते हैं), तो वह कुल २७ काम के दिन के बराबर होता है।"[49]

"यदि प्रति दिन पांच मिनट ज्यादा काम लिया जाये, तो सप्ताहों से गुणा करने पर वह साल भर में ढाई दिन के उत्पाद के बराबर हो जाता है।"[50] "सुबह को छः बजने के पहले, शाम को छः बजे के बाद और जो समय सामान्य रूप से नाश्ते तथा भोजन के लिए नियत होता है, उसके आरंभ में और अंत में थोड़ा-थोड़ा करके यदि कुल एक अतिरिक्त घंटा पा लिया जाता है, तो वह साल में लगभग १३ महीने काम लेने के बराबर हो जाता है।"[51]

संकट के समय उत्पादन बीच में रुक जाता है, और फ़ैक्टरियां "कम समय", यानी सप्ताह के एक हिस्से के लिए ही, काम करने लगती हैं। परंतु इन संकटों से, ज़ाहिर है, काम के दिन को अधिक से अधिक लंबा कर देने की प्रवृत्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कारण कि व्यवसाय जितना मंद पड़ जाता है, किये जानेवाले कारबार से उतना ही ज्यादा मुनाफ़ा बनाना ज़रूरी हो जाता है। काम में जितना कम समय ख़र्च होता है, उसके उतने ही अधिक भाग को बेशी श्रम-काल में बदल देना आवश्यक हो जाता है।

---

[49] *Suggestions etc. by Mr. L. Horner, Inspector of Factories*, देखिये *Factories Regulation Acts. Ordered by the House of Commons to be printed, 9th August 1859*, pp. 4, 5.

[50] *Reports of the Inspector of Factories for the half year, October 1856*, p. 35.

[51] *Reports etc., 30th April 1858*, p. 9.

चुनांचे १८५७ से १८५८ तक जो संकट का काल आया था, उसके बारे में फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर की रिपोर्ट में कहा गया है:

"यह एक असंगत सी बात प्रतीत हो सकती है कि जिन दिनों व्यापार की दशा इतनी बुरी हो, उन दिनों कहीं पर निश्चित घंटों से ज्यादा मज़दूरों से काम कराया जाये। लेकिन व्यापार की इस बुरी हालत के ही कारण बेईमान लोग उससे अनुचित लाभ उठाते हैं, अतिरिक्त मुनाफ़ा कमाते हैं..." लेनर्ड हॉर्नर ने बताया है कि "पहले छः महीनों में मेरे ज़िले में १२२ मिलों को छोड़ दिया गया है, १४३ बंद पड़ी हैं" और फिर भी मज़दूरों से क़ानूनी तौर पर निश्चित समय से अधिक काम लिया जाता है।[52] मि० हॉवेल ने बताया है: "ज्यादातर समय तो व्यापार की मंदी के कारण बहुत सी फ़ैक्टरियां एकदम बंद पड़ी रहीं और उनसे भी अधिक फ़ैक्टरियां कम समय काम करने लगीं। लेकिन इसकी शिकायतें मेरे पास अब भी पहले जितनी ही आती रहती हैं कि क़ानूनी तौर पर जो समय मज़दूरों के विश्राम करने तथा भोजन के लिए नियत है, उसमें हेरा-फेरी से दिन भर में आधे घंटे या पौने घंटे तक का उनका समय छीन लिया जाता है।"[53] "१८६१ से १८६५ तक कपास का जो भयानक संकट आया था, उस वक़्त भी यही बात कुछ छोटे पैमाने पर देखने में आयी थी।[54] "जब किसी फ़ैक्टरी में लोग भोजन के समय या किसी और ग़ैर-क़ानूनी समय पर काम करते हुए पाये जाते हैं, तो कभी-कभी यह बहाना बनाया जाता है कि क्या किया जाये, ये लोग नियत समय पर मिल के बाहर नहीं निकलते, और ख़ास तौर पर शनिवार को तीसरे पहर के वक़्त इन लोगों को काम (अपनी मशीनें साफ़ करने, आदि का काम) बंद करने के वास्ते मजबूर करने के लिए उनके साथ जबर्दस्ती करनी पड़ती है। मशीन बंद हो जाने के बाद भी मज़दूर फ़ैक्टरी में ही काम करते रहते हैं, पर... अगर मशीनें साफ़ करने, आदि के लिए या तो सुबह छः बजे के पहले (जी हां!) या शनिवार को तीसरे पहर के २ बजे के पहले काफ़ी समय अलग कर दिया जाता, तो मज़दूरों से इस तरह का काम न लेना पड़ता।"[55]

---

[52] *Reports etc., 30th April 1858*, p. 10.

[53] *Reports etc.*, l. c., p. 25.

[54] *Reports etc., for the half year ending 30th April 1861.* देखिये *Reports etc., 31st October 1862* का परिशिष्ट नं०२, पृ० ७, ५२, ५३। १८६३ की दूसरी छमाही में फ़ैक्टरी-क़ानूनों का अतिक्रमण करनेवाली घटनाओं की संख्या बहुत बढ़ गयी। देखिये *Reports etc., ending 31st October 1863*, p. 7.

[55] *Reports etc., 31st October 1860*, p. 23. अदालतों के सामने कारख़ानेदारों द्वारा दिये हुए बयानों के अनुसार, यदि मज़दूरों के श्रम को बीच में रोकने की कोई भी कोशिश की जाती है, तो मज़दूर एकदम बौखलाकर उसका विरोध करते हैं। एक विचित्र उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। जून १८३६ के आरंभ में ड्यूज़बरी (यॉर्कशायर) के मजिस्ट्रेटों को सूचना मिली कि बेटले के आसपास की ८ बड़ी मिलों के मालिकों ने फ़ैक्टरी-क़ानूनों को तोड़ा है। इनमें से कुछ महानुभावों पर यह आरोप लगाया गया था कि उन्होंने १२ वर्ष से लेकर १५ वर्ष तक की उम्र के ५ लड़कों से शुक्रवार को सुबह ६ बजे आरंभ करके शनिवार को शाम के चार बजे तक काम लिया और उनको भोजन करने का समय तथा आधी रात को एक घंटा सोने का समय छोड़कर और एक भी मिनट आराम करने के लिए नहीं दिया। और इन बच्चों को ३० घंटे का यह अनवरत श्रम "रद्दी घर" के अंदर करना पड़ा। "रद्दी घर" उस छोटी सी कोठरी को कहते हैं, जिसमें ऊन के फटे-पुराने कपड़ों को फाड़-फाड़कर छोटे-छोटे चिथड़े बनाये जाते हैं और जहां की हवा धूल और ऊन के रेशों, वग़ैरह

"इससे (फ़ैक्टरी-क़ानूनों को तोड़कर मज़दूरों से ज़्यादा समय तक काम लेने से) जो नफ़ा होता है, वह बहुतों के लिए इतने बड़े लालच की चीज़ है कि वे उसके मोह का संवरण नहीं कर सकते। वे सोचते हैं कि मुमकिन है कि वे पकड़ में न आयें; और जब वे यह देखते हैं कि जो लोग पकड़े जाते हैं, उनको भी जुर्माने और ख़र्चे के तौर पर बहुत थोड़े पैसे देने पड़ते हैं, तो वे सोचते हैं कि अगर पकड़े भी गये, तब भी फ़ायदे में ही रहेंगे...[56] जिन कारख़ानों में दिन भर में कई बार छोटी-छोटी चोरियां करके अतिरिक्त समय कमाया जाता है, उनके ख़िलाफ़ मुक़दमा दायर करने और इलज़ाम साबित करने में इंस्पेक्टरों को ऐसी-ऐसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिनपर क़ाबू पाना उनके लिए असंभव हो जाता है।"[57]

पूंजी मज़दूरों के भोजन तथा विश्राम करने के समय की जो ये "छोटी-छोटी चोरियां" करती है, उनको फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर "मिनटों की छोटी-मोटी चोरियां",[58] "चंद मिनट मार लेना"[59] या, जैसा कि ख़ुद मज़दूर अपनी ख़ास बोली में कहते हैं, "भोजन का समय कुतर-कुतरकर चुरा लेना"[60] नामों से भी पुकारते हैं।

यह बात साफ़ है कि इस वातावरण में बेशी श्रम द्वारा बेशी मूल्य का निर्माण कोई गुप्त बात नहीं होती। "यदि आप दिन भर में केवल दस मिनट तक मुझे मज़दूरों से ज्यादा काम लेने की इजाज़त दे दें," – एक बहुत ही प्रतिष्ठित मिल-मालिक ने मुझसे कहा था, – "तो आप मेरी जेब में हर साल एक हज़ार पाउंड की रक़म डाल देंगे।"[61] "क्षण मुनाफ़े के तत्त्व होते हैं।"[62]

इस दृष्टि से इससे अधिक लाक्षणिक और कुछ नहीं है कि पूरे वक़्त काम करनेवाले मज़दूरों को "पूर्णकालिक" और १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को, जिनको केवल छः घंटे काम करने की इजाज़त है, "अर्धकालिक" की संज्ञा दी जाती है। यहां मज़दूर मूर्तिमान श्रम-काल के

से इस बुरी तरह भरी रहती है कि वयस्क मज़दूरों को भी अपने फेफड़ों को बचाने के लिए सदा मुंह पर रूमाल बांधे रहना पड़ता है! अभियुक्त महानुभावों को क्वेकरों के समुदाय के मेंबर होने के नाते धार्मिक सिद्धांतों का इतना अधिक ख़याल था कि वे ऐसे मामलों में ईश्वर की सौगंध नहीं खा सकते थे। चुनांचे उन्होंने केवल इस बात की अभिपुष्टि की कि उन्होंने तो इन अभागे बच्चों पर दया करके उनको चार घंटे का समय सोने के लिए दिया था, मगर वे इतने ज़िद्दी थे कि बिस्तर पर लेटने को ही तैयार नहीं हुए। इन क्वेकर महानुभावों पर अदालत ने २० पाउंड का जुर्माना किया। ड्रायडन ने शायद इन्हीं लोगों के बारे में यह लिखा था कि:

"संन्यासी का बाना धारे, खड़ी लोमड़ी मन को मारे!
सत्य-धर्म को शीश नवाये, झूठों की सिरमौर कहाये!
व्रत-उपवास कभी ना टाला, नैनों में संयम की ज्वाला!
जब तक प्रभु-गुणगान न कर ले, पाप-कर्म में हाथ न डाले!"

[56] *Reports etc., 31st October 1856*, p. 34.

[57] l. c., p. 35.

[58] l. c., p. 48.

[59] l. c.

[60] l. c.

[61] l. c.

[62] *Reports of the Insp. etc., 30th April 1860, p. 56.*

सिवा और कुछ नहीं है। अलग-अलग मज़दूरों की तमाम व्यक्तिगत विशेषताएं यहां पर "पूर्ण-कालिकों" और "अर्धकालिकों" में लोप हो जाती हैं।[63]

अनुभाग ३ – अंग्रेज़ी उद्योग की वे शाखाएं, जिनमें शोषण की कोई क़ानूनी सीमा नहीं है

अभी तक हमने उस विभाग में काम के दिन को लंबा खींचने की प्रवृत्ति पर, या मनुष्य-रूपी भेड़ियों की बेशी श्रम की भूख पर, विचार किया है, जहां मज़दूरों को इस भयानक ढंग से चूसा जाता था कि, इंगलैंड के एक बुर्जुआ अर्थशास्त्री के शब्दों में, अमरीका के आदिवासियों पर स्पेनवासियों ने जो अत्याचार ढाये थे, वे भी उससे अधिक निर्दयतापूर्ण नहीं थे।[64] और उसके फलस्वरूप पूंजी को आख़िरकार क़ानूनी प्रतिबंधों की ज़ंजीरों से जकड़ देना पड़ा। आइये, अब हम उत्पादन की उन शाखाओं पर विचार करें, जिनमें श्रम का शोषण या तो आज तक किसी भी प्रकार के प्रतिबंधों से मुक्त है, या अभी कल तक मुक्त था।

१४ जनवरी १८६० को नॉटिंघम के सभा-भवन में एक सभा हुई थी। उसके अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए काउंटी-मजिस्ट्रेट मि० ब्राउटन चार्लटन ने कहा था "कि लेस के व्यापार से संबंध रखनेवाले आबादी के एक हिस्से में ऐसी ग़रीबी और ऐसी कष्टप्रद स्थिति है कि जो राज्य के अन्य भागों में, बल्कि कहना चाहिए कि पूरे सभ्य संसार में और कहीं नहीं पायी जाती... नौ-नौ, दस-दस बरस के बच्चों को सुबह के चार बजे या रात के दो या तीन बजे उनके गंदे बिस्तरों से उठाकर रात के दस, ग्यारह या बारह बजे तक काम करने के लिए मजबूर किया जाता है, और उसके एवज़ में उनको सिर्फ़ इतने पैसे दिये जाते हैं, जिनसे वे मुश्किल से अपना पेट भर पाते हैं। इन बच्चों के अंग दुर्बल होते जाते हैं, अस्थिपंजर सिकुड़ जाते हैं, चेहरे ख़ून की कमी से एकदम सफ़ेद पड़ जाते हैं तथा उनका मनुष्यत्व पूरी तरह एक ऐसी जड़ निद्रा में खो जाता है, जिसके बारे में सोचने से भी डर लगता है... हमें आश्चर्य नहीं है कि मि० मैलट या कोई और कारख़ानेदार इस बहस का विरोध करने के लिए खड़े हो जाते हैं... यह व्यवस्था, जैसा कि रेवरेंड मोंटेगू वेलपी ने इसका वर्णन किया है, सामाजिक, शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से निर्मम दासता की व्यवस्था है... उस शहर के बारे में कोई क्या सोचेगा, जो यह मांग करने के लिए सार्वजनिक सभा करता है

---

[63] फ़ैक्टरियों और इंस्पेक्टरों की रिपोर्टों में, दोनों जगह इन्हीं नामों का अधिकृत रूप से प्रयोग किया जाता है।

[64] "मिल-मालिकों का लालच उन्हें नफ़े के लोभ में डालकर उनसे ऐसे-ऐसे निर्दय काम कराता है कि शायद सोने के लोभ में पड़कर अमरीका को जीतनेवाले स्पेनवासी भी उससे ज़्यादा बेरहमी के काम नहीं कर पाये थे।" (John Wade, *History of the Middle and Working Classes*, 3rd Ed., London, 1835, p. 114.) यह पुस्तक राजनीतिक अर्थ-शास्त्र का एक तरह का गुटका है। और यदि उसके प्रकाशन के समय को ध्यान में रखा जाये, तो उसके सैद्धांतिक भाग के कुछ अंश एकदम नये हैं, मिसाल के लिए, व्यापारिक संकटों से संबंधित हिस्सा। लेकिन पुस्तक के ऐतिहासिक हिस्से में बहुत हद तक सर एफ़० एम० ईडन की रचना *The State of the Poor* (London, 1797) की निर्लज्जतापूर्वक नक़ल की गयी है।

कि पुरुषों का श्रम-काल घटाकर अठारह घंटे कर दिया जाये? ... हम वर्जीनिया और कैरोलाइना के कपास-बाग़ानों के मालिकों को अपने भाषणों में बहुत बुरा-भला कहते हैं। क्या उनका हबशी-व्यापार, उनका कोड़ा और मानव-शरीरों की उनकी बिक्री इस मानव-हत्या से अधिक घृणित है, जो केवल इसलिए धीरे-धीरे की जाती है कि वेइल और कालर तैयार होते रहें और पूंजीपतियों की जेबें भरती जायें?"[65]

पिछले २२ वर्ष में संसद के आदेश पर स्टेफ़र्डशायर के मिट्टी के बर्तन बनाने के कारख़ानों की तीन बार जांच हो चुकी है। जांच का नतीजा मि० स्क्रिवेन की १८४१ की उस रिपोर्ट में निहित है, जो उन्होंने बाल-सेवायोजन आयोग को दी थी; इसका नतीजा डा० ग्रीनहाऊ की १८६० की उस रिपोर्ट में निहित है, जो प्रिवी काउंसिल के मेडिकल अफ़सर के आदेश से प्रकाशित हुई थी (*Public Health, 3rd Report*, I, 102-113.) और अंत में इस जांच का नतीजा मि० लौंग की १८६२ की रिपोर्ट में दर्ज है, जो *Ist Report of the Children's Employment Commission of the 13th June 1863* में प्रकाशित हुई है। मेरे मतलब के लिए १८६० और १८६३ की रिपोर्टों से ख़ुद शोषित बच्चों के बयानों के कुछ अंश उद्धृत कर देना ही काफ़ी होगा। बच्चों की हालत से हम वयस्कों की और ख़ास कर लड़कियों और औरतों की हालत का कुछ अनुमान लगा सकते हैं, और वह भी उद्योग की एक ऐसी शाखा में, जिसके मुक़ाबले में कपास की कताई का उद्योग एक बड़ा आरामदेह और स्वास्थ्यप्रद धंधा प्रतीत होता है।[66]

९ वर्ष के विलियम वुड ने जब काम करना आरंभ किया था, तब उसकी उम्र ७ वर्ष और १० महीने की थी। शुरू से ही वह "सांचे ढोता था" (यानी सांचे में ढली हुई वस्तुओं को सुखाने के कमरे में ले जाता था और फिर ख़ाली सांचों को वहां से वापस लाता था)। हर रोज़ वह सुबह को छः बजे आता था और रात को कोई ९ बजे काम करना बंद करता था। उसने बताया: "हफ़्ते में छः दिन मैं रात को ९ बजे तक काम करता हूं। ७ या ८ हफ़्ते तक मैंने इस तरह काम किया है।" ७ वर्ष के बच्चे से पंद्रह घंटे रोज़ाना की मेहनत! १२ वर्ष के जे० मुरे ने बताया: "मैं मिट्टी छानता हूं और सांचे ढोता हूं। मैं ६ बजे काम पर आता हूं। कभी-कभी ४ बजे ही। कल मैं पूरी रात काम करता रहा – आज सुबह छः बजे तक। मैं परसों रात से बिस्तर पर नहीं लेटा हूं। कल रात ८ या ९ लड़के और काम कर रहे थे। एक को छोड़कर बाक़ी सब आज सुबह भी काम पर आये हैं। मुझे ३ शिलिंग और ६ पेंस मिलते हैं। रात को काम करने के एवज़ में मुझे इससे ज्यादा नहीं मिलता। पिछले सप्ताह मैंने दो रात काम किया था।" फ़ेर्नीहाऊ नामक दस वर्ष के एक बालक ने बताया: "(भोजन के लिए) मुझे हमेशा एक घंटा नहीं मिलता। कभी-कभी, जैसे बृहस्पतिवार, शुक्रवार और शनिवार को, केवल आधा घंटा ही मिलता है।"[67]

डा० ग्रीनहाऊ ने बताया है कि स्टोक-आन-ट्रेंट और वॉल्सटेंटन नामक मिट्टी के बर्तन बनाने-

---

[65] *Daily Telegraph*, 17th January 1860.

[66] देखिये F. Engels, *Lage der arbeitenden Klasse in England*, Leipzig, 1845, S. 249-251.

[67] *Children's Employment Commission, Ist Report etc.*, 1863, Evidence, pp. 16, 19, 18.

वाले डिस्ट्रिक्टों में लोगों की औसत जीवन-अवधि असाधारण रूप से कम होती है। यद्यपि स्टोक डिस्ट्रिक्ट में २० वर्ष से अधिक आयु के वयस्क पुरुषों का केवल ३६.६ प्रतिशत भाग और वॉल्सटेंटन डिस्ट्रिक्ट में केवल ३०.४ प्रतिशत भाग ही मिट्टी के बर्तन बनानेवाले कारख़ानों में काम करता है, तथापि स्टोक डिस्ट्रिक्ट में इस आयु के पुरुषों में जितनी मौतें होती हैं, उनमें से आधी से ज्यादा और वॉल्सटेंटन डिस्ट्रिक्ट में कुल मौतों की लगभग $\frac{2}{5}$ संख्या मिट्टी के बर्तन बनानेवालों में फेफड़ों की बीमारियां फैलने के कारण होती हैं। हेनले के एक डाक्टर बूथरॉयड का कथन है: "मिट्टी के बर्तन बनानेवालों की हर नयी पीढ़ी पिछली पीढ़ी के मुक़ाबले में क़द में छोटी और दुर्बल होती है।" इसी तरह मि० मकबीन नामक एक और डाक्टर ने बताया है कि "२५ वर्ष हुए मैंने मिट्टी के बर्तन बनानेवालों के बीच डाक्टरी शुरू की थी। तब से आज तक इन लोगों का स्वास्थ्य बहुत ख़राब हो गया है, जो ख़ास तौर पर क़द और चौड़ाई के कम हो जाने में ज़ाहिर होता है।" ये तमाम वक्तव्य डा० ग्रीनहाऊ की १८६० की रिपोर्ट से लिये गये हैं।[68]

१८६३ में जांच-कमिश्नरों ने जो रिपोर्ट दी थी, उसका एक उद्धरण यह है। उत्तरी स्टेफ़र्डशायर के अस्पताल के बड़े डाक्टर डा० जे० टी० आर्लेज ने बताया है: "एक वर्ग के रूप में मिट्टी के बर्तन बनानेवाले – स्त्रियां और पुरुष दोनों – शारीरिक दृष्टि से और नैतिक दृष्टि से ह्रासग्रस्त लोग हैं। आम तौर पर उनका शारीरिक विकास रुक गया है, आकृति भोंडी हो गयी है और उनका वक्ष अकसर बहुत ही कुरूप होता है। वे लोग वक़्त से पहले बूढ़े हो जाते हैं, और इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि उनकी उम्र बहुत छोटी होती है। इन लोगों में उत्साह और ख़ून की कमी होती है, और बार-बार होनेवाला मंदाग्नि का हमला, जिगर और गुरदे की बीमारियां और गठिया रोग उनके शरीर की दुर्बलता को पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं। लेकिन जितनी बीमारियां हैं, उनमें वे सबसे ज्यादा वक्ष-रोगों – निमोनिया, राजयक्ष्मा, श्वासनलीशोथ और दमे – के शिकार होते हैं। एक ख़ास बीमारी सिर्फ़ इन्हीं लोगों में पायी जाती है। वह मिट्टी के बर्तन बनानेवालों का दमा या मिट्टी के बर्तन बनानेवालों की तपेदिक़ कहलाती है। मिट्टी के बर्तन बनानेवालों में से दो तिहाई या इससे भी अधिक ग्रंथियों या हड्डियों या शरीर के अन्य भागों की सूजन की बीमारी से पीड़ित हैं... यदि इस डिस्ट्रिक्ट की आबादी के शारीरिक ह्रास ने और भी अधिक भयंकर रूप धारण नहीं कर लिया है, तो इसका यह कारण है कि आसपास के इलाक़ों से नये लोग आते रहते हैं और ब्याह-शादी के ज़रिये ज्यादा तंदुरुस्त नसलों के लोग उसमें शामिल होते रहते हैं।"[69]

इसी अस्पताल के भूतपूर्व हाउस-सर्जन मि० चार्ल्स पार्सन्स ने कमिश्नर लोंगे के नाम एक पत्र में अन्य बातों के अलावा यह भी लिखा है कि "मैं आंकड़ों के आधार पर नहीं, बल्कि केवल व्यक्तिगत पर्यवेक्षण के आधार पर ही कुछ कह सकता हूं, परंतु मुझे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि इन ग़रीब बच्चों को देखकर, जिनके स्वास्थ्य को या तो उनके माता-पिता के या उनके मालिकों के लालच को पूरा करने के लिए बलिदान कर दिया गया है, मुझे बार-बार बहुत ग़ुस्सा आया है।" मि० पार्सन्स ने मिट्टी के बर्तन बनानेवालों को होनेवाली बीमा-

[68] *Public Health*, 3rd Report etc., pp. 103, 105.

[69] *Children's Employment Commission, 1st Repors etc.*, 1863, p. 24.

रियों के कारण गिनाये हैं और उनका सार निकालते हुए कहा है कि सब बीमारियों का मूल कारण यह है कि इन लोगों को "बहुत ज़्यादा देर तक" काम करना पड़ता है। कमीशन की रिपोर्ट में यह आशा प्रकट की गयी है कि "एक ऐसे उद्योग के बारे में, जिसने पूरे संसार में इतना प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है, बहुत दिनों तक यह नहीं कहना पड़ेगा कि उसकी महान सफलता के साथ-साथ उसमें काम करनेवाले उन मज़दूरों का... जिनके श्रम एवं कुशलता के बल पर यह महान सफलता प्राप्त हुई है... शारीरिक ह्रास हुआ है, उनको बड़े पैमाने पर शारीरिक कष्ट उठाना पड़ा है और उनकी मौत जल्दी होने लगी है"।[69a] और इंगलैंड के मिट्टी के बर्तन बनानेवाले कारख़ानों के बारे में जो कुछ कहा गया है, वह स्कॉटलैंड के कारख़ानों के बारे में भी सच है।[70]

दियासलाई उद्योग १८३३ से, सलाई पर फ़ास्फ़ोरस लगाने की पद्धति के आविष्कार के बाद, आरंभ हुआ था। १८४५ के बाद से इंगलैंड में इस उद्योग का तेज़ी से विकास हुआ है, और वह ख़ास तौर पर लंदन की घनी बस्तियों में और साथ ही मैंचेस्टर, बर्मिंघम, लिवरपूल, ब्रिस्टल, नोर्विच, न्यूकैसल और ग्लासगो में भी फैल गया है। उसके साथ-साथ हनु-स्तंभ की बीमारी का वह ख़ास रूप भी फैल गया है, जिसके बारे में वियेना के एक डाक्टर ने पता लगाया है कि यह बीमारी ख़ास तौर पर दियासलाई बनानेवालों में पायी जाती है। इन मज़दूरों की आधी संख्या तेरह वर्ष से कम उम्र के बच्चों और अठारह वर्ष से कम उम्र के लड़कों की है। यह उद्योग इतना गंदा और स्वास्थ्य के लिए इतना हानिकारक समझा जाता है कि मज़दूर वर्ग का केवल सबसे गया-गुज़रा हुआ हिस्सा, यानी वे विधवाएं, जिन्हें आधा पेट खाकर रह जाना पड़ता है, और इसी प्रकार के अन्य लोग ही अपने बच्चों को, अपनी "फटे-हाल, भूखी, जाहिल सन्तान" को, इस उद्योग में काम करने के लिए भेजते हैं।[71] कमिश्नर व्हाइट ने जितने गवाहों के बयान लिये थे (१८६३ में), उनमें से २७० की उम्र १८ वर्ष से और ४० की उम्र १० वर्ष से कम थी, १० की उम्र केवल ८ तथा ५ केवल ६ वर्ष के थे। काम का दिन १२ से लेकर १४ या १५ घंटे तक का था। रात को भी काम करना पड़ता था। भोजन का कोई समय निश्चित नहीं था। भोजन प्रायः काम के कमरों में ही करना पड़ता था, जो फ़ास्फ़ोरस के ज़हरीले धुएं से भरे रहते थे। दांते यदि इस उद्योग को देखते, तो इसे अपने नरक से भी अधिक भयानक पाते।

दीवारी काग़ज़ के उद्योग में घटिया काग़ज़ मशीन से छापा जाता है और बढ़िया हाथ से। इस व्यवसाय में सबसे ज़्यादा तेज़ी अक्तूबर के शुरू से अप्रैल के अंत तक रहती है। इन महीनों में काम अंधाधुंध चलता है और ६ बजे सुबह से रात के १० बजे या उसके भी बाद तक बिना रुके बराबर जारी रहता है।

जे० लीच का बयान है कि "पिछले जाड़ों में उन्नीस में से छः लड़कियां अत्यधिक काम करने के कारण बीमार पड़ गयीं और काम पर न आ सकीं। मैं उनको डांट-डांटकर जगाये रखता हूं, वरना वे सब काम करते-करते ही सो जायें।" डब्ल्यू० डफ़ी ने कहा है: "मैंने वह वक़्त भी देखा है, जब कोई भी बच्चा काम करने के लिए अपनी आंखें खुली हुई नहीं रख

[69a] *Children's Employment Commission*, 1863, pp. 22, XI.

[70] l. c., p. XLVII.

[71] l. c., p. LIV.

पा रहा था। और बच्चे ही क्यों, वास्तव में हममें से कोई भी अपनी आंखें खुली हुई नहीं रख सकता था।" जे० लाइटबोर्न का बयान है कि "मेरी उम्र १३ वर्ष है... पिछले जाड़ों में हम लोग रात के ९ बजे तक काम करते थे और उसके पहले वाले जाड़ों में रात के १० बजे तक। जाड़ों में मेरे पैर इस बुरी तरह फट जाते थे कि मैं रोज़ रात को दर्द के मारे रोया करता था"। जी० ऐप्सडेन ने बताया है: "मेरा यह लड़का... जब यह ७ वर्ष का था, तब मैं उसे अपनी पीठ पर चढ़ाकर बर्फ़ पार करके कारख़ाने में ले जाया और वहां से लाया करता था। वहां वह रोज सोलह घंटे काम करता था... अकसर वह मशीन के पास खड़ा रहता था और मैं उसे झुककर खाना खिलाता था, क्योंकि वह न तो मशीन के पास से हट सकता था और न ही बीच में काम बंद कर सकता था।" मैंचेस्टर की एक फ़ैक्टरी के प्रबंधकर्त्ता हिस्सेदार स्मिथ ने बताया है कि "हम लोग (उसका मतलब है: "हमारे मज़दूर", जो "हम लोगों" के लिए काम करते हैं) बराबर काम करते रहते हैं और खाना खाने के लिए भी बीच में नहीं रुकते, जिससे १०$\frac{१}{२}$ घंटे का दिन भर का काम शाम को ४.३० बजे ही ख़त्म हो जाता है और उसके बाद का सारा काम ओवरटाइम होता है।"[72] (क्या यह मि० स्मिथ ख़ुद भी इन १०$\frac{१}{२}$ घंटों में भोजन नहीं करते?) "हम लोग (वही स्मिथ साहब बोल रहे हैं) शाम के ६ बजने के पहले शायद कभी ही काम बंद करते हैं" (मतलब यह कि "हम" शायद कभी ही "अपनी" श्रम-शक्ति की मशीनों का उपयोग करना बंद करते हैं)। "नतीजा यह होता है कि असल में हम लोग साल भर iterum Crispinus [वही बात] यानी ओवर-टाइम काम करते रहते हैं... इन तमाम लोगों को, जिनमें बच्चे और बड़े दोनों शामिल हैं (जिनमें १५२ बच्चे तथा लड़के और १४० वयस्क लोग हैं), पिछले अठारह महीने से हर सप्ताह औसतन कम से कम ७ दिन और ५ घंटे, या ७८$\frac{१}{२}$ घंटे प्रति सप्ताह, काम करना पड़ा है। इस वर्ष (१८६२) की २ मई को जो छः सप्ताह समाप्त हुए, उनका औसत इससे भी ज्यादा बैठता था, यानी इन छः सप्ताहों में उन्हें प्रति सप्ताह ८ दिन या ८४ घंटे काम करना पड़ा।" फिर भी यह मि० स्मिथ, जिनको pluralis majestatis [बहुवचन का प्रयोग करने] का इतना ज्यादा शौक़ है, मुस्कराते हुए फ़रमाते हैं कि "मशीन का काम बहुत मुश्किल नहीं होता।" इसी तरह ब्लाकों से काग़ज़ की छपाई करनेवाले कारख़ानों के मालिक कहते हैं कि "हाथ का काम मशीन के काम से अधिक स्वास्थ्यप्रद होता है।" कुल मिलाकर, सभी मालिक गुस्से से बौखला उठते हैं, जब कोई व्यक्ति "कम से कम भोजन के समय मशीनों

---

[72] इसका वही अर्थ नहीं लगाना चाहिए, जो हमारे बेशी श्रम-काल का होता है। ये महानुभाव १०$\frac{१}{२}$ घंटे के श्रम को काम का सामान्य दिन समझते हैं, जिसमें, जाहिर है, सामान्य बेशी श्रम भी शामिल होता है। इसके बाद "ओवरटाइम" शुरू होता है, जिसकी मजदूरी कुछ बेहतर दर पर दी जाती है। बाद को यह बात स्पष्ट होगी कि तथाकथित सामान्य दिन में जो श्रम ख़र्च होता है, मजदूर को उसके लिए कम मूल्य दिया जाता है और इसलिए ओवर-टाइम महज मजदूर से थोड़ा और बेशी श्रम कराने का एक पूंजीवादी हथकंडा होता है। यदि काम के सामान्य दिन में ख़र्च की गयी श्रम-शक्ति की उचित मजदूरी दे भी दी जाये, तब भी ओवरटाइम मजदूर से बेशी श्रम कराने की तरक़ीब ही रहेगा।

को रोक देने" का सुझाव रखता है। बरो के दीवार पर मढ़ने का काग़ज़ तैयार करनेवाले एक कारख़ाने के मैनेजर मि० ग्राटले ने कहा है कि यदि इस तरह का कोई नियम बन जाये, "जिसके अनुसार, मान लीजिये, सुबह ६ बजे से रात के ९ बजे तक काम कराया जा सके... तो हम लोगों को (!) बड़ी सुविधा हो जायेगी, लेकिन सुबह ६ बजे से शाम के ६ बजे तक का समय फ़ैक्टरी में काम लेने के लिए उपयुक्त नहीं है। हमारी मशीन भोजन के लिए हमेशा रोक दी जाती है (क्या कहने आपकी उदारता के!)। इससे काग़ज़ और रंग की कभी कोई ख़ास हानि नहीं होती। लेकिन,"—वह आगे बड़ी सहृदयता के साथ कहते हैं,— "समय का नुक़सान यदि लोगों को पसंद नहीं आता, तो मैं इस बात को समझ सकता हूं।" कमीशन की रिपोर्ट में बड़े भोलेपन के साथ यह मत प्रकट किया गया है कि कुछ "प्रमुख कंपनियों" को समय खोने का, यानी दूसरों का श्रम हड़पने के लिए समय न पाने का और इसलिए मुनाफ़ा खो बैठने का जो भय सता रहा है, वह इसके लिए पर्याप्त कारण नहीं समझा जा सकता कि १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को और १८ वर्ष से कम उम्र के लड़के-लड़कियों को बिना खाये काम करने की इजाज़त दी जाये या उनको काम के दौरान ही इस तरह भोजन देने की इजाज़त दी जाये, जिस तरह भाप के इंजन को उत्पादन-प्रक्रिया के दौरान कोयला और पानी दिया जाता है, ऊन को साबुन खिलाया जाता है और पहिये को तेल पिलाया जाता है, यानी जिस तरह श्रम के औज़ारों को सहायक सामग्री दी जाती है।[73]

इंगलैंड में उद्योग की किसी शाखा में उत्पादन का इतना पुरातन ढंग इस्तेमाल नहीं किया जाता, जितना डबल रोटी बनाने में (हाल में मशीनों के ज़रिये रोटी बनाने की जो पद्धति चालू की गयी है, हम उसपर यहां विचार नहीं कर रहे हैं)। डबल रोटी बनाने के व्यवसाय में तो ईसा से भी पहले का ढंग, रोमन कवियों की रचनाओं में वर्णित ढंग इस्तेमाल किया जाता है। परंतु, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, शुरू में पूंजी को इसमें कोई दिलचस्पी नहीं होती कि श्रम-प्रक्रिया का प्राविधिक स्वरूप कैसा है। वह जैसा भी होता है, पूंजी उसी को लेकर अपना काम आरंभ कर देती है।

ख़ास तौर पर लंदन में डबल रोटी में जैसी भयानक मिलावट की जाती है, इसपर पहले-पहल उस समय प्रकाश पड़ा, जब हाउस आफ़ कामन्स ने "खाद्य-पदार्थों में मिलावट" की जांच करने के लिए एक समिति नियुक्त की और उसने अपनी रिपोर्टें प्रकाशित कीं (१८५५-१८५६) और जब डा० हैस्सल की रचना *Adulteration detected* प्रकाशित हुई।[74] इस रहस्योद्घाटन का परिणाम यह हुआ कि ६ अगस्त १८६० को "खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट रोकने के लिए" एक क़ानून बना दिया गया। पर यह क़ानून कभी अमल में नहीं आया, क्योंकि वह स्वभावतया ऐसे प्रत्येक स्वतंत्र व्यापारी पर कृपादृष्टि रखता है, जो मिलावट वाली वस्तुओं को ख़रीद या बेचकर "ईमानदारी का पैसा कमाना" चाहता है।[75] इस समिति

---

[73] *Children's Employment Commission*, 1863, Evidence, pp. 123, 124, 125, 140, LXIV.

[74] फिटकरी का बारीक चूरा, जिसमें कभी-कभी नमक भी मिला रहता है, बाज़ार में आम बिकता है और "रोटी बनानेवालों का मसाला" कहलाता है।

[75] कालिख कार्बन का एक सुपरिचित और बहुत ऊर्जापूर्ण रूप है। चिमनियां साफ़ करनेवाले उसे खाद के रूप में अंग्रेज़ काश्तकारों के हाथ बेच देते हैं। अब १८६२ में अंग्रेज़ जूरी को एक मुक़दमे में यह सवाल तय करना पड़ा कि वह कालिख, जिसमें ख़रीदार के पीठ पीछे ९० प्रति-

ने ख़ुद न्यूनाधिक भोलेपन के साथ अपना यह विश्वास प्रकट किया कि स्वतंत्र व्यापार का अर्थ मूलतया मिलावटयुक्त चीज़ों का व्यापार, या, जैसा कि अंग्रेज़ लोग बड़ी बुद्धिमानी का परिचय देते हुए कहते हैं, "गोलमाल" वस्तुओं का व्यापार, होता है। वस्तुतः इस प्रकार का गोलमाल करनेवाले प्रोटेगोरस से भी अधिक दक्षता के साथ सफ़ेद को काला और काले को सफ़ेद कर सकते हैं और एलियाटिक्स से भी अधिक कुशलता के साथ ad oculos [आपकी आंखों के सामने ही] यह प्रमाणित कर सकते हैं कि दुनिया में हर चीज़ महज़ दिखावटी होती है।[76]

बहरहाल इस समिति ने जनता का ध्यान उस रोटी की ओर, जिसे वह रोज़ खाती थी, और रोटी बनाने के व्यवसाय की ओर खींचा था। उसके साथ-साथ लंदन के रोटी बनानेवाले कारीगरों ने सार्वजनिक सभाओं के ज़रिये और संसद को दरख़ास्तें भेजकर इस बात का शोर मचाया कि उनके मालिक लोग उनसे बहुत ज्यादा काम लेते हैं, इत्यादि। यह शोर इतना ज़ोरदार था कि मि० एच० एस० ट्रेमेनहीर को, जो १८६३ के उस कमीशन के सदस्य थे, जिसका पहले भी कई बार ज़िक्र आ चुका है, इस मामले की जांच करने के लिए शाही जांच-कमिश्नर नियुक्त कर दिया गया। उनकी रिपोर्ट[77] का तथा उन बयानों का, जो उनके सामने दिये गये थे, जनता के दिल पर भले ही कोई असर न पड़ा हो, पर उसके पेट में ज़रूर खलबली मच गयी। अंग्रेज़ को अपनी बाइबल का सदा अच्छा ज्ञान होता है, और उसे यह ख़ूब मालूम था कि जब तक आदमी भगवान की दया से किसी पूंजीपति, ज़मींदार या बैठे-बिठाये मोटी तनख़्वाह मारनेवाले के घर में पैदा नहीं होता, तब तक उसे हमेशा अपनी मेहनत और पसीने की रोटी खानी पड़ती है। मगर उसे यह मालूम नहीं था कि यदि फिटकरी, रेत और अन्य ज़ायक़ेदार खनिज पदार्थों की गिनती न भी की जाये, तो भी उसे हर रोज़ अपनी रोटी में फोड़ों का मवाद, आदमी का पसीना, मकड़ी के जाले, मरे हुए तिलचटे और सड़ा हुआ जर्मन ख़मीर खाना पड़ता है। चुनांचे परम पावन स्वतंत्र व्यापार का कोई ख़याल न करके रोटी बनाने का स्वतंत्र व्यवसाय राजकीय इंस्पेक्टरों के निरीक्षण में रख दिया गया (यह निश्चय संसद के १८६३ के अधिवेशन के बंद होने के समय हुआ) और संसद के इसी क़ानून के ज़रिये रात के ९ बजे से सुबह के ५ बजे तक १८ वर्ष से कम उम्र के रोटी बनानेवाले

शत धूल और रेत मिला दिया गया है, व्यापारिक अर्थ में खरी कालिख है या क़ानूनी अर्थ में मिलावटयुक्त कालिख है। जूरी में जो "व्यापार के मित्र" बैठे हुए थे, उन्होंने यह तय किया कि यह व्यापारिक अर्थ में खरी कालिख है, और वादी काश्तकार का मुक़दमा खारिज कर दिया गया, जिसे ऊपर से मुक़दमे का ख़र्च भी अदा करना पड़ा।

[76] फ़्रांसीसी रसायनज्ञ शेवल्ये ने पण्यों के "गोलमाल" से संबंध रखनेवाली अपनी रचना में जिन ६०० या उससे अधिक वस्तुओं पर विचार किया है, उनमें से अधिकतर में उसने मिलावट के दस-दस, बीस-बीस और तीस-तीस अलग-अलग तरीक़े गिनाये हैं। साथ ही उसने यह भी लिख दिया है कि उसे सब तरीक़ों की जानकारी नहीं है और न ही उसने उन सब तरीक़ों का ज़िक्र किया है, जिनको वह जानता है। उसने चीनी में मिलावट के ६, ज़ैतून के तेल में ९, मक्खन में १०, नमक में १२, दूध में १९, रोटी में २०, ब्रांडी में २३, आटे में २४, चाकलेट में २८, शराब में ३० और काफ़ी में मिलावट करने के ३२ तरीक़े बताये हैं, इत्यादि। यहां तक कि ख़ुद सर्वशक्तिमान परमेश्वर भी इस मुसीबत से नहीं बच पाया है। देखिये रूआर दे कार की रचना *De la falsification des substances sacramentelles*, Paris, 1856.

[77] *Report etc. relative to the Grievances complained of by the Journeymen Bakers ets.*, London, 1862, और *2nd Report etc.*, London, 1863.

कारीगरों से काम लेने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। क़ानून की इस अंतिम धारा से प्रकट होता है कि इस पुराने घरेलू ढंग के व्यवसाय में मज़दूरों से कैसा कमरतोड़ काम लिया जाता था।

"लंदन में रोटी बनानेवाले कारीगर का काम ग्राम तौर पर रात को लगभग ग्यारह बजे शुरू होता है। उस समय वह आटा तैयार करता है। यह बड़ी मेहनत का काम होता है। घान छोटा है या बड़ा और आटे को कितनी देर गूंधना है, उसके अनुसार इस काम में आधे घंटे से पौने घंटे तक का समय लग जाता है। उसके बाद कारीगर आटा गूंधने के उस तख़्ते पर ही लेट जाता है, जिससे आटा घोलने की नांद के ढक्कन का भी काम लिया जाता है। वह आटे की एक बोरी अपने नीचे बिछा लेता है और एक बोरी को तह देकर तकिया बना लेता है। यहां वह दो-एक घंटे सोता है। फिर उठता है, तो पांच घंटे तक लगातार बहुत तेज़ी के साथ काम करता रहता है। इस अरसे में वह नांद में से आटा निकालता है, तोलता है, सांचे में डालता है, तंदूर में रखता है, छोटी रोटियां और बढ़िया रोटियां बनाता और पकाता है, घान को तंदूर के बाहर निकालता है, रोटियों को दूकान में सजाता है, वग़ैरह, वग़ैरह। जहां रोटी पकायी जाती है, उस कमरे का तापमान ७५ से लेकर ६० डिगरी तक रहता है, और छोटे कमरों में तापमान ७५ डिगरी के बजाय ६० डिगरी के ज़्यादा नज़दीक रहता है। जब डबल रोटी, छोटी रोटी, आदि बनाने का काम समाप्त हो जाता है, तो उसके वितरण का काम शुरू होता है। रात भर इस तरह सख़्त मेहनत करने के बाद कारीगरों का एक काफ़ी बड़ा हिस्सा दिन में कई-कई घंटे टोकरियों में भरी या ठेलों पर लदी रोटियों को इधर से उधर पहुंचाने में व्यस्त रहता है और बीच-बीच में उसे रोटी पकाने के कमरे में पहुंच जाना पड़ता है। इन कारीगरों को दोपहर के बाद १ बजे और ६ बजे के बीच छुट्टी मिलती है। तीसरे पहर को वे कब काम से छुटते हैं, यह इस पर निर्भर करता है कि मौसम कौन सा है और उनके मालिक का धंधा किस प्रकार का तथा कितना फैला हुआ है। इसी बीच कुछ और कारीगरों को शाम तक रोटियों के नये घान तंदूर से निकालने के लिए जुटे रहना पड़ता है...[78] लंदन में जिस मौसम में रोटियों का धंधा ख़ास तौर पर चमकता है, उस मौसम में वेस्ट एण्ड क्षेत्र के "पूरे दामों पर" रोटी बेचनेवाले नानबाइयों के कारीगर आम तौर पर रात को ११ बजे काम आरंभ करते हैं और दो-एक छोटे-छोटे (कभी-कभी तो बहुत छोटे) अवकाशों के साथ अगले रोज़ सुबह के ८ बजे तक रोटी पकाते रहते हैं। उसके बाद वे दिन भर, यानी शाम के ४, ५, ६ और यहां तक कि ७ बजे तक फिर रोटियां इधर से उधर ले जाने का काम करते हैं या कभी-कभी तीसरे पहर को उनको फिर रोटी पकाने के कमरे में घुसकर बिस्कुट बनाने में मदद करनी पड़ती है। काम ख़त्म करने के बाद उनको कभी-कभी पांच-छः घंटे और कभी केवल चार-पांच घंटे सोने के लिए मिलते हैं, और उसके बाद फिर वही क्रम आरंभ हो जाता है। शुक्रवार के दिन वे सदा कुछ जल्दी, यानी दस बजे के क़रीब, काम शुरू कर देते हैं और कभी-कभी शनिवार की रात के ८ बजे तक और आम तौर पर रविवार की सुबह के ४ या ५ बजे तक लगातार रोटी पकाने या जहां-तहां पहुंचाने में लगे रहते हैं। रविवार के दिन कारीगरों को दो या तीन बार दो-एक घंटे के लिए आकर अगले दिन की रोटियों के लिए तैयारी करनी पड़ती है... कम दामों पर रोटी बेचने-

[78] l. c., *1st Report etc.*, p. VI.

वाले मालिक (जो "पूरे दाम" से कम दामों पर अपनी रोटी बेच देते हैं और जिनकी श्रेणी में, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, लंदन के तीन-चौथाई रोटी वाले आ जाते हैं) जिन कारीगरों को नौकर रखते हैं, उनको आम तौर पर न सिर्फ़ ज्यादा देर तक काम करना पड़ता है, बल्कि उनका सारा काम रोटी पकाने के कमरे के भीतर ही होता है। कम दामों पर रोटी बेचनेवाले मालिक आम तौर पर... दूकानों में ही रोटी बेचते हैं। मोदियों की दूकानों के सिवा वे अपनी रोटी और कहीं नहीं भेजते, और वहां भेजने के लिए वे आम तौर पर दूसरे मजदूरों से काम लेते हैं। उनके घर-घर रोटी पहुंचाने का प्रचलन नहीं है। जब सप्ताह समाप्त होने के क़रीब आता है, तब... कारीगर लोग बृहस्पतिवार को रात के १० बजे शुरू करके शनिवार की रात तक लगातार काम करते चले जाते हैं और बीच में महज़ ज़रा सी देर के लिए उनको एक छुट्टी मिलती है।"[79]

कम दामों पर रोटी बेचनेवाले मालिकों की स्थिति को बुर्जुआ दिमाग़ भी समझता है। "ये लोग कारीगरों से मुफ़्त श्रम कराते हैं और उसके सहारे प्रतियोगिता करते हैं।"[80] और जांच-कमीशन के सामने पूरे दामों पर बेचनेवाला कम दामों पर बेचनेवाले अपने प्रतिद्वंद्वियों की निंदा करता है और कहता है कि वे लोग दूसरों के श्रम को चुराते हैं और रोटी में मिलावट करते हैं। "वे यदि ज़िंदा हैं, तो केवल इसलिए कि वे एक तो जनता को धोखा देते हैं और दूसरे, अपने कारीगरों को १२ घंटे की मज़दूरी देकर १८ घंटे काम कराते हैं।"[81]

रोटी में मिलावट किया जाना और नानबाइयों के एक ऐसे वर्ग का जन्म ले लेना, जो पूरे दाम से कम दामों पर अपनी रोटी बेच देता है, यह १८वीं सदी के शुरू में, उसी समय से आरंभ हो गया था, जब इस व्यवसाय का नैगमिक स्वरूप नष्ट हो गया और रोटियों की दूकान के मालिक की नकेल आटे की चक्की के मालिक या आटे के आढ़ती के रूप में पूंजीपति के हाथों में पहुंच गयी।[82] इस प्रकार इस व्यवसाय में पूंजीवादी उत्पादन और काम के दिन को अधिक से अधिक लंबा खींचने और रात को मज़दूरों से ज्यादा से ज्यादा काम लेने की पद्धति की नींव पड़ गयी, हालांकि रात के काम की प्रथा ने लंदन में भी केवल १८२४ के बाद से ही अपने पांव अच्छी तरह जमाये हैं।[83]

अभी-अभी जो कुछ कहा गया है, उससे यह बात भी समझ में आ जानी चाहिए कि जांच-कमीशन की रिपोर्ट ने रोटी बनानेवाले कारीगरों को कम उम्र तक ज़िंदा रहनेवाले उन मज़दूरों की श्रेणी में क्यों रखा है, जो यदि सौभाग्यवश मज़दूर वर्ग के अधिकतर बच्चों की तरह असमय

---

[79] *1st Report etc.*, p. LXXI.

[80] George Read, *The History of Baking*, London, 1848, p. 16.

[81] *Report (1st) etc.*, Evidence of the "full-priced" baker Cheeseman, p. 108.

[82] George Read, l. c. १७वीं सदी के अंत में और १८वीं सदी के आरंभ में आढ़ती लोग हर संभव व्यवसाय में घुस गये थे, और उस समय भी आम तौर पर इन लोगों को लोक उपद्रव समझा जाता था। चुनांचे सॉमरसेट की काउंटी के मजिस्ट्रेटों के त्रैमासिक अधिवेशन के दौरान ग्रैंड जूरी ने हाउस आफ़ कामन्स को एक दरख़ास्त दी थी, जिसमें अन्य बातों के अलावा यह भी कहा गया था कि "ब्लैकवेल हॉल के ये आढ़ती लोक उपद्रव हैं और वस्त्र व्यवसाय को हानि पहुंचा रहे हैं, और इसलिए उपद्रव के नाते इन लोगों को ख़त्म कर दिया जाना चाहिए।" *(The Case of our English Wool etc.*, London, 1685, pp. 6,7.)

[83] *1st Report etc. relative to the Grievances complained of by the Journeymen Bakers etc.*, London, 1862, p. VIII.

मृत्यु का शिकार नहीं हो जाते, तो ४२ वर्ष की उम्र तक बहुत मुश्किल से पहुंच पाते हैं। और फिर भी रोटी बनाने के व्यवसाय में काम करने के इच्छुक उम्मीदवारों की सदा भीड़ लगी रहती है। लंदन इस व्यवसाय के लिए मज़दूर स्कॉटलैंड, इंगलैंड के पश्चिमी खेतिहर ज़िलों और जर्मनी से पाता है।

१८५८-१८६० में आयरलैंड के रोटी बनानेवाले कारीगरों ने रात का और रविवार का काम बंद कराने के लिए अपने ख़र्चे से बड़ी-बड़ी सभाएं कीं। साधारण जनता ने भी – मसलन मई १८६० में डबलिन की सभा में – आयरलैंडवासियों के प्रबल उत्साह के साथ उनका समर्थन किया। इस आंदोलन के फलस्वरूप वेक्सफ़ोर्ड, किल्केन्नी, क्लॉन्मेल, वाटरफ़ोर्ड, आदि स्थानों में केवल दिन में काम कराने का नियम सफलतापूर्वक लागू हो गया। "लिमरिक में, जहां कारीगरों की शिकायतें हद से ज़्यादा बढ़ गयी थीं, रोटी की दूकानों के मालिकों के विरोध के सामने आंदोलन पराजित हो गया है। वहां इस आंदोलन के सबसे बड़े विरोधी वे मालिक थे, जिनकी अपनी आटे की चक्कियां हैं। लिमरिक की मिसाल का ऐन्निस और टिप्पेरारी पर भी प्रतिगमनात्मक प्रभाव पड़ा। कॉर्क में, जहां भावनाओं का उग्रतम प्रदर्शन हुआ, मालिकों ने कारीगरों को काम से जवाब दे देने के अपने अधिकार का प्रयोग करके आंदोलन को हरा दिया है। डबलिन में रोटी की दूकानों के मालिकों ने आंदोलन का बहुत डटकर विरोध किया है, और जो कारीगर आंदोलन में अग्रणी थे, उन्हें यथाशक्ति हताश करके वे कारीगरों से उनके विश्वासों के विरुद्ध यह बात मनवाने में कामयाब हो गये हैं कि वे इतवार को और रात को काम करना जारी रखेंगे।"[84]

आयरलैंड की अंग्रेज़ी हुकूमत हमेशा जनता पर दमन करने के हथियारों से सजी रहती है और आम तौर पर वह उनका प्रदर्शन भी करती रहती है। पर उसी हुकूमत द्वारा नियुक्त की गयी इस समिति ने डबलिन, लिमरिक, कॉर्क, आदि नगरों के रोटी की दूकानों के निर्मम मालिकों को बड़ी नम्रतापूर्वक समझाने-बुझाने की कोशिश की और, जैसे वह किसी के अंतिम संस्कार में भाग ले रही हो, बड़े ही दुःख के अंदाज़ में कहा : "समिति का विश्वास है कि श्रम के घंटे प्रकृति के नियमों से सीमित होते हैं और इन नियमों का उल्लंघन करके कोई भी दंड से नहीं बच सकता। यदि रोटी की दूकानों के मालिक अपने कारीगरों को नौकरी से बर्ख़ास्त कर दिये जाने का डर दिखाकर उन्हें अपने धार्मिक विश्वासों तथा अपनी स्वस्थ भावनाओं का हनन करने के लिए और देश के क़ानूनों को तोड़ने के लिए मजबूर करते हैं (यह सब रविवार को काम करने के बारे में कहा जा रहा है), तो इसका केवल यही परिणाम होगा कि मज़दूरों और मालिकों के संबंध बिगड़ जायेंगे... और एक ऐसी मिसाल क़ायम होगी, जो धर्म, नैतिकता और सामाजिक व्यवस्था के लिए ख़तरनाक है... समिति का विश्वास है कि १२ घंटे रोज़ाना से ज़्यादा लगातार काम लेना मज़दूर के घरेलू एवं निजी जीवन में हस्तक्षेप करना है, यह हरेक मज़दूर के घर में टांग अड़ाना और उसे पुत्र, भाई, पति और पिता के रूप में अपने पारिवारिक कर्तव्यों को पूरा न करने देना है, और इसलिए नैतिक दृष्टि से उसका परिणाम विनाशकारी होता है। यदि किसी मज़दूर से १२ घंटे से ज़्यादा काम लिया जाता है, तो उसका स्वास्थ्य नष्ट होने लगता है, उसको बुढ़ापा बहुत जल्दी आ घेरता है और उसकी असमय मृत्यु हो जाती है। इस तरह यह प्रथा मज़दूरों के परिवारों को

---

[84] *Report of Committee on the Baking Trade in Ireland for 1861.*

चौपट कर देती है और मज़दूर कुटुंबों को ठीक उसी समय असहाय कर देती है, जब उनको देखरेख और सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता होती है।"[85]

अभी तक हमने आयरलैंड का ज़िक्र किया है। आयरलैंड के जलडमरूमध्य के दूसरी ओर, स्कॉटलैंड में, खेतिहर मज़दूर, या हलवाहा, इस बात का विरोध कर रहा है कि उससे बहुत ही बुरे मौसम में भी रोज़ाना १३-१४ घंटे काम लिया जाता है और साथ ही (शनिवार को छुट्टी का पवित्र दिन माननेवालों के इस देश में) उसे रविवार को ४ घंटे का अतिरिक्त काम करना पड़ता है।[86] और वहां लंदन में तीन रेलवे-मज़दूर – एक गार्ड, एक इंजन-ड्राइवर और एक सिगनलमैन – एक मजिस्ट्रेट के सामने खड़े हैं। रेल की एक भारी दुर्घटना में सैकड़ों मुसाफ़िर आन की आन में मुल्के-अदम को रवाना हो गये हैं। दुर्घटना का कारण है कर्मचारियों की लापरवाही। वे लोग जूरी के सामने एक आवाज़ से यह कहते हैं कि दस या बारह बरस पहले उनको केवल आठ घंटे रोज़ाना काम करना पड़ता था। परंतु पिछले पांच या छः सालों में उनसे १४, १८ और २० घंटे तक काम लिया जाने लगा है, और जब कभी छुट्टियों के दिनों में काम का विशेष दबाव होता है और छुट्टियां मनानेवालों के लिए स्पेशल ट्रेनें चलती हैं, तो अकसर उनको बिना किसी अवकाश के ४० या ५० घंटे तक लगातार काम करना पड़ता है। ये मज़दूर देव या दैत्य नहीं, बल्कि साधारण मनुष्य थे। आख़िर एक ऐसा क्षण आया, जब उनकी श्रम-शक्ति जवाब दे गयी, चेतनाशून्यता ने उन्हें आ घेरा, उनके दिमाग़ ने सोचना और आंखों ने देखना बंद कर दिया। पर अंग्रेज़ी अदालत की जूरी के परम "संभ्रांत" सदस्यों ने उनके मुक़दमे का यह फ़ैसला किया कि नर-हत्या का जुर्म लगाकर उनको तो सेशन अदालत के सिपुर्द कर दिया, और अपने निर्णय के साथ एक नम्र सा ऐसा अंश भी जोड़ दिया, जिसमें आशा प्रकट की गयी थी कि रेलों के पूंजीवादी मालिक भविष्य में श्रम-शक्ति की पर्याप्त मात्रा ख़रीदने पर कुछ ज्यादा पैसा ख़र्च किया करेंगे और ख़रीदी हुई

---

[85] l.c.

[86] ५ जनवरी १८६६ को एडिनबरा के नज़दीक, लास्सवेड में खेतिहर मज़दूरों की एक सार्वजनिक सभा हुई। (देखिये *Workman's Advocate* का १३ जनवरी १८६६ का अंक।) १८६५ ख़त्म होते-होते स्कॉटलैंड में खेतिहर मज़दूरों की एक ट्रेड-यूनियन बन गयी थी। यह एक ऐतिहासिक घटना थी। मार्च १८६७ में इंगलैंड के बकिंघमशायर नामक एक सबसे अधिक उत्पीड़ित खेतिहर ज़िले में खेतिहर मज़दूरों ने अपनी मज़दूरी ९-१० शिलिंग से बढ़ाकर १२ शिलिंग करवाने के लिए हड़ताल कर दी। (उपरोक्त अंश से यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि इंगलैंड के खेतिहर सर्वहारा का जो आंदोलन १८३० के हंगामाख़ेज़ प्रदर्शनों के कुचले जाने के बाद और ख़ास तौर पर ग़रीबों के संबंध में नये क़ानूनों के जारी हो जाने के बाद पूरी तरह कुचल दिया गया था, वह १९ वीं सदी के सातवें दशक में फिर आरंभ हो गया था और १८७२ में तो उसने युगांतरकारी रूप धारण कर लिया था। इस ग्रंथ के दूसरे खंड में मैं इसका और साथ ही उन सरकारी प्रकाशनों का फिर ज़िक्र करूंगा, जो १८६७ के बाद प्रकाशित हुए हैं और जिनमें इंगलैंड के खेतिहर मज़दूरों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे संस्करण में जोड़ा गया अंश।)

श्रम-शक्ति को चूसने में पहले से अधिक "समय", आत्मनिरोध और "मितव्ययिता" का परिचय देंगे।[87]

हत व्यक्तियों की आत्माएं युलीसिस के चारों ओर इतने ज़ोर-शोर से नहीं मंडरा रही थीं, जितने ज़ोर-शोर से अलग-अलग पेशों और उम्रों के मज़दूरों और मज़दूरिनों की यह पंचमेल भीड़ हमारे चारों ओर मंडरा रही है। इनकी बग़ल में दबे हुए सरकारी प्रकाशनों की ओर यदि ध्यान न भी दिया जाये, तो इनके चेहरों पर एक नज़र डालते ही हम अत्यधिक परिश्रम के चिह्न साफ़ देख सकते हैं। इस भीड़ में से हम दो उदाहरण और लेंगे। उनकी स्थिति में जो स्पष्ट भेद दिखायी देगा, उससे यह बात बिल्कुल साफ़ हो जायेगी कि पूंजी की नज़रों में सब आदमी बराबर हैं। इनमें से एक टोपी बनानेवाली औरत है और दूसरा एक लोहार है।

जून १८६३ के आख़िरी सप्ताह में लंदन के सभी दैनिक पत्रों ने एक समाचार छापा और उसे यह "सनसनीख़ेज़" शीर्षक दिया: 'केवल अत्यधिक काम करने के कारण मृत्यु'। यह मेरी एन वाल्कले नामक एक बीस वर्ष की टोपी बनानेवाली औरत की मृत्यु का समाचार था, जो कपड़ों की एक बहुत ही प्रतिष्ठित दूकान में काम करती थी, जिसकी संचालिका एलीज़

---

[87] *Reynolds' Newspaper*, २१ जनवरी १८६६; यही अख़बार हर सप्ताह रेलों पर होनेवाली नयी-नयी दुर्घटनाओं की पूरी सूची ऐसे "सनसनीख़ेज़ शीर्षक" देकर छापता है, जैसे 'भयानक और सत्यानाशी दुर्घटनाएं', 'भयंकर दुर्घटनाएं', इत्यादि। दुर्घटनाओं के विषय में उत्तरी स्टैफ़र्डशायर लाइन पर काम करनेवाले एक कर्मचारी ने लिखा है: "हर आदमी जानता है कि अगर किसी रेलवे-इंजन का ड्राइवर और फ़ायरमैन बराबर सतर्क न रहें, तो उसका क्या नतीजा होगा। पर जो आदमी २९ या ३० घंटे से, मौसम की तमाम मुसीबतों को झेलते हुए और बिना एक क्षण आराम किये हुए, लगातार इस तरह का काम कर रहा है, वह बराबर सतर्क कैसे रह सकता है? नीचे जिस तरह की मिसाल दी गयी है, वैसी घटनाएं अकसर होती रहती हैं। एक फ़ायरमैन ने सोमवार की सुबह को बहुत तड़के ही काम शुरू कर दिया। जब उसने एक दिन का काम समाप्त किया, तब तक वह पूरे १४ घंटे ५० मिनट काम कर चुका था। वह चाय भी नहीं पीने पाया था कि उसे फिर ड्यूटी पर बुला भेजा गया... जब अगली बार उसे काम से छुट्टी मिली, तब तक वह १४ घंटे २५ मिनट और काम कर चुका था। इस तरह उसने बिना विराम के कुल २९ घंटे १५ मिनट तक काम किया। सप्ताह के बाक़ी दिन उसे इस तरह काम करना पड़ा: बुधवार को १५ घंटे, बृहस्पतिवार को १५ घंटे ३५ मिनट, शुक्रवार को १४$\frac{१}{२}$ घंटे और शनिवार को १४ घंटे १० मिनट। इस तरह एक सप्ताह में उसने कुल ८८ घंटे ४० मिनट काम किया। अब, जनाब, ज़रा सोचिये कि जब उसे इस तमाम काम के लिए केवल ६$\frac{१}{४}$ दिन की मज़दूरी मिली, तब उसे कितना आश्चर्य हुआ होगा। सोचकर कि शायद हिसाब में ग़लती हो गयी है, वह टाइम-कीपर के पास गया... और उससे पूछा कि भई, एक दिन के काम का तुम क्या मतलब लगाते हो? उसको जवाब मिला कि जब भला-चंगा आदमी १३ घंटे काम करता है, तब एक दिन का काम पूरा होता है (यानी हफ़्ते में ७८ घंटे काम करना ज़रूरी है)... तब उसने कहा कि अच्छा, ७८ घंटे प्रति सप्ताह से ज़्यादा उसने जो काम किया है, उसके पैसे तो उसे मिलने चाहिए। जवाब मिला, नहीं मिलेंगे। परंतु आख़िर उससे कहा गया कि अच्छा, उसे १० पेंस और मिल जायेंगे।" (*Reynolds' Newspaper*, 4th February 1866.)

जैसे सुंदर नामवाली महिला थी। वह पुरानी कहानी,[88] जिसे हम पहले भी अनेक बार सुन चुके हैं, एक बार फिर दोहरायी गयी। यह लड़की अविराम औसतन १६$\frac{१}{२}$ घंटे रोज़ काम करती थी, और जब धंधा तेजी पर होता था, तो अकसर उसे तीस-तीस घंटे तक लगातार काम करना पड़ता था। जब उसकी श्रम-शक्ति जवाब देने लगती थी, तो शेरी, पोर्ट या काफ़ी पिलाकर उसे फिर काम में जुटा दिया जाता था। इन दिनों व्यापार ख़ूब चमक रहा था। अभी हाल में विदेश से मंगायी गयी युवरानी के सम्मान में बॉल-नृत्य का एक समारोह होनेवाला था, और जिन महिलाओं को उसमें भाग लेने के लिए निमंत्रित किया गया था, उनके लिए फटाफट शानदार पोशाकें तैयार करना ज़रूरी था। मेरी एन वाल्कले ६० अन्य लड़कियों के साथ २६$\frac{१}{२}$ घंटे से अविराम काम कर रही थी। तीस-तीस लड़कियां एक-एक कमरे में बंद थीं। और कमरा भी ऐसा कि उनको जितनी घन फ़ुट हवा मिलनी चाहिए थी, उसकी केवल एक तिहाई मिल सकती थी। सोने का कमरा लकड़ी के तख़्ते लगाकर काबुक के छोटे-छोटे, दम घोंटनेवाले सूराख़ों में बांट दिया गया था। ऐसे प्रत्येक कबूतरख़ाने में रात को दो-दो लड़कियों को सोना पड़ता था।[89] और यह लंदन की एक

---

[88] F. Engels, *Die Lage der arbeitenden Klasse in England*, Leipzig, 1845, S. 253, 254.

[89] सरकारी स्वास्थ्य बोर्ड के सलाहकार डाक्टर डा० लेथबी के कथनानुसार: "हर वयस्क व्यक्ति के लिए सोने के कमरे में कम से कम ३०० घन फुट और रहने के कमरे में कम से कम ५०० घन फुट हवा होनी चाहिए।" लंदन के एक अस्पताल के बड़े डाक्टर डा० रिचर्डसन कहते हैं: "विभिन्न प्रकार का सीने-पिरोने का काम करनेवाली औरतें, जिनमें टोपी बनानेवाली औरतें, पोशाक सीनेवाली औरतें और साधारण दर्ज़िनें सभी शामिल हैं, तीन मुसीबतों का शिकार होती हैं: अत्यधिक काम, हवा की कमी और या तो पर्याप्त भोजन का अभाव या पाचनशक्ति का अभाव... सीने-पिरोने का काम... पुरुषों की अपेक्षा प्राय: स्त्रियों के अधिक अनुरूप है। परंतु इस व्यवसाय में, ख़ास तौर पर राजधानी में, यह बुराई है कि उसपर लगभग छब्बीस पूंजीपतियों का एकाधिकार क़ायम है, जो पूंजी से उत्पन्न सुविधाओं का लाभ उठाते हुए, श्रम को और चूसने के लिए नयी पूंजी लगा सकते हैं। इस ताक़त का पूरे वर्ग पर असर पड़ता है। यदि कोई पोशाक सीनेवाली औरत कुछ ख़रीदारों का काम नियमित रूप से पा सकती है, तो उसे ऐसी भयानक प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है कि वह अपने पैर जमाये रखने के लिए काम करते-करते मौत के मुंह में पहुंच जाती है, और यदि कोई दूसरी औरत उसकी मदद करती है, तो उससे भी इस औरत को वैसा ही कमरतोड़ काम लेना पड़ता है। यदि वह फिर भी प्रतियोगिता में असफल हो जाती है या यदि वह स्वतंत्र रूप से व्यवसाय नहीं करना चाहती, तो उसे किसी दूकान में शामिल हो जाना पडता है, जहां पर उसे मेहनत तो पहले से कम नहीं करनी पड़ती, मगर उसका पैसा सुरक्षित रहता है। यहां वह महज़ एक गुलाम बन जाती है और सदा समाज के उतार-चढ़ावों के थपेड़े खाया करती है। जब वह अपने घर पर काम करती थी, तो उसे एक कमरे में बैठकर भूखों मरना पड़ता था या आधा पेट खाकर रह जाना पड़ता था। अब वह चौबीस घंटे में १५, १६ और १८ घंटे मेहनत करती है, और वह भी ऐसी हवा में, जिसे बर्दाश्त करना मुश्किल होता है, और ऐसा खाना खाकर, जो यदि अच्छा भी हो, तो शुद्ध हवा के अभाव में कभी हज़म नहीं हो

सबसे अच्छी टोपियां बनानेवाली दूकान थी। शुक्रवार को मेरी एन वाल्कले बीमार पड़ी और इतवार को मर गयी। श्रीमती एलीज़ को यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि वह बिना काम ख़त्म किये इस दुनिया से चल दी। मि० कीज़ नाम के एक डाक्टर साहब मरीज़ को देखने के लिए बुलाये गये थे, मगर वह तब पहुंचे, जब रोगी की जान बचाना असंभव था। मजिस्ट्रेट की अदालत में जूरी के सामने उन्होंने ईश्वर को हाज़िर-नाज़िर मानकर यह बयान दिया कि "मेरी एन वाल्कले एक भीड़भरे कमरे में बहुत देर तक काम करने और एक बहुत ही छोटे, हवारहित कमरे में सोने के कारण मरी है"। डाक्टर को भद्रजनोचित व्यवहार सिखाने के उद्देश्य से जूरी ने निर्णय दिया कि "मरी एन वाल्कले रक्ताघात से मरी है, लेकिन संदेह होता है कि भीड़भरे कमरे में बहुत देर तक काम करने के कारण उसकी मौत जल्दी हो गयी, इत्यादि"। स्वतंत्र व्यापार के समर्थक कॉबडन और ब्राइट के मुखपत्र *Morning Star* ने इसपर टिप्पणी करते हुए लिखा: "हमारी ये गोरी दासियां, जो मेहनत करते-करते क़ब्र में पहुंच जाती हैं, प्रायः चुपचाप घुलती रहती हैं और अंत में मर जाती हैं।"[90]

"काम करते-करते मर जाना – यह केवल पोशाक बनानेवाली दूकानों का ही नियम नहीं है। हज़ारों अन्य स्थानों में भी यही होता है। बल्कि मैं तो कहना चाहता था कि हर ऐसी जगह पर यही होता है, जहां कोई 'फलता-फूलता व्यवसाय' चलाना होता है... मिसाल के लिए, लोहार को लीजिये। यदि कवियों की बातें सच्ची होतीं, तो लोहार से अधिक हंसमुख,

---

सकता। तपेदिक़, जो कि महज़ गंदी हवा की बीमारी है, इन औरतों को ख़ास तौर पर अपना शिकार बनाती है।" (Dr. Richardson, *Work and Overwork*, देखिये *Social Science Review*, 18 July 1863.)

[90] *Morning Star* २३ जून १८६३; *The Times* ने ब्राइट, आदि के मुक़ाबले में अमरीका के ग़ुलामों के मालिकों की हिमायत करने के लिए इस घटना का उपयोग किया। २ जुलाई १८६३ एक संपादकीय लेख में उसने लिखा: "हममें से बहुत से लोग यह सोचते हैं कि जब हम ख़ुद कोड़े की मार की जगह पर भूख की मार का प्रयोग करके अपने देश की युवतियों से ज़बर्दस्ती काम लेते हैं और काम लेते-लेते उनको मार डालते हैं, तब हमें इसका कोई अधिकार नहीं है कि हम उन परिवारों पर आग-बबूला होते फिरें, जो जन्म से ही ग़ुलामों से काम लेते आये हैं और जो कम से कम अपने ग़ुलामों को अच्छा खाना देते हैं और उनसे कम काम लेते हैं।" *Standard* नामक एक अनुदारदली पत्र ने इसी प्रकार रेवरेंड न्यूमैन हॉल को बहुत बुरा-भला कहा: "वह ग़ुलामों के मालिकों को तो शाप देते थे, पर उन भद्र पुरुषों के साथ बैठकर ईश्वर की प्रार्थना करते थे, जो लंदन के गाड़ीवानों और कंडक्टरों, आदि से बिना किसी संकोच के १६ घंटे रोज़ काम कराते हैं और उन्हें मज़दूरी बहुत थोड़ी देते हैं।" अंत में भविष्यवक्ता टॉमस कार्लाइल बोले, जिनके बारे में मैंने १८५० में यह लिखा था कि "प्रतिभा का लोप हो गया है, उसकी पूजा बाक़ी है"। एक छोटी सी नीति-कथा में वह अमरीकी गृह-युद्ध जैसी आधुनिक इतिहास की एकमात्र महान घटना को इस स्तर पर उतार लाये कि उत्तर में रहनेवाला पीटर दक्षिण में रहनेवाले पॉल का केवल इसलिए सिर तोड़ देना चाहता है कि उत्तरवासी पीटर रोज़ाना के हिसाब से अपने मज़दूरों को नौकर रखता है और दक्षिणवासी पॉल उनको पूरी ज़िंदगी के लिए नौकर रखता है। (*Macmillan's Magazine* में *Ilias Americana in nuce* शीर्षक लेख, अगस्त १८६३)। इस प्रकार शहरी मज़दूरों के लिए – पर देहाती मज़दूरों के लिए कदापि नहीं – अनुदारदली लोगों के दिलों में सहानुभूति का जो बवंडर उठ रहा था, वह आख़िर फट ही पड़ा। और उसके अंदर से निकली क्या? – दासता!

प्रसन्न और उत्साही आदमी और कोई नहीं हो सकता था। वह तड़के ही उठ जाता है और सूरज निकलने के पहले अपने अहरन से चिंगारियां निकालने लगता है। वह जितना मज़ा लेकर खाता-पीता है और जितनी अच्छी नींद सोता है, वैसा खाना-पीना और वैसी नींद और किसी को नसीब नहीं हो सकती। यदि वह संतुलित ढंग से काम करता है, तो शारीरिक दृष्टि से वस्तुतः उसकी स्थिति और सभी मनुष्यों से अच्छी रहती है। परंतु उसके पीछे-पीछे ज़रा किसी शहर या क़सबे में चलकर देखिये कि वहां इस ताक़तवर आदमी पर काम का कैसा बोझा आ पड़ता है और अपने देश के मृत्यु-अनुपात में उसका क्या स्थान है। मैरिलीबोन में एक हज़ार निवासियों के पीछे लोहारों की वार्षिक मृत्यु-दर ३१ है, जो पूरे देश के वयस्क पुरुषों की मौत की औसत दर से ११ अधिक है। लोहार का पेशा मानव-कला के एक अंग के रूप में सर्वथा नैसर्गिक है और मानव-उद्योग की एक शाखा के रूप में सर्वथा अनापत्तिजनक है, परंतु फिर भी महज़ अत्यधिक काम के कारण वह मनुष्य को नष्ट कर देता है। लोहार एक दिन में इतनी बार घन चला सकता है, इतने क़दम चल सकता है, इतनी बार सांस ले सकता है, इतना उत्पादन कर सकता है, और यह सब करते हुए वह औसतन, मान लीजिये, पचास वर्ष तक ज़िंदा रह सकता है। पर उससे रोज़ इतनी ज़्यादा बार घन चलवाया जाता है, उसे इतने अधिक क़दम चलने के लिए मजबूर किया जाता है, इतनी जल्दी-जल्दी सांस लेने के लिए विवश किया जाता है कि इतना सब करने के लिए उसे अपने जीवन-काल में कुल मिला-कर एक चौथाई भाग की वृद्धि कर लेनी चाहिए। वह इसकी कोशिश करता है। नतीजा यह होता है कि कुछ समय तक २५ प्रतिशत अधिक काम निकालने की कोशिश में वह ५० वर्ष की उम्र के बजाय ३७ वर्ष की उम्र में ही मर जाता है।"[91]

अनुभाग ४ – दिन का काम और रात का काम। पालियों की प्रणाली

बेशी मूल्य के सृजन के दृष्टिकोण से स्थिर पूंजी – अथवा उत्पादन के साधनों – का अस्तित्व केवल श्रम का अवशोषण करने के लिए और श्रम की प्रत्येक बूंद के साथ उसी अनुपात में बेशी श्रम का अवशोषण करने के लिए होता है। जब उत्पादन के साधन यह काम नहीं करते, तब उनका मात्र अस्तित्व पूंजीपति के लिए अपेक्षाकृत नुक़सान की बात होता है, क्योंकि जितने समय तक वे बेकार पड़े रहते हैं, उतने समय तक उतनी पूंजी व्यर्थ लगी रहती है। और जब उनका इस्तेमाल बीच में रुक जाने का यह परिणाम होता है कि काम फिर से शुरू करने के समय उनपर नयी पूंजी ख़र्च करनी पड़ती है, तब यह नुक़सान सकारात्मक और निरपेक्ष रूप धारण कर लेता है। काम के दिन को प्राकृतिक दिन की सीमाओं से आगे खींचकर और रात में भी काम लेकर इस नुक़सान को थोड़ा ही कम किया जा सकता है। पूंजी में डायन की तरह श्रम के जीवित रक्त को चूसने की जो चाह होती है, रात में काम लेकर उसे केवल कुछ ही हद तक संतुष्ट किया जा सकता है। इसलिए पूंजीवादी उत्पादन में चौबीसों घंटे काम लेने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। लेकिन चूंकि एक ही व्यक्ति की श्रम-शक्ति का दिन में भी और रात में भी लगातार शोषण करना शारीरिक दृष्टि से असंभव होता है, इसलिए इस

[91] Dr. Richardson, l. c.

शारीरिक रुकावट पर क़ाबू पाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ लोगों की शक्ति को दिन में चूसा जाये और कुछ लोगों की शक्ति को रात में। यह अदला-बदली कई प्रकार से की जा सकती है। मिसाल के लिए, ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि मज़दूरों का एक भाग एक सप्ताह दिन में काम करे और दूसरे सप्ताह रात में। यह एक सुविदित बात है कि इस प्रकार की पालियों की प्रणाली का, जिसमें मज़दूरों के दो दलों से बारी-बारी से दिन और रात में काम लिया जाता है, इंगलैंड के सूती उद्योग की भरी जवानी के दिनों में हर तरफ़ बोलबाला था, और अन्य जगहों के अलावा मास्को ज़िले के कपास की कताई करनेवाले कारख़ानों में यह प्रणाली अब भी ख़ूब ज़ोरों से काम कर रही है। ब्रिटेन में उद्योग की ऐसी कई शाखाओं में, जो अभी तक "स्वतंत्र" हैं, जैसे इंगलैंड, वेल्स तथा स्कॉटलैंड की धमन-भट्ठियों में, लोहार की भट्ठियों में, धातु की चादरें तैयार करनेवाली मिलों में और धातु के अन्य कारख़ानों में, चौबीसों घंटे चलनेवाली इसी उत्पादन-प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। यहां काम के छः दिनों के २४ घंटों के अलावा रविवार के २४ घंटों का अधिकतर भाग भी काम के समय में शामिल होता है। मज़दूरों में मर्द और औरतें, वयस्क और बच्चे, लड़के और लड़कियां, सभी होते हैं। बच्चों और लड़कों की उम्र ८ वर्ष से (कहीं-कहीं पर ६ वर्ष से) शुरू करके १८ वर्ष तक की होती है।[92] उद्योग की कुछ शाखाओं में लड़कियों और औरतों को रात भर मर्दों के साथ काम करना पड़ता है।[93]

रात के काम का आम तौर पर जो ख़राब असर होता है,[94] उसके अलावा उत्पादन की

---

[92] *Children's Employment Commission, 3rd Report*, London, 1864, pp. IV, V, VI.

[93] "स्टेफ़र्डशायर और दक्षिणी वेल्स, दोनों में कोयला-खानों और कोक के ढेरों पर न सिर्फ़ दिन में, बल्कि रात में भी लड़कियों और औरतों से काम लिया जाता है। संसद के सामने पेश की गयी कई रिपोर्टों में बताया गया है कि इस प्रथा से बहुत भयानक बुराइयां पैदा हो जाती हैं। ये स्त्रियां पुरुषों के साथ काम करती हैं। उनकी पोशाक पुरुषों की पोशाक से कोई ख़ास भिन्न नहीं होती। वे सदा धूल और धुएं से ढंकी रहती हैं। और उनको स्त्रियों को शोभा न देनेवाला जो काम करना पड़ता है, उससे अनिवार्य रूप से उनका आत्मसम्मान जाता रहता है और उससे उनमें चरित्रहीनता पैदा होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है।" (l. c., p. 194, p. XXVI, देखिये *4th Report* (1865, No. 61, p. XIII.) कांच के कारख़ानों में भी यही हालत है।

[94] एक इस्पात के कारख़ाने के मालिक ने, जो रात को बच्चों से काम लेता है, बताया कि "यह एक स्वाभाविक बात प्रतीत होती है कि जो लड़के रात को काम करते हैं, वे दिन में न तो सो सकते हैं और न ठीक तरह आराम कर सकते हैं, बल्कि सदा इधर-उधर दौड़ते रहते हैं"। (l. c., *4th Report*, No. 63, p. XIII.) शरीर के भरण-पोषण एवं विकास के लिए सूरज की रोशनी कितनी आवश्यक है, इसके बारे में एक डाक्टर ने लिखा है:"प्रकाश शरीर के ऊतकों को कड़ा करने और उनकी लोच बढ़ाने में उनपर सीधा प्रभाव डालता है। जब पशुओं की मांस-पेशियों को उचित मात्रा में प्रकाश नहीं मिलता, तो वे नरम हो जाती हैं और उनकी लोच कम हो जाती है। स्नायु-शक्ति को यदि पर्याप्त उद्दीपन नहीं प्राप्त होता, तो वह क्षीण होने लगती है। और लगता है, जैसे सारा विकास विकृत हो गया हो... बच्चों के मामले में यह अत्यंत आवश्यक है कि दिन में उनको रोशनी बराबर बहुतायत से मिलती रहे और कुछ समय वे धूप में काटें। प्रकाश अच्छे सुघट्य रक्त के बनने में मदद देता है और शरीर के तंतुओं को मज़बूत बनाता है। साथ ही वह नेत्रों को भी बल देता है और इस प्रकार मस्तिष्क

प्रक्रिया के चौबीसों घंटे जारी रहने से काम के सामान्य दिन की सीमाओं का अतिक्रमण करने की बड़ी सुविधा हो जाती है। मिसाल के लिए, उद्योग की जिन शाखाओं का ऊपर ज़िक्र किया गया है और जिनमें मज़दूरों को बहुत थका देनेवाला काम करना पड़ता है, उनमें रस्मी तौर पर हर मज़दूर के लिए काम के दिन का यह मतलब होता है कि उसे या तो दिन को या रात को बारह घंटे काम करना चाहिए। परंतु असल में उसे अक्सर इससे कहीं ज़्यादा काम करना पड़ता है। इंगलैंड की एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार बहुत से उद्योगों में इस चीज़ ने "सचमुच डरावना" रूप धारण कर लिया है।[95]

इसी रिपोर्ट में आगे लिखा है: "निम्नलिखित अंशों में जिस काम का वर्णन किया गया है, बहुत अधिक मात्रा में वह काम ९ वर्ष से लेकर १२ वर्ष तक की आयु के लड़कों को करना पड़ता है... यह एक बार समझ लेने के बाद हर आदमी लाज़िमी तौर पर इसी नतीजे पर पहुंचेगा कि माता-पिता और मालिकों की शक्ति का ऐसा दुरुपयोग अब और जारी नहीं रहने दिया जा सकता।"[96]

"यदि लड़कों से बारी-बारी से दिन में और रात में काम लेने की प्रथा तनिक भी जारी हो जाती है, तो चाहे सामान्य रूप से इसका उपयोग किया जाये, चाहे किसी विशेष आवश्यकता के समय, उसका अनिवार्य रूप से परिणाम यह होता है कि लड़कों से अक्सर हद से ज़्यादा देर तक काम करवाया जाता है। कुछ जगहों में तो उनको इतनी ज़्यादा देर तक काम करना पड़ता है कि यह न केवल उनके प्रति निर्दयता है, बल्कि अविश्वसनीय भी है। अनेक लड़कों में से दो-एक, ज़ाहिर है, किसी न किसी कारण से अक्सर ग़ैर-हाज़िर रहते हैं। जब यह होता है, तो उनका स्थान एक या अधिक लड़के ले लेते हैं, जो दूसरी पाली में काम करते हैं। यह बात कि यह एक जानी-मानी हुई प्रणाली है... एक बड़ी रोलिंग-मिल के मैनेजर के उत्तर से स्पष्ट हो गयी। मैंने उससे पूछा कि दिन की पाली या रात की पाली में जो लड़के अनुपस्थित रहते हैं, उनके स्थान पर कौन काम करता है? उसने जवाब दिया: 'जनाब, मेरा ख़याल है कि यह बात तो आपको भी उतनी ही अच्छी तरह मालूम होगी, जितनी मुझे।' और यह कहकर उसने असलियत तसलीम कर ली।"[97]

"एक रोलिंग-मिल में, जहां काम का नियत समय सुबह ६ बजे से शाम के ५$\frac{१}{२}$

की विभिन्न क्रियाओं को तेज़ करता है।" यह अंश वोरसेस्टर के सामान्य अस्पताल के बड़े डाक्टर डब्ल्यू० स्ट्रेंज की रचना *Health* (१८६४) से लिया गया है। इन्हीं डाक्टर साहब ने मि० व्हाइट नामक एक सरकारी जांच-कमिश्नर के नाम एक पत्र में लिखा है: "जब मैं लंकाशायर में रहता था, तब मुझे यह देखने का मौक़ा मिला था कि रात को काम करने का बच्चों पर क्या असर पड़ता है, और मुझे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि कुछ मालिक आम तौर पर जो कुछ कहने के शौक़ीन हैं, उसके बिल्कुल विपरीत, जिन बच्चों से रात में काम लिया जाता है, उनका स्वास्थ्य बहुत जल्दी ख़राब हो जाता है।" (l. c., No. 284, p. 55.) ऐसे प्रश्न पर भी गंभीर विवाद खड़ा हो सकता है, यह दिखाता है कि पूंजीपतियों और उनके मुसाहिबों के दिमाग़ों को पूंजीवादी उत्पादन कितना कुंद कर देता है।

[95] l. c., No. 57, p. XII.

[96] l. c., *4th Report* (1865), No. 58, p. XII.

[97] l. c.

बजे तक था, एक लड़का हर हफ़्ते लगभग चार दिन रात के कम से कम ८$\frac{1}{2}$ बजे तक काम करता था... और यह छः महीने तक चलता रहा। एक दूसरा लड़का, जब उसकी उम्र ६ बरस की थी, तो वह कभी-कभी बारह-बारह घंटे की तीन पालियों तक लगातार काम करता चला जाता था, और १० वर्ष का हो जाने पर वह कभी-कभी दो दिन और दो रात तक लगातार काम करता रहता था।" "एक तीसरा लड़का है, जिसकी उम्र अब १० वर्ष है... वह हफ़्ते में तीन दिन सुबह ६ बजे से रात के १२ बजे तक काम करता था और तीन दिन रात के ६ बजे तक।" "एक और लड़का है, जिसकी उम्र अब १३ वर्ष की है... वह पूरे एक सप्ताह तक रोज़ शाम के छः बजे से अगले दिन दोपहर के १२ बजे तक काम करता रहा, और कभी-कभी तो वह तीन पालियों तक, यानी सोमवार की सुबह से मंगल की रात तक, लगातार काम करता चला जाता था।" "एक और लड़का है, जिसकी उम्र अब १२ वर्ष की है। स्टैंवले के एक लोहे की ढलाई के कारख़ाने में पूरे चौदह दिन तक रोज़ सुबह के ६ बजे से रात के १२ बजे तक काम करता रहा, और आख़िर उसकी ताक़त ने जवाब दे दिया।" ६ वर्ष के जार्ज ऐलिन्सवर्थ ने बताया कि "वह यहां पिछले शुक्रवार को तहख़ाने में काम करने के लिए आया था। अगले दिन हम लोगों को सुबह ३ बजे काम शुरू कर देना था, इसलिए मैं रात भर यहीं रुका रहा। वैसे मैं रहता हूं यहां से पांच मील दूर। रात को भट्ठी के फ़र्श पर एक ऐपरन बिछाकर सो गया; एक छोटा सा कोट था, वह ओढ़ लिया। बाक़ी दो दिन मैं सुबह ६ बजे ही यहां पहुंच गया था। बाप रे! सचमुच यहां बहुत गरमी रहती है। यहां आने के पहले मैंने देहात के एक ऐसे ही कारख़ाने में एक बरस तक यही काम किया था। वहां भी शनिवार की सुबह को ३ बजे काम शुरू कर देना पड़ता था—हमेशा ३ बजे सुबह को। पर वह कारख़ाना मेरे घर के बहुत नज़दीक था, और मैं घर पर सो सकता था। बाक़ी दिन मैं सुबह ६ बजे काम शुरू करता था और शाम को ६ या ७ बजे बंद कर देता था", इत्यादि, इत्यादि।[98]

---

[98] l. c., p. XIII. इन "श्रम-शक्तियों" का सांस्कृतिक स्तर स्वभावतया कितना ऊंचा होगा, यह एक जांच-कमिश्नर के साथ कुछ मज़दूरों के भिन्न संवादों से स्पष्ट हो जाता है: जेरेमिया हेन्स, आयु १२ वर्ष: "चार गुने चार ८ होते हैं; चार चौके १६ होते हैं। राजा वह है, जिसके पास सारा रुपया और सोना है। हमारा एक राजा है (सुनते हैं, रानी है), जिस-को लोग राजकुमारी अलेक्ज़ांड्रा कहते हैं। सुनते हैं, उसने रानी के बेटे के साथ शादी कर ली है। रानी का बेटा राजकुमारी अलेक्ज़ांड्रा है। राजकुमारी मर्द होता है।" विलियम टर्नर, आयु १२ वर्ष: "मैं इंगलैंड में नहीं रहता। शायद इंगलैंड कोई देश है, पर पहले मुझे नहीं मालूम था।" जान मौरिस, आयु १४ वर्ष: "मैंने सुना है कि दुनिया भगवान ने बनायी है और एक को छोड़कर बाक़ी सब पानी में डूब गये थे, और सुना है बचनेवाला आदमी एक छोटी सी चिड़िया था।" विलियम स्मिथ, आयु १५ वर्ष: "भगवान ने पुरुष को बनाया, पुरुष ने स्त्री को बनाया।" एडवर्ड टेलर, आयु १५ वर्ष: "मैंने लंदन का नाम कभी नहीं सुना।" हेनरी मैथ्यूमैन, आयु १७ वर्ष: "गिरजाघर जाता तो था, पर हाल में बहुत बार नहीं गया हूं। एक आदमी, जिसके बारे में वहां उपदेश देते हैं, वह ईसा मसीह कहलाता है; बाक़ी के नाम मैं नहीं जानता। और ईसा मसीह के बारे में भी मुझे कुछ मालूम नहीं है। नहीं, उसे किसी ने मारा नहीं था; वह ख़ुद ही मर गया था, जैसे और सब लोग मरते हैं। कुछ बातों में वह वैसा नहीं था, जैसे और लोग होते हैं: कुछ बातों में वह बहुत धार्मिक था, और

आइये, अब ज़रा यह देखें कि २४ घंटे काम लेने की प्रणाली के विषय में ख़ुद पूंजी क्या सोचती है। इस प्रणाली के चरम रूपों के बारे में – काम के दिन का "निर्दयतापूर्ण एवं अविश्वसनीय ढंग से" विस्तार करने के रूप में इस प्रणाली का जो दुरुपयोग किया जाता है, उसके बारे में पूंजी स्वभावतः चुप्पी साध लेती है। पूंजी इस प्रणाली के केवल "सामान्य" रूप की ही चर्चा करती है।

मेसर्स नेलर एण्ड विकर्स इस्पात तैयार करते हैं। उनके यहां ६०० और ७०० के बीच आदमी काम करते हैं। उनमें से केवल १० प्रतिशत की उम्र १८ वर्ष से कम है, और इनमें से भी केवल २० लड़के रात को काम करते हैं। मेसर्स नेलर एण्ड विकर्स ने इस प्रणाली के बारे में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं: "लड़कों को गरमी से कोई तकलीफ़ नहीं

लोग ऐसे नहीं होते (l. c., No. 74, p. XV.) "शैतान अच्छा आदमी है। मैं नहीं जानता, वह कहां रहता है।" "ईसा मसीह बड़ा दुष्ट था।" "इस लड़की से God [भगवान] के हिज्जे पूछे गये, तो उसने बताये कुत्ते के हिज्जे, और रानी का नाम उसे मालूम नहीं था।" (*Children's Employment Commission 5th Report*, 1866, p. 55. No. 278.) धातुकर्म कारख़ानों में जो व्यवस्था पायी जाती है और जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, वही कांच और काग़ज़ के कारख़ानों में भी पायी जाती है। काग़ज़ की फ़ैक्टरियों में, जहां पर मशीन से काग़ज़ बनाया जाता है, चिथड़े छांटने की प्रक्रिया को छोड़कर बाक़ी सब प्रक्रियाओं में रात में काम कराया जाता है। कुछ फ़ैक्टरियों में पालियों की प्रणाली के द्वारा पूरे सप्ताह रात में काम लगातार होता रहता है; वह साधारणतया रविवार की रात को शुरू होता है और अगले शनिवार की आधी रात तक चलता रहता है। जो मज़दूर दिन की पाली में काम करते हैं, वे हर हफ़्ते ५ दिन बारह-बारह घंटे काम करते हैं और १ दिन १८ घंटे; जो रात की पाली में काम करते हैं, वे ५ रातों तक १२ घंटे और एक रात छः घंटे काम करते हैं। दूसरे मामलों में जब साप्ताहिक पालियों का परिवर्तन किया जाता है, तो हर पाली लगातार २४ घंटे काम करती है, यानी एक पाली सोमवार को ६ घंटे और शनिवार को १८ घंटे काम करके चौबीस घंटे पूरे कर देती है। कुछ फ़ैक्टरियों में एक बीच की व्यवस्था पायी जाती है, जिसमें काग़ज़ बनाने की मशीन पर काम करनेवाले तमाम मज़दूर हर रोज़ १५ या १६ घंटे मेहनत करते हैं। जांच-कमिश्नर लॉर्ड ने कहा है कि इस प्रणाली में, "मालूम होता है, १२ घंटे की पाली और २४ घंटे की पाली, दोनों की सारी बुराइयां आकर इकट्ठी हो गयी हैं"। १३ वर्ष से कम के बच्चों से, १८ वर्ष से कम लड़के-लड़कियों से और स्त्रियों से भी रात में काम लिया जाता है। १२ घंटे वाली व्यवस्था में कभी-कभी, जब दूसरी पाली के कुछ आदमी काम पर नहीं आते, तो उन्हें २४ घंटे की दो पालियों का काम निबटाना पड़ता है। जांच-कमिश्नरों के सामने दिये बयानों से यह बात साफ़ हो गयी है कि लड़के-लड़कियों को अकसर ओवरटाइम काम करना पड़ता है, जो प्रायः २४ घंटे और यहां तक कि ३६ घंटे तक भी लगातार चलता रहता है। काचन की अनवरत तथा सदा एक ढंग से चलनेवाली प्रक्रिया में १२-१२ बरस की लड़कियां काम करती पायी जाती हैं, जो पूरे महीने १४ घंटे रोज़ काम करती हैं और जिनको "भोजन करने की आध-आध घंटे की २ या अधिक से अधिक ३ छुट्टियों के सिवा बीच में एक भी नियमित अवकाश नहीं मिलता"। कुछ मिलों में, जहां नियमित रूप से चलनेवाला रात का काम बिल्कुल बंद कर दिया गया है, मज़दूर-मज़दूरिनों से भयानक रूप में अत्यधिक काम लिया जाता है, "और अकसर इस तरह का काम सबसे ज़्यादा गंदी, सबसे ज़्यादा गरम और सबसे अधिक नीरस प्रक्रियाओं में लिया जाता है"। (*Children's Employment Commission, 4th Report*, 1865, pp. XXXVIII, XXXIX.)

होती। तापमान शायद ८६° से ६०° तक रहता है... लोहारख़ाने और रोलिंग-मिल में मज़दूर पालियों में दिन-रात काम करते हैं, पर बाक़ी सब विभागों में केवल दिन में, यानी सुबह ६ बजे से शाम के ६ बजे तक, काम होता है। लोहारख़ाने में काम का समय १२ से १२ तक है। कुछ मज़दूरों को सदा रात में ही काम करना पड़ता है; उनकी पाली नहीं बदलती... जो लोग नियमित रूप से रात में काम करते हैं, उनका स्वास्थ्य उन लोगों से किसी तरह बुरा नहीं है, जो दिन में काम करते हैं। और संभवतः यदि लोगों का छुट्टी का समय एक सा रहता है और उसमें बार-बार परिवर्तन नहीं होता, तो वे ज़्यादा अच्छी नींद सो सकते हैं... १८ वर्ष से कम उम्र के क़रीब २० लड़के रात की पालियों में काम करते हैं... १८ वर्ष से कम उम्र के इन लड़कों से रात को काम कराये बग़ैर शायद हमारा काम नहीं चल सकता। उनसे रात को काम न लेने के ख़िलाफ़ एतराज़ यह होगा कि उत्पादन का ख़र्चा बढ़ जायेगा... हर विभाग के लिए कुशल मज़दूर और फ़ोरमैन बहुत मुश्किल से मिलते हैं, मगर लड़के किसी भी संख्या में मिल सकते हैं... लेकिन हमारे यहां लड़कों का अनुपात इतना कम है कि यह विषय (अर्थात् रात के काम पर प्रतिबंध लगाने का विषय) हमारे लिए कोई दिलचस्पी या महत्त्व नहीं रखता।"[99]

मेसर्स जॉन ब्राउन एण्ड कंपनी का एक इस्पात और लोहे का कारख़ाना है, जिसमें क़रीब ३,००० मर्द और लड़के काम करते हैं। इसका कुछ काम, यानी लोहे का काम तथा इस्पात का ज़्यादा भारी काम दिन-रात पालियों में होता है। इस फ़र्म के एक हिस्सेदार, मि० जे० एलिस का कहना है कि "इस्पात के ज़्यादा भारी काम के लिए हर दो आदमियों पर एक या दो लड़के नौकर रखे जाते हैं"। इस कंपनी ने १८ वर्ष से कम उम्र के ५०० से ज़्यादा लड़कों को नौकर रख रखा है, जिनमें से लगभग एक तिहाई – यानी १७० – की उम्र १३ वर्ष से भी कम है। बालकों को नौकर रखने के संबंध में क़ानून में जो परिवर्तन करने का प्रस्ताव किया जा रहा था, उसके विषय में मि० एलिस ने कहा: "यदि कोई इस तरह का नियम बना दिया जाये कि १८ वर्ष से कम उम्र का कोई व्यक्ति २४ घंटे में १२ घंटे से ज़्यादा काम नहीं कर सकता, तो मैं नहीं सोचता कि यह कोई बहुत आपत्तिजनक बात होगी। लेकिन हमारी राय में १२ वर्ष की उम्र के ऊपर कोई रेखा खींचकर यह नहीं कहा जा सकता कि इससे कम उम्र के लड़कों से रात को काम न लिया जाये। जो लड़के हमारे यहां नौकर हैं, उनसे रात को काम न लेने की अपेक्षा तो हम यह बेहतर समझेंगे कि १३ वर्ष से कम उम्र के, या यहां तक कि १४ वर्ष के कम उम्र के लड़कों को नौकर रखने पर ही रोक लगा दी जाये। जो लड़के दिन की पाली में काम करते हैं, उनको अपनी बारी आने पर रात की पाली में भी काम करना होगा, क्योंकि मर्द लोग सदा रात को काम नहीं कर सकते – उससे उनकी तन्दुरुस्ती ख़राब हो जायेगी... लेकिन हमारे विचार से, हर दूसरे हफ़्ते में रात को काम करने में कोई बुराई नहीं है।" (इसके विपरीत अपने व्यवसाय के हितों को देखते हुए मेसर्स नेलर एण्ड विकर्स की यह राय थी कि लगातार रात को काम करने की अपेक्षा थोड़े-थोड़े दिन बाद रात को काम करना स्वास्थ्य के लिए ज़्यादा हानिकारक होगा।) "हमें ऐसे आदमी भी मिल जाते हैं, जो हर दूसरे सप्ताह में रात को काम करने को तैयार होते हैं, और ऐसे भी मिल जाते हैं, जो केवल दिन में काम करते हैं, और उनके स्वास्थ्य में कोई अंतर नहीं होता... १८ वर्ष

[99] *4th Report etc.*, 1865, No. 79, p. XVI.

से कम उम्र के लड़कों से रात को काम न लेने देने के ख़िलाफ़ हम इसलिए एतराज़ करते हैं कि उससे ख़र्चा बढ़ जायेगा, न कि और किसी कारण।" (कैसा निर्लज्जतापूर्ण भोलापन है यह!) "हम समझते हैं कि इससे ख़र्चा इतना अधिक बढ़ जायेगा कि हमारा व्यवसाय उसे सहन नहीं कर पायेगा, यदि इस व्यवसाय को सफलतापूर्वक चलाया जाना है।" (कैसी चिकनी-चुपड़ी बातें हैं!) "यहां मज़दूर मुश्किल से मिलते हैं, और यदि कोई ऐसा नियम बन गया, तो मुमकिन है कि मज़दूरों की कमी हो जाये।" (अर्थात् मुमकिन है कि तब मेसर्स एलिस ब्राउन एण्ड कंपनी पर यह मुसीबत आ जाये कि उन्हें श्रम-शक्ति का पूरा मूल्य चुकाना पड़े।)[100]

मेसर्स कैम्मेल एण्ड कंपनी का 'साइक्लोप्स स्टील एण्ड आयरन वर्क्स' उतने ही बड़े पैमाने का कारख़ाना है, जितने बड़े पैमाने का कारख़ाना मेसर्स जॉन ब्राउन एण्ड कंपनी का है, जिसका हमने ऊपर ज़िक्र किया है। उसके मैनेजिंग डायरेक्टर ने सरकारी जांच-कमिश्नर मि० व्हाइट को अपना बयान लिखित रूप में दिया था। बाद को जब बयान की हस्तलिपि उनके पास दोहराने के लिए लौटकर आयी, तो उन्होंने उसे दबाकर बैठ जाना ही बेहतर समझा, मगर मि० व्हाइट की याददाश्त अच्छी थी। उनको अच्छी तरह याद था कि साइक्लोप्स कंपनी की राय यह थी कि बच्चों तथा लड़के-लड़कियों से रात में काम लेने पर प्रतिबंध लगाना "असंभव है, क्योंकि यह तो उनके कारख़ाने को बंद कर देने के बराबर होगा", और फिर भी असलियत यह थी कि उनके यहां १८ वर्ष से कम उम्र के लड़कों की संख्या ६ प्रतिशत से थोड़ी ही ज्यादा थी और १३ वर्ष से कम उम्र के लड़कों की संख्या तो १ प्रतिशत से भी कम थी।[101]

मेसर्स सैण्डर्सन ब्रदर्स एण्ड कंपनी का एट्टरक्लिफ़ में इस्पात की रोलिंग-मिल और लोहारख़ाना है। इसके मि० ई० एफ़० सैण्डर्सन ने इसी प्रश्न पर यह मत प्रकट किया: "यदि १८ वर्ष से कम उम्र के लड़कों को रात में काम करने से रोक दिया गया, तो बड़ी मुश्किल हो जायेगी। सबसे बड़ी कठिनाई यह होगी कि लड़कों की जगह मर्दों को रखने के कारण लागत बढ़ जायेगी। यह तो मैं नहीं बता सकता कि कितनी, पर शायद इतनी नहीं कि उसके आधार पर कारख़ाने वाले इस्पात के दाम बढ़ा दें। नतीजा यह होगा कि यह बढ़ी हुई लागत कारख़ाने वालों को ही बर्दाश्त करनी पड़ेगी, क्योंकि, ज़ाहिर है, मज़दूर तो उसे देने को तैयार होंगे नहीं" (कितने अजीब लोग हैं ये मज़दूर भी!)। मि० सैण्डर्सन को मालूम नहीं कि उनके यहां जो बच्चे काम करते हैं, उनको वह कितनी मज़दूरी देते हैं, लेकिन "कम उम्र लड़कों को शायद ४ शिलिंग से लेकर ५ शिलिंग तक फ़ी हफ़्ता मिलता है... लड़कों को इस तरह का काम करना होता है, जिसके लिए उनकी ताक़त आम तौर पर" (महज़ "आम तौर पर" न कि हमेशा) "काफ़ी होती है, और इसलिए लड़कों की जगह पर जब मर्दों को रखा जायेगा, तो उनकी ज्यादा ताक़त से ऐसा कोई फ़ायदा न होगा, जिससे बढ़े हुए ख़र्च की भरपाई हो सके; या यदि कुछ फ़ायदा होगा, तो केवल उन चंद जगहों पर, जहां धातु बहुत भारी होती है। मर्दों को यह पसंद नहीं आयेगा कि उनके मातहत लड़के काम नहीं करते, क्योंकि लड़कों की जगह पर जो मर्द रखे जायेंगे, वे उतने आज्ञाकारी नहीं होंगे। इसके अलावा लड़कों को बचपन में ही धंधा सीखना शुरू कर देना चाहिए। यदि उनको सिर्फ़ दिन में ही

---

[100] l. c., No. 80, p. XVI.
[101] l. c., No. 82, p. XVII.

काम करने की इजाज़त दी जायेगी, तो उससे यह उद्देश्य पूरा नहीं होगा।" क्यों नहीं पूरा होगा? लड़के दिन में काम करके धंधा क्यों नहीं सीख सकते? वजह सुनिये: "मर्द चूंकि एक सप्ताह दिन में काम करेंगे और एक सप्ताह रात में, इसलिए आधे समय उनको अपने मातहत काम करनेवाले लड़कों से अलग काम करना होगा, और लड़कों के ज़रिये वे जो नफ़ा कमाते हैं, उसका आधा उनके हाथ से निकल जायेगा। यह जानी-समझी बात है कि लड़के जो मेहनत करते हैं, उसके एक भाग के एवज़ में ही मर्द उनको काम सिखाते हैं और इसलिए लड़के उनको अपेक्षाकृत सस्ती दर पर मिल जाते हैं। इस नफ़े का आधा भाग हर आदमी के हाथ से जाता रहेगा।" दूसरे शब्दों में, मेसर्स सैण्डर्सन आजकल वयस्क मज़दूरों की मज़दूरी का एक हिस्सा लड़कों के रात के काम के रूप में निबटा देते हैं, प्रतिबंध लग जाने पर उनको यह हिस्सा अपनी जेब से देना होगा। इसलिए मेसर्स सैण्डर्सन का नफ़ा कुछ हद तक कम हो जायेगा। यही वह सैण्डर्सन-मार्का ज़ोरदार कारण है, जिसके फलस्वरूप लड़के दिन में काम करके अपना धंधा नहीं सीख पायेंगे।[102] इसके अलावा लड़कों की जगह पर तब वयस्क मज़दूरों को रात में काम करना पड़ेगा, और वे रात का काम बर्दाश्त नहीं कर पायेंगे। वस्तुतः कठिनाइयां इतनी अधिक हो जायेंगी कि अंत में संभवतया रात का काम बिल्कुल बंद कर देना पड़ेगा, और, मि० ई० एफ़० सैण्डर्सन के शब्दों में, "जहां तक ख़ुद काम का संबंध है, इससे हमें कोई परेशानी नहीं होगी, लेकिन..." लेकिन मेसर्स सैण्डर्सन का उद्देश्य केवल इस्पात बनाना ही तो नहीं है। इस्पात बनाना तो बेशी मूल्य पैदा करने का महज़ एक बहाना है। धातु गलाने की भट्ठियों और रोलिंग-मिलों, आदि को, कारख़ाने के मकानों और मशीनों को, लोहे और कोयले, आदि को इस्पात में रूपांतरित होने के अलावा भी कुछ करना है। उनको बेशी श्रम का अवशोषण करना है, और, ज़ाहिर है, वे १२ घंटे के मुक़ाबले में २४ घंटे में ज़्यादा बेशी श्रम का अवशोषण करते हैं। सच तो यह है कि भगवान की दया से और क़ानून के प्रताप से ये तमाम चीज़ें मेसर्स सैण्डर्सन को मज़दूरों की एक निश्चित संख्या के श्रम-काल को रोज़ाना चौबीस घंटे इस्तेमाल करने का अधिकार दे देती हैं, और जैसे ही इन चीज़ों का श्रम का अवशोषण करने का कार्य बीच में रुक जाता है, वैसे ही उनका पूंजी का स्वरूप नष्ट हो जाता है और उनसे मेसर्स सैण्डर्सन को विशुद्ध हानि होने लगती है। "पर तब हमारा यह नुक़सान होगा कि इतनी क़ीमती मशीनें आधे समय बेकार पड़ी रहा करेंगी, और मौजूदा व्यवस्था के रहते हुए हम जितना काम कर लेते हैं, उतना काम करने के लिए हमें अपना कारख़ाना और मशीनें आज से दुगुनी कर देनी पड़ेंगी, जिसके फलस्वरूप हमें आज से दुगुनी पूंजी लगानी पड़ जायेगी।" परंतु मेसर्स सैण्डर्सन ऐसा विशेषाधिकार क्यों चाहते हैं, जो उन दूसरे पूंजीपतियों को नहीं प्राप्त है, जो केवल दिन में काम कराते हैं और इसलिए जिनकी इमारतें, मशीनें, कच्चा माल, वग़ैरह रात को "बेकार" पड़े रहते हैं? मेसर्स सैण्डर्सन जैसे सभी पूंजीपतियों की तरफ़ से ई० एफ़० सैण्डर्सन इस प्रश्न का यह उत्तर देते हैं: "यह सच है कि जिन कारख़ानों में केवल दिन में काम होता है, उनमें भी मशीनें बेकार पड़ी रहती हैं और उससे इस तरह का नुक़सान होता है। लेकिन हम चूंकि भट्ठियों का इस्तेमाल करते हैं,

---

[102] "यह चिंतन और तर्क का युग है। इस युग में जो आदमी हर चीज़ का, वह चीज़ चाहे कितनी ख़राब और पागलपन से भरी क्यों न हो, कोई अच्छा कारण नहीं बता सकता, उस आदमी की क़ीमत ज़्यादा नहीं समझी जाती। दुनिया में जो भी ग़लत काम किया गया है, वह हमेशा सर्वोत्तम कारणों से किया गया है।" (Hegel, *Enzyklopädie*, Erster Theil, *Die Logik*, Berlin, 1840, S. 249.)

इसलिए हमारा उनसे ज्यादा नुक़सान होगा। यदि हम भट्ठियों को जलाये रखेंगे, तो ईंधन बेकार ख़र्च होगा" (जब कि आजकल केवल मजदूरों की जीवन-शक्ति ख़र्च होती है), "और यदि हम उनको ठंडा हो जाने देंगे, तो नये सिरे से आग जलाने और भट्ठियों को गरम करने में बहुत सा समय व्यर्थ ज़ाया हो जायेगा" (जब कि आठ-आठ वर्ष के बच्चों को भी यदि सोने का समय नहीं मिलता, तो उससे सैण्डर्सनों की क़ौम को अतिरिक्त श्रम-काल मिल जाता है) "और तापमान के परिवर्तन से ख़ुद भट्ठियां ख़राब हो जायेंगी" (जब कि मज़दूरों की दिन और रात की पालियों के बदलते रहने से इन भट्ठियों की कोई हानि नहीं होगी)।[103]

---

[103] *Children's Employment Commission, 4th Report etc.*, 1865, No. 85. p. XVII. कांच के कारख़ानों के मालिकों ने भी इसी प्रकार बड़ी सहृदयता का परिचय देते हुए बच्चों को नियत समय पर भोजन की छुट्टी देने के प्रस्ताव का इस बिना पर विरोध किया था कि यदि ऐसा किया गया, तो भट्ठियों की गरमी का एक भाग "व्यर्थ ज़ाया" हो जायेगा, जिससे उनका "सरासर नुक़सान" होगा। इस दलील का जांच-कमिश्नर व्हाइट ने जवाब दिया है। उनका जवाब यूर, सीनियर, आदि तथा रोशर के ढंग के उनके जर्मन नक़्क़ालों जैसा नहीं है, जिनका हृदय पूंजीपति अपना सोना ख़र्च करने में जिस "संयम", जिस "आत्मनिरोध" और जिस "मितव्ययिता" का परिचय देते हैं और मानव-जीवन का व्यय करने में जिस तैमूरी दरियादिली का प्रदर्शन करते हैं, उससे द्रवित हो उठता है। कमिश्नर व्हाइट ने लिखा है: "यह मुमकिन है कि यदि भोजन का समय निश्चित कर दिया जायेगा, तो जितनी गरमी इस वक़्त ज़ाया होती है, उससे थोड़ी ज्यादा गरमी ज़ाया होने लगेगी, लेकिन यह नुक़सान द्रव्य-मूल्य में शायद जीवन-शक्ति के उस अपव्यय के बराबर नहीं होगा, जो पूरे राज्य के कांच के कारख़ानों में नयी उम्र के लड़कों को आराम से खाना खाने और खाने के बाद उसे हज़म करने के लिए पर्याप्त विश्राम के वास्ते काफ़ी समय न देने के फलस्वरूप हो रहा है।" (l. c., p. XLV.) और यह १८६५ के प्रगति के वर्ष में हो रहा है! जिस शेड में बोतलें और सीस-कांच बनाया जाता है, उसमें काम करनेवाले बच्चे को सामान उठाने और ले जाने में जो शक्ति ख़र्च करनी पड़ती है, हम यदि उसकी ओर कोई ध्यान न दें, तो भी उस बच्चे को अपने काम के दौरान हर ६ घंटे में १५-२० मील चलना पड़ता है! और काम अकसर १४ या १५ घंटे तक चलता रहता है! मास्को की कताई मिलों की तरह कांच के इन कारख़ानों में से अनेक में ६ घंटे की पालियों की व्यवस्था के अनुसार काम होता है। "सप्ताह का जो हिस्सा काम में ख़र्च होता है, उसके दौरान एक बार में ज़्यादा से ज़्यादा छः घंटे लगातार आराम करने के लिए मिलते हैं, और घर से कारख़ाने तक आने-जाने में, नहाने-धोने और कपड़े पहनने में तथा भोजन करने में जो समय जाता है, वह भी इन्हीं छः घंटों में से निकालना पड़ता है। इसलिए आराम करने के लिए सचमुच बहुत ही कम समय मिलता है, और ताज़ा हवा में घूमने और खेलने के लिए तो ज़रा भी समय नहीं मिलता। हां, अगर नींद का समय काटकर घूमा और खेला जाये, तो बात दूसरी है। मगर इन छोटे-छोटे लड़कों के लिए, ख़ास तौर पर इतनी ज़्यादा गरमी में ऐसा थका देनेवाला काम करने के बाद, सोना बहुत ज़रूरी होता है... और जो थोड़ी सी नींद ये लोग ले पाते हैं, वह भी अकसर बीच में ही टूट जाती है। लड़कों को रात को अकसर बीच में ही नियत समय पर उठने की चिंता के कारण जाग जाना पड़ता है, और दिन में वे शोर के कारण अच्छी तरह सो नहीं पाते।" मि० व्हाइट ने कुछ ऐसे उदाहरण बताये हैं, जहां एक लड़के को लगातार ३६ घंटे तक काम करना पड़ा; १२ वर्ष की उम्र के कुछ और लड़कों ने सुबह के २ बजे तक काम किया, फिर वे कारख़ाने में ही सो गये और ५ बजे (सिर्फ़ ३ घंटे सोने के बाद!) उठकर फिर काम में लग गये। ट्रेमेनहीर और टुफ़नैल ने, जिन्होंने कमीशन की सामान्य रिपोर्ट का मसौदा तैयार किया था, कहा है: "अपनी दिन की पाली या रात की पाली में लड़कों, नौजवानों, लड़कियों और औरतों को जितना काम करना

अनुभाग ५–काम के सामान्य दिन के लिए संघर्ष। काम का दिन बढ़ाने के विषय में १४ वीं सदी के मध्य से १७ वीं सदी के अंत तक बनाये गये अनिवार्य क़ानून

"काम के दिन का क्या अर्थ है? पूंजी उस श्रम-शक्ति का कितने समय तक उपभोग कर सकती है, जिसका दैनिक मूल्य उसने चुकाया है? स्वयं श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन के लिए जितना श्रम-काल आवश्यक है, काम के दिन को उसके आगे कितना खींचा जा सकता है?" हम यह देख चुके हैं कि इन तमाम सवालों का पूंजी यह जवाब देती है कि काम के दिन में पूरे चौबीस घंटे शामिल होते हैं, जिनमें से आराम के वे चंद घंटे काट लिये जाते हैं, जिनके बिना श्रम-शक्ति आगे काम करने से एकदम इनकार कर देती है। इसलिए यह एक स्वतःस्पष्ट बात है कि मजदूर ज़िंदगी भर श्रम-शक्ति के सिवा और कुछ नहीं होता और इसलिए उसका वह सारा समय, जिसमें वह काम कर सकता है, प्रकृति और क़ानून के नियमों के अनुसार पूंजी के आत्मविस्तार के लिए ख़र्च होना चाहिए। जो लोग मज़दूर को शिक्षा के लिए, बौद्धिक विकास के लिए, सामाजिक कार्यों तथा सामाजिक आदान-प्रदान के लिए, उसकी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों के स्वच्छंद विकास के लिए या यहां तक कि रविवार को विश्राम करने के लिए (ध्यान रहे, यह देश रविवार को विश्राम करनेवालों का देश है!)[104] समय देने की बात करते हैं, वे ख़याली पुलाव पका रहे हैं! लेकिन अनियंत्रणीय

पड़ता है, वह निश्चय ही एक असाधारण चीज़ है।" (l. c., pp. XLIII, XLIV.) उधर शायद काफ़ी रात बीत जाने पर त्यागमूर्ति श्रीमान कांच-पूंजी पोर्ट शराब से मस्त होकर अपने क्लब से घर की ओर रवाना होते हैं और रास्ते में अहमक़ाना अंदाज़ से गुनगुनाते जाते हैं: "न होंगे, न होंगे कभी ब्रिटेनवासी ग़ुलाम!"

[104] इंगलैंड में अब भी कभी-कभी यह होता है कि यदि देहाती इलाक़ों में कोई मजदूर रविवार को अपने झोंपड़े के सामने वाले बग़ीचे में काम करता हुआ पाया जाता है, तो विश्राम के पवित्र दिन का उल्लंघन करने के अपराध में उसे जेल भेज दिया जाता है। पर यही मजदूर यदि रविवार के दिन धातु, काग़ज़ या कांच के उस कारख़ाने में काम करने न जाये, जहां वह नौकर है, तो भले ही वह अपनी धार्मिक भावना के कारण काम पर न गया हो, उसे क़रार तोड़ने का दोषी ठहराया जाता है और सजा सुना दी जाती है। यदि पूंजी का विस्तार करने की प्रक्रिया के दौरान विश्राम के पवित्र दिन का उल्लंघन किया जायेगा, तो धर्म-भीरु संसद भी उसके ख़िलाफ़ कोई शिकायत न सुनेगी। लंदन की मछली और मुर्ग़ी-अंडों की दूकानों में काम करनेवाले दिन-मज़दूरों ने अगस्त १८६३ में एक आवेदनपत्र के द्वारा यह मांग की थी कि उनसे रविवार को काम लेने पर प्रतिबंध लगा दिया जाये। इस आवेदनपत्र में बताया गया है कि सप्ताह के पहले छः दिन उन्हें औसतन पंद्रह घंटे रोजाना काम करना पड़ता है और रविवार को ८-१० घंटे। इसी आवेदनपत्र से यह भी पता चलता है कि एक्जेटर हॉल के अभिजातवर्गीय बगुलाभगतों में कुछ ऐसे जिह्वालोलुप भोजन-भट्ट हैं, जो "रविवार के इस काम" को ख़ास बढ़ावा देते हैं। ये "साधु-हृदय" लोग, जो "in cute curanda" [अपने हित-साधन में] इतना उत्साह दिखाते हैं, दूसरों के कठिन परिश्रम, दैन्य और भूख को अत्यंत विनम्रता के साथ सहन करके ईसाई धर्म के प्रति अपने प्रेम का प्रदर्शन करते हैं। Obsequium ventris istis perniciosius est [उन (मज़दूरों) के लिए पेटूपन बहुत ख़तरनाक होगा, क्योंकि इससे उनका सत्यानाश हो जायेगा]

लोभ से अंधी होकर बेशी श्रम के लिए वृक-मानव की तरह भूखी पूंजी काम के दिन की न केवल नैतिक, बल्कि विशुद्ध शारीरिक सीमाओं का भी अतिक्रमण कर जाती है। पूंजी शरीर की वृद्धि, विकास और समुचित संपोषण के लिए आवश्यक समय को भी हड़प लेती है। ताजा हवा और सूरज की धूप का सेवन करने के लिए जो समय चाहिए, वह उसे भी चुरा लेती है। वह भोजन के समय को लेकर हुज्जत करती है और जहां मुमकिन होता है, इस समय को भी उत्पादन की प्रक्रिया में शामिल कर लेती है, जिससे मजदूर को काम के दौरान उत्पादन के किसी साधन की तरह ही भोजन दिया जाता है, जैसे बायलर को कोयला और मशीन को ग्रीज और तेल दिया जाता है। अपनी शारीरिक शक्तियों में नयी जान डालने, नया बल भरने और ताजगी लाने के लिए मजदूर को गहरी नींद सोने की जरूरत होती है। मगर पूंजी उसे थकन से एकदम चूर होकर केवल चंद घंटे निश्चल पड़े रहने की इजाजत देती है, क्योंकि यदि वह यह भी न करे, तो मजदूर का शरीर काम करने से जवाब दे दे। काम के दिन की सीमाएं इस बात से नहीं निर्धारित होतीं कि श्रम-शक्ति को सामान्य अवस्था में रखने के लिए मजदूर को आराम करने के लिए कितना समय देना आवश्यक है; मजदूर के आराम करने के समय की सीमाएं इस बात से निश्चित होती हैं कि मजदूर चाहे जितना ही यातनाप्रद कार्य करे और उससे चाहे कैसे ही जबर्दस्ती काम लिया जाये, और उसका काम चाहे जितना तकलीफ़देह हो, श्रम-शक्ति का रोजाना अधिक से अधिक व्यय करना आवश्यक है। पूंजी को इस बात की कोई चिंता नहीं होती कि श्रम-शक्ति कितने दिन तक जीवित रहेगी। उसको तो केवल और एकमात्र इस बात की चिंता होती है कि काम के एक दिन में ज्यादा से ज्यादा श्रम-शक्ति ख़र्च कर डाली जाये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूंजी मजदूर की ज़िंदगी को वैसे ही कम कर देती है, जैसे लालची किसान अपनी धरती की उपज बढ़ाने के लिए उसकी उर्वरता को नष्ट कर डालता है।

इस प्रकार उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली (जो कि बुनियादी तौर पर बेशी मूल्य का उत्पादन या बेशी श्रम का अवशोषण होती है) काम के दिन को बढ़ाने के साथ-साथ न केवल मानव की श्रम-शक्ति के विकास तथा कार्य करने के लिए आवश्यक साधारण नैतिक एवं शारीरिक परिस्थितियों से उसे वंचित करके उसे पतन के गढ़े में धकेल देती है, बल्कि ख़ुद इस श्रम-शक्ति को भी वह समय से पहले ही थका डालती है और उसकी हत्या कर देती है।[105] वह किसी एक निश्चित अवधि में मजदूर का उत्पादन-काल बढ़ाने के लिए उसके वास्तविक जीवन-काल को छोटा कर देती है।

लेकिन श्रम-शक्ति के मूल्य में उन पण्यों का मूल्य शामिल होता है, जो मजदूर के पुनरुत्पादन के लिए, या मजदूर वर्ग का अस्तित्व क़ायम रखने के लिए, आवश्यक होते हैं। इसलिए पूंजी आत्मविस्तार के अनियंत्रित मोह में पड़कर काम के दिन का अनिवार्य रूप से जो अस्वाभाविक विस्तार करती है, उसके फलस्वरूप मजदूर के जीवन की अवधि और इसलिए उसकी श्रम-शक्ति की अवधि यदि कम हो जाती हैं, तो उसकी जो शक्तियां ख़र्च हो गयी हैं, उनकी कमी को और जल्दी पूरा करना होगा और श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन का ख़र्चा

---

[105] "अपनी पिछली रिपोर्टों में हम ऐसे कई अनुभवी कारख़ानेदारों के बयानों को उद्धृत कर चुके हैं, जिन्होंने यह माना था कि बहुत ज्यादा देर तक काम करने से... निश्चय ही मजदूरों की कार्य-शक्ति समय से पहले समाप्त हो जाती है।" (l. c., No. 64, p. XIII.)

पहले से बढ़ जायेगा। यह उसी तरह की बात है, जैसे कोई मशीन जितनी जल्दी घिस जाती है, उसके मूल्य के उतने ही बड़े भाग के बराबर नया मूल्य रोज़ पैदा करना होता है। इसलिए लगता है कि ख़ुद पूंजी का हित भी इसी बात में है कि काम के दिन की लंबाई सामान्य हो।

ग़ुलामों का मालिक जैसे घोड़ा ख़रीदता है, वैसे ही वह मज़दूर को भी ख़रीदता है। यदि उसका ग़ुलाम मर जाता है, तो उसकी पूंजी डूब जाती है, जिसके स्थान की पूर्ति केवल ग़ुलामों की मंडी में नयी पूंजी ख़र्च करने से ही हो सकती है। किंतु "जॉर्जिया का धान का इलाक़ा या मिसीसिपी नदी का दलदल मानव-शरीर के लिए भले ही अत्यंत घातक हों, पर इन इलाक़ों की खेती के लिए इनसानों की जितनी ज़िंदगियों का ज़ाया होना ज़रूरी होता है, वे संख्या में इतनी अधिक नहीं होतीं कि बड़ी संख्या में हबशियों का उत्पादन करनेवाले वर्जीनिया और केंटुकी के क्षेत्रों से उनकी कमी को पूरा न किया जा सके। इसके अलावा, जहां प्राकृतिक अवस्था में मितव्ययिता का ख़याल ग़ुलाम को ज़िंदा रखना मालिक के हित में ज़रूरी बना देता है और इसलिए इस बात की थोड़ी गारंटी कर देता है कि ग़ुलाम के साथ मनुष्योचित व्यवहार किया जायेगा, वहां एक बार ग़ुलामों का व्यापार शुरू हो जाने पर यही ख़याल ग़ुलाम से ज़्यादा मेहनत कराने की प्रेरणा भी देता है। कारण कि जब उसकी जगह पर दूसरे स्थान से फ़ौरन कोई नया ग़ुलाम आ सकता है, तब इस बात का कम महत्त्व रह जाता है कि ग़ुलाम कुल कितने दिन ज़िंदा रहेगा, और महत्त्व इस बात का हो जाता है कि जब तक वह ज़िंदा है, तब तक वह कितनी पैदावार करता है। चुनांचे दूसरे मुल्कों से ग़ुलाम मंगानेवाले देशों में ग़ुलामों से काम लेनेवालों का यह उसूल है कि सबसे अच्छी अर्थव्यवस्था वह होती है, जो मनुष्यरूपी चल संपत्ति से कम से कम समय में ज़्यादा से ज़्यादा मेहनत कराने में कामयाब होती है। उष्णदेशीय फ़सलों के क्षेत्रों में, जहां एक साल का नफ़ा अकसर बाग़ानों में लगी हुई कुल पूंजी के बराबर होता है, सबसे अधिक लापरवाही के साथ हबशियों के जीवन की बलि दी जाती है। वेस्ट इंडीज़ की खेती, जो सदियों से बेशुमार दौलत पैदा करती आ रही है, हबशी नस्ल के लाखों-करोड़ों आदमियों को खा गयी है। क्यूबा में, जिसकी आमदनी करोड़ों में गिनी जाती है और जिसके बाग़ानों के मालिक राजाओं की तरह रहते हैं, हम आज भी ग़ुलामों को ख़राब से ख़राब खाना खाकर अनवरत अत्यधिक थकानेवाला कठिन परिश्रम करते हुए देखते हैं, जिसके फलस्वरूप उनका एक बड़ा भाग हर साल पूर्णतः नष्ट हो जाता है।"[106]

Mutato nomine de te fabula narratur! [नाम बदल दें, तो यह कहानी जनाब की है!] ग़ुलामों के व्यापार की जगह पर मज़दूरों की मंडी, केंटुकी और वर्जीनिया की जगह पर आयरलैंड और इंगलैंड, स्कॉटलैंड तथा वेल्स के खेतिहर डिस्ट्रिक्टों को और अफ़्रीका की जगह पर जर्मनी को रख दीजिये। हम सुन चुके हैं कि ज़्यादा काम करने के कारण लंदन के रोटी बनानेवाले कारीगरों में मृत्यु-दर कितनी अधिक बढ़ गयी थी। फिर भी लंदन की श्रम की मंडी रोटी की दूकानों में मृत्यु का ग्रास बनने के इच्छुक जर्मन तथा अन्य मज़दूरों से सदा ठसाठस भरी रहती है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मिट्टी के बर्तन बनानेवाले मज़दूर सबसे कम समय तक ज़िंदा रहते हैं। पर क्या इससे मिट्टी के बर्तन बनानेवालों की कोई कमी

---

[106] J. E. Cairnes, *The Slave Power*, pp. 110, 111.

महसूस होती है? मिट्टी के बर्तन बनाने की आधुनिक कला के आविष्कारक जोज़िया वेजवुड ख़ुद भी शुरू में एक साधारण मज़दूर थे। उन्होंने १७८५ में हाउस आफ़ कामन्स के सामने बयान देते हुए बताया था कि इस पूरे व्यवसाय में १५,००० से लेकर २०,००० तक आदमी काम करते हैं।[107] १८६१ में इंगलैंड में इस उद्योग के केवल शहरी केंद्रों की जनसंख्या १,०१,३०२ थी। "सूती कपड़ों का व्यवसाय नब्बे वर्ष से क़ायम है... अंग्रेज़ी नसल की तीन पीढ़ियों से वह मौजूद है, और मेरा विश्वास है कि यदि मैं यह कहूं, तो ज़रा भी अतिशयोक्ति न होगी कि इस दौरान यह व्यवसाय कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों की नौ पीढ़ियों को हड़प गया है।"[108]

इसमें संदेह नहीं कि जब उद्योगधंधों में असाधारण तेज़ी आती है, तब श्रम की मंडी में मज़दूरों की ख़ासी कमी महसूस होने लगती है। मिसाल के लिए, १८३४ में ऐसी कमी महसूस हुई थी। पर उस वक़्त कारख़ानेदारों ने ग़रीबों के क़ानून के कमिश्नरों के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि खेतिहर ज़िलों की "फ़ालतू आबादी" को उत्तर में भेज दिया जाये, और इसके पक्ष में यह दलील दी गयी थी कि वहां "उसे कारख़ानेदार खपा लेंगे और इस्तेमाल कर डालेंगे"।[109] चुनांचे "ग़रीबों के क़ानून के कमिश्नरों की अनुमति से एजेंट नियुक्त कर दिये गये थे... मैंचेस्टर में एक दफ़्तर खोल दिया गया था। खेतिहर ज़िलों के जो मज़दूर नौकरी चाहते थे, उनके नामों की सूचियां इस दफ़्तर में भेज दी जाती थीं, और वहां पर उनके नाम रजिस्टरों में दर्ज कर लिये जाते थे। कारख़ानों के मालिक इन दफ़्तरों में जाते थे, और इन सूचियों में से अपनी इच्छानुसार कुछ लोगों को छांट लेते थे। अपनी 'आवश्यकता के अनुसार' लोगों को छांट लेने के बाद वे हिदायतें जारी कर देते थे कि इन मज़दूरों को मैंचेस्टर भेज दिया जाये। सामान की गांठों की तरह इन मज़दूरों पर भी लेबिल लगाकर उनको नहरों में चलनेवाली नावों के ज़रिये, गाड़ियों के ज़रिये या पैदल ही मैंचेस्टर रवाना कर दिया जाता था, और उनमें से बहुत से बीच में ही खो जाते थे, या भूख से परेशान होकर रास्ते में ही बैठ जाते थे। इस व्यवस्था ने एक नियमित व्यापार का रूप धारण कर लिया था। हाउस आफ़ कामन्स मेरी बात पर विश्वास न करेगा, पर मैं बताता हूं कि मानव-देहों का यह व्यापार उतने ही ज़ोर-शोर से चलता था, इन मज़दूरों की (मैंचेस्टर के) कारख़ानेदारों के हाथ उतने ही नियमित रूप से बिक्री होती थी, जितने नियमित रूप से संयुक्त राज्य अमरीका के कपास की खेती करनेवालों के हाथों ग़ुलामों की बिक्री होती है... १८६० में कपास का व्यापार उन्नति के शिखर पर था... तब कारख़ानेदारों को फिर मज़दूरों की कमी महसूस होने लगी... उन्होंने 'गोश्त के एजेंट' कहलानेवाले लोगों से मज़दूर मांगे। इन एजेंटों ने मज़दूरों की तलाश में इंगलैंड के दक्षिणी पठारों में, डॉर्सेटशायर की चरागाहों में, डेवनशायर के जंगली मैदानों में, और विलशायर के गाय पालनेवालों के बीच अपने आदमी भेजे, मगर बेसूद। फ़ालतू आबादी पहले ही 'हज़म हो चुकी थी'।" फ़्रांसीसी संधि पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद *Bury Guardian* नामक पत्र ने लिखा था कि "लंकाशायर

---

[107] John Ward, *The Borough of Stoke-upon-Trent*, London, 1843, p. 42.

[108] हाउस आफ़ कामन्स में फ़ेरॉड का भाषण, २७ अप्रैल १८६३।

[109] "सूती कपड़ा बनानेवाले कारख़ानेदारों ने ठीक इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया था।"– l. c.

१०,००० नये मज़दूरों को हज़म कर सकता है, और अभी हमें ३०,००० या ४०,००० मज़दूरों की आवश्यकता पड़ेगी"। जब ये "गोश्त के एजेंट और सब-एजेंट" खेतिहर ज़िलों में घूम-घूमकर ख़ाली हाथ लौट आये, तो "एक प्रतिनिधिमंडल लंदन आया और माननीय महोदय के सामने [यानी ग़रीबों के क़ानून के बोर्ड के अध्यक्ष मि० विलियर्स के सामने] उपस्थित हुआ। वह चाहता था कि कुछ मुहताज-ख़ानों में रहनेवाले बच्चे लंकाशायर की मिलों को मिल जायें"।[110]

---

[110] l.c. अपने बेहतरीन इरादों के बावजूद मि० विलियर्स को "क़ानूनन" कारख़ानेदारों की दरख़ास्त को मानने से इनकार कर देना पड़ा। परंतु इन महानुभावों ने ग़रीबों के क़ानून के मातहत बनाये गये स्थानीय बोर्डों की कृपा-दृष्टि का उपयोग करके अपना काम बना लिया। फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टर मि० ए० रेड्ग्रेव का कहना है कि जिस व्यवस्था के मातहत अनाथ बच्चों और ग़रीबों के बच्चों को "क़ानूनन" शागिर्द समझा जाता था, उसमें इस बार "उसकी पुरानी बुराइयां नहीं पायी गयीं" (इन "बुराइयों" के बारे में एंगेल्स की पूर्वोक्त रचना देखिये), हालांकि एक जगह "स्कॉटलैंड के खेतिहर डिस्ट्रिक्टों से लंकाशायर और चेशायर में लायी गयी कुछ लड़कियों और युवतियों के सिलसिले में निश्चय ही इस व्यवस्था का दुरुपयोग किया गया था"। इस व्यवस्था के मातहत कारख़ानेदार एक निश्चित समय के लिए किसी मुहताज-ख़ाने के अधिकारियों के साथ क़रार कर लेता था। वह मुहताज-ख़ाने के बच्चों को रोटी-कपड़ा, रहने का स्थान और थोड़े से पैसे नक़द दे देता था। मि० रेड्ग्रेव के वक्तव्य का जो अंश मैं यहां उद्धृत करनेवाला हूं, वह कुछ अजीब सा लगता है, ख़ास तौर पर जब हम यह सोचते हैं कि जिस काल को इंगलैंड के सूती कपड़े के व्यवसाय के लिए सबसे अधिक समृद्धि का काल समझा जाता है, उस काल में भी १८६० का कोई और वर्ष मुक़ाबला नहीं कर सकता था और इसके अलावा उस वर्ष मज़दूरी की दरें बहुत ही ऊंची थीं। कारण कि इंगलैंड में मज़दूरों की यह बेहद बढ़ी हुई मांग ठीक उसी ज़माने में दिखायी पड़ी थी, जिस ज़माने में आयरलैंड में जनसंख्या-ह्रास हुआ था, इंगलैंड और स्कॉटलैंड के खेतिहर ज़िलों से बेशुमार लोग आस्ट्रेलिया और अमरीका चले गये थे और इंगलैंड के कुछ खेतिहर ज़िलों में कुछ हद तक तो खेतिहर मज़दूरों की जीवन-शक्ति के सचमुच जवाब दे देने के फलस्वरूप और कुछ हद तक इस कारण कि इन ज़िलों की फ़ालतू आबादी को इनसान के गोश्त के व्यापारियों ने पहले ही अन्यत्र पहुंचा दिया था, आबादी सचमुच कम हो गयी थी। पर इस सबके बावजूद मि० रेड्ग्रेव का कहना है: "लेकिन इस प्रकार के श्रम की केवल उसी वक़्त तलाश की जायेगी, जब और किसी प्रकार का श्रम नहीं मिलेगा, क्योंकि यह बहुत महंगा श्रम होता है। १३ वर्ष की उम्र के एक लड़के की साधारण मज़दूरी ४ शिलिंग प्रति सप्ताह होगी, परंतु ऐसे ५० या १०० लड़कों को रोटी-कपड़ा, रहने का स्थान, दवादारू देने तथा उनके ऊपर निगाह रखनेवाले कर्मचारियों को नौकर रखने और साथ ही इन लड़कों को कुछ नक़द मज़दूरी देने के लिए ४ शिलिंग फ़ी लड़का प्रति सप्ताह की रक़म हरगिज़ काफ़ी नहीं होगी।" (*Reports of the Insp. of Factories for 30th April 1860*, p. 27.) मि० रेड्ग्रेव हमें यह बताना भूल जाते हैं कि जब कारख़ानेदार एक साथ रहनेवाले ५० या १०० लड़कों को ४ शिलिंग प्रति सप्ताह में रोटी-कपड़ा, रहने का स्थान और दवादारू नहीं दे सकता, तब मज़दूर अपने बच्चों को ये सब चीज़ें कैसे दे सकता है। इस उद्धरण से पाठक किन्हीं ग़लत नतीजों पर न पहुंच जायें, इसलिए मुझे यहां यह बता देना चाहिए कि जब से इंगलैंड के सूती कपड़ा उद्योग पर श्रम-काल, आदि का नियमन करनेवाला १८५० का फ़ैक्टरी-अधिनियम लागू हुआ है, तब से उसे इंगलैंड का आदर्श उद्योग मानना चाहिए। इंगलैंड की कपड़ा-मिलों में काम करनेवाले मज़दूर की हालत अपने यूरोपीय भाई-बंद की अपेक्षा हर दृष्टि से बेहतर है। "प्रशा के कारख़ानों में काम करनेवाला मज़दूर अपने अंग्रेज़ प्रतिद्वंद्वी के मुक़ाबले में हर हफ़्ते कम से कम दस घंटे ज़्यादा काम करता है, और यदि वह अपने घर पर

पूंजीपति को अनुभव से जो कुछ मालूम होता है, वह यह है कि देश में जनसंख्या सदा आवश्यकता से अधिक होती है, यानी बेशी श्रम का अवशोषण करनेवाली पूंजी की क्षणिक आवश्यकताओं की तुलना में जनसंख्या हमेशा ज्यादा बनी रहती है, हालांकि यह आधिक्य मनुष्यों की कई ऐसी पीढ़ियों का होता है, जिनके शरीर का विकास बीच में रुक गया है, जो बहुत थोड़े समय ही ज़िंदा रह पाती हैं, जिनमें एक पीढ़ी बहुत जल्दी दूसरी पीढ़ी का स्थान ले लेती है और जो मानो परिपक्वता को प्राप्त होने के पहले ही मसलकर फेंक दी जाती हैं।[111] और सचमुच अनुभव से कोई भी बुद्धिमान पर्यवेक्षक यह देख सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से उत्पादन की जो पूंजीवादी प्रणाली अभी कल ही पैदा हुई थी, उसने कितनी तेज़ी और कितनी मज़बूती के साथ लोगों की जीवन-शक्ति को जड़ से अपने शिकंजे में जकड़ लिया है। अनुभव बताता है कि औद्योगिक जनसंख्या का यदि एकदम अंधाधुंध पतन नहीं हो रहा है, तो इसका केवल यही कारण है कि उसमें लगातार देहात से ऐसे आदिम तत्त्व शामिल होते रहते हैं, जो शारीरिक दृष्टि से अभी भ्रष्ट नहीं हुए हैं। अनुभव से पता चलता है कि देहात से आये हुए मज़दूर हालांकि सदा ताज़ा हवा में रहते आये हैं और उनके बीच हालांकि प्राकृतिक वरण का सिद्धांत बड़े शक्तिशाली ढंग से काम कर रहा है और केवल सबसे ताक़तवर व्यक्तियों को ही जीवित रहने का अवसर देता है, परंतु इन मज़दूरों ने भी अभी से मरना आरंभ कर दिया है।[112] पूंजी का हित इसी बात में है कि वह अपने इर्द-गिर्द

बैठकर ख़ुद अपने करघे पर काम करता है, तो उसका श्रम इन दस अतिरिक्त घंटों तक ही सीमित नहीं रहता।" (*Reports of the Insp. of Fact., 31st Oct. 1855*, p. 103.) ऊपर रेड्ग्रेव नामक जिन फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर का ज़िक्र किया गया है, उन्होंने १८५१ की औद्योगिक प्रदर्शनी के बाद कारख़ानों की हालत की जांच करने के लिए यूरोपीय महाद्वीप की ओर विशेष कर फ़्रांस और जर्मनी की यात्रा की थी। प्रशा के मज़दूर के बारे में उन्होंने लिखा है: "उसे मज़दूरी इतनी मिलती है कि वह बहुत सादा भोजन और उन चंद सुविधाओं को जुटाने के लिए ही काफ़ी होती है, जिनकी उसको आदत है... वह मोटा-झोटा खाता है और ख़ूब कड़ी मेहनत करता है, और इस तरह उसकी स्थिति अंग्रेज़ मज़दूर से ख़राब है।" (*Reports of the Insp. of Fact., 31st Oct. 1855*, p. 85.)

[111] जिनसे बहुत अधिक काम लिया जाता है, वे "एक अजीब तेज़ी के साथ मरने लगते हैं, लेकिन जो मर जाते हैं, उनका स्थान तुरंत ही भर जाता है, और व्यक्तियों का जो परिवर्तन इतनी जल्दी-जल्दी होता रहता है, उससे पूरे चित्र में कोई अंतर नहीं पड़ता।" (*England and America*, London, 1833, V. I, p. 55. By E. G. Wakefield.)

[112] देखिये *Public Health. 6th Report of the Medical Officer of the Privy Council, 1863*. लंदन से १८६४ में प्रकाशित। यह रिपोर्ट ख़ास तौर पर खेतिहर मज़दूरों के बारे में है। "सदरलैंड को... आम तौर पर एक बहुत उन्नत काउंटी समझा जाता है... लेकिन... हाल की जांच-पड़ताल से पता लगा है कि यहां भी, ऐसे इलाक़ों में, जो किसी समय अपने जवानों और बहादुर सिपाहियों के लिए प्रसिद्ध थे, अब नसल ख़राब हो गयी है और केवल छोटे-छोटे ऐसे मनुष्य पैदा होते हैं, जिनकी बाढ़ मारी जा चुकी है। जो स्थान सबसे अधिक स्वास्थ्यप्रद हैं, जैसे समुद्र किनारे के पहाड़ी इलाक़े, वहां पर भी इन लोगों के दुबले-पतले, भूखे बच्चों के चेहरे उतने ही पीले पड़ गये हैं, जितने कि लंदन की किसी गली के गंदे वातावरण में रहनेवाले बच्चों के चेहरे होते हैं।" (W. Th. Thornton, *Overpopulation and its Remedy*, London, 1846, pp. 74, 75.) वास्तव में तो ये लोग उन ३०,००० "बहादुर पहाड़ियों" के समान हैं, जिनको ग्लासगो ने वेश्याओं और चोरों के साथ-साथ अपनी झोपड़पट्टियों और चालों में जमा कर रखा है।

रहनेवाले असंख्य मज़दूरों की मुसीबतों की तरफ़ से हमेशा आंखें मूंदे रखे। अतः यदि इनसान की नसल ख़राब होती जा रही है और एक दिन उसके एकदम नष्ट हो जाने की आशंका है, तो इस बात का पूंजी के हृदय पर उतना ही प्रभाव पड़ता है, जितना इस बात का कि पृथ्वी के एक दिन सूरज से टकराकर ख़त्म हो जाने की संभावना है। जब कभी सटोरियों की धोखाधड़ियों के कारण शेयरों के भाव तेज़ी से बढ़ने लगते हैं, तो हर आदमी जानता है कि किसी भी समय बाजार यकायक ठप्प हो जायेगा और भाव एकदम गिर जायेंगे, लेकिन हर कोई यही उम्मीद लगाये रहता है कि यह आनेवाली मुसीबत उसके पड़ोसी के सिर पर पड़ेगी, जब कि वह ख़ुद इसके पहले ही अपनी थैली भरकर किसी सुरक्षित स्थान में भाग जायेगा। Après moi le délugel [मेरे बाद चाहे जग प्रलय!]—हर पूंजीपति का और हर पूंजीवादी राष्ट्र का यही मूल सिद्धांत है। इसलिए पूंजी को जब तक समाज मजबूर नहीं कर देता, तब तक वह इसकी क़तई कोई परवाह नहीं करती कि मज़दूर का स्वास्थ्य कैसा है या वह कितने दिन तक ज़िंदा रह पायेगा।[113] जब कुछ लोग मज़दूरों के शारीरिक एवं नैतिक पतन का, उनकी असमय मृत्यु का और अत्यधिक काम की यातनाओं का शोर मचाते हैं, तो पूंजी उनको यह जवाब देती है: इन बातों से हमें क्यों सिरदर्द हो, जब उनसे हमारा मुनाफ़ा बढ़ता है? परंतु यदि पूरी तसवीर पर ग़ौर किया जाये, तो सचमुच यह सब अलग-अलग पूंजीपतियों की सद्भावना अथवा दुर्भावना पर निर्भर नहीं करता। स्वतंत्र प्रतियोगिता पूंजीवादी उत्पादन के मूलभूत नियमों को अमल में लाती है, जो बाह्य एवं अनिवार्य नियमों के रूप में हर अलग-अलग पूंजीपति पर लागू होते हैं।[114]

---

[113] "देशवासियों का स्वास्थ्य हालांकि राष्ट्रीय पूंजी का इतना महत्त्वपूर्ण अंग है, मगर हमें यह मानना पड़ेगा कि मज़दूरों के मालिकों के वर्ग ने राष्ट्र की इस संपदा की रक्षा एवं सार-संभार के लिए कोई ख़ास कोशिश नहीं की है... मज़दूरों के स्वास्थ्य का मिल-मालिकों ने तभी कुछ ख़याल किया, जब उनको इसके लिए मजबूर कर दिया गया।" (*The Times*, November 5, 1861.) "वेस्ट राइडिंग के रहनेवाले सारी दुनिया को कपड़ा पहनाने लगे... मज़दूरों के स्वास्थ्य की बलि दी गयी, और कुछ पीढ़ियों के बाद तो पूरी नसल ख़राब हो जाने की संभावना थी। लेकिन फिर उसकी प्रतिक्रिया आरंभ हुई। लार्ड शैफ़्ट्सबरी के बिल ने बच्चों के काम के घंटों को सीमित कर दिया", इत्यादि। (*22nd Report of the Registrar-General*, London, 1861.)

[114] इसीलिए हम यह पाते हैं कि, मिसाल के लिए, १८६३ के आरंभ में २६ ऐसी कंपनियों ने, जिनके स्टैफ़र्डशायर में मिट्टी के बर्तन बनाने के अनेक कारख़ाने थे और जिनमें जोज़िया वेजवुड एण्ड सन्स नाम की फ़र्म भी शामिल थी, एक आवेदनपत्र के द्वारा "किसी क़ानून के बनाये जाने" की मांग की थी। दूसरे पूंजीपतियों के साथ चलनेवाली प्रतियोगिता उनको इस बात की इजाज़त नहीं देती थी कि वे अपनी मर्ज़ी से बच्चों के काम का समय सीमित कर दें, इत्यादि। चुनांचे उन्होंने लिखा था: "उपर्युक्त बुराइयों पर हमें अत्यंत खेद है, फिर भी हमारे लिए यह संभव नहीं है कि कारख़ानेदारों के बीच किसी समझौते की योजना के द्वारा इन बुराइयों को दूर कर दें... इन तमाम बातों पर ग़ौर करके हम इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि इस संबंध में कोई क़ानून बनाने की ज़रूरत है!" (*Children's Employment Commission, 1st Report*, 1863, p. 322.) एक बिल्कुल ताज़ा मिसाल इससे कहीं ज़्यादा दिलचस्प है। सूती कपड़े के व्यवसाय में तेज़ी आने पर जब कपास के दाम बढ़ गये, तो ब्लैकबर्न के कारख़ानेदारों ने आपस की रज़ामंदी से एक निश्चित अवधि के लिए अपनी मिलों के काम करने का समय कम कर दिया। यह अवधि नवंबर

सामान्य लंबाई के काम के दिन का निर्धारण पूंजीपति और मजदूर के बीच सदियों लंबे संघर्ष का फल है। इस संघर्ष के इतिहास में दो विरोधी प्रवृत्तियां दिखायी देती हैं। मिसाल के लिए, इंगलैंड के हमारे जमाने के फ़ैक्टरी-क़ानूनों की १४वीं सदी से १८वीं सदी तक की मज़दूर-संविधियों से तुलना करके देखिये।[115] जहां आधुनिक फ़ैक्टरी-क़ानून काम के दिन को ज़बर्दस्ती छोटा कर देते हैं, वहां पुरानी संविधियां उसे ज़बर्दस्ती लंबा करने की कोशिश करती थीं। अपनी भ्रूणावस्था में पूंजी को, यानी जब उसका विकास आरंभ ही होता है, quantum sufficit [पर्याप्त मात्रा में बेशी श्रम] का अवशोषण करने का अधिकार केवल आर्थिक संबंधों के प्रताप से ही प्राप्त नहीं होता, बल्कि उसे राज्य की सहायता से भी यह अधिकार प्राप्त करना पड़ता है। उस काल में पूंजी जो दावे करती है, वे, ज़ाहिर है, उन रिआयतों के मुक़ाबले में बहुत छोटे मालूम पड़ते हैं, जो पूंजी को अपनी प्रौढ़ावस्था में लड़ते-झगड़ते और गुर्राते हुए भी आख़िर देनी ही पड़ती हैं। सदियां बीत जाती हैं, तब कहीं जाकर "स्वतंत्र" मजदूर पूंजीवादी उत्पादन के विकास के परिणामस्वरूप इस बात के लिए तैयार होता है, यानी सामाजिक परिस्थितियों के द्वारा इस बात के लिए मजबूर कर दिय जाता है, कि जीवन के लिए आवश्यक चंद वस्तुओं के दाम के एवज़ में अपना संपूर्ण सक्रिय जीवन, अपनी समस्त कार्य-क्षमता बेच डाले और अपने मूलभूत अधिकारों को कौड़ियों के मोल दे दे। इसलिए यह बात स्वाभाविक है कि १४वीं सदी के मध्य से लेकर १७वीं सदी के अंत तक पूंजी ने राज्य के बनाये हुए नियमों के ज़रिये वयस्क मज़दूरों के काम के दिन को ज़बर्दस्ती जितना लंबा करने की कोशिश की थी, १९वीं सदी के उत्तरार्ध में राज्य ने बच्चों के ख़ून को पूंजी में ढाले जाने से रोकने के लिए काम के दिन को कहीं-कहीं लगभग उतना ही छोटा करने की कोशिश की है। मिसाल के लिए, मैस्साचुसेट्स राज्य में, जो अभी हाल तक उत्तरी अमरीकी गणतंत्र का सबसे स्वतंत्र राज्य समझा जाता था, आज १२ वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिए श्रम की जो क़ानूनी सीमा घोषित की गयी है, वह इंगलैंड में १७वीं सदी के मध्य में भी तन्दुरुस्त कारीगरों, हृष्टपुष्ट मज़दूरों और पहलवान लोहारों के लिए काम के दिन की सामान्य लंबाई समझी जाती थी।[116]

१८७१ के अंत के आसपास समाप्त हो गयी। इस बीच इस समझौते के फलस्वरूप उत्पादन में जो कमी आयी थी, उससे उन अधिक धनवान कारख़ानेदारों ने फ़ायदा उठाया, जो कताई के साथ-साथ बुनाई भी करते थे। उन्होंने अपने व्यापार का विस्तार बढ़ा लिया, और छोटे-छोटे मालिकों को पीछे धकेलकर ये लोग मोटे मुनाफ़े कमाने लगे। तब छोटे मालिकों ने परेशानी में मजदूरों से मदद मांगी और उनसे कहा कि आप लोगों को ९ घंटे की प्रणाली चालू करवाने के लिए डटकर आंदोलन चलाना चाहिए और हम लोग इस काम में रुपये-पैसे से भी आप लोगों की मदद करेंगे।

[115] इन मजदूर-संविधियों की तरह के नियम उसी वक़्त फ़्रांस, नीदरलैंड्स तथा अन्य देशों में भी बनाये गये थे। इंगलैंड में उनको पहले-पहल १८१३ में रस्मी तौर पर मंसूख किया गया, हालांकि उत्पादन के तरीक़ों में जो परिवर्तन आ गये थे, उन्होंने इन संविधियों को बहुत पहले ही निरर्थक बना डाला था।

[116] "१२ वर्ष से कम उम्र के किसी बच्चे से किसी कारख़ाने में १० घंटे रोज़ाना से ज्यादा काम नहीं लिया जायेगा।" (*General Statutes of Massachusetts*, 63, Ch. 12.) (ये क़ानून १८३६ और १८५८ के बीच पास हुए थे।) "तमाम सूती, ऊनी व रेशमी मिलों में, काग़ज़, कांच और सन की फ़ैक्टरियों में या लोहे और पीतल के कारख़ानों में १० घंटे की अवधि तक किया गया श्रम क़ानून की नज़रों में एक दिन का श्रम समझा जायेगा। और

पहला *Statute of Labourers* ['मज़दूरों के बारे में संविधि'] (एडवर्ड तृतीय के राज्य-काल के २३वें वर्ष में बनाया गया क़ानून, १३४६) बनाने का तात्कालिक बहाना (उसका कारण नहीं, क्योंकि इस तरह के क़ानून देश में बहाना ख़त्म हो जाने के सदियों बाद तक लागू रहते हैं) प्लेग की वह महामारी थी, जिसने इंगलैंड के लोगों को एकदम तबाह कर दिया था और यह हालत पैदा कर दी थी कि, एक अनुदारदली लेखक के शब्दों में, "उचित मजदूरी पर (अर्थात् ऐसी मजदूरी पर, जिससे मालिकों के पास पर्याप्त मात्रा में बेशी श्रम बचे रहे) मज़दूरों को काम करने के लिए राज़ी करना इतना अधिक कठिन हो गया था कि परिस्थिति बिल्कुल असहनीय हो गयी थी।"[117] इसलिए जिस तरह क़ानून काम के दिन की सीमाओं को निश्चित कर देता था, उसी तरह वह उचित मजदूरी भी तय कर देता था। हमें यहां केवल काम के दिन की सीमाओं में दिलचस्पी है। वे १४९६ की संविधि (हेनरी सातवें के राज्य-काल में बनायी गयी) में भी दोहरायी गयी थीं। इस संविधि के अनुसार (लेकिन उस-पर अमल नहीं हो सका) मार्च से लेकर सितंबर तक तमाम कारीगरों और खेतिहर मज़दूरों के लिए काम का दिन सुबह को ५ बजे से शुरू होकर रात को ७ और ८ बजे के बीच ख़त्म होना चाहिए था। लेकिन खाने के लिए अधिक समय दिया गया था: १ घंटा सुबह नाश्ते के लिए, $१\frac{१}{२}$ घंटा दिन के भोजन के लिए और $\frac{१}{२}$ घंटा दोपहर के नाश्ते के लिए; यानी आजकल लागू फ़ैक्टरी-अधिनियम में जितना समय खाने के लिए है, उससे ठीक दुगुना समय दिया गया था।[118]

आज से यह क़ानून भी लागू होगा कि किसी भी फ़ैक्टरी में किसी नाबालिग़ से १० घंटे रोज़ाना या ६० घंटे प्रति सप्ताह से अधिक काम नहीं लिया जायेगा और आज से इस राज्य के किसी भी कारख़ाने में किसी ऐसे नाबालिग़ को काम करने की इजाजत नहीं होगी, जो १० वर्ष से कम उम्र का हो।" *State of New-Jersey. An Act to limit the hours of labour etc.*, §§ 1, 2. (१८ मार्च १८५१ को बनाया गया क़ानून)। "जिस नाबालिग की उम्र १२ वर्ष की हो गयी है, पर अभी १५ वर्ष से कम है, उससे किसी भी कारख़ाने में ११ घंटे रोजाना से ज्यादा काम नहीं लिया जायेगा और न ही उससे ५ बजे सुबह के पहले और ७.३० बजे शाम के बाद काम कराया जायेगा।" (*Revised Statutes of the State of Rhode Island etc.*, Ch. 139, § 23, 1st July 1857.)

[117] [I. B. Byles,] *Sophisms of Free Trade*, 7th Ed., London, 1850, p. 205. इसी अनुदारदली लेखक ने इसके अलावा यह भी स्वीकार किया है कि "मज़दूरी का नियमन करने के लिए बनाये गये संसद के क़ानून, जो मज़दूर के ख़िलाफ़ पड़ते थे और मालिक के हक़ में थे, ४६४ वर्ष के लंबे अर्से तक लागू रहे। इस बीच आबादी बढ़ती गयी थी। आख़िरकार ये क़ानून अनावश्यक पाये गये और बोझा मालूम होने लगे।" (l. c., p.206.)

[118] इस संविधि के बारे में जे० वेड ने सच ही कहा है: "संविधि के विषय में उपर्युक्त वक्तव्य से यह प्रतीत होता है कि १४९६ में भोजन का ख़र्च कारीगर की एक तिहाई आमदनी और खेतिहर मजदूर की आधी आमदनी के बराबर समझा जाता था, जिससे मालूम होता है कि उन दिनों मज़दूरों में आजकल की अपेक्षा अधिक स्वाधीनता थी। कारण कि आजकल तो मज़दूरों और कारीगरों दोनों की मज़दूरी का उससे कहीं बड़ा भाग खाने पर ख़र्च हो जाता है।" (J. Wade, *History of the Middle and Working Classes*, London, 1835, pp. 24, 25, 577.) कुछ लोगों का मत है कि यह अंतर इस बात के कारण है कि उन दिनों खाने और पहनने की चीज़ों के दामों के बीच कोई और अनुपात था और आजकल कोई और अनुपात है। पर यह मत कितना निराधार है, यह बिशप फ़्लीटवुड की पुस्तक *Chronicon*

जाड़ों में काम ५ बजे शुरू होकर दिन ढले तक चलना चाहिए था और नाश्ते खाने, आदि के अवकाशों की व्यवस्था गरमियों के ही समान थी। १५६२ की एलिज़ाबेथ के राज्य-काल की एक संविधि है, जो "रोज़ाना या हफ़्तेवार मज़दूरी पर नौकर रखे गये" तमाम मज़दूरों के काम के दिन की लंबाई को तो नहीं छूती थी, पर अवकाशों के समय को गरमियों में २$\frac{१}{२}$ घंटे तक तथा जाड़ों में २ घंटे तक सीमित कर देना चाहती थी। इस संविधि का कहना था कि भोजन का अवकाश केवल १ घंटे का होना चाहिए और "तीसरे पहर का आधे घंटे का सोने का समय" केवल मई के मध्य से अगस्त के मध्य तक ही मज़दूरों को दिया जाना चाहिए। अनुपस्थिति के हर एक घंटे के लिए १ पेनी मज़दूरी में से काट ली जानी चाहिए। लेकिन अमल में परिस्थितियां संविधि की अपेक्षा मज़दूरों के कहीं अधिक अनुकूल थीं। राजनीतिक अर्थशास्त्र के जनक और कुछ हद तक सांख्यिकी के संस्थापक विलियम पैटी ने १७वीं शताब्दी की अंतिम तिहाई में प्रकाशित अपनी एक पुस्तिका में कहा था: "मज़दूर (जिसका मतलब उस वक़्त खेतिहर मज़दूर होता था) १० घंटे रोज़ाना काम करते हैं और हर सप्ताह २० बार खाना खाते हैं, यानी काम के दिन ३ बार और इतवार को २ बार। इससे यह बात स्पष्ट है कि यदि वे शुक्रवार की रात को उपवास कर सकें और ग्यारह बजे से एक बजे तक दो घंटे खाने में ख़र्च करने के बजाय डेढ़ घंटे में खाना खा लिया करें, तो इस तरह वे $\frac{१}{२०}$ अधिक काम करेंगे और $\frac{१}{२०}$ कम ख़र्च करेंगे, जिससे उपर्युक्त (कर) वसूल किया जा सकेगा।"[119] जब डा० एण्ड्रयू यूर ने १८३३ के १२ घंटे के बिल की निंदा की थी और कहा था कि यह हमें अंधकार-युग की ओर लौटाकर ले जानेवाला क़दम है, तब उन्होंने क्या सही बात नहीं कही थी? यह सच है कि पैटी ने जिस संविधि का ज़िक्र किया है, उसकी धाराएं शागिर्दों पर भी लागू होती थीं। लेकिन १७वीं सदी के अंत में भी बाल-मज़दूरों की क्या हालत थी, यह नीचे लिखी शिकायत से साफ़ हो जाता है: "जैसा हमारे यहां, इस राज्य में, चलन है कि शागिर्द को सात बरस के लिए बांध दिया जाता है, वैसा उन लोगों के यहां (जर्मनी में) नहीं होता। वहां तीन या चार साल ही आम तौर पर काफ़ी समझे जाते हैं। और इसका कारण यह है कि वहां लोगों को पालने से ही अपने पेशे की कुछ शिक्षा मिलती रहती है, जिससे वे काम के ज्यादा लायक़ हो जाते हैं और उनमें शिक्षा पाने की क्षमता आ जाती है। इसलिए वे ज्यादा जल्दी परिपक्व हो जाते हैं और अपने धंधे में दक्षता प्राप्त कर लेते हैं। इसके विपरीत यहां, इंगलैंड में, हमारे नौजवानों को शागिर्द की तरह भर्ती होने के पहले किसी चीज़ की शिक्षा नहीं दी जाती और इसलिए वे बहुत ही धीमी रफ़्तार से प्रगति करते हैं और उस्तादों के दर्जे तक पहुंचने में उनको कहीं अधिक समय लग जाता है।"[120]

Preciosum etc., 1st Ed., London, 1707, 2nd Ed., London, 1745 पर एक नज़र डालते ही मालूम हो जाता है।

[119] W. Petty, *Political Anatomy of Ireland, 1672*, edit. 1691, p. 10.

[120] *A Discourse on the Necessity of Encouraging Mechanic Industry*, London, 1690, p. 13. मैकाले ने, जिन्होंने कि ह्विगों तथा बुर्जुआ वर्ग के हित में इंगलैंड के इतिहास को तोड़-

फिर भी, १८वीं सदी के अधिकांश तक, यानी आधुनिक उद्योगों तथा मशीनों का युग शुरू होने तक, इंगलैंड में पूंजी श्रम-शक्ति का साप्ताहिक मूल्य देकर मजदूर के पूरे सप्ताह पर क़ब्ज़ा करने में कामयाब नहीं हुई थी। खेतिहर मजदूर इसके अपवाद थे। यदि मजदूर चार दिन की मजदूरी से पूरे सप्ताह अपना खर्च चला लेते थे, तो इस कारण से वे यह ज़रूरी नहीं समझते थे कि बाक़ी दो दिन पूंजीपति के लिए काम किया करें। अंग्रेज अर्थशास्त्रियों के एक दल ने पूंजी के हित में मजदूरों की इस हठधर्मी की बहुत ही तीव्र शब्दों में निंदा की है। एक दूसरे दल ने मजदूरों का समर्थन किया है। मिसाल के लिए, *Essay on Trade and Commerce* के पूर्वोद्धृत लेखक और पोस्ल्थवेट की बहस की ओर ध्यान दीजिये, जिनके व्यापार-शब्दकोश की उन दिनों वैसी ही ख्याति थी, जैसी आजकल मैककुलोच और मैकग्रेगर की उसी क़िस्म की रचनाओं की है।[121]

मरोड़ डाला है, कहा है: "समय से पहले ही बच्चों को काम में लगा देने की प्रथा... १७वीं सदी में इतनी अधिक प्रचलित थी कि कारख़ानों की प्रणाली के विस्तार से मुक़ाबला करने पर वह लगभग अविश्वसनीय मालूम होती है। नॉर्विच में, जो कपड़े के व्यवसाय का मुख्य केंद्र था, छः बरस के नन्हे बच्चे को भी मेहनत करने के योग्य समझा जाता था। उस ज़माने के कुछ लेखकों ने, जिनमें से कुछ बड़े ही दयावान व्यक्ति समझे जाते थे, इस बात का 'बड़े हर्षोल्लास' के साथ ज़िक्र किया था कि अकेले इस शहर में बहुत ही छोटी उम्र के बच्चे-बच्चियां हर साल इतनी दौलत पैदा कर लेते हैं, जो उनके अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक रक़म से १२,००० पाउंड अधिक होती है। गुज़रे हुए ज़माने के इतिहास का हम जितना ध्यान-पूर्वक अध्ययन करेंगे, उतना ही हम उन लोगों के मत के विरुद्ध होते जायेंगे, जिनका ख़याल है कि हमारे ज़माने में तरह-तरह की नयी सामाजिक बुराइयां पैदा हो गयी हैं... नयी केवल वह बुद्धि और यह मानवता हैं, जो इन बुराइयों की दवा का काम करती हैं।" (*History of England*, Vol. 1, p. 417.) मैकाले इसके आगे यह भी जोड़ सकते थे कि १७वीं सदी के "अत्यंत सहृदय" amis du commerce [व्यापार-मित्रों] ने इस बात पर "बड़ा हर्षोल्लास प्रकट किया है कि हालैंड के एक मुहताज-ख़ाने में एक चार वर्ष के बच्चे को नौकर रखा गया था, और "vertu mise en pratique" ("सद्गुणों के अभ्यास") का यह उदाहरण ऐडम स्मिथ के समय तक लिखी गयी मैकाले के ढंग के सभी लेखकों की मानवतावादी रचनाओं में पर्याप्त समझा जाता था। यह सच है कि दस्तकारी की जगह पर मैन्यूफ़ैक्चर का चलन शुरू होने पर बच्चों के शोषण के भी चिह्न दिखायी देने लगे। इस तरह का शोषण कुछ हद तक किसानों में हमेशा पाया जाता था, और काश्तकार के कंधे पर रखा हुआ जुआ जितना भारी होता था, उतना ही इस प्रकार का शोषण बढ़ जाता था। इस दृष्टि से पूंजी की प्रवृत्ति बिल्कुल साफ़ है, लेकिन इस प्रवृत्ति के तथ्य अभी तक इतने कम हैं, जितने दो सिर वाले बच्चे। इसलिए "व्यापार के मित्र" भविष्यवक्ता उनको ख़ास ज़िक्र के लायक़ समझते हैं, "बड़े हर्षोल्लास" के साथ उनकी चर्चा करते हैं, और उनको ख़ुद अपने और आनेवाले ज़माने के लिए मिसाल के रूप में पेश करते हैं। इस ख़ुशामदी टट्टू और लच्छेदार बातें बनानेवाले स्कॉटलैंडवासी मैकाले ने कहा है: "आजकल हम हर तरफ़ केवल प्रतिगमन की बातें सुनते हैं और केवल प्रगति की बातें देखते हैं।" क्या आंखें और ख़ास कर क्या कान पाये हैं आपने!

[121]मेहनत करनेवालों पर तरह-तरह के आरोप लगानेवालों में सबसे अधिक ग़ुस्सा *An Essay on Trade and Commerce, Containing Observations on Taxes, etc.*, (London, 1770) के उस गुमनाम लेखक को है, जिसका ज़िक्र हम पहले कर चुके हैं। इस विषय पर यह लेखक अपनी पहले वाली पुस्तक *Considerations on Taxes*, London, 1765 में भी लिख चुका है। इसी प्रकार का एक लेखक पोलोनियस आर्थर यंग है, जो सांख्यिकी के नाम पर ऐसी

अन्य बातों के अलावा पोस्लथवेट ने कहा है: "हम इन टिप्पणियों को उस बहुत पिटी हुई बात का उल्लेख किये बिना समाप्त नहीं कर सकते, जो आजकल बहुत ज्यादा लोगों के मुंह से सुनायी देने लगी है। वह यह कि यदि मेहनत करनेवाले ग़रीब लोगों को पांच दिन काम करके ही जीवन-निर्वाह के लायक़ पैसे मिल जाते हैं, तो वे पूरे छः दिन काम नहीं करेंगे। और इससे ये लोग यह नतीजा निकालते हैं कि जो चीजें जीवन के लिए बिल्कुल आवश्यक हैं, उनको भी कर लगाकर या किसी और तरीक़े से महंगा बना देना चाहिए, जिससे मेहनत करने-वाले दस्तकार और कारख़ाने के मज़दूर हफ़्ते में पूरे छः रोज़ लगातार मेहनत करने के लिए मजबूर हो जायें। मैं उन महान राजनीतिज्ञों से भिन्न विचार रखने की इजाज़त चाहता हूं, जो इस राज्य के मेहनतकश लोगों को सदा ग़ुलामी में बांधे रखना चाहते हैं। ये लोग उस आम कहावत को भूल जाते हैं कि यदि चौबीस घंटे काम किया जाये और मनोरंजन न हो, तो दि-माग़ कुंद हो जाता है। क्या अंग्रेज़ लोगों को अपने दस्तकारों और कारख़ाना-मज़दूरों की उस होशियारी और उस महारत पर घमंड नहीं रहा है, जिसकी वजह से इंगलैंड में बना हर तरह का माल इतना नाम पैदा करने और इतनी साख क़ायम करने में कामयाब हुआ है? इस हो-शियारी और इस महारत की क्या वजह है? इसकी संभवतया इसके सिवा और कोई वजह नहीं थी कि यहां के मेहनत करनेवाले अपने ढंग से अपना मनोरंजन और विश्राम कर लेते हैं। यदि उनसे साल में बारहों महीने और हफ़्ते में पूरे छः दिन लगातार मेहनत करायी जाती और बार-बार एक सा काम लिया जाता, तो क्या उनकी सारी होशियारी कुंद न पड़ जाती और क्या वे सदा मुस्तैद रहने और दक्षता का परिचय देने के बजाय सुस्त और बुद्धू न बन जाते? और सदा के लिए ऐसी ग़ुलामी में फंस जाने पर क्या हमारे कारीगरों की सारी ख्याति क़ायम रहने के बजाय नष्ट न हो जाती?.. और ऐसे कोल्हू के बैलों से हम कैसी कारीगरी की उम्मीद कर सकते थे?.. अंग्रेज़ मज़दूरों में से बहुत से चार दिन में उतना काम कर डालते हैं, जित-ना एक फ़्रांसीसी मज़दूर पांच या छः दिन में करेगा। परंतु यदि अंग्रेज़ों को सदा ग़ुलामों की तरह काम में जुते रहना है, तो हमें डर है कि वे फ़्रांसीसियों से भी नीचे गिर जायेंगे। हमारे लोग युद्ध में वीरता के लिए प्रसिद्ध हैं। पर क्या हम यह नहीं कहते कि इसका कारण उनके पेट में बढ़िया अंग्रेज़ी भुने गोश्त तथा पुडिंग का होना और दिल में स्वतंत्रता की वैधानिक भावना का होना है? और तब क्या यह संभव नहीं है कि हमारे दस्तकारों और कारख़ाना-मज़दूरों के होशियारी और महारत में औरों से बेहतर होने की यह वजह हो कि उनको अपने जीवन की ख़ुद व्यवस्था करने की स्वाधीनता और आज़ादी मिली हुई है? और मैं आशा करता हूं कि हम यह अधिकार और वह अच्छा जीवन उनसे कभी न छीनेंगे, जो न केवल उनकी

बकवास करता है कि जिसका ज़िक्र करना भी मुश्किल है। मज़दूर वर्ग के समर्थकों में सर्व-प्रमुख हैं: जैकब वैंडरलिन्ट, जिन्होंने *Money Answers all Tnings*, London, 1734 लिखी है; रेवरेंड नथेनियल फ़ोर्स्टर, डी० डी०, जिन्होंने *An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions*, London, 1767 लिखी है; डा० प्राइस और ख़ास तौर पर पोस्ल्थवेट, जिन्होंने अपनी रचना *Great Britain's Commercial Interest Explained and Improved*, 2nd Ed., London, 1755 की तरह *Universal Dictionary of Trade and Commerce* के परिशिष्ट में भी इस विषय की चर्चा की है। ख़ुद तथ्यों की सचाई का प्रमाण हमें अन्य बहुत से लेखकों से मिल जाता है, जिनमें जोज़िया टकर भी शामिल हैं।

वीरता का, बल्कि उनकी दक्षता और चतुरता का भी स्रोत हैं।"[122] *Essay on Trade and Commerce* के लेखक ने इसका यह जवाब दिया है: "यदि हर सातवें दिन को छुट्टी का दिन मानना एक ईश्वरीय विधान है, तो चूंकि उसका मतलब यह भी होता है कि बाक़ी छः दिन मेहनत के" (जैसा कि हम बाद को देखेंगे, उसका मतलब है पूंजी के) "दिन माने जाने चाहिए, इसलिए आशा की जाती है कि इस नियम को लागू करना कोई बेरहमी की बात नहीं समझी जायेगी... यह बात हम कलकारख़ानों में काम करनेवाली आबादी के अपने दुखद अनुभव से जानते हैं कि इनसान में आम तौर पर आरामतलबी और काहिली की प्रवृत्ति होती है। जब तक खाने-पीने की चीज़ें बहुत ज़्यादा महंगी नहीं हो जातीं, तब तक ये लोग औसतन हफ़्ते में चार दिन से ज़्यादा काम नहीं करते... ग़रीबों के लिए जितनी चीज़ें ज़रूरी हैं, उन सबको एक मद में मान लीजिये; मिसाल के लिए, उन सबको गेहूं कह लीजिये, या मान लीजिये कि... एक बुशल गेहूं की क़ीमत ५ शिलिंग है और वह (कारख़ाना-मज़दूर) अपनी दिन भर की मेहनत से १ शिलिंग कमाता है। ऐसी हालत में उसे सप्ताह में केवल पांच दिन काम करना पड़ेगा। यदि एक बुशल गेहूं की क़ीमत महज़ चार शिलिंग रह जाये, तो उसको केवल चार दिन काम करना पड़ेगा। लेकिन चूंकि इस राज्य में जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के दामों की अपेक्षा मज़दूरी की दरें कहीं अधिक ऊंची हैं... इसलिए जो मज़दूर चार दिन मेहनत करता है, उसके पास इतना अतिरिक्त द्रव्य हो जाता है कि हफ़्ते के बाक़ी दिन वह लोट लगा सकता है... मैं आशा करता हूं कि मैंने यह प्रमाणित करने के लिए काफ़ी तर्क दे दिये हैं कि हफ़्ते में छः दिन औसत दर्जे की मेहनत करना ग़ुलामी नहीं है। हमारे खेतिहर मज़दूर यही करते हैं, और जहां तक कोई देख सकता है, हमारे देश में जितने भी मेहनत करनेवाले ग़रीब लोग हैं, उनमें खेतिहर मज़दूर सबसे ज़्यादा सुखी हैं।[123] लेकिन डच लोगों के देश में कलकारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूर भी इतनी ही मेहनत करते हैं और बहुत सुखी प्रतीत होते हैं। जब बीच में छुट्टियां नहीं होतीं, तो फ़ांसीसी लोग भी इतनी ही मेहनत करते हैं।[124] लेकिन हमारे देश के लोगों ने अपना यह विचार बना लिया है कि अंग्रेज़ होने के कारण उनको यूरोप के और किसी भी देश के निवासियों से अधिक स्वतंत्र और आज़ाद रहने का जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त है। अब इस विचार से हमारे सैनिकों की वीरता पर जो अच्छा प्रभाव पड़ता है, वहां तक वह कुछ लाभप्रद हो सकता है, पर हमारे कलकारख़ानों में काम करनेवाले ग़रीबों के दिमाग़ों में यह विचार जितना कम स्थान पायेगा, ख़ुद उनका और राज्य का उतना ही अधिक हित होगा। मेहनतकशों को ख़ुद को कभी अपने से बड़ों से स्वतंत्र नहीं मानना चाहिए... हमारे जैसे व्यापारी देश में, जहां आठ में से सात हिस्से आबादी उन लोगों की है, जिनके पास कोई संपत्ति नहीं है और यदि है, तो नाममात्र के लिए, भीड़ को बढ़ावा देना

---

[122] Postlethwayt, l. c., *First Preliminary Discourse*, p. 14.

[123] *An Essay etc.*, London, 1770. लेखक ने इसी पुस्तक के पृ० ९६ पर ख़ुद यह बताया है कि १७७० में इंगलैंड के खेतिहर मज़दूरों का "सुख" किन-किन बातों में निहित था। उसी के शब्दों में, "उनकी शक्तियां हमेशा तनी रहती हैं; वे जितने कम पैसों में अपनी गुज़र-बसर करते हैं, उनसे कम पैसों में गुज़र करना असंभव है; वे जितनी सख़्त मेहनत करते हैं, उससे ज़्यादा मेहनत करना नामुमकिन है"।

[124] लगभग सभी परंपरागत छुट्टियों को काम के दिनों में बदलकर प्रोटेस्टेंट मत पूंजी की उत्पत्ति में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

बहुत ही ज्यादा ख़तरनाक बात है... जब तक हमारे कलकारख़ानों में काम करनेवाले ग़रीब लोग उसी रक़म के एवज़ में, जो आजकल वे चार दिन में कमाते हैं, छः दिन तक मेहनत करने के लिए राज़ी नहीं हो जायेंगे, तब तक इस रोग का पूर्ण उपचार नहीं हो पायेगा।"[125] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए और "आलसीपन, अय्याशी और ज्यादती" का नाश करने, उद्योग की भावना को बढ़ावा देने, "हमारे देश के कारख़ानों में श्रम के दाम को कम करने और ज़मीनों को ग़रीबों के भरण-पोषण के लिए लगाये गये करों के भारी बोझे से मुक्त करने के लिए" पूंजी के हमारे इस वफ़ादार एक्कार्ट ने एक आज़माया हुआ तरीक़ा सुझाया है: वह यह कि जिन मज़दूरों का सार्वजनिक ख़र्चे से भरण-पोषण होने लगे, या, संक्षेप में, जो मज़दूर कंगाल हो जायें, उनको पकड़कर "एक आदर्श मुहताज-ख़ाने" में बंद कर दिया जाये। यह आदर्श मुहताज-ख़ाना ग़रीबों के लिए ऐसा आश्रय लेने का स्थान नहीं होगा, "जहां उनको ख़ूब डटकर भोजन मिलेगा, बढ़िया-बढ़िया गरम कपड़े पहनने को मिलेंगे और जहां उनको नहीं के बराबर काम करना पड़ेगा",[126] बल्कि उसे एक "आतंक-गृह" के रूप में बनाया जायेगा। इस "आतंक-गृह" में, इस "आदर्श मुहताज-ख़ाने में ग़रीब लोग १४ घंटे रोज़ काम करेंगे, जिसमें से कुछ समय भोजन, आदि के लिए छोड़ दिया जायेगा, मगर इस बात का ख़याल रखा जायेगा कि हरेक को कम से कम १२ घंटे की ठोस मेहनत ज़रूर करनी पड़े।"[127]

१७७० के इस आदर्श मुहताज-ख़ाने में, इस "आतंक-गृह" में बारह घंटे रोज़ाना काम कराने की बात थी! इसके ६३ वर्ष बाद, १८३३ में, जब इंगलैंड की संसद ने उद्योग की चार शाखाओं में १३ वर्ष से लेकर १८ वर्ष तक के बच्चों का काम का दिन घटाकर पूरे १२ घंटे का कर दिया, तो ऐसा शोर मचा, जैसे इंगलैंड के उद्योगों के लिए प्रलय का दिन आ गया हो! १८५२ में, जब लुई बोनापार्ट ने बुर्जुआ वर्ग के बीच अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए काम के क़ानूनी दिन को लंबा करने की कोशिश की, तो फ़्रांस के लोगों ने एक आवाज़ से चिल्लाकर यह कहा कि "गणतंत्र के क़ानूनों में से अब केवल एक ही अच्छा क़ानून बचा है, और वह है काम के दिन की सीमा १२ घंटे निश्चित करनेवाला क़ानून!"[128] ज्यूरिख़

---

[125] *An Essay etc.*, London, 1770, pp. 15, 41, 96, 97, 56, 57, 69. जैकब वैंडरलिन्ट ने १७३४ में ही यह कह दिया था कि मेहनतकशों की काहिली के बारे पूंजीपति जो इतना शोर मचाते हैं, उसकी असली वजह यह है कि वे लोग मज़दूरों से उसी मज़दूरी में ४ के बजाय ६ दिन की मेहनत करा लेना चाहते हैं।

[126] l. c., p. 242.

[127] l. c. लेखक का कहना है कि "स्वाधीनता के हमारे उत्साह भरे विचारों पर फ़्रांसीसी लोग हंसते हैं।" (l. c., p. 78.)

[128] "वे लोग ख़ास तौर पर १२ घंटे रोज़ानां से ज्यादा काम करने पर एतराज़ करते थे, क्योंकि गणतंत्र के क़ानूनों में से अब एक ही अच्छा क़ानून उनके पास बचा है, और वह है काम के इन घंटों को नियत करनेवाला क़ानून।" (*Reports of Insp. of Fact., 31st Oct. 1856*, p. 80.) फ़्रांस का ५ सितंबर १८५० का बारह घंटे का बिल, जो २ मार्च १८४८ की अस्थायी सरकार के एक फ़रमान का बुर्जुआ संस्करण है, बिना किसी अपवाद के सभी कारख़ानों पर लागू है। इस क़ानून के पहले फ़्रांस में काम के दिन की कोई निश्चित सीमा नहीं थी। फ़ैक्टरियों में १४ घंटे, १५ घंटे या उससे भी ज्यादा समय तक काम कराया जाता था। देखिये *Des classes ouvrières en France pendant l'année 1848*. Par M. Blanqui. यह अर्थशास्त्री ब्लांकी हैं, क्रांतिकारी ब्लांकी दूसरे थे। इन सज्जन को सरकार ने मज़दूर वर्ग की हालत की जांच करने का काम सौंपा था।

में १० वर्ष से अधिक उम्र के बच्चों को १२ घंटे से अधिक काम नहीं करने दिया जाता। आरगौ में १३ वर्ष और १६ वर्ष के बीच की उम्र के बच्चों के काम का समय १८६२ में $१२\frac{१}{२}$ घंटे से घटाकर १२ घंटे कर दिया गया था। आस्ट्रिया में १४ वर्ष से १६ वर्ष तक के बच्चों का काम का समय १८६० में $१२\frac{१}{२}$ घंटे से १२ घंटे कर दिया गया।[129] इसपर शायद मैकाले हर्षोल्लास से चिल्लाकर कहेंगे: वाह! १७७० से अब तक "कितनी जबर्दस्त प्रगति" हुई है!

१७७० की पूंजीवादी आत्मा कंगालों के लिए जिस "आतंक-गृह" का केवल सपना देखा करती थी, वह उसके चंद साल बाद ख़ुद औद्योगिक मजदूरों के लिए एक विराट "मुहताज-ख़ाने" के रूप में चरितार्थ हो गया। इस "मुहताज-ख़ाने" का नाम है "फ़ैक्टरी"। और इस बार आदर्श वास्तविकता के सामने फीका पड़ गया था।

अनुभाग ६ – काम के सामान्य दिन के लिए संघर्ष। काम के समय का क़ानून द्वारा अनिवार्य परिसीमन। इंगलैंड के फ़ैक्टरी-अधिनियम – १८३३ से १८६४ तक

काम के दिन को बढ़ाकर उसकी सामान्य अधिकतम सीमा तक और फिर उससे भी आगे, १२ घंटे के प्राकृतिक दिन की सीमा तक, ले जाने में पूंजी को कई शताब्दियों का समय लगा था।[130] उसके बाद, १८ वीं सदी की अंतिम तिहाई में, मशीनों की तथा आधुनिक उद्योगधंधों की

---

[129] काम के दिन के नियमन के मामले में बेल्जियम आदर्श बुर्जुआ राज्य है। ब्रसेल्स में इंगलैंड के राजदूत वेल्डेन के लार्ड हॉवर्ड ने १२ मई १८६२ को विदेश मंत्रालय को यह रिपोर्ट भेजी थी कि "मोशिये रोज़्ये नामक मंत्री ने मुझे बताया है कि उनके देश में बच्चों के श्रम पर न तो किसी सामान्य क़ानून ने कोई सीमा लगा रखी है और न किसी स्थानीय क़ानून ने। उन्होंने मुझे बताया कि पिछले तीन वर्ष से सरकार संसद के प्रत्येक अधिवेशन में इस विषय का एक बिल पेश करने की सोचती आयी है, पर श्रम की अनियंत्रित स्वतंत्रता के सिद्धांत से टकरानेवाले किसी भी बिल का इतना ज़बर्दस्त विरोध होता है कि उसके सामने सरकार कुछ नहीं कर सकती।"

[130] "यह निश्चय ही बड़े दुःख की बात है कि किसी भी वर्ग के लोगों को १२ घंटे रोज़ाना मेहनत करनी पड़े। इसमें यदि भोजन का समय और घर से कारख़ाने तक आने-जाने का समय और जोड़ दिया जाये, तो उसका असल में यह मतलब होता है कि इन लोगों को २४ घंटे में से १४ घंटे काम के लिए ख़र्च कर देने पड़ते हैं... मजदूरों के स्वास्थ्य के प्रश्न पर न विचार करते हुए भी, मैं समझता हूं, यह मानने में किसी को भी हिचकिचाहट न होगी कि नैतिक दृष्टिकोण से यह बात बहुत ही हानिकारक और बहुत ही शोचनीय है कि १३ वर्ष की उम्र से ही – और जिन धंधों पर कोई क़ानूनी प्रतिबंध नहीं है, उनमें तो और भी कम उम्र से – मेहनतकशों का सारा समय हड़प लिया जाता है और उनको बीच में ज़रा भी छुट्टी नहीं मिलती... इसलिए सार्वजनिक नैतिकता की रक्षा के लिए, देशवासियों को स्वस्थ बनाने के

उत्पत्ति होते ही काम के दिन को बढ़ाने के लिए ऐसी भयानक नोच-खसोट शुरू हुई कि लगता था, जैसे हिमस्खलन हो रहा हो। नैतिकता और प्रकृति की सारी सीमाएं, आयु और लिंग-भेद के तमाम बंधन और दिन और रात की तमाम हदें तोड़ दी गयीं। यहां तक कि दिन और रात की धारणाएं, जो पुराने क़ानूनों में ग्रामीण जीवन की भांति सरल थीं, आपस में इतनी उलझ गयीं कि १८६० में भी अंग्रेज़ जजों को "न्यायिक दृष्टि से" यह निर्णय करने के लिए सुलेमानी बुद्धि की ज़रूरत होती थी कि दिन क्या है और रात क्या है।[131] पूंजी ने जी भर रंगरेलियां मनायीं।

उत्पादन की इस नयी व्यवस्था के शोर-शराबे से मज़दूर वर्ग हतप्रभ होकर रह गया था। जब उसे कुछ होश आया, तो उसका प्रतिरोध आरंभ हुआ। सबसे पहले बड़े पैमाने पर मशीनों के प्रयोग की मातृभूमि – इंगलैंड – में यह प्रतिरोध शुरू हुआ। लेकिन ३० वर्ष तक मेहनतकश जनता जितनी भी रिआयतें पाने में कामयाब हुई, वे सब नाममात्र की थीं। १८०२ और १८३३ के बीच संसद ने ५ श्रम क़ानून पास किये, लेकिन उसने यह चतुराई दिखायी कि इन क़ानूनों को अमल में लाने के लिए आवश्यक अफ़सरों की तनख्वाह, आदि के वास्ते उसने एक पेनी का भी खर्च मंज़ूर नहीं किया।[132] ये पांचों क़ानून कभी अमल में नहीं आये। "सच तो यह है कि १८३३ के अधिनियम के पहले लड़के-लड़कियों और बच्चों से सारा दिन, सारी रात और ad libitum [इच्छा होने पर] दिन को भी और रात को भी लगातार काम कराया जाता था।"[133]

आधुनिक उद्योग-धंधों में काम के सामान्य दिन की व्यवस्था केवल १८३३ के फ़ैक्टरी-अधिनियम के बाद से ही लागू हुई है। यह अधिनियम सूती, ऊनी, रेशमी तथा सन का कपड़ा तैयार करनेवाली फ़ैक्टरियों पर लागू किया गया था। पूंजी की भावना पर १८३३ से १८६४ तक के इंगलैंड के फ़ैक्टरी-अधिनियमों के इतिहास से जितना प्रकाश पड़ता है, उतना और किसी चीज़ से नहीं पड़ता।

लिए और साधारण जनता को जीवन का थोड़ा आनंद देने के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि सभी धंधों में काम के प्रत्येक दिन का कुछ भाग आराम और अवकाश के लिए सुरक्षित रहे।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st Dec. 1841.* लेनर्ड हॉर्नर की रिपोर्ट।)

[131] देखिये *Judgement of Mr. J. H. Otway, Belfast, Hilary Sessions, County Antrim, 1860.*

[132] बुर्जुआ बादशाह लुई फ़िलिप के शासन पर इस बात से काफ़ी प्रकाश पड़ता है कि उसके राज्य-काल में जो फ़ैक्टरी-अधिनियम पास हुआ, यानी २२ मार्च १८४१ का अधिनियम, वह कभी अमल में नहीं लाया गया। और यह क़ानून केवल बच्चों के श्रम से संबंध रखता था। उसमें ८ वर्ष से १२ वर्ष तक के बच्चों के लिए ८ घंटे रोज़ की सीमा, १२ वर्ष से १६ वर्ष तक के बच्चों के लिए १२ घंटे रोज़ की सीमा और इसी प्रकार अन्य सीमाएं निश्चित की गयी थीं। साथ ही अनेक अपवादों के लिए स्थान रखा गया था, जिनके मातहत ८ वर्ष के बच्चों से भी रात को काम लेने की इजाज़त मिल जाती थी। एक ऐसे देश में, जहां चूहे पर भी पुलिस की निगरानी रहती है, इस क़ानून को अमल में लाने और उसकी देखरेख करने का काम "व्यापार के मित्रों" की सद्भावना के भरोसे छोड़ दिया गया। कहीं १८५३ में जाकर ही सरकार से तनख्वाह पानेवाले एक इंस्पेक्टर की नियुक्ति की गयी, और वह भी केवल एक ज़िले में – यानी नोर्ड के ज़िले में। फ़्रांसीसी समाज के विकास पर आम तौर पर इस बात से भी कम प्रकाश नहीं पड़ता कि फ़्रांस में लगभग हर सवाल पर जो अनेक क़ानून बनाये गये हैं, उनमें १८४८ की क्रांति तक लुई फ़िलिप का यह क़ानून ही एकमात्र फ़ैक्टरी-क़ानून था।

[133] *Reports of Insp. of Fact., 30th April 1860*, p. 50.

१८३३ के अधिनियम में फ़ैक्टरियों के काम का साधारण दिन सुबह को साढ़े पांच बजे से रात के साढ़े आठ बजे तक नियत किया गया है। इन सीमाओं के भीतर, यानी १५ घंटे की इस अवधि में, लड़के-लड़कियों से (अर्थात् १३ वर्ष से १८ वर्ष तक के व्यक्तियों से) किसी भी समय काम कराया जा सकता है, बशर्ते कि किसी भी लड़के या लड़की को किसी एक दिन १२ घंटे से ज्यादा काम न करना पड़े। इस नियम के कुछ अपवाद भी निश्चित कर दिये गये हैं। अधिनियम के छठे अनुभाग में कहा गया था: "ऐसे हर व्यक्ति को, जो उपर्युक्त प्रतिबंधों की सीमा में आता है, हर रोज़ कम से कम डेढ़ घंटे का समय भोजन, आदि के लिए दिया जायेगा।" कुछ अपवादों को छोड़कर, जिनका बाद में ज़िक्र आयेगा, ६ वर्ष से कम उम्र के बच्चों से काम लेने की मनाही कर दी गयी थी। ६ वर्ष से १३ वर्ष तक के बच्चों के काम के समय पर ८ घंटे रोज़ की सीमा लगा दी गयी थी। इस अधिनियम के अनुसार रात के ८.३० बजे से सुबह के ५.३० बजे तक जो काम होता था, वह रात का काम माना जाता था। ६ वर्ष से १८ वर्ष तक के तमाम व्यक्तियों से रात का काम लेना मना था।

क़ानून बनानेवाले वयस्कों की श्रम-शक्ति का शोषण करने की पूंजी की स्वतंत्रता में या, यदि उन्हीं के दिये हुए नाम का प्रयोग किया जाये, तो "श्रम की स्वतंत्रता" में जरा सा भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे। उनको इसका इतना अधिक ख़याल था कि उन्होंने इसके लिए एक पूरी व्यवस्था रच डाली कि फ़ैक्टरी-अधिनियमों का कोई ऐसा भयंकर परिणाम न निकलने पाये।

२८ जून १८३३ के कमीशन के केंद्रीय बोर्ड की पहली रिपोर्ट में कहा गया है कि "फ़ैक्टरी-व्यवस्था का इस समय जिस प्रकार संचालन हो रहा है, उसका सबसे बड़ा दोष हमें यह लगा है कि उसमें बच्चों से भी वयस्कों के बराबर समय तक काम कराया जाता है। यदि वयस्कों के श्रम पर सीमा लगाने का विचार छोड़ दिया जाये, जिसके फलस्वरूप, हमारी राय में, जिस बुराई को हम दूर करने की कोशिश कर रहे हैं, उससे भी बड़ी बुराई पैदा हो जायेगी, तो इस बुराई को दूर करने का केवल एक यही उपाय बचता है कि बच्चों से दो पालियां बनाकर काम लेने की योजना तैयार की जाये..." चुनांचे पालियों की प्रणाली के नाम से यह "योजना" अमल में लायी गयी। मिसाल के लिए, सुबह के साढ़े पांच बजे से दोपहर के डेढ़ बजे तक ६ वर्ष से १३ वर्ष तक के बच्चों की पहली पाली से काम लिया जाने लगा और दोपहर के डेढ़ बजे से रात के साढ़े आठ बजे तक दूसरी पाली से, आदि।

बच्चों के श्रम के संबंध में पिछले बाईस वर्ष में जितने अधिनियम पास हुए थे, कारख़ानेदारों ने बेशर्मी से उन सबकी अवहेलना की थी। इसके इनाम के तौर पर गोली पर और चीनी चढ़ायी गयी, ताकि वह उनको पसंद आये। संसद ने फ़ैसला कर दिया कि १ मार्च १८३४ के बाद ११ वर्ष से कम उम्र का कोई बच्चा, १ मार्च १८३५ के बाद १२ वर्ष से कम उम्र का कोई बच्चा और १ मार्च १८३६ के बाद १३ वर्ष से कम उम्र का कोई बच्चा किसी फ़ैक्टरी में आठ घंटे रोज़ाना से ज्यादा काम नहीं कर पायेगा। यह "उदारतावाद", जिसमें "पूंजी" का इतना अधिक ख़याल रखा गया था, इसलिए और भी उल्लेखनीय है कि डा० फ़ार्र, सर ए० कार्लिस्ल, सर बी० ब्रोडी, सर एस० बेल, मि० गथरी, आदि – लंदन के सबसे अधिक प्रतिष्ठित डाक्टरों और सर्जनों – ने हाउस आफ़ कामन्स के सामने बयान देते हुए कहा था कि इस मामले में देर करना ख़तरनाक है। डाक्टर फ़ार्र ने तो और भी दो टूक ढंग से कहा था: "लोगों को असमय मार डालने के लिए जो भी तरीक़ा इस्तेमाल किया जाये, उसे रोकने के

लिए क़ानून बनाना ज़रूरी है। और इसे (फ़ैक्टरियों की प्रणाली को) निश्चय ही लोगों को समय से पहले मार डालने का सबसे अधिक निर्दयतापूर्ण तरीक़ा माना जाना चाहिए।"

जिस "सुधरी हुई" संसद ने कारख़ानेदारों के हितों का ख़याल रखने में बहुत नज़ाकत दिखाते हुए १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को आगामी वर्षों में हर सप्ताह ७२ घंटे फ़ैक्टरी के नरक में पिसने की सज़ा दी थी, उसी ने दूसरी ओर, अपने मुक्ति क़ानून के ज़रिये, जो इसी प्रकार बूंद-बूंद करके लोगों को आज़ादी का रस पिलाता था, बाग़ानों के मालिकों पर शुरू से ही यह प्रतिबंध लगा दिया कि वे किसी हबशी ग़ुलाम से ४५ घंटे प्रति सप्ताह से अधिक काम नहीं ले सकते।

परंतु पूंजी को इस सबसे संतोष न हुआ था। उसने ख़ूब शोर-शराबे के साथ आंदोलन शुरू किया, जो कई बरस तक चलता रहा। यह आंदोलन ख़ास तौर पर उन लोगों की उम्र के बारे में था, जो बच्चे समझे जाते थे और इसलिए जिनसे ८ घंटे से ज़्यादा काम लेने की मनाही थी और जिनपर कुछ हद तक अनिवार्य शिक्षा के नियम भी लागू होते थे। पूंजीवादी मानवविज्ञान का कहना था कि बचपन १० वर्ष में या हद से हद ११ वर्ष में ख़त्म हो जाता है। फ़ैक्टरी-अधिनियम के पूरी तरह अमल में आने का समय, यानी १८३६ का निर्णायक वर्ष जितना नज़दीक आता जाता था, कारख़ानेदारों की भीड़ उतनी ही अधिक पगलाती जाती थी। सच पूछिये, तो इन लोगों ने सरकार को डरा-धमकाकर यहां तक झुका लिया कि १८३५ में वह बचपन की सीमा को १३ वर्ष से घटाकर १२ वर्ष कर देने की सोचने लगी। पर इसी बीच बाहरी दबाव ने और भयानक रूप धारण कर लिया था। हाउस आफ़ कामन्स की हिम्मत जवाब दे गयी। उसने १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को ८ घंटे से अधिक पूंजी के रथ के नीचे पिसने के लिए डालने से इनकार कर दिया, और १८३३ का अधिनियम पूरी तरह अमल में आया। जून १८४४ तक उसमें कोई तब्दीली नहीं हुई।

इसने फ़ैक्टरियों के काम का दस बरस तक नियमन किया—पहले आंशिक रूप से, फिर पूरी तरह। इन दस वर्षों में फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों ने जो रिपोर्टें सरकार को दीं, वे इस बात की शिकायतों से भरी हुई हैं कि इस अधिनियम को लागू करना असंभव है। १८३३ के क़ानून ने यह बात पूंजी के मालिकों की मर्ज़ी पर छोड़ दी थी कि सुबह के साढ़े पांच बजे से शाम के साढ़े आठ बजे तक वे हर "युवा व्यक्ति" तथा हर "बच्चे" से उसका १२ घंटे या ८ घंटे का काम चाहे जिस समय शुरू करायें, चाहे जिस समय उसे बीच में रोक दें, चाहे जिस वक़्त उससे फिर काम करने को कहें और चाहे जिस वक़्त उसका काम समाप्त करा दें। इसी प्रकार उनको अलग-अलग व्यक्तियों को अलग-अलग समय पर भोजन की छुट्टी देने का भी अधिकार था। इस चीज़ से फ़ायदा उठाते हुए इन महानुभावों ने शीघ्र ही एक नयी पालियों की प्रणाली खोज निकाली, जिसके अनुसार मज़दूर-रूपी जानवरों को किन्हीं निश्चित नाकों पर बदला नहीं जाता था, बल्कि बदलते नाकों पर दुबारा-तिबारा जोतते रहते थे। इस प्रणाली की नफ़ासत पर विचार करने के लिए अभी हमारे पास समय नहीं है। हम बाद में फिर इसकी चर्चा करेंगे। लेकिन पहली ही नज़र में एक बात साफ़ हो जाती है। वह यह कि इस नयी प्रणाली ने पूरे फ़ैक्टरी-अधिनियम को उठाकर ताक़ पर रख दिया। यह प्रणाली न केवल इस क़ानून की भावना, बल्कि उसके शब्द तक की अवहेलना करती थी। इस प्रणाली में हर बच्चे या हर युवा व्यक्ति के लिए बहुत ही पेचीदा ढंग का अलग हिसाब रखा जाता था। अब भला सोचिये कि ऐसी हालत में फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर इस बात की कैसे जांच कर सकते थे कि हर मज़दूर से क़ानून

द्वारा निश्चित सीमाओं के भीतर काम लिया जा रहा है या नहीं, और उसे क़ानून के अनुसार भोजन, आदि के लिए पर्याप्त छुट्टी दी जाती है या नहीं? बहुत सी फ़ैक्टरियों में वे ही पुरानी बर्बरताएं फिर जारी हो गयीं, और उनको रोकने की या उनके लिए सज़ा देने की कोई तरकीब नहीं रही। सरकार के गृह-मंत्री से एक भेंट (१८४४) के दौरान फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने साबित किया कि पालियों की इस नव-आविष्कृत प्रणाली के जारी रहते मज़दूरों के काम पर किसी तरह का भी नियंत्रण रखना असंभव है।[134] परंतु इस बीच परिस्थितियां बहुत बदल गयी थीं। चुनाव के लिए फ़ैक्टरी-मज़दूरों ने जिस प्रकार चार्टर का नारा अपना मुख्य राजनीतिक नारा बना लिया था, उसी प्रकार ख़ास तौर पर १८३८ के बाद से, १० घंटे के बिल का नारा उन्होंने अपना मुख्य आर्थिक नारा बना लिया था। कुछ ऐसे कारख़ानेदारों ने भी संसद में अभ्यावेदनों का ढेर लगा दिया था, जो १८३३ के अधिनियम के अनुसार अपनी फ़ैक्टरियां चलाते आये थे और इसलिए जिन्होंने इन अभ्यावेदनों में अपने उन बेईमान भाई-बिरादरों की अनैतिक प्रतियोगिता की शिकायतें की थीं, जो अधिक सीनाज़ोर होने के कारण या अनुकूल स्थानीय परिस्थितियों से लाभ उठाकर क़ानून तोड़ने में कामयाब हो गये थे। इसके अलावा हर अलग-अलग कारख़ानेदार अपनी-अपनी जगह पर चाहे जैसे बेलगाम ढंग से नफ़े के अपने पुरातन लालच को पूरा करने में लगा हो, कारख़ानेदारों के वर्ग के प्रवक्ताओं और राजनीतिक नेताओं ने उनको आदेश दिया कि अब से उनको अपने मज़दूरों से नये ढंग से पेश आना और नये ढंग से बातचीत करनी चाहिए। यह इसलिए कि कारख़ानेदारों के राजनीतिक नेता अनाज-क़ानूनों को रद्द कराने के संघर्ष में लगे हुए थे और उसमें विजय प्राप्त करने के लिए उनको मज़दूरों की सहायता की आवश्यकता थी। चुनांचे उन्होंने मज़दूरों से वायदा किया कि यदि स्वतंत्र व्यापार के स्वर्ण-युग की विजय हो गयी, तो न सिर्फ़ उनको पहले से दुगुनी बड़ी रोटी खाने को मिला करेगी, बल्कि दस घंटे का बिल भी संसद में पास करा दिया जायेगा।[135] इसलिए जब १८३३ के क़ानून को अमली रूप देने मात्र के लिए क़दम उठाने की बात चली, तो कारख़ानेदारों को उसका विरोध करने की और भी कम हिम्मत हुई। अपने सबसे पवित्र अधिकार पर, यानी ज़मीन किराया पाने के अधिकार पर चोट होती देख अनुदारदली लोग अपने शत्रुओं की इन "नीच हरकतों"[136] के ख़िलाफ़ लोकोपकारी क्रोध से बौखला उठे थे।

७ जून १८४४ का अतिरिक्त फ़ैक्टरी-अधिनियम इस तरह बना था। वह १० सितंबर १८४४ को लागू हुआ। उससे मज़दूरों के एक नये हिस्से को, यानी १८ वर्ष से अधिक उम्र की औरतों को, संरक्षण प्राप्त हुआ। उनको हर बात में लड़के-लड़कियों के स्तर पर रख दिया गया। उनके काम के समय पर बारह घंटे की सीमा लगा दी गयी, उनसे रात को काम लेने की मनाही कर दी गयी, इत्यादि। पहली बार क़ानून को वयस्कों के श्रम पर प्रत्यक्ष एवं सरकारी रूप से नियंत्रण लगाने के लिए बाध्य होना पड़ा। १८४४-१८४५ की फ़ैक्टरी-रिपोर्ट में व्यंग्य के साथ कहा गया है कि "वयस्क स्त्रियों के अधिकारों में इस प्रकार जो हस्तक्षेप किया गया है, उसपर उन्होंने कभी खेद प्रकट किया हो, ऐसा कोई उदाहरण मुझे अभी तक देखने को

---

[134] *Reports of Insp. of Fact., 31st October 1849*, p. 6.

[135] *Reports of Insp. of Fact., 31st October 1848*, p. 98.

[136] लेनर्ड हॉर्नर ने अपनी सरकारी रिपोर्टों में ठीक इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है। (*Reports of Insp. of Fact., 31st October 1859*, p. 7.)

नहीं मिला है"।[137] १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों के काम का समय घटाकर ६$\frac{१}{२}$ घंटे और कुछ ख़ास परिस्थितियों में ७ घंटे रोज़ कर दिया गया।[138]

"पालियों की इस खोटी प्रणाली" के दोषों को दूर करने के लिए इस क़ानून में अन्य नियमों के अलावा यह नियम भी रखा गया था कि "बच्चों और लड़के-लड़कियों के काम के घंटे उस समय से गिने जायेंगे, जब से एक भी बच्चे या लड़की-लड़के ने सुबह को काम शुरू किया है।" चुनांचे अगर क नामक लड़का, मिसाल के लिए, सुबह को ८ बजे काम शुरू करता है और ख १० बजे शुरू करता है, तो ख का काम का दिन भी उसी समय समाप्त होगा, जिस समय कि क का। इसके अलावा यह भी नियम बना दिया गया था कि "समय का हिसाब किसी सार्वजनिक घड़ी के अनुसार रखा जायेगा।" मिसाल के लिए, फ़ैक्टरी के समीप जो रेलवे की घड़ी हो, फ़ैक्टरी की घड़ी उससे मिलायी जायेगी। फ़ैक्टरी का स्वामी एक ऐसा छपा हुआ नोटिस, जो कि पढ़ा जा सके, लटकायेगा, जिसमें बताया गया होगा कि काम कितने बजे शुरू होता है और कितने बजे ख़त्म होता है और भोजन, नाश्ते, आदि का क्या समय है। जो बच्चे १२ बजे दोपहर के पहले काम शुरू कर देते थे, १ बजे के बाद दोबारा उनसे काम कराने की इजाज़त नहीं थी। इसलिए तीसरे पहर की पाली में वे बच्चे नहीं हो सकते थे, जो सुबह को काम कर चुके थे। नियम बना दिया गया था कि भोजन, नाश्ते, आदि के लिए जो डेढ़ घंटे का समय दिया जाता, "उसमें से कम से कम एक घंटा तीसरे पहर के तीन बजे के पहले ही दे देना ज़रूरी है... और रोज़ाना उसी वक़्त पर। दोपहर के १ बजने के पहले किसी बच्चे या लड़के-लड़की से पांच घंटे से ज्यादा काम उस वक़्त तक नहीं लिया जायेगा, जब तक कि उसे कम से कम $\frac{१}{२}$ घंटे की खाने की छुट्टी नहीं दी जायेगी। उस समय (यानी खाने की छुट्टी के समय) किसी बच्चे को या किसी लड़के अथवा लड़की को (या किसी स्त्री को) किसी भी ऐसे कमरे में नहीं रहने दिया जायेगा, जिसमें कोई उत्पादन-प्रक्रिया जारी हो", इत्यादि।

हम यह देख चुके हैं कि ऐसी तफ़सीली हिदायतें, जिनमें काम का समय, उसकी सीमा और छुट्टी के वक़्त मानो घड़ी की सुई देखकर सैनिक एकरूपता के साथ निर्धारित कर दिये गये थे, केवल संसद की कल्पना की उपज हरगिज़ नहीं थीं। उनका उत्पादन की आधुनिक प्रणाली के स्वाभाविक नियमों के रूप में परिस्थितियों में से धीरे-धीरे विकास हुआ था। वर्गों के एक लंबे संघर्ष के परिणामस्वरूप राज्य द्वारा उनकी स्थापना हुई, उन्हें सरकारी मान्यता प्राप्त हुई तथा राज्य द्वारा उनकी घोषणा की गयी। उनका एक पहला नतीजा यह हुआ कि व्यवहार में फ़ैक्टरियों में काम करनेवाले वयस्क पुरुषों के काम के दिन पर भी वैसी ही सीमाएं लग गयीं, क्योंकि उत्पादन की अधिकतर प्रक्रियाओं में बच्चों, लड़के-लड़कियों और स्त्रियों का सहयोग अनिवार्य होता है। इसलिए कुल मिलाकर १८४४ और १८४७ के बीच फ़ैक्टरी-अधिनियम के मातहत उद्योग की सभी शाखाओं में आम तौर पर १२ घंटे का दिन जारी हो गया।

---

[137] *Reports etc., 30th Sept. 1844*, p. 15.

[138] यदि बच्चे रोज़ काम नहीं करते, बल्कि एक दिन छोड़कर काम करते हैं, तो यह क़ानून उनसे १० घंटे तक काम लेने की इजाज़त देता है। इस धारा पर प्रायः अमल नहीं हुआ।

परंतु कारख़ानेदारों ने "प्रगति" का यह क़दम उस वक़्त तक नहीं उठने दिया, जब तक कि उसके एवज़ में "प्रतिगमन" का भी एक क़दम नहीं उठाया गया। उनके उकसावे पर हाउस ग्राफ़ कामन्स ने शोषण के योग्य बच्चों की उम्र ६ वर्ष से घटाकर ८ वर्ष कर दी, ताकि फ़ैक्टरियों में काम करने के लिए बच्चों की वह अतिरिक्त संख्या भी सुनिश्चित हो जाये, जो पूंजीपतियों को ईश्वरीय तथा मानवीय, दोनों प्रकार के क़ानूनों की दृष्टि से मिलनी चाहिए।[139]

इंगलैंड के आर्थिक इतिहास में १८४६-१८४७ का समय एक युगांतरकारी समय है। इन वर्षों में अनाज-क़ानून रद्द कर दिये गये, कपास और अन्य कच्चे मालों पर लगी हुई चुंगी मंसूख़ कर दी गयी, स्वतंत्र व्यापार के सिद्धांत को तमाम क़ानूनों का पथप्रदर्शक सिद्धांत घोषित कर दिया गया, – और एक शब्द में कहा जाये, तो बस मानो स्वर्ण-युग का आरंभ हो गया। दूसरी ओर, इन्हीं वर्षों में चार्टिस्ट आंदोलन और १० घंटे की तहरीक अपनी परम सीमा पर पहुंच गये। अनुदार दल के लोग तो कारख़ानेदार से बदला लेने के लिए बेक़रार थे, उन्होंने इन आंदोलनों का साथ दिया। स्वतंत्र व्यापार के झूठी क़समें खाने के आदी समर्थकों की सेना ब्राइट और कॉबडन के नेतृत्व में १० घंटे के बिल का बहुत समय से ज़ोरदार विरोध करती रही थी। फिर भी यह बिल, जिसके लिए इतने दिनों से संघर्ष चल रहा था, संसद में पास हो गया।

८ जून १८४७ के नये फ़ैक्टरी-अधिनियम के द्वारा निश्चय किया गया कि १ जुलाई १८४७ को (१३ वर्ष से १८ वर्ष तक के) "लड़के-लड़कियों" तथा सभी स्त्रियों के काम के घंटों में एक प्रारंभिक कमी करके ११ घंटे की सीमा नियत कर दी जाये, पर १ मई १८४८ को काम के दिन पर निश्चित रूप से १० घंटे की सीमा लगा दी जाये। दूसरी बातों में यह अधिनियम १८३३ और १८४४ के अधिनियमों का संशोधन करता था और उन्हें पूर्ण बनाता था।

अब पूंजी ने इस अधिनियम को १ मई १८४८ को अमल में आने से रोकने के लिए एक प्रारंभिक आंदोलन छेड़ा। और मज़दूरों को भी ख़ुद अपनी सफलताओं पर पानी फेरने में मदद देनी थी, जिसके लिए बहाना यह था कि वे अपने अनुभव से सबक़ सीख चुके हैं। इस आंदोलन के लिए वक़्त बहुत चालाकी से चुना गया। "याद रखना चाहिए कि पिछले दो वर्ष से फ़ैक्टरियों के मज़दूर (१८४६-१८४७ के भयंकर संकट के परिणामस्वरूप) सख़्त तकलीफ़ें उठा रहे हैं, क्योंकि बहुत सी मिलें कम समय काम कर रही थीं और बहुत सी एकदम बंद हो गयी थीं। इसलिए मज़दूरों की काफ़ी बड़ी संख्या बहुत मुश्किल से दिन काट रही होगी। बहुतों पर क़र्ज़े का भारी बोझ होगा। और इसलिए कोई भी यह समझ सकता था कि इस वक़्त मज़दूर ज्यादा देर तक काम करना पसंद करेंगे, जिससे कि पिछले नुक़सान को पूरा कर सकें, क़र्ज़े अदा कर दें, गिरवी रखा हुआ फ़र्नीचर छुड़ा लायें या जो फ़र्नीचर बिक गया है, उसकी जगह पर नया ले आयें या अपने लिए तथा अपने परिवार के लिए नये कपड़े ख़रीद लें।"[140]

इन परिस्थितियों का जो स्वाभाविक प्रभाव था, उसे कारख़ानेदारों ने मज़दूरी में १० प्रतिशत की आम कटौती करके और भी उग्र बना देने की कोशिश की। यह कटौती मानो स्वतंत्र व्यापार के नवीन युग के उद्घाटन के उपलक्ष्य में की गयी थी। उसके बाद जब काम का दिन

---

[139] "चूंकि बच्चों के काम के घंटों में कमी कर देने के फलस्वरूप उनको पहले से अधिक संख्या में नौकर रखना पड़ेगा, इसलिए समझा जाता था कि ८ वर्ष से लेकर ६ वर्ष तक के बच्चों की जो नयी संख्या फ़ैक्टरियों में काम करने के लिए आयेगी, उससे यह बढ़ी हुई मांग पूरी हो जायेगी।" (l. c., p. 13)

[140] *Reports of Insp. of Fact., 31st Oct. 1848*, p. 16.

घटाकर ११ घंटे का कर दिया गया, तो तुरंत ही $८\frac{१}{३}$ प्रतिशत की एक और कटौती कर दी गयी, और जब अंत में काम का दिन १० घंटे तक सीमित कर दिया गया, तो मालिकों ने इसकी दुगुनी कटौती का ऐलान कर दिया। इस तरह जहां कहीं भी संभव था, वहां मज़दूरी कम से कम २५ प्रतिशत घटा दी गयी।[141] इस प्रकार ज़मीन अच्छी तरह तैयार हो जाने के बाद फ़ैक्टरी-मज़दूरों के बीच १८४७ के अधिनियम को मंसूख़ कराने का आंदोलन छेड़ दिया गया। इस कोशिश में न तो झूठ से गुरेज़ किया गया और न घूस से, और न ही धमकियां देने में कोई हिचकिचाहट दिखायी गयी। मगर कोई चीज़ काम नहीं आयी। मज़दूरों से कोई आधे दर्जन अभ्यावेदन दिलाये गये थे, जिनमें "क़ानून उनके ऊपर जो अत्याचार कर रहा है", उसकी शिकायत की गयी थी। ज़बानी जिरह होने पर स्वयं प्रार्थियों ने यह कहा कि उनसे ज़बर्दस्ती दस्तख़त कराये गये थे। "वे अपने को अत्याचार का शिकार होते तो अनुभव कर रहे थे, मगर इसका कारण फ़ैक्टरी-अधिनियम नहीं था।"[142] परंतु यदि कारख़ानेदारों को मज़दूरों से अपनी मनचाही बातें कहलाने में कामयाबी नहीं मिली, तो वे ख़ुद मज़दूरों के नाम पर अख़बारों में और संसद में और भी ज़ोर से चिल्लाने लगे। उन्होंने फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों को इस तरह कोसना शुरू किया, जैसे वे फ़्रांस की राष्ट्रीय परिषद के क्रांतिकारी कमिश्नरों जैसे कर्मचारी हों और अपनी मानवतावादी सनकों की वेदी पर अभागे मज़दूरों की निर्ममतापूर्वक बलि दे रहे हों। लेकिन यह चाल भी बेकार गयी। फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर लेनर्ड हॉर्नर ने ख़ुद और अपने सब-इंस्पेक्टरों के ज़रिये लंकाशायर की फ़ैक्टरियों में अनेक मज़दूरों के बयान लिये। जितने लोगों के बयान लिये गये, उनमें से लगभग ७० प्रतिशत ने १० घंटे का समर्थन किया, एक बहुत छोटी संख्या ने ११ घंटे की ताईद की और एक नाममात्र की संख्या ने पुराने १२ घंटों को ही पसंद किया।[143]

एक और बड़ी "मित्रतापूर्ण" चाल यह थी कि वयस्क पुरुषों से १२ से १५ घंटे तक काम कराया जाता और फिर चारों ओर इसका ढोल पीटकर यह साबित किया जाता कि सर्वहारा की आंतरिक इच्छा यही है। लेकिन उस "निर्मम" फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर लेनर्ड हॉर्नर के सामने

---

[141] "मैंने पाया कि जिन लोगों को १० शिलिंग प्रति सप्ताह मिल रहे थे, उनकी मज़दूरी में १० प्रतिशत की कटौती के नाम पर १ शिलिंग काट लिया गया, और बचे हुए ९ शिलिंग में से १ शिलिंग ६ पेंस समय में होनेवाली कमी के काट लिये गये। इस तरह कुल मिलाकर २ शिलिंग ६ पेंस की कटौती हुई। और फिर भी बहुत से मज़दूर कहते थे कि उन्हें १० घंटे ही काम करना पसंद है।" (*Reports of Insp. of Fact., for 31st Ost. 1848*, p. 16.)

[142] "'मैंने इसपर [अभ्यावेदन पर] दस्तख़त तो कर दिये थे, पर मैंने उस वक़्त भी कहा था कि मैं एक ग़लत चीज़ पर दस्तख़त कर रहा हूं।'—'तब फिर तुमने उसपर क्यों दस्तख़त किये?'—'इसलिए कि अगर मैं इनकार करता, तो मुझे नौकरी से जवाब मिल जाता।'—इससे पता चलता है कि इस आदमी को 'अत्याचार' का तो अहसास था, पर वह फ़ैक्टरी-अधिनियम का अत्याचार नहीं था।" (l. c., p. 102.)

[143] (l. c., p. 17.) मि० हॉर्नर के इलाक़े में इस तरह १८१ फ़ैक्टरियों के १०,२७० वयस्क मज़दूरों के बयान लिये गये थे। इन लोगों ने जो कुछ कहा, वह अक्तूबर १८४८ को समाप्त होनेवाली छमाही की फ़ैक्टरी-रिपोर्टों के परिशिष्ट में मिलेगा। इन बयानों में कुछ अन्य प्रश्नों के संबंध में भी मूल्यवान सामग्री उपलब्ध है।

यह तरकीब भी नहीं चली। श्रोवरटाइम काम करनेवाले ज़्यादातर मज़दूरों ने कहा कि "हम तो कम मज़दूरी पर दस घंटे काम करना कहीं ज़्यादा पसंद करेंगे। पर हमारे सामने कोई श्रौर चारा नहीं था। हममें से इतने अधिक लोग बेकार थे (और कताई करनेवाले इतने अधिक मज़दूरों को दूसरे काम के अभाव में धागा जोड़ने का काम करना पड़ रहा है और उनको इतनी कम मज़दूरी मिल रही है) कि यदि हम ज़्यादा समय तक काम करने से इनकार करते, तो दूसरे लोग फ़ौरन हमारी जगह लेने को आ जाते। इसलिए हमारे सामने सवाल यह था कि या तो ज्यादा समय तक काम करना मंजूर करें या नौकरी से हाथ धोने के लिए तैयार रहें।"[144]

इस प्रकार पूंजी का प्रारंभिक अभियान असफल रहा, और दस घंटे का अधिनियम १ मई १८४८ को लागू हो गया। परंतु इस बीच चार्टिस्ट पार्टी असफल हो गयी थी, उसके नेता गिरफ़्तार हो गये थे और उसका संगठन छिन्न-भिन्न हो गया था, और इसके फलस्वरूप अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग को ख़ुद अपनी शक्ति में विश्वास नहीं रह गया था। इसके कुछ दिन बाद पेरिस में जून का विद्रोह हुआ और उसे ख़ून में डुबो दिया गया, और इन घटनाओं ने यूरोपीय महाद्वीप की तरह इंगलैंड में भी शासक वर्गों के सभी गुटों को – ज़मींदारों और पूंजीपतियों को, स्टाक-एक्सचेंज के भेड़ियों और दूकानदारों को, संरक्षणवादियों और स्वतंत्र व्यापार के समर्थकों को, सरकार और विपक्ष को, पादरियों और स्वतंत्र चिंतकों को, कमसिन वेश्याओं और बुढ़िया साधुनियों को – एकताबद्ध कर दिया। वे सब संपत्ति, धर्म, परिवार और समाज की रक्षा के लिए एक झंडे के नीचे आकर खड़े हो गये। मज़दूर वर्ग को हर तरफ़ कोसा जाने लगा, प्रतिबंधित ठहराया गया और लगभग क़ानूनी तौर पर संदिग्ध बना दिया गया। अब कारख़ानेदारों को संभल-संभलकर चलने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। वे न केवल १० घंटे के अधिनियम के ख़िलाफ़, बल्कि उन तमाम क़ानूनों के ख़िलाफ़ खुली बग़ावत का झंडा लेकर खड़े हो गये, जो १८३३ से उस समय तक श्रम-शक्ति के "स्वतंत्र" शोषण को किसी हद तक सीमित करने के उद्देश्य से बनाये गये थे। यह छोटे पैमाने पर ग़ुलामी की प्रथा के समर्थन में विद्रोह था, जिसे सारी लोक-लाज और हया-शर्म को ताक़ पर रखकर दो वर्ष से अधिक समय तक चलाया गया और जिसमें एक ज़बर्दस्त आतंकवादी स्फूर्ति का प्रदर्शन हुआ। यह आंदोलन इसलिए और भी ज़ोरदार ढंग से चलाया गया कि विद्रोही पूंजीपतियों को उसमें कुछ खोने का डर नहीं था; ज़्यादा से ज़्यादा जो चीज़ खोयी जा सकती थी, वह थी बस उनके मज़दूरों की चमड़ी।

इसके बाद जो कुछ हुआ, उसे समझने के लिए हमें यह याद रखना होगा कि १८३३, १८४४ और १८४७ के फ़ैक्टरी-अधिनियम जिस हद तक एक दूसरे में संशोधन नहीं करते थे, उस हद तक तीनों एक साथ लागू थे, और तीनों में से कोई भी १८ वर्ष से अधिक उम्र के पुरुषों के काम के दिन को सीमित नहीं करता था। हमें यह भी याद रखना होगा कि सुबह के साढ़े पांच बजे से लेकर रात के साढ़े आठ बजे तक १५ घंटे का दिन १८३३ से ही क़ानूनी "दिन" समझा जाता था, जिसकी सीमाओं के भीतर लड़के-लड़कियों और औरतों को कुछ निर्धारित परिस्थितियों में पहले १२ घंटे और फिर १० घंटे काम करना पड़ता था।

---

[144] l. c. लेनर्ड हॉर्नर ने ख़ुद जो बयान इकट्ठा किये थे, वे अंक ६९, ७०, ७१, ७२, ९२ और ९३ में मिलते हैं, और सब-इंस्पेक्टर ए० द्वारा इकट्ठा किये हुए बयान परिशिष्ट के अंक ५१, ५२, ५८, ५९, ६२ और ७० में देखे जा सकते हैं। एक कारख़ानेदार ने भी सच्ची बात कही है। देखिये अंक १४ और अंक २६५, उप० पु०।

कारख़ानेदारों ने शुरूआत इस तरह की कि जो लड़के-लड़कियां तथा औरतें उनके यहां काम करती थीं, उनमें से कुछ को और बहुत सी जगहों में उनकी आधी संख्या को उन्होंने काम से जवाब दे दिया। फिर उन्होंने वयस्क पुरुषों के लिए रात का काम, जो कि लगभग बंद हो गया था, फिर से जारी कर दिया। और शोर यह मचाया कि क्या करें, दस घंटे का क़ानून बन जाने के बाद अब उनके सामने और कोई चारा नहीं है।[145]

उनका दूसरा क़दम भोजन, आदि की क़ानूनी छुट्टी के बारे में था। उसकी कहानी फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों के शब्दों में सुनिये: "जब से काम के घंटों पर १० घंटे की सीमा लागू हुई है, तभी से फ़ैक्टरियों के मालिकों का यह दावा है—हालांकि अभी उन्होंने व्यवहार में उसपर पूरी तरह अमल करना शुरू नहीं किया है—कि यदि यह मान लिया जाये कि काम का समय ६ बजे सुबह को शुरू होकर शाम को ७ बजे ख़त्म होता है, तो वे [भोजन के लिए] एक घंटा सुबह ६ बजे के पहले और आधा घंटा शाम को ७ बजे के बाद मज़दूरों को देकर क़ानून की हिदायतों को पूरा कर देते हैं। कुछ जगहों में वे अब भोजन के लिए एक घंटा या आधा घंटा देने लगे हैं, पर साथ ही उनका दावा है कि भोजन, आदि के लिए जो डेढ़ घंटे का समय दिया जाना चाहिए, उसके बारे में यह ज़रूरी नहीं है कि उसका कोई भाग फ़ैक्टरी के काम के दिन के दौरान दिया जाये।"[146] इसलिए कारख़ानेदारों का कहना था कि भोजन के समय के बारे में १८४४ के अधिनियम में जो अत्यंत कड़ी धाराएं हैं, उनके मातहत मज़दूर केवल फ़ैक्टरी में आने के पहले और फ़ैक्टरी से जाने के बाद—यानी केवल अपने घर पर ही—खा-पी सकते हैं। और मज़दूर सुबह ६ बजने के पहले ही अपना खाना-पीना भला ख़त्म क्यों न कर दें? मगर शाही वकीलों ने यही फ़ैसला दिया कि क़ानून में भोजन, आदि के लिए जो समय निर्धारित किया गया है, वह "काम के घंटों के दौरान अवकाश के रूप में दिया जाना चाहिए, और ६ बजे सुबह से शाम के ७ बजे तक बिना किसी अवकाश के लगातार १० घंटे तक काम लेना क़ानून के खिलाफ़ समझा जायेगा।"[147]

इन सुंदर प्रदर्शनों के बाद पूंजी ने अपने विद्रोह की भूमिका के तौर पर एक ऐसा क़दम उठाया, जो १८४४ के क़ानून की शब्दावली के अनुरूप था और इसलिए जो एक क़ानूनी क़दम था।

१८४४ का अधिनियम ८ वर्ष से १३ वर्ष तक के उन बच्चों से, जो दोपहर के पहले से काम कर रहे हों, दोपहर के १ बजे के बाद काम लेने से निश्चय ही मना करता था। मगर जिन बच्चों के काम का समय दोपहर के १२ बजे या उसके बाद शुरू होता था, उनके ६$\frac{१}{२}$ घंटे के काम का यह क़ानून किसी प्रकार नियमन नहीं करता था। ८ बरस के बच्चों का काम यदि दोपहर को शुरू होता हो, तो उनसे १२ बजे से १ बजे तक १ घंटा, २ बजे से ४ बजे तक २ घंटे, शाम के ५ बजे से रात के साढ़े आठ बजे तक ३$\frac{१}{२}$ घंटे,—इस तरह कुल मिलाकर क़ानूनी ६$\frac{१}{२}$ घंटे तक काम लिया जा सकता था। या इससे भी बेहतर व्यवस्था हो

---

[145] *Reports etc. for 31st October 1848*, pp. 133, 134.

[146] *Reports etc. for 30th April 1848*, p. 47.

[147] *Reports etc. for 31st October 1848*, p. 130.

सकती थी। बच्चों से रात को साढ़े आठ बजे तक वयस्क पुरुषों के साथ-साथ काम कराने के लिए कारख़ानेदारों को बस यह तरकीब करने की ज़रूरत थी कि वे उनसे दिन के २ बजे तक कोई काम न लें, और फिर वे उनको बिना किसी अवकाश के रात के साढ़े आठ बजे तक बराबर फ़ैक्टरी में रख सकते थे। "और यह बात साफ़ तौर पर मान ली गयी है कि मिल-मालिकों की अपनी मशीनों से दस घंटे से ज़्यादा काम लेने की इच्छा के कारण इंगलैंड में यह प्रथा पायी जाती है कि तमाम लड़के-लड़कियों और औरतों के फ़ैक्टरी से चले जाने के बाद पुरुषों के साथ-साथ बच्चों से भी काम लिया जाता है, और यदि फ़ैक्टरी के मालिक चाहें, तो उनको रात के साढ़े आठ बजे तक रोक लिया जाता है।"[148] मज़दूरों और फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने स्वास्थ्यविज्ञान तथा नैतिक आधार पर इस प्रथा का विरोध किया, किंतु पूंजी ने उन्हें जवाब दिया कि

"मेरा किया मेरे सिर पर, मैं तो इन्साफ़ चाहता हूं।
मेरे रुक्क़े में जो कुछ लिखा है, मैं बस वही चाहता हूं।"

सच तो यह है कि २६ जुलाई १८५० को जो आंकड़े हाउस आफ़ कामन्स में पेश किये गये, उनके अनुसार तो इस तमाम विरोध के बावजूद १५ जुलाई १८५० को २५७ फ़ैक्टरियों में ३,७४२ बच्चे इस "प्रथा" का शिकार बने हुए थे।[149] परंतु इतना ही काफ़ी नहीं था। पूंजी की बनबिलाव जैसी तेज़ आंखों ने यह भी खोज निकाला कि १८४४ का अधिनियम दोपहर के पहले तो इस बात की इजाज़त नहीं देता कि नाश्ते के लिए कम से कम आधे घंटे की छुट्टी दिये बिना लगातार ५ घंटे तक काम कराया जाये, मगर दोपहर के बाद के काम के वास्ते उसमें ऐसी शर्त नहीं है। चुनांचे उसने आठ-आठ बरस के बच्चों से न केवल २ बजे से लेकर रात के साढ़े आठ बजे तक बिना किसी अवकाश के लगातार काम कराने का, बल्कि इस पूरे अरसे में उनको भूखा रखने का भी हक़ हासिल कर लिया।

"मुझे दो कलेजा उसका—
रुक्क़े में यही लिखा है!"[150]

---

[148] l. c., p. 142.

[149] *Reports etc. for 31st October 1850*, pp. 5, 6.

[150] पूंजी के विकसित रूप में भी उसका वही स्वभाव रहता है, जो अविकसित रूप में है। अमरीकी गृह-युद्ध के आरंभ होने के कुछ ही समय पहले न्यूमैक्सिको के इलाक़े पर ग़ुलामों के मालिकों के प्रभाव के फलस्वरूप जो कोड थोप दिया गया था, उसमें यह कहा गया था कि पूंजीपति चूंकि मज़दूर की श्रम-शक्ति ख़रीद लेता है, इसलिए मज़दूर "उसका (पूंजीपति का) द्रव्य होता है"। रोम के अभिजात वर्ग के लोगों में यही दृष्टिकोण पाया जाता था। साधारण लोगों को वे जो द्रव्य क़र्ज़ पर देते थे, वह जीवन-निर्वाह के साधनों के ज़रिये क़र्ज़दारों के रक्त और मांस में रूपांतरित हो जाता था। और इसलिए यह "रक्त और मांस" उनका "द्रव्य" होता था। दश पट्टिकाओं का शाइलोक-मार्का क़ानून इसी विचार की उपज है। लेंगे का ख़याल है कि टाइबर नदी के उस पार अभिजात वर्ग के महाजन समय-समय पर क़र्ज़दारों के मांस का महाभोज किया करते थे। ईसाइयों के यूख़ारिस्त के संबंध में दौमेर की परिकल्पना की भांति हम इस परिकल्पना को भी अनिर्णीत छोड़ सकते हैं।

इस प्रकार जहां तक बच्चों के काम का संबंध था, १८४४ के क़ानून की शब्दावली से शाइलोक की तरह चिपट जाने का उद्देश्य केवल यह था कि "लड़के-लड़कियों और स्त्रियों" के संबंध में भी इस क़ानून के ख़िलाफ़ खुल्लमखुल्ला विद्रोह शुरू हो जाये। पाठकों को याद होगा कि इस क़ानून का मुख्य उद्देश्य "झूठी पालियों की प्रणाली" को बंद कराना था। मालिकों ने अपने विद्रोह का श्रीगणेश इस साधारण सी घोषणा से किया कि १८४४ के अधिनियम की वे धाराएं, जो मालिकों को १५ घंटे के दिन के चाहे जितने छोटे भाग में लड़के-लड़कियों तथा स्त्रियों से ad libitum [इच्छानुसार] काम लेने से रोकती हैं, उस वक़्त तक "अपेक्षाकृत हानिरहित" थीं, जब तक कि काम का समय १२ घंटे निश्चित था। लेकिन दस घंटे के क़ानून के मातहत तो ये धाराएं उनके लिए "भारी मुसीबत" बन गयी हैं।[151] मालिकों ने फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों को अत्यधिक शांत ढंग से सूचित किया कि हम अपने को क़ानून की शब्दावली के ऊपर समझते हैं और पुरानी प्रणाली अपने आप फिर से जारी करना चाहते हैं।[152] उन्होंने कहा कि यह काम हम ख़ुद मज़दूरों के हित में करना चाहते हैं, जो ग़लत सलाहकारों के कहने में आ गये हैं, और हमारा उद्देश्य यह है कि हम "उनको ज़्यादा ऊंची मज़दूरी दे सकें।" मालिकों का कहना था कि "दस घंटे के अधिनियम के मातहत चलते हुए ग्रेट ब्रिटेन की औद्योगिक श्रेष्ठता को क़ायम रखने का बस यही एकमात्र संभव तरीक़ा है।" "पालियों की व्यवस्था में, मुमकिन है, अनियमितताओं का पता लगाना थोड़ा कठिन हो जाये, लेकिन उससे क्या फ़र्क़ पड़ता है? फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों और सब-इंस्पेक्टरों को थोड़ी सी परेशानी से बचाने के लिए क्या इस देश के महान औद्योगिक हितों को गौण स्थान दिया जायेगा?"[153]

इन तमाम पैंतरेबाज़ियों से, ज़ाहिर है, कोई फ़ायदा न हुआ। फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने अदालतों का दरवाज़ा खटखटाया। परंतु शीघ्र ही मिल-मालिकों ने दरख़ास्तों की ऐसी आंधी उठायी कि गृह-मंत्री सर जॉर्ज ग्रे की नाक में दम आ गया और उन्होंने ५ अगस्त १८४८ को एक गश्ती चिट्ठी भेजकर इंस्पेक्टरों से कहा कि उनको "अधिनियम की शब्दावली के ख़िलाफ़ जाने या पालियां बनाकर लड़के-लड़कियों से काम लेने के बारे में मिल-मालिकों के विरुद्ध ऐसी सूरत में रिपोर्टें नहीं भेजनी चाहिए, जब कि यह यक़ीन करने का कोई आधार न हो कि इन लड़के-लड़कियों से सचमुच क़ानून द्वारा निश्चित समय से अधिक देर तक काम लिया गया है।" इसपर फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर जे० स्टुअर्ट ने पूरे स्कॉटलैंड में १५ घंटे के फ़ैक्टरी के दिन के दौरान तथा-कथित पालियों की प्रणाली के अनुसार काम लेने की इजाज़त दे दी, और इस इलाक़े में इस प्रणाली का फिर पहले की तरह ज़ोर-शोर से प्रचलन हो गया। दूसरी ओर, इंगलैंड के फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने कहा कि गृह-मंत्री को इस तानाशाही ढंग से क़ानून को निलंबित करने का कोई हक़ नहीं है, और ग़ुलामी की हिमायत में की गयी इस बग़ावत के ख़िलाफ़ अपनी क़ानूनी कार्रवाइयों को जारी रखा।

परंतु पूंजीपतियों को अदालत के सामने खड़ा करने से क्या लाभ था, जब कि अदालतें,

---

[151] *Reports etc. for 30st April 1848*, p. 28.

[152] यह बात अन्य व्यक्तियों के अलावा दानवीर ऐशवर्थ ने भी लेनर्ड हॉर्नर को एक घिनौने क्वेकर-मार्का ख़त में लिखी है। (*Reports etc., April 1849*, p. 4.)

[153] l. c., p. 140.

यानी काउंटी मजिस्ट्रेट, जिनको कॉबेट ने "महान अवैतनिक" का नाम दिया था, उनको फ़ौरन निर्दोष क़रार दे देते थे? इन अदालतों में मिल-मालिक ख़ुद ही अपने मुक़दमों का फ़ैसला करते थे। एक मिसाल देखिये। कपास की कताई करनेवाली कंपनी – केर्शो, लीज एण्ड कंपनी – के मालिक, एस्क्रिग्ग नामक किन्हीं महाशय ने अपने डिस्ट्रिक्ट के फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर के सामने पालियों की प्रणाली की एक योजना पेश की, जिसे वह अपनी मिल में लागू करना चाहते थे। फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर ने इस योजना को पास करने से इनकार कर दिया तो कुछ समय के लिए एस्क्रिग्ग साहब चुप होकर बैठ गये। उसके चंद महीने बाद रॉबिन्सन नाम के एक व्यक्ति को स्टोकपोर्ट के नगर-मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया। यह व्यक्ति भी कपास की कताई करनेवाले किसी कारख़ाने का मालिक था और एस्क्रिग्ग का यदि मैन फ़ाइडे नहीं, तो संबंधी अवश्य था। उसपर यह अभियोग था कि उसने अपने कारख़ाने में पालियों की बिल्कुल वैसी ही योजना लागू कर रखी थी, जैसी योजना एस्क्रिग्ग ने तैयार की थी। अदालत चार जजों की थी; उनमें से तीन कपास की कताई करनेवाले कारख़ानों के मालिक थे, और उनके मुखिया वही एस्क्रिग्ग महाशय थे। सो एस्क्रिग्ग ने रॉबिन्सन को निर्दोष कहकर छोड़ दिया और फिर सोचा कि जो बात रॉबिन्सन के लिए सही है, वह एस्क्रिग्ग के लिए भी सही है। ख़ुद अपने फ़ैसले की नज़ीर के बल पर उन्होंने तुरंत अपने कारख़ाने में भी वह प्रणाली जारी कर दी।[154] ज़ाहिर है, इस अदालत में जिस तरह के जज बैठे थे, यह ख़ुद क़ानून की ख़िलाफ़वर्ज़ी थी।[155] इंस्पेक्टर हॉवेल ने कहा है कि "न्याय के नाम पर होनेवाले इन स्वांगों के ख़िलाफ़ क़दम उठाने की आवश्यकता है – या तो क़ानून में इस प्रकार का परिवर्तन कर दिया जाये कि वह इन फ़ैसलों के अनुरूप हो जाये, या इस क़ानून को लागू करने का अधिकार ऐसी अपेक्षाकृत कम दोषपूर्ण अदालतों को दिया जाये, जिनके सामने जब ऐसे मुक़दमे आयें... तो उनके फ़ैसले क़ानून के अनुरूप हों। मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूं, जब सरकार से वेतन पानेवाले मजिस्ट्रेट नियुक्त किये जायेंगे।"[156]

शाही वकीलों ने घोषणा की कि मालिकों ने १८४८ के अधिनियम की जो व्याख्या की है, वह बिल्कुल बेतुकी है। लेकिन जिन्होंने समाज के उद्धार का बीड़ा उठाया था वे इस तरह हिम्मत हारनेवाले नहीं थे। लेनर्ड हॉर्नर के शब्दों में, "मैंने सात अदालतों के सामने दस मुक़दमे दायर करके अधिनियम पर अमल करवाने की कोशिश की, पर जब इन दस में से केवल एक ही मुक़दमे में मजिस्ट्रेट ने मेरा साथ दिया... तो मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि क़ानून तोड़नेवालों के ख़िलाफ़ अब और मुक़दमे दायर करना बेकार है। १८४८ के अधिनियम का वह भाग जो काम के घंटों में एकरूपता लाने के उद्देश्य से बनाया गया था... अब मेरे डिस्ट्रिक्ट (लंकाशायर) में लागू नहीं है। न ही जब हम पालियों में काम करानेवाली किसी मिल की जांच

---

[154] *Reports etc. for 30th April 1849*, pp. 21, 22; इसी तरह की और मिसालों के लिए देखिये उप० पु०, पृ० ४, ५।

[155] विलियम चतुर्थ के राज्य-काल के क़ानून नं० १ और २ के अध्याय २४, धारा १० के अनुसार कपास की कताई या बुनाई करनेवाली किसी भी मिल के मालिक को या मालिक के पिता, पुत्र अथवा भाई को ऐसे मक़दमों को जज की हैसियत से सुनने की मनाही थी, जो फ़ैक्टरी से संबंध रखते हों। यह क़ानून सर जॉन हॉबहाउस का फ़ैक्टरी-अधिनियम भी कहलाता था।

[156] *Reports etc. for 30th April 1849*, [p. 22.]

करने जाते हैं, तो मेरे सब-इंस्पेक्टरों के पास या मेरे पास यह पता लगाने का कोई तरीक़ा है कि उस मिल में लड़के-लड़कियां या स्त्रियां १० घंटे रोज़ाना से ज़्यादा तो काम नहीं कर रहे हैं... ३० अप्रैल के आंकड़ों के अनुसार... पालियों में काम करानेवाले मिल-मालिकों की संख्या ११४ है, और कुछ समय से उनकी तादाद तेज़ी से बढ़ती जा रही है। आम तौर पर मिल के काम करने का वक़्त बढ़ाकर १३$\frac{1}{2}$ घंटे, सुबह ६ बजे से रात के ७$\frac{1}{2}$ बजे तक, कर दिया जाता है... कुछ जगहों में १५ घंटे, यानी सुबह ५$\frac{1}{2}$ बजे से रात के ८$\frac{1}{2}$ बजे तक, काम कराया जाता है।"[157] लेनर्ड हॉर्नर के पास दिसंबर १८४८ में ही ऐसे ६५ कारख़ानेदारों तथा २६ निरीक्षकों की सूची तैयार हो गयी थी, जिन्होंने एकमत से यह घोषणा की थी कि इस पालियों की प्रणाली के रहते हुए किसी भी प्रकार का निरीक्षण मज़दूरों से अत्यधिक काम लेने की प्रथा को नहीं रोक सकता।[158] होता क्या था कि पंद्रह घंटों के दौरान उन्हीं बच्चों और लड़के-लड़कियों से कभी कताई-घर में काम लिया जाता था, तो कभी बुनाई-घर में, या फिर उनको एक फ़ैक्टरी से दूसरी फ़ैक्टरी में भेज दिया जाता था।[159] ऐसी व्यवस्था पर नियंत्रण रखना कैसे संभव था, जो "पालियों की आड़ में असल में उन बहुत सी योजनाओं में से एक थी, जो मज़दूरों की इधर से उधर और उधर से इधर नाना प्रकार से अदला-बदली करने और अलग-अलग व्यक्तियों के काम और विश्राम के घंटों को दिन भर बराबर बदलते रहने के लिए बनायी गयी थीं और जिनका नतीजा यह हुआ था कि एक वक़्त पर एक कमरे में मज़दूरों का एक पूरा जत्था कभी काम करता हुआ नहीं मिलता था?"[160]

लेकिन मज़दूर से जो अत्यधिक काम सचमुच लिया जाता था, यदि उसकी बात न की जाये, तो भी यह तथाकथित पालियों की प्रणाली पूंजीवादी कल्पना की एक ऐसी उपज थी, जिससे फ़ूरिये भी अपने "courtes séances" ["लघु प्रदर्शन"] के व्यंग्यमय रेखाचित्रों में आगे नहीं बढ़ पाये हैं। हां, इतना ज़रूर है कि उनके यहां जो "श्रम का आकर्षण" था, वह यहां "पूंजी के आकर्षण" में बदल गया है। मिसाल के लिए, मिल-मालिकों की उन योजनाओं को देखिये, जिनकी प्रशंसा करते हुए "प्रतिष्ठित" समाचारपत्रों ने कहा था कि ये योजनाएं इस बात का नमूना हैं कि "यदि थोड़ा सा ध्यान दिया जाये और व्यवस्थित ढंग से काम किया जाये, तो कैसी-कैसी सफलताएं प्राप्त की जा सकती हैं।" मज़दूरों को कभी-कभी १२ या १५ अलग-अलग श्रेणियों में बांट दिया जाता था, और ख़ुद इन श्रेणियों में जो लोग रखे गये थे, वे भी बराबर बदलते रहते थे। कारख़ाने के १५ घंटे के दिन के दौरान पूंजी मज़दूर को कभी ३० मिनट के लिए फ़ैक्टरी में घसीट लाती थी, कभी एक घंटे के लिए और उसके बाद फिर उसे बाहर धकेल देती थी, और कुछ समय बाद उसे फिर अंदर ले जाती थी और उसके बाद फिर बाहर निकाल देती थी। इस तरह पूंजी उसे कभी यहां घुमाती थी, कभी वहां, समय

---

[157] *Reports etc. for 30th April 1849*, p. 5.

[158] *Reports etc. for 31st October 1849*, p. 6.

[159] *Reports etc. for 30th April 1849*, p. 21.

[160] *Reports etc. for 31st October 1848*, p. 95.

के ज़रा-ज़रा से टुकड़ों में उससे काम लेती थी, पर जब तक पूरे १० घंटे का काम नहीं निकाल लेती थी, तब तक उसको अपने पंजों में से नहीं छूटने देती थी। जैसा कि रंगमंच पर होता है, वे ही व्यक्ति अलग-अलग अंकों के विभिन्न दृश्यों में फिर-फिर सामने आते थे। परंतु जिस प्रकार जब तक नाटक चलता रहता है, तब तक अभिनेता पर रंगमंच का अधिकार रहता है, उसी प्रकार मज़दूरों पर, घर से फ़ैक्टरी तक आने-जाने के समय के अलावा पूरे १५ घंटे तक फ़ैक्टरी का अधिकार रहता था। इस प्रकार विश्राम के समय को ज़बर्दस्ती ख़ाली बैठे रहने के समय में बदल दिया गया, जिसने नौजवानों को शराबख़ानों में और लड़कियों को चकलाघरों में भेज दिया। मज़दूरों की संख्या को बढ़ाये बिना अपनी मशीनों को १२ या १५ घंटे तक चालू रखने के लिए पूंजीपति दिन प्रति दिन जो नयी तरकीबें निकालते थे, उनके साथ-साथ मज़दूर को कभी वक़्त के इस टुकड़े में जल्दी-जल्दी अपना भोजन निगलना पड़ता था, तो कभी उस टुकड़े में। १० घंटे के आंदोलन के समय मिल-मालिकों ने शोर मचाया था कि मज़दूरों की भीड़ असल में इस उम्मीद में आवेदन दे रही है कि उसे १० घंटे के काम के एवज़ में १२ घंटे की मज़दूरी मिल जायेगी। पर अब उन्होंने तस्वीर का दूसरा रुख़ दिखलाया। वे श्रम-शक्ति पर राज करते थे १२ या १५ घंटे तक, पर उसके एवज़ में मज़दूरी देते थे सिर्फ़ १० घंटे की।[161] यही मामले का सार था, मालिकों की १० घंटे के क़ानून की यही व्याख्या थी! ये स्वतंत्र व्यापार के वे ही पाखंडी समर्थक थे, जिनके रोम-रोम से मानवता के लिए उनका प्रेम टपका करता था और जिन्होंने अनाज-क़ानूनों के विरोध में चलनेवाले आंदोलन के काल में पूरे १० वर्ष तक मज़दूरों को यह उपदेश सुनाया था और पाई-पाई का हिसाब लगाकर यह सिद्ध किया था कि यदि अनाज बिना किसी रोकथाम के देश में आने लगे, तो इंगलैंड के उद्योगों के पास जितने साधन हैं, उनके द्वारा १० घंटे का श्रम पूंजीपतियों को धनी बना देने के लिए बहुत काफ़ी होगा।[162]

पूंजी का यह विद्रोह दो साल बाद आख़िर विजयी हुआ, जब कि इंगलैंड के सबसे ऊंचे चार न्यायालयों में से एक ने, अर्थात् कोर्ट आफ़ एक्सचेकर ने, ८ फ़रवरी १८५० के एक मुक़दमे में यह फ़ैसला सुनाया कि कारख़ानेदार अवश्य १८४४ के अधिनियम के अर्थ के ख़िलाफ़ काम कर रहे हैं, पर ख़ुद इस अधिनियम में कुछ ऐसे शब्द हैं, जो उसे निरर्थक बना डालते हैं। "इस फ़ैसले के द्वारा 'दस घंटा अधिनियम' रद्द कर दिया गया।"[163] जो बहुत से मालिक

---

[161] देखिये *Reports etc. for 30th April 1849*, p. 6. *Reports etc. for 31st October 1848* में फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर हॉवेल और सॉण्डर्स ने 'स्थान-परिवर्तन की प्रणाली' की जो विस्तृत व्याख्या की है, वह भी देखिये। उसके साथ-साथ १८४६ के वसंत में ऐश्टन तथा पास-पड़ोस के पादरियों ने 'स्थान-परिवर्तन की प्रणाली' के विरुद्ध रानी को जो अभ्यावेदन दिया था, उसे भी देखना चाहिए।

[162] मिसाल के लिए, देखिये R. H. Greg, *The Factory Question and the Ten Hours' Bill*, 1837.

[163] F. Engels, *Die englische Zehnstundenbill*. (कार्ल मार्क्स द्वारा संपादित *Neue Rheinische Zeitung. Politisch-ökonomische Revue* के अप्रैल १८५० के अंक में, पृ० १३)। इसी "उच्च" न्यायालय ने अमरीका के गृह-युद्ध के काल में एक ऐसी शाब्दिक संदिग्धार्थता का आविष्कार किया था, जिसने डाकामार जहाज़ों की हथियारबंदी को रोकने के लिए बनाये गये क़ानून का मतलब बिल्कुल उलट दिया था।

लड़के-लड़कियों और स्त्रियों से पालियों की प्रणाली के अनुसार काम लेने में अभी तक घबराते थे, अब उन्होंने धड़ल्ले से यह चीज शुरू कर दी।[164]

परंतु पूंजी की इस विजय के बाद, जो कि निर्णायक विजय मालूम होती थी, तुरंत ही उसकी प्रतिक्रिया हुई। अभी तक मजदूर निष्क्रिय ढंग से प्रतिरोध कर रहे थे, हालांकि यह प्रतिरोध न तो कभी ढीला पड़ता था और न बीच में रुकता ही था। लेकिन अब मजदूरों ने लंकाशायर और यॉर्कशायर में डरानेवाली सभाएं करके अपना विरोध प्रकट किया। दस घंटे के जिस अधिनियम का इतना शोर मचाया गया था, अब पता चला कि वह कोरी धोखे की टट्टी और एक संसदीय चाल था और वास्तव में उसका कोई वजूद न था! फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने तुरंत सरकार को सतर्क किया कि वर्गों का विरोध अविश्वसनीय सीमा तक बढ़ गया है। कुछ मालिक भी बड़बड़ाये: "मजिस्ट्रेटों के परस्पर विरोधी फ़ैसलों के कारण सर्वथा असाधारण और अराजक स्थिति उत्पन्न हो गयी है। यॉर्कशायर में एक क़ानून लागू है, लंकाशायर में दूसरा; लंकाशायर के एक हल्के में एक क़ानून अमल में आता है, उससे बिल्कुल मिले हुए पड़ोसी हल्के में दूसरा। बड़े-बड़े शहरों के कारख़ानेदारों के लिए क़ानून की खिलाफ़वर्ज़ी करना मुमकिन है; देहाती इलाक़ों के कारख़ानेदारों को इतने आदमी ही नहीं मिलते कि वे उनसे पालियों की प्रणाली के अनुसार काम ले सकें, और ऐसी स्थिति में मजदूरों को एक फ़ैक्टरी से दूसरी फ़ैक्टरी में बदलते रहना तो उनके लिए और भी कम संभव है", इत्यादि। और, जाहिर है, पूंजी का पहला जन्मसिद्ध अधिकार यह है कि सभी पूंजीपतियों को श्रम-शक्ति का समान शोषण करने की सुविधा होनी चाहिए।

ऐसी परिस्थिति में मालिकों और मजदूरों के बीच एक समझौता हो गया, जिसपर ५ अगस्त १८५० के अतिरिक्त फ़ैक्टरी-अधिनियम के रूप में संसद की मुहर भी लग गयी। "लड़के-लड़कियों और स्त्रियों" के लिए सप्ताह के पहले पांच दिन में काम का दिन १० घंटे से बढ़ाकर $१०\frac{१}{२}$ घंटे का कर दिया गया और शनिवार को घटाकर $७\frac{१}{२}$ घंटे का कर दिया गया। तय कर दिया गया कि काम सुबह के ६ बजे से शाम के ६ बजे तक[165] होगा और नाश्ते तथा भोजन के लिए बीच में कम से कम कुल $१\frac{१}{२}$ घंटे के लिए रुका रहेगा, और नाश्ते तथा भोजन की छुट्टी सब मजदूरों को एक ही समय पर तथा १८४४ के क़ानून में निर्धारित नियमों के अनुसार दी जायेगी। इस क़ानून द्वारा पालियों की प्रणाली का सदा के लिए अंत हो गया।[166] बच्चों के श्रम पर १८४४ का अधिनियम ही लागू रहा।

पहले की तरह इस बार भी मालिकों के एक दल ने सर्वहारा के बच्चों के ऊपर विशेष प्रकार के सामंती अधिकार प्राप्त कर लिये। यह रेशम के कारख़ानों के मालिकों का दल था।

---

[164] *Reports etc. for 30th April 1850.*

[165] जाड़ों में इसके बजाय सुबह के ७ बजे से शाम के ७ बजे तक काम लेने की इजाजत थी।

[166] "(१८५० का) मौजूदा क़ानून एक समझौते की तरह था, जिसके जरिये मजदूरों ने दस घंटे के क़ानून की सुविधाओं को इस सुविधा के एवज में त्याग दिया था कि जिन लोगों के श्रम पर किसी प्रकार की सीमाएं लगी हैं, उनके काम के आरंभ तथा समाप्त होने के समय में एकरूपता हो जायेगी।" (*Reports etc. for 30th April 1852*, p. 14.)

१८३३ में इन लोगों ने यह गीदड़-भभकी दी थी कि "यदि किसी भी उम्र के बच्चों से दस घंटे रोज़ाना काम लेने की उनकी आज़ादी छीन ली गयी, तो उनके कारख़ाने बंद हो जायेंगे।" उनका कहना था कि १३ वर्ष से अधिक उम्र के बच्चों की पर्याप्त संख्या को ख़रीद सकना उनके लिए असंभव होगा। चुनांचे वे जो विशेष अधिकार चाहते थे, वह उन्हें मिल गया। बाद को छानबीन करने पर पता चला कि उनका बहाना सरासर झूठा था।[167] लेकिन इससे उनके रास्ते में कोई रुकावट नहीं पड़ी। वे अगले दस बरस तक नन्हे-नन्हे बच्चों के ख़ून से रोज़ाना १० घंटे रेशम की कताई करते रहे। ये बच्चे इतने छोटे होते थे कि उनको स्टूलों पर खड़ा करके उनसे काम लिया जाता था।[168] १८४४ के अधिनियम ने इन मालिकों से ११ वर्ष से कम उम्र के बच्चों से रोज़ाना ६ १/२ घंटे से ज़्यादा काम लेने की "आज़ादी" निश्चय ही "छीन ली थी"। पर दूसरी ओर, इस क़ानून ने उनको ११ वर्ष से लेकर १३ वर्ष तक के बच्चों से १० घंटे रोज़ाना काम लेने और इन बच्चों को उस अनिवार्य शिक्षा नियम से भी मुक्त कर देने का अधिकार दे दिया था, जो फ़ैक्टरियों में काम करनेवाले बाक़ी सब बच्चों पर लागू था। इस बार बहाना यह था कि "जिस कपड़े को ये बच्चे बनाते हैं, उसकी नाज़ुक बनावट के लिए अत्यधिक कोमल स्पर्श की आवश्यकता होती है, जो बाल्यावस्था से ही फ़ैक्टरियों में काम शुरू कर देने पर ही उनकी उंगलियों में पैदा हो सकता है।"[169] जिस प्रकार दक्षिणी रूस में ढोर खाल और चर्बी के लिए ज़िबह कर दिये जाते हैं, उसी प्रकार यहां इंगलैंड में बच्चे अपनी नाज़ुक उंगलियों के लिए ज़िबह होते रहे। अंत में १८४४ में दिये गये इन विशेषाधिकारों को १८५० में केवल रेशम बटने और रेशम लपेटने के विभागों तक ही सीमित कर दिया गया। लेकिन पूंजी की चूंकि "आज़ादी" छीन ली गयी थी, इसलिए उसके मुआवज़े के तौर पर ११ वर्ष से १३ वर्ष तक के बच्चों के काम का समय १० घंटे से बढ़ाकर १० १/२ घंटे कर दिया गया। बहाना यह था कि "रेशमी कपड़ा तैयार करनेवाली मिलों में दूसरी तरह का कपड़ा तैयार करनेवाली मिलों की अपेक्षा हल्का काम करना पड़ता है, और अन्य दृष्टियों से भी वह स्वास्थ्य के लिए कम हानिकारक होता है।"[170] सरकार की तरफ़ से बाद को डाक्टरी जांच-पड़ताल हुई, तो उल्टी बात मालूम हुई। पता चला कि "रेशम उद्योग वाले इलाक़ों में औसत मृत्यु-दर अत्यधिक ऊंची है, और वहां की स्त्रियों में तो यह दर लंकाशायर के सूती मिलों के इलाक़ों की दर से भी ऊंची पहुंच जाती है।"[171] फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर हर छः महीने

[167] *Reports etc. for 30th September 1844*, p. 13.

[168] l. c.

[169] *Reports etc. for 31st October 1846*, p. 20.

[170] *Reports etc. for 31st October 1861*, p. 26.

[171] l. c., p. 27. मोटे तौर पर जिन मज़दूरों पर फ़ैक्टरी-अधिनियम लागू है, उनके स्वास्थ्य में बहुत सुधार हुआ है। सभी डाक्टर इस बात के साक्षी हैं, और विभिन्न अवसरों पर मैंने व्यक्तिगत रूप से जो कुछ देखा है, उसने भी मुझे इस बात की सचाई का विश्वास दिलाया है। फिर भी, और बच्चों के जीवन के प्रारंभिक वर्षों में जिस भयानक रफ़्तार से उनकी मौतें होती हैं, उसको यदि अलग रखा जाये, तो भी डा० ग्रीनहाऊ की सरकारी रिपोर्टों से पता चलता है कि "सामान्य स्वास्थ्य वाले खेतिहर इलाक़ों" की तुलना में औद्योगिक इलाक़ों में स्वास्थ्य की स्थिति बहुत ख़राब है। इसके प्रमाण के रूप में डा० ग्रीनहाऊ की १८६१ की रिपोर्ट में दी हुई यह तालिका देखिये:

के बाद इस स्थिति के विरोध में अपनी आवाज़ बुलंद करता है, पर यह कुप्रथा आज तक ज्यों की त्यों चली आती है।[172]

सुबह साढ़े पांच बजे से रात के साढ़े आठ बजे तक के १५ घंटे के काम के समय को १८५० के क़ानून ने केवल "लड़के-लड़कियों और स्त्रियों" के लिए ६ बजे सुबह से ६ बजे शाम तक के १२ घंटे के समय में बदल दिया। इसलिए इस क़ानून का उन बच्चों पर कोई असर नहीं पड़ा, जिनसे हमेशा इस काल के आधा घंटा पहले और २$\frac{१}{२}$ घंटे बाद काम लिया जा सकता था। हां, इतना ख़याल रखना ज़रूरी था कि कुल मिलाकर उनसे ६$\frac{१}{२}$ घंटे से ज्यादा काम न लिया जाये। जब बिल पर बहस चल रही थी, तो फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने संसद के सामने इस बारे में आंकड़े पेश किये कि इस असंगति से मालिक कितना बेजा फ़ायदा उठा रहे हैं। पर इससे कोई लाभ नहीं हुआ। कारण कि पृष्ठभूमि में तो यह इच्छा थी कि व्यवसाय की समृद्धि का काल आने पर बच्चों की मदद से वयस्क पुरुषों से किसी न किसी तरह १५ घंटे रोज़ाना काम कराया जाये। इसके बाद के तीन वर्षों के अनुभव से यह मालूम हुआ कि यदि ऐसी कोई कोशिश की जायेगी, तो वह वयस्क मजदूरों के विरोध के सामने कामयाब नहीं हो

कारख़ानों में काम करनेवाले वयस्क पुरुषों का प्रतिशत	हर साल फेफड़ों की बीमारी से मरनेवाले पुरुषों की संख्या – प्रति १ लाख के पीछे	डिस्ट्रिक्ट का नाम	हर साल फेफड़ों की बीमारी से मरनेवाली स्त्रियों की संख्या – प्रति १ लाख के पीछे	कारख़ानों में काम करनेवाली वयस्क स्त्रियों का प्रतिशत	स्त्रियां किस तरह का काम करती हैं
१४.६	५६८	वाइगन	६४४	१८.०	सूती
४२.६	७०८	ब्लैकबर्न	७३४	३४.६	सूती
३७.३	५४७	हैलिफ़ेक्स	५६४	२०.४	ऊनी
४१.६	६११	ब्रेडफ़ोर्ड	६०३	३०.०	ऊनी
३१.०	६६१	मैक्लेसफ़ील्ड	८०४	२६.०	रेशमी
१४.६	५८८	लीक	७०५	१७.२	रेशमी
३६.६	७२१	स्टोक अपोन ट्रेंट	६६५	१६.३	मिट्टी के बर्तन
३०.४	७२६	वूल्सटैण्टन	७२७	१३.६	मिट्टी के बर्तन
–	३०५	८ स्वस्थ खेतिहर डिस्ट्रिक्ट	३४०	–	–

[172] यह बात सुविदित है कि इंगलैंड के "स्वतंत्र व्यापार के समर्थकों" ने रेशम उद्योग के संरक्षण के लिए लगायी गयी चुंगी की मंसूख़ी के संबंध में कितनी आनाकानी दिखायी थी। पर अब यदि फ़ांस से आनेवाले रेशमी माल पर लगी हुई चुंगी उसकी रक्षा नहीं करती, तो उसके बजाय इंगलैंड के कारख़ानों में काम करनेवाले बच्चों के लिए संरक्षण का अभाव उसकी सहायता करता है।

सकेगी।[173] इसलिए आख़िर १८५३ में "सुबह को लड़के-लड़कियों तथा स्त्रियों से पहले और शाम को उनके बाद बच्चों से काम लेने" की मनाही करके १८५० के अधिनियम को पूर्णता दी गयी। इस समय से १८५० का फ़ैक्टरी-अधिनियम कुछ अपवादों को छोड़कर बाक़ी उन सभी मज़दूरों के काम के दिन का नियमन करने लगा, जो उद्योग की उन शाखाओं में काम करते थे, जिनपर यह क़ानून लागू था।[174] इस वक़्त तक पहले फ़ैक्टरी-अधिनियम को पास हुए आधी शताब्दी बीत चुकी थी।[175]

फ़ैक्टरियों के संबंध में बनाये गये क़ानून पहली बार १८४५ के कपड़ा छपाई कारख़ानों से संबंधित अधिनियम की शक्ल में अपने मूलक्षेत्र से आगे बढ़े। पूंजी इस नयी "ज़्यादती" से कितनी नाराज़ थी, यह इस अधिनियम की हर पंक्ति से ज़ाहिर है। ८ वर्ष से १३ वर्ष तक के बच्चों और स्त्रियों के काम के दिन पर उसने १६ घंटे की सीमा लगायी है। उसके अनुसार इन बच्चों तथा स्त्रियों से सुबह ६ बजे से रात के १० बजे तक काम लिया जा सकता है, और खाने, नाश्ते, आदि के लिए उनको कोई छुट्टी देना क़ानूनन जरूरी नहीं है। १३ वर्ष से ऊपर के पुरुषों से यही क़ानून दिन-रात इच्छानुसार काम लेने की इजाज़त देता है।[176] असल में यह एक संसदीय गर्भपात है।[177]

---

[173] *Reports etc. for 30th April 1853*, p. 31.

[174] १८५६ और १८६० इंगलैंड के सूती उद्योग के परमोत्कर्ष के वर्ष थे। इन वर्षों में कुछ कारख़ानेदारों ने ओवरटाइम काम के लिए ऊंची मज़दूरी का लालच देकर वयस्क पुरुषों को काम के दिन के विस्तार के लिए राज़ी करने की कोशिश की। हाथ से चलनेवाले म्यूल पर कताई करनेवाले मज़दूरों ने और अपने आप चलनेवाले म्यूलों की देखरेख करनेवाले मज़दूरों ने मालिकों के पास एक दरख़ास्त भेजकर इस प्रयास का अंत कर दिया। इस दरख़ास्त में उन्होंने कहा था: "यदि साफ़-साफ़ कहा जाये, तो हमारा जीवन हमारे लिए एक बोझा बन गया है, और जब तक हम लोगों को प्रति सप्ताह देश के बाक़ी मज़दूरों से लगभग दो दिन [२० घंटे] अधिक मिलों में बंद रखा जायेगा, तब तक हम अपने को भूदासों के समान समझते रहेंगे और हमें लगेगा कि हम एक ऐसी व्यवस्था को चिरस्थायी बना रहे हैं, जो हमारे लिए और आनेवाली पीढ़ियों के लिए हानिकारक है... इसलिए इस दरख़ास्त के द्वारा हम अत्यंत आदरपूर्वक आपको यह सूचना देना चाहते हैं कि बड़े दिन तथा नये साल की छुट्टियों के बाद जब हम फिर से काम आरंभ करेंगे, तो हम ६० घंटे प्रति सप्ताह काम करेंगे, उससे ज्यादा नहीं, या यूं कहिये कि हम छ: बजे से छ: बजे तक काम करेंगे और बीच में डेढ़ घंटे की छुट्टी लेंगे।" (*Reports etc. for 30th April 1860*, p. 30.)

[175] इस क़ानून की शब्दावली से उसका उल्लंघन करने की कितनी सुविधा हो गयी थी, यह जानने के लिए देखिये संसद का प्रकाशन *Factories Regulation Acts* (६ अगस्त १८५९) और उसमें देखिये Leonard Horner, *Suggestions for Amending the Factory Acts to enable the Inspectors to prevent illegal working, now becoming very prevalent.*

[176] "८ वर्ष और उससे अधिक उम्र के बच्चों से मेरे डिस्ट्रिक्ट में पिछले छ: महीने से (१८५७) सचमुच सुबह ६ बजे से रात के ९ बजे तक काम लिया जा रहा है।" (*Reports etc. for 31st October 1857*, p. 39.)

[177] कपड़ा छपाई कारख़ानों से संबंधित अधिनियम अपनी शिक्षा संबंधी तथा श्रम की रक्षा करनेवाली, दोनों प्रकार की धाराओं की दृष्टि से असफल रहा है—यह बात अब सभी मानते हैं।" (*Reports etc. for 31st October 1862*, p. 52.)

परंतु उद्योग की उन विशाल शाखाओं में, जो उत्पादन की आधुनिक प्रणाली की विशिष्ट पैदावार हैं, मान्यता प्राप्त करके सिद्धांत विजयी हुआ। १८५३ से १८६० तक फ़ैक्टरी-मज़दूरों के शारीरिक एवं नैतिक पुनरुत्थान के साथ-साथ इन शाखाओं का जैसा चमत्कारपूर्ण विकास हुआ, उसे एक अत्यंत क्षीणदृष्टि व्यक्ति भी देख सकता था। काम के दिन पर सीमा लगाने और उसका नियमन करने के क़ानून मिल-मालिकों से आधी शताब्दी तक गृह-युद्ध चलाकर क़दम ब क़दम मनवाये गये थे, पर अब वे ख़ुद भी डींग मारते हुए इस बात का ज़िक्र किया करते थे कि शोषण की जो शाखाएं अभी तक "स्वतंत्र" हैं, उनके मुक़ाबले में उनकी अपनी शाखाओं की हालत कितनी अच्छी है।[178] "राजनीतिक अर्थशास्त्र" के पाखंडी प्रचारक अब यह कहते फिरते थे कि क़ानून द्वारा काम के दिन को निश्चित करने की आवश्यकता को महसूस करना – यह उनके "विज्ञान" का एक विशिष्ट एवं नवीन आविष्कार था।[179] यह बात आसानी से समझ में आ जानी चाहिए कि जब कलकारख़ानों के मालिकों ने अवश्यंभावी के सामने सिर झुका दिया और उसे अनिवार्य मानकर स्वीकार कर लिया, उसी समय से पूंजी की प्रतिरोध की शक्ति धीरे-धीरे कम होती गयी और साथ ही, प्रत्यक्ष रूप से सवाल में कोई दिलचस्पी न रखनेवाले समाज के वर्गों से नये सहायक मिलने के साथ-साथ, मज़दूर वर्ग की पूंजी पर हमला करने की शक्ति बढ़ती गयी। १८६० के बाद से इसीलिए अपेक्षाकृत तीव्र प्रगति हुई है।

कपड़ा रंगने और सफ़ेद करने के सबके सब कारख़ाने १८६० में १८५० के फ़ैक्टरी-अधिनियम के मातहत आ गये;[180] लैस और जुर्राबें तैयार करनेवाले कारख़ानों पर यह क़ानून

---

[178] मिसाल के लिए, २४ मार्च १८६३ के *The Times* में ई० पॉटर का पत्न देखिये। *The Times* ने मि० पॉटर को दस घंटे के बिल के ख़िलाफ़ कारख़ानेदारों के विद्रोह का स्मरण करवाया था।

[179] अन्य व्यक्तियों के अलावा *History of Prices* लिखने में टूक के सहयोगी तथा उस पुस्तक के संपादक मि० डब्ल्यू० न्यूमार्च ने भी इसी प्रकार की बात कही है। कायरों की तरह जनमत के सामने सिर झुका देना भी क्या विज्ञान की प्रगति है?

[180] १८६० में जो अधिनियम पास हुआ था, उसने कपड़े रंगने तथा सफ़ेद करने के कारख़ानों के विषय में यह तय किया था कि १ अगस्त १८६१ से काम का दिन अस्थायी तौर पर १२ घंटे का और १ अगस्त १८६२ से निश्चित रूप से १० घंटे का माना जाये, यानी मज़दूर साधारण दिनों को $१०\frac{१}{२}$ घंटे और शनिवार को $७\frac{१}{२}$ घंटे काम किया करें। लेकिन जब १८६२ का निर्णायक वर्ष आया, तो फिर वही पुराना तमाशा दोहराया गया। इसके अलावा कारख़ानेदारों ने संसद को दरख़ास्त दी कि उन्हें और एक साल तक लड़के-लड़कियों तथा स्त्रियों से १२ घंटे रोज़ काम लेने की इजाज़त दी जाये। उन्होंने लिखा कि "व्यवसाय की वर्तमान अवस्था में (यह कपास के अकाल का समय था) मज़दूरों का इसमें बड़ा लाभ है कि वे १२ घंटे रोज़ाना काम करें और जब मज़दूरी कमा सकते हैं, कमा लें।" इस आशय का एक बिल संसद में पेश भी कर दिया गया था, "और मुख्यतया यह स्कॉटलैंड के कपड़ा सफ़ेद करने के कारख़ानों के मज़दूरों की कार्रवाइयों का नतीजा था कि बाद में इस बिल को छोड़ दिया गया।" (*Reports etc. for 31st October 1862*, pp. 14-15.) जब पूंजी को उन्हीं मज़दूरों ने परास्त कर दिया, जिनके नाम पर बोलने का वह दावा करती थी, तो उसने वकीलों के चश्मों की मदद से यह खोज की कि १८६० के अधिनियम में, संसद के "श्रम के संरक्षण" के उद्देश्य से बनाये गये अन्य अधिनियमों की तरह, बहुत सी ऐसी अस्पष्ट बातें हैं, जिनके बहाने से वे इस्तरी करनेवाले मज़दूरों और फ़िनिश करनेवाले मज़दूरों को इस क़ानून के क्षेत्र से अलग कर सकते हैं। अंग्रेज़ों का न्यायशास्त्र सदा पूंजी का वफ़ादार सेवक रहा है। उसने

१८६१ में लागू हुआ। बच्चों की नौकरी से संबंधित कमीशन की पहली रिपोर्ट (१८६३) का परिणाम यह हुआ कि हर तरह की मिट्टी की चीज़ें बनानेवाले (केवल मिट्टी के बर्तन बनानेवाले ही नहीं), दियासलाइयां बनानेवाले, कारतूसों की टोपियां और कारतूस बनानेवाले, क़ालीन बनानेवाले, फ़स्टियन कपड़ा काटनेवाले और फ़िनिशिंग के अंतर्गत आनेवाली अनेक क्रियाओं को करनेवाले कारख़ानों का भी यही हाल हुआ। १८६३ में खुली हवा में[181] कपड़े सफ़ेद

[दीवानी मुक़दमे निपटानेवाली अदालत] में इस मक्कारी पर अपनी मुहर लगा दी। फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की एक रिपोर्ट में लिखा है: "मज़दूरों को इससे बड़ी निराशा हुई है... वे शिकायत करते हैं कि उनसे अत्यधिक काम लिया जाता है, और यह बहुत खेद की बात है कि एक परिभाषा में थोड़ी सी त्रुटि रह जाने के कारण क़ानून का स्पष्ट उद्देश्य धूल में मिल जाता है।" (l. c., p. 18.)

[181] "खुली हवा में कपड़े सफ़ेद करनेवाले कारख़ाने" यह झूठा बहाना बनाकर १८६० के क़ानून से बच गये थे कि उनमें औरतें रात को काम नहीं करतीं। फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने इस झूठ का भंडाफोड़ किया और साथ ही मज़दूरों ने दरख़ास्तें देकर संसद की यह ग़लतफ़हमी दूर कर दी कि खुली हवा में कपड़े सफ़ेद करनेवाले कारख़ानों में घास के मैदानों की ठंडी हवा का वातावरण रहता है। इस प्रकार के कारख़ानों में कपड़े सुखाने के कमरों में ९० से १०० डिगरी फ़ैरनहाइट तक का तापमान रहता था, और उनमें ज़्यादातर लड़कियां काम करती थीं। ये लड़कियां कभी-कभार सुखाने के कमरों से बाहर ताज़ा हवा में निकल आती थीं; इसके लिए ठंडा होना शब्दावली का प्रयोग किया जाता था। फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की एक रिपोर्ट में लिखा है: "पंद्रह लड़कियां भट्ठियों में काम करती हैं। लिनेन के लिए यहां ८० से ९० डिगरी तक की और कैंब्रिक के लिए १०० डिगरी तथा उससे ज़्यादा की गरमी रहती है। १० वर्ग फ़ुट के एक छोटे से कमरे में, जिसके बीचोंबीच एक बंद भट्ठी होती है, बारह लड़कियां इस्तरी और तह करती रहती हैं। भट्ठी में से भयानक गरमी निकलती रहती है, और लड़कियां उसके इर्दगिर्द खड़ी हुई कैंब्रिक को जल्दी से सुखाकर इस्तरी करनेवाली लड़कियों को देती जाती हैं। इन मज़दूरिनों के काम के घंटों की कोई सीमा नहीं है। यदि काम ज़्यादा होता है, तो ये हर रात को ९ या १२ बजे तक काम करती रहती हैं।" *(Reports etc. for 31st October 1862*, p. 56.) एक डाक्टर ने कहा है: "ठंडा होने के लिए कोई ख़ास समय निश्चित नहीं है, लेकिन यदि तापमान बहुत बढ़ जाता है या मज़दूरों के हाथ पसीने से ख़राब हो जाते हैं, तो उनको चंद मिनट के लिए बाहर जाने को इजाज़त दे दी जाती है... भट्ठी पर काम करनेवाली मज़दूरिनों की बीमारियों के इलाज का मुझे बहुत काफ़ी अनुभव है, और यह अनुभव मुझे यह कहने पर मजबूर करता है कि सफ़ाई की दृष्टि से इन लोगों को जिन परिस्थितियों में काम करना पड़ता है, वे उतनी अच्छी नहीं होतीं, जितनी अच्छी परिस्थितियों में कताई करनेवाली मिलों की मज़दूरिनें काम करती हैं (हालांकि पूंजी ने संसद के नाम अपने अभ्यावेदनों में भट्ठी पर काम करनेवाली मज़दूरिनों की स्थिति का रूबेन्स की कलाकृति के समान बड़ा भड़कीला चित्र खींचा था)। इन मज़दूरिनों में जो बीमारियां सबसे अधिक देखी जाती हैं, वे हैं तपेदिक़, सांस की नली की सूजन, गर्भाशय का ठीक तरह से काम न करना, अपने अत्यधिक उग्र रूप में हिस्टीरिया और गठिया। ये सारी बीमारियां, मेरे ख़याल से, या तो प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से उन कमरों की गंदी और गरम हवा के कारण होती हैं, जिनमें मज़दूरिनों को काम करना पड़ता है, और उनकी दूसरी वजह यह है कि मज़दूरिनों के पास काफ़ी और आरामदेह कपड़े नहीं होते, जो जाड़ों में घर लौटते समय ठंडी और नम हवा से उनकी रक्षा कर सकें।" (l. c., pp. 56-57.) १८६३ के अनुपूरक क़ानून के बारे में, जो कि खुली हवा में कपड़े सफ़ेद करनेवाले कारख़ानों के मालिकों के विरोध के बावजूद पास हुआ था, फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने लिखा है: "यह अधिनियम न केवल मज़दूरों को वह संरक्षण देने में असफल रहा है, जो ऊपर से देखने में वह उनको देता है,

करने और रोटी बनाने के उद्योगों पर कुछ ऐसे ख़ास क़ानून लागू कर दिये गये, जिनके मातहत पहले उद्योग में लड़के-लड़कियों तथा स्त्रियों से रात को (रात के ८ बजे से सुबह के ६ बजे तक) काम लेने की मनाही कर दी गयी और दूसरे उद्योग में १८ वर्ष से कम उम्र के रोटी बनानेवाले कारीगरों से रात के ६ बजे से सुबह के ५ बजे तक काम लेने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसी कमीशन ने बाद को कुछ ऐसे सुझाव दिये थे, जिनसे इस बात की आशंका पैदा हो गयी थी कि खेती, खानों और परिवहन के साधनों को छोड़कर इंगलैंड में उद्योग की बाक़ी सभी महत्त्वपूर्ण शाखाओं की "स्वतंत्रता" ख़त्म हो जायेगी।[182] इन सुझावों का हम बाद में ज़िक्र करेंगे।

अनुभाग ७ – काम के सामान्य दिन के लिए संघर्ष। अंग्रेज़ी फ़ैक्टरी-अधिनियमों की दूसरे देशों में प्रतिक्रिया

पाठक को याद होगा कि बेशी मूल्य पैदा करना, या किसी न किसी तरह बेशी श्रम करवाना, पूंजीवादी उत्पादन का विशिष्ट लक्ष्य एवं उद्देश्य और उसका सारतत्त्व है; श्रम के पूंजी के अधीन हो जाने के फलस्वरूप उत्पादन की प्रणाली में चाहे जैसे परिवर्तन हो जायें, उनसे इस बात में कोई अंतर नहीं आता। पाठक को याद होगा कि अभी हम जहां तक आये हैं, वहां केवल स्वतंत्र मज़दूर और इसलिए केवल वही मज़दूर, जिसे अपने मामलों का ख़ुद प्रबंध करने का क़ानूनी अधिकार प्राप्त है, एक पण्य के विक्रेता के रूप में पूंजीपति के साथ क़रार करता है। इसलिए हमने जो ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत की है, उसमें यदि एक तरफ़, आधुनिक उद्योग की और दूसरी तरफ़, उन लोगों के श्रम की, जो शारीरिक एवं क़ानूनी दृष्टि से नाबालिग हैं, महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं हैं, तो पहला हमारी नज़रों में श्रम के शोषण का एक ख़ास विभाग मात्र था और दूसरा उस शोषण का एक विशेष रूप से उल्लेखनीय उदाहरण भर था। लेकिन आगे हमारी खोज किस दिशा में बढ़ेगी, इसपर अभी कुछ न कहकर, हम केवल

बल्कि उसमें स्पष्टतया एक ऐसी धारा भी है... जिसकी शब्दावली कुछ इस प्रकार की प्रतीत होती है कि जब तक मज़दूर रात को ८ बजे के बाद काम करते हुए नहीं पकड़े जाते, तब तक उनको किसी प्रकार का भी संरक्षण नहीं मिल सकता, और यदि वे रात को ८ बजे के बाद काम भी करते हैं, तो इसका सबूत देने का तरीक़ा इतना त्रुटिपूर्ण है कि मुक़दमे में मुश्किल से ही सज़ा हो पाती है।" (l. c., p. 52.) "इसलिए यह अधिनियम यदि जन-कल्याण एवं जन-शिक्षा के किसी उद्देश्य से बनाया गया था, तो सभी दृष्टियों से वह असफल सिद्ध हुआ है। कारण कि स्त्रियों और बच्चों को भोजन की छुट्टी के साथ या उसके बिना ही १४ घंटे रोज़ाना या शायद उससे भी ज्यादा काम करने की इजाज़त दे देना – जिसका मतलब होता है उनको १४ घंटे रोज़ाना या उससे भी ज्यादा काम करने के लिए मजबूर करना – और इस बात में न तो उम्र की किसी सीमा को मानना, न स्त्री और पुरुष में कोई भेद करना और न ही ऐसे कारख़ानों (कपड़े सफ़ेद करने और रंगने के कारख़ानों) के अड़ोस-पड़ोस में रहनेवाले परिवारों के सामाजिक रीति-रिवाजों का कोई ख़याल करना – यह, ज़ाहिर है, जन-कल्याण नहीं समझा जा सकता।" (*Reports etc. for 30th April 1863*, p. 40.)

[182] **दूसरे संस्करण में जोड़ी गयी पाद-टिप्पणी:** यह अंश मैंने १८६६ में लिखा था। तब से फिर कुछ प्रतिक्रिया आरंभ हो गयी है।

उन ऐतिहासिक तथ्यों के आंतरिक संबंधों से भी कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं, जो हमारे सामने मौजूद हैं :

पहली बात। पूंजी में काम के दिन का अंधाधुंध और सीमाहीन विस्तार करने की जो प्रबल इच्छा होती है, वह पहली बार उन उद्योगों में पूरी होती है, जिनमें पानी की ताक़त, भाप और मशीनों ने सबसे शुरू में क्रांति पैदा कर दी थी ; वह सर्वप्रथम उत्पादन की आधुनिक प्रणाली की प्रथम कृतियों में, यानी कपास, ऊन, सन और रेशम की कताई और बुनाई के उद्योगों में, पूरी होती है। उत्पादन की भौतिक प्रणाली में जो परिवर्तन हुए और उनके अनुरूप उत्पादकों के सामाजिक संबंधों में जो तब्दीलियां आयीं,[183] उनसे पहले तो काम के दिन को हद से ज्यादा लंबा खींचने की प्रवृत्ति पैदा हुई और फिर उसके विरोध में यह मांग उठी कि इस प्रवृत्ति पर समाज को नियंत्रण रखना चाहिए और काम के दिन को तथा विराम के समय को क़ानून बनाकर सीमित कर देना चाहिए, उनका नियमन करना चाहिए और उनको सबके लिए एक सा बना देना चाहिए। इसलिए समाज द्वारा यह नियंत्रण १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में केवल अपवादस्वरूप बनाये गये क़ानूनों का रूप लेता है।[184] ज्यों ही उत्पादन की नयी प्रणाली के इस प्रारंभिक क्षेत्र को जीत लिया गया, तो पता चला कि इस बीच में न केवल उत्पादन की अन्य बहुत सी शाखाओं में फ़ैक्टरी-व्यवस्था जारी कर दी गयी है, बल्कि जिन उद्योगों में ऐसे तरीक़े इस्तेमाल होते हैं, जो कमोबेश कालातीत हो गये हैं, जैसे चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने के उद्योग, कांच बनाने के उद्योग, आदि में तथा रोटी बनाने की तरह की पुराने ढंग की दस्तकारियों में और यहां तक कि कीलें बनाने जैसे तथाकथित घरेलू उद्योगों में भी[185] बहुत समय पहले से पूंजीवादी शोषण का वैसा ही पूर्ण प्रभुत्व क़ायम हो गया है, जैसा ख़ुद फ़ैक्टरियों पर क़ायम हो चुका था। इसलिए धीरे-धीरे क़ानूनों को अपना आपवादिक स्वरूप त्याग देना पड़ा, या इंगलैंड की तरह, जहां पर क़ानून रोमन कुतर्कियों की तरह आचरण करता चलता है, हर उस मकान को, जिसमें काम होता है, फ़ैक्टरी घोषित कर देना पड़ा।[186]

दूसरी बात। उत्पादन की कुछ शाखाओं में काम के दिन के नियमन का जो इतिहास रहा है और इस नियमन के प्रश्न को लेकर अन्य शाखाओं में आज भी जो संघर्ष चल रहा है, उसमें यह बात निर्णायक रूप से सिद्ध हो जाती है कि जब एक बार पूंजीवादी उत्पादन एक

---

[183] "इन वर्गों (पूंजीपतियों और मज़दूरों) में से प्रत्येक का आचरण उस सापेक्ष परिस्थिति का फल है, जिसमें वह वर्ग अपने को पाता है।" (*Reports etc. for 31st October 1848*, p. 113.)

[184] "जिन धंधों में मज़दूरों के श्रम को सीमित किया गया, वे भाप या पानी की ताक़त से कपड़ा बनाने से संबंधित थे। दो बातें थीं, जिनसे कोई भी उद्योग सरकारी निरीक्षण में आ जाता था : एक, भाप या पानी की ताक़त का प्रयोग, और दूसरे, कुछ ख़ास तरह के कपड़ों का बनाया जाना।" (*Reports etc. for 31st October 1864*, p. 8.)

[185] तथाकथित घरेलू उद्योगों की हालत के बारे में बाल-सेवायोजन आयोग की सबसे ताज़ा रिपोर्टों में विशेष रूप से मूल्यवान सामग्री मिलती है।

[186] "पिछले अधिवेशन (१८६४) में स्वीकृत अधिनियम ... तरह-तरह के बहुत से धंधों से संबंध रखते हैं, जिनके रीति-रिवाज बहुत भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, और अब क़ानूनी भाषा में 'फ़ैक्टरी' कहलाने के लिए पहले की तरह यह ज़रूरी नहीं रह गया है कि मशीनों में गति पैदा करने के लिए यांत्रिक शक्ति का प्रयोग किया जाये।" (*Reports etc. for 31st October 1864*, p. 8.)

ख़ास मंजिल पर पहुंच जाता है, तो अकेले मज़दूर में, यानी अपनी श्रम-शक्ति को "स्वतंत्र" रूप से बेचनेवाले मज़दूर में, उसका तनिक भी विरोध करने की शक्ति नहीं रहती और वह उसके सामने आत्मसमर्पण कर देता है। इसलिए काम के सामान्य दिन को यदि मनवाया जा सका है, तो वह पूंजीपति वर्ग और मज़दूर वर्ग के बीच न्यूनाधिक छद्म वेश में चलनेवाले एक लंबे गृह-युद्ध का फल है। चूंकि यह संग्राम आधुनिक उद्योगों के मैदान में चलता है, इसलिए वह पहले-पहल इन उद्योगों की जन्मभूमि – इंगलैंड – में शुरू हुआ।[187] इंगलैंड के फ़ैक्टरी-मज़दूर न केवल अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग के, बल्कि समस्त आधुनिक मज़दूर वर्ग के अलमबरदार थे, और उनके सिद्धांतवेत्ताओं ने ही पहले-पहल पूंजी के सिद्धांतवेत्ताओं को चुनौती दी थी।[188] चुनांचे फ़ैक्टरी का दार्शनिक यूर अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग के लिए यह घोर अपमान की बात समझता है कि "श्रम की पूर्ण स्वतंत्रता" के लिए पौरुष के साथ लड़नेवाली पूंजी के मुक़ाबले में मज़दूरों ने अपनी पताका पर "फ़ैक्टरी-अधिनियमों की गुलामी" का नारा अंकित किया।[189]

फ़्रांस लंगड़ाता हुआ धीरे-धीरे इंगलैंड के पीछे-पीछे चल रहा है। फ़्रांस का १२ घंटे का क़ानून जिस अंग्रेज़ी क़ानून की नक़ल है, उसके मुक़ाबले में वह बहुत ही दोषपूर्ण है।[190] फिर

---

[187] यूरोपीय उदारतावाद के स्वर्ग – बेल्जियम – में इस आंदोलन का कोई चिह्न दिखायी नहीं देता। यहां तक कि कोयला-खानों और धातुओं की खानों में भी पूंजी दिन या रात के किसी भी हिस्से में और किसी भी समय तक हर उम्र के मज़दूरों और मज़दूरिनों को पूर्ण "स्वतंत्रता" के साथ निचोड़ती रहती है। वहां काम करनेवाले हर १,००० व्यक्तियों में से ७३३ पुरुष हैं, ८८ स्त्रियां, १३५ लड़के और ४४ सोलह वर्ष से कम आयु की लड़कियां; हवा-भट्ठियों, आदि पर काम करनेवाले प्रत्येक १,००० व्यक्तियों में से ६६८ पुरुष होते हैं, १४९ स्त्रियां, ९८ लड़के और ८५ सोलह वर्ष से कम आयु की लड़कियां। चित्र को पूरा करने के लिए उसमें यह और जोड़ दीजिये कि इस परिपक्व एवं अपरिपक्व श्रम-शक्ति का जो भयानक शोषण होता है, उसके एवज़ में बहुत ही कम मज़दूरी मिलती है। पुरुष की औसत दैनिक मज़दूरी २ शिलिंग ८ पेंस है, स्त्री की १ शिलिंग ८ पेंस और लड़के की १ शिलिंग २ $\frac{१}{२}$ पेंस। परिणाम यह है कि १८६३ में बेल्जियम ने कोयले, लोहे, आदि के अपने निर्यात का परिमाण तथा मूल्य दोनों को १८५० की तुलना में लगभग दुगुना कर दिया था।

[188] रॉबर्ट ओवेन ने १८१० के कुछ समय बाद ही न केवल सिद्धांत के रूप में फ़ैक्टरियों के काम के दिन को सीमित करने की आवश्यकता स्वीकार की थी, बल्कि न्यू लैनार्क में स्थित अपनी फ़ैक्टरी में १० घंटे का दिन लागू भी किया था। लोग इसे साम्यवादी स्वप्न-लोक बनाने की कोशिश समझकर उसपर हंसते थे। इसी तरह ओवेन ने "बच्चों की शिक्षा के साथ उत्पादक श्रम को जोड़ने" का जो प्रयत्न किया था और उन्होंने मज़दूरों की जो प्रथम सहकार समितियां बनायी थीं, उनपर भी लोग हंसे थे। आज वह पहला स्वप्न-लोक फ़ैक्टरी-अधिनियम बन गया है, दूसरे का हर फ़ैक्टरी-अधिनियम में सरकारी तौर पर ज़िक्र रहता है और तीसरे का अभी से प्रतिक्रियावादी बकवास के लिए आड़ के रूप में प्रयोग होने लगा है।

[189] Ure, *Philosophie des Manufactures* (फ़्रांसीसी अनुवाद), Paris, 1836, t. II, pp. 39, 40, 67, 77 etc.

[190] १८५५ में पेरिस में जो अंतर्राष्ट्रीय सांख्यिकी सम्मेलन हुआ था, उसकी Compte Rendu [रिपोर्ट] में लिखा है: "फ़्रांस के उस क़ानून के अनुसार, जो फ़ैक्टरियों और वर्कशापों में दैनिक श्रम के काल को १२ घंटे तक सीमित करता है, यह ज़रूरी नहीं है कि यह

भी इस दुनिया में इस क़ानून को वजूद में लाने के लिए वहां फ़रवरी-क्रांति की आवश्यकता हुई। पर इन तमाम बातों के बावजूद फ़्रांस की क्रांतिकारी पद्धति में कुछ विशेष गुण है। वह एक बार हमेशा के लिए और बिना किसी भेदभाव के सभी कारख़ानों और फ़ैक्टरियों में काम के दिन पर एक सी सीमा लगा देती है, जब कि इंगलैंड के क़ानून बड़ी हिचकिचाहट दिखाते हुए कभी इस बात पर परिस्थितियों के दबाव के सामने झुक जाते हैं, तो कभी उस बात पर, और इस तरह परस्पर विरोधी धाराओं के एक बहुत ही उल्टे-सीधे गोरखधंधे में खोते जा रहे हैं।[191] दूसरी ओर, इंगलैंड में जो अधिकार केवल बच्चों, नाबालिग़ों और स्त्रियों के नाम पर प्राप्त किया गया था और जो महज़ अभी हाल में एक सामान्य अधिकार के रूप में माना गया है,[192] उसे फ़्रांसीसी क़ानून में एक सिद्धांत के रूप में घोषित कर दिया गया है।

उत्तरी अमरीका के संयुक्त राज्य में, जब तक प्रजातंत्र के एक भाग को दास-प्रथा कुरूप बनाये रही, तब तक मज़दूरों का प्रत्येक स्वतंत्र आंदोलन लुंज बना रहा। जहां काली चमड़ी के श्रम के माथे पर ग़ुलामी की मुहर लगी हुई है, वहां सफ़ेद चमड़ी का श्रम अपने को मुक्त नहीं कर सकता। परंतु दास-प्रथा की मृत्यु हो जाने पर तुरंत ही एक नये जीवन का उदय हुआ। गृह-युद्ध का पहला फल यह हुआ कि आठ घंटे का आंदोलन शुरू हो गया, जो रेल

---

१२ घंटे का काम कुछ ख़ास और पहले से निश्चित समय के अंदर समाप्त हो जाये। केवल बच्चों के काम का समय तय है। उनसे केवल ५ बजे सुबह से ६ बजे रात तक ही काम लिया जा सकता है। इसलिए इस नाज़ुक सवाल पर क़ानून की ख़ामोशी से मिल-मालिकों को शायद एक इतवार के दिन को छोड़कर बाक़ी पूरे हफ़्ते अपने कारख़ानों को दिन-रात लगातार चलाने का जो हक़ मिल गया है, उसका कुछ मालिक पूरा-पूरा इस्तेमाल करते हैं। इसके लिए वे मज़दूरों की दो पालियों से काम लेते हैं, जिनमें से कोई पाली एक वक़्त में १२ घंटे से ज़्यादा कारख़ाने में नहीं रहती, मगर फ़ैक्टरी में दिन-रात काम होता रहता है। क़ानून का तक़ाज़ा पूरा हो जाता है, पर क्या मानवता का तक़ाज़ा भी पूरा हो जाता है?" "रात को काम करने का मानव-शरीर पर जो घातक प्रभाव पड़ता है", उसके अलावा इस रिपोर्ट में इस बात पर भी ज़ोर दिया गया है कि "जब बहुत कम रोशनी वाली उन्हीं वर्कशापों में रात को स्त्रियों और पुरुषों को साथ-साथ काम करना पड़ता है, तो उसका बहुत ही घातक प्रभाव होता है।"

[191] "मिसाल के लिए, मेरे डिस्ट्रिक्ट में एक कारख़ानेदार है, जिसका एक ही कारख़ाना है और जो 'कपड़े सफ़ेद करने और रंगनेवाले कारख़ानों से संबंधित अधिनियम' के मातहत कपड़े सफ़ेद करनेवाला और रंगनेवाला है, 'कपड़ा छपाई कारख़ानों से संबंधित अधिनियम' के मातहत छपाई करनेवाला है और 'फ़ैक्टरी-अधिनियम' के मातहत फ़िनिश करनेवाला है।" (*Reports etc. for 31st October 1861*, p. 20; मि० बेकर की रिपोर्ट।) इन क़ानूनों की विभिन्न धाराओं और उनसे पैदा होनेवाली पेचीदगियों को गिनाने के बाद मि० बेकर ने कहा है: "इससे ज़ाहिर है कि जब कभी कोई ऐसा कारख़ानेदार क़ानून से बचने की कोशिश करता है, तो संसद के इन तीनों क़ानूनों को लागू करना अत्यंत कठिन हो जाता है।" पर इससे वकीलों का मुक़दमे हासिल करना ज़रूर सुनिश्चित हो जाता है।

[192] इस प्रकार अब कहीं फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की यह कहने की हिम्मत हुई है कि "(काम के दिन पर क़ानूनी सीमाएं लगाने के विरोध में पूंजी की) इन आपत्तियों को श्रम के अधिकारों के व्यापक सिद्धांत के सामने हार मान लेनी चाहिए... एक समय आता है, जब मालिक का अपने मज़दूर के श्रम पर अधिकार समाप्त हो जाता है, और यदि मज़दूर थका न हो, तो भी मज़दूर का समय उसका अपना समय हो जाता है।" (*Reports etc. for 31st October 1862*, p. 54.)

के इंजन की तूफ़ानी रफ़्तार से एटलांटिक महासागर से प्रशांत महासागर तक और न्यू इंगलैंड से कैलिफ़ोर्निया तक फैल गया। बाल्टिमोर में जनरल कांग्रेस आफ़ लेबर ने (१६ अगस्त १८६६ को) ऐलान कर दिया कि "आज पहली और सबसे बड़ी जरूरत इस बात की है कि इस देश के मजदूरों को पूंजी की दासता से मुक्त करने के लिए एक ऐसा क़ानून पास किया जाये, जिसके मातहत अमरीकी संघ के सभी राज्यों में काम का सामान्य दिन आठ घंटे का हो जाये। हमने निश्चय कर लिया है कि जब तक यह गौरवशाली ध्येय प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक हम अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसके लिए प्रयत्न करते जायेंगे।"[193] इसी समय 'अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ' की कांग्रेस ने जेनेवा में लंदन की जनरल काउंसिल का प्रस्ताव स्वीकार करते हुए यह निश्चय किया कि "काम के दिन का सीमित किया जाना वह पहली शर्त है, जिसके बग़ैर सुधार और मुक्ति के और सभी प्रयत्न अवश्य ही निष्फल सिद्ध होंगे... कांग्रेस का प्रस्ताव है कि काम के दिन की क़ानूनी सीमा आठ घंटे हो।"

इस प्रकार, एटलांटिक महासागर के दोनों ओर मजदूर वर्ग का जो आंदोलन स्वयं उत्पादन की परिस्थितियों से और स्वतः पैदा हुआ था, उसने अंग्रेज फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर आर० जे० सॉण्डर्स के इन शब्दों की पुष्टि की कि "जब तक श्रम के घंटों को सीमित नहीं किया जाता और निर्धारित सीमा पर कड़ाई के साथ अमल नहीं किया जाता, तब तक समाज-सुधार के आगे के क़दम हरगिज नहीं उठाये जा सकते।"[194]

यह मानना पड़ेगा कि हमारे मजदूर ने जिस अवस्था में उत्पादन की प्रक्रिया में प्रवेश किया था, वह उससे बिल्कुल भिन्न अवस्था में इस प्रक्रिया के बाहर निकलता है। मंडी में वह अपने पण्य – "श्रम-शक्ति" – के मालिक के रूप में पण्यों के अन्य मालिकों के मुक़ाबले में खड़ा था। वहां उसकी हैसियत एक विक्रेता के मुक़ाबले में दूसरे विक्रेता की थी। जिस क़रार के द्वारा उसने अपनी श्रम-शक्ति पूंजीपति के हाथ बेची, वह इस बात का मानो एक लिखित प्रमाण था कि उसे अपने को बेचने या न बेचने का पूर्ण अधिकार है। पर जब सौदा पक्का हो गया, तो पता चला कि मजदूर कोई "स्वतंत्र व्यक्ति" नहीं है। वह समझता था कि कुछ समय के वास्ते अपनी श्रम-शक्ति बेच देने के लिए स्वतंत्र है; अब पता चला कि जितने समय के वास्ते वह अपनी श्रम-शक्ति बेचने के लिए स्वतंत्र है, वास्तव में यह वह समय है, जिसे बेचने

---

[193] "हम, डंकर्क के मजदूर, ऐलान करते हैं कि वर्तमान व्यवस्था में मजदूरों को जितने समय तक काम करना पड़ता है, वह बहुत ज्यादा है, और मजदूर के पास विश्राम करने तथा शिक्षा प्राप्त करने के लिए समय बचने की बात तो दूर रही, इतनी ज्यादा देर तक काम करने के फलस्वरूप वह एक ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है, जो ग़ुलामी से थोड़ी सी ही बेहतर है। इसीलिए हम लोग फ़ैसला करते हैं कि काम के दिन के लिए ८ घंटे काफ़ी हैं। और क़ानून को भी इसे काफ़ी मान लेना चाहिए। इसीलिए हम इस शक्तिशाली साधन का – देश के समाचारपत्रों का – सहायता के लिए आवाहन कर रहे हैं... और इसीलिए जो लोग हमें इस काम में सहायता देने से इनकार करेंगे, हम उन सब को श्रम के सुधार और मजदूरों के अधिकारों का दुश्मन समझेंगे।" (डंकर्क, न्यूयार्क राज्य, के मजदूरों का प्रस्ताव, १८६६)।

[194] *Reports etc. for 31st October 1848*, p. 112.

के लिए उसे मजबूर होना पड़ता है,[195] और "जब तक शोषण के लिए एक भी मांस-पेशी, एक भी स्नायु, रक्त की एक भी बूंद उसके शरीर में बाक़ी है", तब तक पूंजीरूपी डायन उसे अपने पंजों से मुक्त नहीं होने देगी।[196] "यातनाएं देनेवाले सर्प" से अपनी "रक्षा" करने के लिए मज़दूरों को एक साथ मिलकर सोचना होगा और एक वर्ग के रूप में ऐसा क़ानून ज़बर्दस्ती पास कराना होगा, जो एक सर्वशक्तिमान सामाजिक बाधा के रूप में ख़ुद मजदूरों को पूंजी के साथ स्वेच्छापूर्वक क़रार करके अपने आपको तथा अपने परिवारों को ग़ुलामी और मौत के हाथों बेच देने से रोक देगा।[197] और इसलिए "मनुष्य के अहस्तांतरणीय अधिकारों" की भारी-भरकम सूची के स्थान पर अब क़ानून द्वारा सीमित काम के दिन का वह साधारण सा Magna Charta [महान अधिकारपत्र] सामने आता है, जो यह स्पष्ट कर देगा कि "जो समय मज़दूर बेचता है, वह कब समाप्त होता है और कब उसका अपना समय आरंभ होता है।"[198] Quantum mutatus ab illo! [चित्र पहले से कितना बदल गया है!]

---

[195] "अकसर यह कहा जाता है कि मज़दूरों को संरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं है, बल्कि उनको तो अपनी एक मात्र संपत्ति को – अपने हाथों की मेहनत और अपने माथे के पसीने को – बेच देने के मामले में स्वतंत्र व्यक्ति समझना चाहिए। लेकिन इन कार्रवाइयों के रूप में (पूंजी की, मिसाल के लिए, १८४८-१८५० की तिकड़मों के रूप में) हमें अन्य बातों के अलावा इस कथन की असत्यता का निर्विवाद प्रमाण मिल जाता है।" (*Reports etc. for 30th April 1850*, p. 45.) "एक स्वतंत्र देश में भी स्वतंत्र श्रम (यदि उसके लिए इस शब्दावली का प्रयोग किया जा सकता है, तो) के संरक्षण के लिए क़ानून के सशक्त हाथों की ज़रूरत होती है।" (*Reports etc. for 31st October 1864*, p. 34.) "खाने की छुट्टी के साथ या उसके बग़ैर १४ घंटे तक काम करने की अनुमति देना... मज़दूरों को १४ घंटे काम करने के वास्ते मजबूर कर देने के बराबर है", इत्यादि (*Reports etc. for 30th April 1863*, p. 40.)

[196] Friedrich Engels, *Die englische Zehnstundenbill* (*Neue Rheinische Zeitung*, No. 4, 1850, S. 5)

[197] उद्योग की जिन शाखाओं में १० घंटे का क़ानून लागू है, उनमें उसने "भूतपूर्व देर तक काम करनेवाले मज़दूरों के समय से पहले ही बूढ़े हो जाने की क्रिया का अंत कर दिया है।" (*Reports ets. for 31st October 1859*, p. 47.) "यह असंभव है कि (फ़ैक्टरियों में) एक निश्चित समय से अधिक देर तक मशीनों को चालू रखने के लिए पूंजी का इस्तेमाल किया जाये और वहां काम करनेवाले मज़दूरों के स्वास्थ्य एवं नैतिकता को हानि न पहुंचे। और मज़दूर ख़ुद अपनी रक्षा करने की स्थिति में नहीं होते।" (l. c., p. 8.)

[198] "इससे भी बड़ा वरदान यह है कि आख़िर मज़दूर के समय और उसके मालिक के समय का अंतर स्पष्ट कर दिया गया है। अब मज़दूर जानता है कि जो समय वह बेचता है, वह कब समाप्त होता है और कब उसका अपना समय आरंभ होता है। और उसे चूंकि इस बात का निश्चित पूर्वज्ञान होता है, इसलिए वह अपने समय का अपनी इच्छानुसार इस्तेमाल करने के लिए पहले से प्रबंध कर सकता है।" (l. c., p. 52.) "मज़दूरों को अपने समय का ख़ुद मालिक बनाकर (फ़ैक्टरी-क़ानूनों ने) उनको एक ऐसी नैतिक शक्ति दे दी है, जो उनको अंत में राजनीतिक सत्ता पर अधिकार कर लेने के लक्ष्य की ओर ले जा रही है।" (l. c., p. 47.) दबे हुए व्यंग्य के साथ और बहुत नपे-तुले शब्दों में फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने इस बात का संकेत किया है कि इस क़ानून ने असल में पूंजीपति को भी उस पाशविक क्रूरता से मुक्त कर दिया है, जो उस व्यक्ति में स्वभावतया आ जाती है, जो केवल पूंजी का मूर्त रूप होता है, और उसने पूंजीपति को थोड़ी सी "संस्कृति" प्राप्त करने का समय दे दिया है। इसके पहले "मालिक के पास रुपये के सिवा और किसी चीज़ के लिए समय नहीं था और नौकर के पास मेहनत के सिवा और किसी चीज के लिए समय नहीं था।" (l. c., p. 48.)

अध्याय ११

बेशी मूल्य की दर और बेशी मूल्य की राशि

पहले की तरह इस अध्याय में भी हम श्रम-शक्ति के मूल्य को और इसलिए काम के दिन के उस भाग को, जो उस श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन अथवा भरण-पोषण के लिए आवश्यक है, स्थिर मात्राएं मानकर चल रहे हैं।

इसके साथ-साथ जब बेशी मूल्य की दर भी मालूम होती है, तब कोई मजदूर एक निश्चित अवधि में पूंजीपति को जितना बेशी मूल्य देता है, उसकी राशि भी मालूम हो जाती है। मिसाल के लिए, यदि आवश्यक श्रम ६ घंटे रोजाना बैठता है, जो कि ३ शिलिंग के मूल्य के बराबर सोने की मात्रा में व्यक्त होता है, तो एक श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य अथवा एक श्रम-शक्ति ख़रीदने में लगायी गयी पूंजी का मूल्य ३ शिलिंग होगा। इसके अलावा यदि बेशी मूल्य की दर = १०० प्रतिशत, तो ३ शिलिंग की यह परिवर्ती पूंजी ३ शिलिंग की बेशी मूल्य की राशि पैदा करेगी, या यूं कहिये कि मजदूर रोजाना ६ घंटे के बराबर बेशी श्रम पूंजीपति को देगा।

लेकिन किसी भी पूंजीपति की परिवर्ती पूंजी उन तमाम श्रम-शक्तियों के कुल मूल्य की द्रव्य के रूप में अभिव्यंजना होती है, जिनसे वह एक साथ काम लेता है। इसलिए जितनी श्रम-शक्तियों से काम लिया जा रहा है, यदि उनकी संख्या से एक श्रम-शक्ति के औसत मूल्य को गुणा कर दिया जाये, तो परिवर्ती पूंजी का मूल्य निकल आता है। इसलिए श्रम-शक्ति का यदि मूल्य दिया हुआ हो, तो परिवर्ती पूंजी का परिमाण एक साथ काम पर लगाये गये कामगारों की संख्या के प्रत्यक्ष अनुपात में बदलेगा। यदि एक श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य = ३ शिलिंग, तो रोजाना १०० श्रम-शक्तियों का शोषण करने के लिए ३०० शिलिंग की पूंजी लगानी पड़ेगी। और रोजाना n श्रम-शक्तियों का शोषण करने के लिए n गुणा ३ शिलिंग की पूंजी की आवश्यकता होगी।

इसी तरह यदि ३ शिलिंग की परिवर्ती पूंजी से, जो कि एक श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य है, रोजाना ३ शिलिंग का बेशी मूल्य पैदा होता है, तो ३०० शिलिंग की परिवर्ती पूंजी से रोजाना ३०० शिलिंग का बेशी मूल्य पैदा होगा और n गुणा ३ शिलिंग की पूंजी से रोजाना n गुणा ३ शिलिंग का बेशी मूल्य पैदा होगा। इसलिए एक मजदूर दिन भर में जितना बेशी मूल्य तैयार करता है, उसे यदि जितने मजदूर काम कर रहे हैं, उनकी संख्या से गुणा कर दिया जाये, तो मालूम हो जायेगा कि बेशी मूल्य की कुल कितनी राशि पैदा हुई है। परंतु इसके अलावा जब श्रम-शक्ति का मूल्य पहले से मालूम है, तब चूंकि किसी भी एक मजदूर के पैदा किये हुए बेशी मूल्य की राशि बेशी मूल्य की दर से निर्धारित होती है, इसलिए इसके निष्कर्ष के रूप में हमें यह नियम मिलता है कि यदि पेशगी लगायी गयी परिवर्ती पूंजी को बेशी मूल्य

की दर से गुणा कर दिया जाये, तो उसका फल उत्पादित बेशी मूल्य की राशि के बराबर होगा, या, दूसरे शब्दों में, एक पूंजीपति द्वारा एक साथ जितनी श्रम-शक्तियों का शोषण किया जाता है, उनकी संख्या तथा प्रत्येक अलग-अलग श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा के मिश्र-अनुपात से ही बेशी मूल्य की कुल राशि निर्धारित होगी।

मान लीजिये कि बेशी मूल्य की राशि S है, प्रत्येक मजदूर अलग-अलग एक औसत दिन में s बेशी मूल्य तैयार करता है, एक मजदूर की श्रम-शक्ति को खरीदने में रोज परिवर्ती पूंजी लगायी जाती है, कुल परिवर्ती पूंजी V है, एक औसत श्रम-शक्ति का मूल्य P है, उसके शोषण की मात्रा $\frac{a'}{a}\left(\frac{\text{बेशी श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}\right)$ है और काम करने वाले मजदूरों की संख्या n । तब

$$S = \begin{cases} \frac{s}{v} \times V \\ P \times \frac{a'}{a} \times n \end{cases}$$

हम बराबर यह मानकर चल रहे हैं कि न सिर्फ़ एक औसत श्रम-शक्ति का मूल्य स्थिर है, बल्कि पूंजीपति जिन मजदूरों से काम ले रहा है, वे सब भी बिल्कुल औसत ढंग के मजदूर हैं। कुछ ऐसे अपवाद भी होते हैं, जब शोषित मजदूरों की संख्या में जो वृद्धि होती है, बेशी मूल्य के उत्पादन में उसके अनुपात में वृद्धि नहीं होती; परंतु ऐसा तब होता है, जब श्रम-शक्ति का मूल्य स्थिर नहीं रहता।

इसलिए बेशी मूल्य की एक निश्चित राशि के उत्पादन में यदि एक तत्त्व कम हो जाता है, तो उसकी क्षति दूसरे तत्त्व को बढ़ाकर पूरी की जा सकती है। यदि परिवर्ती पूंजी घट जाती है और साथ ही बेशी मूल्य की दर उसी अनुपात में बढ़ जाती है, तो कुल जितना बेशी मूल्य पहले पैदा होता था, उतना ही अब भी पैदा होगा। जैसा कि हम पहले मान चुके हैं, यदि पूंजीपति को रोजाना १०० मजदूरों का शोषण करने के लिए ३०० शिलिंग की पूंजी लगानी पड़ती है और यदि बेशी मूल्य की दर ५० प्रतिशत है, तो यह ३०० शिलिंग की परिवर्ती पूंजी १५० शिलिंग – या काम के १००×३ घंटों – के बराबर बेशी मूल्य पैदा करेगी। यदि बेशी मूल्य की दर दुगुनी हो जाती है, या काम का दिन ६ घंटे से बढ़ाकर ९ घंटे के बजाय १२ घंटे का कर दिया जाता है, और साथ ही परिवर्ती पूंजी घटाकर आधी, यानी १५० शिलिंग, कर दी जाती है, तो भी वह १५० शिलिंग – अथवा काम के ५०×६ घंटों – के बराबर बेशी मूल्य ही पैदा करेगी। इसलिए परिवर्ती पूंजी की कमी से जो क्षति होती है, उसे श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा को उसी अनुपात में बढ़ाकर पूरा किया जा सकता है; या अगर काम करनेवाले मजदूरों की संख्या में कमी आ जाती है, तो उसकी क्षति को उसी अनुपात में काम के दिन का विस्तार करके पूरा किया जा सकता है। इसलिए कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर पूंजी कितने श्रम का शोषण कर सकती है, यह बात इससे स्वतंत्र होती है कि उसे मजदूरों की कितनी बड़ी संख्या मिल सकती है।[199] इसके विपरीत यदि बेशी मूल्य

[199] मालूम होता है, सतही राजनीतिक अर्थशास्त्रियों को इस प्राथमिक नियम का ज्ञान नहीं है। वे श्रम का बाज़ार-भाव उसकी मांग और पूर्ति से निर्धारित करना चाहते हैं और समझते हैं कि इस तरह उन्होंने एक ऐसा आलम्ब खोज निकाला है, जिससे वे आर्किमिडीज़ की तरह दुनिया को पलट तो नहीं पायेंगे, पर उसकी गति को अवश्य रोक देंगे।

की दर के कम हो जाने के साथ-साथ परिवर्ती पूंजी की मात्रा, या काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या, उसी अनुपात में बढ़ जाती है, तो बेशी मूल्य की राशि ज्यों की त्यों रहेगी।

फिर भी काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या में कमी आ जाने पर, या लगायी हुई परिवर्ती पूंजी की मात्रा घट जाने पर, उसकी क्षति को बेशी मूल्य की दर बढ़ाकर, या काम के दिन को लंबा करके, केवल कुछ दुर्लंघ्य सीमाओं के भीतर ही पूरा किया जा सकता है। श्रम-शक्ति का मूल्य कुछ भी हो, मज़दूरों के जीवन-निर्वाह के लिए चाहे २ घंटे का श्रम-काल आवश्यक हो या १० घंटे का, एक मज़दूर सारे दिन काम करके अधिक से अधिक जो मूल्य तैयार कर सकता है, वह उस मूल्य से हमेशा कम होता है, जिसमें २४ घंटे का श्रम निहित होता है। यदि २४ घंटे के मूर्त रूप प्राप्त श्रम की द्रव्यगत अभिव्यंजना १२ शिलिंग हो, तो मज़दूर दिन भर में चाहे जितना मूल्य पैदा करे, वह सदा १२ शिलिंग से कम ही होगा। हमने पहले यह माना था कि ख़ुद श्रम-शक्ति का पुनरुत्पादन करने के लिए, या श्रम-शक्ति की ख़रीद में लगायी गयी पूंजी के मूल्य की प्रतिस्थापना के लिए, रोज़ाना ६ घंटे का काम आवश्यक होता है। इस मान्यता के अनुसार १,५०० शिलिंग की परिवर्ती पूंजी, जो ५०० मज़दूरों से काम लेती है, १२ घंटे के काम के दिन और १०० प्रतिशत की बेशी मूल्य की दर के हिसाब से रोज़ाना १,५०० शिलिंग – या काम के ६ × ५०० घंटों – के बराबर बेशी मूल्य पैदा करेगी। ३०० शिलिंग की पूंजी, जो १०० मज़दूरों से २०० प्रतिशत की बेशी मूल्य की दर पर – या १८ घंटे के काम के दिन के अनुसार – काम लेती है, केवल ६०० शिलिंग – या काम के १२ × १०० घंटों – के बराबर बेशी मूल्य पैदा करेगी। और वह कुल जितना मूल्य पैदा करेगी, जो लगायी गयी परिवर्ती पूंजी तथा बेशी मूल्य के योग के बराबर है, वह दिन काम करने के बाद भी कभी १,२०० शिलिंग की रक़म – या काम के २४ × १०० घंटों – तक नहीं पहुंच सकता। काम के औसत दिन की एक निरपेक्ष सीमा होती है, क्योंकि प्रकृति के नियमानुसार वह २४ घंटे से हमेशा कम होता है। और उसकी इस निरपेक्ष सीमा से इस बात पर भी एक निरपेक्ष सीमा लग जाती है कि परिवर्ती पूंजी की कमी से पैदा होनेवाली क्षति को बेशी मूल्य की दर बढ़ाकर कहां तक पूरा किया जा सकता है, या शोषित मज़दूरों की संख्या घट जाने से होनेवाली क्षति को श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा बढ़ाकर कहां तक पूरा किया जा सकता है। यह स्वतःस्पष्ट नियम ऐसी बहुत से घटनाओं को समझने के लिए महत्त्व रखता है, जो पूंजी द्वारा अपने यहां काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या को – या श्रम-शक्ति में रूपांतरित कर दिये गये अपने परिवर्ती अंश को – अधिक से अधिक कम कर देने की प्रवृत्ति से उत्पन्न होती हैं। यह प्रवृत्ति (जिसपर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे) पूंजी की इस दूसरी प्रवृत्ति से बराबर टकराती रहती है कि वह अधिक से अधिक बेशी मूल्य पैदा करने की कोशिश करती है। दूसरी ओर, यदि काम में लगायी गयी श्रम-शक्ति की राशि बढ़ जाती है, या परिवर्ती पूंजी की राशि बढ़ जाती है, पर बेशी मूल्य की दर में आयी हुई कमी के अनुपात में नहीं बढ़ती, तो बेशी मूल्य की राशि कम हो जाती है।

कुल कितना बेशी मूल्य पैदा होगा, यह चूंकि दो बातों से निर्धारित होता है – बेशी मूल्य की दर से और पेशगी लगायी गयी परिवर्ती पूंजी की राशि से, इसलिए इसके निष्कर्ष के रूप में हमें एक तीसरा नियम मिलता है। यदि बेशी मूल्य की दर, या श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा, और श्रम-शक्ति का मूल्य, या आवश्यक श्रम-काल की मात्रा, पहले से मालूम हों, तो यह बात स्वतःस्पष्ट है कि परिवर्ती पूंजी जितनी ज़्यादा होगी, उतना ही अधिक मूल्य

पैदा होगा और बेशी मूल्य की उतनी ही अधिक राशि होगी। यदि काम के दिन की सीमा मालूम हो और साथ ही उसके आवश्यक भाग की सीमा भी मालूम हो, तो यह बात कि कोई ख़ास पूंजीपति कुल कितना मूल्य तथा बेशी मूल्य पैदा करेगा, स्पष्टतया केवल इस पर निर्भर करेगी कि वह कुल कितने श्रम को गतिमान बना देता है। लेकिन यह बात ऊपर मानी हुई परिस्थितियों में श्रम-शक्ति की राशि पर, या पूंजीपति जिन मज़दूरों का शोषण करता है, उनकी संख्या पर, निर्भर करती है और ख़ुद यह संख्या इस बात पर निर्भर करती है कि कुल कितनी परिवर्ती पूंजी लगायी गयी है। इसलिए यदि बेशी मूल्य की दर पहले से मालूम हो और श्रम-शक्ति का मूल्य मालूम हो, तो बेशी मूल्य की राशि कुल लगायी गयी परिवर्ती पूंजी की मात्रा के सीधे अनुपात में घटेगी-बढ़ेगी। अब हमें यह मालूम है कि पूंजीपति अपनी पूंजी को दो भागों में बांट देता है। एक भाग वह उत्पादन के साधनों पर ख़र्च करता है। यह उसकी पूंजी का स्थिर भाग होता है। दूसरा भाग वह जीवित श्रम-शक्ति पर ख़र्च करता है। यह भाग उसकी परिवर्ती पूंजी बन जाता है। सामाजिक उत्पादन की एक सी पद्धति के आधार पर उत्पादन की अलग-अलग शाखाओं में पूंजी का स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी में बंटवारा अलग-अलग ढंग से होता है, और उत्पादन की एक ही शाखा में भी प्राविधिक परिस्थितियों में तथा उत्पादन की प्रक्रियाओं के सामाजिक संयोगों में परिवर्तन होने पर स्थिर और परिवर्ती पूंजी का अनुपात बदल जाता है। परंतु कोई पूंजी चाहे जिस अनुपात में स्थिर और परिवर्ती भागों में बंट जाये, चाहे उनका अनुपात १:२, या १:१०, या १:x हो, ऊपर बताये गये नियम पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कारण कि ऊपर हम जो विश्लेषण कर आये हैं, उसके अनुसार स्थिर पूंजी का मूल्य उत्पाद के मूल्य में तो पुनः प्रकट होता है, परंतु वह नये पैदा होनेवाले मूल्य में प्रवेश नहीं करता, वह नव-उत्पादित, मूल्य उत्पाद का भाग नहीं होता। कताई करनेवाले १०० मज़दूरों से काम लेने के लिए जितने कच्चे माल, जितने तकुओं, आदि की ज़रूरत होती है, १,००० मज़दूरों से काम लेने के लिए, ज़ाहिर है, उससे ज़्यादा की ज़रूरत होगी। किंतु उत्पादन के इन अतिरिक्त साधनों का मूल्य घट-बढ़ सकता है या ज्यों का त्यों रह सकता है और कम या ज़्यादा हो सकता है, पर उत्पादन के इन साधनों में गति पैदा करनेवाली श्रम-शक्ति के द्वारा बेशी मूल्य के सृजन की प्रक्रिया पर इन साधनों के मूल्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए ऊपर हमने जिस नियम पर विचार किया है, वह अब यह रूप धारण कर लेता है कि यदि श्रम-शक्ति का मूल्य मालूम हो और उसके शोषण की मात्रा एक सी रहे, तो अलग-अलग पूंजियों से जो मूल्य तथा बेशी मूल्य पैदा होते हैं, उनकी राशियां सीधे इस अनुपात में घटती-बढ़ती हैं कि इन पूंजियों के परिवर्ती अंशों की राशियां, अर्थात् उन अंशों की राशियां, जो कि जीवित श्रम-शक्ति में रूपांतरित कर दिये गये हैं, कितनी छोटी या बड़ी हैं।

तथ्यों के सतही निरीक्षण से हमें जो अनुभव प्राप्त होता है, यह नियम उस सबके ख़िलाफ़ जाता है। हर आदमी जानता है कि कपास की कताई करनेवाला वह कारख़ानेदार, जो अपनी लगायी हुई पूरी पूंजी के प्रतिशत भाग के हिसाब से बहुत अधिक स्थिर पूंजी और बहुत थोड़ी परिवर्ती पूंजी का प्रयोग करता है, वह इस कारण उस नानबाई से कम मुनाफ़ा – या बेशी मूल्य – नहीं कमाता, जो कि उसकी तुलना में बहुत अधिक परिवर्ती पूंजी और बहुत कम स्थिर पूंजी का उपयोग करता है। ऊपर से ये बातें परस्पर विरोधी मालूम होती हैं। इस पहेली को हल

कर सकने के लिए अभी बहुत से बीच के नुक़्तों को जानने की आवश्यकता है, जैसे सरल बीजगणित के दृष्टिकोण से यह समझने के लिए बहुत से बीच के बिंदुओं को समझने की आवश्यकता होती है कि $\frac{0}{0}$ भी सचमुच कोई परिमाण हो सकता है। क्लासिकीय अर्थशास्त्र इस नियम की स्थापना तो नहीं करता, पर नैसर्गिक भाव से उसे मानकर चलता है, क्योंकि यह मूल्य के सामान्य नियम का एक आवश्यक निष्कर्ष है। क्लासिकीय अर्थशास्त्र एक ज़बर्दस्त अमूर्तीकरण के द्वारा इस नियम को उसकी विरोधी घटनाओं से टकराने से बचाने की कोशिश करता है। हम बाद को[200] यह देखेंगे कि रिकार्डो के मत के अर्थशास्त्री किस तरह रास्ते के इस पत्थर से टकरा कर गिर पड़े हैं। सतही राजनीतिक अर्थशास्त्र, जिसने "सचमुच कुछ भी नहीं सीखा है", अन्य स्थलों की भांति यहां भी दिखावटी बातों का दामन थामे रहता है और उस नियम को अनदेखा कर देता है, जिससे इन बातों का नियमन होता है और जिससे ये बातें स्पष्ट होती हैं। स्पिनोज़ा के मत के विरुद्ध सतही राजनीतिक अर्थशास्त्र का विश्वास है कि "अज्ञान एक पर्याप्त कारण है"।

किसी समाज की कुल पूंजी के द्वारा जो श्रम प्रति दिन गतिमान किया जाता है, उसे एक सामूहिक काम का दिन माना जा सकता है। मिसाल के लिए, यदि मज़दूरों की संख्या १० लाख है और एक मज़दूर के काम का औसत दिन १० घंटे का है, तो काम का सामाजिक दिन १ करोड़ घंटे का होगा। यदि काम के इस दिन की लंबाई पहले से निश्चित हो, तो उसकी सीमाएं चाहे शारीरिक कारणों से निर्धारित हुई हों या सामाजिक कारणों से, बेशी मूल्य की राशि को केवल मज़दूरों की संख्या में–यानी मेहनत करनेवाली आबादी की संख्या में–वृद्धि करके ही बढ़ाया जा सकता है। यहां समाज की कुल पूंजी कितने बेशी मूल्य का उत्पादन कर सकती है, उसकी गणितगत सीमा इस बात से निर्धारित होती है कि आबादी कितनी बढ़ सकती है। इसके विपरीत यदि आबादी की संख्या पहले से निश्चित हो, तो यह सीमा इस बात पर निर्भर करती है कि काम के दिन को कितना लंबा खींचना मुमकिन है।[201] किंतु आनेवाले अध्याय में पाठक देखेंगे कि यह नियम बेशी मूल्य के केवल उसी रूप पर लागू होता है, जिसपर हमने अभी तक विचार किया है।

अभी तक हमने बेशी मूल्य के उत्पादन का जितना विवेचन किया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि द्रव्य की या मूल्य की हर रक़म को इच्छानुसार पूंजी में नहीं बदला जा सकता। इस प्रकार का रूपांतरण करने के लिए असल में यह ज़रूरी होता है कि जो व्यक्ति द्रव्य अथवा पण्यों का मालिक है, उसके हाथ में पहले से ही कम से कम एक निश्चित मात्रा में द्रव्य अथवा विनिमय-मूल्य विद्यमान हो। परिवर्ती पूंजी की यह अल्पतम मात्रा एक अकेली श्रम-शक्ति की लागत होती है, जिसका दिन प्रति दिन पूरे साल भर बेशी मूल्य के उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाता है। यदि इस मज़दूर के पास ख़ुद अपने उत्पादन के साधन होते और

[200] इसका और विस्तृत विवरण चौथी पुस्तक में मिलेगा।

[201] "समाज का श्रम, अर्थात् उसका आर्थिक समय, एक निश्चित परिमाण होता है। मान लीजिये कि वह दस लाख लोगों के दस घंटे रोज़ाना या कुल १ करोड़ घंटे के बराबर है... पूंजी की वृद्धि की अपनी सीमा होती है। किसी भी निश्चित काल में, आर्थिक समय का वास्तव में कितना उपयोग किया जाता है, उसी पर यह निर्भर करता है कि पूंजी इस सीमा के कितने निकट पहुंच सकी है।" (*An Essay on the Political Economy of Nations*, London, 1821, pp. 47, 49.)

वह मजदूर की तरह रहने में ही संतुष्ट होता, तो जितना समय उसके जीवन-निर्वाह के साधनों के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक है, जैसे, मान लीजिये, ८ घंटे रोजाना, तो उसे उससे ज्यादा काम करने की कोई आवश्यकता न होती। इसके अलावा उसे उत्पादन के केवल इतने साधनों की ही जरूरत पड़ती, जो ८ घंटे काम करने के लिए काफ़ी होते हैं। दूसरी ओर, पूंजीपति को, जो कि इन ८ घंटों के अलावा उससे, मान लीजिये, ४ घंटे का बेशी श्रम कराता है, उत्पादन के अतिरिक्त साधन मुहैया करने के लिए कुछ अतिरिक्त रक़म की जरूरत पड़ेगी। पर हम जिन बातों को मानकर चल रहे हैं, उनके अनुसार उसे केवल मजदूर की भांति रहने के लिए – उससे जरा भी अच्छी तरह नहीं, बल्कि अपनी केवल प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए – दो मजदूरों को नौकर रखना पड़ेगा, तभी वह इतना बेशी मूल्य रोज हासिल कर पायेगा। और इस सूरत में महज जिंदा रहना ही, न कि अपनी दौलत को बढ़ाना, उसके उत्पादन का लक्ष्य बन जायेगा, लेकिन पूंजीवादी उत्पादन में तो सदा दौलत बढ़ाने का उद्देश्य निहित होता है। यदि पूंजीपति साधारण मजदूर से केवल दुगुनी अच्छी तरह जीवन बसर करना चाहता है और साथ ही पैदा होनेवाले बेशी मूल्य का आधा भाग पूंजी में बदल देना चाहता है, तो उसे मजदूरों की संख्या के साथ-साथ अपनी लगायी हुई पूंजी को भी पहले से आठगुनी कर देना होगा। जाहिर है, यह भी मुमकिन है कि अपने मजदूर की तरह वह खुद भी काम करने लगे और उत्पादन की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने लगे, परंतु तब वह पूंजीपति और मजदूर के बीच का महज कोई दोगला जीव बन जायेगा, तब वह "छोटा मालिक" कहलायेगा। पूंजीवादी उत्पादन की एक खास मंजिल पर यह जरूरी होता है कि पूंजीपति वह सारा समय, जिसके दौरान वह पूंजीपति की तरह, अर्थात् मूर्तिमान पूंजी की तरह, काम करता है, केवल दूसरों के श्रम को हस्तगत करने और इसलिए उसपर नियंत्रण रखने में और इस श्रम के उत्पाद को बेचने में ख़र्च करे।[202] इसीलिए मध्य युग के शिल्पी संघ किसी भी धंधे के उस्ताद को पूंजीपति में रूपांतरित हो जाने

---

[202] "काश्तकार अकेले अपने श्रम पर निर्भर नहीं रह सकता, और अगर वह रहेगा, तो मेरा मत है कि वह नुक़सान उठायेगा। उसे पूरे काम पर सामान्य निगरानी रखनी चाहिए। अनाज गाहने के लिए जो मजदूर नौकर रखा गया है, उसपर निगाह रखना जरूरी है, नहीं तो बहुत सा ग़ल्ला मांड़ा नहीं जायेगा और उतनी मजदूरी का नुक़सान हो जायेगा; घास और खेत की कटाई और लुनाई, आदि करने के लिए जो लोग नौकर रखे गये हैं, उनकी निगरानी करना जरूरी है; फिर काश्तकार को चाहिए कि अपने खेतों की मेंड़ों का बराबर चक्कर लगाता रहे, उसे ख़याल रखना चाहिए कि कहीं पर लापरवाही तो नहीं बरती जा रही है, जो जरूर बरती जायेगी, यदि वह एक ही जगह से चिपककर बैठा रहेगा।" (*An Inquiry into the Connexion Between the Present Price of Provisions, and the Size of Farms etc. By a Farmer*, London, 1773, p. 12.) यह किताब बहुत ही दिलचस्प है। इसमें "पूंजीवादी काश्तकार" या "व्यापारी काश्तकार" की – जिसे बहुत साफ़-साफ़ इन्हीं नामों से पुकारा गया है – उत्पत्ति का अध्ययन किया जा सकता है और यह देखा जा सकता है कि केवल रोजमर्रा की गुजर-बसर में ही खप जानेवाले "छोटे काश्तकार" के मुक़ाबले में ऐसा काश्तकार खुद अपनी तारीफ़ों के कैसे पुल बांधता है। "पूंजीपतियों का वर्ग शुरू से ही हस्तश्रम की आवश्यकता से आंशिक रूप से मुक्त रहता है, और अंत में जाकर तो वह उससे पूर्णतया मुक्त हो जाता है।" (*Textbook of Lectures on the Political Economy of Nations.* By the Rev. Richard Jones, Hertford, 1852, Lecture III, p. 39.)

से रोकने की ज़बर्दस्ती कोशिश करते थे, और इसके लिए उन्होंने एक उस्ताद अधिक से अधिक कितने मज़दूरों को नौकर रख सकता है, इसपर सीमा लगा दी थी और उसे बहुत नीचा रखा था। ऐसी सूरत में द्रव्य अथवा पण्यों का मालिक केवल उसी हालत में सचमुच पूंजीपति बन सकता है, जब उत्पादन में लगायी गयी कम से कम रक़म मध्य युग की अधिकतम सीमा से बहुत अधिक हो। प्राकृतिक विज्ञान की तरह यहां भी ('तर्कशास्त्र' में) हेगेल द्वारा आविष्कृत उस नियम की सत्यता सिद्ध हो जाती है कि केवल परिमाणात्मक भेद एक बिंदु से आगे पहुंचकर गुणात्मक परिवर्तनों में बदलते हैं।[203]

द्रव्य अथवा पण्यों वाले किसी व्यक्ति के पास अपने को पूंजीपति में रूपांतरित कर डालने के लिए मूल्य की कम से कम जो रक़म होनी चाहिए, वह पूंजीवादी उत्पादन के विकास की अलग-अलग अवस्थाओं में बदलती रहती है, और किसी ख़ास अवस्था में भी उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रों में उनकी विशिष्ट एवं प्राविधिक परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग रक़मों की आवश्यकता होती है। उत्पादन के कुछ ख़ास क्षेत्रों में पूंजीवादी उत्पादन के आरंभ में ही कम से कम इतनी पूंजी की आवश्यकता होती है, जो उस वक़्त तक किसी एक व्यक्ति के पास नहीं होती। इससे कुछ हद तक तो व्यक्तियों को राज्य की ओर से सहायता देने की प्रथा उत्पन्न होती है, जैसा कि कोलबर के काल में फ़्रांस में देखने में आया था और जैसा कि बहुत से जर्मन राज्यों में आज, हमारे काल में भी, देखा जा सकता है, और कुछ हद तक उससे कुछ ऐसी कंपनियां बन जाती हैं, जिनको उद्योग एवं व्यापार की कुछ ख़ास शाखाओं का शोषण करने का क़ानूनी एकाधिकार प्राप्त होता है।[204] ये कंपनियां हमारी आधुनिक सम्मिलित पूंजी वाली (ज्वाइंट स्टाक) कंपनियों की पूर्वज थीं।

जैसा कि हम देख चुके हैं, उत्पादन की प्रक्रिया के भीतर पूंजी ने श्रम के ऊपर, अर्थात् कार्यरत श्रम-शक्ति पर, या ख़ुद मज़दूर पर, अपना अधिकार जमा लिया था। मूर्तिमान पूंजी अथवा पूंजीपति इस बात का ख़याल रखता है कि मज़दूर अपना काम नियमित ढंग से तथा समुचित तेज़ी से करता है या नहीं।

---

[203] आधुनिक रसायनविज्ञान का आणविक सिद्धांत, जिसका वैज्ञानिक प्रतिपादन पहली बार लौरें और गेरहार्ड्ट ने किया था, किसी अन्य नियम पर आधारित नहीं है। (**तीसरे संस्करण में जोड़ा गया हिस्सा**) जो रसायनज्ञ नहीं हैं, उनके लिए यह वाक्य बहुत स्पष्ट नहीं है। उसके स्पष्टीकरण के लिए हम यह बताते हैं कि यहां लेखक कार्बन के यौगिकों की उन सजातीय मालाओं की चर्चा कर रहा है, जिनको यह नाम पहले-पहल सी० गेरहार्ड्ट ने १८४३ में दिया था और जिनमें से प्रत्येक माला का अपना अलग बीजगणित का सामान्य सूत्र होता है। जैसे पैरेफ़िनों की माला का सूत्र है C_nH_{2n+2}, साधारण एलकोहलों का $C_nH_{2n+2}O$, साधारण फ़ैटी एसिडों का $C_nH_{2n}O_2$ और इसी तरह और भी बहुत से सूत्र हैं। इन मिसालों में आणविक सूत्र में केवल परिमाणात्मक ढंग से CH_2 जोड़ देने पर हर बार गुणात्मक दृष्टि से एक बिल्कुल नया पदार्थ तैयार हो जाता है। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का पता लगाने में लौरें और गेरहार्ड्ट का कितना भाग था (मार्क्स ने उसके महत्त्व को अधिक आंका है), यह जानने के लिए Kopp, *Entwicklung der Chemie*, München, 1873, S. 709, 716 और Schorlemmer, *The Rise and Development of Organic Chemistry*, London, 1879, p. 54 देखिये। – फ़्रे० एं०।

[204] मार्टिन लूथर ने इस प्रकार की कंपनियों को "die Gesellchaft-Monopolia" ["इजारेदार कंपनी"] का नाम दिया है।

इतना ही नहीं, पूंजी श्रम के साथ ज़ोर-ज़बर्दस्ती का एक संबंध बन जाती है जिसके द्वारा मज़दूर वर्ग को उसके अपने जीवन की आवश्यकताओं के लिए जो थोड़ा सा काम करना ज़रूरी होता है, उससे ज़्यादा काम करने के लिए मजबूर किया जाता है। दूसरों की क्रियाशीलता को पैदा करनेवाले के रूप में, बेशी श्रम चूसनेवाले और श्रम-शक्ति के शोषक के रूप में पूंजी जिस मुस्तैदी, निर्ममता, सभी तरह की हदों को तोड़ देने की भावना और कार्यकुशलता का परिचय देती है, उसके सामने प्रत्यक्ष रूप से ज़बर्दस्ती कराये गये श्रम पर आधारित इसके पहले की तमाम उत्पादन-व्यवस्थाएं फीकी पड़ जाती हैं।

शुरू में पूंजी उन प्राविधिक परिस्थितियों के आधार पर श्रम को अपने अधीन बनाती है, जो इतिहास के उस काल में पायी जाती हैं। इसलिए वह उत्पादन की प्रणाली में तुरंत कोई परिवर्तन नहीं करती। अतः बेशी मूल्य के उत्पादन के जिस रूप पर अभी तक हमने विचार किया है, यानी केवल काम के दिन का विस्तार करके बेशी मूल्य का उत्पादन करना, वह स्वयं उत्पादन की प्रणाली में होनेवाले परिवर्तनों से स्वतंत्र सिद्ध हुआ था। पुराने ढंग की रोटियों की दूकानों में वह आधुनिक सूती मिलों से कम क्रियाशील नहीं था।

यदि हम साधारण श्रम-प्रक्रिया की दृष्टि से उत्पादन की क्रिया पर विचार करें, तो उत्पादन के साधनों के साथ मज़दूर का संबंध उनके इस गुण के कारण नहीं होता कि उत्पादन के साधन पूंजी हैं, बल्कि वह इस कारण होता है कि उत्पादन के साधन मज़दूर की ख़ुद अपनी विवेकपूर्ण उत्पादक कार्रवाई के साधन एवं सामग्री मात्र हैं। मिसाल के लिए, चमड़ा कमाने में मज़दूर खालों के साथ केवल अपने श्रम की सामग्री के रूप में बर्ताव करता है। आख़िर वह पूंजीपति की खाल को नहीं कमाता। लेकिन जैसे ही हम उत्पादन की प्रक्रिया पर बेशी मूल्य के सृजन की क्रिया की दृष्टि से विचार करना आरंभ करते हैं, वैसे ही परिस्थिति एकदम बदल जाती है। तब उत्पादन के साधन फ़ौरन दूसरों के श्रम का अवशोषण करने के साधनों में बदल जाते हैं। अब मज़दूर उत्पादन के साधनों से काम नहीं लेता, बल्कि उत्पादन के साधन मज़दूर से काम लेते हैं। अब अपनी उत्पादक कार्रवाई के भौतिक तत्त्वों के रूप में मज़दूर उत्पादन के साधनों का नहीं उपयोग करता, बल्कि उत्पादन के साधन ख़ुद मज़दूर का अपनी जीवन-क्रिया के लिए आवश्यक ख़मीर के रूप में उपयोग करते हैं। और पूंजी की जीवन-प्रक्रिया निरंतर स्वतःविस्तार करते जानेवाले, अपने आप बढ़ते जानेवाले मूल्य के रूप में मात्र उसकी गति के सिवा और कुछ नहीं होती। जो भट्ठियां और वर्कशाप रात को बेकार पड़ी रहती हैं और जीवित श्रम का अवशोषण नहीं करतीं, वे पूंजीपति को "महज़ नुक़सान" पहुंचाती हैं। इसलिए यदि किसी के पास भट्ठियां और वर्कशाप हैं, तो फिर उसका मेहनत करनेवालों के रात के श्रम पर क़ानूनी दावा बन जाता है। जब द्रव्य का उत्पादन की प्रक्रिया के भौतिक उपकरणों में, अर्थात् उत्पादन के साधनों में, रूपांतरण हो जाता है, तो उत्पादन के साधन दूसरे लोगों के श्रम तथा बेशी श्रम पर स्वत्व और अधिकार के सूचक बन जाते हैं। अंत में एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा कि यह चालबाज़ी जो पूंजीवादी उत्पादन का एक विशिष्ट गुण और ख़ास विशेषता है, और मृत और जीवित श्रम के संबंध, मूल्य और मूल्य का सृजन करनेवाली शक्ति के संबंध का यह पूर्ण उलटाव पूंजीपतियों की चेतना में किस प्रकार प्रतिबिंबित होता है। १८४८ और १८५० के बीच इंगलैंड के कलकारख़ानों के मालिकों के विद्रोह के दिनों में "स्कॉटलैंड के पश्चिमी भाग की एक सबसे पुरानी और प्रतिष्ठित फ़र्म मैसर्स कार्लाइल संस एण्ड कंपनी के, जिसका पैसले में सन का तथा सूती धागा तैयार करनेवाला

एक कारख़ाना था और जिसे क़ायम हुए अब क़रीब-क़रीब एक सदी होने को आयी थी, जो १७५२ से काम कर रही थी और जिसका एक ही ख़ानदान की चार पीढ़ियां संचालन कर चुकी थीं, इस कंपनी के अध्यक्ष" का, इस "अत्यंत बुद्धिमान भद्र पुरुष" का *Glasgow Daily Mail* के २५ अप्रैल १८४९ के अंक में एक पत्र[205] प्रकाशित हुआ था। पत्र का शीर्षक था: 'पालियों की प्रणाली'। अन्य बातों के अलावा बेतुकेपन की हद तक भोलेपन से भरा यह अंश भी इस पत्र में था: "अब हम इस पर विचार करें... कि यदि फ़ैक्टरी के काम करने पर १० घंटे की सीमा लगा दी गयी, तो कैसी-कैसी बुराइयां पैदा हो जायेंगी... ऐसा करने से मिल-मालिक की समृद्धि और उसके भविष्य को कड़ी हानि पहुंचेगी। यदि वह" (यानी, उसका मज़दूर) "पहले १२ घंटे काम करता था और अब केवल १० घंटे काम कर सकता है, तो उसके कारख़ाने में लगी हुई हर १२ मशीनें या तकुए मानो सिकुड़कर केवल १० मशीनें या तकुए बन जायेंगे और यदि उसका कारख़ाना बेचा गया, तो उसकी क़ीमत केवल १० मशीनों के आधार पर लगायी जायेगी और इस तरह देश के प्रत्येक कारख़ाने के मूल्य में से उसका छठा भाग घट जायेगा।"[206]

पश्चिमी स्कॉटलैंड के इस बुर्जुआ मस्तिष्क ने "चार पीढ़ियों" के संचित पूंजीवादी गुण विरासत में पाये हैं। उसके लिए उत्पादन के साधनों, तकुओं, आदि का मूल्य पूंजी के रूप में उनके अपने मूल्य का स्वयं विस्तार करने तथा दूसरों के मुफ़्त में किये गये श्रम की एक निश्चित मात्रा को रोज़ निगल जाने के गुण के साथ इस अभिन्न ढंग से जुड़ा हुआ है कि कार्लाइल एण्ड कंपनी का अध्यक्ष सचमुच यह समझने लगता है कि यदि वह अपना कारख़ाना बेचेगा, तो उसे न सिर्फ़ तकुओं का मूल्य मिलेगा, बल्कि उसके अलावा उसे इन तकुओं की बेशी मूल्य सोखने की शक्ति की क़ीमत भी मिलेगी। वह समझता है कि उसे न सिर्फ़ उस श्रम के दाम मिलेंगे, जो इन तकुओं में निहित है और जो इस तरह के तकुओं के उत्पादन के लिए आवश्यक है, बल्कि उसे उस बेशी श्रम के भी दाम मिलेंगे, जिसे वह इन तकुओं की मदद से रोज़ पैसले के बहादुर स्कॉटिश लोगों के शरीर में से चूस लेता है। इसी कारण वह यह सोचता है कि यदि काम के दिन में २ घंटे की कमी कर दी गयी, तो कताई करनेवाली १२ मशीनों का बिक्री का दाम घटकर १० मशीनों के दाम के बराबर रह जायेगा!

---

[205] *Reports of Insp. of Fact. for 30th April 1849*, p. 59.

[206] l. c., p. 60; फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर स्टुअर्ट ने, जो ख़ुद स्कॉटलैंडवासी हैं और जो अंग्रेज़ फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों से भिन्न सोचने के पूंजीवादी ढंग से बहुत प्रभावित हैं, इस पत्र को अपनी रिपोर्ट में शामिल किया है और उसपर टिप्पणी करते हुए कहा है कि "पालियों की प्रणाली का प्रयोग करनेवाले किसी भी मिल-मालिक ने उसी व्यवसाय में लगे अपने सहयोगी मिल-मालिकों को कभी इतनी उपयोगी सूचना नहीं दी थी, जितनी इस पत्र में दी गयी है। जिन मिल-मालिकों को अपने कारख़ानों में काम के घंटों की व्यवस्था को बदलने में हिचकिचाहट होती है, उनके पूर्वाग्रहों को दूर करने में यह पत्र सबसे अधिक सफल हो सकता है।"

भाग ४

सापेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन

अध्याय १२

सापेक्ष बेशी मूल्य की धारणा

काम के दिन के उस भाग को, जिसमें केवल उस मूल्य का समतुल्य पैदा होता है, जो पूंजीपति ने श्रम-शक्ति के एवज़ में दिया है, हम अभी तक सदा एक स्थिर मात्रा मानते आये हैं। और उत्पादन की कुछ ख़ास परिस्थितियों में तथा समाज के आर्थिक विकास की एक निश्चित अवस्था में यह सचमुच एक स्थिर मात्रा होती भी है। जैसा कि हमने ऊपर देखा था, काम के दिन के इस भाग के आगे, यानी अपने आवश्यक श्रम-काल के बाद, मज़दूर २, ३, ४, ६ या अधिक घंटे काम कर सकता है। उसके आगे वह कितनी देर तक काम करता रहता है, इसपर बेशी मूल्य की दर और काम के दिन की लंबाई निर्भर करती हैं। हमने यह भी देखा कि आवश्यक श्रम-काल के स्थिर होते हुए भी काम के दिन की पूरी लंबाई में परिवर्तन हो सकते हैं। अब मान लीजिये, हमें यह मालूम है कि काम के दिन की लंबाई कितनी है और वह आवश्यक श्रम तथा बेशी श्रम के बीच किस तरह बंटी है। मिसाल के लिए, मान लीजिये कि a से c तक की यह पूरी रेखा a————b———c १२ घंटे के काम के दिन का प्रतिनिधित्व करती है और उसका a से b तक का भाग १० घंटे के आवश्यक श्रम का और b से c तक का भाग २ घंटे के बेशी श्रम का प्रतिनिधित्व करता है। अब प्रश्न यह है कि बेशी मूल्य का उत्पादन कैसे बढ़ाया जा सकता है, अर्थात् a से c तक की रेखा को लंबा किये बग़ैर, या उससे स्वतंत्र ढंग से, बेशी श्रम को कैसे लंबा किया जा सकता है?

हालांकि a से c तक की रेखा की लंबाई पहले से निश्चित है, फिर भी लगता है कि b से c तक की रेखा को और लंबा किया जा सकता है। यदि उसे c से आगे खींचकर लंबा करना संभव नहीं है, क्योंकि c काम के दिन का – अर्थात् a से c तक की रेखा का भी – अंतिम बिंदु है, तो उसके प्रस्थान-बिंदु b को a की दिशा में पीछे धकेल कर उसे ज़रूर लंबा किया जा सकता है। मान लीजिये, कि रेखा ab′bc का b′—b वाला भाग bc का आधा है, या एक घंटे के श्रम-काल के बराबर है : a————b′———b———c. अब यदि ac में, यानी १२ घंटे

के काम के दिन में, हम बिंदु b को पीछे धकेल कर b′ पर ले जायें, तो bc रेखा b′c हो जायेगी, यानी बेशी श्रम में ५० प्रतिशत की वृद्धि हो जायेगी, वह २ घंटे के बजाय ३ घंटे का हो जायेगा, हालांकि काम का दिन पहले की तरह १२ घंटे का ही रहेगा। लेकिन ज़ाहिर है कि बेशी श्रम-काल को bc से बढ़ाकर b′c कर देना, २ घंटे से बढ़ाकर ३ घंटे कर देना, उस वक़्त तक संभव नहीं है जब तक कि उसके साथ-साथ आवश्यक श्रम-काल को ab से घटाकर ab′ – या १० घंटे से घटाकर ६ घंटे – न कर दिया जाये। बेशी श्रम को उतना ही लंबा किया जा सकेगा, जितना आवश्यक श्रम को छोटा करना संभव होगा, या यूं कहिये, श्रम-काल का एक ऐसा हिस्सा, जो पहले असल में मज़दूर के अपने हित में ख़र्च होता था, वह अब पूंजीपति के हित में ख़र्च होनेवाले श्रम-काल में बदल जायेगा। काम के दिन की लंबाई में परिवर्तन नहीं होगा, बल्कि आवश्यक श्रम-काल तथा बेशी श्रम-काल के बीच उसका जिस तरह विभाजन होता है, उसमें परिवर्तन हो जायेगा।

दूसरी ओर, यह बात स्पष्ट है कि जब काम के दिन की लंबाई और श्रम-शक्ति का मूल्य पहले से मालूम होते हैं, तो बेशी श्रम की अवधि भी पहले से मालूम हो जाती है। श्रम-शक्ति का मूल्य, अर्थात् श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल, इस बात को निर्धारित कर देता है कि इस मूल्य के पुनरुत्पादन के लिए कितना श्रम-काल आवश्यक होगा। यदि काम का एक घंटा ६ पेंस में निहित हो और एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य पांच शिलिंग हो, तो पूंजी ने मज़दूर की श्रम-शक्ति के एवज़ में जो मूल्य दिया है, उसे पुनः पैदा करने के लिए, या यूं कहिये कि मज़दूर के लिए रोज़ाना जीवन-निर्वाह के जिन साधनों की आवश्यकता होती है, उनके मूल्य का समतुल्य पैदा करने के लिए, उसे १० घंटे रोज़ाना काम करना चाहिए। यदि जीवन-निर्वाह के इन साधनों का मूल्य पहले से मालूम हो, तो मज़दूर की श्रम-शक्ति का मूल्य भी मालूम हो जाता है;[1] और यदि उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य मालूम हो, तो उसके आवश्यक श्रम-काल की अवधि भी मालूम हो जाती है। लेकिन

---

[1] मज़दूर की औसत रोज़ाना मज़दूरी का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि मज़दूर को "ज़िंदा रहने, मेहनत करने और बच्चे पैदा करने के लिए" किन चीज़ों की आवश्यकता है। (William Petty, *Political Anatomy of Ireland*, 1672, p. 64.) "श्रम का दाम सदा जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के दामों से तय होता है... जब कभी ... श्रम करनेवाले आदमी की मज़दूरी उसकी छोटी हैसियत के अनुसार मज़दूर के रूप में उतने बड़े परिवार के भरण-पोषण के लिए काफ़ी नहीं होती, जितना बड़ा परिवार अकसर बहुत से मज़दूरों के भाग्य में लिखा होता है," तब समझना चाहिए कि उसे उचित मज़दूरी नहीं मिल रही है। (J. Vanderlint, *Money Answers All Things*, London, 1734, p. 15.) "साधारण श्रमजीवी की संपत्ति केवल उसके हाथ और उसकी मेहनत होते हैं; मज़दूर अपना श्रम दूसरों के हाथ जितनी मज़दूरी के बदले में बेचता है, उतनी ही पाता है... हर प्रकार के श्रम के संबंध में यह होना लाज़िमी है और यही असल में होता है कि मज़दूर के जीवन-निर्वाह भर के लिए जो कुछ आवश्यक है, बस उसी पर उसकी मज़दूरी सीमित हो जाती है।" (Turgot, *Réflexions sur la Formation et la Distribution des Richesses. Oeuvres*, ed. Daire, t. I, p. 10.) "जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का दाम ही असल में श्रम के उत्पादन का ख़र्चा होता है।" (Malthus, *Inquiry into the Nature and Progress of Rent and the Principles by which it is Regulated*, London, 1815, p. 48, Note.)

काम के पूरे दिन में से आवश्यक श्रम-काल को घटाकर बेशी श्रम की अवधि का पता लगाया जाता है। बारह घंटों में से दस घंटे घटा दीजिये, तो दो बचते हैं, और यह समझ में नहीं आता कि पहले से निश्चित परिस्थितियों में बेशी श्रम को आख़िर दो घंटे से ज़्यादा कैसे खींचा जा सकता है। निस्संदेह पूंजीपति मज़दूर को पांच शिलिंग के बजाय चार शिलिंग छः पेंस या उससे भी कम दे सकता है। चार शिलिंग और छः पेंस के इस मूल्य के पुनरुत्पादन के लिए नौ घंटे का श्रम-काल ही पर्याप्त होगा, और इसलिए तब पूंजीपति को दो घंटे के बजाय तीन घंटे का बेशी श्रम मिलेगा और बेशी मूल्य एक शिलिंग से बढ़कर अठारह पेंस का हो जायेगा। लेकिन यह सब कुछ केवल मज़दूर की मज़दूरी को उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य से भी नीचे गिराकर ही संभव हो सकेगा। वह नौ घंटे में जो चार शिलिंग और छः पेंस पैदा करेगा, उनसे वह पहले की तुलना में दस प्रतिशत कम जीवनोपयोगी वस्तुएं ख़रीद सकेगा और इसलिए उसकी श्रम-शक्ति का समुचित पुनरुत्पादन नहीं हो पायेगा। इस सूरत में बेशी श्रम पहले से बढ़ तो जायेगा, परंतु केवल अपनी सामान्य सीमाओं का अतिक्रमण करके; आवश्यक श्रम-काल के क्षेत्र के एक भाग को ज़बर्दस्ती हड़पकर ही यहां उसका क्षेत्र बढ़ पायेगा। ठोस व्यवहार में यह तरीक़ा एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। फिर भी हम यहां उसपर विचार नहीं कर सकते, क्योंकि हम यह मानकर चल रहे हैं कि श्रम-शक्ति समेत सभी पण्य अपने पूरे मूल्य पर ही बेचे और ख़रीदे जाते हैं। यह मान लेने के बाद श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए अथवा उसके मूल्य के पुनरुत्पादन के लिए जो श्रम-काल आवश्यक है, उसे मज़दूर की मज़दूरी को उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य से नीचे गिराकर कम नहीं किया जा सकता। उसके लिए तो श्रम-शक्ति के इस मूल्य को ही नीचे गिराना होगा। यदि काम के दिन की लंबाई पहले से निश्चित हो, तो बेशी श्रम की वृद्धि केवल आवश्यक श्रम-काल की कमी द्वारा ही संभव है। बेशी श्रम को बढ़ा देने से आवश्यक श्रम-काल अपने आप नहीं घट जायेगा। जिस मिसाल को लेकर हम चल रहे हैं, उसमें यह आवश्यक है कि श्रम-शक्ति के मूल्य में सचमुच दस प्रतिशत की कमी आ जाये, ताकि आवश्यक श्रम-काल दस प्रतिशत घट जाये, अर्थात् दस घंटे से नौ घंटे हो जाये, और ताकि इसके फलस्वरूप बेशी श्रम को दो घंटे से बढ़ाकर तीन घंटे का कर दिया जाये।

किंतु श्रम-शक्ति के मूल्य में इस प्रकार की कमी आने का यह मतलब होता है कि जीवन के लिए आवश्यक वे ही वस्तुएं, जो पहले दस घंटे में तैयार हुआ करती थीं, अब नौ घंटे में तैयार हो सकती हैं। लेकिन श्रम की उत्पादिता में वृद्धि हुए बिना ऐसा असंभव है। मिसाल के लिए, मान लीजिये कि एक मोची एक ख़ास तरह के औज़ारों की मदद से बारह घंटे के एक काम के दिन में एक जोड़ी जूते तैयार कर लेता है। यदि उसे इतने ही समय में दो जोड़ी जूते तैयार करने हैं, तो उसके लिए ज़रूरी है कि उसके श्रम की उत्पादिता पहले से दुगुनी हो जाये। और यह उस वक़्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके औज़ारों में या उसके काम करने के ढंग में या दोनों बातों में कुछ परिवर्तन नहीं आ जाता। इसलिए उसके श्रम की उत्पादिता को दुगुना करने के लिए ज़रूरी है कि उत्पादन की परिस्थितियों में, यानी उसकी उत्पादन की प्रणाली में और ख़ुद श्रम-प्रक्रिया में, क्रांति हो गयी हो। श्रम की उत्पादिता के बढ़ जाने से हमारा आम तौर पर यह मतलब होता है कि श्रम-प्रक्रिया में कोई ऐसा परिवर्तन हो गया है, जिससे किसी पण्य के उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल में कमी आ गयी है और श्रम की एक निश्चित मात्रा को पहले से अधिक मात्रा में उपयोग-

मूल्य पैदा करने की क्षमता प्राप्त हो गयी है।[2] केवल काम के दिन को लंबा करके पैदा किये गये बेशी मूल्य पर विचार करते हुए हम अभी तक सदा यह मानकर चलते रहे हैं कि उत्पादन की प्रणाली पहले से निश्चित है और उसमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं हो सकता। लेकिन जब आवश्यक श्रम को बेशी श्रम में परिणत करके बेशी मूल्य पैदा करना होता है, तब पूंजी के लिए यह हरगिज़ काफ़ी नहीं होता कि ऐतिहासिक दृष्टि से उसे जिस रूप में श्रम-प्रक्रिया मिली है, उसी रूप में उसे स्वीकार कर ले और फिर केवल प्रक्रिया की अवधि को बढ़ा दे। पहले उसे श्रम-प्रक्रिया की प्राविधिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में और उसके फलस्वरूप स्वयं उत्पादन की प्रणाली में क्रांति पैदा करनी होगी, उसके बाद ही श्रम की उत्पादिता बढ़ सकेगी। श्रम-शक्ति का मूल्य केवल इसी तरह घटाया जा सकता है, और काम के दिन का जो भाग इस मूल्य के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक है, उसे छोटा किया जा सकता है।

काम के दिन को लंबा करके जो बेशी मूल्य पैदा किया जाता है, उसे मैंने निरपेक्ष बेशी मूल्य का नाम दिया है। दूसरी ओर, जो बेशी मूल्य आवश्यक श्रम-काल के घटा दिये जाने और काम के दिन के दो हिस्सों की लंबाई में तदनुरूप परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप पैदा होता है, उसे मैं सापेक्ष बेशी मूल्य की संज्ञा देता हूं।

श्रम-शक्ति के मूल्य को कम करने के लिए उद्योग की उन शाखाओं में श्रम की उत्पादिता में वृद्धि होनी चाहिए, जिनका उत्पाद श्रम-शक्ति के मूल्य को निर्धारित करता है और इसलिए जिनका उत्पाद या तो जीवन-निर्वाह के प्रचलित साधनों में शामिल है या इन साधनों का स्थान लेने की क्षमता रखता है। लेकिन किसी भी पण्य का मूल्य न केवल उस श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, जो मज़दूर प्रत्यक्ष रूप में उस पण्य पर ख़र्च करता है, बल्कि वह उस श्रम से भी निर्धारित होता है, जो उत्पादन के साधनों में लगा है। उदाहरण के लिए, एक जोड़ी जूतों का मूल्य न केवल मोची के श्रम पर, बल्कि चमड़े, मोम, धागे, आदि के मूल्य पर भी निर्भर करता है। इसलिए जो उद्योग श्रम के उन औज़ारों को और उस कच्चे माल को तैयार करते हैं, जिनकी जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में स्थिर पूंजी के भौतिक तत्त्वों के रूप में ज़रूरत होती है, उनमें श्रम की उत्पादिता के बढ़ जाने और उसके फलस्वरूप इन उद्योगों के तैयार किये हुए मालों के सस्ता हो जाने से भी श्रम-शक्ति का मूल्य गिर सकता है। परंतु यदि उद्योग की उन शाखाओं में श्रम की उत्पादिता बढ़ेगी, जो न तो जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं तैयार करती हैं और न ही ऐसी वस्तुओं के उत्पादन के साधन तैयार करती हैं, तो उससे श्रम-शक्ति के मूल्य में कोई तब्दीली नहीं आयेगी।

जो पण्य सस्ता हो जाता है, वह, ज़ाहिर है, श्रम-शक्ति के मूल्य में केवल उसी अनुपात में कमी कर पाता है, जिस अनुपात में वह पण्य श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन में इस्तेमाल होता है। मिसाल के लिए, क़मीज़ें जीवन-निर्वाह का एक आवश्यक साधन होती हैं, परंतु वे बहुत

---

[2] "जब शिल्पों का विकास होता है, तो इसका मतलब यह होता है कि कुछ ऐसे नये तरीक़े ईजाद हो जाते हैं, जिनसे कोई चीज़ पहले से कम मज़दूरों की मदद से या (जो एक ही बात है) पहले से कम समय में तैयार की जा सकती है।" (Galiani, l. c., p. 159.) "केवल उत्पादन में उपयोग किये जानेवाले श्रम की मात्रा में बचत करके ही उत्पादन के ख़र्च में बचत की जा सकती है।" (Sismondi, *Études etc.*, t. I, p. 22.)

से साधनों में से केवल एक हैं। यदि जीवन के लिए आवश्यक सभी वस्तुओं को लिया जाये, तो उनमें तरह-तरह के बहुत से पण्य शामिल होते हैं, जिनमें से हरेक किसी ख़ास उद्योग का उत्पाद होता है और जिनमें से हरेक का मूल्य श्रम-शक्ति के मूल्य का एक संघटक भाग होता है। श्रम-शक्ति का यह मूल्य अपने पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल में कमी आ जाने पर घट जाता है। और उसमें कुल कितनी कमी आयी है, वह इन तमाम अलग-अलग उद्योगों के आवश्यक श्रम-काल में हुई सब कमियों को जोड़ने पर मालूम हो जायेगी। यहां हमने इस सामान्य परिणाम को इस तरह पेश किया है, जैसे हर उद्योग के श्रम-काल में इस ख़ास तात्कालिक उद्देश्य को सामने रखकर कमी की गयी हो। जब कभी कोई पूंजीपति श्रम की उत्पादिता को बढ़ाकर, उदाहरण के लिए, मान लीजिये, क़मीज़ों को सस्ता करता है, तब यह हरगिज़ ज़रूरी नहीं है कि उसका उद्देश्य श्रम-शक्ति के मूल्य को घटाना और आवश्यक श्रम-काल को pro tanto [तदनुपात में] छोटा कर देना हो। लेकिन जिस हद तक कि उसके काम का यह नतीजा होता है, केवल उसी हद तक वह बेशी मूल्य की सामान्य दर को ऊपर उठाने में सहायक होता है।[3] पूंजी की सामान्य एवं अनिवार्य प्रवृत्तियों और उनकी अभिव्यक्ति के ठोस रूपों में भेद होता है, जिसे हमें सदा याद रखना चाहिए।

पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्भूत नियम पूंजी की अलग-अलग राशियों की गतियों में किस ढंग से व्यक्त होते हैं और किस तरह वे वहां प्रतियोगिता के बलपूर्वक अमल में आनेवाले नियमों की तरह प्रकट होते हैं तथा अलग-अलग पूंजीपतियों के मस्तिष्क एवं चेतना में उनके कार्यों के निर्देशक के रूप में प्रवेश करते हैं – इस विषय पर विचार करने का हमारा यहां कोई इरादा नहीं है। लेकिन इतनी बात साफ़ है कि जिस तरह ग्रहों और नक्षत्रों की प्रकट गति को केवल वही आदमी समझ सकता है, जो उनकी वास्तविक गति से परिचित है, अर्थात् जो उनकी उस गति से परिचित है, जिसका इंद्रियों को प्रत्यक्ष बोध नहीं होता, उसी तरह प्रतियोगिता का वैज्ञानिक विश्लेषण उस वक़्त तक संभव नहीं है, जब तक कि हमें पूंजी के आंतरिक स्वभाव का ज्ञान न हो। फिर भी सापेक्ष बेशी मूल्य के उत्पादन को बेहतर ढंग से समझने के लिए हम नीचे लिखी बातें और कहे देते हैं, जिनके आधार के तौर पर हम ऊपर जिन नतीजों पर पहुंच चुके हैं, उनके सिवा और कोई बात मानकर नहीं चल रहे हैं।

यदि एक घंटे का श्रम छः पेंस में निहित होता है, तो १२ घंटे के एक काम के दिन में छः शिलिंग का मूल्य तैयार होगा। मान लीजिये कि श्रम की वर्तमान उत्पादिता के साथ इन १२ घंटों में १२ वस्तुएं तैयार होती हैं। और मान लीजिये कि इनमें से हर वस्तु के उत्पादन में उत्पादन के जो साधन ख़र्च होते हैं, उनका मूल्य छः पेंस है। ऐसी हालत में हर वस्तु का मूल्य एक शिलिंग होगा : छः पेंस उत्पादन के साधनों के मूल्य के और छः पेंस उस नये मूल्य के, जो इन साधनों से काम करते समय जुड़ गया है। अब मान लीजिये कि कोई पूंजीपति श्रम की उत्पादिता को दुगुनी कर देने में कामयाब हो जाता है और १२ घंटे के काम के दिन में १२ वस्तुओं की जगह पर २४ वस्तुएं तैयार करने लगता है। तब यदि उत्पादन के

[3] "मान लीजिये... किसी कारख़ानेदार का... उत्पाद मशीनों में सुधार हो जाने के फलस्वरूप दुगुना हो जाता है... तब वह अपनी पूरी आय के पहले से कम भाग द्वारा अपने मजदूरों को कपड़े पहना सकेगा... और इस प्रकार उसका मुनाफ़ा बढ़ जायेगा। लेकिन उसपर कोई और प्रभाव नहीं पड़ेगा।" (Ramsay, l. c., pp. 168, 169.)

साधनों का मूल्य पहले जितना ही रहता है, तो हर वस्तु का मूल्य घटकर नौ पेंस रह जायेगा, जिसमें से छः पेंस उत्पादन के साधनों के मूल्य के होंगे और ३ पेंस उस नये मूल्य के होंगे, जो श्रम ने उनमें जोड़ दिया है। श्रम की उत्पादिता के दुगुनी हो जाने के बावजूद दिन भर का श्रम अब भी पहले की तरह छः शिलिंग का ही नया मूल्य पैदा करता है, उससे अधिक नहीं; किंतु अब यह छः शिलिंग का नया मूल्य पहले से दुगनी वस्तुओं में बंट जाता है। अब हर वस्तु में इस मूल्य के $\frac{१}{१२}$ भाग के बजाय केवल $\frac{१}{२४}$ भाग निहित होता है, अब हर वस्तु में छः पेंस के बजाय केवल तीन पेंस का मूल्य निहित होता है, या, जो कि एक ही बात है, यूं कहिये कि उत्पादन के साधनों के प्रत्येक वस्तु में रूपांतरित होते समय अब एक घंटे के श्रम-काल के बजाय केवल आधे घंटे का श्रम-काल ही उनमें नया जुड़ता है। अब इन वस्तुओं में से प्रत्येक का अलग-अलग मूल्य उनके सामाजिक मूल्य से कम हो गया है। दूसरे शब्दों में, औसत ढंग की सामाजिक परिस्थितियों में इस प्रकार की अधिकांश वस्तुओं के उत्पादन में जितना श्रम-काल ख़र्च होता है, इन वस्तुओं में उससे कम श्रम-काल ख़र्च हुआ है। औसतन हर वस्तु की लागत १ शिलिंग होती है, और वह २ घंटे के सामाजिक श्रम का प्रतिनिधित्व करती है। परंतु उत्पादन की बदली हुई प्रणाली का प्रयोग होने पर हरेक में केवल नौ पेंस की लागत लगती है, या हरेक में केवल $१\frac{१}{२}$ घंटे का श्रम निहित होता है। परंतु किसी भी पण्य का वास्तविक मूल्य उसका व्यक्तिगत मूल्य नहीं, बल्कि सामाजिक मूल्य होता है, अर्थात् किसी भी पण्य का वास्तविक मूल्य इससे नहीं निर्धारित होता कि हर अलग-अलग सूरत में उत्पादक को उस वस्तु पर कितना श्रम-काल ख़र्च करना पड़ा है, बल्कि वह इससे निर्धारित होता है कि उसके पण्य के उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से कितना श्रम-काल आवश्यक है। इसलिए जिस पूंजीपति ने नयी पद्धति का उपयोग किया है, वह यदि अपना पण्य उसके एक शिलिंग के सामाजिक मूल्य पर बेचता है, तो वह उसे उसके व्यष्टिक मूल्य से तीन पेंस अधिक पर बेचता है और इस तरह तीन पेंस का अधिक बेशी मूल्य कमा लेता है। दूसरी ओर, जहां तक इस पूंजीपति का संबंध है, अब १२ वस्तुओं के बजाय २४ वस्तुएं १२ घंटे के काम के दिन का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसलिए उसे अब अगर काम के एक दिन के उत्पाद से छुटकारा पाना है, तो मांग को पहले से दुगुनी हो जाना चाहिए, अर्थात् मंडी को पहले से दुगुनी बड़ी हो जाना चाहिए। अन्य बातों के समान रहते हुए उसके पण्यों के लिए पहले से अधिक बड़ी मंडी केवल उसी हालत में मिल सकती है, जब उनके दाम घटा दिये जायें। इसलिए अपने पण्यों को वह उनके व्यष्टिक मूल्य से कुछ अधिक पर, किंतु उनके सामाजिक मूल्य से कुछ कम पर—जैसे कि मान लीजिये कि दस पेंस प्रति वस्तु के भाव पर—बेचेगा। इस तरह वह प्रत्येक वस्तु पर एक पेनी का अतिरिक्त बेशी मूल्य तो कमा ही लेता है। उसके पण्यों की जीवन-निर्वाह के उन आवश्यक साधनों में, जो श्रम-शक्ति का सामान्य मल्य निर्धारित करने में भाग लेते हैं, गिनती होती है या नहीं, इसका इस बात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि इस तरह बेशी मूल्य में जो वृद्धि होती है, वह उसकी जेब में चली जाती है। इसलिए वस्तु चाहे श्रम-शक्ति के सामान्य मूल्य-निर्धारण में भाग ले या न ले, हर पूंजीपति का हित इसी में होता है कि श्रम की उत्पादिता को बढ़ाकर अपने पण्यों को सस्ता कर दे।

फिर भी ऐसी सूरत में भी बेशी मूल्य के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए आवश्यक श्रम-काल

को घटाना पड़ता है और चुनांचे बेशी श्रम को उतना ही बढ़ाना पड़ता है।[3a] मान लीजिये कि आवश्यक श्रम-काल १० घंटे का है, एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य पांच शिलिंग है, बेशी श्रम-काल २ घंटे का है और रोज़ाना एक शिलिंग के बराबर बेशी मूल्य पैदा होता है। परंतु पूंजीपति अब २४ वस्तुएं तैयार करता है, जिनको वह दस पेंस प्रति वस्तु के भाव से बेचता है और इस तरह कुल बीस शिलिंग पाता है। उत्पादन के साधनों का मूल्य चूंकि बारह शिलिंग है, इसलिए इनमें से $१४\frac{२}{५}$ वस्तुएं केवल पेशगी लगायी गयी स्थिर पूंजी की प्रतिस्थापना के काम में आती हैं। १२ घंटे के काम के दिन के श्रम का प्रतिनिधित्व करती हैं बाक़ी $९\frac{३}{५}$ वस्तुएं। श्रम-शक्ति का दाम चूंकि पांच शिलिंग है, इसलिए छः वस्तुएं आवश्यक श्रम-काल का और $३\frac{३}{५}$ वस्तुएं बेशी श्रम का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसलिए आवश्यक श्रम तथा बेशी श्रम का अनुपात, जो औसत ढंग की सामाजिक परिस्थितियों में ५:१ था, अब केवल ५:३ रह जाता है। एक और तरह भी हम इस नतीजे पर पहुंच सकते हैं। १२ घंटे के काम के दिन के उत्पाद का मूल्य बीस शिलिंग है। इसमें से बारह शिलिंग उत्पादन के साधनों के मूल्य के होते हैं, जो केवल पुनः प्रकट हुआ है। बचते हैं आठ शिलिंग, जो द्रव्य के रूप में दिन भर में नये पैदा हुए मूल्य की अभिव्यक्ति हैं। इसी प्रकार का औसत ढंग का सामाजिक श्रम जिस रक़म में अभिव्यक्त होता है, उससे यह रक़म ज्यादा है। औसत ढंग का बारह घंटे का सामाजिक श्रम केवल छः शिलिंग में अभिव्यक्त होता है। जिस श्रम की उत्पादिता असामान्य रूप से बढ़ गयी है, वह पहले से अधिक तीव्रता के साथ किये गये श्रम की तरह काम करता है। इसी प्रकार का औसत ढंग का सामाजिक श्रम एक निश्चित अवधि में जितना मूल्य पैदा करता है, यह श्रम उसी अवधि में उससे अधिक मूल्य पैदा कर देता है (देखिये अध्याय १, अनुभाग २, पृ० ५६-५७)। परंतु हमारा पूंजीपति एक दिन की श्रम-शक्ति के मूल्य के तौर पर अब भी पहले की तरह केवल पांच शिलिंग ही देता है। इसलिए इस मूल्य को पुनः पैदा करने के लिए अब मज़दूर को १० घंटे के बजाय केवल $७\frac{१}{२}$ घंटे ही काम करना पड़ता है। चुनांचे उसके बेशी श्रम में $२\frac{१}{२}$ घंटे की वृद्धि हो जाती है, और वह जो बेशी मूल्य पैदा करता है, वह एक शिलिंग से बढ़कर तीन शिलिंग हो जाता है। इसलिए जो पूंजीपति उत्पादन की उन्नत पद्धति का प्रयोग करता है, वह उसी धंधे के अन्य पूंजीपतियों की

[3a] "किसी भी आदमी का मुनाफ़ा इस बात पर नहीं निर्भर करता कि दूसरे आदमियों के श्रम के कितने उत्पाद पर उसका अधिकार है, बल्कि वह इस बात पर निर्भर करता है कि दूसरे आदमियों के श्रम पर उसका कितना अधिकार है। यदि उसके मज़दूरों की मज़दूरी ज्यों की त्यों रहती है, पर वह अपना पण्य पहले से अधिक दामों में बेच सकता है, तो ज़ाहिर है कि उसे फ़ायदा होता है... तब वह जो कुछ पैदा करता है, उसका पहले से छोटा भाग उस श्रम को हरकत में लाने के लिए काफ़ी होता है और चुनांचे उसका पहले से बड़ा भाग ख़ुद उसके लिए बच रहता है।" (*Outlines of Political Economy*, London, 1832, pp. 49, 50.)

अपेक्षा काम के दिन के ज्यादा बड़े हिस्से पर बेशी श्रम के रूप में अधिकार कर लेता है। सापेक्ष बेशी मूल्य के उत्पादन में लगे हुए सभी पूंजीपति सामूहिक रूप से जो कुछ करते हैं, वही यह पूंजीपति व्यक्तिगत रूप से कर डालता है। किंतु दूसरी ओर, जैसे ही उत्पादन की यह नयी पद्धति पूरे धंधे की सामान्य पद्धति बन जाती है और उसके फलस्वरूप जैसे ही पहले की अपेक्षा सस्ते तैयार हो जानेवाले पण्य के व्यष्टिक मूल्य तथा उसके सामाजिक मूल्य का अंतर जाता रहता है, वैसे ही यह अतिरिक्त बेशी मूल्य भी ग़ायब हो जाता है। श्रम-काल के द्वारा मूल्य के निर्धारित होने का नियम, जो उत्पादन की नयी पद्धति का प्रयोग करनेवाले पूंजीपति पर इस तरह लागू होता है कि वह उसे अपना पण्य सामाजिक मूल्य से कम पर बेचने के लिए मजबूर कर देता है, वही नियम प्रतियोगिता के बाध्यकारी नियम के तौर पर काम करते हुए उसके प्रतिद्वंद्वियों को भी इस नयी पद्धति का प्रयोग करने के लिए मजबूर कर देता है।[4] इसलिए बेशी मूल्य की सामान्य दर पर इस पूरी प्रक्रिया का केवल उसी समय प्रभाव पड़ता है, जब श्रम की उत्पादिता में होनेवाली वृद्धि उत्पादन की उन शाखाओं में भी दिखायी देने लगती है, जिनका उन पण्यों से संबंध है, जो जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों का भाग हैं और इसलिए जो श्रम-शक्ति के मूल्य के तत्त्व होते हैं और जब यह वृद्धि इन पण्यों को सस्ता कर देती है।

पण्यों का मूल्य श्रम की उत्पादिता के प्रतिलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है। और श्रम-शक्ति के मूल्य के लिए भी यह बात सच है, क्योंकि वह पण्यों के मूल्यों पर निर्भर करता है। इसके विपरीत सापेक्ष बेशी मूल्य इस उत्पादिता के अनुलोम अनुपात में घटता-बढ़ता है। वह बढ़ती हुई उत्पादिता के साथ बढ़ता और गिरती हुई उत्पादिता के साथ घटता है। यदि द्रव्य का मूल्य स्थिर मान लिया जाये, तो १२ घंटे के औसत ढंग के सामाजिक काम के दिन में सदा उतना ही नया मूल्य – यानी छः शिलिंग ही – पैदा होगा, चाहे यह रक़म बेशी मूल्य तथा मजदूरी के बीच किसी भी तरह क्यों न बंटे। परंतु यदि उत्पादिता बढ़ जाने के फलस्वरूप जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का मूल्य गिर जाये और इसलिए एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य पांच शिलिंग से घटकर तीन शिलिंग रह जाये, तो बेशी मूल्य एक शिलिंग से बढ़कर तीन शिलिंग हो जाता है। पहले श्रम-शक्ति के मूल्य का पुनरुत्पादन करने के लिए दस घंटे जरूरी थे, अब केवल छः घंटे जरूरी हैं। चार घंटे मुक्त हो जाते हैं, और उनको बेशी श्रम के क्षेत्र में शामिल किया जा सकता है। अतएव पूंजी में सदा इसकी चाह और उसमें सदा यह प्रवृत्ति निहित रहती है कि पण्यों को सस्ता करने तथा उनको सस्ता करके ख़ुद मज़-

---

[4] "यदि मेरा पड़ोसी कम श्रम से ज्यादा उत्पाद तैयार कराके अपना पण्य सस्ते दामों में बेच सकता है, तो मुझे भी किसी न किसी तरकीब से उतने ही सस्ते भाव पर अपना पण्य बेचना चाहिए। चुनांचे जब कभी कोई शिल्प, धंधा या मशीन अपेक्षाकृत कम मजदूरों के श्रम से और चुनांचे पहले से अधिक सस्ते में काम करने लगती है, तब दूसरे लोगों में भी इस बात की चाह या होड़ सी पैदा हो जाती है कि या तो उसी तरह के शिल्प, धंधे अथवा मशीन का प्रयोग करें, या उससे मिलती-जुलती कोई और चीज खोज निकालें, ताकि हर आदमी की स्थिति बराबर हो जाये और कोई अपने पड़ोसी से सस्ते भाव पर न बेच सके।" (*The Advantages of the East-India Trade to England*, London, 1720, p. 67.)

दूर को सस्ता करने के उद्देश्य से श्रम की उत्पादिता को अधिक से अधिक बढ़ाती जाये।[5]

किसी पण्य का मूल्य ख़ुद अपने में पूंजीपति के लिए कोई दिलचस्पी नहीं रखता। उसकी दिलचस्पी तो महज़ इस पण्य में निहित बेशी मूल्य में होती है, जिसे इस पण्य को बेचकर पाया जा सकता है। बेशी मूल्य पाने के साथ-साथ लाज़िमी तौर पर पेशगी लगाया गया मूल्य वापस आ जाता है। अब चूंकि सापेक्ष बेशी मूल्य श्रम की उत्पादिता के विकास के अनुलोम अनुपात में बढ़ता है, जब कि दूसरी ओर, पण्यों का मूल्य उसी अनुपात में घटता जाता है, चूंकि एक ही प्रक्रिया पण्यों को सस्ता कर देती है और साथ ही उनमें निहित बेशी मूल्य को बढ़ा देती है, इसलिए यहां पर हमें इस समस्या का हल मिल जाता है कि पूंजीपति, जिसका एकमात्र उद्देश्य विनिमय-मूल्य का उत्पादन करना होता है, क्यों पण्यों के विनिमय-मूल्य को सदा घटाने की कोशिश में लगा रहता है? यही वह पहेली थी, जिसके द्वारा राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक संस्थापक केने अपने विरोधियों को सताया करता था और जिसे वे कभी बूझ न पाते थे। केने कहता था: "तुम लोग स्वीकार करते हो कि औद्योगिक मालों के निर्माण में उत्पादन को कोई हानि पहुंचाये बिना ख़र्चे को और श्रम की लागत को जितना कम किया जा सकता है, उससे उतना ही अधिक लाभ होता है, क्योंकि इस तरह तैयार वस्तु का दाम घट जाता है। और फिर भी तुम यह सोचते हो कि मज़दूरों के श्रम से पैदा होनेवाली दौलत का उत्पाद वास्तव में उनके उत्पाद के विनिमय-मूल्य को बढ़ाकर किया जाता है।"[6]

इसलिए पूंजीवादी उत्पादन में जब श्रम की उत्पादिता को बढ़ाकर उसकी बचत की जाती है,[7] तब इसका उद्देश्य काम के दिन को छोटा करना नहीं होता। इसका उद्देश्य केवल यह

---

[5] "मज़दूर का ख़र्चा जिस अनुपात में कम होगा, उसी अनुपात में उसकी मज़दूरी भी घटेगी, बशर्ते कि उसके साथ-साथ उद्योग पर लगे हुए प्रतिबंध हटा लिये गये हों।" (*Considerations Concerning Taking off the Bounty on Corn Exported etc.*, London, 1753, p. 7.) "व्यापार के हित में यह आवश्यक है कि अनाज और सभी खाद्य वस्तुएं यथासंभव सस्ती हों, क्योंकि यदि कोई कारण इन चीज़ों को महंगा बना देता है, तो वह श्रम को भी महंगा कर देता है... जिन देशों में उद्योगों पर कोई प्रतिबंध नहीं लगा है, उन सभी देशों में खाद्य वस्तुओं के दाम का श्रम के दाम पर प्रभाव पड़ना लाज़िमी है। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के सस्ता हो जाने पर श्रम हमेशा सस्ता हो जायेगा।" (l. c., p. 3) "उत्पादन की शक्तियां जितनी बढ़ जाती हैं, मज़दूरी उसी अनुपात में कम हो जाती है। यह सच कि मशीनें जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को सस्ता कर देती हैं, पर साथ ही वे मज़दूर को भी सस्ता कर देती हैं।" (*A Prize Essay on the Comparative Merits of Competition and Co-operation*, London, 1834, p. 27.)

[6] Quesnay, *Dialogues sur le Commerce et les Travaux des Artisans*, Paris, 1846, pp. 188, 189.

[7] "इन सट्टेबाज़ों को जब मज़दूरों के श्रम के दाम देने पड़ते हैं, तब वे उसका उपयोग करने में बड़ी कमख़र्ची दिखाते हैं।" (J. N. Bidaut, *Du Monopole qui s'établit dans les arts industriels et le commerce*, Paris, 1828, p. 13.) "मालिक हमेशा समय और श्रम की बचत करने की कोशिश में रहेगा।" (Dugald Stewart, *Works*, ed. by Sir W. Hamilton, Edinburgh, 1855, Vol. VIII, *Lectures on Political Economy*, p. 318.) "उनका" (पूंजीपतियों का) "हित इसमें है कि जिन मज़दूरों को उन्होंने काम पर रखा है, उनकी उत्पादक शक्तियां अधिक से अधिक हों। उनका ध्यान एक तरह से सदा केवल इस शक्ति को बढ़ाने में ही लगा रहता है।" (R. Jones, *Textbook of Lectures on the Political Economy of Nations*, Hertford, 1852, Lecture III.)

होता है कि पण्यों की एक निश्चित मात्रा के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल को घटा दिया जाये। मज़दूर के श्रम की उत्पादिता के बढ़ जाने पर यदि वह, मान लीजिये, पहले से दसगुना पण्य तैयार करने लगता है और इस तरह हर वस्तु पर पहले का केवल $\frac{१}{१०}$ श्रम-काल खर्च करता है, तो इससे इसके पहले की तरह पूरे १२ घंटे तक काम करने में कोई रुकावट नहीं आती और न ही इन १२ घंटों में १२० के बजाय १,२०० वस्तुएं तैयार करने में कोई बाधा पड़ती है। यही नहीं, इसके साथ-साथ उसके काम के दिन को और लंबा खींचा जा सकता है, जैसे कि, मान लीजिये, १४ घंटे तक, ताकि १,४०० वस्तुएं तैयार करायी जा सकें। अतएव मैककुलोच, यूर, सीनियर et tutti quanti [और उनके गिरोह के अन्य] अर्थशास्त्रियों के ग्रंथों में हमें यदि एक पृष्ठ पर यह पढ़ने को मिलता है कि मज़दूर को पूंजी का इसके लिए अनुगृहीत होना चाहिए कि वह उसकी उत्पादिता को बढ़ा देती है, क्योंकि उससे आवश्यक श्रम-काल घट जाता है, तो अगले ही पृष्ठ पर हम यह भी पढ़ सकते हैं कि मज़दूर को अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए आगे से १० के बजाय १५ घंटे रोज़ काम करना चाहिए। पूंजीवादी उत्पादन की सीमाओं के भीतर श्रम की उत्पादिता को बढ़ाने की तमाम कोशिशों का उद्देश्य यह होता है कि काम के दिन के उस भाग को छोटा कर दिया जाये, जिसमें मज़दूर को ख़ुद अपने लिए काम करना पड़ता है, और उसे घटाकर दिन के उस भाग को बड़ा कर दिया जाये, जिसमें मज़दूर को पूंजीपति के लिए मुफ़्त काम करने की आज़ादी रहती है। पण्यों को सस्ता किये बिना यह चीज़ किस हद तक की जा सकती है, यह सापेक्ष बेशी मूल्य पैदा करने की विशिष्ट पद्धतियों का अध्ययन करने पर प्रकट होगा, जो हम अब करने जा रहे हैं।

अध्याय १३

सहकारिता

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, पूंजीवादी उत्पादन केवल उसी समय सचमुच ग्रारंभ होता है, जब प्रत्येक व्यष्टि पूंजी मज़दूरों की एक ग्रपेक्षाकृत बड़ी संख्या से एक साथ काम लेने लगती है ग्रौर उसके फलस्वरूप जब व्यापक पैमाने पर श्रम-प्रक्रिया चलती है ग्रौर इस तरह ग्रपेक्षाकृत बड़ी मात्राग्रों में उत्पाद होता है। जब ग्रपेक्षाकृत बड़ी संख्या में मज़दूर एक समय में ग्रौर एक जगह पर (ग्रापको यही पसंद हो, तो एक ही ढंग के श्रम के क्षेत्र में) इकट्ठा काम करते हैं ग्रौर एक ही पूंजीपति के मातहत एक ढंग का पण्य तैयार करते हैं, तब इतिहास एवं तर्क दोनों की दृष्टि से पूंजीवादी उत्पादन का श्रीगणेश हो जाता है। जहां तक ख़ुद उत्पादन की प्रणाली का संबंध है, मैन्यूफ़ैक्चर शब्द का यदि उसके मौलिक ग्रर्थ में उपयोग किया जाये, तो उसकी ग्रत्यंत प्रारंभिक ग्रवस्था में ग्रौर शिल्पी संघों की दस्तकारियों में इसके सिवाय ग्रौर बहुत कम ग्रंतर होता है कि मैन्यूफ़ैक्चर में एक ही व्यष्टि पूंजी मज़दूरों की ग्रपेक्षाकृत बड़ी संख्या से एक साथ काम लेती है। मध्य युग के उस्ताद कारीगर की कर्मशाला केवल पहले से बड़ा ग्राकार ग्रहण कर लेती है।

इसलिए शुरू में केवल परिमाणात्मक ग्रंतर होता है। हम ऊपर यह बता चुके हैं कि किसी निश्चित पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य का पता लगाने के लिए प्रत्येक मज़दूर द्वारा पैदा किये गये बेशी मूल्य को एक साथ काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या से गुणा कर देना काफ़ी होता है। ख़ुद मज़दूरों की संख्या से न तो बेशी मूल्य की दर में कोई फ़र्क़ पड़ता है ग्रौर न ही श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा में कोई ग्रंतर ग्राता है। यदि १२ घंटे का काम का दिन छः शिलिंग में व्यक्त हो, तो ऐसे १,२०० दिन १,२०० गुने छः शिलिंग में व्यक्त होंगे। एक सूरत में १२×१,२०० काम के घंटे ग्रौर दूसरी सूरत में ऐसे १२ घंटे उत्पाद में निहित होते हैं। मूल्य के उत्पादन में मज़दूरों की प्रत्येक संख्या उतने ग्रलग-ग्रलग मज़दूरों के बराबर ही मानी जाती है, ग्रौर इसलिए चाहे १,२०० ग्रादमी ग्रलग-ग्रलग काम करें ग्रौर चाहे वे एक पूंजीपति के नियंत्रण में मिलकर काम करें, उससे ज़ो मूल्य पैदा होता है, उसमें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।

फिर भी कुछ सीमाग्रों के भीतर एक परिवर्तन ज़रूर हो जाता है। मूल्य में मूर्त होनेवाला श्रम ग्रौसत सामाजिक स्तर का श्रम होता है। चुनांचे उसमें ग्रौसत श्रम-शक्ति ख़र्च होती है। लेकिन कोई भी ग्रौसत मात्रा एक ही तरह की, परंतु भिन्न-भिन्न परिमाण वाली ग्रनेक ग्रलग-ग्रलग मात्राग्रों का ग्रौसत होती है। हर उद्योग में हर ग्रलग-ग्रलग मज़दूर, चाहे उसका नाम पीटर हो या पॉल, ग्रौसत मज़दूर से भिन्न होता है। जब कभी मज़दूरों की एक ख़ास ग्रल्पतम संख्या से एक साथ काम लिया जाता है, तब ये व्यक्तिगत भिन्नताएं – या, गणित की शब्दावली में, "त्रुटियां" – एक दूसरे की क्षति-पूर्ति कर देती हैं ग्रौर ग़ायब हो जाती हैं। प्रसिद्ध कूटतार्किक एवं चाटुकार एडमंड बर्क तो काश्तकार के रूप में ग्रपने व्यावहारिक ग्रनुभव के ग्राधार पर इस हद तक दावा करते हैं कि पांच खेतिहर मज़दूरों की "जैसी छोटी

टुकड़ी" में भी तमाम व्यक्तिगत भिन्नताएं ग़ायब हो जाती हैं और इसलिए अगर किन्हीं भी पांच वयस्क खेतिहर मजदूरों से एक साथ काम कराया जाये, तो वे समान समय में उतना ही काम करेंगे, जितना कोई और पांच करेंगे।[8] बहरहाल जो भी हो, इतनी बात स्पष्ट है कि जिनसे एक साथ काम लिया जा रहा है, ऐसे मजदूरों की एक अपेक्षाकृत बड़ी संख्या के सामूहिक काम के दिन को इन मजदूरों की संख्या से भाग देने पर औसत सामाजिक श्रम का एक दिन निकल आता है। मिसाल के लिए, मान लीजिये कि प्रत्येक व्यक्ति का काम का दिन १२ घंटे का है। तब एक साथ काम करनेवाले १२ व्यक्तियों का सामूहिक काम का दिन १४४ घंटों के बराबर होगा। और हालांकि इन एक दर्जन आदमियों में से प्रत्येक अलग-अलग आदमी का श्रम औसत ढंग के सामाजिक श्रम से कुछ कम या अधिक होगा और इसलिए हालांकि उनमें से हरेक को एक सी क्रिया को पूरा करने में अलग-अलग समय लगेगा, फिर भी चूंकि हरेक का काम का दिन १४४ घंटे के सामूहिक दिन का $\frac{१}{१२}$ वां भाग है, इसलिए उसमें एक औसत ढंग के सामाजिक काम के दिन के गुण मौजूद होंगे। किंतु इन १२ आदमियों से काम लेनेवाले पूंजीपति के दृष्टिकोण से काम का दिन पूरे दर्जन भर आदमियों का दिन होता है। और ये १२ आदमी चाहे अपने काम में एक दूसरे की मदद करें और चाहे इन आदमियों के काम में केवल इतना संबंध हो कि वे सब एक पूंजीपति के लिए काम कर रहे हैं, प्रत्येक अलग-अलग आदमी का दिन इस सामूहिक काम के दिन का एक अशेषभाजक भाग होता है। परंतु यदि इन १२ आदमियों की छः जोड़ियों से छः छोटे-छोटे मालिक काम लेते हैं, तो यह बात केवल संयोग पर ही निर्भर करेगी कि इनमें से हरेक मालिक दूसरों के समान मूल्य पैदा कर पाता है या नहीं और इसलिए बेशी मूल्य की सामान्य दर के अनुसार बेशी मूल्य कमा पाता है या नहीं। हर अलग-अलग सूरत में थोड़ा-बहुत फ़र्क़ रहेगा। किसी पण्य के उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से जितना समय लगना चाहिए, यदि किसी मजदूर का उसकी अपेक्षा बहुत अधिक समय लग जाता है, तो उसका आवश्यक श्रम-काल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक औसत श्रम-काल से काफ़ी भिन्न होगा और इसलिए न तो उसका श्रम औसत श्रम माना जायेगा और न ही उसकी श्रम-शक्ति औसत श्रम-शक्ति मानी जायेगी। तब वह श्रम-शक्ति या तो बिल्कुल न बिक पायेगी, और बिकेगी, तो औसत मूल्य से कम दाम पर। इसलिए सदा यह मानकर चला जाता है कि हर प्रकार के श्रम में एक अल्पतम स्तर की कुशलता होती है, और जैसा कि हम आगे देखेंगे, पूंजीवादी उत्पादन के पास इस अल्पतम

---

[8] "बल, दक्षता और ईमानदारी की दृष्टि से निस्संदेह एक आदमी के श्रम और दूसरे आदमी के श्रम के मूल्य में बहुत अंतर होता है। लेकिन मेरा जितना अनुभव है, उसके आधार पर मैं पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूं कि कोई भी पांच आदमी कुल मिलाकर उतना ही श्रम करेंगे, जितना कोई भी अन्य पांच जीवन की वैसी ही अवस्थाओं में करेंगे। अर्थात् ऐसे पांच आदमियों में एक ऐसा होगा, जिसमें एक अच्छे मजदूर के सारे गुण मौजूद होंगे, एक ख़राब मजदूर होगा और बाक़ी तीन पहले और अंतिम मजदूर के बीच के स्तर के होंगे। चुनांचे पांच मजदूरों की छोटी सी टुकड़ी से भी आप वह पूरा काम ले सकेंगे, जो कोई भी पांच आदमी कर सकते हैं।" (E. Burke, *Thoughts and Details on Scarcity*, London, 1800, pp. 15, 16.) औसत व्यक्ति के विषय में केतले से तुलना कीजिये।

स्तर को निर्धारित करने का साधन मौजूद रहता है। फिर भी यह अल्पतम स्तर औसत स्तर से भिन्न है, हालांकि पूंजीपति को श्रम-शक्ति का औसत मूल्य देना पड़ता है। इसलिए ऊपर जिन छः छोटे-छोटे मालिकों का ज़िक्र किया गया था, उनमें से एक बेशी मूल्य की औसत दर से कुछ अधिक और दूसरा उससे कुछ कम चूस पायेगा। पूरे समाज के पैमाने पर तो ये भिन्नताएं एक दूसरी की क्षति-पूर्ति कर देंगी, पर अलग-अलग मालिकों के लिए यह बात नहीं हो पायेगी। इस प्रकार मूल्य के उत्पादन के नियम प्रत्येक अलग-अलग उत्पादक के लिए केवल उसी दशा में पूरी तरह अमल में आते हैं, जब वह पूंजीपति की तरह उत्पादन करता है और बहुत से मज़दूरों से एक साथ काम लेता है, जिनके श्रम पर उसके सामूहिक रूप के कारण तुरंत ही औसत सामाजिक श्रम की छाप लग जाती है।[9]

काम के तरीक़े में यदि कोई परिवर्तन न किया जाये, तो भी अगर बड़ी संख्या में मज़दूरों से एक साथ काम लिया जाता है, तो श्रम-प्रक्रिया की भौतिक परिस्थितियों में क्रांति हो जाती है। ये मज़दूर जिन मकानों में काम करते हैं, वे साथ मिलकर या बारी-बारी से जो कच्चा माल, औज़ार और बर्तन इस्तेमाल करते हैं, कच्चा माल जिन गोदामों में जमा करके रखा जाता है – संक्षेप में कहिये, तो उत्पादन के साधनों का एक भाग अब सामूहिक ढंग से ख़र्च किया जाता है। एक तरफ़ तो उत्पादन के इन साधनों के विनिमय-मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती, क्योंकि किसी पण्य का उपयोग-मूल्य यदि पहले से अधिक पूर्णता तथा उपयोगी ढंग से ख़र्च किया जाये, तो उससे उसका विनिमय-मूल्य नहीं बढ़ जाता। दूसरी ओर, इन साधनों का सामूहिक ढंग से और इसलिए पहले से बड़े पैमाने पर इस्तेमाल होता है। जिस कमरे में एक अकेला बुनकर अपने दो सहायकों के साथ काम करता है, उससे वह कमरा लाज़िमी तौर पर बड़ा होगा, जिसमें बीस बुनकर बीस करघों पर काम करते हैं। लेकिन हर दो बुनकरों के लिए एक कमरे के हिसाब से दस कमरे बनाने की अपेक्षा बीस व्यक्तियों के लिए एक वर्कशाप बनाने में कम श्रम लगता है; चुनांचे उत्पादन के जो साधन बड़े पैमाने पर सामूहिक ढंग से इस्तेमाल होने के लिए एक जगह पर संकेंद्रित कर दिये जाते हैं, उनका मूल्य इन साधनों के विस्तार एवं परिवर्द्धित उपयोगिता के अनुलोम अनुपात में नहीं बढ़ता। जब उनका सामूहिक ढंग से उपयोग किया जाता है, तो वे उत्पाद की प्रत्येक इकाई में अपने मूल्य का पहले से अपेक्षाकृत छोटा भाग स्थानांतरित करते हैं। इसका कुछ हद तक तो यह कारण होता है कि वह कुल मूल्य, जो ये साधन स्थानांतरित करते हैं, अब उत्पाद की पहले से अधिक मात्रा पर फैल जाता है, और कुछ हद तक इसकी यह वजह है कि हालांकि निर-पेक्ष ढंग से देखने पर उत्पादन के अलग-अलग साधनों की अपेक्षा इन साधनों का मूल्य अधिक होता है, परंतु यदि क्रिया में उनके कार्यक्षेत्र की व्यापकता की दृष्टि से देखा जाये, तो उनका मूल्य अपेक्षाकृत कम होता है। इस कारण स्थिर पूंजी के एक भाग का मूल्य गिर जाता है,

---

[9] प्रोफ़ेसर रोशर ने खोज निकालने का दावा किया है कि जब श्रीमती रोशर सीने-पिरोने का काम करनेवाली एक औरत से दो दिन तक काम लेती हैं, तो वह एक दिन तक साथ काम करनेवाली दो औरतों से ज़्यादा काम करती है। विद्वान प्रोफ़ेसर को शिशुगृह में बैठकर, या ऐसी परिस्थितियों में, जहां पर मुख्य पात्र – पूंजीपति – ही अनुपस्थित है, पूंजीवादी उत्पादन-प्रक्रिया का अध्ययन नहीं करना चाहिए। [Roscher, *Die Grundlagen der Nationalökonomie*, Dritte Aufl., Stuttgart und Augsburg, 1858, S. 88-89.]

और जितना अधिक यह मूल्य गिरता है, उसी अनुपात में पण्य का कुल मूल्य भी कम हो जाता है। असर उत्पादन के साधनों की लागत कम हो जाने के समान होता है। इन साधनों के इस्तेमाल में जो बचत होती है, उसका एकमात्र कारण यह है कि मज़दूरों की एक बड़ी संख्या मिलकर उनका उपयोग करती है। इतना ही नहीं, सामाजिक श्रम की एक आवश्यक शर्त होने का ख़ास गुण, जिसके कारण इन साधनों में और अलग-अलग काम करनेवाले स्वतंत्र मज़दूरों या छोटे-छोटे मालिकों के बिखरे हुए तथा अपेक्षाकृत अधिक महंगे उत्पादन के साधनों में एक विशेष अंतर पैदा हो जाता है,–यह गुण उस सूरत में भी इन साधनों में आ जाता है, जब एक जगह पर इकट्ठा बहुत से मज़दूर एक दूसरे की मदद नहीं करते, बल्कि केवल साथ-साथ काम करते हैं। श्रम के औज़ारों का एक भाग ख़ुद श्रम-प्रक्रिया के पहले ही यह सामाजिक स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

उत्पादन के साधनों के उपयोग में जो मितव्ययिता बरती जाती है, उसपर दो पहलुओं से विचार करना ज़रूरी है। एक तो यह कि उससे पण्य सस्ते हो जाते हैं और इस तरह श्रम-शक्ति का मूल्य गिर जाता है। दूसरे यह कि उससे व्यवसाय में लगायी गयी कुल पूंजी के साथ, यानी स्थिर और परिवर्ती पूंजी के मूल्यों के जोड़ के साथ, बेशी मूल्य का अनुपात बदल जाता है। जब तक हम तीसरी पुस्तक पर नहीं पहुंचते, तब तक हम इस दूसरे पहलू पर विचार नहीं करेंगे। वर्तमान प्रश्न से संबंधित बहुत सी अन्य बातों को भी हम उसी पुस्तक के लिए छोड़े दे रहे हैं, ताकि वहां पर सही संदर्भ में उनपर विचार कर सकें। हमारा विश्लेषण जिस प्रकार आगे बढ़ रहा है, वह हमें विषय-वस्तु को इस तरह बांट देने के लिए मजबूर कर रहा है, और इस तरह का बंटवारा पूंजीवादी उत्पादन की भावना के सर्वथा अनुरूप है। कारण कि उत्पादन की इस प्रणाली में चूंकि मज़दूर को श्रम के औज़ार अपने से स्वतंत्र, किसी और व्यक्ति की संपत्ति के रूप में विद्यमान मिलते हैं, इसलिए जहां तक इस मज़दूर का संबंध है, इन औज़ारों के उपयोग में जो मितव्ययिता बरती जाती है, वह एक अलग क्रिया होती है, जिसका उससे कोई ताल्लुक़ नहीं होता और इसलिए जिसका मज़दूर की अपनी व्यक्तिगत उत्पादिता को बढ़ाने के तरीक़ों से भी कोई संबंध नहीं होता।

जब बहुत से मज़दूर इकट्ठा साथ-साथ काम करते हैं, तब वे सब चाहे एक ही प्रक्रिया में या अलग-अलग, परंतु संबंधित प्रक्रियाओं में भाग क्यों न लेते हों, कहा जाता है कि ये लोग सहकारी हैं, या सहकारी ढंग से काम कर रहे हैं।[10]

जिस प्रकार घुड़सवार सेना के एक दस्ते की आक्रमण-शक्ति या पैदल सेना की एक रेजिमेंट की प्रतिरक्षा-शक्ति अलग-अलग घुड़सवार या पैदल सैनिकों की आक्रमण अथवा प्रतिरक्षा-शक्तियों के जोड़ से बुनियादी तौर पर भिन्न होती है, उसी प्रकार अलग-अलग काम करनेवाले मज़दूरों की यांत्रिक शक्तियों का कुल जोड़ उस सामाजिक शक्ति से बिल्कुल भिन्न होता है, जो उस समय पैदा होती है, जब बहुत से मज़दूर एक ही अविभाजित क्रिया में, जैसे

---

[10] "Concours des forces" ["शक्तियों का संगम"], (Destutt de Tracy, *Traite de la Volonte et de ses Effets*, Paris, 1826, p. 80.)

कि भारी बोझ उठाने, पहिया घुमाने या कोई रुकावट हटाने में एक साथ हिस्सा लेते हैं।[11] ऐसी सूरतों में मिल-जलकर किये गये श्रम का जो परिणाम होता है, वह अलग-अलग व्यक्तियों के श्रम से या तो क़तई नहीं पैदा किया जा सकता, या केवल अत्यधिक समय ख़र्च करके या महज़ बहुत ही तुच्छ पैमाने पर पैदा किया जा सकता है। यहां पर सहकारिता के द्वारा न केवल व्यक्ति की उत्पादक शक्ति में वृद्धि हो जाती है, बल्कि एक नयी शक्ति का – अर्थात् जनता की सामूहिक शक्ति का – जन्म हो जाता है।[11a]

बहुत सी शक्तियों के मिलाप से जो एक नयी ताक़त पैदा होती है, उसके अलावा अधिकतर उद्योगों में महज़ सामाजिक संपर्क ही एक ऐसी होड़ पैदा कर देता है और जीवनीय ऊर्जा को इतना बढ़ा देता है कि हर मज़दूर की व्यक्तिगत कार्य-कुशलता पहले से बढ़ जाती है। यही कारण है कि १२ घंटे तक अलग-अलग काम करनेवाले बारह आदमियों या लगातार बारह दिन तक काम करनेवाले एक आदमी के मुक़ाबले में साथ मिलकर काम करनेवाले एक दर्जन व्यक्ति १४४ घंटे के अपने सामूहिक काम के दिन में कहीं ज्यादा उत्पाद पैदा करेंगे।[12] इसका कारण यह है कि मनुष्य यदि राजनीतिक पशु नहीं है, जैसा कि अरस्तू का मत है,[13] तो वह सामाजिक पशु तो हर हालत में है।

---

[11] "अनेक क्रियाएं इतने सरल ढंग की हैं कि उनको भागों में बांटना असंभव होता है, परंतु उनको कई जोड़ी हाथों के सहकार के बिना संपन्न नहीं किया जा सकता। किसी बड़े पेड़ को उठाकर गाड़ी पर लादना इसकी एक मिसाल है... संक्षेप में, हर वह काम इसी मद में आता है, जिसे उस वक़्त तक नहीं किया जा सकता, जब तक कि कई जोड़ी हाथ एक ही समय पर और एक ही अविभाजित काम में एक दूसरे की मदद न करें।" (E. G. Wakefield, *A View of the Art of Colonisation*, London, 1849, p. 168.)

[11a] "एक टन वज़न एक आदमी नहीं उठा सकता, उसके लिए दस आदमियों को ज़ोर लगाना होगा। परंतु यदि १०० आदमी हों, तो वे केवल एक-एक उंगली के ज़ोर से उसे उठा सकते हैं।" (John Bellers, *Proposals for Raising a College of Industry*, London, 1696, p. 21.)

[12] जब दस काश्तकारों के द्वारा ३० एकड़ के एक-एक खेत पर काम करने के लिए रखे जाने के बजाय उतने ही मज़दूर केवल एक काश्तकार के द्वारा ३०० एकड़ के खेत पर काम करने के लिए रखे जाते हैं, तब "नौकरों के अनुपात से भी एक लाभ होता है, जिसे व्यावहारिक व्यक्तियों के अलावा कोई और आसानी से नहीं समझ सकता। क्योंकि आम तौर पर यह कहा जाता है कि जो १ और ४ का अनुपात है, वही ३ और १२ का है, पर व्यवहार में ऐसा नहीं होता। कारण कि फ़सल काटने के समय और अनेक अन्य क्रियाओं में, जिनको बहुत से मज़दूरों को एक साथ काम में लगाकर जल्दी से पूरा कर डालना आवश्यक होता है, इस तरह ज्यादा अच्छा और ज्यादा तेज़ काम होता है। मिसाल के लिए, यदि फ़सल काटने के समय २ ड्राइवर, २ लादनेवाले, २ जेली से भूसा उठानेवाले, २ समेटनेवाले और बाक़ी लोग या तो ग़ल्ले के ढेर पर या खलिहान में काम करें, तो मज़दूरों की इतनी ही बड़ी संख्या अलग-अलग जत्थों में बंटकर अलग-अलग खेतों पर जितना काम करेगी, ये उसका दुगुना काम कर डालेंगे।" (*An Inquiry into the Connexion Between the Present Price of Provisions and the Size of Farms. By a Farmer*, London, 1773, pp. 7, 8.)

[13] यदि बिल्कुल सही-सही कहा जाये, तो अरस्तू की परिभाषा यह है कि मनुष्य स्वभाव से ही शहरी नागरिक होता है। प्राचीन काल के समाज के लिए यह उतनी ही लाक्षणिक परिभाषा है, जितनी यांकी समाज के लिए फ़्रैंकलिन की यह परिभाषा थी कि मनुष्य औज़ार बनानेवाला पशु है।

यह हो सकता है कि बहुत से आदमी एक वक़्त में एक ही काम में या एक तरह के काम में लगे हों, मगर फिर भी उनमें से हरेक का श्रम सामूहिक श्रम के एक भाग के रूप में श्रम-प्रक्रिया की एक विशिष्ट अवस्था के अनुरूप हो और सहकारिता के फलस्वरूप उनके श्रम का विषय अपेक्षाकृत अधिक तेज़ रफ़्तार के साथ श्रम-प्रक्रिया की सभी अवस्थाओं में से गुज़र जाता हो। मिसाल के लिए, यदि एक दर्जन मज़दूर सीढ़ी पर एक पंक्ति में खड़े होकर पत्थर नीचे से पहुंचाते हैं, तो उनमें से हरेक एक सा ही काम करता है, मगर फिर भी उन सबके अलग-अलग काम एक पूर्ण क्रिया के संबद्ध भाग बन जाते हैं। ये एक पूर्ण क्रिया की विशिष्ट अवस्थाएं होती हैं, जिनमें से हर पत्थर को गुज़रना पड़ता है। और इसकी अपेक्षा कि हर आदमी अलग-अलग पत्थर उठाकर सीढ़ी पर चढ़ता, एक पंक्ति में खड़े हुए आदमियों के २४ हाथों द्वारा पत्थर कहीं ज्यादा जल्दी ऊपर पहुंच जाते हैं।[14] इस प्रकार चीज़ को उतने ही फ़ासले तक अपेक्षाकृत कम समय में पहुंचाया जाता है। फिर, मिसाल के लिए, जब कभी मकान बनाने के लिए कई तरफ़ से एक साथ काम शुरू कर दिया जाता है, तब श्रम का समेकन हो जाता है, हालांकि यहां भी सहकार करनेवाले राज एक ही या एक सा ही काम करते हैं। एक राज १२ दिन तक, या १४४ घंटे तक, काम करके मकान बनाने में जितनी प्रगति करता, १२ राज १४४ घंटे के अपने सामूहिक काम के दिन में उससे कहीं अधिक प्रगति करने में सफल होते हैं। इसका कारण यह है कि जब बहुत से आदमी साथ मिलकर काम करते हैं, तब मानो उनके समूह के आगे और पीछे दोनों तरफ़ हाथ और आंखें लग जाती हैं और कुछ हद तक वह समूह सर्वव्यापी हो जाता है। काम के विभिन्न भाग एक साथ प्रगति करने लगते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों में हमने इस बात पर ज़ोर दिया है कि लोग एक ही या एक तरह का ही काम कर रहे हैं। यह इसलिए कि सामूहिक श्रम का यह सबसे सरल रूप सहकारिता में और यहां तक कि उसकी संपूर्णतया विकसित अवस्था में भी बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है। यदि काम पेचीदा ढंग का हो, तो महज़ अनेक मज़दूरों की सहकारिता से यह संभव हो जाता है कि अलग-अलग क्रियाएं अलग-अलग आदमियों को सौंप दी जायें, ताकि वे सब एक साथ संपन्न होती रहें। इस प्रकार पूरे काम को समाप्त करने के लिए पहले से कम समय ज़रूरी होता है।[15]

---

[14] "इसके अलावा यह भी कहना चाहिए कि ऐसा आंशिक श्रम-विभाजन इस सूरत में भी हो सकता है, जब सारे मज़दूर एक ही काम को संपन्न कर रहे हों। हम ईंटें ले जानेवाले मज़दूरों का उदाहरण ले सकते हैं। ईंटों को एक हाथ से दूसरे हाथ में देकर ऊंचे मचानों पर पहुंचाते हुए ये लोग एक ही प्रकार का काम करते हैं। फिर भी इनके बीच कुछ हद तक श्रम-विभाजन होता है। यह श्रम-विभाजन इस बात में निहित है कि उन मज़दूरों में से हरेक एक निश्चित फ़ासले तक ईंट पहुंचाता है और वे सब मिलकर एक ही ईंट को मचान पर उस स्थिति की तुलना में, यदि उनमें से हरेक स्वतंत्र रूप से काम करे, अधिक तेज़ रफ़्तार से पहुंचाते हैं।" (F. Skarbek. *Théorie des richesses sociales*, 2éme éd., Paris, 1839, t. I, pp. 97, 98.)

[15] "यदि कोई पेचीदा ढंग का काम करना है, तो एक ही समय में कई चीज़ें करनी होंगी। जब तक एक आदमी एक चीज़ करता है, तब तक दूसरा आदमी दूसरी चीज़ कर डालता है, और सब मिलकर ऐसा असर पैदा करते हैं, जो एक अकेला व्यक्ति कभी नहीं पैदा कर सकता

बहुत से उद्योगों में श्रम-प्रक्रिया के स्वरूप से निर्धारित कुछ ऐसे नाज़ुक क्षण आते हैं, जब कुछ ख़ास नतीजे हासिल करना जरूरी होता है। मिसाल के लिए, यदि भेड़ों के किसी रेवड़ के बाल उतारने हैं या गेहूं का खेत काटकर फ़सल इकट्ठी करनी है तो उत्पाद की मात्रा और गुण इस बात पर निर्भर करेंगे कि काम एक ख़ास समय पर शुरू करके एक निश्चित अवधि में ख़त्म कर दिया जाता है या नहीं। ऐसी सूरत में यह पहले से तय होता है कि काम कितने समय में पूरा हो जाना चाहिए, जैसा कि हेरिंग मछली पकड़ने के बारे में होता है। एक अकेला आदमी तो, मान लीजिये, १२ घंटे से ज्यादा बड़ा काम का दिन प्राकृतिक दिन में से नहीं निकाल सकता, मगर काम करनेवाले १०० आदमी काम के दिन को १,२०० घंटे तक बढ़ा सकते हैं। काम को बहुत थोड़े समय में पूरा कर देना आवश्यक है, लेकिन निर्णायक क्षण आने पर बहुत सारा श्रम एक साथ उत्पादन के क्षेत्र में लगा देने से समय की इस कमी को पूरा किया जा सकता है। काम सही समय पर पूरा हो जाता है – यह काम के अनेक संयुक्त दिनों के एक साथ उपयोग पर निर्भर करता है। काम कितना कारगर होगा, यह मजदूरों की संख्या पर निर्भर करता है। परंतु यदि अलग-अलग काम करनेवाले मजदूरों से इतना ही काम इतने ही समय में कराया जाये, तो जितने मजदूरों की आवश्यकता होगी, उससे यह संख्या हमेशा कम होगी।[16] इस प्रकार की सहकारिता के अभाव का ही यह नतीजा है कि संयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी भाग में बहुत सारा अनाज और भारत के उन हिस्सों में, जहां अंग्रेज़ी शासन ने पुराने ग्राम-समुदायों को नष्ट कर दिया है, बहुत सारी कपास हर साल बरबाद हो जाती है।[17]

सहकारिता के कारण एक ओर तो अधिक विस्तृत क्षेत्र में काम करना संभव होता है, जिसके फलस्वरूप कुछ ख़ास तरह के कामों में सहकारिता नितांत आवश्यक हो जाती है, जैसे पानी के निकास का बंदोबस्त करने में, बांध बनाने में, सिंचाई का प्रबंध करने में और नहरें

है। एक आदमी नाव खेता है, दूसरा पतवार संभालता है, तीसरा जाल डालता है या मछली को फंसाता है – और मछली पकड़ने का यह संयुक्त उद्योग जितना सफल होता है, उतना संभवतया शक्तियों के इस मिलाप के अभाव में वह कभी नहीं हो सकता था।" (Destutt de Tracy, l. c., p. 78.)

[16] "इस काम को (खेती के काम को) नाज़ुक क्षण में पूरा कर देने से उतना ही अधिक लाभ होता है।" (*An Inquiry into Connexion Between the Present Price of Provisions and the Size of Farms. By a Farmer*, p. 9.) "खेती में समय से अधिक महत्त्वपूर्ण और कोई चीज नहीं होती।" (Liebig, *Ueber Theorie und Praxis in der Landwirtschaft*, 1856, S. 23.)

[17] "अगली बुराई वह है, जिसको हमें एक ऐसे देश में पाने की बहुत ही कम आशा हो सकती है, जो संभवतया चीन और इंगलैंड के सिवा दुनिया के और किसी भी देश से अधिक श्रम का निर्यात करता है। वह बुराई यह है कि यहां कपास चुनने के लिए पर्याप्त संख्या में मजदूर पाना असंभव है। इसका नतीजा यह है कि बड़े भारी परिमाण में फ़सल बिना चुनी रह जाती है, और एक हिस्सा ज़मीन से उठाया जाता है, जो नीचे गिरकर बदरंग हो जाता है और कुछ हद तक सड़ जाता है। यानी मौसम के वक़्त पर्याप्त श्रम न मिलने के कारण काश्तकार को असल में उस फ़सल के एक बड़े हिस्से से हाथ धोने पड़ते हैं, जिसकी इंगलैंड इतनी व्यग्रता के साथ प्रतीक्षा कर रहा है।" (*Bengal Hurkaru.* Bi-Monthly Overland Summary of News, 22nd July 1861.)

तथा सड़कें बनाने और रेलें बिछाने में। दूसरी ओर, सहकारिता से उत्पादन का पैमाना बढ़ाने के साथ-साथ उसके क्षेत्र को अपेक्षाकृत कम करना संभव हो जाता है। उत्पादन के पैमाने को बढ़ाने के साथ-साथ तथा उसके फलस्वरूप उसके क्षेत्र को कम कर देने से बहुत सा अनुपयोगी ख़र्च बच जाता है। यह संभव इसलिए होता है कि बहुत से मज़दूर एक जगह इकट्ठा कर दिये जाते हैं, अनेक क्रियाएं एक साथ संपन्न हो जाती हैं और उत्पादन के साधन एक जगह संकेंद्रित कर दिये जाते हैं।[18]

अलग-अलग काम करनेवाले मज़दूरों के काम के दिनों के जोड़ की अपेक्षा काम का एक संयुक्त दिन अधिक मात्रा में उपयोग-मूल्यों को पैदा करता है, और इसलिए वह किसी भी ख़ास तरह के उपयोगी प्रभाव के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल को कम कर देता है। काम का संयुक्त दिन किसी कार्य विशेष में यह बढ़ी हुई उत्पादक शक्ति चाहे इसलिए प्राप्त कर ले कि वह श्रम की यांत्रिक शक्ति को बढ़ा देता है, या इसलिए कि वह उसके कार्यक्षेत्र का विस्तार कर देता है, या इसलिए कि वह उत्पादन के पैमाने की तुलना में उसके क्षेत्र को कम कर देता है, या इसलिए कि वह नाज़ुक क्षण आने पर बहुत सारा श्रम काम में लगा देता है, या इसलिए कि वह व्यक्तियों के बीच होड़ की भावना को जगा देता है तथा उनकी जीवनीय ऊर्जा को बढ़ा देता है, या इसलिए कि वह अनेक मनुष्यों द्वारा की जानेवाली एक तरह की क्रियाओं पर निरंतरता और बहुरूपता की छाप अंकित कर देता है, या इसलिए कि वह विभिन्न क्रियाओं को एक साथ संपन्न करता है, या इसलिए कि वह उत्पादन के साधनों का सामूहिक उपयोग करके उनका मितव्ययिता के साथ ख़र्च करता है, या इसलिए कि वह व्यक्तिगत श्रम को औसत सामाजिक श्रम का स्वरूप दे देता है – उत्पादक शक्ति की वृद्धि का इनमें से कोई भी कारण हो, काम के संयुक्त दिन की विशिष्ट उत्पादक शक्ति हर हालत में श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति, अथवा सामाजिक श्रम की उत्पादक शक्ति, होती है। यह शक्ति स्वयं सहकारिता के कारण उत्पन्न होती है। जब मज़दूर सुनियोजित ढंग से दूसरों के साथ सहकार करता है, तब वह अपने व्यक्तित्व की बेड़ियों को उतारकर फेंक देता है और अपनी नसल की क्षमताओं को विकसित करने में सफल होता है।[19]

एक सामान्य नियम के रूप में, मज़दूर उस वक़्त तक सहकार नहीं कर सकते, जब तक कि उनको इकट्ठा नहीं कर दिया जाता। उनका एक स्थान पर एकत्रित होना उनकी सहकारिता

---

[18]कृषि की प्रगति का यह परिणाम हुआ है कि "जो पूंजी और श्रम पहले ५०० एकड़ में बिखरे रहते थे, वे तमाम और शायद उससे भी ज्यादा अब १०० एकड़ की ज्यादा अच्छी तरह जोताई करने के लिए संकेंद्रित कर दिये जाते हैं।" यद्यपि "जितनी पूंजी और जितने श्रम से काम लिया जाता है, उनकी मात्रा को देखते हुए स्थान छोटा होता है, परंतु पहले एक अकेला स्वतंत्र उत्पादनकर्त्ता उत्पादन के जिस क्षेत्र का स्वामी होता था या वह जिस क्षेत्र पर काम करता था, उसकी तुलना में उत्पादन का क्षेत्र बड़ा हो जाता है।" (R. Jones, *An Essay on the Distribution of Wealth*, Part I. *On Rent*. London, 1831, p. 191.)

[19]"प्रत्येक मनुष्य की शक्तियां नगण्य हैं, लेकिन इन नन्ही-नन्ही शक्तियों के संयोजन से जो फल मिलता है, वह इन्हीं शक्तियों के केवल अंकगणित के ढंग के योग से बहुत बड़ा होता है; इसी कारण जब शक्तियां संयुक्त हो जाती हैं, तब वे अपना काम पहले से कम समय में करने लगती हैं और उसका प्रभाव अधिक व्यापक हो जाता है।" (P. Verry की रचना *Meditazioni sulla Economia Politica* पर जी० आर० कार्ली की एक टिप्पणी, देखिये *Scrittori Classici Italiani di Economia Politica*. Parte Moderna, t. XV, p. 196.)

की श्रावश्यक शर्त होता है। इसलिए मजदूरी पर काम करनेवाले मज़दूर उस समय तक सहकार नहीं कर सकते, जब तक कि उनसे एक ही पूंजी, एक ही पूंजीपति साथ-साथ काम नहीं लेता, इसलिए जब तक कि वह उनकी श्रम-शक्तियों को एक साथ नहीं ख़रीद लेता। उत्पादन की प्रक्रिया के लिए मजदूरों के एक जगह पर इकट्ठा होने के पहले यह जरूरी है कि एक दिन का या एक सप्ताह का, जैसी कि श्रावश्यकता हो, इन श्रम-शक्तियों का मूल्य, या इन मज-दूरों की मजदूरी, पूंजीपति की जेब में मौजूद हो। चाहे एक दिन के लिए ही सही, पर ३०० मज़दूरों को एक साथ मज़दूरी देने के लिए जो पूंजी लगानी पड़ती है, वह उससे कहीं अधिक होती है, जो मजदूरों की अपेक्षाकृत कम संख्या को पूरे साल भर प्रति सप्ताह मज़दूरी देने के लिए आवश्यक होती है। इसलिए सहकार करनेवाले मज़दूरों की संख्या अथवा सहकारिता का पैमाना सबसे पहले इस बात पर निर्भर करता है कि कोई ख़ास पूंजीपति श्रम-शक्ति ख़रीद-ने पर कितनी पूंजी ख़र्च कर सकता है, या, दूसरे शब्दों में, किसी ख़ास पूंजीपति का कितने मज़दूरों के जीवन-निर्वाह के साधनों पर अधिकार है।

और जो बात परिवर्ती पूंजी के लिए सच है, वही स्थिर पूंजी के लिए भी सच है। मिसाल के लिए, १०-१० व्यक्तियों से काम लेनेवाले ३० पूंजीपतियों में से हरेक कच्चे माल पर जित-ना ख़र्च करता है, ३०० व्यक्तियों से काम लेनेवाले एक पूंजीपति को कच्चे माल पर उसका तीसगुना ख़र्च करना पड़ेगा। यह सच है कि सामूहिक ढंग से उपयोग में आनेवाले श्रम के औज़ारों का मूल्य तथा परिमाण उसी रफ़्तार से नहीं बढ़ते, जिस रफ़्तार से मजदूरों की तादाद बढ़ती है, मगर फिर भी वे काफ़ी बढ़ जाते हैं। इसलिए अलग-अलग पूंजीपतियों के हाथों में उत्पादन के बहुत सारे साधनों का केंद्रीभूत हो जाना मज़दूरी पर काम करनेवाले मजदूरों की सहकारिता की एक आवश्यक भौतिक शर्त है, और सहकारिता का विस्तार अथवा उत्पादन का पैमाना इस केंद्रीकरण के विस्तार पर निर्भर करता है।

इसके पहले हम एक अध्याय में यह देख चुके हैं कि केवल पूंजी की एक ख़ास अल्पतम मात्रा के होने पर ही यह संभव होता है कि मज़दूरों की जिस संख्या से काम लिया जा रहा है और इसलिए जो बेशी मूल्य पैदा होता है, वह इसके लिए पर्याप्त हो कि मालिक ख़ुद शारी-रिक श्रम करने से मुक्त हो जाये, अपने को छोटे मालिक से पूंजीपति में बदल डाले और इस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन बाक़ायदा क़ायम हो जाये। अब हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि पूंजी की एक ख़ास अल्पतम मात्रा की उपस्थिति बहुत सी अलग-अलग चलनेवाली स्वतंत्र प्रक्रियाओं के एक संयुक्त सामाजिक प्रक्रिया में परिणत हो जाने की भी एक आवश्यक शर्त है।

हमने यह भी देखा था कि शुरू में श्रम का पूंजी के अधीन होना केवल इस बात का एक रस्मी नतीजा था कि मज़दूर ख़ुद अपने लिए काम करने के बजाय पूंजीपति के लिए और इस कारण पूंजीपति के मातहत काम करने लगा था। पर मज़दूरी पर काम करनेवाले बहुत से मज़दूरों के सहकार से पूंजी का प्रभुत्व ख़ुद श्रम-प्रक्रिया के संपन्न होने की आवश्यक शर्त बन जाता है — वह उत्पादन की आवश्यक शर्त बन जाता है। अब उत्पादन के क्षेत्र में पूंजीपति का शासन रणक्षेत्र में सेनापति के शासन के समान ही अनिवार्य हो जाता है।

बड़े पैमाने के संयुक्त श्रम को एक ऐसे संचालनकर्त्ता अधिकारी की न्यूनाधिक आवश्यकता रहती है, जो अलग-अलग व्यक्तियों की कार्रवाइयों के बीच तालमेल बैठा सके और उन सामान्य कामों को कर सके, जिनका करना संयुक्त संघटन के उस कार्य के कारण आवश्यक

हो जाता है, जो इस संयुक्त संघटन के अलग-अलग अंगों के कार्य से बिल्कुल भिन्न होता है। अकेला वायोलिनवादक ख़ुद अपना संचालक होता है, परंतु वाद्यवृंद के लिए अलग से एक संचालक की आवश्यकता होती है। जिस क्षण से पूंजी के नियंत्रण में काम करनेवाला श्रम सहकारी श्रम बन जाता है, उसी क्षण से संचालन करने, देखरेख रखने तथा तालमेल बैठाने का काम पूंजी का कार्य बन जाता है। एक बार पूंजी का कार्य बन जाने पर उसमें कुछ ख़ास विशेषताएं पैदा हो जाती हैं।

पूंजीवादी उत्पादन का मुख्य प्रयोजन, उसका लक्ष्य एवं उद्देश्य अधिक से अधिक मात्रा में बेशी मूल्य निचोड़ना[20] और इसलिए श्रम-शक्ति का अधिकतम शोषण करना होता है। जैसे-जैसे सहकार करनेवाले मज़दूरों की संख्या बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे पूंजी के प्रभुत्व के विरुद्ध उनका प्रतिरोध और उसके साथ-साथ पूंजी के लिए इस प्रतिरोध पर बलपूर्वक क़ाबू पाने की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। श्रम पर पूंजीपति का नियंत्रण न केवल सामाजिक श्रम-प्रक्रिया से उत्पन्न एक विशिष्ट कार्य है, जो इस प्रक्रिया की एक ख़ास विशेषता है, बल्कि इसके साथ ही वह सामाजिक श्रम-प्रक्रिया के शोषण से जुड़ा हुआ एक ख़ास कार्य है, और इसलिए उसकी जड़ें शोषक तथा उस जीवंत एवं श्रमरत कच्चे माल के अनिवार्य विरोध में पायी जाती हैं, जिसका वह शोषण करता है। फिर जिस अनुपात में उत्पादन के उन साधनों की राशि बढ़ती जाती है, जो अब मज़दूर की संपत्ति नहीं हैं, बल्कि पूंजीपति की संपत्ति बन गये हैं, उसी अनुपात में इन साधनों के समुचित प्रयोग पर किसी तरह का सफल नियंत्रण रखने की आवश्यकता बढ़ती जाती है।[21] इसके अलावा मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों की सहकारिता को समूचे तौर पर वह पूंजी जन्म देती है, जो उनको नौकर रखती है। उनका एक संयुक्त उत्पादक संस्था में मिल जाना और उनके व्यक्तिगत कामों के बीच संबंध का स्थापित हो जाना – ये मज़दूरों के लिए बाहरी और परायी बातें हैं, ये बातें ख़ुद मज़दूरों के कामों का नतीजा नहीं हैं, बल्कि उस पूंजीपति के काम का नतीजा हैं, जिसने उनको एक जगह लाकर इकट्ठा किया है और जो उनको एक जगह इकट्ठा रखता है। इसलिए मज़दूरों के विविध प्रकार के श्रम के बीच जो संबंध होता है, वह उनके सामने भावगत रूप से पूंजीपति की एक पहले से सोची हुई योजना के रूप में प्रकट होता है, और व्यवहार में वह सबपर एक ही पूंजीपति के प्राधिकार के रूप में, एक अन्य व्यक्ति की शक्तिशाली इच्छा के रूप में उनके सामने आता है, जो उनकी क्रियाशीलता को अपने उद्देश्य के अधीन बना लेता है। इस-

---

[20] "मुनाफ़ा... व्यवसाय का एकमात्र लक्ष्य होता है।" (J. Vanderlint, l.c., p. 11.)

[21] सिद्धांतविहीन कूपमंडूक पत्र *Spectator* ने लिखा है कि मैंचेस्टर की वायरवर्क कंपनी में पूंजीपति और मज़दूरों के बीच एक तरह की साझेदारी क़ायम हो जाने के बाद "पहला नतीजा यह हुआ कि सामान का ज़ाया किया जाना यकायक कम हो गया, क्योंकि किसी भी अन्य मालिक की तरह मज़दूर यह सोचने लगे कि अपनी संपत्ति को ख़ुद क्यों ज़ाया करें। और डूब जानेवाले ऋण के बाद शायद सामान के ज़ाया होने से ही कारख़ानेदारों को सबसे ज़्यादा नुक़सान होता है।" (*Spectator*, २६ मई १८६६)। इसी अख़बार की राय में रोचडेल में होनेवाले सहकारी प्रयोगों का मुख्य दोष यह है कि "उनसे यह प्रमाणित हुआ है कि मज़दूरों की संस्थाएं कारख़ानों, मिलों और उद्योग के लगभग सभी रूपों का सफलता के साथ प्रबंध कर सकती हैं, और साथ ही उनसे मज़दूरों की दशा में तुरत सुधार हो गया, लेकिन उन्होंने मालिकों के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा।" Quelle horreur! [कितनी भयानक बात है!]

लिए स्वयं उत्पादन की प्रक्रिया के दोहरे स्वरूप के कारण, जो कि एक ग्रोर तो उपयोग-मूल्यों को पैदा करने की सामाजिक प्रक्रिया होती है ग्रौर दूसरी ग्रोर, बेशी मूल्य का सृजन करने की प्रक्रिया होती है, पूंजीपति का नियंत्रण भी ग्रपने सारतत्त्व में दोहरे प्रकार का होता है। इस नियंत्रण का रूप निरंकुश होता है। जैसे-जैसे सहकारिता का पैमाना बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे यह निरंकुशता ग्रपने विशिष्ट ग्रनोखे रूप धारण करती जाती है। जिस प्रकार शुरू में जैसे ही पूंजीपति की पूंजी उस ग्रल्पतम मात्रा के स्तर पर पहुंच जाती है, जिसपर पूंजीवादी उत्पादन बाक़ायदा ग्रारंभ हो जाता है, वैसे ही ख़ुद पूंजीपति सचमुच श्रम करने की ग्रावश्यकता से मुक्त हो जाता है ग्रौर उसी प्रकार ग्रब वह ग्रलग-ग्रलग मज़दूरों तथा मज़दूरों के दलों पर सीधे ग्रौर लगातार निगाह रखने का काम एक ख़ास तरह के वेतनभोगी कर्मचारियों को सौंप देता है। पूंजीपति की कमान में चलनेवाली मज़दूरों की ग्रौद्योगिक सेना को भी वास्तविक सेना की भांति ग्रफ़सरों (मैनेजरों) ग्रौर जमादारों (फ़ोरमैनों, निरीक्षकों, ग्रादि) की ग्रावश्यकता पड़ती है, जो काम के दौरान पूंजीपति की तरफ़ से इस सेना को ग्रादेश दिया करते हैं। मज़दूरों पर निगरानी रखना इन लोगों का जाना-माना ग्रौर एकमात्र काम बन जाता है। कोई ग्रर्थशास्त्री जब ग्रलग-ग्रलग काम करनेवाले किसानों ग्रौर दस्तकारों की उत्पादन-प्रणाली का दासों के श्रम से चलनेवाले उत्पादन से मुक़ाबला करता है, तो निगरानी रखने के इस श्रम की गिनती वह उत्पादन के faux frais [ग्रनुत्पादक ख़र्च] में करता है।[21a] लेकिन जब वही ग्रर्थशास्त्री उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली पर विचार करने बैठता है, तब वह इसके विपरीत श्रम-प्रक्रिया के सहकारी स्वरूप के कारण जो नियंत्रण रखने का कार्य ग्रावश्यक हो गया है, उसे नियंत्रण रखने के उस बिल्कुल भिन्न कार्य के साथ मिला देता है, जो श्रम-प्रक्रिया के पूंजीवादी स्वरूप तथा पूंजीपति ग्रौर मज़दूर के बीच पाये जानेवाले विरोध के कारण ज़रूरी हो जाता है।[22] कोई ग्रादमी इसलिए पूंजीपति नहीं होता कि वह उद्योग का नेता है, इसके विपरीत वह उद्योग का नेता इसलिए होता है कि वह पूंजीपति है। उद्योग का नेतृत्व करना पूंजी का गुण है, जिस प्रकार सामंती काल में सेनापति ग्रौर न्यायाधीश का काम करना भू-संपत्ति के गुण थे।[22a]

[21a]प्रोफ़ेसर केर्न्स ने यह कहने के बाद कि उत्तरी ग्रमरीका के दक्षिणी राज्यों में दासों के ज़रिये होनेवाले उत्पादन की यह एक ख़ास विशेषता है कि "मज़दूरों पर निगरानी" रखनी पड़ती है, ग्रागे यह कहा है कि "(उत्तर का) भूस्वामी किसान क्योंकि ग्रपनी मेहनत की पूरी पैदावार का ख़ुद मालिक होता है, इसलिए उसे परिश्रम करने के लिए किसी ग्रौर प्रेरणा की ग्रावश्यकता नहीं होती। यहां निगरानी रखने की क़तई ज़रूरत नहीं होती।" (Cairnes, l. c., pp. 48, 49.)

[22]सर जेम्स स्टुग्रर्ट एक ऐसे लेखक हैं, जिनमें उत्पादन की विभिन्न प्रणालियों के बीच पाये जानेवाले विशिष्ट सामाजिक भेदों को पहचानने की विलक्षण क्षमता है। उन्होंने लिखा है: "कारख़ानों के क्षेत्र में बड़े पैमाने के व्यवसाय निजी उद्योग को जो चौपट कर देते हैं, उसका इसके सिवा ग्रौर क्या कारण है कि वे ग़ुलामों की सरलता के ग्रधिक नज़दीक पहुंच जाते हैं?" (*Principles of Political Economy*, London, 1767, Vol. I, pp. 167, 168.)

[22a]इसलिए ग्रागस्त कोंत ग्रौर उनके मत के लोगों ने जिस तरह यह प्रमाणित कर दिया है कि पूंजी के स्वामियों की संसार को सदा ग्रावश्यकता बनी रहेगी, उसी प्रकार वे यह भी प्रमाणित कर सकते थे कि सामंती प्रभुग्रों का होना एक शाश्वत ग्रावश्यकता है।

मज़दूर उस वक़्त तक अपनी श्रम-शक्ति का स्वामी रहता है, जब तक कि वह पूंजीपति के हाथों उसकी बिक्री का सौदा तय नहीं कर देता। और उसके पास जो कुछ है, अर्थात् उसकी व्यक्तिगत, पृथक श्रम-शक्ति, उससे अधिक वह कुछ नहीं बेच सकता। इस स्थिति में इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता कि पूंजीपति एक आदमी की श्रम-शक्ति ख़रीदने के बजाय १०० आदमियों की श्रम-शक्ति ख़रीदता है और एक आदमी से क़रार करने के बजाय १०० असंबद्ध व्यक्तियों से अलग-अलग क़रार करता है। उसे इस बात का अधिकार है कि वह १०० व्यक्तियों को काम पर लगाये और उन्हें सहकारी न बनने दे। वह उन्हें १०० स्वतंत्र श्रम-शक्तियों का मूल्य तो दे देता है, पर वह उन्हें सौ व्यक्तियों की संयुक्त श्रम-शक्ति का मूल्य नहीं देता। एक दूसरे से स्वतंत्र होने के कारण सब मज़दूर अलग-अलग व्यक्ति मात्र होते हैं, जो पूंजीपति के साथ तो संबंध क़ायम करते हैं, पर आपस में नहीं करते। यह सहकारिता केवल श्रम-प्रक्रिया के साथ आरंभ होती है, लेकिन तब तक उनका अपने ऊपर कोई अधिकार नहीं रह जाता। उस प्रक्रिया में प्रवेश करने के बाद वे पूंजी में समाविष्ट हो जाते हैं। सहकार करनेवालों के रूप में, एक कार्यरत संघटन के सदस्यों के रूप में, वे पूंजी के अस्तित्व के विशिष्ट रूप मात्र होते हैं। इसलिए सहकारिता में काम करते हुए मज़दूर अपने में जिस उत्पादक शक्ति का विकास करता है, वह पूंजी की उत्पादक शक्ति होती है। जब कभी मज़दूरों को कुछ ख़ास परिस्थितियों में काम करना पड़ता है, तब यह शक्ति अपने आप और मुफ़्त में पैदा हो जाती है; और पूंजी ही मज़दूरों के लिए ऐसी परिस्थितियां पैदा करती है। चूंकि इस शक्ति के पैदा होने में पूंजी का कुछ ख़र्च नहीं होता और चूंकि दूसरी तरफ़, मज़दूर का श्रम जब तक पूंजी की संपत्ति नहीं बन जाता, तब तक वह अपने आप इस शक्ति को विकसित नहीं करता, इसलिए यह एक ऐसी शक्ति के रूप में सामने आती है, जो मानो स्वयं प्रकृति ने पूंजी को प्रदान कर रखी हो; इसलिए वह एक ऐसी उत्पादक शक्ति के रूप में सामने आती है, जो पूंजी में निहित प्रतीत होती है।

सरल सहकारिता की विराट उपलब्धियां प्राचीन काल के एशियावासियों, मिस्रवासियों, एत्रूरियावासियों, आदि के बृहत् निर्माण-कार्यों में देखी जा सकती हैं। "बीते हुए ज़माने में अकसर ऐसा हुआ है कि इन पूर्वी राज्यों के पास अपने असैनिक एवं सैनिक कार्यों का ख़र्च भरने के बाद अतिरिक्त धन बच रहा, उसे वे अपने वैभव का प्रदर्शन करनेवाले या किन्हीं उपयोगी निर्माण-कार्यों में ख़र्च कर सकते थे। इनके निर्माण में चूंकि वे देश की खेती न करनेवाली लगभग पूरी आबादी के हाथों और भुजाओं से काम ले सकते थे, इसलिए वे ऐसे महान स्मारकों का निर्माण करने में सफल हुए, जो आज भी इन राज्यों की शक्ति की ओर इंगित करते हैं। नील नदी की उर्वर उपत्यका... खेती न करनेवाली एक बहुत बड़ी आबादी के लिए भोजन पैदा कर देती थी, और यह भोजन, जिसपर राजा का और पुरोहितों का अधिकार होता था, उन बड़े स्मारकों के निर्माण का साधन बन जाता था, जिनसे देश भरा हुआ था... उन दैत्याकार मूर्तियों और भयानक बोझों को एक जगह से हटाकर दूसरी जगह ले जाने में, जिनके परिवहन की बात सोचकर ही आदमी आश्चर्यचकित रह जाता है, एक तरह से केवल मानव-श्रम को ही अंधाधुंध ख़र्च किया गया था... काम के लिए मज़दूरों की संख्या और उनके प्रयत्नों का केंद्रीकरण पर्याप्त होता था। हम महासागर के गर्भ में से प्रवाल-शैलों को ऊपर उठकर द्वीपों और दृढ़ भूमि का रूप धारण करते हुए देखते हैं, परंतु फिर भी इन प्रवालों को वहां जमा करनेवाला प्रत्येक जीव बहुत ही छोटा, निर्बल और हीन

होता है। एशिया के किसी भी राजतंत्र के खेती न करनेवाले मज़दूर काम पर अपनी व्यक्तिगत शारीरिक मेहनत के सिवा लगभग और कुछ भी साथ लेकर नहीं आते थे, परंतु उनकी संख्या ही उनकी शक्ति होती थी, और इस विशाल संख्या का संचालन करनेवाली ताक़त ने ऐसे-ऐसे राजमहल, मंदिर, पिरामिड और अनगिनत दैत्याकार मूर्तियां खड़ी कर दीं, जिनके अवशेष आज भी हमें हतप्रभ और आश्चर्यचकित कर देते हैं। इस विशाल संख्या का पेट जिस आमदनी से भरा जाता था, वह चूंकि किसी एक व्यक्ति या चंद व्यक्तियों के हाथों में ही संकेंद्रित होती थी, इसीलिए ऐसे-ऐसे विराट निर्माण-कार्य संभव हो पाते थे।"[23]

एशियाई तथा मिस्री राजाओं और एत्रूरिया के पुरोहित-राजाओं, आदि की यह शक्ति आधुनिक समाज में पूंजीपतियों को हस्तांतरित हो गयी है, चाहे वह पूंजीपति कोई एक व्यक्ति हो अथवा सम्मिलित पूंजी की कंपनियों की तरह का कोई सामूहिक पूंजीपति।

मानव-विकास के नवोदय के काल में शिकार से जीविका कमानेवाली नसलों में[23a] या, मान लीजिये, हिंदुस्तानी ग्राम-समुदायों की खेती में हमें जिस प्रकार की सहकारिता देखने को मिलती है, वह एक ओर तो इस बात पर आधारित थी कि उत्पादन के साधनों पर सबका सामूहिक स्वामित्व होता था, और दूसरी ओर, वह इस तथ्य पर आधारित थी कि इन समाजों में व्यक्ति क़बीले अथवा ग्राम-समुदाय की नाभि-नाल से अपने को काटकर वैसे ही अलग नहीं कर पाया था, जैसे शहद की मक्खी अपने छत्ते से अपना नाता नहीं तोड़ पाती। इस प्रकार की सहकारिता उपर्युक्त दोनों विशेषताओं के कारण पूंजीवादी सहकारिता से भिन्न होती है। प्राचीन काल में, मध्य युग में, और आधुनिक उपनिवेशों में इक्की-दुक्की जगहों पर जिस बड़े पैमाने की सहकारिता का प्रयोग किया गया है, वह प्रभुत्व और दासत्व और मुख्यतया गुलामी के संबंधों पर आधारित है। इसके विपरीत सहकारिता का पूंजीवादी रूप शुरू से आखिर तक यह मानकर चलता है कि पूंजी के हाथों अपनी श्रम-शक्ति बेचकर मज़दूरी पर काम करनेवाला मज़दूर स्वतंत्र होता है। किंतु इतिहास की दृष्टि से यह रूप किसानों की खेती और स्वतंत्र दस्तकारियों के विरोध में विकसित हुआ है, चाहे ये दस्तकारियां शिल्पी संघों में संगठित हों या न हों।[24] किसानों की खेती तथा स्वतंत्र दस्तकारियों के दृष्टिकोण से पूंजीवादी सहकारिता सहकारिता के एक विशिष्ट ऐतिहासिक रूप की तरह प्रकट नहीं होती, बल्कि यह लगता है, जैसे ख़ुद सहकारिता ही ऐसा ऐतिहासिक रूप हो, जो पूंजीवादी उत्पादन-प्रक्रिया

---

[23] R. Jones, *Textbook of Lectures etc.*, Hertford, 1852, pp. 77, 78. लंदन में और यूरोप की अन्य राजधानियों में प्राचीन असीरिया, मिस्र तथा अन्य देशों के जो संग्रह मिलते हैं, उनकी मदद से हम अपनी आंखों से देख सकते हैं कि यह सहकारी श्रम किस तरह किया जाता था।

[23a] लेंगे ने शायद सही बात कही थी, जब उन्होंने अपनी रचना *Thèorie des Lois Civiles* में यह घोषणा की थी कि शिकार करना सहकारिता का पहला रूप था और इनसान का शिकार (युद्ध) शिकार का एक सबसे प्राचीन रूप था।

[24] छोटे पैमाने की किसानों की खेती और स्वतंत्र दस्तकारियां, ये दोनों मिलकर उत्पादन की सामंती प्रणाली का आधार बनाती हैं, और सामंती व्यवस्था के भंग हो जाने के बाद ये पूंजीवादी प्रणाली के साथ-साथ पायी जाती हैं। इसके अलावा वे प्राचीन संसार के समुदायों के सर्वोत्तम काल में उनका भी आर्थिक आधार बनी हुई थीं। यह वह काल था, जब भूमि पर सामूहिक स्वामित्व का आदिम रूप नष्ट हो गया था, पर उत्पादन में अभी गुलामी की प्रथा का पूरा दौर-दौरा क़ायम नहीं हुआ था।

की एक ख़ास विशेषता है और जो इस प्रणाली को और सब प्रणालियों से भिन्न बना देता है।

जिस प्रकार सहकारिता से विकसित होनेवाली श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति पूंजी की उत्पादक शक्ति प्रतीत होती है, ठीक उसी प्रकार अलग-अलग स्वतंत्र मज़दूरों या यहां तक कि छोट-छोट मालिकों द्वारा चलायी जानेवाली उत्पादन-प्रक्रिया के मुक़ाबले में ख़ुद सहकारिता उत्पादन की पूंजीवादी प्रक्रिया का एक विशिष्ट रूप प्रतीत होती है। पूंजी के अधीन हो जाने पर वास्तविक श्रम-प्रक्रिया में यह पहला परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन स्वयं-स्फूर्त ढंग से होता है। मज़दूरी पर काम करनेवाले बहुत से मज़दूरों से एक ही प्रक्रिया में एक साथ काम लेना, जो इस परिवर्तन की आवश्यक शर्त है, पूंजीवादी उत्पादन का भी प्रस्थान-बिंदु है। और यह बिंदु स्वयं पूंजी के जन्म का समकालिक है। तब यदि एक तरफ़, इतिहास में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली श्रम-प्रक्रिया के एक सामाजिक प्रक्रिया में रूपांतरित होने की एक आवश्यक शर्त के रूप में हमारे सामने आती है, तो दूसरी तरफ़, श्रम-प्रक्रिया का यह सामाजिक रूप इस तरह हमारे सामने आता है, जैसे पूंजी ने श्रम की उत्पादिता को बढ़ाकर उसका अधिक लाभदायक ढंग से शोषण करने के लिए यह तरीक़ा निकाला हो।

अभी तक हम सहकारिता के जिस प्राथमिक रूप पर विचार करते रहे हैं, उसमें सहकारिता अनिवार्य रूप से बड़े पैमाने के हर प्रकार के उत्पादन की सहगामिनी होती है, परंतु वह ख़ुद अपने में किसी ऐसे स्थिर रूप का प्रतिनिधित्व नहीं करती, जो उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के विकास के किसी ख़ास युग की विशेषता हो। यह वह अधिक से अधिक केवल दो युगों में करती है, और तब भी पूरी तरह नहीं। एक मैन्यूफ़ैक्चर के उस प्रारंभिक काल में, जब वह दस्तकारियों से बहुत मिलता-जुलता था;[25] दूसरे, बड़े पैमाने की उस प्रकार की खेती के काल में, जो मैन्यूफ़ैक्चर के युग के अनुरूप थी और जो किसान की खेती से मुख्यतया इस बात में भिन्न थी कि उसमें बहुत से मज़दूरों से एक साथ काम लिया जाता था और उनके इस्तेमाल के लिए बहुत सारे उत्पादन के साधन एक जगह पर इकट्ठा कर दिये जाते थे। उत्पादन की जिन शाखाओं में पूंजी बड़े पैमाने पर इस्तेमाल होती है और श्रम-विभाजन तथा मशीनों की भूमिका गौण होती है, उनमें हमेशा सरल सहकारिता प्रमुख रूप से पायी जाती है।

उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का बुनियादी रूप सदा सहकारिता का होता है। फिर भी उत्पादन की इस प्रणाली के अधिक विकसित रूपों के साथ-साथ सहकारिता का प्राथमिक रूप भी पूंजीवादी उत्पादन के एक विशिष्ट रूप की तरह क़ायम रहता है।

---

[25] "क्या काम की उन्नति का तरीक़ा यह नहीं है कि एक ही काम साथ मिलकर करनेवाले बहुत से लोगों की संयुक्त कुशलता, उद्योग एवं स्पर्द्धा से लाभ उठाया जाये? और क्या किसी और तरीक़ से इंगलैंड अपने ऊनी उद्योग को विकास के इस ऊंचे स्तर पर पहुंचा सकता था?" (Berkeley, *The Querist*, London, 1750, p. 56, § 521.)

अध्याय १४

श्रम का विभाजन और मैन्यूफ़ैक्चर

अनुभाग १ – मैन्यूफ़ैक्चर की दोहरी उत्पत्ति

श्रम के विभाजन पर आधारित सहकारिता का प्रतिनिधि रूप मैन्यूफ़ैक्चर है, और जिसे मैन्यूफ़ैक्चर का वास्तविक काल कहा जा सकता है, उस पूरे काल में पूंजीवादी उत्पादन-प्रक्रिया का यही विशिष्ट रूप प्रचलित रहा है। यह काल मोटे तौर पर १६वीं शताब्दी के मध्य से १८वीं शताब्दी की अंतिम तिहाई तक माना जाता है।

मैन्यूफ़ैक्चर दो तरह से शुरू होता है:

१) किसी अकेले पूंजीपति के नियंत्रण में एक वर्कशाप के भीतर कुछ ऐसे मजदूरों के इकट्ठा कर दिये जाने के फलस्वरूप, जो वैसे तो अनेक प्रकार की स्वतंत्र दस्तकारियों का काम करते हैं, पर किसी ख़ास वस्तु को तैयार होने के पहले उन सभी के हाथों में से गुजरना पड़ता है। मिसाल के लिए, बग्घी पहले बहुत से स्वतंत्र कारीगरों के श्रम की पैदावार हुआ करती थी, जैसे पहिये बनानेवाले, साज़ तैयार करनेवाले, दर्ज़ी, ताले बनानेवाले, गद्दी-तकिये बनानेवाले, ख़राद का काम करनेवाले, झालर बनानेवाले, खिड़कियों में शीशे लगानेवाले, रंगनेवाले, पालिश करनेवाले, मुलम्मा चढ़ानेवाले, वग़ैरह, वग़ैरह के श्रम की। बग्घियों के मैन्यूफ़ैक्चर में सारे कारीगर एक ही इमारत में इकट्ठा कर दिये जाते हैं, जहां उनमें से हरेक अपना काम पूरा करके दूसरे को सौंपता जाता है। यह सच है कि बग्घी के तैयार होने के पहले उसपर मुलम्मा नहीं चढ़ाया जा सकता। लेकिन यदि कई बग्घियां एक साथ बनायी जा रही हों, तो जब तक बाक़ी बग्घियां पहले की प्रक्रियाओं में से गुजर रही होंगी, तब तक कुछ पर मुलम्मा चढ़ाया जा रहा होगा। अभी तक हम लोग सरल सहकारिता के क्षेत्र के ही भीतर हैं, जिसे मनुष्यों और वस्तुओं के रूप में अपनी सारी सामग्री पहले से तैयार मिलती है। लेकिन बहुत जल्द एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाता है। दर्ज़ी, ताले बनानेवाला और दूसरे तमाम कारीगर क्योंकि अब केवल बग्घी बनाने में ही लगे हुए हैं, इसलिए उनमें से हरेक की अपनी पुरानी दस्तकारी का काम पूरी तरह करने की योग्यता अभ्यास न रहने के कारण जाती रहती है। लेकिन दूसरी ओर, उसका काम चूंकि एक लीक में सीमित हो जाता है, इसलिए वह इस संकुचित कार्यक्षेत्र के लिए सबसे अधिक उपयुक्त रूप धारण कर लेता है। शुरू में बग्घियों का मैन्यूफ़ैक्चर बहुत सी स्वतंत्र दस्तकारियों का जोड़ होता है। धीरे-धीरे बग्घी बनाने की क्रिया बहुत सी तफ़सीली क्रियाओं में बंट जाती है, जिनमें से हरेक क्रिया एक ख़ास मजदूर का विशिष्ट कार्य बन जाती है, और ये मजदूर मिलकर संपूर्ण उत्पादन करते हैं।

इसी तरह कपड़े का मैन्यूफ़ैक्चर तथा अन्य प्रकार के अनेक मैन्यूफ़ैक्चर भी विभिन्न दस्तकारियों को एक अकेले पूंजीपति के नियंत्रण में इकट्ठा करके शुरू हुए थे।[26]

२) मैन्यूफ़ैक्चर इसके ठीक उल्टे ढंग से भी जन्म लेता है, यानी इस तरह कि एक पूंजीपति एक वर्कशाप के भीतर ऐसे अनेक कारीगरों से एक साथ काम लेने लगता है, जो सबके सब एक ही या एक तरह का ही काम करते हैं, जैसे कागज़ बनाना, टाइप ढालना या सूइयां बनाना। यह सहकारिता का सबसे अधिक प्राथमिक रूप होता है। इनमें से प्रत्येक कारीगर (शायद एक या दो शागिर्द मज़दूरों की मदद से) पूरा पण्य तैयार करता है, और इसलिए उसके उत्पादन से संबंधित जितनी भी आवश्यक क्रियाएं होती हैं, वह बारी-बारी से उन सबको करता है। अब भी वह अपने पुराने दस्तकारी के ढंग से काम करता है। लेकिन बहुत जल्द बाह्य परिस्थितियों के कारण एक स्थान पर इतने सारे मज़दूरों के केंद्रीकरण का, उनके एक साथ काम करने का एक नया उपयोग होने लगता है। शायद पहले से अधिक मात्रा में पण्य तैयार करके एक निश्चित समय के भीतर दे देना है। इसलिए काम को फिर से बांटा जाता है। एक आदमी के बारी-बारी से विभिन्न क्रियाओं को पूरा करने के बजाय अब इन क्रियाओं को असंबद्ध, अलग-अलग क्रियाओं में बदल दिया जाता है, जो साथ-साथ चलती हैं। हर क्रिया एक अलग कारीगर को सौंप दी जाती है, और इन सारी क्रियाओं को ये सहकार करनेवाले मज़दूर एक साथ काम करते हुए पूरी करते हैं। संयोगवश होनेवाला काम का यह नये ढंग का बंटवारा फिर दोहराया जाता है, उसके अपने फ़ायदे ज़ाहिर होते हैं, और धीरे-धीरे वह स्थायित्व प्राप्त करके सुनियोजित श्रम-विभाजन बन जाता है। अब पण्य एक स्वतंत्र कारीगर का व्यक्तिगत उत्पाद न रहकर अनेक कारीगरों के समुदाय का सामाजिक उत्पाद बन जाता है, जिनमें से प्रत्येक कारीगर उत्पादन-क्रिया की संघटक आंशिक क्रियाओं में से एक को और केवल एक को ही पूरा करता है। जब जर्मनी के कागज़ बनानेवालों के किसी शिल्पी संघ का कोई सदस्य काम करता था, तब जो क्रियाएं एक कारीगर के बारी-बारी से किये जानेवाले कामों के रूप में एक दूसरे में संविलीन हो जाती थीं, वे ही क्रियाएं हालैंड के कागज़

---

[26] एक अधिक आधुनिक उदाहरण देखिये। लिओं और निम की रेशम कताई और बुनाई "बहुत पितृसत्तात्मक ढंग का व्यवसाय है। उसमें बड़ी संख्या में औरतें और बच्चे काम करते हैं, पर वह उनकी शक्ति और स्वास्थ्य को बरबाद क़तई नहीं करता। वह उनको ड्रोम, वारा, इज़ेर और वोक्लूज़ की सुंदर तराइयों में ही रहने देता है, जहां वे रेशम के कीड़ों को पालते हैं और उनके कोयों से रेशम निकालते हैं। वह उन्हें कभी किसी सचमुच की फ़ैक्टरी में लाकर नहीं जमा करता। अधिक निकट से अध्ययन करने पर हम पायेंगे कि... यहां श्रम-विभाजन के सिद्धांत की अपनी विलक्षणताएं हैं। इस व्यवसाय में कोयों से रेशम निकालनेवाले, रेशम का धागा बनानेवाले, रंगनेवाले, कलफ़ देनेवाले, बुननेवाले बड़ी संख्या में काम करते हैं, पर वे किसी एक कारख़ाने में इकट्ठा नहीं किये जाते, वे किसी एक मालिक पर निर्भर नहीं रहते, बल्कि वे सब स्वतंत्र होते हैं।" (A. Blanqui, *Cours d'Économie Industrielle.* Recueilli par A. Blaise, Paris, 1838-1839, p. 79.) जिस समय ब्लांकी ने यह लिखा था, उसके बाद विभिन्न स्वतंत्र मज़दूरों को, कुछ हद तक, फ़ैक्टरियों में एकजुट कर दिया गया है। (**चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया अंश** : और जिस समय मार्क्स ने उपर्युक्त वाक्य लिखा था, तब से अब तक इन फ़ैक्टरियों पर पावरलूम ने चढ़ाई कर दी है, और इस समय – १८८६ में – तो वह बड़ी तेज़ी से हथकरघे का स्थान लेता जा रहा है। इस संबंध में क्रेफ़ेल्ड के रेशम-उद्योग की भी अपनी एक कहानी है। – फ़्रे० एं०)

के मैन्यूफ़ैक्चर में अनेक आंशिक क्रियाओं का रूप धारण कर लेती हैं, जिनको सहकार करनेवाले बहुत से मजदूर साथ-साथ करते रहते हैं। नूरेम्बर्ग के शिल्पी संघ का सूई बनानेवाला कारीगर ही वह आधारशिला था, जिसपर इंगलैंड के सूइयों के मैन्यूफ़ैक्चर की इमारत खड़ी की गयी। लेकिन नूरेम्बर्ग में जहां एक अकेला कारीगर एक के बाद दूसरी, शायद २० क्रियाओं का क्रम पूरा करता था, वहां इंगलैंड में वह समय आने में बहुत देर नहीं लगी, जब २० सूई बनानेवाले साथ-साथ तो काम करते थे, पर उनमें से हरेक इन २० क्रियाओं में से केवल एक क्रिया को ही पूरा करता था। थोड़ा और अनुभव प्राप्त होने पर तो इन २० क्रियाओं में से हरेक को भी छोटे-छोटे भागों में बांट दिया गया और हर भाग को अलग करके एक अलग मज़दूर की ख़ास ज़िम्मेदारी बना दिया गया।

इसलिए मैन्यूफ़ैक्चर का उद्भव, दस्तकारियों से उसका विकास दो तरह से हुआ है। एक ओर तो वह विविध प्रकार की कुछ ऐसी स्वतंत्र दस्तकारियों के एक में जुड़ जाने से शुरू होता है, जिनकी स्वतंत्रता जाती रहती है और जिनका इस हद तक विशिष्टीकरण हो जाता है कि वे किसी ख़ास पण्य के उत्पादन की मात्र अनुपूरक एवं आंशिक क्रियाओं में परिणत होकर रह जाती हैं। दूसरी ओर, वह एक दस्तकारी के कारीगरों की सहकारिता से भी शुरू होता है। इस ख़ास दस्तकारी को वह उसकी बहुत सी तफ़सीली क्रियाओं में बांट देता है और इन क्रियाओं को इस हद तक एक दूसरी से अलग और स्वतंत्र कर देता है कि हर क्रिया एक ख़ास मज़दूर का विशिष्ट कार्य बन जाती है। इसलिए मैन्यूफ़ैक्चर एक तरफ़ या तो उत्पादन की किसी प्रक्रिया में श्रम का विभाजन शुरू कर देता है, या उसे और विकसित कर देता है, और दूसरी तरफ़, वह ऐसी दस्तकारियों को एक में जोड़ देता है, जो पहले अलग-अलग थीं। लेकिन वह शुरू चाहे जहां से भी हो, उसका अंतिम रूप सदा एक सा होता है, यानी वह एक ऐसा उत्पादक यंत्र बन जाता है, जिसके अंग मनुष्य होते हैं।

मैन्यूफ़ैक्चर के श्रम-विभाजन को सही तौर पर समझने के लिए नीचे दी गयी बातों को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। पहली बात यह है कि यहां जब उत्पादन की कोई प्रक्रिया एक दूसरी के बाद आनेवाली अनेक प्रक्रियाओं में बंट जाती है, तो उसका सदा यह मतलब होता है कि एक दस्तकारी बारी-बारी से संपन्न की जानेवाली हाथ की कुछ प्रक्रियाओं में परिणत हो जाती है। इनमें से प्रत्येक प्रक्रिया, वह चाहे जटिल ढंग की हो या सरल ढंग की, हाथ से ही की जाती है, उसका दस्तकारी का रूप क़ायम रहता है और इसलिए वह हर अलग-अलग मज़दूर की अपने औज़ारों से काम लेने की शक्ति, कुशलता, फुर्ती और दक्षता पर निर्भर करती है। आधार अब भी दस्तकारी का ही रहता है। इस संकुचित प्राविधिक आधार के कारण औद्योगिक उत्पादन की किसी भी ख़ास प्रक्रिया का सचमुच कोई वैज्ञानिक विश्लेषण करना असंभव होता है; कारण कि अब भी यह बात आवश्यक होती है कि उत्पाद जिन तफ़सीली प्रक्रियाओं में से गुज़रता है, उनमें से हरेक को इस लायक़ होना चाहिए कि उसे हाथ से किया जा सके, और उनमें से हरेक प्रक्रिया को अपने ढंग से एक अलग दस्तकारी बन जाने के योग्य होना चाहिए। इस तरह चूंकि उत्पादन की प्रक्रिया का आधार अब भी दस्तकार की कुशलता ही रहती है इसीलिए हर मज़दूर को केवल एक आंशिक कार्य ख़ास तौर पर सौंप दिया जाता है और बाक़ी जीवन के लिए उसकी श्रम-शक्ति इस तफ़सीली कार्य को संपन्न करने का साधन बन जाती है। दूसरी बात यह है कि श्रम का यह विभाजन एक ख़ास ढंग की सहकारिता होता है, और उसकी बहुत सी उपलब्धियां सहकारिता के सामान्य स्वरूप से, न कि उसके इस विशिष्ट रूप से प्राप्त होती हैं।

अनुभाग २ – तफ़सीली काम करनेवाला मज़दूर और उसके औज़ार

अब यदि हम थोड़े और विस्तार के साथ इस मामले पर विचार करें, तो पहले तो यह बात साफ़ है कि जो मजदूर सारी ज़िंदगी एक ही सरल सा काम करता रहता है, वह अपने पूरे शरीर को उस काम के एक विशिष्टीकृत एवं स्वसंचालित उपकरण में बदल देता है। चुनांचे उसे यह काम पूरा करने में उस कारीगर की अपेक्षा कम समय लगता है, जो बहुत से काम बारी-बारी से करता है। लेकिन वह सामूहिक मज़दूर, जो मैन्यूफ़ैक्चर का सजीव यंत्र होता है, केवल इस प्रकार के, तफ़सीली काम करनेवाले, विशिष्टीकृत मज़दूरों का ही समूह होता है। इसलिए स्वतंत्र दस्तकारी की अपेक्षा मैन्यूफ़ैक्चर एक निश्चित समय में अधिक उत्पाद तैयार कर देता है, या यूं कहिये कि उसमें श्रम की उत्पादक शक्ति बढ़ जाती है।[27] इसके अलावा यह आंशिक कार्य जब एक बार एक विशिष्ट व्यक्ति की ख़ास ज़िम्मेदारी बन जाता है, तब उसमें जो तरीक़े इस्तेमाल किये जाते हैं, उनका भी पूर्ण विकास हो जाता है। मज़दूर चूंकि बार-बार वही एक सरल कार्य करता है और उसपर अपना सारा ध्यान केंद्रित किये रहता है, इसलिए उसका अपना अनुभव उसे यह सिखा देता है कि कम से कम मेहनत करके अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति कैसे संभव है। लेकिन चूंकि किसी भी एक वक़्त में मज़दूरों की कई पीढ़ियां उपस्थित होती हैं और किसी ख़ास वस्तु के उत्पादन में साथ मिलकर काम करती हैं, इसलिए इस तरह जो प्राविधिक कुशलता प्राप्त होती है, मज़दूर धंधे से संबंधित जो गुर सीखते हैं, वे स्थायित्व प्राप्त कर लेते हैं, संचित होते जाते हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलते जाते हैं।[28]

मैन्यूफ़ैक्चर असल में तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूर की कुशलता को इस तरह पैदा करता है कि विभिन्न धंधों में जो भेद स्वाभाविकतः पैदा हो गये थे और जो उसे समाज में पहले से तैयार मिले थे, उनको वह वर्कशाप के भीतर पुनः पैदा कर देता है और सुनियोजित ढंग से विकसित करता हुआ पराकाष्ठा पर पहुंचा देता है। दूसरी ओर, एक आंशिक कार्य का किसी एक व्यक्ति के पूरे जीवन के लिए उसका धंधा बन जाना पुराने ज़माने की समाज-व्यवस्थाओं की धंधों को पुश्तैनी बना देने की प्रवृत्ति के अनुरूप होता है, जो या तो उनको अलग-अलग वर्णों का रूप दे देती थी, या जहां कहीं कुछ ख़ास ऐतिहासिक परिस्थितियां व्यक्ति में अपना धंधा इस तरह बदलने की प्रवृत्ति पैदा कर देती थीं, जो वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप नहीं होता था, वहां उनको शिल्पी संघों में बांध देती थी। जिस प्राकृतिक नियम के अनुसार वनस्पतियों और पशुओं का विभिन्न जातियों और प्रकारों में विभेदीकरण हो जाता है, उसी प्राकृतिक नियम के फलस्वरूप अलग-अलग वर्ण और शिल्पी संघ भी पैदा होते हैं। अंतर केवल यह होता है कि जब उनका विकास एक ख़ास मंज़िल पर पहुंच जाता है, तो वर्णों का पैतृक स्वरूप और शिल्पी संघों का अनन्य रूप समाज के एक क़ानून के रूप में स्थापित हो जाता

---

[27] "कोई ऐसा मैन्यूफ़ैक्चर जिसमें तरह-तरह के काम करने होते हैं, जितनी अधिक अच्छी तरह विभिन्न कारीगरों में बांट दिया जायेगा और उनको सौंप दिया जायेगा, वह लाज़िमी तौर पर उतने ही बेहतर ढंग से होगा, उसमें उतनी ही अधिक फुर्ती दिखायी देगी और उतना ही कम वक़्त तथा कम श्रम ख़र्च होगा।" (*The Advantages of the East-India Trade*, London, 1720, p. 71.)

[28] "सुगम श्रम दूसरे से मिली हुई कुशलता होती है।" (Th. Hodgskin, *Popular Political Economy*, London, 1827, p. 48.)

है।[29] "उत्कृष्टता में ढाका की मलमल और चमकदार तथा टिकाऊ रंगों में कारोमण्डल की दरेस तथा अन्य कटपीस से बेहतर कपड़ा अभी तक कोई तैयार नहीं हो सकता है। फिर भी इन कपड़ों के उत्पादन में न तो पूंजी इस्तेमाल होती है, न मशीनें, न श्रम का विभाजन और न ही वे तरीक़े, जिनसे यूरोप के मैन्यूफ़ैक्चररों को इतनी सुविधा हो जाती है। वहां तो बुनकर महज़ एक अकेला व्यक्ति होता है। कोई ग्राहक आर्डर देता है, तो वह कपड़ा बुनने बैठ जाता है और अत्यंत कुघड़ बनावट का एक ऐसा करघा इस्तेमाल करता है, जो कभी-कभी तो चंद टहनियों या लकड़ी के डंडों को जोड़-जोड़कर ही बना लिया गया था। यहां तक कि ताना लपेटने की भी उसके पास कोई तरक़ीब नहीं होती। इसलिए करघे को उसकी पूरी लंबाई तक खींचकर रखना पड़ता है, और वह इतना ज़्यादा बड़ा हो जाता है कि कपड़ा बुननेवाले की झोंपड़ी में नहीं समा पाता और इस कारण बुनकर को बाहर खुले में अपना धंधा करना पड़ता है, जहां मौसम की हर तब्दीली उसके काम में बाधा बनती है।"[30] मकड़ी की तरह हिंदू को भी यह दक्षता केवल उस विशेष नैपुण्य से प्राप्त होती है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी संचित होता है और बाप से बेटे को मिलता जाता है। और फिर भी इस प्रकार के हिंदू बुनकर का काम मैन्यूफ़ैक्चर के मजदूर की तुलना में बहुत पेचीदा ढंग का काम होता है।

जो कारीगर एक तैयार चीज़ के उत्पादन के लिए आवश्यक विविध प्रकार की तमाम आंशिक क्रियाओं को बारी-बारी से करता है, उसे कभी अपनी जगह बदलनी पड़ती है और कभी अपने औज़ार बदलने पड़ते हैं। एक क्रिया को छोड़कर दूसरी क्रिया आरंभ करने में उसके श्रम का प्रवाह बीच में रुक जाता है और उसके काम के दिन में मानो कुछ दरारें पैदा हो जाती हैं। जैसे ही वह कारीगर पूरे दिन के लिए एक ही क्रिया से बांध दिया जाता है, वैसे ही ये दरारें भर जाती हैं। जिस अनुपात में उसके काम में होनेवाले परिवर्तन कम होते जाते हैं, उसी अनुपात में ये दरारें ग़ायब होती जाती हैं। उसके फलस्वरूप उत्पादक शक्ति में जो वृद्धि होती है, उसका या तो यह कारण होता है कि एक निश्चित समय में पहले से ज़्यादा श्रम-शक्ति ख़र्च होने लगती है, अर्थात् श्रम की तीव्रता बढ़ जाती है, या उसकी यह वजह

---

[29] "मिस्र में... शिल्पों का भी समुचित विकास हुआ है। कारण कि वही एक ऐसा देश है, जहां कारीगरों को नागरिकों के किसी दूसरे वर्ग के मामलों में टांग अड़ाने की इजाज़त नहीं है, बल्कि वे केवल वही धंधा करते हैं, जो क़ानून के अनुसार उनके गोत्र का पैतृक धंधा होता है... दूसरे देशों में यह देखा जाता है कि व्यवसायी लोग अपना ध्यान बहुत ज़्यादा चीज़ों में बांट देते हैं। कभी वे खेती में हाथ आज़माते हैं, तो कभी व्यापार में हाथ डालते हैं, और कभी एक साथ दो या तीन धंधों को हाथ में ले लेते हैं। स्वतंत्र देशों में तो वे प्रायः लोक-सभाओं में भी भाग लिया करते हैं... इसके विपरीत मिस्र में यदि कोई भी कारीगर राज्य के मामलों में दख़ल देता है या एक साथ कई धंधे करने लगता है, तो उसे सख़्त सज़ा दी जाती है। इस प्रकार कारीगर वहां सदा अपने-अपने धंधे में लगे रहते हैं और इस बात में कोई चीज़ ख़लल नहीं डाल सकती... इसके अलावा कारीगरों को चूंकि अपने बाप-दादों से अनेक नियम विरासत में मिलते हैं, इसलिए वे सदा नये-नये तरीक़ों का आविष्कार करने के लिए उत्सुक रहते हैं।" (*Diodor's von Sicilien Historische Bibliothek*, Buch I, cap. 74, [S. 117, 118.])

[30] *Historical and Descriptive Account of British India etc.* by Hugh Murray, James Wilson etc., Edinburgh, 1832, Vol. II, p. 449. हिंदुस्तानी करघा सीधा खड़ा होता है, यानी ताना ऊर्ध्वाधर दिशा में खिंचा रहता है।

होती है कि अनुत्पादक ढंग से खर्च होनेवाली श्रम-शक्ति की मात्रा कम हो जाती है। विश्रामावस्था से गति में परिवर्तन होने पर हर बार शक्ति का जो अतिरिक्त व्यय होता है, उसे एक बार सामान्य वेग प्राप्त हो जाने के बाद श्रम की अवधि को लंबा खींचकर पूरा कर लिया जाता है। दूसरी ओर, बराबर एक ही ढंग का श्रम करते रहने से मनुष्य की प्राकृतिक क्षमताओं की प्रखरता और प्रवाह में कमी आ जाती है, जब कि दूसरी ओर, महज़ काम की तब्दीली से ही उसमें ताज़गी आ जाती है और उसे आनंद प्राप्त होने लगता है।

श्रम की उत्पादिता न केवल मज़दूर की कुशलता पर, बल्कि उसके औज़ारों की श्रेष्ठता पर भी निर्भर करती है। एक ही तरह के औज़ार, जैसे चाकू, बरमे, गिमलेट, हथौड़े, आदि, अलग-अलग तरह की क्रियाओं में इस्तेमाल किये जा सकते हैं। और एक ही क्रिया में उसी औज़ार से कई तरह के काम लिये जा सकते हैं। लेकिन जैसे ही किसी श्रम-क्रिया की विभिन्न उपक्रियाएं एक दूसरी से अलग कर दी जाती हैं और हर आंशिक उपक्रिया तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूर के हाथ में एक उपयुक्त एवं विशिष्ट रूप प्राप्त कर लेती है, वैसे ही उन औज़ारों में, जिनसे पहले एक से अधिक तरह के काम लिये जाते थे, कुछ परिवर्तन करने ज़रूरी हो जाते हैं। ये परिवर्तन किस दिशा में होंगे, यह औज़ार के अपरिवर्तित रूप से पैदा होनेवाली कठिनाइयों द्वारा निर्धारित होता है। मैन्यूफ़ैक्चर की यह एक ख़ास विशेषता है कि उसमें श्रम के औज़ारों में विभेदीकरण हो जाता है, ऐसा विभेदीकरण, जिससे एक ख़ास ढंग के औज़ार कुछ निश्चित ढंग की शक्लें हासिल कर लेते हैं, जिनमें से हरेक शक्ल एक विशिष्ट प्रयोजन के अनुरूप होती है। मैन्यूफ़ैक्चर की यह भी एक ख़ास विशेषता है कि उसमें इन औज़ारों का विशिष्टीकरण हो जाता है, जिससे हर ख़ास औज़ार केवल एक ख़ास तरह का तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूर के हाथों में ही पूरी तरह इस्तेमाल हो सकता है। अकेले बर्मिंघम में ५०० प्रकार के हथौड़े तैयार होते हैं, और न सिर्फ़ उनमें से हरेक किसी विशेष प्रक्रिया में काम आने के लिए बनाया जाता है, बल्कि अकसर कई प्रकार के हथौड़े एक ही प्रक्रिया की केवल कई अलग-अलग उपक्रियाओं में काम आते हैं। मैन्यूफ़ैक्चर का काल श्रम के औज़ारों को तफ़सीली काम करनेवाले प्रत्येक मज़दूर के विशिष्ट कार्य के अनुरूप ढालकर उन्हें सरल बना देता है, उनमें सुधार करता है और उनकी संख्या को बढ़ा देता है।[31] इस प्रकार मैन्यूफ़ैक्चर साथ ही मशीनों के अस्तित्व के लिए आवश्यक एक भौतिक परिस्थिति को भी तैयार कर देता है, क्योंकि मशीनें सरल औज़ारों का ही योग होती हैं।

तफ़सीली काम करनेवाला मज़दूर और उसके औज़ार मैन्यूफ़ैक्चर के सरलतम तत्त्व हैं। आइये, अब हम मैन्यूफ़ैक्चर के संपूर्ण रूप पर विचार करें।

---

[31] डार्विन ने जातियों की उत्पत्ति संबंधी अपनी युगांतरकारी रचना में पौधों और पशुओं की प्राकृतिक इंद्रियों की चर्चा करते हुए कहा है: "जब तक एक ही इंद्रिय को कई प्रकार के काम करने पड़ते हैं, तब तक उसकी परिवर्तनशीलता का एक आधार संभवतया इस बात में मिल सकता है कि केवल एक ख़ास उद्देश्य के लिए काम आनेवाली इंद्रिय की तुलना में इस स्थिति में प्राकृतिक वरण हर छोटे रूप-परिवर्तन को सुरक्षित रखने या दबा देने में कम एहतियात बरतता है। चुनांचे जिन चाकुओं से विभिन्न प्रकार की सभी चीज़ें काटी जा सकती हैं, वे मोटे तौर पर एक ही शक्ल के हो सकते हैं, पर जो औज़ार केवल एक ही तरह के काम में आ सकता है, उसके हर अलग-अलग ढंग के इस्तेमाल के लिए उसकी एक अलग शक्ल का होना ज़रूरी होता है।" [Charles Darwin, *The Origin of Species etc.*, London, 1859, p. 149.]

अनुभाग ३ – मैन्यूफ़ैक्चर के दो बुनियादी रूप : पंचमेल मैन्यूफ़ैक्चर और क्रमगत मैन्यूफ़ैक्चर

मैन्यूफ़ैक्चर के संगठन के दो बुनियादी रूप होते हैं, जो कभी-कभी एक दूसरे में मिल जाने के बावजूद मूलतया अलग-अलग ढंग के रहते हैं। इतना ही नहीं, वे बाद को मैन्यूफ़ैक्चर के मशीनों से चलनेवाले आधुनिक उद्योगों में रूपांतरित हो जाने की क्रिया में दो बिल्कुल विशिष्ट भूमिकाएं अदा करते हैं। यह दोहरा स्वरूप उत्पादित वस्तु के रूप से उत्पन्न होता है। यह वस्तु या तो स्वतंत्र रूप से तैयार किये गये कुछ आंशिक उत्पादों को महज़ यांत्रिक ढंग से जोड़ देने का नतीजा होती है या उसका संपूरित रूप अनेक संबद्ध क्रियाओं और दक्ष प्रयोगों के एक क्रम का फल होता है।

उदाहरण के लिए, रेल के इंजन में ५,००० से अधिक स्वतंत्र पुर्ज़े होते हैं। परंतु उसको प्रथम प्रकार के वास्तविक मैन्यूफ़ैक्चर का उदाहरण नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह आधुनिक ढंग के मशीनों से चलनेवाले उद्योग का उत्पाद होता है। परंतु घड़ी से ऐसे उदाहरण का काम लिया जा सकता है। विलियम पैटी ने मैन्यूफ़ैक्चर में श्रम-विभाजन को स्पष्ट करने के लिए उसका इस्तेमाल किया था। पहले घड़ी नूरेम्बर्ग के किसी कारीगर का व्यक्तिगत उत्पाद हुआ करती थी, पर अब वह तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूरों की एक बहुत बड़ी संख्या का सामाजिक उत्पाद बन गया है, जैसे बड़ी कमानी बनानेवाले, डायल बनानेवाले, चक्करदार कमानी बनानेवाले, मणियां लगाने के लिए सूराख़ करनेवाले, रूबी-लीवर बनानेवाले, सूइयां बनानेवाले, केस बनानेवाले, पेच बनानेवाले, मुलम्मा चढ़ानेवाले, और फिर इनके अनेक उपवर्ग भी होते हैं, जैसे चक्के बनानेवाले (पीतल के चक्के और इस्पात के चक्के बनानेवाले अलग-अलग), पिन बनानेवाले, चाभियां बनानेवाले, acheveur de pignon (वह कारीगर, जो धुरी पर चक्के लगाता है, पहलों को पालिश करता है, इत्यादि), कीलक बनानेवाले, planteur de finissage (वह कारीगर, जो चक्के और कमानियां लगाता है), finisseur de barillet (वह कारीगर, जो चक्कों में दांते बनाता है, सही आकार के सूराख़ बनाता है, इत्यादि), एस्केपमेंट – अथवा चालक शक्ति को नियामक से जोड़ने का यंत्र – बनानेवाले कारीगर, सिलिंडरनुमा एस्केपमेंट के लिए सिलिंडर बनानेवाले, एस्केपमेंट के चक्के बनानेवाले, घड़ी की गति का नियमन करनेवाला चक्र बनानेवाले, raquette (घड़ी का नियमन करनेवाला यंत्र) बनानेवाले, planteur d'échappement (एस्केपमेंट बनानेवाले); उसके बाद आते हैं repasseur de barillet (वह कारीगर, जो कमानी के लिए बक्स, आदि तैयार करता है), इस्पात पर पालिश करनेवाले, चक्कों पर पालिश करनेवाले, पेचों पर पालिश करनेवाले, अंक अंकित करनेवाले, डायल पर मीनाकारी करनेवाले (जो तांबे पर मीना गलाकर लगाते हैं), fabricant de pendants (वह छल्ला बनानेवाला कारीगर, जिससे केस टांगा जाता है), finisseur de charnière (जो ढक्कन में पीतल का कुलाबा, आदि लगाता है), faiseur de secret (जो उन कमानियों को लगाता है, जिनसे ढक्कन खुलता है), graveur (नक्काश खोदनेवाला), ciseleur (तराशनेवाला), polisseur de boîte (घड़ी के केस पर पालिश करनेवाला), इत्यादि, इत्यादि, और सबके अंत में

repasseur, जो पूरी घड़ी को जोड़कर उसे चालू हालत में सौंप देता है। घड़ी के केवल कुछ ही हिस्से कई आदमियों के हाथों में से गुज़रते हैं। और ये तमाम membra disjecta [अलग-अलग टुकड़े] पहली बार केवल उस हाथ में एक जगह इकट्ठा होते हैं, जो उन्हें जोड़कर एक यांत्रिक इकाई तैयार करता है। इस प्रकार की अन्य समस्त तैयार वस्तुओं की तरह इस उदाहरण में भी तैयार वस्तु तथा उसके नाना प्रकार के अनेक तत्त्वों के बीच जो बाह्य संबंध होता है, उसके फलस्वरूप तफ़सीली काम करनेवाले मजदूर एक वर्कशाप में इकट्ठा किये जाते हैं या नहीं, यह केवल संयोग पर निर्भर करता है। इसके अलावा तफ़सीली काम बहुत सी स्वतंत्र दस्तकारियों की तरह किये जा सकते हैं, जैसा कि वौद तथा न्यूफ़शैतेल के कैंटनों में होता है, जब कि जेनेवा में घड़ियों की बड़ी-बड़ी मैन्यूफ़ैक्टरियां हैं, जिनमें तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूर किसी एक पूंजीपति के नियंत्रण में प्रत्यक्ष रूप से सहकार करते हैं। पर घड़ी का डायल, कमानियां और केस इनमें भी बहुत कम ही बनते हैं। मज़दूरों का केंद्रीकरण करके मैन्यूफ़ैक्चर के रूप में व्यवसाय चलाना घड़ियों के धंधे में केवल कुछ असाधारण परिस्थितियों में ही लाभदायक होता है। इसका कारण यह है कि जो मज़दूर अपने घर पर काम करना चाहते हैं, उनके बीच ज्यादा ज़ोर से होड़ चलती है, और काम के विविध क्रियाओं में बंटे रहने के कारण सामूहिक श्रम के औज़ारों का उपयोग करने की बहुत कम संभावना रह जाती है, और पूंजीपति काम को छितराकर वर्कशाप पर होनेवाले ख़र्च को बचा लेता है, इत्यादि, इत्यादि।[32] पर इन सब बातों के बावजूद तफ़सीली काम करनेवाला जो मज़दूर घर पर काम करते हुए भी किसी पूंजीपति (मैन्यूफ़ैक्चरर या établisseur) के लिए काम करता है, उसकी स्थिति उस स्वतंत्र कारीगर की स्थिति से बहुत भिन्न होती है, जो ख़ुद अपने ग्राहकों के लिए काम करता है।[33]

---

[32] १८५४ में जेनेवा में ८०,००० घड़ियां तैयार हुई थीं, जो न्यूफ़शैतेल के कैंटन में होनेवाले उत्पादन का पांचवां हिस्सा भी नहीं था। अकेले ला शो-द-फ़ों में, जिसे घड़ियों की एक बहुत बड़ी मैन्यूफ़ैक्टरी समझा जा सकता है, हर साल जेनेवा से दुगुनी घड़ियां बनती हैं। १८५० से १८६१ तक जेनेवा में ७,२०,००० घड़ियां तैयार हुईं। देखिये *Reports by H.M.'s Secretaries of Embassy and Legation on the Manufactures, Commerce etc.* के १८६३ के अंक ६ में *Report from Jeneva on the Watch Trade*. जब किन्हीं ऐसी वस्तुओं का उत्पादन, जो केवल इकट्ठा जोड़ दिये जानेवाले हिस्सों से मिलकर बनती हैं, अलग-अलग क्रियाओं में बांट दिया जाता है, तब इन क्रियाओं में कोई संबंध न होने के कारण ही इस प्रकार के मैन्यूफ़ैक्चर को मशीनों से चलनेवाले आधुनिक उद्योग की शाखा में रूपांतरित कर देना बहुत कठिन हो जाता है। पर घड़ियों के साथ तो इसके अलावा दो कठिनाइयां और भी हैं। एक तो यह कि उनके पुर्ज़े बहुत छोटे और नाज़ुक होते हैं। दूसरी यह कि घड़ियां विलास की वस्तुएं समझी जाती हैं, इसलिए वे नाना प्रकार की होती हैं। यहां तक कि लंदन की सबसे अच्छी कंपनियों में साल भर में मुश्किल से एक दर्जन घड़ियां एक प्रकार की बनती हैं। मैसर्स वैशेरोन एण्ड कोंस्टेंटिन की घड़ियों की फ़ैक्टरी में, जहां मशीनों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है, आकार तथा आकृति की दृष्टि से अधिक से अधिक तीन या चार प्रकार की घड़ियां बनायी जाती हैं।

[33] घड़ी उत्पादन पंचमेल मैन्यूफ़ैक्चरी का एक ठेठ उदाहरण है। दस्तकारियों के उपविभाजन के फलस्वरूप श्रम के औज़ारों का जो उपर्युक्त विभेदीकरण तथा विशिष्टीकरण हो जाता है, उसके बहुत यथातथ्य अध्ययन के लिए घड़ी बनाने के व्यवसाय में बहुत सी सामग्री मिल जाती है।

मैन्यूफ़ैक्चर का दूसरा प्रकार, जो उसका विकसित रूप होता है, ऐसी वस्तुएं तैयार करता है, जो विकास की परस्पर संबद्ध अवस्थाओं में से गुज़रती हैं और जिनको एक के बाद दूसरी अनेक क्रियाओं के क्रम में से निकलना पड़ता है। मिसाल के लिए, सूइयों के मैन्यूफ़ैक्चर में तार तफ़सीली काम करनेवाले ७२ और कभी-कभी तो ६२ विभिन्न मज़दूरों के हाथों तक से गुज़रता है।

इस तरह का मैन्यूफ़ैक्चर एक बार शुरू हो जाने पर जिस हद तक बिखरी हुई दस्तकारियों को जोड़ देता है, उस हद तक वह उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं को एक दूसरी से अलग करनेवाली दूरी को कम कर देता है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने में जो समय लगता था, वह कम हो जाता है, और इस अवस्था-परिवर्तन में जो श्रम लगता था, वह भी कम हो जाता है।[34] दस्तकारी के मुक़ाबले में उसकी उत्पादक शक्ति बढ़ जाती है, और यह वृद्धि मैन्यूफ़ैक्चर के सामान्य सहकारी स्वरूप के कारण होती है। दूसरी ओर, श्रम-विभाजन के लिए, जो मैन्यूफ़ैक्चर का विशिष्ट सिद्धांत है, यह आवश्यक होता है कि उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं को एक दूसरी से अलग कर दिया जाये और एक दूसरी से स्वतंत्र बना दिया जाये। पृथक कार्यों के बीच संबंध जोड़ने और बनाये रखने के लिए वस्तु का एक हाथ से दूसरे हाथ और एक प्रक्रिया से दूसरी प्रक्रिया तक निरंतर लाना - ले जाना ज़रूरी हो जाता है। मशीनों से चलनेवाले आधुनिक उद्योग की दृष्टि से यह आवश्यकता एक विशिष्ट एवं महंगी बुराई के रूप में सामने आती है और वह भी ऐसी बुराई के रूप में, जो मैन्यूफ़ैक्चर के सिद्धांत में निहित है।[35]

यदि हम अपना ध्यान कच्चे माल की किसी ख़ास राशि पर ही केंद्रित करें, जैसे कि यदि हम काग़ज़ के मैन्यूफ़ैक्चर में रद्दी कपड़ों की या सूइयों के मैन्यूफ़ैक्चर में तार की किसी ख़ास राशि की ओर ही ध्यान दें, तो हम देखेंगे कि उसे उत्पादन-क्रिया के पूरा होने के पहले तफ़सीली काम करनेवाले अनेक मज़दूरों के हाथों और क्रमशः अनेक अवस्थाओं में से गुज़रना पड़ता है। दूसरी ओर, यदि हम पूरी वर्कशाप पर विचार करें, तो हम पाते हैं कि कच्चा माल एक ही समय पर उत्पादन की सभी अवस्थाओं में से गुज़र रहा है। सामूहिक मज़दूर अपने बहुत से हाथों में से कुछ में एक तरह के औज़ार लेकर तार खींचता है, तो उसके साथ-साथ कुछ और हाथों में भिन्न प्रकार के औज़ार लेकर वह तार को सीधा करता है, कुछ और हाथों से उसे काटता है, अन्य हाथों से उसकी नोक बनाता है, इत्यादि, इत्यादि। अलग-अलग तफ़सीली क्रियाएं, जो पहले समय की दृष्टि से क्रमानुसार संपन्न होती थीं, अब एक साथ चलती हैं और स्थान की दृष्टि से साथ-साथ संपन्न होनेवाली क्रियाएं बन जाती हैं। इसलिए

---

[34] "जब लोग एक दूसरे के इतने नज़दीक रहते हैं, तो लाना - ले जाना लाज़िमी तौर पर कम हो जाता है।" (*The Advantages of the East-India Trade*, p. 106.)

[35] "हाथ के श्रम का उपयोग करने के फलस्वरूप मैन्यूफ़ैक्चर की विभिन्न अवस्थाओं के पृथक हो जाने से उत्पादन की लागत बहुत ज़्यादा बढ़ जाती है। नुक़सान मुख्यतया केवल वस्तुओं को एक क्रिया से हटाकर दूसरी क्रिया तक ले जाने के कारण ही होता है।" (*The Indusry of Nations*, London, 1855, Part II, p. 200.)

अब उतने ही समय में तैयार वस्तुओं की पहले से अधिक मात्रा का उत्पादन होता है।[36] यह सच है कि तफ़सीली क्रियाओं का इस तरह एक साथ चलना पूरी क्रिया के सामान्य सहकारी स्वरूप का परिणाम होता है। परंतु सहकारिता के लिए आवश्यक परिस्थितियां मैन्यूफ़ैक्चर को केवल पहले से तैयार ही नहीं मिल जातीं, दस्तकारी के श्रम का उपविभाजन करके कुछ हद तक वह ख़ुद भी ऐसी परिस्थितियां पैदा कर देता है। दूसरी ओर, मैन्यूफ़ैक्चर महज़ हर मज़दूर को तफ़सील के केवल एक आंशिक कार्य से जोड़कर ही श्रम-क्रिया का यह सामाजिक संगठन संपन्न कर पाता है।

तफ़सीली काम करनेवाले हर मज़दूर का आंशिक उत्पाद चूंकि एक ही तैयार वस्तु के विकास की एक विशेष अवस्था मात्र होती है, इसलिए हर मज़दूर या मज़दूरों का हरेक दल किसी अन्य मज़दूर या अन्य दल के लिए कच्चा माल तैयार करता है। एक के श्रम का फल दूसरे के श्रम का प्रस्थान-बिंदु होता है। इसलिए एक मज़दूर प्रत्यक्ष रूप से दूसरे को रोज़ी देता है। अभीष्ट प्रभाव पैदा करने के लिए हर आंशिक क्रिया के लिए कितना श्रम-काल आवश्यक है, यह अनुभव से मालूम हो जाता है, और पूरे मैन्यूफ़ैक्चर का यंत्र इस मान्यता पर आधारित होता है कि एक निश्चित समय में एक निश्चित परिणाम हासिल किया जायेगा। इस मान्यता के आधार पर ही नाना प्रकार की अनुपूरक श्रम-क्रियाएं एक ही समय में, बिना रुके और साथ-साथ चलती रह सकती हैं। यह बात स्पष्ट है कि ये क्रियाएं और इसलिए उनको संपन्न करनेवाले मज़दूर चूंकि प्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं, इसलिए उनमें से हरेक इसके लिए मजबूर होता है कि अपने काम पर आवश्यक समय से अधिक न ख़र्च करे, और इस तरह यहां श्रम की एक ऐसी निरंतरता, एकरूपता, नियमितता, व्यवस्था[37] और यहां तक कि एक ऐसी तीव्रता पैदा हो जाती है, जैसी स्वतंत्र दस्तकारी में या यहां तक कि सरल सहकारिता में भी नहीं पायी जाती। नियम है कि किसी पण्य पर जो श्रम-काल ख़र्च किया जाये, वह उसके उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल से अधिक नहीं होना चाहिए। पण्यों के उत्पादन में साधारण तौर पर ऐसा मालूम होता है कि यह नियम केवल प्रतियोगिता के प्रभाव से ही स्थापित हो जाता है। कारण कि यदि हम बहुत सतही ढंग से अपनी बात कहें, तो हर उत्पादक अपना पण्य बाज़ार-भाव पर बेचने के लिए मजबूर होता

---

[36] "यह" (श्रम का विभाजन) "काम को उसकी विभिन्न शाखाओं में बांटकर कुछ समय की भी बचत कर देता है, क्योंकि ये तमाम शाखाएं अब एक ही समय में कार्यान्वित की जा सकती हैं... उन तमाम विभिन्न क्रियाओं को, जिनको पहले एक व्यक्ति एक-एक करके पूरा करता था, अब एक साथ पूरा किया जाता है, जिसका नतीजा यह होता है कि पहले जितने समय में केवल एक पिन या तो काटा जाता था, या उसकी नोक बनायी जाती थी, अब उतने समय में बहुत सारे पिन पूरी तरह बनाकर तैयार किये जा सकते हैं।" (Dugald Stewart, l. c., p. 319.)

[37] "प्रत्येक मैन्यूफ़ैक्चर में जितने अधिक प्रकार के कारीगर काम करते हैं... प्रत्येक काम उतनी ही अधिक व्यवस्था और नियमितता से होता है, और हर काम को लाज़िमी तौर पर कम समय में पूरा कर देना पड़ता है और पहले से कम श्रम ख़र्च होता है।" (*The Advantages of the East-India Trade*, London, 1720, p. 68.)

है। इसके विपरीत मैन्यूफ़ैक्चर में एक निश्चित समय में उत्पाद की एक निश्चित मात्रा तैयार कर देना स्वयं उत्पादन की प्रक्रिया का एक प्राविधिक नियम होता है।[38]

लेकिन अलग-अलग क्रियाओं में अलग-अलग समय लगता है और इसलिए उनके द्वारा समान समय में आंशिक उत्पाद की असमान मात्राएं तैयार होती हैं। अतः यदि एक मज़दूर को बार-बार एक ही क्रिया संपन्न करनी है, तो हरेक क्रिया के लिए अलग-अलग संख्या में मज़दूर होने चाहिए। मिसाल के लिए, टाइप के मैन्यूफ़ैक्चर में एक घिसनेवाले पर चार ढालनेवाले और दो तोड़नेवाले होते हैं: ढालनेवाला फ़ी घंटा २,००० टाइप ढालता है, तोड़नेवाला ४,००० टाइप तोड़ता है और घिसनेवाला ८,००० टाइप पर पालिश करता है। यहां पर फिर हम सहकारिता के सिद्धांत को उसके सरलतम रूप में देखते हैं, यानी एक ही चीज़ करनेवाले बहुत से आदमियों से एक साथ काम लिया जाता है। अंतर केवल यह है कि अब यह सिद्धांत एक अटूट संबंध की अभिव्यक्ति है। मैन्यूफ़ैक्चर में जैसा श्रम-विभाजन कार्यान्वित होता है, वह न केवल सामाजिक एवं सामूहिक मज़दूर के गुणात्मक दृष्टि से भिन्न भागों को सरल बनाता है और उनकी संख्या को बढ़ा देता है, बल्कि वह एक ऐसा निश्चित गणितीय संबंध अथवा अनुपात भी पैदा कर देता है, जो इन भागों की परिमाणात्मक सीमा का नियमन करता है, यानी वह हर तफ़सीली काम के लिए मज़दूरों की तुलनात्मक संख्या, अथवा मज़दूरों के दल का तुलनात्मक आकार, निश्चित कर देता है। सामाजिक श्रम-क्रिया के गुणात्मक उपविभाजन के साथ-साथ वह इस क्रिया के लिए एक परिमाणात्मक नियम तथा अनुपातिता का भी विकास कर देता है।

जब एक बार प्रयोग के द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि किसी ख़ास पैमाने पर उत्पादन करते हुए विभिन्न दलों में तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या का क्या सही अनुपात होगा, तब इस पैमाने को केवल प्रत्येक विशिष्ट दल के किसी गुणज का प्रयोग करके ही बढ़ाया जा सकता है।[39] ऊपर से यह बात भी है कि कुछ ख़ास तरह के कामों को वही व्यक्ति जितनी अच्छी तरह छोटे पैमाने पर करता है, उतनी ही अच्छी तरह बड़े पैमाने पर कर सकता है। इसकी मिसालें हैं: देखरेख करने का श्रम, आंशिक उत्पाद को एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक लाना-ले जाना, इत्यादि। इस प्रकार के कामों को अलग-अलग कर देना और उनको किसी ख़ास मज़दूर को सौंप देना उस समय तक लाभदायक सिद्ध नहीं होता, जब तक कि इसके पहले काम में लगे हुए मज़दूरों की संख्या में वृद्धि नहीं हो जाती। पर इस वृद्धि का प्रत्येक दल पर सानुपातिक प्रभाव पड़ना चाहिए।

---

[38] पर इसके बावजूद उद्योग की बहुत सी शाखाओं में मैन्यूफ़ैक्चर-प्रणाली के रहते हुए भी यह बात बड़े ही अपूर्ण ढंग से देखने में आती है, क्योंकि मैन्यूफ़ैक्चर को निश्चित रूप से यह मालूम नहीं होता कि उत्पादन की प्रक्रिया की सामान्य रासायनिक एवं भौतिक परिस्थितियों पर कैसे नियंत्रण रखा जाये।

[39] "जब (प्रत्येक मैन्यूफ़ैक्टरी के उत्पाद के विशिष्ट स्वरूप के आधार पर) यह पता लगा लिया जाता है कि उसे कितनी क्रियाओं में बांट देना सबसे अधिक लाभदायक होगा, तथा काम पर लगाये जानेवाले व्यक्तियों की संख्या भी मालूम हो जाती है, तब अन्य ऐसी तमाम मैन्यूफ़ैक्टरियां, जो इस संख्या के किसी प्रत्यक्ष गुणज से काम नहीं लेतीं, वही वस्तु ज़्यादा लागत लगाकर तैयार करेंगी... इस तरह औद्योगिक उद्यमों के आकार को बड़ा करने का एक कारण पैदा हो जाता है।" (Ch. Babbage, *On the Economy of Machinery*, London, 1832, Ch. XXI, pp. 172, 173.)

मजदूरों का वह दल, जिसे औरों से अलग करके कोई ख़ास तफ़सीली काम सौंप दिया गया है, सदृश तत्त्वों से मिलकर बना होता है, और वह ख़ुद पूरे यंत्र का एक संघटक भाग होता है। किंतु बहुत से मैन्यूफ़ैक्चरों में यह दल स्वयं ही श्रम का एक संगठित निकाय होता है, और पूरा यंत्र ऐसे प्राथमिक संघटनों के बार-बार दोहराये जाने अथवा गुणन का फल होता है। मिसाल के लिए, कांच की बोतलों के मैन्यूफ़ैक्चर को ले लीजिये। उसे तीन बुनियादी तौर पर भिन्न अवस्थाओं में बांटा जा सकता है। पहली प्रारंभिक अवस्था होती है, जिसमें कांच के संघटकों को तैयार किया जाता है – रेत और चूने को मिलाना, आदि और उनको गलाकर कांच की एक तरल राशि तैयार की जाती है।[40] इस पहली अवस्था में – और साथ ही बोतलों को सुखानेवाली भट्ठी में से निकालने, छांटने और पैक करने, आदि की अंतिम अवस्था में भी – तफ़सीली काम करनेवाले बहुत से मजदूरों से काम लिया जाता है। इन दोनों अवस्थाओं के बीच में वह अवस्था आती है, जिसे सचमुच कांच को गलाने की अवस्था का नाम दिया जा सकता है और जिसमें उस तरल राशि से बोतलें बनायी जाती हैं। भट्ठी के हर मुंह पर एक दल काम करता है, जिसे "hole" ["सुराख़"] कहते हैं। उसमें एक बोतल बनानेवाला या फ़िनिश करनेवाला होता है, एक फुलानेवाला, एक इकट्ठा करनेवाला, एक रखनेवाला या घिसनेवाला और एक ले जानेवाला होता है। तफ़सीली काम करनेवाले ये पांच मजदूर एक ऐसे क्रियाशील अवयवी की पांच विशेष इंद्रियों के समान होते हैं, जो केवल एक इकाई के रूप में ही काम करता है और इसलिए जो केवल पांचों आदमियों के प्रत्यक्ष सहकार द्वारा ही सक्रिय हो सकता है। यदि एक भी सदस्य अनुपस्थित हो, तो पूरे अवयवी को जैसे लक़वा मार जाता है। किंतु कांच की एक भट्ठी के कई मुंह होते हैं (इंगलैंड में एक भट्ठी के ४ से ६ मुंह तक होते हैं), जिनमें से हरेक में कांच गलाने का एक मिट्टी का बर्तन होता है, जिसमें गला हुआ कांच भरा रहता है, और हरेक मुंह पर इसी प्रकार का पांच मजदूरों का एक दल काम करता है। प्रत्येक दल का संगठन श्रम-विभाजन पर आधारित होता है, मगर अलग-अलग दलों के बीच सरल सहकारिता का संबंध होता है; यह सहकारिता भट्ठी नामक एक उत्पादन-साधन का सामूहिक उपयोग करके उसका अधिक मितव्ययितापूर्ण उपयोग कराती है। इस प्रकार की एक भट्ठी, मय अपने ४-६ दलों के, एक कांच-घर कहलाती है, और कांच की एक मैन्यूफ़ैक्टरी में ऐसे कई कांच-घर और प्रारंभिक तथा अंतिम अवस्थाओं के लिए आवश्यक उपकरण तथा मजदूर होते हैं।

अंत में, जिस प्रकार मैन्यूफ़ैक्चर कुछ हद तक विविध प्रकार की दस्तकारियों के एक में मिल जाने से शुरू होता है, इसी प्रकार वह विकसित होकर विविध प्रकार के मैन्यूफ़ैक्चरों के योग में भी बदल जाता है। उदाहरण के लिए, इंगलैंड के अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर कांच का उत्पादन करनेवाले उद्यम कांच गलाने के मिट्टी के बर्तन अपने लिए ख़ुद तैयार करते हैं, क्योंकि कांच बनाने की क्रिया में उनकी सफलता या असफलता बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि ये बर्तन कितने अच्छे हैं। यहां उत्पादन के एक साधन का मैन्यूफ़ैक्चर भी उत्पाद के मैन्यूफ़ैक्चर के साथ जुड़ जाता है। दूसरी ओर, उत्पाद का मैन्यूफ़ैक्चर कुछ ऐसे अन्य मैन्यूफ़ैक्चरों के साथ जोड़ा जा सकता है, जिनके लिए यह उत्पाद कच्चे माल का काम करता

[40] इंगलैंड में कांच को गलाने की भट्ठी उस भट्ठी से अलग होती है, जिसमें कांच से बोतलें बनायी जाती हैं। बेल्जियम में वही भट्ठी दोनों काम देती है।

है, या जिनके उत्पाद के साथ ख़ुद इस उत्पाद को बाद में मिला दिया जाता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि फ़्लिंट-कांच का मैन्यूफ़ैक्चर कांच-कटाई तथा पीतल-ढलाई के साथ जोड़ दिया जाता है—पीतल-ढलाई के साथ इसलिए कि कांच की बनी विभिन्न वस्तुओं के लिए धातु के चौखटों की आवश्यकता होती है। इस तरह जो विभिन्न प्रकार के मैन्यूफ़ैक्चर एक दूसरे के साथ जोड़ दिये जाते हैं, वे एक अपेक्षाकृत बड़े मैन्यूफ़ैक्चर के कमोबेश अलग-अलग विभाग बन जाते हैं, परंतु साथ ही वे स्वतंत्र क्रियाएं रहते हैं, जिनमें से हरेक का अपना अलग ढंग का श्रम-विभाजन होता है। मैन्यूफ़ैक्चरों के इस प्रकार के योग से जो बहुत तरह का लाभ होता है, उसके बावजूद यह चीज़ ख़ुद अपनी बुनियाद पर विकसित होकर एक पूर्ण प्राविधिक व्यवस्था कभी नहीं बन पाती। यह केवल तभी होता है, जब वह मशीनों से चलनेवाले उद्योग में परिणत हो जाती है।

मैन्यूफ़ैक्चर के काल के शुरू में इस सिद्धांत को स्वीकार तथा प्रतिपादित किया गया था कि पण्यों के उत्पादन में आवश्यक श्रम-काल को कम करने की कोशिश करनी चाहिए,[41] और ख़ास तौर पर कुछ सरल ढंग की प्रारंभिक क्रियाओं के लिए, जिनको बड़े पैमाने पर संपन्न करना आवश्यक होता है और जिनमें बहुत ताक़त इस्तेमाल करने की ज़रूरत पड़ती है, जहां-तहां मशीनों का इस्तेमाल शुरू हो गया था। उदाहरण के लिए, काग़ज़ के मैन्यूफ़ैक्चर के प्रारंभिक काल में रद्दी चिथड़ों के टुकड़े काग़ज़ की मिलों के द्वारा किये जाते थे, और धातु के कारख़ानों में खनिज कूटने का काम कूटने की मशीनों से लिया जाता था।[42] और रोमन साम्राज्य ने तो पन-चक्की के रूप में दुनिया को सभी प्रकार की मशीनों का प्राथमिक रूप दे दिया था।[43] दस्तकारी के युग से हमें क़ुतुबनुमा, बारूद, टाइप की छपाई और अपने आप चलनेवाली घड़ी के महान आविष्कार विरासत में मिले हैं। लेकिन मोटे तौर पर उस युग में मशीनों ने वह गौण भूमिका ही अदा की थी, जो ऐडम स्मिथ ने श्रम-विभाजन की तुलना में उनके लिए नियत की है।[44] १७वीं सदी में मशीनों का जो इक्का-दुक्का इस्तेमाल होने

---

[41] इसके उदाहरण औरों के अलावा डब्ल्यू० पैटी, जॉन बैलेर्स तथा ऐण्ड्रयू यारंटन की रचनाओं में, *The Advantages of the East-India Trade* में और जे० वैंडरलिन्ट की रचना में भी देखे जा सकते हैं।

[42] १६वीं शताब्दी के अंतिम दिनों में भी फ़्रांस में खनिज को कूटने और धोने के लिए खरल और छलनी इस्तेमाल की जाती थीं।

[43] आटा चक्की के इतिहास में मशीनों के विकास के पूरे इतिहास की रूपरेखा मिल जाती है। इंगलैंड में फ़ैक्टरी आज भी "mill" ["चक्की"] कहलाती है। वर्तमान शताब्दी के पहले दशक की जर्मन भाषा की औद्योगिक पुस्तकों में न केवल प्रकृति की शक्तियों से चलनेवाली तमाम मशीनों के लिए, बल्कि उन तमाम फ़ैक्टरियों के लिए भी, जिनमें मशीनों के ढंग के यंत्र इस्तेमाल किये जाते हैं, "mühle" ["चक्की"] शब्द का प्रयोग किया जाता था।

[44] जैसा कि इस रचना की चौथी पुस्तक में हमें और विस्तार के साथ मालूम होगा, श्रम-विभाजन के विषय में ऐडम स्मिथ ने कोई भी नयी प्रस्थापना पेश नहीं की है। परंतु जो बात उनको मुख्यतया मैन्यूफ़ैक्चर के युग का ही अर्थशास्त्री बना देती है, वह यह है कि वह श्रम-विभाजन पर निरंतर ज़ोर देते रहते हैं। मशीनों के लिए उन्होंने जो गौण भूमिका नियत की है, उसके कारण मशीनों से चलनेवाले आधुनिक उद्योग के शुरू के दिनों में लॉडरडेल और बाद के एक काल में यूर को उनका खंडन करने का अवसर मिला। ऐडम स्मिथ ने यह ग़लती

लगा, उसका बहुत ही भारी महत्त्व था, क्योंकि उससे उस काल के महान गणितज्ञों को यांत्रिकी के विज्ञान के सृजन की प्रेरणा एवं व्यावहारिक आधार प्राप्त हुए थे।

तफ़सीली काम करनेवाले अनेक मज़दूरों के योग से जो सामूहिक मज़दूर तैयार होता है, वह एक ऐसा यंत्र है, जो मैन्यूफ़ैक्चर के काल की एक ख़ास विशेषता है। किसी पण्य का उत्पादक बारी-बारी से जो विविध प्रकार की क्रियाएं संपन्न करता है और जो उत्पादन के दौरान एक दूसरे में मिलकर एक हो जाती हैं, वे उत्पादक से अनेक तरह की मांगें करती हैं। एक क्रिया में उसे अधिक शक्ति ख़र्च करनी पड़ती है, दूसरी में अधिक कुशलता की आवश्यकता होती है और किसी अन्य क्रिया में उसे अधिक ध्यान से काम करना पड़ता है। और किसी एक व्यक्ति में ये सारे गुण समान मात्रा में नहीं होते। जब मैन्यूफ़ैक्चर एक बार विभिन्न क्रियाओं को अलग करके एक दूसरे से स्वतंत्र एवं पृथक कर देता है, तो मज़दूर भी अपने सबसे प्रमुख गुणों के आधार पर अलग-अलग क़िस्मों और दलों में बांट दिये जाते हैं। अब यदि एक ओर उनके स्वाभाविक गुणों से वह बुनियाद तैयार होती है, जिसपर श्रम का विभाजन खड़ा किया जाता है, तो दूसरी ओर, जब मैन्यूफ़ैक्चर एक बार शुरू हो जाता है, तो वह ख़ुद मज़दूरों में कुछ ऐसी नयी शक्तियों को विकसित कर देता है, जो अपने स्वभाव से ही केवल कुछ सीमित और ख़ास ढंग के कामों के लिए उपयुक्त होती हैं। अब सामूहिक मज़दूर के पास वे सारे गुण समान रूप से श्रेष्ठतम मात्रा में मौजूद होते हैं, जिनकी उत्पादन के लिए आवश्यकता है, और वह अपनी इंद्रियों से, यानी ख़ास मज़दूरों अथवा मज़दूरों के ख़ास दलों से, केवल उनके ख़ास काम कराके इन तमाम को अधिक से अधिक मितव्ययिता के साथ ख़र्च करता है।[45] तफ़सीली काम करनेवाला मज़दूर जब किसी सामूहिक मज़दूर का भाग हो जाता है, तो उसका एकांगीपन और उसके दोष उसके गुण बन जाते हैं।[46] केवल एक ही चीज़ करने की आदत उसे एक ऐसे औज़ार में बदल देती है, जिसके कभी चूक नहीं होती, और पूरे यंत्र के साथ उसका जो संबंध होता है, वह उसे मशीन के पुर्ज़ों जैसी नियमितता के साथ काम करने के लिए विवश कर देता है।[47]

भी की है कि श्रम के औज़ारों के उस विभेदीकरण को, जिसमें ख़ुद तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूर भी सक्रिय भाग लेते हैं, उन्होंने मशीनों के आविष्कार के साथ गड्डमड्ड कर दिया है, जब कि असल में मशीनों के आविष्कार में मैन्यूफ़ैक्टरियों के मज़दूर भाग नहीं लेते, बल्कि विद्वान लोग, दस्तकार और यहां तक कि किसान (ब्रिंडले) भाग लेते हैं।

[45] "कारख़ानेदार काम को अलग-अलग क्रियाओं में बांट देता है, जिनमें से हरेक के लिए अलग-अलग मात्रा में कुशलता की या शक्ति की आवश्यकता होती है। और तब वह कुशलता तथा शक्ति दोनों की ठीक वह मात्रा ख़रीद सकता है, जिसकी प्रत्येक क्रिया के लिए आवश्यकता है। इसके मुक़ाबले में, यदि पूरा काम एक मज़दूर को करना पड़े, तो उस एक व्यक्ति में इतनी कुशलता होनी चाहिए कि वह इस वस्तु का उत्पादन जिन क्रियाओं में बंटा हुआ है, उनमें से सबसे अधिक जटिल क्रिया को कर सके, और इतना बल होना चाहिए कि वह उनमें से सबसे अधिक श्रमसाध्य क्रिया को भी संपन्न कर सके।" (Ch. Babbage, l. c., Ch. XIX.)

[46] उदाहरण के लिए, अकसर मज़दूरों की किन्हीं ख़ास मांस-पेशियों का असाधारण विकास हो जाता है, हड्डियां मुड़ जाती हैं, इत्यादि।

[47] एक जांच-कमिश्नर ने यह प्रश्न पूछा था कि नौजवानों को किस तरह बराबर काम में लगाकर रखा जाता है। कांच की एक मैन्यूफ़ैक्टरी के जनरल मैनेजर मि० विलियम मार्शल ने इसका यह बिल्कुल सही उत्तर दिया कि "वे अपने काम के प्रति लापरवाही नहीं दिखा

सामूहिक मज़दूर को चूंकि सरल और जटिल, भारी और हल्के, दोनों प्रकार के काम करने होते हैं, इसलिए उसकी इंद्रियों को, उसकी अलग-अलग श्रम-शक्तियों को अलग-अलग मात्रा में प्रशिक्षण की ज़रूरत होती है, और इसलिए उनका अलग-अलग मूल्य होना चाहिए। अतएव मैन्यूफ़ैक्चर में श्रम-शक्तियों का एक श्रेणी-क्रम विकसित हो जाता है, जिसके अनुरूप मज़दूरियों का भी एक क्रम होता है। यदि एक ओर, अलग-अलग मज़दूर पूरे जीवन के लिए एक सीमित ढंग के काम के लिए वक़्फ़ हो जाते हैं, तो दूसरी ओर, श्रेणी-क्रम की अलग-अलग क्रियाएं मज़दूरों की स्वाभाविक तथा उपार्जित, दोनों प्रकार की क्षमताओं के अनुसार उनमें बांट दी जाती हैं।[48] किंतु उत्पादन की प्रत्येक क्रिया में कुछ ऐसे सरल काम भी होते हैं, जिनको करने की क्षमता हर आदमी में होती है। पर अब इन कामों का भी क्रियाशीलता के अपेक्षाकृत अधिक सारगर्भित क्षणों से संबंध-विच्छेद हो जाता है और वे ख़ास तौर पर नियुक्त किये गये मज़दूरों के विशिष्ट काम बनकर रह जाते हैं। इसलिए मैन्यूफ़ैक्चर जिस दस्तकारी पर भी अधिकार कर लेता है, उसी में वह तथाकथित अकुशल मज़दूरों का एक वर्ग पैदा कर देता है, जब कि दस्तकारी में इस वर्ग के लिए कभी कोई स्थान नहीं होता था। यदि मैन्यूफ़ैक्चर आदमी की संपूर्ण क्षमता को ख़त्म करके उसकी एकांगी विशेषता को पूर्णतया विकसित कर देता है, तो उसके साथ-साथ वह सभी प्रकार के विकास के अभाव को भी एक विशेषता में परिणत करना आरंभ कर देता है। मज़दूरों के श्रेणी-क्रम के साथ-साथ कुशल तथा अकुशल मज़दूरों का यह सरल विभाजन भी सामने आता है। अकुशल मज़दूरों के लिए काम सीखने के काल के ख़र्च की ज़रूरत नहीं रहती; कुशल मज़दूरों के लिए दस्तकारों की तुलना में यह ख़र्चा कम हो जाता है, क्योंकि उनके काम पहले से अधिक सरल हो जाते हैं। दोनों सूरतों में श्रम-शक्ति का मूल्य गिर जाता है।[49] जब कभी श्रम-क्रिया के विच्छेदन के फलस्वरूप ऐसे नये और व्यापक काम पैदा हो जाते हैं, जिनका दस्तकारियों में या तो कोई स्थान नहीं था या था, तो बहुत कम, तब यह नियम लागू नहीं होता। काम को सीखने की

सकते। एक बार काम शुरू कर देने के बाद उनको बराबर काम करते रहना पड़ता है। वे तो बिल्कुल मशीन के पुर्ज़ों की तरह होते हैं।" (*Children's Employment Commission, 4th Report*, 1865, p. 247.)

[48] डा० यूर ने मशीनों से चलनेवाले उद्योग के अपने गुणगान में मैन्यूफ़ैक्चर के विशिष्ट स्वरूप का उद्घाटन करने में अपने से पहले के अर्थशास्त्रियों की अपेक्षा, जिनकी इस विषय का खंडन-मंडन करने में उनकी जैसी रुचि नहीं थी, और यहां तक कि अपने समकालीन अर्थशास्त्रियों की अपेक्षा भी अधिक कुशाग्रता का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए, बैबेज को ही लीजिये, जो गणितज्ञ तथा यांत्रिकी के विद्वान के रूप में यूर से श्रेष्ठ हैं, पर जिन्होंने मशीनों से चलनेवाले उद्योग की विवेचना केवल मैन्यूफ़ैक्चर की दृष्टि से की है। यूर ने लिखा है: "प्रत्येक प्रकार के श्रम को समुचित मूल्य तथा लागत का एक मज़दूर स्वाभाविक ढंग से मिल जाता है। यह चीज़ श्रम-विभाजन का सारतत्त्व है।" दूसरी ओर, यूर ने इस विभाजन को "मनुष्यों की अलग-अलग ढंग की योग्यताओं के अनुरूप श्रम का अनुकूलन" कहा है और अंत में उन्होंने पूरी मैन्यूफ़ैक्चर-प्रणाली का "श्रम के विभाजन अथवा क्रमस्थापन की प्रणाली" तथा "कुशलता की अलग-अलग मात्राओं में श्रम के विभाजन", इत्यादि के रूप में वर्णन किया है। (Ure, *Philosophy of Manufactures*, pp. 19-23, passim.)

[49] "हर दस्तकार क्योंकि... अब एक काम में अभ्यास द्वारा पारंगत बन सकता है, इसलिए... वह पहले से सस्ता मज़दूर हो जाता है।" (Ure, l. c., p. 19.)

अवधि का ख़र्चा कम हो जाने या बिल्कुल ग़ायब हो जाने से श्रम-शक्ति के मूल्य में जो गिराव आता है, उसका मतलब यह होता है कि पूंजी के हित में बेशी मूल्य सीधे तौर पर उतना ही बढ़ जाता है। कारण कि जो भी चीज़ श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल को छोटा करती है, वह दूसरी ओर, बेशी श्रम के क्षेत्र को विस्तृत भी कर डालती है।

अनुभाग ४ – मैन्यूफ़ैक्चर में श्रम-विभाजन और समाज में श्रम-विभाजन

हमने पहले मैन्यूफ़ैक्चर की उत्पत्ति पर विचार किया, फिर उसके सरल तत्त्वों – तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूर तथा उसके औज़ारों – पर और अंत में इस यंत्र के संपूर्ण स्वरूप पर। अब हम थोड़ा इस विषय पर विचार करेंगे कि मैन्यूफ़ैक्चर में पाये जानेवाले श्रम-विभाजन और उस सामाजिक श्रम-विभाजन के बीच क्या संबंध है, जो पण्यों की सभी प्रकार की उत्पादन-व्यवस्थाओं का आधार होता है।

यदि हम केवल श्रम की ओर ही ध्यान दें, तो जब सामाजिक उत्पादन को उसके मुख्य भागों में, अथवा प्रजातियों में, जैसे कि खेती, उद्योगों, आदि में बांट दिया जाता है, तब हम उसे सामान्य श्रम-विभाजन कह सकते हैं; और जब ये प्रजातियां जातियों तथा उपजातियों में बांट दी जाती हैं, तब हम उसे विशिष्ट श्रम-विभाजन कह सकते हैं; और वर्कशाप के भीतर जो श्रम-विभाजन होता है, उसे हम व्यष्टिक या तफ़सीली श्रम-विभाजन कह सकते हैं।[50]

समाज में जो श्रम-विभाजन होता है और उसके अनुरूप अलग-अलग व्यक्ति जिस प्रकार एक ख़ास धंधे से बंध जाते हैं, वह ठीक मैन्यूफ़ैक्चर की तरह दो विरोधी प्रस्थान-बिंदुओं से विकसित होता है। परिवार के भीतर,[50a] और कुछ और विकास होने के बाद क़बीले के

---

[50] "श्रम-विभाजन अत्यधिक भिन्न प्रकार के धंधों को अलग करने के रूप में आरंभ होता है और उस विभाजन तक बढ़ता चला जाता है, जिसमें कई मज़दूर एक ही उत्पाद की तैयारी के काम को आपस में बांट लेते हैं, जैसा कि मैन्यूफ़ैक्चर में होता है।" (Storch, *Cours d' Économie Politique*, Paris Ed., t. I, p. 173.) "जो क़ौमें सभ्यता की एक ख़ास मंज़िल तक पहुंच गयी हैं, उनके यहां हमें श्रम का तीन प्रकार का विभाजन मिलता है। पहला वह, जिसे हम सामान्य विभाजन कहेंगे और जिसमें खेती, उद्योग और व्यापार संबंधी उत्पादकों के बीच भेद किया जाता है, जो कि राष्ट्रीय उत्पादन की तीन प्रमुख शाखाएं हैं। दूसरा वह, जिसे विशिष्ट विभाजन कहा जा सकता है और जिसमें प्रत्येक प्रकार का श्रम उसके जैसे श्रमों में बांट दिया जाता है... और अंत में श्रम का तीसरा विभाजन वह, जिसे सचमुच धंधों का अथवा कामों का विभाजन कहा जा सकता है और जो विभाजन अलग-अलग शिल्पों या धंधों के भीतर होता है... तथा जो अधिकतर मैन्यूफ़ैक्चरों और वर्कशापों के भीतर पाया जाता है।" (Skarbek, l. c., pp. 84, 85.)

[50a] **तीसरे संस्करण की पाद-टिप्पणी :** बाद को मनुष्य की आदिमकालीन अवस्था का बहुत गहरा अध्ययन करने के बाद लेखक इस नतीजे पर पहुंचा कि असल में परिवार ने विकसित होकर क़बीले का रूप नहीं धारण किया, बल्कि इसके विपरीत क़बीला ही मानव-समुदाय का प्रथम एवं स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित रूप था, जिसका आधार रक्त-संबंध था, और जब क़बीले के सूत्र पहले-पहल ढीले पड़ने शुरू हुए, तब उसी में से परिवार के विविध प्रकार के अनेक रूप निकले – फ़े० एं०।

भीतर, लिंग और आयु के भेदों के कारण एक प्रकार का श्रम-विभाजन स्वाभाविक ढंग से पैदा हो जाता है, और इसलिए यह श्रम-विभाजन विशुद्ध शरीरक्रियात्मक कारकों पर आधारित होता है। समुदाय का विस्तार होने, आबादी के बढ़ने और ख़ास तौर से विभिन्न क़बीलों के बीच झगड़े होने तथा एक क़बीले को दूसरे क़बीले के द्वारा जीत लिये जाने पर इस विभाजन की सामग्री भी बढ़ जाती है। दूसरी ओर, जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूं, जहां-जहां विभिन्न परिवार, क़बीले तथा समुदाय एक दूसरे के संपर्क में आते हैं, उन बिंदुओं पर उत्पादों का विनिमय आरंभ हो जाता है। कारण कि सभ्यता के आरंभ में अलग-अलग व्यक्ति नहीं, बल्कि परिवार, क़बीले, आदि अपनी स्वतंत्र हैसियत से एक दूसरे से मिलते थे। अलग-अलग समुदायों को अपने प्राकृतिक वातावरण में अलग-अलग प्रकार के उत्पादन के और जीविका के साधन मिलते हैं। इसलिए उनकी उत्पादन की विधियां, रहन-सहन की प्रणालियां और उनके उत्पाद भी अलग-अलग ढंग के होते हैं। जब विभिन्न समुदायों का एक दूसरे से संपर्क क़ायम होता है, तब इस स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित भेद के कारण ही उनके बीच उत्पादों का पारस्परिक विनिमय होने लगता है और तब उत्पादन की ये वस्तुएं धीरे-धीरे पण्य में बदल जाती हैं। विनिमय ख़ुद उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों के बीच भेद पैदा नहीं करता, बल्कि जो भेद पहले से मौजूद होते हैं, वह उनके बीच बस एक संबंध स्थापित कर देता है और इस तरह उनको एक परिवर्द्धित समाज के सामूहिक उत्पादन की न्यूनाधिक अन्योन्याश्रित शाखाओं में बदल देता है। परिवर्द्धित समाज में सामाजिक श्रम-विभाजन उत्पादन के उन अलग-अलग क्षेत्रों के बीच होनेवाले विनिमय से पैदा होता है, जो मूलतया एक दूसरे से पृथक और स्वतंत्र होते हैं। परंतु परिवार या क़बीले में, जहां प्रस्थान-बिंदु शरीरक्रियात्मक श्रम-विभाजन है, प्रधानतया दूसरे समुदायों के साथ पण्यों का विनिमय होने के कारण एक गठी हुई इकाई की विशिष्ट इंद्रियां ढीली पड़ जाती हैं, टूटकर अलग हो जाती हैं और अंत में एक दूसरी से इतनी पृथक हो जाती हैं कि विभिन्न प्रकार के कामों के बीच केवल पण्यों के रूप में उनके उत्पादों के विनिमय का ही एकमात्र नाता रह जाता है। एक सूरत में जो पहले स्वावलंबी था, उसे अवलंबी बना दिया जाता है; दूसरी सूरत में जो पहले अवलंबी था, उसे स्वावलंबी कर दिया जाता है।

ऐसे प्रत्येक श्रम-विभाजन का आधार, जो अच्छी तरह विकसित हो चुका है और जो पण्यों के विनिमय के कारण अस्तित्व में आया है, शहर और देहात का अलगाव होता है।[51] यह तक कहा जा सकता है कि समाज के पूरे आर्थिक इतिहास का सारांश इस विरोध की प्रगति में निहित है। लेकिन फ़िलहाल हम इस विषय की चर्चा न करके आगे बढ़ते हैं।

जिस तरह मैन्यूफ़ैक्चर में श्रम-विभाजन के अस्तित्व में आने के लिए यह भौतिक शर्त आवश्यक होती है कि एक ख़ास संख्या में मज़दूरों से एक साथ काम लिया जाये, उसी तरह

---

[51] सर जेम्स स्टुअर्ट ही ऐसे अर्थशास्त्री हैं, जिन्होंने इस विषय का सबसे अच्छा विवेचन किया है। उनकी पुस्तक का, जो *Wealth of Nations* से दस वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी, आज भी लोगों को कितना कम ज्ञान है, यह इस बात से प्रकट हो जाता है कि माल्थस के प्रशंसकों को यह भी मालूम नहीं कि आबादी के बारे में माल्थस की पुस्तक के पहले संस्करण में, उसके विशुद्ध आलंकारिक भाग को छोड़कर, स्टुअर्ट की रचना के उद्धरणों तथा उससे कुछ कम मात्रा में वालेस तथा टाउनसेंड की रचनाओं के उद्धरणों के सिवा और कुछ नहीं है।

समाज में श्रम-विभाजन के अस्तित्व में आने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी आबादी काफ़ी बड़ी और काफ़ी घनी हो। कारण कि यहां पर आबादी की संख्या और घनत्व वही काम करते हैं, जो वर्कशाप में मजदूरों का एक ख़ास संख्या में इकट्ठा होना।[52] फिर भी यह घनत्व न्यूनाधिक सापेक्ष ही होता है। यदि अपेक्षाकृत विरल आबादी वाले किसी देश में संचार के साधन ख़ूब विकसित हैं और किसी दूसरे देश में अपेक्षाकृत घनी आबादी के होते हुए भी संचार के साधन कम विकसित हैं, तो पहले प्रकार के देश में अधिक घनी आबादी समझी जायेगी, और इस अर्थ में, मिसाल के लिए, अमरीकी संघ के उत्तरी राज्यों की आबादी हिंदुस्तान की आबादी से अधिक घनी है।[53]

चूंकि पण्यों का उत्पादन तथा परिचलन पूंजीवादी उत्पादन विधि की पूर्वशर्तें हैं, इसलिए मैन्यूफ़ैक्चर में श्रम-विभाजन के लिए यह ज़रूरी है कि समाज में श्रम-विभाजन पहले ही विकास के एक ख़ास स्तर पर पहुंच चुका हो। इसी बात को यदि विपरीत क्रम में लिया जाये, तो मैन्यूफ़ैक्चर में पाये जानेवाले श्रम-विभाजन का समाज में पाये जानेवाले श्रम-विभाजन पर प्रभाव पड़ता है; उसके फलस्वरूप वह विकास करता है और उसका विस्तार होता है। साथ ही श्रम के औज़ारों के विभेदीकरण के साथ-साथ इन औज़ारों को तैयार करनेवाले उद्योगों का विभेदीकरण भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है।[54] यदि किसी ऐसे उद्योग पर, जो पहले अन्य उद्योगों के साथ संबंधित अवस्था में – प्रमुख या गौण उद्योग के रूप में – किसी एक उत्पादक के द्वारा चलाया जाता था, मैन्यूफ़ैक्चर-प्रणाली छा जाती है, तो इन उद्योगों का पारस्परिक संबंध तत्काल ही टूट जाता है और वे एक दूसरे से स्वतंत्र हो जाते हैं। यदि यह प्रणाली किसी पण्य के उत्पादन की किसी एक ख़ास अवस्था में व्याप्त हो जाती है, तो उसके उत्पादन की बाक़ी अवस्थाएं स्वतंत्र उद्योगों में बदल जाती हैं। हम पहले ही यह कह चुके हैं कि जहां तैयार वस्तु महज़ आपस में जोड़ दिये गये कई-एक भागों की बनी होती है, वहां पर तफ़सीली काम ख़ुद पुनः सचमुच अलग-अलग दस्तकारियों का रूप धारण कर सकते हैं। मैन्यूफ़ैक्चर में श्रम-विभाजन को और अच्छी तरह कार्यान्वित करने के लिए उत्पादन की कोई एक शाखा उसके कच्चे माल के विभिन्न प्रकारों के अनुसार अथवा एक ही कच्चे माल द्वारा धारण किये गये विभिन्न रूपों के अनुसार बहुत से और कुछ हद तक तो सर्वथा नये मैन्यूफ़ैक्चरों में बांट

---

[52] "आबादी के घनत्व की एक ऐसी ख़ास मात्रा सामाजिक आदान-प्रदान के लिए तथा साथ ही शक्तियों के उस योग के लिए भी उपयुक्त होती है, जिसके द्वारा श्रम की उपज बढ़ा दी जाती है।" (James Mill, *Elements of Political Economy*, London, 1821, p. 50.) "जैसे-जैसे मजदूरों की संख्या बढ़ती है, वैसे-वैसे समाज की उत्पादक शक्ति भी इस वृद्धि के मिश्र अनुपात में बढ़ती जाती है, क्योंकि वह श्रम-विभाजन के प्रभाव से गुणित हो जाती है।" (Th. Hodgskin, *Popular Political Economy*, p. 120.)

[53] १८६१ के बाद कपास की मांग बहुत बढ़ जाने के फलस्वरूप हिंदुस्तान के कुछ घनी आबादी वाले इलाक़ों में चावल की खेती को कम करके कपास की पैदावार बढ़ायी गयी। उसका नतीजा यह हुआ कि विभिन्न क्षेत्रों में स्थानीय अकाल पड़ने लगे, क्योंकि संचार के साधनों के दोषपूर्ण होने के कारण एक इलाक़े में चावल की कमी होने पर दूसरे इलाक़े से चावल मंगाना संभव नहीं हुआ।

[54] चुनांचे बुनकरों की ढरकियां बनाना १७ वीं सदी में ही हालैंड के उद्योग की एक विशेष शाखा बन गया था।

दी जाती है। चुनांचे अकेले फ़्रांस में १८वीं सदी के पूर्वार्द्ध में १०० से ज़्यादा प्रकार के रेशमी कपड़े बुने जाते थे, और एविन्यों में तो यह क़ानून लागू था कि "हर शागिर्द को केवल एक क़िस्म का कपड़ा तैयार करने पर ध्यान देना चाहिए और एक साथ कई क़िस्म के कपड़े तैयार करना नहीं सीखना चाहिए।" श्रम के क्षेत्रीय विभाजन को, जो उत्पादन की कुछ ख़ास शाखाओं को देश के कुछ ख़ास ज़िलों तक सीमित कर देता है, मैन्यूफ़ैक्चर-प्रणाली से नया प्रोत्साहन प्राप्त होता है, क्योंकि यह प्रणाली हर प्रकार की विशेष सुविधा से लाभ उठाती है।[55] मैन्यूफ़ैक्चर के युग के लिए जिन सामान्य परिस्थितियों का होना आवश्यक है, उनमें औपनिवेशिक व्यवस्था तथा दुनिया की मंडियों का खुल जाना भी शामिल हैं, और इन दोनों ही बातों से समाज में श्रम-विभाजन के विकास को बहुत मदद मिलती है। यहां हम इस बात पर पूरी तरह विचार नहीं कर सकते कि श्रम-विभाजन किस प्रकार न केवल आर्थिक क्षेत्र पर, बल्कि समाज के अन्य तमाम क्षेत्रों पर भी छा जाता है और हर जगह वह किस तरह आदमियों को छांटने और उनका विशिष्टीकरण करने और मनुष्य की अन्य तमाम क्षमताओं को नष्ट करके उसकी केवल एक क्षमता का विकास करने की सर्वग्राही प्रणाली की नींव डालता है, जिसे देखकर ही ऐडम स्मिथ के गुरु ए० फ़र्ग्यूसन ने यह कहा था कि "हमारी क़ौम ग़ुलामों की क़ौम बन गयी है, और हमारे यहां कोई स्वतंत्र नागरिक नहीं है।"[56]

लेकिन समाज में पाये जानेवाले श्रम-विभाजन और एक वर्कशाप के भीतर पाये जानेवाले श्रम-विभाजन के बीच जो बहुत सी समानताएं और संबंध दिखायी देते हैं, उन सबके बावजूद ये दोनों न केवल मात्रा में, बल्कि मूल प्रकृति में भी भिन्न होते हैं। दोनों का सादृश्य सबसे अधिक निर्विवाद रूप में वहां सामने आता है, जहां व्यवसाय की विभिन्न शाखाएं एक अदृश्य संबंध से जुड़ी होती हैं। उदाहरण के लिए, ढोर पालनेवाला खालें तैयार करता है, चमड़ा पकानेवाला खालों से चमड़ा तैयार करता है और मोची चमड़े के जूते बनाता है। यहां पर प्रत्येक जो वस्तु तैयार करता है, उसे बनाकर वह केवल उसके अंतिम रूप की ओर एक क़दम उठाता है, और यह अंतिम रूप सबके संयुक्त श्रम का उत्पाद होता है। इसके अलावा वे तमाम उद्योग भी हैं, जो ढोर पालनेवाले, चमड़ा पकानेवाले और मोची को उत्पादन के साधन उपलब्ध कराते हैं। अब ऐडम स्मिथ की तरह हम भी बड़ी आसानी से यह कल्पना कर सकते हैं कि उपर्युक्त सामाजिक श्रम-विभाजन और मैन्यूफ़ैक्चर में पाये जानेवाले श्रम-विभाजन का अंतर केवल एक मनोगत अंतर है, जिसका अस्तित्व केवल दर्शक के लिए ही है। मैन्यूफ़ैक्चर में दर्शक एक दृष्टि में तमाम क्रियाओं को एक ही स्थान में संपन्न होते हुए देख सकता है, जब कि ऊपर जो उदाहरण दिया गया है, उसमें काम चूंकि बहुत लंबे-चौड़े क्षेत्र में फैला हुआ होता है और श्रम की प्रत्येक शाखा में चूंकि लोगों की एक बड़ी संख्या काम करती है, इस-

---

[55] "क्या इंगलैंड का ऊनी उद्योग कई-एक ऐसे हिस्सों या शाखाओं में नहीं बंट गया है, जो उन ख़ास स्थानों से बंधे हुए हैं, जहां केवल अथवा मुख्यतया उसी प्रकार का उत्पादन होता है, जैसे सॉमरसेटशायर में महीन कपड़े, यॉर्कशायर में मोटा कपड़ा, एक्सटर में दोहरे अर्ज़ का कपड़ा, सडबरी में स्वा नामक कपड़ा, नॉरविक में क्रेप, केंडल में सूत के ताने और ऊन के बाने का कपड़ा, व्हिटनी में कंबल और उसी तरह अन्य प्रकार के कपड़े अन्य स्थानों में तैयार होते हैं।" (Berkeley, *The Querist*, 1751, § 520.)

[56] A. Ferguson, *History of Civil Society*, Edinburgh, 1767, Part IV, Sect. II, p. 285.

लिए इन शाखाओं का संबंध आंखों से ओझल हो जाता है।[57] लेकिन ढोर पालनेवाले, चमड़ा कमानेवाले और मोची के स्वतंत्र श्रमों को जोड़नेवाली क्या चीज़ है? वह यह तथ्य है कि इन सबका अलग-अलग उत्पाद पण्य होता है। दूसरी ओर, मैन्यूफ़ैक्चर में पाये जानेवाले श्रम-विभाजन का खास लक्षण बननेवाली क्या चीज़ होती है? यह तथ्य कि तफ़सीली काम करनेवाला मज़दूर कोई पण्य तैयार नहीं करता।[58] तफ़सीली काम करनेवाले सभी मज़दूरों का संयुक्त उत्पाद ही पण्य होता है।[58a] समाज में श्रम-विभाजन उद्योग की अलग-अलग

---

[57] ऐडम स्मिथ ने कहा है कि जिसे सचमुच मैन्यूफ़ैक्चर कहा जा सकता है, उसमें इसलिए अधिक श्रम-विभाजन मालूम पड़ता है कि "जो लोग काम की अलग-अलग शाखाओं में नौकर रखे जाते हैं, वे अकसर एक ही वर्कशाप में इकट्ठा किये जा सकते हैं और तुरंत दर्शक की निगाह के सामने लाये जा सकते हैं। इसके विपरीत उन बड़े-बड़े मैन्यूफ़ैक्चरों में (!), जिनको अधिकतर लोगों की अधिकतर आवश्यकताओं को पूरा करना है, काम की प्रत्येक अलग-अलग शाखा में इतनी बड़ी संख्या में मज़दूरों को नौकर रखा जाता है कि उन सबको एक वर्कशाप में इकट्ठा करना असंभव होता है... इनमें विभाजन इतना स्पष्ट नहीं होता।" (A. Smith, *Wealth of Nations*, Book I, Ch. 1.) इसी अध्याय का वह प्रसिद्ध अंश, जो इन शब्दों के साथ आरंभ होता है कि "किसी सभ्य समृद्ध देश में किसी अत्यंत साधारण कारीगर या दिन-मजदूर के निवास को देखिये," इत्यादि, और जिसमें आगे चलकर यह वर्णन मिलता है कि एक साधारण मजदूर की आवश्यकताओं को पूरा करने में विभिन्न प्रकार के कितने अधिक उद्योग भाग लेते हैं,—यह पूरा अंश लगभग शब्दश: बी० दे मैंदेवील की रचना *Fable of the Bees, or Private Vices, Public Benefits* में उनकी टिप्पणियों से लिया गया है (पहला संस्करण, बिना टिप्पणियों के, १७०६; टिप्पणियों सहित, १७१४)।

[58] "अब कोई ऐसी चीज़ नहीं रह जाती, जिसे हम व्यक्तिगत श्रम का स्वाभाविक पुरस्कार कह सकें। अब तो प्रत्येक मज़दूर एक पूरी इकाई का कोई भाग पैदा करता है, और प्रत्येक भाग का चूंकि अपने में कोई मूल्य अथवा उपयोगिता नहीं होती, इसलिए ऐसी कोई चीज़ नहीं होती, जिसे पकड़कर मज़दूर यह कह सके कि "यह मेरा उत्पाद है, इसे मैं अपने पास रखूंगा।" (*Labour Defended against the Claims of Capital*, London, 1825, p. 25.) इस प्रशंसनीय रचना के लेखक टॉमस हॉजस्किन हैं। मैं उनको पहले भी उद्धृत कर चुका हूं।

[58a] समाज में और मैन्यूफ़ैक्चर में पाये जानेवाले श्रम-विभाजन का यह भेद व्यावहारिक रूप में यांकियों के सामने प्रकट हुआ था। गृह-युद्ध के काल में वाशिंगटन में जिन नये करों की ईजाद की गयी थी, उनमें से एक "सभी औद्योगिक उत्पादों पर" लगनेवाली ६ प्रतिशत की चुंगी थी। सवाल पैदा हुआ कि औद्योगिक उत्पाद क्या है? विधायिका ने जवाब दिया: पैदा चीज़ तब होती है, "जब वह बनायी जाती है", और चीज़ बनती उस वक़्त है, जब वह बिक्री के लिए तैयार हो जाती है। अब बहुत सी मिसालों में से एक को लीजिये। इसके पहले न्यूयार्क और फ़िलाडेलफ़िया के कारख़ानेदारों को छतरियों को मय उनके तमाम सामान के "बनाने" की आदत थी। लेकिन छतरी चूंकि एक विविध भागों से मिल-जुलकर बनी वस्तु है, इसलिए धीरे-धीरे ये भाग ख़ुद अलग-अलग स्थानों में स्वतंत्र रूप से संचालित अनेक उद्योगों का उत्पाद बन गये। छतरियों की मैन्यूफ़ैक्टरियों में ये भाग अलग-अलग पण्यों के रूप में प्रवेश करते थे, और वहां उन्हें एक में जोड़ दिया जाता था। इस तरह जोड़ी गयी वस्तुओं को यांकियों ने "समुच्चित वस्तुओं" का नाम दिया, जो नाम उनके सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि उनके रूप में "करों का समुच्चयन" कर दिया जाता है। इस प्रकार छतरी पहले अपने प्रत्येक अंश पर ६ प्रतिशत और फिर अपने पूरे दाम पर भी ६ प्रतिशत की चुंगी का "समुच्चयन" करती है।

शाखाओं के उत्पाद की ख़रीद और बिक्री के फलस्वरूप शुरू होता है, जब कि एक वर्कशाप के भीतर तरह-तरह के तफ़सीली कामों के बीच पाया जानेवाला संबंध इस कारण होता है कि कई मज़दूरों ने अपनी श्रम-शक्ति एक पूंजीपति के हाथ बेच दी है, जो उसका एक संयुक्त श्रम-शक्ति के रूप में प्रयोग कर रहा है। वर्कशाप के भीतर श्रम-विभाजन का मतलब यह होता है कि उत्पादन के साधनों का एक पूंजीपति के हाथों में जमाव हो गया है; समाज में श्रम-विभाजन का मतलब यह होता है कि उत्पादन के साधन पण्यों के बहुत से स्वतंत्र उत्पादकों के बीच बिखर गये हैं। जहां वर्कशाप के भीतर सानुपातिकता का लौह नियम मज़दूरों की एक निश्चित संख्या को कुछ निश्चित कामों के अधीन बना देता है, वहां वर्कशाप के बाहर, समाज में, उत्पादकों तथा उनके उत्पादन के साधनों को उद्योग की विभिन्न शाखाओं के बीच बांटने के मामले में संयोग और मनमानी का राज रहता है। यह सच है कि उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में निरंतर एक संतुलन पर पहुंचने की प्रवृत्ति होती है। कारण कि एक ओर तो जहां किसी भी पण्य के प्रत्येक उत्पादक को किसी सामाजिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए कोई उपयोग-मूल्य पैदा करना पड़ता है और इन आवश्यकताओं के विस्तार में परिमाणात्मक दृष्टि से अंतर होते हुए भी उनके बीच एक अंदरूनी संबंध होता है, जो उनके अनुपातों को एक नियमित व्यवस्था का रूप दे देता है, तथा यह व्यवस्था स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित होती है, वहां, दूसरी ओर, अंत में पण्यों के मूल्य का नियम यह तय करता है कि समाज काम का कुल जितना समय ख़र्च कर सकता है, पण्यों के प्रत्येक विशिष्ट वर्ग पर वह उसका कितना भाग ख़र्च करेगा। लेकिन उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों की संतुलन पर पहुंचने की यह अनवरत प्रवृत्ति केवल संतुलन के लगातार बिगड़ते रहने के कारण प्रतिक्रिया के रूप में ही अमल में आती है। वर्कशाप के भीतर श्रम-विभाजन जिस a priori [अनुभवनिरपेक्ष] प्रणाली के पर नियमित रूप से लागू किया जाता है, वही प्रणाली समाज के भीतर होनेवाले श्रम-विभाजन में a posteriori [अनुभवसापेक्ष] बन जाती है, प्रकृति द्वारा थोपी गयी एक ऐसी आवश्यकता बन जाती है, जो उत्पादकों की नियमविहीन मनमानी को नियंत्रण में रखती है और मंडी के भावों के बैरोमीटर के उतार-चढ़ाव में देखी जा सकती है। वर्कशाप के भीतर श्रम-विभाजन का मतलब मज़दूरों पर पूंजीपति का निर्विवाद अधिकार होता है, और वे एक ऐसे यंत्र के पुर्ज़े भर होते हैं, जो पूंजीपति के स्वामित्व में है। समाज का श्रम-विभाजन पण्यों के उन स्वतंत्र उत्पादकों को एक दूसरे के संपर्क में लाता है, जो प्रतियोगिता के सिवा और किसी का प्राधिकार नहीं मानते; जो केवल अपने पारस्परिक हितों के दबाव की उस ज़बर्दस्ती को मानते हैं, जिसका महत्त्व पशुजगत में bellum omnium contra omnes [सबके ख़िलाफ़ सबका युद्ध] के समान है, जो प्रत्येक जाति के अस्तित्व के लिए आवश्यक परिस्थितियों को न्यूनाधिक सुरक्षित रखता है। जो बुर्जुआ दिमाग़ वर्कशाप के भीतर होनेवाले श्रम-विभाजन की, मज़दूर का समस्त जीवन एक आंशिक क्रिया के लिए समर्पित हो जाने की और उसके पूर्णतया पूंजी के अधीन बन जाने की प्रशंसा करता है और कहता है कि यह श्रम का एक ऐसा संगठन है, जिससे उसकी उत्पादिता बढ़ जाती है, वही बुर्जुआ दिमाग़ जब उत्पादन की क्रिया का सामाजिक नियंत्रण तथा नियमन करने की कोई भी सजग कोशिश की जाती है, तो उसकी उतने ही ज़ोर-शोर से निंदा करता है और कहता है कि यह संपत्ति के अधिकार, स्वाधीनता तथा पूंजीपतियों के अनियंत्रित ढंग से इच्छानुसार काम करने के हक़ जैसी पवित्र वस्तुओं का अतिक्रमण करने की कोशिश है। यह एक बहुत सारगर्भित बात है कि फ़ैक्टरी-व्यवस्था के

बड़े जोशीले समर्थकों के पास समाज के श्रम का सामान्य संगठन करने के विचार के विरुद्ध इससे ज़्यादा ज़ोरदार और कोई दलील नहीं है कि यदि ऐसा किया गया, तो पूरा समाज एक बहुत बड़ा कारख़ाना बन जायेगा।

यदि पूंजीवादी उत्पादन वाले समाज में सामाजिक श्रम-विभाजन की अराजकता और वर्कशाप के श्रम-विभाजन की निरंकुशता एक दूसरे के अस्तित्व के लिए आवश्यक होती हैं, तो इसके विपरीत समाज के उन प्रारंभिक रूपों में, जिनमें धंधों का अलगाव स्वयंस्फूर्त ढंग से इस तरह बढ़ा है कि पहले उसका विकास हुआ, फिर उसका स्फटिकीकरण हो गया और अंत में उसने क़ानून के द्वारा स्थायित्व प्राप्त कर लिया, ऐसी समाज-व्यवस्थाओं में हम एक तरफ़ तो एक मान्य एवं अधिकृत योजना के अनुसार समाज के श्रम के संगठन का नमूना पाते हैं, और दूसरी तरफ़, हम यह देखते हैं कि वर्कशाप के भीतर होनेवाला श्रम-विभाजन उनमें एकदम ग़ायब है या कम से कम उसका महज़ एक बौना या अनियमित तथा आकस्मिक ढंग से विकसित रूप ही उनमें पाया जाता है।[59]

हिंदुस्तान के वे छोटे तथा अत्यंत प्राचीन ग्राम-समुदाय, जिनमें से कुछ आज तक क़ायम हैं, ज़मीन पर सामूहिक स्वामित्व, खेती तथा दस्तकारी के मिलाप और एक ऐसे श्रम-विभाजन पर आधारित हैं, जो कभी नहीं बदलता, और जो जब कभी एक नया ग्राम-समुदाय आरंभ किया जाता है, तो पहले से बनी-बनायी और तैयार योजना के रूप में काम आता है। सौ से लेकर कई हज़ार एकड़ तक के रक़बे में फैले हुए इन ग्राम-समुदायों में से प्रत्येक एक गठी हुई इकाई होता है, जो अपनी ज़रूरत की सभी चीज़ें पैदा कर लेती है। उत्पाद का मुख्य भाग सीधे तौर पर समुदाय के ही उपयोग में आता है, और वह पण्य का रूप धारण नहीं करता। इसलिए यहां पर उत्पादन उस श्रम-विभाजन से स्वतंत्र होता है, जो पण्यों के विनिमय ने मोटे तौर पर पूरे हिंदुस्तानी समाज में चालू कर दिया है। केवल अतिरिक्त उत्पाद ही पण्य बनता है, और यहां तक कि उसका भी एक हिस्सा उस वक़्त तक पण्य नहीं बनता, जब तक कि वह राज्य के हाथों में नहीं पहुंच जाता। अत्यंत प्राचीन काल से ही यह रीति चली आ रही है कि इस उत्पाद का एक निश्चित भाग सदा जिंस की शक्ल में दिये जानेवाले लगान के तौर पर राज्य के पास पहुंच जाता है। हिंदुस्तान के अलग-अलग हिस्सों में इन समुदायों का विधान अलग-अलग ढंग का है। जिनका सबसे सरल विधान है, उन समुदायों में ज़मीन को सब मिलकर जोतते हैं और पैदावार सदस्यों के बीच बांट ली जाती है। इसके साथ-साथ हर कुटुंब में सहायक धंधों के रूप में कताई और बुनाई होती हैं। उन आम लोगों के साथ-साथ, जो इस तरह सदा एक ही प्रकार के काम में लगे रहते हैं, एक "मुखिया" होता है, जो जज, पुलिस और वसूलदार का काम एक साथ करता है; एक पटवारी होता है, जो काश्तों का हिसाब रखता है और उनके बारे में हर बात अपने काग़ज़ों में दर्ज करता जाता है; एक और कर्मचारी होता है, जो अपराधियों पर मुक़दमा चलाता है, अजनबी मुसाफ़िरों की हिफ़ाज़त

---

[59] "एक सामान्य नियम के रूप में... हम यह कह सकते हैं कि समाज के भीतर पाये जानेवाले श्रम-विभाजन में प्राधिकार का महत्त्व जितना कम होता है, वर्कशाप में श्रम-विभाजन उतना ही अधिक विकसित हो जाता है और वह उतना ही एक अकेले व्यक्ति के प्राधिकार के अधीन बन जाता है। इस प्रकार जहां तक श्रम-विभाजन का संबंध है, वर्कशाप में प्राधिकार और समाज में प्राधिकार एक दूसरे के प्रतिलोम अनुपात में होते हैं।" (Karl Marx, *Misére de la Philosophie*, Paris, 1847, pp. 130-131.)

करता है और उनको अगले गांव तक सकुशल पहुंचा आता है; पहरेदार होता है, जो पड़ोस के समुदायों से सरहद की रक्षा करता है; आबपाशी का हाकिम होता है, जो सिंचाई के लिए पंचायती तालाबों से पानी बांटता है; ब्राह्मण होता है, जो धार्मिक अनुष्ठान कराता है; पाठशाला का पंडित होता है, जो बच्चों को बालू पर लिखना-पढ़ना सिखाता है; पंचांग वाला ब्राह्मण या ज्योतिषी होता है, जो बोवाई और कटाई और खेत के अन्य हर काम के लिए मुहूरत विचारता है; लोहार और बढ़ई होते हैं, जो खेती के तमाम औज़ार बनाते हैं और उनकी मरम्मत करते हैं, कुम्हार होता है, जो सारे गांव के लिए बर्तन-भांडे तैयार करता है; नाई होता है; धोबी होता है, जो कपड़े धोता है, सुनार होता है और कहीं-कहीं पर कवि भी होता है, जो कुछ समुदायों में सुनार का और कुछ में पाठशाला के पंडित का स्थान ले लेता है। इन एक दर्जन व्यक्तियों की जीविका पूरे समुदाय के सहारे चलती है। अगर आबादी बढ़ जाती है, तो ख़ाली पड़ी ज़मीन पर पुराने समुदाय के ढांचे के मुताबिक़ एक नये समुदाय की नींव डाल दी जाती है। पूरे ढांचे से एक सुनियोजित श्रम-विभाजन का प्रमाण मिलता है। किंतु यहां मैन्यूफ़ैक्चरों के ढंग का श्रम-विभाजन असंभव है, क्योंकि लोहार और बढ़ई, आदि के सामने एक ऐसी मंडी होती है, जो कभी नहीं बदलती, और अधिक से अधिक केवल यही अंतर होता है कि गांवों के आकार के अनुसार एक के बजाय दो-दो या तीन-तीन लोहार और बढ़ई, आदि हो जाते हैं।[60] ग्राम-समुदाय में जिस नियम के अनुसार श्रम-विभाजन का नियमन होता है, वह एक प्राकृतिक नियम की भांति काम करता है, जिसमें आड़े कुछ नहीं आ सकता; और साथ ही हर अलग-अलग कारीगर – जैसे लोहार, बढ़ई, आदि – अपनी वर्कशाप में अपनी दस्तकारी की सारी क्रियाएं परंपरागत ढंग से, किंतु स्वतंत्र रूप से करता चलता है और अपने ऊपर किसी अन्य व्यक्ति का प्राधिकार नहीं मानता। इन आत्मनिर्भर ग्राम-समुदायों में, जो लगातार एक ही रूप के समुदायों में पुनः प्रकट होते रहते हैं, और जब अकस्मात बरबाद हो जाते हैं, तो उसी स्थान पर और उसी नाम से फिर खड़े हो जाते हैं,[61] इन ग्राम-समुदायों में उत्पादन का संगठन बहुत ही सरल ढंग का होता है, और उसकी यह सरलता ही एशियाई समाजों की अपरिवर्तनशीलता की कुंजी है, उस अपरिवर्तनशीलता की, जिसके बिल्कुल विपरीत एशियाई राज्य सदा बिगड़ते और बनते रहते

---

[60] Lieut-Col. Mark Wilks, *Historical Sketches of the South of India*, London, 1810-1817, Vol. I, pp. 118-120; हिंदुस्तानी ग्राम-समुदाय के विभिन्न रूपों का एक अच्छा वर्णन १८५२ में लंदन से प्रकाशित जार्ज कैम्पबेल की रचना *Modern India* में मिलता है।

[61] "इस देश के निवासी अत्यंत प्राचीन काल से... इस सरल रूप के अंतर्गत रह रहे हैं। गांवों की सीमाओं में कभी-कभार ही कोई परिवर्तन होता है; और यद्यपि ख़ुद इन गांवों को कभी-कभी युद्ध, अकाल तथा महामारी से हानि पहुंची है और यहां तक कि वे तबाह भी हुए हैं, परंतु गांव का वही नाम, वे ही सीमाएं, वे ही हित और यहां तक कि वे ही कुटुंब भी सदियों तक बने रहे हैं। उनके निवासी राज्यों के छिन्न-भिन्न हो जाने और बंट जाने से कभी परेशान नहीं होते; जब तक गांव पूरा क़ायम रहता है, तब तक उन्हें इस बात की कोई चिंता नहीं होती कि उनका गांव किस राज्य को सौंप दिया गया है या किस राजा के अधिकार में पहुंच गया है; गांव की अंदरूनी अर्थव्यवस्था ज्यों की त्यों रहती है।" (Th. Stamford Raffles, late Lieut. Gov. of Java, *The History of Java*, London, 1817, Vol. I, p. 285.)

हैं और राजवंशों में होनेवाले परिवर्तन तो मानो कभी रुकते ही नहीं। राजनीति के आकाश में जो तूफ़ानी बादल उठते हैं, वे समाज के आर्थिक तत्त्वों के ढांचे को नहीं छू पाते।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, कोई उस्ताद अधिक से अधिक कितने शागिर्दों और मज़दूर-कारीगरों को रख सकता है, शिल्पी संघों के नियम इसकी एक सीमा निश्चित कर देते थे, और इस तरह ये नियम उस्ताद को पूंजीपति नहीं बनने देते थे। इसके अलावा वह जिस धंधे का उस्ताद होता था, उसके सिवा किसी और दस्तकारी का काम वह अपने कारीगरों से नहीं करा सकता था। स्वतंत्र पूंजी का केवल एक ही रूप था, जिसके संपर्क में ये शिल्पी संघ आते थे। वह था सौदागरों की पूंजी का रूप। पर उसके प्रत्येक अतिक्रमण को शिल्पी संघों के ज़ोरदार प्रतिरोध का मुक़ाबला करना पड़ता था। सौदागर हर प्रकार का पण्य ख़रीद सकता था, परंतु श्रम को पण्य के रूप में वह नहीं ख़रीद सकता था। उसका अस्तित्व मात्र दूसरे द्वारा आपत्ति न किये जाने के कारण और दस्तकारी के उत्पादों के व्यापारी के रूप में था। यदि परिस्थितियों के कारण श्रम का और विभाजन करना ज़रूरी हो जाता था, तो पहले से मौजूद शिल्पी संघ उपसंघों में बंट जाते थे या पुराने संघों के साथ-साथ नये संघों की स्थापना कर दी जाती थी। यह सब होता था, मगर किसी एक वर्कशाप में तरह-तरह की अनेक दस्तकारियां केंद्रीभूत नहीं हो पाती थीं। इसलिए शिल्पी संघों के संगठन ने दस्तकारियों को एक दूसरी से अलग और पृथक करके तथा उनका विकास करके मैन्यूफ़ैक्चर के अस्तित्व के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियों को तैयार करने में चाहे जितनी सहायता की हो, पर उसके अंतर्गत वर्कशाप के भीतर श्रम-विभाजन कभी नहीं हो सकता था। सामान्यतः मज़दूर अपने उत्पादन के साधनों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहता था, जैसे घोंघा अपने खोल से जुड़ा रहता है, और इस प्रकार मैन्यूफ़ैक्चर के मुख्य आधार का अभाव था, यानी मज़दूर अपने उत्पादन के साधनों से अलग नहीं हुआ था और ये साधन पूंजी में परिवर्तित नहीं हुए थे।

मोटे तौर पर समाज में श्रम-विभाजन का होना – चाहे वह पण्यों के विनिमय का फल हो या न हो – समाज की अत्यंत भिन्न प्रकार की आर्थिक व्यवस्थाओं की एक समान विशेषता है। परंतु वर्कशाप का श्रम-विभाजन, जैसा कि मैन्यूफ़ैक्चर में होता है, केवल उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की ही विशिष्ट उपज है।

अनुभाग ५ – मैन्यूफ़ैक्चर का पूंजीवादी स्वरूप

बड़ी संख्या में मज़दूरों का एक पूंजीपति के नियंत्रण में काम करना जिस तरह से ख़ास तौर पर मैन्यूफ़ैक्चर का, उसी तरह से वह आम तौर पर सभी प्रकार की सहकारिता का भी स्वाभाविक प्रस्थान-बिंदु होता है। परंतु मैन्यूफ़ैक्चर में श्रम-विभाजन मज़दूरों की संख्या की इस वृद्धि को एक प्राविधिक आवश्यकता बना देता है। यहां पर पहले से स्थापित श्रम-विभाजन ने ही यह तय कर रखा है कि किसी पूंजीपति के लिए कम से कम कितने मज़दूरों को नौकर रखना ज़रूरी है। दूसरी ओर, और अधिक श्रम-विभाजन से केवल उसी समय लाभ उठाया जा सकता है, जब मज़दूरों की संख्या में और वृद्धि कर दी जाये ; और यह केवल इसी तरह हो सकता है कि हम तफ़सीली काम करनेवाले विभिन्न दलों को विस्तृत करते जायें। परंतु जब

व्यवसाय में लगी हुई पूंजी के परिवर्ती भाग में वृद्धि होती है, तो उसके स्थिर भाग में – वर्कशापों, औज़ारों, आदि में और ख़ास कर कच्चे माल में – भी वृद्धि करना आवश्यक हो जाता है। कच्चे माल की मांग मज़दूरों की संख्या की तुलना में कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ती है। एक निश्चित समय में श्रम की एक निश्चित मात्रा कितने कच्चे माल उपयोग करेगी, इसकी मात्रा उसी अनुपात में बढ़ती है, जिस अनुपात में श्रम के विभाजन के फलस्वरूप श्रम की उत्पादक शक्ति बढ़ जाती है। इसलिए स्वयं मैन्यूफ़ैक्चर के स्वरूप के आधार पर यह नियम बन जाता है कि प्रत्येक पूंजीपति के पास कम से कम जितनी पूंजी होना आवश्यक होता है, उसकी मात्रा सदा बढ़ती जानी चाहिए; दूसरे शब्दों में, उत्पादन और जीवन-निर्वाह के सामाजिक साधनों का पूंजी में अधिकाधिक विस्तृत पैमाने पर रूपांतरण होना चाहिए।[62]

सरल सहकारिता की तरह मैन्यूफ़ैक्चर में भी सामूहिक कार्यकारी संघटन पूंजी के अस्तित्व का एक रूप होता है। तफ़सीली काम करनेवाले अनेक मज़दूरों से मिलकर जो यंत्र बनता है, वह पूंजीपति की संपत्ति होता है। इसलिए मज़दूरों के योग से जो उत्पादक शक्ति पैदा होती है, वह पूंजी की उत्पादक शक्ति प्रतीत होती है। सही अर्थ में मैन्यूफ़ैक्चर न केवल भूतपूर्व स्वतंत्र मज़दूरों को पूंजी के अनुशासन तथा समादेश के अधीन बना देता है, बल्कि ख़ुद मज़दूरों में भी एक श्रेणी-क्रम पैदा कर देता है। सरल सहकारिता व्यक्ति की कार्य-प्रणाली में प्रायः कोई ख़ास परिवर्तन नहीं करती, पर मैन्यूफ़ैक्चर उसमें एक पूरी क्रांति पैदा कर देता है और श्रम-शक्ति की जड़ों तक पहुंच जाता है। वह मज़दूर की एक तफ़सीली दक्षता का विकास करने के लिए उसकी अन्य समस्त क्षमताओं और नैसर्गिक भावनाओं को नष्ट करके उसे उसी तरह एक लुंज-पुंज, कुरूप प्राणी में बदल देती है, जिस तरह ला प्लाता के राज्यों में थोड़ी सी खाल या थोड़ी सी चर्बी के लिए लोग एक पूरे जानवर को मार डालते हैं। न सिर्फ़ तफ़सीली काम अलग-अलग व्यक्तियों में बांट दिया जाता है, बल्कि ख़ुद व्यक्ति को भी एक आंशिक क्रिया की स्वचालित मोटर बना दिया जाता है,[63] और इस प्रकार मेनेनियस एग्रिप्पा की वह बेतुकी उपकथा भी चरितार्थ हो जाती है, जिसमें मनुष्य को उसके शरीर का एक

---

[62] "इतना काफ़ी नहीं है कि दस्तकारियों के उपविभाजन के लिए आवश्यक पूंजी" (लेखक को यहां असल में "जीवन-निर्वाह के तथा उत्पादन के आवश्यक साधन" कहना चाहिए था) "समाज में पहले से तैयार हो। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि यह पूंजी मालिकों के पास इतनी मात्रा में संचित हो जाये कि वह उनके लिए अपनी कार्रवाइयों को बड़े पैमाने पर करने के लिए पर्याप्त पड़े हो... विभाजन जितना बढ़ता जाता है, मज़दूरों की एक निश्चित संख्या को बराबर काम देते रहने के लिए यह उतना ही ज़रूरी होता जाता है कि औज़ारों, कच्चे माल, आदि के रूप में पहले से अधिक पूंजी लगायी जाये।" (Storch, *Cours d'Économie Politique*, Paris Ed., t, I, pp. 250, 251.) "राजनीतिक क्षेत्र में सार्वजनिक शक्ति के केंद्रीकरण और निजी हितों के विभाजन में जैसा अविच्छिन्न संबंध है, उत्पादन के औज़ारों के केंद्रीकरण और श्रम के विभाजन के बीच उससे कम अविच्छिन्न संबंध नहीं है।" (Karl Marx, *Misère de la Philosophie*, Paris, 1847, p. 134.)

[63] डगल्ड स्टुअर्ट ने मैन्यूफ़ैक्चर में काम करनेवाले मज़दूरों को "तफ़सीली ढंग के कामों में लगी हुई... जीवित स्वसंचालित मशीनें" कहा है। (*Works*, ed. by Sir W. Hamilton, Edinburgh, 1855, Vol. III, *Lectures on Political Economy*, p. 318.)

अंश मात्र बना दिया गया था।[64] यदि शुरू-शुरू में मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति इसलिए पूंजी को बेचता है कि उसके पास पण्य पैदा करने के भौतिक साधन नहीं होते, तो अब ख़ुद उसकी श्रम-शक्ति उस वक़्त तक काम करने से इनकार कर देती है, जब तक कि उसे पूंजीपति के हाथ नहीं बेच दिया जाता। अब वह केवल उसी वातावरण में काम कर सकती है, जो उसकी बिक्री के बाद पूंजीपति की वर्कशाप में पाया जाता है। मैन्यूफ़ैक्चर में काम करनेवाला मज़दूर स्वभावतः चूंकि स्वतंत्र ढंग से कोई चीज़ तैयार करने के लायक़ नहीं रह जाता, इसलिए वह केवल पूंजीपति की वर्कशाप के एक गौण अंग के रूप में ही अपनी उत्पादक क्रियाशीलता का विकास कर सकता है।[65] जिस तरह यहूदियों के माथे पर इसका चिह्न अंकित हो गया था कि वे जेहोवाह की संपत्ति हैं, उसी तरह श्रम-विभाजन मैन्यूफ़ैक्चर में लगे मज़दूर के माथे पर यह ठप्पा लगा देता है कि यह शख़्स पूंजी की संपत्ति है।

जंगली आदमी के लिए युद्ध की पूरी कला अपनी व्यक्तिगत चालाकी का प्रयोग करने में निहित होती है। इसी प्रकार स्वतंत्र किसान या दस्तकार भी चाहे जितनी कम मात्रा में सही, पर अपने ज्ञान, निर्णय-शक्ति और इच्छा-शक्ति का कुछ न कुछ प्रयोग करता ही है। परंतु अब केवल पूरी वर्कशाप को ही इन सारी क्षमताओं की ज़रूरत होती है। उत्पादन में बुद्धि का एक दिशा में इसलिए विकास होता है कि अन्य बहुत सी दिशाओं में वह ग़ायब हो जाती है। तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूर जिन क्षमताओं को खो देते हैं, वे मज़दूरों को नौकर रखनेवाली पूंजी में केंद्रीभूत हो जाती हैं।[66] मैन्यूफ़ैक्चरों में होनेवाले श्रम-विभाजन के परिणामस्वरूप ही मज़दूर को उत्पादन की भौतिक प्रक्रिया की बौद्धिक शक्तियों का किसी दूसरे की संपत्ति और मज़दूर पर शासन करनेवाली एक ताक़त के रूप में सामना करना पड़ता है। यह अलगाव सरल सहकारिता में आरंभ होता है, जहां पर अकेले मज़दूर के लिए पूंजीपति साहचर्यात्मक श्रम की एकता और इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। मैन्यूफ़ैक्चर में, जो कि मज़दूर को महज़ एक तफ़सीली काम करनेवाला मज़दूर बना देता है, यह अलगाव और बढ़ जाता है। आधुनिक उद्योग में, जो विज्ञान को श्रम से बिल्कुल अलग उत्पादक शक्ति बनाता है और उसे पूंजी की सेवा में जोतता है, यह अलगाव पूरा हो जाता है।[67]

---

[64] मूंगों में प्रत्येक मूंगा वास्तव में पूरे समूह के पेट का काम करता है; परंतु रोमन अभिजातवर्गीय व्यक्ति की तरह समूह का आहार ख़ुद नहीं हड़प जाता, बल्कि समूह को आहार देता है।

[65] "जिस मज़दूर में एक पूरी दस्तकारी की योग्यता होती है, वह कहीं भी अपना धंधा कर सकता है और जीवन-निर्वाह के साधन प्राप्त कर सकता है। पर दूसरे प्रकार का मज़दूर" (मैन्यूफ़ैक्चर में काम करनेवाला मज़दूर) "एक सहायक से अधिक और कुछ नहीं होता। अपने साथियों से अलग हो जाने पर उसमें न तो श्रम-योग्यता रहती है और न स्वाधीनता, और इसलिए लोग उसपर जैसे भी नियम लादना चाहें, वह उन्हें मानने के लिए मजबूर होता है।" (Storch, *Cours d'Économie Politique*, édit. Pétersbourg, 1815, t. I, p. 204.)

[66] A. Ferguson, *History of Civil Society*, Edinburgh, 1767, p. 281: "दूसरे ने जो खो दिया है, संभव है, पहले ने वह प्राप्त कर लिया हो।"

[67] "ज्ञानी व्यक्ति और उत्पादक मज़दूर एक दूसरे से बहुत दूर हो जाते हैं, और ज्ञान मज़दूर के हाथ में उसकी उत्पादक शक्तियां बढ़ाने के लिए श्रम की परिचारिका के रूप में काम करने के बजाय... लगभग हर जगह श्रम के विरोध में खड़ा हो गया है... और उनकी

मैन्यूफ़ैक्चर में सामूहिक मज़दूर को और उसके ज़रिये पूंजी को सामाजिक उत्पादक शक्ति की दृष्टि से धनी बनाने के लिए हर अलग-अलग मज़दूर को व्यक्तिगत उत्पादक शक्तियों के मामले में ग़रीब बना देना पड़ता है। "अज्ञान भी अंधविश्वास के साथ-साथ उद्योग की मां है। चिंतन और कल्पना ग़लती कर सकते हैं, पर हाथ या पैर को हिलाने की आदत दोनों से स्वतंत्र होती है। चुनांचे मैन्यूफ़ैक्चर सबसे अधिक वहां फलते-फूलते हैं, जहां मस्तिष्क से कम से कम परामर्श लिया जाता है और जहां वर्कशाप... एक इंजन की तरह होती है, जिसके पुर्ज़े इनसान होते हैं।"[68] सच बात तो यह है कि १८वीं सदी के मध्य में कुछ इने-गिने मैन्यूफ़ैक्चर ऐसी क्रियाओं के लिए, जो व्यापारिक रहस्य होती थीं, अर्ध-मूढ़ व्यक्तियों को रखना पसंद करते थे।[69]

ऐडम स्मिथ ने कहा है: "अधिकतर मनुष्यों की समझ-बूझ की संरचना अनिवार्य रूप से उनके साधारण धंधों द्वारा होती है। जिस आदमी का पूरा जीवन चंद सरल सी क्रियाओं को संपन्न करने में ख़र्च हो जाता है... उसको अपनी समझ-बूझ पर ज़ोर डालने का कोई मौक़ा नहीं मिलता... ऐसा आदमी आम तौर पर इतना मूर्ख और जाहिल हो जाता है, जितना कोई मनुष्य कभी हो सकता है।" तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूर की मूर्खता का वर्णन करने के बाद ऐडम स्मिथ आगे लिखते हैं: "उसके निश्चल जीवन की एकरसता स्वाभाविक रूप से उसके मन के साहस को कुंठित कर देती है... यहां तक कि वह उसके शरीर की क्रियाशीलता को भी कुंठित कर देती है, और जिसमें वह पला है, एक उस धंधे को छोड़कर अन्य किसी भी धंधे में तेज़ी और लगन के साथ अपनी शक्ति का प्रयोग करने के उसे अयोग्य बना देती है। इस तरह ख़ुद अपने विशेष धंधे में उसकी कुशलता कुछ इस तरह की प्रतीत होती है, जैसे वह उसके बौद्धिक, सामाजिक एवं सामरिक गुणों की बलि देकर प्राप्त की गयी हो। परंतु हर उन्नत और सभ्य समाज में श्रमजीवी ग़रीबों को, यानी जनता के अधिकतर भाग को, अनिवार्य रूप से इसी अवस्था में पहुंच जाना पड़ता है।"[70] श्रम-विभाजन

(मज़दूरों की) मांस-पेशियों की शक्तियों को सर्वथा यांत्रिक एवं आज्ञाकारी बना देने के उद्देश्य से उनको सुनियोजित ढंग से धोखा देता है और गुमराह करता है।" (W. Thompson, *An Inquiry into the Principles of the Distribution of Wealth*, London, 1824, p. 274.)

[68] A. Ferguson, l. c., p. 280.

[69] J. D. Tuckett, *A History of the Past and Present State of the Labouring Population*, London, 1846, Vol. I, p. 148.

[70] A. Smith, *Wealth of Nations*, Book. V, Ch. I, Art. II. ऐडम स्मिथ चूंकि ऐ० फ़र्ग्यूसन के शिष्य थे, जिन्होंने श्रम-विभाजन से पैदा होनेवाली बुराइयों पर प्रकाश डाला था, इसलिए इस सवाल पर उनका दिमाग़ बिल्कुल साफ़ था। अपनी पुस्तक की भूमिका में जहां उन्होंने श्रम-विभाजन की ex professo [बहुत होशियारी से] प्रशंसा की है, उन्होंने इस बात की ओर महज़ सरसरे ढंग से इशारा किया है कि श्रम-विभाजन से सामाजिक असमानताएं पैदा हो जाती हैं। और ५वीं पुस्तक के पहले, जिसका विषय राज्य की आय है, उन्होंने इस विषय के संबंध में फ़र्ग्यूसन को कहीं उद्धृत नहीं किया है। मैंने अपनी रचना *Misère de la Philosophie* में इस बात पर पर्याप्त प्रकाश डाला है कि फ़र्ग्यूसन, ऐ० स्मिथ, लेमोन्ते और सेय की श्रम-विभाजन संबंधी आलोचनाओं के बीच क्या ऐतिहासिक संबंध है, और पहली बार यह प्रमाणित किया है कि मैन्यूफ़ैक्चर में जिस प्रकार का श्रम-विभाजन होता है, वह उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का एक विशिष्ट रूप है।

के कारण जनसाधारण पूर्ण पतन के गर्त में न गिर जायें, इसके लिए ऐडम स्मिथ की सलाह है कि राज्य को जनता की शिक्षा का प्रबंध करना चाहिए, परंतु सोच-समझकर और बहुत ही सूक्ष्म मात्राओं में। ऐडम स्मिथ के फ़ांसीसी अनुवादक तथा टीकाकार जी० गार्नियें ने, जो पहले फ़ांसीसी साम्राज्य के काल में बड़े स्वाभाविक ढंग से सेनेटर बन गये थे, इस मामले में उतने ही स्वाभाविक ढंग से ऐडम स्मिथ का विरोध किया है। उन्होंने कहा है कि जनता को शिक्षा देने से श्रम-विभाजन के पहले नियम का अतिक्रमण होता है, और यदि ऐसा हुआ, तो "हमारी पूरी समाज-व्यवस्था गड़बड़ा जायेगी"। उनका कहना है कि "श्रम के अन्य सभी विभाजनों की तरह हाथ के श्रम और दिमाग़ के श्रम का विभाजन[71] भी उसी अनुपात में अधिक स्पष्ट और निर्णायक रूप धारण करता जाता है, जिस अनुपात में समाज (गार्नियें ने पूंजी, भूसंपत्ति तथा उनके राज्य के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है, जो ठीक ही है) अधिक धनी होता जाता है। श्रम का यह विभाजन अन्य किसी भी विभाजन की तरह भूतकाल का प्रभाव और भावी प्रगति का कारण होता है... तब क्या सरकार को इस श्रम-विभाजन के विरोध में काम करना और उसके स्वाभाविक विकास को रोकना चाहिए? क्या सरकार को सार्वजनिक द्रव्य का एक भाग श्रम के दो ऐसे वर्गों को, जिनकी प्रवृत्ति विभाजन और अलगाव की है, ज़बर्दस्ती आपस में गड्डमड्ड कर देने और मिलाकर रखने की कोशिश में ख़र्च कर देना चाहिए?"[72]

शरीर और मस्तिष्क का कुछ हद तक लुंज हो जाना तो पूरे समाज में होनेवाले श्रम-विभाजन में भी अनिवार्य है। लेकिन मैन्यूफ़ैक्चर चूंकि श्रम की शाखाओं के इस सामाजिक अलगाव को कहीं ज्यादा दूर तक ले जाता है और इसके अलावा चूंकि अपने ख़ास तरह के श्रम-विभाजन के द्वारा वह व्यक्ति के जीवन की जड़ों पर प्रहार करता है, इसलिए यह पहला श्रम-विभाजन है जो औद्योगिक विकृतिविज्ञान के लिए सामग्री प्रस्तुत करता है और इस विज्ञान का श्रीगणेश करता है।[73]

---

[71] फ़र्ग्यूसन अपनी उपरोक्त पुस्तक में पृष्ठ २८१ पर कह चुके थे कि "और अलगावों के इस युग में चिंतन ख़ुद एक ख़ास धंधा बन सकता है।"

[72] जी० गार्नियें, ऐडम स्मिथ की पुस्तक के उनके अनुवाद का खंड ५, पृ० ४-५।

[73] पादुआ के व्यावहारिक चिकित्सा के प्रोफ़ेसर रामाज़्ज़ीनी ने अपनी रचना *De morbis artificum* ['मज़दूरों की बीमारियां'] १७१३ में प्रकाशित की थी। उसका फ़्रांसीसी अनुवाद १७८१ में हुआ, और १८४१ में वह *Encyclopédie des Sciences Médicales. 7ème Division Auteurs Classiques* में पुनःमुद्रित की गयी। उन्होंने मज़दूरों की बीमारियों की जो सूची बनायी थी, उसे मशीनों से चलनेवाले आधुनिक उद्योग के युग ने, ज़ाहिर है, बहुत बढ़ा दिया है। देखिये *Hygiène physique et morale de l'ouvrier dans les grandes villes en général, et dans la ville de Lyon en particulier.* Par le Dr. A. L. Fonteret, Paris, 1858, और *Die Krankheiten, welche verschiedenen Ständen, Altern und Geschlechtern eigenthümlich sind*, 6 Vols., Ulm, 1860 और इसी प्रकार की कुछ अन्य पुस्तकें। १८५४ में Society of Arts [धंधों की परिषद] ने औद्योगिक बीमारियों की जांच करने के लिए एक जांच-आयोग नियुक्त किया था। इस आयोग ने जो काग़ज़-पत्र जमा किये थे, उनकी सूची *Twickenham Economic Museum* के सूचीपत्र में देखी जा सकती है। *Reports on Public Health* नामक सरकारी प्रकाशन भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसके अलावा एडुअर्ड राइख़, एम० डी०, की रचना *Ueber die Entartung des Menschen*, Erlangen, 1868 भी देखिये।

"किसी आदमी का उपविभाजन कर देना उसे प्राणदंड दे देने के समान है, बशर्ते कि वह इस दंड के योग्य हो; अन्यथा यह उसकी हत्या कर देने के बराबर है... श्रम का उपविभाजन एक क़ौम की हत्या कर देता है।"[74]

श्रम-विभाजन पर आधारित सहकारिता, या दूसरे शब्दों में कहिये, तो मैन्यूफ़ैक्चर एक स्वयंस्फूर्त संघटन के रूप में आरंभ होता है। जैसे ही वह कुछ स्थिरता तथा विस्तार प्राप्त कर लेता है, वैसे ही वह पूंजीवादी उत्पादन का मान्य, नियमित एवं सुनियोजित रूप बन जाता है। इतिहास से इस बात का पता चलता है कि जिसे सचमुच मैन्यूफ़ैक्चर कहा जा सकता है, उसमें जो विशिष्ट प्रकार का श्रम-विभाजन पाया जाता है, वह पहले अनुभव से, यानी मानो पात्रों के पीठ पीछे, सबसे उपयुक्त रूप प्राप्त कर लेता है और फिर शिल्पी संघों की दस्तकारियों की तरह एक बार इस रूप का पता लगा लेने के बाद सदा उससे चिपके रहने की कोशिश करता है और जहां-तहां सदियों तक अपना यही रूप बनाये रखता है। छोटी-मोटी बातों में होनेवाली तब्दीलियों को छोड़कर इस रूप में कोई परिवर्तन केवल श्रम के औज़ारों में होनेवाली किसी क्रांति के कारण ही होता है। आधुनिक मैन्यूफ़ैक्चर जहां कहीं भी पैदा होता है – मैं यहां मशीनों पर आधारित आधुनिक उद्योग की चर्चा नहीं कर रहा हूं – वहीं पर उसे या तो उस संघटन के अवयव, जिससे उसे काम लेना है, इधर-उधर बिखरे हुए पहले से तैयार मिल जाते हैं, जिनको उसे केवल जमा कर देना होता है, जैसा कि बड़े शहरों में कपड़े के मैन्यूफ़ैक्चर में होता है, या वह महज़ किसी दस्तकारी (जैसे जिल्दसाज़ी) की विभिन्न क्रियाओं को केवल कुछ ख़ास व्यक्तियों को सौंपकर बड़ी आसानी से विभाजन के सिद्धांत को व्यवहार में ला सकता है। ऐसी सूरत में एक सप्ताह का अनुभव ही अलग-अलग कामों के लिए आवश्यक मज़दूरों की संख्याओं का अनुपात निर्धारित करने के लिए काफ़ी होता है।[75]

दस्तकारियों को छिन्न-भिन्न करके, श्रम के औज़ारों का विशिष्टीकरण करके, तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूरों को जन्म देकर और उनको जत्थेबंद करके तथा एक संयुक्त यंत्र का रूप देकर मैन्यूफ़ैक्चर में होनेवाला श्रम-विभाजन उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया में एक गुणात्मक पद-सोपान और परिमाणात्मक अनुपात पैदा कर देता है। इसके फलस्वरूप वह समाज के श्रम का एक निश्चित संगठन पैदा कर देता है और साथ ही उसके द्वारा समाज में नयी उत्पादक शक्तियों को विकसित करता है। श्रम-विभाजन अपने विशिष्ट पूंजीवादी रूप में – और जैसी परिस्थितियां पहले से मौजूद थीं, उनमें वह पूंजीवादी रूप के सिवा और कोई रूप नहीं धारण

---

[74] D. Urquhart, *Familiar Words*, London, 1855, p. 119. श्रम-विभाजन के विषय में हेगेल के बहुत ही रूढ़िविरोधी विचार हैं। अपनी *Rechtsphilosophie* में उन्होंने कहा है: "सबसे पहले सुशिक्षित लोगों से हमारा अभिप्राय उन व्यक्तियों से होता है, जो हर वह काम कर सकते हैं, जो दूसरे लोग कर सकते हैं।"

[75] यह सरल विश्वास कि अलग-अलग पूंजीपति श्रम का विभाजन करने में किसी आविष्कार-प्रतिभा का (a priori) प्रयोग करते हैं, आजकल केवल हर रोशर के ढंग के जर्मन प्रोफ़ेसरों में ही पाया जाता है। हर रोशर यह मानकर चलते हैं कि श्रम-विभाजन का विचार पूंजीपति के दिमाग़ से बना-बनाया तैयार निकलता है, जिस तरह मिनर्वा जुपिटर के माथे से निकली थी, और इसके एवज़ में हर रोशर पूंजीपति को "विभिन्न प्रकार की मज़दूरियां" प्रदान कर देते हैं। श्रम-विभाजन का प्रयोग छोटे पैमाने पर किया जायेगा या बड़े पैमाने पर, यह असल में पूंजीपति की प्रतिभा पर नहीं, बल्कि उसकी थैली पर निर्भर करता है।

कर सकता था – केवल सापेक्ष बेशी मूल्य प्राप्त करने या मजदूर के मत्थे पूंजी के आत्मविस्तार को और तेज करने की ही एक ख़ास पद्धति होता है। इसी पूंजी को प्रायः सामाजिक धन, "राष्ट्रों का धन", आदि कहा जाता है। अपने पूंजीवादी रूप में श्रम-विभाजन न केवल मजदूर के बजाय पूंजीपति के हित में श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति को बढ़ाता है, बल्कि वह मजदूरों को लुंज बनाकर यह कार्य संपन्न करता है। वह श्रम के ऊपर पूंजी की प्रभुता के लिए नयी परिस्थितियां पैदा कर देता है। इसलिए यदि एक तरफ़, वह ऐतिहासिक दृष्टि से एक प्रगतिशील क़दम तथा समाज के आर्थिक विकास की एक ज़रूरी मंज़िल के रूप में सामने आता है, तो दूसरी तरफ़, वह शोषण की एक परिमार्जित एवं सभ्य प्रणाली भी है।

एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में राजनीतिक अर्थशास्त्र ने पहले-पहल मैन्यूफ़ैक्चर के काल में जन्म लिया था। वह सामाजिक श्रम-विभाजन को केवल मैन्यूफ़ैक्चर के दृष्टिकोण से ही देखता है[76] और इसे श्रम की एक निश्चित मात्रा की बदौलत पहले से अधिक पण्य तैयार करने और इस तरह पण्यों को सस्ता करने तथा पूंजी के संचय में तेज़ी लाने का ही साधन समझता है। परिमाण तथा विनिमय-मूल्य पर ज़ोर देने की इस प्रवृत्ति के बिल्कुल विपरीत प्राचीन काल के लेखक केवल गुणवत्ता और उपयोग-मूल्य पर ज़ोर देते हैं।[77] उनका कहना है कि उत्पादन की सामाजिक शाखाओं के अलग-अलग हो जाने के फलस्वरूप पण्य पहले से बेहतर तैयार होते हैं, मनुष्यों की अलग-अलग प्रकार की प्रवृत्तियों तथा प्रतिभाओं को उनके उपयुक्त क्षेत्र मिल जाता है,[78] और बहरहाल बिना किसी प्रतिबंध के कभी कहीं कोई

---

[76] पैटी तथा *Advantages of the East-India Trade* के गुमनाम लेखक जैसे पुराने लेखक मैन्यूफ़ैक्चर में इस्तेमाल होनेवाले श्रम-विभाजन के पूंजीवादी स्वरूप का ऐडम स्मिथ से अधिक स्पष्टता के साथ निरूपण करते हैं।

[77] आधुनिक लेखकों में १८वीं सदी के चंद लेखकों को इसका अपवाद माना जा सकता है, जैसे बेकारिया और जेम्स हैरिस, जो श्रम-विभाजन के संबंध में लगभग पूरी तरह प्राचीन काल के लेखकों का अनुकरण करते हैं। चुनांचे बेकारिया ने लिखा है: "यह दैनिक अनुभव की बात है कि जो आदमी अपने हाथों तथा अपनी बुद्धि का सदा एक ही प्रकार के काम में और एक ही तरह का उत्पाद तैयार करने में उपयोग करता है, वह उस आदमी की अपेक्षा, जो अपनी जरूरत की बहुत सारी चीज़ों को ख़ुद बनाता है, ज्यादा आसानी से और बेहतर काम कर सकेगा और ज्यादा उत्पाद तैयार कर सकेगा... और इस प्रकार मनुष्यों का विभिन्न वर्गों और श्रेणियों में विभाजन हो जाता है, जिससे सार्वजनिक और निजी हित आगे बढ़ते हैं।" (Cesare Beccaria, *Elementi di Economia Pubblica*, ed. Custodi, Parte Moderna, t. XI, p. 28.) जेम्स हैरिस ने, जो बाद को माम्सबरी के अर्ल हो गये थे और जो सेंट पीटर्सबर्ग के अपने राजदूतावास की *Diaries* के लिए विख्यात हैं, अपनी रचना *Dialogue Concerning Happiness*, London, 1741. (बाद को *Three Treatises etc.*, के लंदन से १७७२ में प्रकाशित तीसरे संस्करण में पुनर्मुद्रित) की एक पाद-टिप्पणी में लिखा है: "समाज को ('धंधों के विभाजन के द्वारा) प्राकृतिक सिद्ध करने के लिए दिया गया पूरा तर्क प्लेटो के 'प्रजातंत्र' के दूसरे भाग से लिया गया है।"

[78] चुनांचे होमर ने 'ओडीसी' में लिखा है: "लोग असमान होते हैं – ये एक चीज़ को पसंद करते हैं, वे दूसरी को।" (XIV, 228); और आर्किलोकस ने भी सेक्सटस एम्पीरिकस की रचना में यही बात कही है: "अलग-अलग आदमियों को अलग-अलग कामों में आनंद आता है।"

महत्त्वपूर्ण काम नहीं किया जा सकता है।[79] इसलिए श्रम-विभाजन से उत्पाद और उत्पादक, दोनों का सुधार होता है। यदि ये लेखक कभी-कभार पैदावार की मात्रा में होनेवाली वृद्धि का ज़िक्र करते भी हैं, तो केवल इस संदर्भ में कि उपयोग-मूल्यों की पहले से अधिक बहुतायत हो जाती है। विनिमय-मूल्य अथवा पण्यों के पहले से सस्ते हो जाने के बारे में उनकी रचनाओं में एक शब्द भी नहीं मिलता। प्लेटो,[80] जो कि श्रम-विभाजन को वह नींव समझते हैं,

[79] "जो सब कामों में टांग अड़ाता है, वह कोई काम नहीं सीख पाता।" पण्यों के उत्पादक के रूप में प्रत्येक एथेंसनिवासी अपने को स्पार्टावालों से श्रेष्ठ समझता था, क्योंकि स्पार्टावालों के पास लड़ाई के समय आदमी तो काफ़ी होते थे, पर रुपया नहीं होता था। पेरिक्लीज़ ने एथेंसवासियों को पेलोपोनीशियन युद्ध के लिए भड़काते हुए जो भाषण दिया था, उसके दौरान थ्यूसिडिडीज़ ने उससे यह भी कहलवाया है कि "जो लोग अपने उपभोग के लिए ख़ुद वस्तुएं बनाते हैं, वे युद्ध के समय अपनी संपत्ति की अपेक्षा अपनी जान ज़्यादा आसानी से जोखिम में डालने को तैयार हो जाते हैं।" (थ्यूसिडिडीज़, पहली पुस्तक, अध्याय १४१)। फिर भी भौतिक उत्पादन के मामले में भी एथेंसवासियों का आदर्श आत्मनिर्भरता था, न कि श्रम-विभाजन: "सामान और स्वतंत्रता का एक ही स्रोत है।" यहां यह बता देना ज़रूरी है कि ३० अत्याचारियों के पतन के समय भी ऐसे एथेंसवासियों की तादाद ५,००० तक नहीं पहुंच पायी थी, जिनके पास कोई भूसंपत्ति नहीं थी।

[80] प्लेटो की राय में समाज में श्रम-विभाजन इसलिए होता है कि हर व्यक्ति को आवश्यकताएं तो बहुत, पर क्षमताएं सीमित होती हैं। उनका मुख्य जोर इस बात पर है कि काम को मज़दूर के अनुसार ढालना गलत है, मज़दूर को काम के अनुसार अपने को ढालना चाहिए। पर यदि मज़दूर एक समय में कई धंधे करेगा, तो उनमें से एक न एक धंधा गौण हो जायेगा और तब लाज़िमी तौर पर काम को मज़दूर के अनुसार ढालने की कोशिश की जायेगी। "कारण, काम इस बात का इन्तज़ार नहीं करेगा कि काम करनेवाले को फ़ुरसत मिले, तो वह उसमें हाथ लगाये। यह तो काम करनेवाले का फ़र्ज़ है कि वह जो कुछ कर रहा है, उसका अनुकरण करे और काम को अपना प्रथम उद्देश्य समझे। उसे यही करना चाहिए। और यदि ऐसा है, तो हमें इससे यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि जब एक आदमी केवल वह काम करता है, जो उसके लिए स्वाभाविक है, और उसे वक्त पर करता है तथा बाक़ी कामों को औरों के लिए छोड़ देता है, तब सब चीज़ें ज़्यादा बहुतायत से, ज़्यादा आसानी से और बेहतर तैयार होती हैं।" (*De Republica*, I, 2, Ed. Baiter, Orelli, etc.) इसी प्रकार थ्यूसिडिडीज़ (पहली पुस्तक, अध्याय १४२) ने भी लिखा है कि "अन्य किसी भी धंधे की तरह जहाज़रानी भी एक धंधा है, और उसे परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार एक गौण धंधे के रूप में कोई नहीं कर सकता। नहीं, बल्कि कहना चाहिए कि इस धंधे के साथ अन्य गौण धंधे नहीं किये जा सकते।" प्लेटो का कहना है कि यदि काम को मज़दूर का इन्तज़ार करना पड़ता है, तो प्रक्रिया का नाज़ुक क्षण हाथ से निकल जाता है और वस्तु ख़राब हो जाती है, "काम का फल बरबाद हो जायेगा"। इंगलैंड के कपड़े सफ़ेद करने के कारख़ानों के मालिक सभी मज़दूरों के लिए भोजन का एक समय निश्चित करनेवाली फ़ैक्टरी-क़ानून की धारा का जो विरोध कर रहे हैं, उसमें भी हमें प्लेटो का यही विचार फिर से सुनायी पड़ रहा है। इन लोगों का व्यवसाय मज़दूरों की सुविधा का इन्तज़ार नहीं कर सकता, क्योंकि उनके कारख़ानों में "झुलसाने, धोने, सफ़ेद करने, इस्तरी करने, भाप से इस्तरी करने और रंगने की जो क्रियाएं होती हैं, उनमें से कोई भी किसी एक निश्चित क्षण पर नुक़सान के ख़तरे के बिना नहीं रोकी जा सकती... सभी मज़दूरों के लिए यदि भोजन का कोई एक समय निश्चित किया गया, तो कभी-कभी अपूर्ण क्रिया के कारण बहुत क़ीमती सामान के नष्ट हो जाने का ख़तरा पैदा हो जायेगा।" Le platonisme où va-t-il se nicher! [प्लेटोवाद की पहुंच भला कहां नहीं है!]

जिसपर समाज का वर्गों में विभाजन आधारित होता है, केवल उपयोग-मूल्य पर[81] ज़ोर देने का यह रुख़ क्सेनोफ़ोन की भांति ही सुस्पष्टता के साथ अपनाते हैं, जो अपनी बुर्जुआ सहजवृत्ति के कारण वर्कशाप में होनेवाले श्रम-विभाजन के ज़्यादा नज़दीक पहुंच जाते हैं। जहां तक राज्य के निर्माणकारी सिद्धांत के रूप में श्रम-विभाजन का प्रश्न है, वहां तक प्लेटो का प्रजातंत्र केवल मिस्र की वर्ण-व्यवस्था का ही एक एथेंसीय आदर्श रूप है। प्लेटो के बहुत से समकालीनों के लिए भी मिस्र एक आदर्श औद्योगिक देश था। अन्य लोगों के अलावा आइसोक्रेटस[82] का भी यही विचार था, और रोमन साम्राज्य के काल के यूनानियों के लिए भी मिस्र का यही महत्त्व बना रहा था।[83]

जिसे सचमुच मैन्यूफ़ैक्चर का काल कहा जा सकता है, अर्थात् जिस काल में पूंजीवादी उत्पादन का मुख्य रूप मैन्यूफ़ैक्चर ही होता है, उस काल में मैन्यूफ़ैक्चर की विशिष्ट प्रवृत्तियों

---

[81] क्सेनोफ़ोन का कहना है कि फ़ारस के राजा के लिए तैयार किये गये भोजन में से कुछ पा जाना न केवल सम्मान की बात है, बल्कि यह भोजन अन्य भोजन से अधिक स्वादिष्ट होता है। "और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कारण कि जिस तरह बड़े शहरों में अन्य शिल्पों का ख़ास विकास होता है, उसी तरह शाही भोजन भी एक ख़ास ढंग से तैयार किया जाता है। कारण कि छोटे शहरों में चारपाइयां, दरवाज़े, हल और मेज़, सब एक ही आदमी बनाता है, और अकसर तो घर भी वही बना देता है, और यदि उसे पर्याप्त ग्राहक मिल जाते हैं, तो वह ख़ूब संतुष्ट रहता है। जो आदमी इतने बहुत से काम एक साथ करता हो, उसके लिए उन सबको अच्छी तरह करना सर्वथा असंभव है। परंतु बड़े शहरों में, जहां हरेक को बहुत से ख़रीदार मिल सकते हैं, एक आदमी के जीवन-निर्वाह के लिए केवल एक धंधा ही काफ़ी होता है। नहीं, बल्कि अकसर तो एक पूरे धंधे की भी ज़रूरत नहीं होती; एक आदमी मर्दों के लिए जूते बनाता है, तो दूसरा आदमी औरतों के लिए। कहीं-कहीं पर एक आदमी जूते सीकर जीविका कमाता है, तो दूसरा जूतों के लिए चमड़ा काटकर गुज़र करता है; एक आदमी कपड़े की कटाई के सिवा और दूसरा कटे हुए टुकड़ों को सीने के सिवा और कुछ नहीं करता। तो इससे हम अनिवार्य रूप से इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि जो आदमी सबसे सरल ढंग का काम करता है, वह निस्संदेह उसे सबसे बेहतर करता है। भोजन बनाने की कला के लिए भी यही बात सच है।" (Xenophon, *Cyropaedia*, l. VIII, cap. 2.) क्सेनोफ़ोन ने यहां केवल इस बात पर ज़ोर दिया है कि पहले से कितना अच्छा उपयोग-मूल्य तैयार हो सकेगा, हालांकि वह अच्छी तरह जानते हैं कि श्रम-विभाजन के सोपान-क्रम मंडी के विस्तार पर निर्भर करते हैं।

[82] "उसने (बुसाइरिस ने) उन सबको विशेष वर्णों में बांट दिया था... उसका आदेश था कि एक व्यक्ति को सदा एक ही धंधा करना चाहिए। यह इसलिए कि बुसाइरिस को यह मालूम था कि जो लोग अपना धंधा बदलते रहते हैं, वे किसी धंधे में कुशल नहीं हो पाते; मगर जो लोग सदा एक ही धंधे में लगे रहते हैं, वे उसमें दक्षता की पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं। कलाओं और दस्तकारियों के मामले में तो हम यह तक पायेंगे कि एक उस्ताद एक नौसिखुए के मुक़ाबले में हमेशा जितना आगे रहता है, ये लोग अपने प्रतिद्वंद्वियों के मुक़ाबले में उससे भी ज़्यादा आगे निकल गये हैं, और राजतंत्र को तथा अपने राज्य की अन्य संस्थाओं को क़ायम रखने के लिए उन्होंने जो उपाय निकाले हैं, वे इतने प्रशंसनीय हैं कि सबसे अधिक विख्यात दार्शनिक भी जब इस विषय की चर्चा करने बैठते हैं, तो अन्य राज्यों की अपेक्षा मिस्री राज्य के ढांचे की अधिक प्रशंसा करते हैं।" (Isocrates, *Busiris*, cap. 8.)

[83] देखिये *Diodorus Siculus*. [*Diodor's v. Sicilien Historische Bibliothek*, B. I, 1828.]

के पूर्ण विकास के रास्ते में बहुत सी बाधाएं आती हैं। यद्यपि, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, मैन्यूफ़ैक्चर मजदूरों में वर्गों का एक सोपान-क्रम पैदा करने के साथ-साथ उनके बीच कुशल और अकुशल मजदूरों का एक सरल अलगाव भी पैदा कर देता है, तथापि कुशल मजदूरों का प्रभाव बहुत अधिक होने के कारण अकुशल मजदूरों की संख्या बहुत सीमित रहती है। यद्यपि मैन्यूफ़ैक्चर तफ़सीली कामों को श्रम के जीवित यंत्रों की अलग-अलग स्तर की परिपक्वता, शक्ति और विकास के अनुरूप बना देता है, जिससे स्त्रियों और बच्चों का शोषण करने में मदद मिलती है, फिर भी मोटे तौर पर यह प्रवृत्ति पुरुष मजदूरों की आदतों तथा उनके प्रतिरोध से टकराकर चकनाचूर हो जाती है। यद्यपि दस्तकारियों के छोटे-छोटे कामों में बंट जाने से मजदूर को तैयार करने का खर्चा कम हो जाता है और इस तरह उसका मूल्य गिर जाता है, पर ज्यादा मुश्किल ढंग के तफ़सीली काम के लिए अब भी ज्यादा लंबे समय तक काम सीखने की जरूरत पड़ती है, और कहीं-कहीं तो अनावश्यक होने पर भी मजदूर उसके लिए उत्कट इसरार करते हैं। मिसाल के लिए, इंगलैंड में हम पाते हैं कि मैन्यूफ़ैक्चर के काल के अंत तक वहां पर काम सीखने के ऐसे क़ानून लागू रहे, जिनके मातहत हर मजदूर को सात साल तक शागिर्दी करनी पड़ती थी; और जब तक आधुनिक उद्योग का काल आरंभ नहीं हो गया, तब तक इन क़ानूनों को एक तरफ़ नहीं फेंका गया। दस्तकारी की कुशलता चूंकि मैन्यूफ़ैक्चर का आधार है और चूंकि मोटे तौर पर मैन्यूफ़ैक्चर के यंत्र का खुद मजदूरों से अलग कोई ढांचा नहीं होता, इसलिए पूंजी को लगातार मजदूरों की अवज्ञा से कुश्ती लड़नी पड़ती है। मित्र यूर ने लिखा है: "मानव-स्वभाव की कमजोरियों का परिणाम यह होता है कि मजदूर जितना अधिक कुशल होता है, उसके उतनी ही ज्यादा मनमानी करने और बेक़ाबू हो जाने की संभावना बढ़ जाती है, और इसलिए जाहिर है कि वह उस यांत्रिक व्यवस्था का अंग बनने के उतना ही कम योग्य रह जाता है, जिसमें काम करते हुए... वह पूरे यंत्र को भारी नुक़सान पहुंचा सकता है।"[84] इसलिए मैन्यूफ़ैक्चर के पूरे काल में हम मजदूरों में अनुशासन के अभाव की शिकायत सुनते रहते हैं।[85] और इस विषय में यदि हमारे पास तत्कालीन लेखकों की रचनाओं का प्रमाण न भी होता, तो भी इस प्रकार के साधारण तथ्य से ही कि १६ वीं शताब्दी और आधुनिक उद्योग के युग के बीच के काल में पूंजी कभी मैन्यूफ़ैक्चर में काम करनेवाले मजदूरों के समस्त प्राप्य श्रम-काल की मालिक नहीं बन पायी, या इससे कि मैन्यूफ़ैक्चर प्रायः अल्पजीवी होते थे और एक देश से दूसरे देश को आते-जाते रहनेवाले मजदूरों के साथ-साथ अपना स्थान बदलते रहते थे, इस विषय पर काफ़ी प्रकाश पड़ जाता है। *Essay on Trade and Commerce* के उस लेखक ने, जिसे हम कई बार उद्धृत कर चुके हैं, १७७० में घोषणा की थी: "व्यवस्था किसी न किसी तरह क़ायम करनी ही पड़ेगी।" इसके ६६ वर्ष बाद डा० एण्ड्रयू यूर मानो उसके शब्दों को दोहराते हुए फिर मांग करते हैं: "व्यवस्था होनी चाहिए।" उनके शब्दों में, "श्रम-विभाजन की पंडिताऊ रूढ़ि पर आधारित" मैन्यूफ़ैक्चर में "व्यवस्था" का अभाव था, और "व्यवस्था आर्कराइट ने पैदा की है।"

---

[84] Ure, *Philosophy of Manufactures*, p. 20.

[85] हालैंड की अपेक्षा फ़्रांस के लिए और फ़्रांस की अपेक्षा इंगलैंड के लिए यह बात अधिक सच है।

इसके साथ-साथ मैन्यूफ़ैक्चर न तो समाज के उत्पादन पर पूरी तरह हावी होने में समर्थ था, न वह इस उत्पादन में जड़ तक क्रांति कर सकता था। वह शहर की दस्तकारियों और देहात के घरेलू उद्योगों की विशाल नींव पर एक आर्थिक कलाकृति के रूप में सिर उठाये हुए खड़ा था। जब उसके विकास की एक ख़ास मंजिल आयी, तो वह संकुचित प्राविधिक आधार, जिसपर मैन्यूफ़ैक्चर टिका हुआ था, उत्पादन की उन आवश्यकताओं से टकराने लगा, जिनको स्वयं उसी ने जन्म दिया था।

मैन्यूफ़ैक्चर की एक सबसे अधिक परिष्कृत सृष्टि वह वर्कशाप थी, जिसमें ख़ुद श्रम के औज़ारों का उत्पादन होता था और जिसमें ख़ास तौर पर वे पेचीदा यांत्रिक उपकरण तैयार किये जाते थे, जो उस समय तक उत्पादन में इस्तेमाल होने लगे थे। यूर ने कहा है कि "ऐसी वर्कशाप बहुसंख्यक सोपानों सहित श्रम-विभाजन का परिचय देती थी। रेती, बरमा, ख़राद का अलग-अलग मज़दूर था, जो सोपान-क्रम के अनुसार अपनी कुशलता के स्तर के आधार पर एक या दूसरे मज़दूरों से संबंधित था।" (पृ० २१)। यह वर्कशाप, जो मैन्यूफ़ैक्चर में पाये जानेवाले श्रम-विभाजन की पैदावार थी, मशीनें तैयार करती थी। ये मशीनें ही सामाजिक उत्पादन के नियामक सिद्धांत के रूप में दस्तकार के काम को उठाकर अलग फेंक देती हैं। इस प्रकार एक तरफ़ तो मज़दूर को सारी उम्र के लिए एक तफ़सीली काम से बांध देने का प्राविधिक कारण समाप्त हो गया। दूसरी तरफ़, वे बंधन टूट गये, जो स्वयं इस सिद्धांत ने पूंजी के प्रभुत्व पर लगा रखे थे।

पूंजीवादी उत्पादन

भाग ४–(जारी)

सापेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन

अध्याय १५

मशीनें और आधुनिक उद्योग

अनुभाग १–मशीनों का विकास

जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक *Principles of Political Economy* में कहा है: "अभी तक जितने यांत्रिक आविष्कार हुए हैं, उनसे किसी भी मनुष्य की[86] दिन भर की मेहनत ज़रा भी हल्की हो गयी हो, यह एक काफ़ी संशयास्पद बात है।" किंतु मशीनों के पूंजीवादी उपयोग का यह उद्देश्य है भी नहीं। श्रम की उत्पादिता में होनेवाली दूसरी प्रत्येक वृद्धि की भांति मशीनों का भी उद्देश्य पण्यों को सस्ता बनाना और काम के दिन के उस भाग को छोटा करके, जिसमें मज़दूर ख़ुद अपने लिए काम करता है, उस दूसरे भाग को लंबा कर देना होता है, जो वह उसका समतुल्य पाये बिना ही पूंजीपति को दे देता है। संक्षेप में, मशीनें बेशी मूल्य पैदा करने का साधन होती हैं।

मैन्यूफ़ैक्चर में उत्पादन की प्रणाली में होनेवाली क्रांति श्रम-शक्ति से शुरू होती है, आधुनिक उद्योग में वह श्रम के औज़ारों से शुरू होती है। इसलिए सबसे पहले हमें यह पता लगाना है कि श्रम के औज़ार औज़ारों से मशीनों में कैसे बदल गये, या यह कि मशीन और दस्तकारी के औज़ारों में क्या फ़र्क़ होता है? हमारा संबंध यहां पर केवल उल्लेखनीय एवं सामान्य विशेषताओं से है, क्योंकि जिस प्रकार भूगर्भविज्ञान के युगों को एक दूसरे से अलग करनेवाली कोई कठोर और निश्चित सीमा-रेखाएं नहीं होतीं, उसी प्रकार समाज के इतिहास के युगों को एक दूसरे से अलग करनेवाली भी कोई कठोर और निश्चित सीमा-रेखाएं नहीं होतीं।

---

[86] मिल को यहां असल में यह कहना चाहिए था: "किसी भी ऐसे मनुष्य की, जो दूसरों के श्रम पर जीवित नहीं रहता", क्योंकि मशीनों ने धनी मुफ़्तख़ोरों की संख्या निस्संदेह बहुत बढ़ा दी है।

गणित और यांत्रिकी के विद्वान औज़ार को सरल मशीन और मशीन को जटिल औज़ार कहते हैं, और इंगलैंड के कुछ अर्थशास्त्री भी उन्हीं का अनुकरण करते हैं। वे उनमें कोई बुनियादी अंतर नहीं देखते, और यहां तक कि उन्होंने सरल ढंग की यांत्रिक शक्तियों को, जैसे लीवर, ढालू समतल, पेच, पच्चर, आदि को भी मशीन का नाम दे दिया है।[87] प्रत्येक मशीन असल में इन सरल शक्तियों का ही योग होती है, भले ही उनपर किसी भी प्रकार का आवरण डाल दिया गया हो। आर्थिक दृष्टिकोण से इस व्याख्या का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि इसमें ऐतिहासिक तत्त्व का अभाव है। औज़ार और मशीन के अंतर की एक और व्याख्या यह है कि औज़ार की चालक शक्ति मनुष्य होता है, जब कि मशीन की चालक शक्ति मनुष्य से भिन्न कोई चीज़ होती है, जैसे, मिसाल के लिए, कोई जानवर, पानी, हवा, आदि, आदि।[88] इस मत के अनुसार बैलों द्वारा खींचा जानेवाला हल, जो एक दूसरे से अत्यंत भिन्न युगों में समान रूप से पाया जाता है, मशीन है, मगर क्लौस्सेन का वृत्ताकार करघा जिसपर केवल एक मज़दूर काम करता है और जो एक मिनट में ६६,००० फंदे बुनता है, महज़ औज़ार है। इतना ही नहीं, यही करघा जब हाथ से चलाया जायेगा, तो औज़ार माना जायेगा, मगर यदि उसे भाप से चलाया गया, तो वह मशीन हो जायेगा। और चूंकि पशु-शक्ति का प्रयोग मनुष्य के सबसे पहले आविष्कारों में से है, इसलिए मशीनों के द्वारा होनेवाला उत्पादन इस मत के अनुसार दस्तकारियों वाले उत्पादन के भी पहले शुरू हो गया था। १७३५ में जब जॉन वायट ने अपनी कातने की मशीन तैयार की थी और १८ वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति का श्रीगणेश किया था, तो उन्होंने आदमी के बजाय गधे के द्वारा इसके चलाये जाने के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा था, मगर फिर भी यह काम गधे के ही ज़िम्मे पड़ा। वायट ने उसका वर्णन इस तरह किया था कि यह "बिना उंगलियों के कातने की" मशीन है।[89]

---

[87] उदाहरण के लिए, देखिये Hutton, *Course of Mathematics*.

[88] "इस दृष्टिकोण से हम औज़ार और मशीन के बीच एक स्पष्ट सीमा-रेखा खींच सकते हैं। फावड़े, हथौड़े, छेनियां, आदि और लीवरों और पेचों के योग – इन सबमें, चाहे अन्य बातों में वे कितने भी पेचीदा क्यों न हों, चालक शक्ति मनुष्य होता है... ये सारी चीज़ें औज़ारों की श्रेणी में आती हैं। लेकिन हल, जो पशु-शक्ति से खींचा जाता है, और पवनचक्की, आदि को मशीनों की मद में रखना पड़ेगा।" (Wilhelm Schulz, *Die Bewegung der Produktion*, Zürich, 1843, S. 38.) अनेक दृष्टियों से यह पुस्तक पठनीय है।

[89] वायट के काल के पहले भी मशीनों का इस्तेमाल हो चुका था, हालांकि वे मशीनें बहुत अधूरे ढंग की थीं। वे शायद सबसे पहले इटली में प्रकट हुई थीं। यदि प्रौद्योगिकी का कोई आलोचनात्मक इतिहास लिखा जाये, तो उससे यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि १८ वीं सदी के किसी भी आविष्कार को किसी एक व्यक्ति का काम समझना कितना ग़लत है। अभी तक कोई ऐसी पुस्तक नहीं लिखी गयी है। डार्विन ने प्रकृति की प्रौद्योगिकी के इतिहास में, यानी पौधों और पशुओं की उन इंद्रियों के निर्माण के इतिहास में, जो उनके भरण-पोषण के लिए उत्पादन के साधनों का काम करती हैं, हमारी रुचि पैदा कर दी है। तब क्या मनुष्य की उत्पादक इंद्रियों का इतिहास – उन इंद्रियों का इतिहास, जो समस्त सामाजिक संगठन का आधार हैं – इस योग्य नहीं है कि उसकी ओर भी हम उतना ही ध्यान दें? और क्या इस तरह का इतिहास तैयार करना ज्यादा आसान नहीं होगा, क्योंकि जैसा कि विको ने कहा है,

पूरी तरह विकसित सभी मशीनें तीन बुनियादी तौर पर भिन्न भागों की बनी होती हैं: मोटर यंत्र, प्रेषण यंत्र और अंत में औज़ार या कार्यकारी यंत्र। मोटर यंत्र वह होता है, जो पूरी मशीन को गति में लाता है। वह या तो ख़ुद अपनी चालक शक्ति पैदा करता है, जैसा कि भाप से चलनेवाला इंजन, गरम हवा से चलनेवाला ताप इंजन, विद्युतचुंबकीय मशीन, आदि करते हैं, या उसे पहले से मौजूद किसी प्राकृतिक शक्ति से आवेग प्राप्त होता है, जैसे पनचक्की को ऊंचाई पर से नीचे गिरनेवाले पानी से और पवनचक्की को हवा से, इत्यादि। प्रेषण यंत्र गतिपालक चक्रों, शैफ़्टों, दंत-चक्रों, घिरनियों, पट्टों, रस्सियों, पट्टियों, गरारियों और अनेक प्रकार के गियरों का बना होता है, गति का नियमन करता है, जहां आवश्यकता होती है, वहां उसका रूप बदल देता है, जैसे कि अनुरेख गति को वृत्तीय गति में बदल देता है, और गति का विभाजन करके उसे कार्यकारी यंत्रों में बांट देता है। संपूर्ण मशीन के ये पहले दो भाग केवल कार्यकारी यंत्रों को गति में लाने के लिए होते हैं, जिस गति के द्वारा श्रम के विषय पर अधिकार करके उसे इच्छानुसार परिवर्तित कर दिया जाता है। औज़ार या कार्यकारी यंत्र मशीन का वह भाग है, जिससे १८वीं सदी की औद्योगिक क्रांति आरंभ हुई थी। और आज तक जब कभी कोई दस्तकारी या मैन्यूफ़ैक्चर मशीन से चलनेवाले उद्योग में रूपांतरित किया जाता है, तो सदा इसी हिस्से से परिवर्तन आरंभ होता है।

कार्यकारी यंत्र का ज़्यादा नज़दीक से अध्ययन करने पर हम एक सामान्य नियम के तौर पर, हालांकि बेशक अकसर काफ़ी बदले हुए रूप में, वही उपकरण और औज़ार पाते हैं, दस्तकार या मैन्यूफ़ैक्चर का मजदूर जिनका इस्तेमाल करता था। अंतर केवल इतना होता है कि मनुष्य के औज़ार होने के बजाय ये एक यंत्र के औज़ार होते हैं, या यूं कहिये कि वे यांत्रिक औज़ार होते हैं। या तो पूरी मशीन दस्तकारी के पुराने औज़ार का एक कमोबेश बदला हुआ यांत्रिक संस्करण मात्र होती है, जैसा कि, उदाहरण के लिए, शक्ति से चलने-वाला करघा होता है,[१०] या मशीन के ढांचे में लगे हुए कार्यकारी औज़ार हमारे पुराने

मानव-इतिहास प्राकृतिक इतिहास से केवल इसी बात में भिन्न है कि उसका निर्माण हमने किया है, जब कि प्राकृतिक इतिहास का निर्माण हमने नहीं किया है? प्रौद्योगिकी प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यवहार पर और उत्पादन की उस प्रक्रिया पर प्रकाश डालती है, जिससे वह अपना जीवन-निर्वाह करता है, और इस तरह वह उसके सामाजिक संबंधों तथा उनसे पैदा होनेवाली मानसिक अवधारणाओं के निर्माण की प्रणाली को भी खोलकर रख देती है। यहां तक कि धर्म का इतिहास लिखने में भी यदि इस भौतिक आधार को ध्यान में नहीं रखा जाता, तो ऐसा प्रत्येक इतिहास आलोचनात्मक दृष्टि से वंचित हो जाता है। असल में जीवन के वास्तविक संबंधों से इन संबंधों के अनुरूप दैविक संबंधों का विकास करने की अपेक्षा धर्म की धूमिल सृष्टि का विश्लेषण करके उसके लौकिक सार का पता लगाना कहीं अधिक आसान है। यही एकमात्र भौतिकवादी पद्धति है, और इसलिए यही एकमात्र वैज्ञानिक पद्धति है। प्राकृतिक विज्ञान का अमूर्त भौतिकवाद ऐसा भौतिकवाद है, जो इतिहास तथा उसकी प्रक्रिया को अपने क्षेत्र से बाहर रखता है। जब कभी उसके प्रवक्ता अपने विशेष विषय की सीमाओं के बाहर क़दम रखते हैं, तब उनकी अमर्त एवं वैचारिक अवधारणाओं से इस भौतिकवाद की त्रुटियां तुरंत स्पष्ट हो जाती हैं।

[१०] ख़ास तौर पर उसके आरंभिक रूप में तो पहली दृष्टि में ही प्राचीन काल का करघा नजर आ जाता है। अपने आधुनिक रूप में शक्ति से चलनेवाले करघे में कुछ मौलिक परिवर्तन हो गये हैं।

परिचित श्रौज़ार होते हैं। कताई करनेवाले म्यूल में लगे हुए तकुए, मोज़े बुनने के करघे में लगी हुई सूइयां, आराकशी की मशीन में लगे हुए आरे, काटनेवाली मशीन में लगे हुए चाकू इसी तरह के औज़ार हैं। इन औज़ारों और मशीन के मुख्य ढांचे का भेद उनके जन्म से ही चला आता है, क्योंकि ये औज़ार अब भी प्रायः दस्तकारी अथवा मैन्यूफ़ैक्चर के द्वारा ही तैयार होते रहते हैं और बाद को मशीन के ढांचे में, जो कि मशीनों द्वारा तैयार होता है, जोड़ दिये जाते हैं।[91] इसलिए मशीन असल में एक ऐसा यंत्र होती है, जो गतिमान होने के बाद अपने औज़ारों से वही क्रियाएं करता है, जो पहले मज़दूर इसी तरह के औज़ारों के द्वारा करते थे। चालक शक्ति चाहे मनुष्य से प्राप्त होती हो, चाहे किसी अन्य मशीन से, इससे इस सिलसिले में कोई अंतर नहीं आता। जिस क्षण कोई औज़ार मनुष्य से लेकर किसी यंत्र में जोड़ दिया जाता है, बस उसी क्षण से महज़ औज़ार का स्थान मशीन ले लेती है। यहां तक कि जहां पर ख़ुद मनुष्य ही मूल चालक बना रहता है, वहां पर भी यह अंतर तुरंत ध्यान आकर्षित कर लेता है। जिन औज़ारों को आदमी ख़ुद एक साथ इस्तेमाल कर सकता है, उनकी संख्या उत्पादन के उसके अपने प्राकृतिक औज़ारों की संख्या से, यानी उसकी शारीरिक इंद्रियों की संख्या से, सीमित होती है। जर्मनी में लोगों ने पहले एक कातनेवाले से दो चर्खों को चलवाने की कोशिश की, यानी वे चाहते थे कि मज़दूर अपने दोनों हाथों और अपने दोनों पैरों से एक साथ काम करे। यह बहुत मुश्किल साबित हुआ। बाद को पैरों से चलाया जानेवाला चर्खा ईजाद किया गया, जिसमें दो तकुए लगे थे, पर कताई करने में प्रवीण ऐसे मज़दूर, जो एक साथ दो धागे निकाल सकते हों, लगभग उतने ही दुर्लभ थे, जितने दो सिर वाले इनसान। दूसरी ओर, जेनी अपने जन्मकाल से ही १२-१८ तकुओं से कताई करती थी और मोज़े बुनने का करघा कई हज़ार सूइयों से एक साथ बुनाई करता है। मशीन एक साथ जितने औज़ारों से काम ले सकती है, उनकी संख्या शुरू से ही उन सीमाओं से मुक्त हो जाती है, जो दस्तकारों के औज़ारों पर उनकी इंद्रियों के रूप में लगी रहती हैं।

हाथ के बहुत से औज़ारों में मात्र चालक शक्तिरूपी मनुष्य और मज़दूर रूपी मनुष्य – या औज़ारों से सचमुच काम लेनेवाले कारीगररूपी मनुष्य – का भेद एकदम स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए, पैर केवल चर्खे की चालक शक्ति का काम करता है, जब कि हाथ, तकुए से काम लेता हुआ और धागे को खींचता और ऐंठता हुआ, कताई की वास्तविक क्रिया को संपन्न करता है। औद्योगिक क्रांति दस्तकार के औज़ार के इस अंतिम भाग पर सबसे पहले अधिकार करती है, और अपनी आंखों से मशीन को बराबर देखते रहने और उसकी ग़लतियों को अपने हाथों से ठीक कर देने का जो नया श्रम अब मज़दूर को करना पड़ता है, उसके अलावा उसके ज़िम्मे केवल यह यांत्रिक भूमिका ही रह जाती है कि वह मशीन की चालक शक्ति के रूप में काम आये। दूसरी ओर, जिन औज़ारों के संबंध में मनुष्य सदा एक सरल चालक शक्ति का काम करता रहा है – जैसा कि वह, मिसाल के लिए, चक्की की क्रैंक

---

[91] अभी पिछले पंद्रह बरस से ही (यानी लगभग १८५० से) मशीनों के इन औज़ारों का अधिकांश इंगलैंड में मशीनों के द्वारा तैयार होने लगा है। और अब भी इन औज़ारों को मशीन बनानेवाले मैन्यूफ़ैक्चर तैयार नहीं करते। इस तरह के यांत्रिक औज़ारों को बनानेवाली मशीनों की कुछ मिसालें ये हैं: स्वचालित फिरकी-निर्माण मशीन, धुनाई का औज़ार बनानेवाली मशीन, तुरी बनानेवाली मशीनें और म्यूल तथा थ्रौसल तकुओं को तैयार करनेवाली मशीनें।

पकड़कर घुमाने,[92] पंप चलाने, धौंकनी का हैंडिल ऊपर-नीचे चलाने, ओखली में मूसल से कूटने, आदि के समय करता है—उन औज़ारों के लिए शीघ्र ही पशु, पानी[93] या हवा का चालक शक्तियों के रूप में उपयोग करने की आवश्यकता अनुभव होने लगती है। कहीं-कहीं पर मैन्यूफ़ैक्चर के काल के बहुत पहले और कुछ हद तक उसके काल में भी ये औज़ार मशीनों का रूप धारण कर लेते हैं, लेकिन उससे उत्पादन की पद्धति में कोई क्रांति नहीं होती। किंतु आधुनिक उद्योग के काल में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हाथ से चलाये जानेवाले साधनों के रूप में भी ये औज़ार मशीनों का रूप धारण कर चुके हैं। मिसाल के लिए, जिन पंपों से डच लोगों ने १८३६-१८३७ में हार्लेम झील को ख़ाली किया था, वे साधारण पंपों के सिद्धांत के अनुसार ही बनाये गये थे। अंतर केवल यह था कि उनके पिस्टन आदमियों द्वारा नहीं, बल्कि भाप के दैत्याकार इंजनों द्वारा चलाये जाते थे। इंगलैंड में लोहार की साधारण तथा अत्यंत अविकसित धौंकनी के दस्ते को कभी-कभी किसी भाप के इंजन के साथ जोड़कर इंजन-धौंकनी बना दी जाती है। ख़ुद भाप के इंजन से, जैसा कि वह १७ वीं सदी के अंत में, मैन्यूफ़ैक्चर के काल में, अपने आविष्कार के समय था और जैसा कि वह १७८० तक बना रहा,[94] किसी प्रकार की औद्योगिक क्रांति का आरंभ नहीं हुआ था। इसके विपरीत मशीनों के आविष्कार के कारण भाप के इंजनों के रूप में क्रांति होना आवश्यक हो गया। जिस क्षण मनुष्य अपने श्रम के विषय पर किसी औज़ार के ज़रिये काम करने के बजाय किसी औज़ार-मशीन की चालक शक्ति बन जाता है, बस उसी क्षण से चालक शक्ति का मनुष्य की मांस-पेशियों के रूप में होना महज़ एक संयोग बन जाता है। उतनी ही आसानी से वह हवा, पानी या भाप का रूप भी धारण कर सकती है। पर ज़ाहिर है, ऐसा होने पर उस यंत्र में, जो शुरू में केवल मनुष्य के द्वारा चलाये जाने के लिए बनाया गया था, बहुत बड़ी प्राविधिक तब्दीलियां हो जाती हैं। आजकल ऐसी सभी मशीनें, जिनका प्रचार होना अभी बाक़ी है, जैसे

---

[92] मूसा ने कहा है: "जो बैल अनाज मांड़ता है, उसके मुंह पर कभी छींका मत चढ़ा।" पर इसके विपरीत जर्मनी के ईसाई दानवीर जब भूदासों से आटा-चक्की में चालक शक्ति का काम लेते थे, तो उनके गले में लकड़ी का एक तख़्ता बांध देते थे, ताकि वे हाथ से उठाकर आटा मुंह में न डाल सकें।

[93] डच लोग यदि चालक शक्ति के रूप में हवा का उपयोग करने पर मजबूर हो गये, तो इसका कारण कुछ हद तक तो यह था कि उनके देश में ऐसी नदियों की कमी थी, जो काफ़ी ऊंचाई से गिरती हों, और कुछ हद तक यह कि उन्हें अकसर अन्य क्षेत्रों में पानी की आवश्यकता से अधिक प्रचुरता के विरुद्ध संघर्ष करना होता था। पवनचक्की ख़ुद उन्हें जर्मनी से मिली थी, जहां उसके आविष्कार से सामंतों, पादरियों और सम्राट् के बीच इस बात पर अच्छा-ख़ासा झगड़ा शुरू हो गया था कि हवा उनमें से किसकी "संपत्ति है"। सारे जर्मनी में शोर मच गया कि हवा लोगों को ग़ुलामी में जकड़ देती है, जब कि वही हवा हालैंड को आज़ादी दे रही थी। वहां हवा के द्वारा हालैंडवासी ग़ुलामी में नहीं जकड़े गये, बल्कि ज़मीन हालैंडवासियों की ग़ुलाम बना दी गयी। १८३६ में भी हालैंड में ६,००० अश्वशक्ति की १२,००० पवनचक्कियां देश की दो तिहाई भूमि को फिर से दलदल बन जाने से बचाने के लिए इस्तेमाल हो रही थीं।

[94] वाट के पहले तथाकथित एकदिश-क्रिया इंजन का आविष्कार होने पर भाप का इंजन बहुत-कुछ सुधर गया था, पर इस रूप में वह महज़ पानी ऊपर उठाने और नमक की खानों में से नमक का पानी निकालने की मशीन बना रहा।

सीने की मशीनें या डबल रोटी बनाने की मशीनें, आदि, जब तक कि उनके स्वरूप के कारण ही छोटे पैमाने पर उनका उपयोग असंभव न हो, इस तरह बनायी जाती हैं कि वे मनुष्य की चालक शक्ति और विशुद्ध यांत्रिक चालक शक्ति, दोनों के द्वारा चलायी जा सकें।

औद्योगिक क्रांति का श्रीगणेश करनेवाली मशीन अकेले एक औज़ार से काम करनेवाले मज़दूर के स्थान पर एक ऐसा यंत्र स्थापित कर देती है, जो इसी प्रकार के कई औज़ारों से एक साथ काम करता है और जो केवल एक चालक शक्ति द्वारा ही गति में लाया जाता है, उस शक्ति का रूप चाहे कुछ भी हो।[95] यह मशीन तो होती है, पर अभी वह मशीनों से होनेवाले उत्पादन का केवल एक प्राथमिक तत्त्व ही होती है।

मशीन के आकार में तथा वह जिन औज़ारों से काम करती है, उनकी संख्या में वृद्धि हो जाने पर उसे चलाने के लिए पहले से अधिक भारी-भरकम यंत्र की आवश्यकता होती है, और इस यंत्र के लिए उसके अपने प्रतिरोध पर क़ाबू पाने के वास्ते मनुष्य की शक्ति से अधिक बलवान चालक शक्ति की ज़रूरत होती है। इसके अलावा यह बात तो है ही कि समरूप निरंतर गति पैदा करने के लिए मनुष्य बहुत अच्छा साधन नहीं है। मगर मान लीजिये कि मनुष्य केवल एक मोटर के रूप में काम कर रहा है और उसके औज़ार का स्थान किसी मशीन ने ले लिया है। ऐसी हालत में ज़ाहिर है कि उसका स्थान प्राकृतिक शक्तियां ले सकती हैं। मैन्यूफ़ैक्चर के काल से जितनी चालक शक्तियां विरासत में मिली थीं, उनमें अश्वशक्ति सबसे ख़राब थी। कुछ हद तक तो इसलिए कि अश्व का ख़ुद अपना भी एक मस्तिष्क होता है, और कुछ हद तक इसलिए कि वह बहुत महंगा होता है और कारख़ानों में बहुत सीमित पैमाने पर ही उसका उपयोग किया जा सकता है।[96] फिर भी आधुनिक उद्योग के बाल्य-काल

---

[95] "इन तमाम सरल औज़ारों का संयोग जब किसी एक मोटर द्वारा हरकत में लाया जाता है, तो वह मशीन बन जाता है।" (Babbage, *On the Economy of Machinery*, London, 1832 [p. 136.])

[96] जनवरी १८६१ में जॉन सी० मॉर्टन ने Society of Arts [शिल्पों की परिषद] के सामने "खेती में इस्तेमाल होनेवाली शक्तियों" के विषय में एक निबंध पढ़ा था। उसमें उन्होंने कहा है: "हर ऐसे सुधार के फलस्वरूप, जिससे भूमि की एकरूपता बढ़ती है, भाप का इंजन विशुद्ध यांत्रिक शक्ति के उत्पादन में अधिकाधिक इस्तेमाल होने लगता है... अश्व-शक्ति वहां आवश्यक होती है, जहां टेढ़ी-मेढ़ी मेंड़ों तथा अन्य रुकावटों के कारण एकरूप कार्य में बाधा पड़ती है। इस तरह की रुकावटें दिन ब दिन मिटती जा रही हैं। ऐसे कार्यों में, जिनमें वास्तविक बल की अपेक्षा इच्छा-शक्ति के उपयोग की अधिक आवश्यकता होती है, एकमात्र वही शक्ति इस्तेमाल हो सकती है, जिसपर प्रत्येक क्षण मानव-मस्तिष्क का नियंत्रण रहता है। अर्थात् ऐसे कार्यों में केवल मनुष्य-शक्ति ही उपयोग में आ सकती है।" इसके बाद मि० मॉर्टन भापशक्ति, अश्वशक्ति और मनुष्यशक्ति को उस इकाई में परिवर्तित कर देते हैं, जो भाप के इंजनों में आम तौर पर इस्तेमाल होती है। ३३,००० पाउंड वज़न को एक मिनट में एक फ़ुट ऊपर उठाने के लिए जो शक्ति आवश्यक होती है, वही यह इकाई है। फिर वह हिसाब लगाकर दिखाते हैं कि जब भाप के इंजन से एक अश्वशक्ति ली जाती है, तो उसकी लागत ३ पेंस प्रति घंटा बैठती है, और जब वह घोड़े से ली जाती है, तो उसकी लागत $५\frac{१}{२}$ पेंस प्रति घंटा होती है। इतना ही नहीं, यदि हम किसी घोड़े का स्वास्थ्य ठीक रखना चाहते

में घोड़े का काफ़ी व्यापक पैमाने पर उपयोग किया गया था। इसका एक प्रमाण तो यह है कि "अश्वशक्ति" शब्द आज तक यांत्रिक शक्ति के नाम के रूप में जीवित है। इसके साथ-साथ उसका दूसरा प्रमाण समकालीन काश्तकारों की शिकायतें थीं। हवा बहुत अनिश्चित रहती थी, और उसपर नियंत्रण करना भी संभव नहीं था। इसके अलावा इंगलैंड में, जो कि आधुनिक उद्योग का जन्म-स्थान है, मैन्यूफ़ैक्चर के काल में भी पानी की शक्ति का ज़्यादा इस्तेमाल होता था। एक अकेली पनचक्की से आटा पीसने की दो चक्कियां चलाने की कोशिशें १७ वीं सदी में ही हो चुकी थीं। लेकिन गियर का आकार इतना बढ़ गया था कि पानी की शक्ति उसे संभाल नहीं पाती थी और वह अपर्याप्त सिद्ध हो रही थी। यह कठिनाई भी एक कारण थी, जिसने घर्षण के नियमों का अधिक सही अध्ययन आवश्यक बनाया। इसी प्रकार जो चक्कियां एक लीवर को दबाकर और खींचकर गति में लायी जाती थीं, उनमें चालक शक्ति से पैदा होनेवाली अनियमितता के फलस्वरूप गतिपालक चक्र के सिद्धांत ने जन्म लिया और उसका उपयोग आरंभ हुआ। इसने बाद में आधुनिक उद्योग में बहुत बड़ी भूमिका अदा की।[97] इस प्रकार मैन्यूफ़ैक्चर के काल में आधुनिक मशीनी उद्योग के प्रथम वैज्ञानिक एवं प्राविधिक तत्त्व विकसित किये गये। आर्कराइट की थ्रौसल-कताई मशीन शुरू से ही पानी के ज़रिये चलायी जाती थी। लेकिन इस सबके बावजूद प्रमुख चालक शक्ति के रूप में पानी का उपयोग करने में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। पानी की शक्ति को इच्छानुसार बढ़ाया नहीं जा सकता था, कुछ ख़ास मौसमों में वह काम नहीं दे पाती थी; और सबसे बड़ी बात यह थी कि बुनियादी तौर पर यह एक स्थानीय ढंग की शक्ति थी।[98] वाट के दूसरे और भाप के तथाकथित उभयदिश इंजन का आविष्कार होने तक कोई ऐसा मूल चालक नहीं बनाया जा सका था, जो कोयला और पानी ख़र्च करके ख़ुद अपनी शक्ति पैदा कर लेता हो; जिसकी शक्ति पूर्णतया मनुष्य के नियंत्रण में हो; जिसे एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर ले जाना संभव हो; जो संचलन के साधन के रूप में काम में आ सकता हो; जो शहरी हो, न कि पनचक्की की तरह देहाती; जो पनचक्कियों की तरह पूरे देहात में बिखरा हुआ न हो, बल्कि जिसके द्वारा उत्पादन को शहरों में संकेंद्रित किया जा

हैं, तो हम उससे ८ घंटे रोज़ाना से ज़्यादा काम नहीं ले सकते। इसलिए यदि भाप की शक्ति का उपयोग किया जाये, तो ज़मीन के जोतने-बोने में इस्तेमाल होनेवाले हर सात घोड़ों में से कम से कम तीन घोड़ों के बिना ही काम चल सकता है। और भाप की शक्ति में पूरे एक साल में जो ख़र्च होगा, वह इन तीन घोड़ों के उन तीन या चार महीनों के ख़र्च से ज़्यादा नहीं होगा, जिनमें उनसे सक्रिय रूप से काम लिया जा सकता था। अंत में खेती की जिन क्रियाओं में भाप की शक्ति का उपयोग किया जा सकता है, उनमें उसके इस्तेमाल से अश्वशक्ति की अपेक्षा काम का स्तर ऊंचा हो जाता है। एक भाप के इंजन का काम करने के लिए ६६ आदमियों की ज़रूरत होगी, जिनपर कुल १५ शिलिंग फ़ी घंटा ख़र्च होंगे, जब कि एक घोड़े का काम करने के लिए ३२ आदमियों की ज़रूरत होगी, जिनपर कुल ८ शिलिंग फ़ी घंटा ख़र्च होंगे।

[97] Faulhaber, 1625; De Caus, 1688.

[98] जल शक्ति के औद्योगिक उपयोग पर पहले जो अनेक बंधन लगे हुए थे, उनमें से कई-एक से उसे आधुनिक टर्बाइन ने मुक्त कर दिया है।

सके,[99] जिसका सार्वत्रिक प्राविधिक उपयोग किया जा सके और जिसपर उसके निवास-स्थान की स्थानीय परिस्थितियों का अपेक्षाकृत कम प्रभाव पड़ता हो। वाट ने अप्रैल १७८४ में अपने आविष्कार के उपयोग का जो पेटेंट प्राप्त किया था, उसके विवरण से प्रकट होता है कि उनकी प्रतिभा कितनी महान कोटि की थी। उस विवरण में वाट के बनाये हुए भाप के इजन का एक विशिष्ट प्रयोजन के आविष्कार के रूप में वर्णन नहीं किया गया था, बल्कि उसमें कहा गया है कि यांत्रिक उद्योग में इस आविष्कार का सार्वत्रिक उपयोग हो सकता है। उसमें वाट ने उसके बहुत से उपयोग गिनाये हैं, जिनमें से बहुत से तो आधी शताब्दी बाद तक भी कार्यान्वित नहीं हो पाये थे। इसकी एक मिसाल है भाप का हथौड़ा। फिर भी वाट को भाप के इंजन के जहाजरानी में इस्तेमाल हो सकने के बारे में संदेह था। पर उनके उत्तराधिकारी बूल्टन और वाट ने १८५१ की प्रदर्शनी में महासागरों में चलनेवाले जहाजों के लिए विराट आकार के भाप के इंजन बनाकर भेजे।

जब मनुष्य के हाथ के औज़ार किसी यांत्रिक उपकरण के – अर्थात् मशीन के – औज़ारों में बदल गये, तो चालक यंत्र ने भी तुरंत ही एक ऐसा स्वतंत्र रूप प्राप्त कर लिया, जो मानव-शक्ति की सीमाओं से सर्वथा मुक्त था। इसके बाद वह एक अकेली मशीन, जिसपर हम अभी तक विचार करते रहे हैं, मशीनों से होनेवाले उत्पादन का मात्र एक तत्त्व बन गयी। अब एक चालक यंत्र बहुत सी मशीनों को एक साथ चलाने लगा। एक साथ जितनी मशीनें चलायी जाती हैं, उनकी संख्या के साथ-साथ चालक यंत्र भी विकसित होता जाता है, और प्रेषण यंत्र एक बहुत फैलता हुआ उपकरण बन जाता है।

अब हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि एक ही प्रकार की अनेक मशीनों के मिल कर कार्य करने और मशीनों की एक जटिल प्रणाली में क्या भेद है।

पहली सूरत में पूरी वस्तु एक ही मशीन से तैयार होती है। यह मशीन तरह-तरह की उन तमाम क्रियाओं को कर डालती है, जिन्हें पहले या तो कोई एक दस्तकार अपने औज़ार से करता था, जैसे, मिसाल के लिए, बुनकर अपने करघे द्वारा, या जिनको कई दस्तकार एक के बाद एक अलग-अलग रूप से अथवा मैन्यूफ़ैक्चर की किसी प्रणाली के सदस्यों के रूप में करते थे।[100] मिसाल के लिए, लिफ़ाफ़ों के मैन्यूफ़ैक्चर में एक आदमी तह करनेवाले औज़ार

---

[99] "कपड़े के मैन्यूफ़ैक्चर के शुरू के दिनों में वह उस स्थान पर बनाया जाता था, जहां इतनी ऊंचाई से गिरनेवाली कोई नदी होती थी, जिससे पनचक्की को चलाना संभव होता था। और हालांकि पानी से चलनेवाली मिलों की स्थापना से मैन्यूफ़ैक्चर की घरेलू व्यवस्था का विघटन आरंभ हो गया था, परंतु फिर भी मिलें चूंकि अनिवार्य रूप से नदियों के तट पर खोली जाती थीं और अकसर दो मिलों के बीच काफ़ी फ़ासला होता था, इसलिए वे एक शहरी व्यवस्था का नहीं, बल्कि एक देहाती व्यवस्था का ही भाग थीं। और जब तक नदी का स्थान भाप की शक्ति ने नहीं ले लिया, तब तक कारखानों को शहरों में, और ऐसे स्थानों में इकट्ठा नहीं किया जा सका, जहां पर भाप के उत्पादन के लिए आवश्यक कोयला और पानी पर्याप्त मात्रा में मिलते थे। भाप का इंजन ही कारखानों वाले शहरों का जनक है।" (A. Redgrave, *Reports of Insp. of Fact. for 30th April 1860*, p. 36.)

[100] मैन्यूफ़ैक्चर में होनेवाले श्रम-विभाजन की दृष्टि से बुनाई कोई सरल श्रम नहीं था, बल्कि इसके विपरीत वह एक पेचीदे ढंग का हाथ का श्रम था। और इसलिए पावरलूम एक

से काग़ज़ की तह करता था, दूसरा गोंद लगाता था, तीसरा वह सिरा मोड़ देता था, जिसपर कोई चिह्न अंकित करना होता था, चौथा चिह्न अंकित कर देता था और इसी तरह अन्य लोग अन्य प्रकार के काम करते जाते थे; और इनमें से प्रत्येक क्रिया के लिए लिफ़ाफ़े को एक नये हाथ में पहुंचना पड़ता था। पर लिफ़ाफ़े बनानेवाली एक अकेली मशीन अब ये सारी क्रियाएं एक साथ करती जाती है और एक घंटे में ३,००० लिफ़ाफ़े बना डालती है। १८६२ की लंदन की प्रदर्शनी में काग़ज़ की थैलियां बनानेवाली एक अमरीकी मशीन दिखायी गयी थी। वह काग़ज़ काटती थी, चिपकाती थी, मोड़ती थी और एक मिनट में ३०० थैलियां तैयार कर देती थी। यहां उस पूरी क्रिया को, जो कि मैन्यूफ़ैक्चर के रूप में कई उपक्रियाओं में बंटी हुई थी, अनेक औज़ारों के योग से काम लेनेवाली एक अकेली मशीन पूरा कर डालती है। अब ऐसी मशीन चाहे किसी पेचीदे ढंग के हाथ के औज़ार का नवीन रूप मात्र हो या मैन्यूफ़ैक्चर द्वारा विशिष्टीकृत अनेक प्रकार के सरल औज़ारों का योग हो, दोनों सूरतों में फ़ैक्टरी में, यानी उस वर्कशाप में, जिसमें केवल मशीनों का ही इस्तेमाल होता है, हमारी एक बार फिर सरल सहकारिता से भेंट होती है। और यदि फ़िलहाल मजदूर को एक तरफ़ छोड़ दिया जाये, तो यह सहकारिता सबसे पहले एक ही प्रकार की कई एक साथ काम करनेवाली मशीनों के एक स्थान पर एकत्रित हो जाने के रूप में हमारे सामने आती है। चुनांचे बुनाई की फ़ैक्टरी साथ-साथ काम करनेवाले कई शक्तिचालित करघों की और सिलाई की फ़ैक्टरी एक ही मकान के अंदर काम करनेवाली सीने की बहुत सी मशीनों की बनी होती है। लेकिन यहां पर पूरी व्यवस्था में एक प्राविधिक एकता होती है, क्योंकि सब मशीनों को एक समान मूल चालक के स्पंदनों से, प्रेषण यंत्र के माध्यम द्वारा एक साथ और बराबर मात्रा में आवेग प्राप्त होता है। और यह प्रेषण यंत्र भी कुछ हद तक सब मशीनों का साझा ही होता है, क्योंकि उसकी केवल विशिष्ट उपशाखाएं ही प्रत्येक मशीन से जा मिलती हैं। इसलिए जिस प्रकार कई औज़ार किसी एक मशीन की इंद्रियां होते हैं, उसी प्रकार एक ही तरह की कई मशीनें चालक यंत्र की इंद्रियां होती हैं।

लेकिन जिसे सचमुच मशीनों की प्रणाली कहा जा सकता है, वह इन स्वतंत्र मशीनों का स्थान उस वक्त तक नहीं ले सकती, जब तक कि श्रम का विषय उन तफ़सीली क्रियाओं के एक संबद्ध क्रम से नहीं गुज़रता, जिनको एक दूसरे का काम पूरा करनेवाली, नाना प्रकार की अनेक मशीनों की एक पूरी शृंखला संपन्न करती है। यहां पर फिर वही श्रम-विभाजन के द्वारा संपन्न होनेवाली सहकारिता दिखायी देती है, जो मैन्यूफ़ैक्चर की मुख्य विशेषता है। किंतु अब यहां तफ़सीली काम करनेवाली मशीनों का योग होता है। तरह-तरह के तफ़सीली काम करनेवाले मजदूरों के औज़ार, जैसे ऊन के मैन्यूफ़ैक्चर में ऊन छांटनेवालों, ऊन साफ़ करनेवालों और ऊन कातनेवालों, आदि के औज़ार, अब विशिष्टीकृत मशीनों के औज़ारों में

ऐसी मशीन है, जो बहुत पेचीदे ढंग का काम करती है। यह समझना बिल्कुल ग़लत है कि आधुनिक मशीनों का उपयोग केवल उन क्रियाओं के लिए किया जाने लगा था, जिनको श्रम-विभाजन ने सरल बना दिया था। मैन्यूफ़ैक्चर के काल में कताई और बुनाई नये वर्गों में बंट गयी थीं और उनके औज़ारों में बहुत से परिवर्तन और सुधार कर दिये गये थे, लेकिन ख़ुद श्रम किसी तरह नहीं बंटा था, और वह उस समय भी दस्तकारी ही बना रहा। इसलिए श्रम नहीं, बल्कि श्रम का औज़ार मशीन के प्रस्थान-बिंदु का काम करता है।

बदल जाते हैं और इनमें से प्रत्येक मशीन पूरी प्रणाली की एक विशिष्ट इंद्रिय होती है, जो एक ख़ास काम करती है। उद्योग की जिन शाखाओं में मशीनों की प्रणाली का पहले-पहल उपयोग शुरू होता है, उनमें मोटे तौर पर स्वयं मैन्यूफ़ैक्चर उत्पादन की क्रिया का विभाजन तथा इसलिए संगठन करने के लिए एक प्राकृतिक आधार प्रस्तुत कर देता है।[101] फिर भी एक मूलभूत अंतर तुरंत प्रकट हो जाता है। मैन्यूफ़ैक्चर में हर ख़ास तफ़सीली क्रिया मज़दूरों को या तो अकेले, या दल बनाकर अपने दस्तकारी के औज़ारों से पूरी करनी पड़ती है। उसमें एक ओर, यदि मज़दूर को उत्पादन-प्रक्रिया के अनुरूप ढाला जाता है, तो दूसरी ओर, उत्पादन-प्रक्रिया को भी पहले ही से मज़दूर के योग्य बना दिया गया था। श्रम-विभाजन का यह मनोगत सिद्धांत मशीनों से होनेवाले उत्पादन में लागू नहीं होता। यहां तो पूरी क्रिया को अलग करके उसका वस्तुगत ढंग से अध्ययन किया जाता है, यानी इस बात का ख़याल किये बिना कि यह क्रिया मानव-हाथों को पूरी करनी होगी, उसका विश्लेषण किया जाता है और उसको उसकी संघटक उपक्रियाओं में बांट दिया जाता है और हर तफ़सीली उपक्रिया को कार्यान्वित करने तथा सारी उपक्रियाओं को एक संपूर्ण इकाई में जोड़ने की समस्या को मशीनों तथा रसायनविज्ञान, आदि की सहायता से हल किया जाता है।[102] लेकिन ज़ाहिर है कि इस सूरत में भी बड़े पैमाने पर अनुभव संचय करके सिद्धांत को पूर्णता प्रदान करना आवश्यक होता है। तफ़सीली काम करनेवाली हर मशीन क्रम में अगले नंबर की मशीन को कच्चा माल तैयार करके देती है, और चूंकि तमाम मशीनें एक साथ काम करती होती हैं, इसलिए उत्पाद सदा अपने निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में से गुज़रता रहता है और साथ

---

[101] मशीनी उद्योग के युग के पहले ऊन का मैन्यूफ़ैक्चर इंगलैंड का सबसे प्रमुख मैन्यूफ़ैक्चर था। यही कारण है कि १८वीं सदी के पूर्वार्द्ध में इस उद्योग में सबसे अधिक प्रयोग किये गये। ऊन के संबंध में जो अनुभव प्राप्त हुआ, उसका लाभ कपास ने उठाया, जिसे मशीन में डालने के वास्ते तैयार करने में कम एहतियात की ज़रूरत होती है। इसी तरह बाद को मशीनों के द्वारा ऊन की कताई-बुनाई मशीनों के द्वारा कपास की कताई और बुनाई के रास्ते पर चलकर विकसित हुई। ऊन के मैन्यूफ़ैक्चर के कुछ ख़ास तफ़सीली काम, जैसे ऊन साफ़ करने का काम, १८५६ और १८६६ के बीच के दस वर्षों में ही फ़ैक्टरी-व्यवस्था में शामिल किये गये हैं। "ऊन साफ़ करने की मशीन के और ख़ास तौर पर लिस्टर की मशीन के इस्तेमाल में आने के समय से ही ऊन साफ़ करने की क्रिया में बड़े व्यापक पैमाने पर शक्ति का उपयोग हो रहा है... और उसका निस्संदेह यह प्रभाव हुआ है कि मज़दूरों की एक बहुत बड़ी संख्या बेकार हो गयी है। पहले ऊन को हाथ से साफ़ किया जाता था, और वह भी बहुधा साफ़ करनेवाले की झोंपड़ी में। अब वह आम तौर पर कारख़ाने में साफ़ किया जाता है, और कुछ ख़ास तरह के कामों को छोड़कर, जिनमें अब भी हाथ से साफ़ किया गया ऊन ही पसंद किया जाता है, अब हाथ के श्रम के लिए स्थान नहीं रह गया। हाथ से ऊन साफ़ करनेवाले बहुत से कारीगरों को कारख़ानों में नौकरी मिल गयी, लेकिन हाथ से साफ़ करनेवालों की पैदावार मशीनों की पैदावार के अनुपात में इतनी कम बैठती है कि हाथ से ऊन साफ़ करनेवाले कारीगरों की एक बहुत बड़ी संख्या को रोज़ी मिलना अब असंभव हो गया है।" (*Reports of Insp of Fact. for 31st October 1856*, p. 16.)

[102] "अतएव फ़ैक्टरी-व्यवस्था का सिद्धांत यह है कि... कारीगरों के बीच श्रम का विभाजन अथवा क्रम-भाजन करने के बजाय क्रिया को उसके मौलिक संघटकों में विभक्त कर दिया जाये।" (A. Ure, *Philosophy of Manufactures*, London, 1835, p. 20.)

ही वह निरंतर एक परिवर्तनकालीन दशा में, एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में प्रवेश करने की दशा में, बना रहता है। जिस प्रकार मैन्यूफ़ैक्चर में तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूरों की प्रत्यक्ष सहकारिता विशिष्ट दलों की संख्या के बीच एक अनुपात स्थापित कर देती है, ठीक उसी प्रकार मशीनों की सुसंबद्ध प्रणाली में भी, जहां तफ़सीली काम करनेवाली एक मशीन सदा किसी दूसरी मशीन को काम में लगाये रहती है, मशीनों की संख्या, आकार तथा गति के बीच एक निश्चित अनुपात क़ायम हो जाता है। सामूहिक मशीन अब नाना प्रकार की मशीनों तथा मशीनों के दलों की एक सुसंबद्ध प्रणाली होती है, और वह उतनी ही पूर्ण होती जाती है, जितनी उत्पादन की पूरी क्रिया एक निरंतर चलनेवाली क्रिया बनती जाती है, अर्थात् कच्चे माल के उत्पादन-प्रक्रिया की पहली अवस्था से अंतिम अवस्था तक गुज़रने में जितने कम व्याघात होते हैं, या, दूसरे शब्दों में, जितना उसके एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुंचने का कार्य मनुष्य के हाथों के द्वारा नहीं, बल्कि ख़ुद मशीनों के द्वारा संपन्न होता है। मैन्यूफ़ैक्चर में हर तफ़सीली क्रिया का पृथक कर दिया जाना श्रम-विभाजन के स्वरूप के कारण अनिवार्य हो जाता है, पर एक पूरी तरह विकसित फ़ैक्टरी में इसके विपरीत इन क्रियाओं की अविच्छिन्नता अनिवार्य होती है।

मशीनों की प्रणाली चाहे केवल एक ही प्रकार की मशीनों की सहकारिता पर आधारित हो, जैसा कि बुनाई में होता है, और चाहे अलग-अलग प्रकार की मशीनों के योग पर आधारित हो, जैसा कि कताई में होता है, वह ख़ुद जब कभी किसी स्वचालित मूल चालक के द्वारा चलायी जाती है, तब सदा एक बड़ा लंबा-चौड़ा स्वचालित यंत्र बन जाती है। लेकिन जहां कोई फ़ैक्टरी पूरी की पूरी ख़ुद अपने भाप के इंजन द्वारा चलायी जाती है, वहां पर भी या तो कुछ ख़ास मशीनों को अपनी कुछ ख़ास गतियों के लिए मज़दूर की मदद की आवश्यकता हो सकती है (स्वचालित म्यूल का आविष्कार होने के पहले म्यूल कैरियेज को इधर से उधर दौड़ाने में इस तरह की मदद की ज़रूरत होती थी, और महीन कताई करनेवाली मिलों में उसकी आज भी आवश्यकता होती है), या किसी मशीन के काम करने के लिए यह ज़रूरी हो सकता है कि उसके कुछ ख़ास हिस्सों से मज़दूर हाथ के औज़ारों की तरह काम ले। जब तक स्लाइड रेस्ट स्वचालित नहीं हो गया, तब तक मशीन बनानेवालों की वर्कशापों में यही सूरत होती थी। जब कोई मशीन बिना आदमी की मदद के कच्चे माल से आगे कुछ बनाने के लिए आवश्यक समस्त क्रियाओं को पूरा करने लगती है और जब उसे आदमी की केवल देखरेख की ही आवश्यकता रह जाती है, तब मशीनों की स्वचालित प्रणाली तैयार हो जाती है। इस प्रणाली की तफ़सीली बातों में निरंतर सुधार किया जा सकता है। मिसाल के लिए, जो उपकरण धागे के टूटते ही कताई की मशीन को चलने से रोक देता है और जो स्वचालित रोक शटल बोबिन में बाना ख़त्म होते ही पावरलूम को रोक देती है, उनके जैसे सुधार काफ़ी आधुनिक आविष्कारों के फल हैं। उत्पादन की निरंतरता तथा स्वचालन के सिद्धांत का उपयोग – इन दोनों बातों के उदाहरण के रूप में हम काग़ज़ की किसी आधुनिक मिल को ले सकते हैं। काग़ज़-उद्योग में आम तौर पर हम न केवल उत्पादन के विभिन्न साधनों पर आधारित उत्पादन की अलग-अलग प्रणालियों के भेदों का विस्तार के साथ उपयोगी अध्ययन कर सकते हैं, बल्कि उत्पादन की सामाजिक परिस्थितियों का इन प्रणालियों से जो संबंध होता है, उसका भी तफ़सील के साथ अध्ययन कर सकते हैं। कारण कि पुराने ज़माने में जर्मनी में जिस तरह काग़ज़ बनाया जाता था, वह दस्तकारी के ढंग के उत्पादन का नमूना

था, १७वीं सदी में हालैंड में और १८वीं सदी में फ़्रांस में जिस तरह काग़ज़ बनाया जाता था, वह मैन्यूफ़ैक्चर की मिसाल था, और आधुनिक इंगलैंड में काग़ज़ तैयार करने का ढंग स्वचालित उत्पादन का नमूना है; इसके अलावा हिंदुस्तान और चीन में इसी उद्योग के दो प्राचीन एशियाई रूप आज भी मौजूद हैं।

मशीनों की ऐसी सुसंबद्ध प्रणाली, जिसे प्रेषण यंत्र के द्वारा एक केंद्रीय स्वचालित यंत्र से गति प्राप्त होती है, मशीनों से होनेवाले उत्पादन का सबसे अधिक विकसित रूप होती है। यहां पर अलग-अलग काम करनेवाली मशीनों के बजाय एक यांत्रिक दैत्य होता है, जिसकी देह पूरी की पूरी फ़ैक्टरियों को भर देती है और जिसकी राक्षसी शक्ति, जो शुरू में उसके दैत्याकार अवयवों की नपी-तुली और धीमी गति के आवरण के पीछे छिपी हुई थी, आख़िर अब उसकी असंख्य कार्यकारी इंद्रियों के कोलाहलपूर्ण आवर्तन के रूप में फूट पड़ती है।

इससे पहले कि ऐसे मज़दूर, जिनका एकमात्र धंधा म्यूल और भाप के इंजन बनाना था, दिखायी दिये, दुनिया में म्यूल और भाप के इंजन आये। यह उसी तरह की बात है, जैसे दर्ज़ियों के पैदा होने के बहुत पहले से लोग कपड़े पहन रहे थे। किंतु यदि वोकांसों, आर्कराइट, वाट तथा अन्य व्यक्तियों के आविष्कार व्यावहारिक सिद्ध हुए, तो केवल इसीलिए कि इन आविष्कारकों के लिए मैन्यूफ़ैक्चर के काल ने पहले से ही कुशल यांत्रिक मज़दूरों की एक काफ़ी बड़ी फ़ौज तैयार कर रखी थी। इनमें से कुछ मज़दूर विभिन्न धंधों के स्वतंत्र दस्तकार थे, दूसरे ऐसे मैन्यूफ़ैक्चरों में एकत्रित हो गये थे, जिनमें, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, श्रम-विभाजन का कड़ाई के साथ पालन किया जाता था। जैसे-जैसे आविष्कारों की संख्या बढ़ती गयी और नयी-नयी ईजाद की गयी मशीनों की मांग में वृद्धि होती गयी, वैसे-वैसे मशीन बनानेवाला उद्योग अधिकाधिक अनेक स्वतंत्र शाखाओं में बंटता गया और इन मैन्यूफ़ैक्चरों में श्रम-विभाजन का अधिकाधिक विकास होता गया। इस तरह यहां पर हम देखते हैं कि मैन्यूफ़ैक्चर में आधुनिक उद्योग का तात्कालिक प्राविधिक आधार था। मैन्यूफ़ैक्चर ने ही वे मशीनें तैयार की थीं, जिनके ज़रिये आधुनिक उद्योग ने उत्पादन के उन क्षेत्रों में, जिनपर उसने सबसे पहले अधिकार किया था, दस्तकारी तथा मैन्यूफ़ैक्चर की प्रणालियों का अंत कर दिया। इसलिए घटनाओं के स्वाभाविक विकास-क्रम के अनुसार फ़ैक्टरियों की व्यवस्था एक अपर्याप्त नींव पर खड़ी हुई थी। जब इस व्यवस्था का एक ख़ास हद तक विकास हो गया, तो उसे इस नींव को, जो उसे पहले से तैयार मिली थी और जो इस बीच पुराने ढर्रे पर ही विकसित हो गयी थी, उखाड़ देना पड़ा और अपने लिए ख़ुद एक ऐसा आधार तैयार करना पड़ा, जो उसके उत्पादन के तरीक़ों के अनुरूप था। जिस प्रकार जब तक मशीन केवल मनुष्य की शक्ति से ही चलती है, तब तक वह वामनाकार बनी रहती है, और जिस प्रकार जब तक प्राचीन काल की चालक शक्तियों का स्थान – अर्थात् पशुओं, हवा और यहां तक कि पानी का भी स्थान – भाप के इंजन ने नहीं ले लिया, तब तक मशीनों की किसी भी प्रणाली का अच्छी तरह विकास नहीं हो सका; उसी प्रकार जब तक आधुनिक उद्योग के उत्पादन के विशिष्ट साधन – मशीन – का अस्तित्व व्यक्तिगत बल और व्यक्तिगत कुशलता पर निर्भर था और जब तक उसका अस्तित्व मैन्यूफ़ैक्चरों में तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूरों और दस्तकारियों के हाथ से काम करनेवाले कारीगरों की मांस-पेशियों के विकास, दृष्टि की तीक्ष्णता और अपने वामनाकार औज़ारों से काम करने में उनकी हाथ की सफ़ाई पर निर्भर

करता था, तब तक आधुनिक उद्योग के पूर्ण विकास को मानो लक़वा मारे रहा। इस तरह जो मशीनें बनायी जाती थीं, वे बहुत महंगी पड़ती थीं, और यह एक ऐसी बात है, जिसका पूंजीपति को हमेशा ख़याल रहता है। पर इसके अलावा यह बात भी साफ़ है कि मशीनों का इस्तेमाल करनेवाले उद्योगों के विस्तार की और उत्पादन के नये क्षेत्रों पर मशीनों की चढ़ाई की सफलता इस बात पर निर्भर करती थी कि मज़दूरों के एक ख़ास वर्ग की संख्या में कितनी वृद्धि होती है, जब कि यह ख़ास वर्ग अपने धंधे के लगभग कलापूर्ण स्वरूप के कारण अपनी संख्या को एक ही झटके में नहीं, केवल धीरे-धीरे ही बढ़ा सकता था। इतना ही नहीं, विकास की एक विशेष अवस्था पर पहुंचकर आधुनिक उद्योग प्रौद्योगिक दृष्टि से उस आधार के साथ मेल नहीं खा पाया, जो दस्तकारी तथा मैन्यूफ़ैक्चर ने उसके लिए तैयार किया था। मूल चालकों का, प्रेषण यंत्रों का और ख़ुद मशीनों का आकार बढ़ता गया। ये मशीनें जितनी ही हाथ के श्रम से बनायी गयी उन आदिम मशीनों के नमूनों से भिन्न होती गयीं और जितनी ही वे एक ऐसा रूप धारण करती गयीं, जो कार्य की परिस्थितियों[103] के सिवा और किसी बात से प्रभावित नहीं होता, उनके छोटे-छोटे हिस्सों की जटिलता, अनेकरूपता और नियमितता भी उतनी ही बढ़ती गयीं। स्वचालन की प्रणाली का अधिकाधिक विकास होता गया। दिन ब दिन पहले से अधिक तापसह पदार्थ का – जैसे लकड़ी के बजाय लोहे का – प्रयोग अनिवार्य बनता गया। परंतु परिस्थितियों के प्रभाव से अपने आप उत्पन्न हो गयी इन तमाम समस्याओं को हल करने में एक रुकावट का हर जगह सामना करना पड़ता था। वह उन व्यक्तिगत सीमाओं की रुकावट थी, जिन्हें मैन्यूफ़ैक्चर का सामूहिक मज़दूर भी कुछ हद तक ही दूर कर सका था, लेकिन उनसे पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया था। मैन्यूफ़ैक्चर ऐसी मशीनें कभी नहीं बना सकता था, जैसे आधुनिक द्रवचालित संपीडक, आधुनिक पावरलूम और धुनाई की आधुनिक मशीन।

जब उद्योग के किसी एक क्षेत्र में उत्पादन की प्रणाली में मौलिक क्रांति हो जाती है, तो अन्य क्षेत्रों में भी उसी प्रकार का परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। यह सबसे पहले उद्योग की उन शाखाओं में होता है, जो एक ही प्रक्रिया की अलग-अलग अवस्थाएं होने के नाते तो जुड़ी हुई होती हैं, पर साथ ही जो सामाजिक श्रम-विभाजन के द्वारा एक दूसरे से इस तरह अलग कर दी गयी हैं कि उनमें से प्रत्येक एक स्वतंत्र पण्य तैयार करती है। चुनांचे जब कताई

---

[103] पावरलूम पहले मुख्यतया लकड़ी का बनाया जाता था। अपने सुधरे हुए आधुनिक रूप में वह लोहे का बनाया जाता है। उत्पादन के औज़ारों के पुराने रूप शुरू-शुरू में अपने नये रूपों को कितना अधिक प्रभावित करते थे, यह बात अन्य चीज़ों के अलावा मौजूदा पावरलूम की पुराने करघे के साथ बहुत ही सतही ढंग से तुलना करने पर भी देखी जा सकती है; यह बात धमन-भट्ठी के आधुनिक धमन यंत्र का साधारण धौंकनी की प्रथम निकम्मी यांत्रिक नक़ल से मुक़ाबला करने पर भी स्पष्ट हो जाती है; और इस बात पर सबसे अधिक प्रकाश शायद उन कोशिशों से पड़ता है, जो रेल के वर्तमान इंजन का आविष्कार होने के पहले एक ऐसा इंजन बनाने के लिए की गयी थीं, जिसके दो पैर थे, जिनको वह घोड़े की तरह बारी-बारी से ज़मीन से उठाता था। जब यांत्रिकी के विज्ञान का काफ़ी विकास हो जाता है और बहुत सारा व्यावहारिक अनुभव इकट्ठा हो जाता है, केवल तभी किसी मशीन का रूप पूरी तरह यांत्रिक सिद्धांतों के अनुसार तय हो पाता है और केवल तभी वह उस औज़ार के परंपरागत रूप से मुक्त हो पाता है, जिसने उसको जन्म दिया था।

मशीनों से होने लगी, तो मशीनों से बुनाई करना भी आवश्यक हो गया; और फिर दोनों ने मिलकर कपड़े सफ़ेद करने के धंधे में और कपड़ों की छपाई और रंगाई में भी वह यांत्रिक तथा रासायनिक क्रांति आवश्यक बना दी, जो बाद को संपन्न हुई। दूसरी ओर, इसी तरह कपास की कताई में क्रांति होने पर बिनौलों को रूई से अलग करने के लिए कपास ओटने की कल का आविष्कार करना आवश्यक हो गया। कताई की मशीनों के लिए आजकल जिस बृहत् पैमाने पर रूई का उत्पादन करना ज़रूरी हो गया है, वह केवल इसी आविष्कार के फलस्वरूप संभव हुआ था।[104] इससे भी अधिक विशेष रूप से, जब उद्योग तथा खेती की उत्पादन-प्रणालियों में क्रांति हुई, तो उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया की सामान्य परिस्थितियों में – अर्थात् संचार और परिवहन के साधनों में – भी एक क्रांति का होना आवश्यक हो गया। फ़ूरिये के शब्दों में, जिस समाज की धुरी सहायक घरेलू उद्योगों समेत छोटे पैमाने की खेती और शहरों की दस्तकारियां थी, उस समाज में जिस प्रकार के संचार और परिवहन के साधन थे, वे मैन्यूफ़ैक्चर के काल के उत्पादन की आवश्यकताओं के लिए, जिसमें सामाजिक श्रम का विस्तारित विभाजन था, जिसके श्रम के औज़ारों और मजदूरों का संकेंद्रण हो गया था और जिसके लिए उपनिवेशों में मंडियां तैयार हो गयी थीं, इतने अधिक अपर्याप्त थे कि उनमें सचमुच क्रांतिकारी परिवर्तन हो गये। इसी प्रकार मैन्यूफ़ैक्चर के काल से आधुनिक उद्योग को संचार और परिवहन के जो साधन मिले, वे इस नये ढंग के उद्योग के लिए, जिसमें तूफ़ानी गति से उत्पादन होता है, जिसका विस्तार बहुत लंबा-चौड़ा है, जो पूंजी और श्रम को सदा उत्पादन के एक क्षेत्र से निकालकर दूसरे क्षेत्र में डालता रहता है और जिसके पूरे संसार की मंडियों से नवोत्पादित संबंध स्थापित हो चुके हैं, शीघ्र ही असहनीय बाधाएं बन गये। इसलिए पालोंवाले जलपोतों की बनावट में जो मूलभूत परिवर्तन किये गये, उनके अलावा नदियों में चलनेवाले स्टीमरों, रेलों और सागरगामी वाष्प-जलपोतों और तार की एक पूरी प्रणाली के जन्म से संचार और परिवहन के साधन धीरे-धीरे यांत्रिक उद्योग की उत्पादन-विधियों के अनुरूप बन गये। लेकिन अब लोहे की जिस विशाल मात्रा को गढ़ना, जोड़ना, काटना, बरमाना और ढालना पड़ता था, उसके लिए दैत्याकार मशीनों की आवश्यकता हुई, जिनको बनाने के लिए मैन्यूफ़ैक्चर के काल के तरीक़े सर्वथा अपर्याप्त थे।

चुनांचे आधुनिक उद्योग को उत्पादन के अपने इस विशिष्ट औज़ार को – अर्थात् मशीन को – ख़ुद अपने हाथ में लेना पड़ा और मशीनों के द्वारा मशीनें बनानी पड़ीं। जब तक उसने यह नहीं किया, तब तक वह अपने लिए एक समुचित प्राविधिक आधार नहीं तैयार कर पाया और न अपने पैरों पर ही खड़ा हो पाया। इधर मशीनों का उपयोग बढ़ता गया, उधर उसी के साथ-साथ वर्तमान शताब्दी के शुरू के बीस-तीस वर्षों में मशीनों ने धीरे-धीरे मशीनों के निर्माण पर भी अधिकार कर लिया। लेकिन यह बात १८६६ के पहले के दस वर्षों में ही देखने में आयी कि रेलों और सागरगामी जहाज़ों का बहुत ही बड़े पैमाने पर निर्माण करने के

---

[104] एलि व्हिटने की बनायी हुई ओटनी में अभी हाल तक जितने कम मौलिक परिवर्तन हुए थे, उतने कम परिवर्तन १८वीं सदी की किसी और मशीन में नहीं हुए थे। यह केवल (१८५६ के बाद के) पिछले दस वर्षों की ही बात है कि अल्बानी, न्यूयार्क, के निवासी मि० एमेरी नामक एक और अमरीकी ने व्हिटने की ओटनी में एक ऐसा सुधार करके, जो जितना कारगर है, उतना ही सरल भी है, उसे बीते ज़माने की चीज़ बना दिया।

लिए वे दैत्याकार मशीनें तैयार होने लगीं, जो आजकल मूल चालकों के निर्माण में इस्तेमाल होती हैं।

मशीनों द्वारा मशीनें तैयार करने के लिए सबसे अधिक ज़रूरी चीज़ यह थी कि कोई ऐसा मूल चालक मिले, जो किसी भी मात्रा में बल का प्रयोग कर सके और फिर भी जो पूरी तरह नियंत्रण में रहे। भाप के इंजन ने यह ज़रूरत पहले ही से पूरी कर दी थी। लेकिन इसके साथ-साथ मशीनों के तफ़सीली हिस्सों के लिए आवश्यक, रेखागणित की दृष्टि से बिल्कुल सही सीधी रेखाएं, समतल, वृत्त, बेलन, कोन और गोले बनाने की आवश्यकता थी। यह समस्या हेनरी मॉड्स्ले ने इस शताब्दी के पहले दशक में स्लाइड रेस्ट का आविष्कार करके हल कर दी। यह औज़ार शीघ्र ही स्वचालित बना दिया गया, और ख़राद के अलावा जिसके लिए वह शुरू-शुरू में बनाया गया था, वह कुछ संशोधित रूप में कतिपय अन्य निर्माणकारी मशीनों में भी इस्तेमाल होने लगा। यह यांत्रिक उपकरण किसी विशेष औज़ार का नहीं, बल्कि ख़ुद आदमी के हाथ का स्थान ले लेता है। आदमी का हाथ काटनेवाले औज़ार को पकड़कर उसकी धार लोहे या अन्य किसी पदार्थ से लगाता था और इस तरह उस पदार्थ को कोई निश्चित रूप दे देता था। अब यह काम यह यांत्रिक उपकरण करने लगता है। इस प्रकार मशीनों के अलग-अलग हिस्सों को "इतनी आसानी और फ़ुर्ती के साथ और इतने नपे-तुले ढंग से" बनाया जाने लगा, "जिसका अधिक से अधिक कुशल मज़दूर के हाथ में संचित अनुभव भी मुक़ाबला नहीं कर सकता था।"[105]

अब यदि हम अपना ध्यान मशीनों के निर्माण में इस्तेमाल होनेवाली मशीनों के उस भाग पर केंद्रित करें, जो कार्यकारी औज़ार का काम करता है, तो एक बार फिर हाथ के औज़ार हमारे सामने आते हैं, मगर इस बार उनका आकार बहुत बड़ा होता है। बरमाने की मशीन का कार्यकारी भाग एक बहुत बड़ा बरमा होता है, जो भाप के इंजन द्वारा चलाया जाता है। दूसरी ओर, इस मशीन के बिना भाप के बड़े इंजनों और द्रवचालित दाबकों के बेलन नहीं बनाये जा सकते थे। यांत्रिक ख़राद केवल पैर से चलाये जानेवाले साधारण ख़राद का ही एक दैत्याकार नवसंस्करण है; रंदा करनेवाली मशीन लोहे के एक बढ़ई के समान होती है—वह उन्हीं औज़ारों से काम करती है, जिनको बढ़ई का काम करनेवाला मनुष्य लकड़ी पर इस्तेमाल करता है; लंदन के घाटों पर जिस औज़ार से लकड़ी के पतले पत्तर काटे जाते हैं, वह असल में एक बहुत बड़ा उस्तरा है; कतरनेवाली मशीन, जो लोहे को उतनी ही आसानी से कतर डालती है, जितनी आसानी से दर्ज़ी की कैंची कपड़ा काटती है, एक दैत्याकार कैंची होती है, और भाप के हथौड़े का सिरा एक साधारण हथौड़े के ही समान होता है, मगर वह इतना भारी होता है कि ख़ुद थोर, स्कैंडिनेविया के निवासियों का बिजली-देवता, भी उसे

[105] *The Industry of Nations*, London, 1855, Part II, p. 239. इस पुस्तक में यह भी लिखा है: "ख़रादों में लगा यह उपकरण ऊपर से चाहे जितना सरल और महत्त्वहीन प्रतीत होता हो, पर हमारा विचार है कि यदि हम यह कहें, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी कि मशीनों के उपयोग का सुधार तथा विस्तार करने में इस उपकरण ने उतना ही प्रभाव डाला है, जितना ख़ुद भाप के इंजन में वाट के किये सुधारों ने डाला था। उसका इस्तेमाल होने पर सभी मशीनें तुरंत ही पहले से अच्छी बन गयीं, सस्ती हो गयीं और आविष्कार तथा सुधार को बहुत प्रोत्साहन मिला।"

न चला पाता।[106] भाप के ये हथौड़े नाज़्मिथ के आविष्कार हैं, और उनमें से एक हथौड़ा ६ टन से भी अधिक भारी है और वह ३६ टन के अहरन पर ७ फ़ुट की सीधी ऊंचाई से गिरता है। उसके लिए ग्रेनाइट पत्थर की सिल का चूरा कर देना बच्चों के खेल के समान है। मगर साथ ही वह दो-चार बार बहुत हल्की सी थाप देकर एक कील को भी मुलायम लकड़ी में गाड़ सकता है।[107]

जब श्रम के औज़ार मशीनों का रूप धारण कर लेते हैं, तब मानव-शक्ति के स्थान पर प्राकृतिक शक्तियों का और अनुभवसिद्ध रीति के बजाय विज्ञान का सजग उपयोग करना आवश्यक हो जाता है। मैन्यूफ़ैक्चर में सामाजिक श्रम-प्रक्रिया का विशुद्ध मनोगत संगठन किया जाता है, उसमें बहुत से तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूरों को जोड़ दिया जाता है; आधुनिक उद्योग के पास अपनी मशीनों की प्रणाली के रूप में एक ऐसा उत्पादक संघटन होता है, जो विशुद्ध वस्तुगत संगठन है और जिसमें मज़दूर पहले से तैयार उत्पादन की भौतिक परिस्थितियों का एक उपांग मात्र बन जाता है। सरल सहकारिता में और यहां तक कि श्रम-विभाजन पर आधारित सहकारिता में भी सामूहिक मज़दूर का अलग-अलग काम करनेवाले मज़दूरों का स्थान ले लेना न्यूनाधिक रूप में एक सांयोगिक बात प्रतीत होता है। लेकिन कुछ अपवादों को छोड़कर, जिनका बाद में ज़िक्र किया जायेगा, मशीनें केवल संबद्ध श्रम के द्वारा, केवल सामूहिक श्रम के द्वारा ही काम करती हैं। इसलिए जहां मशीनों का इस्तेमाल होता है, वहां श्रम-प्रक्रिया का सहकारी स्वरूप ख़ुद श्रम के औज़ार के कारण एक प्राविधिक आवश्यकता बन जाता है।

अनुभाग २ – मशीनों द्वारा उत्पाद में स्थानांतरित मूल्य

हम यह देख चुके हैं कि सहकारिता तथा श्रम-विभाजन से जो उत्पादक शक्तियां उत्पन्न होती हैं, उनमें पूंजी का एक पैसा भी ख़र्च नहीं होता। ये तो सामाजिक श्रम की स्वाभाविक शक्तियां होती हैं। इसी प्रकार जब भाप, पानी, आदि भौतिक शक्तियों का उत्पादक क्रियाओं में उपयोग होता है, तब उनपर कुछ ख़र्च नहीं होता। लेकिन जिस तरह आदमी को सांस लेने के लिए फेफड़ों की ज़रूरत होती है, उसी तरह उसे भौतिक शक्तियों का उत्पादक ढंग से उपयोग करने के लिए आदमी के हाथ की बनी किसी चीज़ की ज़रूरत होती है। पानी की शक्ति का उपयोग करने के लिए पनचक्की की और भाप की प्रत्यास्थता से लाभ उठाने के लिए भाप के इंजन की आवश्यकता होती है। जब एक बार विद्युतधारा के क्षेत्र में चुंबक की सूई के विचलन का नियम या जिस लोहे के चारों ओर विद्युतधारा बह रही हो, उसके चुंबक

---

[106] इनमें से एक मशीन, जो लंदन में (जहाज़ चलाने की चर्ख़ी के धुरे) गढ़ने के काम में आती है, 'थोर' कहलाती है। वह १६$\frac{१}{२}$ टन का धुरा उतनी ही आसानी से गढ़ देती है, जितनी आसानी से लुहार घोड़े की नाल गढ़ता है।

[107] लकड़ी का काम करनेवाली मशीनें, जो छोटे पैमाने पर भी इस्तेमाल हो सकती हैं, अधिकांशत: अमरीकी आविष्कार हैं।

बन जाने का नियम मालूम हो जाता है, तब उसके बाद इन नियमों पर एक पाई भी ख़र्च नहीं होती।[108] लेकिन तार-प्रणाली, आदि में इन नियमों का उपयोग करने के लिए एक बहुत क़ीमती और विस्तृत उपकरण की आवश्यकता होती है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, औज़ार को मशीन नष्ट नहीं कर देती। मानव-शरीर के एक छोटे से, वामनाकार औज़ार के बजाय वह फैलकर और बढ़कर आदमी के बनाये हुए एक यंत्र का औज़ार बन जाता है। जब पूंजी मजदूर से काम लेती है, तो उसे हाथ के औज़ार से नहीं, बल्कि एक ऐसी मशीन से काम करना पड़ता है, जो ख़ुद औज़ारों को चलाती है। इसलिए यद्यपि यह बात पहली ही दृष्टि में स्पष्ट हो जाती है कि आधुनिक उद्योग विराट भौतिक शक्तियों और प्राकृतिक विज्ञान दोनों का उत्पादन की क्रिया में समावेश करके श्रम की उत्पादिता में असाधारण वृद्धि कर देता है, तथापि यह बात इतनी स्पष्ट कदापि नहीं होती कि यह पहले से बढ़ी हुई उत्पादक शक्ति पहले से अधिक श्रम ख़र्च करके नहीं ख़रीदी जाती। स्थिर पूंजी के दूसरे हरेक संघटक की भांति मशीनें भी कोई नया मूल्य नहीं पैदा करतीं, बल्कि वे जिस उत्पाद को तैयार करने में मदद देती हैं, उसको ख़ुद अपना मूल्य समर्पित कर देती हैं। जिस हद तक मशीन का मूल्य होता है और उसके परिणामस्वरूप जिस हद तक वह अपना मूल्य उत्पाद को दे देती है, उस हद तक वह उस उत्पाद के मूल्य का एक तत्त्व बन जाती है। उत्पाद पहले से सस्ता होने के बजाय मशीन के मूल्य के अनुपात में पहले से महंगा हो जाता है। और आज यह बात दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट है कि आधुनिक उद्योग के ये विशिष्ट श्रम के औज़ार, अर्थात् मशीनें और मशीनों की प्रणालियां इतने अधिक मूल्य से लदी होती हैं कि दस्तकारियों और मैन्यूफ़ैक्चरों में इस्तेमाल होनेवाले औज़ारों का उनसे कोई मुक़ाबला हो ही नहीं सकता।

सबसे पहली बात, जिसकी ओर हमें ध्यान देना चाहिए, यह है कि मशीनें श्रम-प्रक्रिया में सदा पूरी की पूरी प्रवेश करती हैं, पर मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में वे थोड़ा-थोड़ा करके प्रवेश करती हैं। वे घिसाई-छिजाई के फलस्वरूप औसतन जितना मूल्य खो देती हैं, उससे अधिक मूल्य कभी उत्पाद में नहीं जोड़तीं। इसलिए किसी मशीन के मूल्य में और वह मशीन किसी निश्चित समय में जितना मूल्य उत्पाद में स्थानांतरित कर देती है, उसमें बहुत बड़ा अंतर होता है। श्रम-प्रक्रिया में मशीन के जीवन की अवधि जितनी लंबी होती है, उतना ही यह अंतर भी अधिक होता है। जैसा कि हम ऊपर भी देख चुके हैं, यह निस्संदेह सच है कि श्रम का प्रत्येक औज़ार श्रम-प्रक्रिया में पूरे का पूरा प्रवेश करता है, मगर मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया में वह केवल थोड़ा-थोड़ा करके और घिसाई-छिजाई के फलस्वरूप होनेवाली अपनी औसत दैनिक क्षति के अनुपात में ही प्रवेश करता है। लेकिन समूचे उपकरण और उसकी दैनिक

---

[108] आम तौर पर विज्ञान पर पूंजीपति का एक भी पैसा ख़र्च नहीं होता। मगर इस बात से पूंजीपति के विज्ञान से लाभ उठाने में कोई रुकावट नहीं पड़ती। जिस प्रकार पूंजी दूसरों के श्रम पर अधिकार कर लेती है, उसी प्रकार वह दूसरों के विज्ञान पर भी क़ब्ज़ा कर लेती है। लेकिन विज्ञान अथवा भौतिक धन का पूंजीवादी हस्तगतकरण और व्यक्तिगत हस्तगतकरण दो बिल्कुल अलग-अलग चीज़ें हैं। ख़ुद डा० यूर ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि मशीनों का उपयोग करनेवाले उनके प्रिय कारख़ानेदारों में यांत्रिक विज्ञान का तनिक भी ज्ञान नहीं पाया जाता। और इंगलैंड के रासायनिक कारख़ानों के मालिकों में रसायनविज्ञान का कैसा आश्चर्यजनक अज्ञान पाया जाता है, इसके बारे में लीबिग एक पूरी कथा सुना सकते हैं।

घिसाई-छिजाई का यह अंतर साधारण औज़ार की अपेक्षा मशीन में कहीं ज़्यादा होता है, क्योंकि एक तो मशीन ज्यादा टिकाऊ पदार्थ की बनी हुई होने के कारण अधिक समय तक चलती है; दूसरे, उसका उपयोग विशुद्ध वैज्ञानिक नियमों द्वारा नियंत्रित होने के कारण उसके कल-पुर्ज़ों की घिसाई कम होती है और उसके द्वारा उपभोग की जानेवाली सामग्री में मितव्ययिता होती है; और अंतिम बात यह कि उसका उत्पादन का क्षेत्र औज़ार के क्षेत्र की तुलना में कहीं अधिक बड़ा होता है। चाहे मशीन हो या औज़ार, यदि हम इसका हिसाब लगा लेते हैं कि उनकी औसत दैनिक लागत कितनी बैठती है, यानी वे अपनी औसत दैनिक घिसाई के द्वारा कितना मूल्य उत्पाद में स्थानांतरित कर देते हैं, और यह भी समझ लेते हैं कि वे जो तेल, कोयला, आदि सहायक पदार्थ ख़र्च करते हैं उनपर कितना ख़र्च होगा, तो उसके बाद मशीन या औज़ार अपना काम ठीक उन शक्तियों की भांति मुफ़्त करते हैं, जिनको प्रकृति मनुष्य की सहायता के बिना प्रस्तुत कर देती है। औज़ार की तुलना में मशीनों की उत्पादक शक्ति जितनी अधिक होती है, औज़ार की अपेक्षा वे उतनी ही ज़्यादा मुफ़्त सेवा करती हैं। आधुनिक उद्योग में मनुष्य पहली बार अपने गत श्रम के उत्पाद से बड़े पैमाने पर प्रकृति की शक्तियों की भांति मुफ़्त काम कराने में सफल हुआ है।[109]

सहकारिता और मैन्यूफ़ैक्चर पर विचार करते समय हम यह बता चुके हैं कि उत्पादन के कुछ ख़ास तत्त्व – मसलन इमारतें – सामूहिक ढंग से इस्तेमाल होने के कारण अलग-अलग काम करनेवाले मज़दूरों के बिखरे हुए उत्पादन के साधनों की तुलना में अधिक मितव्ययिता के साथ ख़र्च होते हैं और इसलिए वे उत्पाद को पहले से सस्ता बना देते हैं। मशीनों की प्रणाली में न केवल मशीन का ढांचा उसके अनेक कार्यकारी कल-पुर्ज़ों के द्वारा सामूहिक ढंग से इस्तेमाल किया जाता है, बल्कि मूल चालक और उसके साथ-साथ संचारी यंत्र का एक भाग भी अनेक कार्यकारी मशीनों के द्वारा सामूहिक ढंग से इस्तेमाल किया जाता है।

यदि हमें यह पहले से मालूम है कि मशीनों का मूल्य और वे रोज़ाना जितना मूल्य उत्पाद में स्थानांतरित कर देती हैं, उनमें कितना अंतर है, तो यह स्थानांतरित मूल्य उत्पाद को कितना महंगा बना देगा, यह सबसे पहले इस बात पर निर्भर करता है कि उत्पाद का आकार – अर्थात् उसका विस्तार – कितना बड़ा है। ब्लैकबर्ननिवासी मि० बेन्स ने १८५८ में

---

[109] मशीनों के इस प्रभाव पर रिकार्डो ने इतना अधिक ज़ोर दिया है (हालांकि अन्य बातों में वह उसपर उतना ध्यान नहीं देते, जितना कि श्रम-प्रक्रिया और बेशी मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया के सामान्य अंतर की ओर देते हैं,) कि कभी-कभी तो जो मूल्य मशीनें उत्पाद को अंतरित कर देती हैं, वह उनकी दृष्टि से ओझल हो जाता है और वह मशीनों को प्राकृतिक शक्तियों की हैसियत दे देते हैं। चुनांचे उन्होंने लिखा है: "प्राकृतिक शक्तियां और मशीनें हमारी जो सेवाएं करती हैं, ऐडम स्मिथ उनका महत्त्व कहीं पर भी कम करके नहीं आंकते; लेकिन वे जो मूल्य पण्यों में जोड़ती हैं, स्मिथ उसके स्वरूप में ज़रूर फ़र्क़ करते हैं, जो उचित ही है... ये शक्तियां चूंकि अपना काम मुफ़्त करती हैं, इसलिए वे हमें जो मदद देती हैं, उससे विनिमय-मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती।" (Ricardo, *Principles of Political Economy*, 3rd Ed., London, 1821, pp. 336, 337.) रिकार्डो का यह मत, ज़ाहिर है, उस हद तक सही है, जिस हद तक कि उससे जे० बी० सेय के इस मत का खंडन होता है कि मशीनें मूल्य पैदा करने के रूप में हमारी "सेवा" करती हैं और वह मूल्य "मुनाफ़े" का एक भाग होता है।

प्रकाशित अपने एक व्याख्यान में यह अनुमान लगाया है कि "प्रत्येक वास्तविक यांत्रिक अश्वशक्ति[109a] तैयारी संबंधी सभी सहायक उपकरणों सहित ४५० स्वचालित म्यूल-तकुओं को चला सकती है, या वह २०० थ्रौसल-तकुओं को चला सकती है, या वह ४० इंची कपड़े के १५ करघों को तानी करने, मांड़ी देने, आदि के उपकरणों समेत चला सकती है।" एक अश्वशक्ति की दैनिक लागत और इस शक्ति द्वारा गति प्राप्त करनेवाली मशीनों की घिसाई-छिजाई पहली सूरत में ४५० म्यूल-तकुओं के दैनिक उत्पाद पर, दूसरी सूरत में २०० थ्रौसल-तकुओं के दैनिक उत्पाद पर और तीसरी सूरत में शक्ति से चलनेवाले १५ करघों के उत्पाद पर फैल जाती है। इसका नतीजा यह होता है कि इस प्रकार की घिसाई-छिजाई से एक पाउंड सूत या एक गज़ कपड़े में बहुत ही सूक्ष्म मात्रा में मूल्य स्थानांतरित होता है। ऊपर जिस भाप के हथौड़े का ज़िक्र किया गया था, उसके बारे में भी यही बात सच है। उसकी दैनिक घिसाई-छिजाई, उसका कोयले का ख़र्च, आदि चूंकि लोहे की उन विराट राशियों पर फैल जाता है, जिनको यह हथौड़ा एक दिन में कूट-पीटकर फेंक देता है, इसलिए एक हंड्रेडवेट लोहे में बहुत थोड़ा सा ही मूल्य जुड़ता है; लेकिन यदि यह दैत्याकार औज़ार कीलें गाड़ने के लिए इस्तेमाल किया जाये, तो, ज़ाहिर है, बहुत अधिक मूल्य स्थानांतरित हो जायेगा।

यदि किसी मशीन की काम करने की क्षमता, अर्थात् उसके कार्यकारी पुर्ज़ों की संख्या या, जहां पर बल का प्रश्न हो, वहां पर उनकी मात्रा हमें पहले से मालूम हो, तो उसके उत्पाद की मात्रा उसके कार्यकारी पुर्ज़ों के वेग पर निर्भर करेगी; उदाहरण के लिए, वह तकुओं की गति पर या एक मिनट में हथौड़ा कितने प्रहार करता है, उनकी संख्या पर निर्भर करेगी। इन दैत्याकार हथौड़ों में से बहुत से एक मिनट में सत्तर बार आघात करते हैं, और

[109a] एक अश्वशक्ति ३३,००० फ़ुट-पाउंड प्रति मिनट की शक्ति के बराबर होती है, यानी वह उस शक्ति के बराबर होती है, जो एक मिनट में ३३,००० पाउंड वज़न को एक फ़ुट ऊपर उठा सकती है या जो एक मिनट में एक पाउंड वज़न को ३३,००० फ़ुट ऊपर उठा सकती है। पाठ में इसी अश्वशक्ति का ज़िक्र किया गया है। साधारण भाषा में और कहीं-कहीं पर इस पुस्तक में दिये गये उद्धरणों में भी एक ही इंजन की "नामिक" और "व्यावसायिक", अथवा "निर्दिष्ट", अश्वशक्ति में भेद किया गया है। पुरानी, अथवा नामिक अश्वशक्ति का केवल पिस्टन के आघात की लंबाई और बेलन के व्यास के आधार पर हिसाब लगाया जाता है और भाप की दाब और पिस्टन की गति का कोई ख़याल नहीं रखा जाता। व्यवहार में वह यह व्यक्त करता है कि यदि इस इंजन को भाप की वैसी ही कम दाब और पिस्टन की वैसी ही गति से चलाया जाये, जैसी बूल्टन और वाट के ज़माने में इस्तेमाल होती थी, तो यह इंजन ५० अश्वशक्ति का काम करेगा। लेकिन उस ज़माने के मुक़ाबले में अब भाप की दाब और पिस्टन की गति बहुत बढ़ गयी हैं। आजकल यह नापने के लिए कि किसी इंजन में कितनी ताक़त है, एक सूचक का आविष्कार किया गया है, जो बता देता है कि बेलन में भाप की दाब कितनी है। पिस्टन की गति आसानी से मालूम हो जाती है। इस तरह किसी इंजन की "निर्दिष्ट", अथवा "व्यावसायिक", अश्वशक्ति गणित के एक सूत्र के द्वारा व्यक्त की जाती है, जिसका बेलन के व्यास, आघात की लंबाई, पिस्टन की गति और भाप के दाब, सबसे संबंध होता है और जो यह बता देता है कि यह इंजन एक मिनट में ३३,००० पाउंड वज़न के सचमुच किस गुणज को ऊपर उठा देगा। इसलिए एक "नामिक" अश्वशक्ति तीन, चार या यहां तक कि पांच "निर्दिष्ट", अथवा "वास्तविक" अश्वशक्तियों का भी कार्य कर सकती है। आगे के पृष्ठों में जो अनेक उद्धरण दिये गये हैं, उनको स्पष्ट करने के उद्देश्य से यह बात यहां कही गयी है। — फ़े० एं०।

राइडर की तकुए गढ़ने की पेटेंट मशीन अपने छोटे हथौड़ों से एक मिनट में ७०० आघात करती है।

यदि यह मालूम हो कि मशीनें किस रफ़्तार से अपना मूल्य उत्पाद में स्थानांतरित कर रही हैं, तो इस प्रकार स्थानांतरित मूल्य की मात्रा मशीनों के कुल मूल्य पर निर्भर करेगी।[110] मशीनों में जितना कम श्रम लगा होगा, वे उतना ही कम मूल्य उत्पाद को देंगी। मशीनें जितना कम मूल्य उत्पाद को देंगी, वे उतनी ही अधिक उत्पादक होंगी और उनकी सेवाएं प्राकृतिक शक्तियों की सेवाओं से उतनी ही अधिक मिलती-जुलती होंगी। लेकिन जब मशीनों का उत्पादन मशीनों से होने लगता है, तब उनके विस्तार तथा कार्य-क्षमता की तुलना में उनका मूल्य कम हो जाता है।

यदि दस्तकारियों अथवा मैन्यूफ़ैक्चर द्वारा तैयार किये गये पण्यों के दामों का और उसी प्रकार के मशीनों द्वारा तैयार किये गये पण्यों के दामों का विश्लेषण और मुक़ाबला किया जाये, तो आम तौर पर यह पता चलेगा कि मशीनों के उत्पाद में श्रम के औज़ारों की बदौलत स्थानांतरित मूल्य सापेक्ष दृष्टि से तो बढ़ जाता है, पर निरपेक्ष दृष्टि से कम हो जाता है। दूसरे शब्दों में, उसकी निरपेक्ष मात्रा तो घट जाती है, मगर उत्पाद के कुल मूल्य की तुलना में, उदाहरण के लिए, एक पाउंड सूत से कुल मूल्य की तुलना में, उसकी मात्रा बढ़ जाती है।[111]

---

[110] जिस पाठक के मन में पूंजीवादी धारणाओं ने घर कर रखा है, उसे यह देखकर स्वभावतया काफ़ी आश्चर्य होगा कि यहां पर उस "सूद" का कोई ज़िक्र नहीं किया गया है, जो मशीन अपने पूंजीगत मूल्य के अनुपात में उत्पाद में जोड़ देती है। किंतु यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि जिस तरह स्थिर पूंजी का कोई अन्य भाग नया मूल्य नहीं पैदा करता, उसी तरह चूंकि मशीन भी कोई नया मूल्य नहीं उत्पन्न करती, इसलिए वह "सूद" के नाम से कोई मूल्य उत्पाद में नहीं जोड़ सकती। यहां पर यह बात भी स्पष्ट है कि जिस जगह हम लोग बेशी मूल्य के उत्पादन पर विचार कर रहे हैं, वहां हम बेशी मूल्य के "सूद" नामक किसी भाग का अस्तित्व a priori [पहले से] मानकर नहीं चल सकते। हिसाब लगाने की वह पूंजीवादी विधि क्या है, जो prima facie [पहली दृष्टि में] बिल्कुल बेतुकी और मूल्य के सृजन के नियमों के सर्वथा प्रतिकूल प्रतीत होती है, यह इस रचना की तीसरी पुस्तक में समझाया जायेगा।

[111] जब मशीनें उन घोड़ों तथा अन्य पशुओं को अनावश्यक बना देती हैं, जिनको पदार्थ का रूप बदल देनेवाली मशीनों के रूप में नहीं, बल्कि केवल चालक शक्तियों के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, तब मूल्य का वह हिस्सा, जो मशीनों द्वारा जोड़ा गया है, सापेक्ष तथा निरपेक्ष दोनों दृष्टियों से कम हो जाता है। यहां पर चलते-चलते यह भी बता दिया जाये कि देकार्त ने मात्र मशीनों के रूप में पशुओं की परिभाषा करते समय मैन्यूफ़ैक्चर के काल के दृष्टिकोण से काम लिया था, जब कि मध्य युग की दृष्टि में पशु मनुष्य के सहायक थे, जैसा कि वे फ़ॉन हालेर को उनकी पुस्तक *Restauration der Staatswissenschaft* में प्रतीत हुए थे। देकार्त की रचना *Discours de la Méthode* से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बेकन की भांति उन्होंने भी यह अनुमान कर लिया था कि चिंतन की बदली हुई पद्धतियों के फलस्वरूप उत्पादन के रूप में परिवर्तन हो जायेगा और मनुष्य प्रकृति को व्यावहारिक ढंग से अपने अधीन बना लेगा। उस पुस्तक में देकार्त ने लिखा है: "ऐसा ज्ञान प्राप्त करना भी" (उन विधियों द्वारा, जिनका उन्होंने दर्शन में समावेश किया) "संभव है, जो जीवन के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा, और तब स्कूलों में आजकल जो काल्पनिक

यह बात स्पष्ट है कि जहां पर किसी मशीन को तैयार करने में उतना ही श्रम लग जाता है, जितना श्रम उस मशीन का उपयोग करने से बचता है, वहां पर श्रम के स्थान-परिवर्तन के सिवा और कुछ नहीं होता। इसीलिए उससे किसी पण्य को तैयार करने के लिए आवश्यक कुल श्रम में कोई कमी नहीं आती और न ही श्रम की उत्पादिता में कोई वृद्धि होती है। किंतु यह बात स्पष्ट है कि किसी मशीन में जितना श्रम लगता है और उससे जितने श्रम की बचत होती है, इन दोनों का अंतर, अर्थात् उसकी उत्पादिता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि उसके अपने मूल्य में और जिस औज़ार का वह स्थान ले लेती है, उसके मूल्य में कितना अंतर है। जब तक किसी मशीन पर ख़र्च किया गया श्रम और चुनांचे उसके मूल्य का वह भाग, जो उत्पाद में जुड़ जाता है, उस मूल्य से कम रहता है, जो मज़दूर अपने औज़ार से उत्पाद में जोड़ देता था, तब तक मशीन के उपयोग से श्रम की सदा कुछ न कुछ बचत ही होती है। इसलिए किसी भी मशीन की उत्पादिता उस मानव की श्रम-शक्ति से नापी जाती है, जिसका वह मशीन स्थान लेती है। मि० बेन्स के हिसाब के अनुसार तैयारी करनेवाली मशीनों सहित ४५० म्यूल-तकुओं के लिए, जो एक अश्वशक्ति द्वारा चलाये जाते हैं, २ १/२ मज़दूरों की आवश्यकता होती है।[112] प्रत्येक स्वचालित म्यूल-तकुआ १० घंटे काम करके (औसत नंबर या मोटाई का) १३ आउंस सूत तैयार करता है। इसलिए २ १/२ मज़दूर हर हफ़्ते ३६५ ५/८ पाउंड सूत कातते हैं। अतएव यदि काम के दौरान ज़ाया हो जानेवाली कपास की ओर ध्यान न दिया जाये, तो ३६६ पाउंड कपास सूत में बदले जाने के दौरान केवल १५० घंटे के श्रम का – यानी दस घंटे रोज़ाना के हिसाब से केवल १५ दिन के श्रम का ही

दर्शन पढ़ाया जाता है, उसके स्थान पर एक व्यावहारिक दर्शन पढ़ाया जायेगा, जिसके द्वारा आग, पानी, हवा और नक्षत्रों की तथा हमारे इर्दगिर्द और जितनी वस्तुएं हैं, उन सबकी शक्ति एवं कार्य का उतना ही अच्छा ज्ञान प्राप्त करके, जितना अच्छा ज्ञान हमें अपने दस्तकारों की विभिन्न दस्तकारियों का प्राप्त है, हम उनका उसी तरह उन तमाम कामों में उपयोग कर सकेंगे, जिनके लिए वे उपयुक्त हैं, और इस प्रकार हम प्रकृति के स्वामी और मालिक बन जायेंगे" और इस तरह "मानव-जीवन का अधिक से अधिक विकास करने में योग देंगे।" सर डडली नॉर्थ की रचना *Discourses upon Trade* (१६९१) में कहा गया है कि देकार्त की पद्धति ने अर्थशास्त्र को सोने, व्यापार, आदि के विषय में पुरानी कपोल-कल्पित कथाओं और अंधविश्वासों से भरे विचारों से मुक्त करना आरंभ कर दिया था। लेकिन मोटे तौर पर देखा जाये, तो शुरू के दिनों के अंग्रेज़ अर्थशास्त्रियों ने अपने दार्शनिकों के रूप में बेकन और हॉब्स का समर्थन किया था, जब कि बाद के काल में इंगलैंड, फ़्रांस और इटली में लॉक को राजनीतिक अर्थशास्त्र का [κατ'ἐξοχήν सर्वश्रेष्ठ] दार्शनिक माना जाता था।

[112] एस्सेन के व्यापारमंडल की वार्षिक रिपोर्ट (१८६३) के अनुसार क्रुप्प के ढलवां इस्पात के कारख़ाने में, जिसमें १६१ भट्ठियां, बत्तीस भाप के इंजन (१८०० में लगभग कुल इतने ही भाप के इंजन पूरे मैंचेस्टर में काम कर रहे थे), चौदह भाप के हथौड़े (जो कुल १,२३६ अश्वशक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे), उनचास फ़ोर्ज, २०३ यांत्रिक औज़ार और लगभग २,४०० मज़दूर थे, १८६२ में कुल १ करोड़ ३० लाख पाउंड ढलवां इस्पात तैयार हुआ था। यहां एक अश्वशक्ति के पीछे दो मज़दूर भी नहीं हैं।

अवशोषण करती है। लेकिन यदि चर्खा इस्तेमाल करने पर मान लीजिये कि कोई हाथ से कताई करनेवाला मज़दूर साठ घंटे में तेरह आउंस सूत तैयार करता है, तो वही ३६६ पाउंड कपास दस घंटे रोज़ाना के हिसाब से २,७०० दिन के – या २७,००० घंटे के – श्रम का अवशोषण करेगी।[113] छींट की छपाई का पुराना तरीक़ा ठप्पों के ज़रिये हाथ से छपाई करने का था। जहां इस तरीक़े के स्थान पर मशीन से छपाई होने लगी है, वहां एक मशीन एक पुरुष या लड़के की मदद से एक घंटे में चार रंगों की जितनी छींट छाप देती है, उतनी पहले कहीं २०० आदमी छाप पाते थे।[114] एलि व्हिटने ने कपास ओटने की मशीन का आविष्कार १७९३ में किया था। उसके पहले एक पाउंड कपास के बिनौले अलग करने में औसतन एक दिन का श्रम ख़र्च हो जाता था। व्हिटने के आविष्कार के फलस्वरूप एक हबशी औरत रोज़ाना १०० पाउंड कपास ओटने लगी, और तब से अब तक कपास ओटने की मशीन की कार्य-क्षमता बहुत बढ़ गयी है। पहले एक पाउंड कच्ची रूई तैयार करने में ५० सेंट ख़र्च होते थे। इस आविष्कार के बाद उसमें पहले से अधिक अवेतन श्रम शामिल होने लगा, और इसलिए वह १० सेंट में बेची जाती थी और फिर भी उससे पहले से ज़्यादा मुनाफ़ा होता था। हिंदुस्तान में रूई को बिनौलों से अलग करने के लिए चरख़ी इस्तेमाल की जाती है, जो आधी मशीन और आधी औज़ार होती है; उसकी मदद से एक आदमी और एक औरत रोज़ाना २८ पाउंड कपास साफ़ कर सकते हैं। पर अभी कुछ बरस हुए डा० फ़ोर्ब्स ने जिस प्रकार की चरख़ी का आविष्कार किया है, उसकी मदद से एक आदमी और एक लड़का दिन भर में २५० पाउंड रूई तैयार कर सकते हैं। यदि उसे चलाने के लिए बैल, भाप या पानी इस्तेमाल किया जाये, तो फिर उसमें कपास डालने के लिए ही चंद लड़के-लड़कियों की ज़रूरत होती है। इस तरह की सोलह मशीनें जब बैलों द्वारा चलायी जाती हैं, तो वे एक दिन में उतना काम करती हैं, जितना काम पहले ७५० आदमी करते थे।[115]

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, भाप से चलनेवाला एक हल एक घंटे में तीन पेंस की लागत पर जितना काम कर लेता है, उतना काम पहले ६६ आदमी कर पाते थे, जिसमें १५ शिलिंग की लागत लगती थी। मैं एक ग़लत धारणा को दूर कर देने के उद्देश्य से ही इस उदाहरण को एक बार फिर ले रहा हूं। ६६ आदमी एक घंटे में कुल जितना श्रम ख़र्च कर देते हैं, ये १५ शिलिंग द्रव्य के रूप में कदापि उस सबकी अभिव्यंजना नहीं हैं। यदि आवश्यक श्रम के प्रति बेशी श्रम का अनुपात १०० प्रतिशत हो, तो ये ६६ आदमी एक घंटे में ३० शिलिंग का मूल्य पैदा करेंगे, हालांकि उनकी मज़दूरी, यानी १५ शिलिंग केवल आधे घंटे के श्रम का ही प्रतिनिधित्व करेंगे। अब मान लीजिये कि किसी मशीन की लागत उन १५० आदमियों की एक वर्ष की मज़दूरी के बराबर है, जिनका वह स्थान लेती है, यानी मान

---

[113] बैबेज का अनुमान है कि जावा में केवल कताई का श्रम कपास के मूल्य में ११७ प्रतिशत की वृद्धि कर देता है। इसी काल (१८३२) में महीन सूत के उद्योग में मशीनों ने और श्रम ने कुल मिलाकर कपास में जो मूल्य जोड़ा था, वह कपास के मूल्य के लगभग ३३ प्रतिशत के बराबर बैठा था। (*On the Economy of Machinery*, London, 1832, pp. 165,166.)

[114] मशीन की छपाई से रंग की भी बचत होती है।

[115] देखिये Dr. Watson. Reporter on the Products to the Government of India, *Paper read Before the Society of Arts, April 17, 1860*.

लीजिये कि उसकी लागत ३,००० पाउंड है। ये ३,००० पाउंड उस श्रम की द्रव्य के रूप में अभिव्यंजना नहीं हैं, जो ये १५० आदमी इस मशीन का आविष्कार होने के पहले उत्पाद में जोड़ देते थे, बल्कि वे तो उनके साल भर के श्रम के केवल उस भाग की द्रव्य के रूप में अभिव्यंजना हैं, जो ख़ुद इन लोगों के ऊपर ख़र्च हुआ था और जिसका प्रतिनिधित्व उनकी मज़दूरी करती थी। दूसरी ओर, मशीन के द्रव्य-मूल्य के रूप में ये ३,००० पाउंड उसके उत्पादन में ख़र्च किये गये समस्त श्रम को अभिव्यक्त करते हैं, और उसमें इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि इस श्रम का कितना भाग मज़दूरों की मज़दूरी पर ख़र्च हुआ है और कितना पूंजीपति का बेशी मूल्य बन गया है। इसलिए मशीन की लागत यदि उस श्रम-शक्ति की लागत के बराबर है, जिसका वह स्थान ले लेती है, तो भी उसमें मूर्त हुआ श्रम उस जीवित श्रम से बहुत कम होता है, जिसका वह मशीन स्थान ले लेती है।[116]

केवल उत्पाद को सस्ता करने के उद्देश्य से मशीनों का उपयोग इस तरह सीमित हो जाता है कि ये मशीनें जिस श्रम का स्थान लेंगी, उनको पैदा करने में उससे कम श्रम ख़र्च होना चाहिए। किंतु पूंजीपति के लिए तो वह उपयोग और भी सीमित हो जाता है। वह श्रम की क़ीमत नहीं देता, बल्कि केवल उस श्रम-शक्ति का मूल्य देता है, जिससे वह काम लेता है। इसलिए वह किसी मशीन का कितना उपयोग कर पायेगा, यह इस बात से सीमित हो जाता है कि मशीन के मूल्य में और वह जिस श्रम-शक्ति का स्थान ले लेती है, उसके मूल्य में कितना अंतर है। चूंकि दिन भर के काम का आवश्यक श्रम तथा बेशी श्रम में विभाजन अलग-अलग देशों में और यहां तक कि एक ही देश में अलग-अलग कालों में या उद्योग की अलग-अलग शाखाओं में अलग-अलग ढंग से होता है और इसके अलावा चूंकि मज़दूर की वास्तविक मज़दूरी एक समय उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य के नीचे गिर जाती है और दूसरे समय उसके ऊपर उठ जाती है, इसलिए मशीन को तैयार करने के लिए जितना श्रम आवश्यक होता है और वह कुल जितने श्रम का स्थान ले लेती है, उनका अंतर स्थिर रहते हुए भी यह मुमकिन है कि मशीन के मूल्य तथा जिस श्रम-शक्ति की जगह वह मशीन लेती है, उस श्रम-शक्ति के मूल्य का यह अंतर बहुत घटता-बढ़ता रहे।[116a] परंतु कोई पण्य तैयार करने में पूंजीपति को कितनी लागत लगानी पड़ती है, यह केवल इसी अंतर से निर्धारित होता है, और वह प्रतियोगिता के दबाव के ज़रिये उसके आचरण को प्रभावित करता है। इसीलिए आजकल इंगलैंड में जिन मशीनों का आविष्कार हो रहा है, वे केवल उत्तरी अमरीका में इस्तेमाल की जाती हैं। यह उसी तरह की बात है, जैसे १६वीं और १७वीं शताब्दियों में जर्मनी में जिन मशीनों का आविष्कार होता था, वे केवल हालैंड में इस्तेमाल की जाती थीं, और १८वीं शताब्दी के बहुत से फ़्रांसीसी आविष्कारों से केवल इंगलैंड में ही लाभ उठाया गया था। पुराने देशों में जब उद्योग की किन्हीं शाखाओं में मशीनों का इस्तेमाल होने लगता है, तो वह दूसरी शाखाओं में श्रम का ऐसा आधिक्य पैदा कर देता है कि इन शाखाओं में मज़दूरी श्रम-शक्ति

---

[116] "ये मूक साधन (मशीनें) जिस श्रम का स्थान ले लेते हैं, वे सदा उससे कहीं कम श्रम का उत्पाद होते हैं, यहां तक कि जहां दोनों का द्रव्य-मूल्य बराबर होता है, वहां पर भी यही बात होती है।" (Ricardo, *Principles of Political Economy*, 3rd Ed., London, 1821, p. 40.)

[116a] इसीलिए बुर्जुआ समाज में मशीनों के उपयोग की जितनी संभावना हो सकती है, साम्यवादी समाज में उससे बहुत भिन्न प्रकार की संभावना होगी।

के मूल्य के नीचे गिर जाती है और इस वजह से मशीनों का उपयोग करना कठिन हो जाता है, और पूंजीपति के दृष्टिकोण से, जिसका मुनाफ़ा तमाम श्रम में कमी करके नहीं, बल्कि केवल उस श्रम में कमी करके पैदा होता है, जिसकी उसे क़ीमत देनी पड़ती है, मशीनों का उपयोग करना अनावश्यक और अकसर असंभव हो जाता है। इंगलैंड में ऊनी उद्योग की कुछ शाखाओं में बच्चों को काम पर रखने के संबंध में हाल के कुछ वर्षों में काफ़ी कमी आ गयी है और कहीं-कहीं तो यह एकदम बंद हो गया है। ऐसा क्यों हुआ? इसलिए कि फ़ैक्टरी-अधिनियमों ने बच्चों का दो पालियों में विभाजन ज़रूरी बना दिया था – एक पाली ६ घंटे की, दूसरी चार घंटे की, या दोनों पांच-पांच घंटे की। लेकिन बच्चों के मां-बाप ने "आधे समय काम करनेवालों" को "पूरा समय काम करनेवालों" की अपेक्षा सस्ते में बेचने से इनकार कर दिया। इसलिए "आधे समय काम करनेवालों" के स्थान पर मशीनें आ गयीं।[117] खानों में १० वर्ष से कम उम्र के बच्चों और औरतों के काम करने पर रोक लगायी जाने के पहले पूंजीपति नंगी औरतों और लड़कियों से अकसर पुरुषों के साथ-साथ काम लेना अपनी नैतिकता के सर्वथा अनुकूल समझते थे, और उनके बही-खातों की दृष्टि से तो यह और भी उचित था। इसीलिए उनको उपर्युक्त अधिनियम बन जाने के बाद ही अपनी खानों में मशीनें इस्तेमाल करने का ख़्याल आया। यांकियों ने पत्थर तोड़ने की एक मशीन ईजाद की है। पर अंग्रेज़ लोग इस मशीन का उपयोग नहीं करते। वह इसलिए कि जो "wretch"[117a] यह काम करता है, उसे उसके श्रम के केवल इतने कम भाग की क़ीमत मिलती है कि मशीनों का उपयोग करने पर पूंजीपति की उत्पादन की लागत एकदम बढ़ जायेगी।[118] इंगलैंड में अब भी नहरों में चलनेवाली नावों को खींचने के लिए घोड़ों के बजाय कभी-कभी औरतों को इस्तेमाल किया जाता है।[119] यह इसलिए कि घोड़ों तथा मशीनों को पैदा करने में कितना श्रम लगेगा, उसका तो ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है, लेकिन फ़ालतू आबादी की औरतों को जीवित

---

[117] "मजदूरों को काम पर रखनेवाले लोग तेरह वर्ष से कम उम्र के बच्चों की दो पालियों को अनावश्यक रूप से नहीं रखे रहेंगे... वास्तव में कारख़ानेदारों का एक वर्ग, यानी ऊन की कताई करनेवाले तो अब तेरह वर्ष से कम उम्र के बच्चों को, अर्थात् आधे समय काम करनेवालों को, बहुत कम ही काम पर रखते हैं। इन लोगों ने तरह-तरह की नयी और पहले से बेहतर मशीनें लगा ली हैं, जिन्होंने बच्चों को (यानी १३ वर्ष से कम उम्र के मजदूरों को) काम पर रखना बिल्कुल अनावश्यक बना दिया है। मिसाल के लिए, मैं एक प्रक्रिया का ज़िक्र करूंगा, जिससे स्पष्ट हो जायेगा कि बच्चों को काम पर रखने में यह कमी क्यों आयी है। इस प्रक्रिया में काम आनेवाली पुरानी मशीनों के साथ एक नया उपकरण और जोड़ दिया गया है। उसे धागे जोड़नेवाली मशीन कहा जाता है और उसके ज़रिये हर मशीन की विशिष्टता के अनुसार आधे समय काम करनेवाले चार से लेकर छः बच्चों तक का काम (१३ वर्ष से अधिक उम्र का) एक लड़का पूरा कर देता है... आधे समय काम करने की प्रणाली से धागे जोड़ने की मशीन के आविष्कार को 'प्रोत्साहन' मिला।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1858.*)

[117a] खेतिहर मज़दूरों के लिए अंग्रेज़ों के राजनीतिक अर्थशास्त्र में "wretch" ["अभागा"] शब्द के प्रयोग को ही मान्यता मिली हुई है।

[118] "मशीनों का... अकसर उस वक्त तक कोई इस्तेमाल नहीं हो सकता, जब तक कि श्रम" (लेखक का मतलब यहां मजदूरी से है) "बहुत चढ़ नहीं जाता।" (Ricardo, *Principles of Political Economy*, 3rd Ed., London, 1821, p. 479.)

[119] देखिये *Report of the Social Science Congress at Edinburgh.* October 1863.

रखने में इतना कम श्रम लगता है कि उसका हिसाब लगाने की भी कोई ख़ास जरूरत नहीं होती। यही कारण है कि मशीनों के देश – इंगलैंड – में मानव की श्रम-शक्ति का अत्यंत निकृष्ट कामों के लिए जैसा लज्जाजनक एवं घोर अपव्यय किया जाता है, वैसा और किसी देश में नहीं किया जाता।

अनुभाग ३ – मज़दूर पर मशीनों का सीधा प्रभाव

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, आधुनिक उद्योग का प्रस्थान-बिंदु श्रम के औज़ारों में होनेवाली क्रांति है, और यह क्रांति अपना सबसे अधिक विकसित रूप फ़ैक्टरियों में पायी जानेवाली मशीनों की संगठित प्रणाली में प्राप्त करती है। इस वस्तुगत संघटन में मानव-सामग्री का किस प्रकार समावेश किया जाता है, इसकी छानबीन करने के पहले आइये, हम यह देखें कि इस क्रांति का ख़ुद मज़दूर पर सामान्यतया क्या प्रभाव पड़ता है।

क) पूंजी द्वारा अनुपूरक श्रम-शक्ति पर अधिकार। स्त्रियों और बच्चों का काम पर लगाया जाना

जिस हद तक मशीनें मांस-पेशियों की शक्ति को अनावश्यक बना देती हैं, उस हद तक मशीनें मांस-पेशियों की बहुत थोड़ी शक्ति रखनेवाले मज़दूरों को और उन मज़दूरों को नौकरी देने का साधन बन जाती हैं, जिनका शारीरिक विकास तो अपूर्ण है, पर जिनके अवयव और भी लोचदार हैं। इसलिए मशीनों का इस्तेमाल करनेवाले पूंजीपतियों को सबसे पहले स्त्रियों और बच्चों के श्रम की तलाश होती थी। अतएव श्रम तथा श्रमजीवियों का स्थान लेने के लिए जिस विराट यंत्र का आविष्कार हुआ था, वह तुरंत ही मज़दूर के परिवार के प्रत्येक सदस्य को, बिना किसी आयु-भेद या लिंग-भेद के, पूंजी के प्रत्यक्ष दासों में भर्ती करके मज़दूरी करनेवालों की संख्या को बढ़ाने का साधन बन गया। उसके बाद से बच्चों को पूंजीपति के लिए जो अनिवार्य काम करना पड़ता था, उसने न केवल बच्चों के खेलकूद की जगह ले ली, बल्कि परिवार की आवश्यकताओं के लिए घर पर रहकर किये जानेवाले कुछ सीमित ढंग के स्वतंत्र श्रम की भी जगह ले ली।[120]

---

[120] जिन दिनों अमरीकी गृह-युद्ध के कारण कपास का संकट पैदा हुआ था, उन्हीं दिनों इंगलैंड की सरकार ने डा० एडवर्ड स्मिथ को सूती मिलों में काम करनेवाले मज़दूरों की सफ़ाई संबंधी हालत की जांच करने के लिए लंकाशायर, चेशायर और अन्य स्थानों पर भेजा था। डा० स्मिथ ने रिपोर्ट दी कि स्वास्थ्य के लिहाज़ से इस बात के अलावा कि मज़दूरों को कारख़ानों के वातावरण से हटा दिया गया है, संकट का कुछ और प्रकार का लाभ भी हुआ है। स्त्रियों को अब अपने बच्चों को "गोडफ़्रे का शरबत" रूपी ज़हर नहीं पिलाना पड़ता, बल्कि अपना दूध पिलाने के लिए काफ़ी अवकाश मिल जाता है। उनको खाना पकाने का ढंग सीखने के लिए वक़्त मिल गया है। दुर्भाग्यवश यह कला उन्होंने ऐसे समय पर सीखी है, जब उनके पास पकाने के लिए कुछ नहीं है। परंतु इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि घर पर परिवार के लालन-पालन के लिए जो श्रम आवश्यक था, पूंजी ने अपना विस्तार करने के उद्देश्य से किस प्रकार उसपर भी अधिकार कर लिया था। सीने-पिरोने के स्कूलों में मज़दूरों की बेटियों को सिलाई सिखाने के लिए भी इस संकट का उपयोग किया गया। जो सारी दुनिया के लिए कातती हैं, उनको सिलाई सीखने का मौक़ा तब मिला, जब अमरीका में एक क्रांति हो गयी और सारा संसार आर्थिक संकट में फंस गया!

श्रम-शक्ति का मूल्य केवल इसी बात से निर्धारित नहीं होता था कि अकेले वयस्क मज़दूर को जीवित रखने के लिए कितना श्रम-काल आवश्यक है, बल्कि इस बात से भी कि मज़दूर के परिवार को जीवित रखने के लिए कितना श्रम-काल आवश्यक है। मशीनें उसके परिवार के प्रत्येक सदस्य को श्रम की मंडी में लाकर पटक देती हैं और इस तरह मज़दूर की श्रम-शक्ति के मूल्य को उसके पूरे परिवार पर फैला देती हैं। इस प्रकार मशीनें उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य को कम कर देती हैं। यह मुमकिन है कि पहले परिवार के मुखिया की श्रम-शक्ति को ख़रीदने में जितना ख़र्चा होता था, अब चार सदस्यों के पूरे परिवार की श्रम-शक्ति को ख़रीदने में उससे कुछ अधिक ख़र्चा हो; लेकिन उसके एवज़ में एक दिन के श्रम की जगह पर चार दिन का श्रम मिल जाता है, और चार दिन का बेशी श्रम एक दिन के बेशी श्रम से जितना अधिक होता है, उसी अनुपात में इन चार दिनों के श्रम का दाम गिर जाता है। परिवार को जीवित रखने के लिए अब चार व्यक्तियों को न केवल श्रम, बल्कि पूंजीपति के लिए बेशी श्रम भी करना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मशीनें उस मानव-सामग्री में, जो पूंजी की शोषक शक्ति का प्रधान लक्ष्य होती है, वृद्धि करने के साथ-साथ [121] शोषण की मात्रा में भी वृद्धि कर देती हैं।

मज़दूर और पूंजीपति के बीच जो क़रार होता है, जो उनके पारस्परिक संबंधों को विधिवत् निश्चित करता है, मशीनें उसमें भी एक पूरी क्रांति पैदा कर देती हैं। पण्यों के विनिमय को अपना आधार बनाते हुए हम सबसे पहले यह मानकर चल रहे थे कि पूंजीपति और मज़दूर स्वतंत्र व्यक्तियों के रूप में, पण्यों के स्वतंत्र मालिकों की तरह, एक दूसरे से मिलते हैं; एक के पास द्रव्य और उत्पादन के साधन होते हैं, दूसरे के पास श्रम-शक्ति। परंतु अब पूंजीपति बच्चों और कमउम्र लड़के-लड़कियों को ख़रीदने लगता है। पहले मज़दूर ख़ुद अपनी श्रम-शक्ति बेचता था, जिसका वह कम से कम नाम मात्र के लिए एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में सौदा कर सकता था। पर अब वह अपनी पत्नी और अपने बच्चे को बेचने लगता है। वह

---

[121] "पुरुषों की जगह पर स्त्रियों की भर्ती और सबसे अधिक वयस्क मज़दूरों की जगह पर बच्चों की भर्ती के फलस्वरूप मज़दूरों की संख्या में भारी वृद्धि हो गयी है। परिपक्व आयु के १८ शिलिंग से लेकर ४५ शिलिंग तक की साप्ताहिक मज़दूरी पानेवाले पुरुष का स्थान तेरह-तेरह वर्ष की तीन लड़कियां ले लेती हैं, जिनको ६ शिलिंग से लेकर ८ शिलिंग तक प्रति सप्ताह की मज़दूरी दी जाती है।" (Th. de Quincey, *The Logic of Political Economy*, London, 1844, p. 147 से संबंधित पाद-टिप्पणी।) चूंकि कुछ पारिवारिक काम, जैसे बच्चों की देखभाल करना और उनको दूध पिलाना, पूरी तरह बंद नहीं किये जा सकते, इसलिए पूंजी जिन माताओं को छीन लेती है, उनको इन ज़रूरतों को पूरा करने के लिए कोई और तरकीब निकालनी पड़ती है। सीने-पिरोने और मरम्मत करने के घरेलू काम के स्थान पर अब बनी-बनायी तैयार चीज़ें ख़रीदनी पड़ती हैं। इसलिए घर में ख़र्च होनेवाले श्रम में कमी आने के साथ-साथ द्रव्य के ख़र्च में वृद्धि हो जाती है। परिवार के भरण-पोषण का ख़र्च बढ़ जाता है, और वह आमदनी में जो थोड़ी बढ़ती हुई है, उसका सफ़ाया कर देता है। इसके अलावा जीवन-निर्वाह के साधनों को तैयार करने तथा ख़र्च करने में विवेक और मितव्ययिता से काम लेना असंभव हो जाता है। इन तथ्यों पर सरकारी अर्थशास्त्र ने तो पर्दा डाल रखा है, परंतु *Reports of Inspectors of Factories*, *Reports of Children's Employment Commission* और ख़ास तौर पर *Reports on Public Health* में इनसे संबंध रखनेवाली बहुत सी सामग्री मिल जाती है।

गुलामों का व्यापार करनेवाला बन जाता है।[122] बच्चों के श्रम की मांग का रूप अकसर हबशी गुलामों की मांग के समान होता है, जिनके बारे में पहले अमरीकी पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञापन निकला करते थे। इंगलैंड के एक फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर ने कहा है: "मेरे डिस्ट्रिक्ट के एक सबसे महत्त्वपूर्ण औद्योगिक नगर के स्थानीय पत्र में प्रकाशित एक विज्ञापन की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया गया है। इस विज्ञापन की नक़ल इस तरह है: १२ से २० तक लड़के-लड़कियां चाहिए; देखने में १३ वर्ष से कम के नहीं मालूम होने चाहिए। मजदूरी ४ शिलिंग प्रति सप्ताह होगी। दरख़ास्त भेजिये, इत्यादि।"[123] "देखने में १३ वर्ष से कम के नहीं मालूम होने चाहिए" इसलिए लिखा गया है कि फ़ैक्टरी-अधिनियम के मुताबिक़ १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों से केवल ६ घंटे काम करवाने की इजाज़त थी। सरकारी तौर पर नियुक्त किये गये किसी डाक्टर को उनकी उम्र की जांच करके प्रमाणपत्र देना पड़ता था। इसलिए यह कारख़ानेदार ऐसे बच्चे चाहता है, जो देखने में अभी से १३ वर्ष के मालूम हों। फ़ैक्टरियों में काम करनेवाले १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों की संख्या में अकसर जो यकायक भारी कमी आ जाती है और जो इंगलैंड के पिछले २० वर्ष के आंकड़ों में आश्चर्यजनक रूप से व्यक्त हुई है, उसका अधिकतर भाग ख़ुद फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों के कथानुसार प्रमाणपत्र देनेवाले डाक्टरों के काम का परिणाम है। ये लोग पूंजीपति के शोषण के मोह और बच्चों के मां-बाप के घृणित लालच का ख़याल करके बच्चों की उम्र ज़्यादा लिख देते थे। बेथनल ग्रीन के बदनाम डिस्ट्रिक्ट में हर सोमवार और मंगलवार की सुबह को पैंठ लगती है, जिसमें ६ वर्ष और उससे अधिक उम्र के लड़के और लड़कियां अपने को रेशम के कारख़ानों के मालिकों के हाथ किराये पर उठाते हैं। "भाव आम तौर पर होता है १ शिलिंग ८ पेंस प्रति सप्ताह (यह रक़म मां-बापों की जेब में चली जाती है) और २ पेंस और चाय मेरे लिए।" यह क़रार केवल एक सप्ताह तक चलता है। इस पैंठ में जिस

---

[122] इंगलैंड की फ़ैक्टरियों में काम करनेवाली स्त्रियों और बच्चों के श्रम के घंटों को पुरुष मजदूरों ने पूंजी से ज़बर्दस्ती कम कराया था। परंतु इस महत्त्वपूर्ण तथ्य के बिल्कुल विपरीत बाल-सेवायोजन आयोग की सबसे ताज़ा रिपोर्टों में बच्चों की ख़रीद-फ़रोख़्त के संबंध में मज़दूर मां-बापों में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का प्रमाण मिलता है, जिनको देखकर सचमुच बहुत ग्लानि होती है और जो गुलामों का व्यापार करनेवालों की प्रवृत्तियों से बिल्कुल मिलती हैं। परंतु इन्हीं रिपोर्टों से यह भी पता चलता है कि बगुलाभगत पूंजीपति इस पाशविकता की निंदा करने में कभी नहीं हिचकिचाता, जिसे ख़ुद उसी ने पैदा किया है, जिसको वह सदा क़ायम रखता है, जिससे वह लाभ उठाता है और इसके अतिरिक्त जिसको उसने "श्रम की स्वतंत्रता" का सुंदर नाम दे रखा है। "वे ख़ुद अपनी रोटी कमाने तक के लिए भी ... शिशु-श्रम की सहायता लेते हैं। इन बच्चों में इतनी शक्ति नहीं होती कि वयस्कों के योग्य इस मेहनत को बर्दाश्त कर सकें, अपने भावी जीवन के लिए उनको किसी से शिक्षा नहीं मिलती, इसलिए वे भौतिक और नैतिक दृष्टि से एक दूषित परिस्थिति में डाल दिये गये हैं। एक यहूदी इतिहासकार ने टाइटस द्वारा जेरुसलम को जीत लेने की चर्चा करते हुए लिखा है कि जब हम यह देखते हैं कि जेरुसलम की एक निर्दयी मां ने सर्वभक्षी भूख को संतुष्ट करने के लिए ख़ुद अपनी संतान की बलि दे दी थी, तब हमें इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होता कि जेरुसलम को इस बुरी तरह नष्ट कर दिया गया।" (*Public Economy Concentrated*, Carlisle, 1833, p. 66.)

[123] A. Redgrave, *Reports of Insp. of Fact., 31st October 1858*, pp. 40, 41.

भाषा का प्रयोग किया जाता है और जो दृश्य उपस्थित होता है, वह सचमुच लज्जा की बात है।[124] इंगलैंड में अकसर ऐसा भी हुआ है कि औरतें "मुहताज-खानों से बच्चों को ले गयी हैं और जो भी २ शिलिंग ६ पेंस प्रति सप्ताह देने को तैयार हुआ, उसी के हाथ उनको सौंप दिया।"[125] ब्रिटेन में तमाम क़ानूनों के बावजूद २,००० से अधिक लड़कों को उनके मां-बापों ने चिमनी साफ़ करने की ज़िंदा मशीनों का काम करने के लिए बेच दिया है (हालांकि अब उनका स्थान लेने के लिए अनेक मशीनें मौजूद हैं)।[126] मशीनों ने श्रम-शक्ति के ग्राहक तथा विक्रेता के क़ानूनी संबंधों में जो क्रांति पैदा कर दी है और जिसके फलस्वरूप इस पूरे सौदे का रूप अब दो स्वतंत्र व्यक्तियों के क़रार का रूप नहीं रह गया है, उससे इंगलैंड की संसद को न्याय के सिद्धांतों के नाम पर फ़ैक्टरियों में राज्य के हस्तक्षेप के लिए बहाना मिल गया। जब कभी क़ानून किन्हीं ऐसे उद्योगों में बच्चों के श्रम पर ६ घंटे की सीमा का प्रतिबंध लगाता है, जिनमें पहले ऐसा प्रतिबंध लागू नहीं था, तब कारखानेदार हमेशा छाती पीटने लगते हैं। वे कहते हैं कि जिस उद्योग पर यह अधिनियम लागू कर दिया जाता है, उसमें काम करने-वाले बहुत से बच्चों को उनके मां-बाप वहां से हटाकर ऐसे उद्योगों में बेच आते हैं, जिनमें अब भी "श्रम की स्वतंत्रता" का राज्य है, यानी जहां १३ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को वयस्क लोगों के बराबर काम करना पड़ता है और इसलिए जहां उनको ज्यादा ऊंचे दामों पर बेचा जा सकता है। लेकिन पूंजी चूंकि अपने स्वभाववश सबको बराबर करती चलती है, चूंकि वह उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में श्रम के शोषण की समान परिस्थितियों को लागू करती है, इसलिए जब उद्योग की किसी एक शाखा में बच्चों के श्रम पर क़ानून द्वारा सीमा लगा दी जाती है, तो यह उद्योग की अन्य शाखाओं में भी सीमा लगाने का कारण बन जाता है।

पहले प्रत्यक्ष रूप से उन फ़ैक्टरियों में, जो मशीनों के आधार पर खड़ी हो जाती हैं, और फिर अप्रत्यक्ष रूप से उद्योग की बाक़ी तमाम शाखाओं में मशीनें जिन बच्चों और लड़के-लड़कियों को और साथ ही जिन स्त्रियों को पूंजी के शोषण का शिकार बना देती हैं, उनका जो शारीरिक पतन होता है, उसकी ओर हम पहले भी संकेत कर चुके हैं। इसलिए यहां पर हम केवल एक ही बात की सविस्तार चर्चा करेंगे। वह यह कि मज़दूरों के बच्चों के जीवन के शुरू के चंद वर्षों में उनकी मृत्यु-दर बेहद बढ़ जाती है। जन्म और मृत्यु की रजिस्टरी के लिए इंगलैंड जिन डिस्ट्रिक्टों में बंटा हुआ है, उनमें से सोलह डिस्ट्रिक्टों में एक वर्ष से कम उम्र के हर १ लाख जीवित बच्चों के पीछे साल भर में औसतन केवल ६,०८५ मौतें होती हैं (एक डिस्ट्रिक्ट में केवल ७,०४७ मौतें होती हैं); २४ डिस्ट्रिक्टों में मौतों की संख्या १०,००० से ज्यादा, पर ११,००० से कम है; ३९ डिस्ट्रिक्टों में वह ११,००० से ज्यादा, पर १२,००० से कम है; ४८ डिस्ट्रिक्टों में वह १२,००० से ज्यादा, पर १३,००० से कम है; २२ डिस्ट्रिक्टों में वह २०,००० से ज्यादा है; २५ डिस्ट्रिक्टों में वह २१,००० से ज्यादा है; १७ डि-

---

[124] *Children's Employment Commission, 5th Report*, London, 1866, p. 81, No. 31. [**चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया अंश – बेथनल ग्रीन का रेशम का उद्योग अब लगभग चौपट हो गया है। – फ़े० एं०**]

[125] *Children's Employment Commission, 3rd Report*, London, 1864, p. 53, No. 15.

[126] l. c., *5th Report*, p. 22, No. 137.

स्ट्रिक्टों में वह २२,००० से ज़्यादा है; ११ डिस्ट्रिक्टों में वह २३,००० से ज़्यादा है; हू, वोल्वरहैम्पटन, ऐश्टन-अंडर-लायन और प्रेस्टन नामक डिस्ट्रिक्टों में २४,००० से ज़्यादा है; नॉटिंघम, स्टॉकपोर्ट और ब्रैडफ़ोर्ड में वह २५,००० से ज़्यादा है; विसबीच में वह २६,००० है और मैंचेस्टर में २६,१२५ है।[127] जैसा कि १८६१ की एक सरकारी डाक्टरी जांच से प्रकट हुआ था, स्थानीय कारणों के अलावा इस भारी मृत्यु-दर का मुख्य कारण यह है कि बच्चों की माताओं को घर से बाहर काम करने जाना पड़ता है, और उनकी अनुपस्थिति में बच्चों के प्रति लापरवाही बरती जाती है और उनके साथ बुरा बरताव किया जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि उनको पर्याप्त भोजन नहीं मिलता, खराब भोजन मिलता है और अकसर अफ़ीम-मिली कोई दवा चटाकर सुला दिया जाता है। इसके अतिरिक्त मां और बच्चे के बीच अस्वाभाविक बेगानगी पैदा हो जाती है, और उसके फलस्वरूप अकसर माताएं जान-बूझकर बच्चों को भूखा मार डालती हैं और ज़हर दे देती हैं।[128] जिन खेतिहर डिस्ट्रिक्टों में "नौकरी करनेवाली औरतों की संख्या कम से कम है, वहां दूसरी ओर, मृत्यु-दर बहुत कम है।"[129] लेकिन १८६१ के जांच-कमीशन से यह अप्रत्याशित बात मालूम हुई कि उत्तरी सागर से मिले हुए कुछ विशुद्ध खेतिहर डिस्ट्रिक्टों में एक वर्ष से कम उम्र के बच्चों की मृत्यु-दर कारख़ानों वाले सबसे ख़राब डिस्ट्रिक्टों की मृत्यु-दर के लगभग बराबर है। चुनांचे डा० जूलियन हंटर को मौक़े पर जाकर स्थिति की जांच करने के लिए नियुक्त किया गया। उनकी रिपोर्ट *Sixth Report on Public Health*[130] में शामिल है। उस वक़्त तक यह समझा जाता था कि बच्चे मौसमी बुख़ार और कछार तथा दलदल वाले डिस्ट्रिक्टों में फैलनेवाली बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। परंतु इस जांच से बिल्कुल उल्टी बात मालूम हुई। पता चला कि जाड़ों में दलदल और गर्मियों में बहुत ख़राब सी चरागाह बनी रहनेवाली ज़मीन को जब ख़ूब ग़ल्ला पैदा करनेवाली उपजाऊ ज़मीन में बदल दिया जाता है, तब उसके फलस्वरूप ऐसे इलाक़ों से जहां एक तरफ़, मौसमी बुख़ार भाग जाता है, वहां दूसरी तरफ़, शिशुओं की मृत्यु-दर असाधारण रूप से बढ़ जाती है।[131] डा० हंटर ने इस डिस्ट्रिक्ट के ७० डाक्टरों के बयान लिये थे। इस प्रश्न पर सबका "आश्चर्यजनक रूप से एकमत था"। सच तो यह है कि खेती की प्रणाली में क्रांति होने के फलस्वरूप वहां पर भी औद्योगिक व्यवस्था जारी हो गयी थी। विवाहित स्त्रियां लड़के-लड़कियों के साथ-साथ टोलियों में काम करती हैं। काश्तकार के लिए एक व्यक्ति, जिसे "ठेके-

---

[127] *Sixth Report on Public Health*, London, 1864, p. 34.

[128] "उससे" (१८६१ की जांच से) "... इसके अलावा यह पता चला कि जहां एक तरफ़, उपर्युक्त परिस्थितियों में माताओं के अपने धंधों में लगे रहने का यह अर्थ होता है कि उनको अपने बच्चों के प्रति लापरवाही बरतनी पड़ती है और वे उनका ठीक इन्तज़ाम नहीं कर पातीं और बच्चे इस चीज़ का शिकार हो जाते हैं, वहां दूसरी तरफ़, अपनी संतान की ओर माताओं का रुख़ भी बहुत अस्वाभाविक हो जाता है, वे आम तौर पर बच्चों की मौत की कोई परवाह नहीं करतीं और कभी-कभी तो... ख़ुद इसकी पक्की व्यवस्था कर देती हैं।" (l. c.)

[129] *Sixth Report on Public Health*, London, 1864, p. 454.

[130] l. c., pp. 454-463. *Report by Dr. Henry Julian Hunter on the excessive mortality of infants in some rural districts of England.*

[131] *Sixth Report on Public Health*, London, 1864, pp. 35, 455, 456.

दार" कहते हैं, एक निश्चित रक़म के एवज़ में इन स्त्रियों की व्यवस्था करता है और पूरी टोली का ठेका ले लेता है। "ये टोलियां अपने गांव से कभी-कभी तो कई मील दूर जाकर काम करती हैं। सुबह-शाम वे आपको सड़कों पर मिलेंगी। ये औरतें छोटे-छोटे लहंगे, उपयुक्त ढंग के कोट और जूते और कभी-कभी पतलूनें भी पहने रहती हैं। वे इतनी स्वस्थ और बलवान दिखायी देती हैं कि दर्शक को आश्चर्य होता है; परंतु इसके साथ-साथ उनमें आदत के रूप में एक अनैतिकता का रंग भी स्पष्ट दिखायी देता है, और लगता है, जैसे इन स्त्रियों को इसकी तनिक भी चिंता नहीं है कि इस स्वतंत्र एवं व्यस्त जीवन से उनको जो इतना प्रेम हो गया है, उसका उनके उन अभागे बच्चों के लिए कैसा भयानक परिणाम हो रहा है, जो उनकी अनुपस्थिति में घर पर अकेले बिलखते रहते हैं।"[132] इस प्रकार फ़ैक्टरियों वाले डिस्ट्रिक्टों की प्रत्येक बात यहां पर भी दिखायी देने लगती है। अंतर केवल इतना होता है कि यहां गुप्त शिशु-हत्याएं और बच्चों को अफ़ीम-मिली दवाएं चटाना और भी अधिक प्रचलित हैं।[133] प्रिवी काउंसिल के डाक्टर और सार्वजनिक स्वास्थ्य की रिपोर्टों के प्रधान संपादक, डा० साइमन ने कहा है: "जब कहीं पर वयस्क स्त्रियों से बड़े पैमाने पर कारख़ानों में काम कराया जाता है, तो मुझे हमेशा यह भय होता है कि इसका बहुत अनिष्टकर परिणाम होगा। इसका कारण यह है कि मुझे इस चीज़ से पैदा होनेवाली बुराइयों का अच्छा ज्ञान है।"[134] मि० बेकर नामक एक फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में कहा है: "इंगलैंड के कारख़ानों वाले डिस्ट्रिक्टों के लिए यह सचमुच बड़े सौभाग्य की बात होगी, जब बाल बच्चों वाली प्रत्येक विवाहित स्त्री को किसी भी कपड़ा-मिल में काम करने की मनाही कर दी जायेगी।"[135]

पूंजीवादी शोषण स्त्रियों और बच्चों को जिस घोर नैतिक पतन के गढ़े में धकेले देता है, उसका फ़े० एंगेल्स ने अपनी पुस्तक *Lage der Arbeitenden Klasse in England* ['इंगलैंड के मजदूर वर्ग की हालत'] में तथा अन्य लेखकों ने इतना सुविस्तृत वर्णन किया है कि इस स्थान पर केवल उसका ज़िक्र कर देना ही काफ़ी होगा। परंतु अपरिपक्व मनुष्यों को महज़ बेशी मूल्य पैदा करने-वाली मशीनों में बदलकर बनावटी ढंग से जो बौद्धिक शून्यता पैदा कर दी गयी थी और जो उस स्वाभाविक अज्ञान से बिल्कुल भिन्न थी, जिसमें मनुष्य का मस्तिष्क परती ज़मीन की तरह ख़ाली तो पड़ा रहता है, पर उसकी विकास करने की क्षमता, उसकी स्वाभाविक उर्वरता नष्ट नहीं हो जाती, इस मनोदशा ने अंत में इंगलैंड की संसद तक को यह नियम बनाने के लिए विवश कर दिया कि ऐसे तमाम उद्योगों में, जिनपर फ़ैक्टरी-अधिनियम लागू हैं, १४ वर्ष से

---

[132] *Sixth Report on Public Health*, London, 1864, p. 456.

[133] फ़ैक्टरियों वाले डिस्ट्रिक्टों की तरह खेतिहर डिस्ट्रिक्टों में भी वयस्क मजदूरों में—स्त्रियों और पुरुषों, दोनों में—अफ़ीम का उपयोग दिन ब दिन बढ़ता जा रहा है। "अफ़ीम-मिली दवाओं की बिक्री की वृद्धि... कुछ उत्साही थोक व्यापारियों का मुख्य उद्देश्य है। दवा-फ़रोश उन्हें बिक्री की सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ समझते हैं।" (l. c., p. 459.) जो बच्चे अफ़ीम मिली दवाएं खाते हैं, वे "सूखकर नन्हे-नन्हे बूढ़ों के समान बन जाते हैं" या "बंदर प्रतीत होने लगते हैं।" (l. c., p. 460.) हिंदुस्तान और चीन ने इंगलैंड से किस तरह बदला लिया है, यह यहां साफ़ हो जाता है।

[134] l. c., p. 37.

[135] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1862*, p. 59. मि० बेकर पहले डाक्टर थे।

कम उम्र के बच्चों को केवल उसी समय "उत्पादक" ढंग से नौकर रखा जा सकेगा, जब साथ ही उनकी प्राथमिक शिक्षा का भी बंदोबस्त कर दिया जायेगा। पूंजीवादी उत्पादन किस भावना से उत्प्रेरित होता है, यह इस बात से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि फ़ैक्टरी-अधिनियमों की तथाकथित शिक्षा संबंधी धाराओं की शब्दावली अत्यंत हास्यास्पद है; इन धाराओं को लागू करनेवाला कोई प्रशासन-यंत्र नहीं है, जिससे इन धाराओं की अनिवार्यता महज़ एक काग़ज़ी चीज़ बनकर रह जाती है; कारख़ानेदार ख़ुद इन धाराओं का डटकर विरोध कर रहे हैं और व्यवहार में उनसे बचने के लिए तरह-तरह की तरकीबें करते हैं और चालें चलते हैं। "इसके लिए महज़ संसद ही दोषी है। उसने एक धोखे से भरा क़ानून बनाया है। ऊपर से देखने में लगता है कि इस क़ानून ने फ़ैक्टरियों में काम करनेवाले सभी बच्चों को शिक्षा देना ज़रूरी बना दिया है। पर उसमें ऐसी कोई धारा नहीं है, जिससे सचमुच इस उद्देश्य की पूर्ति हो सके। उसमें इससे अधिक और कुछ नहीं कहा गया है कि सप्ताह के कुछ ख़ास दिन बच्चे कुछ निश्चित घंटों के लिए (तीन घंटों के लिए) स्कूल नामक एक स्थान की चारदीवारी के भीतर बंद कर दिये जायेंगे और बच्चों को नौकर रखनेवाला कारख़ानेदार उसके द्वारा नियुक्त स्कूल-मास्टर या मास्टरानी के पद पर काम करनेवाले एक व्यक्ति से हर हफ़्ते इस बात के प्रमाणपत्र पर दस्तख़त करा लेगा।"[136] १८४४ के संशोधित फ़ैक्टरी-अधिनियम के पास होने के पहले अकसर यह होता था कि स्कूल में बच्चों की हाज़िरी के प्रमाणपत्र पर स्कूल का मास्टर या मास्टरानी हस्ताक्षर नहीं करते थे, बल्कि सिर्फ़ एक चिह्न बना देते थे, क्योंकि वे ख़ुद लिखना नहीं जानते थे। लेनर्ड हॉर्नर ने लिखा है: "एक बार मैं एक ऐसा स्थान देखने गया, जो स्कूल कहलाता था और जहां से बच्चों की हाज़िरी के प्रमाणपत्र भी जारी हुए थे। मुझे इस स्कूल के मास्टर का अज्ञान देखकर इतना आश्चर्य हुआ कि मैं उससे यह पूछ ही बैठा कि 'कहिये, जनाब, आप पढ़ना तो जानते हैं?' उसने जवाब दिया: 'हां, कुछ-कुछ'। और फिर मानो प्रमाणपत्र देने के अपने अधिकार का औचित्य सिद्ध करने के लिए उसने कहा: 'बहरहाल, मैं अपने विद्यार्थियों से तो आगे हूं ही।'" जब १८४४ का अधिनियम तैयार हो रहा था, उस समय फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने उन स्थानों का सवाल उठाया, जो स्कूल कहलाते थे और जिनकी स्थिति बहुत लज्जाजनक थी तथा जिनके प्रमाणपत्रों को उन्हें क़ानून के आदेश-पालन के रूप में स्वीकार करना पड़ता था। परंतु उनकी तमाम कोशिशों का केवल इतना ही परिणाम हुआ कि १८४४ के अधिनियम के पास हो जाने के बाद यह नियम बन गया कि "स्कूल के प्रमाणपत्र में ख़ुद स्कूल-मास्टर की लिखावट में अंक होने चाहिए, जिसे अपना पूरा नाम, पिता का नाम और कुल का नाम भी अपने हाथ से लिखना होगा"।[137] स्कॉटलैंड के फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर सर जॉन किनकेड ने भी इसी प्रकार के एक अनुभव का वर्णन किया है। "हम जो पहला स्कूल देखने गये, उसका बंदोबस्त श्रीमती ऐन किलिन के हाथ में था। हमने जब उनसे अपना नाम लिखने को कहा, तो वह फ़ौरन ग़लती कर बैठीं। उन्होंने अपने कुल नाम को C अक्षर से शुरू किया। लेकिन उसके बाद फ़ौरन ही उन्होंने अपनी भूल सुधारी और कहा कि उनका कुलनाम K अक्षर से शुरू होता है। किंतु स्कूल के प्रमाणपत्रों में जब हमने उनके हस्ताक्षर देखे, तो पता चला कि वे अपने कुलनाम को तरह-तरह से लिखती रही हैं और उनकी लिखावट से इस बात में

---

[136] L. Horner, *Reports of Insp. of Fact. for 30th June 1857*, p. 17.

[137] L. Horner, *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1855*, pp. 18, 19.

तनिक भी संदेह नहीं रहा कि उनमें बच्चों को पढ़ाने की योग्यता नहीं है। यह बात तो उन्होंने ख़ुद भी स्वीकार की कि रजिस्टर भरना उनके बस की बात नहीं है... एक दूसरे स्कूल में मैंने देखा कि स्कूल का कमरा १५ फ़ुट लंबा और १० फ़ुट चौड़ा है और इतने स्थान में ७५ बच्चे भरे हुए कुछ बड़बड़-बड़बड़ कर रहे हैं, जिसे सुनकर समझना असंभव है।"[138] "लेकिन यह केवल इन उपर्युक्त दयनीय स्थानों में ही नहीं होता कि बच्चों को किसी काम की शिक्षा नहीं मिलती और फिर भी स्कूल में हाज़िरी के प्रमाणपत्र दे दिये जाते हैं। बहुत से स्कूलों में शिक्षक योग्य है, पर उसकी सब कोशिशें बेकार रहती हैं, क्योंकि ३ वर्ष के शिशुओं से शुरू करके सभी उम्रों के बच्चों की वह बेशुमार भीड़ उसको कुछ नहीं करने देती। वह बहुत मुश्किल से ही अपनी गुज़र-बसर कर पाता है, और यह भी इस बात पर निर्भर करता है कि उस ज़रा से स्थान में वह अधिक से अधिक कितने बच्चों को ठूंस सकता है, क्योंकि इन बच्चों से मिलने-वाली पेनियों के सहारे ही उसकी जीविका चलती है। फिर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इन स्कूलों में फ़र्नीचर का अभाव होता है, किताबों की और पढ़ाई की अन्य सामग्री की कमी रहती है और घुटन और शोर के वातावरण का बेचारे बच्चों के मन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। मैं बहुत से ऐसे स्कूलों में हो आया हूं, जहां मैंने देखा कि बच्चों की पंक्तियों की पंक्तियां बैठी हैं और वे कुछ भी कर नहीं रहे हैं; पर स्कूल की हाज़िरी के लिए इतना काफ़ी माना जाता है और सरकारी आंकड़ों में ऐसे बच्चों को शिक्षित दिखाया जाता है।"[139] स्कॉटलैंड में कारख़ानेदार इसकी जीतोड़ कोशिश करते हैं कि वे उन बच्चों के बिना ही काम चला लें, जिनको स्कूल भेजना ज़रूरी होता है। "अब यह बात साबित करने के लिए और दलीलों की ज़रूरत नहीं है कि फ़ैक्टरी-अधिनियम की शिक्षा संबंधी धाराओं का, जो मिल-मालिकों को इतनी नापसंद हैं, प्रायः यह नतीजा होता है कि इन बच्चों को न तो नौकरी मिलती है और न वह शिक्षा, जो यह अधिनियम उनको देना चाहता था।"[140] कपड़ा छापने के कारख़ानों में, जिनपर एक विशेष अधिनियम लागू है, यह बात बहुत ही भयानक रूप धारण कर लेती है। इस विशेष अधिनियम के अनुसार "कपड़ा छापने के किसी कारख़ाने में नौकर होने के पहले हर बच्चे के लिए यह ज़रूरी होता है कि उसने नौकरी के प्रथम दिन के पहले छः महीने के दौरान कम से कम ३० दिन और कम से कम १५० घंटे तक किसी स्कूल में हाज़िरी दी हो; और कपड़ा छापने के कारख़ाने में नौकरी करने के दौरान भी उसे हर छः महीने में कम से कम एक बार ३० दिन और १५० घंटे की यह हाज़िरी पूरी करके दिखानी होगी... स्कूल में हाज़िरी का समय सुबह ८ बजे से शाम के ६ बजे के बीच होना चाहिए। यदि एक दिन में कोई बच्चा २.५ घंटे से कम या ५ घंटे से ज़्यादा स्कूल में उपस्थित रहेगा, तो वह समय १५० घंटों में शामिल नहीं किया जायेगा। साधारणतया बच्चे ३० दिन तक सुबह को और तीसरे पहर को रोज़ कम से कम पांच घंटे स्कूल में हाज़िर रहते हैं; और ३० दिन पूरे हो जाने के बाद, जब १५० घंटे की क़ानूनी अवधि पूरी हो जाती है, या, इन लोगों की भाषा में, ख़ानापूरी हो जाने के बाद, वे कपड़ा छापने के कारख़ाने में लौट आते हैं, जहां वे छः

---

[138] Sir John Kincaid, *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1858*, pp. 31, 32.

[139] L. Horner, *Reports etc. for 31st October 1857*, pp. 17, 18.

[140] Sir John Kincaid, *Reports etc. for 31st October 1856*, p. 66.

महीने तक काम करते रहते हैं, और छः महीने पूरे हो जाने पर स्कूल की हाज़िरी की एक नयी क़िस्त शुरू हो जाती है, और जब तक दोबारा ख़ानापूरी नहीं हो जाती, तब तक वे फिर स्कूल में हाज़िरी बजाते रहते हैं... बहुत से लड़के क़ानून द्वारा निर्धारित घंटे स्कूल में बिताकर कपड़ा छापने के कारख़ाने में काम करने चले जाते हैं और छः महीने का काम पूरा करने के बाद जब वहां से लौटते हैं, तो वे उसी हालत में होते हैं, जिस हालत में वे पहली बार कपड़ा छापने के कारख़ानों में काम करनेवाले लड़कों के रूप में स्कूल में हाज़िर हुए थे ; और पहली बार स्कूल में बैठकर उन्होंने जो कुछ पाया था, उस सबको खो आते हैं... कपड़ा छापने के दूसरे कारख़ानों में स्कूल में बच्चों की हाज़िरी पूरी तरह इस बात पर निर्भर करती है कि कारख़ाने का काम उसकी इजाज़त देता है या नहीं। हर छः महीने के पीछे जो १५० घंटे की हाज़िरी आवश्यक होती है, वह ३ घंटे से लेकर ५ घंटों तक की बहुत सी फैली हुई क़िस्तों में पूरी कर दी जाती है। कभी-कभी तो ये क़िस्तें पूरे छः महीनों पर फैला दी जाती हैं... मिसाल के लिए, एक दिन की हाज़िरी सुबह ८ से ११ बजे तक की हो सकती है, दूसरे दिन की १ बजे दोपहर से शाम के ४ बजे तक की, और फिर मुमकिन है कि कई रोज़ तक बच्चा स्कूल में मुंह न दिखाये ; उसके बाद वह तीसरे पहर के ३ बजे से शाम के ६ बजे तक स्कूल में बैठ सकता है ; इस तरह ३ या ४ दिन तक या एक सप्ताह तक लगातार स्कूल में आने के बाद वह ३ सप्ताह या एक महीने तक ग़ैरहाज़िर रह सकता है ; और उसके बाद जब कभी उसका मालिक उसे काम कम होने पर छुट्टी दे, वह कभी-कभार स्कूल में जा सकता है ; और जब तक १५० घंटे का वह क़िस्सा पूरा नहीं हो जाता, तब तक बच्चा कभी स्कूल से कारख़ाने में और कभी कारख़ाने से स्कूल में इसी तरह धक्के खाता रहता है"।[141]

स्त्रियों और बच्चों को अत्यधिक संख्या में मज़दूरों में भर्ती करके मशीनें आख़िर पुरुष मज़दूरों के उस प्रतिरोध को तोड़ देती हैं, जिसका पूंजी के निरंकुश शासन को मैन्यूफ़ैक्चर के काल में लगातार सामना करना पड़ा था।[142]

---

[141] A. Redgrave, *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1857*, pp. 41, 42. जिन उद्योगों पर ख़ास फ़ैक्टरी-अधिनियम (कपड़ा छापने के कारख़ानों का वह अधिनियम नहीं, जिसका ऊपर टेक्स्ट में ज़िक्र किया गया है) कुछ समय से लागू है, उनमें शिक्षा संबंधी धाराओं के रास्ते की रुकावटों को हाल के कुछ वर्षों में दूर कर दिया गया है। जिन उद्योगों पर यह अधिनियम लागू नहीं है, उनमें अब भी कांच के कारख़ाने के मालिक मि० जे० गेड्डेज़ के विचारों का ही दौर-दौरा है। इन सज्जन ने जांच-आयोग के एक सदस्य, मि० व्हाइट से कहा था: "जहां तक मैं देख सकता हूं, पिछले कुछ वर्षों से मज़दूर वर्ग का एक भाग जो पहले से अधिक शिक्षा प्राप्त कर रहा है, वह एक बड़ी भारी बुराई है। यह एक ख़तरनाक चीज़ है, क्योंकि वह मज़दूरों को आज़ाद बना देती है।" (*Children's Employment Commission, 4th Report*, London, 1865, p. 253.)

[142] "मि० ई० नामक एक कारख़ानेदार ने... मुझे यह सूचना दी कि वह शक्ति से चलनेवाले अपने करघों पर काम करने के लिए केवल स्त्रियों को ही नौकर रखते हैं... और उनमें भी विवाहित स्त्रियों को वह ज़्यादा तरजीह देते हैं, ख़ास तौर पर उन स्त्रियों को, जिनके परिवार अपनी जीविका के लिए उन्हीं पर निर्भर होते हैं। ये स्त्रियां अविवाहित स्त्रियों की तुलना में अधिक ध्यान लगाकर काम करती हैं, अधिक विनयी होती हैं और जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करने के लिए उनको मजबूर होकर ज़्यादा से ज़्यादा मेहनत करनी पड़ती है। इस प्रकार नारी के गुणों को, उसके विशिष्ट गुणों को, ऐसा रूप दे दिया जाता है कि

ख) काम के दिन का लंबा किया जाना

यदि मशीनें श्रम की उत्पादिता को बढ़ाने का – अर्थात् किसी पण्य के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल को छोटा करने का – सबसे शक्तिशाली साधन हैं, तो जिन उद्योगों पर वे पहले-पहल चढ़ाई करती हैं, उनमें वे पूंजीपति के हाथों में मानव-प्रकृति की तमाम सीमाओं का अतिक्रमण करके काम के दिन को लंबा खींचने का सबसे शक्तिशाली साधन बन जाती हैं। मशीनें एक तरफ़ तो ऐसी नयी परिस्थितियां पैदा कर देती हैं, जिनमें पूंजी को अपनी इस अनवरत प्रवृत्ति को खुली छूट दे देने का अवसर मिल जाता है, और दूसरी तरफ़, वे दूसरों के श्रम को हड़पने की पूंजी की भूख को तेज़ करने के लिए नये उद्देश्य पैदा कर देती हैं।

सबसे पहली बात यह है कि मशीनों के रूप में श्रम के औज़ार स्वचालित बन जाते हैं। वे ऐसी चीज़ें बन जाते हैं, जो मज़दूर से स्वाधीन रहते हुए ख़ुद हरकत करती और चलती हैं। और इस समय से ही श्रम के औज़ार एक औद्योगिक perpetuum mobile [शाश्वत गतिशील वस्तु] बन जाते हैं। यदि इस वस्तु की देखरेख करनेवाले इन्सानों के निर्बल शरीरों तथा दृढ़ संकल्पों के रूप में कुछ प्राकृतिक रुकावटें उसके रास्ते में न आ खड़ी होतीं, तो यह वस्तु निरंतर काम करती रहती। पूंजी के रूप में और पूंजी होने के कारण स्वचालित यंत्र को पूंजीपति की शक्ल में बुद्धि और इच्छा-शक्ति मिल जाती है, उसमें यह इच्छा पैदा हो जाती है कि मनुष्यरूपी उस प्रतिकारक, किंतु लोचदार प्राकृतिक रुकावट के प्रतिरोध को कम से कम कर दे।[143] इसके अतिरिक्त मशीन का काम चूंकि ऊपर से देखने में हल्का होता है और उसके लिए नौकर रखी गयी स्त्रियां और बच्चे चूंकि अधिक विनयी और दब्बू होते हैं, इसलिए भी यह प्रतिरोध कुछ कम हो जाता है।[144]

वे ख़ुद उसी के लिए घातक बन जाते हैं। इस प्रकार नारी के स्वभाव में जो कुछ भी अत्यंत कर्तव्यपालन की भावना और ममता से भरा है, उसे उसके लिए दासता का साधन और यातनाओं का कारण बना दिया जाता है।" (*Ten Hours' Factory Bill. The Speech of Lord Ashley, 15th March*, London, 1844, p. 20.)

[143] "जब से आम तौर पर मशीनों का इस्तेमाल होने लगा है, तब से इन्सानों से इतना ज्यादा काम लिया जाने लगा है, जो उनकी औसत शक्ति से बहुत ज्यादा होता है।" (Robert Owen, *Observations on the Effect of the Manufacturing System*, 2nd Ed., London, 1817, [p. 16.])

[144] अंग्रेज़ लोगों में किसी भी चीज़ के प्रकट होने के आद्यतम रूप को उसके अस्तित्व का कारण समझने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस प्रवृत्ति के कारण ही वे अकसर यह कहते सुने जाते हैं कि फ़ैक्टरियों में अगर बहुत ज्यादा देर तक काम कराया जाता है, तो इसका कारण यह है कि फ़ैक्टरी-व्यवस्था के बाल्यकाल में पूंजीपति मुहताज-ख़ानों और अनाथालयों से बेशुमार बच्चों को उठा लाया करते थे और इस डकैती के ज़रिये उनको शोषण के लिए ऐसी सामग्री मिल जाती थी, जो उनके विरोध में कभी चीं तक नहीं करती थी। मिसाल के लिए, फ़ील्डेन ने, जो ख़ुद भी एक कारख़ानेदार हैं, कहा है: "यह स्पष्ट है कि काम के ये लंबे घंटे इस बात का परिणाम हैं कि देश के विभिन्न भागों से कारख़ानों के मालिकों को इतनी अधिक संख्या में मुहताज बच्चे मिल गये थे कि उनको मज़दूरों की कोई परवाह नहीं रह गयी थी, और इस प्रकार प्राप्त की गयी अभागी सामग्री की मदद से एक बार कोई रिवाज क़ायम करके वे फिर उसे अपने पड़ोसियों पर अधिक आसानी से लाद सकते थे।" (J. Fielden, *The Curse of the Factory System*, London, 1836, p. 11.) स्त्रियों के श्रम के विषय में सॉण्डर्स नामक

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मशीनों की उत्पादिता उस मूल्य के प्रतिलोम अनुपात में होती है, जिसे वे उत्पाद में स्थानांतरित कर देती हैं। मशीन का जीवन जितना लंबा होता है, उसके द्वारा स्थानांतरित किया गया मूल्य उत्पाद की उतनी ही अधिक मात्रा पर फैल जाता है, और इस मूल्य का जो अंश हर अकेले पण्य में जुड़ता है, वह उतना ही कम हो जाता है। किंतु किसी भी मशीन का सक्रिया जीवन-काल स्पष्ट रूप से काम के दिन की लंबाई—या दैनिक श्रम-प्रक्रिया की लंबाई—और जितने दिनों तक यह प्रक्रिया चलायी जाती है, उनके गुणनफल पर निर्भर करता है।

किसी भी मशीन की घिसाई-छिजाई ठीक-ठीक उसके कार्य-काल के अनुपात में नहीं घटती-बढ़ती। और यदि ऐसा हो भी, तो ७$\frac{१}{२}$ वर्ष तक १६ घंटे रोज़ काम करनेवाली मशीन का कार्य-काल उतना ही होगा और वह कुल उत्पाद में उतना ही मूल्य स्थानांतरित करेगी, जितना इस मशीन का कार्य-काल उस हालत में होगा और जितना मूल्य वह उस हालत में स्थानांतरित करेगी, जब उससे १५ वर्ष तक केवल ८ घंटे रोज़ काम लिया जायेगा। लेकिन दूसरी सूरत की अपेक्षा पहली सूरत में मशीन के मूल्य का पुनरुत्पादन दुगुनी तेज़ी से हो जायेगा और मशीन का इस तरह उपयोग करके पूंजीपति ७$\frac{१}{२}$ वर्षों में ही उतना बेशी मूल्य कमा लेगा, जितना दूसरी सूरत में वह १५ वर्षों में कमा पायेगा।

मशीन की भौतिक घिसाई दो तरह की होती है। एक उपयोग के कारण होती है, जैसे सिक्के संचलन में घिस जाते हैं। दूसरी उपयोग न होने के कारण होती है, जैसे अगर कोई तलवार बहुत दिन तक म्यान में पड़ी रहे, तो उसमें जंग लग जाता है। यह दूसरे प्रकार की घिसाई प्राकृतिक तत्त्वों के कारण होती है। पहले प्रकार की घिसाई न्यूनाधिक मशीन के उपयोग के अनुलोम अनुपात में होती है, दूसरे प्रकार की घिसाई कुछ हद तक इसी मशीन के उपयोग के प्रतिलोम अनुपात में होती है।[145]

लेकिन भौतिक घिसाई-छिजाई के अलावा मशीन उस क्रिया से भी गुज़रती है, जिसे हम नैतिक मूल्यह्रास की क्रिया कह सकते हैं। उसका विनिमय-मूल्य या तो इसलिए कम हो जाता है कि उसी तरह की मशीनें उसकी अपेक्षा सस्ती तैयार होने लगती हैं, या इसलिए कि उससे बेहतर मशीनें उससे प्रतियोगिता करने लगती हैं।[146] दोनों सूरतों में, मशीन चाहे जितनी

फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर ने १८४४ की अपनी रिपोर्ट में लिखा है: "मज़दूर औरतों में कुछ ऐसी औरतें हैं, जिनको दो-चार रोज़ छोड़कर बाक़ी कई-कई हफ़्ते तक लगातार सुबह ६ बजे से आधी रात तक काम करना पड़ता है और जिनको बीच में केवल भोजन करने के लिए २ घंटे से भी कम की एक छुट्टी मिलती है। इस तरह इन स्त्रियों के पास हफ़्ते में पांच दिन कारख़ाने से घर तक आने-जाने और बिस्तर पर आराम करने के लिए रोज़ाना २४ घंटे में से केवल ६ घंटे बचते हैं।"

[145] "धातु का कोई यंत्र निष्क्रिय पड़ा रहेगा, तो उसके चलनेवाले नाज़ुक कल-पुर्ज़ों को नुक़सान... पहुंच सकता है।" (Ure, *Philosophy of Manufactures*, p. 28.)

[146] मैंचेस्टर के एक कताई कारख़ाने के जिस मालिक का ऊपर ज़िक्र किया जा चुका है, उसने (*The Times* के २६ नवंबर १८६२ के अंक में) इस विषय में यह लिखा है: "इसका" (यानी "मशीनों के ख़राब हो जाने के लिए पहले से ही पैसा निकालकर अलग रख देने"

कमउम्र और ज़िंदगी से भरी-पूरी हो, उसका मूल्य तब इस बात से निर्धारित नहीं होगा कि उसमें कितने श्रम ने सचमुच भौतिक रूप धारण किया है, बल्कि इस बात से निर्धारित होगा कि उसके पुनरुत्पादन के लिए या उससे बेहतर मशीन के उत्पादन के लिए कितना श्रम-काल आवश्यक होता है। इसलिए ऐसी हालत में मशीन के मूल्य में न्यूनाधिक कमी आ जाती है। उसके कुल मूल्य के पुनरुत्पादन में जितना कम समय लगेगा, उतना ही उसके नैतिक मूल्यह्रास का कम ख़तरा रहेगा ; और काम का दिन जितना अधिक लंबा होगा, मशीन के कुल मूल्य के पुनरुत्पादन में उतना ही कम समय लगेगा। जब किसी उद्योग में मशीन का इस्तेमाल पहले-पहल शुरू होता है, तो उसका अधिक सस्ते में पुनरुत्पादन करने का एक के बाद दूसरा तरीक़ा ईजाद होने लगता है[147] और न केवल मशीन के अलग-अलग हिस्सों और कल-पुर्ज़ों में, बल्कि उसकी पूरी बनावट में नये-नये सुधार होते रहते हैं। इसलिए मशीनों के जीवन के एकदम प्रारंभिक दिनों में काम के दिन को लंबा खींचने की इच्छा पैदा करनेवाला यह विशिष्ट कारण सबसे अधिक ज़ोर दिखाता है।[148]

यदि काम के दिन की लंबाई पहले से मालूम हो और अन्य सब परिस्थितियां समान रहें, तो पहले से दुगुनी संख्या में मज़दूरों का शोषण करने के लिए स्थिर पूंजी के न केवल मशीनों और मकानों में लगे भाग को, बल्कि उस भाग को भी दुगुना करना पड़ता है, जो कच्चे माल और सहायक पदार्थों में लगाया जाता है। दूसरी ओर, काम के दिन को लंबा करने पर मशीनों और मकानों में लगी हुई पूंजी में बिना कोई परिवर्तन किये हुए ही पहले से बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जा सकता है।[149] इसलिए वैसी हालत में न सिर्फ़ बेशी मूल्य बढ़ जाता है,

---

का) "यह उद्देश्य भी होता है कि मशीनें चूंकि घिसने के पहले ही नयी और बेहतर बनावट की मशीनों का आविष्कार हो जाने के फलस्वरूप पुरानी पड़ जाती हैं, इसलिए इससे निरंतर होनेवाले नुक़सान को पूरा करने की पहले से व्यवस्था कर दी जाये।"

[147] "मोटे तौर पर यह अनुमान लगाया गया है कि जब किसी नयी मशीन का आविष्कार होता है, तो उस प्रकार की पहली मशीन बनाने में वैसी ही दूसरी मशीन की अपेक्षा लगभग पांचगुना ख़र्चा लग जाता है।" (Babbage, *On the Economy of Machinery*, London, 1832, p. 349).

[148] "अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं, जब कि पेटेंटशुदा जाली बनाने के ढांचों में इतने बड़े-बड़े सुधार कर दिये गये थे कि जिस मशीन में १,२०० पाउंड की लागत लगी थी, वह अच्छी हालत में होते हुए भी उसके चंद साल बाद ही केवल ६० पाउंड में बिकती थी... एक के बाद दूसरा सुधार इतनी जल्दी-जल्दी हो रहा था कि मशीनें तैयार नहीं हो पाती थीं और उसके पहले ही ख़रीदार उनकी डिलिवरी लेने से इन्कार कर देते थे, क्योंकि इस बीच नये सुधारों ने उनकी उपयोगिता कम कर दी थी।" (Babbage, l.c., p. 233.) चुनांचे तरक़्क़ी के इन तूफ़ानी दिनों में रेशमी जाली बनानेवाले कारख़ानेदारों ने शीघ्र ही मज़दूरों की दो पालियों से काम लेना शुरू कर दिया और इस तरह काम के दिन को आठ घंटे से चौबीस घंटे का कर दिया।

[149] "यह बात स्वतःस्पष्ट है कि मंडियों के उतार-चढ़ाव और मांग के बारी-बारी से बढ़ने-घटने के बीच बार-बार ऐसे अवसर आते हैं, जब कारख़ानेदार अतिरिक्त स्थायी पूंजी लगाये बिना ही अतिरिक्त प्रचल पूंजी का उपयोग कर सकता है... बशर्ते कि मकानों और मशीनों पर अतिरिक्त ख़र्चा किये बिना ही कच्चे माल की अतिरिक्त मात्राओं का उपयोग करना संभव हो।" (R. Torrens, *On Wages and Combination*, London, 1834, p. 64.)

बल्कि उसे प्राप्त करने में जो ख़र्चा लगता था, वह कम हो जाता है। यह सच है कि काम के दिन को लंबा करने पर हर बार कमोबेश यह बात होती है, मगर जिस विशेष परिस्थिति पर हम विचार कर रहे हैं, उसमें अधिक उल्लेखनीय परिवर्तन होता है, क्योंकि यहां पर पूंजी का वह भाग अपेक्षाकृत अधिक होता है, जो श्रम के औजारों में बदल दिया गया है।[150] फ़ैक्टरियों की व्यवस्था का विकास पूंजी के एक लगातार बढ़ते हुए भाग को एक ऐसे रूप में स्थिर कर देता है, जिसमें एक ओर तो उसका मूल्य लगातार ख़ुद अपना विस्तार कर सकता है और दूसरी ओर, जिसमें वह जीवित श्रम के साथ संपर्क खोते ही अपने उपयोग-मूल्य तथा विनिमय-मूल्य दोनों को खो देता है। मि० ऐशवर्थ नामक एक बड़े कपड़ा-मिल मालिक ने प्रोफ़ेसर नस्साउ डब्ल्यू० सीनियर से कहा था: "जब कोई मज़दूर फावड़ा उठाकर रख देता है, तो उस काल के लिए वह अठारह पेंस की पूंजी को व्यर्थ बना देता है। पर जब हमारा कोई आदमी मिल छोड़कर चला जाता है, तो वह उस पूंजी को व्यर्थ बना देता है, जिसमें १ लाख पाउंड की लागत लगी है।"[151] ज़रा कल्पना तो कीजिये। १,००,००० पाउंड की पूंजी को एक क्षण के लिए भी "व्यर्थ" बना दिया गया, तो कितना भारी नुक़सान होगा। सचमुच, यह तो भयानक बात है कि हमारा कोई भी आदमी कभी फ़ैक्टरी छोड़कर जाये! जैसा कि सीनियर ने ऐशवर्थ की यह सीख सुनने के बाद साफ़-साफ़ कहा था, मशीनों का बढ़ता हुआ उपयोग यह "वांछनीय" बना देता है कि काम के दिन को अधिकाधिक लंबा किया जाये।[152]

मशीनें सापेक्ष बेशी मूल्य पैदा करती हैं न केवल इस तरह कि वे श्रम-शक्ति के मूल्य को प्रत्यक्ष रूप से कम कर देती हैं और उसके पुनरुत्पादन में भाग लेनेवाले पण्यों को सस्ता बनाकर अप्रत्यक्ष रूप से ख़ुद उसको भी सस्ता बना देती हैं, बल्कि इस तरह भी कि जब किसी उद्योग में कहीं एकाध जगह पर मशीनों का उपयोग होने लगता है, तब इन मशीनों का मालिक जिस श्रम से काम लेता है, वह अपेक्षाकृत ऊंचे दर्जे और ऊंची कार्य-क्षमता का श्रम बन जाता है, पैदावार का सामाजिक मूल्य उसके व्यक्तिगत मूल्य से कुछ अधिक हो जाता है और इस प्रकार पूंजीपति इस स्थिति में होता है कि एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य दिन भर के उत्पाद के पहले से कम भाग से पूरा कर दे। परिवर्तन के इस काल में, जब मशीनों के इस्तेमाल पर एक तरह से किन्हीं इने-गिने पूंजीपतियों का इजारा होता है, असाधारण ढंग के मुनाफ़े होते हैं और पूंजीपति काम के दिन को भरसक लंबा करके "अपने इस पहले प्यार के वसंत से"

---

[150] इस परिस्थिति का यहां केवल पूर्णता की दृष्टि से ज़िक्र कर दिया गया है, क्योंकि जब तक मैं तीसरी पुस्तक पर नहीं पहुंचता, तब तक मैं मुनाफ़े की दर पर – अर्थात् पेशगी लगायी गयी कुल पूंजी के साथ बेशी मूल्य के अनुपात पर – विचार नहीं करूंगा।

[151] Senior, *Letters on the Factory Act*, London, 1837, pp. 13, 14.

[152] "प्रचल पूंजी के साथ स्थायी पूंजी का अनुपात बहुत ऊंचा होने के कारण... काम के लंबे घंटे वांछनीय हो जाते हैं।" मशीनों, आदि का उपयोग बढ़ जाने पर "लंबे घंटों तक काम कराने की प्रेरणा अधिक बलवती हो जायेगी, क्योंकि यही एक ऐसा तरीक़ा है, जिससे स्थायी पूंजी के एक बड़े भाग को लाभदायक बनाया जा सकता है।" (l.c., pp. 11-14.) "किसी भी मिल के कुछ ख़र्चे ऐसे होते हैं जो, चाहे मिल पूरे समय काम करे या चाहे कम समय तक चले, एक से रहते हैं, जैसे, मिसाल के लिए, लगान, टैक्स और कर, आग का बीमा, अनेक स्थायी कर्मचारियों का वेतन, मशीनों का ह्रास और कारख़ाने के ऐसे अन्य ख़र्चे, जिनका मुनाफ़ों के साथ अनुपात उत्पादन के घटने के साथ-साथ बढ़ता जाता है।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1862*, p. 19.)

अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। मुनाफ़ा जितना ज्यादा होता है, उसकी मुनाफ़ा पाने की भूख भी उतनी ही बढ़ जाती है।

जैसे-जैसे किसी ख़ास उद्योग में मशीनों का उपयोग अधिकाधिक सामान्य होता जाता है, वैसे-वैसे उत्पाद का सामाजिक मूल्य उसके व्यक्तिगत मूल्य के स्तर के निकट आता जाता है और यह नियम अपना ज़ोर दिखाता है कि बेशी मूल्य उस श्रम-शक्ति से पैदा नहीं होता, जिसका स्थान मशीनों ने ले लिया है, बल्कि वह उस श्रम-शक्ति से उत्पन्न होता है, जो सचमुच मशीनों से काम लेने के लिए नियोजित की गयी है। बेशी मूल्य एकमात्र परिवर्ती पूंजी से उत्पन्न होता है; और हम यह देख चुके हैं कि बेशी मूल्य की मात्रा दो बातों पर निर्भर करती है, यानी एक तो बेशी मूल्य की दर पर और दूसरे, जिन मज़दूरों से एक साथ काम लिया जा रहा है, उनकी संख्या पर। यदि काम के दिन की लंबाई पहले से मालूम हो, तो बेशी मूल्य की दर इस बात से निर्धारित होती है कि एक दिन में आवश्यक श्रम तथा बेशी श्रम की तुलनात्मक अवधि कितनी है। उधर, जिन मज़दूरों से एक साथ काम लिया जा रहा है, उनकी संख्या स्थिर पूंजी के साथ परिवर्ती पूंजी के अनुपात पर निर्भर करती है। अब मशीनों के उपयोग से श्रम की उत्पादिता बढ़ जाने के फलस्वरूप आवश्यक श्रम के मुक़ाबले में बेशी श्रम चाहे जितना बढ़ जाये, यह बात साफ़ है कि यह केवल इसी तरह संपन्न होता है कि पूंजी की एक निश्चित मात्रा मज़दूरों की जिस संख्या से काम लेती है, उसमें कमी आ जाती है। जो पहले परिवर्ती पूंजी था और श्रम-शक्ति पर ख़र्च किया गया था, वह अब मशीनों में बदल दिया जाता है, और मशीनें स्थिर पूंजी होने के कारण बेशी मूल्य पैदा नहीं करतीं। मिसाल के लिए, २४ मज़दूरों से जितना बेशी मूल्य चूसा जा सकता है, २ मज़दूरों से उतना चूस पाना संभव नहीं। यदि इन २४ आदमियों में से हरेक १२ घंटे में केवल १ घंटा बेशी श्रम करता है, तो २४ आदमी कुल मिलाकर २४ घंटों के बराबर बेशी श्रम करेंगे, जब कि २४ घंटे का श्रम दो आदमियों का कुल श्रम है। इसलिए बेशी मूल्य के उत्पादन में मशीनों के उपयोग में एक भीतरी विरोध निहित होता है, क्योंकि पूंजी की एक निश्चित मात्रा द्वारा पैदा किया गया बेशी मूल्य जिन दो बातों पर निर्भर करता है, उनमें से एक को – यानी बेशी मूल्य की दर को – उस वक़्त तक नहीं बढ़ाया जा सकता, जब तक कि दूसरी को – यानी मज़दूरों की संख्या को – घटा न दिया जाये। जैसे ही किसी ख़ास उद्योग में मशीनों का आम तौर पर उपयोग होने के फलस्वरूप मशीन से तैयार होनेवाले पण्य का मूल्य उसी प्रकार के अन्य सब पण्यों के मूल्य का नियमन करने लगता है, वैसे ही यह भीतरी विरोध सामने आ जाता है। और फिर यह विरोध ही पूंजीपति को उसके जाने बिना[153] इस बात के लिए मजबूर कर देता है कि वह काम के दिन को हद से ज़्यादा लंबा कर दे, ताकि उसके मज़दूरों की संख्या में जो तुलनात्मक कमी आ गयी है, उसकी क्षति न केवल सापेक्ष बेशी श्रम में, बल्कि निरपेक्ष बेशी श्रम में भी वृद्धि करके पूरी कर दी जाये।

अतः मशीनों के पूंजीवादी उपयोग से यदि एक ओर, काम के दिन को हद से ज्यादा लंबा कर देने की प्रेरणा देनेवाले नये और शक्तिशाली कारण उत्पन्न हो जाते हैं और सामाजिक कार्यकारी संघटन के स्वरूप के साथ-साथ श्रम के तरीक़े भी मौलिक रूप से इस तरह बदल

---

[153] पूंजीपतियों में और उन राजनीतिक अर्थशास्त्रियों में, जिनके दिमाग़ों में पूंजीपतियों के विचार भरे हुए हैं, इस भीतरी विरोध की चेतना क्यों नहीं होती, यह बात तीसरी पुस्तक के प्रथम भाग से स्पष्ट होगी।

जाते हैं कि इस प्रवृत्ति का सारा विरोध ख़त्म हो जाता है, तो दूसरी ओर, उससे कुछ हद तक तो मज़दूर वर्ग के उन नये हिस्सों तक पूंजीपति की पहुंच हो जाने के फलस्वरूप, जिन तक पहले उसकी पहुंच नहीं थी, और कुछ हद तक उन मज़दूरों के मुक्त हो जाने के फलस्वरूप, जिनका स्थान मशीनें ले लेती हैं, काम करनेवालों की एक फ़ालतू आबादी[154] पैदा हो जाती है, जिसे मजबूर होकर पूंजी का हुक्म बजाना पड़ता है। इसीलिए हमें आधुनिक उद्योग के इतिहास में यह विलक्षण बात दिखायी पड़ती है कि काम के दिन को लंबा करने के रास्ते में जितनी नैतिक और प्राकृतिक बाधाएं होती हैं, मशीनें उन सबको हटाकर साफ़ कर देती हैं। इसीलिए हमें यह आर्थिक विरोधाभास दिखायी देता है कि श्रम-काल को छोटा करने का सबसे शक्तिशाली अस्त्र ही मज़दूर और उसके परिवार के समय का एक-एक क्षण पूंजीपति को सौंप देने का सबसे अधिक कारगर अस्त्र बन जाता है, ताकि वह इस समय का अपनी पूंजी के मूल्य का विस्तार करने के लिए उपयोग कर सके। प्राचीन काल के सबसे महान विचारक, अरस्तू का स्वप्न था कि "जिस प्रकार देदेलस की बनायी हुई वस्तुएं अपने आप चला करती थीं, या हेफ़ेस्तोस की तिपाइयां ख़ुद अपने पवित्र कार्य में जुट जाती थीं, उसी प्रकार यदि प्रत्येक औज़ार भी उसके बुलाये जाते ही या यहां तक कि ख़ुद अपनी मर्ज़ी से अपने योग्य काम को पूरा कर दिया करे, यदि बुनकरों की ढरकियां अपने आप बुनाई करने लगें, तो न तो उस्तादों के लिए शागिर्दों की ज़रूरत रहेगी और न ही मालिकों के लिए ग़ुलामों की।"[155] और अनाज पीसने की पनचक्की का आविष्कार सभी प्रकार की मशीनों का प्राथमिक रूप था। सिसेरो के काल के ऐंतीपैत्रोस नामक एक यूनानी कवि ने उस आविष्कार का यह कहकर अभिनंदन किया था कि वह ग़ुलाम स्त्रियों को मुक्त कर देगा और इस प्रकार स्वर्ण-युग वापस ले आयेगा।[156]

---

[154] रिकार्डो का एक सबसे बड़ा गुण यह है कि उन्होंने मशीनों को केवल पण्य तैयार करने के साधन के रूप में ही नहीं देखा, बल्कि उनका यह रूप भी पहचाना कि वे "फ़ालतू आबादी" पैदा करने का साधन होती हैं।

[155] F. Biese, *Die Philosophie des Aristoteles*, Zweiter Band, Berlin, 1842, S. 408.

[156] नीचे मैं इस कविता का स्तौलबर्ग का किया हुआ [जर्मन] अनुवाद दे रहा हूं, क्योंकि श्रम-विभाजन से संबंधित उपर्युक्त उद्धरणों की ही भांति यह कविता भी प्राचीन काल के लोगों और आधुनिक काल के लोगों के विचारों के परस्पर विरोधी स्वरूप को बिलकुल स्पष्ट कर देती है।

"Shonet der mahlenden Hand, o Müllerinnen, und schlafet
Sanft! es verkünde der Hahn euch der Morgen umsonst!
Däo hat die Arbeit der Mädchen, den Nymphen befohlen,
Und itzt hüpfen sie leicht über die Räder dahin,
Daß die erschütterten Achsen mit ihren Speichen sich wälzen,
Und im Kreise die Last drehen des wälsenden Steins.
Laßt uns leben das Leben der Väter, und laßt uns der Gaben
Arbeitslos uns freun, welche die Göttin uns schenkt."

["आटा पीसनेवाली लड़कियो, अब उस हाथ को विश्राम करने दो, जिस से तुम चक्की पीसती हो, और धीरे से सो जाओ! मुर्ग़ा बांग देकर सूरज निकलने का ऐलान करे, तो भी मत उठो! देवी ने अप्सराओं को लड़कियों का काम करने का आदेश दिया है, और अब वे पहियों पर हल्के-हल्के उछल रही हैं, जिससे उनके धुरे आरों समेत घूम रहे हैं और चक्की के भारी पत्थरों को घुमा रहे हैं। आओ, अब हम भी अपने पूर्वजों का सा जीवन बितायें, काम बंद

ये काफ़िर बेचारे! जैसा कि विद्वान बस्तिया ने और उनके पहले उनसे भी अधिक बुद्धिमान मैककुलोच ने पता लगाया था, उस ज़माने के लोगों को राजनीतिक अर्थशास्त्र और ईसाई धर्म का ज़रा भी ज्ञान नहीं था। उदाहरण के लिए, वे यह नहीं समझ पाये थे कि मशीनें काम के दिन को लंबा करने का सबसे सफल साधन होती हैं। वे लोग ग़ुलामी को शायद इस तर्क के आधार पर उचित समझ लेते थे कि एक की ग़ुलामी दूसरे के पूर्ण विकास का साधन है। लेकिन उनको चूंकि ईसाई धर्म की देन नहीं प्राप्त थी, इसलिए जनता की ग़ुलामी का केवल इसलिए समर्थन करने की उनमें क्षमता नहीं हो सकती थी कि उससे चंद असभ्य, अर्ध-शिक्षित नये रईस "प्रसिद्ध कताई करनेवाले", "बड़े पैमाने पर सासेज बनानेवाले" और "प्रभावशाली बूटपालिश बेचनेवाले" बन जायेंगे।

ग) श्रम का और अधिक तीव्र कर दिया जाना

पूंजी के हाथ में आने पर मशीनें काम के दिन को जिस अनुचित ढंग से लंबा कर देती हैं, उसपर समाज की प्रतिक्रिया होती है, जिसके जीवन के स्रोतों के लिए संकट पैदा हो जाता है। और इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप काम का एक साधारण दिन निश्चित होता है, जिसकी लंबाई क़ानून द्वारा तय कर दी जाती है। बस उसी समय से वह चीज़ बहुत महत्त्व प्राप्त कर लेती है, जिसकी हम पहले भी चर्चा कर चुके हैं और जिसे श्रम का तीव्रीकरण कहते हैं। हमने निरपेक्ष बेशी मूल्य का जो विश्लेषण किया था, उसका मूलतया श्रम के प्रसार अथवा उसकी अवधि से संबंध था और उसकी तीव्रता को हम स्थिर मानते रहे थे। अब हम इस विषय पर विचार करेंगे कि अपेक्षाकृत अधिक समय तक किये जानेवाले श्रम का स्थान अपेक्षाकृत अधिक तीव्र श्रम कैसे ले सकता है और किस हद तक ले सकता है।

यह बात स्वतःस्पष्ट है कि जिस अनुपात में मशीनों का उपयोग फैलता जाता है और मशीनों से काम करने के आदी मज़दूरों के एक विशेष वर्ग का अनुभव संचित होता जाता है, वैसे-वैसे उसके एक स्वाभाविक परिणाम के रूप में श्रम की तेज़ी और तीव्रता भी बढ़ती जाती हैं। चुनांचे इंगलैंड में आधी सदी के दौरान काम के दिन की लंबाई बढ़ने के साथ-साथ फ़ैक्टरी-मज़दूरों के श्रम की तीव्रता भी बढ़ती गयी है। फिर भी पाठक यह बात बहुत आसानी से समझ सकेंगे कि जहां कहीं श्रम ठहर-ठहरकर नहीं किया जाता, बल्कि एक अपरिवर्तनीय एकरूपता के साथ रोज़ दोहराया जाता है, वहां अनिवार्य रूप से एक बिंदु ऐसा आयेगा, जब काम के दिन को और लंबा करना तथा श्रम को और तीव्र बनाना, ये दोनों चीज़ें एक दूसरी का इस तरह अपवर्जन कर देंगी कि काम के दिन को लंबा करना केवल उसी हालत में संभव होगा, जब श्रम की तीव्रता कुछ कम कर दी जायेगी, और श्रम की तीव्रता को बढ़ाना केवल उसी हालत में संभव होगा, जब काम का दिन कुछ छोटा कर दिया जायेगा। जब मज़दूर वर्ग के धीरे-धीरे बढ़ते हुए विद्रोह ने संसद को श्रम के घंटों को अनिवार्य रूप से छोटा कर देने के लिए मजबूर कर दिया और जब संसद ने जो सचमुच फ़ैक्टरियां कहला सकती थीं, उनमें काम का एक सामान्य दिन लागू कर दिया, यानी जब काम के दिन को लंबा करके बेशी मूल्य के उत्पा-

---

करके आराम करें और देवी के प्रसाद से लाभ उठायें।"] (*Gedichte aus dem Griechischen übersetzt von Christian Graf zu Stolberg*, Hamburg, 1782 [S. 312.])

दन को बढ़ाना एक बार हमेशा के लिए रोक दिया गया, तो बस उसी क्षण से पूंजी अपनी पूरी ताक़त के साथ मशीनों में जल्दी-जल्दी और सुधार करके सापेक्ष बेशी मूल्य के उत्पादन में जुट गयी। इसके साथ-साथ सापेक्ष बेशी मूल्य के स्वरूप में भी एक परिवर्तन हो गया। मोटे तौर पर सापेक्ष बेशी मूल्य पैदा करने का तरीक़ा यह है कि मजदूर की उत्पादक शक्ति बढ़ा दी जाये, ताकि वह एक निश्चित समय में पहले जितना ही श्रम ख़र्च करके उससे अधिक उत्पाद तैयार कर दिया करे। श्रम-काल अब भी कुल उत्पाद में वही मूल्य स्थानांतरित करता था, परंतु विनिमय-मूल्य की यह अपरिवर्तित मात्रा अब पहले से अधिक उपयोग-मूल्यों पर फैल जाती है; इसलिए हर अकेले पण्य का मूल्य पहले से गिर जाता है। किंतु जब श्रम के घंटों को अनिवार्य रूप से कम कर दिया जाता है, तब स्थिति इससे भिन्न होती है। उससे उत्पादक शक्ति के विकास के लिए और उत्पादन के साधनों में मितव्ययिता बरतने के लिए जो जबर्दस्त बढ़ावा मिलता है, उससे मजदूर के लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह एक निश्चित समय में पहले से अधिक श्रम करे, उससे श्रम-शक्ति का तनाव बढ़ जाता है और काम के दिन के छिद्र पहले से अधिक भर दिये जाते हैं, या यूं कहिये कि श्रम का इस हद तक संघनन कर दिया जाता है, जो केवल काम के छोटे दिन में ही संभव है। इसके बाद से यदि एक निश्चित अवधि में पहले से अधिक मात्रा में श्रम का संघनन हो जाता है, तो उसे वही समझा जाता है, जो वह सचमुच होता है, यानी उसे अधिक मात्रा का श्रम ही समझा जाता है। श्रम के विस्तार की – अर्थात् उसकी अवधि की – एक माप तो पहले ही थी, अब उसके अलावा श्रम की तीव्रता को या उसके संघनन अथवा घनता को भी मापा जाने लगता है।[157] दस घंटे के काम के दिन के पहले से अधिक सघन घंटे में बारह घंटे के काम के दिन के अपेक्षाकृत अधिक सरंध्र घंटे की अपेक्षा अधिक श्रम होता है, अर्थात् उसमें श्रम-शक्ति की अधिक मात्रा ख़र्च होती है। इसलिए इस प्रकार के एक घंटे के उत्पाद में उतना ही या उससे भी अधिक मूल्य होता है, जितना दूसरे प्रकार के $१\frac{१}{५}$ घंटे के उत्पाद में होता है। श्रम की बढ़ी हुई उत्पादिता से उत्पाद में जो वृद्धि होती है, उसके अलावा अब यह अंतर भी आ जाता है कि पहले चार घंटे के बेशी श्रम और आठ घंटे के आवश्यक श्रम से मूल्य की जितनी मात्रा पैदा होती थी, अब उतनी ही मात्रा, मिसाल के लिए, $३\frac{१}{३}$ घंटे के बेशी श्रम और $६\frac{२}{३}$ घंटे के आवश्यक श्रम से पूंजीपति के लिए तैयार हो जाती है।

अब हम इस प्रश्न पर आते हैं कि श्रम को तीव्र कैसे किया जाता है।

काम के दिन को छोटा करने का पहला प्रभाव इस स्वतःस्पष्ट नियम के कारण पैदा होता है कि श्रम-शक्ति की दक्षता उसके ख़र्च की अवधि के प्रतिलोम अनुपात में होती है। इसलिए

---

[157] जाहिर है कि अलग-अलग उद्योगों में श्रम की तीव्रता में सदा अंतर होता है। लेकिन, जैसा कि ऐडम स्मिथ ने सिद्ध करके दिखाया है, इस तरह के अंतर कुछ हद तक हर प्रकार के श्रम की कुछ विशिष्ट, किंतु गौण परिस्थितियों के कारण दूर हो जाते हैं। लेकिन इस सूरत में मूल्य की माप के रूप में श्रम-काल पर केवल उसी हद तक कुछ प्रभाव पड़ता है, जिस हद तक कि श्रम की अवधि और उसकी तीव्रता की मात्रा श्रम की उसी एक मात्रा की दो परस्पर विरोधी एवं परस्पर अपवर्जी अभिव्यंजनाएं होती हैं।

अवधि को कम करने से जो कुछ नुक़सान होता है, वह कुछ सीमाओं के भीतर श्रम-शक्ति के बढ़ते हुए तनाव के फलस्वरूप पूरा हो जाता है। मजदूर सचमुच पहले से अधिक श्रम-शक्ति ख़र्च करेगा, पूंजीपति उसको मज़दूरी देने की विशेष पद्धति के द्वारा उसे सुनिश्चित कर देता है।[158] मिट्टी के बर्तन बनाने के और ऐसे ही अन्य उद्योगों पर, जिनमें मशीनों की कोई भूमिका नहीं होती और यदि होती है, तो बहुत कम, फ़ैक्टरी-अधिनियम के लागू होने से यह बात सिद्ध हो गयी है कि महज़ काम के दिन को छोटा कर देने से श्रम की नियमितता, एकरूपता, व्यवस्था, निरंतरता और स्फूर्ति आश्चर्यजनक रूप से बढ़ जाती हैं।[159] लेकिन जिसको सचमुच फ़ैक्टरी कहा जा सकता है और जहां मशीनों की निरंतर एवं एकरूप गति पर निर्भर रहने के कारण मज़दूर में पहले से ही कठोरतम अनुशासन पैदा हो जाता है, वहां भी काम के दिन को छोटा कर देने का यही प्रभाव हुआ होगा, इसमें काफ़ी संदेह था। इसीलिए १८४४ में जब काम के दिन को छोटा करके बारह घंटे से कम का कर देने के सवाल पर बहस चल रही थी, तो मालिकों ने लगभग एक आवाज़ से यह ऐलान किया था कि "अलग-अलग कमरों में उनके फ़ोरमैन इस बात का पूरा ख़याल रखते हैं कि मज़दूर ज़रा भी वक़्त जाया न करें" तथा "मज़दूर आजकल जिस सतर्कता और ध्यान के साथ काम करते हैं, उसमें मुश्किल से ही कोई वृद्धि हो सकती है" और इसलिए जब तक मशीनों की रफ़्तार और अन्य परिस्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता, तब तक "किसी भी सुव्यवस्थित फ़ैक्टरी में यह आशा करना कि मज़दूरों के ज्यादा ध्यान देने से ही कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकल आयेगा, बिल्कुल बेतुकी बात है।"[160] परंतु विभिन्न प्रयोगों ने इस कथन को झूठा सिद्ध कर दिया। मि० रॉबर्ट गार्डनर ने २० अप्रैल १८४४ को प्रेस्टन में स्थित अपनी दो बड़ी फ़ैक्टरियों में श्रम के घंटे बारह से घटाकर ग्यारह घंटे रोज़ाना कर दिये थे। साल भर तक इस तरह काम करने का नतीजा यह निकला कि "पहले जितनी ही पैदावार हुई और उसमें पहले जितनी ही लागत लगी, और मज़दूर पहले बारह घंटे में जितनी मज़दूरी कमाते थे, वही मज़दूरी उन्होंने ग्यारह घंटे में कमा ली।"[161] कताई और धुनाई के विभागों में जो प्रयोग किये गये, उनकी मैं यहां चर्चा नहीं करूंगा, क्योंकि उनके साथ-साथ मशीनों की चाल भी २ प्रतिशत बढ़ा दी गयी थी। परंतु बुनाई-विभाग में, जहां पर हम यह भी बता दें कि बहुत कामदार और बढ़िया सामान तैयार होता है, काम की परिस्थितियों में ज़रा सा भी परिवर्तन नहीं हुआ था। वहां पर इस प्रयोग का यह नतीजा निकला: "६ जनवरी से २० अप्रैल १८४४ तक बारह घंटे के दिन के अनुसार काम हुआ और हर मज़दूर की औसत साप्ताहिक मज़दूरी १० शिलिंग १$\frac{१}{२}$ पेंस बैठी; २० अप्रैल से २६ जून १८४४ तक ग्यारह घंटे के दिन के अनुसार काम किया गया और तब औसत

[158] ख़ास तौर पर कार्यानुसार मज़दूरी की प्रणाली के द्वारा। इस पद्धति का अध्ययन हम इस पुस्तक के भाग ६ में करेंगे।

[159] देखिये *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1865.*

[160] *Reports of Insp. of Fact. for 1844 and the quarter ending 30th April 1845*, pp. 20-21.

[161] l.c., p. 19; कार्यानुसार मज़दूरी की दर में चूंकि कोई परिवर्तन नहीं हुआ था, इस-लिए साप्ताहिक मज़दूरी पैदावार की मात्रा पर निर्भर करती थी।

साप्ताहिक मज़दूरी १० शिलिंग $3\frac{1}{2}$ पेंस बैठी।"[162] यहां पर पहले बारह घंटे में जितनी पैदावार होती थी, ग्यारह घंटे में उससे ज़्यादा पैदावार हुई, और वह पूर्णतया इस कारण हुई कि मज़दूरों ने अधिक लगन के साथ काम किया और समय का मितव्ययिता के साथ उपयोग किया। उनको यदि पहले जितनी मज़दूरी और एक घंटे का अधिक अवकाश मिला, तो पूंजी-पति के लिए पहले जितनी ही पैदावार तैयार हो गयी और साथ ही एक घंटे में जितना कोयला, गैस तथा अन्य वस्तुएं ख़र्च होती थीं, उनकी बचत हो गयी। मेसर्स होराक्स एण्ड जेक्सन की मिलों में भी इसी प्रकार के प्रयोग किये गये और उनमें भी समान रूप से सफलता मिली।[163]

श्रम के घंटों को कम कर देने से सबसे पहले तो श्रम के संघनन के लिए आवश्यक मनोगत परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं, क्योंकि उसके बाद मज़दूर एक निश्चित समय में पहले से अधिक शक्ति ख़र्च कर सकता है। जैसे ही श्रम के घंटे अनिवार्य रूप से कम कर दिये जाते हैं, वैसे ही मशीनें पूंजी के हाथों में एक निश्चित समय में नियमित रूप से पहले से अधिक श्रम कराने का वस्तुगत साधन बन जाती हैं। यह दो तरह से किया जाता है: मशीनों की रफ़्तार बढ़ाकर और एक मज़दूर को पहले से अधिक मशीनों पर लगाकर। मशीनों की बनावट में भी सुधार करना आवश्यक होता है। कुछ हद तक तो इसलिए कि उसके बग़ैर मज़दूर पर पहले से ज़्यादा दबाव नहीं डाला जा सकता, और कुछ हद तक इसलिए कि श्रम के घंटों में कमी हो जाने के फलस्वरूप पूंजीपति को उत्पादन के ख़र्च पर ज़्यादा से ज़्यादा कड़ी नज़र रखनी पड़ती है। भाप के इंजन में जो सुधार हुए हैं, उनसे पिस्टन की रफ़्तार बढ़ गयी है और साथ ही यह मुमकिन हो गया है कि उसी इंजन में पहले जितना या उससे भी कम कोयला ख़र्च करते हुए पहले से अधिक संख्या में मशीनें चलायी जायें। यह शक्ति के ख़र्च में पहले से अधिक मितव्ययिता बरतने के कारण संभव होता है। प्रेषण तंत्र में जो सुधार हुए हैं, उन्होंने घर्षण को कम कर दिया है, और – जो आधुनिक मशीनों और पुरानी मशीनों का सबसे उल्लेखनीय भेद है – इन सुधारों ने धुरा तंत्र के व्यास और भार को घटाकर एक अल्पतम स्तर पर पहुंचा दिया है, जो अधिकाधिक कम होता जाता है। अंतिम बात यह है कि कार्यकारी मशीनों में जो सुधार हुए हैं, उन्होंने इन मशीनों के आकार को कम करने के साथ-साथ उनकी रफ़्तार तथा दक्षता को बढ़ा दिया है, जैसा कि शक्ति से चलनेवाले आधुनिक करघे में हुआ है, या उनके ढांचे के आकार को बढ़ाने के साथ-साथ उनके कार्यकारी पुर्ज़ों की संख्या तथा विस्तार में भी वृद्धि कर दी है, जैसा कि कताई करनेवाले म्यूलों में हुआ है; या उन्होंने इन कार्यकारी पुर्ज़ों में अति सूक्ष्म तब्दीलियां करके उनकी रफ़्तार बढ़ा दी है। मिसाल के लिए, दस साल पहले स्वचालित म्यूलों में इसी तरह की तब्दीलियों के फलस्वरूप तकुओं की रफ़्तार में $\frac{1}{5}$ की वृद्धि हो गयी थी।

---

[162] *Reports of Insp. of Fact. for 1844 and the quarter ending 30th April 1845*, p. 20

[163] l.c., p. 21. इन प्रयोगों में नैतिक तत्त्व की भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। मज़दूरों ने फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर को बताया: "अब हम ज़्यादा उत्साह से काम करते हैं, अब इस पुरस्कार की आशा सदा हमें प्रोत्साहित करती रहती है कि रात को हम जल्दी घर लौट सकेंगे; और धागे जोड़नेवाले सबसे कमसिन लड़के से लेकर सबसे बूढ़े मज़दूर तक पूरी मिल में ज़िंदादिली का वातावरण रहता है और हम सब एक दूसरे की बहुत मदद करते हैं।"

इंगलैंड में १८३२ में काम के दिन को घटाकर बारह घंटे का किया गया था। १८३६ में एक कारखानेदार ने कहा : "तीस या चालीस बरस पहले की तुलना में... अब फ़ैक्टरियों में कहीं अधिक श्रम किया जाता है। इसका कारण यह है गिक मशीनों की रफ़्तार बहुत ज्यादा बढ़ा दी गयी है, और उसकी वजह से अब मजदूरों को पहले से कहीं अधिक ध्यान लगाकर काम करना पड़ता है और अधिक क्रियाशीलता दिखानी पड़ती है।"[164] १८४४ में लार्ड ऐशले ने, जो अब लार्ड शैफ़्ट्सबरी कहलाते हैं, हाउस आफ़ कामन्स में निम्नलिखित बातें कहीं थीं और उनके समर्थन में लिखित प्रमाण पेश किये थे: "औद्योगिक प्रक्रियाओं में लगे हुए लोग इन प्रक्रियाओं के शुरू के दिनों की अपेक्षा आजकल तिगुना अधिक काम करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि मशीनों ने जो काम पूरा कर दिखाया है, उसके लिए करोड़ों मनुष्यों की मांस-पेशियों की ताक़त की जरूरत होती। किंतु इसके साथ-साथ मशीनों ने उन लोगों के श्रम को भी बहुत अधिक बढ़ा दिया है, जो उनकी डरावनी हरकतों के ताबे रहते हैं... यदि १२ घंटे के काम के दिन के अनुसार हिसाब लगाया जाये, तो १८१५ में नं० ४० के सूत की कताई करनेवाले एक जोड़ी म्यूलों का अनुसरण करने में ८ मील पैदल चलना पड़ता था। १८३२ में इसी नंबर के सूत का धागा तैयार करनेवाले एक जोड़ी म्यूलों का अनुसरण करने में २० मील और अकसर उससे भी ज्यादा चलना आवश्यक हो गया था। १८२५ में कताई करनेवाला मजदूर प्रत्येक म्यूल पर रोजाना ८२० बार धागा तानता था, यानी प्रत्येक दिन उसे कुल १,६४० बार धागा तानना पड़ता था। १८३२ में वह हर म्यूल पर २,२०० बार, यानी दिन भर में कुल ४,४०० बार, धागा तानता था। १८४४ में उसे प्रत्येक म्यूल पर २,४०० बार, यानी कुल ४,८०० बार, धागा तानना पड़ता है, और कहीं-कहीं पर तो इससे भी अधिक मात्रा में श्रम की आवश्यकता होती है... १८४२ में एक और दस्तावेज मेरे पास आयी, जिसमें लिखा था कि श्रम अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है, और वह केवल इसलिए नहीं कि मजदूर को पहले से अधिक दूरी तक चलना पड़ता है, बल्कि इसलिए भी कि अब पहले से कहीं अधिक मात्रा में पैदावार तैयार होती है और उसके अनुपात में मजदूरों की संख्या पहले से बहुत कम रह गयी है; और इसके अलावा इसका यह कारण भी है कि अब अकसर पहले से घटिया क़िस्म की कपास की कताई की जाती है, जिसके साथ काम करना अधिक कठिन होता है... धुनाई-विभाग के श्रम में भी बहुत वृद्धि हो गयी है। वहां जो काम पहले दो व्यक्तियों के बीच बंटा रहता था, उसे अब एक व्यक्ति करता है। बुनाई-विभाग में, जहां बहुत बड़ी तादाद में आदमी काम करते हैं और उनमें भी स्त्रियों की संख्या अधिक होती है... पिछले चंद सालों में कताई करनेवाली मशीन की बढ़ी हुई रफ़्तार के कारण श्रम में पूरे १० प्रतिशत की वृद्धि हो गयी है। १८३८ में हर हफ़्ते १८,००० लच्छे सूत काता जाता था, १८४३ में २१,००० लच्छे सूत काता जाने लगा था। १८१६ में शक्ति से चलनेवाले करघे से जो बुनाई की जाती थी, उसमें प्रति मिनट ६० फंदे डाले जाते थे,—१८४२ में १४० फंदे डाले जाने लगे थे, जिससे पता चलता है कि श्रम में कितनी भारी वृद्धि हो गयी थी।"[165]

---

[164] John Fielden, *The Curse of the Factory System*, London, 1836, p. 32.

[165] Lord Ashley, *The Ten Hours' Factory Bill. Speech of the 15th March*, London, 1844, pp.6-9.

बारह घंटों के क़ानून के मातहत १८४४ में ही श्रम की तीव्रता जिस ऊंचे स्तर पर पहुंच गयी थी, उसे देखते हुए अंग्रेज कारख़ानेदारों का यह कथन उचित प्रतीत होता था कि इस दिशा में अब और प्रगति करना असंभव है और इसलिए अब यदि श्रम के घंटों में और कमी की जायेगी, तो हर कमी का मतलब होगा पहले से कम उत्पादन। उनकी दलीलें स्पष्टतया कितनी सही मालूम होती थीं, यह कारख़ानेदारों पर सदैव कड़ी निगाह रखनेवाले फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर लेनर्ड हॉर्नर के उसी काल के निम्नलिखित वक्तव्य से प्रकट हो जाता है :

"अब चूंकि उत्पाद की मात्रा मुख्यतया मशीनों की रफ़्तार पर निर्भर करती है, इसलिए मिल-मालिक का हित इसमें है कि वह मशीनों को ज्यादा से ज्यादा तेज़ रफ़्तार से चलाये, पर निम्नलिखित बातों का सदा ध्यान रखे: मशीनों को बहुत जल्दी ख़राब हो जाने से बचाया जाये; जो सामान तैयार किया जा रहा हो, उसका स्तर न गिरे; और मज़दूर मशीन की गति का अनुसरण करने में लगातार जितनी ताक़त ख़र्च कर सकता है, उसे उससे ज्यादा ताक़त न ख़र्च करनी पड़े। इसलिए किसी भी फ़ैक्टरी के मालिक को जिन सबसे महत्त्वपूर्ण समस्याओं को हल करना पड़ता है, उनमें से एक यह मालूम करना होता है कि ऊपर बतायी गयी बातों का ख़याल रखते हुए वह ज्यादा से ज्यादा किस रफ़्तार से अपनी मशीनों को चला सकता है। अकसर वह पाता है कि वह अपनी मशीनों को हद से ज्यादा तेज़ रफ़्तार पर चलाने लगा है और उनकी बढ़ी हुई रफ़्तार से जो फ़ायदा होता है, टूट-फूट और ख़राब काम के फलस्वरूप उससे कहीं ज्यादा नुक़सान हो जाता है, और इसलिए उसे रफ़्तार कम करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। चुनांचे मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि चूंकि एक सक्रिय एवं बुद्धिमान मिल-मालिक यह पता लगा लेगा कि मशीनों की निरापद रफ़्तार ज्यादा से ज्यादा क्या हो सकती है, तो ग्यारह घंटे में बारह घंटे के बराबर उत्पाद तैयार करना संभव न होगा। इसके अलावा मैंने यह भी ख़ुद ही मान लिया कि जिस मज़दूर को कार्यानुसार मज़दूरी मिलती है, वह ज्यादा से ज्यादा ज़ोर लगाकर काम करेगा, बशर्ते कि उसमें लगातार इसी रफ़्तार से काम करने की शक्ति हो।"[166] अतएव हॉर्नर इस परिणाम पर पहुंचे कि यदि काम के घंटों को बारह से कम किया जायेगा, तो उत्पादन अनिवार्य रूप से घट जायेगा।[167] इसके दस वर्ष बाद उन्होंने १८४५ के अपने मत का हवाला देते हुए बताया कि उस वर्ष उन्होंने मशीनों की और मनुष्य की श्रम-शक्ति के लचीलेपन को कितना कम करके आंका था, हालांकि असल में काम के दिन को अनिवार्य रूप से छोटा करके इन दोनों को एक साथ उनकी चरम सीमा तक खींचा जाता है।

अब हम उस काम पर आते हैं, जो १८४७ में इंगलैंड की सूती, ऊनी, रेशमी और पटसन की मिलों में दस घंटे का क़ानून लागू हो जाने के बाद आरंभ हुआ।

"तकुओं की रफ़्तार में थ्रोसलों में ५०० और म्यूलों में १,००० परिक्रमण प्रति मिनट की वृद्धि हो गयी है, अर्थात् थ्रोसल-तकुए की रफ़्तार, जो १८३६ में ४,५०० बार प्रति मिनट थी, अब (१८६२ में) ५,००० बार प्रति मिनट हो गयी है, और म्यूल-तकुए की रफ़्तार, जो पहले ५,००० थी, अब ६,००० बार प्रति मिनट हो गयी है। इस तरह थ्रोसल-तकुए की रफ़्तार में $\frac{१}{१०}$ और म्यूल-तकुए की रफ़्तार में $\frac{१}{५}$ की वृद्धि हो गयी है।"[168] मैंचेस्टर के

---

[166] *Reports of Insp. of Fact. for quarter ending 30th September 1844, and from 1st October 1844 to 30th April 1845*, p. 20.

[167] l.c., p. 22.

[168] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1862*, p. 62.

नज़दीक पैट्रिक्रोफ़्ट के प्रसिद्ध सिविल इंजीनियर जेम्स नाज़मिथ ने १८५२ में लेनर्ड हॉर्नर को एक ख़त लिखकर यह समझाया था कि १८४८ और १८५२ के बीच भाप के इंजन में किस प्रकार के सुधार हो गये थे। यह बताने के बाद कि भाप के इंजनों की अश्वशक्ति का सरकारी काग़ज़ों में सदा १८२८ के इसी प्रकार के इंजनों की अश्वशक्ति के आधार पर अनुमान लगाया जाता है[169] और इसलिए वह केवल नाममात्र की अश्वशक्ति होती है और उनकी वास्तविक अश्वशक्ति की ओर केवल संकेत ही कर सकती है, उन्होंने आगे कहा: "मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि पहले ही जितने वज़न की भाप के इंजन वाली मशीनों से आजकल हम औसतन कम से कम ५० प्रतिशत अधिक काम ले रहे हैं और भाप के जिन इंजनों से २२० फ़ुट प्रति मिनट की सीमित रफ़्तार के दिनों में ५० अश्वशक्ति मिल पाती थी, ठीक उन्हीं इंजनों से बहुत सी जगहों में आजकल १०० अश्वशक्ति से भी अधिक मिल जाती है..." "१०० अश्वशक्ति के भाप के आधुनिक इंजन को अब पहले से कहीं अधिक ज़ोर के साथ चलाया जा सकता है। यह उसकी बनावट तथा बायलरों की बनावट और धारिता, आदि से संबंधित सुधारों का परिणाम है..." "यद्यपि अश्वशक्ति के अनुपात में अब भी पहले जितने मज़दूरों से काम लिया जाता है, मशीनों के अनुपात में अब पहले से कम मज़दूरों से काम लिया जाता है।"[170] "१८५० में ब्रिटेन की फ़ैक्टरियों में २,५६,३८,७१६ तकुओं और ३,०१,४४५ करघों में गति पैदा करने के लिए नाममात्र की १,३४,२१७ अश्वशक्ति का उपयोग किया जाता था। १८५६ में तकुओं और करघों की संख्या क्रमशः ३,३५,०३,५८० और ३,६९,२०५ थी। यह मानकर कि नाममात्र की एक अश्वशक्ति में १८५६ में भी वही बल था, जो १८५० में था, इतने तकुओं और करघों के लिए १,७५,००० अश्वों के बराबर शक्ति की आवश्यकता होती; परंतु १८५६ के विवरण से पता चलता है कि असल में केवल १,६१,४३५ अश्वशक्ति इस्तेमाल हुई थी। १८५० के विवरण के आधार पर हिसाब लगाते हुए १८५६ में फ़ैक्टरियों को जितनी अश्वशक्ति की आवश्यकता होनी चाहिए थी, यह उससे १०,००० अश्वशक्ति कम थी।[171]" "इस प्रकार (१८५६ के) विवरण से जो तथ्य सामने आते हैं, उनसे पता चलता है कि फ़ैक्टरी-व्यवस्था तेज़ी के साथ बढ़ रही है; अश्वशक्ति के अनुपात में यद्यपि अब भी पहले जितने ही मज़दूरों से काम लिया जाता है, पर मशीनों के अनुपात में पहले से कम मज़दूरों से काम लिया जाता है; और शक्ति का मितव्ययितापूर्ण प्रयोग तथा अन्य तरीक़ों के फलस्वरूप अब भाप के इंजन से

---

[169] १८६२ के *Parliamentary Return* में यह चीज़ बदल दी गयी थी। उसमें आधुनिक भाप के इंजनों और पनचक्कियों की नाममात्र की अश्वशक्ति के स्थान पर उनकी वास्तविक अश्वशक्ति दी गयी थी। इसके अलावा अब धागे को दोहरा करनेवाले तकुओं को कताई करनेवाले तकुओं में नहीं शामिल किया जाता (जैसा कि १८३९, १८५० और १८५६ के *Returns* में किया गया था); इसके अलावा ऊनी मिलों के विवरण में रोएं उठानेवाली मशीनों की संख्या भी जोड़ दी गयी है; एक तरफ़, पाट और सन की मिलों में और दूसरी तरफ़, फ़्लैक्स की मिलों में भेद किया गया है; और अंतिम बात यह कि रिपोर्ट में मोज़ों की बुनाई को पहली बार शामिल किया गया है।

[170] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1856*, pp. 14, 20.

[171] l.c., pp. 14-15.

पहले से अधिक भारी मशीनों को चलाया जा सकता है, और मशीनों में तथा उद्योग के तरीक़ों में सुधार करके, मशीनों की रफ़्तार बढ़ाकर और तरह-तरह की अन्य तरक़ीबों से पहले से अधिक मात्रा में काम निकाला जा सकता है।"[172]

"हर प्रकार की मशीनों में जो बड़े-बड़े सुधार हो गये हैं, उनसे उनकी उत्पादक शक्ति बहुत बढ़ गयी है। इसमें संदेह नहीं कि श्रम के घंटों में कमी कर दिये जाने से... इन सुधारों को बढ़ावा मिला है। इन सुधारों का और साथ ही मज़दूर को जो पहले से अधिक कड़ी मेहनत करनी पड़ रही है, उसका यह परिणाम हुआ है कि पहले से छोटे (पहले से दो घंटे कम या $\frac{१}{६}$ छोटे) काम के दिन में अब कम से कम उतना उत्पाद ज़रूर तैयार हो जाता है, जितना पहले अधिक लंबे काम के दिन में तैयार हुआ करता था।"[173]

श्रम-शक्ति का अधिक तीव्र शोषण करने के साथ-साथ कारख़ानेदारों की दौलत कितनी अधिक बढ़ गयी थी, यह जानने के लिए केवल एक तथ्य को जान लेना काफ़ी है। वह यह कि जहां १८३८ से १८५० तक इंगलैंड की सूती मिलों तथा अन्य फ़ैक्टरियों में ३२ प्रतिशत की औसत सानुपातिक वृद्धि हुई थी, वहां १८५० से १८५६ तक उनमें ८६ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

लेकिन १८४८ से १८५६ तक दस घंटे के काम के दिन के प्रभाव के कारण इंगलैंड के उद्योगों ने चाहे जितनी प्रगति की हो, वह १८५६ से १८६२ तक के अगले ६ सालों की प्रगति के मुक़ाबले में कुछ भी नहीं थी। मिसाल के लिए, रेशम की फ़ैक्टरियों में १८५६ में १०,९३,७९९ तकुए थे, १८६२ में उनकी संख्या १३,८८,५४४ हो गयी; १८५६ में उनमें ९,२६० करघे थे, १८६२ में उनकी संख्या १०,७०९ हो गयी। लेकिन मजदूरों की संख्या, जो १८५६ में ५६,१३१ थी, १८६२ में ५२,४२९ रह गयी। इसलिए तकुओं की संख्या में २६,९ प्रतिशत और करघों की संख्या में १५.६ की वृद्धि हुई, पर मजदूरों की संख्या में ७ प्रतिशत की कमी हो गयी। १८५० में वर्स्टेड मिलों में ८,७५,८३० तकुओं से काम लिया जा रहा था, १८५६ में उनकी संख्या १३,२४,५४९ हो गयी (यानी ५१.२ प्रतिशत की वृद्धि हुई) और १८६२ में यह संख्या १२,८९,१७२ रह गयी (यानी २.७ प्रतिशत की कमी आ गयी)। लेकिन दोहरा धागा बटनेवाले जो तकुए १८५६ की संख्या में तो शामिल हैं, पर १८६२ की संख्या में शामिल नहीं हैं, यदि उनको हम अलग कर दें, तो पता लगेगा कि १८५६ के बाद तकुओं की संख्या लगभग स्थिर रही है। दूसरी ओर, १८५० के बाद तकुओं और करघों की रफ़्तार बहुत से मामलों में दुगुनी कर दी गयी थी। वर्स्टेड मिलों में जो पावरलूम इस्तेमाल किये जाते हैं, उनकी संख्या १८५० में ३२,६१७ थी, १८५६ में ३८,९५६ और १८६२ में ४३,०४८। मज़दूरों की संख्या १८५० में ७९,७३७; १८५६ में ८७,७९४ और १८६२ में ८६,०६३ थी। इनमें शामिल १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चों की संख्या १८५० में ९,९५६, १८५६ में ११,२२८ और १८६२ में १३,१७८ थी। इसलिए इस बात के बावजूद कि १८५६ की अपेक्षा १८६२

---

[172] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1856*, p. 20.

[173] *Reports etc. for 31st October 1858*, pp. 9-10; *Reports etc. for 30th April 1860*, p. 30, sqq. से तुलना कीजिये।

में करघों की संख्या बहुत बढ़ गयी थी, मज़दूरों की कुल संख्या घट गयी थी और शोषित बच्चों की संख्या में वृद्धि हो गयी थी।[174]

२७ अप्रैल १८६३ को मि० फ़ेरॉण्ड ने हाउस ग्राफ़ कामन्स में कहा था: "लंकाशायर और चेशायर के १६ डिस्ट्रिक्टों के जिन प्रतिनिधियों की ओर से मैं यहां बोल रहा हूं, उन्होंने मुझे सूचना दी है कि मशीनों में जो सुधार हुए हैं, उनके फलस्वरूप फ़ैक्टरियों में काम लगातार बढ़ता जा रहा है। पहले एक आदमी दो सहायकों की मदद से दो करघों पर काम करता था; अब इसके बजाय एक आदमी बिना किसी सहायक के तीन करघों पर काम करता है, और एक आदमी का चार करघों को संभालना भी कोई बहुत असाधारण बात नहीं है। ऊपर जो तथ्य दिये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि बारह घंटे का काम अब १० घंटे से कम में ही पूरा हो जाता है। इसलिए यह स्वतःस्पष्ट है कि पिछले १० सालों में फ़ैक्टरी में काम करनेवाले मज़दूर का श्रम कितना अधिक बढ़ गया है।"[175]

इसलिए हालांकि फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर १८४४ और १८५० के अधिनियमों के परिणामों की सदा प्रशंसा ही करते हैं और उनका प्रशंसा करना न्यायसंगत भी है, परंतु साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि श्रम के घंटों में कमी करने के फलस्वरूप श्रम अभी से इतना अधिक तीव्र कर दिया गया है कि उससे मज़दूर के स्वास्थ्य को और उसकी काम करने की क्षमता को हानि पहुंचने लगी है। "अधिकतर सूती मिलों, वर्स्टेड मिलों और रेशम की मिलों में पिछले चंद सालों में मशीनों की गति बहुत तेज़ कर दी गयी है, और उनपर संतोषजनक ढंग से काम करने के लिए जो उत्तेजित मनःस्थिति आवश्यक होती है, वह आदमी को एकदम थका डालती है। मुझे लगता है कि डा० ग्रीनहाऊ ने फेफड़ों की बीमारी से मरनेवालों की हद से ज्यादा बढ़ी हुई जिस संख्या की ओर इस विषय की अपनी हाल की एक रिपोर्ट में संकेत किया है, उसका एक कारण यह उत्तेजित मनःस्थिति भी हो, तो कोई आश्चर्य न होगा।"[176] इसमें तनिक भी संदेह नहीं किया जा सकता कि श्रम के घंटों को लंबा करने की एक बार हमेशा के लिए मनाही हो जाने के बाद जो प्रवृत्ति तुरंत ही पूंजीपति को विधिपूर्वक श्रम की तीव्रता बढ़ाकर अपनी क्षति-पूर्ति करने के लिए मजबूर कर देती है और जो प्रवृत्ति उसे मशीनों में होनेवाले प्रत्येक

---

[174] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1862*, pp. 100, 130.

[175] दो आधुनिक पावरलूम पर आजकल एक बुनकर ६० घंटे के एक सप्ताह में एक ख़ास क़िस्म, लंबाई और चौड़ाई के २६ टुकड़े तैयार करता है, जब कि पुराने पावरलूमों पर वह ४ टुकड़ों से ज्यादा नहीं तैयार कर पाता था। इस तरह के कपड़े का एक टुकड़ा बुनने का ख़र्च १८५० के बाद ही २ शिलिंग ९ पेंस से घटकर ५$\frac{१}{८}$ पेंस रह गया था।

"तीस वर्ष पहले" (१८४१ में) "धागे जोड़नेवाले तीन आदमियों के साथ कताई करनेवाले एक मज़दूर को ३०० से ३२४ तकुओं तक के एक जोड़ी म्यूलों से अधिक पर काम नहीं करना पड़ता था। इस वक़्त" (१८७१ में) "उसे धागे जोड़नेवाले पांच आदमियों की मदद से २,२०० तकुओं की ओर ध्यान देना पड़ता है, और १८४१ में वह जितना सूत तैयार किया करता था, अब उससे कम से कम सात गुना अधिक सूत उसे तैयार करना पड़ता है।" (ए० रेडग्रेव, फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर, *Journal of the Society of Arts*, 5th January 1872.)

[176] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1861*, pp. 25, 26.

सुधार को मजदूर को चूस डालने के अधिक कारगर साधन में बदल देने के लिए विवश कर देती है, वही प्रवृत्ति शीघ्र ही एक ऐसी हालत अनिवार्य रूप से पैदा कर देगी, जिसमें श्रम के घंटों को फिर से घटाना जरूरी हो जायेगा।[177] इंगलैंड के उद्योगों ने १८३३ से १८४७ तक, जब कि काम का दिन १२ घंटे का था, जो प्रगति की थी, उसने फ़ैक्टरी-व्यवस्था के पहले-पहल चालू होने के बाद के उन पचास वर्षों की प्रगति को बहुत पीछे छोड़ दिया था, जब कि काम के दिन की कोई सीमा नहीं थी। लेकिन १८४८ से अब तक १० घंटे के दिन के फलस्वरूप उद्योगों ने जो उन्नति की है, उसने १८३३ से १८४७ तक के १२ घंटे के जमाने की प्रगति को और भी अधिक पीछे छोड़ दिया है।[178]

---

[177] लंकाशायर के फ़ैक्टरी-मजदूरों में अब (१८६७ में) ८ घंटे के काम के दिन का आंदोलन शुरू हो गया है।

[178] नीचे दिये हुए कुछ आंकड़ों से पता चलेगा कि १८४८ से अब तक ब्रिटेन की फ़ैक्टरियों में कितनी वृद्धि हुई है:

	निर्यातित मात्रा			
	१८४८	१८५१	१८६०	१८६५
कपास				
	पाउंड	पाउंड	पाउंड	पाउंड
सूत	१३,५८,३१,१६२	१४,३६,६६,१०६	१९,७३,४३,६५५	१०,३७,५१,४५५
		पाउंड	पाउंड	पाउंड
सीने का धागा .	—	४३,९२,१७६	६२,९७,५५४	४६,४८,६११
	गज	गज	गज	गज
सूती कपड़ा . .	१,०९,१३,७३,९३०	१,५४,३१,६१,७८९	२,७७,६२,१८,४२७	२,०१,५२,३७,८५१
फ़्लैक्स और सन				
	पाउंड	पाउंड	पाउंड	पाउंड
धागा . . .	१,१७,२२,१८२	१,८८,४१,३२६	३,१२,१०,६१२	३,६७,७७,३३४
	गज	गज	गज	गज
कपड़ा. . . .	८,८९,०१,५१९	१२,९१,०६,७५३	१४,३९,९६,७७३	२४,७०,१२,५२९
रेशम				
	पाउंड	पाउंड	पाउंड	पाउंड
धागा. . . .	४,६६,८२५	४,६२,५१३	८,९७,४०२	८,१२,५८९
	गज	गज	गज	गज
कपड़ा . . .	—	११,८१,४५५	१३,०७,२९३	२८,६९,८३७

	१८४८	१८५१	१८६०	१८६५
ऊन				
ऊनी धागा और बटा हुआ धागा . .		पाउंड	पाउंड	पाउंड
	—	१,४६,७०,८८०	२,७५,३३,९६८	३,१६,६६,२६७
		गज़	गज़	गज़
कपड़ा .	—	१५,१२,३१,१५३	१९,०३,७१,५०७	२७,८८,३७,४१८

निर्यातित मूल्य

कपास	पाउंड	पाउंड	पाउंड	पाउंड
सूत	५९,२७,८३१	६६,३४,०२६	९८,७०,८७५	१,०३,५१,०४९
कपड़ा	१,६७,५३,३६९	२,३४,५४,८१०	४,२१,४१,५०५	४,६९,०३,७९६
फ़्लैक्स और सन				
धागा.	४,९३,४४९	९,५१,४२६	१८,०१,२७२	२५,०५,४९७
कपड़ा . . .	२८,०२,७८९	४१,०७,३९६	४८,०४,८०३	९१,५५,३५८
रेशम				
धागा . .	७७,७८९	१,९६,३८०	८,२६,१०७	७,६८,०६४
कपड़ा .	—	११,३०,३९८	१५,८७,३०३	१४,०९,२२१
ऊन				
धागा	७,७६,९७५	१४,८४,५४४	३८,४३,४५०	५४,२४,०४७
कपड़ा.	५७,३३,८२८	८३,७७,१८३	१,२१,५६,९९८	२,०१,०२,२५९

ये सरकारी प्रकाशन देखिये: *Statistical Abstract for the United Kingdom*, No. 8 and No.13, London, 1861 and 1866.

लंकाशायर में मिलों की संख्या में १८३९ और १८५० के बीच केवल ४ प्रतिशत की, १८५० और १८५६ के बीच १९ प्रतिशत की और १८५६ तथा १८६२ के बीच ३३ प्रतिशत की वृद्धि हुई, जब कि ग्यारह-ग्यारह वर्ष के इन दोनों कालों में से प्रत्येक में मज़दूरों की संख्या निरपेक्ष दृष्टि से तो बढ़ गयी, मगर सापेक्ष दृष्टि से घट गयी। (देखिये *Reports of Insp. of. Fact. for 31st October 1862*, p. 63.) लंकाशायर में सूती धंधे का ज़ोर है। इस डिस्ट्रिक्ट में सूती धंधे का आकार कितना विशाल है, इसका कुछ आभास हमें इस बात से मिल सकता है कि ब्रिटेन में कपड़े की कुल जितनी फ़ैक्टरियां हैं, उनका ४५.२ प्रतिशत भाग, तकुओं का ८३.३ प्रतिशत भाग, शक्ति से चलनेवाले करघों का ८१.४ प्रतिशत भाग, यांत्रिक अश्वशक्ति का ७२.६ प्रतिशत भाग और कपड़े के धंधे में काम करनेवाले तमाम मज़दूरों का ५८.२ प्रतिशत भाग यहां केंद्रित है। (l.c., pp. 62-63.)

अनुभाग ४ – फ़ैक्टरी

इस अध्याय के शुरू में हमने उस चीज़ का अध्ययन किया था, जिसे हम फ़ैक्टरी का शरीर कह सकते हैं, अर्थात् वहां हमने एक प्रणाली के रूप में संगठित मशीनों का अध्ययन किया था। वहां हमने देखा था कि मशीनें स्त्रियों और बच्चों के श्रम पर अधिकार करके किस प्रकार उन मनुष्यों की संख्या में वृद्धि कर देती हैं, जो पूंजीवादी शोषण की सामग्री बन जाते हैं; वे किस तरह श्रम के घंटों को अनुचित ढंग से बढ़ाकर मज़दूर के उस सारे समय को हड़प जाती हैं, जिसे वह बेच सकता है; और अंत में मशीनों की उन्नति, जिसके कारण अधिकाधिक कम समय में उत्पादन में भारी वृद्धि कर देना संभव होता है, किस प्रकार मज़दूर से विधिपूर्वक अपेक्षाकृत कम समय में अधिक काम कराने – या श्रम-शक्ति का अधिक तीव्र शोषण करने – का साधन बन जाती है। यहां हम समग्रतः फ़ैक्टरी और उसके सबसे अधिक विकसित रूप पर विचार करेंगे।

स्वचालित फ़ैक्टरी का यशगान करनेवाले डा० यूर ने उसका एक ओर, इस तरह वर्णन किया है कि फ़ैक्टरी "वयस्क और कम उम्र अनेक प्रकार के मज़दूरों की संयुक्त सहकारिता होती है, जो बड़ी कुशलता के साथ उत्पादक मशीनों की एक ऐसी प्रणाली की देखरेख करते हैं, जिसको एक केंद्रीय शक्ति (मूल चालक) लगातार चलाती रहती है;" और दूसरी ओर, उन्होंने कहा है कि फ़ैक्टरी "एक विशाल स्वचालित यंत्र है, जो विभिन्न यांत्रिक और बौद्धिक अवयवों का बना हुआ होता है, जो किसी एक वस्तु को तैयार करने के उद्देश्य से एक दूसरे के निरंतर सहयोग में काम करते हैं और जो सबके सब एक स्वनियमित चालक शक्ति के अधीन रहते हैं।" ये दो वर्णन कदापि एक से नहीं हैं। एक में सामूहिक मज़दूर, या श्रम का सामाजिक शरीर, प्रभावशाली कर्त्ता के रूप में सामने आता है और स्वचालित यंत्र की स्थिति केवल विषय की होती है। दूसरे में स्वचालित यंत्र स्वयं कर्ता है और मज़दूर उसके सचेतन अवयव मात्र हैं, जो उसके अचेतन अवयवों के साथ समन्वित होते हैं और जो अचेतन अवयवों के साथ-साथ केंद्रीय चालक शक्ति के अधीन होते हैं। पहला वर्णन बड़े पैमाने के मशीनों के प्रत्येक संभव उपयोग पर लागू होता है, दूसरा विशेष रूप से पूंजी द्वारा मशीनों के उपयोग पर और इसलिए आधुनिक फ़ैक्टरी-व्यवस्था पर लागू होता है। इसीलिए यूर उस केंद्रीय मशीन को, जिससे गति प्राप्त होती है, केवल एक स्वचालित यंत्र ही नहीं, बल्कि एक निरंकुश शासक भी कहना पसंद करते हैं। उन्होंने लिखा है: "इन लंबे-चौड़े हालों में दयालु वाष्प-शक्ति अपने ख़ुशी-ख़ुशी काम करनेवाले असंख्य चाकरों को अपने गिर्द एकत्र कर लेती है।"[179]

औज़ार के साथ-साथ औज़ार से काम लेने की मज़दूर की कुशलता भी मशीन के पास पहुंच जाती है। औज़ार की क्षमताओं को उन बंधनों से मुक्त कर दिया जाता है, जो मानव की श्रम-शक्ति के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। इस प्रकार वह प्राविधिक आधार नष्ट हो जाता है, जिसकी नींव पर मैन्यूफ़ैक्चर में श्रम-विभाजन हुआ था। चुनांचे विशिष्टीकृत मज़दूरों के उस पदसोपान के स्थान पर, जो मैन्यूफ़ैक्चर की विशेषता है, स्वचालित फ़ैक्टरी में मशीनों की देखरेख करनेवाले मज़दूरों के प्रत्येक काम को बस एक ही स्तर पर पहुंचा देने की

---

[179] Ure, *Philosophy of Manufactures*, p. 18.

प्रवृत्ति काम करती है,[180] और तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूरों के बीच बनावटी ढंग से पैदा किये गये भेदों का स्थान आयु और लिंग के प्राकृतिक भेद ले लेते हैं।

फ़ैक्टरी में जिस हद तक श्रम-विभाजन पुनः प्रकट होता है, उस हद तक उसका मूलतया यह रूप होता है कि मज़दूर विशिष्टीकृत मशीनों के बीच बांट दिये जाते हैं और मज़दूरों के समूह, जो दलों में संगठित नहीं होते, फ़ैक्टरी के अलग-अलग विभागों में बांट दिये जाते हैं, जिनमें से प्रत्येक विभाग में वे साथ-साथ रखी हुई एक ही प्रकार की बहुत सी मशीनों पर काम करते हैं; इसलिए उनके बीच केवल साधारण सहकारिता होती है। उस संगठित दल का स्थान, जो मैन्यूफ़ैक्चर की विशेषता था, अब हेड मज़दूर और उसके चंद सहायकों का संबंध ग्रहण कर लेता है। बुनियादी विभाजन यह होता है कि एक तरफ़ तो वे मज़दूर होते हैं, जो सचमुच मशीनों पर काम करते हैं (और जिनमें इंजन की देखभाल करनेवाले कुछ लोग भी शामिल होते हैं), और दूसरी तरफ़, इन मज़दूरों के महज़ सहायक होते हैं (जिनमें लगभग सभी केवल बच्चे होते हैं)। सहायकों में कमोबेश उन सभी कच्चा माल देनेवालों को भी गिना जाता है, जो वह सामग्री मशीनों तक पहुंचाते हैं, जिसपर काम किया जाता है। इन दो मुख्य वर्गों के अलावा कुछ ऐसे व्यक्तियों का एक वर्ग होता है, जिनका काम सभी मशीनों की देखभाल और समय-समय पर उनकी मरम्मत करना होता है। मिसाल के लिए, इंजीनियर, मिस्त्री, बढ़ई, आदि इस वर्ग में आते हैं। संख्या की दृष्टि से यह वर्ग महत्त्वहीन होता है। ये एक अपेक्षाकृत उच्च वर्ग के मज़दूर होते हैं। उनमें से कुछ को वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त हुई है, दूसरों को बचपन से ही एक ख़ास धंधे की शिक्षा मिली है। यह वर्ग फ़ैक्टरी के मज़दूरों के वर्ग से बिल्कुल अलग होता है, उसे केवल उनके साथ जोड़ दिया जाता है।[181] श्रम का यह विभाजन विशुद्ध प्राविधिक विभाजन होता है।

किसी मशीन पर काम कर सकने के लिए मज़दूर को बचपन से ही शिक्षा मिलनी चाहिए, ताकि वह ख़ुद अपनी हरकतों को एक स्वचालित यंत्र की एकरूप एवं निरंतर गति के अनुसार ढालना सीख जाये। जब समग्रतः सभी मशीनें एक दूसरी के साथ-साथ और सहयोग में काम करनेवाली विभिन्न प्रकार की मशीनों की एक प्रणाली का रूप धारण करती हैं, तब उनपर आधारित सहकारिता के लिए यह आवश्यक होता है कि मज़दूरों के विभिन्न दल अलग-अलग प्रकार की मशीनों के बीच बांट दिये जायें। लेकिन मशीनों का उपयोग करने पर इसकी आवश्यकता नहीं रहती कि मैन्यूफ़ैक्चर के ढंग पर एक ख़ास आदमी को लगातार एक ख़ास काम के साथ बांधे रखकर इस विभाजन को स्थायी रूप दे दिया जाये।[182] इस पूरी प्रणाली की गति

---

[180] Ure, l.c., p. 31; देखिये *Karl Marx, Misère de la Philosophie*, Paris, 1847, pp. 140-141.

[181] इंगलैंड के फ़ैक्टरी-क़ानून ने इस अंतिम वर्ग के मज़दूरों को अपने कार्यक्षेत्र से अलग कर दिया है, हालांकि संसदीय विवरणों में न केवल इंजीनियर, मिस्त्री, आदि को, बल्कि मैनेजर, सेल्समैन, चपरासी, गोदामी, गांठ बांधनेवाले, आदि को भी, और संक्षेप में कहा जाये, तो ख़ुद फ़ैक्टरी के मालिक को छोड़कर बाक़ी सभी लोगों को साफ़ तौर पर फ़ैक्टरी-मज़दूरों की श्रेणी में शामिल किया जाता है। यह जान-बूझकर आंकड़ों के ज़रिये भ्रम में डालने के प्रयास जैसा लगता है (जिसे अन्य जगहों पर भी सविस्तार सिद्ध करना असंभव न होगा)।

[182] यूर भी यह बात स्वीकार करते हैं। वह लिखते हैं कि "ज़रूरत होने पर" मैनेजर मज़दूरों को अपनी इच्छानुसार एक मशीन से हटाकर दूसरी मशीन पर लगा सकता है, और

चूंकि मज़दूर से नहीं, बल्कि मशीनों से आती है, इसलिए काम को बीच में रोके बिना किसी भी समय पर व्यक्तियों की अदला-बदली की जा सकती है। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण relays system [पालियों की प्रणाली] में मिलता है, जिसे कारख़ानेदारों ने १८४८-१८५० में अपने विद्रोह के समय चालू किया था। अंत में चूंकि लड़के-लड़कियां मशीन का काम बहुत जल्दी सीख लेते हैं, इसलिए मज़दूरों के किसी ख़ास वर्ग को केवल मशीनों पर काम करने के लिए सिखा-पढ़ाकर तैयार करने की भी कोई ज़रूरत नहीं रहती।[183] जहां तक महज़ सहायकों का संबंध है, मिल में कुछ हद तक उनका स्थान मशीनें ले सकती हैं,[184] और इस तरह का काम चूंकि बहुत ही सरल ढंग का होता है, इसलिए जिन व्यक्तियों के कंधों पर इस अरुचिकर काम का बोझा पड़ता है, उनमें तेज़ी से और लगातार परिवर्तन किये जा सकते हैं।

इसलिए प्राविधिक दृष्टि से यद्यपि मशीनें श्रम-विभाजन की पुरानी प्रणाली का तख़्ता उलट देती हैं, परंतु मैन्यूफ़ैक्चर से विरासत में मिली एक परंपरागत आदत के रूप में वह फ़ैक्टरी

फिर यूर विजय की भावना के साथ घोषणा करते हैं: "इस प्रकार का परिवर्तन उस पुरानी रूढ़ि के बिल्कुल उल्टा पड़ता है, जिसके अनुसार श्रम का विभाजन कर दिया जाता है और एक मज़दूर को सूई का मुंह बनाने का काम और दूसरे को नोक तेज़ करने का काम सौंप दिया जाता है।" बेहतर होता, यदि यूर अपने से यह प्रश्न करते कि स्वचालित फ़ैक्टरी में केवल "ज़रूरत होने पर ही" इस "पुरानी रूढ़ि" को क्यों त्यागा जाता था।

[183] जब व्यवसाय की दशा बहुत ही शोचनीय होती है, जैसी कि अमरीकी गृह-युद्ध के दिनों में थी, तब कभी-कभी पूंजीपति फ़ैक्टरी-मज़दूर से सख़्त से सख़्त काम लेने लगते हैं, जैसे सड़क बनाना, इत्यादि। १८६२ और उसके बाद के वर्षों में इंगलैंड में सूती मिलों के बेकार मज़दूरों के लिए जो "ateliers nationaux" ["राष्ट्रीय वर्कशापें"] खोली गयी थीं, वे १८४८ में फ़्रांस में खोली गयी राष्ट्रीय वर्कशापों से इस बात में भिन्न थीं कि जहां फ़्रांस में मज़दूरों को राज्य के ख़र्च पर अनुत्पादक काम करना पड़ता था, वहां इंगलैंड की "राष्ट्रीय वर्कशापों" में मज़दूरों को बुर्जुआ वर्ग के हित में नगरपालिका का उत्पादक काम करना होता था, और वे नियमित मज़दूरों के मुक़ाबले में सस्ते पड़ते थे और इस तरह उनसे इन मज़दूरों के साथ प्रतियोगिता करा दी जाती थी। "सूती मिलों के मज़दूरों की शारीरिक अवस्था में निस्संदेह सुधार हो गया है। जहां तक पुरुषों का संबंध है, मैं समझता हूं... इसका कारण यह है कि इन लोगों से बाहर खुली हवा में लोक निर्माण का काम लिया जाता है।" (*Reports of Insp. of Fact.*, *31st October 1863*, p. 59.) यहां लेखक प्रेस्टन फ़ैक्टरी के मज़दूरों का ज़िक्र कर रहा है, जिनसे प्रेस्टन के खादर में काम लिया जा रहा था।

[184] इसका एक उदाहरण वे तरह-तरह के यांत्रिक उपकरण हैं, जिनसे १८४४ के अधिनियम के बाद से बच्चों के श्रम के स्थान पर काम लिया जाने लगा है। जैसे ही यह होने लगेगा कि ख़ुद कारख़ानेदारों के बच्चों को मिल में सहायकों के रूप में शिक्षा लेनी पड़ा करेगी, वैसे ही यांत्रिकी के इस लगभग अनन्वेषित क्षेत्र में असाधारण प्रगति होगी। "मशीनों में स्वचालित म्यूल शायद उतने ही ख़तरनाक होते हैं, जितनी और मशीनें। उनसे जो दुर्घटनाएं होती हैं, उनके शिकार प्रायः छोटे-छोटे बच्चे होते हैं, क्योंकि वे जब म्यूल चलते रहते हैं, तब उनके नीचे रेंग-रेंगकर फ़र्श की सफ़ाई करते हैं। इन minders" (म्यूलों पर काम करनेवालों) "में से कुछ पर इस जुर्म के लिए जुर्माना भी हो चुका है, पर इससे कोई सामान्य लाभ नहीं हुआ है। यदि मशीनें बनानेवाले किसी ऐसे सफ़ाई करनेवाले स्वचालित यंत्र का आविष्कार कर देते, जिसका उपयोग करने पर नन्हे-नन्हे बच्चों को मशीनों के नीचे रेंगकर जाने की ज़रूरत न रहती, तो मज़दूरों की सुरक्षा के लिए उठाये गये क़दमों में यह एक बहुत उपयोगी नया क़दम होता।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1866*, p. 63.)

में जीवित रहती है और बाद को पूंजी उसको सुनियोजित ढंग से और नये सिरे से संवारकर श्रम-शक्ति का शोषण करने के साधन के तौर पर एक और भी भयानक रूप में स्थापित कर देती है। सारे जीवन एक ही औज़ार से काम करने की विशिष्टता अब सारे जीवन एक ही मशीन की सेवा करने की विशिष्टता बन जाती है। मशीनों का अब मज़दूर को उसके बचपन से ही तफ़सीली काम करनेवाली मशीन का अंग बना देने के उद्देश्य से दुरुपयोग किया जाता है।[185] इस तरह न केवल मज़दूर के पुनरुत्पादन का ख़र्च बहुत-कुछ कम हो जाता है, बल्कि उसके साथ-साथ पूरी फ़ैक्टरी पर और इसलिए पूंजीपति पर मज़दूर की निस्सहाय निर्भरता भी पूर्णता को पहुंच जाती है। अन्य प्रत्येक स्थान की भांति यहां पर भी हमें इस बात को समझना चाहिए कि उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के विकास के फलस्वरूप उत्पादिता में जो वृद्धि होती है और इस प्रक्रिया के पूंजीवादी शोषण के कारण उत्पादिता में जो वृद्धि होती है, उनमें भेद होता है। दस्तकारी तथा मैन्यूफ़ैक्चर में मज़दूर औज़ार को इस्तेमाल करता है, फ़ैक्टरी में मशीन मज़दूर को इस्तेमाल करती है। वहां श्रम के औज़ारों की क्रियाएं मज़दूर से शुरू होती हैं, यहां पर उसे ख़ुद मशीन की क्रियाओं का अनुकरण करना पड़ता है। मैन्यूफ़ैक्चर में मज़दूर एक जीवित यंत्र के अंग होते हैं। फ़ैक्टरी में मज़दूरों से स्वतंत्र एक निर्जीव यंत्र होता है और मज़दूर इस यंत्र के मात्र जीवित उपांगों में बदल जाते हैं। "अंतहीन श्रम और मेहनत का वह नीरस नित्यक्रम, जिसमें एक ही यांत्रिक प्रक्रिया को बार-बार दोहराना पड़ता है, सिसाइफ़स के श्रम के समान होता है। सिसाइफ़स के पत्थर की तरह यहां पर श्रम का बोझा बार-बार इस थके हुए मज़दूर पर ही आकर गिरता रहता है।"[186] फ़ैक्टरी का काम जहां स्नायुमंडल को हद से ज़्यादा थका डालता है, वहां उसके साथ-साथ उसमें मांस-पेशियों की विविध प्रकार की चेष्टाओं की कोई ज़रूरत नहीं रहती और वह शारीरिक तथा बौद्धिक दोनों प्रकार की क्रियाशीलता के प्रत्येक कण का अपहरण कर लेता है।[187] मशीन से श्रम कुछ हल्का हो जाता है, पर यह चीज़ भी यहां पर एक ढंग की यातना बन जाती है, क्योंकि मशीन मज़दूर को काम से मुक्त नहीं करती, बल्कि काम की सारी दिलचस्पी ख़त्म कर देती है। हर प्रकार का पूंजीवादी उत्पादन जिस हद तक न सिर्फ़ श्रम-प्रक्रिया, बल्कि बेशी मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया भी होता है, उस हद तक उसमें एक समान विशेषता होती है। वह यह कि उसमें मज़दूर श्रम के औज़ारों से

---

[185] यूरे की विलक्षण धारणा के खंडन के लिए इतना काफ़ी है। वह मशीन का अर्थ यह नहीं लगाते कि वह श्रम के साधनों का समन्वय होती है, बल्कि यह कि ख़ुद मज़दूर के हित में तफ़सीली क्रियाओं का समन्वय ही मशीन होता है।

[186] F. Engels, *Die Lage der arbeitenden Klasse in England*, Leipzig, 1845, S. 217. स्वतंत्र व्यापार के मि० मोलिनारी जैसे एक सर्वथा साधारण तथा आशावादी समर्थक ने भी यहां तक कह डाला है कि "जब कोई आदमी पंद्रह घंटे रोज़ाना किसी यंत्र की एकरूपी गति की देखरेख करता है, तो वह उस आदमी की अपेक्षा अधिक जल्दी थक जाता है, जो इतने ही समय तक ख़ुद अपनी शारीरिक शक्तियों से काम लेता है। देखरेख का यह काम अगर अनुचित ढंग से बहुत देर तक न खींचा जाता, तो शायद बुद्धि के विकास में सहायक होता। पर यहां पर वह अंत में अपने अतिरेक से मन और शरीर दोनों को नष्ट कर डालता है।" (G. de Molinari, *Études Économiques*, Paris, 1846 [p. 49.])

[187] F. Engels, *Die Lage etc.*, S. 216.

नहीं, बल्कि श्रम के औज़ार मज़दूर से काम लेते हैं। लेकिन यह विपर्यय पहले-पहल केवल फ़ैक्टरी-व्यवस्था में ही प्राविधिक एवं इंद्रियगम्य वास्तविकता प्राप्त करता है। एक स्वचालित यंत्र में रूपांतरित हो जाने के फलस्वरूप श्रम का औज़ार श्रम-प्रक्रिया में पूंजी की शक्ल में, यानी उस मृत श्रम के रूप में मज़दूर के सामने खड़ा होता है, जो जीवित श्रम-शक्ति पर हावी रहता है और चूस-चूसकर उसका सत निकाल लेता है। जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, हाथ के श्रम से उत्पादन की बौद्धिक शक्तियों के अलग कर दिये जाने और इन शक्तियों के श्रम पर पूंजी के आधिपत्य में बदल जाने की क्रिया अंतिम रूप से उस आधुनिक उद्योग के द्वारा पूर्णता प्राप्त करती है, जो मशीनों के आधार पर खड़ा किया जाता है। फ़ैक्टरी के हर अलग-अलग महत्त्वहीन मज़दूर की व्यक्तिगत एवं विशेष कुशलता उस विज्ञान के, उन विराट भौतिक शक्तियों के तथा श्रम की उस विशाल राशि के सम्मुख एक अत्यणु मात्रा बनकर रह जाती है, जो फ़ैक्टरी-यंत्र में निहित होती हैं और इस यंत्र के साथ-साथ जिनके कारण "master" ["मालिक"] के हाथ में इतनी बड़ी ताक़त होती है। इस "मालिक" के मस्तिष्क में मशीनों के तथा उनपर उसके एकाधिकार के बीच एक अविच्छिन्न एकता होती है, और इसलिए जब कभी उसका अपने मज़दूरों से कोई झगड़ा होता है, तो वह बड़े तिरस्कार के भाव से उनसे कहता है: "फ़ैक्टरी के मज़दूरों को यह तथ्य अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि उनका श्रम वास्तव में एक हीन कोटि का कुशल श्रम है और दूसरा ऐसा कोई श्रम नहीं है, जिसे इतनी आसानी से सीखा जा सकता हो या जो इसी स्तर का श्रम हो और फिर भी जिसके लिए इससे अधिक पारिश्रमिक दिया जाता हो, या जिसे सबसे कम कुशलता रखनेवाले किसी विशेषज्ञ से थोड़ी सी शिक्षा लेकर इससे जल्दी तथा इससे अधिक पूर्णता के साथ सीखा जा सकता हो... उत्पादन के व्यवसाय में मालिक की मशीनें वास्तव में मज़दूर के श्रम तथा कुशलता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं, और यह कुशलता तो ६ महीने की शिक्षा से प्राप्त की जा सकती है, और कोई भी साधारण खेतिहर मज़दूर उसे प्राप्त कर सकता है।"[188] मज़दूर चूंकि श्रम के औज़ारों की एकरूपी गति की प्राविधिक अधीनता में फंस जाता है और मज़दूरों में चूंकि स्त्री और पुरुष दोनों और हर उम्र के व्यक्ति होते हैं और इसलिए चूंकि उनके समुदाय की बनावट एक विचित्र ढंग की होती है, इसलिए उनमें बैरक जैसा अनुशासन पैदा हो जाता है। यह अनुशासन फ़ैक्टरी में एक पूर्ण व्यवस्था का रूप प्राप्त कर लेता है, और उसमें दूसरों के काम की देखरेख करने का उपर्युक्त श्रम पूरी तरह विकसित हो जाता है। इससे मज़दूर काम करनेवालों और काम की देखरेख करनेवालों में, औद्योगिक सेना के साधारण सिपाहियों और हवलदारों में बंट जाते हैं। "स्वचालित फ़ैक्टरी में... मुख्य कठिनाई... सबसे अधिक... इस बात को लेकर होती थी कि मनुष्यों को अनियमित ढंग से काम करने की आदतों को छोड़कर जटिल स्वचालित यंत्र की अपरिवर्तनीय नियमितता के साथ अपने को एकाकार कर देने की शिक्षा कैसे दी जाये। फ़ैक्टरी के श्रम की आवश्यकताओं के अनुरूप फ़ैक्टरी-अनुशासन की एक सफल नियमावली को तैयार करने और फिर उसे लागू करने के इस अति दुष्कर कार्य

---

[188] *The Master Spinners' and Manufactures' Defence Fund. Report of the Committee*, Manchester, 1854, p. 17; आगे हम देखेंगे कि "मालिक" जब अपने "जीवित" स्वचालित यंत्र को खो बैठने का ख़तरा देखता है, तब वह बिल्कुल दूसरा राग भी अलाप सकता है।

को आर्कराइट ने पूरा किया, और यह उनकी महान उपलब्धि है! आज भी, जब कि पूरी व्यवस्था बहुत अच्छी तरह संगठित की जा चुकी है और उसका श्रम अधिक से अधिक हल्का हो गया है, जो लोग तरुणावस्था को पार कर गये हैं, उनको फ़ैक्टरी के उपयोगी मज़दूर बनाना लगभग असंभव होता है।"[189] फ़ैक्टरी की इस नियमावली में पूंजी निजी क़ानून बनानेवाले व्यक्ति की तरह और अपनी इच्छा के अनुसार अपने मज़दूरों पर क़ायम अपने निरंकुश शासन को क़ानून का रूप दे देती है। पर इस निरंकुशता के साथ उत्तरदायित्व का वह विभाजन जुड़ा हुआ नहीं होता, जो अन्य मामलों में बुर्जुआ वर्ग को इतना अधिक पसंद है, और न ही उसके साथ प्रतिनिधान की वह प्रणाली जुड़ी हुई होती है जो बुर्जुआ वर्ग को और भी ज़्यादा पसंद है। यह नियमावली श्रम-प्रक्रिया के उस सामाजिक नियमन का पूंजीवादी व्यंगचित्र मात्र होती है, जो एक विशाल पैमाने की सहकारिता में और श्रम के औज़ारों के – विशेषकर मशीनों के – सामूहिक उपयोग में आवश्यक होता है। ग़ुलामों को मार-मारकर काम लेनेवाले सरदार के कोड़े का स्थान फ़ोरमैन का जुर्मानों का रजिस्टर ले लेता है। सभी प्रकार के दंड स्वाभाविक ढंग से जुर्मानों का और मज़दूरी में कटौतियों का रूप धारण कर लेते हैं, और फ़ैक्टरी के लाइ-करगसों की विधिकारी प्रतिभा ऐसी व्यवस्था करती है कि उनके बनाये हुए क़ानूनों के पालन की अपेक्षा उल्लंघन से उन्हें शायद अधिक लाभ होता है।[190]

---

[189] Ure, *Philosophy of Manufactures*, p. 15; जो कोई भी आर्कराइट की जीवनी से परिचित है, वह इस प्रतिभाशाली नाई को कभी "उदारमना" नहीं कहेगा। १८वीं सदी में जितने महान आविष्कारक हुए हैं, उनमें दूसरे लोगों के आविष्कारों का सबसे बड़ा चोर और सबसे अधिक नीच व्यक्ति निर्विवाद रूप से यह आर्कराइट ही था।

[190] "बुर्जुआ वर्ग ने सर्वहारा को जिस ग़ुलामी में जकड़ दिया है, उसपर जितना अधिक प्रकाश फ़ैक्टरी-व्यवस्था में पड़ता है, उतना और कहीं नहीं पड़ता। इस व्यवस्था में हर प्रकार की स्वाधीनता – क़ानूनी तौर पर और वास्तव में, दोनों तरह – ख़त्म हो जाती है। मज़दूर को सुबह साढ़े पांच बजे फ़ैक्टरी में हाज़िर होना पड़ता है। यदि उसे दो-चार मिनट की भी देर हो जाती है, तो सज़ा मिलती है। यदि वह १० मिनट देर से पहुंचता है, तो उसे नाश्ते की छुट्टी के समय तक फ़ैक्टरी में नहीं घुसने दिया जाता है, और इस तरह उसकी चौथाई दिन की मज़दूरी मारी जाती है। उसे मालिक के हुक्म पर खाना, पीना और सोना पड़ता है... फ़ैक्टरी की निरंकुश घंटी उसे बिस्तर से उठा देती है, नाश्ते और खाने को बीच में छुड़वा देती है। और मिल में उसपर क्या गुज़रती है? वहां हर चीज़ मालिक की उंगली के इशारे पर नाचती है। वह जैसे चाहता है, वैसे नियम बनाता है; नियमावली में अपनी इच्छानुसार परिवर्तन करता रहता है और नयी बातें जोड़ता रहता है, और अगर वह बिल्कुल बेहूदा बातें उसमें शामिल कर लेता है, तब भी अदालतें मज़दूर से यही कहती हैं कि तुमने यह क़रार अपनी इच्छा से किया है, अब तो तुम्हें उसका पालन करना ही होगा... नौ वर्ष की आयु से मृत्यु तक इन मज़दूरों को हर घड़ी यह मानसिक और शारीरिक यातना सहन करनी पड़ती है।" (F. Engels, *Die Lage der arbeitenden Klasse in England*, Leipzig, 1845, S. 217 sq.) "अदालतें" जो "कहती हैं", उसके मैं दो उदाहरण दूंगा। एक उदाहरण १८६६ के अंतिम दिनों का शेफ़ील्ड का है। उस शहर में एक मज़दूर था, जिसने इस्पात के एक कारख़ाने में २ साल तक काम करने का क़रार किया था। अपने मालिक से झगड़ा हो जाने के फलस्वरूप वह कार-ख़ाना छोड़कर चला गया और उसने ऐलान कर दिया कि अब वह किसी हालत में भी इस मालिक के लिए काम नहीं करेगा। उसपर क़रार भंग करने का मुक़दमा चला और दो महीने

यहां हम उन भौतिक परिस्थितियों का केवल ज़िक्र ही करेंगे, जिनमें फ़ैक्टरियों के मज़दूरों को श्रम करना पड़ता है। फ़ैक्टरियों में तापमान कृत्रिम रूप से बढ़ा दिया जाता है, हवा में

की क़ैद हो गयी। (यदि कोई मालिक क़रार भंग करता है, तो उसपर केवल दीवानी का मुक़दमा चलाया जा सकता है और उसको सिवाय इसके और कोई ख़तरा नहीं होता कि शायद कुछ रक़म हरजाने की देनी पड़ जाये।) मज़दूर दो महीने की जेल काटकर बाहर आया, तो मालिक ने उससे फिर कहा कि क़रार के अनुसार मेरे कारख़ाने में आकर काम करो। मज़दूर ने कहा: नहीं, मुझे इस क़रार को तोड़ने की सज़ा मिल चुकी है, अब मैं काम नहीं करूंगा। मालिक ने उसपर फिर मुक़दमा दायर कर दिया। अदालत ने इस बार भी मज़दूर को ही दोषी ठहराया, हालांकि मि० शी नामक एक जज ने सार्वजनिक रूप से इस क़ानूनी विभीषिका की सख़्त निंदा की, जिसके द्वारा किसी भी मनुष्य को एक ही अपराध या जुर्म के लिए जब तक वह ज़िंदा रहता है, थोड़े-थोड़े समय के बाद बार-बार दंड दिया जा सकता है। यह फ़ैसला किसी "अवैतनिक ज़िला न्यायाधीश ने नहीं, किसी स्थानीय डोगबरी ने नहीं, बल्कि लंदन के एक सबसे ऊंचे न्यायालय ने सुनाया था। [**चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया अंश:** इस स्थिति का अब अंत कर दिया गया है। कुछ अपवादों को छोड़कर – मिसाल के लिए, जैसे पब्लिक गैस वर्क्स को छोड़कर – बाक़ी सब जगह क़रार भंग करने के मामले में अंग्रेज़ मज़दूर की स्थिति अब मालिकों के समान बना दी गयी है और उसपर भी केवल दीवानी अदालत में ही मुक़दमा चलाया जा सकता है। – फ़े० एं०] दूसरा उदाहरण नवंबर १८६३ के अंतिम दिनों का विल्टशायर का है। वहां वेस्टबरी लेह नामक स्थान में लेग्रोवर की कपड़ा-मिल के हैरैप नामक मालिक की ३० बुनकरिनों ने, जो शक्ति से चलनेवाले करघों पर काम करती थीं, हड़ताल कर दी। कारण यह था कि हैरैप साहब की यह प्रिय आदत थी कि वह सुबह को देरी से काम पर आनेवाली मज़दूरिनों की मज़दूरी में कटौती कर दिया करते थे। कामगरिनें यदि २ मिनट देर से आती थीं, तो ६ पेंस की, ३ मिनट देर से आती थीं, तो १ शिलिंग की, और दस मिनट देर से आती थीं, तो १ शिलिंग ६ पेंस की कटौती हो जाती थी। यानी कटौती की दर ९ शिलिंग फ़ी घंटा और ४ पाउंड १० शिलिंग प्रति दिन की बैठती थी, जब कि बुनकरिनों की मज़दूरी, यदि वर्ष का औसत निकालकर देखा जाये, तो कभी १०-१२ शिलिंग फ़ी हफ़्ता से ज़्यादा नहीं होती थी। इसके अलावा हैरैप ने सीटी बजाकर काम आरंभ करने का समय सूचित करने के लिए एक लड़के को नियुक्त कर रखा था। वह अकसर सुबह को ६ बजने के पहले ही सीटी बजा देता था, और अगर सीटी बंद होने के समय तक सब कामगरिनें कारख़ाने में नहीं पहुंच जाती थीं, तो कारख़ाने के फाटक बंद कर दिये जाते थे, और जो कामगरिनें बाहर रह जाती थीं, उनपर जुर्माना कर दिया जाता था। कारख़ाने में चूंकि कोई घड़ी नहीं थी, इसलिए अभागी कामगरिनों को हैरैप का कहा करनेवाले टाइमकीपर लड़के की दया पर निर्भर रहना पड़ता था। हड़ताल करनेवाली कामगरिनों का, जिनमें कमउम्र लड़कियां और बाल-बच्चों वाली औरतें भी थीं, यह कहना था कि वे फिर से काम शुरू करने को तैयार हैं, बशर्ते कि टाइमकीपर की जगह पर कारख़ाने में एक घड़ी लगा दी जाये और जुर्माने एक ज़्यादा मुनासिब दर के अनुसार किये जायें। हैरैप ने १९ स्त्रियों और लड़कियों पर क़रार भंग करने का मुक़दमा दायर कर दिया। अदालत में उपस्थित सभी लोगों को यह देखकर बहुत क्रोध आया कि इनमें से हर स्त्री तथा हर लड़की से ६ पेंस जुर्माने के और २ शिलिंग ६ पेंस मुक़दमे के ख़र्च के वसूल किये गये। हैरैप अदालत से चला, तो एक भीड़ फबतियां कसती हुई उसके पीछे-पीछे चल रही थी। – कारख़ानेदारों की एक प्रिय तरक़ीब यह है कि मज़दूर जिस सामग्री पर मेहनत करते हैं, उसमें कुछ ख़राबी होने पर वे मज़दूरों को सज़ा देते हैं और उनकी मज़दूरी में से पैसे काट लेते हैं। १८६६ में इस प्रथा के फलस्वरूप इंगलैंड के मिट्टी के बर्तन बनानेवाले डिस्ट्रिक्टों में एक आम हड़ताल हो गयी। बाल-सेवायोजन आयोग (१८६३-१८६६) की रिपोर्टों में ऐसे उदाहरण बताये गये हैं, जिनमें मज़दूर को न सिर्फ़ कोई मज़दूरी

धूल भर जाती है और शोर के मारे कान फटे जाते हैं। इन तमाम चीज़ों से मज़दूर की प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय पर समान मात्रा में आघात लगता है। और मशीनों की भीड़ में मज़दूर की जान जाने या हाथ-पैर कटने का जो ख़तरा हमेशा बना रहता है, वह अलग है। जिस तरह एक के बाद दूसरा मौसम आता है, उसी नियमित ढंग से फ़ैक्टरियां भी समय-समय पर औद्योगिक संग्राम में हताहत होनेवाले मज़दूरों की सूचियां प्रकाशित किया करती हैं।[190a] फ़ैक्टरी-व्यवस्था में तापगृहों के पौधों जैसे कृत्रिम ढंग से बढ़ायी गयी उत्पादन के सामाजिक साधनों की मितव्ययिता पूंजी द्वारा नियंत्रित होकर कार्यरत मज़दूर के जीवन के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु को सुनियोजित लूट में बदल जाती है। मज़दूर के काम करने की जगह अधिकाधिक छोटी होती जाती

नहीं मिली, बल्कि ऊपर से वह अपने श्रम के द्वारा और जुर्माने के नियमों के फलस्वरूप अपने योग्य मालिक का बुरी तरह क़र्ज़दार भी बन गया। हाल में कपास का संकट आने के समय भी मज़दूरों की मज़दूरी काटने के मामले में फ़ैक्टरियों के निरंकुश मालिकों की चालाकी के अनेक उदाहरण देखने को मिले थे। फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टर मि० आर० बेकर ने कहा है: "अभी हाल में ख़ुद मुझको एक सूती मिल के मालिक के ख़िलाफ़ मुक़दमा दायर करना पड़ा है। ग़रीबी के इन कष्टदायक दिनों में भी उसने अपने कुछ कमउम्र मज़दूरों की मज़दूरी में से डाक्टर के सर्टीफ़िकेट की फ़ीस के १०-१० पेंस काट लिये थे (जिसके लिए ख़ुद उसको केवल ६ पेंस देने पड़े थे), जब कि क़ानून उसको केवल ३ पेंस काटने की इजाज़त देता था और प्रथा के अनुसार कुछ भी नहीं कटा जाता... और मुझे एक और मालिक का पता चला है, जो भी यही चीज़ करना चाहता है, मगर क़ानून की लपेट में नहीं आना चाहता। उसके यहां जो ग़रीब बच्चे काम करते हैं, जैसे ही डाक्टर उनको इस धंधे के योग्य क़रार दे देता है, वैसे ही यह मालिक उनको कपास की बुनाई की रहस्यमयी कला सिखाने की फ़ीस के रूप में उनसे १ शिलिंग प्रति व्यक्ति वसूल करना शुरू कर देता है। इसलिए हड़तालों जैसी असाधारण घटनाओं के कुछ अंतर्भूत कारण हो सकते हैं। इन कारणों को समझे बिना आजकल के जैसे समय में हड़तालों जैसी असाधारण घटनाओं को समझना असंभव है।" यहां मि० बेकर डार्वेन के शक्ति से चलनेवाले करघों पर काम करनेवाले बुनकरों की उस हड़ताल का ज़िक्र कर रहे हैं, जो जून १८६३ में हुई थी। (*Reports of Insp. of Fact. for 30th April 1863*, pp. 50-51.) इन रिपोर्टों पर जो तारीख़ें पड़ी रहती हैं, उनमें इन तारीख़ों से सदा आगे का हाल रहता है।

[190a] ख़तरनाक मशीनों से मज़दूरों के बचाव की जो व्यवस्था फ़ैक्टरी-अधिनियमों ने की है, उसका लाभकारी प्रभाव हुआ है। "लेकिन... अब कुछ ऐसे कारणों से दुर्घटनाएं होने लगी हैं, जिनका बीस वर्ष पहले अस्तित्व नहीं था। मिसाल के लिए, अब ख़ास तौर पर मशीनों की बढ़ी हुई रफ़्तार के कारण बहुत सी दुर्घटनाएं होने लगी हैं। अब पहियों, बेलनों, तकुओं और ढरकियों को पहले से बढ़ी हुई रफ़्तार पर चलाया जाता है और उनकी रफ़्तार बराबर बढ़ती ही जा रही है। इसलिए अब उंगलियों को टूटा हुआ धागा पकड़ने के लिए अपनी हरकतों में पहले से अधिक तेज़ी और फुर्ती दिखानी पड़ती है, क्योंकि धागा पकड़ने में यदि ज़रा भी झिझक या लापरवाही दिखायी जाती है, तो उंगलियों से हाथ धोना पड़ता है... मज़दूरों में अपना काम जल्दी से पूरा कर डालने की जो उत्सुकता रहती है, उसके कारण भी बहुत सी दुर्घटनाएं होती हैं। यह याद रखना चाहिए कि कारख़ानेदारों के लिए इस बात का अत्यधिक महत्त्व होता है कि उनकी मशीनें बराबर चलती रहें, यानी वे सदा सूत और सामान तैयार करती रहें। यदि एक मिनट के लिए भी उनका चलना रुक जाता है, तो न सिर्फ़ शक्ति का नुक़सान होता है, बल्कि उत्पादन की भी हानि होती है, और फ़ोरमैन लोग, जिनको सदा ज़्यादा से ज़्यादा मात्रा में काम निकालने की फ़िक्र रहती है, मज़दूरों से हमेशा मशीनें चालू रखने को कहा करते हैं। और मशीनों को चालू रखने का उन मज़दूरों के लिए भी कम महत्त्व

है, रोशनी और हवा कम होती जाती है और उत्पादक प्रक्रिया के ख़तरनाक एवं हानिकारक उपकरणों से उसके बचाव की व्यवस्था में अधिकाधिक काटछांट होती रहती है। मज़दूर के आराम के साधनों में जो काटछांट होती है, वह अलग है।[191] जब फ़ूरिये फ़ैक्टरियों को "परिष्कृत जेलख़ाने" कहते हैं, तो क्या ग़लती करते हैं?[192]

नहीं है, जिनको पैदावार के वज़न या माप के हिसाब से मज़दूरी मिलती है। चुनांचे यद्यपि बहुत सी फ़ैक्टरियों में, बल्कि कहना चाहिए कि अधिकतर फ़ैक्टरियों में, चलती हुई मशीनों को साफ़ करने की सख़्त मनाही है, फिर भी यदि सब फ़ैक्टरियों में नहीं, तो ज़्यादातर फ़ैक्टरियों में यह आम रिवाज है कि जब मशीनें चलती रहती हैं, तब मज़दूर उनमें से कूड़ा निकाला करते हैं और उनके बेलनों और पहियों को साफ़ किया करते हैं, और कोई उन्हें ऐसा करने से नहीं रोकता। इस प्रकार पिछले छः महीनों में केवल इस एक कारण से ६०६ दुर्घटनाएं हुई हैं... हालांकि सफ़ाई का बहुत-कुछ काम लगातार रोज़ाना होता रहता है, फिर भी शनिवार का दिन इस काम के लिए ख़ास तौर पर अलग कर दिया जाता है और उस दिन मशीनों की ख़ूब अच्छी तरह सफ़ाई की जाती है, और इस काम का बड़ा हिस्सा उस वक़्त किया जाता है, जब मशीनें चलती रहती हैं। सफ़ाई के काम की चूंकि कोई मज़दूरी नहीं मिलती, इसलिए मज़दूर उसे यथासंभव जल्दी से ख़त्म कर डालना चाहते हैं। चुनांचे शुक्रवार और ख़ास तौर पर शनिवार के बराबर बड़ी संख्या में दुर्घटनाएं और किसी दिन नहीं होतीं। सप्ताह के पहले चार दिन दुर्घटनाओं की संख्या का जो औसत रहता है, शुक्रवार को उससे १२ प्रतिशत अधिक और शनिवार को पहले पांच दिन के औसत से २५ प्रतिशत अधिक दुर्घतनाएं होती हैं, या यदि शनिवार के काम के घंटों का ख़याल रखा जाये – क्योंकि शनिवार को ७.५ घंटे और बाक़ी दिन १०.५ घंटे काम होता है – तो शनिवार को बाक़ी पांच दिन के औसत से ६५ प्रतिशत अधिक दुर्घटनाएं होती हैं।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1866*, London, 1867, pp. 9, 15, 16, 17.)

[191] फ़ैक्टरी-अधिनियम की उन धाराओं के ख़िलाफ़, जिनके द्वारा ख़तरनाक मशीनों से मज़दूरों के बचाव की व्यवस्था की गयी है, इंगलैंड के कारख़ानेदारों ने हाल में जो आंदोलन चलाया था, उसका मैं तीसरी पुस्तक के भाग १ में वर्णन करूंगा। फ़िलहाल लेनर्ड हॉर्नर की सरकारी रिपोर्ट का यह एक उद्धरण दे देना काफ़ी होगा: "कुछ मिल-मालिकों को मैंने कुछ दुर्घटनाओं का अक्षम्य लापरवाही के साथ ज़िक्र करते हुए सुना है। मिसाल के लिए, जब किसी मज़दूर की उंगली कट जाती है, ये लोग इस तरह उसका ज़िक्र करते हैं, जैसे कोई बहुत ही महत्त्वहीन बात हो। मज़दूर की जीविका और उसका भविष्य उसकी उंगलियों पर इतना अधिक निर्भर करते हैं कि उसकी एक भी उंगली का कट जाना उसके लिए बहुत भयानक बात होती है। जब कभी मैंने मिल-मालिकों को ऐसी विवेकहीन बातें करते सुना है, तब मैंने प्रायः उनसे यह प्रश्न किया है कि, मान लीजिये, आपको एक नये मज़दूर की आवश्यकता है और इस एक जगह के लिए दो मज़दूर आपके पास आते हैं, और दोनों की योग्यता अन्य सब बातों में तो एक सी है, पर एक मज़दूर का एक अंगूठा या एक उंगली कटी हुई है; ऐसी हालत में आप उनमें से किस मज़दूर को नौकर रखेंगे? इस प्रश्न का उत्तर देने में मालिकों को कभी कोई हिचकिचाहट नहीं हुई..." कारख़ानेदारों ने सुन रखा है कि "यह क़ानून झूठमूठ की लोकोपकार-भावना से प्रेरित होकर बनाया गया है, और उसके ख़िलाफ़ उनके मन में बहुत से ग़लत ढंग के पूर्वाग्रह हैं।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1855.*) ये कारख़ानेदार बड़े होशियार लोग हैं, और गुलामों के मालिकों के विद्रोह के संबंध में उन्होंने जो उत्साह दिखाया था, वह अकारण नहीं था।

[192] जिन फ़ैक्टरियों पर सबसे अधिक समय से फ़ैक्टरी-अधिनियम लागू हैं, उनमें श्रम के घंटों के अनिवार्य रूप से सीमित कर दिये जाने तथा अन्य नियमों के फलस्वरूप बहुत सी पुरानी

अनुभाग ५ – मज़दूर और मशीन के बीच संघर्ष

पूंजीपति और मज़दूर का संघर्ष पूंजी के जन्म के साथ ही शुरू हो गया था। वह मैन्यूफ़ैक्चर के समूचे काल में अपना प्रकोप दिखाता रहा।[193] लेकिन यह बात मशीनों का इस्तेमाल शुरू हो जाने के बाद ही देखने में आयी है कि मज़दूर ख़ुद श्रम के औज़ार से – पूंजी के मूर्त रूप से – लड़ने लगा है। साधनों का यह विशिष्ट रूप चूंकि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का भौतिक आधार होता है, इसलिए मज़दूर उसके ख़िलाफ़ विद्रोह कर उठता है।

१७ वीं सदी में लगभग पूरे यूरोप में रिबन-करघे के ख़िलाफ़ मज़दूरों के विद्रोह हुए थे। यह मशीन फ़ीते और झालर बनाने के काम में आती थी और जर्मनी में Bandmühle, Schnurmühle और Mühlenstuhl कहलाती थी। इन मशीनों का आविष्कार जर्मनी में हुआ था। एक पुस्तक में, जो वेनिस से १६३६ में प्रकाशित हुई थी, पर जो लिखी १५७९ में गयी थी, पादरी लांचेलोत्ती ने लिखा है: "डांज़िग के अंथोनी मूलर ने लगभग ५० वर्ष हुए उस शहर में एक बहुत ही बढ़िया मशीन देखी थी, जो एक साथ ४ से लेकर ६ टुकड़े तक बुन डालती थी। लेकिन शहर के मेयर को यह डर था कि इस आविष्कार के फलस्वरूप कहीं बहुत से मज़दूर बेकार न हो जायें, चुनांचे उसने गुप्त रूप से आविष्कारक का गला घुटवाकर या उसे नदी में फिंकवाकर मार डाला।" लेडेन में यह मशीन पहली बार १६२९ में इस्तेमाल हुई। वहां फ़ीते तैयार करनेवाले बुनकरों के बलवों ने आख़िर शहर की काउंसिल को उसपर प्रतिबंध लगाने के लिए मजबूर कर दिया। लेडेन में इस मशीन का इस्तेमाल पहले-पहल किस तरह शुरू हुआ, इसका ज़िक्र करते हुए बोक्सहॉर्न ने अपनी रचना *Institutiones Political* (1663) में लिखा है: "इस शहर में लगभग बीस वर्ष हुए बुनाई की एक ऐसी मशीन का आविष्कार हुआ था, जिससे एक आदमी इतने फ़ीते तैयार कर डालता था, जितने पहले उतने ही समय में बहुत से आदमी नहीं तैयार कर पाते थे, और ये फ़ीते पहले से बेहतर क़िस्म के होते थे। चुनांचे स्थानीय पैमाने पर अनेक उपद्रव होने लगे, बुनकरों ने शोर मचाया, और आख़िर शहर की काउंसिल ने इस औज़ार के उपयोग पर प्रतिबंध लगा

बुराइयां अब दूर हो गयी हैं। मशीनों में जो सुधार हो गये हैं, उनके कारण भी कुछ हद तक यह ज़रूरी हो जाता है कि "मकानों का निर्माण पहले से बेहतर ढंग से किया जाये" और इससे मज़दूरों का लाभ होता है। (देखिये *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1863*, p. 109.)

[193] अन्य पुस्तकों के अलावा देखिये John Houghton, *Husbandry and Trade Improved*, London, 1727; *The Advantages of the East-India Trade*, 1720. और जॉन बैलेर्स की वह पुस्तक जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। (John Bellers, *Proposals for Raising a College of Industry*, London, 1696.) "मालिक और उनके मज़दूर दुर्भाग्यवश सदा एक दूसरे से लड़ते रहते हैं। मालिकों की इच्छा हमेशा यह होती है कि अपना काम अधिक से अधिक सस्ते में करा लें, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे हर तरह की जुगत से काम लेते हैं। उधर मज़दूरों को उतनी ही फ़िक्र इस बात की रहती है कि मौक़ा हाथ आते ही मालिकों को अपनी पहले से बढ़ी हुई मांगों को मानने के लिए मजबूर कर दें।" (*An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions, 1767*, pp. 61-62.) इस पुस्तक के लेखक, पादरी नथेनियल फ़ोर्स्टर, मज़दूरों के ख़ासे पक्षपाती हैं।

दिया।" १६३२, १६३६, आदि में इस करघे पर न्यूनाधिक रूप में प्रतिबंध लगानेवाले अनेक आदेश जारी करने के बाद हालैंड की स्टेट्स-जनरल ने आखिर १५ दिसंबर १६६१ के आदेश के जरिये कुछ शर्तों के साथ उसके उपयोग की इजाजत दे दी। १६७६ में कोलोन में भी इस औजार पर प्रतिबंध लगाया गया। इंगलैंड में इसी समय उसके उपयोग के फलस्वरूप मजदूरों के उपद्रव हो रहे थे। १६ फ़रवरी १६८५ के एक शाही फ़रमान के जरिये सारे जर्मनी में उसके इस्तेमाल की मनाही कर दी गयी। हैंबर्ग में सेनेट के हुक्म पर उसे सार्वजनिक रूप से जलाया गया। सम्राट् चार्ल्स छठे ने ६ फ़रवरी १७१६ को १६८५ का आदेश फिर से जारी किया, और सैक्सोनी की इलेक्टोरट में १७६५ तक उसका खुल्लमखुल्ला इस्तेमाल करने की इजाजत नहीं दी गयी। यह मशीन, जिसने यूरोप को जड़ तक हिला डाला, असल में म्यूल की और शक्ति से चलनेवाले करघे की और १८ वीं सदी की औद्योगिक क्रांति की पूर्वज थी। उसकी मदद से एक सर्वथा अनुभवहीन लड़का केवल करघे की मूठ को आगे-पीछे करके उसकी सारी ढरकियों सहित पूरे करघे में गति पैदा कर सकता था, और इस मशीन का सुधरा हुआ रूप एक बार में ४० से ५० टुकड़े तक तैयार कर डालता था।

लंदन के नजदीक एक डच व्यक्ति ने हवा से चलनेवाली लकड़ी चीरने की एक मशीन लगा रखी थी। १६३० के लगभग उसे लोगों ने नष्ट कर डाला। यहां तक कि १८ वीं सदी के शुरू में भी पानी से चलनेवाली लकड़ी चीरने की मशीन बहुत मुश्किल से ही संसद का समर्थन पानेवाली जनता के विरोध पर क़ाबू पा सकी। १७५८ में एवेरेट ने पानी की शक्ति से चलनेवाली ऊन कतरने की पहली मशीन खड़ी की ही थी कि १ लाख लोगों ने, जो बेकार हो गये थे, उसमें आग लगा दी। पचास हज़ार मजदूरों ने, जो पहले ऊन धुनकर जीविका कमाया करते थे, आर्कराइट की बनायी हुई धुनने और तूमने की मशीनों के खिलाफ़ संसद को एक दरखास्त भेजी। वर्तमान शताब्दी के पहले पंद्रह वर्षों में इंगलैंड के कलकारखानों वाले डिस्ट्रिक्टों में मुख्यतया पावरलूम का उपयोग आरंभ हो जाने के कारण बड़े विशाल पैमाने पर मशीनों को नष्ट किया गया था। यही आंदोलन लुड्डाइट आंदोलन के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। उससे सिडमथ, कैसलरीह और उन सरीखे व्यक्तियों की जैकोबिन विरोधी सरकारों को बल-प्रयोग के अत्यंत प्रतिक्रियावादी क़दम उठाने का बहाना मिल गया। काफ़ी समय बीत जाने और बहुत-कुछ अनुभव प्राप्त करने के बाद ही मजदूर यह समझ पाये कि मशीनों में और पूंजी के द्वारा मशीनों के उपयोग में भेद होता है और उन्हें उत्पादन के भौतिक औजारों पर नहीं, बल्कि उनके उपयोग की विधि पर अपने प्रहार करने चाहिए।[194]

मैन्यूफ़ैक्चर में मजदूरी के सवाल पर होनेवाले झगड़ों का उद्देश्य किसी भी अर्थ में मैन्यूफ़ैक्चर के अस्तित्व पर प्रहार करना नहीं होता था, क्योंकि वे पहले भी हुआ करते थे। नये मैन्यूफ़ैक्चर की स्थापना का विरोध शिल्पी संघों तथा विशेषाधिकारप्राप्त नगरों की ओर से होता था, न कि मजदूरों की ओर से। इसीलिए मैन्यूफ़ैक्चर के काल के लेखक काम में लगे हुए मजदूरों का स्थान ले लेने के साधन के रूप में नहीं, बल्कि मुख्यतया मजदूरों की कमी को पूरा करने के साधन के रूप में श्रम-विभाजन की चर्चा करते हैं। यह भेद स्वतःस्पष्ट है। यदि

---

[194] पुराने ढंग के मैन्यूफ़ैक्चरों में मशीनों के खिलाफ़ मजदूरों के बलवे आज भी यदा-कदा बर्बर स्वरूप धारण कर लेते हैं। मसलन १८६५ में शेफ़ील्ड के रेती बनानेवालों के उपद्रव का रूप भी ऐसा ही हो गया था।

यह कहा जाये कि आजकल इंगलैंड में ५,००,००० व्यक्ति म्यूलों के द्वारा जितनी कपास कातते हैं, उतनी कपास पुराने चर्खे से कातने के लिए १० करोड़ आदमियों की आवश्यकता होगी, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि म्यूलों ने उन करोड़ों आदमियों का स्थान ले लिया है, जो कभी पैदा नहीं हुए थे। इसका केवल यह अर्थ होता है कि कताई की मशीनों का स्थान लेने के लिए कई करोड़ आदमियों की जरूरत होगी। दूसरी ओर, यदि हम यह कहते हैं कि इंगलैंड में पावरलूम ने ८,००,००० बुनकरों को बेरोज़गार कर दिया, तो हम पहले से मौजूद किन्हीं मशीनों का ज़िक्र नहीं करते, जिनका स्थान मज़दूरों की एक निश्चित संख्या को लेना होगा, बल्कि पहले से मौजूद उन बुनकरों की संख्या का ज़िक्र करते हैं, जिनका स्थान सचमुच करघों ने ले लिया था या जिनको उन्होंने बेकार कर दिया था। मैन्यूफ़ैक्चर के काल का आधार भी दस्तकारी का श्रम ही था, हालांकि उसमें श्रम-विभाजन ने कुछ परिवर्तन कर दिया था। मध्य युग से विरासत में मिले हुए शहरी कारीगरों की अपेक्षाकृत छोटी संख्या के कारण नयी औपनिवेशिक मंडियों की मांगों को संतुष्ट करना संभव न था। और जिनको वास्तव में मैन्यूफ़ैक्चर कहा जा सकता था, ऐसे व्यवसायों ने देहात की उस आबादी के लिए उत्पादन के नये क्षेत्र खोल दिये थे, जिसे सामंती व्यवस्था के विघटन ने ज़मीन से बेदखल कर दिया था। इसलिए उस वक़्त वर्कशाप के भीतर पाये जानेवाले श्रम-विभाजन तथा सहकारिता की ओर इस सकारात्मक दृष्टि से अधिक देखा जाता था कि इन चीज़ों से मज़दूरों का श्रम अधिक उत्पादक हो जाता है।[195] आधुनिक उद्योग के काल के बहुत पहले सहकारिता और कुछ आदमियों के हाथों में श्रम के औज़ारों का केंद्रीकरण हो जाने के फलस्वरूप अनेक ऐसे देशों में, जिनमें इन तरीक़ों को खेती में इस्तेमाल किया गया था, उत्पादन की प्रणालियों में बड़ी-बड़ी आकस्मिक क्रांतियां ज़बर्दस्ती हो गयी थीं और उनके फलस्वरूप देहात की आबादी के जीवन की परिस्थितियों में और उसके जीविका के साधनों में भी बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन हो गये थे। लेकिन शुरू-शुरू में यह संघर्ष पूंजी और मज़दूरों की अपेक्षा बड़े और छोटे भूस्वामियों के बीच ज़्यादा होता है। दूसरी ओर, जब मज़दूरों का स्थान श्रम के औज़ार – भेड़ें, घोड़े, आदि – ले लेते हैं, तब

---

[195] सर जेम्स स्टुअर्ट ने भी मशीनों को ठीक इसी अर्थ में समझा है। "इसलिए मैं मशीनों को मेहनत करनेवालों की संख्या को बढ़ाने का एक ऐसा साधन समझता हूं, जिसकी बदौलत नये मज़दूरों को खिलाने-पिलाने का ख़र्चा बर्दाश्त नहीं करना पड़ता... मशीनों का प्रभाव आबादी के बढ़ने के प्रभाव से किस बात में भिन्न होता है?" (*Recherche des principes de l'économie politique*, t. I, l. I, ch. XIX.) इससे अधिक भोलेपन का परिचय पैटी देते हैं। वह कहते हैं कि मशीनें "बहुपत्नी प्रथा" का स्थान ले लेती हैं। यह दृष्टिकोण अधिक से अधिक संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ भागों पर ही लागू होता है। दूसरी ओर, "किसी एक व्यक्ति का श्रम कम करने के उद्देश्य से मशीनों का बहुत मुश्किल से ही कभी सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है। उनके उपयोग से जितने समय की बचत होगी, उससे अधिक समय उनके बनाने में ज़ाया हो जायेगा। मशीनें केवल उसी हालत में उपयोगी होती हैं, जब वे लोगों की बड़ी संख्या पर प्रभाव डालती हैं और जब एक मशीन हज़ारों के काम में मदद दे सकती है। चुनांचे मशीनों की सबसे अधिक बहुतायत ज़्यादा आबादी वाले देशों में पायी जाती है, जहां बेकार लोगों की संख्या सबसे ज़्यादा होती है... मशीनों का उपयोग आदमियों की कमी के कारण नहीं होता, बल्कि जिस आसानी के साथ आदमियों को बड़ी संख्याओं में काम करने के लिए इकट्ठा किया जा सकता है, उसके कारण होता है।" (Piercy Ravenstone, *Thoughts on the Funding System and its Effects*, London, 1824, p.45.)

ऐसी स्थिति में सबसे पहले औद्योगिक क्रांति की भूमिका के रूप में प्रत्यक्ष रूप से बल का प्रयोग किया जाता है। पहले मज़दूरों को ज़मीन से खदेड़ दिया जाता है, फिर भेड़ें आ जाती हैं। बड़े पैमाने की खेती की स्थापना के लिए क्षेत्र तैयार करने की क्रिया में पहला क़दम ज़मीन की बड़े पैमाने पर छीना-खसोटी होती है, जैसी कि इंगलैंड में हुई थी।[196] इसलिए खेती में होनेवाला यह उलट-फेर शुरू-शुरू में राजनीतिक क्रांति अधिक प्रतीत होता है।

जब श्रम का औज़ार मशीन का रूप धारण कर लेता है, तब वह तत्काल ही ख़ुद मज़दूर का प्रतिद्वंद्वी बन जाता है।[197] मशीनों के द्वारा पूंजी का अपने आप जो विस्तार होता है, वह इसके बाद से उन मज़दूरों की संख्या के अनुलोम अनुपात में होता है, जिनकी जीविका के साधनों को इन मशीनों ने नष्ट कर दिया है। पूंजीवादी उत्पादन की पूरी व्यवस्था इस तथ्य पर आधारित है कि मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति को पण्य के रूप में बेचता है। श्रम-विभाजन इस श्रम-शक्ति को एक ख़ास औज़ार से काम लेने की कुशलता में परिणत करके उसका विशिष्टीकरण कर देता है। जैसे ही इस औज़ार से काम लेना किसी मशीन का कार्य बन जाता है, वैसे ही मज़दूर की श्रम-शक्ति के उपयोग-मूल्य के साथ-साथ उसका विनिमय-मूल्य भी ग़ायब हो जाता है। उस काग़ज़ी द्रव्य की तरह, जिसे क़ानून बनाकर चलन के बाहर फेंक दिया गया है, यह मज़दूर भी अब बिकने के लायक़ नहीं रहता। इस प्रकार मशीनें मज़दूर वर्ग के जिस भाग को फ़ालतू बना देती हैं, अर्थात् जिस भाग की पूंजी के आत्मविस्तार के लिए तात्कालिक आवश्यकता नहीं रहती, वह या तो मशीनों के साथ पुरानी दस्तकारियों और मैन्यूफ़ैक्चर की असमान प्रतियोगिता में परास्त होकर नेस्त-नाबूद हो जाता है या उद्योग की उन समस्त शाखाओं में बाढ़ के पानी की तरह भर जाता है, जिनतक उसकी अधिक आसानी से पहुंच संभव होती है। वह श्रम की मंडी को पाट देता है और श्रम-शक्ति के दाम को उसके मूल्य से नीचे गिरा देता है। मज़दूरों को यह कहकर बहुत दिलासा दिया जाता है कि एक तो उनका कष्ट केवल अस्थायी कष्ट ("एक अस्थायी असुविधा") है और दूसरे, मशीनें उत्पादन के किसी भी ख़ास क्षेत्र पर बहुत धीरे-धीरे ही अधिकार करती हैं, जिससे उनके विनाशकारी प्रभाव की व्यापकता एवं तीव्रता कम हो जाती हैं। पहला आश्वासन दूसरे आश्वासन को ख़त्म कर देता है। जब मशीनें किसी उद्योग पर धीरे-धीरे अधिकार करती हैं, तब उन मशीनों से प्रतियोगिता करनेवाले कारीगरों की स्थायी रूप से मुसीबत आ जाती है। जब परिवर्तन तेज़ी से होता है, तब उसका प्रभाव बहुत तीव्र होता है और बहुत बड़ी संख्या में लोग उसके शिकार हो जाते हैं। इंगलैंड में हाथ का करघा इस्तेमाल करनेवाले बुनकरों का जिस प्रकार धीरे-धीरे विनाश हुआ, उससे अधिक भयानक घटना इतिहास में और कोई नहीं मिलती। उनके विनाश की यह प्रक्रिया कई दशकों तक चलती रही और अंत में १८३८ में पूर्ण हुई। उनमें से बहुत से भूखों मर गये। बहुत से कुटुंब-परिवार वाले बुनकर बहुत

---

[196] [**चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ी गयी पाद-टिप्पणी** – यह बात जर्मनी पर भी लागू होती है। जर्मनी में जहां कहीं बड़े पैमाने की खेती पायी जाती है, यानी ख़ास तौर पर पूर्वी भाग में, वहां यह जागीरों को खाली कराने ("Bauernlegen") की उस प्रथा के कारण अस्तित्व में आ सकी है, जो १६वीं सदी से ही प्रचलित है और जिसने १६४८ के बाद से ख़ास तौर पर ज़ोर पकड़ लिया है। – फ़्रे० एं०]

[197] "मशीनों और श्रम के बीच बराबर प्रतियोगिता चला करती है।" (Ricardo, *Principles of Political Economy*, 3rd Ed., London, 1821, p. 479.)

समय तक ढाई पेंस रोज़ाना की मज़दूरी पर एड़ियां रगड़ते रहे।[198] दूसरी ओर, इंगलैंड की बनी हुई सूती मशीनों ने हिंदुस्तान पर बहुत ही गंभीर प्रभाव डाला। वहां के गवर्नर-जनरल ने १८३४-१८३५ में रिपोर्ट भेजी थी कि "जैसी मुसीबत यहां आयी है, वाणिज्य के इतिहास में उसकी मिसाल मिलनी मुश्किल है। हिंदुस्तान के मैदान सूती कपड़ा बुननेवालों की हड्डियों से सफ़ेद हो गये हैं।" इन बुनकरों को इस "नश्वर" संसार से विदा करके मशीनों ने निस्संदेह उन्हें केवल "एक अस्थायी असुविधा" दी थी। फिर मशीनें चूंकि सदा उत्पादन के नये क्षेत्रों पर अधिकार जमाया करती हैं, इसलिए उनका अस्थायी प्रभाव वास्तव में स्थायी होता है। इसलिए उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली कुल मिलाकर मज़दूर के मुक़ाबले में श्रम के औज़ारों और श्रम के उत्पाद को स्वतंत्रता और अलगाव का जो स्वरूप दे देती है, वह मशीनों के द्वारा विकसित होकर भरपूर विरोध बन जाता है।[199] अतएव मशीनों के आने के बाद ही मज़दूर पहली बार श्रम के औज़ारों के ख़िलाफ़ उग्र विद्रोह करता है।

---

[198] इंगलैंड में हाथ की बुनाई और शक्ति की मदद से होनेवाली बुनाई के बीच जो प्रतियोगिता चल रही थी, उसे १८३३ में ग़रीबों का क़ानून पास होने के पहले कुछ समय के लिए लंबा कर दिया गया था। वह इस तरह कि जिन कारीगरों की मज़दूरी आवश्यक अल्पतम से भी नीचे गिर गयी थी, उनको चर्च की ओर से सार्वजनिक सहायता दे दी जाती थी। "रेवरेंड मि० टर्नर १८२७ में कलकारख़ानों वाले चेशायर डिस्ट्रिक्ट में विल्मस्लो नामक स्थान के पादरी थे। उत्प्रवासन संबंधी समिति के प्रश्नों तथा मि० टर्नर के उत्तरों से पता चलता है कि मशीनों के ख़िलाफ़ मानव-श्रम की प्रतियोगिता को किस तरह क़ायम रखा जाता था। 'प्रश्न: क्या शक्ति से चलनेवाले करघे का उपयोग हाथ के करघे के उपयोग का स्थान नहीं ले लेता? उत्तर: निस्संदेह वह उसका स्थान ले लेता है। यदि हाथ का करघा इस्तेमाल करनेवाले बुनकरों को अपनी मज़दूरी में कटौती मंजूर करने के लिए तैयार न कर दिया जाता, तो शक्ति से चलनेवाला करघा हाथ के करघे के उपयोग का और भी अधिक स्थान ले लेता।' 'प्रश्न: लेकिन कटौती मंजूर करके बुनकर ने ऐसी मज़दूरी स्वीकार कर ली है, जो उसके जीवन-निर्वाह के लिए अपर्याप्त है, और वह बाक़ी के लिए चर्च की ओर से सार्वजनिक सहायता का सहारा लेता है? उत्तर: हां, यह बात सही है; और सच पूछिये, तो हाथ के करघे और शक्ति से चलनेवाले करघे की प्रतियोगिता को ग़रीबों की सहायता के लिए वसूल किये जानेवाले करों के ज़रिये ही जारी रखा जाता है।' इस प्रकार मशीनों के इस्तेमाल से मेहनत करनेवालों को यही लाभ होता है कि वे अपमानजनक कंगाली के शिकार हो जाते हैं या देश छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं। प्रतिष्ठावान तथा किसी हद तक स्वतंत्र कारीगरों से मनुष्य को अधोगति को पहुंचानेवाली दान की रोटी खाकर ज़िंदा रहनेवाले और सदा गिड़गिड़ाते रहनेवाले मुहताजों में बदल जाते हैं। और इसे ये लोग 'अस्थायी असुविधा' कहते हैं।" (*A Prize Essay on the Comparative Merits of Competition and Co-operation*, London, 1834, p. 29.)

[199] "जिस कारण से देश का राजस्व" (अर्थात्, जैसा कि रिकार्डो ने इसी अंश में समझाया है, ज़मींदारों और पूंजीपतियों की आय, क्योंकि आर्थिक दृष्टिकोण से वही राष्ट्र की दौलत होती है) "बढ़ सकता है, उसी कारण से साथ-साथ यह भी हो सकता है कि बहुत सारे लोग फ़ालतू और मज़दूरों की हालत बदतर हो जाये।" (Ricardo, l.c., p. 469) "मशीनों में जो भी सुधार होता है, उसका निरंतर यह उद्देश्य और यह प्रवृत्ति होती है कि मनुष्य के श्रम की तनिक भी आवश्यकता न रहे या वयस्क पुरुषों के श्रम के स्थान पर स्त्रियों और बच्चों के श्रम का अथवा कुशल मज़दूरों के श्रम की जगह पर अकुशल मज़दूरों के श्रम का उपयोग करके श्रम का दाम घटा दिया जाये।" (Ure [*Philosophy of Manufectures*, p. 35]).

श्रम का औज़ार मज़दूर को धराशायी कर देता है। जब भी नयी मशीनें इस्तेमाल होती हैं और उनकी पुराने ज़माने से विरासत में मिली दस्तकारियों और मैन्यूफ़ैक्चरों से प्रतियोगिता आरंभ होती है, मज़दूर और श्रम के औज़ार का यह प्रत्यक्ष विरोध सबसे अधिक स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है। मगर आधुनिक उद्योग में भी मशीनों का निरंतर सुधार और स्वचलन की प्रणाली का विकास ऐसा ही प्रभाव पैदा करते हैं। "उन्नत मशीनों का उद्देश्य यह होता है कि हाथ के श्रम को कम कर दें और इस बात की व्यवस्था करें कि कोई क्रिया या उत्पादन की कोई कड़ी मानव-उपकरण के बजाय लोहे के बने उपकरण की सहायता से संपन्न हो जाया करे।"[200] "जो मशीन अभी तक हाथ से चलायी जाती थी, उसे अब शक्ति द्वारा चलाना लगभग आम बात हो गयी है... मशीनों में इस तरह के छोटे-छोटे सुधार बराबर होते रहते हैं, जिनका उद्देश्य यह होता है कि शक्ति के ख़र्च में बचत हो, उतने ही समय में पहले से ज़्यादा काम निकले, या मशीन किसी बच्चे का, स्त्री का या पुरुष का स्थान ले ले। यद्यपि ऊपर से देखने में ऐसे सुधारों का महत्त्व कोई ज़्यादा मालूम नहीं होता, तथापि उनके परिणाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते हैं।"[201] "जब कभी किसी क्रिया में एक ख़ास तरह की पटुता और हाथ की मज़बूती की आवश्यकता होती है, तब उसे जितनी जल्दी संभव होता है, चतुर मज़दूर के हाथ से निकाल लिया जाता है, जिसके अनेक प्रकार की अनियमितताएं करने की संभावना रहती है। यह क्रिया एक ख़ास तरह के ऐसे यंत्र को सौंप दी जाती है, जो इस हद तक ख़ुद अपना नियमन कर लेता है कि एक बच्चा भी उसकी देखरेख का काम कर सकता है।"[202] "स्वचालित प्रणाली चालू होने पर कुशल श्रम अधिकाधिक स्थानच्युत होता जाता है।"[203] "मशीनों में जो सुधार होते हैं, उनका केवल यही असर नहीं होता कि एक ख़ास तरह का उत्पाद तैयार करने के लिए वयस्क श्रम की पहले जितनी मात्रा से काम लेने की आवश्यकता नहीं रहती, बल्कि उसका यह असर भी होता है कि एक प्रकार के मानव-श्रम के स्थान पर दूसरे प्रकार के मानव-श्रम से – अधिक कुशल श्रम के स्थान पर कम कुशल श्रम से, वयस्क श्रम के स्थान पर बच्चों के श्रम से, पुरुषों के स्थान पर स्त्रियों के श्रम से – काम लिया जाने लगता है। और इस सबका यह नतीजा होता है कि मज़दूरी की दर में नयी गड़बड़ पैदा हो जाती

---

[200] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1858*, p. 43.

[201] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1856*, p. 15.

[202] Ure, *Philosophy of Manufactures*, p. 19. "ईंटें बनाने में जो मशीनें इस्तेमाल की जाती हैं, उनका एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि मालिक कुशल मज़दूरों से पूर्णतया स्वतंत्र हो जाता है।" (*Children's Employment Commission, 5th Report*, London, 1866, p. 130, No. 46.) ग्रेट नार्दर्न रेलवे के मशीन विभाग के अधीक्षक मि० स्टररोक ने रेल के इंजन, आदि के निर्माण के बारे में कहा है: "दिन प्रति दिन महंगे अंग्रेज़ मज़दूरों को अधिकाधिक कम इस्तेमाल किया जा रहा है। इंगलैंड की वर्कशापों में पहले से बेहतर औज़ारों के इस्तेमाल के ज़रिये उत्पादन बढ़ाया जा रहा है, और इन औज़ारों के लिए निम्न कोटि के श्रम की आवश्यकता होती है... पहले इंजनों के सभी पुर्ज़े अनिवार्य रूप से मज़दूरों के कुशल श्रम द्वारा तैयार किये जाते थे। अब इंजनों के पुर्ज़े कम कुशल श्रम से तैयार हो जाते हैं पर औज़ार अच्छे इस्तेमाल किये जाते हैं। औज़ारों से मेरा मतलब इंजीनियर की मशीनों, ख़राद, रंदा करनेवाली मशीनों, बरमों और इसी तरह के अन्य यंत्रों से है।" (*Royal Commission on Railways, Minutes of Evidence*, Nos. 17862, 17863, London, 1867.)

[203] Ure, l.c., p. 20.

है।"[204] "साधारण म्यूल के स्थान पर स्वचालित म्यूल लगा देने का असर यह होता है कि कताई करनेवाले अधिकतर पुरुषों को जवाब दे दिया जाता है और लड़के-लड़कियों तथा बच्चों को बरक़रार रखा जाता है।"[205] जब काम का दिन पहले से छोटा कर दिया गया था, तब उसके दबाव के फलस्वरूप फ़ैक्टरी-व्यवस्था ने जिन वामन-डगों से प्रगति की थी, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि संचित व्यावहारिक अनुभव, उपलब्ध यांत्रिक साधनों और अनवरत प्राविधिक प्रगति के कारण फ़ैक्टरी-व्यवस्था का कैसे असाधारण वेग से विस्तार होने लगता है। परंतु १८६० में भी, जो कि इंगलैंड के सूती उद्योग के चरमोत्कर्ष का वर्ष था, कौन यह कल्पना कर सकता था कि अगले तीन साल में अमरीकी गृह-युद्ध का अंकुश लगने के फलस्वरूप मशीनों में इस तूफ़ानी गति से सुधार होंगे और उनके परिणामस्वरूप मज़दूरों की बहुत बड़ी संख्या को काम से जवाब मिल जायेगा? इस विषय के संबंध में फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्टों से कुछ उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा। मैंचेस्टर के एक कारख़ानेदार ने कहा है: "हमारे पास पहले धुनने की ७५ मशीनें थीं, अब १२ हैं, जो पहले जितना ही काम करती हैं... अब हम पहले से १४ कम मज़दूरों से काम ले रहे हैं, जिससे मज़दूरी में १० पाउंड प्रति सप्ताह की बचत हो जाती है। हमारा अनुमान है कि जितनी कपास हम इस्तेमाल करते हैं, उसमें अब पहले से १० प्रतिशत कम कपास ज़ाया हुआ करेगी।" "मैंचेस्टर की एक दूसरी महीन कताई करने-वाली मिल में मुझे बताया गया कि रफ़्तार को बढ़ाकर और कुछ स्वचालित क्रियाओं के उपयोग के द्वारा एक विभाग के मज़दूरों की संख्या में चौथाई की कमी कर दी गयी है, एक दूसरे विभाग में आधे से ज़्यादा मज़दूर हटा दिये गये हैं, और दूसरी धुनाई की मशीन के स्थान पर तूमने की मशीन का इस्तेमाल करके धुनाई-विभाग में पहले जितने आदमी काम करते थे, उनमें काफ़ी कमी कर दी गयी है।" अनुमान है कि कताई करनेवाली एक और मिल श्रम में १० प्रतिशत की बचत करने में सफल हुई है। मैंचेस्टर में कताई का व्यवसाय करनेवाली फ़र्म मेसर्स गिल्मूर ने बताया है: "हमारा विचार है कि हमारे हवा-घर में नयी मशीनों के फलस्व-रूप मज़दूरी और मज़दूरों के ख़र्च में पूरी एक तिहाई की कमी हो गयी है... जैक-फ़्रेम और ड्राइंग-फ़्रेम वाले विभाग का ख़र्चा लगभग एक तिहाई कम हो गया है और मज़दूरों की संख्या में भी एक तिहाई की कमी हो गयी है; कताई-विभाग के ख़र्चे में क़रीब एक तिहाई की कमी आ गयी है। परंतु इतना ही सब कुछ नहीं है। जब हमारा सूत कारख़ानेदारों के पास पहुंचेगा, तो नयी मशीनों के प्रयोग के फलस्वरूप वह पहले से इतना बेहतर सूत होगा कि वे लोग पुरानी मशीनों से तैयार किये हुए सूत से जितना और जैसा कपड़ा तैयार किया करते थे, अब उससे कहीं अधिक और कहीं बेहतर क़िस्म का कपड़ा तैयार कर सकेंगे।"[206] इसी रिपोर्ट में मि० रेडग्रेव ने आगे कहा है: "उत्पादन के बढ़ने के साथ-साथ असल में मज़दूरों की संख्या में बरा-बर कमी होती जा रही है। ऊनी मिलों में यह कमी कुछ समय पहले ही शुरू हो गयी थी और अब भी जारी है। चंद दिन पहले की बात है कि रोशडेल के पास के एक स्कूल के मास्टर ने मुझे बताया कि लड़कियों के स्कूल में विद्यार्थियों की संख्या में जो भारी कमी हो गयी है, उसका कारण केवल संकट ही नहीं है, बल्कि उसका कारण यह भी है कि ऊनी मिलों की मशीनों में बहुत सी तब्दीलियां हो गयी हैं, जिनके परिणामस्वरूप कम समय काम करनेवाले ७० मज़दूरों की छटनी हो गयी।"[207]

---

[204] Ure, *Philosophy of Manufactures*, p. 321.

[205] Ure, l.c., p. 23.

[206] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1863*, pp. 108, 109.

[207] l.c., p. 109. कपास-संकट के समय मशीनों में बहुत तेज़ी से जो सुधार हुए, उनकी मदद

निम्नलिखित तालिका से पता चलेगा कि अमरीकी गृह-युद्ध के कारण इंगलैंड के सूती उद्योग में जो यांत्रिक सुधार किये गये, उनका कुल मिलाकर क्या परिणाम हुआ।

फ़ैक्टरियों की संख्या

	१८५७	१८६१	१८६८
इंगलैंड और वेल्स	२,०४६	२,७१५	२,४०५
स्कॉटलैंड	१५२	१६३	१३१
आयरलैंड	१२	९	१३
युनाइटेड किंगडम	२,२१०	२,८८७	२,५४९

शक्ति से चलनेवाले करघों की संख्या

	१८५७	१८६१	१८६८
इंगलैंड और वेल्स . . .	२,७५,५९०	३,६८,१२५	३,४४,७१९
स्कॉटलैंड	२१,६२४	३०,११०	३१,८६४
आयरलैंड	१,६३३	१,७५७	२,७४६
युनाइटेड किंगडम . . .	२,९८,८४७	३,९९,९९२	३,७९,३२९

तकुओं की संख्या

	१८५७	१८६१	१८६८
इंगलैंड और वेल्स	२,५८,१८,५७६	२,८३,५२,१२५	३,०४,७८,२२८
स्कॉटलैंड	२०,४१,१२९	१९,१५,३९८	१३,९७,५४६
आयरलैंड	१,५०,५१२	१,१९,९४४	१,२४,२४०
युनाइटेड किंगडम	२,८०,१०,२१७	३,०३,८७,४६७	३,२०,००,०१४

से अंग्रेज कारखानेदारों ने अमरीकी गृह-युद्ध समाप्त होने के तत्काल बाद और देखते ही देखते एक बार फिर सारी दुनिया की मंडियों को अपने पण्य से पाट दिया। १८६६ के अंतिम छः महीनों में यह हालत हो गयी थी कि कपड़े को बेच सकना लगभग असंभव हो गया था। तब हिंदुस्तान और चीन को पण्य भेजना शुरू हुआ, जिससे स्वभावतया मंडियों में पण्यों की इफ़रात और भी बढ़ गयी। १८६७ के शुरू में कारख़ानेदारों ने इस कठिनाई से निकलने के लिए उसी उपाय का सहारा लिया, जिसका वे अक्सर सहारा लिया करते हैं, यानी उन्होंने मज़दूरों की मज़दूरी में ५ प्रतिशत की कटौती कर दी। मज़दूरों ने इसका विरोध किया और कहा कि समस्या का एकमात्र हल यह है कि उनसे कम समय काम लिया जाये और सप्ताह में ४ दिन काम कराया जाये। और मज़दूरों की बात ही सही थी। उद्योग के आत्मनियुक्त मालिक कुछ समय तक तो अपनी बात पर डटे रहे, पर बाद में उनको मज़दूरों से कम समय काम लेने के लिए राज़ी होना पड़ा। कुछ स्थानों में मालिकों ने काम का समय कम करने के साथ-साथ मज़दूरी भी घटा दी, अन्य स्थानों में मज़दूरी वही रही, मगर समय घट गया।

फ़ैक्टरियों में काम करनेवाले व्यक्तियों की संख्या

	१८५७	१८६१	१८६८
इंगलैंड ग्रौर वेल्स . . .	३,४१,१७०	४,०७,५९८	३,५७,०५२
स्कॉटलैंड	३४,६९८	४१,२३७	३९,८०९
ग्रायरलैंड	३,३४५	२,७३४	४,२०३
युनाइटेड किंगडम . . .	३,७९,२१३	४,५१,५६९	४,०१,०६४

इस तरह १८६१ ग्रौर १८६८ के बीच ३३८ सूती फ़ैक्टरियां ग़ायब हो गयीं। दूसरे शब्दों में, पहले से बड़े पैमाने की ग्रधिक उत्पादक मशीनें पूंजीपतियों की पहले से छोटी संख्या के हाथों में संकेंद्रित हो गयीं। शक्ति से चलनेवाले करघों की संख्या में २०,६६३ की कमी ग्रा गयी। लेकिन इसी काल में चूंकि उनकी पैदावार पहले से बढ़ गयी, इसलिए इसका यही मतलब है कि सुधरे हुए करघे के द्वारा पुराने करघे की ग्रपेक्षा ग्रधिक माल तैयार किया जाने लगा होगा। ग्रंतिम बात यह है कि तकुग्रों की संख्या में तो १६,१२,५४१ की वृद्धि हो गयी, पर मज़दूरों की संख्या में ५०,५०५ की कमी ग्रा गयी। कपास के संकट ने मज़दूरों पर जो "ग्रस्थायी" कंगाली ढायी थी, वह मशीनों की तेज़ एवं ग्रनवरत प्रगति के फलस्वरूप ग्रौर भी बढ़ गयी ग्रौर ग्रस्थायी से स्थायी बन गयी।

परंतु मशीनें न केवल मज़दूर के एक ऐसे प्रतिद्वंद्वी का काम करती हैं, जो मज़दूर को परास्त कर देता है ग्रौर जो उसे सदा बेकार बना देने पर तुला रहता है, वे मज़दूर से वैर रखनेवाली शक्ति का काम भी करती हैं। पूंजी ढोल पीटकर इस बात का ऐलान ग्रौर इसी रूप में मशीनों का उपयोग किया करती है। हड़तालों को, पूंजी के निरंकुश शासन के ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग के समय-समय पर फूट पड़नेवाले उन विद्रोहों को कुचलने का सबसे शक्तिशाली ग्रस्त्र मशीनें होती हैं।[208] गैस्केल का कहना है कि भाप का इंजन शुरू से ही मानव-शक्ति का वैरी था। इसी वैरी के कारण पूंजीपति उन मज़दूरों की बढ़ती हुई मांगों को ग्रपने पैरों तले कुचलने में सफल हुग्रा, जिनसे नवजात फ़ैक्टरी-व्यवस्था के लिए संकट का ख़तरा पैदा हो गया था।[209] १८३० के बाद से ग्राज तक पूंजी के हाथ में मज़दूर वर्ग के विद्रोहों को कुचलने के ग्रस्त्र देने के एकमात्र उद्देश्य से कुल जितने ग्राविष्कार हुए हैं, उनका एक ग्रच्छा-ख़ासा इतिहास तैयार किया जा सकता है। इनमें सबसे ग्रधिक महत्त्वपूर्ण ग्राविष्कार स्वचालित म्यूल है, क्योंकि उसने स्वचालित यंत्र-व्यवस्था के इतिहास में एक नये युग का श्रीगणेश किया था।[210]

[208] "ब्लोन-फ़्लिंट कांच की बोतलें बनाने के व्यवसाय में मालिक ग्रौर मज़दूर का संबंध एक बराबर जारी रहनेवाली हड़ताल के समान होता है।" इसी कारण प्रेस्ड कांच के निर्माण को बहुत बढ़ावा मिला है, जिसमें मुख्य क्रियाएं मशीनों के द्वारा संपन्न होती हैं। न्यूकैसल की एक फ़र्म जो पहले ३,५०,००० पाउंड फ़्लिंट कांच तैयार किया करती थी, ग्रब उसके स्थान पर ३०,००,५०० पाउंड प्रेस्ड कांच तैयार करती है। (*Children's Employment Commission, 4th Report*, 1865, pp. 262-263.)

[209] Gaskell, *The Manufacturing Population of England*, London, 1833, pp. 3, 4.

[210] डब्ल्यू० फ़ेयरबेर्न ने मशीनों के निर्माण में मशीनों के उपयोग के कई महत्त्वपूर्ण ढंग

भाप से चलनेवाले हथौड़े के आविष्कारक नाज़मिथ ने मशीनों में जो सुधार किये थे, वे १८५१ में इंजीनियरों की व्यापक और लंबी हड़तालों के फलस्वरूप व्यवहार में आये थे। नाज़मिथ ने इन सुधारों के विषय में ट्रेड-यूनियन कमीशन के सामने यह बयान दिया था: "हमारे आधुनिक यांत्रिक सुधारों की ख़ास विशेषता यह है कि स्वचालित औज़ारों वाली मशीनों का प्रयोग होने लगा है। अब यांत्रिक काम करनेवाले प्रत्येक मज़दूर को जैसा काम करना पड़ता है, वह एक लड़का भी कर सकता है। अब उसे ख़ुद काम नहीं करना होता, बल्कि मशीन के सुंदर श्रम की देखरेख करनी होती है। केवल अपनी कुशलता पर निर्भर करनेवाले मज़दूरों का पूरा वर्ग अब समाप्त हो गया है। पहले मैं हर कारीगर के पीछे चार लड़कों को नौकर रखता था। अब इन नये यांत्रिक आविष्कारों के फलस्वरूप मैंने वयस्क मज़दूरों की संख्या को १,५०० से घटाकर ७५० कर दी है। नतीजा यह हुआ है कि मेरे मुनाफ़े में काफ़ी इज़ाफ़ा हो गया है।"

छींट की छपाई में इस्तेमाल होनेवाली एक मशीन का ज़िक्र करते हुए यूर ने कहा है: "आख़िरकार पूंजीपतियों ने इस असहनीय दासता से" (यानी, मज़दूरों के साथ किये गये क़रारों की उन शर्तों से, जो पूंजीपतियों की दृष्टि में बहुत सख़्त थीं) "मुक्ति पाने के लिए विज्ञान की शक्ति का सहारा लिया, और उसके द्वारा शीघ्र ही, जिस प्रकार मस्तिष्क शरीर की गौण इंद्रियों पर शासन करता है, उसी प्रकार का पूंजीपतियों का भी न्यायोचित शासन पुनः स्थापित हो गया।" ताना तैयार करने की एक मशीन के आविष्कार की चर्चा करते हुए यूर ने लिखा है: "तब उन संघबद्ध असंतुष्ट लोगों को, जो समझते थे कि श्रम-विभाजन की पुरानी सीमा-रेखाओं के पीछे उनकी मोर्चेबंदी इतनी मज़बूत है कि उसमें कोई व्यक्ति ज़रा भी दरार नहीं डाल सकता, पता चला कि शत्रु की फ़ौज बाज़ू से निकलकर उनके पीछे पहुंच गयी है और नयी यांत्रिक कार्यनीति ने उनकी मोर्चेबंदी को बिल्कुल बेकार बना दिया; और तब इन लोगों को मजबूर होकर इसीमें अपनी भलाई दिखायी दी कि आत्मसमर्पण कर दें।" स्वचालित म्यूल के आविष्कार के बारे में यूर ने कहा है: "यह आविष्कार कामगार वर्गों में पुनः अनुशासन स्थापित करने का काम करेगा... यह आविष्कार उस महान सिद्धांत की पुष्टि करता है, जिसका पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका है – वह यह कि जब कभी पूंजी विज्ञान को अपना सेवक बना लेती है, तब ढीठ मज़दूरों को सदा थोड़ा विनम्रता का पाठ सीखना पड़ता है।"[211] यद्यपि यूर की यह रचना ३० वर्ष पहले, उस समय प्रकाशित हुई थी, जब फ़ैक्टरी-व्यवस्था का अपेक्षाकृत बहुत कम विकास हुआ था, तथापि वह फ़ैक्टरी की भावना को आज भी पूरी तरह अभिव्यक्त करती है। कारण कि इस रचना में न केवल उसकी आस्था-हीनता सर्वथा अनावृत रूप में सामने आ जाती है, बल्कि वह पूंजीवादी मस्तिष्क के मूर्खतापूर्ण विरोधों को भी बड़े भोलेपन के साथ बिना सोचे-समझे खोलकर रख देती है। उदाहरण के लिए, इस उपर्युक्त "सिद्धांत" का प्रतिपादन करने के बाद कि विज्ञान को अपना सेवक बनाकर पूंजी उसकी मदद से सदा ढीठ मज़दूर को विनम्र बना देती है, यूर इस बात पर अपना क्रोध प्रकट करते हैं कि "उसपर" (भौतिक-यांत्रिक विज्ञान पर) "यह आरोप लगाया जाता

निकाले थे। इसका कारण यह था कि ख़ुद उसकी अपनी वर्कशाप में कई हड़तालें हो चुकी थीं।

[211] Ure, *Philosophy of Manufactures*, pp. 367-370.

है कि वह धनी पूंजीपति के हाथ में ग़रीबों को सताने का साधन बन जाता है।" फिर मशीनों के तेज़ विकास से मज़दूरों को कितना लाभ होता है, इस संबंध में श्रमजीवियों को एक लंबा उपदेश सुनाने के बाद यूर उनको चेतावनी देते हैं कि वे अपनी ज़िद्द तथा अपनी हड़तालों से विकास की इस गति को और तेज़ बना रहे हैं। यूर ने लिखा है: "इस प्रकार की तीव्र उथल-पुथल अदूरदर्शी मनुष्य को ख़ुद अपने को सतानेवाले व्यक्ति के घृणास्पद रूप में पेश करती है।" पर इसके कुछ पहले उन्होंने इसकी उल्टी बात कही है: "यदि फ़ैक्टरी-मज़दूरों में पाये जानेवाले ग़लत विचारों के कारण इस तरह की तेज़ टक्करें न होतीं और काम बार-बार बीच में न रुक जाया करता, तो फ़ैक्टरी-व्यवस्था का और भी तेज़ी से विकास होता, जिससे सबको लाभ पहुंचता।" आगे उन्होंने फिर यह कहा है कि "ग्रेट ब्रिटेन के सूती कपड़े की बुनाई के डिस्ट्रिक्टों की आबादी के लिए यही सौभाग्य की बात है कि वहां मशीनों में क्रमिक सुधार हो रहे हैं।" "कहा जाता है कि इनसे" (मशीनों में होनेवाले सुधारों से) "वयस्क मज़दूरों की कमाई की दर गिर जाती है, क्योंकि उनके एक भाग को काम से जवाब मिल जाता है और इस तरह उनके श्रम के लिए जो मांग रह जाती है, उसकी तुलना में वयस्क मज़दूरों की संख्या आवश्यकता से बहुत अधिक हो जाती है। निश्चय ही इससे बच्चों के श्रम की मांग बढ़ जाती है और उनकी मज़दूरी की दर चढ़ जाती है।" दूसरी ओर, सबको दिलासा देनेवाला यह लेखक बच्चों की कम मज़दूरी को इस बिना पर उचित सिद्ध करने की कोशिश करता है कि बच्चों की कम मज़दूरी उनके मां-बाप को उन्हें बहुत छोटी उम्र में फ़ैक्टरी में काम करने के लिए भेजने से रोकती है। यूर की इस पूरी पुस्तक से इस बात की पुष्टि होती है कि काम के दिन की लंबाई पर किसी प्रकार की सीमा या प्रतिबंध नहीं लगाया जाना चाहिए। यह देखकर कि संसद ने १३ वर्ष के बच्चों से १२-१२ घंटे रोज़ाना काम लेकर उनको थका डालने की मनाही कर दी है, यूर की उदारपंथी आत्मा को मध्य युग के सबसे अधिक अंधकारमय दिनों की याद आ जाती है। पर फिर भी वह मज़दूरों से यह कहने में नहीं चूकते कि उन्हें विधाता को इसके लिए धन्यवाद देना चाहिए कि उसने मशीनों के द्वारा उन्हें अपने "शाश्वत हितों" के बारे में सोचने का अवकाश प्रदान किया है।[212]

अनुभाग ६ – मशीनों द्वारा विस्थापित मज़दूरों की क्षति-पूर्ति का सिद्धांत

जेम्स मिल, मैककुलोच, टॉरेन्स, सीनियर, जॉन स्टुअर्ट मिल और उनके अलावा अन्य बहुत से बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्रियों का दावा है कि ऐसी सभी मशीनें, जो मज़दूरों को विस्थापित कर देती हैं, इसके साथ-साथ और अनिवार्य रूप से इतनी मात्रा में पूंजी को भी मुक्त कर देती हैं, जो ठीक इन्हीं विस्थापित मज़दूरों को नौकर रखने के लिए काफ़ी होती है।[213]

---

[212] Ure, *Philosophy of Manufactures*, pp. 368, 7, 370, 280, 281, 321, 370, 475.

[213] शुरू में रिकार्डो की भी यही राय थी, लेकिन बाद को उन्होंने अपनी उस वैज्ञानिक निष्पक्षता और सत्य के प्रेम का स्पष्ट प्रमाण देते हुए, जो उनके ख़ास गुण थे, साफ़ तौर पर यह कह दिया था कि उन्होंने अपना पुराना मत त्याग दिया है। देखिये D. Ricardo, *Principles of Political Economy*, Ch. XXXI. *On Machinery*.

मान लीजिये कि एक पूंजीपति ने क़ालीन बनाने की फ़ैक्टरी में १०० मज़दूरों को ३० पाउंड सालाना के वेतन पर नौकर रखा है। ऐसी हालत में उसकी परिवर्ती पूंजी, जो वह हर साल लगाता है, ३,००० पाउंड बैठती है। आगे मान लीजिये कि वह अपने ५० मज़दूरों को जवाब दे देता है और बाक़ी ५० को नयी मशीनों पर काम करने के लिए रखता है, जिन-पर उसे १,५०० पाउंड ख़र्च करने पड़े हैं। हिसाब को सरल रखने के लिए यहां पर हम मकानों, कोयला, आदि की ओर कोई ध्यान नहीं देंगे। अब यह और मान लीजिये कि कच्चे माल पर इस परिवर्तन के पहले भी और अब भी हर साल ३,००० पाउंड ख़र्च होते हैं।[214] क्या इस रूपांतरण से कोई पूंजी मुक्त हो जाती है? परिवर्तन के पहले ६,००० पाउंड की कुल पूंजी का आधा भाग स्थिर पूंजी का और आधा परिवर्ती पूंजी का था। परिवर्तन के बाद उसमें ४,५०० पाउंड स्थिर पूंजी के होते हैं (३,००० पाउंड कच्चे माल के और १,५०० पाउंड मशीनों के) और १,५०० पाउंड परिवर्ती पूंजी के। यानी परिवर्ती पूंजी कुल पूंजी की आधी होने के बजाय केवल चौथाई रह जाती है। पूंजी का मुक्त होना तो दूर रहा, यहां उल्टे उसका एक भाग इस तरह फंस जाता है कि उसका श्रम-शक्ति से विनिमय नहीं किया जा सकता: परिवर्ती पूंजी स्थिर पूंजी में बदल जाती है। यदि अन्य बातें समान रहें, तो ६,००० पाउंड की पूंजी भविष्य में ५० आदमियों से ज़्यादा को नौकर नहीं रख पायेगी। मशीनों में होनेवाले प्रत्येक सुधार के साथ वह पहले से कम मज़दूरों को नौकर रखती है। यदि नयी मशीनों पर उतना ख़र्च नहीं होता, जितना उस श्रम-शक्ति तथा उन औज़ारों पर होता था, जिनका इन नयी मशीनों ने स्थान ले लिया है, यदि, उदाहरण के लिए, १,५०० पाउंड के बजाय नयी मशीनों पर केवल १,००० पाउंड ही ख़र्च होते हैं, तब १,००० पाउंड की परिवर्ती पूंजी तो स्थिर पूंजी में बदल जायेगी और ५०० पाउंड की पूंजी मुक्त हो जाये-गी। यदि यह मान लिया जाये कि मज़दूरी में कोई तब्दीली नहीं होती, तो यह दूसरी रक़म इसके लिए काफ़ी होगी कि जिन ५० मज़दूरों को काम से जवाब मिल गया है, उनमें से लग-भग १६ को फिर से नौकर रख लिया जाये। नहीं, बल्कि १६ से भी कम को ही नौकर रखा जा सकेगा, क्योंकि ५०० पाउंड की इस रक़म को पूंजी के रूप में इस्तेमाल होने के लिए इसके एक हिस्से को अब स्थिर पूंजी बन जाना होगा, और उसके बाद जो कुछ बचेगा, केवल वही श्रम-शक्ति पर ख़र्च किया जा सकेगा।

लेकिन इसके अलावा यह भी मान लीजिये कि नयी मशीनें बनाने में पहले से अधिक मैके-निकों को नौकरी मिल जाती है। तब क्या यह कहा जा सकता है कि जिन क़ालीन बनाने-वाले कारीगरों की रोज़ी छिन गयी है, इस तरह उनकी क्षति-पूर्ति हो जायेगी? अधिक से अधिक अनुकूल परिस्थितियों में भी मशीनों के उपयोग से जितने मज़दूरों को जवाब मिलता है, मशीनें बनाने में उससे कम मज़दूरों को ही काम मिल पाता है। १,५०० पाउंड की वह रक़म, जो पहले क़ालीन बनानेवाले उन कारीगरों की मज़दूरी का प्रतिनिधित्व करती थी, जिनको जवाब दे दिया गया है, अब मशीनों के रूप में इन चीज़ों का प्रतिनिधित्व करती है: १) इन मशीनों को बनाने में इस्तेमाल किये गये उत्पादन के साधनों का मूल्य; २) इनको बनाने में जिन मैकेनिकों से काम लिया गया, उनकी मज़दूरी, और ३) वह बेशी मूल्य,

---

[214] पाठक को यह याद रखना चाहिए कि मैंने यहां बिल्कुल उपर्युक्त अर्थशास्त्रियों के ढंग का ही उदाहरण दिया है।

जो इन मज़दूरों के "मालिक" के हिस्से में पड़ा। इसके अलावा जब तक मशीनें एकदम घिस नहीं जातीं, तब तक उनकी जगह पर नयी मशीनें लगाना ज़रूरी नहीं होता। इसलिए मैके-निकों की बढ़ी हुई संख्या का रोज़गार लगातार बरक़रार रखने के लिए यह ज़रूरी है कि क़ालीन तैयार करनेवाले एक पूंजीपति के बाद दूसरा पूंजीपति मज़दूरों को जवाब देता जाये और उनकी जगह पर मशीनें लगाता जाये।

असल में इस व्यवस्था की वकालत करनेवाले अर्थशास्त्री जब पूंजी के मुक्त कर दिये जाने की चर्चा करते हैं, तब उनका यह मतलब नहीं होता। उनका मतलब मज़दूरों के जीवन-निर्वाह के मुक्त कर दिये गये साधनों से होता है। उपर्युक्त उदाहरण में इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मशीनें न केवल ५० आदमियों को मुक्त कर देती हैं, जिनको अब दूसरे पूंजीपति इस्तेमाल कर सकते हैं, बल्कि इसके साथ-साथ वे १,५०० पाउंड के मूल्य के जीवन-निर्वाह के साधनों को मज़दूरों के उपभोग की परिधि के बाहर खींच लेती हैं और इस प्रकार उनको भी मुक्त कर देती हैं। इसलिए इस साधारण तथ्य का – जो कोई नया तथ्य कदापि नहीं है – कि मशीनें मज़दूरों को उनके जीवन-निर्वाह के साधनों से अलग कर देती हैं, अर्थशास्त्र की भाषा में यह अर्थ होता है कि मशीनें मज़दूर के जीवन-निर्वाह के साधनों को आज़ाद कर देती हैं, या इन साधनों को मज़दूर को नौकरी देने के लिए पूंजी में बदल देती हैं। इसलिए जैसा कि आप ख़ुद देख सकते हैं, असली महत्त्व बात का नहीं, बात करने के ढंग का होता है। Nominibus mollire licet mala [बुरी चीज़ों को अच्छे नामों की रामनामी उढ़ायी जानी चाहिए]।

इस सिद्धांत का अर्थ यह है कि १,५०० पाउंड के मूल्य के जीवन-निर्वाह के साधन वह पूंजी थे, जिसका विस्तार उन ५० आदमियों के श्रम के द्वारा हो रहा था, जिनको जवाब दे दिया गया है। और इसलिए जैसे ही इन मज़दूरों की ज़बर्दस्ती की छुट्टी आरंभ होती है, वैसे ही इस पूंजी का उपयोग में आना बंद हो जाता है, और जब तक उसे कोई ऐसा नया क्षेत्र नहीं मिल जाता, जहां वह फिर उन्हीं ५० आदमियों के द्वारा उत्पादक ढंग से ख़र्च की जा सके, तब तक उसे चैन नहीं आता। और इसलिए देर या सबेर इस पूंजी का और उन मज़दूरों का फिर से इकट्ठा होना ज़रूरी है, और उनके इकट्ठा होने पर ही पूरी क्षति-पूर्ति हो सकती है। चुनांचे मशीनें जिन मज़दूरों को विस्थापित कर देती हैं, उनके कष्ट उतने ही क्षण-भंगुर होते हैं, जितनी क्षण-भंगुर इस दुनिया की दौलत होती है।

जहां तक नौकरी से हटाये गये मज़दूरों का संबंध है, १,५०० पाउंड के मूल्य के ये जीवन-निर्वाह के साधन कभी पूंजी नहीं थे। इन मज़दूरों के सामने जो चीज़ असल में पूंजी बनकर आयी थी, वह थी १,५०० पाउंड की रक़म, जो बाद को मशीनों पर ख़र्च कर दी गयी। ज़रा और ध्यान से देखने पर आप पायेंगे कि यह रक़म उन क़ालीनों के एक भाग का प्रतिनिधित्व करती है, जिनको वे ५० आदमी, जिनको अब जवाब मिल गया है, साल भर में तैयार करते थे। यह रक़म उन क़ालीनों के उस भाग का प्रतिनिधित्व करती है, जो मज़दूरों को अपने मालिक से क़ालीनों के बजाय द्रव्य की शक्ल में बतौर मज़दूरी के मिल जाता था। द्रव्य की शक्ल में इन क़ालीनों से मज़दूर १,५०० पाउंड के मूल्य के जीवन-निर्वाह के साधन ख़रीद लेते थे। इसलिए जहां तक इन मज़दूरों का संबंध है, जीवन-निर्वाह के ये साधन पूंजी नहीं, बल्कि पण्य थे, और इन पण्यों के सिलसिले में मज़दूर मज़दूरी पर मेहनत करनेवाले नहीं, बल्कि ख़रीदार थे। अब चूंकि उनको मशीनों ने ख़रीदने के साधनों से "मुक्त" कर दिया है, इसलिए वे ख़रीदारों से न-ख़रीदनेवालों में बदल जाते हैं। चुनांचे उन पण्यों की

मांग में कमी हो जाती है – और voilà tout [बस, बात ख़त्म]। यदि किसी अन्य क्षेत्र में मांग की वृद्धि से इस कमी की क्षति-पूर्ति नहीं हो जाती, तो पण्यों का बाज़ार-भाव गिर जाता है। यदि कुछ समय तक यही स्थिति बनी रहती है और उसका विस्तार कुछ और बढ़ जाता है, तो इन पण्यों के उत्पादन में लगे हुए मज़दूरों को काम से जवाब मिल जाता है। जो पूंजी पहले जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के उत्पादन में लगी हुई थी, उसका किसी और रूप में पुनरुत्पादन होना आवश्यक हो जाता है। इधर दाम गिरते हैं और पूंजी विस्थापित होती है, उधर जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के उत्पादन में लगे मज़दूरों को उनकी मज़दूरी के एक भाग से "मुक्त" कर दिया जाता है। इसलिए यह साबित करने के बजाय कि जब मशीनें मज़दूर को उसके जीवन-निर्वाह के साधनों से मुक्त कर देती हैं, तब वे उसके साथ-साथ इन साधनों को ऐसी पूंजी में बदल देती हैं, जो मज़दूर को फिर नौकर रख सकती है, पूंजीवादी व्यवस्था के ये वकील, उल्टे, पूर्ति और मांग के अपने पहले से तैयार नियम के द्वारा यह प्रमाणित कर देते हैं कि मशीनें उत्पादन के न केवल उस क्षेत्र में मज़दूरों को बेरोज़गार बना देती हैं, जिसमें वे ख़ुद इस्तेमाल की जाती हैं, बल्कि वे उन क्षेत्रों के मज़दूरों की भी रोज़ी छीन लेती हैं, जिनमें वे इस्तेमाल नहीं की जा रही हैं।

अर्थशास्त्रियों के आशावाद ने जिन वास्तविक तथ्यों को इस हास्यास्पद रूप में पेश किया है, वे इस प्रकार हैं: मशीनें जिन मज़दूरों को वर्कशाप से निकालकर बाहर कर देती हैं, वे श्रम की मंडी में मारे-मारे फिरते हैं और वहां उन बेकार मज़दूरों की संख्या को बढ़ाते हैं, जिनसे पूंजीपति जब चाहें काम ले सकते हैं। इस पुस्तक के भाग ७ में पाठक देखेंगे कि मशीनों का यह प्रभाव, जिसे अर्थशास्त्री मज़दूर वर्ग की क्षति-पूर्ति के रूप में पेश करते हैं, वास्तव में इसके विपरीत मज़दूरों के लिए एक अत्यंत भयानक विपत्ति होता है। फ़िलहाल मैं केवल इतना ही कहूंगा कि इसमें शक नहीं कि जिन मज़दूरों को उद्योग की किसी एक शाखा से जवाब मिल जाता है, वे किसी और शाखा में नौकरी की तलाश कर सकते हैं। पर यदि उनको नौकरी मिल जाती है और यदि इस प्रकार वे जीवन-निर्वाह के साधनों के साथ पुनः अपना संबंध स्थापित करने में सफल हो जाते हैं, तो यह केवल किसी नयी एवं अतिरिक्त पूंजी, जो निवेश के लिए उत्सुक है, की मध्यस्थता से ही संभव होता है। जिस पूंजी ने उनको पहले नौकरी दे रखी थी और जो बाद को मशीनों में बदल गयी थी, उसकी मध्यस्थता से यह कदापि संभव नहीं होता। और यदि उनको नौकरी मिल जाती है, तब भी, ज़रा सोचिये कि उनका भविष्य कितना अंधकारमय रहता है! इन अभागों को तो श्रम-विभाजन ने लुंज बना रखा है, इसलिए अपने पुराने धंधे के बाहर उनकी बहुत कम क़ीमत रह जाती है, और घटिया क़िस्म के चंद उद्योगों को छोड़कर, जिनमें बहुत कम मज़दूरी पानेवाले मज़दूरों की सदा ज़रूरत से ज़्यादा इफ़रात रहती है, उनको और किसी उद्योग में जगह नहीं मिलती।[215]

[215]जे० बी० सेय की फुसफुसी बातों के जवाब में रिकार्डो के एक शिष्य ने इस विषय के संबंध में यह लिखा है: "जहां श्रम-विभाजन का अच्छा विकास होता है, वहां मज़दूर की कुशलता से केवल उसी ख़ास शाखा में काम लिया जा सकता है, जिस शाखा में वह कुशलता प्राप्त की गयी है। मज़दूर ख़ुद भी एक ढंग की मशीन होता है। इसलिए तोते की तरह बार-बार यह दोहराते जाने से तनिक भी सहायता नहीं मिलती कि चीज़ों में स्वयं अपना स्तर तलाश कर लेने की प्रवृत्ति होती है। यदि हम अपने इर्दगिर्द आंखें दौड़ाकर देखें, तो लाज़िमी तौर पर यह पायेंगे कि चीज़ों को बहुत समय तक अपना स्तर नहीं मिलता, और जब वह मिल भी जाता है, तब वह क्रिया के आरंभ होने के समय से सदा नीचे का स्तर

इसके अलावा उद्योग की प्रत्येक शाखा हर वर्ष मजदूरों की एक नयी धारा को अपनी ओर खींचती है। इस शाखा में जो जगहें खाली होती हैं, उनको इस धारा से भर लिया जाता है, और शाखा का विस्तार करने में भी ये आदमी काम में आते हैं। जैसे ही मशीनें उद्योग की किसी खास शाखा में नौकरी करनेवाले मजदूरों के एक हिस्से को मुक्त कर देती हैं, वैसे ही ये रिजर्व मजदूर भी नौकरी के नये क्षेत्रों में चले जाते हैं और अन्य शाखाओं में लग जाते हैं। इस बीच जो लोग शुरू में बेकार हुए थे, वे परिवर्तन के काल में प्रायः भूख का शिकार बनकर खत्म हो जाते हैं।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि मजदूर को जीवन-निर्वाह के साधनों से "मुक्त कर देने" के लिए जिम्मेदार खुद मशीनें नहीं होतीं। मशीनें तो उस शाखा में उत्पादन को बढ़ाती हैं और सस्ता कर देती हैं, जिसपर वे अधिकार कर लेती हैं, और शुरू-शुरू में अन्य शाखाओं में तैयार होनेवाले जीवन-निर्वाह के साधनों की राशि में मशीनों के कारण कोई तब्दीली नहीं आती। इसलिए जिन मजदूरों को काम से जवाब मिल गया है, उनके लिए समाज के पास मशीनों का उपयोग आरंभ होने के बाद यदि अधिक नहीं, तो कम से कम उतनी जीवनोपयोगी वस्तुएं अवश्य होती हैं, जितनी इसके पहले उसके पास थीं। और वार्षिक उत्पाद का जो बड़ा भारी हिस्सा काम न करनेवाले लोग जाया कर देते हैं, वह अलग है। और पूंजीवादी व्यवस्था की वकालत करनेवाले अर्थशास्त्री असल में इसी नुक्ते को अपना आधार बनाते हैं! उनका कहना है कि मशीनों के पूंजीवादी उपयोग के साथ जो असंगतियां और विरोध अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं, वे चूंकि खुद मशीनों से नहीं, बल्कि मशीनों के पूंजीवादी उपयोग से पैदा होते हैं, इसलिए वास्तव में उनका कोई अस्तित्व नहीं होता! इसलिए मशीनों पर यदि अलग से विचार किया जाये, तो उनसे श्रम के घंटे छोटे हो जाते हैं, लेकिन पूंजी की सेवा में लग जाने पर उनसे श्रम के घंटे लंबे हो जाते हैं; मशीन खुद श्रम को हल्का करती है, मगर जब पूंजी उससे काम लेती है, तब वह श्रम की तीव्रता को बढ़ा देती है; मशीन खुद प्रकृति की शक्तियों पर मनुष्य की विजय का प्रतिनिधित्व करती है, किंतु पूंजी के हाथों में पहुंचकर वह मनुष्य को इन शक्तियों का दास बना देती है; मशीन खुद उत्पादकों की दौलत में वृद्धि करती है, लेकिन पूंजी के हाथों में पहुंचकर वह उत्पादकों को कंगाल बना देती है—और अधिक झंझट में पड़े बिना बुर्जुआ अर्थशास्त्री दावा करता है कि इन तमाम और इनके अलावा कुछ अन्य कारणों से भी, यह बात दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट हो जाती है कि ये तमाम असंगतियां वास्तविकता का महज दिखावटी रूप हैं और असल में उनका न तो कोई वास्तविक और न कोई सैद्धांतिक अस्तित्व है। इस प्रकार वह आगे की सारी माथापच्ची से बच जाता है, और उससे भी बड़ी बात यह है कि वह अपने विरोधियों के बारे में घोषित कर देता है कि वे इतने मूर्ख हैं कि मशीनों के पूंजीवादी उपयोग के विरुद्ध लड़ने के बजाय खुद मशीनों से लड़ते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि बुर्जुआ अर्थशास्त्री कभी इस बात से इनकार नहीं करता कि मशीनों के पूंजीवादी उपयोग से कुछ अस्थायी असुविधा हो सकती है। लेकिन हर सिक्के का दूसरा पहलू भी तो होता है! बुर्जुआ अर्थशास्त्री के विचार से पूंजी के अतिरिक्त किसी अन्य के द्वारा मशीनों का उपयोग असंभव है। इसलिए बुर्जुआ अर्थशास्त्री की नजरों में, मशीनों

होता है।" (*An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand etc.*, London, 1821, p. 72.)

द्वारा मजदूर का शोषण और मजदूर द्वारा मशीनों का शोषण, दोनों समान ही बातें हैं। अतएव जो कोई भी मशीनों के पूंजीवादी उपयोग से पैदा होनेवाली वास्तविक परिस्थिति का भंडाफोड़ करता है, वह मशीनों के किसी भी प्रकार के उपयोग का विरोधी है और सामाजिक प्रगति का शत्रु है।[216] प्रसिद्ध बिल साइक्स की दलील भी ठीक इसी तरह की थी। उसने कहा था: "जूरी के सदस्यो! इसमें शक नहीं कि सौदागर का गला काटा गया है। मगर इसमें मेरा कोई दोष नहीं है, दोष छुरी का है। क्या इस जरा सी अस्थायी असुविधा के कारण हमें छुरी का उपयोग बंद कर देना चाहिए? जरा सोचिये तो! बिना छुरी के खेती और व्यापार की क्या दशा होगी? शरीर-रचना का ज्ञान प्राप्त करने में छुरी से जितनी सहायता मिलती है, क्या शल्यक्रिया में भी उससे उतनी ही सहायता नहीं मिलती? और इसके अलावा क्या खुशी की दावत में भी छुरी काम में नहीं आती? यदि आप छुरी का प्रयोग बंद कर देंगे, तो आप हमें बर्बरता के गढ़े में धकेल देंगे।"[216a]

जिन उद्योगों में मशीनें इस्तेमाल होने लगती हैं, उनमें यद्यपि वे लाज़िमी तौर पर मज़दूरों को बेकार बना देती हैं, तथापि यह मुमकिन है कि इस बात के बावजूद अन्य उद्योगों में पहले से ज्यादा आदमी नौकर रखे जाने लगें। किंतु इस प्रभाव का तथाकथित क्षति-पूर्ति के सिद्धांत से कोई संबंध नहीं है। चूंकि मशीन से तैयार की गयी प्रत्येक वस्तु हाथ से तैयार की गयी उसी प्रकार की वस्तु से सस्ती होती है, इसलिए हम इस अचूक नियम पर पहुंच जाते हैं: यदि मशीनों से तैयार की गयी किसी वस्तु की कुल मात्रा पहले दस्तकारी या मैन्यूफ़ैक्चर के द्वारा बनायी जानेवाली उस वस्तु की कुल मात्रा के बराबर रहती है, जिसका मशीनों द्वारा तैयार की गयी वस्तु ने स्थान ले लिया है, तो उसके उत्पादन में ख़र्च किया गया कुल श्रम पहले से घट जाता है। श्रम के उपकरणों – मशीनों, कोयले और इसी प्रकार की अन्य चीज़ों – पर जो नया श्रम ख़र्च होता है, वह उस श्रम से लाज़िमी तौर पर कम होता है, जिसे मशीनों के प्रयोग ने बेकार बना दिया है। यदि ऐसा न हो, तो मशीन का उत्पाद उतना ही महंगा रहेगा जितना हाथ के श्रम का उत्पाद होता है, या हो सकता है कि उससे भी अधिक महंगा हो जाये। लेकिन असल में मशीनों के द्वारा पहले से कम मज़दूरों की मदद से वस्तु तैयार की जाती है, उसकी कुल मात्रा हाथ से बनायी गयी उस वस्तु की कुल मात्रा के बराबर नहीं होती, जिसका मशीन की बनायी वस्तु ने स्थान ग्रहण कर लिया है, बल्कि वह उससे बहुत ज्यादा बढ़ जाती है। मान लीजिये कि पहले जितने बुनकर हाथ से काम करके १,००,००० गज़ कपड़ा तैयार कर सकते थे, उनसे कम बुनकर शक्ति से चलनेवाले करघों पर ४,००,०००

---

[216]अन्य व्यक्तियों के अलावा मैककुलोच भी इस तरह की शेखीभरी बेतुकी बकवास करने में घोर माहिर हैं। ८ वर्ष के बच्चे जैसे भोलेपन का प्रदर्शन करते हुए वह लिखते हैं: "यदि मज़दूर की कुशलता को अधिकाधिक बढ़ाते जाना लाभदायक है, ताकि उसमें पहले जितने या पहले से कम श्रम के द्वारा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्रा में पण्य तैयार करने की सामर्थ्य पैदा होती जाये, तो इस फल की प्राप्ति में जिन मशीनों से उसे सबसे अधिक कारगर सहायता मिल सकती हो, उनकी मदद लेना भी लाभदायक होना चाहिए।" (MacCulloch, *Principles of Political Economy*, London, 1830, p. 166.)

[216a]"कताई की मशीन के आविष्कारक ने हिंदुस्तान को बरबाद कर दिया है। पर यह एक ऐसा तथ्य है, जो हमारे हृदय को कोई ख़ास नहीं छूता।" (A. Thiers, *De la Propriété*, [Paris, 1848, p. 275.]) श्री थियेर ने यहां पर कताई की मशीन को पावरलूम के साथ गड़बड़ा दिया है, "पर यह एक ऐसा तथ्य है, जो हमारे हृदय को कोई ख़ास नहीं छूता"।

गज़ कपड़ा तैयार कर देते हैं। उत्पाद पहले से चौगुना हो जाता है। उसमें पहले से चौगुना कच्चा माल लगता है। इसलिए कच्चे माल का उत्पादन पहले से चौगुना हो जाना चाहिए। लेकिन जहां तक श्रम के उपकरणों का संबंध है, जैसे कि मकान, कोयला, मशीनें, इत्यादि, उनपर यह बात लागू नहीं होती। उनके उत्पादन के लिए जिस अधिक श्रम की आवश्यकता होती है, वह एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सकता, और यह सीमा इस बात पर निर्भर करती है कि मशीन से बनायी गयी वस्तु की मात्रा में और उतने ही मज़दूरों द्वारा हाथ से बनायी गयी इसी वस्तु की मात्रा में कितना अंतर होता है।

इसलिए जैसे-जैसे किसी उद्योग में मशीनों के उपयोग का विस्तार होता जाता है, वैसे-वैसे उसका तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि इस उद्योग को उत्पादन के साधन देनेवाले दूसरे उद्योगों में उत्पादन बढ़ जाता है। इस तरह कितने नये मज़दूरों को नौकरी मिल जायेगी, यह काम के दिन की लंबाई तथा श्रम की तीव्रता को पहले से निश्चित मानते हुए इस बात पर निर्भर करता है कि जो पूंजी इस्तेमाल की जा रही है, उसकी संरचना किस प्रकार की है, यानी उसके परिवर्ती संघटक के साथ उसके स्थिर संघटक का क्या अनुपात है। यह अनुपात ख़ुद बहुत कुछ इस बात के साथ बदलता रहता है कि मशीनों ने इन धंधों पर किस हद तक अधिकार जमा लिया है या वे उनपर किस हद तक अधिकार जमाती जा रही हैं। कोयले और धातु की खानों में काम करने के लिए मजबूर लोगों की संख्या में इंगलैंड की फ़ैक्टरी-व्यवस्था की प्रगति के फलस्वरूप बहुत भारी वृद्धि हो गयी थी, किंतु पिछले कुछ दशकों में खानों में नयी मशीनों के इस्तेमाल के कारण मज़दूरों की संख्या की यह वृद्धि कुछ मंद पड़ गयी है।[217] मशीन के साथ-साथ एक नये प्रकार का मज़दूर जन्म लेता है। हमारा मतलब मशीन को बनानेवाले से है। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि उत्पादन की इस शाखा पर भी मशीनों ने एक ऐसे पैमाने पर अधिकार कर लिया है, जो दिन ब दिन बढ़ता ही जाता है।[218] जहां तक कच्चे माल का संबंध है,[219] इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि कपास की कताई में जो तेज़ उन्नति हुई है, उसने न केवल संयुक्त राज्य अमरीका में कपास की खेती को उष्णदेशीय प्रवर्द्धिष्णुता के साथ बढ़ा दिया है और उसके साथ-साथ अफ़्रीकी दासों

---

[217] १८६१ की जनगणना के अनुसार (देखिये खंड २, लंदन, १८६३) इंगलैंड और वेल्स की कोयला-खानों में नौकरी करनेवालों की संख्या २,४६,६१३ बैठती थी, जिनमें से ७३,५४६ की आयु २० वर्ष से कम और १,७३,०६७ की आयु २० वर्ष से अधिक थी। २० वर्ष से कम आयु के मज़दूरों में ८३५ की आयु ५ वर्ष और १० वर्ष के बीच, ३०,७०१ की आयु १० और १५ वर्ष के बीच, ४२,०१० की आयु १५ और १६ वर्ष के बीच थी। लोहे, तांबे, सीसे और टिन की खानों में और अन्य हर प्रकार की धातु-खानों में काम करनेवालों की कुल संख्या ३,१६,२२२ थी।

[218] इंगलैंड और वेल्स में १८६१ में ६०,८०७ व्यक्ति मशीन बनाने के धंधे में लगे हुए थे। मालिक लोग और क्लर्क, आदि तथा तमाम एजेंट और इस उद्योग से संबंधित व्यावसायिक लोग इस संख्या में सम्मिलित हैं; लेकिन सिलाई मशीनों जैसी छोटी-छोटी मशीनें बनानेवाले और साथ ही मशीनों के तकुओं जैसे कार्यकारी पुर्ज़ों को बनानेवाले इस संख्या के बाहर थे। सिविल इंजीनियरों की कुल संख्या ३,३२६ बैठती थी।

[219] लोहा चूंकि एक सबसे महत्त्वपूर्ण कच्चा माल है, इसलिए मैं यहां पर यह बता दूं कि १८६१ में इंगलैंड और वेल्स में १,२५,७७१ व्यक्ति लोहा ढालते थे, जिनमें से १,२३,४३० पुरुष थे और २,३४१ स्त्रियां। पुरुषों में ३०,८१० की आयु २० वर्ष से कम और ६२,६२० की आयु २० वर्ष से अधिक थी।

के व्यापार में तेज़ी ला दी है, बल्कि उसके फलस्वरूप सीमांत के उन राज्यों में, जिनमें दास-प्रथा पायी जाती है, ग़ुलामों को पालना लोगों का मुख्य व्यवसाय बन गया है। १७६० में संयुक्त राज्य अमरीका में ग़ुलामों की पहली गणना की गयी थी। उस समय उनकी संख्या ६,६७,००० थी। १८६१ तक उनकी संख्या लगभग ४० लाख तक पहुंच गयी थी। दूसरी ओर, इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि इंगलैंड में ऊनी मिलों के खुलने और उसके साथ-साथ खेतीयोग्य ज़मीन के धीरे-धीरे भेड़ों की चरागाहों में बदल जाने के फलस्वरूप खेती के मज़दूरों की एक बड़ी संख्या फ़ालतू हो गयी है, जिसके कारण मज़दूरों को बड़ी तादाद में शहरों की ओर भाग जाना पड़ा है। पिछले बीस वर्ष में आयरलैंड की आबादी घटते-घटते लगभग आधी रह गयी है, और इस वक़्त वहां के रहनेवालों की संख्या को और भी घटा देने की प्रक्रिया जारी है, ताकि वह ठीक-ठीक उस स्तर पर पहुंच जाये, जिसकी आयरलैंड के ज़मींदारों और इंगलैंड के ऊनी मिल-मालिकों को आवश्यकता है।

श्रम के विषय को उत्पादन-प्रक्रिया के संपूर्ण होने के पहले जिन प्रारंभिक अथवा मध्यवर्ती अवस्थाओं में से गुज़रना पड़ता है, जब उनमें से किन्हीं अवस्थाओं में मशीनों का उपयोग किया जाता है, तब उनमें पहले से अधिक सामग्री तैयार होने लगती है और उसके साथ-साथ उन दस्तकारियों या मैन्यूफ़ैक्चरों में श्रम की मांग बढ़ जाती है, जिनको इन मशीनों की पैदावार की आवश्यकता होती है। मिसाल के लिए, जब कताई मशीनों से होने लगी, तब उससे इतना सस्ता और इतनी बहुतायत के साथ सूत तैयार हुआ कि शुरू-शुरू में हाथ का करघा इस्तेमाल करनेवाले बुनकर पूरे समय काम करने लगे और उनके ख़र्च में भी कोई वृद्धि नहीं हुई। चुनांचे इन बुनकरों की कमाई पहले से बढ़ गयी।[220] उसका नतीजा यह हुआ कि कपास की कताई के धंधे में लोगों की संख्या बराबर बढ़ती गयी, और यह प्रक्रिया उस वक़्त तक जारी रही, जब तक कि आख़िर शक्ति से चलनेवाले करघे ने उन ८,००,००० बुनकरों को कुचल नहीं दिया, जिनको जेनी, थ्रौसल और म्यूल ने जन्म दिया था। इसी तरह जब मशीनों के कारण पोशाकों के कपड़े बहुतायत से तैयार होने लगे, तो दर्ज़ियों, दर्ज़िनों और सीने-पिरोने का काम करनेवाली औरतों की संख्या में वृद्धि होने लगी, और वह उस वक़्त तक होती रही, जब तक कि सीने की मशीन बाज़ार में नहीं आ गयी।

मज़दूरों की अपेक्षाकृत कम संख्या की मदद से मशीनों से जो कच्चे माल, मध्यवर्ती उत्पाद और श्रम के औज़ार, आदि तैयार किये जाते हैं, उनकी मात्रा जिस अनुपात में बढ़ती है, उसी अनुपात में इन कच्चे मालों तथा मध्यवर्ती उत्पाद की आगे की तैयारी असंख्य शाखाओं में बंट जाती है। सामाजिक उत्पादन की विविधता बढ़ जाती है। मैन्यूफ़ैक्चर सामाजिक श्रम-विभाजन को जितना आगे ले गया था, फ़ैक्टरी-व्यवस्था उसको उससे कहीं अधिक आगे ले जाती है, क्योंकि वह जिन उद्योगों पर भी अधिकार कर लेती है, उनकी उत्पादिता में मैन्यूफ़ैक्चर की अपेक्षा कहीं अधिक वृद्धि कर देती है।

---

220 "पिछली शताब्दी के अंत में और वर्तमान शताब्दी के आरंभ में चार वयस्क व्यक्तियों का परिवार, जो दो बच्चों से सूत लपेटवाने का काम लेता था, रोज़ाना दस घंटे का श्रम करके एक सप्ताह में ४ पाउंड कमा लेता था। यदि काम बहुत ज़रूरी होता था, तो थोड़ी ज़्यादा आमदनी हो जाती थी... उसके पहले इन लोगों के पास हमेशा सूत की कमी रहती थी।" (Gaskell, *The Manufacturing Population of England*, London, 1833, pp. 25-27.)

मशीनों का तात्कालिक परिणाम यह होता है कि बेशी मूल्य में और उत्पाद की उस राशि में वृद्धि हो जाती है, जिसमें बेशी मूल्य निहित होता है। और जैसे-जैसे उन तमाम चीज़ों की बहुतायत होती जाती है, जिनको पूंजीपति और उनपर आश्रित व्यक्ति इस्तेमाल करते हैं, वैसे-वैसे समाज की ये श्रेणियां भी बढ़ती जाती हैं। एक ओर, इन लोगों की दौलत बढ़ती जाती है। दूसरी ओर, जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को तैयार करने के लिए अब मज़दूरों की अपेक्षाकृत कम संख्या ज़रूरी होती है। इन दोनों का यह परिणाम होता है कि विलास की नयी आवश्यकताओं के पैदा होने के साथ-साथ आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन भी पैदा होते जाते हैं। समाज की पैदावार का पहले से बड़ा हिस्सा बेशी पैदावार में बदल जाता है, और बेशी पैदावार का पहले से बड़ा हिस्सा नाना प्रकार के परिष्कृत रूपों में उपभोग के निमित्त चला जाता है। दूसरे शब्दों में, विलास की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ जाता है।[221] इसी प्रकार आधुनिक उद्योग दुनिया की मंडियों के साथ जो नये संबंध स्थापित कर देता है, उनसे भी पैदावार परिष्कृत तथा विविध रूप धारण कर लेती है। न केवल देशी पैदावार के साथ पहले से अधिक मात्रा में विलास की विदेशी वस्तुओं का विनिमय होने लगता है, बल्कि देशी उद्योगों में पहले से अधिक मात्रा में विदेशी कच्चे मालों, सामग्रियों और मध्यवर्ती उत्पादों का उत्पादन के साधनों के रूप में उपयोग होने लगता है। दुनिया की मंडियों के साथ इन संबंधों के स्थापित हो जाने के फलस्वरूप सामान लाने-ले जाने के धंधे नाना प्रकार की शाखाओं में बंट जाते हैं और उनमें श्रम की मांग बढ़ जाती है।[222]

उत्पादन तथा जीवन-निर्वाह के साधनों में जो वृद्धि होती है और उसके साथ-साथ मज़दूरों की संख्या में जो तुलनात्मक कमी आ जाती है, उनके फलस्वरूप नहरें बनाने, पोत-गोदियां तैयार करने, सुरंगें खोदने और इसी प्रकार के केवल सुदूर भविष्य में फल देनेवाले अन्य कामों में श्रम की मांग बढ़ जाती है। या तो मशीनों के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में या मशीनों से उत्पन्न सामान्य औद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप उत्पादन की सर्वथा नयी शाखाएं पैदा हो जाती हैं, जो श्रम के नये क्षेत्र पैदा कर देती हैं। लेकिन सामान्य उत्पादन में इन शाखाओं को जो स्थान प्राप्त होता है, वह अधिक से अधिक विकसित देशों में भी महत्त्वपूर्ण नहीं होता। इन शाखाओं में काम पानेवाले मज़दूरों की संख्या सीधे इस बात पर निर्भर करती है कि इन उद्योगों ने सबसे अधिक अपरिष्कृत ढंग के हाथ के श्रम की कितनी बड़ी मांग को जन्म दिया है। आजकल इस प्रकार के मुख्य उद्योग ये हैं: गैस तैयार करनेवाले कारख़ाने, तार-व्यवस्था, फ़ोटोग्राफ़ी, भाप से चलनेवाले जहाज़ और रेलें। इंगलैंड और वेल्स की १८६१ की जनगणना के अनुसार उस समय गैस-उद्योग में काम करनेवाले लोगों की संख्या १५,२११ थी (इनमें गैस के कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूर, आवश्यक यांत्रिक उपकरण तैयार करनेवाले मज़दूर, गैस-कंपनियों के कर्मचारी, इत्यादि शामिल थे), तार-व्यवस्था में २,३९९, फ़ोटोग्राफ़ी में २,३६६, भाप से चलनेवाले जहाज़ों में ३,५७० और रेलों में ७०,५९९ व्यक्ति काम कर रहे थे, जिनमें खुदाई का काम करनेवाले ऐसे अकुशल मज़दूरों की, जिनको न्यूना-

[221] फ़्रे० एंगेल्स ने अपनी रचना *Lage etc.* में बताया है कि विलास की इन वस्तुओं को जो लोग तैयार करते हैं, उनमें से बहुत सारे बेहद कष्टपूर्ण जीवन बिताते हैं। इसके अलावा *Reports of the Children's Employment Commission* में भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं।

[222] १८६१ में इंगलैंड और वेल्स में ६४,६६५ मल्लाह व्यापारिक बेड़े में थे।

धिक रूप में स्थायी नौकरी प्राप्त थी, और पूरे प्रशासकीय एवं वाणिज्यिक कर्मचारी-दल की संख्या लगभग २८,००० बैठती थी। इसलिए इन पांच नये उद्योगों में कुल मिलाकर ६४,१४५ व्यक्तियों को रोजगार हासिल था।

अंतिम बात यह है कि आधुनिक उद्योगों की असाधारण उत्पादिता के कारण, जिसके साथ-साथ उत्पादन के अन्य सभी क्षेत्रों में श्रम-शक्ति का पहले से अधिक व्यापक और पहले से अधिक तीव्र शोषण होने लगता है, मजदूर वर्ग के अधिकाधिक बड़े हिस्से से अनुत्पादक ढंग का काम लेना संभव होता जाता है और इसके फलस्वरूप प्राचीन काल के घरेलू दासों का नौकर वर्ग के नाम से, जिसमें नौकर-नौकरानियां, टहलुए, आदि शामिल होते हैं, निरंतर बढ़ते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन होने लगता है। १८६१ की जनगणना के अनुसार इंगलैंड और वेल्स की आबादी २,००,६६,२२४ थी। उसमें ९७,७६,२५९ पुरुष थे और १,०२,८९,९६५ स्त्रियां थीं। इस संख्या में से यदि हम उन लोगों की तादाद घटा दें, जो या तो बहुत अधिक आयु होने के कारण, या बहुत कम आयु के कारण काम नहीं कर सकते थे, उत्पादन में भाग न लेनेवाली सभी स्त्रियों, लड़के-लड़कियों और बच्चों की गणना न करें, "वैचारिक" धंधों में लगे हुए व्यक्तियों को, जैसे सरकारी कर्मचारियों, पादरियों, वकीलों, सिपाहियों, आदि को घटा दें, और इसके अलावा यदि हम उन लोगों को भी अलग कर दें, जिनका लगान, सूद, आदि के रूप में दूसरों के श्रम को हड़पने के सिवाय और कोई धंधा नहीं है, और अंत में कंगालों, आवारा लोगों और अपराधियों को भी एक तरफ़ छोड़ दें, तो मोटे तौर पर अस्सी लाख व्यक्ति बच रहते हैं, जिनमें प्रत्येक आयु की स्त्रियां और पुरुष दोनों शामिल हैं। उद्योगों, वाणिज्य तथा वित्त-प्रबंध में किसी भी रूप में लगा हुआ प्रत्येक पूंजीपति भी इस संख्या में शामिल होता है। इन ८० लाख व्यक्तियों में हैं:

खेतिहर मजदूर (जिनमें गड़रिये, फ़ार्मों के नौकर और किसानों के घरों में काम करनेवाली नौकरानियां भी शामिल हैं)	१०,९८,२६१
वे तमाम लोग, जो सूती, ऊनी और बटे हुए ऊन का सामान तैयार करनेवाली मिलों में, फ़्लैक्स, सन, रेशम और पाट की फ़ैक्टरियों में, और मशीनों से मोज़े और लैस बनाने के धंधों में काम करते हैं	६,४२,६०७ [223]
वे तमाम लोग, जो कोयला-खानों और धातु की खानों में काम करते हैं. . . .	५,६५,८३५
वे तमाम लोग, जो धातु के कारख़ानों (पिघलाऊ भट्ठियों, रोलिंग मिलों, आदि) में और हर तरह का धातु का सामान तैयार करनेवाले कारख़ानों में काम करते हैं .	३,९६,९९८ [224]
नौकर-वर्ग	१२,०८,६४८ [225]

[223] इनमें से १३ वर्ष से अधिक उम्र के केवल १,७७,५९६ ही पुरुष हैं।

[224] इनमें से ३०,५०१ स्त्रियां हैं।

[225] इनमें से १,३७,४४७ पुरुष हैं। १२,०८,६४८ की इस संख्या में ऐसे किसी व्यक्ति को शामिल नहीं किया गया है, जो किसी के घर में नौकरी नहीं करता। १८६१ और १८७० के बीच पुरुष नौकरों की संख्या लगभग दुगुनी हो गयी। वह २,६७,६७१ पर पहुंच गयी। १८४७ में (ज़मींदारों की शिकारगाहों में) शिकार के पशुओं की देखरेख करनेवालों की संख्या

कपड़ा-मिलों और खानों में काम करनेवाले सभी व्यक्तियों की संख्या कुल मिलाकर १२,०८,४४२ होती है। कपड़ा-मिलों और धातु के उद्योगों में काम करनेवाले सभी व्यक्तियों की कुल संख्या १०,३९,६०५ बैठती है। दोनों संख्याएं आधुनिक काल के घरेलू दास-दासियों की संख्या से कम हैं। मशीनों के पूंजीवादी उपयोग का कैसा शानदार परिणाम है यह!

अनुभाग ७ – फ़ैक्टरी-व्यवस्था द्वारा मज़दूरों का प्रतिकर्षण और आकर्षण। सूती उद्योग में संकट

वे सभी राजनीतिक अर्थशास्त्री, जिनका थोड़ा सा भी नाम है, यह बात स्वीकार करते हैं कि नयी मशीनों का इस्तेमाल होने से उन पुरानी दस्तकारियों और मैन्यूफ़ैक्चरों के मज़दूरों पर बहुत घातक प्रभाव पड़ता है, जिनसे ये मशीनें शुरू-शुरू में प्रतियोगिता करती हैं। लगभग सभी अर्थशास्त्री फ़ैक्टरी-मज़दूर की दासता पर दुःख प्रकट करते हैं। और फिर वे कौनसी बड़ी तुरुप की चाल चलते हैं? यह कि जब मशीनों के प्रयोग के प्रारंभिक काल की और उनके विकास-काल की विभीषिकाएं कुछ मंद पड़ जाती हैं, तब श्रम के दासों की संख्या घटने के बजाय अंत में बढ़ जाती है। जी हां, राजनीतिक अर्थशास्त्र इस वीभत्स – पूंजीवादी उत्पादन की प्रकृति-विरचित शाश्वत आवश्यकता में विश्वास करनेवाले प्रत्येक "लोकोपकारी" की दृष्टि में वीभत्स – सिद्धांत को प्रतिपादित करके बेहद ख़ुश है कि मशीनों पर आधारित फ़ैक्टरी-व्यवस्था शुरू में जितने मज़दूरों को बेकार बनाकर सड़कों पर फेंकती है, अपने विकास और परिवर्तन के एक काल के बाद, यहां तक कि अपने चरमोत्कर्ष के बाद भी, वह उससे अधिक मज़दूरों को पीसती है।[226]

२,६९४ थी। १८६९ तक वह ४,६२१ पर पहुंच गयी। लंदन के निम्न-मध्य वर्ग के घरों में जो नौजवान लड़कियां नौकरानियों का काम करती हैं, उनको आम बोलचाल की भाषा में "slaveys" [बांदियां] कहा जाता है।

[226]गानिल्ह ने इसके विपरीत फ़ैक्टरी-व्यवस्था का अंतिम परिणाम यह समझा था कि मज़दूरों की संख्या में निरपेक्षतः कमी आ जाती है और उसके एवज में "gens honnêtes" ["भले लोगों"] की संख्या बढ़ जाती है, जो अपनी सुप्रसिद्ध "perfectibilité perfectible" ["विकासशील विकासशीलता"] का विकास करते रहते हैं। गानिल्ह उत्पादन की गति को तो बहुत कम समझ पाये हैं, पर कम से कम वह इतना ज़रूर महसूस करते हैं कि यदि मशीनों के इस्तेमाल से काम-धंधे में लगे मज़दूर कंगाल बन जाते हैं और यदि मशीनों के विकास से जितने मज़दूरों की रोटी छिनी है, उससे अधिक श्रम के दास पैदा हो जाते हैं, तो मशीनें अवश्य ही बहुत घातक क़िस्म की चीज़ें होंगी। गानिल्ह के दृष्टिकोण की बेहूदगी को खोलकर रखने का इसके सिवाय और कोई तरीक़ा नहीं है कि ख़ुद उन्हीं के शब्दों को उद्धृत कर दिया जाये: "जिन वर्गों को पैदा करना और ख़र्च करना पड़ता है, उनकी संख्या कम हो जाती है, और जो वर्ग श्रम का संचालन करते हैं और जो पूरी आबादी को सहायता, दिलासा और शिक्षा देते हैं, उनकी संख्या बढ़ जाती है... और श्रम की लागत में कमी आ जाने से, पैदावार की बहुतायत से और उपभोग की वस्तुओं के सस्ती हो जाने से जितने प्रकार के लाभ होते हैं, उन सबपर ये वर्ग अधिकार कर लेते हैं। इस दिशा में मनुष्य-जाति प्रतिभा के उच्चतम स्तर पर पहुंच जाती है, धर्म की रहस्यमयी गहराइयों तक पैठती है और नैतिकता के हितकारी सिद्धांतों को" (जिनके मातहत परजीवी वर्ग "सभी प्रकार के लाभ, इत्यादि पर अधिकार कर लेते हैं"), "स्वतंत्रता के संरक्षक नियमों को" (संभवतया

जैसा कि हम इंगलैंड की वर्स्टेड मिलों और रेशम की फ़ैक्टरियों के सिलसिले में देख चुके हैं, यह सच है कि कुछ सूरतों में फ़ैक्टरी-व्यवस्था का असाधारण विस्तार होने पर उसके विकास की एक ख़ास अवस्था में इन उद्योगों में काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या में केवल सापेक्ष ही नहीं, बल्कि निरपेक्ष कमी भी आ जाती है। १८६० में संसद के आदेश पर युनाइटेड किंगडम की तमाम फ़ैक्टरियों की एक विशेष गणना की गयी थी। उस समय लंकाशायर, चेशायर और यॉर्कशायर के उन हिस्सों में, जो मि० बेकर नामक फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर के क्षेत्र में आते थे, ६५२ फ़ैक्टरियां थीं। इनमें से ५७० फ़ैक्टरियों में शक्ति से चलनेवाले ८५,६२२ करघे तथा ६८,१६,१४६ तकुए थे (दोहरा धागा बटनेवाले तकुए इस संख्या में शामिल नहीं थे), और उनमें २७,४३९ अश्वशक्ति (भाप) और १,३९० अश्वशक्ति (पानी) से तथा ९४,११९ व्यक्तियों से काम लिया जाता था। १८६५ में इन्हीं फ़ैक्टरियों में ९५,१६३ करघे और ७०,२५,०३१ तकुए लगे थे, और वे २८,९२५ अश्वशक्ति की भाप की ताक़त तथा १,४४५ अश्वशक्ति की पानी की ताक़त से और ८८,९१३ व्यक्तियों से काम लेती थीं। इसलिए १८६० और १८६५ के बीच करघों की संख्या में ११ प्रतिशत की, तकुओं की संख्या में ३ प्रतिशत की और इंजन-शक्ति में ५ प्रतिशत की वृद्धि हो गयी थी और साथ ही काम करनेवाले व्यक्तियों की संख्या में ५$\frac{१}{२}$ प्रतिशत की कमी आ गयी थी।[227]

१८५२ और १८६२ के बीच इंगलैंड में ऊन के कारख़ानों का काफ़ी विस्तार हुआ था, पर उनमें काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या लगभग ज्यों की त्यों रही थी। "इससे पता चलता है कि नयी मशीनों के उपयोग ने किस हद तक बीते हुए कालों के श्रम का स्थान ले लिया था।"[228] कुछ सूरतों में काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या में केवल दिखावटी वृद्धि होती है, यानी यह वृद्धि पहले से क़ायम फ़ैक्टरियों के विस्तार के कारण नहीं होती, बल्कि इसलिए होती है कि मशीनें धीरे-धीरे संबंधित धंधों पर भी अधिकार कर लेती हैं। उदाहरण के लिए, १८३८ और १८५६ के बीच सूती व्यवसाय में शक्ति से चलनेवाले करघों तथा उनपर काम

उन कुछ ख़ास वर्गों की स्वतंत्रता के नियमों को, जिन्हें सदा "पैदा करना पड़ता है"?) "और सत्ता, आज्ञापालन, न्याय, कर्तव्य तथा मानवता के नियमों को स्थापित करती है।" यह बकवास आपको M. Ch. Ganilh, *Des Systèmes d'Économie Politique etc.*, 2 ème éd., Paris, 1821, t. I, p. 224 में मिल सकती है; देखिये पृ० २१२ भी।

[227] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1865*, p. 58, sq. किंतु इसके साथ-साथ ११० नयी मिलों की शक्ल में मज़दूरों की एक काफ़ी बड़ी संख्या को नौकरी देने के साधन तैयार हो गये थे। इन मिलों में ११,६२५ करघे और ६,२८,५७६ तकुए लगे थे। वे कुल २,६९५ अश्वशक्ति की भाप और पानी की ताक़त का इस्तेमाल करती थीं। (l. c.)

[228] *Reports etc. for 31st October 1862*, p. 79; १८७१ के अंत में फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर मि० ए० रेडग्रेव ने ब्रेडफ़ोर्ड के New Mechanic's Institution में एक भाषण देते हुए कहा था: "पिछले कुछ समय से मेरा ध्यान इस बात की ओर जा रहा है कि ऊनी फ़ैक्टरियों की शक्ल-सूरत बदली हुई दिखायी देती है। पहले उनमें औरतें और बच्चे भरे रहते थे। अब लगता है, जैसे सारा काम मशीनें कर डालती हैं। मैंने एक कारख़ानेदार से इसका कारण पूछा, तो उसने मुझे यह जवाब दिया: 'पुरानी व्यवस्था में मैंने ६३ व्यक्तियों को नौकर रख रखा था। सुधरी हुई मशीनें लग जाने के बाद मैंने मज़दूरों की संख्या को घटाकर ३३ कर दिया, और अब हाल में कुछ नवीन एवं व्यापक परिवर्तनों के फलस्वरूप मैं इन ३३ को भी घटाकर १३ कर देने में सफल हो गया हूं।'"

करनेवाले मज़दूरों की संख्या में जो वृद्धि हुई थी, उसका कारण केवल यह था कि उद्योग की इस शाखा का विस्तार हो गया था ; लेकिन कुछ अन्य धंधों में करघों और मज़दूरों की वृद्धि इसलिए हुई थी कि पहले आदमियों द्वारा चलाये जानेवाले क़ालीन बुननेवाले, फ़ीते तैयार करनेवाले और सन का कपड़ा तैयार करनेवाले करघों में अब भाप की ताक़त इस्तेमाल होने लगी थी।[229] इसलिए इन धंधों में काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या में जो वृद्धि हुई थी, वह केवल इस बात का प्रतीक थी कि कुल मज़दूरों की संख्या में कमी आ गयी है। अंतिम बात यह है कि इस प्रश्न पर विचार करते हुए हमने इस तथ्य को सदा अलग रखा है कि धातु के उद्योगों को छोड़कर बाक़ी सब जगह फ़ैक्टरी-मज़दूरों के वर्ग में सबसे बड़ी संख्या (१८ वर्ष से कम उम्र के) लड़के-लड़कियों, औरतों और बच्चों की होती है।

फिर भी इस बात के बावजूद कि मशीनें मज़दूरों की एक बहुत बड़ी संख्या को सचमुच विस्थापित कर देती हैं और एक तरह से उनकी जगह ले लेती हैं, हम यह बात समझ सकते हैं कि किसी ख़ास उद्योग में नयी मिलों के बनने और पुरानी मिलों का विस्तार होने के फल-स्वरूप फ़ैक्टरी-मज़दूरों की संख्या किस तरह मैन्यूफ़ैक्चर के उन मज़दूरों और दस्तकारों की संख्या से बढ़ सकती है, जिनका इन फ़ैक्टरी-मज़दूरों ने स्थान ले लिया है। मिसाल के लिए, मान लीजिये कि प्रति सप्ताह ५०० पाउंड की पूंजी से उत्पादन की पुरानी प्रणाली के अनुसार काम लिया जाता है और इसके पांच में से दो हिस्से स्थिर पूंजी के और तीन हिस्से परिवर्ती पूंजी के हैं। कहने का मतलब यह है कि ५०० पाउंड की पूंजी में से २०० पाउंड उत्पादन के साधनों में लगा दिये जाते हैं और ३०० पाउंड १ पाउंड फ़ी आदमी के हिसाब से श्रम-शक्ति पर ख़र्च कर दिये जाते हैं। जब मशीनों का इस्तेमाल होने लगता है, तो इस पूंजी की संरचना बदल जाती है। हम यह मान लेते हैं कि उसके पांच में से चार हिस्से स्थिर पूंजी के हो जाते हैं और परिवर्ती पूंजी केवल एक हिस्सा रह जाती है, जिसका मतलब यह है कि अब श्रम-शक्ति पर केवल १०० पाउंड ही ख़र्च किये जाते हैं। चुनांचे दो तिहाई मज़दूरों को जवाब मिल जाता है। अब यदि व्यवसाय का विस्तार हो जाता है और उसमें लगी हुई कुल पूंजी पहले जैसी परिस्थितियों में ही बढ़कर १,५०० पाउंड हो जाती है, तो मज़दूरों की संख्या बढ़कर ३००, अर्थात् उतनी ही हो जायेगी, जितनी वह मशीनों के इस्तेमाल के पहले थी। यदि पूंजी में और भी वृद्धि होती है और वह २,००० पाउंड हो जाती है, तो ४०० मज़दूरों से काम लिया जायेगा, अर्थात् पुरानी व्यवस्था में जितने आदमी काम करते थे, उनसे एक तिहाई ज्यादा मज़दूर नौकर रखे जायेंगे। इस तरह असल में तो मज़दूरों की संख्या में १०० की वृद्धि हो जाती है, पर तुलनात्मक दृष्टि से देखिये, तो उसमें ८०० की कमी आ जाती है, क्योंकि पुरानी व्यवस्था में २,००० पाउंड की पूंजी को ४०० के बजाय १,२०० मज़दूरों को नौकर रखना पड़ता। इसलिए मज़दूरों की संख्या में वास्तव में वृद्धि होने पर भी सापेक्ष कमी आ सकती है। ऊपर हम यह मानकर चल रहे थे कि कुल पूंजी तो बढ़ जाती है, पर उसकी संरचना ज्यों की त्यों रहती है, क्योंकि उत्पादन की परिस्थितियां एक सी रहती हैं। लेकिन हम पहले ही यह देख चुके हैं कि मशीनों के उपयोग में जब कभी प्रगति होती है, तो पूंजी का स्थिर अंश, यानी वह भाग, जो मशीनों, कच्चे माल, आदि में लगाया जाता है, बढ़ जाता है और परिवर्ती अंश, यानी वह भाग, जो श्रम-शक्ति पर ख़र्च किया जाता है, घट

[229] देखिये *Reports etc. for 31st October 1856*, p. 16.

जाता है। हम यह भी जानते हैं कि उत्पादन की किसी भी अन्य व्यवस्था में फ़ैक्टरी-व्यवस्था के समान निरंतर सुधार नहीं होता और उद्योग में लगी पूंजी की संरचना इस निरंतर ढंग से अन्य किसी व्यवस्था में नहीं बदलती जाती। किंतु इन परिवर्तनों के बीच में बार-बार अवकाश का समय आता रहता है, जब पहले से मौजूद प्राविधिक आधार पर फ़ैक्टरियों का केवल परिमाणात्मक विस्तार होता है। ऐसी अवधियों के दौरान कामगारों की संख्या बढ़ जाती है। चुनांचे १८३५ में युनाइटेड किंगडम की सूती, ऊनी और वर्स्टेड मिलों तथा फ़्लैक्स और रेशम की फ़ैक्टरियों में मज़दूरों की कुल संख्या केवल ३,५४,६८४ थी, जब कि १८६१ में अकेले शक्ति से चलनेवाले करघों पर काम करनेवाले बुनकरों की संख्या (जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों और आठ वर्ष से ऊपर की हर आयु के मज़दूर शामिल थे) २,३०,६५४ हो गयी थी। निश्चय ही उस समय यह वृद्धि कम महत्त्वपूर्ण मालूम होती है, जब हम यह याद करते हैं कि १८३८ तक हाथ के करघे पर काम करनेवाले बुनकरों की संख्या उनके परिवारों के लोगों समेत ८,००,००० थी।[230] और एशिया तथा यूरोप में जो बुनकर बेकार हो गये थे, उनकी संख्या अलग है।

इस विषय पर मुझे दो-चार बातें और कहनी हैं। उनके सिलसिले में मैं उन संबंधों का ज़िक्र करूंगा, जो सचमुच पाये जाते हैं और जिनके अस्तित्व पर हमारी सैद्धांतिक खोज अभी तक प्रकाश नहीं डाल पायी है।

जब तक उद्योग की किसी शाखा में फ़ैक्टरी-व्यवस्था पुरानी दस्तकारियों या मैन्युफ़ैक्चर की क़ीमत पर विस्तृत होती जाती है, तब तक इस संघर्ष का परिणाम उतना ही निश्चित रहता है, जितना निश्चित तीर और कमान से लड़नेवाली सेना के साथ बंदूक़ों से लैस सेना की मुठभेड़ का परिणाम। यह पहला काल, जिसमें मशीनें अपने कार्य-क्षेत्र को जीतती हैं, निर्णायक महत्त्व का होता है, क्योंकि इस काल से असाधारण लाभ कमाने में मदद मिलती है। इन लाभों के कारण न केवल पहले से तेज़ गति से संचय करना संभव हो जाता है, बल्कि ये लाभ उस अधिक सामाजिक पूंजी के एक बड़े हिस्से को भी उत्पादन के इस क्षेत्र में खींच लेते हैं, जो बराबर पैदा होती और अपने लिए नित नये क्षेत्रों की तलाश में रहती है। तेज़ और अंधाधुंध कार्रवाइयों के इस पहले काल से जो विशेष लाभ होते हैं, वे उत्पादन के प्रत्येक ऐसे क्षेत्र में महसूस किये जाते हैं, जिनपर मशीनें चढ़ाई कर देती हैं। लेकिन जैसे ही फ़ैक्टरी-व्यवस्था एक ख़ास हद तक सुविस्तृत आधार और परिपक्वता प्राप्त कर लेती है और ख़ास तौर पर जैसे ही उसका प्राविधिक आधार, यानी मशीनें भी ख़ुद मशीनों के द्वारा तैयार होने लगती हैं, जैसे ही कोयला-खानों और लोहे की खानों में, धातु के उद्योगों में और यातायात के साधनों में क्रांति पैदा हो जाती है, संक्षेप में जैसे ही आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था द्वारा

---

[230] "हाथ के करघे पर काम करनेवाले बुनकरों की यातनाओं की एक शाही आयोग ने जांच की थी, लेकिन यद्यपि उनके कष्टों को सबने स्वीकार किया और उनपर दु:ख भी प्रकट किया, तथापि उनकी दशा को सुधारने का प्रश्न संयोग तथा समय के परिवर्तनों के हाथ में छोड़ दिया गया, और शायद ऐसा करना आवश्यक भी था। अब" (२० वर्ष बाद!) "यह आशा की जा सकती है कि संयोग ने और समय के परिवर्तनों ने इन कष्टों को लगभग दूर कर दिया होगा, और बहुत मुमकिन है कि इसका कारण यह हो कि वर्तमान काल में शक्ति से चलनेवाले करघे ने बहुत विस्तार प्राप्त कर लिया है।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1856*, p. 15.)

उत्पादन करने के लिए आवश्यक सामान्य परिस्थितियां तैयार हो जाती हैं, वैसे ही उत्पादन की यह प्रणाली एक ऐसा लोच और यकायक छलांग मारकर विस्तार करने की ऐसी सामर्थ्य प्राप्त कर लेती है, जिसके रास्ते में कच्चे माल की पूर्ति और पैदावार की बिक्री के सवालों को छोड़कर और कोई कठिनाई आड़े नहीं आती। एक ओर तो मशीनों का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि कच्चे माल की पूर्ति उसी तरह बढ़ जाती है, जिस तरह कपास ओटने की मशीन का इस्तेमाल होने पर कपास का उत्पादन बढ़ गया था।[231] दूसरी ओर, मशीनों से तैयार की जानेवाली वस्तुएं चूंकि सस्ती होती हैं और साथ ही चूंकि यातायात और संचार के साधनों में बहुत सुधार हो जाता है, इसलिए ये चीज़ें विदेशी मंडियों को जीतने का अस्त्र बन जाती हैं। दूसरे देशों के दस्तकारी के उत्पादन को बरबाद करके मशीनें उनको ज़बर्दस्ती कच्चा माल पैदा करनेवाले क्षेत्रों में बदल देती हैं। इस प्रकार ईस्ट इंडिया को ब्रिटेन के वास्ते कपास, ऊन, सन, पाट और नील पैदा करने के लिए मजबूर किया गया।[232] उन तमाम देशों में, जहां आधुनिक उद्योग ने जड़ पकड़ ली है, वह मज़दूरों के एक हिस्से को लगातार "फ़ालतू" बनाता चलता है और इस तरह उत्प्रवास तथा विदेशों में जाकर बसने को बढ़ावा देता है, जिसके फलस्वरूप विदेश स्वदेश के वास्ते कच्चा माल पैदा करनेवाली बस्तियों में बदल जाते हैं, जैसे कि, मिसाल के लिए, आस्ट्रेलिया ऊन पैदा करनेवाले उपनिवेश में बदल गया है।[233] एक नया और अंतर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन हो जाता है, जो आधुनिक उद्योग के मुख्य

---

[231] कच्चे माल के उत्पादन पर मशीनें अन्य जिन तरीक़ों से असर डालती हैं, उनका ज़िक्र तीसरी पुस्तक में किया जायेगा।

[232] **हिंदुस्तान से ब्रिटेन को कपास का निर्यात**

१८४६	३,४५,४०,१४३ पाउंड
१८६०	२०,४१,४१,१६८ पाउंड
१८६५	४४,५६,४७,६०० पाउंड

हिंदुस्तान से ब्रिटेन को ऊन का निर्यात

१८४६	४५,७०,५८१ पाउंड
१८६०	२,०२,१४,१७३ पाउंड
१८६५	२,०६,७९,१११ पाउंड

[233] **केप प्रदेश से ब्रिटेन को ऊन का निर्यात**

१८४६	२६,५८,४५७ पाउंड
१८६०	१,६५,७४,३४५ पाउंड
१८६५	२,६६,२०,६२३ पाउंड

आस्ट्रेलिया से ब्रिटेन को ऊन का निर्यात

१८४६	२,१७,८९,३४६ पाउंड
१८६०	५,९१,६६,६१६ पाउंड
१८६५	१०,९७,३४,२६१ पाउंड

केंद्रों की आवश्यकताओं के अनुरूप होता है। यह श्रम-विभाजन भूमंडल के एक भाग को मुख्यतया कृषि-उत्पादन का क्षेत्र बना देता है, जो दूसरे भाग को, जो कि मुख्यतया औद्योगिक क्षेत्र बना रहता है, कच्चा माल दिया करता है। इस विकास के साथ-साथ खेती में कुछ मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं, जिनपर और विचार करने की फ़िलहाल आवश्यकता नहीं है।[234]

मि० ग्लैडस्टन के प्रस्ताव पर हाउस आफ़ कामन्स ने १७ फ़रवरी १८६७ को इस बात के आंकड़े तैयार करने का आदेश दिया कि १८३१ और १८६६ के बीच विभिन्न प्रकार के कुल कितने अनाज, मक्का और आटे का युनाइटेड किंगडम में आयात हुआ है और कितने का वहां से निर्यात किया गया है। इस जांच का जो नतीजा निकला, उसका सारांश मैं नीचे दे रहा हूं। आटे की मात्रा ग़ल्ले के क्वार्टरों में बदल दी गयी है। (पृ० ४८२ पर तालिका देखिये)

फ़ैक्टरी-व्यवस्था में यकायक छलांग मारकर विस्तृत होने की जो प्रचंड शक्ति होती है, उसका तथा इस व्यवस्था के दुनिया की मंडियों पर निर्भर रहने का लाज़िमी नतीजा यह होता है कि उत्पादन अंधाधुंध होता है, जिसके फलस्वरूप मंडियां जिंसों से अंट जाती हैं, और तब मंडियों के सिकुड़ जाने के कारण उत्पादन को लक़वा मार जाता है। आधुनिक उद्योग का

---

[234] संयुक्त राज्य अमरीका का आर्थिक विकास ख़ुद यूरोप के और विशेषकर इंगलैंड के आधुनिक उद्योग का फल है। अमरीका के संयुक्त राज्यों को उनके वर्तमान रूप में (१८६६ में) अब भी यूरोप का उपनिवेश ही समझना चाहिए। [**चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ी गयी पाद-टिप्पणी**: तब से अब तक संयुक्त राज्य अमरीका दुनिया का दूसरे नंबर का औद्योगिक देश बन गया है, परंतु इससे भी उसका औपनिवेशिक स्वरूप पूरी तरह दूर नहीं हुआ है।— फ़्रे० एं०]

संयुक्त राज्य अमरीका से ब्रिटेन को कपास का निर्यात

वर्ष	पाउंड
१८४६	४०,१६,४६,३६३ पाउंड
१८५२	७६,५६,३०,५४३ पाउंड
१८५९	९६,१७,०७,२६४ पाउंड
१८६०	१,११,५८,९०,६०८ पाउंड

संयुक्त राज्य अमरीका से ब्रिटेन को ग़ल्ले, आदि का निर्यात

	१८५०	१८६२
गेहूं (हंड्रेडवेट में)	१,६२,०२,३१२	४,१०,३३,५०३
जौ "	३६,६९,६५३	६६,२४,८००
जई "	३१,७४,८०१	४४,२६,९९४
रई "	३,८८,७४९	७,१०८
आटा "	३८,१९,४४०	७२,०७,११३
मोथी "	१,०५४	१९,५७१
मक्का "	५४,७३,१६१	१,१६,९४,८१८
Bere या bigg (एक क़िस्म का जौ)	२,०३९	७,६७५
मटर "	८,११,६२०	१०,२४,७२२
सेम "	१८,२२,९७२	२०,३७,१३७
कुल निर्यात	३,५३,६५,८०१	७,४०,८३,४४१

पंचवर्षीय अवधियां और १८६६ का वर्ष

वार्षिक औसत	१८३१-१८३५	१८३६-१८४०	१८४१-१८४५	१८४६-१८५०	१८५१-१८५५	१८५६-१८६०	१८६१-१८६५	१८६६
आयात (क्वार्टरों में) . . .	१०,६६,३७३	२३,८६,७२६	२८,४३,८६५	८७,७६,५५२	८३,४५,२३७	१,०६,१३,६१२	१,५०,०६,८७१	१,६४,५७,३४०
निर्यात . . .	२,२५,२६३	२,५१,७७०	१,३६,०५६	१,५५,४६१	३,०७,४९१	३,४१,१५०	३,०२,७५४	२,१६,२१८
निर्यात से आयात का आधिक्य .	८,७१,११०	२१,३७,६५६	२७,०४,८०६	८६,२१,०९१	८०,३७,७४६	१,०५,७२,४६२	१,४७,०७,११७	१,६२,४१,१२२
आबादी								
प्रत्येक काल का वार्षिक औसत	२,४६,२१,१०७	२,५६,२६,५०७	२,७२,६२,५६६	२,७७,९७,५९८	२,७५,७२,९२३	२,८३,९१,५४४	२,९३,८१,४६०	२,९९,३५,४०४
देशी पैदावार के अलावा साल भर में फ़ी आदमी औसतन और कितने ग़ल्ले, वग़ैरह का उपभोग हुआ (क्वार्टरों में)	०.०३६	०.०८२	०.०९९	०.३१०	०.२९१	०.३७२	०.५०१	०.५४३

जीवन संयत क्रियाशीलता, समृद्धि, अति उत्पादन, संकट और ठहराव के दौरों की शृंखला का रूप धारण कर लेता है। मशीनों के कारण रोजगार के बारे में, और इसलिए मजदूरों के जीवन की परिस्थितियों में जो अनिश्चितता तथा अस्थिरता पैदा हो जाती है, वह औद्योगिक चक्र के इन नियतकालिक परिवर्तनों के कारण उनके जीवन की सामान्य बात बन जाती है। समृद्धि के दौरों को छोड़कर पूंजीपतियों के बीच सदा मंडियों की हिस्सा-बांट के लिए अत्यंत तीव्र संघर्ष चला करता है। हरेक का हिस्सा प्रत्यक्ष रूप से इस बात पर निर्भर करता है कि उसका उत्पाद कितना सस्ता है। इस संघर्ष से नयी-नयी, सुधरी हुई मशीनों का इस्तेमाल करने के मामले में होड़ शुरू हो जाती है, ताकि उनसे श्रम-शक्ति के स्थान पर काम लिया जा सके, और उत्पादन के नये तरीक़े इस्तेमाल करने के मामले में भी होड़ चलने लगती है। इसके अलावा हर औद्योगिक चक्र के दौरान एक ऐसा समय भी आता है, जब जिंसों को सस्ता करने के लिए मजदूरी को जबर्दस्ती घटाकर श्रम-शक्ति के मूल्य से भी कम कर देने की कोशिश की जाती है।[235]

इसलिए फ़ैक्टरी-मजदूरों की संख्या में वृद्धि होने की एक आवश्यक शर्त यह है कि मिलों में लगी हुई पूंजी की मात्रा में उससे कहीं अधिक तेजी के साथ वृद्धि हो। किंतु पूंजी की

---

[235]लीस्टर के जूते बनानेवालों ने, जो तालाबंदी के कारण बेरोजगार हो गये थे, जुलाई १८६६ में इंगलैंड की धंधों की समितियों से एक अपील की थी। उसमें कहा गया था: "बीस वर्ष हुए जब सीने के बजाय रिवट करने की प्रथा का आरंभ हुआ, तो लीस्टर के जूतों के धंधे में क्रांति हो गयी। उन दिनों अच्छी मजदूरी कमायी जा सकती थी। अलग-अलग फ़र्मों के बीच सबसे साफ़-सुथरा माल तैयार करने की बड़ी होड़ चलती थी। किंतु उसके कुछ समय बाद ही एक ख़राब क़िस्म की होड़ पैदा हो गयी। यह दूसरे से कम भाव पर बाज़ार में अपना माल बेचने की होड़ थी। इसके ख़तरनाक नतीजे जल्द ही इस शक्ल में सामने आये कि मजदूरी में कटौतियां होने लगीं। श्रम के दामों में इतनी तेज़ी से गिराव आया कि आजकल बहुत सी फ़र्में पुराने दिनों की केवल आधी मजदूरी देती हैं। और फिर भी यद्यपि मजदूरी बराबर नीचे गिरती जा रही है, तथापि मुनाफ़े मजदूरी की दर में होनेवाले हर परिवर्तन के साथ बढ़ते हुए लगते हैं।" जब व्यवसाय के लिए मंदी का वक़्त आता है, कारख़ानेदार उससे भी फ़ायदा उठाते हैं। वे मजदूरी को हद से ज्यादा कम करके, यानी मजदूर के जीवन-निर्वाह के साधनों को सीधे-सीधे लूटकर, असाधारण मुनाफ़े कमाने की कोशिश करते हैं। एक उदाहरण देखिये (इसका कोवेंट्री के रेशम की बुनाई के उद्योग के संकट से संबंध है): "मुझे मजदूरों के साथ-साथ कारख़ानेदारों से भी जो सूचना मिली है, उससे इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि विदेशी उत्पादकों की प्रतियोगिता या अन्य कारणों से मजदूरी में जितनी कटौती करना आवश्यक था, उससे कहीं अधिक कटौती कर दी गयी है... अधिकतर बुनकर पहले से ३० से ४० प्रतिशत तक कम मजदूरी पर काम कर रहे हैं। पांच साल पहले फ़ीते के जिस टुकड़े को बनाने के लिए बुनकर को ६ शिलिंग या ७ शिलिंग मिल जाते थे, अब उसके लिए केवल ३ शिलिंग ३ पेंस या ३ शिलिंग ६ पेंस मिलते हैं। अन्य प्रकार के काम की मजदूरी आजकल २ शिलिंग या २ शिलिंग ३ पेंस है; पहले वह ४ शिलिंग और ४ शिलिंग ३ पेंस थी। मांग को बढ़ाने के लिए मजदूरी में जितनी कटौती करना आवश्यक था, मालूम होता है, उससे अधिक कटौती कर दी गयी है। वास्तव में अनेक प्रकार के फ़ीतों की बुनाई के ख़र्चे में जो कमी आ गयी है, निश्चय ही उसके साथ-साथ तैयार माल के बाज़ार-भाव में उसके अनुरूप कमी नहीं की गयी है।" (मि० एफ़० डी० लोंज की रिपोर्ट; *Children's Employment Commission, 5th Report, 1866*, p. 114, No. 1.)

वृद्धि औद्योगिक चक्र के उतार-चढ़ाव पर निर्भर करती है। इसके अलावा समय-समय पर यह वृद्धि प्राविधिक प्रगति के कारण रुक जाती है, क्योंकि यदि एक समय प्राविधिक प्रगति नये मज़दूरों की जगह पैदा करती है, तो दूसरे समय वह पुराने मज़दूरों को सचमुच विस्थापित कर डालती है। मशीनी उद्योग में इस प्रकार जो गुणात्मक परिवर्तन होते हैं, उनके कारण लगातार फ़ैक्टरी के मज़दूरों को जवाब मिलता रहता है या नये मज़दूरों के लिए फ़ैक्टरी के दरवाज़े बंद रहते हैं। इसके विपरीत जब फ़ैक्टरियों का केवल परिमाणात्मक विस्तार होता है, तब न केवल उन मज़दूरों को फिर से काम मिल जाता है, जिनको पहले जवाब मिल गया था, बल्कि मज़दूरों के नये जत्थे भी रोज़ी पा जाते हैं। इस प्रकार मज़दूरों के आकर्षण और प्रतिकर्षण, दोनों प्रकार की क्रिया लगातार चलती रहती है। उन्हें कभी यहां धकेला जाता है, तो कभी वहां। और इसके साथ-साथ औद्योगिक सेना के रंगरूटों के लिंग, आयु तथा कुशलता में लगातार परिवर्तन होते रहते हैं।

फ़ैक्टरी-मज़दूरों के भाग्य की कुछ जानकारी प्राप्त करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि इंगलैंड के सूती उद्योग के इतिहास पर सरसरी तौर पर नज़र डाल ली जाये।

१७७० से लेकर १८१५ तक इस धंधे में केवल ५ वर्ष के लिए मंदी या ठहराव रहा। ४५ वर्ष के इस काल में अंग्रेज़ कारख़ानेदारों का मशीनों पर और दुनिया की मंडियों पर एकाधिकार था। १८१५ से १८२१ तक मंदी रही। १८२२ और १८२३ समृद्धि के वर्ष थे। १८२४ में ट्रेड-यूनियनों के ख़िलाफ़ बनाये गये क़ानूनों को रद्द कर दिया गया और हर जगह फ़ैक्टरियों का बड़ा विस्तार हुआ। १८२५ में संकट आया। १८२६ में फ़ैक्टरी-मज़दूरों की हालत बहुत ख़राब हो गयी और जगह-जगह पर मज़दूरों के उपद्रव हुए। १८२७ में स्थिति में कुछ सुधार हुआ। १८२८ में शक्ति से चलनेवाले करघों की संख्या में और निर्यात में भारी वृद्धि हुई। १८२९ में निर्यात, ख़ास कर हिंदुस्तान को जानेवाला निर्यात, पिछले सभी वर्षों से बढ़ गया। १८३० में मंडियां माल से अंट गयीं और हर तरफ़ मुसीबत आ गयी। १८३१ से १८३३ तक लगातार मंदी रही और ईस्ट इंडिया कंपनी से हिंदुस्तान और चीन के साथ व्यापार करने का एकाधिकार छीन लिया गया। १८३४ में फ़ैक्टरियों और मशीनों की संख्या में भारी वृद्धि हुई और मज़दूरों की कमी हुई। ग़रीबों के बारे में जो नया क़ानून बना, उससे खेतिहर मज़दूरों को औद्योगिक डिस्ट्रिक्टों में जाकर बस जाने के लिए बढ़ावा मिला। देहाती इलाक़े बच्चों से ख़ाली हो गये। लड़कियों से वेश्यावृत्ति कराने के लिए उनकी बिक्री शुरू हो गयी। १८३५ महान समृद्धि का वर्ष था, पर इसी समय हाथ का करघा इस्तेमाल करनेवाले बुनकर भूखों मर रहे थे। १८३६ महान समृद्धि का वर्ष था। १८३७ और १८३८ मंदी और संकट के वर्ष थे। १८३९ में उद्योग का पुनरुत्थान हुआ। १८४० में भयानक मंदी आयी और ऐसे भयंकर मज़दूर उपद्रव हुए, जिनको दबाने के लिए सेना को बुलाना पड़ा। १८४१ और १८४२ में फ़ैक्टरी-मज़दूरों को भयानक कष्ट उठाना पड़ा। १८४२ में कारख़ानेदारों ने अनाज-क़ानूनों को मंसूख़ कराने के लिए फ़ैक्टरियों में ताले डाल दिये। मज़दूर हज़ारों की संख्या में लंकाशायर और यार्कशायर के शहरों में भर गये। वहां से फ़ौज ने उन्हें ज़बर्दस्ती बाहर निकाला, और उनके नेताओं पर लैंकास्टर में मुक़दमा चलाया गया। १८४३ बड़ी मुसीबत का वर्ष था। १८४४ में फिर पुनरुत्थान हुआ। १८४५ में महान समृद्धि का काल आया। १८४६ में शुरू में स्थिति का सुधरना जारी रहा, फिर प्रतिक्रिया आरंभ हो गयी; अनाज-क़ानून मंसूख़ कर दिये गये। १८४७ में संकट आया; "मोटी रोटी" के सम्मान में मज़दूरी में सामान्य रूप से १० प्रतिशत और उससे भी अधिक की कटौती कर दी गयी। १८४८ में मंदी जारी

रही, मैंचेस्टर सैनिक संरक्षण में रहा। १८४६ में उद्योग का पुनरुत्थान हुआ। १८५० में समृद्धि का समय आया। १८५१ में दाम गिरे, मजदूरी गिरी और अकसर हड़तालें हुईं। १८५२ में परिस्थिति सुधरनी शुरू हुई, पर हड़तालें जारी रहीं; कारख़ानेदारों ने धमकी दी कि वे विदेशों से मजदूर बुला लेंगे; १८५३ में निर्यात बढ़ने लगे, ८ महीने तक हड़ताल चली और प्रेस्टन में मजदूरों को भयानक ग़रीबी का सामना करना पड़ा। १८५४ में फिर समृद्धि का समय आ गया और मंडियां जिंसों से अंट गयीं। १८५५ में बराबर संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा और पूरब की मंडियों से लोगों के दिवाले निकलने की ख़बरें आती रहीं। १८५६ महान समृद्धि का वर्ष रहा। १८५७ में संकट आया। १८५८ में कुछ सुधार हुआ। १८५९ में फिर महान समृद्धि का समय आया, फ़ैक्टरियों की संख्या में वृद्धि हो गयी। १८६० में इंगलैंड का सूती धंधा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा; इस साल हिंदुस्तान, आस्ट्रेलिया तथा अन्य देशों की मंडियां जिंसों से इस बुरी तरह अंट गयीं कि १८६३ तक भी वे इसको पूरी तरह हज़म नहीं कर सकीं; व्यापार की फ़ांसीसी संधि संपन्न हुई; फ़ैक्टरियों और मशीनों की संख्या में बहुत भारी वृद्धि हुई। १८६१ में कुछ समय तक समृद्धि जारी रही, फिर प्रति-क्रिया आरंभ हुई, अमरीका का गृह-युद्ध छिड़ गया, कपास का अकाल पड़ गया। १८६२ से १८६३ तक व्यवसाय पूरी तरह चौपट रहा।

कपास के अकाल का इतिहास इतना अर्थपूर्ण है कि उसपर थोड़ा विचार किये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। १८६० और १८६१ में दुनिया की मंडियों की हालत की जो अलामतें देखने को मिली थीं, उनसे पता चलता है कि कारख़ानेदारों के दृष्टिकोण से कपास का अकाल बिल्कुल ठीक समय पर आया था, और उन्हें कुछ हद तक उससे लाभ हुआ था। इस तथ्य को मैंचेस्टर की व्यापार-परिषद (चेम्बर आफ़ कामर्स) की रिपोर्टों में स्वीकार किया गया, पामर्स्टन और डरबी ने संसद में उसकी घोषणा की और घटनाओं ने उसे प्रमाणित कर दिया।[236] इसमें कोई संदेह नहीं कि युनाइटेड किंगडम में १८६१ में जो २,८८७ सूती मिलें थीं, उनमें से अनेक का आकार छोटा था। मि० ए० रेडग्रेव की रिपोर्ट के मुताबिक, उनके ज़िले में जो २,१०६ मिलें थीं, उनमें से ३६२ – या १६ प्रतिशत – में प्रति मिल दस अश्वशक्ति से कम; ३४५ – या १६ प्रतिशत – में प्रति मिल १० अश्वशक्ति या उससे अधिक, पर २० अश्वशक्ति से कम ताक़त इस्तेमाल होती थी और १,३७२ मिलें २० अश्वशक्ति या उससे अधिक ताक़त का प्रयोग करती थीं।[237] छोटी मिलों में से अधिकतर इससे ज्यादा कुछ नहीं थीं कि वहां छप्पर डालकर बुनाई का इंतज़ाम कर दिया गया था। १८५८ के बाद जब समृद्धि का काल आया था; तब इन्हें बनवाया गया था। इनमें से ज्यादातर सट्टेबाज़ों द्वारा बनवायी गयी थीं। एक सट्टेबाज़ सूत लाता था, दूसरा मशीनें और तीसरा मकान खड़ा कर देता था। और उनको चलाते वे लोग थे, जो मिलों में फ़ोरमैन रह चुके थे, या कम साधनों वाले ऐसे ही लोग। इन छोटे-छोटे कारख़ानेदारों में से अधिकतर का जल्दी ही दिवाला निकल गया। उस व्यापारिक संकट में भी उनका यही हाल हुआ होता, जो केवल कपास के अकाल के कारण रुक गया था। यद्यपि कारख़ानेदारों की कुल संख्या का एक तिहाई भाग इन छोटे-छोटे कारख़ानेदारों का था, तथापि उनकी मिलों में सूती धंधे में लगी हुई कुल पूंजी का अपेक्षाकृत बहुत

---

[236] देखिये *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1862*, p. 30.

[237] l. c., p. 19.

छोटा भाग ही लगा हुआ था। जहां तक काम के बीच में रुक जाने का सवाल है, प्रामाणिक अनुमानों से मालूम होता है कि अक्तूबर १८६२ में ६०.३ प्रतिशत तकुए और ५८ प्रतिशत करघे बेकार खड़े थे। ये आंकड़े पूरे सूती धंधे के संबंध में हैं, और जाहिर है कि अलग-अलग डिस्ट्रिक्टों की स्थिति जानने के लिए उनमें काफ़ी संशोधन करना होगा। बहुत कम मिलें पूरे समय (६० घंटे प्रति सप्ताह) काम करती थीं। बाक़ी रुक-रुककर चलती थीं। जिन चंद मिलों में पूरे समय काम होता था और आम तौर पर कार्यानुसार मज़दूरी मिलती थी, उनमें भी मज़दूरों की मज़दूरी अनिवार्य रूप से कम हो गयी थी। इसका कारण यह था कि अच्छी कपास की जगह पर ख़राब क़िस्म की कपास इस्तेमाल होने लगी थी, जैसे (महीन सूत कातनेवाली मिलों में) सी आइलैंड कपास की जगह पर मिस्री कपास, अमरीकी और मिस्री कपास की जगह पर सूरत की कपास और शुद्ध कपास की जगह पर सूरत की कपास तथा रद्दी कपास को मिलाकर इस्तेमाल किया जाने लगा था। सूरत की कपास का रेशा छोटा था और वह काफ़ी गंदी हालत में आती थी। उसका धागा ज्यादा कमज़ोर होता था। ताने में मांड़ी लगाने के लिए जो आटा इस्तेमाल होता था, उसकी जगह पर तरह-तरह के दूसरे मोटे तत्त्व इस्तेमाल किये जाने लगे थे। इन सब कारणों से मशीनों की रफ़्तार कम हो गयी थी, या एक बुनकर अब पहले जितने करघों की देखभाल नहीं कर पाता था, और मशीनों में पाये जानेवाले दोषों के कारण जो श्रम करना पड़ता था, उसमें भी वृद्धि हो गयी थी। इन सब कारणों से पहले से कम मात्रा में पैदावार होने लगी थी और उसके फलस्वरूप कार्यानुसार मिलनेवाली मज़दूरी कम हो गयी थी। जब सूरती कपास इस्तेमाल की जाती थी, तब पूरे समय काम करनेवाले मज़दूरों को २० प्रतिशत, ३० प्रतिशत या उससे भी अधिक का नुक़सान होता था। किंतु इसके अलावा अधिकतर कारख़ानेदारों ने वैसे भी कार्यानुसार मज़दूरी की दर में ५, $७\frac{१}{२}$ और १० प्रतिशत तक की कटौती कर दी थी। इसलिए हम उन मज़दूरों की दशा की कल्पना कर सकते हैं, जिनसे सप्ताह में केवल ३ दिन, $३\frac{१}{२}$ दिन या ४ दिन अथवा दिन भर में केवल ६ घंटे काम कराया जाता था। १८६३ तक स्थिति में कुछ सुधार हो गया था। पर उस वर्ष भी कताई करनेवाले मज़दूरों और बुनकरों की साप्ताहिक मज़दूरी ३ शिलिंग ४ पेंस, ३ शिलिंग १० पेंस, ४ शिलिंग ६ पेंस और ५ शिलिंग १ पेंस थी।[238] लेकिन इस अत्यंत शोचनीय स्थिति में भी मिल-मालिक की आविष्कारक प्रतिभा ने कभी विश्राम नहीं किया। वह निरंतर मज़दूरी में कटौती करने की नयी-नयी तरक़ीबें निकालता रहा। ये कटौतियां कुछ हद तक तैयार वस्तु में पायी जानेवाली ख़राबियों के बहाने से की जाती थीं, हालांकि असल में ये ख़राबियां मिल-मालिक की ख़राब कपास और अनुपयुक्त मशीनों के कारण पैदा होती थीं। इसके अलावा जहां कहीं मज़दूरों के रहने के घरों का मालिक भी कारख़ानेदार ही होता था, वहां वह उनकी तुच्छ मज़दूरी में से पैसे काटकर अपना किराया वसूल कर लेता था। मि० रेडग्रेव बताते हैं कि स्वचालित म्यूलों की एक जोड़ी की देखरेख करनेवाले मज़दूर "पूरे एक पखवारे तक काम करके ८ शिलिंग ११ पेंस कमाते थे और इस रक़म में से घर का किराया काट लिया जाता था। लेकिन कारख़ानेदार उनपर मेहरबानी करके आधा किराया लौटा देता

[238] *Reports etc. for 31st October 1863*, pp. 41-45, 51.

था। मज़दूरों को ६ शिलिंग ११ पेंस की रक़म मिलती थी। बहुत सी जगहों में १८६२ के दूसरे हिस्से में स्वचालित म्यूलों की जोड़ी की देखरेख करनेवाले मज़दूरों की आमदनी ५ शिलिंग से लेकर ६ शिलिंग प्रति सप्ताह तक और बुनकरों की २ शिलिंग से लेकर ६ शिलिंग तक बैठती थी।"[239] मज़दूर जब कम समय काम करते थे, तब भी उनकी मज़दूरी में से किराये की रक़म अकसर काट ली जाती थी।[240] इसलिए कोई आश्चर्य नहीं, यदि लंकाशायर के कुछ हिस्सों में भूख से पैदा होनेवाले एक तरह के बुख़ार ने महामारी का रूप धारण कर लिया था। पर इन तमाम बातों से अधिक अर्थपूर्ण वह क्रांति है, जो मज़दूरों की क़ीमत पर उत्पादन की प्रक्रिया में हुई। जैसे शरीररचनाविज्ञानी मेंढकों पर प्रयोग करते हैं, वैसे ही इन मज़दूरों के शरीरों पर प्रयोग किये गये। मि० रेडग्रेव ने बताया है: "यद्यपि मैंने यहां पर कई मिलों के मज़दूरों की वास्तविक कमाई का उल्लेख किया है, परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे लगातार हर सप्ताह यही रक़म कमाते हैं। कारख़ानेदार लोग जो तरह-तरह के प्रयोग लगातार किया करते हैं, उनकी वजह से मज़दूरों को बड़े उतार-चढ़ाव का शिकार होना पड़ता है... कपास में जैसी मिलावट होती है, उसके अनुसार उनकी कमाई घटती-बढ़ती रहती है। कभी-कभी उसमें और उनकी पुराने दिनों की कमाई में केवल १५ प्रतिशत का ही अंतर रह जाता है, और फिर एक-दो सप्ताह के भीतर ही उसमें ५० से लेकर ६० प्रतिशत तक की कमी आ जाती है।"[241] ये प्रयोग केवल मज़दूर के जीवन-निर्वाह के साधनों को कम करके ही नहीं किये जाते थे। मज़दूर की पांचों इंद्रियों को भी इसका दंड भुगतना पड़ता था। "जो लोग सूरती कपास से कताई करते हैं, उनको बहुत ज्यादा शिकायतें हैं। उन्होंने मुझे बताया है कि कपास की गांठें खोलने पर उनमें से एक असहनीय बदबू निकलती है, जिससे मज़दूरों को क़ै होने लगती है... कपास मिलाने, तूमने और धुनने के कमरों में जो धूल और गंदगी उसमें से निकलती है, वह मुंह, नाक, आंखों और कानों में विकार पैदा करती है, और मज़दूरों को खांसी हो जाती है तथा सांस लेने में कठिनाई होने लगती है। मज़दूरों में चर्मरोग भी पाया जाता है, जो इसमें संदेह नहीं कि सूरती कपास की गंदगी से पैदा होनेवाली खुजली से फैलता है... इस कपास का रेशा बहुत छोटा होने के कारण वनस्पति से बनी और चमड़े से बनी मांड़ी बहुत अधिक मात्रा में इस्तेमाल की जाती है... धूल के कारण ब्रोंकाइटिस की बीमारी बहुत होती है। इसी कारण अकसर गला दुखने लगता है और सूज जाता है। बाना अकसर टूटता रहता है, और हर बार बुनकर को ढरकी के छेद में मुंह लगाकर बाने को बाहर खींचना पड़ता है। इससे मतली और मंदाग्नि हो जाती।" दूसरी ओर, आटे की जगह पर जो अधिक भारी पदार्थ इस्तेमाल किये जाते थे, वे कारख़ानेदारों के लिए फ़ारचुनेटस की थैली बन गये थे, क्योंकि उनसे सूत का वज़न बढ़ गया था। इन पदार्थों के कारण "बुनाई के बाद १५ पाउंड सूत का वज़न २६ पाउंड हो जाता था।"[242] फ़ैक्टरियों के इंस्पेक्टरों की ३० अप्रैल १८६४ की रिपोर्ट में हमें यह पढ़ने को मिलता है: "इस व्यवसाय में इस ख़ास तरक़ीब से आजकल इतना ज्यादा फ़ायदा उठाया जा रहा है कि वह निंद्य है। ८ पाउंड वज़न के एक

---

[239] *Reports etc. for 31st October 1863*, pp. 41-42.

[240] l. c., p. 57.

[241] l. c., pp. 50, 51.

[242] l. c., pp. 62, 63.

कपड़े के बारे में मुझे एक अधिकारी व्यक्ति से यह मालूम हुआ कि उसमें ५$\frac{1}{4}$ पाउंड कपास और २$\frac{3}{4}$ पाउंड मांड़ी लगी है। एक और कपड़ा है, जिसका वज़न ५$\frac{1}{4}$ पाउंड है और जिसमें २ पाउंड मांड़ी लगी है। ये दोनों विदेशों को भेजने के लिए बनाये गये क़मीज़ों के साधारण कपड़े थे। दूसरी क़िस्मों के कपड़े में कभी-कभी ५० प्रतिशत तक मांडी जोड़ दी जाती थी। कारख़ानेदार यहां तक कह सकता था – और वह अकसर इसकी डींग मारा करता था – कि उसने जिस भाव पर सूत ख़रीदा था, अपना कपड़ा वह उससे भी कम भाव पर बेचता है और फिर भी धनी हुआ जाता है।"[243] लेकिन केवल मिलों के अंदर मिल-मालिकों और बाहर नगरपालिकाओं द्वारा किये जानेवाले प्रयोगों, मज़दूरी में कटौतियों और बेरोज़गारी, अभाव और भीख की रोटी और हाउस आफ़ लार्ड्स तथा हाउस आफ़ कामन्स के प्रशस्ति-भाषणों के कारण ही मज़दूरों को दुःख उठाना नहीं पड़ता था। "वे अभागी नारियां जो कपास के अकाल के फलस्वरूप अकाल आरंभ होते ही बेकार हो गयी थीं, समाज से बहिष्कृत हो गयी हैं; और अब हालांकि व्यवसाय में फिर से जान पड़ गयी है और काम की भी कोई कमी नहीं है, पर वे आज भी उसी अभागी श्रेणी की सदस्याएं बनी हुई हैं और आगे भी उनके इसी श्रेणी में पड़े रहने की संभावना है। नगर में कमउम्र वेश्याओं की संख्या जितनी आजकल बढ़ गयी है, उतनी मैंने पिछले २५ वर्ष में कभी नहीं देखी थी।"[244]

इस तरह हम देखते हैं कि १७७० से १८१५ तक – इंगलैंड के सूती व्यवसाय के पहले ४५ वर्षों में – केवल ५ वर्ष संकट और ठहराव के थे। परंतु यह एकाधिकार का काल था। १८१५ से १८६३ तक का दूसरा काल ४८ वर्ष का था। उसमें से २८ वर्ष मंदी और ठहराव के वर्ष थे, और उनके मुक़ाबले में केवल २० वर्ष व्यवसाय के पुनरुत्थान और समृद्धि के थे। १८१५ और १८३० के बीच यूरोप महाद्वीप और संयुक्त राज्य अमरीका से प्रतियोगिता छिड़ गयी। १८३३ के बाद "मनुष्यजाति का विनाश करके" (हाथ का करघा इस्तेमाल करनेवाले हिंदुस्तानी बुनकरों की पूरी की पूरी आबादी को मिटाकर) एशिया की मंडियों का बलपूर्वक विस्तार किया गया है। अनाज-क़ानूनों के रद्द कर दिये जाने के बाद, १८४६ से १८६३ तक, ८ वर्ष यदि साधारण क्रियाशीलता और समृद्धि का काल रहता है, तो ६ वर्ष मंदी और ठहराव में गुज़रते हैं। समृद्धि के वर्षों में भी वयस्क पुरुष मज़दूरों की क्या दशा रहती थी, इसका कुछ ज्ञान नीचे दी गयी पाद-टिप्पणी से प्राप्त हो सकता है।[245]

---

[243] *Reports ets. for 30th April 1864*, p. 27.

[244] बोल्टन के चीफ़ कांस्टेबल, मि० हैरिस के एक पत्र से। देखिये *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1865*, pp. 61-62.

[245] लंकाशायर, आदि के फ़ैक्टरी-मज़दूरों ने संगठित उत्प्रवास का आयोजन करनेवाली एक संस्था बनाने के उद्देश्य से १८६३ में एक अपील प्रकाशित की थी। इस अपील में हमें यह पढ़ने को मिलता है: "इस बात से तो अब इने-गिने लोग ही इनकार करेंगे कि मज़दूरों को उनकी मौजूदा तबाह हालत से ऊपर उठाने के लिए यह बिल्कुल ज़रूरी है कि बड़े पैमाने पर उनके उत्प्रवास की व्यवस्था की जाये। लेकिन यह स्पष्ट करने के लिए कि उत्प्रवास के एक निरंतर प्रवाह की हर घड़ी आवश्यकता रहती है और उसके बिना साधारण काल में भी मज़दूरों के लिए अपनी स्थिति को बनाये रखना असंभव हो जाता है, हम निम्नलिखित तथ्यों

अनुभाग ८—आधुनिक उद्योग द्वारा मैन्यूफ़ैक्चर, दस्तकारियों और घरेलू उद्योग में लायी गयी क्रांति

क) दस्तकारी और श्रम-विभाजन पर आधारित सहकारिता का पतन

हम यह देख चुके हैं कि दस्तकारियों पर आधारित सहकारिता को और दस्तकारी श्रम के विभाजन पर आधारित मैन्यूफ़ैक्चर को मशीनें किस तरह समाप्त कर देती हैं। पहले ढंग की मिसाल है घास काटने की मशीन। वह घास काटनेवाले व्यक्तियों की सहकारिता का स्थान ले लेती है। दूसरे ढंग की एक अच्छी मिसाल है सूइयां बनाने की मशीन। ऐडम स्मिथ के अनुसार उनके ज़माने में १० आदमी सहकार करते हुए एक दिन में ४८,००० से अधिक सूइयां तैयार कर देते थे। दूसरी ओर, सूइयां बनाने की एक अकेली मशीन ११ घंटे के काम के दिन में १,४५,२०० सूइयां बना डालती है। एक औरत या लड़की ऐसी चार मशीनों की देखभाल करती है, और इस तरह वह दिन भर में लगभग ६,००,००० सूइयां या एक सप्ताह में ३०,००,००० से अधिक सूइयां तैयार कर देती है।[246] जब कोई मशीन सहकारिता या मैन्यूफ़ैक्चर का स्थान ले लेती है, तब इस तरह की एक अकेली मशीन दस्तकारी के ढंग के उद्योग का ख़ुद एक आधार बन सकती है। फिर भी दस्तकारी की ओर इस तरह लौटकर

की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं: १८१४ में जो सूती सामान विदेशों को भेजा गया था, उसका सरकारी मूल्य १,७६,६५,३७८ पाउंड था, जब कि बाज़ार में वह असल में २,००,७०,८२४ पाउंड की क़ीमत पर बेचा जा सकता था। १८५८ में जो सूती सामान विदेशों को भेजा गया, उसका सरकारी मूल्य १८,२२,२१,६८१ पाउंड था, लेकिन उसका वास्तविक मूल्य, या वह मूल्य, जिसपर उसे बाज़ार में बेचा जा सकता था केवल ४,३०,०१,३२२ पाउंड था। यानी पहले से दस गुना सामान पुरानी क़ीमत के दुगुने से थोड़े ज्यादा दाम लेकर बेच दिया गया था। सामान्य रूप से देश के लिए और विशेष रूप से फ़ैक्टरी-मज़दूरों के लिए यदि इतना अहितकर परिणाम हुआ, तो उसके पीछे कई कारण मिलकर काम कर रहे थे। अगर परिस्थितियां इजाज़त देतीं, तो हम इन कारणों को अधिक स्पष्टता के साथ आपके सामने रखते। बहरहाल अभी इतना ही कह देना काफ़ी है कि इनमें से सबसे स्पष्ट कारण यह है कि श्रम का निरंतर आधिक्य रहता है। यदि यह न होता, तो ऐसा सत्यानाशी व्यवसाय, जिसे नष्ट होने से बचाने के लिए एक निरंतर बढ़ती हुई मंडी की आवश्यकता होती है, कभी जारी न रह पाता। वर्तमान व्यवस्था में व्यवसाय में समय-समय पर आनेवाला ठहराव उतना ही अवश्यंभावी होता है, जितनी मौत, और इन ठहरावों से हमारी सूती मिलों में ताला पड़ सकता है। लेकिन मानव-मस्तिष्क निरंतर काम करता रहता है, और यद्यपि हमारा विश्वास है कि जब हम यह कहते हैं कि पिछले २५ वर्षों में ६० लाख व्यक्ति इस देश को छोड़कर चले गये हैं, तब हम वास्तविकता को कुछ कम करके ही पेश कर रहे हैं, तथापि जनसंख्या में जो प्राकृतिक वृद्धि होती रहती है और पैदावार को सस्ता करने के लिए श्रम का जो विस्थापन होता रहता है, उसके कारण अधिक से अधिक समृद्धि के दिनों में भी वयस्क पुरुषों की एक बड़ी भारी संख्या को फ़ैक्टरियों में किसी भी शर्त पर काम नहीं मिलता।" (*Reports of Insp. of Fact. for 30th April 1863*, pp. 51-52.) बाद के एक अध्याय में हम देखेंगे कि जब सूती व्यवसाय पर संकट आया था, उन दिनों हमारे मित्र कारख़ानेदारों ने मज़दूरों के उत्प्रवास को रोकने के लिए हर मुमकिन कोशिश की थी और यहां तक कि राज्य के हस्तक्षेप का भी सहारा लिया था।

[246] *Children's Employment Commission, 3rd Report*, 1864, p. 108, No. 447.

भी महज़ फ़ैक्टरी-व्यवस्था की ओर ही क़दम बढ़ाया जाता है, और जैसे ही मशीनों को चलाने के लिए मानव की मांस-पेशियों के बजाय भाप या पानी जैसी किसी यांत्रिक चालक शक्ति से काम लिया जाने लगता है, वैसे ही यह फ़ैक्टरी-व्यवस्था अस्तित्व में आ जाती है। जहां-तहां कोई उद्योग यांत्रिक शक्ति से भी छोटे पैमाने पर चलाया जा सकता है, पर किसी भी हालत में यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रहती। इस प्रकार का छोटे पैमाने का उद्योग या तो भाप की शक्ति किराये पर लेकर चलाया जा सकता है, जैसा कि बर्मिंघम के कुछ धंधों में होता है, या छोटे ताप-इंजनों का उपयोग करके चलाया जा सकता है, जैसा कि बुनाई की कुछ शाखाओं में होता है।[247] कोवेंट्री के रेशम की बुनाई के उद्योग में "कुटीर-फ़ैक्टरियों" का प्रयोग किया गया था। एक आंगन में चारों ओर झोंपड़ियां खड़ी कर दी गयी थीं, बीच में इंजन हाउस बनाया गया था और इंजन को धुरों के जरिये झोंपड़ियों में रखे हुए करघों से जोड़ दिया गया था। शक्ति के एवज़ में फ़ी करघा एक निश्चित रक़म किराये के तौर पर देनी पड़ती थी। करघे चाहे चलें या न चलें, साप्ताहिक किराया हर हालत में देना होता था। हर झोंपड़ी में २ से ६ तक करघे होते थे। उनमें से कुछ बुनकर की संपत्ति होते थे, कुछ को वह उधार ख़रीद लेता था और कुछ किराये पर ले लेता था। इन कुटीर-फ़ैक्टरियों और असली फ़ैक्टरी के बीच १२ साल तक संघर्ष चलता रहा। यह संघर्ष ३०० कुटीर-फ़ैक्टरियों को पूरी तरह तबाह करके ही समाप्त हुआ।[248] जहां कहीं पर स्वयं उत्पादन-प्रक्रिया के स्वरूप के कारण बड़े पैमाने का उत्पादन आवश्यक नहीं था, वहां पर पिछले कुछ दशकों में जिन नये उद्योगों – मसलन लिफ़ाफ़े बनाने के उद्योग, इस्पाती निबें बनाने के उद्योग, इत्यादि – का जन्म हुआ है, वे फ़ैक्टरी-अवस्था तक पहुंचने के पूर्व आम तौर पर पहले दस्तकारी की और फिर मैन्यूफ़ैक्चर की दो छोटी-छोटी अंतरकालीन अवस्थाओं में से गुज़रे हैं। जहां मैन्यूफ़ैक्चर के द्वारा किसी वस्तु का उत्पादन कुछ आनुक्रमिक क्रियाओं का एक क्रम न होकर अनेक असंबद्ध प्रक्रियाओं के रूप में होता है, वहां यह संक्रमण बहुत कठिनाई से होता है। इस बात से इस्पाती निबें बनानेवाली फ़ैक्टरियां खोलने के रास्ते में बड़ी मुश्किलें पैदा हो गयी थीं। फिर भी क़रीब १५ वर्ष पहले एक ऐसी मशीन का आविष्कार हुआ, जो बिल्कुल अलग-अलग ६ क्रियाएं एक बार में पूरी कर डालती थी। शुरू-शुरू में जो निबें दस्तकारी की प्रणाली के अनुसार बनायी गयी थीं, वे १८२० में ७ पाउंड ४ शिलिंग फ़ी गुरुस के भाव पर बिकी थीं। १८३० में वे मैन्यूफ़ैक्चर द्वारा बनाये जाने लगीं, तो उनका भाव ८ शिलिंग फ़ी गुरुस हो गया। और आजकल फ़ैक्टरी-व्यवस्था २ से लेकर ६ पेंस फ़ी गुरुस तक के भाव पर इन निबों को थोक व्यापारियों को बेच रही है।[249]

---

[247] संयुक्त राज्य अमरीका में इस तरह अकसर दस्तकारियों को मशीनों के आधार पर पुनः चालू कर दिया जाता है, और इसलिए वहां पर जब अवश्यंभावी परिवर्तन होगा तथा फ़ैक्टरी-व्यवस्था क़ायम होगी, तब वहां केंद्रीकरण की क्रिया ऐसे प्रचंड वेग से चलेगी कि यूरोप और यहां तक कि इंगलैंड भी पीछे छूट जायेगा।

[248] देखिये *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1865*, p. 64.

[249] मि० गिलोट ने बर्मिंघम में पहली बड़े पैमाने की इस्पाती निबें बनाने की फ़ैक्टरी खड़ी की थी। यह फ़ैक्टरी १८५१ में ही हर साल १८ करोड़ निबें तैयार करने लगी थी और १२० टन इस्पात ख़र्च करती थी। युनाइटेड किंगडम में इस उद्योग का एकाधिकार बर्मिंघम को मिला हुआ है, और वह आजकल अरबों निबें तैयार कर रहा है। १८६१ की जनगणना के अनुसार

ख) मैन्यूफ़ैक्चर और घरेलू उद्योगों पर फ़ैक्टरी-व्यवस्था की प्रतिक्रिया

फ़ैक्टरी-व्यवस्था के विकास के साथ-साथ खेती में भी क्रांति हो जाती है, और इन दोनों घटनाओं के साथ-साथ उद्योग की अन्य तमाम शाखाओं में न केवल उत्पादन बढ़ जाता है, बल्कि उसका स्वरूप ही बदल जाता है। फ़ैक्टरी-व्यवस्था में व्यावहारिक रूप पानेवाला यह सिद्धांत कि उत्पादन की प्रक्रिया का विश्लेषण करके उसे उसकी संघटक अवस्थाओं में बांट देना चाहिए और इस तरह जो समस्याएं सामने आयें, उनको यांत्रिकी, रसायन और प्राकृतिक विज्ञान की सभी शाखाओं का प्रयोग करके हल करना चाहिए – यह सिद्धांत अब हर जगह निर्णायक सिद्धांत बन जाता है। चुनांचे मशीनें पहले मैन्यूफ़ैक्चर की किसी एक तफ़सीली प्रक्रिया में घुस जाती हैं और फिर किसी दूसरी प्रक्रिया में प्रवेश कर जाती हैं। इस प्रकार इनकी व्यवस्था का वह ठोस स्फटिक, जो पुराने श्रम-विभाजन पर आधारित था, घुल जाता है और निरंतर होनेवाले परिवर्तनों के लिए रास्ता खुल जाता है। इससे बिल्कुल अलग ढंग से सामूहिक मजदूर की बनावट में मौलिक परिवर्तन हो जाता है, मिलकर काम करनेवाले व्यक्ति बदल जाते हैं। मैन्यूफ़ैक्चर-काल के विपरीत अब आगे से श्रम-विभाजन का आधार यह होता है कि जहां कहीं भी संभव होता है, वहां पर स्त्रियों, हर उम्र के बच्चों तथा अकुशल मज़दूरों से और यदि संक्षेप में कहें, तो सस्ते श्रम से काम लिया जाता है – इंगलैंड में इस प्रकार के मज़दूरों के लिए इसी विशिष्ट संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। यह बात न केवल हर प्रकार के बड़े पैमाने के सारे उत्पादन पर – उसमें चाहे मशीनें इस्तेमाल की जाती हों या नहीं – बल्कि तथाकथित घरेलू उद्योगों पर भी लागू होती है, वे चाहे मज़दूरों के घरों में चलाये जाते हों या छोटे-छोटे वर्कशापों में। आधुनिक काल के इस तथाकथित घरेलू उद्योग और पुराने ढंग के घरेलू उद्योग में नाम के सिवा और कोई समानता नहीं है। पुराने ढंग का घरेलू उद्योग अपने अस्तित्व के लिए स्वतंत्र शहरी दस्तकारियों, स्वतंत्र किसान की खेती और इनसे भी अधिक इस बात पर निर्भर था कि मज़दूर और उसके परिवार के पास रहने का अपना मकान होता था। पुराने ढंग का वह उद्योग फ़ैक्टरी, मैन्यूफ़ैक्चर या गोदाम के एक बाहरी विभाग में बदल दिया गया है। पूंजी फ़ैक्टरी-मजदूरों, मैन्यूफ़ैक्चर के कारीगरों और दस्तकारों को एक जगह पर बड़ी संख्या में इकट्ठा करके उनका संचालन तो करती है, उनके अलावा वह कुछ अदृश्य सूत्रों के द्वारा एक और सेना को भी गतिमान बना देती है। यह है घरेलू उद्योगों के मज़दूरों की सेना, जो बड़े-बड़े शहरों में रहते हैं और देहातों में भी फैले हुए हैं। एक मिसाल देखिये: लंडनडेरी में मैसर्स टिल्ली की एक क़मीज़ों की फ़ैक्टरी है। उसके १,००० मज़दूर ख़ुद फ़ैक्टरी के अंदर काम करते हैं और ६,००० देहात में बिखरे हुए हैं तथा अपने-अपने घरों में बैठकर काम करते हैं।[250]

आधुनिक मैन्यूफ़ैक्चर में फ़ैक्टरी की तुलना में ज़्यादा बेशर्मी के साथ सस्ती और अपरिपक्व श्रम-शक्ति का शोषण किया जाता है। इसका कारण यह है कि फ़ैक्टरी-व्यवस्था के प्रावि-

---

इस उद्योग में १,४२८ व्यक्ति काम करते थे, जिनमें से १,२६८ स्त्रियां और लड़कियां थीं, जिनकी आयु ५ वर्ष से आरंभ होती थी।

[250] *Children's Employment Commission, 2nd Report*, 1864, p. LXVIII, No. 415.

धिक आधार – अर्थात् मांस-पेशियों की शक्ति के स्थान पर मशीनों से काम लेने और श्रम के हल्के स्वरूप – का मैन्यूफ़ैक्चर में लगभग सर्वथा अभाव होता है और इसके साथ-साथ स्त्रियों और बहुत ही कमउम्र बच्चों को अत्यंत अविवेकपूर्ण ढंग से ज़हरीले अथवा हानिकारक पदार्थों के प्रभाव का शिकार बनने दिया जाता है। मैन्यूफ़ैक्चर की अपेक्षा तथाकथित घरेलू उद्योग में यह शोषण और भी बेशर्मी के साथ किया जाता है। इसका कारण यह है कि मज़दूर जितना अधिक बिखर जाते हैं, उतना ही उनकी प्रतिरोध करने की शक्ति कम हो जाती है। इसका यह भी कारण है कि इस तथाकथित घरेलू उद्योग में मालिक और मज़दूर के बीच बहुत सारे मुफ़्तख़ोर घुस आते हैं। फिर घरेलू उद्योग को सदा या तो फ़ैक्टरी-व्यवस्था के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ती है, या उत्पादन की उसी शाखा में मैन्यूफ़ैक्चर के साथ। इसके साथ-साथ इसकी यह वजह भी है कि ग़रीबी मज़दूर से स्थान, प्रकाश और शुद्ध वायु, आदि वे तमाम चीज़ें छीन लेती है, जो उसके श्रम के लिए अत्यंत आवश्यक होती हैं। फिर मज़दूरों का नौकरी पाना अधिकाधिक अनिश्चित होता जाता है। और अंतिम कारण यह है कि आधुनिक उद्योग और खेती मज़दूरों की जिस विशाल संख्या को "फालतू" बना देती है, उसका आख़िरी सहारा ये घरेलू उद्योग होते हैं और इसलिए यहां पर काम पाने के लिए मज़दूरों की होड़ चरम सीमा पर पहुंच जाती है। फ़ैक्टरी-व्यवस्था में ही सबसे पहले सुनियोजित ढंग से उत्पादन के साधनों के ख़र्च में मितव्ययिता बरती जाती है। और उसके साथ-साथ वहां पर शुरू से ही आंखें बंद करके श्रम-शक्ति का अपव्यय किया जाता है और श्रम के लिए जो परिस्थितियां सामान्य रूप में आवश्यक होती हैं, उन्हें छीन लिया जाता है। अब उद्योग की किसी ख़ास शाखा में श्रम की सामाजिक उत्पादन शक्ति तथा किन्हीं निश्चित प्रक्रियाओं के लिए आवश्यक प्राविधिक आधार जितने कम विकसित होते हैं, उस शाखा में इस प्रकार की मितव्ययिता का विरोधी और घातक स्वरूप उतना ही अधिक खुलकर सामने आ जाता है।

ग) आधुनिक मैन्यूफ़ैक्चर

ऊपर जिन सिद्धांतों की स्थापना की गयी है, अब मैं उनके उदाहरण प्रस्तुत करूंगा। असल में तो पाठक काम के दिन वाले अध्याय में दिये गये अनेक उदाहरणों से पहले ही परिचित है। बर्मिंघम और उसके आसपड़ोस में धातु का सामान तैयार करनेवाले मैन्यूफ़ैक्चरों में १०,००० स्त्रियों के अलावा ३०,००० बच्चे और किशोर काम करते हैं, और उनमें से अधिकतर से भारी काम लिया जाता है। वहां उनको पीतल की ढलाई करनेवाली फ़ैक्टरियों में और मीनाकारी करनेवाले, कलई चढ़ानेवाले और लाख की पालिश करनेवाले कारख़ानों में काम करते हुए देखा जा सकता है। इन सभी कारख़ानों में बड़ी अस्वास्थ्यप्रद परिस्थितियां होती हैं।[251] लंदन के कुछ ऐसे छापेख़ानों में, जहां अख़बार और किताबें छपती हैं, वयस्क मज़दूरों और बच्चों, दोनों से ही इतना अधिक श्रम कराया जाता है कि लोगों ने इन्हें "क़साईघरों" का मनहूस नाम दे रखा है।[251a] जिल्दसाज़ी में भी इसी तरह की ज्यादतियां की जाती हैं,

---

[251] और आजकल तो बच्चों से शेफ़ील्ड के रेती बनानेवाले कारख़ानों में भी काम लिया जाता है।

[251a] *Children's Employment Commission, 5th Report*, 1866, p. 3, No. 24; p. 6, Nos. 55, 56; p. 7, Nos. 59, 60.

वहां मुख्यतया स्त्रियां, लड़कियां और बच्चे इनका शिकार बनते हैं। लड़के-लड़कियों को रस्सी बटने के कारख़ानों में भारी काम करना पड़ता है और नमक की खानों में, मोमबत्तियों की मैन्यूफ़ैक्टरियों में और रासायनिक कारख़ानों में रात को काम करना पड़ता है; रेशम की बुनाई के व्यवसाय में, जब यह धंधा मशीनों द्वारा नहीं किया जाता, तो करघा चलाते-चलाते लड़के-लड़कियों का दम निकल जाता है।[252] एक सबसे ज्यादा शर्मनाक, सबसे अधिक गंदा और सबसे कम मज़दूरी वाला श्रम चीथड़ों को छांटने का है; इस काम के लिए औरतों और लड़कियों को ज्यादा तरजीह दी जाती है। यह एक सुविदित बात है कि ब्रिटेन में चीथड़ों का उसका अपना एक विशाल भंडार तो है ही, उसके अलावा वह पूरे संसार के चीथड़ों के व्यापार की मंडी बना हुआ है। यहां जापान, दक्षिणी अमरीका के सुदूर राज्यों और कनारी द्वीपों से चीथड़े आते हैं। लेकिन चीथड़ों की पूर्ति के मुख्य केंद्र हैं जर्मनी, फ़्रांस, रूस, इटली, मिस्र, तुर्की, बेल्जियम और हालैंड। ये चीथड़े खाद बनाने, बिस्तर के गद्दे बनाने और कतरनों से बननेवाले कपड़े तैयार करने के काम में आते हैं और काग़ज़ बनाने के व्यवसाय में कच्चे माल की तरह इस्तेमाल होते हैं। जो लोग चीथड़ों को छांटने का काम करते हैं, वे चेचक तथा अन्य छूत की बीमारियों को फैलानेवाले माध्यम का काम करते हैं और इन बीमारियों के वे ख़ुद पहले शिकार बनते हैं।[253] मज़दूरों से किस तरह कमरतोड़ काम लिया जाता है, उनको कितना कठिन और अनुपयुक्त श्रम करना पड़ता है और इस प्रकार के श्रम का उनपर बचपन से ही कितना बुरा प्रभाव पड़ता है और वह कैसे उन्हें पशु समान बना देता है, इसकी अच्छी मिसालें आप न सिर्फ़ कोयला-खानों में तथा आम तौर पर सभी खानों में, बल्कि खपरैल और ईंट बनाने के उद्योग में भी देख सकते हैं। इस उद्योग की मशीनों का अभी हाल में आविष्कार हुआ है और इंगलैंड में अभी केवल जहां-तहां ही उनका उपयोग शुरू हुआ है। इस व्यवसाय में मई और सितंबर के बीच के दिनों में काम सुबह को ५ बजे शुरू होता है और रात के ८ बजे तक चलता रहता है, और जहां ईंटें खुली हवा में सुखायी जाती हैं, वहां अकसर सुबह के ४ बजे से रात के ६ बजे तक काम होता रहता है। यदि सुबह के ५ बजे से रात के ७ बजे तक काम कराया जाये, तो वह "कम" और "हल्का" काम समझा जाता है। छः-छः और यहां तक कि चार-चार बरस के लड़कों और लड़कियों से काम लिया जाता है। ये बच्चे भी वयस्क मज़दूरों के बराबर घंटों तक काम करते हैं, और अकसर बच्चों से और भी ज्यादा देर तक काम कराया जाता है। काम बहुत सख़्त होता है और गरमियों की तपन थकान को और भी बढ़ा देती है। मिसाल के लिए, मोस्ले में खपरैल बनाने का एक भट्ठा है। वहां एक औरत, जिसकी उम्र २४ बरस की थी, रोज़ाना २,००० खपरैलें बनाया करती थी। २ नन्ही-नन्ही लड़कियां उसकी मदद करती थीं। वे मिट्टी ढोकर उसके पास ले जाती थीं और खपरैलों का ढेर लगाती थीं। ये ज़रा-ज़रा सी लड़कियां ३० फ़ुट की गहराई से मिट्टी उठाकर गढ़े के ढालू किनारों पर चढ़ती थीं और फिर ऊपर आकर २१० फ़ुट की दूरी तक चलती थीं और इस तरह रोज़ाना १० टन बोझा ढोती थीं।

---

[252] *Children's Employment Commission. 5th Report, 1866*, pp. 114, 115, Nos. 6, 7. कमीशन के सदस्य ने ठीक ही कहा है कि यद्यपि आम तौर पर मशीनें मनुष्य का स्थान ले रही हैं, तथापि इस व्यवसाय में अक्षरश: लड़के-लड़कियां मशीनों का स्थान ले रहे हैं।

[253] चीथड़ों के व्यवसाय की रिपोर्ट और बहुत सी तफ़सीली बातों के लिए देखिये *Public Health, 8th Report*, London, 1866, Appendix, pp. 196-208.

"खपरैलों के भट्ठे की इस नरक-भूमि में से कोई बच्चा गुज़र जाये और उसका घोर नैतिक पतन न हो, यह असंभव है... इन बच्चों को बाल्यावस्था से ही गंदी ज़बान सुनने की आदत हो जाती है; उनका विकास अनजाने में गंदी, फूहड़ और बेशर्मी की आदतों के बीच होता है; वे आधे जंगली हो जाते हैं और बड़े होकर उच्छृंखल, बदमाश और आवारा हो जाते हैं... नैतिक पतन का एक भयानक कारण उनके जीवन का ढंग होता है। खपरैल ढालनेवाला हरेक कारीगर, जो सदा एक कुशल मज़दूर और एक जत्थे का मुखिया होता है, अपने ७ मातहतों को अपनी झोंपड़ी में रहने के लिए स्थान देता है और उनकी रोटी का प्रबंध करता है। उसके मातहत काम करनेवाले इन पुरुषों, लड़कों और लड़कियों को, वे चाहे उसके परिवार के सदस्य हों या न हों, उसी एक झोंपड़ी में सोना पड़ता है। हर झोंपड़ी में आम तौर पर दो और कभी-कभी ३ कोठरियां होती हैं, जो सबकी सब नीचे वाली मंज़िल में होती हैं और जिनमें ताज़ा हवा बहुत ही कम होती है। ये लोग दिन भर के काम के बाद इतना ज़्यादा थक जाते हैं कि फिर वे न तो स्वास्थ्य और सफ़ाई के नियमों का तनिक भी पालन करते हैं और न ही मर्यादा का कोई ख़याल रखते हैं। इन झोंपड़ियों में से बहुत सी गंदगी, कूड़े और धूल का नमूना होती हैं... कमउम्र लड़कियों से इस प्रकार का काम लेने-वाली इस व्यवस्था की सबसे बड़ी बुराई यह है कि वह सदा इन लड़कियों को उनके बचपन से ही और बाद के उनके समस्त जीवन के लिए हद से ज़्यादा बिगड़े हुए लोगों के साथ बांध देती है। इसके पहले कि प्रकृति उनको यह सिखा सके कि वे नारियां हैं, ये लड़कियां उद्दंड और गंदी बातें बकनेवाले लड़कों में बदल जाती हैं। कपड़ों के नाम पर चंद गंदे चीथड़े उनके बदन पर लटकते रहते हैं, उनकी टांगें घुटनों के भी बहुत ऊपर तक नंगी रहती हैं, बाल और चेहरा मैल से ढंका रहता है। वे मर्यादा तथा लज्जा की प्रत्येक भावना को उपेक्षा की दृष्टि से देखना सीख जाती हैं। खाने की छुट्टी के समय वे खेतों में चित लेटी रहती हैं या पास की नहर में लड़कों को नहाते हुए देखा करती हैं। जब उनकी दिन भर की सख़्त मेहनत आख़िर ख़त्म होती है, तो वे कुछ बेहतर कपड़े पहनकर मर्दों के साथ शराबख़ानों की तरफ़ चल देती हैं।" ऐसी हालत में यह स्वाभाविक ही है कि इस पूरे वर्ग में बचपन से ही हद से ज़्यादा शराब पी जाये। "सबसे ख़राब बात यह है कि ईंटें बनानेवाले ख़ुद भी अपने बारे में निराश हो जाते हैं। उनमें से एक अपेक्षाकृत भले आदमी ने साउथालफ़ील्ड के एक पादरी से कहा था कि जनाब, किसी ईंटें बनानेवाले को सुधारने की कोशिश करना शैतान को सुधारने के बराबर है।"[254]

जहां तक इस बात का ताल्लुक़ है कि आधुनिक मैन्यूफ़ैक्टरियों में (जिसमें मैं असली फ़ैक्टरियों को छोड़कर बड़े पैमाने के बाक़ी सभी वर्कशापों को शामिल करता हूं) श्रम के लिए आवश्यक वस्तुओं के संबंध में पूंजी किस प्रकार की मितव्ययिता बरतती है, इस विषय से संबंधित सरकारी सामग्री सार्वजनिक स्वास्थ्य की चौथी (१८६३) और छठी (१८६३) रिपोर्टों में बहुतायत से मिल जाती है। वहां हमें वर्कशापों का और ख़ास तौर पर छापेख़ानों तथा दर्ज़ीघरों का जैसा लोमहर्षक वर्णन पढ़ने को मिलता है, उसके सामने

---

[254] *Children's Employment Commission, 5th Report,* 1866, pp. XVI-XVIII, Nos. 86-97, pp. 130-133, Nos. 39-71. इसके अलावा देखिये *3rd Report,* 1864, pp. 48, 56.

हमारे उपन्यासकारों की अत्यंत घिनौनी कल्पनाएं भी फीकी पड़ जाती हैं। इसका मज़दूरों के स्वास्थ्य पर जो प्रभाव पड़ता है, वह स्वतःस्पष्ट है। प्रिवी काउंसिल के प्रधान डाक्टर और *Public Health Reports* के सरकारी संपादक डा० साइमन ने कहा है: "अपनी चौथी रिपोर्ट (१८६१) में मैंने यह बताया था कि किस तरह व्यावहारिक रूप में मज़दूरों के लिए सफ़ाई के अपने पहले अधिकार पर भी इसरार करना असंभव हो गया है। अर्थात् वे यह भी मांग नहीं कर सकते कि मालिक उनको चाहे जिस काम के लिए कारख़ाने में इकट्ठा करे, पर जहां तक यह बात उसपर निर्भर करती है, उसको ऐसी तमाम अस्वास्थ्यप्रद परिस्थितियों से मज़दूरों को मुक्त कर देना चाहिए, जिनको दूर किया जा सकता है। मैंने बताया था कि सफ़ाई के मामले में मज़दूर ख़ुद अपने साथ यह न्याय करने में तो असमर्थ होते ही हैं, सफ़ाई-विभाग की पुलिस के वेतन पानेवाले अधिकारियों से भी उनको कोई कार-गर मदद नहीं मिल पाती... असंख्य मज़दूरों और मज़दूरिनों का जीवन अंतहीन कष्ट में बीतता है, जो महज़ उनके धंधे से उत्पन्न होता है; उनको व्यर्थ की यातनाएं उठानी पड़ती हैं, और आख़िर उनकी असमय मृत्यु हो जाती है।"[255] कारख़ानों की कोठरियों का मज़दूरों के स्वास्थ्य पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके एक उदाहरण के रूप में डा० साइमन ने मृत्यु-दर के आंकड़ों की निम्नलिखित तालिका दी है।[256]

अलग-अलग उद्योगों में सभी आयु-वर्गों के कुल कितने व्यक्ति काम करते हैं	उद्योग	मृत्यु-दर (प्रति १ लाख व्यक्ति)		
		आयु २५-३५ वर्ष	आयु ३५-४५ वर्ष	आयु ४५-५५ वर्ष
९,५८,२६५	इंगलैंड और वेल्स की खेती	७४३	८०५	१,१४५
२२,३०१ पुरुष १२,३७९ स्त्रियां	लंदन के दर्जीघर	९५८	१,२६२	२,०९३
१३,८०३	लंदन के छापेख़ाने	८९४	१,७४७	२,३६७

[255] *Public Health, 6th Report*, London, 1864, pp. 29, 31.

[256] l. c., p. 30. डाक्टर साइमन ने लिखा है कि लंदन के दर्ज़ियों और छपाई का काम करनेवाले मज़दूरों की २५ वर्ष और ३५ वर्ष के बीच की मृत्यु-दर वास्तव में इससे भी कहीं अधिक बैठती है। कारण कि लंदन के दर्ज़ीघरों और छापेख़ानों के मालिक ३० वर्ष तक की आयु के बहुत से नौजवानों को "शागिर्दों" और योग्यता वृद्धि के लिए मुफ़्त या थोड़े पारिश्रमिक पर काम करनेवालों के रूप में देहात से मंगा लेते हैं। ये लोग अपने धंधे में महारत पाने के उद्देश्य से लंदन चले आते हैं। जनगणना में ये लोग लंदनवासियों में गिने जाते हैं, और इस तरह लंदन की जिस कुल आबादी के अनुपात में इस शहर की मृत्यु-दर निकाली जाती है, वह तो इन लोगों के कारण बढ़ जाती है, पर उसके अनुपात में मौतों की संख्या नहीं बढ़ती। इन नौजवानों में से अधिकतर असल में देहात लौट जाते हैं, और जब कोई गंभीर बीमारी उन्हें आ घेरती है, तब तो ख़ास तौर पर वे ऐसा ही करते हैं। (l. c.)

घ) आधुनिक घरेलू उद्योग

अब मैं तथाकथित घरेलू उद्योग पर आता हूं। इस क्षेत्र में पूंजी आधुनिक यांत्रिक उद्योग की पृष्ठभूमि में अपना शोषण-चक्र चलाती है। वहां कैसी-कैसी रोंगटे खड़े कर देनेवाली बातें पायी जाती हैं, उनका कुछ आभास पाने के लिए हमें कीलें बनाने के व्यवसाय[257] की ओर मुड़ना पड़ेगा, जो इंगलैंड के चंद दूर के गांवों में केंद्रित है और जो ऊपर से देखने में एक काफ़ी सुंदर और मनोरम धंधा प्रतीत होता है। किंतु यहां पर लेस बनाने और पुआल की बुनी हुई चीज़ें बनाने के उद्योगों की उन शाखाओं से ही कुछ उदाहरण दे देना काफ़ी होगा, जिनमें अभी मशीनें इस्तेमाल नहीं की जातीं और जिनकी अभी उन शाखाओं से प्रतियोगिता नहीं होती, जो फ़ैक्टरियों अथवा मैन्यूफ़ैक्टरियों में केंद्रित हो गयी हैं।

इंगलैंड में कुल १,५०,००० व्यक्ति लेस के उत्पादन में लगे हुए हैं। १८६१ का फ़ैक्टरी-अधिनियम इनमें से लगभग १०,००० पर लागू होता है। बाक़ी १,४०,००० प्रायः स्त्रियां, लड़के-लड़कियां और बच्चे-बच्चियां हैं। परंतु लड़कियों और बच्चियों की अपेक्षा और बच्चों की संख्या कम है। शोषण की इस सस्ती सामग्री के स्वास्थ्य का क्या हाल था, यह नीचे दी गयी तालिका से साफ़ हो जायेगा। यह तालिका नॉटिंघम के सामान्य अस्पताल के चिकित्सक डा० ट्रूमैन की तैयार की हुई है। उनके यहां ६८६ लेस बनानेवाली मज़दूरिनें इलाज कराने आती थीं, जिनमें से अधिकतर की उम्र १७ और २४ वर्ष के बीच थी। इन ६८६ स्त्रियों में तपेदिक़ की बीमारों की संख्या इस प्रकार थी:

१८५२ – ४५ में १	१८५७ – १३ में १
१८५३ – २८ में १	१८५८ – १५ में १
१८५४ – १७ में १	१८५९ – ९ में १
१८५५ – १८ में १	१८६० – ८ में १
१८५६ – १५ में १	१८६१ – ८ में १[258]

तपेदिक के बीमारों की संख्या ने जिस तरह प्रगति की है, उससे प्रगतिवादियों में सबसे अधिक आशावादी व्यक्तियों का और जर्मनी के स्वतंत्र व्यापार के फेरीवालों में झूठ के सबसे बड़े सौदागरों का भी मुंह बंद हो जाना चाहिए।

१८६१ का फ़ैक्टरी-अधिनियम सचमुच लेस बनाने के श्रम का उस हद तक नियमन करता है, जिस हद तक कि यह श्रम मशीनों के द्वारा किया जाता है, और इंगलैंड में आम तौर पर यह श्रम मशीनों के द्वारा ही किया जाता है। अब हम केवल उन मज़दूरों की दशा की जांच करेंगे, जो अपने घरों पर बैठकर काम करते हैं और जो मैन्यूफ़ैक्टरियों या गोदामों में काम नहीं करते। और यहां हम इस व्यवसाय की जिन शाखाओं पर विचार करेंगे, वे दो श्रेणियों में बंट जाती हैं, यानी १) फ़िनिश करनेवाली शाखाएं और २) लेस बनानेवाली शाखाएं। पहली श्रेणी में मशीन के बने हुए लेस पर फ़िनिश की जाती है, और उसमें अनेक उपशाखाएं शामिल हैं।

---

[257] मेरा मतलब यहां पर हथौड़े से पीट-पीटकर बनायी जानेवाली कीलों से है, न कि उनसे, जो मशीनों के द्वारा बनायी जाती हैं। देखिये *Children's Employment Commission, 3rd Report*, pp. XI, XIX, Nos.125-130; p. 52, No. 11; p. 114, No. 487; p. 137, No. 674.

[258] *Children's Employment Commission, 2nd Report*, p. XXII, No. 166.

लेस पर फ़िनिश करने का काम या तो उन मकानों में किया जाता है, जो "मालकिनों के मकान" कहलाते हैं, या मज़दूरिनें अपने घर पर ही अपने बच्चों की मदद से या उसके बिना यह काम पूरा कर देती हैं। "मालकिन के मकान" की मालकिनें ख़ुद भी ग़रीब होती हैं। जिस कोठरी में काम होता है, वह किसी निजी घर में होती है। मालकिन कारख़ानेदारों से या गोदामों के मालिकों से काम ले आती है और कोठरी के आकार तथा काम की घटती-बढ़ती मांग को ध्यान में रखते हुए औरतों, लड़कियों और छोटे-छोटे बच्चों को नौकर रख लेती है। इन कोठरियों में काम करनेवाली मज़दूरिनों की संख्या कहीं २० से ४० तक और कहीं १० से २० तक होती है। बच्चे औसतन ६ वर्ष की उम्र में काम करना शुरू कर देते हैं, पर बहुत सी जगहों में ५ वर्ष से भी कम के बच्चे होते हैं। काम के घंटे साधारणतया सुबह ८ बजे से रात के ८ बजे तक होते हैं, बीच में १$\frac{१}{२}$ घंटे की खाने की छुट्टी मिलती है, जिसका कोई समय निश्चित नहीं होता, और अकसर उन्हीं गंदी कोठरियों में खाना खाया जाता है। जब व्यवसाय में तेज़ी रहती है, तब अकसर सुबह के ८ बजे या यहां तक कि ६ बजे ही काम शुरू हो जाता है और रात के १०, ११ या १२ बजे तक चलता रहता है। इंगलैंड की फ़ौजी बारकों में हर फ़ौजी को क़ानूनन ५००–६०० घन फ़ुट स्थान दिया जाता है, फ़ौजी अस्पतालों में हर व्यक्ति के लिए १,२०० घन फ़ुट की व्यवस्था रहती है। लेकिन इन गंदी कोठरियों में, जहां लेस को फ़िनिश देने का काम होता है, हर व्यक्ति के लिए केवल ६७ से लेकर १०० घन फ़ुट तक ही स्थान होता है। साथ ही गैस की बत्तियां हवा के आक्सीजन को खा जाती हैं। हालांकि इन कोठरियों का फ़र्श टाइलों या पत्थरों का बना होता है, फिर भी लेस को साफ़ रखने के लिए बच्चों को अकसर जाड़ों में भी अंदर आने के पहले जूते उतार देने पड़ते हैं। "नॉटिंघम में यह कोई असाधारण बात कदापि नहीं है कि १५ से २० तक बच्चे एक ऐसी तंग कोठरी में ठुंसे हों, जो शायद १२ वर्ग फ़ुट से अधिक की नहीं है, और दिन के २४ घंटों में से १५ घंटे तक काम करते रहते हों, और काम भी ऐसा, जो एक तो ख़ुद ही इतना थका देनेवाला और नीरस हो कि आदमी का कचूमर निकाल दे और दूसरे, जिसे हर प्रकार से अस्वास्थ्यप्रद वातावरण में करना पड़े... सबसे छोटे बच्चे भी इतना अधिक ध्यान लगाकर तथा ऐसी फुर्ती के साथ काम करते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। वे मुश्किल से ही कभी अपनी उंगलियों को कोई आराम देते हैं या अपनी गति को धीमी करते हैं। यदि उनसे कोई सवाल किया जाता है, तब भी वे इस उद्देश्य से कि एक क्षण भी बरबाद न हो जाये, अपनी आंखें कभी काम से नहीं हटाते।" मालकिन जैसे-जैसे काम के घंटों को बढ़ाती जाती है, वैसे-वैसे अंकुश के रूप में अधिकाधिक डंडे का प्रयोग करने लगती है। "यह धंधा बड़ा ही नीरस, आंखों पर बहुत जोर डालनेवाला और शरीर को सदा एक ही स्थिति में रखने के कारण बहुत ही थका देनेवाला है। इस धंधे में लगे हुए बच्चे अधिकाधिक थकते जाते हैं और कई घंटों की लंबी क़ैद की समाप्ति का समय निकट आने तक चिड़ियों के समान बेचैन हो उठते हैं। उनका काम क्या है, सरासर ग़ुलामी है।"[259] जब औरतें और उनके बच्चे अपने घर पर, जिसका आजकल मतलब है किराये की कोठरी और अकसर तो केवल एक बरसाती, काम करते हैं, तब यदि संभव हो सकता है, तो स्थिति और भी ख़राब होती है। नॉटिंघम

---

[259] *Children's Employment Commission, 2nd Report*, 1864, pp. XIX, XX, XXI.

को यदि केंद्र माना जाये, तो ८० मील के अर्धव्यास का जो वृत्त बनता है, उसमें इस तरह का काम बांटा जाता है। बच्चे जब रात को ६ या १० बजे गोदामों के बाहर निकलते हैं, तो अकसर उनको लेस का एक-एक बंडल घर पर पूरा करने के लिए थमा दिया जाता है। बगुला-भगत पूंजीपति, जिसका प्रतिनिधित्व उसका कोई कर्मचारी करता है, हर बच्चे को बंडल थमाने के साथ यह पाखंडपूर्ण वाक्य भी कहता जाता है कि "यह मां के लिए है", हालांकि वह अच्छी तरह जानता है कि इन अभागे बच्चों को भी रात में जागकर मां की मदद करनी पड़ेगी।[260]

तकिये का लेस बनाने का धंधा मुख्यतया इंगलैंड के दो खेतिहर इलाकों में होता है। उनमें से एक हीनिटन नामक लेस का इलाक़ा है, जो डेवनशायर के दक्षिणी समुद्र तट पर २० से ३० मील तक फैला हुआ है और जिसमें उत्तरी डेवन के भी कुछ स्थान शामिल हैं। दूसरे इलाक़े में बकिंघम, बेडफ़ोर्ड और नॉर्थम्पटन के ज़िलों का अधिकतर भाग और साथ ही इनसे मिले हुए आक्सफ़ोर्डशायर तथा हंटिंगडनशायर के कुछ हिस्से भी शामिल हैं। काम प्रायः खेतिहर मजदूरों की झोंपड़ियों में होता है। बहुत से कारख़ानेदार ३,००० से भी अधिक लेस बनानेवालों से काम लेते हैं। लेस बनानेवालों में मुख्यतया बालिकाएं और युवा लड़कियां होती हैं; शेष बड़ी उम्र की औरतें होती हैं। लेस पर फ़िनिश करने के धंधे के संबंध में हमने जिन परिस्थितियों का वर्णन किया है, वे सब यहां पर भी पायी जाती हैं। केवल इतना अंतर होता है कि "मालकिनों के मकानों" के स्थान पर यहां "लेस के स्कूल" होते हैं, जिनको ग़रीब औरतें अपने झोंपड़ों में क़ायम कर देती हैं। पांच वर्ष की उम्र से और अकसर तो इसके भी पहले से बच्चे यहां काम शुरू करते हैं और बारह या पंद्रह वर्ष के होने तक काम करते हैं। बिल्कुल नन्हे बच्चे पहले वर्ष चार से आठ घंटे तक काम करते हैं, बाद को उनके काम का समय छः बजे सुबह से रात के आठ या दस बजे तक हो जाता है। "जिन कोठरियों में काम होता है, वे आम तौर पर छोटे-छोटे झोंपड़ों की उन साधारण कोठरियों के समान होती हैं, जिनको लोग रहने के लिए इस्तेमाल करते हैं। इसलिए कि हवा के तेज़ झोंके अंदर न आयें, चिमनी का मुंह बंद कर दिया जाता है। कोठरी के अंदर जो लोग काम करते हैं, वे महज़ अपने बदन की गरमी से ही गरम रहते हैं। जाड़ों में भी अकसर यही स्थिति होती है। अन्य स्थानों में तथाकथित स्कूलों की ये कोठरियां सामान रखने की छोटी-छोटी कोठरियों के समान होती हैं, जिनमें उन्हें गर्माने के लिए कोई अंगीठी भी नहीं होती... इन कोठरियों में अकसर हद से ज्यादा भीड़ होती है और उसके कारण हवा एकदम दूषित हो जाती है। छोटे-छोटे झोंपड़ों के आसपास आम तौर पर पायी जानेवाली नालियों, पाखानों, सड़ी-गली चीज़ों और गंदगी का जो घातक प्रभाव होता है, वह अलग है।" स्थान की तंगी का हाल सुनिये: "लेस के एक स्कूल में १८ लड़कियां और एक मालकिन काम करती हैं, हर व्यक्ति के हिस्से में ३५ घन फ़ुट स्थान आता है। एक और स्कूल में, जहां सदा असहनीय बदबू पायी जाती है, १८ व्यक्ति काम करते हैं, जिनमें से हरेक के हिस्से में २४$\frac{१}{२}$ घन फ़ुट स्थान आता है। इस उद्योग में दो-दो और ढाई-ढाई बरस की उम्र के बच्चे भी काम करते हुए पाये जाते हैं।"[261]

बकिंघम और बेडफ़ोर्ड की काउंटियों में जिस स्थान पर लेस बनाने का धंधा समाप्त हो जाता है, उस स्थान से पुआल की बुनी हुई चीज़ें बनाने का काम आरंभ हो जाता है। यह

---

[260] *Children's Employment Commission, 2nd Report*, 1864, pp. XXI, XXII.
[261] l. c., pp. XXIX, XXX.

धंधा हर्टफ़ोर्डशायर के एक बड़े हिस्से में और एस्सेक्स के पश्चिमी तथा उत्तरी भागों में फैला हुआ है। १८६१ में पुआल की बुनी हुई चीज़ें और पुआल के टोप बनाने के व्यवसाय में लगे हुए थे ४०,०४३ व्यक्ति। इनमें से ३,८१५ तो हर उम्र के पुरुष थे और बाक़ी सब औरतें, लड़कियां और बच्चियां थीं। इनमें १४,९१३ की उम्र २० वर्ष से कम थी, और उनमें से लगभग ७,००० बच्चियां थीं। लेस के स्कूलों की जगह पर यहां "पुआल की बुनाई के स्कूल" हैं। बच्चे आम तौर पर अपने चौथे वर्ष में और अकसर ३ और ४ वर्ष की उम्र के बीच में ही पुआल की बुनाई का काम सीखना शुरू कर देते हैं। शिक्षा उनको, ज़ाहिर है, तनिक भी नहीं मिलती। बच्चे खुद प्राथमिक स्कूलों को "प्राकृतिक स्कूल" कहते हैं, ताकि उनको कोई इन बुनाई के स्कूलों के साथ, इन खून चूसनेवाली संस्थाओं के साथ न गड़बड़ा दे, जिनमें बच्चों को केवल उनकी अधभूखी माताओं द्वारा निश्चित काम को पूरा कर देने के उद्देश्य से रखा जाता है। साधारणतया इन बच्चों को रोज़ ३० गज़ बुनाई करनी पड़ती है। और जब स्कूल का समय समाप्त हो जाता है, तब उनकी माताएं अकसर उनसे घर पर काम कराती हैं, और बच्चे रात के १०, ११ और १२ बजे तक काम करते रहते हैं। बच्चों को बार-बार मुंह से पुआल को नम करना पड़ता है, जो उनका मुंह काट देता है और उंगलियों को ज़ख़्मी कर देता है। डा० बैलर्ड लंदन के सभी डाक्टरों की यह सामूहिक राय बताते हैं कि सोने या काम के कमरे में हर व्यक्ति को कम से कम ३०० घन फ़ुट स्थान मिलना चाहिए। लेकिन स्थान के मामले में पुआल बुनाई के स्कूलों में लेस बनाने के स्कूलों से भी अधिक उदारता दिखायी जाती है। यहां "हर व्यक्ति को १२$\frac{२}{३}$, १७, १८$\frac{१}{२}$ तथा २२ घन फ़ुट से कम स्थान मिलता है।" जांच-आयोग के मि० व्हाइट नामक एक सदस्य ने बताया है कि यदि एक बच्चे को ३ फ़ुट लंबे, ३ फ़ुट चौड़े और ३ फ़ुट ऊंचे बक्स में बंद कर दिया जाये, तो बच्चा जितनी जगह लेगा, १२$\frac{२}{३}$ घन फ़ुट उसके आधे से भी कम होता है। १२ या १४ बरस की उम्र तक बच्चे इस प्रकार के जीवन का आनंद लेते हैं। उनके अधभूखे, अभागे मां-बाप को इसके सिवाय और किसी बात की चिंता नहीं होती कि अपने बच्चों के ज़रिये वे जितना ज़्यादा कमा सकते हों, कमा लें। बच्चे बड़े होते हैं, तो मां-बाप की एक कौड़ी बराबर भी परवाह नहीं करते, जो स्वाभाविक ही है, और घर छोड़कर चल देते हैं। "कोई आश्चर्य नहीं, यदि इस आबादी में, जिसका लालन-पालन इस तरह होता है, सदा जहालत और दुराचार का बोलबाला रहता है... उनकी नैतिकता निम्नतम स्तर पर रहती है... औरतों की एक बड़ी संख्या के हरामी बच्चे होते हैं, और वह भी इतनी अपरिपक्व अवस्था में कि दुराचार के आंकड़ों की सबसे अधिक जानकारी रखनेवाले व्यक्ति भी देख कर स्तंभित रह जाते हैं।"[262] और इन आदर्श परिवारों की भूमि सारे यूरोप का आदर्श ईसाई देश मानी जाती है, — कम से कम काउंट मोंतालेंबेर का तो यही ख़याल है, जो निश्चय ही ईसाई धर्म के एक अधिकारी विद्वान हैं!

उपर्युक्त उद्योगों में जो मज़दूरी मिलती है, वह बहुत ही कम होती है (पुआल की बुनाई के स्कूलों में बच्चों को ३ शिलिंग की मज़दूरी भी कभी-कभार ही मिलती है); ऊपर से हर जगह और ख़ास तौर पर लेस बनानेवाले डिस्ट्रिक्टों में truck system [श्रम का

---

[262] *Children's Employment Commission, 2nd Report*, 1864, pp. XL, XLI.

भुगतान खाद्यपदार्थों से करने की प्रणाली] का चलन है, जिसका नतीजा यह होता है कि कहने को जो मजदूरी मिलती है, वह असल में और भी कम हो जाती है।[263]

च) आधुनिक मैन्यूफ़ैक्चर तथा घरेलू उद्योग का आधुनिक यांत्रिक उद्योग में संक्रमण। इन उद्योगों पर फ़ैक्टरी-अधिनियमों के लागू हो जाने के कारण इस क्रांति का और भी तेज हो जाना

स्त्रियों और बच्चों के श्रम का सरासर दुरुपयोग करके, काम करने और ज़िंदा रहने की सामान्य रूप से आवश्यक परिस्थितियों को छीनकर और सर्वथा पाशविक ढंग से अत्यधिक काम कराके तथा रात को काम लेकर श्रम-शक्ति को सस्ता करने की जो कोशिशें की जाती हैं, वे आख़िर कुछ ऐसी प्राकृतिक बाधाओं से टकराती हैं, जिनको रास्ते से हटाना असंभव हो जाता है। इन तरीक़ों को अपना आधार बनाकर पण्यों को सस्ता करने और आम तौर पर पूंजीवादी शोषण करने की जो कोशिशें की जाती हैं, वे भी आख़िर को इसी तरह की बाधाओं से टकराकर रुक जाती हैं। जैसे ही यह अवस्था आती है – और उसके आने में बहुत वर्ष लग जाते हैं – वैसे ही मशीनों के उपयोग की घड़ी आ जाती है और उसी समय से बिखरे हुए घरेलू उद्योग तथा साथ ही मैन्यूफ़ैक्चर भी जल्दी-जल्दी फ़ैक्टरी-उद्योग में परिवर्तित होने लगते हैं।

इस प्रकार के परिवर्तन का एक बहुत ही विराट पैमाने का उदाहरण हमें पहनने की वस्तुएं बनाने के उद्योग की शक्ल में देखने को मिलता है। बाल-सेवायोजन आयोग ने उद्योगों का जो वर्गीकरण किया है, उसके अनुसार इस उद्योग में ये लोग शामिल हैं: पुआल के टोप बनानेवाले, औरतों के टोप बनानेवाले, टोपियां बनानेवाले, दर्ज़ी, जनानी टोपियां बनानेवाले, जनाने कपड़े सीनेवाले, क़मीज़ें सीनेवाले, कोर्सेट सीनेवाले, दस्ताने बनानेवाले और जूते बनानेवाले। इनके अलावा बहुत सी गौण शाखाएं – जैसे नेकटाई बनाना, कालर बनाना, इत्यादि – भी इसी उद्योग में शामिल हैं। इंगलैंड और वेल्स में इन उद्योगों में काम करनेवाली औरतों और लड़कियों की संख्या १८६१ में ५,८६,२९८ थी, जिनमें से कम से कम १,१५,२४२ की उम्र २० वर्ष से कम थी और १६,६५० की उम्र १५ वर्ष से कम थी। १८६१ में पूरे युनाइटेड किंगडम में इन मजदूरिनों की संख्या ७,५०,३३४ थी। टोप बनाने, जूते बनाने, दस्ताने बनाने और दर्ज़ी का काम करनेवाले पुरुषों की संख्या इंगलैंड और वेल्स में ४,३७,९६९ थी। इनमें से १४,९६४ की आयु १५ वर्ष से कम, ८९,२८५ की आयु १५ और २० वर्ष के बीच और ३,३३,११७ की आयु २० वर्ष से ऊपर थी। बहुत सी छोटी-छोटी शाखाएं इन संख्याओं में शामिल नहीं हैं। लेकिन इन आंकड़ों को इसी रूप में लीजिये। तब १८६१ की जनगणना के अनुसार केवल इंगलैंड और वेल्स में उन लोगों की संख्या कुल मिलाकर १०,२४,२७७ पर पहुंच जाती है। लगभग इतने ही व्यक्ति खेती और पशुपालन में लगे हुए हैं। अब हमारी समझ में यह बात आनी शुरू होती है कि मशीनों के जादू से जो बेशुमार सामान तैयार होता है और ये मशीनें मजदूरों की जिस विशाल संख्या को हर तरह के रोज़गार से मुक्त कर देती हैं, उनका आख़िर क्या होता है।

पहनने की वस्तुओं का उत्पादन कुछ हद तक तो उन मैन्यूफ़ैक्टरियों में होता है, जिनके काम के कमरों में केवल उस श्रम-विभाजन का पुनरुत्पादन कर दिया जाता है, जिसके membra

[263] *Children's Employment Commission, 1st Report*, 1863, p. 185.

disjecta [बिखरे हुए अवयव] पहले से तैयार मिल गये थे। कुछ हद तक वह छोटे-छोटे उस्ताद कारीगरों के द्वारा संपन्न होता है। लेकिन ये लोग अब पहले की तरह सीधे उपभोगियों के लिए नहीं, बल्कि मैन्यूफ़ैक्टरियों और गोदामों के लिए काम करते हैं। और यह बात इस हद तक बढ़ जाती है कि पूरे के पूरे शहर और देहाती इलाक़े कुछ ख़ास शाखाओं के उत्पादन में व्यस्त हो जाते हैं – मसलन जूते बनाना – और यह उनका ख़ास धंधा बन जाता है। और अंत में तथाकथित घरेलू मजदूर बहुत बड़े पैमाने पर इस प्रकार का उत्पादन करते हैं। इन लोगों की हैसियत मैन्यूफ़ैक्टरियों, गोदामों और यहां तक कि अपेक्षाकृत छोटे मालिकों के वर्कशापों के बाहरी विभाग की होती है।[264] कच्चे माल, आदि की पूर्ति यांत्रिक उद्योग करता है। सस्ते मजदूरों की विशाल संख्या (taillable à merci et miséricorde [जो दया और अनुकंपा पर निर्भर हैं]) में वे व्यक्ति होते हैं, जिनको यांत्रिक उद्योग तथा उन्नत खेती ने "मुक्त" कर दिया है। इस श्रेणी के मैन्यूफ़ैक्चरों के जन्म का मुख्य कारण पूंजीपतियों की यह आवश्यकता थी कि उनके पास एक ऐसी सेना पहले से तैयार हो, जो मांग की प्रत्येक वृद्धि को पूरा कर सके।[265] फिर भी इन मैन्यूफ़ैक्चरों ने बिखरी हुई दस्तकारियों और घरेलू उद्योगों को एक व्यापक आधार के रूप में जीवित रहने दिया था। श्रम की इन शाखाओं में यदि बहुत बेशी मूल्य का उत्पादन होता था और उनकी तैयार की हुई वस्तुएं यदि अधिकाधिक सस्ती होती जाती थीं, तो इसके मुख्य कारण पहले भी यही थे और आज भी यही हैं कि मजदूरों को कम से कम मजदूरी दी जाती है, जो केवल अत्यंत हीनावस्था में ज़िंदा रहने भर के लिए ही काफ़ी होती है, और काम के समय को मानव-शरीर के सहन की आख़िरी हद तक बढ़ा दिया जाता है। यदि मंडियों का लगातार विस्तार हो रहा था और आज भी रोज़ाना हो रहा है, तो असल में उसकी वजह यह है कि इनसान का पसीना और ख़ून बहुत सस्ता है और उनको आसानी से जिंस में बदल दिया जाता है। इंगलैंड की औपनिवेशिक मंडियों के विस्तार के संबंध में तो यह बात ख़ास तौर पर लागू होती है। इन मंडियों में इंगलैंड के बने मालों के अलावा अंग्रेज़ी रुचि तथा अंग्रेज़ी आदतों का भी बोलबाला है। और आख़िर क्रांतिक बिंदु आ ही गया। एक ऐसी अवस्था आ पहुंची, जब पुरानी प्रणाली का आधार, यानी मजदूरों का शोषण करने में सरासर बेरहमी दिखाना और उसके साथ-साथ न्यूनाधिक रूप में एक सुनियोजित श्रम-विभाजन का इस्तेमाल करना – ये दोनों बातें फैलती हुई मंडियों के लिए और उनसे भी ज़्यादा तेजी के साथ बढ़ती हुई पूंजीपतियों की प्रतियोगिता के लिए नाकाफ़ी साबित होने लगीं। मशीनों के आगमन की घड़ी आ पहुंची। जिस मशीन ने निर्णायक रूप में क्रांति पैदा की और जिसने उत्पादन के इस क्षेत्र की सभी शाखाओं को –

---

[264] इंगलैंड में जनानी टोपियां और जनाने कपड़े बनाने का काम प्रायः मालिक के मकान के अंदर होता है। कुछ हद तक तो उसी मकान में रहनेवाली मजदूरिनें और कुछ हद तक कहीं और रहनेवाली कामगारिनें यह काम करती हैं।

[265] जांच-कमीशन के मि० व्हाइट नामक सदस्य फ़ौजी कपड़े तैयार करनेवाली एक मैन्यूफ़ैक्टरी को देखने गये थे, जिसमें १,००० से १,२०० तक व्यक्ति काम करते थे। इनमें लगभग सभी स्त्रियां थीं। इसके अलावा मि० व्हाइट जूते बनानेवाली एक मैन्यूफ़ैक्टरी भी देखने गये, थे, जिसमें १,३०० व्यक्ति काम करते थे। इनमें लगभग आधी संख्या बच्चों और लड़के-लड़कियों की थी। (*Children's Employment Commission, 2nd Report*, p. XLVII, No. 319.)

पोशाक बनाने, दर्ज़ीगीरी, जूते बनाने, सिलाई, टोप बनाने और अन्य बहुत सी शाखाओं को –समान मात्रा में प्रभावित किया, वह थी सिलाई मशीन।

सिलाई मशीन का मज़दूरों पर उसी प्रकार का तात्कालिक प्रभाव होता है, जिस प्रकार का प्रभाव उन तमाम मशीनों का हुआ है, जिन्होंने आधुनिक उद्योग के जन्म के बाद से व्यवसाय की नयी शाखाओं पर अधिकार किया है। बहुत ही कमउम्र बच्चों को जवाब दे दिया जाता है। अपने घरों पर बैठकर काम करनेवाले मज़दूरों के मुक़ाबले में, जिनमें से बहुत से तो हद से ज्यादा ग़रीब होते हैं, मशीन से काम करनेवाले मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ जाती है। जिन दस्त-कारों की हालत पहले अपेक्षाकृत अच्छी थी और जिनसे अब मशीन प्रतियोगिता करने लगती है, उनकी मज़दूरी गिर जाती है। मशीनों से काम करनेवाले नये मज़दूरों में केवल लड़कियां और जवान औरतें होती हैं। अपेक्षाकृत भारी काम पर पुरुषों का पहले जो इजारा क़ायम था, उसे ये मज़दूरिनें यांत्रिक शक्ति की मदद से ख़त्म कर देती हैं, और साथ ही वे अपेक्षाकृत हल्के काम से बहुत सी बूढ़ी औरतों और बहुत कम उम्र के बच्चों को हटा देती हैं। हाथ से काम करनेवाले मज़दूरों में जो सबसे ज्यादा कमज़ोर होते हैं, वे इस ज़बर्दस्त प्रतियोगिता में कुचल दिये जाते हैं। पिछले दस वर्षों में लंदन में भूख के कारण प्राण दे देनेवालों की संख्या की भयानक वृद्धि मशीनी सिलाई के प्रसार के समानांतर चल रही है।[266] सिलाई मशीन का वज़न, आकार और विशेष बनावट कैसी है, इसके अनुसार नयी मज़दूरिनें उसे या तो हाथों और पैरों दोनों से चलाती हैं, या केवल हाथों से, वे कभी बैठकर मशीन चलाती हैं, तो कभी खड़ी होकर, और इस तरह बहुत भारी श्रम-शक्ति ख़र्च कर डालती हैं। काम के लंबे घंटों के कारण उनका धंधा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है, हालांकि अधिकतर जगहों में उनको पुरानी व्यवस्था के समान देर तक काम नहीं करना पड़ता। उन संकरी और तंग कोठरियों में, जिनमें पहले ही से बहुत ज्यादा भीड़ थी, जहां कहीं सिलाई मशीन भी दाख़िल हो जाती है, वहां स्वास्थ्य के लिए पहले से भी अधिक हानिकारक परिस्थितियां पैदा हो जाती हैं। मि० लोर्ड ने कहा है: "नीची छत वाले उन कमरों में, जिनमें ३० से ४० तक मज़दूर मशीनों पर काम करते रहते हैं, घुसना भी असहनीय होता है... वहां की गरमी ख़ौफ़नाक होती है। कुछ हद तक वह गैस के उन चूल्हों के कारण होती है, जो इस्तरी को गरम करने के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं... ऐसी जगहों में जब मज़दूरों के काम के घंटे सामान्य ढंग के होते हैं, अर्थात् जब उन्हें सुबह ८ बजे से शाम के ६ बजे तक काम करना होता है, तब भी ३ या ४ व्यक्ति रोज़ाना नियमित रूप से बेहोश हो जाते हैं।"[267]

उत्पादन के औज़ारों में क्रांति हो जाने के एक लाज़िमी नतीजे के तौर पर औद्योगिक तरीक़ों में जो क्रांति होती है, वह नाना प्रकार के परिवर्तनकालीन रूपों के द्वारा संपन्न होती है। कहां कौनसा रूप सामने आता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि सिलाई मशीन

---

[266] एक मिसाल देखिये। *Registrar-General* की २६ फ़रवरी १८६४ की मौतों की साप्ताहिक रिपोर्ट में भूख से होनेवाली ५ मौतों का ज़िक्र है। इसी दिन *The Times* ने इस तरह की एक और मौत का समाचार छापा था। यानी एक सप्ताह में ६ व्यक्ति भूख के शिकार हुए!

[267] *Children's Employment Commission, 2 nd Report*, 1864, p. LXVII, Nos. 406-409; p. 84, No. 124; p. LXXIII, No. 441; p. 68, No. 6; p. 84, No.126; p. 78, No. 85; p. 76, No. 69; p. LXXII, No. 438.

का उद्योग की इस शाखा में या उस शाखा में किस सीमा तक प्रसार हुआ है, वह कितने समय से इस्तेमाल हो रही है, उसके इस्तेमाल होने के पहले मजदूरों की क्या हालत थी, उस शाखा में मैन्यूफ़ैक्चर का ज़ोर था या दस्तकारियों का अथवा घरेलू उद्योग का, और जिन कमरों में काम होता है, उनका क्या किराया है,[268] इत्यादि, इत्यादि। मिसाल के लिए, पोशाक तैयार करने की शाखा में, जहां श्रम प्रायः पहले से ही मुख्यतया सरल सहकारिता के अनुसार संगठित था, सिलाई मशीन ने शुरू-शुरू में मैन्यूफ़ैक्चर के इस उद्योग में केवल एक नवीन तत्त्व का काम किया था। दर्जीगीरी, क़मीज़ें बनाने और जूते बनाने, आदि के व्यवसायों में तमाम रूप आपस में मिले हुए हैं। यहां वह व्यवस्था पायी जाती है, जिसे सचमुच फ़ैक्टरी-व्यवस्था कहा जा सकता है। इस व्यवस्था में बीच के लोगों को पूंजीपति en chef [मुख्य पूंजीपति] से कच्चा माल मिलता है, और वे १० से ५० तक या उससे भी ज्यादा मज़दूरों को "कमरों" या "बरसातियों" में अपनी मशीनों पर काम करने के लिए इकट्ठा कर लेते हैं। अंत में, जैसा कि ऐसे सभी मामलों में होता है, जब मशीनें एक प्रणाली में संगठित नहीं होतीं और जब बहुत ही छोटे पैमाने पर भी उनको इस्तेमाल किया जा सकता है, दस्तकार और घरेलू मज़दूर अपने परिवार के लोगों के साथ या बाहर के थोड़े से श्रम की मदद से ख़ुद अपनी सिलाई मशीनों को इस्तेमाल कर लेते हैं।[269] इंगलैंड में जो व्यवस्था सचमुच पायी जाती है, वह यह है कि पूंजीपति अपने मकान पर मशीनों की एक बड़ी संख्या जमा कर लेता है और फिर इन मशीनों की पैदावार को घरेलू मज़दूरों के बीच बांट देता है, ताकि वे उसपर आगे काम कर सकें।[270] किंतु संक्रांतिकालीन रूपों की विविधता से वास्तविक फ़ैक्टरी-व्यवस्था में परिवर्तित हो जाने की प्रवृत्ति पर पर्दा नहीं पड़ पाता। स्वयं सिलाई मशीन का स्वरूप ही इस प्रवृत्ति का पोषण करता है। इस मशीन के नाना प्रकार के उपयोग होते हैं। इससे एक ही धंधे की जो बहुत सी शाखाएं पहले एक दूसरी से अलग-अलग थीं, उनको एक छत के नीचे और एक प्रबंध के मातहत केंद्रीभूत करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। इसमें इस बात से भी मदद मिलती है कि आरंभिक सूई का काम और अन्य कुछ क्रियाएं सबसे अधिक सुविधा के साथ उसी मकान में संपन्न हो सकती हैं, जिसमें मशीन लगी है। साथ ही हाथ से सीनेवालों का और ख़ुद अपनी मशीनों पर काम करनेवाले घरेलू मजदूरों का लाज़िमी तौर पर दिवाला निकल जाने से भी इस बात में मदद मिलती है। कुछ हद तक उनका यह हाल हो भी चुका है। सिलाई मशीनों में लगी हुई पूंजी की मात्रा बराबर बढ़ती जाती है।[271] इससे

---

[268] "मालूम होता है कि आख़िर में जाकर यह बात इसी से तय होती है कि इन कमरों का कितना किराया देना पड़ता है। और इसलिए राजधानियों में ही छोटे-छोटे मालिकों और परिवारों को ठेके पर काम देने की पुरानी प्रणाली सबसे ज्यादा देर तक क़ायम रहती है और जल्दी से जल्दी उसकी ओर लौटा जाता है।" (l. c., p. 83, No. 123.) इस उद्धरण की अंतिम बात केवल जूते बनाने के व्यवसाय पर लागू होती है।

[269] दस्ताने बनाने के व्यवसाय में और अन्य ऐसे उद्योगों में, जिनके मजदूरों की हालत इतनी ज्यादा ख़राब होती है कि उनमें और कंगालों में कोई भेद नहीं किया जा सकता, यह बात नहीं होती।

[270] *Children's Employment Commission, 2nd Report*, 1864, p. 83, No. 122.

[271] अकेले लीस्टर के बूटों और जूतों के थोक व्यवसाय में ही १८६४ में ८०० सिलाई मशीनें इस्तेमाल हो रही थीं।

मशीन से तैयार होनेवाली वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ावा मिलता है, और मंडियां उनसे अंट जाती हैं। यह घरेलू मज़दूरों के लिए इसका संकेत होता है कि उनके अपनी मशीनें बेंच देने का समय आ गया है। ख़ुद सिलाई मशीनों का अति उत्पादन होने लगता है, जिसकी वजह से उत्पादकों को अपनी मशीनें बेचने की इतनी ज्यादा फ़िक्र हो जाती है कि वे उनको हफ़्तेवार किराये पर उठाने लगते हैं। इस तरह जो ख़ौफ़नाक प्रतियोगिता शुरू होती है, उसमें मशीनों के छोटे-छोटे मालिक एकदम पिस जाते हैं।[272] मशीनों की बनावट में भी बराबर परिवर्तन होते रहते हैं, और वे अधिकाधिक सस्ती होती जाती हैं। इससे पुराने ढंग की मशीनों का दिन ब दिन मूल्यह्रास होता जाता है, और वे बहुत ही कम दामों पर बड़ी भारी संख्या में बड़े पूंजीपतियों के हाथों बिकने लगती हैं, क्योंकि अब महज़ वे ही उनको इस्तेमाल करके मुनाफ़ा कमा सकते हैं। अंत में इस प्रकार की अन्य तमाम क्रांतियों के समान इस क्रांति में भी मनुष्य के स्थान पर भाप के इंजन का प्रयोग पुरानी व्यवस्था को अंतिम रूप से ख़त्म कर देता है। शुरू में भाप की शक्ति के उपयोग के रास्ते में केवल प्राविधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जैसे कि मशीनों में स्थिरता का अभाव होता है, उनकी चाल पर नियंत्रण रखना कठिन होता है, ज्यादा हल्की मशीनें बहुत जल्दी घिस जाती हैं, इत्यादि। इन तमाम कठिनाइयों को अनुभव द्वारा बहुत जल्द दूर कर दिया जाता है।[273] यदि एक ओर, बड़ी-बड़ी मैन्यूफ़ैक्टरियों में बहुत सी मशीनों के केंद्रीकरण से भाप की शक्ति के इस्तेमाल को बढ़ावा मिलता है, तो दूसरी ओर, मानव की मांस-पेशियों के साथ भाप की जो प्रतियोगिता चलती है, उससे बड़ी-बड़ी फ़ैक्टरियों में मज़दूरों और मशीनों के केंद्रीकरण में तेज़ी आ जाती है। इस प्रकार इंगलैंड में इस वक़्त न केवल पहनने की पोशाकों के विराट उद्योग में, बल्कि ऊपर जिन उद्योगों का ज़िक्र किया गया है, उनमें से अधिकतर में मैन्यूफ़ैक्चर, , दस्तकारियों और घरेलू काम के फ़ैक्टरी-व्यवस्था में बदल जाने की क्रिया संपन्न हो रही है। और इसके बहुत पहले ही उत्पादन के इन तीनों रूपों में से प्रत्येक, आधुनिक उद्योग के प्रभाव से पूर्णतया परिवर्तित एवं असंगठित होकर, फ़ैक्टरी-व्यवस्था की तमाम विभीषिकाओं का पुनरुत्पादन कर चुका है और यहां तक कि फ़ैक्टरी-व्यवस्था से भी अधिक उग्र रूप में उसके तमाम अवगुणों को पैदा कर चुका है, हालांकि फ़ैक्टरी-व्यवस्था में सामाजिक प्रगति के जो तत्त्व निहित होते हैं, उनमें से कोई इन रूपों में नहीं दिखायी दिया है।[274]

---

[272] *Children's Employment Commission, 2nd Report*, 1864, p. 84, No. 124.

[273] उदाहरण देखिये: पिमलिको (लंदन) की फ़ौजी पोशाकों की फ़ैक्टरी, लंडनडेरी में टिल्ली एण्ड हेंडरसन की क़मीज़ों की फ़ैक्टरी और लिमेरिक में मेसर्स टेट की कपड़ों की फ़ैक्टरी, जिसमें लगभग १,२०० मज़दूर काम करते हैं।

[274] "फ़ैक्टरी-व्यवस्था की ओर प्रवृत्ति" (*Children's Employment Commission, 2nd Report*, 1864, p. LXVII.) "इस वक़्त पूरा धंधा संक्रमण की अवस्था से गुज़र रहा है, और उसमें वही परिवर्तन हो रहा है, जो लेस के धंधे में और बुनाई, आदि में हो चुका है।" (l. c., No. 405.) "एक पूर्ण क्रांति।" (l.c., p. XLVI, No. 318.) जिस समय १८४० का बाल सेवायोजन आयोग काम कर रहा था, उस समय तक मोज़े बनाने का काम हाथ से ही किया जाता था। १८४६ के बाद से तरह-तरह की मशीनें इस्तेमाल होने लगी हैं, जो आजकल भाप से चलायी जाती हैं। इंगलैंड में मोज़े बनाने का काम करनेवाले व्यक्तियों की कुल संख्या, जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों तथा ३ वर्ष से ऊपर सभी उम्रों के लोग शामिल थे, १८६२ में

यह औद्योगिक क्रांति स्वयंस्फूर्त ढंग से होती है, पर फ़ैक्टरी-अधिनियमों को उन तमाम उद्योगों पर लागू करके, जिनमें स्त्रियों, लड़के-लड़कियों और बच्चों को नौकर रखा जाता है, इस क्रांति को बनावटी ढंग से भी आगे बढ़ाया जाता है। जब काम के दिन की लंबाई, विराम के समय और काम के आरंभ और समाप्त होने के समय का अनिवार्य रूप से नियमन होने लगता है, बच्चों की पालियों की प्रणाली पर नियंत्रण लग जाता है और एक निश्चित आयु से कम के बच्चों नौकर रखने की मनाही हो जाती है, इत्यादि, इत्यादि, तब एक तरफ़ तो पहले से ज्यादा मशीनें ज़रूरी हो जाती हैं[275] और मांस-पेशियों के स्थान पर चालक शक्ति के रूप में भाप का उपयोग करने की आवश्यकता पैदा हो जाती है।[276] और दूसरी तरफ़, समय की क्षति को पूरा करने के उद्देश्य से उत्पादन के उन साधनों का विस्तार हो जाता है, जिनका सामूहिक ढंग से इस्तेमाल किया जाता है, जैसे भट्ठियां, मकान, आदि। संक्षेप में कहा जाये, तो तब उत्पादन के साधनों का पहले से अधिक केंद्रीकरण हो जाता है और उसके अनुरूप पहले से बड़ी संख्या में मजदूर इकट्ठा कर दिये जाते हैं। जब कभी किसी मैन्यूफ़ैक्चर पर फ़ैक्टरी-अधिनियम के लागू होने का ख़तरा पैदा होता है, तब उसकी ओर से बार-बार और बड़े ज़ोरों के साथ ख़ास एतराज़ असल में यह किया जाता है कि फ़ैक्टरी-अधिनियम लागू हो जाने के बाद पुराने पैमाने पर धंधा करने के लिए पहले से ज्यादा पूंजी लगानी पड़ेगी। लेकिन जहां तक तथाकथित घरेलू उद्योगों और उनके तथा मैन्यूफ़ैक्चर के बीच पाये जानेवाले रूपों का संबंध है, जैसे ही काम के दिन पर और बच्चों को नौकर रखने पर सीमाएं लगा दी जाती हैं, वैसे ही ये उद्योग चौपट हो जाते हैं। वे प्रतियोगिता में केवल उसी समय तक खड़े रह सकते हैं, जब तक कि उनको सस्ती श्रम-शक्ति का निर्बाध शोषण करने का अधिकार प्राप्त होता है।

फ़ैक्टरी-व्यवस्था के अस्तित्व के लिए जो शर्तें अत्यंत आवश्यक हैं, उनमें से एक यह है कि फल पहले से निश्चित होना चाहिए, अर्थात् यह मालूम होना चाहिए कि इतने समय में माल की इतनी मात्रा तैयार हो जायेगी या अमुक उपयोगी प्रभाव पैदा हो सकेगा। जहां काम के दिन की लंबाई पहले से निश्चित होती है, वहां यह शर्त ख़ास तौर पर ज़रूरी हो जाती है। इसके अलावा क़ानून के अनुसार क्योंकि काम के दिन को बीच-बीच में रोक देना ज़रूरी होता है, इसलिए पहले से ही यह मान लिया जाता है कि काम को समय-समय पर यकायक

कोई १,२०,००० थी। ११ फ़रवरी १८६२ के *Parliamentary Return* के अनुसार इनमें से केवल ४,०६३ फ़ैक्टरी-अधिनियमों के मातहत काम कर रहे थे।

[275] मिसाल के लिए, मिट्टी के बर्तनों के व्यवसाय में, ग्लासगो की 'ब्रिटेन पाटरी' फ़र्म के मालिक मि० कोक्रेन ने बताया था कि "उत्पादन की मात्रा को बनाये रखने के लिए हम अब बड़े पैमाने पर उन मशीनों का प्रयोग करने लगे हैं, जिनपर अकुशल मजदूर काम करते हैं। और दिन प्रति दिन हमारा यह विश्वास बढ़ता जा रहा है कि पुरानी पद्धति की अपेक्षा इस तरह हम अधिक मात्रा में उत्पादन कर सकते हैं।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1865*, p. 13.) "फ़ैक्टरी-अधिनियमों का असर यह हुआ है कि मशीनों का प्रयोग और भी बढ़ा देना पड़ा है।" (l. c., pp. 13-14.)

[276] चुनांचे मिट्टी के बर्तनों के व्यवसाय पर फ़ैक्टरी-अधिनियम के लागू हो जाने के बाद हाथ की छलनियों के स्थान पर शक्ति से चलनेवाली छलनियों की संख्या में भारी वृद्धि हो गयी है।

बीच में रोक देने से उस वस्तु को कोई हानि नहीं पहुंचेगी, जो उत्पादन की प्रक्रिया में से गुज़र रही है। ज़ाहिर है, उन उद्योगों की अपेक्षा जिनमें रासायनिक एवं भौतिक प्रक्रियाओं का भी भाग होता है, विशुद्ध रूप से यांत्रिक उद्योगों में फल अधिक निश्चित रहता है और काम को बीच में रोक देना अधिक सहज होता है; मिसाल के लिए, मिट्टी के बर्तनों के धंधे, कपड़ा सफ़ेद करने के व्यवसाय, रोटी पकाने में और धातु के अधिकतर उद्योगों में चूंकि रासायनिक एवं भौतिक प्रक्रियाओं का भी प्रयोग किया जाता है, इसलिए उनमें काम का फल उतना निश्चित नहीं होता और न ही उनमें काम को उतनी आसानी से बीच में रोका जा सकता है। जहां कहीं काम के दिन की लंबाई पर कोई सीमा नहीं लगी होती, जहां कहीं रात को काम कराया जाता है और मानव-जीवन का अनियंत्रित ढंग से अपव्यय किया जाता है, वहां यदि काम के स्वरूप के कारण कर्म के ढंग को सुधारने में ज़रा सी भी कठिनाई महसूस होती है, तो उसे लोग शीघ्र ही प्रकृति की बनायी हुई एक शाश्वत बाधा समझने लगते हैं। इस प्रकार की शाश्वत बाधाओं को फ़ैक्टरी-अधिनियम जिस निश्चित रूप से हटा देता है, उससे अधिक निश्चित रूप में कोई ज़हर हानिकारक कीड़ों को नहीं मारता। "असंभव बातों" के बारे में हमारे मित्र, मिट्टी के बर्तनों की फ़ैक्टरियों के मालिकों के समान अन्य किसी ने इतना अधिक शोर नहीं मचाया था। किंतु १८६४ में उनपर भी अधिनियम लागू हो गया, और सोलह महीने के अंदर ही सारी "असंभव बातें" संभव हो गयीं। इस अधिनियम के लागू होने के फलस्वरूप "चिकनी मिट्टी के लेप तैयार करने के लिए वाष्पन के बजाय दाब का तरीक़ा इस्तेमाल होने लगा, जो पहले तरीक़े से बेहतर है; बर्तनों को कच्ची हालत में ही सुखाने के लिए नये ढंग की भट्ठियां बनायी जाने लगीं, इत्यादि, इत्यादि। ऐसी प्रत्येक घटना का मिट्टी के बर्तन बनाने की कला के लिए भारी महत्त्व है, और वह एक ऐसी प्रगति की सूचक है, जिसका पिछली शताब्दी क़तई मुक़ाबला नहीं कर सकती थी... इससे ख़ुद भट्ठियों तक का तापमान कम हो गया है, जिससे ईंधन में बहुत काफ़ी बचत होने लगी है और बर्तन पहले से अच्छे पकते हैं।"[277] तमाम भविष्यवाणियों के बावजूद बर्तनों की लागत नहीं बढ़ी, मगर पैदावार की मात्रा अवश्य बढ़ गयी, सो भी इस हद तक कि दिसंबर १८६५ के साथ पूरे होनेवाले बारह महीनों में जो निर्यात हुआ, उसका मूल्य पिछले तीन वर्षों के औसत निर्यात के मूल्य से १,३८,६२८ पाउंड ज़्यादा बैठा। दियासलाइयों के मैन्यूफ़ैक्चर में यह बात नितांत आवश्यक समझी जाती थी कि लड़के अपना भोजन भकोसते समय भी दियासलाइयों को गली हुई फ़ासफ़ोरस में डुबो-डुबोकर रखने का काम बराबर करते रहें, हालांकि इससे फ़ासफ़ोरस की विषैली भाप उनकी नाक और मुंह में घुसती रहती थी। फ़ैक्टरी-अधिनियम (१८६४) ने इस उद्योग में समय की बचत को ज़रूरी बना दिया, और चुनांचे दियासलाइयां फ़ासफ़ोरस में डुबोने के लिए मशीन का आविष्कार करना आवश्यक हो गया। इस मशीन से जो भाप उठती है, वह मज़दूरों के संपर्क में नहीं आ सकती है।[278] इसी तरह लेस के मैन्यूफ़ैक्चर की उन शाखाओं में, जिनपर अभी फ़ैक्टरी-अधिनियम लागू नहीं हुआ है, यह कहा जाता है कि विभिन्न

---

[277] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1865*. pp. 96, 127.

[278] दियासलाई बनाने के व्यवसाय में इस मशीन के तथा अन्य मशीनों के उपयोग का यह परिणाम हुआ कि अकेले एक विभाग में २३० लड़के-लड़कियों का स्थान १४ से १७ वर्ष तक की आयु के ३२ लड़के-लड़कियों ने ले लिया। इस तरह श्रम की जो बचत हुई, उसे १८६५ में भाप की शक्ति का प्रयोग करके और भी आगे बढ़ा दिया गया।

प्रकार के लेसों को सुखाने के लिए चूंकि अलग-अलग समय की आवश्यकता होती है और चूंकि यह समय तीन मिनट से लेकर एक घंटा या उससे ज्यादा तक कुछ भी हो सकता है, इसलिए खाने की छुट्टी किसी एक निश्चित समय पर नहीं दी जा सकती। बाल-सेवायोजन आयोग ने इस दलील का यह जवाब दिया है: "इस धंधे में जो परिस्थितियां पायी जाती हैं, वे ठीक उन परिस्थितियों के अनुरूप हैं, जो दीवारी काग़ज़ बनानेवालों के धंधे में पायी जाती हैं, जिसपर हम अपनी पहली रिपोर्ट में विचार कर चुके हैं। इस धंधे के प्रमुख कारख़ानेदारों का कहना था कि वे जिस तरह की सामग्री इस्तेमाल करते हैं और जिन विविध प्रकार की प्रक्रियाओं का उपयोग करते हैं, उनके कारण वे भारी नुक़सान उठाये बिना किसी एक निश्चित समय पर भोजन की छुट्टी के लिए काम को बीच में नहीं रोक सकते। परंतु गवाहियां लेने पर पता चला कि यदि आवश्यक सतर्कता बरती जाये और पहले से सब प्रबंध कर लिया जाये, तो जिस कठिनाई का डर है, उसे दूर किया जा सकता है। और चुनांचे संसद के वर्तमान अधिवेशन में फ़ैक्टरी-अधिनियमों के विस्तार का अधिनियम पास कर दिया गया, जिसकी छठी धारा की उपधारा ६ के अनुसार इन कारख़ानेदारों को सूचित कर दिया गया है कि इस क़ानून के पास हो जाने के अठारह महीने के अंदर उनको फ़ैक्टरी-अधिनियमों के मुताबिक भोजन की छुट्टी का समय निश्चित कर देना होगा।"[279] क़ानून पास हुआ ही था हमारे मित्र कारख़ानेदारों को यह पता चला: "मैन्यूफ़ैक्चर की हमारी शाखा पर फ़ैक्टरी-अधिनियमों के लागू होने से हमें जिन असुविधाओं के पैदा होने का डर था, वे – और मुझे यह कहते हुए ख़ुशी होती है – पैदा नहीं हुईं। उत्पादन में ज़रा भी रुकावट नहीं पड़ी; संक्षेप में, हम उतने ही समय में पहले से ज्यादा उत्पादन करने लगे हैं।"[280] स्पष्ट है कि इंगलैंड की संसद, जिसपर कोई भी यह आरोप लगाने का दुस्साहस नहीं करेगा कि उसमें प्रतिभा का अतिरेक है, अपने अनुभव से इस नतीजे पर पहुंच गयी है कि काम के दिन पर नियंत्रण लगाने और उसका नियमन करने के रास्ते में ख़ुद उत्पादन-प्रक्रिया के स्वरूप से पैदा होनेवाली जितनी तथाकथित बाधाओं का रोना रोया जाता है, उन सबको दूर कर देने के लिए एक सरल सा क़ानून, जिसको मानना सबके लिए ज़रूरी हो, पर्याप्त होता है। इसलिए जब किसी ख़ास उद्योग पर फ़ैक्टरी-अधिनियम लागू किया जाता है, तब उसके लिए छः महीने से अठारह महीने तक की एक ऐसी अवधि नियत कर दी जाती है, जिसमें कारख़ानेदारों को उन तमाम प्राविधिक बाधाओं को हटा देना पड़ता है, जिनसे क़ानून के अमल में आने में रुकावट पड़ सकती है। मिराबो की वह प्रसिद्ध उक्ति: "असंभव! इस मूर्खतापूर्ण शब्द का मेरे सामने कभी व्यवहार मत करना!" – आधुनिक प्रौद्योगिकी पर ख़ास तौर पर लागू होती है। परंतु ये फ़ैक्टरी-अधिनियम हालांकि उन भौतिक तत्वों को बनावटी ढंग से परिपक्व कर देते हैं, जो मैन्यूफ़ैक्चर-व्यवस्था के फ़ैक्टरी-व्यवस्था में रूपांतरित हो जाने के लिए आवश्यक होते हैं, फिर भी चूंकि उनकी वजह से पहले से ज्यादा पूंजी लगाना आवश्यक हो जाता है, इसलिए इसके साथ-साथ छोटे-छोटे मालिकों के पतन तथा पूंजी के संकेंद्रण की क्रिया में भी तेज़ी आ जाती है।[281]

---

[279] *Children's Employment Commission, 2nd Report*, 1864, p. IX, No. 50.

[280] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1865*, p. 22.

[281] परंतु यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि ये सुधार कुछ प्रतिष्ठानों में पूरे तौर पर कार्यान्वित हो चुके हैं, तथापि वे सब जगह नहीं पाये जाते; और पुरानी मैन्यूफ़ैक्टरियों में से

विशुद्ध रूप से प्राविधिक बाधाओं के अलावा, जिन्हें प्राविधिक साधनों के द्वारा हटाया जा सकता है, ख़ुद मजदूरों की अनियमित आदतों के कारण भी श्रम के घंटों का नियमन करना मुश्किल हो जाता है। यह मुश्किल ख़ास तौर पर वहां देखने को मिलती है, जहां कार्यानुसार मजदूरी का अधिक चलन है और जहां दिन या सप्ताह के एक भाग में यदि समय की कुछ हानि हो जाती है, तो वह बाद को ओवरटाइम काम करके या रात को काम करके पूरी कर दी जाती है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो वयस्क मजदूर को पशुतुल्य बना देती है और उसकी पत्नी तथा बच्चों को बरबाद कर देती है।[282] श्रम-शक्ति ख़र्च करने में नियमितता का यह अभाव यद्यपि एक ही तरह के नीरस काम की नागवार थकन की स्वाभाविक एवं तीखी प्रतिक्रिया होता है, परंतु उसके साथ-साथ इससे भी अधिक मात्रा में वह उत्पादन की अराजकता से पैदा होता है, उस अराजकता से, जो ख़ुद पूंजीपति द्वारा श्रम-शक्ति के अनियंत्रित शोषण की सूचक होती है। औद्योगिक चक्र में जो नियतकालिक सामान्य परिवर्तन आते रहते हैं और हर उद्योग पर मंडियों के जिन विशिष्ट उतार-चढ़ावों का असर पड़ा करता है, उनके अलावा हमें उस चीज का भी ध्यान रखना होगा, जो "अनुकूल मौसम" कहलाती है और जो या तो इस बात पर निर्भर करती है कि वर्ष के कुछ ख़ास मौसम समुद्री परिवहन के लिए उपयुक्त होते हैं और वे एक निश्चित समय पर आते हैं, या जो फ़ैशन पर और उन बड़े आर्डरों पर निर्भर करती है, जो यकायक मिल जाते हैं और जिनको कम से कम समय में पूरा कर देना पड़ता है। रेल और तार-व्यवस्था के विस्तार के साथ इस तरह के आर्डर देने की आदत और जोर पकड़ लेती है। "रेल-व्यवस्था का देश भर में प्रसार हो जाने से फ़ौरी आर्डर देने की आदत को बहुत प्रोत्साहन मिला है। अब ख़रीदार ग्लासगो, मैंचेस्टर और एडिनबरा से चौदह दिन में एक बार या कुछ इसी प्रकार की अवधि के बाद शहर के थोक व्यापार करनेवाले उन गोदामों

बहुत सी ऐसी हैं, जिनमें ये सुधार उस वक़्त तक अमल में नहीं लाये जा सकते, जब तक कि इतना ख़र्चा न किया जाये, जो इन मैन्यूफ़ैक्टरियों के मौजूदा मालिकों में से बहुतों के बूते के बाहर है।" सब-इंस्पेक्टर मे ने लिखा है: "ऐसा क़ानून लागू होने पर (जैसा कि फ़ैक्टरी-अधिनियमों के विस्तार का अधिनियम है) जो अस्थायी अव्यवस्था अनिवार्य रूप से पैदा होती है और जो असल में प्रत्यक्ष रूप से उन बुराइयों की सूचक होती है, जिनको दूर करना इस अधिनियम का उद्देश्य था, उस अस्थायी अव्यवस्था के बावजूद मैं ख़ुश हुए बिना नहीं रह सकता हूं, इत्यादि।" (*Report of Insp. of Fact. for 31st October 1865*, pp. 96, 97.)

[282] उदाहरण के लिए, धमन भट्ठियों के सिलसिले में यह स्थिति है कि "सप्ताह के अंतिम दिनों में आम तौर पर काम की अवधि बहुत ज्यादा बढ़ा दी जाती है, क्योंकि मजदूरों को सोमवार को तथा कभी-कभी मंगलवार को भी कुछ समय तक या पूरा दिन काहिली में बिता देने की आदत पड़ी हुई है।" (*Children's Employment Commission, 3rd Report*, p.VI.) "छोटे-छोटे मालिकों के यहां आम तौर पर काम के घंटे बहुत अनियमित होते हैं। वे दो-दो या तीन-तीन दिन जाया कर देते हैं और फिर इस क्षति को पूरा करने के लिए रात काम करते हैं... यदि उनके बच्चे होते हैं, तो वे सदा उनसे भी काम लेते हैं।" (l.c., p. VII.) "काम पर आने में नियमितता का अभाव होता है, जिसे देर तक काम करके समय की क्षति को पूरा कर देने की संभावना तथा प्रचलित प्रथा से प्रोत्साहन मिलता है।" (l.c., p.XVIII.) "बर्मिंघम में... अत्यधिक समय जाया हो जाता है... कुछ समय मजदूर काहिली में बिता देते हैं, बाक़ी समय वे गुलामों की तरह मेहनत करते हैं।" (l.c., p. XI.)

में पहुंचते हैं, जिन्हें हम माल देते हैं, और पहले की तरह स्टाक से ख़रीदने के बजाय छोटे-छोटे आर्डर देते हैं, जिनको फ़ौरन पूरा करना होता है। बरसों पहले हम व्यापार में शिथिलता के समय हमेशा काम करते रह सकते थे, ताकि अगले मौसम की मांग को पूरा करने के लिए माल तैयार कर लें, पर अब कोई पहले से नहीं कह सकता कि अगला मौसम आने पर मांग क्या होगी।"[283]

जिन फ़ैक्टरियों और मैन्यूफ़ैक्टरियों पर अभी तक फ़ैक्टरी-अधिनियम लागू नहीं हुए हैं, उनमें यकायक मिलनेवाले आर्डरों के परिणामस्वरूप समय-समय पर, यानी तथाकथित "मौसम" के आने पर, मज़दूरों से भयानक हद तक अधिक काम लिया जाता है। फ़ैक्टरी के, मैन्यूफ़ैक्टरी के और गोदाम के बाहरी विभाग में काम करनेवाले तथाकथित घरेलू मज़दूर, जिनका रोज़गार बहुत अच्छी परिस्थितियों में भी बड़ा अनियमित होता है, अपने कच्चे माल और अपने आर्डरों के लिए पूरी तरह से पूंजीपति की सनक पर निर्भर करते हैं। और इस उद्योग में पूंजीपति को अपने मकानों और मशीनों के मूल्यह्लास की कोई चिंता नहीं होती, उसका हाथ बिल्कुल खुला रहता है, और काम को बीच में रोक देने से ख़ुद मज़दूर की खाल के लिए पैदा होनेवाले ख़तरे के सिवा उसे कोई जोखिम नहीं उठानी पड़ती। अतः यहां पर वह एक ऐसी रिज़र्व औद्योगिक सेना का निर्माण करने के लिए सुनियोजित ढंग से कोशिश करने लगता है, जो एक क्षण की सूचना पर काम में जुट जाने के लिए तैयार रहे। वर्ष के एक भाग में वह इस सेना से अत्यंत अमानवीय श्रम कराके उसे नष्टप्राय कर देता है और दूसरे भाग में वह उसे काम न देकर भूखों मारता है। "जब कभी यकायक अतिरिक्त काम कराने की आवश्यकता होती है, तब मालिक लोग घरेलू काम की अभ्यासगत अनियमितता से लाभ उठाते हैं, और काम रात के ११ बजे, या १२ बजे या २ बजे तक, या, जैसा कि आम तौर पर कहा जाता है, 'चौबीसों घंटे'" चलता रहता है, और वह भी उन जगहों में कि जहां "बदबू इतनी ज़्यादा होती है कि तमाचे की तरह मुंह पर आकर लगती है।" "आप दरवाज़े तक जाते हैं, शायद दरवाज़ा खोलते भी हैं, पर आगे नहीं बढ़ पाते, हिम्मत जवाब दे देती है।"[284] एक गवाह ने, जो जूते बनाता था, अपने मालिकों का ज़िक्र करते हुए कहा था: "वे अजीब ढंग के लोग हैं। वे समझते हैं कि अगर कोई लड़का साल में छः महीने लगभग ख़ाली हाथ बैठा रहता है, तो बाक़ी छः महीने यदि उससे अत्यधिक काम भी लिया जाये, तो उसे कोई नुक़सान नहीं पहुंचेगा।"[285]

जो प्रथाएं व्यवसाय के विकास के साथ बढ़ी हैं, उन्हें भी, प्राविधिक बाधाओं की तरह ही, ग़रज़मंद पूंजीपति काम के स्वरूप से उत्पन्न प्राकृतिक बाधाओं के रूप में पेश करते थे और करते हैं। जब सूती व्यवसाय के स्वामियों के लिए पहली बार फ़ैक्टरी-अधिनियम का ख़तरा

---

[283] *Children's Employment Commission, 4th Report*, p. XXXII. "रेल-व्यवस्था के प्रसार को यकायक आर्डर देने की इस प्रथा के विस्तार के लिए बहुत हद तक ज़िम्मेदार बताया जाता है, जिसके फलस्वरूप काम में बहुत जल्दी की जाती है, भोजन की छुट्टी का कोई ख़याल नहीं रखा जाता और मज़दूरों को देर तक काम करना पड़ता है।" (l.c., p. XXXI.)

[284] l.c., p. XXXV, Nos. 235, 237.

[285] l.c., p. 127, No. 56.

पैदा हुआ था, तो उन्होंने ख़ास तौर पर इसी तरह का शोर मचाया था। यद्यपि अन्य किसी भी उद्योग की अपेक्षा उनका उद्योग नौपरिवहन पर अधिक निर्भर करता है, तथापि अनुभव ने उनके प्रचार को झूठा सिद्ध कर दिया है। उस समय से जब कभी मालिकों ने किसी रुकावट का बहाना बनाया है, तब फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों ने उसे सदा महज़ धोखे की टट्टी समझा है।[286] पूरी ईमानदारी के साथ काम करनेवाले बाल-सेवायोजन आयोग की खोज से यह सिद्ध हो जाता है कि काम के घंटों के नियमन का कुछ उद्योगों में यह फल हुआ है कि पहले से ही काम में लगे हुए श्रम को अब पूरे साल पर अधिक समतुलित रूप में फैला दिया जाता है;[287] कि फ़ैशन की अर्थहीन और घातक सनक पर, उस सनक पर, जो आधुनिक उद्योग की व्यवस्था से क़तई मेल नहीं खाती, इस नियमन के रूप में पहली बार एक विवेकसंगत लगाम लगायी गयी थी;[288] कि महासागरों के नौपरिवहन और आम तौर पर संचार के सभी प्रकार के साधनों के विकास के फलस्वरूप वह प्राविधिक आधार नष्ट हो गया है, जिसके सहारे मौसमी काम सचमुच खड़ा हुआ था;[289] कि जब पहले से बड़े मकान बनने लगते हैं, नयी मशीनें लगायी जाती हैं, काम में लगे हुए मज़दूरों की संख्या में वृद्धि होती है[290] और जब इन सब बातों के परिणामस्वरूप

---

[286] "जहाज़ से माल भेजने के जो आर्डर मिलते हैं, उनको यदि ठीक समय पर पूरा नहीं किया जाता, तो व्यवसाय में बड़ी हानि होती है। मुझे याद है कि १८३२ और १८३३ में फ़ैक्टरी-मालिकों की यह एक प्रिय दलील हुआ करती थी। अब इस विषय पर जो कुछ भी कहा जा सकता है, उसमें वह ज़ोर नहीं हो सकता, जो उस समय तक हुआ करता था, जब तक कि भाप ने हर दूरी को आधा नहीं कर दिया था और यातायात के नये नियमों की स्थापना नहीं कर दी थी। उन दिनों जब इस तर्क को प्रमाण की कसौटी पर कसा गया था, तो वह सर्वथा असफल रहा था, और अब भी यदि उसे परखकर देखा जाये, तो इसमें संदेह नहीं कि वह झूठा ही सिद्ध होगा।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1862*, pp. 54, 55.)

[287] *Children's Employment Commission, 4th Report*, p. XVIII, No. 118.

[288] जॉन बैलेर्स ने १६६६ में ही यह कह दिया था कि "फ़ैशन की अनिश्चितता से अवश्य ही ज़रूरतमंद ग़रीबों की संख्या में वृद्धि होती है। उसमें दो बड़ी बुराइयां होती हैं। पहली यह कि कारीगर जाड़ों में काम के अभाव से बहुत दुःखी रहते हैं; जब तक वसंत नहीं आ जाता और यह नहीं मालूम हो जाता कि तब क्या फ़ैशन होगा, उस वक़्त तक कपड़ों के सौदागर तथा उस्ताद बुनकर अपना स्टाक बाहर निकालने की हिम्मत नहीं करते और इसलिए कारीगरों को काम नहीं दे पाते। दूसरी बुराई यह है कि वसंत में कारीगर काफ़ी नहीं होते, लेकिन उस्ताद बुनकरों को तीन या छः महीने के अंदर राज्य के पूरे व्यापार की पूर्ति कर देने के लिए बहुत सारे शागिर्दों को भर्ती करना पड़ता है, जिससे खेती में हलवाहों की कमी हो जाती है, देहाती इलाक़े मज़दूरों से ख़ाली हो जाते हैं और शहर प्रायः भिखारियों से भर जाते हैं, और जो लोग भीख मांगने में सकुचाते हैं, वे जाड़ों में भूखों मरते हैं।" (*Essays about the Poor, Manufactures etc.*, p. 9.)

[289] *Children's Employment Commission, 5th Report*, p. 171, No. 34.

[290] निर्यात का काम करनेवाली ब्रैडफ़ोर्ड की कुछ कंपनियों की गवाही इस प्रकार है: "इन परिस्थितियों में यह बात साफ़ है कि काम पूरा करने के लिए किसी भी लड़के से सुबह ८ बजे से शाम के ७ या ७.३० बजे से ज्यादा देर तक काम कराने की कोई ज़रूरत नहीं है। यह केवल अतिरिक्त मज़दूरों को नौकर रखने और अतिरिक्त पूंजी लगाने का सवाल है। यदि कुछ मालिक इतने लालची न हों, तो लड़कों को इतनी देर तक काम न करना पड़े। एक अतिरिक्त मशीन पर केवल १६ या १८ पाउंड ख़र्च होते हैं। मज़दूरों से आजकल जो ओवर-

थोक व्यापार करने की प्रणाली में तब्दीलियां हो जाती हैं,[291] तो बाक़ी तमाम तथाकथित अजेय कठिनाइयां भी ग़ायब हो जाती हैं। लेकिन इन तमाम बातों के बावजूद पूंजी ऐसी तब्दीलियों को कभी दिल से स्वीकार नहीं करती, और यह बात ख़ुद उसके प्रतिनिधि भी बार-बार क़बूल कर चुके हैं। पूंजी तभी इन्हें स्वीकारती है, जब संसद श्रम के घंटों का अनिवार्य रूप से नियमन करने के लिए कोई सामान्य अधिनियम बना देती है और पूंजी पर उस अधिनियम का दबाव पड़ता है।[292]

अनुभाग ६ – फ़ैक्टरी-अधिनियम। उनकी सफ़ाई और शिक्षा से संबंध रखनेवाली धाराएं। इंगलैंड में उनका सामान्य प्रसार

उत्पादन की प्रक्रिया के स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित रूप के विरुद्ध समाज की पहली सचेतन एवं विधिवत प्रतिक्रिया फ़ैक्टरी-क़ानूनों के रूप में सामने आती है। जैसा कि हम देख चुके हैं, फ़ैक्टरी-क़ानून सूत, स्वचालित यंत्र और बिजली से काम करनेवाली तार-व्यवस्था के समान आधुनिक उद्योग की ही अनिवार्य पैदावार है। इन क़ानूनों के इंगलैंड में विस्तार पर विचार करने के पहले हम फ़ैक्टरी-अधिनियमों की कुछ ख़ास धाराओं पर, जो काम के घंटों से संबंधित नहीं हैं, संक्षेप में विचार करेंगे।

सफ़ाई से संबंध रखनेवाली धाराओं की शब्दावली इस ढंग की है कि पूंजीपति बड़ी आसानी से अपने बचाव की तरक़ीब निकाल लेते हैं। इसके अलावा इन धाराओं का क्षेत्र बहुत ही अपर्याप्त है, और सच पूछिये, तो ये धाराएं केवल दीवारों पर सफ़ेदी कराने, कुछ अन्य मामलों में सफ़ाई रखने, ताज़ा हवा के लिए रोशनदानों की व्यवस्था करने और ख़तरनाक मशीनों से मज़दूरों के बचाव का प्रबंध करने से संबंध रखनेवाली धाराओं तक ही सीमित हैं। मालिकों ने इन धाराओं का, जिनके कारण उनको अपने मज़दूरों के अंगों के बचाव के उपकरणों पर कुछ ख़र्चा करना पड़ रहा था, दीवानों की तरह जो ज़बर्दस्त विरोध किया था, उसकी हम तीसरी पुस्तक में फिर चर्चा करेंगे। उनके इस विरोध से स्वतंत्र व्यापार के उस रूढ़-सिद्धांत पर

टाइम काम कराया जाता है, उसका अधिकांश उपकरणों की कमी और स्थान के अभाव का परिणाम होता है।" (*Ch. Empl. Comm. 5th Rep.*, p. 171, Nos. 35, 36, 38.)

[291] l.c. लंदन का एक कारख़ानेदार है, जो अन्यथा समझता है कि श्रम के घंटों का अनिवार्य नियमन कारख़ानेदारों से मज़दूरों की रक्षा और ख़ुद कारख़ानेदारों की थोक व्यापारियों से रक्षा के लिए ज़रूरी है। उसने कहा है: "हमारे व्यवसाय में जो दबाव दिखायी दे रहा है, वह उन व्यापारियों का पैदा किया हुआ है, जो, मिसाल के लिए, अपना सामान पालदार जहाज़ से भेजना चाहते हैं, ताकि वह एक ख़ास मौसम में अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच जाये और साथ ही पालदार जहाज़ और भाप से चलनेवाले जहाज़ के किराये में जो अंतर होता है, वह भी उनकी जेब में पहुंच जाये; या जो अपने प्रतिद्वंद्वियों से पहले विदेशी मंडी में पहुंच जाने के उद्देश्य से भाप के दो जहाज़ों में से जो पहले रवाना होनेवाला होता है, उसको चुन लेते हैं।"

[292] एक कारख़ानेदार के शब्दों में, "इस चीज़ से इस क़ीमत पर बचा जा सकता है कि संसद के बनाये हुए किसी सामान्य अधिनियम के दबाव के फलस्वरूप कारख़ाने का विस्तार करना ज़रूरी हो जाये।" (l.c., p. X, No. 38.)

भी एक नया और तीखा प्रकाश पड़ता है, जिसका यह कहना है कि विरोधी हितों वाले समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत लाभ के सिवाय और किसी चीज़ की चिंता न करते हुए अनिवार्य रूप से सबके कल्याण के लिए काम करता है! यहां एक उदाहरण काफ़ी होगा। पाठक को मालूम है कि पिछले २० वर्षों में फ़्लैक्स के उद्योग का बहुत विस्तार हुआ है और इस विस्तार के साथ आयरलैंड में फ़्लैक्स को कूटकर रेशा निकालनेवाली मिलों की संख्या भी बढ़ गयी है। १८६४ में उस देश में १,८०० ऐसी मिलें थीं। शरद और शीत ऋतु में वहां नियमित रूप से स्त्रियों और लड़के-लड़कियों को, पासपड़ोस के छोटे काश्तकारों की पत्नियों और पुत्र-पुत्रियों को, जो मशीनों के बिल्कुल आदी नहीं होते, खेतों से उठाकर इन मिलों के बेलनों में फ़्लैक्स डालने का काम करने के लिए नौकर रखा जाता है। इन मिलों में जितनी और जैसी भयानक दुर्घटनाएं होती हैं, उनकी मशीनों के इतिहास में कोई मिसाल नहीं मिलती। कॉर्क के निकट किल्डिनान में स्थित इस तरह की एक मिल में १८५२ और १८५६ के बीच छः दुर्घटनाएं ऐसी हुईं, जिनमें मज़दूरों की जान गयी, और साठ दुर्घटनाओं में वे अपाहिज हो गये। इन तमाम दुर्घटनाओं को कुछ शिलिंग के सस्ते और बहुत ही सरल उपकरण लगाकर रोका जा सकता था। डाउनपैट्रिक में फ़ैक्टरियों को सर्टीफ़िकेट देनेवाले डाक्टर डब्ल्यू० व्हाइट ने १५ दिसंबर १८६५ की अपनी रिपोर्ट में लिखा है: "फ़्लैक्स को कूटकर रेशा निकालने की मिलों में घटनेवाली गंभीर दुर्घटनाएं बहुत डरावनी क़िस्म की होती हैं। बहुत सी दुर्घटनाओं में शरीर का चौथाई भाग धड़ से अलग हो जाता है, और उसके फलस्वरूप या तो आदमी मर जाता है, या उसे बाक़ी जीवन लाचार और मुहताज बनकर दुःख भोगना पड़ता है। देश में मिलों की संख्या में वृद्धि हो जाने से, ज़ाहिर है, इन भयानक परिणामों की और वृद्धि होगी, और यदि इन मिलों को क़ानून के मातहत कर दिया जाये, तो बड़ा भारी उपकार हो। मुझे विश्वास है कि इन मिलों का यदि समुचित रूप से निरीक्षण हो, तो आजकल जानेवाली जानों और भेंट चढ़नेवाले अंगों को बचाया जा सकता है।"[293]

उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का असली स्वरूप इसकी अपेक्षा और किस बात से अधिक स्पष्ट हो सकता था कि सफ़ाई रखने और मज़दूरों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए बहुत ही मामूली से उपकरण लगवाने के लिए भी संसद द्वारा अधिनियम बनवाकर उसके साथ ज़बर्दस्ती करनी पड़ती है? जहां तक मिट्टी के बर्तन बनानेवाले कारख़ानों का संबंध है, १८६४ के फ़ैक्टरी-अधिनियम ने "२०० से अधिक वर्कशापों में सफ़ाई और सफ़ेदी करवा दी हैं। इनमें से बहुत से वर्कशापों में २० वर्ष से सफ़ाई से परहेज़ रखा गया था और कुछ को तो कभी भी साफ़ नहीं किया गया था" (यह है पूंजीपति का "परहेज़"!)। "इन वर्कशापों में २७,८७८ कारीगर काम करते हैं, जो अभी तक मेहनत के लंबे दिन और अकसर लंबी रातें इस सड़ांधभरे वातावरण में बिताया करते थे, जिसने इस धंधे को, जो औरों की तुलना में कम हानिकारक धंधा है, बीमारियों और मौत का कारण बना रखा था। क़ानून से साफ़ हवा के इंतज़ाम में बहुत सुधार हो गया है।"[294] इसके साथ-साथ अधिनियम के इस हिस्से से यह बात भी एकदम साफ़ हो जाती है कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें एक बिंदु के आगे कोई विवेकसंगत सुधार नहीं किया जा सकता। यह बात बार-बार कही जा चुकी है कि अंग्रेज़

---

[293] *Children's Employment Commission, 5th Report*, p. XV, No. 72 sqq.

[294] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October, 1865*, p. 127.

डाक्टरों की यह सर्वसम्मत राय है कि जहां पर काम लगातार होता हो, वहां पर हर व्यक्ति के लिए कम से कम ५०० घन फ़ुट स्थान होना चाहिए। इन फ़ैक्टरी-अधिनियमों से उनकी अनिवार्य धाराओं के कारण अप्रत्यक्ष रूप से छोटे-छोटे वर्कशापों के फ़ैक्टरियों में बदल जाने की प्रक्रिया में तेज़ी आ जाती है और इस तरह छोटे पूंजीपतियों के स्वामित्व के अधिकारों पर अप्रत्यक्ष रूप में प्रहार होता है तथा बड़े पूंजीपतियों को एकाधिकार प्राप्त हो जाता है। अब यदि हर वर्कशाप में प्रत्येक मज़दूर के लिए समुचित स्थान रखना अनिवार्य बना दिया जाये, तो एक झटके में हज़ारों की संख्या में छोटे मालिकों की संपत्ति का प्रत्यक्ष रूप से अपहरण हो जायेगा! उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की जड़ – अर्थात श्रम-शक्ति की "स्वतंत्र" ख़रीदारी और उपभोग के द्वारा छोटी या बड़ी, हर प्रकार की पूंजी के आत्मविस्तार – पर ही चोट हो जायेगी। चुनांचे ५०० घन फ़ुट स्थान के इस लक्ष्य तक पहुंचने के पहले ही फ़ैक्टरी-क़ानूनों में गतिरोध पैदा हो जाता है। सफ़ाई-विभाग के अफ़सर, औद्योगिक जांच-कमिश्नर, फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर, सब बार-बार यही राग अलापते हैं कि ५०० घन फ़ुट स्थान अत्यंत आवश्यक है, और यह रोना रोते हैं कि पूंजी से यह स्थान पाना असंभव है।

इस प्रकार वे असल में यह घोषणा करते हैं कि मज़दूरों में तपेदिक़ और फेफड़े की अन्य बीमारियों का होना पूंजी के अस्तित्व की एक आवश्यक शर्त है।[295]

फ़ैक्टरी-अधिनियम की शिक्षा संबंधी धाराएं कुल मिलाकर भले ही तुच्छ प्रतीत होती हों, पर उनसे यह अवश्य प्रकट हो जाता है कि प्राथमिक शिक्षा बच्चों को नौकर रखने की एक नितांत आवश्यक शर्त बना दी गयी है।[296] इन धाराओं की सफलता से पहली बार यह प्रमाणित हुआ कि हाथ के श्रम के साथ शिक्षा और व्यायाम[297] को जोड़ना संभव है और इसलिए शिक्षा

---

[295]प्रयोग करके यह पता लगाया गया है कि जब कोई औसत क़िस्म का तंदुरुस्त आदमी औसत तीव्रता की सांस लेता है, तो वह लगभग २५ घन इंच हवा ख़र्च कर डालता है, और एक मिनट में लगभग २० बार सांस ली जाती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति २४ घंटे में ७,२०,००० घन इंच, या ४१६ घन फ़ुट हवा अपने अंदर ले जाता है। किंतु यह बात स्पष्ट है कि जो हवा एक बार मनुष्य के शरीर के अंदर चली जाती है, वह उस वक़्त तक फिर सांस लेने के काम नहीं आ सकती, जब तक कि वह प्रकृति के विराट वर्कशाप में शुद्ध नहीं कर दी जाती। वैलेंटिन और ब्रुन्नेर के प्रयोगों के अनुसार स्वस्थ आदमी हर घंटा लगभग १,३०० घन इंच कार्बोनिक एसिड हवा में छोड़ता है, यानी २४ घंटे में एक आदमी के फेफड़े ८ आउंस ठोस कार्बन हवा में फेंक देते हैं। "हर आदमी के पास कम से कम ८०० घन फ़ुट स्थान होना चाहिए।" (Huxley [*Lessons in Elementary Physiology*, London, 1866, p. 105.])

[296] इंगलैंड के फ़ैक्टरी-अधिनियम के मुताबिक मां-बाप १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को उन फ़ैक्टरियों में, जिनपर फ़ैक्टरी-अधिनियम लागू है, उस वक़्त तक काम करने के लिए नहीं भेज सकते जब तक कि उसके साथ-साथ वे उनको प्राथमिक शिक्षा नहीं पाने देते। अधिनियम की धाराओं का पालन करने की ज़िम्मेदारी कारख़ानेदार पर होती है। "फ़ैक्टरी में दी जानेवाली शिक्षा अनिवार्य है, और वह श्रम की एक आवश्यक शर्त है।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1865*, p. III.)

[297] फ़ैक्टरी में काम करनेवाले बच्चों और मुहताज विद्यार्थियों की अनिवार्य शिक्षा के साथ-साथ व्यायाम (और लड़कों के लिए क़वायद) का प्रबंध करने के जो अत्यंत हितकारी परिणाम हुए हैं, उनकी जानकारी पाने के लिए एन० डब्ल्यू० सीनियर का वह भाषण देखिये,

और व्यायाम के साथ हाथ का श्रम भी जोड़ा जा सकता है। स्कूल-मास्टरों से पूछताछ करने पर फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों को शीघ्र ही यह मालूम हो गया कि यद्यपि फ़ैक्टरी में काम करनेवाले बच्चों को नियमित रूप से स्कूलों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की केवल आधी शिक्षा ही मिलती है, तथापि वे उन विद्यार्थियों के बराबर और अकसर उनसे भी अधिक सीख जाते हैं। "इसका कारण यह साधारण तथ्य है कि केवल आधे दिन स्कूल में बैठने के कारण ये बच्चे हमेशा ताज़ा रहते हैं और शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे लगभग सदैव ही तैयार तथा राज़ी होते हैं। वे जिस व्यवस्था के अनुसार काम करते हैं, यानी आधे दिन हाथ का श्रम करना और आधे दिन स्कूल में पढ़ना, उससे श्रम और पढ़ाई दोनों एक दूसरे के संबंध में विश्राम और राहत का रूप धारण कर लेते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि दोनों काम बच्चे के लिए अधिक सुखकर बन जाते हैं। यदि बच्चे से लगातार श्रम या पढ़ाई करायी जाती, तो ऐसा न होता। यह बात बिल्कुल साफ़ है कि जो लड़का (ख़ास तौर पर गरमियों के मौसम में) सुबह से स्कूल में पढ़ रहा है, वह उस लड़के का मुक़ाबला नहीं कर सकता, जो अपने काम से ताज़ा और उल्लासपूर्ण दिमाग़ लिये हुए लौटता है।"[208] इस विषय में और जानकारी सीनियर के उस भाषण से मिल सकती है, जो उन्होंने १८६३ में एडिनबरा में सामाजिक विज्ञान कांग्रेस के सामने दिया था। उसमें सीनियर ने अन्य बातों के अलावा यह भी बताया है कि उच्च और मध्य श्रेणियों के बच्चों को स्कूलों में जो नीरस और व्यर्थ लंबा समय बिताना पड़ता है, उससे शिक्षक का श्रम किस तरह फ़िज़ूल ही बढ़ जाता है, और शिक्षक किस तरह "न केवल अनुपयोगी ढंग से, बल्कि सर्वथा हानिकारक ढंग से बच्चों के समय, स्वास्थ्य और शक्ति का अपव्यय किया करता है।"[209] जैसा कि रॉबर्ट ओवेन ने विस्तार के साथ हमें बताया है, फ़ैक्टरी-

---

जो उन्होंने 'सामाजिक विज्ञान की उन्नति के लिए बनायी गयी राष्ट्रीय संस्था' की सातवीं कांग्रेस के सामने दिया था। यह भाषण *Report of Proceedings etc.*, (London, 1863) में प्रकाशित हुआ है। देखिये पृ० ६३, ६४; *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1865*, पृ०११८, ११६, १२०, १२६ और उसके आगे के पृष्ठ भी देखिये।

[208] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1865*, p.118; रेशम के कारख़ाने के एक मालिक ने बाल-सेवायोजन आयोग के सदस्यों को बड़े भोलेपन के साथ बताया था कि "मुझे पूर्ण विश्वास है कि सुदक्ष मज़दूर तैयार करने का असली गुर यह है कि बचपन से ही शिक्षा और श्रम को जोड़ दिया जाये। ज़ाहिर है, काम बहुत कठिन, नागवार या स्वास्थ्य के लिए हानिकारक नहीं होना चाहिए। परंतु शिक्षा और श्रम के मिलाप के लाभदायक होने के बारे में मुझे ज़रा भी संदेह नहीं है। इसलिए कि मेरे बच्चों की शिक्षा में विविधता आ सके, मैं चाहता हूं कि वे पढ़ाई के साथ-साथ कुछ काम भी किया करें और खेलें-कूदें भी।" (*Children's Employment Commission, 5th Report*, p. 82, No. 36.)

[209] Senior, *Report of Proceedings etc.*, p. 66; आधुनिक उद्योग एक ख़ास स्तर पर पहुंचकर उत्पादन की प्रणाली में तथा उत्पादन की सामाजिक परिस्थितियों में जो क्रांति पैदा कर देता है, उसके द्वारा वह किस तरह लोगों के दिमाग़ों में भी इनक़िलाब पैदा कर सकता है, इसकी एक अच्छी मिसाल सीनियर के १८६३ के भाषण की, १८३३ के फ़ैक्टरी-अधिनियम की उन्होंने जो तीव्र आलोचना की थी, उससे तुलना करके देखी जा सकती है। इसका एक और उदाहरण देखना हो, तो उपर्युक्त कांग्रेस के विचारों की इस तथ्य से तुलना कीजिये कि इंगलैंड के कुछ देहाती ज़िलों में ग़रीब मां-बाप को अपने बच्चों को शिक्षा देने की मुमानियत है, और यदि वे यह प्रतिबंध तोड़ते हैं, तो उनको भूख से तड़प-तड़पकर मर जाना पड़ता है। मिसाल के लिए, मि० स्नेल के कथनानुसार सॉमरसेटशायर की यह रोज़मर्रा की

व्यवस्था में से भावी शिक्षा की कली फूटती है, उस शिक्षा की, जो एक निश्चित आयु से ऊपर के प्रत्येक बच्चे के लिए शिक्षा और व्यायाम के साथ-साथ उससे कोई उत्पादक श्रम कराने का भी प्रबंध करेगी, और यह केवल इसलिए नहीं किया जायेगा कि यह उत्पादन की दक्षता को बढ़ाने का एक तरीक़ा है, बल्कि इसलिए भी कि पूरी तरह विकसित मानव के उत्पादन का यह एकमात्र तरीक़ा है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, आधुनिक उद्योग प्राविधिक साधनों के द्वारा मैन्यूफ़ैक्चर के उस श्रम-विभाजन को समाप्त कर देता है, जिसके अंतर्गत हर आदमी जीवन भर के लिए एक अकेली तफ़सीली क्रिया से बंध जाता है। साथ ही इस उद्योग का पूंजीवादी रूप इसी श्रम-विभाजन को पहले से भी अधिक भयानक शक्ल में पुनः पैदा कर देता है। ऐसा ख़ुद फ़ैक्टरी में मज़दूर को मशीन का जीवित उपांग बनाकर किया जाता है; ऐसा फ़ैक्टरी के बाहर हर जगह कुछ हद तक मशीनों तथा मशीन पर काम करनेवाले मज़दूरों का इक्का-दुक्का उपयोग करके [300] और कुछ हद तक स्त्रियों और बच्चों के श्रम का तथा आम तौर पर सस्ते अकुशल श्रम का उपयोग करके और इस तरह एक नये आधार पर श्रम-विभाजन को पुनः स्थापित करके किया जाता है। मैन्यूफ़ैक्चर के श्रम-विभाजन और आधुनिक उद्योग के तरीक़ों में पाया जानेवाला विरोध बलपूर्वक सामने आता है। अन्य बातों के अलावा वह इस भयानक तथ्य में व्यक्त होता है कि आधुनिक फ़ैक्टरियों और मैन्यूफ़ैक्चरों में काम करनेवाले बच्चों में से काम लिया जाता है, उनमें से अधिकतर अपने अत्यंत प्रारंभिक वर्षों से ही सरलतम क्रियाओं से बंध जाते हैं, वर्षों तक उनका शोषण होता रहता है, और उनको एक भी ऐसा काम नहीं सिखाया जाता, जो उनको बाद में इसी मैन्यूफ़ैक्चर या फ़ैक्टरी में भी किसी उपयोग का बना देता। मिसाल के लिए, इंगलैंड में छापाख़ानों में पहले पुराने मैन्यूफ़ैक्चरों और दस्तकारियों से मिलती-जुलती यह व्यवस्था थी कि काम सीखनेवाले मज़दूरों को हल्के काम से क्रमशः अधिकाधिक कठिन काम दिया

घटना है कि जब कोई ग़रीब आदमी चर्च की ओर से सार्वजनिक सहायता मांगता है, तो उसे अपने बच्चों को स्कूल से हटा लेने के लिए मजबूर किया जाता है। फ़ैल्थम के पादरी मि० वोल्लार्टन ने भी कुछ इस तरह के उदाहरण बताये हैं, जहां कुछ परिवारों को इस बिना पर किसी भी तरह की सहायता देने से इनकार कर दिया गया था कि "वे अपने बच्चों को स्कूल भेजते हैं"!

[300] जहां कहीं आदमियों के द्वारा चलायी जानेवाली दस्तकारी की मशीनें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में यांत्रिक शक्ति द्वारा चलायी जानेवाली अधिक विकसित मशीनों से प्रतियोगिता करती हैं, वहां मशीन चलानेवाले मज़दूर के संबंध में एक बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाता है। शुरू-शुरू में भाप का इंजन इस मज़दूर का स्थान ले लेता है, बाद को उसे भाप के इंजन का स्थान लेना पड़ता है। चुनांचे तनाव बहुत बढ़ जाता है और ख़र्च होनेवाली श्रम-शक्ति की मात्रा बेहद बढ़ जाती है। और उन बच्चों के संबंध में यह बात ख़ास तौर पर देखने में आती है, जिनको यह यातना भोगनी पड़ती है। जांच-कमीशन के सदस्य मि० लोंगे ने कॉवेंट्री और उसके आस-पड़ोस में १० से १५ वर्ष तक के बच्चों को पट्टी से चलनेवाले करघे चलाते हुए देखा था। इतना ही नहीं, इससे भी छोटे बच्चों को कुछ छोटी मशीनें चलानी पड़ रही थीं। "यह असाधारण रूप से थका देनेवाला काम है। लड़का महज़ भाप की शक्ति का एवज़ी होता है।" (*Children's Employment Commission, 5th Report*, 1866, p.114, No.6.) सरकारी रिपोर्ट ने उसे "ग़ुलामी की इस व्यवस्था" का नाम दिया है। उसके घातक परिणामों के बारे में देखिये वही, पृ० ११४ और उसके आगे के पृष्ठ।

जाता था। इस तरह वे शिक्षा के एक पूरे दौर से गुज़रते थे और अंत में छपाई में कुशल बन जाते थे। उनके धंधे की यह एक आवश्यक शर्त थी कि उनमें से हर आदमी पढ़ना और लिखना जानता हो। पर छपाई की मशीन ने आकर ये सारी बातें बदल दीं। यह मशीन दो प्रकार के मज़दूरों से काम लेती है: एक तो वयस्क मज़दूरों से, जो मशीन की देखभाल करते हैं, और दूसरे, प्रायः ११ से १७ वर्ष तक के लड़कों से, जिनका एकमात्र काम यह होता है कि वे या तो काग़ज़ के ताव मशीन के नीचे बिछाते जाते हैं, या मशीन से छप-छपकर निकलनेवाले तावों को उठाकर रखते जाते हैं। ख़ास तौर पर लंदन में ये लड़के यह थकानेवाला काम हफ़्ते में कई दिन रोज़ाना १४, १५ और १६ घंटे तक लगातार करते जाते हैं, और अकसर वे ३६ घंटे तक यह काम करते हैं और बीच में भोजन और सोने के लिए उनको केवल २ घंटे की छुट्टी मिलती है।[301] उनमें से अधिकतर पढ़ना नहीं जानते, और आम तौर पर वे पूरे जंगली और बहुत ही असाधारण ढंग के जीव होते हैं। "उन्हें जो काम करना पड़ता है, उसे सीखने के लिए किसी प्रकार की बौद्धिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। इस काम में कुशलता के लिए बहुत कम और चतुराई के लिए उससे भी कम गुंजाइश होती है। इस नाते कि वे लड़के होते हैं, उनकी मज़दूरी अधिक ही होती है, पर उनकी आयु के बढ़ने के साथ-साथ उसमें सानुपातिक वृद्धि नहीं होती और उनमें से अधिकतर यह आशा नहीं बांध सकते कि किसी दिन उनको मशीन की देखरेख करनेवाले मज़दूर का बेहतर मज़दूरी और ज़्यादा ज़िम्मेदारी वाला पद मिल जायेगा। कारण यह कि हर मशीन की देखरेख करने के लिए जहां केवल एक मज़दूर होता है, वहां उसके मातहत कम से कम दो और अकसर चार लड़के काम करते हैं।"[302] यह काम बच्चे ही करते हैं, और जब उनकी उम्र बढ़ जाती है, यानी १७ के क़रीब हो जाती है, तो उनको छापेख़ानों से जवाब मिल जाता है। तब उनके अपराधियों की सेना में भर्ती होने की संभावना हो जाती है। कई बार उनको कहीं और नौकरी दिलवाने की कोशिश की गयी, पर उनकी जहालत और वहशीपन के कारण और उनके मानसिक एवं शारीरिक पतन के कारण कोई कोशिश कामयाब नहीं हुई।

मैन्यूफ़ैक्टरियों के भीतर पाये जानेवाले श्रम-विभाजन के लिए जो बात सच है, समाज के भीतर पाये जानेवाले श्रम-विभाजन के लिए भी वही सच है। जब तक दस्तकारी और मैन्यूफ़ैक्चर सामाजिक उत्पादन का सामान्य मूलाधार रहते हैं, तब तक उत्पादक का उत्पादन की केवल एक विशिष्ट शाखा के अधीन रहना और उसके धंधे की बहुरूपता का छिन्न-भिन्न हो जाना[303] आगे के विकास का एक आवश्यक क़दम होता है। इस मूलाधार के सहारे उत्पादन की हर अलग-अलग शाखा अनुभव के द्वारा वह ख़ास रूप प्राप्त कर लेती है, जो प्राविधिक

---

[301] *Children's Employment Commission, 5th Report*, 1866, p. 3, No. 24.

[302] l.c., p. 7, No. 60.

[303] "यह बहुत वर्ष पहले की बात नहीं है कि स्कॉटलैंड के पर्वतीय प्रदेश के कुछ भागों में सांख्यिकीय विवरण के अनुसार हर किसान ख़ुद अपने हाथ से कमाये हुए चमड़े के जूते बनाकर पहना करता था। बहुत से गड़रिये और किसान भी अपने बीवी-बच्चों के साथ ऐसे कपड़े पहनकर गिरजाघर में पहुंचते थे, जिन्हें केवल उन्हीं के हाथों ने छुआ होता था, क्योंकि ऊन ख़ुद उनकी भेड़ों की मूंड़ी होती थी और फ़्लैक्स भी ख़ुद उनके खेतों में उगायी गयी थी। यह भी बताया जाता है कि इन कपड़ों को तैयार करने के लिए सूजा, सूई, अंगुश्ताना और बुनाई में इस्तेमाल होनेवाले लोहे की कल के कुछ इने-गिने हिस्सों को छोड़कर और कोई भी चीज़ ख़रीदी नहीं जाती थी। रंग भी स्त्रियों द्वारा मुख्यतया पेड़ों, झाड़ियों और जड़ी-बूटियों

दृष्टि से उसके लिए उपयुक्त होता है, उसको धीरे-धीरे विकसित करती जाती है, और जैसे ही यह रूप एक निश्चित मात्रा में परिपक्वता प्राप्त कर लेता है, वैसे ही उसका तीव्रता के साथ स्फटिकीकरण हो जाता है। वाणिज्य से जो नया कच्चा माल मिलने लगता है, उसके अतिरिक्त केवल एक ही चीज़ है, जो जहां-तहां कुछ परिवर्तन कर देती है। वह है श्रम के औज़ारों में होनेवाले क्रमिक परिवर्तन। परंतु अनुभव से एक बार निश्चित हो जाने के बाद श्रम के औज़ारों का रूप भी पथरा जाता है, जो इस बात से साबित है कि अनेक औज़ार पिछले कई हज़ार वर्षों से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को एक ही रूप में मिलते गये हैं। यह बात बहुत अर्थ रखती है कि १८वीं सदी तक भी अलग-अलग धंधे "mysteries" (mystères) [भेद] कहलाते थे।[304] इन भेदों को केवल वे ही लोग जान सकते थे, जिन्हें विधिवत् दीक्षा मिल चुकी थी। और कोई उनको नहीं जान सकता था। परंतु आधुनिक उद्योग ने उस नक़ाब को तार-तार कर अलग कर दिया, जिसने मनुष्यों की उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया को ख़ुद उनकी आंखों से छिपा रखा था और जिसके कारण उत्पादन की स्वयंस्फूर्त ढंग से बंटी हुई विभिन्न शाखाएं केवल बाहरी आदमियों के लिए ही नहीं, बल्कि दीक्षितों के लिए भी पहेलियां बनी हुई थीं। आधुनिक उद्योग ने हर प्रक्रिया को उसकी संघटक गतियों में बांट देने के सिद्धांत का अनुसरण किया और ऐसा करते हुए इस बात का कोई ख़याल नहीं किया कि मनुष्य का हाथ इन गतियों को कैसे संपन्न कर पायेगा। इस सिद्धांत ने प्रौद्योगिकी के नये आधुनिक विज्ञान को जन्म दिया। प्रौद्योगिक प्रक्रियाओं के नाना प्रकार के, प्रकटतः असंबद्ध प्रतीत होनेवाले और पथराये हुए रूप निश्चित ढंग के उपयोगी प्रभाव पैदा करने के लिए प्राकृतिक विज्ञान का सचेतन और सुनियोजित ढंग से प्रयोग करने के तरीक़ों में परिणत हो गये। प्रौद्योगिकी ने गति के उन थोड़े से मुख्य मौलिक रूपों का भी पता लगाया, जिनमें से किसी न किसी रूप में ही मानव-शरीर की प्रत्येक उत्पादक कार्रवाई व्यक्त होती है, हालांकि मानव-शरीर नाना प्रकार के औज़ारों को इस्तेमाल करता है। यह उसी तरह की बात है, जैसे यांत्रिकी का विज्ञान अधिक से अधिक जटिल मशीनों में भी सरल यांत्रिक शक्तियों की निरंतर पुनरावृत्ति के सिवा और कुछ नहीं देखता।

आधुनिक उद्योग किसी भी प्रक्रिया के वर्तमान रूप को कभी उसका अंतिम रूप नहीं समझता और न ही व्यवहार में उसे ऐसा मानता है। इसलिए इस उद्योग का प्राविधिक आधार क्रांतिकारी ढंग का है, जब कि इसके पहले वाली उत्पादन की तमाम प्रणालियां बुनियादी तौर पर रूढ़िवादी थीं।[305] आधुनिक उद्योग मशीनों, रासायनिक प्रक्रियाओं तथा अन्य तरीक़ों के द्वारा न

से तैयार किये जाते थे।" (Dugald Stewart, *Works*, ed. by Sir W. Hamilton, Vol. VIII, pp. 327-328.)

[304] एतिएन्न बुआलो की प्रसिद्ध रचना *Livre des métiers* में हम यह प्रदिष्ट पाते हैं कि जब किसी कारीगर को उस्तादों की श्रेणी में प्रवेश करने की अनुमति मिलती थी, तब उसे यह सौगंध खानी पड़ती थी कि वह "अपने पेशा-भाइयों से भाइयों जैसा प्यार करेगा, उनके अपने धंधों में उनकी सहायता करेगा, कभी जान-बूझकर अपने व्यवसाय के भेद नहीं खोलेगा और इसके अलावा सबके हितों का ध्यान रखते हुए कभी अपने माल की प्रशंसा करने के लिए दूसरों की बनायी हुई वस्तुओं के अवगुणों की ओर ख़रीदार का ध्यान आकर्षित नहीं करेगा।"

[305] "उत्पादन के औज़ारों में लगातार क्रांतिकारी परिवर्तन किये बिना बुर्जुआ वर्ग का अस्तित्व असंभव है, और इस तरह उत्पादन के संबंधों में और उनके साथ-साथ तमाम सामा-

केवल उत्पादन के प्राविधिक आधार में, बल्कि मजदूर के कार्यों में और श्रम-प्रक्रिया के सामाजिक संयोजनों में भी लगातार तब्दीलियां कर रहा है। साथ ही वह इस तरह समाज में पाये जानेवाले श्रम-विभाजन में भी क्रांति पैदा कर देता है और पूंजी की राशियों को तथा मज़दूरों के समूहों को उत्पादन की एक शाखा से दूसरी शाखा में निरंतर स्थानांतरित करता रहता है। लेकिन इसलिए आधुनिक उद्योग ख़ुद अपने स्वरूप के कारण यदि श्रम के परिवर्तन, काम की निरंतरता और मज़दूरों की सार्वत्रिक गतिशीलता को जरूरी बना देता है, तो दूसरी ओर, अपने पूंजीवादी रूप में आधुनिक उद्योग पुराने श्रम-विभाजन को, उसके अस्थीकृत विशेषीकरण के साथ, पुनः पैदा कर देता है। हम यह देख चुके हैं कि आधुनिक उद्योग की प्राविधिक आवश्यकताओं और उसके पूंजीवादी रूप में निहित सामाजिक स्वरूप के बीच पाया जानेवाला यह परम विरोध किस तरह मज़दूर की स्थिति में हर प्रकार की स्थिरता और निश्चितता को ख़त्म कर देता है और किस तरह वह सदा मजदूर को उसके श्रम के औज़ारों से वंचित करके जीवन-निर्वाह के साधनों को उससे छीन लेने[306] और उसके तफ़सीली काम को अनावश्यक बनाकर ख़ुद उसको फ़ालतू बना देने की धमकी दिया करता है। हम यह भी देख चुके हैं कि यह विरोध किस तरह उस डरावनी वस्तु का – उस रिज़र्व औद्योगिक सेना का – निर्माण करके अपना ग़ुस्सा निकालता है, जिसे केवल इसलिए मुसीबत में रखा जाता है कि वह सदा पूंजी के काम में आने के लिए तैयार रहे। हम देख चुके हैं कि यह विरोध किस तरह मजदूर वर्ग के अनवरत बलिदानों में, श्रम-शक्ति के अंधाधुंध अपव्यय में और उस सामाजिक अराजकता द्वारा ढायी गयी तबाही के रूप में अपना क्रोध व्यक्त करता है, जो हर आर्थिक प्रगति को एक सामाजिक विपत्ति में परिणत कर देती है। यह हुआ उसका नकारात्मक पहलू। लेकिन यदि एक ओर, काम में होनेवाले परिवर्तन इस समय एक प्राकृतिक नियम की तरह ज़बर्दस्ती अपना असर दिखाते हैं और यदि वे उस प्राकृतिक नियम की भांति, जिसका हर बिंदु पर विरोध हो रहा है, एक अंधी शक्ति के रूप में मिटाते और नाश करते हुए अमल में आते हैं,[307] तो दूसरी ओर,

---

जिक संबंधों में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाता है। पुराने ज़माने के तमाम औद्योगिक वर्गों की बात बिल्कुल उल्टी थी। उत्पादन के पुराने तरीक़ों को ज्यों का त्यों बनाये रखना उनके जीवित रहने की पहली शर्त थी। उत्पादन प्रणाली में निरंतर क्रांतिकारी परिवर्तन, सामाजिक संबंधों में लगातार उथल-पुथल, शाश्वत अस्थिरता और हलचल – बुर्ज़ुआ युग की ये मुख्य विशेषताएं हैं, जो पहले के सभी युगों से उसे भिन्न बना देती हैं। अपने तमाम प्राचीन और पूज्य कहलानेवाले पूर्वाग्रहों तथा मतों के साथ सब गतिहीन और जड़ संबंध समाप्त कर दिये जाते हैं। नये संबंधों के बनने में देर नहीं होती कि वे भी पुराने पड़ जाते हैं और उनके रूढ़ हो जाने की नौबत ही नहीं आ पाती। जिन चीज़ों को ठोस समझा जाता था, वे हवा में उड़ जाती हैं, जिन्हें पवित्र माना जाता था, वे भूलुंठित हो रही हैं, और अंत में मनुष्य मजबूर हो जाता है कि वह अपने जीवन की सच्ची परिस्थितियों और दूसरों के साथ अपने संबंधों पर गंभीरता के साथ विचार करे।" Karl Marx und F. Engels, *Manifest der Kommunistischen Partei*, London, 1848, S. 5.

[306] "जब तुम मेरे जीविका के साधन छीनते हो, तो असल में तुम मेरे प्राण हरते हो।" (शेक्सपियर)।

[307] एक फ़्रांसीसी मज़दूर ने सान-फ़्रांसिस्को से लौटकर यह लिखा है: "कैलिफ़ोर्निया में मैंने जितने अलग-अलग तरह के धंधे किये, मैं कभी विश्वास नहीं कर सकता था कि मुझमें इतने प्रकार के काम करने की क्षमता है। मेरा दृढ़ विश्वास था कि मैं छपाई के

आधुनिक उद्योग जिन विपत्तियों को ढाता है, उनके द्वारा वह सबसे यह मनवा लेता है कि काम में बराबर परिवर्तन होते रहना और इसलिए मजदूर में विविध प्रकार के काम करने की योग्यता का होना तथा इस कारण उसकी विभिन्न प्रकार की क्षमताओं का अधिक विकास होना उत्पादन का एक मौलिक नियम है। उत्पादन की प्रणाली को इस नियम के सामान्य कार्य के अनुकूल बनाने का सवाल समाज की ज़िंदगी और मौत का सवाल बन जाता है। वस्तुतः आधुनिक उद्योग समाज को मौत की धमकी देकर इसके लिए मजबूर करता है कि आजकल के तफ़सीली काम करनेवाले मज़दूर को, जो जीवन भर एक ही, बहुत तुच्छ क्रिया को दुहरा-दुहराकर पंगु हो गया है और इस प्रकार इनसान का एक अंश भर रह गया है, एक पूर्णतया विकसित ऐसे व्यक्ति में बदल दे, जो अनेक प्रकार का श्रम करने की योग्यता रखता हो, जो उत्पादन में होनेवाले किसी भी परिवर्तन के लिए तैयार हो और जिसके लिए उसके द्वारा संपन्न किये जानेवाले विभिन्न सामाजिक कार्य केवल अपनी प्राकृतिक एवं उपार्जित क्षमताओं को स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहार में लाने के तरीक़े भर हों। इस क्रांति को पैदा करने के लिए एक क़दम पहले ही से स्वयंस्फूर्त ढंग से उठाया जा चुका है। वह है प्राविधिक एवं कृषि स्कूलों और "écoles d'enseignement professionnel" ["व्यावसायिक स्कूलों"] की स्थापना, जिनमें मज़दूरों के बच्चों को प्रौद्योगिकी की, और श्रम के विभिन्न औज़ारों का व्यावहारिक उपयोग करने की थोड़ी-बहुत शिक्षा मिल जाती है। फ़ैक्टरी-अधिनियम के रूप में पूंजी से जो पहली और बहुत तुच्छ रियायत छीनी गयी है, उसमें फ़ैक्टरी के काम के साथ-साथ केवल प्राथमिक शिक्षा देने की ही बात है। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता कि जब मज़दूर वर्ग सत्ता पर अधिकार कर लेगा, जो कि अनिवार्य है, तब सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ढंग की प्राविधिक शिक्षा मज़दूरों के स्कूलों में अपना उचित स्थान प्राप्त करेगी। इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि इस तरह की क्रांतिकारी उथल-पुथल, जिसके अंतिम परिणाम के रूप में पुराना श्रम-विभाजन ख़त्म हो जायेगा, उत्पादन के पूंजीवादी रूप के और इस रूप में मज़दूर की जो आर्थिक हैसियत है, उसके बिल्कुल ख़िलाफ़ पड़ती है। परंतु उत्पादन के किसी भी निश्चित रूप में निहित विरोधों का ऐतिहासिक विकास ही एकमात्र ऐसा तरीक़ा है, जिसके ज़रिये उत्पादन का वह रूप मिट सकता है और एक नया रूप स्थापित हो सकता है। "Ne sutor ultra crepidam" ["मोची को अपने कलबूत से ही चिपके रहना चाहिए"] – दस्तकारी-बुद्धि का यह nec plus ultra [परम सूत्र] उसी क्षण से सरासर बकवास बन गया है, जब से घड़ीसाज़ वाट ने भाप के इंजन का, नाई आर्कराइट ने थ्रौसल का और सुनार फ़ुल्टन ने भाप से चलनेवाले जहाज़ का आविष्कार किया है।[308]

सिवा और किसी काम के लायक़ नहीं हूं... पर जब एक बार मैं दुस्साहसी लोगों की दुनिया में पहुंच गया, जो क़मीज़ की तरह अपना धंधा बदलते हैं, तब, ज़ाहिर है, जिस तरह दूसरे लोग करते थे, उसी तरह मैंने भी करना शुरू कर दिया। खान के काम से चूंकि काफ़ी कमाई नहीं हुई, इसलिए मैं उसे छोड़कर शहर चला आया, जहां मैंने बारी-बारी से छपाई, छत डालने और नलों की मरम्मत करने, आदि का काम किया। इस प्रकार मुझे मालूम हुआ कि मैं किसी भी तरह का काम कर सकता हूं, और इसके फलस्वरूप अब मैं अपने को घोंघा कम और इनसान ज़्यादा महसूस करता हूं।" (A. Corbon, *De l'enseignement professionnel*, 2ème éd., p. 50.)

[308] जांन बैलेर्स ने, जो राजनीतिक अर्थशास्त्र के इतिहास में एक आश्चर्यजनक घटना के रूप में प्रकट हुए थे, १७वीं शताब्दी के अंत में ही यह बात बड़ी स्पष्टता के साथ समझ ली थी

जब तक फ़ैक्टरी-क़ानून फ़ैक्टरियों, मैन्यूफ़ैक्टरियों, आदि में श्रम का नियमन करने तक ही सीमित रहते हैं, तब तक केवल इतना ही समझा जाता है कि इन क़ानूनों के द्वारा पूंजी के शोषण करने के अधिकार में हस्तक्षेप किया जा रहा है। मगर जब तथाकथित "घरेलू श्रम" का भी नियमन किया जाने लगता है,[309] तब तुरंत ही यह विचार ज़ोर पकड़ता है कि इस तरह तो patria potestas पर – मां-बाप के अधिकारों पर – प्रत्यक्ष प्रहार किया जा रहा है। इंगलैंड की दयालु-हृदय संसद बहुत दिनों तक यह क़दम उठाने में हिचकिचाती रही। परंतु तथ्यों के प्रभाव ने उसे आखिर इस बात को स्वीकार करने के लिए मजबूर कर ही दिया कि आधुनिक उद्योग ने उस आर्थिक आधार को उलटकर, जिसपर परंपरागत परिवार और उस व्यवस्था के लिए उपयुक्त पारिवारिक श्रम टिके हुए थे, परंपरा से चले आये तमाम पारिवारिक बंधनों को भी ढीला कर दिया है। बच्चों के अधिकारों की घोषणा करना ज़रूरी हो गया। बाल-सेवायोजन आयोग की १८६६ की अंतिम रिपोर्ट में कहा गया है: "हमारे सामने जितनी गवाहियां हुई हैं, दुर्भाग्य से उन सभी से यह बात स्पष्ट है – और इतनी अधिक स्पष्ट है कि देखकर तकलीफ़ होती है – कि बच्चों और बच्चियों दोनों को उनके मां-बाप से बचाने की जितनी आवश्यकता है, उतनी और किसी व्यक्ति से बचाने की नहीं।" बच्चों के श्रम का अनियंत्रित शोषण करने की प्रणाली आम तौर पर और तथाकथित घरेलू श्रम की प्रथा ख़ास तौर पर "केवल इसीलिए क़ायम है कि मां-बाप को अपनी कमउम्र और सुकुमार संतान पर निरंकुश और घातक अधिकार प्राप्त हैं और वे बिना किसी रोक-टोक के उनका दुरुपयोग करते हैं... मां-बाप को अपने बच्चों को महज़ हर सप्ताह इतना पैसा कमानेवाली मशीनों में बदल देने का अनियंत्रित अधिकार नहीं होना चाहिए... इसलिए जहां कहीं ऐसी स्थिति हो, वहां बच्चों और लड़के-लड़कियों को एक प्राकृतिक अधिकार के रूप में संसद से यह मांग करने का हक़ होना चाहिए कि उनसे कोई ऐसा काम न लिया जाये, जो उनकी शारीरिक शक्ति को समय से पहले ही नष्ट कर देता हो और जो बौद्धिक तथा नैतिक जीवों के रूप में उनको पतन के गर्त में

कि शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था तथा श्रम-विभाजन का अंत करना अत्यंत आवश्यक है, जो समाज के दो विरोधी छोरों पर अति वृद्धि और क्षीणता पैदा कर देते हैं। अन्य बातों के साथ-साथ बैलेर्स ने यह भी लिखा: "निकम्मा पांडित्य काहिली की शिक्षा से कोई ख़ास अच्छा नहीं होता... शारीरिक श्रम ईश्वर की बनायी हुई एक आदिम प्रथा है... श्रम करना शरीर के स्वास्थ्य के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना उसको ज़िंदा रखने के लिए भोजन करना, क्योंकि आदमी आराम से रहकर जिन तकलीफ़ों से बचने की कोशिश करता है, वे सब उसे बीमारियों की शक्ल में आ घेरती हैं... जीवन के दीप में श्रम स्नेह का काम करता है और चिंतन उसे प्रज्वलित करता है... यदि बच्चों से केवल कोई शिशुतुल्य, मूर्खतापूर्ण काम ही लिया जाता है" (यहां पर मानो भविष्य की आशंका से चिंतित होकर बेज़डो और उसके आधुनिक नक़्क़ालों की करतूतों के विरुद्ध पहले ही से चेतावनी दी जा रही है) "तो बच्चे मूर्ख के मूर्ख रह जाते हैं।" (*Proposals for Raising a College of Industry of All Useful Trades and Husbandry*, London, 1696, pp. 12, 14, 16, 18.)

[309] इस प्रकार का श्रम प्राय: छोटे-छोटे वर्कशापों में कराया जाता है, जैसा कि हमने लेस बनाने और पुआल की वस्तुएं तैयार करने के धंधों के मामले में देखा और जैसा और भी तफ़सील में शेफ़ील्ड, बर्मिंघम, आदि के धातु के धंधों के मामले में दिखाया जा सकता है।

गिरा देता हो।"[310] किंतु बच्चों के श्रम का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष पूंजीवादी शोषण इसलिए नहीं शुरू हुआ था कि मां-बाप अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने लगे थे, बल्कि इसके विपरीत यह शोषण की पूंजीवादी प्रणाली थी, जिसने मां-बाप के अधिकार के आर्थिक आधार को नष्ट करके इस अधिकार के उपयोग को उसके घातक दुरुपयोग में परिणत कर दिया था। पूंजीवादी व्यवस्था में पुराने पारिवारिक बंधनों का टूटना चाहे जितना भयंकर और घृणित क्यों न प्रतीत होता हो, परंतु आधुनिक उद्योग स्त्रियों, लड़के-लड़कियों और बच्चे-बच्चियों को घरेलू क्षेत्र के बाहर उत्पादन की क्रिया में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका देकर परिवार के और नारी तथा पुरुष के संबंधों के एक अधिक ऊंचे रूप के लिए एक नया आर्थिक आधार तैयार कर देता है। जाहिर है, परिवार के ट्यूटोनिक-ईसाई रूप को उसका अंतिम और शाश्वत रूप समझना उतनी ही बेतुकी बात है, जितना यह समझना कि परिवार के प्राचीन रोम, प्राचीन यूनान अथवा पूर्व के रूप उसके अंतिम और शाश्वत रूप थे, क्योंकि ये तमाम रूप तो असल में परिवार के ऐतिहासिक विकासक्रम की कड़ियां हैं। इसके अलावा यह बात भी साफ़ है कि यदि काम करनेवालों के सामूहिक दल में स्त्री और पुरुष दोनों और हर उम्र के व्यक्ति शामिल हों, तो उपयुक्त परिस्थितियां होने पर यह तथ्य लाजिमी तौर पर मानवीय विकास का कारण बन जायेगा, हालांकि अपने स्वयंस्फूर्त ढंग से विकसित, पाशविक, पूंजीवादी रूप में, जहां उत्पादन की प्रक्रिया मजदूर के लिए नहीं होती, बल्कि मजदूर का अस्तित्व ही प्रक्रिया के लिए होता है, यह तथ्य समाज में दुराचार और दासता का विष फैलाने का कारण बन जाता है।[311]

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, फ़ैक्टरी-अधिनियमों का सामान्यीकरण करने की, अर्थात् उनको केवल मशीनों की पहली पैदावार – यांत्रिक कताई-बुनाई – से संबंध रखनेवाले अपवादस्वरूप क़ानूनों के बजाय पूरे सामाजिक उत्पादन पर प्रभाव डालनेवाले क़ानूनों में बदल देने की आवश्यकता आधुनिक उद्योग के ऐतिहासिक विकास के ढंग से पैदा हुई। आधुनिक उद्योग की पृष्ठभूमि में मैन्युफ़ैक्चर, दस्तकारी तथा घरेलू उद्योग का परंपरागत रूप एकदम बदल जाता है। मैन्युफ़ैक्चर निरंतर फ़ैक्टरी-व्यवस्था में और दस्तकारियां मैन्युफ़ैक्चरों में रूपांतरित होती जाती हैं। और अंतिम बात यह है कि दस्तकारी तथा घरेलू उद्योगों के क्षेत्र तुलनात्मकतः बहुत ही थोड़े समय में सरासर नरक बन जाते हैं, जहां पूंजीवादी शोषण को जी भरकर ज्यादतियां करने की छूट मिल जाती है। दो बातें हैं, जो अंत में एकदम पांसा पलट देती हैं। एक तो बार-बार यह अनुभव होता है कि जब कभी एक बिंदु पर पूंजी पर कोई क़ानूनी नियंत्रण लगा दिया जाता है, तो तुरंत ही वह अन्य बिंदुओं पर और भी जोरशोर से इस क्षति की पूर्ति करने लगती है।[312] दूसरे, पूंजीपति यह शोर मचाते हैं कि प्रतियोगिता की शर्तें सबके लिए बराबर होनी चाहिए, अर्थात् श्रम के सभी प्रकार के शोषण पर समान नियंत्रण लगाया जाना चाहिए।[313] इस संबंध में दो टूटे हुए दिलों की चीख़-पुकार सुनिये। ब्रिस्टल के मैसर्स

---

[310] *Children's Employment Commission, 5th Report*, p. XXV, No. 162; *2nd Report*, p. XXXVIII, Nos. 285, 289, pp. XXV, XXVI, No. 191.

[311] "फ़ैक्टरी का श्रम भी घरेलू श्रम जितना ही और शायद उससे भी अधिक शुद्ध और अधिक अच्छा हो सकता है।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1865*, p. 129.)

[312] l.c., pp. 27, 32.

[313] फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों की रिपोर्टों में इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे।

क्रुक्सले ने, जो कीलें, जंजीरें, आदि तैयार करते हैं, अपने कारखाने में अपने आप फ़ैक्टरी-अधिनियम के नियमों को लागू कर दिया है। "आसपड़ोस के कारखानों में चूंकि अभी तक पुरानी अनियमित प्रणाली ही चली आ रही है, इसलिए मैसर्स क्रुक्सले को इस कठिनाई का सामना करना पड़ता है कि उनके यहां काम करनेवाले लड़कों को शाम को ६ बजे के बाद लोग किसी और कारखाने में काम करने के लिए फ़ुसला ले जाते हैं। ऐसी स्थिति में वे स्वभावतया यह कहते हैं कि 'यह बड़ी बेइन्साफ़ी है और इससे हमारा बहुत नुक़सान होता है, क्योंकि इससे लड़के की ताक़त का एक हिस्सा खर्च हो जाता है, जब कि हमें उससे पूरा फ़ायदा उठाने का मौक़ा होना चाहिए था।'"[314] मि० सिंपसन (लंदन के काग़ज़ के बक्स और थैले बनानेवाले) ने बाल-सेवायोजन आयोग के सदस्यों के सामने कहा था कि "मैं" (क़ानूनी हस्तक्षेप की मांग करते हुए) "किसी भी आवेदनपत्र पर हस्ताक्षर करने को तैयार हूं... जो स्थिति इस समय है, उसके अनुसार शाम को अपना कारखाना बंद करने के बाद मुझे रात को हमेशा यह ख़याल परेशान किया करता है कि कहीं दूसरे कारख़ानेदार ज्यादा देर तक न काम कर रहे हों और कहीं ऐसा न हो कि इस तरह वे मेरे आर्डर छीन ले जायें।"[315] इस सवाल से ताल्लुक़ रखनेवाली गवाहियों का सार निकालते हुए बाल-सेवायोजन आयोग ने लिखा है: "यदि बड़े मालिकों की फ़ैक्टरियों पर क़ानून का नियंत्रण लागू कर दिया जाता है, मगर व्यवसाय की उसी शाखा के अपेक्षाकृत छोटे कारख़ानों में श्रम के घंटों पर कोई क़ानूनी परिबंध नहीं लगाया जाता, तो यह बड़े मालिकों के साथ अन्याय होगा, और श्रम के घंटों के संबंध में असमान परिस्थितियों में प्रतियोगिता होने से जो अन्याय होगा, उसके अतिरिक्त बड़े-बड़े कारख़ानेदारों को एक यह नुक़सान भी होगा कि उनके यहां काम करने के बजाय लड़के-लड़कियां और स्त्रियां उन कारख़ानों में चले जायेंगे, जिनको क़ानून के नियमों से छूट मिली हुई है। इसके अलावा छोटे कारख़ानों की संख्या में बड़ी तेज़ी से वृद्धि होने लगेगी, हालांकि लोगों के स्वास्थ्य, आराम, शिक्षा तथा सामान्य सुधार की दृष्टि से ये कारख़ाने लगभग अनिवार्य रूप से सबसे कम उपयुक्त होते हैं।"[316]

अपनी अंतिम रिपोर्ट में बाल-सेवायोजन आयोग ने १४,००,००० से अधिक बच्चों, लड़के-लड़कियों और स्त्रियों पर फ़ैक्टरी-अधिनियम लागू करने का सुझाव दिया है। इनमें से लगभग आधे ऐसे हैं, जिनका छोटे उद्योगों में और तथाकथित घरेलू काम के द्वारा शोषण हो रहा है।[317]

---

[314] *Children's Employment Commission, 5th Report*, p. X, No. 35.

[315] l.c., p. IX, No. 28.

[316] l.c., p. XXV, Nos. 165-167. छोटे पैमाने के उद्योगों की तुलना में बड़े पैमाने के उद्योगों से जो लाभ होते हैं, उनके लिए देखिये *Children's Employment Commission, 3rd Report*, p. 13, No. 144; p. 25, No. 121; p. 26, No. 125; p. 27, No. 140 etc.

[317] आयोग ने जिन धंधों पर क़ानून लागू करने का सुझाव दिया है, उनकी सूची इस प्रकार है: लेस बनाना, मोज़े बुनना, पुआल की बुनी हुई वस्तुएं तैयार करना, पहनने के कपड़ों का उत्पादन तथा उसकी अनेक उपशाखाएं, बनावटी फूल बनाना, जूते बनाना, टोप बनाना, दस्ताने बनाना, दर्ज़ीगीरी, धमन भट्ठियों से लेकर सूई बनाने के कारख़ानों तक धातु का काम करनेवाले हर तरह के कारख़ाने, काग़ज़ की मिलें, कांच के कारख़ाने, तंबाकू के कारख़ाने, रबड़ के कारख़ाने, धागे बटना (बुनाई के लिए), हाथ से कालीन बनाना, छाते और छतरियां बनाना, तकुए और फिरकियां बनाना, छपाई, जिल्दसाज़ी, लेखनसामग्री (जिसमें काग़ज़ के थैले, कार्ड, रंगीन काग़ज़, आदि भी शामिल हैं) बनाना, रस्सियां बनाना, अक़ीक

आयोग ने लिखा है: "परंतु यदि संसद को बच्चों, लड़के-लड़कियों और स्त्रियों की उस पूरी संख्या को, जिसका हमने ऊपर ज़िक्र किया है, क़ानून के संरक्षण में रख देना उचित प्रतीत हो... तो इसमें तनिक भी संदेह नहीं हो सकता कि ऐसा क़ानून न केवल बच्चों और दुर्बल व्यक्तियों के लिए, जिन्हें संरक्षण देना इसका फ़ौरी उद्देश्य है, अत्यंत हितकारी सिद्ध होगा, बल्कि उससे उन वयस्क मज़दूरों को भी बहुत लाभ पहुंचेगा, जिनकी संख्या और भी बड़ी होती है और जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ढंग से इन तमाम धंधों में तत्काल ही इस क़ानून के असर के नीचे आ जायेंगे। इस तरह का क़ानून इन तमाम मज़दूरों के लिए काम के नियमित और सीमित घंटे अनिवार्य बना देगा; इस क़ानून के फलस्वरूप मज़दूरों के काम के स्थान स्वास्थ्यप्रद एवं स्वच्छ दशा में रखे जाने लगेंगे; अतएव उससे मज़दूरों की शारीरिक शक्ति के उस भंडार की सुरक्षा और वृद्धि में सहायता मिलेगी, जिसपर उनका अपना कल्याण और उनके देश का कल्याण इतना अधिक निर्भर करता है; इस प्रकार के क़ानून से नयी पीढ़ी बचपन में ही अत्यधिक श्रम करने से बच जायेगी, जो उनके बदन का सारा सत सोख डालता है और उनको असमय ही बूढ़ा बना देता है; और अंत में इस तरह का क़ानून नयी पीढ़ी के लिए कम से कम १३ वर्ष की आयु तक प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर सुनिश्चित करेगा, और इस तरह यह क़ानून उस भयानक जहालत का अंत कर देगा... जिसका हमारे सहायक कमिश्नरों की रिपोर्टों में इतना सच्चा चित्र देखने को मिलता है और जिसे देखकर हरेक को अत्यधिक कष्ट और राष्ट्रीय पतन की तीव्र अनुभूति का होना अनिवार्य है।"[318]

अनुदार* दल के मंत्रिमंडल ने ५ फ़रवरी १८६७ को शाही अभिभाषण में यह ऐलान किया कि उसने औद्योगिक जांच-आयोग की सिफ़ारिशों को विधेयकों का रूप दे दिया है।[319] ऐसा होने के पहले, २० वर्ष तक experimentum in corpore vili [मुफ़्त के ज़िंदा के शरीर पर प्रयोग] चलता रहा था। संसद ने बच्चों के श्रम के बारे में जांच करने के लिए १८४० में ही एक आयोग नियुक्त कर दिया था। सीनियर के शब्दों में, इस आयोग की १८४२ की रिपोर्ट से "मालिकों और मां-बाप के लोभ, स्वार्थ और निर्दयता का और लड़के-लड़कियों तथा बच्चों के कष्ट, पतन और विनाश का एक ऐसा भयानक चित्र सामने आया, जैसा इसके पहले कभी

पत्थर के ज़ेवर बनाना, ईंटें बनाना, रेशम का हस्त-उत्पादन, कॉवेंटरी की बुनाई, नमक के कारख़ाने, चरबी की बत्तियां बनाना, सीमेंट के कारख़ाने, चीनी मिलें, बिस्कुट बनाना, लकड़ी से संबंधित अनेक उद्योग और दूसरे मिले-जुले धंधे।

[318] *Children's Employment Commission, 5th Report*, p. XXV, No. 169.

* यहां पर ("अनुदार दल के मंत्रिमंडल..." से "सीनियर के शब्दों में" तक) अंग्रेज़ी पाठ, जिसके अनुसार हिंदी पाठ है, चौथे जर्मन संस्करण के अनुसार बदल दिया गया है। – सं०

[319] फ़ैक्टरी-अधिनियमों के प्रसार का अधिनियम १२ अगस्त १८६७ को पास हुआ था। उसके द्वारा धातु की ढलाई, गढ़ाई और धातु का काम करनेवाले तमाम कारख़ानों का, जिनमें मशीनें बनानेवाले कारख़ाने भी शामिल थे, नियमन किया गया था। इसके अलावा कांच, काग़ज़, गटापारचा, रबड़ और तंबाकू के कारख़ानों पर, छापेख़ानों पर, जिल्दसाज़ी का काम करनेवाले कारख़ानों पर और अंत में ५० से अधिक व्यक्तियों से काम लेनेवाले सभी वर्कशापों पर भी यह क़ानून लागू किया गया था। १७ अगस्त १८६७ को पास किया गया श्रम-समय नियमन अधिनियम अपेक्षाकृत छोटे वर्कशापों और तथाकथित घरेलू काम का नियमन करता है।

इन अधिनियमों की और १८७२ के नये उत्खनन अधिनियम की मैं दूसरे खंड में पुनः चर्चा करूंगा।

नहीं आया था... ऐसा भी समझा जा सकता है कि यह रिपोर्ट एक बीते हुए युग की विभीषिकाओं का वर्णन करती है। परंतु दुर्भाग्य से हमारे पास इस बात का प्रमाण मौजूद है कि ये विभीषिकाएं आज भी ज्यों की त्यों मौजूद हैं। लगभग २ वर्ष हुए हार्डविक ने एक पुस्तिका प्रकाशित की थी, जिसमें बताया गया है कि १८४२ में जिन बुराइयों का रोना रोया गया, वे आज भी उसी तरह फल-फूल रही हैं। मजदूर वर्ग के बच्चों के आचरण तथा स्वास्थ्य के प्रति आम तौर पर कैसी लापरवाही बरती जाती है, इसका प्रमाण यह है कि यह रिपोर्ट २० वर्ष तक यों ही पड़ी रही और किसी ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया; और इस बीच वे बच्चे, जिनको इस बात का तनिक भी आभास नहीं दिया गया था कि नैतिकता शब्द का क्या अर्थ होता है, और जिनमें न तो ज्ञान था, न धर्म और न ही स्वाभाविक स्नेह, वे मौजूदा पीढ़ी के मां-बाप बन गये।"[320]

अब चूंकि सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया था, इसलिए संसद को १८४० के आयोग की मांगों की भांति १८६२ के आयोग की मांगों को भी टाल देने की हिम्मत नहीं हुई। चुनांचे आयोग ने अभी अपनी रिपोर्टों का केवल एक भाग ही प्रकाशित किया था कि १८६४ में मिट्टी का सामान (जिसमें मिट्टी के बर्तन भी शामिल थे) बनानेवाले उद्योगों पर, दीवार पर मढ़नेवाला काग़ज़, दियासलाइयां, कारतूस और टोपियां बनानेवालों पर और फ़स्टियन काटनेवालों पर वे अधिनियम लागू कर दिये गये, जो कपड़ा-उद्योगों पर लागू थे। ५ फ़रवरी १८६७ को तत्कालीन अनुदारदलीय मंत्रिमंडल ने शाही अभिभाषण में ऐलान किया कि अब जांच-आयोग की, जिसने अपना काम १८६६ में समाप्त कर दिया था, सिफ़ारिशों पर आधारित विधेयक संसद में पेश किये जा रहे हैं।

१५ अगस्त १८६७ को फ़ैक्टरी-अधिनियमों के प्रसार के अधिनियम को और २१ अगस्त को वर्कशाप-नियमन-अधिनियम को शाही स्वीकृति मिल गयी। पहला क़ानून बड़े और दूसरा छोटे उद्योगों से संबंध रखता है।

पहला क़ानून धमन भट्ठियों, लोहे और तांबे की मिलों, ढलाई का काम करनेवाले कारख़ानों और मशीनों का निर्माण करनेवाले कारख़ानों, धातु का काम करनेवाली मैन्यूफ़ैक्टरियों, गटापारचा के कारख़ानों, काग़ज़ की मिलों, कांच के कारख़ानों, तंबाकू मैन्यूफ़ैक्टरियों, छापेख़ानों (जिसमें अख़बार भी शामिल थे), जिल्दसाज़ी वर्कशापों और संक्षेप में कहिये, तो इस प्रकार की उन सभी औद्योगिक संस्थाओं पर लागू होता है, जिनमें ५० या ५० से अधिक व्यक्तियों से साल भर में कम से कम १०० दिन एक साथ काम लिया जाता है।

वर्कशाप-नियमन-अधिनियम के कार्य-क्षेत्र का कुछ आभास देने के लिए हम उसकी व्याख्या संबंधी धारा से निम्न अंश उद्धृत करेंगे:

"**दस्तकारी** हाथ के किसी भी श्रम को कहा जायेगा, बशर्ते कि वह व्यवसाय की तरह या लाभ के हेतु या कोई वस्तु या किसी वस्तु का कोई भाग बनाने के सिलसिले में, या किसी वस्तु को बिक्री के वास्ते तैयार करने के उद्देश्य से उसमें तब्दीली करने, मरम्मत करने, सजावट करने, फ़िनिश देने या किसी और प्रकार उसका अनुकूलन करने के दौरान या उसके संबंध में किया गया हो।"

"**वर्कशाप** किसी भी कमरे को या स्थान को कहा जायेगा, चाहे वह खुला हो या ढंका

---

[320] Senior, *Social Science Congress*, pp. 55-58.

हो, बशर्ते कि उसमें कोई बच्चा, लड़का या लड़की अथवा स्त्री किसी दस्तकारी का काम करती हो और बशर्ते कि जिस व्यक्ति ने ऐसे किसी बच्चे, लड़के या लड़की अथवा स्त्री को काम पर रखा है, उसको इस कमरे या स्थान में प्रवेश करने तथा उसपर अपना नियंत्रण रखने का अधिकार प्राप्त हो।"

"**काम पर रखे होने** का मतलब होगा किसी भी तरह का दस्तकारी का काम करना, वह चाहे मजदूरी लेकर किया जाये या बिना मजदूरी के और चाहे किसी मालिक के मातहत किया जाये या निम्नलिखित परिभाषा के अनुसार किसी जनक के मातहत।"

"**जनक** का अर्थ होगा मां, बाप, संरक्षक या वह व्यक्ति, जिसकी अधीनता या नियंत्रण में कोई... बच्चा, लड़का या लड़की है।"

७वीं धारा में इस अधिनियम की धाराओं को तोड़कर बच्चों, लड़के-लड़कियों अथवा स्त्रियों को नौकर रखनेवालों पर जुर्माना करने की व्यवस्था की गयी है। इस धारा के अनुसार ऐसी स्थिति में न केवल वर्कशाप के मालिक पर, वह चाहे जनक की श्रेणी में आता हो या नहीं, जुर्माना होगा, बल्कि "बच्चे, लड़के-लड़की अथवा स्त्री के जनक और उसके श्रम से प्रत्यक्ष लाभ उठानेवाले या उसपर नियंत्रण रखनेवाले किसी भी व्यक्ति पर" भी जुर्माना किया जा सकेगा।

फ़ैक्टरी-अधिनियमों के प्रसार का अधिनियम, जिसका बड़े-बड़े कारख़ानों पर प्रभाव पड़ता है, उतना अच्छा नहीं है, जितना अच्छा फ़ैक्टरी-अधिनियम था, क्योंकि उसमें बहुत सारे दोषपूर्ण अपवाद हैं और कायरतापूर्ण ढंग से मालिकों से समझौता कर लिया गया है।

वर्कशाप-नियमन-अधिनियम अपनी सारी तफ़सीलों की दृष्टि से एक बहुत ही तुच्छ सा क़ानून था। नगरपालिका के अधिकारियों तथा स्थानीय अधिकारियों को इस क़ानून को अमल में लाने की जिम्मेदारी दी गयी थी। उनके हाथों में वह महज कागज़ का एक टुकड़ा बनकर रह गया। १८७१ में संसद ने इन लोगों से यह अधिकार छीन लिया और उसे फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों को सौंप दिया। इस प्रकार उनके क्षेत्राधिकार में एक ही झटके में एक लाख वर्कशापों और ईंट के तीन सौ भट्ठों की वृद्धि कर दी गयी। पर साथ ही फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों को, जिनके पास पहले से ही कर्मचारियों की बेहद कमी थी, आठ नये सहायकों से अधिक न देने की सावधानी बरती गयी।[321]

अतएव १८६७ के अंग्रेज़ी क़ानूनों में जो बातें सबसे ज्यादा ध्यान आकर्षित करती हैं, उनमें से एक तो यह है कि शासक वर्गों की संसद को पूंजीवादी शोषण की ज्यादतियों के ख़िलाफ़ इतने बड़े पैमाने पर और ऐसे असाधारण ढंग के क़दम सिद्धांत के रूप में उठाने के लिए मजबूर होना पड़ा, और दूसरी बात यह है कि अमली तौर पर इन क़दमों को उठाते हुए उसने बेहद हिचकिचाहट, अनिच्छा और बेईमानी का परिचय दिया।

१८६२ के औद्योगिक जांच-आयोग ने उत्खनन उद्योग के लिए एक नया विनियम बनाने का भी सुझाव दिया था। अन्य उद्योगों की तुलना में इस उद्योग की एक असाधारण विशेषता

---

[321] फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टरों के कार्यालय में काम करनेवाले कर्मचारियों में २ इंस्पेक्टर, २ सहायक इंस्पेक्टर और ४१ सब-इंस्पेक्टर थे। १८७१ में आठ नये सब-इंस्पेक्टर नियुक्त किये गये। इंगलैंड, स्कॉटलैंड और आयरलैंड में इन अधिनियमों को अमल में लाने का कुल ख़र्चा १८७१-१८७२ में २५,३४७ पाउंड से अधिक नहीं बैठा था, जिसमें क़ानून भंग करनेवाले मालिकों पर चलाये गये मुक़दमों का ख़र्च भी शामिल था।

यह है कि उसमें ज़मींदार और पूंजीपति के हित जुड़ जाते थे। इन दो हितों के विरोध से फ़ैक्टरी-क़ानूनों को सहायता मिली थी, और खानों के संबंध में क़ानून बनाने के सिलसिले में टालमटोल और वाक्छल के प्रदर्शन का असली कारण इसी विरोध का अभाव था।

१८४० के जांच-आयोग ने ऐसी-ऐसी भयानक और लोमहर्षक बातों का भंडाफोड़ किया था और उससे सारे यूरोप में ऐसी बदनामी हो गयी थी कि संसद ने आख़िर अपनी आत्मा की आवाज़ को शांत करने के लिए १८४२ का उत्खनन अधिनियम पास कर दिया। इसमें केवल १० वर्ष से कम उम्र के बच्चों तथा स्त्रियों से खानों में ज़मीन की सतह के नीचे काम लेने की मनाही करके ही संतोष कर लिया गया था।

इसके बाद एक और अधिनियम – १८६० का खान निरीक्षण अधिनियम – बनाया गया। इसमें व्यवस्था की गयी कि विशेष रूप से नियुक्त सार्वजनिक अफ़सर खानों का निरीक्षण किया करेंगे और १० तथा १२ वर्ष के बीच की उम्र के लड़कों से तब तक काम नहीं लिया जायेगा, जब तक कि उनके पास स्कूल का प्रमाणपत्र नहीं होगा या जब तक कि वे कुछ निश्चित घंटे स्कूल में नहीं बितायेंगे। पर निरीक्षण करनेवाले इंस्पेक्टरों की संख्या चूंकि मज़ाक़ की हद तक कम थी और चूंकि उनको नहीं के बराबर अधिकार दिये गये थे, और कुछ अन्य कारणों से, जिनपर आगे प्रकाश पड़ेगा, यह क़ानून महज़ काग़ज़ी कार्रवाई बनकर रह गया।

खानों के संबंध में एक सबसे ताज़ा सरकारी प्रकाशन है *Report from the Select Committee on Mines, together with etc. Evidence, 23rd July 1866*. इस रिपोर्ट को एक संसदीय समिति ने तैयार किया है, जिसके सदस्य हाउस आफ़ कामन्स के सदस्यों में से चुने गये थे और जिनको गवाहों को तलब करने और उनके बयान लेने का अधिकार दिया गया था। यह बड़े आकार की एक मोटी पोथी है। रिपोर्ट ख़ुद केवल पांच पंक्तियों में पूरी हो जाती है, जिनमें कहा गया है कि समिति को कुछ नहीं कहना है, और यह कि अभी और गवाहों के बयान लेने की ज़रूरत है!

गवाहों के बयान लेने का तरीक़ा ऐसा था, जिसे देखकर अंग्रेज़ी अदालतों में गवाहों की जिरह की याद आती थी, जहां वकील गवाह को डराने, उलझाने और घबराहट में डाल देने के लिए उसके साथ गुस्ताख़ी करता है, उसमें अप्रत्याशित, गोलमोल और उलझन में डाल देने-वाले सवाल पूछता है, जिनका विषय से कोई संबंध नहीं होता, और उससे घुमा-फिराकर हासिल किये गये जवाब को मनमाना अर्थ देने की कोशिश करता है। इस जांच में समिति के सदस्य ख़ुद गवाहों से जिरह करते थे, और उनमें खानों के मालिक और खानों का दोहन करनेवाले पूंजीपति दोनों शामिल थे; गवाह ज़्यादातर कोयला-खानों में काम करनेवाले मज़दूर थे। यह पूरा नाटक पूंजी की भावना का एक इतना अच्छा उदाहरण है कि इस रिपोर्ट के कुछ उद्धरण हम पाठक के सामने प्रस्तुत किये बिना नहीं रह सकते। पूरी सामग्री को संक्षिप्त रूप में पेश करने के लिए मैंने इन उद्धरणों का वर्गीकरण कर दिया है। मैं यह भी जोड़ दूं कि सरकारी प्रकाशनों में हर सवाल और उसके जवाब पर नंबर पड़ा हुआ है।

१) **खानों में १० वर्ष और उससे अधिक आयु के लड़कों को काम पर रखना।**—खानों में काम प्रायः १४ या १५ घंटे चलता है, जिसमें आने-जाने का समय भी शामिल है; कभी-कभी तो सुबह के ३, ४ और ५ बजे से शाम के ५ और ६ बजे तक काम चलता रहता है (नं० ६, ४५२, ८३)। वयस्क मज़दूर आठ-आठ घंटे की दो पालियों में काम करते हैं; लेकिन ख़र्च के कारण लड़कों के लिए ऐसी व्यवस्था नहीं होती (नं० ८०, २०३, २०४)। छोटे लड़कों

से मुख्यतया खान के विभिन्न भागों में हवा के आने-जाने के लिए निर्मित दरवाज़ों को खोलने और बंद करने का काम लिया जाता है; बड़े लड़कों से कोयला ढोने, आदि का ज्यादा भारी काम कराया जाता है (नं० १२२, ७३६, ७४०)। ये लड़के १८ या २२ वर्ष की आयु तक ज़मीन की सतह के नीचे रोज़ाना इतनी देर तक काम करते रहते हैं। उसके बाद उनको उत्खनक का वास्तविक काम मिल जाता है (नं० १६१)। बच्चों और लड़के-लड़कियों के साथ आजकल जैसा ख़राब व्यवहार किया जाता है और उनसे जैसी कड़ी मेहनत करायी जाती है, वैसा इसके पहले कभी देखने में नहीं आया था (नं० १६६३-१६६७)। खान-मज़दूर लगभग एक स्वर से यह मांग करते हैं कि संसद एक क़ानून बनाकर खानों में १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को काम पर रखने की मनाही कर दे। और अब हस्सी विवियन (जो ख़ुद भी खानों का दोहन करते हैं) प्रश्न करते हैं: "क्या मज़दूर की राय उसके परिवार की ग़रीबी पर निर्भर नहीं करेगी?" मि० ब्रूस: "आपके विचार में १२ और १४ वर्ष के बीच की उम्र के जिस बच्चे का पिता चोट खा गया है, या बीमार है, या मर गया है और केवल मां ज़िंदा है, उसको अपने परिवार के पालन-पोषण के लिए १ शिलिंग ७ पेंस रोज़ाना कमाने से रोक देना क्या अन्याय नहीं होगा?.. क्या आप चाहते हैं कि सबके लिए एक सामान्य नियम बनाया जाये?.. क्या आप यह सिफ़ारिश करने के लिए तैयार हैं कि १२ और १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चों से, उनके मां-बाप की चाहे कुछ भी हालत हो, क़ानून बनाकर काम लेने की बिल्कुल मनाही कर दी जाये?" "हां।" (नं० १०७-११०)। विवियन: "मान लीजिये कि १४ वर्ष से कम उम्र के बच्चों से काम लेने की मनाही करते हुए एक क़ानून बना दिया जाता है। तब क्या इसकी संभावना नहीं है कि... बच्चों के मां-बाप अपनी संतान के लिए किसी और क्षेत्र में, उदाहरण के लिए, मैन्यूफ़ैक्चर में, नौकरी तलाश करने लगेंगे?" "मैं समझता हूं कि आम तौर पर ऐसा नहीं होगा।" (नं० १७४)। मि० किन्नेर्ड: "कुछ लड़के दरवाज़ों की देखभाल करते हैं न?" "जी, हां।" "क्या ऐसा नहीं होता कि जब कभी दरवाज़ा खोला या बंद किया जाता है, तब हर बार हवा का एक बहुत तेज़ झोंका आता है?" "जी हां, आम तौर पर ऐसा ही होता है।" "सुनने में तो यह बहुत आसान लगता है, पर असल में तो यह बहुत तकलीफ़-देह है न?" "लड़का वहां इस तरह क़ैद रहता है, जैसे जेलख़ाने की कोठरी में बंद हो।" पूंजीपति विवियन: "अगर किसी लड़के को मोमबत्ती मिल जाये, तो क्या वह पढ़ नहीं सकता?" "जी हां, वह पढ़ सकता है, बशर्ते कि उसके पास मोमबत्ती हो... मेरा ख़याल है, यदि उसे पढ़ते हुए पाया गया, तो उसे डांट पड़ेगी। वह ख़ान में काम करने के लिए रखा गया है। उसे अपनी एक ड्यूटी दी गयी है और सबसे पहले उसे इसपर ही ध्यान देना है। नहीं, मैं समझता हूं, उसे खान में पढ़ने की इजाज़त नहीं मिलेगी।" (नं० १३६, १४१, १४३, १५८, १६०)।

२) **शिक्षा।**—फ़ैक्टरियों की तरह खानों में काम करनेवाले मज़दूर भी अपने बच्चों की अनिवार्य शिक्षा के लिए एक क़ानून बनवाना चाहते हैं। उनका कहना है कि १८६० के अधिनियम की वह धारा बिल्कुल निरर्थक है, जिसके अनुसार १० और १२ वर्ष के लड़कों को काम पर रखने के पहले स्कूल के प्रमाणपत्र की आवश्यकता होती है। इस विषय में गवाहों से जो जिरह की गयी है, वह सचमुच बड़ी अजीब है। "इसकी (अधिनियम की) आवश्यकता मालिकों के ख़िलाफ़ ज्यादा है या मां-बाप के ख़िलाफ़?" "मैं समझता हूं, इसकी दोनों के ख़िलाफ़ आवश्यकता है।" "क्या आप नहीं बता सकते कि दोनों में से किसके ख़िलाफ़ इसकी ज्यादा

आवश्यकता है?" "नहीं, इस सवाल का जवाब देना मेरे लिए मुश्किल है।" (नं० ११५, ११६)। "क्या मालिकों की तरफ़ से इस इच्छा का कोई आभास मिलता है कि लड़कों से इतने समय काम कराया जाये, जिससे वे स्कूल भी जा सकें?" "नहीं, इसके लिए काम के समय में कभी कोई कमी नहीं की जाती।" (नं० १३७)। मि० किन्नेर्ड: "आपके विचार में क्या कोयला-खानों के मज़दूर आम तौर पर अपनी शिक्षा में प्रगति कर लेते हैं? क्या आपको कुछ ऐसे लोगों की मिसाल मालूम है, जिन्होंने खानों में काम शुरू करने के बाद शिक्षा के मामले में बहुत प्रगति की हो? और क्या इसकी अपेक्षा यह नहीं देखा जाता कि वे उल्टे पिछड़ जाते हैं और उन्होंने जो कुछ पढ़ा-लिखा होता है, वह भी भूल जाते हैं?" "वे आम तौर पर और ख़राब हो जाते हैं। उनमें सुधार नहीं होता। वे बुरी आदतें सीख लेते हैं। वे शराब पीना और जुआ खेलना, इसी तरह के दूसरे काम शुरू कर देते हैं और फिर एकदम चौपट हो जाते हैं।" (नं० २११)। "क्या वे इस तरह की (मज़दूरों को शिक्षा देने की) कोई कोशिश रात के स्कूल खुलवाकर करते हैं?" "कुछ इनी-गिनी कोयला-खानें ही ऐसी हैं, जहां पर रात के स्कूल चलते हैं। शायद वहां कुछ लड़के इन स्कूलों में जाते हैं। मगर उस वक़्त तक लड़के शारीरिक दृष्टि से इतना अधिक थक जाते हैं कि स्कूल में बैठने से कोई लाभ नहीं होता।" (नं० ४५४)। पूंजीपति निष्कर्ष निकालता है: "तो इसका मतलब यह हुआ कि आप शिक्षा के ख़िलाफ़ हैं?" "हरगिज़ नहीं, मगर," वग़ैरह-वग़ैरह। (नं० ४४३)। "मगर क्या उनके लिए (मालिकों के लिए) उनकी (स्कूल के प्रमाणपत्रों की) मांग करना लाज़िमी नहीं है?" "क़ानून की निगाह में तो यह ज़रूरी है, लेकिन मैं नहीं जानता कि मालिक सचमुच ऐसे प्रमाण-पत्रों की मांग करते हैं।" "तब आपकी राय यह है कि प्रमाणपत्र देखने के संबंध में अधिनियम की धारा पर कोयला-खानों में आम तौर पर अमल नहीं हो रहा?" "हां, इसपर अमल नहीं हो रहा है।" (नं० ४४३, ४४४)। "क्या इस सवाल में (शिक्षा में) मज़दूर बहुत अधिक दिलचस्पी लेते हैं?" "हां, ज्यादातर मज़दूरों को इस सवाल में बहुत दिलचस्पी है।" (नं० ७१७)। "क्या वे इसके लिए बहुत उत्सुक हैं कि इस क़ानून को अमल में लाया जाये?" "हां, अधिकतर उत्सुक हैं।" (नं० ७१८)। "क्या आपके ख़याल में इस देश में कोई भी क़ानून, जो आप बनाते हैं... उस वक़्त तक सचमुच अमल में आ सकता है, जब तक कि इस देश के लोग उसको अमल में लाने के काम में मदद नहीं करते?" "ऐसे बहुत से लोग हो सकते हैं, जो लड़कों से काम लेने का विरोध करना चाहते हों, पर ऐसा करने पर वे शायद उनकी आंखों में खटकने लगेंगे।" (नं० ७२०)। "किनकी आंखों में खटकने लगेंगे?" "अपने मालिकों की आंखों में।" (नं० ७२१)। "क्या आपका यह ख़याल है कि मालिक क़ानून का पालन करनेवाले आदमी को दोषी समझेंगे?.." "मेरे ख़याल में वे ज़रूर उसको दोषी समझेंगे।" (नं० ७२२)। "क्या आपने किसी ऐसे मज़दूर का ज़िक्र सुना है, जिसने १० और १२ वर्ष के बीच की उम्र के किसी ऐसे लड़के से, जो पढ़ना-लिखना न जानता हो, काम लेने पर एतराज़ किया हो?" "मज़दूरों को ऐसा करने का अधिकार नहीं है।" (नं० १२३)। "क्या आप चाहेंगे कि इस मामले में संसद हस्तक्षेप करे?" "मेरी राय में, अगर कोयला-खानों में काम करनेवाले मज़दूरों के बच्चों की शिक्षा के मामले में कोई कारगर चीज़ करनी है, तो संसद के बनाये हुए अधिनियम के ज़रिये शिक्षा अनिवार्य कर देनी होगी।" (नं० १६३४)। "केवल कोयला-मज़दूरों के लिए ही आप ऐसी क़ानूनी बाध्यता चाहते हैं या ग्रेट ब्रिटेन के सभी मज़दूरों के लिए?" "मैं तो कोयला-मज़दूरों की तरफ़ से बोलने के लिए यहां आया हूं।" (नं०

१६३६)। "कोयला-खानों में काम करनेवाले लड़कों और अन्य लड़कों में आप भेद क्यों करते हैं?" "इसलिए कि मेरी राय में कोयला-खानों में काम करनेवाले लड़के औरों से भिन्न हैं।" (नं० १६३८)। "किस दृष्टि से?" "शारीरिक दृष्टि से।" (नं० १६३९)। "अन्य प्रकार के लड़कों की अपेक्षा उनके लिए शिक्षा क्यों अधिक महत्त्वपूर्ण है?" "यह तो मैं नहीं जानता कि उनके लिए शिक्षा का अधिक महत्त्व है, लेकिन खानों के अंदर अत्यधिक मेहनत करने के कारण वहां नौकरी करनेवाले लड़कों को रविवारीय स्कूलों में, या दिन के स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने का कम मौक़ा मिलता है।" (नं० १६४०)। "पर इस ढंग के सवाल पर उसे और सब चीज़ों से अलग करके विचार करना तो असंभव है न?" (नं० १६४४)। "क्या स्कूल संख्या में काफ़ी हैं?" "नहीं..." (नं० १६४६)। "यदि राज्य हर बच्चे को स्कूल भेजना अनिवार्य बना दे, तो क्या बच्चों के लिए स्कूल काफ़ी होंगे?" "नहीं, लेकिन मेरा ख़याल है कि अगर आवश्यक परिस्थितियां पैदा हो जायें, तो स्कूल भी खुल जायेंगे।" (नं० १६४७)। "मैं समझता हूं कि उनमें से कुछ (लड़के) तो बिल्कुल पढ़-लिख नहीं सकते?" "उनमें से अधिकतर नहीं पढ़-लिख सकते... ख़ुद वयस्क मज़दूरों में से भी अधिकतर पढ़ना-लिखना नहीं जानते।" (नं० ७०५, ७२५)।

३) **स्त्रियों को काम पर रखना।**–१८४२ के बाद से ज़मीन की सतह के नीचे स्त्रियों से काम लेना बंद हो गया है, लेकिन ज़मीन की सतह पर उनसे कोयला लादने, टबों को खींचकर नहरों और मालगाड़ियों तक ले जाने, छांटने, आदि का काम लिया जाता है। पिछले तीन या चार वर्षों में उनकी संख्या में बड़ी वृद्धि हो गयी है। (नं० १७२७)। ये स्त्रियां प्रायः खानों में काम करनेवाले मज़दूरों की पत्नियां, पुत्रियां और विधवाएं होती हैं, और उनकी आयु १२ वर्ष से लेकर ५० या ६० वर्ष तक होती है। (नं० ६४५, १७७६, १७८१)। "स्त्रियों से काम लेने के विषय में खान-मज़दूरों की क्या भावना है?" "मैं समझता हूं, वे आम तौर पर इसे बुरा समझते हैं।" (नं० ६४८)। "आपको इसमें क्या एतराज़ है?" "मैं समझता हूं, यह चीज़ नारीजाति के लिए अपमानजनक है।" (नं० ६४६)। "उनकी पोशाक भी अजीब होती है न?" "जी हां... उसे मर्दों की पोशाक कहना ज़्यादा सही होगा, और मेरे ख़याल में इस पोशाक से कम से कम कुछ स्त्रियों में तो हयाशर्म बाक़ी नहीं रहती।" "क्या स्त्रियां तंबाकू भी पीती हैं?" "जी हां, कुछ स्त्रियां पीती हैं।" "और मैं समझता हूं, यह बहुत गंदा काम है?" "बहुत गंदा।" "वे स्याह हो जाती होंगी?" "जी हां, ज़मीन के नीचे खान में काम करनेवालों के समान वे भी स्याह हो जाती हैं... मैं समझता हूं, बच्चों वाली औरतें (और यहां काम करनेवाली बहुत सारी औरतों के पास बच्चे हैं) अपने बच्चों के प्रति अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर पातीं।" (नं० ६५०-६५४, ७०१)। "क्या आपके ख़याल में इन विधवाओं को इतनी ही मज़दूरी (८ शिलिंग से १० शिलिंग प्रति सप्ताह तक) देनेवाली नौकरी कहीं और मिल सकती है?" "इस बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता।" (नं० ७०६)। "और फिर भी आप चाहेंगे" (ओ संगदिल इनसान!) "कि वे यहां काम करके जीविका न कमायें?" "जी हां, मैं यही चाहूंगा।" (नं० ७१०)। "स्त्रियों को काम पर रखने के बारे में... डिस्ट्रिक्ट में आम तौर पर क्या सोचा जाता है?" "यह सोचा जाता है कि ऐसा काम स्त्रियों के लिए अपमानजनक है, और खान-मज़दूरों के रूप में हम स्त्रियों को खानों में काम करते नहीं देखना चाहते, बल्कि उनका कुछ अधिक आदर करना चाहते हैं... काम का कुछ भाग तो बहुत ही कठिन होता है। इनमें से कुछ लड़कियों ने एक दिन में १०-१० टन बोझ उठाया

है।" (नं० १७१५, १७१७)। "क्या आपके विचार में फ़ैक्टरियों में काम करनेवाली स्त्रियों की तुलना में खानों में काम करनेवाली स्त्रियां नैतिकता की दृष्टि से ज़्यादा बिगड़ी हुई होती हैं?" "...फ़ैक्टरियों में काम करनेवाली लड़कियों की अपेक्षा... यहां बुरी लड़कियों का अनुपात कुछ अधिक हो सकता है।" (नं० १७३२)। "लेकिन आप नैतिकता के फ़ैक्टरियों में पाये जानेवाले स्तर से भी तो संतुष्ट नहीं हैं?" "नहीं।" (नं० १७३३)। "तब क्या आप फ़ैक्टरियों में भी स्त्रियों को नौकर रखने की मनाही कर देंगे?" "नहीं, मैं इसकी मनाही नहीं करूंगा।" (नं० १७३४।)। "क्यों नहीं?" "मैं समझता हूं, मिलों में काम करना उनके लिए अधिक सम्मान की बात है।" (नं० १७३५)। "फिर भी, आपके विचार में, उनकी नैतिकता को धक्का तो लगता ही है?" "उतना नहीं जितना खानों में काम करने पर; लेकिन मेरा मत सामाजिक पक्ष पर अधिक आधारित है, मैं केवल नैतिकता के आधार पर बात नहीं कर रहा हूं। सामाजिक दृष्टि से लड़कियों का जो पतन होता है, वह बहुत ही लज्जाजनक है। जब ये ४०० या ५०० लड़कियां कोयला-मज़दूरों की पत्नियां बन जाती हैं, तब इस पतन के कारण पुरुषों को बहुत दुःख उठाना पड़ता है, और वे घर छोड़कर चले जाते हैं और शराब पीने लगते हैं।" (नं० १७३६)। "पर यदि आप कोयला-खानों में स्त्रियों को काम पर रखने की मनाही करते हैं, तो आपको लोहे का काम करनेवाले कारखानों में भी इसकी मनाही करनी होगी?" "मैं किसी और धंधे के बारे में कुछ नहीं कह सकता।" (नं० १७३७)। "क्या लोहे के कारखानों में काम करनेवाली स्त्रियों की स्थिति में और खानों में ज़मीन की सतह के ऊपर काम करनेवाली स्त्रियों की स्थिति में आपको कोई अंतर दिखायी देता है?" "मैंने ऐसी कोई जांच नहीं की है।" (नं० १७४०)। "क्या आप कोई ऐसी बात देखते हैं, जिससे एक श्रेणी और दूसरी श्रेणी में फ़र्क़ पैदा हो जाता हो?" "मैंने ऐसी कोई बात जांची नहीं, लेकिन अपने डिस्ट्रिक्ट में मैं घर-घर घूमा हूं और जानता हूं कि वहां हालत बहुत ही शोचनीय है..." (नं० १७४१)। "क्या आप हर ऐसी जगह पर स्त्रियों को काम पर रखने की मनाही करना चाहेंगे, जहां उससे उनका पतन होता हो?" "मैं समझता हूं, उससे इस तरह हानि होगी कि अंग्रेज़ों में जो सर्वोत्तम भावनाएं पायी जाती हैं, वे उनको माता की शिक्षा से प्राप्त हुई हैं..." (नं० १७५०)। "यह बात तो कृषि कार्यों पर भी उतनी ही लागू होती है न?" "जी हां, पर वह केवल दो मौसमों की नौकरी होती है, और यहां चारों मौसम काम करना पड़ता है। वे अकसर दिन-रात काम करती हैं और एकदम भीग जाती हैं; उनकी देह खोखली और स्वास्थ्य चौपट हो जाता है।" (नं० १७५३)। "इस मामले की आपने शायद कोई ख़ास जांच-पड़ताल नहीं की है?" "राह चलते जो कुछ भी मेरी आंखों के सामने से गुज़रा है, उसे मैंने अवश्य देखा है, और निश्चय ही मैंने कहीं भी कोई ऐसी चीज़ नहीं देखी है, जो खानों में काम करनेवाली औरतों की हालत की बराबरी कर सके... यह तो मर्दों का काम है... ख़ूब मज़बूत मर्दों का।" (नं० १७५३, १७९३, १७९४)। "तो इस पूरे सवाल पर आपका यह विचार है कि कोयला-मज़दूरों का श्रेष्ठ भाग अपने को कुछ ऊपर उठाना और इनसान बनना चाहता है, लेकिन इस चीज़ में उसे स्त्रियों से कोई मदद नहीं मिलती और उल्टे वे उसको नीचे की ओर खींचती हैं?" "जी हां।" (नं० १८०८)। इन पूंजीपतियों के कुछ और छलपूर्ण सवालों के बाद आख़िर यह बात खुल गयी कि विधवाओं, ग़रीब परिवारों, आदि के प्रति उनकी "सहानुभूति" का क्या रहस्य है। "खान का मालिक कुछ महानुभावों को काम की देखभाल करने के लिए नियुक्त कर देता है, और मालिक की नज़रों में ऊपर उठने के लिए इन लोगों

की यह नीति होती है कि अधिक से अधिक बचत करके दिखायें, और जहां मर्द को २ शिलिंग ६ पेंस रोज़ाना की मज़दूरी देनी पड़ती है, वहां इन लड़कियों को १ शिलिंग से १ शिलिंग ६ पेंस तक देने से ही काम चल जाता है।" (नं० १८१६)।

४) मौत के सबब की जांच करनेवाली अदालत की कार्रवाई – "कोई दुर्घटना हो जाने पर आपके डिस्ट्रिक्ट में मौत का सबब जांचनेवाली अदालत में तफ़तीश की कार्रवाई जिस तरह होती है, क्या मज़दूर उसपर विश्वास करते हैं?" "नहीं, मज़दूर उसपर विश्वास नहीं करते।" (नं० ३६०)। "क्यों नहीं करते?" "मुख्यतया इसलिए कि इस अदालत के लिए आम तौर पर जो लोग चुने जाते हैं, उनको खानों के बारे में और इस तरह की अन्य चीज़ों के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं होती।" "क्या मज़दूरों को कभी जूरी का काम करने के लिए नहीं बुलाया जाता?" "जहां तक मुझे जानकारी है, गवाहों के अतिरिक्त वे और किसी हैसियत में कभी नहीं बुलाये जाते।" "जूरी का काम करने के लिए आम तौर पर कौन लोग बुलाये जाते हैं?" "आम तौर पर आसपड़ोस के दूकानदार... जो अपनी स्थिति के कारण कभी-कभी उन लोगों के प्रभाव में आ जाते हैं, जिनके लिए वे काम करते हैं... यानी उनपर कारख़ानों के मालिकों का असर पड़ जाता है। वे आम तौर पर ऐसे लोग होते हैं, जिनको कोई जानकारी नहीं होती, और उनके सामने जो गवाह पेश होते हैं, वे उनकी बातों को या उनकी शब्दावली, आदि को नहीं समझ पाते।" "क्या आप ऐसे व्यक्तियों का जूरी में होना पसंद करेंगे, जो खान-उद्योग में काम कर चुके हैं?" "जी हां, कुछ हद तक... उनका (मज़दूरों का) ख़याल है कि फ़ैसला आम तौर पर गवाहों के बयानों के मुताबिक़ नहीं होता।" (नं० ३६१, ३६४, ३६६, ३६८, ३७१, ३७५)। "जूरी बुलाने का एक बड़ा उद्देश्य यह है न कि वह निष्पक्ष हो?" "जी, मैं तो ऐसा ही समझता हूं।" "यदि जूरी के सदस्यों में से अधिकतर मज़दूर हों, तो क्या आपके ख़याल में ऐसी जूरी निष्पक्ष होगी?" "मुझे ऐसी कोई बात नहीं दिखायी देती, जिसके कारण मज़दूर पक्षपात करें... खान के कामकाज की उनको लाज़िमी तौर पर बेहतर जानकारी होती है।" "आपका क्या ख़याल है कि क्या उनमें मज़दूरों के पक्ष में बहुत ज़्यादा सख़्त फ़ैसले देने की कोई प्रवृत्ति नहीं होगी?" "नहीं, मेरा ऐसा विचार नहीं है।" (नं० ३७८, ३७९, ३८०)।

५) झूठे बाट और झूठे गज़। – मज़दूरों की मांग है कि उनको मज़दूरी चौदह दिन में एक बार के बजाय हफ़्ते में एक बार दी जाये और उसका हिसाब टबों की घनीय अंतर्वस्तु के आधार पर नहीं, बल्कि टबों में भरे हुए कोयले के वज़न के आधार पर लगाया जाये। उनकी यह भी मांग है कि झूठे बाटों, वग़ैरह से उनकी रक्षा की जाये। (नं० १०७१)। "अगर टबों का आकार बेईमानी से बढ़ा दिया जाता है, तो मज़दूर चौदह दिन का नोटिस देकर काम छोड़ सकता है?" "लेकिन यदि वह किसी और जगह काम करने जाता है, तो वहां भी यही हालत होती है।" (नं० १०७१)। "लेकिन मज़दूर वह जगह तो छोड़ सकता है, जहां उसके साथ बेईमानी की गयी है?" "मगर यह तो एक आम बेईमानी है। वह जहां भी जाता है, वहीं उसे यह अन्याय सहना पड़ता है।" (नं० १०७२)। "मज़दूर १४ दिन का नोटिस देकर काम छोड़ सकता है या नहीं?" "हां, वह छोड़ सकता है।" (नं० १०७३)। और ये लोग फिर भी संतुष्ट नहीं हैं!

६) खानों का निरीक्षण। – खानों में विस्फोट होते हैं, तो मज़दूर हताहत हो जाते हैं। मगर उनके लिए यही एक मुसीबत नहीं है। (नं० २३४ और उसके आगे के प्रश्नोत्तर)।

"हमारे साथियों को इसकी बहुत शिकायत है कि खानों में ताज़ा हवा आने का बहुत ख़राब इन्तज़ाम है... उसका प्रबंध आम तौर पर इतना ज़्यादा ख़राब है कि मज़दूर मुश्किल से सांस ले पाते हैं। कुछ समय तक खानों में काम करने के बाद वे हर क़िस्म के काम के लिए बेकार हो जाते हैं। बल्कि सच पूछिये, तो खान के जिस हिस्से में मैं काम करता हूं, वहां काम करनेवाले बहुत से मज़दूरों को कुछ समय तक नौकरी करने के बाद इसी कारण काम छोड़कर घर चले जाना पड़ा है... जहां विस्फोटक गैस नहीं होती, वहां ताज़ा हवा के आने की व्यवस्था इतनी ख़राब है कि कुछ मज़दूर हफ़्तों के लिए बेकार हो गये हैं... मुख्य नालियों में आम तौर पर काफ़ी हवा होती है, पर जिन स्थानों पर मज़दूर काम करते हैं, वहां तक हवा पहुंचाने की कोई कोशिश नहीं की जाती।" "तब आप इंस्पेक्टर से क्यों नहीं कहते?" "सच पूछिये, तो इंस्पेक्टर से इसकी चर्चा करने में बहुत से आदमी डरते हैं। कई बार ऐसा हुआ है कि इंस्पेक्टर से इस बात की शिकायत करनेवाले लोग बलि चढ़ गये हैं और नौकरी खो बैठे हैं।" "क्यों? क्या शिकायत करनेवाले मज़दूर का नाम नोट हो जाता है?" "जी हां।" "और उसको किसी और खान में भी काम नहीं मिलता?" "जी हां।" "क्या आपकी राय में आपके आसपड़ोस की खानों का इतना काफ़ी निरीक्षण होता रहता है कि उनके द्वारा अधिनियम की धाराओं का सुनिश्चित पालन करवाया जा सके?" "जी नहीं, उनका ज़रा भी निरीक्षण नहीं होता... एक खान सात बरस से काम कर रही है और उसका निरीक्षण करने के लिए केवल एक बार इंस्पेक्टर आया है... जिस डिस्ट्रिक्ट में मैं रहता हूं, वहां इंस्पेक्टरों की संख्या पर्याप्त नहीं है। ७० वर्ष से अधिक आयु के एक वृद्ध व्यक्ति को १३० से अधिक कोयला-खानों का निरीक्षण करने का काम मिला हुआ है।" "आप चाहते हैं कि सब-इंस्पेक्टरों की भी एक श्रेणी हो?" "जी हां।" (नं० २३४, २४१, २५१, २५४, २७४, २७५, ५५४, २७६, २९३)। "लेकिन क्या आपके ख़याल में सरकार के लिए इंस्पेक्टरों की इतनी बड़ी सेना को नौकर रखना संभव होगा, जो बिना मज़दूरों से कोई इत्तिला पाये वे सारे काम कर सके, जो आप उससे कराना चाहते हैं?" "नहीं, मैं समझता हूं, यह बिल्कुल असंभव है..." "इंस्पेक्टर ज़्यादा जल्दी-जल्दी आये, तो बेहतर होगा?" "जी हां, और उसको बिना बुलाये आना चाहिए।" (नं० २८०, २७७)। "आपके विचार में इन इंस्पेक्टरों से इतनी जल्दी-जल्दी कोयला-खानों का निरीक्षण कराने का यह असर नहीं होगा कि ताज़ा हवा के उचित इन्तज़ाम की ज़िम्मेदारी (!) कोयला-खानों के मालिकों से हटकर सरकारी कर्मचारियों के कंधों पर आ जायेगी?" "जी नहीं, मैं ऐसा नहीं समझता। मेरे विचार में इंस्पेक्टरों का काम यह होना चाहिए कि पहले से मौजूद क़ानूनों को अमली जामा पहनायें।" (नं० २८५)। "जब आप सब-इंस्पेक्टरों की बात करते हैं, तो क्या आपका यह मतलब है कि वर्तमान इंस्पेक्टरों से कम योग्यता वाले व्यक्तियों को कम तनख़्वाह पर नियुक्त किया जाये?" "अगर बेहतर आदमी मिल सकें, तो मैं यह नहीं चाहूंगा कि कम योग्यता वाले आदमी नियुक्त किये जायें।" (नं० २९४)। "आप महज़ ज़्यादा इंस्पेक्टर चाहते हैं या अपेक्षाकृत निम्न वर्ग के व्यक्तियों को इंस्पेक्टरों के रूप में चाहते हैं?" "ऐसा आदमी होना चाहिए, जो बराबर घूमता रहे और इसका ख़याल रखे कि सब चीज़ें ठीक हैं या नहीं, और जिसे ख़ुद अपने बारे में डर न हो।" (नं० २९५)। "यदि आपकी यह इच्छा पूरी हो जाये और एक निम्न श्रेणी के इंस्पेक्टर नियुक्त कर दिये जायें, तो क्या कुशलता के अभाव, आदि से कोई ख़तरा नहीं होगा?" "नहीं, मेरे विचार में तो ऐसा कोई ख़तरा नहीं है। मैं समझता हूं, सरकार इसका ख़याल रखेगी और इस पद पर सही आदमियों

को नियुक्त करेगी।" (नं० २६७)। इस तरह की जिरह आखिर समिति के अध्यक्ष को भी नागवार मालूम होती है, और वह बीच में बोल उठता है: "आप यह चाहते हैं न कि कुछ ऐसे लोग हों, जो खान की तमाम तफ़सीली बातों की जांच कर सकें, एक-एक कोने में घुसकर हर चीज़ को देख सकें और असलियत का पता लगा सकें... और ये लोग मुख्य इंस्पेक्टर को रिपोर्ट दिया करें और वह तब उनके बताये हुए तथ्यों पर अपने वैज्ञानिक ज्ञान के प्रकाश में विचार किया करे?" (नं० २६८, २६९)। "यदि इन तमाम पुरानी खानों में ताज़ा हवा का इन्तज़ाम किया गया, तो क्या इसमें बहुत ज़्यादा ख़र्चा नहीं हो जायेगा?" "हां, ख़र्चा तो होगा, पर साथ ही मनुष्यों के जीवन की सुरक्षा की व्यवस्था भी हो जायेगी।" (नं० ५३१)। एक खान-मज़दूर ने १८६० के अधिनियम की १७वीं धारा पर आपत्ति की। उसने कहा: "आजकल यदि खानों का इंस्पेक्टर यह पाता है कि खान का कोई हिस्सा इस लायक़ नहीं है कि वहां काम किया जाये, तो उसे खान-मालिक को और गृह-मंत्री को रिपोर्ट भेजनी पड़ती है। उसके बाद २० दिन का समय मालिक को इस मामले की जांच करने के लिए दिया जाता है। २० दिन पूरे हो जाने पर मालिक को यह अधिकार होता है कि खान में कोई भी तब्दीली करने से इनकार कर दे। लेकिन ऐसा करने पर खान के मालिक को गृह-मंत्री को सूचना देनी पड़ती है और साथ ही पांच इंजीनियरों को नामज़द करना पड़ता है। ख़ुद मालिक के नामज़द किये हुए इन पांच इंजीनियरों में से किसी एक या दो-तीन को गृह-मंत्री पंच के रूप में नियुक्त कर देता है। हम यह तो समझते हैं कि इस प्रकार एक तरह से ख़ुद मालिक ही अपना पंच नियुक्त कर देता है।" (नं० ५८१)। जो पूंजीपति गवाह से जिरह कर रहा है, वह ख़ुद भी खान का मालिक है; वह पूछता है: "पर... क्या यह एक महज़ ख़ाली एतराज़ है?" (नं० ५८६)। "तब तो खान-इंजीनियरों की ईमानदारी के बारे में आपकी राय बहुत अच्छी नहीं है?" "उनका रुख़ निश्चय ही अन्याय और बेइन्साफ़ी का होता है"। (नं० ५८८)। "क्या खानों के इंजीनियरों का एक प्रकार से सार्वजनिक व्यक्तित्व नहीं होता और क्या आपके विचार में यह सच नहीं है कि आपको जैसी आशंका है, वैसा पक्षपात ये इंजीनियर कभी नहीं करेंगे?" "इन लोगों के व्यक्तिगत चरित्र के बारे में आपने जिस प्रकार का प्रश्न किया है, मैं उसका उत्तर देना नहीं चाहता। मेरा विश्वास है कि बहुत से मामलों में वे निश्चय ही बहुत अधिक पक्षपात करेंगे, और जहां इनसानों की जान दांव पर लगी हुई है, वहां उन्हें ऐसा करने का कोई मौक़ा नहीं होना चाहिए।" (नं० ५८९)। पर इसी पूंजीपति को यह प्रश्न करने में कोई संकोच नहीं हुआ: "आपके ख़याल में क्या विस्फोट से मालिक की कोई हानि नहीं होती?" और अंत में वह पूछता है: "लंकाशायर के आप मज़दूर लोग क्या सरकार का मुंह जोहे बिना ख़ुद अपनी मदद नहीं कर सकते?" "नहीं।" (नं० १०४२)।

१८६५ में ब्रिटेन में ३,२१७ कोयला-खानें और १२ इंस्पेक्टर थे। यॉर्कशायर के एक खान-मालिक ने (*The Times* के २६ जनवरी १८६७ के अंक में) ख़ुद हिसाब लगाया है कि यदि इंस्पेक्टरों के दफ़्तर के काम को, जिसमें उनका सारा समय चला जाता है, ध्यान में न रखा जाये, तो भी प्रत्येक खान का दस वर्ष में केवल एक बार निरीक्षण किया जा सकता है। तब क्या आश्चर्य है यदि पिछले दस वर्षों में विस्फोटों की संख्या और प्रभाव-क्षेत्र में बराबर वृद्धि होती गयी है (और कभी-कभी तो एक-एक विस्फोट में दो-दो सौ, तीन-तीन सौ आदमियों की जान चली जाती है)? यह है "स्वतंत्र" पूंजीवादी उत्पादन के मज़े!*

---

*यह वाक्य अंग्रेज़ी पाठ में, जिसके अनुसार हिंदी पाठ है, चौथे जर्मन संस्करण के अनुसार जोड़ा गया है।—सं०

१८७२ में जो बहुत त्रुटिपूर्ण अधिनियम पास हुआ, वह पहला क़ानून है, जो खानों में नौकरी करनेवाले बच्चों के श्रम के घंटों का नियमन करता है और तथाकथित दुर्घटनाओं के लिए किसी हद तक शोषकों और मालिकों को ज़िम्मेदार ठहराता है।

जो बच्चे, लड़के-लड़कियां और स्त्रियां खेती का काम करने के लिए नौकर रखे जाते हैं, उनकी हालत की जांच करने के लिए १८६७ में एक शाही आयोग नियुक्त किया गया था। इस आयोग ने कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण रिपोर्टें प्रकाशित की हैं। खेती में फ़ैक्टरी-अधिनियमों के सिद्धांतों को, मगर संशोधित रूप में, लागू करने की कई कोशिशें हो चुकी हैं, पर अभी तक वे पूरी तरह असफल होती रही हैं। यहां पर मैं केवल इस बात की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं कि इन सिद्धांतों को आम तौर पर सभी क्षेत्रों में लागू करने की एक अरोध्य प्रवृत्ति पायी जाती है।

यदि मज़दूर वर्ग के मस्तिष्क एवं शरीर की सुरक्षा के उद्देश्य से सभी धंधों पर आम तौर से फ़ैक्टरी अधिनियमों का लागू किया जाना एक अवश्यंभावी बात बन गया है, तो दूसरी ओर, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, फ़ैक्टरी-अधिनियमों का यह विस्तार अलग-अलग काम करनेवाले बहुत से छोटे-छोटे उद्योगों के बड़े पैमाने के थोड़े से संयुक्त उद्योगों में परिवर्तित हो जाने की क्रिया को और तेज़ कर देता है और इस तरह पूंजी के केंद्रीकरण और फ़ैक्टरी-व्यवस्था के एकछत्र प्रभुत्व की स्थापना को बहुत गति प्रदान करता है। यह विस्तार उन प्राचीन तथा अंतर्कालीन, दोनों प्रकार के रूपों को नष्ट कर देता है, जिन्होंने अभी तक पूंजी के प्रभुत्व पर आंशिक रूप से पर्दा डाल रखा था, और उनके स्थान पर पूंजी का प्रत्यक्ष और खुला आधिपत्य स्थापित कर देता है। परंतु ऐसा करके वह इस आधिपत्य के प्रत्यक्ष विरोध को भी एक सामान्य रूप दे देता है। प्रत्येक अलग वर्कशाप में जहां वह अनिवार्य रूप से एकरूपता, नियमितता, व्यवस्था और मितव्ययिता को व्यवहार में लाता है, वहां वह काम के दिन पर सीमा लगाकर तथा उसका नियमन करके और इस तरह प्राविधिक प्रगति को बहुत तेज़ बनाकर पूरे पूंजीवादी उत्पादन की अराजकता और मुसीबतों को, श्रम की तीव्रता को और मज़दूर के साथ मशीनों की प्रतियोगिता को और बढ़ा देता है। छोटे और घरेलू उद्योगों को नष्ट करके वह "फ़ालतू आबादी" के आख़िरी सहारे को ख़त्म कर देता है और उसके साथ-साथ पूरे सामाजिक संघटन के एकमात्र बचे हुए सुरक्षा-मार्ग को भी बंद कर देता है। भौतिक परिस्थितियों को और पूरे समाज के पैमाने पर उत्पादन की प्रक्रियाओं के योग को परिपक्व बना कर वह उत्पादन के पूंजीवादी रूप के विरोधों और असंगतियों को परिपक्व करता है और इस तरह एक नये समाज के निर्माण के लिए आवश्यक तत्त्वों के साथ-साथ पुराने समाज को नष्ट कर देनेवाली शक्तियों को भी तैयार करता है।[322]

---

[322] रॉबर्ट ओवेन सहकारी फ़ैक्टरियों और दूकानों के जन्मदाता थे, किंतु जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, अपने अनुयायियों की तरह उनके मन में इस विषय में कोई भ्रम नहीं था कि परिवर्तन के इन इक्के-दुक्के तत्त्वों का असल में क्या महत्त्व है। उन्होंने न केवल व्यवहार में फ़ैक्टरी-व्यवस्था को अपने प्रयोगों का एकमात्र आधार बनाया था, बल्कि सैद्धांतिक रूप में इस व्यवस्था को सामाजिक क्रांति का प्रस्थान-बिंदु घोषित किया था। लेडेन विश्वविद्यालय में राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर, हर विस्सेरिंग ने जब अपनी रचना *Handboek van Praktische Staatshuishoudkunde* (१८६०-१८६२) में, जिसमें सतही अर्थशास्त्र की तमाम घिसी-पिटी बातों को दुहराया गया है, फ़ैक्टरी-व्यवस्था के मुक़ाबले में दस्तकारियों का

अनुभाग १० – आधुनिक उद्योग और खेती

आधुनिक उद्योग ने खेती में और खेतिहर उत्पादकों के सामाजिक संबंधों में जो क्रांति पैदा कर दी है, उसपर हम बाद में विचार करेंगे। इस स्थान पर हम पूर्वानुमान के रूप में कुछ

ज़ोरदार समर्थन किया था, तब मालूम होता है, उनके मन में इस बात का कुछ संदेह था। [चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ा गया अंश: फ़ैक्टरी-अधिनियमों, फ़ैक्टरी-विस्तार-अधिनियम और वर्कशाप-अधिनियम के रूप में जो "अत्यंत परस्पर विरोधी क़ानूनों का गड़बड़-झाला" तैयार हुआ था (S. 264.) (इस संस्करण का पृष्ठ ३२५), वह अंत में असह्य हो गया, और चुनांचे १८७८ के फ़ैक्टरी और वर्कशाप-अधिनियम ने इन तमाम क़ानूनों को एक नयी संहिता का रूप दे दिया। ज़ाहिर है, हम इस स्थान पर इंगलैंड की वर्तमान औद्योगिक संहिता की कोई विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत नहीं कर सकते। यहां निम्नलिखित टिप्पणियां पर्याप्त होंगी। यह अधिनियम इतनी तरह की फ़ैक्टरियों पर लागू है:

१) कपड़ा-मिलों पर। इनके संबंध में स्थिति लगभग वही है, जो पहले थी। १० वर्ष से अधिक आयु के बच्चों को ५$\frac{१}{२}$ घंटे प्रति दिन या शनिवार की छुट्टी और ६ घंटे प्रति दिन काम करने की इजाज़त है। लड़के-लड़कियों तथा स्त्रियों को ५ दिन १० घंटे रोज़ और शनिवार को अधिक से अधिक ६$\frac{१}{२}$ घंटे काम करने की इजाज़त है।

२) अन्य प्रकार की मिलों पर। इनके लिए बनाये गये क़ानूनों को नं० १ के लिए बनाये गये के क़ानूनों के अधिक समान कर दिया गया है। फिर भी अनेक बातों में पूंजीपतियों को छूट दे दी गयी है, और कुछ ख़ास परिस्थितियों में गृह-मंत्री इस छूट के क्षेत्र को और बढ़ा सकता है।

३) उन वर्कशापों पर, जिनकी इस अधिनियम में भी वही परिभाषा है, जो पुराने अधिनियम में थी। जहां तक उनमें काम करनेवाले बच्चों, लड़के-लड़कियों और स्त्रियों का संबंध है, वर्कशाप लगभग उसी श्रेणी में आते हैं, जिसमें कपड़ा-मिलों के सिवा अन्य प्रकार की मिलें आती हैं, लेकिन शर्तें फिर कुछ बातों में ज़्यादा आसान हैं।

४) उन वर्कशापों पर, जिनमें बच्चे या लड़के-लड़कियां काम नहीं करते और जिनमें केवल १८ वर्ष से अधिक आयु के स्त्री-पुरुषों से ही काम लिया जाता है। इस श्रेणी के लिए शर्तें और भी अधिक आसान रखी गयी हैं।

५) घरेलू वर्कशापों पर, जिनमें केवल परिवार के सदस्य ही अपने घर पर बैठकर काम करते हैं। इनके लिए और भी ढीले नियम बनाये गये हैं और ऊपर यह प्रतिबंध लगा दिया गया है कि जिन कमरों में मजदूर काम करने के साथ-साथ रहते भी हैं, उनमें कोई इंस्पेक्टर मंत्री या जज की विशेष इजाज़त के बिना प्रवेश नहीं कर सकता। अंतिम बात यह है कि पुआल की बुनी हुई वस्तुएं तैयार करने, लेस बनाने और दस्ताने बनाने के धंधों को पूरी आज़ादी दे दी गयी है। लेकिन इन तमाम ख़ामियों के बावजूद यह अधिनियम और स्विस राज्य मंडल का २३ मार्च १८७७ को पास किया गया फ़ैक्टरी-क़ानून इस क्षेत्र के और सब क़ानूनों से कहीं बेहतर हैं। इन दो संहिताओं की तुलना विशेष रूप से उपयोगी होगी, क्योंकि उससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि क़ानून बनाने की इन दो भिन्न पद्धतियों के गुण-अवगुण क्या हैं। इनमें से इंगलैंड की "ऐतिहासिक" पद्धति है, जो जब-तब आवश्यक होने पर एक के बाद दूसरे मामले में हस्तक्षेप करती हुई बढ़ती है, और दूसरी यूरोपीय महाद्वीप की फ़्रांसीसी क्रांति की परंपराओं पर आधारित पद्धति है, जो सामान्यीकरण का अधिक प्रयोग करती है। दुर्भाग्यवश इंगलैंड की

परिणामों की ओर संकेत भर करेंगे। खेती में मशीनों के प्रयोग का मज़दूरों के शरीरों पर फ़ैक्टरी-मज़दूरों के समान घातक प्रभाव नहीं होता, किंतु जैसा कि हम बाद में विस्तार से देखेंगे, मज़दूरों का स्थान लेने में मशीनें यहां फ़ैक्टरियों से ज्यादा तेज़ी दिखाती हैं और यहां इसका विरोध भी कम होता है। मिसाल के लिए, कैंब्रिज और सफ़ोक की काउंटियों में खेती का रक़बा पिछले २० वर्ष में (१८६८ तक) बहुत अधिक बढ़ गया है, पर इसी काल में देहाती आबादी न केवल तुलनात्मक, बल्कि निरपेक्ष दृष्टि से भी घट गयी है। संयुक्त राज्य अमरीका में खेती की मशीनें अभी तक केवल संभावित मज़दूरों का ही स्थान लेती हैं; दूसरे शब्दों में, उनकी मदद से किसान पहले से बड़े रक़बे में खेती कर सकता है, लेकिन उनकी वजह से पहले से काम करनेवाले मज़दूरों को जवाब नहीं मिल जाता। १८६१ में इंगलैंड और वेल्स में खेती की मशीनों को बनाने में लगे हुए व्यक्तियों की संख्या १,०३४ थी, जब कि खेती की मशीनों और भाप के इंजनों का इस्तेमाल करनेवाले खेतिहर मज़दूरों की संख्या १,२०५ से अधिक नहीं थी।

खेती के क्षेत्र पर आधुनिक उद्योग का जैसा क्रांतिकारी प्रभाव पड़ता है, वैसा और कहीं नहीं पड़ता। उसका कारण यह है कि आधुनिक उद्योग पुराने समाज के आधारस्तंभ – यानी किसान – को नष्ट कर देता है और उसके स्थान पर मज़दूरी लेकर काम करनेवाले मज़दूर को स्थापित करता है। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तनों की चाह और वर्गों के विरोध गांवों में भी शहरों के स्तर पर पहुंच गये हैं। खेती के पुराने, अविवेकपूर्ण तरीक़ों के स्थान पर वैज्ञानिक तरीक़े इस्तेमाल होने लगते हैं। खेती और मैन्यूफ़ैक्चर के शैशव-काल में जिस नाते ने इन दोनों को साथ बांध रखा था, पूंजीवादी उत्पादन उसे एकदम तोड़कर फेंक देता है। परंतु इसके साथ-साथ वह भविष्य में संपन्न होनेवाले एक अधिक ऊंचे समन्वय – यानी अपने अस्थायी अलगाव के दौरान प्रत्येक ने जो अधिक पूर्णता प्राप्त की है, उसके आधार पर कृषि और उद्योग के मिलाप – के लिए भौतिक परिस्थितियां भी तैयार कर देता है। पूंजीवादी उत्पादन आबादी को बड़े-बड़े केंद्रों में जमा करके और शहरी आबादी का पलड़ा अधिकाधिक भारी बनाकर एक ओर तो समाज की ऐतिहासिक चालक शक्ति का संकेंद्रण कर देता है, और दूसरी ओर, वह मनुष्य तथा धरती के बीच पदार्थ के परिचलन को अस्तव्यस्त कर देता है, अर्थात् भोजन-कपड़े के रूप में मनुष्य धरती के जिन तत्त्वों को उपयोग कर डालता है, उन्हें धरती में लौटने से रोक देता है, और इसलिए वह उन शर्तों का उल्लंघन करता है, जो धरती को सदा उपजाऊ बनाने के लिए आवश्यक हैं। इस तरह वह शहरी मज़दूर के स्वास्थ्य को और देहाती मज़दूर के बौद्धिक जीवन को एक साथ चौपट कर देता है।[323] परंतु पदार्थ के इस परिचलन के जारी रहने के

नियमावली इंस्पेक्टरों की कमी के कारण वर्कशापों के संबंध में अभी तक प्रायः एक काग़ज़ का टुकड़ा ही बनी हुई है। – फ़्रे० एं०]

[323] "आप लोगों ने क़ौम को असभ्य भांड़ों और बौने हिजड़ों के दो विरोधी पक्षों में बांट दिया है। हे भगवान! एक राष्ट्र खेतिहर और व्यापारिक हितों में बंटा हुआ है और फिर भी अपने होशहवास दुरुस्त बताता है। नहीं, बल्कि जागृत और सभ्य होने का दावा करता है और कहता है कि न सिर्फ़ इस बेहूदा और अस्वाभाविक विभाजन के बावजूद ऐसा है, बल्कि यह इस विभाजन का ही परिणाम है।" (David Urquhart, l.c., 119.) इस उद्धरण से उस प्रकार की आलोचना की शक्ति और कमज़ोरी दोनों एक साथ प्रकट हो जाती हैं, जो वर्तमान को आंककर उसकी निंदा करना तो जानती है, पर उसको समझ नहीं सकती।

लिए जो परिस्थितियां ख़ुद ब ख़ुद तैयार हो गयी थीं, उनको अस्तव्यस्त करने के साथ-साथ पूंजीवादी उत्पादन बड़ी शान के साथ इस बात का तक़ाज़ा करता है कि इस परिचलन को एक व्यवस्था के रूप में, सामाजिक उत्पादन के एक नियामक क़ानून के रूप में, और एक ऐसी शक्ल में पुनः क़ायम किया जाये कि जो मानवजाति के पूर्ण विकास के लिए उपयुक्त हो। मैन्यूफ़ैक्चर की तरह खेती में भी पूंजी के नियंत्रण में उत्पादन के रूपांतरण का अर्थ साथ ही यह होता है कि उत्पादक की हत्या हो जाती है; श्रम का औज़ार मज़दूर को ग़ुलाम बनाने, उसका शोषण करने और उसको ग़रीब बनाने का साधन बन जाता है, और श्रम-प्रक्रियाओं का सामाजिक संयोजन और संगठन मज़दूर की व्यक्तिगत जीवन-शक्ति, स्वतंत्रता और स्वाधीनता को कुचलकर ख़त्म कर देने की संगठित पद्धति का रूप ले लेते हैं। देहाती मज़दूर पहले से बड़े रक़बे में बिखर जाते हैं, जिससे उनकी प्रतिरोध-शक्ति क्षीण हो जाती है, जब कि उधर शहरी मज़दूरों की शक्ति संकेंद्रण के कारण बढ़ जाती है। शहरी उद्योगों की भांति आधुनिक खेती में भी गतिशील किये हुए श्रम की उत्पादिता और मात्रा में वृद्धि तो होती है, पर इस क़ीमत पर कि श्रम-शक्ति ख़ुद तबाह और बीमारियों से नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त पूंजीवादी खेती में जो भी प्रगति होती है, वह न केवल मज़दूर को, बल्कि धरती को लूटने की कला की भी प्रगति होती है; एक निश्चित समय के वास्ते धरती की उर्वरता बढ़ाने के लिए उठाया जानेवाला हर क़दम साथ ही इस उर्वरता के स्थायी स्रोतों को नष्ट कर देने का क़दम होता है। मिसाल के लिए, संयुक्त राज्य अमरीका की तरह जितना अधिक कोई देश आधुनिक उद्योग की नींव पर अपने विकास का श्रीगणेश करता है, वहां विनाश की यह प्रक्रिया उतनी ही अधिक तेज़ होती है।[324] इसलिए पूंजीवादी उत्पादन प्रौद्योगिकी का और उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं

---

[324] देखिये Liebig, *Die Chemie in ihrer Anwendung auf Agrikultur und Physiologie*, 7 Auflage, 1862, और विशेषकर उसके पहले खंड में *Einleitung in die Naturgesetze des Feldbaus*. लीबिग की एक अमर देन यह है कि उन्होंने प्राकृतिक विज्ञान के दृष्टिकोण से आधुनिक खेती के नकारात्मक अथवा विनाशकारी पहलू का विवेचन किया है। उन्होंने खेती के इतिहास का जो सारांश प्रस्तुत किया है, उसमें भी कुछ भोंडी ग़लतियों के बावजूद प्रकाश की चमक दिखायी देती है। किंतु यह दुःख की बात है कि उन्होंने नीचे दिये गये कुछ उद्धरणों जैसी अटकलपच्चू बातें कहने का भी दुस्साहस किया है। "मिट्टी को ज्यादा भुरभुरी बना देने और अकसर हल चलाने से सरंध्र मिट्टी के भीतर वायु के परिचलन में सहायता मिलती है, और धरती का जो हिस्सा वायुमंडल के प्रभाव के लिए खुला रहता है, उसका रक़बा बढ़ जाता है और उसे नया जीवन प्राप्त हो जाता है। लेकिन यह देखना कठिन नहीं है कि भूमि की उपज भूमि पर ख़र्च किये गये श्रम के अनुपात में नहीं बढ़ सकती, बल्कि उसके अनुपात में वह बहुत कम बढ़ती है।—इस नियम का"—आगे लीबिग कहते हैं—"सबसे पहले जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी रचना *Principles of Political Economy*, (Vol. I, p. 17) में इस प्रकार प्रतिपादन किया था: 'यह खेती के उद्योग का सार्वत्रिक नियम है कि caeteris paribus [अन्य बातों के समान रहते हुए] भूमि की उपज मज़दूरों की संख्या की वृद्धि के असमान अनुपात में बढ़ती है' (मिल ने यहां पर रिकार्डो के अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित नियम का ग़लत रूप में प्रयोग किया है; कारण कि काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या में होनेवाली कमी चूंकि इंगलैंड में खेती की प्रगति के साथ क़दम से क़दम मिलाकर हुई थी, इसलिए यह नियम, जिसका इंगलैंड में आविष्कार हुआ और जिसे इंगलैंड पर ही लागू करने की कोशिश की गयी, उस देश पर हरगिज़ लागू नहीं होता था)। यह बात बहुत उल्लेखनीय है, क्योंकि मिल को इस नियम के कारणों का ज्ञान नहीं

को जोड़कर एक सामाजिक इकाई का रूप देने की कला का विकास तो करता है, पर यह काम केवल समस्त धन-संपदा के मूल स्रोतों को – धरती को और मजदूर को – सोखकर करता है।

था।" (Liebig, l.c., Bd. I, S. 143 और पाद-टिप्पणी।) लीबिग ने "श्रम" शब्द का ग़लत अर्थ लगाया है। राजनीतिक अर्थशास्त्र में इस शब्द का जो अर्थ है, लीबिग ने उसका उससे बिल्कुल भिन्न अर्थ लगाया है। पर इसके अलावा यह बात भी अवश्य ही "बहुत उल्लेखनीय" है कि जिस सिद्धांत को सबसे पहले जेम्स ऐंडर्सन ने ऐडम स्मिथ के काल में प्रकाशित किया था और जिसको १९ वीं शताब्दी के आरंभ होने तक विभिन्न ग्रंथों में बार-बार दोहराया गया था, लीबिग ने जॉन स्टुअर्ट मिल को उसका प्रथम प्रतिपादक बना दिया है; १८१५ में साहित्यिक चोरी की कला के आचार्य माल्थस ने (उनका जनसंख्या से संबंधित पूरे का पूरा सिद्धांत बेशर्मी के साथ चुराया हुआ है) इस सिद्धांत को अपनी संपत्ति बताया था; वेस्ट ने ऐंडर्सन के साथ-साथ और स्वतंत्र रूप से इसका विकास किया था; १८१७ में रिकार्डो ने इस सिद्धांत को मूल्य के सामान्य सिद्धांत के साथ जोड़ दिया था, और तब इस सिद्धांत ने रिकार्डो के सिद्धांत के नाम से सारी दुनिया का चक्कर लगाया था; १८२० में जॉन स्टुअर्ट मिल के पिता, जेम्स मिल ने उसे एक छिछले रूप में प्रस्तुत किया था, और अंत में जॉन स्टुअर्ट मिल, आदि ने एक ऐसी रूढ़ि के रूप में उसे पुनर्प्रस्तुत किया कि जो उस वक़्त तक एक अत्यंत साधारण बात बन गयी थी और जिसकी हर स्कूली लड़के को जानकारी थी। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि जॉन स्टुअर्ट मिल की सर्वथा "उल्लेखनीय" प्रतिष्ठा लगभग पूरी तरह इस प्रकार की quid pro quos [हेरा-फेरी] पर ही आधारित है।

भाग ५

निरपेक्ष और सापेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन

अध्याय १६

निरपेक्ष और सापेक्ष बेशी मूल्य

श्रम-प्रक्रिया पर हमने पहले (देखिये अध्याय ७) अमूर्त ढंग से, उसके ऐतिहासिक रूपों से उसको अलग करके, मनुष्य और प्रकृति के बीच चलनेवाली एक प्रक्रिया के रूप में विचार किया था। वहां, पृ० २०१ पर, हमने कहा था: "यदि हम पूरी प्रक्रिया पर उसके फल, यानी उत्पाद के दृष्टिकोण से विचार करें, तो यह बात स्पष्ट है कि श्रम के औज़ार और श्रम का विषय दोनों उत्पादन के साधन होते हैं और स्वयं श्रम उत्पादक श्रम होता है।" और उसी पृष्ठ की पाद-टिप्पणी ७ में हमने यह और जोड़ा था: "अकेले श्रम-प्रक्रिया के दृष्टिकोण से यह निर्धारित करना कि उत्पादक श्रम क्या होता है, यह तरीक़ा उत्पादन की पूंजीवादी प्रक्रिया पर सीधे हरगिज़ लागू नहीं हो सकता है।" अब हम इस विषय की आगे व्याख्या करते हैं।

श्रम-प्रक्रिया जहां तक विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत होती है, वहां तक वही एक मज़दूर उन सारे कार्यों को करता है, जो बाद को अलग-अलग हो जाते हैं। जब कोई व्यक्ति अपनी जीविका के लिए किन्हीं प्राकृतिक वस्तुओं को हस्तगत कर लेता है, तब उसपर उसका केवल अपना ही नियंत्रण रहता है, और किसी का नहीं। बाद को दूसरे लोग उसका नियंत्रण करने लगते हैं। एक अकेला आदमी ख़ुद अपने मस्तिष्क के नियंत्रण में अपनी मांस-पेशियों से काम लिये बिना प्रकृति पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। जिस प्रकार नैसर्गिक शरीर में मस्तिष्क और हाथ एक दूसरे की सेवा करते हैं, उसी प्रकार श्रम-प्रक्रिया में हाथ का श्रम मस्तिष्क के श्रम के साथ जुड़ा रहता है। बाद में उनका साथ छूट जाता है, और वे एक दूसरे के जानी दुश्मन तक हो जाते हैं। तब पैदावार प्रत्यक्ष रूप में एक व्यक्ति की पैदावार न रहकर सामाजिक पैदावार बन जाती है, जिसे एक सामूहिक मज़दूर, यानी बहुत से मज़दूरों का योग, सामूहिक ढंग से पैदा करता है, और इनमें से प्रत्येक मज़दूर का श्रम के विषय के हस्तसाधन में कम या ज्यादा केवल एक भाग होता है। जैसे-जैसे श्रम-प्रक्रिया का सहकारी स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे उसके एक अनिवार्य परिणाम के रूप में उत्पादक श्रम तथा उसके कर्त्ता – उत्पादक मज़दूर – के विषय में हमारी अवधारणा विस्तृत होती जाती है। उत्पादक ढंग से श्रम करने के लिए अब यह आवश्यक नहीं रहता कि आप ख़ुद अपने हाथ से काम करें। अब तो यदि आप किसी सामूहिक मज़दूर के एक अंग के रूप में उसका कोई गौण काम कर देते हैं, तो वही काफ़ी होता है। उत्पादक श्रम की वह पहली परिभाषा, जो ऊपर दी गयी

है और जो ख़ुद भौतिक वस्तुओं के उत्पादन के स्वरूप से निकाली गयी थी, एक संपूर्ण इकाई के रूप में सामूहिक मज़दूर के लिए अब भी सही रहती है। परंतु इस समूह के अलग-अलग सदस्य के लिए यह परिभाषा अब सही नहीं रहती।

किंतु दूसरी ओर, उत्पादक श्रम की हमारी अवधारणा संकुचित हो जाती है। पूंजीवादी उत्पादन केवल पण्यों का उत्पादन नहीं होता। वह बुनियादी तौर पर बेशी मूल्य का उत्पादन होता है। मज़दूर ख़ुद अपने लिए नहीं, बल्कि पूंजी के लिए पैदा करता है। इसलिए अब उसके लिए केवल पैदा करना ही काफ़ी नहीं होता। उसे बेशी मूल्य पैदा करना होता है। केवल वही मज़दूर उत्पादक माना जाता है, जो पूंजीपति के लिए बेशी मूल्य पैदा करता है और जो इस तरह पूंजी के आत्मविस्तार में हाथ बंटाता है। यदि हम भौतिक वस्तुओं के उत्पादन के क्षेत्र के बाहर से एक मिसाल लें, तो स्कूल-मास्टर उस वक़्त उत्पादक मज़दूर माना जायेगा, जब वह अपने विद्यार्थियों के दिमाग़ों की ठुकाई-पिटाई करने के अलावा स्कूल के मालिक का धन बढ़ाने में घोड़े की तरह जुता रहेगा। मालिक ने यदि सोसेज की फ़ैक्टरी के बजाय पढ़ाई की फ़ैक्टरी में अपनी पूंजी लगा रखी है, तो उससे इस संबंध में कोई अंतर नहीं पड़ता। इसलिए उत्पादक मज़दूर की अवधारणा का केवल इतना ही अर्थ नहीं होता कि काम तथा उसके उपयोगी प्रभाव के बीच और मज़दूर तथा श्रम के फल के बीच एक संबंध होता है, बल्कि उसका यह अर्थ भी होता है कि यहां उत्पादन का एक विशिष्ट सामाजिक संबंध होता है, जिसका एक ऐतिहासिक क्रिया के द्वारा जन्म हुआ है और जिसने मज़दूर को बेशी मूल्य पैदा करने का प्रत्यक्ष साधन बना दिया है। इसलिए उत्पादक मज़दूर होना सौभाग्य न होकर दुर्भाग्य की ही बात है। इस ग्रंथ की चौथी पुस्तक में हमने सिद्धांत के इतिहास का विवेचन किया है। वहां यह बात और स्पष्ट हो जायेगी कि क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्रियों ने बेशी मूल्य के उत्पादन को सदा उत्पादक मज़दूर का एक विशिष्ट लक्षण माना है। इसलिए जैसे-जैसे बेशी मूल्य के स्वरूप की उनकी समझ बदलती जाती है, वैसे-वैसे उनकी उत्पादक मज़दूर की परिभाषा में भी परिवर्तन होता जाता है। चुनांचे फ़िज़ियोक्रैटों का कहना था कि केवल खेती का श्रम ही उत्पादक होता है, क्योंकि उनकी राय में केवल उसी श्रम से बेशी मूल्य पैदा होता है। और उनकी यह राय इसलिए थी कि उनकी नज़रों में लगान के सिवा बेशी मूल्य के अस्तित्व का कोई और रूप नहीं है।

काम के दिन को उस बिंदु के आगे खींच ले जाना, जहां तक मज़दूर केवल अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य का समतुल्य ही पैदा कर पाता है, और पूंजी का इस बेशी श्रम पर अधिकार कर लेना – यह निरपेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन है। इस प्रकार का उत्पादन पूंजीवादी व्यवस्था का सामान्य मूलाधार और सापेक्ष बेशी मूल्य के उत्पादन का प्रस्थान-बिंदु है। सापेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन यह मानकर चलता है कि काम का दिन पहले से ही दो भागों में – आवश्यक श्रम और बेशी श्रम में – बंटा हुआ है। बेशी श्रम को बढ़ाने के लिए आवश्यक श्रम को ऐसे तरीक़ों से छोटा कर दिया जाता है, जिनसे मज़दूरी का समतुल्य पहले की अपेक्षा कम समय में तैयार हो जाता है। निरपेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन मात्र काम के दिन की लंबाई पर निर्भर करता है; सापेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन श्रम की प्राविधिक प्रक्रियाओं और समाज की बनावट में मूलभूत क्रांति पैदा कर देता है। इसलिए वह उत्पादन की एक विशिष्ट प्रणाली – पूंजीवादी प्रणाली – को पूर्वाधार मान लेता है; श्रम के औपचारिक रूप से पूंजी के अधीन हो जाने के फलस्वरूप जो बुनियाद तैयार हुई थी, उसके आधार पर इस प्रणाली का, मय उसके तरीक़ों, साधनों और परिस्थितियों के, स्वयंस्फूर्त ढंग से जन्म और विकास हुआ है। इस विकास के

दौरान पूंजी के मातहत श्रम की औपचारिक अधीनता के स्थान पर वास्तविक अधीनता स्थापित हो जाती है।

यहां पर कुछ ऐसे अंतर्कालीन रूपों की ओर संकेत भर कर देना काफ़ी होगा, जिनमें उत्पादक के साथ सीधे तौर पर जबर्दस्ती करके बेशी मूल्य हासिल नहीं किया जाता और जिनमें ख़ुद उत्पादक को भी अभी तक औपचारिक रूप से पूंजी के अधीन नहीं बनाया जाता। ऐसे रूपों में श्रम-प्रक्रिया पर अभी पूंजी का प्रत्यक्ष नियंत्रण क़ायम नहीं होता है। पुराने परंपरागत ढंग से अपनी दस्तकारियों और खेती का संचालन करनेवाले स्वतंत्र उत्पादकों के साथ-साथ सूदख़ोर, महाजन या सौदागर भी, मय अपनी महाजनी पूंजी या सौदागरी पूंजी के, क़ायम रहता है और परजीवी की तरह स्वतंत्र उत्पादकों का रक्त चूसता है। जब किसी समाज में शोषण के इस रूप का प्रभुत्व होता है, तो वहां उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली नहीं हो सकती। लेकिन यह रूप उस प्रणाली की ओर बढ़ने के लिए एक अंतर्कालीन क़दम का काम कर सकता है, जैसा कि उसने मध्य युग के अंतिम दिनों में किया था। अंतिम बात यह है कि आधुनिक उद्योग की पृष्ठभूमि में जहां-तहां कुछ दरमियानी रूपों का पुनरुत्पादन मुमकिन है, हालांकि उनका रंगरूप बिल्कुल बदल जाता है; मसलन, आधुनिक "घरेलू उद्योग" से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

यदि एक ओर, निरपेक्ष बेशी मूल्य के उत्पादन के लिए श्रम का केवल औपचारिक रूप से पूंजी के अधीन हो जाना काफ़ी होता है, मिसाल के लिए, यदि उसके लिए केवल इतना ही काफ़ी होता है कि वे दस्तकार, जो पहले ख़ुद अपने वास्ते या किसी उस्ताद के शागिर्द की तरह काम किया करते थे, अब किसी पूंजीपति के प्रत्यक्ष नियंत्रण में मजदूरी लेकर काम करने-वाले मज़दूर बन जायें, तो दूसरी ओर, हम यह भी देख चुके हैं कि किस प्रकार सापेक्ष बेशी मूल्य पैदा करने के तरीक़े उसके साथ-साथ निरपेक्ष बेशी मूल्य पैदा करने के भी तरीक़े होते हैं। नहीं, बल्कि हमें यह भी पता चला था कि काम के दिन को हद से ज्यादा लंबा खींचना आधुनिक उद्योग का एक ख़ास फल है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि उत्पादन की विशिष्ट पूंजीवादी प्रणाली जैसे ही उत्पादन की किसी एक पूरी शाखा पर अधिकार कर लेती है, वैसे ही वह केवल सापेक्ष बेशी मूल्य पैदा करने का साधन नहीं रह जाती; और जब वह उत्पादन की सभी महत्त्वपूर्ण शाखाओं पर अधिकार कर लेती है, तब तो उसका यह रूप और भी कम रह जाता है। तब वह उत्पादन का सामान्य, सामाजिक दृष्टि से प्रधान रूप बन जाती है। सापेक्ष बेशी मूल्य पैदा करने के एक ख़ास तरीक़े के रूप में वह केवल उसी हद तक कारगर साबित होती है, जिस हद तक कि वह उन उद्योगों पर अधिकार करती जाती है, जो पहले केवल औपचारिक रूप से पूंजी के अधीन थे, यानी जिस हद तक कि वह अपने क्षेत्र का विस्तार करती चलती है। दूसरे, इस रूप में वह केवल उस हद तक कारगर साबित होती है, जिस हद तक उसके अधिकार में आये हुए उद्योगों में, उत्पादन के तरीक़ों में होनेवाली तब्दीलियों के फलस्वरूप, क्रांतिकारी परिवर्तन होते जाते हैं।

एक दृष्टि से निरपेक्ष और सापेक्ष बेशी मूल्य का भेद मिथ्या मालूम होता है। सापेक्ष बेशी मूल्य निरपेक्ष भी होता है, क्योंकि उसके लिए काम के दिन को ख़ुद मजदूर के अस्तित्व के लिए आवश्यक श्रम-काल के आगे निरपेक्ष ढंग से खींचना ज़रूरी होता है। निरपेक्ष बेशी मूल्य सापेक्ष होता है, क्योंकि उसके लिए श्रम की उत्पादिता का एक ऐसा विकास आवश्यक होता है, जो आवश्यक श्रम-काल को काम के दिन के एक भाग तक ही सीमित बना रहने दे। परंतु यदि हम बेशी मूल्य के व्यवहार को ध्यान में रखें, तो यह दिखावटी एकरूपता ग़ायब हो जाती

है। उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के एक बार क़ायम हो जाने और सामान्य बन जाने के बाद जब कभी बेशी मूल्य की दर को ऊपर उठाने का सवाल सामने आता है, तब निरपेक्ष और सापेक्ष बेशी मूल्य का भेद हमेशा अपना जोर दिखाता है। यह मान लेने के बाद कि श्रम-शक्ति की उजरत उसके मूल्य के अनुसार दी जाती है, हमारे सामने ये दो विकल्प आते हैं: एक यह कि यदि श्रम की उत्पादिता और उसकी सामान्य तीव्रता पहले से निश्चित हो, तो बेशी मूल्य की दर को ऊपर उठाने का केवल एक यही तरीक़ा है कि सचमुच काम के दिन को लंबा खींचा जाये; और दूसरा यह कि यदि काम के दिन की लंबाई पहले से निश्चित हो, तो बेशी मूल्य की दर को केवल काम के दिन के दो संघटक भागों की, अर्थात् आवश्यक श्रम और बेशी श्रम की तुलनात्मक मात्राओं में परिवर्तन करके ही बढ़ाया जा सकता है। यदि मजदूरी को श्रम-शक्ति के मूल्य के नीचे नहीं गिर जाना है, तो ऐसा परिवर्तन लाने के लिए या तो श्रम की उत्पादिता या उसकी तीव्रता में तब्दीली करनी होगी।

यदि मजदूर को अपना सारा समय अपने तथा अपने बाल-बच्चों के जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधन पैदा करने में लगा देना पड़े, तो दूसरों के वास्ते मुफ़्त में काम करने के लिए उसके पास कोई समय न बचेगा। जब तक उसके श्रम में एक ख़ास दर्जे की उत्पादिता नहीं होती, तब तक उसके पास ऐसा कोई फ़ालतू समय नहीं हो सकता; और जब तक उसके पास ऐसा फ़ालतू समय नहीं होता, तब तक वह कोई बेशी श्रम नहीं कर सकता और इसलिए तब तक न तो पूंजीपति हो सकते हैं, न ग़ुलामों के मालिक और न ही सामंती प्रभु। थोड़े में यों कहा जा सकता है कि फ़ालतू समय के अभाव में बड़े मालिकों का कोई भी वर्ग नहीं हो सकता।[1]

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि बेशी मूल्य का एक प्राकृतिक आधार होता है। पर यह बात हम केवल इस अत्यंत सामान्य अर्थ में ही कह सकते हैं कि जिस प्रकार यदि कोई आदमी दूसरे आदमी का मांस खाना चाहता है, तो कोई ऐसी प्राकृतिक बाधा उसके रास्ते में नहीं आती, जो उसके लिए अपनी इच्छा को पूरा करना असंभव बना दे और जिसपर क़ाबू पाना उसके लिए नामुमकिन हो,[1a] उसी प्रकार यदि कोई आदमी अपने जीवन-निर्वाह के लिए श्रम करने का बोझा अपने सिर से उतारकर किसी दूसरे आदमी के सिर पर लादना चाहता है, तो उसके रास्ते में भी कोई ऐसी प्राकृतिक बाधा नहीं आ सकती, जो उसके लिए ऐसा करना सर्वथा असंभव बना दे। श्रम की उत्पादिता का ऐतिहासिक ढंग से विकास हुआ है, और, जैसा कि कभी-कभी देखने में आता है, उसके साथ किन्हीं रहस्यवादी विचारों को हरगिज नहीं जोड़ना चाहिए। जब मनुष्य पशुओं के स्तर से ऊपर उठ जाते हैं और इसलिए जब उनके श्रम का कुछ हद तक समाजीकरण हो जाता है, केवल तभी स्थिति पैदा होती है, जिसमें एक आदमी का बेशी श्रम दूसरे आदमी के अस्तित्व की शर्त बन जाता है। सभ्यता के उदय के काल में श्रम की उत्पादिता बहुत कम होती है, पर उसके साथ-साथ आवश्यकताएं भी कम होती हैं, वे तो उनको पूरा करने के साधनों के साथ-साथ और उनके द्वारा बढ़ती हैं। इसके अलावा उस

---

[1] "एक विशिष्ट वर्ग के रूप में मालिक पूंजीपतियों का अस्तित्व ही उद्योग की उत्पादिता पर निर्भर करता है।" (Ramsay, l.c., p. 206.) "यदि हर आदमी का श्रम केवल उसका अपना भोजन तैयार करने के लिए ही पर्याप्त होता, तो किसी भी प्रकार की संपत्ति का होना असंभव था।" (Ravenstone, l.c., p. 14.)

[1a] हाल में अनुमान लगाया गया है कि दुनिया के जिन हिस्सों की खोज हो चुकी है, उनमें कम से कम ४०,००,००० आदमख़ोर रहते हैं।

प्रारंभिक काल में समाज का दूसरों के श्रम पर जीवित रहनेवाला भाग प्रत्यक्ष उत्पादकों की विशाल संख्या के मुक़ाबले में बहुत ही छोटा था। श्रम की उत्पादिता में प्रगति होने के साथ-साथ समाज का यह छोटा सा भाग निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों दृष्टियों से बढ़ता जाता है।[2] इसके अतिरिक्त पूंजी, मय उन संबंधों के, जो उसके साथ-साथ चलते हैं, एक ऐसी आर्थिक भूमि में जन्म लेती है, जो ख़ुद विकास की एक लंबी प्रक्रिया का फल होती है। श्रम की उत्पादिता, जो पूंजी की नींव और उसके प्रस्थान-बिंदु का काम करती है, प्रकृति की नहीं, सदियों पुराने इतिहास की देन है।

सामाजिक उत्पादन के रूप के न्यूनाधिक विकास के अलावा श्रम की उत्पादिता भौतिक परिस्थितियों से भी सीमित होती है। ये सारी परिस्थितियां ख़ुद मनुष्य की गठन से (नस्ल, आदि से) और उसके इर्दगिर्द के प्राकृतिक वातावरण से संबंध रखती हैं। बाहरी भौतिक परिस्थितियां दो बड़ी आर्थिक श्रेणियों में बंट जाती हैं: १) जीवन-निर्वाह के साधनों के रूप में पायी जानेवाली प्राकृतिक संपदा, अर्थात् उपजाऊ धरती, मछलियों से भरी हुई नदियां, सागर और तालाब, आदि, और २) श्रम के साधनों के रूप में पायी जानेवाली प्राकृतिक संपदा, जैसे जल-प्रपात, नौकायनयोग्य नदियां, वन, धातु, कोयला, आदि। सभ्यता के उदय-काल में पहली श्रेणी का पलड़ा भारी होता है और विकास की अधिक ऊंची अवस्था में दूसरी श्रेणी का। मिसाल के लिए, इंगलैंड का हिंदुस्तान के साथ मुक़ाबला कीजिये या प्राचीन काल के एथेंस और कोरिन्थ की काले सागर के किनारे के देशों से तुलना कीजिये।

तत्काल संतुष्टि की मांग करनेवाली प्राकृतिक आवश्यकताओं की संख्या जितनी कम होती है और भूमि की स्वाभाविक उर्वरता जितनी ज्यादा तथा जलवायु जितना अधिक उपयुक्त होता है, उत्पादक के जीवन-निर्वाह तथा पुनरुत्पादन के लिए उतना ही कम श्रम-काल आवश्यक होता है। और इसलिए ख़ुद अपने लिए वह जो श्रम करता है, उसके मुक़ाबले में वह दूसरों के लिए उतना ही अधिक श्रम कर सकता है। दिओदोरस ने बहुत पहले प्राचीन मिस्र के निवासियों के संबंध में यह कहा था: "अपने बच्चों के लालन-पालन में उनको इतना कम कष्ट उठाना पड़ता है और इस काम में उनका इतना कम ख़र्चा होता है कि विश्वास नहीं किया जा सकता। उनको जो भोजन सबसे ज्यादा आसानी से मिल जाता है, वे उसी को पकाकर अपने बच्चों के लिए तैयार कर देते हैं। साथ ही वे पपीरस के तने का निचला हिस्सा, जहां तक वह आग में भूना जा सकता है, और दलदल में उगनेवाले पौधों की जड़ें कच्ची या उबालकर अथवा भूनकर बच्चों को खाने को दे देते हैं। अधिकतर बच्चे नंगे पैर और उघारे बदन घूमते हैं, क्योंकि यहां की वायु बड़ी शांत-मंद होती है। इसलिए बच्चे के बड़े होने तक मां-बाप को उसके ऊपर कुल मिलाकर बीस दिरहम से ज्यादा नहीं ख़र्च करने पड़ते। यही वह मुख्य कारण है, जिसके फलस्वरूप मिस्र की आबादी इतनी ज्यादा है और इसीलिए वहां निर्माण के इतने बड़े-बड़े कार्य किये जा सकते हैं।"[3] फिर भी प्राचीन मिस्र के विशाल निर्माण-कार्यों का मुख्य कारण उसकी बड़ी आबादी नहीं, बल्कि यह है कि इस आबादी का एक बड़ा हिस्सा किसी भी काम में लगाये

---

[2] "अमरीका के आदिवासियों में लगभग हर चीज मजदूर की होती है; सौ में से ९९ हिस्से मजदूर के हिसाब में जाते हैं। इंगलैंड में शायद $\frac{२}{३}$ भी मजदूर के हिस्से में नहीं पड़ता।" (*The Advantages of the East-India Trade etc.*, pp. 72, 73.)

[3] Diodorus, l.c., l. I, c. 80.

जाने के लिए आसानी से उपलब्ध था। जिस तरह किसी एक मज़दूर को जितना कम आवश्यक श्रम करना पड़ता है, वह उतना ही अधिक बेशी श्रम कर सकता है, उसी प्रकार किसी भी देश की काम करनेवाली आबादी को भी जितना कम आवश्यक श्रम करना पड़ता है, वह उतना ही अधिक बेशी श्रम कर सकती है। जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के उत्पादन के लिए देश की आबादी के जितने ही छोटे भाग की ज़रूरत होती है, उसके उतने ही बड़े भाग को और कामों में लगाया जा सकता है।

इसलिए हम जब एक बार पूंजीवादी उत्पादन का अस्तित्व मान लेते हैं और अगर काम के दिन की लंबाई पहले से मालूम हो तथा अन्य सब बातें ज्यों की त्यों रहें, तो बेशी श्रम की मात्रा श्रम की भौतिक परिस्थितियों के साथ-साथ और ख़ास तौर पर भूमि की उर्वरता के साथ-साथ घटती-बढ़ती जायेगी। लेकिन इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि सबसे अधिक उपजाऊ भूमि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के विकास के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होती है। यह प्रणाली तो प्रकृति पर मनुष्य के आधिपत्य पर आधारित है। जहां प्रकृति बहुत मुक्तहस्त होती है, वहां तो वह "मनुष्य को सदा हाथ पकड़कर चलाती है, जैसे बच्चे को चलाया जाता है।" वहां मनुष्य को अपना विकास करने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।[4] पूंजी की मातृभूमि उष्ण कटिबंध नहीं, जहां वनस्पति का बाहुल्य होता है, बल्कि समशीतोष्ण कटिबंध है। सामाजिक श्रम-विभाजन का भौतिक आधार केवल भूमि की उर्वरता से नहीं, बल्कि भूमि की विभिन्नता, प्राकृतिक पैदावार की विविधता और मौसमों की अदला-बदली से तैयार होता है। और ये ही चीज़ें प्राकृतिक वातावरण में परिवर्तन पैदा करके आदमी को अपनी आवश्यकताओं, अपनी क्षमताओं और श्रम करने के अपने साधनों और प्रणालियों को बढ़ाने के लिए प्रेरित करती रहती हैं। किसी प्राकृतिक शक्ति को मनुष्य के हाथों के द्वारा समाज के नियंत्रण में लाने, उसका मितव्ययिता के साथ उपयोग करने, उसको हस्तगत करने या उसको बड़े पैमाने पर अपने अधीन बनाने की आवश्यकता ही उद्योग के इतिहास में पहले-पहल निर्णायक भूमिका अदा करती है। इसके उदाहरण हैं मिस्र,[5] लोंबार्डी और हालैंड की सिंचाई की व्यवस्थाएं या

---

[4] "इनमें से पहला तत्त्व (अर्थात् प्राकृतिक संपदा) जितना अधिक श्रेष्ठ और हितकारी होता है, वह लोगों को उतना ही अधिक लापरवाह और घमंडी बना देता है और उनमें ज्यादती करने की प्रवृत्ति पैदा कर देता है, जब कि दूसरा तत्त्व सतर्कता, साहित्य, कलाओं और नीति को जन्म देता है।" (*England's Treasure by Foreign Trade. Or the Balance of our Foreign Trade is the Rule of our Treasure. Written by Thomas Mun of London, Merchant, and now published for the common good by his son John Mun*, London, 1669, pp. 181, 182.) "किसी भी क़ौम के लिए मैं इससे बड़े और किसी अभिशाप की कल्पना नहीं कर सकता कि वह पृथ्वी के किसी ऐसे कोने में फेंक दी जाये, जहां भरण-पोषण और भोजन की वस्तुओं का उत्पादन ज़्यादा हद तक स्वयंस्फूर्त ढंग से होता हो और जहां का जलवायु ऐसा हो कि कपड़े पहनने और ओढ़ने की न तो आवश्यकता हो और न उनके बारे में कोई ख़ास चिंता ही जरूरी हो... दूसरी दिशा में भी ज्यादती हो सकती है। जो धरती बहुत श्रम करने पर भी कुछ नहीं पैदा करती, वह भी बिना किसी श्रम के बहुत कुछ पैदा करनेवाली धरती के समान ही ख़राब होती है।" ([N. Forster,] *An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions*, London, 1767, p. 10.)

[5] नील नदी में पानी कब चढ़ेगा और कब उतरेगा, इसकी भविष्यवाणी करने की आवश्यकता से मिस्री ज्योतिष का जन्म हुआ, और उसके साथ-साथ वहां खेती के संचालकों के रूप में

हिंदुस्तान और फ़ारस, जहां इनसान की बनायी हुई नहरों के द्वारा सिंचाई की ऐसी व्यवस्था की गयी है कि न केवल भूमि को उसके लिए नितांत आवश्यक पानी मिल जाता है, बल्कि पहाड़ों से लायी हुई गाद के रूप में उसको खनिज खाद भी प्राप्त हो जाती है। अरबों के राज्य में स्पेन और सिसिली में यदि उद्योग इतना फल-फूल रहा था, तो इसका रहस्य अरबों की सिंचाई की व्यवस्था में निहित था।[6]

केवल उपयुक्त प्राकृतिक परिस्थितियों से बेशी श्रम और इसलिए बेशी मूल्य तथा बेशी पैदावार की संभावना भर पैदा होती थी, उनसे इनकी वास्तविकता कभी अस्तित्व में नहीं आती थी। श्रम की प्राकृतिक परिस्थितियों में जो अंतर होता है, उसका यह परिणाम होता है कि श्रम की एक ही मात्रा अलग-अलग देशों में अलग-अलग परिमाण में मानव-आवश्यकताओं को पूरा करती है,[7] और चुनांचे अन्य बातों के समान रहते हुए आवश्यक श्रम-काल की मात्रा हर स्थान में अलग होती है। ये परिस्थितियां बेशी श्रम पर केवल प्राकृतिक सीमाओं के रूप में प्रभाव डालती हैं, अर्थात वे उन बिंदुओं को निर्धारित कर देती हैं, जहां से दूसरों के लिए किया जानेवाला श्रम आरंभ हो सकता है। उद्योग जितनी प्रगति करता जाता है, ये प्राकृतिक सीमाएं उतनी ही पीछे हटती जाती हैं। पश्चिमी यूरोप के हमारे समाज में मज़दूर ख़ुद अपनी जीविका के लिए काम करने का अधिकार केवल बेशी श्रम के रूप में उसकी क़ीमत चुकाकर ही ख़रीदता है, और इसलिए यहां यह विचार बड़ी आसानी से जड़ जमा लेता है कि बेशी पैदावार

पुरोहितों का आधिपत्य क़ायम हो गया। "अयनांत वह समय होता है, जब नील नदी में पानी चढ़ना शुरू होता है, और मिस्रवासी इस क्षण की सबसे अधिक व्यग्रता से बाट जोहते थे... अपनी खेती की क्रियाओं का नियमन करने के लिए उन्हें इस समय को जानना ज़रूरी था। उसके फिर लौटने के स्पष्ट संकेत उनको आकाश में खोजने पड़े।" (Cuvier, *Discours sur les révolutions du globe*, éd. Hoefer, Paris, 1863, p. 141.)

[6] हिंदुस्तान के छोटे-छोटे, असंबद्ध उत्पादक संघटनों के ऊपर राज्य की सत्ता का एक भौतिक आधार सिंचाई की जल-पूर्ति का नियमन था। हिंदुस्तान के मुसलमान शासक इस बात को अपने अंग्रेज उत्तराधिकारियों की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह समझते थे। इस सिलसिले में १८६६ के अकाल को याद कर लेना काफ़ी है, जिसमें बंगाल प्रेसीडेंसी के उड़ीसा डिस्ट्रिक्ट में दस लाख से ज्यादा हिंदुओं की जान चली गयी थी।

[7] "दुनिया में कोई ऐसे दो देश नहीं हैं, जो जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की एक समान संख्या को समान बहुतायत के साथ मुहैया करते हों और जो इस काम में श्रम की समान मात्रा खर्च करते हों। मनुष्य जिस जलवायु में रहते हैं, उसकी कठोरता या नरमी के साथ उनकी आवश्यकताएं भी बढ़ या घट जाती हैं। चुनांचे अलग-अलग देशों के निवासियों को आवश्यकता से विवश होकर जितना उद्यम करना पड़ता है, उसका अनुपात हर देश में एक सा नहीं हो सकता, और हर देश के अनुपात में औरों से कितना अंतर रहता है, इसका गरमी या ठंड की मात्रा को देखकर जिस हद तक पता लगाया जा सकता है, उससे ज्यादा सही तौर पर पता लगाने का कोई व्यावहारिक तरीक़ा नहीं है। और इससे यह सामान्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लोगों की एक निश्चित संख्या के लिए ठंडे जलवायु के देशों में सबसे अधिक और गरम जलवायु के देशों में सबसे कम मात्रा में श्रम की आवश्यकता होती है। कारण कि ठंडे जलवायु के देशों में न केवल मनुष्यों को ज्यादा कपड़ों की, बल्कि धरती को भी ज्यादा जुताई-बुवाई की ज़रूरत पड़ती है।" (*An Essay on the Governing Causes of the Natural Rate of Interest*, London, 1750, p. 59.) इस युगांतरकारी गुमनाम रचना के लेखक जे० मैस्सी हैं। ह्यूम ने अपना सूद का सिद्धांत इसी पुस्तक से लिया है।

पैदा करना मानव-श्रम का एक स्वाभाविक गुण है।[8] मगर, मिसाल के लिए, एशियाई द्वीप-समूह के पूर्वी द्वीपों के किसी निवासी को ले लीजिये, जहां साबूदाना जंगलों में ख़ुद ब ख़ुद पैदा होता है। "यहां के निवासी पहले पेड़ में सूराख़ करके यह निश्चित कर लेते हैं कि गूदा पक गया है या नहीं। फिर वे तने को काट डालते हैं और उसके कई टुकड़े बना लेते हैं। गूदा निकाला जाता है, पानी में मिलाया और छाना जाता है। तब वह साबूदाने के रूप में इस्तेमाल में आने के लिए एकदम तैयार हो जाता है। एक पेड़ से आम तौर पर ३०० पाउंड साबूदाना तैयार होता है, कभी-कभी ५०० से ६०० पाउंड तक निकल आता है। सो हमारे यहां लोग जिस तरह जंगलों में जाकर जलाने की लकड़ी काट लाते हैं उसी तरह वहां के लोग जंगलों से अपने लिए रोटी काट लाते हैं।"[9] अब मान लीजिये कि पूर्वी द्वीप-समूह के रोटी काटकर लानेवाले इस मनुष्य को अपनी समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रति सप्ताह १२ घंटे काम करना पड़ता है। उसके लिए प्रकृति की प्रत्यक्ष देन अवकाश का बाहुल्य है। पर इस अवकाश का ख़ुद अपने वास्ते भी वह केवल उसी वक़्त उत्पादक ढंग से उपयोग कर सकता है, जब ऐतिहासिक घटनाओं का एक पूरा क्रम पहले ही गुज़र गया हो, और किन्हीं दूसरे आदमियों के लिए वह यह अवकाश तभी ख़र्च करेगा, जब उसके साथ ज़बर्दस्ती की जायेगी। यदि पूंजीवादी उत्पादन चालू कर दिया जाये, तो इस भले आदमी को एक दिन के काम की पैदावार अपने वास्ते पाने के लिए हफ़्ते में शायद ६ दिन काम करना पड़ेगा। प्रकृति की उदारता इसका कोई कारण नहीं बता सकती कि तब इस आदमी को हफ़्ते में ६ दिन क्यों काम करना पड़ेगा या ५ दिन का बेशी श्रम क्यों किसी दूसरे को सौंप देना पड़ेगा। प्रकृति की उदारता तो केवल इतना ही स्पष्ट करती है कि क्यों उसका आवश्यक श्रम-काल सप्ताह में केवल एक दिन तक ही सीमित रहता है। परंतु किसी भी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी बेशी पैदावार मानव-श्रम में निहित किसी गुप्त गुण से उत्पन्न हुई है।

इस तरह न केवल ऐतिहासिक ढंग से विकसित श्रम की सामाजिक उत्पादिता, बल्कि उसकी स्वाभाविक उत्पादिता भी उस पूंजी की उत्पादिता प्रतीत होती है, जिसमें उस श्रम का समावेश हो गया है।

रिकार्डो को इसकी चिंता कभी नहीं हुई कि बेशी मूल्य का उद्भव-स्रोत क्या है। वह तो उसे एक ऐसी चीज़ समझते हैं, जो उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली में निहित है, और उनकी दृष्टि में पूंजीवादी प्रणाली सामाजिक उत्पादन की स्वाभाविक प्रणाली है। वह जब कभी श्रम की उत्पादिता की चर्चा करते हैं, तो उसमें बेशी मूल्य के कारण की नहीं, बल्कि उस मूल्य का परिमाण निर्धारित करनेवाले कारण की खोज करते हैं। दूसरी ओर, रिकार्डो के अनुयायियों ने खुलेआम यह घोषणा कर दी है कि मुनाफ़े का (यहां पढ़िये: बेशी मूल्य का) मूल कारण श्रम की उत्पादिता है। यह उन वाणिज्यवादियों के मुक़ाबले में तो हर हालत में एक प्रगतिशील विचार है, जो यह समझते थे कि पैदावार की लागत और पैदावार के दाम का अंतर विनिमय-कार्य के दौरान पैदा होता है और उसका कारण यह है कि पैदावार की बिक्री के समय ख़रीदार

---

[8] प्रूदों ने कहा है: "श्रम को हमेशा कुछ न कुछ फ़ालतू पैदावार तैयार करनी चाहिए।" (लगता है, जैसे यह भी नागरिक के अधिकारों तथा कर्तव्यों में शामिल है)।

[9] F. Schouw, *Die Erde, die Pflanzen und der Mensch*, 2 Aufl., Leipzig, 1854. S. 148.

से उसके मूल्य से अधिक दाम वसूल कर लिया जाता है। खैर रिकार्डो के अनुयायी भी समस्या से कन्नी काट गये थे, उन्होंने उसे हल नहीं किया था। सच पूछिये, तो ये बुर्जुआ अर्थशास्त्री सहज ही यह समझ गये थे – और उनका यह समझना सही भी था – कि बेशी मूल्य की उत्पत्ति के विकट प्रश्न को ज्यादा कुरेदना बहुत खतरनाक है। लेकिन हम जॉन स्टुअर्ट मिल के बारे में क्या कहें, जो रिकार्डो की मृत्यु के आधी शताब्दी बाद वाणिज्यवादियों से श्रेष्ठ होने का दावा तो करते हैं, पर वैसे भद्दे ढंग से केवल उन लोगों की गोलमोल बातों को ही दुहराते हैं, जिन्होंने सबसे पहले रिकार्डो के सिद्धांतों को अति सरल रूप में पेश करने की कोशिश में उनको विकृत करके पेश किया था?

मिल ने लिखा है: "मुनाफ़े का कारण यह है कि श्रम के भरण-पोषण के लिए जितना जरूरी है, वह उससे अधिक पैदा कर देता है।" यहां तक तो वही पुराना राग है, पर मिल अपनी तरफ़ से भी कुछ जोड़ना चाहते हैं, सो वह आगे कहते हैं: "प्रमेय का रूप बदलकर हम यह कह सकते हैं कि पूंजी के मुनाफ़ा देने का कारण यह है कि भोजन, कपड़ा, सामान और औज़ारों को तैयार करने में जितना समय लगता है, ये सब चीजें उससे ज्यादा समय तक काम में आती रहती हैं।" यहां मिल ने श्रम-काल की अवधि को उसकी पैदावार के इस्तेमाल की अवधि के साथ गड़बड़ा दिया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार अगर एक रोटी पकानेवाले की पैदावार केवल एक दिन चलती है, तो वह अपने मजदूरों से मशीन बनानेवाले के बराबर मुनाफ़ा कभी हासिल नहीं कर सकता, जिसकी पैदावार २० वर्ष तक या उससे भी ज्यादा चल जाती है। जाहिर है, इतनी बात तो सच है ही कि पक्षियों को घोंसला बनाने में जितना समय लग जाता है, अगर घोंसला उतने से अधिक समय न टिक पाये, तो परिंदे घोंसले बनाना बंद कर दें।

इस मौलिक सत्य की एक बार स्थापना हो जाने के बाद मिल वाणिज्यवादियों पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करते हैं। वह लिखते हैं: "इस प्रकार हम देखते हैं कि मुनाफ़ा विनिमय की घटना से नहीं, बल्कि श्रम की उत्पादक शक्ति से उत्पन्न होता है; और किसी भी देश का सामान्य मुनाफ़ा, वहां विनिमय होता हो या नहीं, सदा श्रम की उत्पादक शक्ति से निर्धारित होता है। यदि धंधों का विभाजन न हो, तो ख़रीदना-बेचना भी नहीं होगा, मगर मुनाफ़ा फिर भी होगा।" इसलिए मिल की दृष्टि में विनिमय, ख़रीदना और बेचना – पूंजीवादी उत्पादन की ये सामान्य परिस्थितियां – एक संयोग मात्र हैं, और श्रम-शक्ति का क्रय-विक्रय न होने पर भी मुनाफ़ा जरूर होगा!

वह आगे लिखते हैं: "यदि देश के मजदूर मिलकर अपनी मजदूरी से बीस प्रतिशत ज्यादा पैदा करते हैं, तो चीज़ों के दाम कितने भी हों, मुनाफ़ा बीस प्रतिशत होगा।" यह एक ओर तो एक असाधारण ढंग की पुनरुक्ति है, क्योंकि अगर मजदूर पूंजीपति के लिए २० प्रतिशत बेशी मूल्य पैदा कर देते हैं, तो जाहिर है कि मजदूरों की कुल मजदूरी के साथ उसके मुनाफ़े का २०:१०० का अनुपात होगा। दूसरी ओर, यह कहना बिल्कुल ग़लत है कि "मुनाफ़ा बीस प्रतिशत होगा"। मुनाफ़ा इससे हमेशा कम होगा, क्योंकि वह लगायी गयी पूंजी के कुल जोड़ पर निकाला जायेगा। मिसाल के लिए, अगर पूंजीपति ने ५०० पाउंड की पूंजी लगायी है, जिसमें से ४०० पाउंड उत्पादन के साधनों पर ख़र्च हुए हैं और १०० पाउंड मजदूरी पर और यदि बेशी मूल्य की दर २० प्रतिशत है, तो मुनाफ़े की दर २०:५००, अर्थात् ४ प्रतिशत होगी, न कि २० प्रतिशत।

इसके बाद हमें इसकी एक बड़ी बढ़िया मिसाल देखने को मिलती है कि मिल सामाजिक

उत्पादन के विभिन्न ऐतिहासिक रूपों के साथ कैसे पेश आते हैं। वह लिखते हैं: "मैं बराबर वह परिस्थिति मानकर चल रहा हूं, जो कुछ अपवादों को छोड़कर सारे संसार में पायी जाती है, जहां मज़दूरों और पूंजीपतियों के दो अलग-अलग वर्ग होते हैं। यानी मैं बराबर यह मानकर चल रहा हूं कि मय मज़दूर की उजरत के सारा ख़र्चा पूंजीपति करता है।" यह भी एक अजीब ढंग का दृष्टि-भ्रम है कि मिल को सारे संसार में वह स्थिति दिखायी देती है, जो अभी तक हमारी धरती के सिर्फ़ चंद स्थानों पर ही पायी जाती है। बहरहाल हम अपनी बात पूरी करें। मिल यह मानने को तैयार हैं कि "उसका ऐसा करना किसी नैसर्गिक आवश्यकता के कारण ज़रूरी नहीं है।"* इसके विपरीत: "मज़दूर चाहे, तो अपनी मज़दूरी के उस सारे भाग के लिए, जो महज़ जीवन की आवश्यकताओं से अधिक होता है, उत्पादन पूरा होने तक ठहर सकता है। और यदि अस्थायी रूप से अपने भरण-पोषण के लिए काफ़ी पैसा उसके हाथ में हो तो वह पूरी मज़दूरी के लिए भी ठहर सकता है। लेकिन ऐसी स्थिति में मज़दूर व्यवसाय को चलाने के लिए आवश्यक पैसे का एक भाग अपने पास से देकर असल में इस हद तक ख़ुद पूंजीपति की भूमिका अदा करने लगता है।" थोड़ा और आगे बढ़कर मिल यह भी कह सकते थे कि जो मज़दूर न केवल अपनी जीवन की आवश्यकताओं को ख़ुद पूरा कर लेता है, बल्कि उत्पादन के साधन भी मुहैया करता है, वह असल में ख़ुद अपना मज़दूर होता है। और तब वह यह भी कह सकते थे कि अमरीका का ख़ुदकाश्त किसान महज़ भूदास होता है, जो सामंत के बजाय ख़ुद अपने लिए बेगार करता है।

इस प्रकार साफ़-साफ़ यह साबित करने के बाद कि अगर पूंजीवादी उत्पादन का अस्तित्व न भी हो, तो भी वह हमेशा रहेगा, मिल बड़ी सुसंगतता का परिचय देते हुए इसके विपरीत यह भी प्रमाणित कर देते हैं कि जब पूंजीवादी उत्पादन होता भी है, तब भी उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। "और पहली स्थिति में भी" (जहां पूंजीपति मज़दूर को जीवन के लिए आवश्यक सभी वस्तुएं देता है) "उसको" (मज़दूर को) "उसी रोशनी में देखा जा सकता है", अर्थात् उसको भी पूंजीपति समझा जा सकता है, "क्योंकि वह अपना श्रम बाज़ार-भाव से कम क़ीमत पर दे देता है (!) और इसलिए यह समझा जा सकता है कि उसके श्रम के बाज़ार-भाव तथा उसकी मज़दूरी में जो अंतर होता है, वह रक़म (?) मज़दूर अपने मालिक को उधार दे देता है, जिसका उसे सूद मिल जाता है, इत्यादि"।[9a] वास्तव में मज़दूर एक हफ़्ते, आदि तक अपना श्रम पूंजीपति को मुफ़्त में पेशगी देता रहता है, और हफ़्ते, आदि के अंत में उसे बाज़ार-भाव के अनुसार उसके दाम मिल जाते हैं। और यह चीज़ है, जो मिल के कथनानुसार मज़दूर को पूंजीपति में बदल देती है! समतल मैदान में साधारण टीले भी पहाड़ियों जैसे मालूम होते हैं; और आजकल के क्षीण-बुद्धि बुर्जुआ वर्ग की दिमाग़ी समतलता उसके महान दिमाग़ों की ऊंचाई से नापी जा सकती है।

---

*२८ नवंबर १८७८ के अपने पत्र में मार्क्स ने एन० एफ़० डेनियलसन (निकोलाई-ओन) को जो सुझाव दिया था, उसके आधार पर इस पैरे का "यह भी एक अजीब ढंग का दृष्टि-भ्रम" से लेकर "किसी नैसर्गिक आवश्यकता के कारण ज़रूरी नहीं है" तक का अंश इस तरह होना चाहिए: "मि० मिल यह मानने को तैयार हैं कि एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था में भी, जहां मज़दूरों और पूंजीपतियों के दो अलग-अलग वर्ग हैं, उसका ऐसा होना सर्वथा ज़रूरी नहीं है।" – रूसी संस्करण में मार्क्सवाद-लेनिनवाद इंस्टीट्यूट का नोट।

[9a] J. St. Mill, *Principles of Political Economy*, London, 1868, pp. 252-253 passim.

अध्याय १७

श्रम-शक्ति के दाम में और बेशी मूल्य में होनेवाले परिमाणात्मक परिवर्तन

श्रम-शक्ति का मूल्य जीवन के लिए आवश्यक उन वस्तुओं के मूल्य से निर्धारित होता है, जिनकी औसत ढंग के मजदूर को आदतन ज़रूरत होती है। किसी भी ख़ास समाज के एक ख़ास युग में इन आवश्यक वस्तुओं की मात्रा पहले से मालूम रहती है, और इसलिए उसे हम एक स्थिर मात्रा मान सकते हैं। परिवर्तन इस मात्रा के मूल्य में होता है। इसके अलावा दो चीज़ें और हैं, जो श्रम-शक्ति का मूल्य निर्धारित करने में भाग लेती हैं। उनमें से एक है श्रम-शक्ति का विकास करने का ख़र्च, जो उत्पादन की प्रणाली के साथ बदलता रहता है। दूसरी चीज़ है श्रम-शक्ति की प्राकृतिक विविधरूपता, अर्थात् पुरुषों और स्त्रियों, बच्चों और वयस्कों के श्रम में पाया जानेवाला भेद। उत्पादन की प्रणाली यह ज़रूरी बना देती है कि विभिन्न प्रकार की श्रम-शक्तियों से काम लिया जाये, और अलग-अलग तरह की श्रम-शक्तियों से काम लेने पर मज़दूर के परिवार के भरण-पोषण के ख़र्चे में और वयस्क पुरुष की श्रम-शक्ति के मूल्य में बहुत अंतर पड़ जाता है। लेकिन नीचे जो विश्लेषण किया गया है, उसमें इन दोनों चीज़ों को अलग रखकर समस्या की छानबीन की गयी है।[9B]

मैं यह मानकर चलता हूं कि १) पण्य अपने मूल्य पर बिकते हैं और २) श्रम-शक्ति का दाम कभी-कभार उसके मूल्य के ऊपर तो उठ जाता है, पर उसके नीचे कभी नहीं गिरता।

इन दो बातों को मान लेने के बाद हम देख चुके हैं कि बेशी मूल्य और श्रम-शक्ति के दाम के सापेक्ष परिमाण तीन बातों से निर्धारित होते हैं: १) काम के दिन की लंबाई, या श्रम के विस्तार का परिमाण; २) श्रम की सामान्य तीव्रता, या उसकी तीव्रता का परिमाण, जिसके फलस्वरूप एक निश्चित समय में श्रम की एक निश्चित मात्रा ख़र्च हो जाती है, और ३) श्रम की उत्पादिता, जिसके फलस्वरूप श्रम की एक निश्चित मात्रा एक निश्चित समय में पैदावार की कम या अधिक मात्रा पैदा कर सकती है, जो इसपर निर्भर करता है कि उत्पादन की परिस्थितियों का कितना विकास हो गया है। इन तीनों तत्त्वों में से एक तत्त्व स्थिर है और बाक़ी दो तत्त्व बदलते रहते हैं, या दो तत्त्व स्थिर हैं और एक बदलता रहता है, या तीनों एक साथ बदलते रहते हैं – इसके अनुसार, ज़ाहिर है, तीनों तत्त्वों के बहुत भिन्न प्रकार के योग हो सकते हैं। और इस बात से इन योगों की संख्या और भी बढ़ जाती है कि जब ये तीनों तत्त्व एक साथ बदलते हैं, तब मुमकिन है कि उनके परिवर्तन की मात्रा और दिशा भिन्न-भिन्न हों। नीचे हमने इनमें से केवल महत्त्वपूर्ण योगों पर विचार किया है।

[9B] **तीसरे जर्मन संस्करण में पाद-टिप्पणी:** पृ० ३४१-३४२ पर जिस उदाहरण पर विचार किया गया था, उसको, ज़ाहिर है, यहां छोड़ दिया गया है। – फ़्रे० एं०।

१. काम के दिन की लंबाई और श्रम की तीव्रता स्थिर रहती हैं, श्रम की उत्पादिता बदलती जाती है

जब हम यह मानकर चलते हैं, तब श्रम-शक्ति का मूल्य और बेशी मूल्य का परिमाण तीन नियमों से निर्धारित होते हैं:

१) श्रम की उत्पादिता और उसके साथ-साथ उत्पाद की राशि और प्रत्येक अलग-अलग पण्य के दाम में चाहे जितने परिवर्तन होते रहें, एक ख़ास लंबाई का काम का दिन मूल्य की हमेशा एक ही मात्रा पैदा करता है।

मान लीजिये कि १२ घंटे के काम के दिन में छः शिलिंग का मूल्य पैदा होता है, तो हालांकि उत्पाद की राशि तो श्रम की उत्पादिता के साथ घटती-बढ़ती रहेगी, मगर उसका केवल यही नतीजा होगा कि छः शिलिंग जिस मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, वह वस्तुओं की कम या अधिक संख्या पर फैल जायेगा।

२) बेशी मूल्य और श्रम-शक्ति का मूल्य उल्टी दिशाओं में घटते-बढ़ते हैं। श्रम की उत्पादिता में जो परिवर्तन आता है, जो घट-बढ़ होती है, वह श्रम-शक्ति के मूल्य को उल्टी दिशा में और बेशी मूल्य को उसी दिशा में बदल देती है।

मान लीजिये कि १२ घंटे के काम के दिन में छः शिलिंग का मूल्य पैदा होता है। यह एक स्थिर मात्रा है, जो बेशी मूल्य और श्रम-शक्ति के मूल्य का जोड़ होती है, जिनमें से श्रम-शक्ति के मूल्य का स्थान मजदूर एक समतुल्य के द्वारा भर देता है। यह बात स्वतःस्पष्ट है कि जब कोई स्थिर मात्रा दो हिस्सों के जुडने से तैयार होती है, तब उनमें से कोई हिस्सा उस वक़्त तक नहीं बढ़ सकता, जब तक कि दूसरा हिस्सा उतना ही घट न जाये। मान लीजिये, शुरू में दोनों हिस्से बराबर हैं: श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग है और बेशी मूल्य भी ३ शिलिंग है। अब श्रम-शक्ति का मूल्य उस वक़्त तक तीन शिलिंग से बढ़कर चार शिलिंग नहीं हो सकता, जब तक कि उसके साथ-साथ बेशी मूल्य तीन शिलिंग से घटकर दो शिलिंग का नहीं रह जाता। और बेशी मूल्य तीन शिलिंग से बढ़कर चार शिलिंग उस वक़्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके साथ-साथ श्रम-शक्ति का मूल्य तीन शिलिंग से घटकर दो शिलिंग नहीं रह जाता। इसलिए इन परिस्थितियों में बेशी मूल्य के या श्रम-शक्ति के मूल्य के निरपेक्ष परिमाण में उस वक़्त तक कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, जब तक कि उसके साथ-साथ उनके सापेक्ष परिमाणों में भी, यानी एक दूसरे की तुलना में भी उनके परिमाणों में, परिवर्तन नहीं हो जाता। वे दोनों एक साथ न तो घट सकते हैं और न बढ़ सकते हैं।

इसके अलावा श्रम-शक्ति का मूल्य उस वक़्त तक गिर नहीं सकता और चुनांचे बेशी मूल्य उस वक़्त तक बढ़ नहीं सकता, जब तक कि श्रम की उत्पादिता नहीं बढ़ जाती। ऊपर जो मिसाल हमने ली थी, उसमें श्रम-शक्ति का मूल्य तीन शिलिंग से गिरकर दो शिलिंग उस वक़्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि श्रम की उत्पादिता में इतनी वृद्धि न हो जाये कि ४ घंटे में ही जीवन के लिए आवश्यक उतनी वस्तुएं तैयार होने लगें, जितनी पहले ६ घंटे में तैयार होती थीं। दूसरी ओर, श्रम-शक्ति का मूल्य तीन शिलिंग से बढ़कर चार शिलिंग उस वक़्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि श्रम की उत्पादिता में इतनी कमी नहीं आ जाती, जिससे पहले छः घंटे में जीवन के लिए आवश्यक जितनी वस्तुएं तैयार हो जाया करती थीं, उनको तैयार करने में आठ घंटे लगने लगें। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब श्रम की उत्पादिता

में वृद्धि होती है, तब श्रम-शक्ति के मूल्य में गिराव आ जाता है और उसके फलस्वरूप बेशी मूल्य बढ़ जाता है; और दूसरी ओर, जब श्रम की उत्पादिता कम हो जाती है, तब श्रम-शक्ति का मूल्य बढ़ जाता है और बेशी मूल्य में गिराव आ जाता है।

इस नियम की स्थापना करते हुए रिकार्डो एक बात को भूल गये थे। वह यह कि यद्यपि बेशी मूल्य अथवा बेशी श्रम के परिमाण में परिवर्तन होने से श्रम-शक्ति के मूल्य के परिमाण में अथवा आवश्यक श्रम की मात्रा में उल्टी दिशा में परिवर्तन हो जाता है, परंतु इससे यह निष्कर्ष हरगिज़ नहीं निकलता कि दोनों परिवर्तन एक ही अनुपात में होते हैं। उनमें एक ही मात्रा में घटा-बढ़ी होती है। परंतु उनकी आनुपातिक वृद्धि या कमी इस बात पर निर्भर करती है कि श्रम की उत्पादिता में परिवर्तन होने के पहले उनके मूल परिमाण क्या थे। यदि श्रम-शक्ति का मूल्य ४ शिलिंग हो अथवा आवश्यक श्रम-काल ८ घंटे का हो और बेशी मूल्य २ शिलिंग हो अथवा बेशी श्रम ४ घंटे का हो, और अगर श्रम की उत्पादिता में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप श्रम-शक्ति का मूल्य गिरकर ३ शिलिंग रह जाये या आवश्यक श्रम घटकर ६ घंटे का हो जाये, तो बेशी मूल्य बढ़कर ३ शिलिंग का हो जायेगा, या यूं कहिये कि बेशी श्रम बढ़कर ६ घंटे का हो जायेगा। परिवर्तन की मात्रा एक ही है। एक में १ शिलिंग या २ घंटे की वृद्धि हो जाती है, दूसरे में उतनी ही कमी आ जाती है। पर हर अवस्था में परिमाण का आनुपातिक परिवर्तन भिन्न है। जहां श्रम-शक्ति का मूल्य ४ शिलिंग से गिरकर ३ शिलिंग हो जाता है, यानी उसमें जहां $\frac{१}{४}$ या २५ प्रतिशत की कमी आती है, वहां बेशी मूल्य २ शिलिंग से बढ़कर ३ शिलिंग हो जाता है, यानी उसमें $\frac{१}{२}$ या ५० प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रम की उत्पादिता में परिवर्तन होने पर बेशी मूल्य में जो आनुपातिक वृद्धि या कमी आती है, वह इस बात पर निर्भर करती है कि शुरू में काम के दिन का वह हिस्सा कितना बड़ा था, जिसने बेशी मूल्य में मूर्त रूप धारण किया है। यह हिस्सा जितना छोटा होता है, आनुपातिक परिवर्तन उतना ही बड़ा होता है; यह हिस्सा जितना बड़ा होता है, आनुपातिक परिवर्तन उतना ही छोटा होता है।

३) बेशी मूल्य में जो वृद्धि या कमी आती है, वह सदा श्रम-शक्ति के मूल्य की तदनुरूप कमी या वृद्धि का परिणाम ही होती है, उसका कारण कभी नहीं होती।[10]

काम का दिन चूंकि परिमाण में स्थिर है और उसका प्रतिनिधित्व स्थिर मात्रा का एक मूल्य

---

[10] इस तीसरे नियम में अन्य बातों के अलावा मैककुलोच ने यह बेतुकी बात भी जोड़ दी है कि पूंजीपति को जो कर देने होते हैं, यदि उनको मंसूख़ कर दिया जाये, तो श्रम-शक्ति के मूल्य में किसी गिराव के बिना भी बेशी मूल्य में वृद्धि हो सकती है। इस प्रकार के करों को मंसूख़ कर देने से उस बेशी मूल्य की मात्रा में कोई भी परिवर्तन नहीं आता, जिसे पूंजीपति मज़दूर से सीधे निचोड़ लेता है। उससे तो केवल वह अनुपात बदलता है, जिसके अनुसार इस बेशी मूल्य का पूंजीपति और अन्य व्यक्तियों के बीच बंटवारा होता है। फलतः इससे बेशी मूल्य और श्रम-शक्ति के मूल्य के संबंध में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिए मैककुलोच ने जो अपवाद बताया है, उससे केवल यही प्रमाणित होता है कि उन्होंने नियम को ग़लत समझा है। रिकार्डो को अति सरल रूप में पेश करने की कोशिश में मैककुलोच पर अकसर यह मुसीबत नाज़िल होती है, ठीक इसी प्रकार ऐडम स्मिथ को अति सरल रूप में पेश करने की कोशिश में जे० बी० सेय अकसर ऐडम स्मिथ के सिद्धांतों का ग़लत मतलब लगा बैठते हैं।

करता है, चूंकि बेशी मूल्य के परिमाण में होनेवाले प्रत्येक परिवर्तन के साथ श्रम-शक्ति के मूल्य में उल्टी दिशा में परिवर्तन हो जाता है, और चूंकि श्रम-शक्ति के मूल्य में केवल श्रम की उत्पादिता में परिवर्तन आने के फलस्वरूप ही कोई तब्दीली हो सकती है, अन्यथा नहीं, इसलिए इन सब बातों से साफ़-साफ़ यह निष्कर्ष निकलता है कि ऐसी हालत में बेशी मूल्य के परिमाण में होनेवाला प्रत्येक परिवर्तन श्रम-शक्ति के मूल्य के परिमाण में होनेवाले उल्टी दिशा के परिवर्तन से उत्पन्न होता है। तब, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, यदि श्रम-शक्ति के मूल्य में और बेशी मूल्य में निरपेक्ष परिमाण का कोई परिवर्तन उस वक़्त तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके साथ-साथ उनके सापेक्ष परिमाणों में भी परिवर्तन नहीं हो जाता, तो इससे अब यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके सापेक्ष परिमाणों में उस वक़्त तक कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, जब तक कि उसके पहले श्रम-शक्ति के निरपेक्ष परिमाण में तब्दीली नहीं हो जाती।

तीसरे नियम के अनुसार बेशी मूल्य के परिमाण में परिवर्तन होने के पहले यह ज़रूरी है कि श्रम-शक्ति के मूल्य में कुछ घटा-बढ़ी हो, जो घटा-बढ़ी श्रम की उत्पादिता में तब्दीली आने के कारण होती है। बेशी मूल्य के परिमाण में परिवर्तन की सीमा श्रम-शक्ति का बदला हुआ मूल्य तय करता है। परंतु इसके बावजूद उस समय भी, जब परिस्थितियां इस नियम को अमल में आने की इजाज़त देती हैं, कुछ गौण घटा-बढ़ी हो सकती है। मिसाल के लिए, यदि श्रम की उत्पादिता के बढ़ जाने के फलस्वरूप श्रम-शक्ति का मूल्य ४ शिलिंग से गिरकर ३ शिलिंग हो जाता है, या आवश्यक श्रम-काल ८ घंटे से घटकर ६ घंटे रह जाता है, तो संभव है कि श्रम-शक्ति का दाम ३ शिलिंग ८ पेंस, ३ शिलिंग ६ पेंस या ३ शिलिंग २ पेंस के नीचे न गिरे और चुनांचे बेशी मूल्य ३ शिलिंग ४ पेंस, ३ शिलिंग ६ पेंस या ३ शिलिंग १० पेंस के ऊपर न बढ़ पाये। यह गिराव, जिसकी निम्नतम सीमा ३ शिलिंग (श्रम-शक्ति का नया मूल्य) है, असल में कितना होगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि एक तरफ़, पूंजी के दबाव और दूसरी तरफ़, मज़दूर के प्रतिरोध में किसका पलड़ा भारी रहता है।

श्रम-शक्ति का मूल्य जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा के मूल्य से निर्धारित होता है। श्रम की उत्पादिता के साथ इन वस्तुओं का परिमाण नहीं, बल्कि उनका मूल्य बदलता है। लेकिन यह मुमकिन है कि उत्पादिता में वृद्धि हो जाने के कारण श्रम-शक्ति के दाम या बेशी मूल्य में कोई परिवर्तन हुए बिना ही मज़दूर और पूंजीपति दोनों साथ-साथ जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की पहले से अधिक मात्रा को हस्तगत करने में सफल हो जायें। यदि श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग हो और आवश्यक श्रम-काल ६ घंटे का हो और इसी तरह यदि बेशी मूल्य भी ३ शिलिंग का हो और बेशी श्रम ६ घंटे का हो, तब यदि बेशी श्रम के साथ आवश्यक श्रम का अनुपात बदले बिना ही श्रम की उत्पादिता पहले से दुगुनी कर दी जाये, तो बेशी मूल्य और श्रम-शक्ति के दाम में कोई परिमाणात्मक परिवर्तन नहीं होगा। उसका केवल इतना ही फल होगा कि बेशी मूल्य और श्रम-शक्ति का दाम, दोनों पहले से दुगुने उपयोग-मूल्यों का प्रतिनिधित्व करेंगे, पर ये उपयोग-मूल्य पहले से दुगुने सस्ते हो जायेंगे। यद्यपि श्रम-शक्ति का दाम तो नहीं बदलेगा, तथापि वह उसके मूल्य से अधिक होगा। श्रम-शक्ति के नये मूल्य को देखते हुए उसके दाम की निम्नतम सीमा १ शिलिंग ६ पेंस है। यदि उसका दाम इतना नीचे न गिरे, बल्कि २ शिलिंग १० पेंस, या २ शिलिंग ६ पेंस हो जाये, तब भी यह गिरा हुआ दाम जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की पहले से अधिक मात्रा का प्रतिनिधित्व करेगा। इस तरह श्रम की उत्पादिता के बढ़ने के साथ-साथ यह भी मुमकिन है कि श्रम-शक्ति

का दाम गिरता जाये और फिर भी इस गिराव के साथ-साथ मजदूर के जीवन-निर्वाह के साधनों की राशि लगातार बढ़ती जाये। लेकिन ऐसा होने पर भी श्रम-शक्ति के मूल्य में जो गिराव आयेगा, उसके फलस्वरूप बेशी मूल्य में तदनुरूप वृद्धि हो जायेगी, और इस तरह मजदूर की स्थिति और पूंजीपति की स्थिति के बीच की खाई बराबर चौड़ी होती जायेगी।[11]

ऊपर हमने जिन तीन नियमों का जिक्र किया है, उनकी सम्यक रूप में स्थापना सबसे पहले रिकार्डो ने की थी। लेकिन वह नीचे दी गयी ग़लतियां कर गये: १) ये नियम जिन विशेष परिस्थितियों में लागू होते हैं, उनको रिकार्डो पूंजीवादी उत्पादन की सामान्य एवं एकमात्र परिस्थितियां समझ बैठे। उनके ख़याल में न तो काम के दिन की लंबाई में कोई परिवर्तन हो सकता है और न श्रम की तीव्रता में; चुनांचे उनकी दृष्टि में केवल एक ही तत्त्व है, जो बदल सकता है। वह है श्रम की उत्पादिता। २) दूसरी ग़लती यह है – और इस ग़लती ने उनके विश्लेषण को पहली ग़लती की अपेक्षा अधिक विकृत किया है – कि अन्य अर्थशास्त्रियों की तरह उन्होंने भी बेशी मूल्य पर मात्र उसी की हैसियत से, अर्थात् बेशी मूल्य के मुनाफ़ा, लगान, आदि जो कई विशिष्ट रूप हैं, उनसे स्वतंत्र रूप से कभी विचार नहीं किया। इसीलिए उन्होंने बेशी मूल्य की दर के नियमों को और लाभ की दर के नियमों को आपस में गड्डमड्ड कर डाला। जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, लाभ की दर यह बताती है कि जो कुल पूंजी लगायी गयी है, उसके साथ बेशी मूल्य का क्या अनुपात है, उधर बेशी मूल्य की दर यह बताती है कि इस पूंजी के परिवर्ती भाग के साथ बेशी मूल्य का क्या अनुपात है। मान लीजिये कि ५०० पाउंड की एक पूंजी C में कच्चा माल, श्रम के औज़ार, आदि (c) के ४०० पाउंड और मजदूरी (v) के १०० पाउंड शामिल हैं, और इसके अलावा बेशी मूल्य (s) १०० पाउंड का होता है। तब बेशी मूल्य की दर $\frac{s}{v} = \frac{\text{१०० पाउंड}}{\text{१०० पाउंड}} =$ १०० प्रतिशत। लेकिन लाभ की दर $\frac{s}{C} = \frac{\text{१०० पाउंड}}{\text{५०० पाउंड}} =$ २० प्रतिशत। इसके अतिरिक्त यह बात भी स्पष्ट है कि लाभ की दर ऐसी बातों पर निर्भर कर सकती है, जिनका बेशी मूल्य की दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मैं तीसरी पुस्तक में स्पष्ट करूंगा कि बेशी मूल्य की एक दर निश्चित होते हुए भी लाभ की अनेक दरें हो सकती हैं और कुछ ख़ास परिस्थितियों में लाभ की एक दर में बेशी मूल्य की विभिन्न दरें व्यक्त हो सकती हैं।

२. काम का दिन स्थिर रहता है, श्रम की उत्पादिता स्थिर रहती है, श्रम की तीव्रता में परिवर्तन होता है

श्रम की बढ़ी हुई तीव्रता का अर्थ यह होता है कि एक निश्चित समय में पहले से अधिक श्रम ख़र्च हो जाता है। इसलिए कम तीव्र श्रम का एक दिन जितने उत्पाद में निहित होता है,

[11] "जब उद्योग की उत्पादिता में कोई परिवर्तन होता है और श्रम और पूंजी की एक निश्चित मात्रा से पहले की अपेक्षा कम या अधिक उत्पाद होने लगता है, तब यह मुमकिन है कि मजदूरी के अनुपात में साफ़-साफ़ कोई परिवर्तन आ जाये, पर वह अनुपात जिस परिमाण का प्रतिनिधित्व करता है, वह ज्यों का त्यों रहे, या अनुपात ज्यों का त्यों रहे, पर मजदूरी की मात्रा में परिवर्तन आ जाये।" ([J. Cazenove] *Outlines of Political Economy etc.*, p. 67.)

अधिक तीव्र श्रम का दिन उससे अधिक उत्पाद में निहित होगा, बशर्ते कि दोनों दिनों की लंबाई वही रहे। यह सच है कि अगर श्रम की उत्पादिता में वृद्धि हो जाये, तो भी एक निश्चित लंबाई के काम के दिन में पहले से अधिक उत्पाद तैयार होने लगता है। लेकिन इस सूरत में हर अलग-अलग उत्पाद का मूल्य गिर जायेगा, क्योंकि अब उसमें पहले से कम श्रम लगेगा। इसके विपरीत पहली सूरत में यह मूल्य ज्यों का त्यों रहता है, क्योंकि हर वस्तु में अब भी पहले जितना ही श्रम लगता है। यहां उत्पादों की संख्या में तो वृद्धि हो जाती है, पर उसके साथ-साथ हर उत्पाद के व्यक्तिगत दाम में कोई गिराव नहीं आता: उत्पादों की संख्या के साथ-साथ उनके दामों का जोड़ भी बढ़ता जाता है। लेकिन उत्पादिता के बढ़ने पर एक निश्चित मूल्य उत्पादों की पहले से अधिक राशि पर फैल जाता है। इसलिए काम के दिन की लंबाई यदि स्थिर रहे, तो पहले से बढ़ी हुई तीव्रता का एक दिन का श्रम पहले से अधिक मूल्य में निहित होगा और यदि द्रव्य का मूल्य ज्यों का त्यों रहता है, तो वह पहले से अधिक द्रव्य में निहित होगा। अब जो मूल्य पैदा होगा, वह पहले से कितना कम या कितना ज्यादा होगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि अब श्रम की तीव्रता समाज में पायी जानेवाली साधारण तीव्रता से कितनी कम या ज्यादा हो गयी है। इसलिए अब एक निश्चित लंबाई का काम का दिन एक स्थिर मूल्य नहीं, बल्कि एक परिवर्ती मूल्य पैदा करता है। साधारण तीव्रता के १२ घंटे के दिन में, मान लीजिये, ६ शिलिंग का मूल्य पैदा होता है, लेकिन तीव्रता बढ़ जाने पर ७ शिलिंग, ८ शिलिंग या उससे भी अधिक मूल्य पैदा हो सकता है। यह बात साफ़ है कि अगर एक दिन के श्रम से तैयार होनेवाला मूल्य ६ शिलिंग से बढ़कर ८ शिलिंग हो जाता है, तो यह मूल्य जिन दो भागों में बंटा रहता है, यानी श्रम-शक्ति का दाम और बेशी मूल्य, वे दोनों साथ-साथ या तो समान मात्रा में, या असमान मात्रा में बढ़ सकते हैं। हो सकता है कि वे दोनों एक साथ ३ शिलिंग से बढ़कर ४ शिलिंग हो जायें। यहां श्रम-शक्ति के दाम में होनेवाली वृद्धि का लाज़िमी तौर पर यह मतलब नहीं होता कि श्रम-शक्ति का दाम उसके मूल्य से अधिक हो गया है। इसके विपरीत दाम के बढ़ने के साथ-साथ मूल्य गिर सकता है। जहां कहीं श्रम-शक्ति के दाम में होनेवाली वृद्धि से उसके बढ़े हुए क्षय की पूर्ति नहीं होती, वहां सदा यही होता है।

हम जानते हैं कि कुछ अस्थिर अपवादों को छोड़कर श्रम की उत्पादिता में आनेवाली किसी भी तब्दीली से श्रम-शक्ति के मूल्य में और इसलिए बेशी मूल्य के परिमाण में उस वक़्त तक कोई परिवर्तन नहीं होता, जब तक कि इस तब्दीली का जिन उद्योगों पर प्रभाव पड़ता है, उनमें वे वस्तुएं न तैयार होती हों, जिनको मजदूर आम तौर पर इस्तेमाल करते हैं। लेकिन हम जिस सूरत पर विचार कर रहे हैं, उसमें यह शर्त लागू नहीं होती। कारण कि जब परिवर्तन या तो श्रम की अवधि में होता है, या उसकी तीव्रता में, तब उस श्रम से पैदा होनेवाले मूल्य के परिमाण में सदा तदनुरूप परिवर्तन हो जाता है, जो उस वस्तु के स्वरूप से स्वतंत्र होता है, जिसमें यह मूल्य निहित है।

यदि श्रम की तीव्रता उद्योग की प्रत्येक शाखा में एक साथ और समान मात्रा में बढ़ जाये, तो नयी और पहले से बढ़ी हुई तीव्रता समाज की साधारण तीव्रता बन जायेगी, और तब उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया जायेगा। फिर भी ऐसा होने पर भी अलग-अलग देशों में श्रम की तीव्रता अलग-अलग होगी और उससे अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मूल्य का नियम जिस ढंग से व्यवहार में आता है, उसमें कुछ परिवर्तन हो जायेगा। एक देश का काम का दिन अधिक तीव्र श्रम

का होगा, और द्रव्य की एक अपेक्षाकृत बड़ी राशि उसका प्रतिनिधित्व करेगी। दूसरे देश का काम का दिन अपेक्षाकृत कम तीव्र श्रम का होगा, और द्रव्य की एक अपेक्षाकृत छोटी राशि उसका प्रतिनिधित्व करेगी।[12]

३. श्रम की उत्पादिता और तीव्रता स्थिर रहती हैं, काम के दिन की लंबाई बदलती जाती है

काम का दिन दो तरह से बदल सकता है। उसको पहले से अधिक लंबा या पहले से छोटा कर दिया जा सकता है। इस वक़्त हमारे पास जो सामग्री मौजूद है, उसके आधार पर और पृ० ५४६-५५० पर हमने जो बातें पहले से मान ली हैं, उनकी सीमाओं के भीतर रहते हुए नीचे लिखे नियम हमारे सामने आते हैं:

१) काम के दिन की लंबाई जितनी होती है, वह उसी के अनुपात में कम या ज्यादा मात्रा में मूल्य पैदा करता है। इस प्रकार वह मूल्य की एक स्थिर मात्रा नहीं, बल्कि परिवर्ती मात्रा पैदा करता है।

२) बेशी मूल्य के परिमाण और श्रम-शक्ति के मूल्य के परिमाण के पारस्परिक संबंध में जो भी तब्दीली आती है, वह बेशी श्रम के निरपेक्ष परिमाण में और इसलिए बेशी मूल्य के निरपेक्ष परिमाण में परिवर्तन होने के फलस्वरूप आती है।

३) श्रम-शक्ति के क्षय पर बेशी श्रम को लंबा खींचने की जो प्रतिक्रिया होती है, श्रम-शक्ति का निरपेक्ष मूल्य केवल उस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही बदल सकता है। इसलिए श्रम-शक्ति के निरपेक्ष मूल्य में होनेवाला प्रत्येक परिवर्तन बेशी मूल्य के परिमाण में होनेवाले परिवर्तन का कारण कभी न होकर सदा उसका परिणाम होता है।

हम सबसे पहले उस सूरत को लेते हैं, जब काम का दिन छोटा कर दिया जाता है।

१) जब उपर्युक्त परिस्थितियों में काम का दिन छोटा किया जाता है, तो श्रम-शक्ति का मूल्य और उसके साथ-साथ आवश्यक श्रम-काल ज्यों के त्यों बने रहते हैं। पर बेशी श्रम और बेशी मूल्य कम हो जाते हैं। बेशी मूल्य के निरपेक्ष परिमाण के साथ-साथ उसका सापेक्ष परिमाण भी कम हो जाता है, अर्थात् उसका परिमाण श्रम-शक्ति के मूल्य की तुलना में कम हो जाता है जिसका परिमाण ज्यों का त्यों रहता है। इस स्थिति में पूंजीपति किसी भी तरह के नुक़सान से केवल इसी प्रकार बच सकता है कि श्रम-शक्ति के दाम को उसके मूल्य से भी कम कर दे।

काम के दिन को छोटा करने के विरुद्ध आम तौर पर जितनी दलीलें दी जाती हैं, उन सबमें यह मान लिया जाता है कि काम का दिन उन परिस्थितियों में छोटा किया जाता है,

---

[12] "अन्य बातों के समान रहते हुए अंग्रेज़ कारख़ानेदार एक निश्चित समय में किसी भी विदेशी कारख़ानेदार के मुक़ाबले में ज़्यादा काम निकाल सकता है, जिससे यहां तक कि भिन्न-भिन्न प्रकार के काम के दिनों – जैसे इंगलैंड में ६० घंटे और अन्य देशों में ७२ या ८० घंटे प्रति सप्ताह – से पैदा होनेवाला अंतर भी पूरा हो जाता है।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1855*, p. 65.) इंगलैंड के काम के घंटे और यूरोप के काम के घंटे में जो यह गुणात्मक अंतर पाया जाता है, उसे कम करने का सबसे अचूक तरीक़ा यह है कि एक क़ानून बनाकर यूरोप की फ़ैक्टरियों में काम के दिन की लंबाई परिमाणात्मक ढंग से कम कर दी जाये।

जिनको हम यहां मानकर चल रहे हैं। वास्तव में इसका उलटा होता है। श्रम की उत्पादिता और तीव्रता का परिवर्तन या तो काम के दिन के छोटा किये जाने के पहले या तुरंत उसके बाद हो जाता है।[13]

२) मान लीजिये कि काम के दिन को लंबा कर दिया जाता है। फ़र्ज़ कीजिये कि आवश्यक श्रम-काल ६ घंटे का है या श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग है। और मान लीजिये कि बेशी श्रम ६ घंटे का होता है या बेशी मूल्य भी ३ शिलिंग का होता है। तब काम का पूरा दिन १२ घंटे का होगा और वह ६ शिलिंग के मूल्य में निहित होगा। अब यदि काम के दिन को २ घंटे और बढ़ा दिया जाये और श्रम-शक्ति का दाम ज्यों का त्यों रहे, तो बेशी मूल्य निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों दृष्टियों से बढ़ जायेगा। श्रम-शक्ति के मूल्य में यद्यपि कोई निरपेक्ष परिवर्तन नहीं होता, तथापि वह सापेक्ष दृष्टि से गिर जाता है। जिन परिस्थितियों को हम १ में मान कर चले थे, उनके अंतर्गत श्रम-शक्ति के मूल्य के सापेक्ष परिमाण में उस वक़्त तक कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था, जब तक कि उसके निरपेक्ष परिमाण में भी परिवर्तन नहीं हो जाता। यहां पर उसके विपरीत श्रम-शक्ति के मूल्य के सापेक्ष परिमाण में होनेवाला परिवर्तन बेशी मूल्य के निरपेक्ष परिमाण के परिवर्तन का नतीजा होता है।

चूंकि वह मूल्य, जिसमें दिन भर का श्रम निहित होता है, काम, के दिन की लंबाई के साथ-साथ बढ़ता जाता है, इसलिए यह बात स्पष्ट है कि बेशी मूल्य और श्रम-शक्ति का दाम दोनों समान या असमान मात्राओं में एक साथ बढ़ सकते हैं। इसलिए इन दोनों का साथ-साथ बढ़ना दो सूरतों में मुमकिन होता है: एक, उस वक़्त, जब काम के दिन को सचमुच लंबा किया जाता है, और दूसरे, उस वक़्त, जब श्रम की तीव्रता बढ़ जाती है, जिसके साथ-साथ काम के दिन की लंबाई नहीं बढ़ायी जाती।

जब काम के दिन की लंबाई बढ़ायी जाती है, तब श्रम-शक्ति का दाम उसके मूल्य से भी नीचे गिर सकता है, हालांकि मुमकिन है कि यह दाम कहने के लिए ज्यों का त्यों रहे, या यहां तक कि कुछ बढ़ भी जाये। पाठक को याद होगा कि एक दिन की श्रम-शक्ति के मूल्य का अनुमान इस आधार पर लगाया जाता है कि सामान्यतया उसकी औसत अवधि कितनी होती है, या मजदूर सामान्यतया कितने समय तक जिंदा रहते हैं, और मनुष्य की प्रकृति के अनुसार संगठित शारीरिक पदार्थ सामान्यतया किस प्रकार गति में रूपांतरित होता है।[14] काम के दिन के लंबा कर दिये जाने पर श्रम-शक्ति का क्षय अनिवार्य रूप से बढ़ जाता है, पर एक बिंदु तक बढ़ी हुई मजदूरी देकर इसकी क्षति-पूर्ति की जा सकती है। लेकिन इस बिंदु के आगे क्षय गुणोत्तर श्रेढ़ी के अनुसार बढ़ता जाता है और श्रम-शक्ति के सामान्य पुनरुत्पादन और उसके व्यवहार में आने के लिए जितनी परिस्थितियां आवश्यक होती हैं, वे सब अस्तव्यस्त हो जाती हैं। तब श्रम-शक्ति का दाम और उसके शोषण की मात्रा सम्मेय राशियां नहीं रहतीं।

---

[13] "इसकी क्षति-पूर्ति करनेवाली कुछ परिस्थितियां होती हैं... जिनपर दस घंटा अधिनियम के अमल में आने से कुछ प्रकाश पड़ा है।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1848*, p. 7.)

[14] "एक आदमी २४ घंटे में कितना श्रम करता है, उसका कुछ मोटा सा अनुमान यह देखकर लगाया जा सकता है कि उसके शरीर में कौन-कौन से रासायनिक परिवर्तन हो गये हैं। पदार्थ के बदले हुए रूपों से यह मालूम हो जायेगा कि उनके पहले कितनी जीवन-शक्ति व्यवहार में आ चुकी है।" (Grove, *On the Correlation of Physical Forces*.)

४. श्रम की अवधि, उत्पादिता और तीव्रता में एक साथ परिवर्तन होते हैं

यह बात स्पष्ट है कि इस स्थिति में कई प्रकार के योग संभव हैं। किन्हीं भी दो तत्त्वों में परिवर्तन हो सकते हैं और तीसरा तत्त्व स्थिर रह सकता है, या तीनों में एकबारगी परिवर्तन हो सकता है। वे तीनों एक ही या अलग-अलग मात्राओं में बदल सकते हैं; वे एक दिशा में या भिन्न-भिन्न दिशाओं में बदल सकते हैं, जिसका यह नतीजा हो सकता है कि तीनों तत्त्वों के परिवर्तन पूरी तरह या आंशिक रूप में एक दूसरे के असर को ख़त्म कर दें। फिर भी १, २ और ३ में दिये गये निष्कर्षों के आधार पर प्रत्येक संभव दशा का विश्लेषण किया जा सकता है। बारी-बारी से एक-एक तत्त्व को परिवर्ती और बाक़ी दो तत्त्वों को वक़्ती तौर पर स्थिर मानकर हर संभव योग के प्रभाव का पता लगाया जा सकता है। इसलिए यहां पर हम केवल दो महत्त्वपूर्ण उदाहरणों पर ही और वह भी बहुत संक्षेप में विचार करेंगे।

१) श्रम की उत्पादिता के घटने के साथ काम के दिन का लंबा होते जाना

जब हम श्रम की उत्पादिता के घटने की बात करते हैं, तब हमारा मतलब यहां पर केवल उन उद्योगों से होता है, जिनकी पैदावार श्रम-शक्ति के मूल्य को निर्धारित करती है। उदाहरण के लिए, श्रम की उत्पादिता में इस प्रकार की कमी भूमि की उर्वरता के घट जाने और उसके कारण भूमि की उपज के उतनी ही महंगी हो जाने के कारण आ सकती है। मान लीजिये कि काम का दिन १२ घंटे का है और एक दिन में ६ शिलिंग का मूल्य तैयार होता है, जिसमें से आधा श्रम-शक्ति के मूल्य का स्थान लेता है और आधा बेशी मूल्य होता है। मान लीजिये कि भूमि की उपज की बढ़ी हुई महंगाई के कारण श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग से बढ़कर ४ शिलिंग और इसलिए आवश्यक श्रम ६ घंटे से बढ़कर ८ घंटे का हो जाता है। यदि काम के दिन की लंबाई में कोई परिवर्तन न किया जाये, तो ऐसा होने पर बेशी श्रम ६ घंटे से कम होकर ४ घंटे का रह जायेगा और बेशी मूल्य ३ शिलिंग से घटकर २ शिलिंग हो जायेगा। यदि काम का दिन २ घंटे बढ़ा दिया जाये, यानी १२ घंटे से १४ घंटे का कर दिया जाये, तो बेशी श्रम पहले की तरह ६ घंटे का, और बेशी मूल्य ३ शिलिंग का ही बना रहेगा। लेकिन श्रम-शक्ति के मूल्य की तुलना में, जो कि आवश्यक श्रम-काल से नापा जाता है, बेशी मूल्य घट जायेगा। यदि काम का दिन ४ घंटे बढ़ा दिया जाये, यानी १२ घंटे से १६ घंटे का कर दिया जाये, तो बेशी मूल्य और श्रम-शक्ति के मूल्य के और बेशी श्रम और आवश्यक श्रम के आनुपातिक परिमाण ज्यों के त्यों बने रहेंगे मगर बेशी मूल्य का निरपेक्ष परिमाण ३ शिलिंग से बढ़कर ४ शिलिंग और बेशी श्रम का निरपेक्ष परिमाण ६ घंटे से बढ़कर ८ घंटे हो जायेगा, जो कि ३३$\frac{१}{३}$ प्रतिशत की वृद्धि है। इसलिए, जब श्रम की उत्पादिता घट जाती है और साथ ही काम का दिन लंबा कर दिया जाता है, तो मुमकिन है कि बेशी मूल्य का निरपेक्ष परिमाण ज्यों का त्यों रहे, पर साथ ही उसका सापेक्ष परिमाण घट जाये; या उसका सापेक्ष परिमाण ज्यों का त्यों बना रहे, पर साथ ही उसका निरपेक्ष परिमाण बढ़ जाये; या अगर काम के दिन की

लंबाई में पर्याप्त वृद्धि कर दी जाती है, तो मुमकिन है कि बेशी मूल्य के सापेक्ष और निरपेक्ष, दोनों परिमाण बढ़ जायें।

१७९९ और १८१५ के बीच के काल में इंगलैंड में खाने-पीने की वस्तुओं के दाम बढ़ जाने के कारण मजदूरी में नाममात्र की बढ़ती हो गयी थी, हालांकि जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के रूप में वास्तविक मजदूरी में कमी आ गयी थी। इस तथ्य से वेस्ट और रिकार्डो दोनों ने यह निष्कर्ष निकाला कि खेतिहर श्रम की उत्पादिता घट जाने के कारण बेशी मूल्य की दर में गिरावट आ गयी है। इस तथ्य का केवल उनकी कल्पना में ही अस्तित्व था, परंतु उन्होंने उसे मजदूरी, लाभ और किराये के सापेक्ष परिमाणों की अपनी छानबीन का प्रस्थान-बिंदु बना डाला। मगर वास्तव में उस काल में श्रम की तीव्रता बढ़ जाने और काम का दिन लंबा कर दिये जाने के कारण बेशी मूल्य का सापेक्ष परिमाण और निरपेक्ष परिमाण दोनों बढ़ गये थे। यह वह काल था, जब श्रम के घंटों को बर्बरता की हद तक बढ़ा देने का अधिकार स्वीकार किया गया था[15] और जिसकी ख़ास विशेषता यह थी कि यहां पर अगर पूंजी का बड़ी तेज़ी के साथ संचय हो रहा था, तो वहां पर कंगाली बढ़ रही थी।[16]

---

[15] "अनाज और श्रम बहुत कम साथ-साथ चलते हैं, लेकिन एक स्पष्ट सीमा है, जिसके बाद उनको अलग नहीं किया जा सकता। जहां तक श्रमजीवी वर्गों की उस असाधारण मेहनत का ताल्लुक़ है, जो वे महंगाई के दिनों में करते हैं और जिससे मजदूरी में वह गिरावट आ जाती है, जिसकी ओर गवाहियों में (यानी १८१४-१८१५ की संसदीय जांच-समितियों के सामने दी गयी गवाहियों में) ध्यान आकर्षित किया गया है, जिन व्यक्तियों ने वह मेहनत की, वे प्रशंसा के पात्र हैं और उससे निश्चय ही पूंजी के विकास में सहायता मिली है। लेकिन जिस मनुष्य में थोड़ी भी मानवता है, वह यह नहीं चाहेगा कि यह असाधारण मेहनत कभी रुके नहीं और लगातार चलती ही रहे। अस्थायी सहायता के रूप में यह एक बड़ी उत्तम चीज़ है, परंतु यदि वह लगातार चलती जाती है, तो उसके उसी तरह के नतीजे होंगे, जैसे किसी देश की आबादी के चरम सीमा तक पहुंचने से खुराक की कमी के कारण होते हैं।" (Malthus, *Inquiry into the Nature and Progress of Rent*, London, 1815, p. 48, Note.) माल्थस सम्मान के पात्र हैं, क्योंकि उन्होंने श्रम के घंटों के बढ़ाये जाने पर जोर दिया है। अपनी पुस्तिका में अन्यत्र भी उन्होंने इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जब कि रिकार्डो तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने तो अत्यंत स्पष्ट प्रमाणों के होते हुए भी काम के दिन की लंबाई की अपरिवर्तनशीलता को अपनी तमाम छानबीन का मूलाधार बनाया है। परंतु माल्थस जिन दक़ियानूसी हितों की सेवा करते थे, उन्होंने उनको यह नहीं देखने दिया कि काम के दिन की लंबाई को मनमाने ढंग से बढ़ाते जाने का, मशीनों के असाधारण विकास और स्त्रियों और बच्चों के शोषण के साथ मिलकर, लाज़िमी तौर पर यह नतीजा होगा कि मज़दूर वर्ग का एक बड़ा भाग "फ़ालतू" बन जायेगा, ख़ास तौर पर जब युद्ध तथा दुनिया की मंडियों पर इंगलैंड का एकाधिकार ख़त्म हो जायेंगे। ज़ाहिर है, माल्थस जिन शासक वर्गों की एक सच्चे पुजारी की तरह पूजा करते थे, यह बात उनके लिए अधिक सुविधाजनक और उनके हितों के अधिक अनुकूल थी कि पूंजीवादी उत्पादन के ऐतिहासिक नियमों की छानबीन करने की अपेक्षा इस "जनाधिक्य" को प्रकृति के शाश्वत नियमों के आधार पर ही अनिवार्य सिद्ध करके मामले को रफ़ा-दफ़ा कर दिया जाये।

[16] "युद्ध के दौरान पूंजी के बढ़ने का एक प्रधान कारण यह था कि श्रमजीवी वर्गों को, जिनकी संख्या प्रत्येक समाज में सबसे अधिक रहती है, इस काल में पहले से ज़्यादा मेहनत करनी पड़ी और शायद पहले से ज़्यादा तकलीफ़ें भी उठानी पड़ीं। परिस्थितियों से मजबूर होकर पहले से अधिक संख्या में स्त्रियों और बच्चों को सख़्त मेहनत के काम करने पड़े, और इसी

२) श्रम की तीव्रता और उत्पादिता के बढ़ने के साथ काम के दिन का छोटा होते जाना

बढ़ी हुई उत्पादिता और श्रम की पहले से अधिक तीव्रता दोनों का एक सा असर होता है। उन दोनों से एक निश्चित समय में पैदा होनेवाली वस्तुओं की राशि में वृद्धि हो जाती है। इसलिए दोनों ही काम के दिन के उस भाग को छोटा कर देती हैं, जिसकी मजदूर को अपने जीवन-निर्वाह के साधन, या उसका समतुल्य, पैदा करने के लिए आवश्यकता होती है। काम के दिन के इस आवश्यक, किंतु संकुचनशील भाग से काम के दिन की अल्पतम लंबाई निर्धारित होती है। यदि काम का पूरा दिन सिकुड़कर बस इस भाग की लंबाई जितना ही रह जाये, तो बेशी श्रम ग़ायब हो जायेगा, और यह एक ऐसी चीज़ है, जो पूंजी के राज्य में बिल्कुल असंभव है। केवल उत्पादन के पूंजीवादी रूप को नष्ट करके ही काम के दिन की लंबाई को घटाकर आवश्यक श्रम-काल के बराबर लाया जा सकता है। लेकिन ऐसा होने पर भी, आवश्यक श्रम-काल अपनी सीमाओं से आगे बढ़ जायेगा। वह इसलिए कि एक ओर तो "जीवन-निर्वाह के साधनों" की अवधारणा में बहुत सी नयी वस्तुएं शामिल हो जायेंगी और मजदूर पहले से बिल्कुल भिन्न जीवन-स्तर की मांग करने लगेगा। दूसरी ओर, इसलिए कि आजकल जो कुछ बेशी श्रम है, उसका एक हिस्सा आवश्यक श्रम में गिना जाने लगेगा। यहां मेरा मतलब उस श्रम से है, जो आरक्षित एवं संचित निधि का संग्रह करने के लिए किया जाता है।

श्रम की उत्पादिता जितनी बढ़ती है, काम का दिन उतना ही छोटा किया जा सकता है, और काम का दिन जितना छोटा होता है, श्रम की तीव्रता उतनी ही अधिक बढ़ सकती है। सामाजिक दृष्टिकोण से, उत्पादिता उसी अनुपात में बढ़ती है, जिस अनुपात में श्रम की किफ़ायत की जाती है। श्रम की किफ़ायत का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि उत्पादन के साधनों के उपयोग में किफ़ायत की जाये, बल्कि यह भी कि हर प्रकार के अनुपयोगी श्रम से बचा जाये। जहां एक ओर, उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली हर अलग-अलग व्यवसाय में किफ़ायत बरतना ज़रूरी बनाती है, वहां दूसरी ओर, उसकी प्रतियोगिता की अराजकतापूर्ण व्यवस्था के फलस्वरूप श्रम-शक्ति का तथा उत्पादन के सामाजिक साधनों का हद से ज़्यादा अपव्यय होता है और इसके अलावा पूंजीवादी उत्पादन बहुत से ऐसे धंधे पैदा कर देता है, जो इस समय भले ही नितांत आवश्यक प्रतीत होते हों, पर ख़ुद अपने में अनावश्यक होते हैं।

यदि श्रम की तीव्रता और उत्पादिता पहले से निश्चित हों, तो समाज के सभी समर्थ सदस्यों के बीच जैसे-जैसे काम का विभाजन अधिकाधिक समतुलित रूप में किया जाता है और जैसे-जैसे किसी ख़ास वर्ग से श्रम का प्राकृतिक बोझा अपने कंधों से हटाकर समाज के किसी अन्य स्तर के कंधों पर डाल देने की क्षमता छीन ली जाती है, वैसे-वैसे समाज को भौतिक उत्पादन में अधिकाधिक कम समय लगाना पड़ता है और उसके फलस्वरूप व्यक्ति के स्वतंत्र, बौद्धिक एवं सामाजिक विकास के लिए उतना ही अधिक समय मिलने लगता है। इस दिशा में काम के दिन को अधिकाधिक छोटा करते जाने की क्रिया पर आख़िर एक सीमा का प्रतिबंध लग ही जाता है। वह है श्रम के सामान्यीकरण की सीमा। पूंजीवादी समाज में जनता के संपूर्ण जीवन को श्रम-काल में बदलकर एक वर्ग के लिए अवकाश प्राप्त किया जाता है।

कारण पहले से काम करनेवाले मजदूरों को अपने समय का पहले से बड़ा भाग उत्पादन बढ़ाने में लगाना पड़ा।" (*Essays on Political Economy in which are Illustrated the Principal Causes of the Present National Distress*, London, 1830, p. 248.)

अध्याय १८

बेशी मूल्य की दर के विभिन्न सूत्र

हम यह देख चुके हैं कि बेशी मूल्य की दर को निम्नलिखित सूत्रों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

$$\text{I)}\ \frac{\text{बेशी मूल्य}}{\text{परिवर्ती पूंजी}}\left(\frac{s}{v}\right)=\frac{\text{बेशी मूल्य}}{\text{श्रम-शक्ति का मूल्य}}=\frac{\text{बेशी श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}\text{।}$$

इन सूत्रों में से पहले दो में उसी चीज़ को मूल्यों के अनुपात के रूप में व्यक्त किया गया है, जिसे तीसरे सूत्र में इन मूल्यों के उत्पादन में जितना समय लगा है, उसके अनुपात के रूप में प्रस्तुत किया गया है। एक दूसरे के लिए अनुपूरक का काम करनेवाले ये तीनों सूत्र अत्यंत निश्चित और सही सूत्र हैं। इसलिए हम यह पाते हैं कि क्लासिकीय अर्थशास्त्र में इन सूत्रों का सचेतन ढंग से तो नहीं, किंतु साररूप में प्रतिपादन किया गया है। वहां हमें इनसे व्युत्पन्न निम्नलिखित सूत्र मिलते हैं:

$$\text{II)}\ \frac{\text{बेशी श्रम}}{\text{काम का दिन}}=\frac{\text{बेशी मूल्य}}{\text{उत्पाद का मूल्य}}=\frac{\text{बेशी उत्पाद}}{\text{सकल उत्पाद}}\text{।}$$

यहां एक ही अनुपात तीन तरह व्यक्त किया गया है: श्रम-कालों के अनुपात की तरह; ये श्रम-काल जिन मूल्यों में निहित हैं, उन मूल्यों के अनुपात की तरह; और ये मूल्य जिन उत्पादों में निहित हैं, उन उत्पादों के अनुपात की तरह। ज़ाहिर है, यहां यह मानकर चला जाता है कि "उत्पाद का मूल्य" केवल वह मूल्य है, जो काम के दिन के दौरान नया-नया पैदा हुआ है, और उत्पाद के मूल्य के स्थिर भाग को इससे अलग रखा जाता है।

इन (II के) तमाम सूत्रों में श्रम के शोषण की वास्तविक मात्रा, अथवा बेशी मूल्य की दर, ग़लत ढंग से व्यक्त की गयी है। मान लीजिये कि काम का दिन १२ घंटे का है। तब पिछले उदाहरणों में हम जितनी बातों को मानकर चले थे, उन सबको फिर मानकर चलते हुए श्रम के शोषण की वास्तविक मात्रा निम्नलिखित अनुपातों में व्यक्त होगी:

$$\frac{\text{६ घंटे का बेशी श्रम}}{\text{६ घंटे का आवश्यक श्रम}}=\frac{\text{३ शिलिंग का बेशी मूल्य}}{\text{३ शिलिंग की परिवर्ती पूंजी}}=\text{१०० प्रतिशत।}$$

लेकिन II के सूत्रों से बहुत भिन्न निष्कर्ष निकलता है:

$$\frac{\text{६ घंटे का बेशी श्रम}}{\text{१२ घंटे का काम का दिन}}=\frac{\text{३ शिलिंग का बेशी मूल्य}}{\text{६ शिलिंग के बराबर उत्पादित मूल्य}}=\text{५० प्रतिशत।}$$

ये व्युत्पन्न सूत्र असल में केवल उस अनुपात को व्यक्त करते हैं, जिसके अनुसार काम का दिन या उसके दौरान उत्पादित मूल्य पूंजीपति और मज़दूर के बीच बंट जाता है। यदि इन सूत्रों को पूंजी के आत्मविस्तार की मात्रा की प्रत्यक्ष अभिव्यंजनाएं समझा जाये, तो यह ग़लत

नियम लागू हो जायेगा कि बेशी श्रम या बेशी मूल्य १०० प्रतिशत तक कभी नहीं पहुंच सकता है।[17] चूंकि बेशी श्रम काम के दिन का एक अशेषभाजक मात्र होता है, या चूंकि बेशी मूल्य उत्पादित मूल्य का एक अशेषभाजक मात्र होता है, इसलिए यह अनिवार्य है कि बेशी श्रम सदा काम के दिन से कम होगा, या यूं कहिये कि बेशी मूल्य सदा कुल उत्पादित मूल्य से कम होगा। किंतु १००:१०० के अनुपात पर पहुंचने के लिए दोनों को बराबर होना पड़ेगा। और यदि बेशी श्रम को पूरा दिन (अर्थात् किसी भी सप्ताह या वर्ष का एक औसत दिन) हजम कर लेना है, तो आवश्यक श्रम को शून्य हो जाना पड़ेगा। परंतु यदि आवश्यक श्रम नहीं रहेगा, तो बेशी श्रम भी ग़ायब हो जायेगा, क्योंकि वह आवश्यक श्रम की ही एक क्रिया है। इसलिए अनुपात $\frac{\text{बेशी श्रम}}{\text{काम का दिन}}$ या $\frac{\text{बेशी मूल्य}}{\text{उत्पादित मूल्य}}$ कभी $\frac{१००}{१००}$ की सीमा तक नहीं पहुंच सकता, और उसका $\frac{१०० + x}{१००}$ तक पहुंचना तो और भी कठिन है। परंतु बेशी मूल्य की दर के लिए, जो श्रम के शोषण की वास्तविक मात्रा को अभिव्यक्त करती है, यह बात सच नहीं है। मिसाल के लिए, एल० दे लावेर्न के प्राक्कलन पर विचार कीजिये, जिसके अनुसार अंग्रेज़ खेतिहर मज़दूर को पैदावार का[18] या उसके मूल्य का केवल $\frac{१}{४}$ भाग मिलता है,

---

[17] मिसाल के लिए, देखिये *Dritter Brief an v. Kirchmann von Rodbertus. Widerlegung der Ricardo'schen Lehre von der Grundrente und Begründung einer neuen Rententheorie*, Berlin, 1851. मैं इस पत्र का बाद में ज़िक्र करूंगा। इसका किराया सिद्धांत तो ग़लत है, पर उसके बावजूद पत्र का लेखक पूंजीवादी उत्पादन के स्वरूप को समझने में सफल हुआ है। [**तीसरे जर्मन संस्करण में जोड़ी गयी पाद-टिप्पणी:** इससे यह भी देखा जा सकता है कि जब कभी मार्क्स को अपने पूर्वजों में वास्तविक प्रगति या नये और सही विचारों की थोड़ी सी भी झलक दिखायी देती थी, तो वह उनके बारे में कितनी अच्छी राय व्यक्त करते थे। बाद को रुड० मायर के नाम रॉड्बेर्टस के पत्रों के प्रकाशित होने पर ज्ञात हुआ कि मार्क्स ने रॉड्बेर्टस की ऊपर जो प्रशंसा की है, उसमें कुछ काट-छांट करनी होगी। इन पत्रों का एक अंश इस प्रकार है: "पूंजी को न केवल श्रम से, बल्कि ख़ुद अपने आपसे भी बचाना होगा, और इसका सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि औद्योगिक पूंजीपति की कार्रवाइयों को कुछ ऐसी आर्थिक तथा राजनीतिक ज़िम्मेदारियां समझा जाये, जो उसको पूंजी के साथ-साथ सौंप दी गयी हैं, और उसके मुनाफ़े को एक तरह की तनख़्वाह समझा जाये, क्योंकि अभी तक हम किसी और सामाजिक संगठन से परिचित नहीं हैं। लेकिन तनख़्वाहों का नियमन किया जा सकता है, और यदि उनके कारण मज़दूरी में बहुत ज़्यादा कमी हो जाती है, तो उनमें कटौती भी की जा सकती है। समाज पर मार्क्स की चढ़ाई – उनकी पुस्तक को यह नाम दिया जा सकता है – से बचना ही पड़ेगा... कुल मिलाकर मार्क्स की पुस्तक में पूंजी का इतना विवेचन नहीं, जितना पूंजी के वर्तमान रूप पर हमला किया गया है। इस रूप को उन्होंने स्वयं पूंजी की अवधारणा के साथ गड्डमड्ड कर दिया है।" (*Briefe etc. von Dr. Rodbertus-Jagetzow, herausgegeben von Dr. Rud. Meyer*, Berlin, 1881, Bd. I, S. 111, रॉड्बेर्टस का ४८वां पत्र।) अपने "सामाजिक पत्रों" में रॉड्बेर्टस ने जो साहसी प्रहार किये थे, वे सिकुड़ते-सिकुड़ते अंत में इस तरह की पिटी-पिटायी वैचारिक बातें बनकर रह गये थे। – फ़्रे० एं०]

[18] पैदावार का जो भाग केवल स्थिर पूंजी की भरपाई करता है, उसे बेशक इस हिसाब से अलग रखा गया है। मि० एल० दे लावेर्न इंगलैंड के अंधप्रशंसक थे। उनमें पूंजीपति के हिस्से को बहुत ज़्यादा नहीं, बल्कि बहुत कम आंकने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

जब कि कृषि-पूंजीपति उसका $\frac{३}{४}$ भाग ले लेता है। लूट का यह माल बाद को पूंजीपति, ज़मींदार और अन्य लोगों के बीच किस तरह बांटा जाता है, यह एक अलग सवाल है। एल० दे लावेर्ने के प्राक्कलन के अनुसार अंग्रेज़ खेतिहर मज़दूर के बेशी श्रम का उसके आवश्यक श्रम के साथ ३:१ का अनुपात रहता है, जिसका मतलब यह होता है कि उसके शोषण की दर ३०० प्रतिशत है।

काम के दिन को परिमाण में स्थिर मानने का यह मनपसंद तरीक़ा II के सूत्रों के उपयोग के द्वारा एक जमी हुई रूढ़ि बन गया है, क्योंकि इन सूत्रों में बेशी श्रम की एक निश्चित लंबाई के काम के दिन से सदा तुलना की जाती है। जब केवल उत्पादित मूल्य के पुनर्विभाजन की ओर ही ध्यान दिया जाता है, तब भी यही होता है। काम का जो दिन पहले ही एक निश्चित मूल्य में मूर्त हो चुका है, वह अनिवार्य रूप से एक निश्चित लंबाई का ही दिन होगा।

बेशी मूल्य और श्रम-शक्ति के मूल्य को उत्पादित मूल्य के अंशों के रूप में पेश करने की आदत ख़ुद उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली से उत्पन्न हुई है, और उसका महत्त्व बाद को स्पष्ट होगा। यह आदत ख़ास उस सौदे पर पर्दा डाल देती है, जो पूंजी का विशिष्ट लक्षण होता है, अर्थात् यह आदत जीवित श्रम-शक्ति के साथ परिवर्ती पूंजी के विनिमय पर और उसके फलस्वरूप मज़दूर को पैदावार से वंचित कर देने की क्रिया पर पर्दा डाल देती है। वास्तविक संबंध की जगह पर हम इस संबंध का केवल एक दिखावटी और झूठा रूप देखने लगते हैं, जिसमें मज़दूर और पूंजीपति उत्पाद के निर्माण में जो अलग-अलग तत्त्व देते हैं, उनके अनुपात में वे उत्पाद को आपस में बांट लेते हैं।[1]

इसके अलावा II के सूत्रों को किसी भी समय पुनः I के सूत्रों में बदला जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि हमारे पास यह अनुपात है :

$$\frac{\text{६ घंटे का बेशी श्रम}}{\text{१२ घंटे का काम का दिन}}$$

और आवश्यक श्रम-काल १२ घंटे में से बेशी श्रम के ६ घंटे घटाने से मालूम हो जाता है, तो हम नीचे लिखे परिणाम पर पहुंचते हैं :

$$\frac{\text{६ घंटे का बेशी श्रम}}{\text{६ घंटे का आवश्यक श्रम}} = \frac{१००}{१००}।$$

एक तीसरा सूत्र भी है, जिसका मैं जहां-तहां पहले भी ज़िक्र कर चुका हूं। वह यह है :

$$\text{III)}\quad \frac{\text{बेशी मूल्य}}{\text{श्रम-शक्ति का मूल्य}} = \frac{\text{बेशी श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}} = \frac{\text{अवेतन श्रम}}{\text{सवेतन श्रम}}।$$

---

[1] पूंजीवादी उत्पादन के सभी सुविकसित रूप चूंकि सहकारिता के रूप होते हैं, इसलिए, ज़ाहिर है, इससे अधिक आसान और कोई चीज़ नहीं है कि उनको उनके विरोधी स्वरूप से अलग कर दिया जाये और मानो मंत्र पढ़कर उनको स्वतंत्र सहयोग के किसी रूप में बदल दिया जाये, जैसा कि अ० दे लाबोर्द ने अपनी पुस्तक *De l'Esprit d'Association dans tous les intérêts de la Communauté* (Paris, 1818) में किया है। अमरीकी लेखक एच० केरी तो ग़ुलामी से पैदा होनेवाले संबंधों के साथ भी कभी-कभी यह बाज़ीगरी इसी कामयाबी के साथ दिखा जाते हैं।

ऊपर हम जो विश्लेषण कर चुके हैं, उसके बाद इसकी कोई संभावना नहीं होनी चाहिए कि हम सूत्र $\frac{\text{अवेतन श्रम}}{\text{सवेतन श्रम}}$ से गुमराह होकर यह समझ बैठें कि पूंजीपति श्रम-शक्ति की नहीं, बल्कि श्रम की क़ीमत चुकाता है। यह सूत्र $\frac{\text{बेशी श्रम}}{\text{आवश्यक श्रम}}$ का ही एक लोकगम्य रूप है। जिस हद तक दाम मूल्य के बराबर होता है, उस हद तक पूंजीपति श्रम-शक्ति का मूल्य चुकाता है, और बदले में उसे स्वयं जीवित श्रम-शक्ति से अपनी इच्छानुसार काम लेने का अधिकार मिल जाता है। फलोपभोग का यह अधिकार दो कालों पर फैला होता है। एक काल में मज़दूर वह मूल्य पैदा करता है, जो केवल उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य के बराबर होता है, यानी वह उसका समतुल्य पैदा करता है। इस तरह पूंजीपति ने श्रम-शक्ति का जो दाम पेशगी दिया था, उसके एवज़ में इस काल में उसे उसी दाम की वस्तु मिल जाती है। यह उसी तरह की बात है जैसे उसने बनी-बनायी तैयार वस्तु बाज़ार में ख़रीद ली हो। दूसरे काल में, जो बेशी श्रम का काल होता है, श्रम-शक्ति के फलोपभोग का अधिकार पूंजीपति के लिए एक ऐसा मूल्य पैदा कर देता है, जिसके एवज़ में उसे कोई समतुल्य नहीं देना पड़ता है।[20] इस काल में व्यय हुई श्रम-शक्ति उसे मुफ़्त मिल जाती है। बेशी श्रम को इसी अर्थ में अवेतन श्रम कहा जा सकता है।

इसलिए केवल श्रम कराने का अधिकार ही पूंजी नहीं है, जैसा कि ऐडम स्मिथ समझते हैं। पूंजी मूलतया अवेतन श्रम कराने का अधिकार है। हर प्रकार का बेशी मूल्य, बाद में वह चाहे जो रूप (लाभ, सूद या किराया) धारण कर ले, वास्तव में अवेतन श्रम का मूर्त रूप होता है। इस प्रकार एक निश्चित मात्रा में दूसरों के अवेतन श्रम पर पूंजी के अधिकार में उसके आत्मविस्तार का रहस्य निहित है।

---

[20] यद्यपि फ़िज़ियोक्रैट बेशी मूल्य के रहस्य में नहीं पैठ सके थे, तथापि इतनी बात उनके दिमाग़ में साफ़ थी कि बेशी मूल्य एक ऐसा स्वतंत्र और क्रय-योग्य संपदा है, जिसे उसके मालिक ने ख़रीदा नहीं है, पर जिसे वह बेचता है।" (Turgot, *Réflexions sur la Formation et la Distribution des Richesses*, p. 11.)

भाग ६

मज़दूरी

अध्याय १६

श्रम-शक्ति के मूल्य का (और तदनुसार दाम का भी) मज़दूरी में रूपांतरण

बुर्जुआ समाज को सतही नज़र से देखिये, तो मज़दूर की मज़दूरी उसके श्रम का दाम प्रतीत होती है; लगता है जैसे श्रम की एक निश्चित मात्रा के एवज़ में द्रव्य की एक निश्चित मात्रा दे दी जाती है। इसीलिए लोग ग्राम तौर पर श्रम के मूल्य की बात करते हैं और द्रव्य के रूप में इस मूल्य की अभिव्यंजना को उसका आवश्यक अथवा स्वाभाविक दाम कहते हैं। दूसरी ओर वे श्रम के बाज़ार-भाव का अर्थात् दामों का भी ज़िक्र करते हैं जो श्रम के स्वाभाविक दाम के ऊपर-नीचे चढ़ते-उतरते रहते हैं।

लेकिन पण्य का मूल्य क्या होता है? उसके उत्पादन में ख़र्च हुए सामाजिक श्रम का वस्तुगत रूप। और इस मूल्य की मात्रा को हम नापते कैसे हैं? उसमें निहित श्रम की मात्रा के द्वारा। तब, मिसाल के लिए, १२ घंटे के काम के दिन का मूल्य कैसे तय होगा? १२ घंटे के काम के दिन में निहित १२ काम के घंटों से। पर यह तो बिल्कुल बेतुकी पुनरुक्ति है।[21]

पण्य के रूप में मंडी में बिकने के वास्ते श्रम के लिए यह हर हालत में ज़रूरी है कि बिकने

[21] "मि० रिकार्डो काफ़ी चतुराई का परिचय देते हुए उस कठिनाई से बच जाते हैं जो पहली दृष्टि में लगता था कि उनके सिद्धांत के लिए एक रोड़ा बन जायेगी। वह यह कि मूल्य उस श्रम की मात्रा पर निर्भर करता है, जो उत्पादन में लगा है। यदि इस सिद्धांत को दृढ़ता के साथ माना जाये, तो हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि श्रम का मूल्य श्रम की उस मात्रा पर निर्भर करेगा, जो उसको पैदा करने में लगा है, जो कि, ज़ाहिर है, एक बेतुकी बात है। इसलिए हाथ की अच्छी सफ़ाई दिखाते हुए मि० रिकार्डो श्रम के मूल्य को मज़दूरी के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा पर निर्भर बना देते हैं; या यदि स्वयं उनकी भाषा का प्रयोग किया जाये, तो वह यह कहते हैं कि श्रम के मूल्य का पता लगाने के लिए यह देखना होगा कि मज़दूरी पैदा करने के लिए श्रम की कितनी मात्रा चाहिए, जिससे उनका मतलब यह है कि मज़दूर को जो द्रव्य या जो पण्य दिये जाते हैं, उनको पैदा करने के लिए कितने श्रम की आवश्यकता है। यह तो उसी तरह की बात है, जैसे कोई यह कहे कि कपड़े का मूल्य उसके उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा से नहीं, बल्कि जिस चांदी के साथ कपड़े का विनिमय होता है, उसके उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है।" ([S. Bailey] *A Critical Dissertation on the Nature etc. of Value*, pp. 50, 51.)

के पहले उसका सचमुच अस्तित्व हो। परंतु यदि मजदूर ख़ुद श्रम को एक स्वतंत्र वस्तुगत अस्तित्व दे सकता, तो वह श्रम न बेचकर पण्य बेचता।[22]

इन असंगतियों के अलावा यदि जीवित श्रम के साथ द्रव्य का – अर्थात् भौतिक रूप प्राप्त श्रम का – प्रत्यक्ष विनिमय किया जायेगा, तो वह या तो मूल्य के नियम को नष्ट कर देगा, जिसका पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर स्वतंत्र विकास आरंभ ही होता है, या वह स्वयं पूंजीवादी उत्पादन को ख़त्म कर देगा, जो कि प्रत्यक्ष रूप में मजदूरी लेकर किये जानेवाले श्रम पर टिका हुआ है। मिसाल के लिए, मान लीजिये कि १२ घंटे का काम का दिन ६ शिलिंग के द्रव्य-मूल्य में निहित हुआ है। अब या तो समतुल्यों का विनिमय होता है, और उस दशा में मजदूर को १२ घंटे के श्रम के एवज में ६ शिलिंग मिल जाते हैं। इस स्थिति में उसके श्रम का दाम उसके उत्पाद के दाम के बराबर होगा। और इस सूरत में वह अपने श्रम के ख़रीदार के वास्ते जरा भी बेशी मूल्य नहीं पैदा करेगा और ६ शिलिंग की वह रक़म पूंजी में रूपांतरित नहीं होगी। यानी पूंजीवादी उत्पादन का आधार ही ग़ायब हो जायेगा। परंतु मजदूर तो इसी आधार पर अपना श्रम बेचता है, और इसी आधार पर उसका श्रम उजरती श्रम है। या फिर उसे १२ घंटे के श्रम के एवज में ६ शिलिंग से कम, अर्थात् १२ घंटे के श्रम से कम मिलता है। यानी बारह घंटे के श्रम का १० घंटे के श्रम के साथ, ६ घंटे के श्रम के साथ या उससे भी कम श्रम के साथ विनिमय किया जाता है। असमान मात्राओं का यह समानीकरण केवल मूल्य के निर्धारण का ही अंत नहीं कर देता। ऐसी आत्मविनाशी असंगति का तो किसी नियम के रूप में प्रतिपादन या स्थापना भी नहीं की जा सकती।[23]

यह कहने से कोई लाभ न होगा कि अधिक श्रम का कम श्रम के साथ इसलिए विनिमय होता है कि दोनों के रूप में अंतर है और उनमें से एक मूर्त रूप प्राप्त श्रम और दूसरा जीवित श्रम है।[24] यह बात इसलिए और भी बेतुकी है कि किसी भी पण्य का मूल्य उस श्रम की मात्रा

---

[22] "यदि आप श्रम को पण्य मानते हैं, तो यह उस पण्य की तरह नहीं है, जिसे विनिमय करने के पहले पैदा करना ज़रूरी होता है और फिर मंडी में लाया जाता है, जहां उसका अन्य पण्यों के साथ, उस समय वे पण्य जिस-जिस मात्रा में मंडी में मौजूद होते हैं, उसके अनुपात में विनिमय किया जाता है। श्रम तो उसी क्षण पैदा होता है, जिस क्षण वह मंडी में लाया जाता है; नहीं, बल्कि श्रम को तो पैदा करने के पहले ही मंडी में ले आते हैं।" (*Observations on Certain Verbal Disputes etc.*, pp. 75, 76.)

[23] "श्रम को एक प्रकार का पण्य और श्रम की उपज पूंजी को एक अन्य प्रकार का पण्य मानते हुए यदि इन दोनों पण्यों के मूल्यों का श्रम की समान मात्राओं के द्वारा नियमन होता हो, तो श्रम की एक निश्चित मात्रा का... पूंजी की उस मात्रा के साथ विनिमय होगा, जिसके उत्पादन में भी श्रम की यही मात्रा लगी है। जो श्रम पहले हो चुका है... उसका समान मात्रा के वर्तमान श्रम से विनिमय होगा। लेकिन अन्य पण्यों के संबंध में श्रम का मूल्य... श्रम की समान मात्राओं के द्वारा निर्धारित नहीं होता।" (ई० जी० वेकफ़ील्ड, ऐडम स्मिथ के *Wealth of Nations* के अपने संस्करण में, खण्ड १, लंदन, १८३६, पृ० २३१, नोट।)

[24] "सबको यह मानना पड़ा है" (यह एक नये ढंग का "contrat social" ["सामाजिक क़रार"] है!) "कि जहां कहीं मूर्त रूप प्राप्त श्रम का ऐसे श्रम के साथ विनिमय किया जाता है, जो भविष्य में किया जानेवाला है, वहां पहला (पूंजीपति) दूसरे (मजदूर) से अधिक मूल्य प्राप्त करेगा।" (Simonde de Sismondi, *De la Richesse Commerciale*, Genève, 1803, t. I, p. 37.)

से नहीं निर्धारित होता, जिसने सचमुच उसमें मूर्त रूप धारण किया है, बल्कि वह उस जीवित श्रम की मात्रा के द्वारा निर्धारित होता है, जो इस पण्य के उत्पादन के लिए आवश्यक होता है। मान लीजिये कि कोई पण्य काम के ६ घंटों का प्रतिनिधित्व करता है। यदि कोई ऐसा आविष्कार हो जाये, जिससे वह ३ घंटे में तैयार होने लगे, तो जो पण्य पहले तैयार हो चुका है, उसका मूल्य भी पहले का आधा रह जायेगा। यह पण्य पहले ६ घंटे के आवश्यक माने जानेवाले सामाजिक श्रम की जगह अब ३ घंटे का प्रतिनिधित्व करता है। किसी भी पण्य के मूल्य की मात्रा उसके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा से, न कि उस श्रम के मूर्त रूप से निर्धारित होती है।

मंडी में द्रव्य के मालिक का जिससे सीधे तौर पर सामना होता है, वह असल में श्रम नहीं, बल्कि मज़दूर होता है। मज़दूर जो चीज़ बेचता है, वह उसकी श्रम-शक्ति होती है। जैसे ही उसका श्रम सचमुच आरंभ होता है, वैसे ही वह मज़दूर की संपत्ति नहीं रह जाता और इसलिए तब मज़दूर उसे नहीं बेच सकता। श्रम मूल्य का सार और उसकी अंतर्भूत माप होता है, पर ख़ुद उसका कोई मूल्य नहीं होता।[25]

जब हम "श्रम का मूल्य" शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब मूल्य का प्रत्यय न केवल पूरी तरह ख़त्म हो जाता है, बल्कि वास्तव में उलट दिया जाता है। ये शब्द पृथ्वी के मूल्य की चर्चा करने के समान काल्पनिक हैं। किंतु इस प्रकार की काल्पनिक अभिव्यंजनाएं स्वयं उत्पादन के संबंधों से उत्पन्न होती हैं। ये परिकल्पनाएं मौलिक संबंधों के इंद्रियगम्य रूपों के लिए प्रयुक्त प्रवर्ग हैं। राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिवा प्रत्येक विज्ञान में यह बात काफ़ी सुविदित है कि अपने दिखावटी रूप में चीज़ें अकसर उल्टी नज़र आती हैं।[26]

---

[25] "मूल्य का एकमात्र मापदंड – श्रम... हर प्रकार के धन का जनक होता है, वह पण्य नहीं होता।" (Th. Hodgskin, *Popular Political Economy*, p. 186.)

[26] दूसरी ओर, इस प्रकार के शब्दों को केवल कवि-निरंकुशता बताना महज़ अपने विश्लेषण के निकम्मेपन को साबित करना है। इसीलिए जब प्रूदों ने यह लिखा कि "हम जो यह कहते हैं कि श्रम का मूल्य होता है, वह इसीलिए नहीं कि श्रम ख़ुद बिक्री की चीज़ होता है, बल्कि हम यह उन मूल्यों का ख़याल करके कहते हैं, जो संभावित रूप में श्रम में निहित समझे जाते हैं। श्रम का मूल्य एक आलंकारिक अभिव्यक्ति है," इत्यादि, तो मैंने जवाब में यह कहा था कि "बिक्री की चीज़ के रूप में श्रम एक भयानक वास्तविकता है; परंतु उन्हें (प्रूदों को) उसमें कहने के एक संक्षिप्त ढंग के सिवा और कुछ दिखायी नहीं देता। इसलिए उनके अनुसार हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि आजकल के इस पूरे समाज को, जो बिक्री की चीज़ के रूप में श्रम पर आधारित है, आगे से कवि-निरंकुशता पर, एक आलंकारिक शब्दावली पर आधारित समझना चाहिए। समाज जितनी असुविधाओं से पीड़ित है, यदि वह उन सबसे छुटकारा पाना चाहता है, तो ठीक है, उसे तमाम कर्कश शब्दों से छुटकारा पा लेना चाहिए और कहने के ढंग को बदल देना चाहिए। इस सबके लिए उसे सिर्फ़ इतना ही करना है कि अकादमी को एक आवेदनपत्र भेजकर उससे अपने शब्दकोष का एक नया संस्करण प्रकाशित करने का अनुरोध करे।" (Karl Marx, *Misère de la Philosophie*, pp. 34, 35.) ज़ाहिर है, यदि यह मानकर चला जाये कि मूल्य का अर्थ कुछ नहीं होता, तो और भी सुविधा हो जायेगी। तब हम बिना किसी कठिनाई के प्रत्येक वस्तु को इस परिकल्पना में सम्मिलित कर सकेंगे। उदाहरण के लिए, जे० बी० सेय ठीक यही करते हैं। "मूल्य" क्या होता है? उत्तर: "किसी चीज़ की क़ीमत उसका मूल्य होती है।" और "दाम" क्या होता है? उत्तर: "किसी चीज़ का मूल्य जब द्रव्य में अभिव्यक्त होता है, तब वह उसका दाम होता है।" और "भूमि की जुताई-बुवाई"

क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र ने "श्रम का दाम" नामक परिकल्पना रोज़मर्रा के जीवन से, बिना इसकी आगे छानबीन किये, आंखें बंद करके उधार ले ली और फिर बस यह प्रश्न कर डाला कि यह दाम किस तरह निर्धारित होता है। शीघ्र ही उसने यह स्वीकार कर लिया कि मांग और पूर्ति के संबंधों में जो परिवर्तन आते रहते हैं, उनसे अन्य तमाम पण्यों की तरह श्रम के दाम के विषय में भी उसकी तब्दीलियों—यानी एक निश्चित मध्यमान के ऊपर या नीचे बाज़ार-भाव के उतार-चढ़ावों—के सिवा और कुछ नहीं मालूम होता। यदि मांग और पूर्ति का संतुलन हो जाता है और अन्य बातें सब ज्यों की त्यों रहती हैं, तो दामों का उतार-चढ़ाव बंद हो जाता है। परंतु तब मांग और पूर्ति से भी कोई चीज़ समझ में नहीं आती। जब मांग और पूर्ति संतुलन की अवस्था में होती हैं, उस समय श्रम का जो दाम होता है, वह उसका स्वाभाविक दाम है, जो मांग और पूर्ति के संबंध से स्वतंत्र रूप में निर्धारित होता है। तो उसे क्या निर्धारित करता है—सवाल यही है। या जब एक अधिक लंबे काल के, जैसे एक वर्ष के बाज़ार-भावों के उतार-चढ़ावों पर विचार किया जाता है, तब पता चलता है कि वे एक दूसरे का असर बराबर कर देते हैं और इस तरह एक औसत मात्रा बच रहती है, जो एक अपेक्षाकृत स्थिर मात्रा होती है। इस मात्रा में एक दूसरे की क्षति-पूर्ति करनेवाले जो परिवर्तन आते रहते हैं, स्वभावतया उनके सिवा किसी और तत्त्व के द्वारा इस मात्रा को निर्धारित करना आवश्यक था। यह दाम, जो श्रम के सांयोगिक बाज़ार-भावों पर अंत में हमेशा हावी हो जाता है और जिसे फ़िज़ियोक्रेटों ने श्रम का "आवश्यक दाम" कहा था और ऐडम स्मिथ ने "स्वाभाविक दाम" का नाम दिया था, वह अन्य तमाम पण्यों के दामों की तरह द्रव्य के रूप में श्रम के मूल्य की अभिव्यंजना के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। राजनीतिक अर्थशास्त्र ने इस तरह श्रम के सांयोगिक दामों की तह में पैठकर श्रम के मूल्य तक पहुंच पाने की आशा की। अन्य पण्यों की तरह श्रम का यह मूल्य उत्पादन की लागत से निर्धारित होता था। परंतु मज़दूर के उत्पादन की—अर्थात् ख़ुद मज़दूर का उत्पादन अथवा पुनरुत्पादन करने की—लागत क्या होती है? अचेतन ढंग से इस प्रश्न ने राजनीतिक अर्थशास्त्र में मौलिक प्रश्न का स्थान ले लिया, क्योंकि ख़ुद श्रम के उत्पादन के ख़र्चे की तलाश सदा एक अंधकूप में चक्कर लगाती रही और उसके बाहर वह कभी न निकल सकी। इसलिए अर्थशास्त्री जिसे श्रम का मूल्य कहते हैं, वह असल में श्रम-शक्ति का मूल्य होता है, जिसका अस्तित्व मज़दूर के व्यक्तित्व में होता है। यह श्रम-शक्ति अपने कार्य से, अर्थात् श्रम से, उतनी ही भिन्न होती है, जितनी मशीन, वह जो काम करती है, उससे भिन्न होती है। अर्थशास्त्रियों का ध्यान चूंकि इस प्रकार के प्रश्नों पर केंद्रित था, जैसे यह कि श्रम के बाज़ार-भाव और उसके तथाकथित मूल्य में क्या अंतर होता है, इस मूल्य का लाभ की दर से और श्रम के साधनों द्वारा उत्पादित पण्यों के मूल्य से क्या संबंध होता है, इत्यादि, इत्यादि, इसलिए उनको यह कभी पता न चला कि अपने विश्लेषण के दौरान वे न सिर्फ़ श्रम के बाज़ार-भाव से उसके तथाकथित मूल्य पर पहुंच गये हैं, बल्कि श्रम का यह मूल्य ख़ुद श्रम-शक्ति के मूल्य में परिणत हो गया है। क्लासिकीय राजनीतिक

करने के लिए "मूल्य" क्यों देना होता है? "क्योंकि हम उसके दाम लगा देते हैं।" इसलिए मूल्य किसी चीज़ की क़ीमत को कहते हैं और भूमि का "मूल्य" इसलिए होता है कि उसका मूल्य "द्रव्य में अभिव्यक्त किया जाता है।" चीज़ें जैसी हैं, वैसी क्यों हैं और किस तरह अस्तित्व में आयी हैं, इस सबका पूरा ज्ञान प्राप्त करने का यह निश्चय ही बहुत सहज तरीक़ा है।

अर्थशास्त्र ख़ुद अपने विश्लेषण के परिणामों के बारे में सजग न हो पाया; "श्रम का मूल्य", "श्रम का स्वाभाविक दाम", आदि परिकल्पनाओं को उसने आंखें बंद करके विचाराधीन मूल्य-संबंध की अंतिम और पर्याप्त अभिव्यंजना के रूप में स्वीकार कर लिया था, और जैसा कि हम बाद को देखेंगे, इसके फलस्वरूप वह एक अजीब उलझाव और असंगतियों में फंस गया था और साथ ही सतही अर्थशास्त्रियों को, जो सिद्धांततः केवल दिखावटी बातों की ही पूजा करते हैं, उसने उनके छिछलेपन के उपयोग के लिए एक मज़बूत आधार दे दिया था।

आइये, अब हम यह देखें कि श्रम-शक्ति का मूल्य और दाम इस रूपांतरित अवस्था में अपने को मज़दूरी के रूप में कैसे पेश करते हैं।

हम जानते हैं कि श्रम-शक्ति के दैनिक मूल्य का हिसाब लगाने के लिए हम मज़दूर के जीवन की एक ख़ास अवधि मानकर चलते हैं और उसके अनुरूप काम के दिन की भी एक ख़ास लंबाई मान ली जाती है। मान लीजिये कि प्रचलित काम का दिन १२ घंटे का है और श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, जो द्रव्य के रूप में एक ऐसे मूल्य की अभिव्यंजना है, जिसमें ६ घंटे का श्रम निहित है। जब मज़दूर को ३ शिलिंग मिलते हैं, तो वह १२ घंटे तक काम करनेवाली अपनी श्रम-शक्ति का मूल्य पा जाता है। अब यदि एक दिन की श्रम-शक्ति के इस मूल्य को ख़ुद एक दिन के श्रम का मूल्य मान लिया जाये, तो यह सूत्र सामने आता है कि १२ घंटे के श्रम का मूल्य ३ शिलिंग है। इस प्रकार श्रम-शक्ति का मूल्य श्रम के मूल्य को, या – यदि उसे द्रव्य के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है, तो – उसके आवश्यक दाम को निर्धारित करता है। दूसरी ओर, यदि श्रम-शक्ति का दाम उसके मूल्य से भिन्न है, तो श्रम का दाम भी उसके तथाकथित मूल्य से उसी तरह भिन्न होता है।

श्रम का मूल्य चूंकि केवल श्रम-शक्ति के मूल्य की ही एक अयुक्तियुक्त अभिव्यक्ति होता है, इसलिए ज़ाहिर है कि इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि श्रम का मूल्य उसके द्वारा पैदा किये गये मूल्य से सदा कम होगा, क्योंकि ख़ुद श्रम-शक्ति के मूल्य के पुनरुत्पादन के लिए जितना काम करना आवश्यक होता है, पूंजीपति श्रम-शक्ति से सदा इससे ज़्यादा काम लेता है। ऊपर जो मिसाल दी गयी है, उसमें १२ घंटे तक काम करनेवाली श्रम-शक्ति का मूल्य ३ शिलिंग है। इतने मूल्य के पुनरुत्पादन के लिए ६ घंटे आवश्यक होते हैं। पर दूसरी ओर, श्रम-शक्ति जो मूल्य पैदा कर देती है, वह ६ शिलिंग के बराबर होता है, क्योंकि असल में तो वह १२ घंटे काम करती है और वह कितना मूल्य पैदा करेगी, यह ख़ुद उसके मूल्य पर नहीं, बल्कि इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितनी देर तक काम करती रहती है। इस प्रकार हम एक ऐसे नतीजे पर पहुंच जाते हैं, जो पहली दृष्टि में बेतुका प्रतीत होता है। वह यह कि ६ शिलिंग का मूल्य पैदा करनेवाले श्रम का मूल्य ३ शिलिंग होता है।[27]

हम आगे यह भी देखते हैं कि ३ शिलिंग का वह मूल्य, जिसके द्वारा काम के दिन के केवल एक भाग की – अर्थात् ६ घंटे के श्रम की – ही उजरत चुकायी जाती है, १२ घंटे के पूरे दिन के मूल्य अथवा दाम के रूप में सामने आता है, और इन १२ घंटों में इस तरह वे ६ घंटे

---

[27] देखिये *Zur Kritik der Politischen Oekonomie* (Berlin, 1859, S. 40, जहां मैंने यह कहा है कि उस पुस्तक के पूंजी से संबंध रखनेवाले भाग में इस समस्या को हल किया जायेगा कि "केवल श्रम-काल के द्वारा निर्धारित होनेवाले विनिमय-मूल्य के आधार पर उत्पादन हमें इस नतीजे पर कैसे पहुंचा देता है कि श्रम का विनिमय-मूल्य श्रम के उत्पाद के विनिमय-मूल्य से कम होता है?"

भी शामिल होते हैं, जिनमें मजदूर ने बिना उजरत के काम किया है। इस प्रकार मजदूरी-रूप इस बात के प्रत्येक चिह्न को मिटा देता है कि काम के दिन का आवश्यक श्रम और बेशी श्रम में, मजदूरी पानेवाले और मजदूरी न पानेवाले श्रम में विभाजन हो जाता है। सारा श्रम मजदूरी पानेवाले श्रम के रूप में सामने आता है। हरी-बेगार की प्रथा में मजदूर ख़ुद अपने लिए जो श्रम करता है और उसे अपने मालिक के लिए जो बेगार करनी पड़ती है, उन दोनों के बीच स्थान और समय का बहुत ही स्पष्ट अंतर होता है। गुलामी की प्रथा में काम के दिन के जिस हिस्से में गुलाम केवल अपने जीवन-निर्वाह के साधनों के मूल्य के बराबर मूल्य पैदा करता है और इसलिए जिस हिस्से में वह महज अपने लिए काम करता है, उस हिस्से का श्रम भी मालिक के लिए किया गया श्रम ही प्रतीत होता है। गुलाम का सारा श्रम मजदूरी न पानेवाला श्रम प्रतीत होता है।[28] इसके विपरीत मजदूरी-श्रम में बेशी श्रम, या मजदूरी न पानेवाला श्रम भी मजदूरी पानेवाला लगता है। वहां गुलाम ख़ुद अपने लिए जो श्रम करता है, संपत्ति का संबंध उसपर पर्दा डाल देता है; यहां द्रव्य का संबंध मजदूरी लेकर श्रम करनेवाले मजदूर के मजदूरी न पानेवाले श्रम को आंखों से छिपा देता है।

इससे हम यह समझ सकते हैं कि श्रम-शक्ति के मूल्य तथा दाम के इस रूपांतरण का, उनके इस तरह मजदूरी का या ख़ुद श्रम के मूल्य तथा दाम का रूप धारण कर लेने का कितना निर्णायक महत्त्व है। यह दृश्य-रूप वास्तविक संबंध को अदृश्य कर देता है, और सच पूछिये तो वह उस संबंध को ठीक उल्टा करके हमें दिखाता है। मजदूर और पूंजीपति दोनों की तमाम विधिक धारणाएं, उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली से संबंधित तमाम रहस्यमयी बातें, स्वतंत्रता के विषय में उसकी समस्त भ्रांतियां और सतही अर्थशास्त्री अपने मत की वकालत करने के लिए जितनी पैंतरेबाजियां दिखाते हैं, वे सबकी सब इस दृश्य-रूप पर ही आधारित हैं।

यदि इतिहास ने मजदूरी के रहस्य की तह तक पहुंचने में बहुत समय लगा दिया है, तो दूसरी ओर, इस दृश्य-रूप की आवश्यकता को, उसके raison d'être [अस्तित्व के कारण] को, समझने से अधिक सहज काम और कोई नहीं है।

पूंजी और श्रम के बीच जो विनिमय होता है, वह शुरू में अन्य सब पण्यों के क्रय-विक्रय के समान ही हमारे सामने आता है। ख़रीदार द्रव्य की एक निश्चित रक़म देता है, विक्रेता द्रव्य से भिन्न स्वरूप की कोई वस्तु देता है। क़ानूनदां की चेतना को इसमें अधिक से अधिक एक भौतिक अंतर दिखायी देता है, जो उसके क़ानूनी पर्याय का काम करनेवाले इन सूत्रों में व्यक्त होता है कि: "Do ut des, do ut facias, facio ut des, facio ut facias" ["देता हूं ताकि तुम भी दो; देता हूं, ताकि तुम भी करो; करता हूं, ताकि तुम भी दो; करता हूं ताकि तुम भी करो"]।

---

[28] स्वतंत्र व्यापार के समर्थकों के *Morning Star* नामक लंदन से प्रकाशित पत्र की सरलता मूर्खता की सीमा तक पहुंच जाती है। आदमी जितना नैतिक क्रोध बटोर सकता है, वह सारा बटोरकर उसने अमरीकी गृह-युद्ध के दिनों में बार-बार यह कहा कि "Confederate States" ["दक्षिण राज्यों"] में हबशियों को एकदम मुफ़्त में काम करना पड़ता है। उसे देखना यह चाहिए था कि अमरीका के इन राज्यों में एक हबशी मजदूर पर रोजाना कितना ख़र्च किया जाता है और उसके मुक़ाबले में लंदन के ईस्ट एण्ड में रहनेवाले एक स्वतंत्र मजदूर का दैनिक ख़र्चा कितना बैठता है।

आगे। विनिमय-मूल्य और उपयोग-मूल्य चूंकि अपने में असम्मेय मात्राएं होती हैं, इसलिए "श्रम का मूल्य" और "श्रम का दाम" शब्दावली "कपास का मूल्य" और "कपास का दाम" से अधिक अविवेकपूर्ण नहीं प्रतीत होती। इसके अलावा मज़दूर को अपना श्रम दे देने के बाद उजरत मिलती है। भुगतान के साधन का काम करता हुआ द्रव्य पेशगी दे दी गयी वस्तु के मूल्य अथवा दाम को मूर्त रूप देता है। इस विशिष्ट उदाहरण में वह पेशगी दे दिये गये श्रम के मूल्य अथवा दाम को मूर्त रूप देता है। अंतिम बात यह है कि मज़दूर पूंजीपति को जो उपयोग-मूल्य देता है, वह वास्तव में उसकी श्रम-शक्ति नहीं, बल्कि श्रम-शक्ति का कार्य होता है। वह किसी ख़ास तरह का – जैसे दर्ज़ीगीरी, मोचीगीरी या कताई का – उपयोगी श्रम होता है। यह बात साधारण दिमाग़ की पहुंच के बाहर है कि इसके साथ-साथ यही श्रम मूल्य पैदा करनेवाला सार्विक तत्त्व भी होता है और इस तरह उसमें एक ऐसा गुण होता है, जो और किसी पण्य में नहीं होता।

आइये, हम अपने को ज़रा उस मज़दूर की स्थिति में रखकर विचार करें, जिसको, मान लीजिये, १२ घंटे के श्रम के एवज़ में ६ घंटे के श्रम द्वारा उत्पादित मूल्य मिलता है। मान लीजिये कि यह मूल्य ३ शिलिंग के बराबर है। इस मज़दूर के लिए १२ घंटे का उसका श्रम असल में ३ शिलिंग की रक़म ख़रीदने का साधन होता है। वह आम तौर पर जीवन-निर्वाह के जिन साधनों का उपयोग करता है, उनके साथ-साथ उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य भी बदल सकता है। यह ३ शिलिंग से बढ़कर ४ शिलिंग या ३ शिलिंग से घटकर २ शिलिंग हो सकता है। या अगर उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य स्थिर रहता है, तो मांग और पूर्ति के बदलते हुए संबंधों के फलस्वरूप उसके दाम में घटा-बढ़ी हो सकती है। वह बढ़कर ४ शिलिंग हो सकता है या घटकर २ शिलिंग हो सकता है। पर मज़दूर सदा १२ घंटे का श्रम ही देता है। इसलिए अपने श्रम का जो समतुल्य उसे मिलता है, उसकी मात्रा में होनेवाला प्रत्येक परिवर्तन उसे अनिवार्य रूप से उसके १२ घंटे के काम के मूल्य अथवा दाम का परिवर्तन प्रतीत होता है। ऐडम स्मिथ को, जो काम के दिन को एक स्थिर मात्रा मानते थे,[29] इस बात ने गुमराह कर दिया, और वह कहने लगे कि जीवन-निर्वाह के साधनों के मूल्य में हालांकि उतार-चढ़ाव आ सकते हैं और इसलिए काम के एक ही दिन से हालांकि मज़दूर को कभी अधिक और कभी कम द्रव्य मिल सकता है, फिर भी श्रम का मूल्य स्थिर रहता है।

दूसरी ओर, ज़रा पूंजीपति की स्थिति पर विचार कीजिये। वह कम से कम द्रव्य देकर ज़्यादा से ज़्यादा काम लेना चाहता है। इसलिए व्यावहारिक रूप में उसको केवल इस एक बात में दिलचस्पी होती है कि श्रम-शक्ति के दाम में और श्रम-शक्ति का कार्य जो मूल्य पैदा करता है, उसमें कितना अंतर है। परंतु उधर वह सभी पण्यों को सस्ते से सस्ते दामों पर ख़रीदने की कोशिश करता है और दूसरों की आंखों में धूल झोंककर पण्य ख़रीदते समय मूल्य से कम दाम देने और माल बेचते समय मूल्य से अधिक दाम लेने को ही वह अपने लाभ का स्रोत समझता है। इसलिए वह यह कभी नहीं देख पाता कि यदि "श्रम का मूल्य" नाम की कोई वस्तु सचमुच होती और यदि पूंजीपति को सचमुच श्रम का मूल्य देना पड़ता, तो पूंजी का अस्तित्व ही असंभव हो जाता और उसका द्रव्य हरगिज़ पूंजी न बन पाता।

---

[29] काम के दिन में जो घटा-बढ़ी हो सकती है, उसका ऐडम स्मिथ ने कार्यानुसार मज़दूरी की चर्चा करते हुए केवल संयोगवश कुछ ज़िक्र कर दिया है।

इसके अतिरिक्त मज़दूरी के उतार-चढ़ाव में भी कुछ ऐसी बातें दिखायी देती हैं, जिनसे यह लगता है कि श्रम-शक्ति का मूल्य नहीं, बल्कि श्रम-शक्ति के कार्य का – स्वयं श्रम का – मूल्य अदा किया जा रहा है। इन बातों को दो बड़ी श्रेणियों में बांटा जा सकता है: १) काम के दिन की लंबाई के बदलने के साथ-साथ मज़दूरी का भी बदल जाना। इससे हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि किसी मशीन को दिन भर के लिए किराये पर लेने की अपेक्षा चूंकि सप्ताह भर के लिए किराये पर लेने में ज़्यादा ख़र्च होता है, इसलिए इससे यह साबित होता है कि किराये के रूप में मशीन का मूल्य नहीं, बल्कि मशीन के कार्य का मूल्य दिया जाता है। २) एक ही तरह का काम करनेवाले विभिन्न मज़दूरों की मज़दूरी में व्यक्तिगत भेद। यह व्यक्तिगत भेद ग़ुलामी की व्यवस्था में भी होता है, पर वहां हम उसकी वजह से किसी धोखे में नहीं पड़ते। वहां तो बिना किसी लाग-लपेट के, खुलेआम और साफ़ तौर पर, ख़ुद श्रम-शक्ति की बिक्री होती है। किंतु ग़ुलामी की व्यवस्था में यदि श्रम-शक्ति औसत से ज़्यादा अच्छी है, तो उसका लाभ, और यदि वह औसत से कम अच्छी है, तो उसकी हानि ग़ुलाम के मालिक को होती है, जब कि मज़दूरी की व्यवस्था में ख़ुद मज़दूर को हानि-लाभ होता है। इसका कारण यह है कि जहां मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति को ख़ुद बेचता है, वहां ग़ुलाम की श्रम-शक्ति को कोई तीसरा व्यक्ति बेचता है।

जहां तक बाक़ी बातों का संबंध है, "श्रम का मूल्य तथा दाम", या "मज़दूरी" नामक दृश्य-रूप में और इस रूप में व्यक्त होनेवाले मौलिक संबंध – अर्थात् श्रम-शक्ति के मूल्य तथा दाम – में वही अंतर पाया जाता है, जो अन्य तमाम दृश्य घटनाओं और उनके गुप्त सारतत्त्व के बीच होता है। दृश्य घटनाएं सीधे तौर पर और स्वयंस्फूर्त ढंग से चिंतन की प्रचलित प्रणालियों के रूप में प्रकट होती हैं; उनके गुप्त सारतत्त्व का विज्ञान के द्वारा पता लगाना पड़ता है। क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र वस्तुओं के वास्तविक संबंध को लगभग छू लेता है, परंतु वह सचेतन ढंग से उसकी स्थापना नहीं कर पाता। और जब तक वह अपनी बुर्जुआ केंचुल को उतारकर नहीं फेंकता, वह ऐसा नहीं कर सकता।

अध्याय २०

समयानुसार मजदूरी

मज़दूरी ख़ुद भी अनेक प्रकार के रूप धारण करती है, हालांकि अर्थशास्त्र की साधारण पुस्तकों में इस तथ्य को स्वीकार नहीं किया जाता। इन पुस्तकों की प्रश्न के केवल भौतिक रूप में ही दिलचस्पी होती है, और वे रूप के प्रत्येक भेद को अनदेखा कर देती हैं। किंतु इन तमाम रूपों का विवेचन तो केवल विशेष रूप से मजदूरी का अध्ययन करनेवाले ग्रंथों में ही किया जा सकता है। इस पुस्तक में उसके लिए स्थान नहीं है। फिर भी यहां पर मजदूरी के दो मौलिक रूपों का संक्षिप्त वर्णन तो करना ही होगा।

पाठक को याद होगा कि श्रम-शक्ति की बिक्री सदा एक निश्चित अवधि के लिए होती है। इसलिए श्रम-शक्ति के दैनिक, साप्ताहिक, आदि मूल्य जिस परिवर्तित रूप में सामने आते हैं, वह समयानुसार मजदूरी, अर्थात् दैनिक मजदूरी, साप्ताहिक मजदूरी, आदि है।

दूसरी बात हमें यह देखनी चाहिए कि १७ वें अध्याय में श्रम-शक्ति के दाम और बेशी मूल्य के सापेक्ष परिमाणों में होनेवाले परिवर्तनों से संबंधित जिन नियमों का ज़िक्र किया गया है, वे एक साधारण रूपांतरण के द्वारा मज़दूरी के नियमों में बदल जाते हैं। इसी प्रकार श्रम-शक्ति का विनिमय-मूल्य और यह मूल्य जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की जिस राशि में बदल दिया जाता है, इन दोनों के बीच जो अंतर होता है, वह अब नक़दी मज़दूरी और वास्तविक मज़दूरी के अंतर के रूप में पुनः प्रकट होता है। सारभूत रूप के विषय में हम जिन बातों की पहले ही चर्चा कर आये हैं, उनको अब दृश्य-रूप के विषय में दुहराना निरर्थक है। इसलिए हम यहां पर समयानुसार मज़दूरी के कुछ विशेष लक्षणों तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

मज़दूर को अपने दैनिक अथवा साप्ताहिक श्रम के एवज़ में द्रव्य की जो रक़म[30] मिलती है, वह उसकी नक़दी मज़दूरी, या मूल्य के रूप में व्यक्त मज़दूरी, होती है। परंतु यह बात स्पष्ट है कि काम के दिन की लंबाई के अनुसार, अर्थात् मजदूर सचमुच जितना श्रम रोज़ाना देता है, उसके अनुसार एक ही दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी से श्रम के बहुत अलग-अलग दाम व्यक्त हो सकते हैं, यानी श्रम की एक ही मात्रा के लिए द्रव्य की बहुत अलग-अलग रक़में दी जा सकती हैं।[31] इसलिए समयानुसार मज़दूरी पर विचार करते हुए हमें एक बार फिर यह समझना चाहिए कि दैनिक मज़दूरी, साप्ताहिक मज़दूरी, आदि की कुल रक़म और श्रम के दाम में भेद

---

[30] ख़ुद द्रव्य का मूल्य हम यहां पर सदा स्थिर मानकर चल रहे हैं।

[31] "श्रम का दाम वह रक़म है, जो श्रम की एक निश्चित मात्रा के एवज़ में दी जाती है।" (Sir Edward West, *Price of Corn and Wages of Labour*, London, 1826, p. 67.) वेस्ट ने ही गुमनाम पुस्तक *Essay on the Application of Capital to Land. By a Fellow of the University College of Oxford*, (London, 1815) लिखी है। राजनीतिक अर्थशास्त्र के इतिहास में यह एक युगांतरकारी पुस्तक है।

होता है। तब इस दाम का—अर्थात् श्रम की एक निश्चित मात्रा के एवज़ में दिये गये द्रव्य-मूल्य का—कैसे पता लगाया जाये? जब श्रम-शक्ति के औसत दैनिक मूल्य को काम के दिन के घंटों की औसत संख्या से भाग दिया जाता है, तो हमें श्रम का औसत दाम मालूम हो जाता है। मिसाल के लिए, यदि श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, जो कि ६ घंटों के श्रम के उत्पाद के मूल्य के बराबर होता है, और यदि काम का दिन १२ घंटों का है, तो १ घंटे का दाम $\frac{३}{१२}$ शिलिंग या ३ पेंस बैठता है। इस प्रकार काम के घंटे का जो दाम हमें मालूम हो जाता है, वह श्रम के दाम को मापने की इकाई का काम करता है।

इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रम के दाम के बराबर गिरते जाने पर भी यह मुमकिन है कि दैनिक मज़दूरी, साप्ताहिक मज़दूरी, आदि ज्यों की त्यों बनी रहें। मिसाल के लिए यदि प्रचलित काम का दिन १० घंटे का है और श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, तो काम के एक घंटे का दाम ३$\frac{३}{५}$ पेंस बैठता है। जैसे ही काम का दिन बढ़कर १२ घंटे का हो जाता है, वैसे ही यह दाम घटकर ३ पेंस, और जैसे ही काम का दिन १५ घंटे का हो जाता है, वैसे ही काम के एक घंटे का दाम केवल २$\frac{२}{५}$ पेंस ही रह जाता है। परंतु इस सबके बावजूद दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी ज्यों की त्यों बनी रहती है। इसके विपरीत यह भी मुमकिन है कि श्रम का दाम स्थिर रहे या यहां तक कि कम हो जाये, पर दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी बढ़ जाये। मिसाल के लिए, यदि काम का दिन १० घंटे का है और श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, तो काम के एक घंटे का दाम ३$\frac{३}{५}$ पेंस बैठता है। यदि व्यवसाय में तेज़ी आने के फलस्वरूप मज़दूर १२ घंटे रोज़ काम करने लगता है, पर श्रम का दाम ज्यों का त्यों बना रहता है, तो उसकी दैनिक मज़दूरी बढ़कर ३ शिलिंग ७$\frac{१}{५}$ पेंस हो जायेगी, हालांकि श्रम के दाम में कोई तब्दीली नहीं आयेगी। यदि श्रम के विस्तार में वृद्धि होने के बजाय उसकी तीव्रता में वृद्धि हो जाये, तो उसका भी यही नतीजा होगा।[32] इसलिए दैनिक या साप्ताहिक नक़दी मज़दूरी में वृद्धि होने के साथ-साथ यह मुमकिन है कि श्रम का दाम स्थिर बना रहे या उसमें गिरावट आ जाये। किसी मज़दूर-परिवार का मुखिया जो श्रम करता है, जब उसकी मात्रा में परिवार के अन्य सदस्यों के श्रम के फलस्वरूप वृद्धि हो जाती है, तब परिवार की आय भी इसी तरह बढ़ जाती है, हालांकि श्रम का दाम ज्यों का त्यों रहता है। इसलिए

---

[32] "श्रम की मज़दूरी श्रम के दाम और इस बात पर निर्भर करती है कि कितना श्रम किया गया है... यदि श्रम की मज़दूरी में वृद्धि हो जाती है, तो उसका लाज़िमी तौर पर यह मतलब नहीं होता कि श्रम का दाम भी बढ़ गया है। श्रम का दाम ज्यों का त्यों बना रहते हुए भी यदि मज़दूर के समय का अधिक पूर्ण उपयोग किया जाता है और वह पहले से अधिक मेहनत करता है, तो श्रम की मज़दूरी में काफ़ी वृद्धि हो सकती है।" (West, *Price of Corn and Wages of Labour*, London, 1826, pp.67, 68, 112.) मुख्य प्रश्न यह है कि "श्रम का दाम कैसे निर्धारित होता है"। परंतु महज़ कुछ पिटी-पिटायी बातों को दुहराकर वेस्ट इस प्रश्न को टाल देते हैं।

दैनिक या साप्ताहिक नक़दी मज़दूरी को घटाने से अलग भी श्रम के दाम को कम करने के कुछ तरीक़े हैं।[33]

एक सामान्य नियम के रूप में इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि दैनिक श्रम, साप्ताहिक श्रम, आदि की मात्रा पहले से निश्चित हो, तो दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी श्रम के दाम पर निर्भर करती है, जो ख़ुद या तो श्रम-शक्ति के मूल्य के साथ घटता-बढ़ता रहता है, या श्रम-शक्ति के दाम तथा मूल्य में जो अंतर होता है, उसके साथ बदलता रहता है। दूसरी ओर, यदि श्रम का दाम पहले से निश्चित हो, तो दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी दैनिक या साप्ताहिक श्रम की मात्रा पर निर्भर करती है।

समयानुसार मज़दूरी मापने की इकाई, अर्थात् काम के एक घंटे का दाम वह भागफल होता है, जो एक दिन की श्रम-शक्ति के मूल्य को काम के औसत दिन के घंटों की संख्या से भाग देने पर निकलता है। मान लीजिये कि काम का दिन १२ घंटे का है और श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग है, जो ६ घंटे के श्रम के उत्पाद के मूल्य के बराबर होता है। इन परिस्थितियों में काम के एक घंटे का दाम होगा ३ पेंस, और एक घंटे में मूल्य पैदा होगा ६ पेंस का। अब यदि मज़दूर से १२ घंटे से कम (या सप्ताह में ६ दिन से कम) काम लिया जाता है, — मिसाल के लिए, यदि उससे केवल ६ या ८ घंटे काम लिया जाता है, तो श्रम के इस दाम के अनुसार उसे केवल २ शिलिंग या १ शिलिंग ६ पेंस रोज़ाना ही मिलेंगे।[34] चूंकि हम जो

---

[33] १८वीं सदी के औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग के उस कट्टर प्रतिनिधि ने भी यह बात महसूस की है जिसने *Essay on Trade and Commerce* लिखा है। इस रचना को हम अकसर उद्धृत करते रहे हैं। परंतु इस लेखक ने सवाल को कुछ गड़बड़ ढंग से पेश किया है। उसने लिखा है: "खाने-पीने की वस्तुओं और जीवन के लिए आवश्यक अन्य चीज़ों के दाम से श्रम का दाम निर्धारित नहीं होता" (दाम से उसका मतलब दैनिक या साप्ताहिक नक़दी मज़दूरी से है), "बल्कि श्रम की मात्रा निर्धारित होती है। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के दाम को घटाकर बहुत कम कर दो, तो ज़ाहिर है कि श्रम की मात्रा भी उसी अनुपात में कम हो जायेगी। कारख़ानों के मालिक जानते हैं कि श्रम के दाम की नक़द राशि में परिवर्तन करने के अलावा भी उसे बढ़ाने और घटाने के अनेक तरीक़े हैं।" (l.c., pp. 48, 61.) एन० डब्ल्यू० सीनियर ने अपनी रचना *Three Lectures on the Rate of Wages*, London, 1830) में वेस्ट की रचना का, बिना उनका नाम लिये हुए, उपयोग किया है। उसमें उन्होंने लिखा है: "मज़दूर की दिलचस्पी मुख्यतया मज़दूरी की रक़म में होती है" (पृ० १५), यानी सीनियर के कथनानुसार मज़दूर की दिलचस्पी मुख्यतया उसमें होती है, जो उसके हाथ में आता है, न कि उसमें जो उसे देना पड़ता है; अर्थात् उसकी दिलचस्पी मज़दूरी की नक़द रक़म में होती है, न कि श्रम की मात्रा में!

[34] मज़दूर के काम में इस तरह की असाधारण कमी का जो प्रभाव होता है, वह क़ानून के द्वारा अनिवार्य रूप से और आम तौर पर काम के दिन में कमी कर देने के प्रभाव से बिल्कुल भिन्न होता है। पहले प्रकार की कमी का काम के दिन की निरपेक्ष लंबाई से कोई संबंध नहीं होता। उस प्रकार की कमी जैसे ६ घंटे के दिन में हो सकती है, वैसे ही १५ घंटे के काम के दिन में भी हो सकती है। पहली सूरत में श्रम के सामान्य दाम का १५ घंटे के काम के आधार पर हिसाब लगाया जाता है। दूसरी सूरत में रोज़ाना औसतन ६ घंटे के काम के आधार पर हिसाब लगाया जाता है। इसलिए यदि एक सूरत में केवल ७$\frac{१}{२}$ घंटे काम लिया जाये और दूसरी सूरत में केवल ३ घंटे, तो नतीजा एक ही होता है।

कुछ मानकर चल रहे हैं, उसके अनुसार मज़दूर को महज़ अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य के बराबर मज़दूरी रोज़ कमाने के लिए औसतन ६ घंटे रोज़ाना काम करना चाहिए और चूंकि वह काम के हर घंटे में केवल आधा घंटा ख़ुद अपने लिए और आधा घंटा पूंजीपति के लिए काम करता है, इसलिए यह बात साफ़ है कि यदि उससे १२ घंटे से कम काम लिया जाये, तो वह अपने लिए ६ घंटे के उत्पाद का मूल्य नहीं हासिल कर सकता। इसके पहले के अध्यायों में हम मज़दूर से अत्यधिक काम लेने के हानिकारक परिणामों को देख चुके हैं। यहां हम यह देखते हैं कि मज़दूर से अपर्याप्त समय तक काम लेने के फलस्वरूप उसको क्यों तकलीफ़ होती है।

यदि १ घंटे की मज़दूरी इस तरह निश्चित की जाये कि पूंजीपति दिन भर की या पूरे सप्ताह की मज़दूरी देने का ज़िम्मा न ले, बल्कि वह जितने घंटे मज़दूर से काम कराये, केवल उतने ही घंटों की मज़दूरी उसे देनी पड़े, तो श्रम का दाम मापने की इकाई के रूप में घंटे की मज़दूरी का शुरू-शुरू में जिस आधार पर हिसाब लगाया गया था, पूंजीपति उससे कम समय तक मज़दूर से काम ले सकता है। यह इकाई चूंकि $\frac{\text{श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य}}{\text{एक निश्चित संख्या के घंटों का काम का दिन}}$ के अनुपात से निर्धारित होती है, इसलिए जब काम के दिन में घंटों की कोई निश्चित संख्या नहीं रहती, तब यह इकाई अर्थहीन हो जाती है। सवेतन और अवेतन श्रम के बीच जो संबंध होता है, वह नष्ट हो जाता है। अब पूंजीपति मज़दूर के पास वह श्रम-काल भी नहीं छोड़ता, जो उसके अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होता है, और फिर भी एक निश्चित मात्रा का बेशी मूल्य उससे निकाल लेता है। अब पूंजीपति काम की सारी नियमितता ख़त्म कर सकता है और अपनी सुविधा, सनक और क्षणिक हित के अनुसार जब चाहे, तब मज़दूर से भयानक सीमा तक अत्यधिक काम ले सकता है और जब चाहे, तब सापेक्ष अथवा निरपेक्ष रूप से काम को बंद कर सकता है। "श्रम का सामान्य दाम" देने के बहाने अब वह तदनुरूप मुआवज़ा दिये बिना काम के दिन को असाधारण रूप से लंबा कर सकता है। यही कारण है कि १८६० में जब लंदन के मकान बनाने के धंधे से संबंधित मज़दूरों पर पूंजीपतियों ने इस तरह की घंटे की मज़दूरी लादने की कोशिश की, तो उन्होंने उनके ख़िलाफ़ सर्वथा विवेकसंगत विद्रोह किया। जब क़ानून के द्वारा काम का दिन सीमित कर दिया जाता है, तो इस तरह की बुराई का अंत हो जाता है, हालांकि उसका, ज़ाहिर है, काम की उस कमी पर कोई असर नहीं पड़ता, जो मशीनों की प्रतियोगिता के कारण, काम पर लगे हुए मज़दूरों के स्तर में परिवर्तन हो जाने के फलस्वरूप और आंशिक अथवा सामान्य संकटों से पैदा होती है।

यह मुमकिन है कि दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी के बढ़ते जाने पर भी श्रम का दाम नामिक तौर पर स्थिर बना रहे और फिर भी अपने सामान्य स्तर के नीचे गिर जाये। जब कभी श्रम का (फ़ी घंटे के हिसाब से) दाम स्थिर रहते हुए काम का दिन प्रचलित सीमा से अधिक लंबा कर दिया जाता है, तब हर बार यही चीज़ होती है। यदि $\frac{\text{श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य}}{\text{काम का दिन}}$ भिन्न में हर बढ़ता है, तो अंश और भी तेज़ी से बढ़ता है। श्रम-शक्ति का मूल्य चूंकि उसके क्षय पर निर्भर करता है, इसलिए जब श्रम-शक्ति से काम लेने की अवधि बढ़ती है, तो यह मूल्य भी बढ़ जाता है, और वह उस अवधि में हो रही वृद्धि की तुलना में अधिक द्रुत अनुपात के साथ बढ़ता है। इसलिए उद्योग की बहुत सी ऐसी शाखाओं में, जिनमें आम तौर पर समयानुसार मज़दूरी का नियम है, पर काम के समय की कोई क़ानूनी सीमा नहीं

है, स्वयंस्फूर्त ढंग से यह प्रथा प्रचलित हो गयी है कि काम के दिन को एक ख़ास बिंदु तक, मिसाल के लिए, दसवें घंटे के पूरा होने तक ही सामान्य दिन समझा जाता है (उसके लिए "काम का सामान्य दिन", "दिन भर का काम", या "काम के नियमित घंटे" नामों का प्रयोग किया जाता है)। इस बिंदु के आगे का समय ओवरटाइम माना जाता है, और माप की इकाई के रूप में घंटे का प्रयोग करते हुए इस समय के लिए कुछ बेहतर मज़दूरी दी जाती है, हालांकि अकसर वह सामान्य मजदूरी से बहुत थोड़ी ही अधिक होती है।[35] यहां काम का सामान्य दिन काम के वास्तविक दिन के एक भाग के रूप में होता है। और अकसर पूरे साल यही हालत रहती है कि वास्तविक दिन सामान्य दिन से लंबा होता है।[36] काम के दिन को एक सामान्य सीमा के आगे खींचने से श्रम के दाम में होनेवाली वृद्धि अनेक ब्रिटिश उद्योगों में ऐसा रूप धारण कर लेती है कि तथाकथित सामान्य समय में श्रम का दाम बहुत कम होने के कारण मज़दूर को, यदि वह पर्याप्त मज़दूरी कमाना चाहता है, मजबूर होकर बेहतर मजदूरी का ओवरटाइम काम करना पड़ता है।[37] जब काम के दिन पर क़ानून के द्वारा सीमा लगा दी

---

[35] "(लेस बनाने के उद्योग में) ओवरटाइम काम की उजरत की दर $\frac{१}{२}$ पेनी और $\frac{३}{४}$ पेनी से लेकर २ पेंस प्रति घंटा तक होती है। इस तरह के काम से मज़दूरों के स्वास्थ्य तथा कार्य-शक्ति को जो हानि पहुंचती है, उसकी तुलना में यह दर बहुत ही कम है... इस प्रकार जो थोड़ी सी रक़म मिलती है, वह अकसर अतिरिक्त भोजन पर ख़र्च कर देनी पड़ती है।" (*Children's Employment Commission, 2nd Report*, p. XVI, No. 117.)

[36] मिसाल के लिए, दीवारी काग़ज़ के उत्पादन के धंधे में उसपर फ़ैक्टरी-अधिनियम के लागू होने के पहले यही स्थिति थी। उसपर अभी हाल में ही फ़ैक्टरी-अधिनियम लागू हुआ है। बाल-सेवायोजन आयोग के सामने बयान देते हुए मि० स्मिथ ने कहा था: "हम खाने के लिए नहीं रुकते और बराबर काम करते चले जाते हैं, जिससे १०$\frac{१}{२}$ घंटे का दिन भर का काम तीसरे पहर के साढ़े चार बजे तक पूरा हो जाता है, और उसके बाद का सारा काम ओवरटाइम का काम होता है। और ऐसा बहुत कम होता है, जब ६ बजने के पहले हमने काम बंद कर दिया हो। इस तरह असल में हम पूरे साल ओवरटाइम काम करते हैं।" (*Children's Employment Commission, 1st Report*, p. 125.)

[37] मिसाल के लिए, स्कॉटलैंड के कपड़ा सफ़ेद करने के कारख़ानों में यह बात पायी जाती है। "स्कॉटलैंड के कुछ भागों में यह धंधा" (१८६२ में फ़ैक्टरी-अधिनियम लागू होने के पहले) "ओवरटाइम की प्रणाली के अनुसार चलाया जाता था, अर्थात् काम का नियमित समय १० घंटे प्रति दिन था, जिसके लिए १ शिलिंग २ पेंस प्रति दिन की नक़दी मज़दूरी दी जाती थी, और तीन या चार घंटे का रोज़ाना ओवरटाइम होता था, जिसके लिए ३ पेंस प्रति घंटा की दर पर मज़दूरी दी जाती थी। इस प्रणाली का नतीजा यह हुआ था कि... कोई आदमी साधारण समय तक काम करके ८ शिलिंग प्रति सप्ताह से अधिक नहीं कमा सकता था... बिना ओवरटाइम के इन लोगों के लिए उचित कमाई कर पाना असंभव था।" (*Reports of Insp. of Fact. for 30th April 1863*, p. 10.) "वयस्क पुरुषों को अधिक समय तक काम करने के एवज़ में अपेक्षाकृत ऊंची दर पर जो मज़दूरी मिलती है, उसका लोभ इतना प्रबल होता है कि मजदूर उसका संवरण नहीं कर पाते।" (*Reports of Insp. of Fact. for 30th April 1848*, p. 5.) लंदन शहर के जिल्दसाज़ी के व्यवसाय में १४ से १५ वर्ष तक की बहुत सी कमउम्र

गयी है, तो इन सुविधाओं का अंत हो जाता है।[38]

यह बात आम तौर पर सभी लोग जानते हैं कि उद्योग की किसी शाखा में काम का दिन जितना लंबा होता है, उसमें मज़दूरी की दर उतनी ही नीची होती है।[39] फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर ए० रेडग्रेव ने इसके उदाहरण के रूप में १८३६ से १८५६ तक २० वर्षों का तुलनात्मक सिंहावलोकन किया है। उससे पता चलता है कि इन बीस वर्षों में जिन फ़ैक्टरियों पर १० घंटे का क़ानून लागू हो गया था, उनमें मज़दूरी की दर बढ़ गयी थी, और जिन फ़ैक्टरियों में रोज़ चौदह-चौदह, पंद्रह-पंद्रह घंटे काम चलता रहता था, उनमें मज़दूरी गिर गयी थी।[40]

हम ऊपर इस नियम का ज़िक्र कर चुके हैं कि "यदि श्रम का दाम पहले से निश्चित हो, तो दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी इस बात पर निर्भर करती है कि कितना श्रम ख़र्च किया गया है।" इससे पहला निष्कर्ष यह निकलता है कि श्रम का दाम जितना कम होगा, श्रम की मात्रा उतनी ही अधिक होगी या काम के दिन को उतना ही अधिक लंबा होना पड़ेगा, अन्यथा मज़दूर को ज़रा सी औसत मज़दूरी भी नहीं मिल पायेगी। श्रम के दाम का बहुत कम होना यहां श्रम-काल को बढ़ाने की प्रेरणा का काम करता है।"[41]

लड़कियों से काम लिया जाता है, और वह भी ऐसे शर्तनामों के मातहत, जिनमें श्रम के कुछ ख़ास घंटे निश्चित किये हुए होते हैं। फिर भी ये लड़कियां हमेशा महीने के अंतिम दिनों में रात के १०, ११, १२ या १ बजे तक अपने से अधिक उम्र की मज़दूरिनों और पुरुषों के साथ मिलजुलकर काम करती हैं। "मालिक उनको अतिरिक्त वेतन और रात के भोजन का लालच देकर इसके लिए तैयार कर लेते हैं।" यह रात का भोजन लड़कियां पास के शराबख़ानों में खाती हैं। इस तरह जो भयानक दुराचार फैलता है, उसका इन "अल्पवयस्क अमर आत्माओं" पर (देखिये *Children's Employment Commission, 5th Report*, p. 44, No. 191.) जो घातक प्रभाव पड़ता है, उसको कुछ हद तक क्षति-पूर्ति इसी बात से हो पाती है कि इन लड़कियों को अन्य पुस्तकों के साथ-साथ बाइबलों और अन्य धार्मिक पुस्तकों की भी जिल्द बांधनी पड़ती है।

[38] देखिये *Reports of Insp. of Fact. for 30th April 1863*, l.c.,; लंदन के मकान, आदि बनाने का धंधा करनेवाले मज़दूरों ने परिस्थिति के अत्यंत यथार्थ ज्ञान का परिचय देते हुए १८६० की बड़ी हड़ताल और तालाबंदी के दौरान यह ऐलान किया था कि वे घंटों के हिसाब से केवल दो शर्तों पर मज़दूरी स्वीकार करेंगे: १) यह कि एक घंटे के काम के दाम के साथ-साथ यह भी तय हो जाना चाहिए कि काम का सामान्य दिन ६ और १० घंटे का रहेगा और नौ घंटे के दिन के एक घंटे के लिए जो मज़दूरी दी जायेगी, दस घंटे के दिन के एक घंटे के लिए उससे अधिक ऊंची दर की मज़दूरी देनी होगी; और २) यह कि काम के दिन की सामान्य सीमा के आगे का प्रत्येक घंटा ओवरटाइम का घंटा माना जायेगा और उसके एवज़ में अपेक्षाकृत ऊंची उजरत देनी होगी।

[39] "यह एक बहुत उल्लेखनीय बात है कि जहां लंबे घंटों का क़ायदा है, वहां कम मज़दूरी देने का भी क़ायदा होता है।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1863*, p. 9.) "जिस काम के एवज़ में महज़ ज़रा सा भोजन मिलता है, वह काम ज़्यादातर बहुत लंबा होता है।" (*Public Health, 6th Report*, 1864, p. 15.)

[40] *Reports of Insp. of Fact. for 30th April 1860*, pp. 31, 32.

[41] मिसाल के लिए, इंगलैंड में हाथ से कीलें बनानेवालों को श्रम का दाम कम होने के कारण अपनी अत्यल्प साप्ताहिक मज़दूरी कमाने के लिए रोज़ाना १५ घंटे काम करना पड़ता है। "वे दिन के बहुत से घंटों (सुबह के ६ बजे से रात के ८ बजे) तक काम करते हैं। और

दूसरी ओर, काम का समय बढ़ा दिये जाने से श्रम के दाम में गिरावट आ जाती है, और उसके साथ-साथ दैनिक या साप्ताहिक मजदूरी भी कम हो जाती है।

श्रम के दाम के $\frac{\text{श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य}}{\text{एक निश्चित संख्या के घंटों का काम का दिन}}$ से निर्धारित होने से पता चलता है कि यदि काम के दिन को महज़ लंबा कर दिया जाता है और किसी तरह उसकी क्षति-पूर्ति नहीं होती, तो उसके फलस्वरूप श्रम का दाम कम हो जायेगा। लेकिन जिन बातों के कारण पूंजीपति काम के दिन को लंबा करने में सफल होता है, वे ही बातें पहले उसे इस बात की इजाज़त देती हैं और अंत में फिर उसको इसके लिए विवश कर देती हैं कि वह श्रम के नक़दी दाम को उस समय तक कम करता चला जाये, जब तक कि घंटों की पहले से बढ़ी हुई संख्या का कुल दाम और इसलिए दैनिक अथवा साप्ताहिक मज़दूरी भी कम न हो जाये। यहां दो बातों का हवाला देना काफ़ी होगा। यदि एक आदमी १$\frac{१}{२}$ या २ आदमियों का काम करने लगता है, तो श्रम की पूर्ति बढ़ जाती है, हालांकि मंडी में श्रम-शक्ति की पूर्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है। इस प्रकार मज़दूरों के बीच जो प्रतियोगिता आरंभ हो जाती है, उससे पूंजीपति को श्रम के दाम को ज़बर्दस्ती नीचे गिराने और दूसरी ओर, श्रम के दाम के गिर जाने से काम के समय को और भी बढ़ाने का अवसर मिल जाता है।[42] किंतु शीघ्र ही असामान्य मात्राओं में, अर्थात् औसत सामाजिक मात्रा से अधिक मात्राओं में, अवेतन श्रम से काम लेने के इस अधिकार का यह फल होता है कि ख़ुद पूंजीपतियों के बीच भी प्रतियोगिता छिड़ जाती है। पण्य के दाम का एक भाग श्रम के दाम का होता है। श्रम के दाम के अवेतन हिस्से को पण्य के दाम में गिनने की ज़रूरत नहीं होती। वह ख़रीदार को मुफ़्त भेंट किया जा सकता है। यह पहला क़दम है, जो प्रतियोगिता के कारण उठाया जाता है। प्रतियोगिता के अनिवार्य फल के रूप में दूसरा क़दम यह उठाया जाता है कि काम के दिन का विस्तार करने से जो असामान्य बेशी मूल्य पैदा होता है, उसका भी कम से कम एक हिस्सा पण्य के विक्रय

---

११ पेंस से लेकर १ शिलिंग तक कमाने के लिए मज़दूर को पूरे समय सख़्त मेहनत करनी पड़ती है। औज़ारों की घिसाई, ईंधन का ख़र्च और जो लोहा ज़ाया हो जाता है, कुछ रक़म उसके एवज़ में इस मज़दूरी में से काट ली जाती है। इस सबमें कुल मिलाकर २$\frac{१}{२}$ पेंस या ३ पेंस चले जाते हैं।" (*Children's Employment Commission, 3rd Report*, p. 136, No. 671.) इतनी ही देर तक काम करके औरतें सप्ताह में केवल ५ शिलिंग कमाती हैं। (l.c., p. 137, No. 674.)

[42] मिसाल के लिए, यदि कोई मज़दूर प्रचलित लंबे घंटों तक काम करने से इनकार कर दे, तो "शीघ्र ही उसके स्थान पर ऐसा आदमी रख लिया जायेगा, जो कितनी भी देर तक काम करने को तैयार होगा, और इस तरह पहले आदमी को जवाब मिल जायेगा"। (*Reports of Insp. of Fact. for 30th April 1848*, Evidence, p. 39, No. 58.) "यदि एक आदमी दो आदमियों का काम करने लगता है, तो... श्रम की अतिरिक्त पूर्ति के कारण श्रम का दाम घट जाने के फलस्वरूप... लाभों की दर सामान्यतया ऊंची हो जायेगी।" (Senior, *Three Lectures on the Rate of Wages*, London, 1830, p. 15.)

दाम से अलग कर दिया जाता है। इस तरह पण्य असामान्य रूप से कम दाम पर बिकने लगता है। शुरू में इक्के-दुक्के यह बात होती है, फिर यह एक स्थायी चीज़ बन जाती है। पण्य का यह गिरा हुआ विक्रय दाम भविष्य के लिए बहुत ही कम मज़दूरी देकर अत्यधिक समय तक काम लेने का एक स्थायी आधार बन जाता है, हालांकि शुरू में वह ठीक इन्हीं बातों से पैदा हुआ था। इस पूरी क्रिया की ओर यहां पर हमने संकेत भर किया है, क्योंकि प्रतियोगिता का विश्लेषण हमारे विषय के वर्तमान भाग का अंश नहीं है। फिर भी एक क्षण के लिए हम पूंजीपति को ख़ुद अपनी बात कहने का अवसर देंगे। "बर्मिंघम में मालिकों के बीच ऐसी भयानक प्रतियोगिता चल रही है कि उनमें से बहुतों को मालिकों के रूप में ऐसी-ऐसी हरकतें करनी पड़ती हैं, जिनको किसी दूसरी स्थिति में करते हुए उनको शर्म आती। और फिर भी वे कुछ ज्यादा नहीं कमा पाते हैं, लाभ केवल जनता को होता है।"[43] पाठक को लंदन के उन दो तरह के नानबाइयों की याद होगी, जिनमें से एक तरह के नानबाई अपनी रोटी पूरे दाम पर बेचते थे (इस तरह के नानबाई "पूरे दाम वाले नानबाई" कहलाते थे) और दूसरी तरह के नानबाई सामान्य दाम से कम लेते थे (वे "कम दाम वाले" या "कम दाम पर बेचनेवाले" कहलाते थे)। "पूरे दाम वालों" ने संसदीय जांच-समिति के सामने प्रतिद्वंद्वियों की भर्त्सना करते हुए कहा था कि "अब ये लोग केवल इसी तरह जीवित हैं कि पहले जनता को धोखा देते हैं और फिर १२ घंटे की मज़दूरी देकर अपने मज़दूरों से १८ घंटे का काम कराते हैं... यह प्रतियोगिता... मज़दूरों के अवेतन श्रम के सहारे चलायी जा रही थी और आज भी वह उसी के सहारे चलायी जा रही है... नानबाइयों में आपस में जो प्रतियोगिता चल रही है, उसके कारण रात का काम बंद करने में कठिनाई हो रही है। आटे के भाव के अनुसार रोटी की जो लागत बैठती है, जो नानबाई उससे भी कम दाम पर अपनी रोटी बेचता है, उसे यह कमी मज़दूरों से ज्यादा काम लेकर पूरी करनी पड़ती है... यदि मैं अपने मज़दूरों से केवल १२ घंटे काम लेता हूं और मेरा पड़ोसी १८ से २० घंटे तक काम लेता है, तो रोटी के भाव के मामले में वह लाज़िमी तौर पर मुझसे बाज़ी मार ले जायेगा। यदि मज़दूर ओवरटाइम की उजरत मांग सकते, तो यह स्थिति सुधर जाती... कम दामों पर रोटी बेचनेवालों ने जिन लोगों को काम पर रखा हुआ है, उनमें एक बड़ी संख्या विदेशियों और लड़के-लड़कियों की है। उनको जो भी मज़दूरी मिल जाती है, वे मजबूरन उसी को स्वीकार कर लेते हैं।"[44]

यह विलाप इसलिए भी दिलचस्प है कि उससे ज़ाहिर हो जाता है कि पूंजीपति के मस्तिष्क में उत्पादन के संबंधों का केवल दिखावटी रूप ही प्रतिबिंबित होता है। पूंजीपति यह नहीं जानता कि श्रम के सामान्य दाम में भी अवेतन श्रम की एक निश्चित मात्रा शामिल रहती है और सामान्यतया यह अवेतन श्रम ही उसके लाभ का स्रोत होता है। बेशी श्रम-काल नामक प्रवर्ग

---

[43] *Children's Employment Commission, 3rd Report*, Evidence, p. 66, No. 22.

[44] *Report etc. Relative to the Grievances Complained of by the Journeymen Bakers*, London, 1862, p. LII, और इसी पुस्तिका के गवाहियों वाले अंश में टिप्पणियां ४७९, ३५९, २७; बहरहाल जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है और जैसा कि ख़ुद उनके प्रवक्ता बेनेट ने भी स्वीकार किया है, पूरे दाम लेनेवाले नानबाई भी अपने मज़दूरों से "आम तौर पर रात को ११ बजे काम शुरू करवाते हैं... अगले दिन सुबह के ८ बजे तक उनसे काम लेते रहते हैं... फिर वे सारे दिन काम में लगे रहते हैं... उनका काम रात के ७ बजे ख़त्म होता है।" (l.c., p. 22.)

लंदन की ज़ीनसाज़ी की दूकानों में अक्सर एक से काम के लिए फ़्रांसीसी मज़दूरों को कार्यानुसार और अंग्रेज मजदूरों को समयानुसार मज़दूरी दी जाती है। नियमित रूप से काम करनेवाली जिन फ़ैक्टरियों में शुरू से आख़िर तक कार्यानुसार मजदूरी का दौर-दौरा है, उनमें भी कुछ ख़ास ढंग के काम इस प्रकार की मज़दूरी के लिए अनुपयुक्त होते हैं और इसलिए उनकी उजरत समय के अनुसार दी जाती है।[47] लेकिन इसके अलावा यह बात भी स्वतःस्पष्ट है कि मज़दूरी देने के रूप में जो भेद होता है, उससे मज़दूरी की तात्त्विक प्रकृति पर कोई असर नहीं पड़ता, हालांकि उसका एक रूप दूसरे रूप की अपेक्षा पूंजीवादी उत्पादन के विकास के लिए अधिक सुविधाजनक हो सकता है।

मान लीजिये कि काम के साधारण दिन में १२ घंटे होते हैं, जिनमें से मज़दूर को ६ घंटों की उजरत मिलती है और ६ घंटों की नहीं। मान लीजिये कि इस तरह के एक दिन में ६ शिलिंग का मूल्य पैदा होता है और इसलिए एक घंटे के श्रम से ६ पेंस का मूल्य तैयार होता है। फ़र्ज़ कीजिये कि अनुभव के द्वारा हम यह जानते हैं कि जो मज़दूर औसत मात्रा की तीव्रता और कुशलता के साथ काम करता है और जो इसलिए किसी वस्तु के उत्पादन में केवल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम लगाता है, वह १२ घंटे में २४ अदद तैयार करता है, जो या तो अलग-अलग वस्तुएं होते हैं, या किसी एक सतत इकाई के मापे जाने लायक़ अंश होते हैं। इन २४ अदद का मूल्य उनमें निहित स्थिर पूंजी के अंश को घटा देने के बाद ६ शिलिंग होता है और एक अदद का मूल्य ३ पेंस बैठता है। मज़दूर को हर अदद के लिए १$\frac{१}{२}$ पेंस मिलते हैं, और इस तरह वह १२ घंटे में ३ शिलिंग कमा लेता है। जिस तरह समयानुसार मज़दूरी में हम चाहे यह मान लें कि मज़दूर ६ घंटे अपने लिए काम करता है और ६ घंटे पूंजीपति के लिए, और चाहे यह मान लें कि वह हर घंटे में आधा घंटा अपने लिए और आधा घंटा पूंजीपति के लिए काम करता है, उससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, उसी तरह कार्यानुसार मज़दूरी में चाहे हम यह कहें कि हर अदद की आधी उजरत मज़दूर को दे दी गयी

---

[47] मजदूरी के इन दोनों रूपों का एक ही समय में और साथ-साथ उपयोग करने से मालिकों को धोखा देने का कितना बड़ा मौक़ा मिलता है, इसका एक उदाहरण देखिये: "एक फ़ैक्टरी में ४०० व्यक्ति काम करते हैं। उनमें से आधे कार्यानुसार मज़दूरी पाते हैं, और उनको प्रत्यक्षतः ज्यादा देर तक काम करने में दिलचस्पी होती है। बाक़ी २०० को दिन के हिसाब से मज़दूरी मिलती है, पर वे भी दूसरे २०० मज़दूरों के समान ही देर तक काम करते हैं और ओवरटाइम काम के लिए उनको कोई अतिरिक्त मजदूरी नहीं मिलती... इन २०० व्यक्तियों का आधे घंटे रोज़ का काम एक व्यक्ति के ५० घंटे के काम के बराबर, या एक व्यक्ति के सप्ताह भर के श्रम के $\frac{५}{६}$ के बराबर होता है, जिससे मालिक सरासर फ़ायदे में रहता है।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1860*, p. 9.) "अत्यधिक काम लेने का आजकल भी बहुत काफ़ी चलन है, और अधिकतर सूरतों में ख़ुद क़ानून ने ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि अपराधी के लिए पकड़े जाने और सज़ा पाने का कोई ख़तरा नहीं रहता। मैं पुरानी बहुत सी रिपोर्टों में यह दिखा चुका हूं कि... इससे उन मज़दूरों को क्या हानि पहुंचती है, जिनको कार्यानुसार मज़दूरी की प्रणाली के मुताबिक़ काम पर नहीं रखा गया है और जिनको साप्ताहिक मज़दूरी मिलती है।" (लेनर्ड हॉर्नर की रिपोर्ट, *Reports of Insp. of Fact. for 30th April 1859*, pp. 8, 9.)

है और आधी नहीं दी गयी, और चाहे कहें कि श्रम-शक्ति का मूल्य केवल १२ अदद के दाम में निहित है और बाक़ी १२ अदद में बेशी मूल्य निहित है, बात एक ही रहती है।

कार्यानुसार मज़दूरी का रूप समयानुसार मज़दूरी के रूप के समान ही अयुक्तिसंगत है। हमारे उदाहरण में दो अदद पण्य की क़ीमत उनके उत्पादन में ख़र्च किये गये उत्पादन के साधनों का मूल्य घटा देने के बाद ६ पेंस होती है, क्योंकि वे एक घंटे का उत्पाद हैं। परंतु मज़दूर को उनके एवज़ में केवल ३ पेंस ही मिलते हैं। कार्यानुसार मज़दूरी वास्तव में मूल्य के किसी संबंध को स्पष्टतापूर्वक अभिव्यक्त नहीं करती। इसलिए यहां पण्य के किसी अदद का मूल्य उसमें निहित श्रम-काल के द्वारा नहीं नापा जाता, बल्कि इसके विपरीत मज़दूर ने जो श्रम-काल ख़र्च किया है, वह इस बात से नापा जाता है, कि उसने कितने अदद पण्य तैयार किया है। समयानुसार मज़दूरी में श्रम को उसकी तात्कालिक अवधि के द्वारा मापा जाता है, कार्यानुसार मज़दूरी में उसे उत्पादित वस्तुओं की मात्रा से मापा जाता है, जिनमें वह श्रम एक निश्चित समय के भीतर समाविष्ट हो गया है।[48] ख़ुद श्रम-काल का दाम अंत में इस समीकरण के द्वारा निर्धारित होता है: एक दिन के श्रम का मूल्य = श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य। इसलिए कार्यानुसार मज़दूरी केवल समयानुसार मज़दूरी का ही एक परिवर्तित रूप होती है।

आइये, अब कार्यानुसार मज़दूरी की चरित्रगत विशेषताओं पर कुछ और ग़ौर से विचार करें।

यहां श्रम की गुणवत्ता पर काम ख़ुद नियंत्रण रखता है, क्योंकि कार्यानुसार पूरा दाम उसी वक़्त मिलेगा, जब काम औसत कुशलता का होगा। इस दृष्टि से कार्यानुसार मज़दूरी वेतन में कटौती करने और पूंजीवादी धोखेबाज़ी में बहुत मददगार साबित होती है।

कार्यानुसार मज़दूरी के रूप में पूंजीपति को श्रम की तीव्रता की एक अचूक माप मिल जाती है। केवल वही श्रम-काल सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-काल माना जाता है और उसी रूप में उसकी उजरत दी जाती है, जो पण्यों की एक ख़ास मात्रा में निहित होता है। यह ख़ास मात्रा अनुभव के द्वारा पहले ही से तय हो जाती है। इसलिए लंदन के दर्ज़ियों की अपेक्षाकृत बड़ी वर्कशापों में कोई ख़ास कार्य – उदाहरण के लिए, एक वासकट – एक घंटा या आधा घंटा कहलाता है, और एक घंटे की मज़दूरी ६ पेंस होती है। अभ्यास से यह मालूम हो जाता है कि एक घंटे का औसत उत्पाद कितना होता है। नये फ़ैशन का या मरम्मत, आदि का काम होता है, तो मालिक और मज़दूर के बीच इस प्रश्न को लेकर झगड़ा शुरू हो जाता है कि अमुक विशिष्ट कार्य एक घंटे के बराबर है या नहीं, और जब तक यह प्रश्न भी अनुभव के आधार पर तय नहीं हो जाता, तब तक यह झगड़ा चलता ही रहता है। लंदन की फ़र्नीचर बनानेवाली वर्कशापों, आदि में भी यही चीज़ होती है। यदि मज़दूर में औसत दर्जे की कुशलता नहीं होती और यदि इसके फलस्वरूप वह प्रति दिन एक निश्चित अल्पतम मात्रा में काम नहीं कर पाता, तो उसे काम से बर्ख़ास्त कर दिया जाता है।[49]

---

[48] "मज़दूरी को दो तरह से मापा जा सकता है: या तो श्रम की अवधि के द्वारा, या श्रम के उत्पाद के द्वारा।" (*Abrégé élémentaire des principes de l'Economie Politique*, Paris, 1796, p. 32.) इस गुमनाम रचना के लेखक हैं जी० गार्नियर।

[49] "उसको" (कताई करनेवाले को) "कपास की निश्चित मात्रा सौंप दी जाती है, और उसे एक निश्चित समय के भीतर उसके एवज़ में एक निश्चित वज़न और एक निश्चित दर्जे की बारीकी का सूत या लच्छी तैयार करके देनी पड़ती है। उसके बदले में उसे फ़ी पाउंड

यहां काम की गुणवत्ता पर और उसकी तीव्रता पर चूंकि खुद मजदूरी के रूप का नियंत्रण लगा रहता है, इसलिए श्रम पर निगाह रखने के कार्य का अधिकांश अनावश्यक हो जाता है। इसलिए कार्यानुसार मज़दूरी उस आधुनिक "घरेलू श्रम" की नींव डाल देती है, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, और साथ ही एक पदसोपान के अनुसार संगठित शोषण और उत्पीड़न की व्यवस्था क़ायम कर देती है। इस व्यवस्था के दो बुनियादी रूप होते हैं। कार्यानुसार मज़दूरी से एक तरफ़ तो पूंजीपति और मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूर के बीच कुछ परजीवियों को डाल देने और "श्रम के शिकमी" बना देने में सहायता मिलती है। पूंजीपति श्रम का जो दाम देता है और इस दाम का जो हिस्सा सचमुच मज़दूर तक पहुंचने दिया जाता है, उनके बीच के अंतर से ही इन शिकमियों का पूरा मुनाफ़ा निकलता है।[50] इंगलैंड में यह व्यवस्था "sweating system" ["पसीना छुड़ा देनेवाली प्रणाली"] कहलाती है, जो बड़ा अर्थपूर्ण नाम है। दूसरी तरफ़, कार्यानुसार मज़दूरी से पूंजीपति को मज़दूरों के मेट के साथ फ़ी अदद के हिसाब से मजदूरी का क़रार करने का मौक़ा मिल जाता है। मैन्यूफ़ैक्चर में यह मेट मज़दूरों के किसी दल का मुखिया होता है, कोयला-खानों में वह कोयला खोदनेवाला होता है और फ़ैक्टरी में यह क़रार खुद मशीन पर काम करनेवाले मज़दूर के साथ हो जाता है। क़रार में जो दाम तय होता है, उसके एवज़ में मेट खुद मज़दूरों को नौकर रखता है और उनकी मज़दूरी देता है। यहां पूंजी द्वारा श्रम का शोषण मज़दूर द्वारा मज़दूर के शोषण से संपन्न होता है।[51]

कार्यानुसार मज़दूरी की प्रणाली में स्वभावतया यह बात खुद मज़दूर के व्यक्तिगत हित में होती है कि वह अपनी श्रम-शक्ति से ज्यादा से ज्यादा ज़ोर लगाकर काम ले। इससे पूंजीपति को श्रम की सामान्य तीव्रता को बहुत आसानी से बढ़ाने में मदद मिलती है।[51a] इसके

के हिसाब से कुछ रक़म मिल जाती है। यदि उसके काम में कोई दोष नज़र आता है, तो उसका ख़मियाज़ा मज़दूर को भुगतना पड़ता है। यदि उत्पाद मात्रा में एक निश्चित समय के लिए निर्धारित अल्पतम मात्रा से कम होता है, तो कताई करनेवाले को बर्ख़ास्त कर दिया जाता है और कोई अधिक योग्य मज़दूर रख लिया जाता है।" (Ure, *Philosophy of Manufactures*, pp. 316, 317.)

[50] "जब काम कई हाथों से गुज़रता है, जिनमें से हर हाथ मुनाफ़े में हिस्सा बंटाता है, मगर काम केवल आख़िरी हाथ करता है, तब मज़दूरिन के पास जो मज़दूरी पहुंचती है, वह अनुपात में बहुत ही कम रह जाती है।" (*Children's Employment Commission, 2nd Report*, p. LXX, No. 424.)

[51] वर्तमान व्यवस्था के वकील वाट्स तक ने यह लिखा है: "कार्यानुसार मज़दूरी की प्रणाली में बड़ा सुधार हो जाये, यदि एक काम में लगे हुए सभी मज़दूरों में से प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार क़रार में साझीदार बना दिया जाये और मौजूदा तरीक़ा ख़त्म हो जाये, जिसमें एक आदमी अपने निजी लाभ के वास्ते अपने सहयोगियों से कमरतोड़ काम लेता है।" (John Watts, *Trade Societies and Strikes, Machinery and Co-operative Societies*, Manchester, 1865, p. 53.) इस प्रणाली की ज़िल्लत के बारे में देखिये *Children's Employment Commission, 3rd Report*, p. 66, No. 22; p. 11, No. 124; p. XI, Nos. 13, 53, 59 etc.

[51a] यह बात स्वयंस्फूर्त ढंग से तो होती ही है, उसको बनावटी ढंग से भी बढ़ावा दिया जाता है। मिसाल के लिए, लंदन के इंजीनियरिंग उद्योग में बहुधा यह तरकीब काम में लायी जाती है कि "औरों से ज्यादा शारीरिक बल तथा फुर्ती वाले एक आदमी को कई मज़दूरों

अलावा काम के दिन की लंबाई को बढ़ाना भी मज़दूर के व्यक्तिगत हित में होता है, क्योंकि उसके साथ-साथ उसकी दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी बढ़ती जाती है।[52] इसकी धीरे-धीरे इसी प्रकार की प्रतिक्रिया होती है जिस प्रकार की प्रतिक्रिया का हम समयानुसार मज़दूरी के संबंध में वर्णन कर चुके हैं। यदि कार्यानुसार मज़दूरी स्थिर रहती है, तब भी काम के दिन के और लंबा कर दिये जाने के फलस्वरूप श्रम के दाम में अनिवार्य रूप से जो गिरावट आ जाती है, वह इस सबसे अलग रहती है।

समयानुसार मज़दूरी की प्रणाली में कुछ अपवादों को छोड़कर कुछ तरह के काम के लिए सदा एक सी मज़दूरी दी जाती है, पर कार्यानुसार मज़दूरी की प्रणाली में हालांकि श्रम-काल का दाम उत्पाद की एक निश्चित मात्रा के द्वारा मापा जाता है, फिर भी दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी मज़दूरों के व्यक्तिगत भेदों के साथ-साथ घटती-बढ़ती जायेगी; एक मज़दूर एक निश्चित समय में केवल अल्पतम मात्रा में उत्पाद तैयार करेगा, दूसरा औसत मात्रा पैदा कर देगा और तीसरा औसत से ज़्यादा पैदा कर देगा। इसलिए जहां तक मज़दूरों की वास्तविक आय का संबंध है, वह अलग-अलग मज़दूरों की अलग-अलग कुशलता, शक्ति, क्रियाशीलता, काम में जुटने की क्षमता, आदि के अनुसार कम या ज़्यादा अनेक प्रकार की हो सकती है।[53] ज़ाहिर है, इससे पूंजी और मज़दूर के बीच पाये जानेवाले सामान्य संबंधों में कोई परिवर्तन

के मुखिया के रूप में छांट लिया जाता है और सामान्य मज़दूरी के अलावा उसे हर तीन महीने या किसी दूसरी अवधि के बाद अतिरिक्त मज़दूरी देकर इसके लिए राज़ी कर लिया जाता है कि वह ज़्यादा से ज़्यादा सख़्त मेहनत करेगा, ताकि साधारण मज़दूरी पानेवाले बाक़ी मज़दूर भी उसके बराबर काम करने की कोशिश करें... हम इसपर कोई टीका-टिप्पणी नहीं करते। पर इससे यह बात बाफ़ी साफ़ हो जानी चाहिए कि मालिक ट्रेड-यूनियनों के ख़िलाफ़ अकसर इस तरह की जो शिकायतें किया करते हैं कि वे मज़दूरों को लगन के साथ काम नहीं करने देते और अपनी पूरी कुशलता और कार्यक्षमता प्रयोग नहीं करने देते, उनके पीछे असल में क्या चीज़ होती है।" (Dunning, l.c., pp. 22, 23. इसका लेखक चूंकि एक मज़दूर और एक ट्रेड-यूनियन का सेक्रेटरी है, तो सोचा जा सकता है कि उसकी बात में कुछ अतिशयोक्ति होगी। परंतु पाठक इसकी जे० सी० मार्टन की "अत्यंत प्रतिष्ठित" रचना 'खेती का विश्वकोश' के 'मज़दूर शीर्षक लेख से तुलना करके देख सकते हैं जहां किसानों को इस प्रणाली का जांची-परखी प्रणाली के रूप में उपयोग करने की सलाह दी गयी है।

[52] "जिनको कार्यानुसार मज़दूरी मिलती है उन सबको... काम की क़ानूनी सीमाओं का अतिक्रमण करने में फ़ायदा रहता है। जिन औरतों से बुनकरों और अटेरनेवालों का काम लिया जाता है, वे ख़ास तौर पर ओवरटाइम काम करने के लिए तैयार रहती हैं।" (*Reports of Insp. of Fact. for 30th April 1858*, p. 9.) "इस प्रणाली से (कार्यानुसार मज़दूरी की प्रणाली से) मालिक को बड़ा लाभ होता है... नौजवान बर्तन बनानेवालों को चार या पांच बरस तक कार्यानुसार मज़दूरी की प्रणाली के अनुसार नौकर रखा जाता है, पर मज़दूरी की दर बहुत नीची होती है। इस प्रणाली से प्रत्यक्ष रूप में ऐसे मज़दूरों को इन पूरे चार-पांच वर्षों तक अत्यधिक परिश्रम करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है... बर्तन बनानेवालों के बुरे स्वास्थ्य का यह भी एक बड़ा कारण है।" (*Children's Employment Commission, 1st Report*, p. XIII.)

[53] "जब किसी धंधे में मज़दूरी कार्यानुसार दी जाती है, तो... मज़दूरी की मात्रा में बहुत काफ़ी फ़र्क़ हो सकता है... लेकिन जहां दिन के हिसाब से काम लिया जाता है, वहां आम तौर पर एक सी दर होती है... जिसे मालिक और नौकर दोनों उस धंधे में काम करनेवाले साधारण मज़दूरों की मज़दूरी का मानदंड मानते हैं।" (Dunning, l. c., p. 17.)

नहीं होता। एक तो पूरी वर्कशाप में अलग-अलग व्यक्तिगत भेद एक दूसरे का पलड़ा बराबर कर देते हैं, इस तरह एक निश्चित समय में वर्कशाप औसत उत्पाद तैयार कर देती है, और सब मजदूरों को मिलाकर जो मज़दूरी दी जाती है, वह उद्योग की उस ख़ास शाखा की औसत मज़दूरी होती है। दूसरे, मज़दूरी और बेशी मूल्य के बीच का अनुपात ज्यों का त्यों रहता है, क्योंकि हर अलग-अलग मज़दूर बेशी श्रम की जो मात्रा देता है, वह उसको मिलनेवाली मज़दूरी के अनुरूप होती है। परंतु कार्यानुसार मज़दूरी की प्रणाली में व्यक्तित्व के विकास की अधिक संभावना रहती है, और उससे एक ओर तो उस व्यक्तित्व का और उसके साथ-साथ मज़दूरों की स्वतंत्रता, स्वाधीनता तथा आत्मनियंत्रण की भावना का विकास होता है और दूसरी ओर, उनके बीच प्रतियोगिता बढ़ जाती है। इसलिए कार्यानुसार मज़दूरी की प्रणाली में जहां एक तरफ़, अलग-अलग व्यक्तियों की मज़दूरी को औसत मज़दूरी के ऊपर उठाने को प्रवृत्ति होती है, वहां उसमें इस औसत को नीचे गिराने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। परंतु जहां कहीं बहुत दिनों से कार्यानुसार मज़दूरी की एक ख़ास दर परंपरा से निश्चित हो गयी है और इसलिए उसे नीचे गिराना विशेष रूप से कठिन प्रतीत होता है, ऐसी असाधारण परिस्थितियों में मालिक लोग कभी-कभी इस तरक़ीब का सहारा लेते हैं कि वे कार्यानुसार मज़दूरी को ज़बर्दस्ती समयानुसार मज़दूरी में बदल देते हैं। मिसाल के लिए, १८६० में कावेंट्री के फ़ीते बुननेवाले मज़दूरों ने इसी कारण एक बड़ी हड़ताल की थी।[54] अंतिम बात यह है कि पिछले अध्याय में हमने जिस घंटेवार प्रणाली का वर्णन किया था, कार्यानुसार मज़दूरी उसका एक मुख्य आधारस्तंभ है।[55]

---

[54] "मज़दूर कारीगरों को दिन के हिसाब से या कार्य के हिसाब से काम करना होगा... मालिकों को मालूम होता है कि प्रत्येक धंधे में एक मज़दूर कारीगर रोज़ाना कितना काम कर सकता है, और इसलिए उसकी तनख़्वाह अकसर वह जितना काम करता है, उसके अनुसार तय होती है, इसलिए मज़दूर कारीगर ख़ुद अपना हितसाधन करने के उद्देश्य से भरसक मेहनत करते हैं और उनपर निगाह रखने की कोई ज़रूरत नहीं होती।" (Cantillon, *Essai sur la Nature du Commerce en Général*, Amst. Ed., 1756, pp. 185, 202; इस पुस्तक का पहला संस्करण १७५५ में प्रकाशित हुआ था।) कैंतिलों ने, जिनसे केने, सर जेम्स स्टुअर्ट और ऐडम स्मिथ ने बहुत-कुछ उधार लिया है, इसी पुस्तक में कार्यानुसार मज़दूरी को केवल समयानुसार मज़दूरी के एक परिवर्तित रूप की तरह पेश किया था। कैंतिलों की रचना के फ़्रांसीसी संस्करण के मुखपृष्ठ पर कहा गया है कि वह अंग्रेज़ी संस्करण का अनुवाद है, लेकिन अंग्रेज़ी संस्करण *The Analysis of Trade, Commerce etc. by Philip Cantillon, late of the city of London, Merchant* पर न सिर्फ़ बाद की तारीख़ (१७५६) पड़ी हुई है, बल्कि उसकी अंतर्वस्तु से भी यह प्रमाणित होता है कि यह इस पुस्तक का बाद का और संशोधित संस्करण है। उदाहरण के लिए, फ़्रांसीसी संस्करण में ह्यूम का कोई ज़िक्र नहीं है, जब कि दूसरी ओर, अंग्रेज़ी संस्करण में पैटी की लगभग सारी चर्चा काट दी गयी है। सैद्धांतिक दृष्टि से अंग्रेज़ी संस्करण कम महत्त्वपूर्ण है, लेकिन उसमें इंगलैंड के वाणिज्य, सोना-चांदी के व्यवसाय, आदि के बारे में ऐसी बहुत सी ब्यौरे की बातें मिलती हैं, जो फ़्रांसीसी पाठ में नहीं हैं। इसलिए अंग्रेज़ी संस्करण के मुखपृष्ठ पर जो यह लिखा है कि यह रचना "मुख्यतया एक बहुत ही चतुर, मृत व्यक्ति की पांडुलिपि में संशोधन करके तैयार की गयी है, इत्यादि", वह विशुद्ध कल्पना की उपज प्रतीत होता है। उस ज़माने में इस तरह का बहुत चलन था।

[55] यह अकसर देखने में आता है कि कुछ ख़ास वर्कशापों में मालिकों के हाथ में जो काम होता है, उसके लिए जितने मज़दूरों की आवश्यकता होती है, वे उससे ज़्यादा मज़दूरों को

अभी तक जो कुछ बताया जा चुका है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्यानुसार मजदूरी ही मजदूरी का वह रूप है, जो उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली से सबसे अधिक मेल खाता है। यद्यपि यह रूप कदापि नया नहीं है – फ्रांस और इंगलैंड के श्रम विनियमों में १४ वीं शताब्दी में ही समयानुसार मजदूरी के साथ कार्यानुसार मजदूरी का भी सरकारी तौर पर जिक्र हो चुका है – तथापि वह अपने लिए अपेक्षाकृत बड़ा कार्यक्षेत्र केवल उसी काल में जीत पाता है, जिसे सचमुच मैन्यूफ़ैक्चर का काल कहा जा सकता है। आधुनिक उद्योग के तूफ़ानी यौवन-काल में, विशेषकर १७९७ से १८१५ तक, कार्यानुसार मजदूरी ने काम के दिन की लंबाई को बढ़ाने और समयानुसार मजदूरी को नीचे गिराने के लीवर का काम किया। इस काल में मजदूरी में जो उतार-चढ़ाव आते रहे, उनके बारे में बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री इन सरकारी प्रकाशनों में मिलती है: *Report and Evidence from the Select Committee on Petitions respecting the Corn Laws* (१८१३-१८१४ का संसदीय अधिवेशन) और *Reports from the Lords' Committee, on the state of the Growth, Commerce, and Consumption of Grain, and all Laws relating thereto.* (१८१४-१८१५ का अधिवेशन)। इन रिपोर्टों में इसका लिखित प्रमाण मिल जाता है कि जैकोबिन विरोधी युद्ध के आरंभ से ही श्रम का दाम लगातार गिरता जा रहा था। उदाहरण के लिए, बुनाई के उद्योग में कार्यानुसार मजदूरी इतनी ज्यादा गिर गयी थी कि हालांकि काम का दिन पहले से बहुत ज्यादा लंबा कर दिया गया था, फिर भी दैनिक मजदूरी पहले से कम ही बैठती थी। "सूती कपड़े की बुनाई करनेवाले मजदूर की असली कमाई अब पहले से बहुत कम होती है; पहले साधारण मजदूर की तुलना में उसका दर्जा बहुत ऊंचा था, अब उसकी श्रेष्ठता लगभग पूरी तरह समाप्त हो गयी है। सच तो यह है कि... कुशल और साधारण मजदूर की मजदूरी के बीच आजकल जितना कम अंतर रह गया है, उतना पहले कभी नहीं था।"[66] कार्यानुसार मजदूरी के द्वारा श्रम की तीव्रता और विस्तार में जो वृद्धि हुई थी, उससे खेतिहर सर्वहारा को कितना कम लाभ हुआ, इसका एक उदाहरण जमींदारों तथा काश्तकारों की हिमायत करनेवाली एक पुस्तक से लिये गये निम्नलिखित उद्धरण में मिलता है: "खेती की क्रियाओं में से अधिकतर क्रियाएं बहुधा उन लोगों के द्वारा संपन्न होती हैं, जिनको दिन भर के लिए या कार्यानुसार मजदूरी पर नौकर रखा जाता है। इन लोगों की साप्ताहिक मजदूरी १२ शिलिंग के लगभग होती है, और हालांकि यह माना जा सकता है कि कार्यानुसार मजदूरी पर काम करनेवाले आदमी को चूंकि अधिक श्रम करने की प्रेरणा मिलती रहती है, इसलिए वह साप्ताहिक मजदूरी पर काम करनेवाले आदमी की अपेक्षा १ शिलिंग या २ शिलिंग ज्यादा कमा लेता होगा, परंतु उसकी कुल आमदनी का हिसाब लगाने पर पता चलता है कि साल भर

रख लेते हैं। बहुधा संभावित कार्य की आशा में (जो सर्वथा काल्पनिक आशा भी सिद्ध हो सकती है) अधिक मजदूरों को रख लिया जाता है। इन मजदूरों को चूंकि कार्यानुसार मजदूरी दी जाती है, इसलिए मालिक को किसी तरह का नुकसान नहीं हो सकता, क्योंकि जो भी समय जाया होगा, उसका पूरा खमियाजा बेकार बैठे मजदूरों को भुगतना पड़ेगा।" (H. Grégoir, *Les Typographes devant le Tribunal correctionnel de Bruxelles*, Bruxelles, 1865, p. 9.)

[66] *Remarks on the Commercial Policy of Great Britain*, London, 1815, p.48.

में उसे जितने दिन बेकार रहना पड़ता है, उन दिनों का नुक़सान इस लाभ से कहीं ज्यादा होता है... इसके अलावा आम तौम तौर पर हम यह भी पायेंगे कि इन लोगों की मजदूरी का जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के दाम के साथ एक विशेष अनुपात होता है, जिसके फलस्वरूप दो बच्चों वाला मजदूर बिना चर्च की ओर से सार्वजनिक सहायता लिये अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता है।"[57] संसद ने जो तथ्य प्रकाशित किये थे, उनका हवाला देते हुए माल्थस ने उस समय कहा था: "मैं यह स्वीकार करता हूं कि कार्यानुसार मज़दूरी की प्रथा का चलन जितना बढ़ गया है, उसे देखकर मुझे भय होता है। दिन में १२ या १४ घंटे, या उससे भी ज्यादा देर तक सचमुच कड़ी मेहनत करते जाना किसी भी मनुष्य के लिए हानिकारक सिद्ध होगा।"[58]

जिन कारखानों पर फ़ैक्टरी-अधिनियम लागू हैं, उनमें कार्यानुसार मजदूरी एक सामान्य नियम बन जाती है, क्योंकि वहां पूंजी केवल श्रम की तीव्रता को बढ़ाकर ही काम के दिन को अधिक लाभदायक बना सकती है।[59]

जब श्रम की उत्पादिता बदल जाती है, तो उत्पाद की वही मात्रा पहले से भिन्न श्रम-काल का प्रतिनिधित्व करने लगती है। इसलिए कार्यानुसार मज़दूरी भी घटती-बढ़ती रहती है, क्योंकि वह पहले से निश्चित एक श्रम-काल की द्रव्य के रूप में अभिव्यंजना होती है। ऊपर हमने जो उदाहरण दिया था, उसमें १२ घंटे में २४ अदद तैयार हो जाते थे और १२ घंटे के उत्पाद का मूल्य ६ शिलिंग था, श्रम-शक्ति का दैनिक मूल्य ३ शिलिंग था, श्रम के एक घंटे का दाम ३ पेंस था और फ़ी अदद मजदूरी १$\frac{१}{२}$ पेंस थी। एक अदद में आधे घंटे का श्रम समाविष्ट हो जाता था। अब यदि श्रम की उत्पादिता दुगुनी हो जाये और उसके फलस्वरूप १२ घंटे के काम के दिन में २४ के बजाय ४८ अदद तैयार होने लगें और अन्य सब परिस्थितियां ज्यों की त्यों रहें, तो कार्यानुसार मजदूरी १$\frac{१}{२}$ पेंस से घटकर $\frac{३}{४}$ पेनी रह जायेगी, क्योंकि अब हर अदद श्रम के $\frac{१}{२}$ घंटे के बजाय केवल $\frac{१}{४}$ घंटे का ही प्रतिनिधित्व करेगा। २४ बार १$\frac{१}{२}$ पेंस = ३ शिलिंग, और इसी तरह ४८ बार $\frac{३}{४}$ पेनी = ३ शिलिंग। दूसरे शब्दों में, एक ही समय में तैयार हो जानेवाले अददों की संख्या जिस अनुपात में बढ़ती जाती है[60] और इसलिए एक अदद पर ख़र्च होनेवाला श्रम-काल जिस अनुपात

---

[57] *A Defence of the Landowners and Farmers of Great Britain*, London, 1814, pp. 4, 5.

[58] Malthus, *Inquiry into the Nature and Progress of Rent*, London, 1815.

[59] "फ़ैक्टरियों में काम करनेवाले मजदूरों का शायद ८० प्रतिशत भाग... उन लोगों का है, जिनको कार्यानुसार मजदूरी मिलती है।" (*Reports of Insp. of Fact. for 30th April 1858*, p. 9.)

[60] "उसकी कताई की मशीन की उत्पादक शक्ति बिल्कुल ठीक-ठीक माप ली जाती है, और इस उत्पादक शक्ति के बढ़ने के साथ-साथ काम की मजदूरी की दर घटती जाती है, हालांकि ठीक उसी अनुपात में नहीं।" (Ure, *Philosophy of Manufactures*, p. 317.)

में घटता जाता है, उसी अनुपात में कार्यानुसार मज़दूरी भी घटती जाती है। कार्यानुसार मज़दूरी में इस तरह जो परिवर्तन होता है, वह यहां तक केवल नाम मात्र का परिवर्तन है। परंतु उसके कारण पूंजीपति और मज़दूर के बीच हमेशा संग्राम चलता रहता है। यह संग्राम या तो इसलिए चलता है कि पूंजीपति इसका बहाना बनाकर असल में श्रम का दाम कम कर देता है, या इसलिए कि श्रम की उत्पादक शक्ति के बढ़ने के साथ-साथ उसकी तीव्रता भी बढ़ जाती है, या इसलिए कि मज़दूर कार्यानुसार मज़दूरी के बाहरी स्वरूप को हक़ीक़त मान बैठता है, यानी वह यह समझने लगता है कि पूंजीपति उसकी श्रम-शक्ति की नहीं, बल्कि उसके उत्पाद की क़ीमत देता है, और इसलिए जब उसकी मज़दूरी तो कम कर दी जाती है, पर पण्य जिस दाम पर बिकता है, उसमें कोई कमी नहीं आती, तब वह विद्रोह का झंडा लेकर खड़ा हो जाता है। "मज़दूर लोग... बहुत ध्यानपूर्वक कच्चे माल के दाम पर और तैयार माल के दाम पर निगाह रखते हैं, और इस प्रकार वे अपने मालिक के मुनाफ़े का बिल्कुल ठीक-ठीक अनुमान लगा लेते हैं।"[61]

पूंजीपति इस तरह के हर दावे के जवाब में ठीक ही कहता है कि जो लोग इस तरह की बातें करते हैं, उन्होंने मज़दूरी के स्वरूप को बिल्कुल नहीं समझा है।[62] वह बड़ी चीख़-पुकार

इस अंतिम, सफ़ाई के रूप में लिखे गये वाक्यांश को ख़ुद यूर ने ही बाद को काट दिया था। वह यह मानते हैं कि म्यूल के लंबा कर दिये जाने के फलस्वरूप श्रम में कुछ वृद्धि हो जाती है। इसलिए उत्पादिता जिस अनुपात में बढ़ती है, उस अनुपात में श्रम में कमी नहीं आती। यूर ने आगे लिखा है: "उस वृद्धि से मशीन की उत्पादक शक्ति में पांचवें हिस्से का इज़ाफ़ा हो जायेगा। जब वह चीज़ होगी, तो कताई करनेवाले मज़दूर को उसके काम की मज़दूरी उस दर पर नहीं मिलेगी, जिस दर पर पहले मिलती थी, लेकिन इस दर में चूंकि पांचवें हिस्से के अनुपात में कमी नहीं आयेगी, इसलिए यदि किन्हीं भी घंटों के काम को लिया जायेगा, तो इस सुधार के फलस्वरूप मज़दूर की कमाई कुछ बढ़ जायेगी", लेकिन "उपर्युक्त कथन में एक संशोधन करने की आवश्यकता है... कताई करनेवाला अल्पवयस्क मज़दूरों से जो मदद लेता है, उसके एवज़ में उसे अपनी ६ पेंस की अतिरिक्त आमदनी में से कुछ अतिरिक्त रक़म दे देनी होगी, और साथ ही वयस्क मज़दूरों के एक हिस्से को काम से जवाब मिल जायेगा" (l.c., pp. 320, 321.), जिससे ज़ाहिर है कि मज़दूरी में किसी तरह वृद्धि नहीं हो सकती।

[61] H. Fawcett, *The Economic Position of the British Labourer*, Cambridge and London, 1865, p. 178.

[62] २६ अक्तूबर १८६१ के लंदन के *Standard* में रौचडेल के मजिस्ट्रेटों के सामने जॉन ब्राइट एण्ड कंपनी नाम की एक फ़र्म के मुक़दमे की रिपोर्ट छपी है। इस फ़र्म ने "क़ालीन बुननेवालों की ट्रेड-यूनियन के कर्मचारियों पर धमकी देने के लिए मुक़दमा दायर किया था। ब्राइट कंपनी के हिस्सेदारों ने कुछ नयी मशीनें लगा ली थीं। पहले जितने समय में और जितना श्रम लगाकर १६० गज क़ालीन तैयार होता था, अब ये नयी मशीनें उतने ही समय में और उतना ही श्रम (!) लगाकर २४० गज क़ालीन तैयार कर डालती थीं। यांत्रिक सुधारों में अपनी पूंजी लगाकर मालिक लोग जो मुनाफ़ा कमा रहे हैं, उसमें हिस्सा बंटाने का मज़दूरों को कोई अधिकार नहीं। चुनांचे ब्राइट कंपनी ने तय किया कि मज़दूरी की दर $१\frac{१}{२}$ पेंस फ़ी गज से घटाकर १ पेनी फ़ी गज कर दी जाये, ताकि मज़दूर एक निश्चित परिणाम में श्रम करके अब भी ठीक पहले जितना ही कमा सकें। लेकिन नाम के लिए तो मज़दूरी की दर में कमी हो ही रही थी, और यह कहा गया था कि मज़दूरों को इसकी पहले से कोई सूचना नहीं दी गयी थी, जो अन्याय की बात है।"

शुरू कर देता है कि यह उद्योग की प्रगति पर कर लगाने की अनधिकृत चेष्टा है, और साफ़-साफ़ यह घोषणा कर देता है कि श्रम की उत्पादिता से मज़दूर का क़तई कोई संबंध नहीं है।[63]

[63] "ट्रेड-यूनियनें मज़दूरी की दर को ज्यों का त्यों बनाये रखना चाहती हैं और इसलिए सुधरी हुई मशीनों से जो लाभ होता है, उसमें हिस्सा बंटाने की कोशिश करती हैं।" (यह कितनी भयानक बात है! ..) "वे पहले से ऊंची मज़दूरी की मांग करती हैं, क्योंकि श्रम पहले से कम हो जाता है। दूसरे शब्दों में, वे यांत्रिक सुधारों पर कर लगाने की कोशिश करती हैं।" (*On Combination of Trades*, New Ed., London, 1834, p. 42.)

अध्याय २२

मज़दूरी के राष्ट्रगत भेद

१७ वें अध्याय में हमने अनेक प्रकार के उन योगों पर विचार किया था, जिनसे श्रम-शक्ति के मूल्य के परिमाण में तब्दीली आ सकती है। ये तब्दीलियां या तो उसके निरपेक्ष परिमाण में आ सकती हैं या उसके सापेक्ष परिमाण में – अथवा बेशी मूल्य की तुलना में उसके परिमाण में – आ सकती हैं। दूसरी ओर, श्रम का दाम जीवन-निर्वाह के साधनों की जिस मात्रा में मूर्त रूप धारण करता है, उसमें इस दाम की तब्दीलियों से स्वतंत्र या उससे भिन्न घटा-बढ़ी हो सकती है।[64] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, जब श्रम-शक्ति का मूल्य या क्रमशः उसका दाम मज़दूरी के बोधगम्य रूप में परिवर्तित हो जाता है, तो इस साधारण सी बात के फलस्वरूप ये सारे नियम मज़दूरी के उतार-चढ़ाव के नियमों में बदल जाते हैं। एक देश के भीतर मज़दूरी के इस उतार-चढ़ाव में जो कुछ नाना प्रकार के योगों के एक क्रम के रूप में सामने आता है, वह अलग-अलग देशों में राष्ट्रीय मज़दूरी के समकालीन भेद के रूप में प्रकट हो सकता है। इसलिए अलग-अलग राष्ट्रों की मज़दूरी की तुलना करते हुए हमें उन सभी तत्त्वों पर विचार करना चाहिए, जिनसे श्रम-शक्ति के मूल्य के परिमाण में होनेवाले परिवर्तन निर्धारित होते हैं। उसके लिए हमें जीवन-निर्वाह के लिए स्वाभाविक एवं ऐतिहासिक रूप से आवश्यक बनी मुख्य वस्तुओं के दाम और विस्तार पर, मज़दूरों की शिक्षा के ख़र्चे पर विचार करना चाहिए; यह देखना चाहिए कि स्त्रियों और बच्चों के श्रम की क्या भूमिका रहती है, श्रम की उत्पादिता का ख़याल रखना चाहिए तथा उसके विस्तार तथा तीव्रता पर विचार करना चाहिए। बहुत ही सतही ढंग की तुलना करने के लिए भी पहले अलग-अलग देशों में एक से धंधों की औसत दैनिक मज़दूरी को काम के समान दिन की मज़दूरी में परिणत कर देना आवश्यक होता है। जब अलग-अलग देशों की दैनिक मज़दूरी एक ही प्रकार के काम के दिन की मज़दूरी में परिणत हो जाती है, तो फिर समयानुसार मज़दूरी को पुनः कार्यानुसार मज़दूरी में बदलना पड़ता है, क्योंकि केवल कार्यानुसार मज़दूरी के द्वारा ही श्रम की उत्पादिता और तीव्रता दोनों की माप की जा सकती है।

हर देश में श्रम की एक ख़ास औसत तीव्रता होती है, जिससे कम तीव्रता होने पर किसी भी पण्य के उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से आवश्यक समय से अधिक समय ख़र्च होने लगता है। इसलिए इस औसत तीव्रता से कम तीव्रता का श्रम साधारण स्तर का श्रम नहीं गिना जाता है। किसी भी ख़ास देश में केवल श्रम-काल की अवधि के द्वारा मूल्य के मापे जाने

---

[64] "मज़दूरी" (यहां लेखक मज़दूरी की द्रव्य-अभिव्यंजना की चर्चा कर रहा है) "के एवज में अगर किसी सस्ती वस्तु की पहले से अधिक मात्रा मिलने लगती है, तो यह कहना सही नहीं है कि मज़दूरी बढ़ गयी है।" (डेविड ब्यूकानन, ऐडम स्मिथ की रचना *Wealth of Nations* के अपने संस्करण में; 1814, Vol. I, p. 417, Note.)

पर महज़ उसी वक़्त कुछ असर पड़ता है, जब श्रम की तीव्रता राष्ट्रीय औसत से अधिक होती है। संसारव्यापी मंडी में, जिसके अलग-अलग देश अभिन्न अंग हैं, ऐसा नहीं होता। श्रम की औसत तीव्रता हर देश में अलग-अलग होती है—कहीं ज़्यादा, तो कहीं कम। इन राष्ट्रीय औसतों का एक पैमाना सा बन जाता है, जिसकी मापने की इकाई सार्विक श्रम की औसत इकाई होती है। इसलिए कम तीव्रता के राष्ट्रीय श्रम की तुलना में अधिक तीव्रता का राष्ट्रीय श्रम उतने ही समय में अधिक मूल्य पैदा कर देता है, जो अपने को अधिक द्रव्य में अभिव्यक्त करता है।

परंतु जब मूल्य का नियम अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र पर लागू होता है, तब उसमें यह परिवर्तन और अधिक हो जाता है, क्योंकि दुनिया की मंडी में अधिक उत्पादक राष्ट्रीय श्रम साथ ही उस वक़्त तक अधिक तीव्रता का श्रम माना जाता है, जब तक कि अधिक उत्पादक राष्ट्र प्रतियोगिता के कारण अपने पण्यों का दाम घटाकर उनके मूल्य के स्तर पर ले आने के लिए विवश नहीं हो जाता।

किसी देश में पूंजीवादी उत्पादन का जितना विकास हो चुका होता है, उसी अनुपात में वहां श्रम की राष्ट्रीय तीव्रता और उत्पादिता अंतर्राष्ट्रीय स्तर के ऊपर उठ जाती हैं।[64a] जब अलग-अलग देशों में एक ही समय में एक ही क़िस्म के पण्यों की अलग-अलग मात्राएं तैयार होती हैं, तो उनका अंतर्राष्ट्रीय मूल्य असमान होता है, जो अलग-अलग दामों में, अर्थात् अंतर्राष्ट्रीय मूल्यों के अनुरूप द्रव्य की भिन्न-भिन्न रक़मों में, व्यक्त होता है। इसलिए जिस राष्ट्र में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली अधिक विकसित होती है, उसमें कम विकसित पूंजीवादी प्रणाली वाले राष्ट्र की तुलना में द्रव्य का सापेक्ष मूल्य कम होगा। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नक़दी मज़दूरी —यानी द्रव्य के रूप में श्रम-शक्ति का समतुल्य—पहले प्रकार के राष्ट्र में दूसरे प्रकार के राष्ट्र की तुलना में अधिक ऊंची होगी। पर इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि वास्तविक मज़दूरी पर—अर्थात् मज़दूर को मिलनेवाले जीवन-निर्वाह के साधनों पर—भी यह बात लागू होती है।

लेकिन अलग-अलग देशों में द्रव्य के मूल्य में इस प्रकार का जो तुलनात्मक अंतर पाया जाता है, उससे अलग भी अक्सर यह देखने में आता है कि पहले प्रकार के राष्ट्र में दूसरे प्रकार के राष्ट्र की अपेक्षा दैनिक या साप्ताहिक मज़दूरी अधिक ऊंची होती है, जब कि श्रम का सापेक्ष दाम, अर्थात् बेशी मूल्य और उत्पाद के मूल्य दोनों की तुलना में श्रम का दाम, पहले प्रकार के राष्ट्र की अपेक्षा दूसरे प्रकार के राष्ट्र में अधिक ऊंचा होता है।[65]

[64a] हम अन्यत्र यह पता लगायेंगे कि उत्पादिता से संबंध रखनेवाली बातों से उद्योग की अलग-अलग शाखाओं के लिए इस नियम में कुछ परिवर्तन हो जाता है।

[65] जेम्स ऐंडर्सन ने ऐडम स्मिथ के मत का खंडन करते हुए कहा है: "इसी प्रकार यह बात भी उल्लेखनीय है कि हालांकि ग़रीब देशों में, जहां धरती की उपज और ग़ल्ला आम तौर पर सस्ते होते हैं, श्रम का प्रकट दाम प्रायः कम होता है, फिर भी वह अन्य देशों की अपेक्षा अधिकांशतया असल में ऊंचा होता है। कारण कि श्रम का वास्तविक दाम वह मज़दूरी नहीं होती, जो मज़दूर को रोज़ाना दी जाती है, हालांकि प्रकट दाम वही होती है। श्रम का वास्तविक दाम वह है, जो मालिक को किसी निश्चित मात्रा का काम कराने के लिए सचमुच ख़र्च करना पड़ता है, और इस दृष्टि से धनी देशों में ग़रीब देशों की अपेक्षा श्रम लगभग सभी सूरतों में सस्ता होता है, हालांकि अनाज के और खाने-पीने की अन्य वस्तुओं के दाम ग़रीब

१८३३ के फ़ैक्टरी-आयोग के एक सदस्य, जे० डब्ल्यू० कौवेल कताई के व्यवसाय की बहुत ध्यानपूर्वक जांच-पड़ताल करने के बाद इस नतीजे पर पहुंचे थे कि "यूरोपीय महाद्वीप की अपेक्षा इंगलैंड में पूंजीपति के दृष्टिकोण से मज़दूरी वस्तुत: कम है, हालांकि मज़दूर के दृष्टिकोण से वह अधिक है।" (Ure, *Philosophy of Manufactures*, p. 314.) अंग्रेज़ फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर एलेक्ज़ाण्डर रेडग्रेव ने अपनी ३१ अक्तूबर १८६६ की रिपोर्ट में यूरोपीय राज्यों के आंकड़ों के साथ इंगलैंड के आंकड़ों का मुक़ाबला करके यह साबित किया है कि अपेक्षाकृत कम मज़दूरी और लंबे श्रम-काल के बावजूद उत्पाद के अनुपात में यूरोपीय श्रम अंग्रेज़ी श्रम से अधिक महंगा पड़ता है। ओल्डेनबुर्ग में स्थित एक सूती फ़ैक्टरी के अंग्रेज़ मैनेजर का कहना है कि उनके यहां शनिवार समेत काम का समय सुबह ५.३० बजे से रात के ८ बजे तक है, मगर जर्मन मज़दूर अंग्रेज़ निरीक्षकों की देखरेख में काम करते हुए भी उतना उत्पाद नहीं तैयार कर पाते, जितना उत्पाद अंग्रेज़ मज़दूर १० घंटे में तैयार कर देते हैं, और जर्मन निरीक्षकों की मातहती में तो वे और भी कम उत्पाद तैयार करते हैं। यहां इंगलैंड की अपेक्षा मज़दूरी बहुत कम है, बहुत सी सूरतों में तो वह ५० प्रतिशत कम है, लेकिन मशीनों के अनुपात में मज़दूरों की संख्या यहां बहुत अधिक है; कुछ विभागों में तो यह अनुपात ५ : ३ का है। मि० रेडग्रेव ने रूस की सूती फ़ैक्टरियों के विषय में बहुत विस्तृत सूचना दी है। उनको ये तथ्य एक अंग्रेज़ मैनेजर से प्राप्त हुए थे, जो अभी हाल तक रूस में नौकर था। इस रूसी धरती पर, जहां सभी प्रकार के कलंक ख़ूब फलते-फूलते हैं, इंगलैंड की फ़ैक्टरियों के प्रारंभिक काल की तमाम विभीषिकाएं आज अपने पूरे ज़ोर के साथ दिखायी देती हैं। मैनेजर लोग, ज़ाहिर है, यहां भी अंग्रेज़ हैं, क्योंकि रूसी पूंजीपति ख़ुद फ़ैक्टरी-व्यवसाय में किसी मसरफ़ का नहीं होता। इन फ़ैक्टरियों में दिन-रात लगातार कमरतोड़ काम लिया जाता है और सारी शर्म और हया को ताक़ पर रखकर मज़दूरों को बहुत ही कम मज़दूरी दी जाती है, मगर इस सबके बावजूद रूसी फ़ैक्टरी-उत्पादन केवल इसीलिए ज़िंदा है कि विदेशी प्रतियोगिता पर रोक लगा दी गयी है। अंत में मैं मि० रेडग्रेव की तैयार की हुई वह तुलनात्मक तालिका दे रहा हूं, जिसमें बताया गया है कि यूरोप के अलग-अलग देशों में हर फ़ैक्टरी के पीछे और कताई करनेवाले हर मज़दूर के पीछे तकुओं की औसत संख्या कितनी है। मि० रेडग्रेव ने ख़ुद लिखा है कि उन्होंने ये आंकड़े कुछ वर्ष पहले जमा किये थे और तब से अब तक इंगलैंड में फ़ैक्टरियों का आकार और तकुओं की प्रति मज़दूर संख्या पहले से बढ़ गयी है। लेकिन उन्होंने यह फ़र्ज़ कर लिया है कि यूरोप के जिन देशों के आंकड़े तालिका में दिये गये हैं, उन देशों में भी लगभग इसके समान प्रगति हो गयी है और इस तरह तुलनात्मक अध्ययन के लिए तालिका आंकड़ों का अब भी पहले जैसा ही महत्त्व है।

देशों में धनी देशों की अपेक्षा बहुत कम होते हैं... दिन के हिसाब से श्रम का दाम इंगलैंड की अपेक्षा स्कॉटलैंड में बहुत कम है... इंगलैंड में कार्यानुसार मज़दूरी आम तौर पर कम है।" (James Anderson, *Observations on the Means of Exciting a Spirit of National Industry etc.*, Edinburgh, 1777, pp. 350, 351.) इसके विपरीत अगर मज़दूरी कम होती है, तो श्रम महंगा हो जाता है। "इंगलैंड की अपेक्षा आयरलैंड में श्रम अधिक महंगा है... क्योंकि वहां मज़दूरी उतनी ही कम है।" (*Royal Commission on Railways, Minutes*, 1867, No. 2074.)

प्रति फ़ैक्टरी तकुओं की औसत संख्या

इंगलैंड, प्रति फ़ैक्टरी तकुओं का औसत	१२,६००
फ़ांस, « « « « «	१,५००
प्रशा, « « « « «	१,५००
बेल्जियम, « « « « «	४,०००
सैक्सोनी, « « « « «	४,५००
ग्रास्ट्रिया, « « « « «	७,०००
स्विट्ज़रलैंड, « « « « «	८,०००

प्रति मजदूर तकुओं की औसत संख्या

फ़ांस, एक व्यक्ति के पीछे	१४ तकुए
रूस, « « « «	२८ «
प्रशा, « « « «	३७ «
बवेरिया, « « « «	४६ «
ग्रास्ट्रिया, « « « «	४९ «
बेल्जियम, « « « «	५० «
सैक्सोनी, « « « «	५० «
स्विट्ज़रलैंड, « « «	५५ «
जर्मनी के छोटे राज्य, « «	५५ «
ग्रेट ब्रिटेन, « « «	७४ «

मि० रेडग्रेव ने लिखा है: "यह तुलना ग्रेट ब्रिटेन के इसलिए और प्रतिकूल पड़ती है कि वहां ऐसी फ़ैक्टरियों की संख्या बहुत बड़ी है, जिनमें कताई के साथ-साथ मशीनों द्वारा बुनाई भी की जाती है (हालांकि तालिका में बुनकरों की संख्या घटायी नहीं गयी है), और विदेशों में जो फ़ैक्टरियां हैं, वे मुख्यतया कताई की फ़ैक्टरियां हैं। यदि कड़ाई के साथ केवल एक ही प्रकार की चीज़ों का मुक़ाबला करना संभव होता, तो मेरे डिस्ट्रिक्ट में मुझे ऐसी बहुत सी सूत की कताई करनेवाली फ़ैक्टरियां मिल जातीं, जिनमें २,२०० तकुए लगे हुए म्यूलों की केवल एक आदमी और उसके दो सहायक देखरेख करते हैं और रोजाना २२० पाउंड सूत तैयार कर देते हैं, जो लंबाई में ४०० मील के बराबर होता है।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1866*, pp. 31-37, passim.)

यह बात सुविदित है कि एशिया और पूर्वी यूरोप में भी अंग्रेज़ कंपनियां रेलें बना रही हैं और इस काम के लिए उन्होंने देशी मजदूरों के साथ-साथ कुछ अंग्रेज मजदूरों को भी रखा हुआ है। इस प्रकार उनको व्यावहारिक आवश्यकता से विवश होकर श्रम की तीव्रता के राष्ट्र-गत भेदों का ख़याल रखना पड़ा है, पर इससे उनका कोई नुक़सान नहीं हुआ है। उनके अनुभव से प्रकट होता है कि हालांकि मजदूरी का स्तर श्रम की औसत तीव्रता के न्यूनाधिक अनुरूप होता है, फिर भी श्रम का सापेक्ष दाम आम तौर पर उसकी उल्टी दिशा में घटता-बढ़ता है।

एच० केरी ने अपनी एक शुरू की आर्थिक रचना[66] में यह साबित करने की कोशिश की है कि अलग-अलग राष्ट्रों में मजदूरी वहां के काम के दिन की उत्पादिता के अनुलोम अनुपात में होती है। और इस अंतर्राष्ट्रीय संबंध से केरी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मजदूरी हर जगह श्रम की उत्पादिता के अनुपात में घटती-बढ़ती है। बेशी मूल्य के उत्पादन का हमने जो पूरा विश्लेषण किया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह निष्कर्ष कितना बेतुका है। यदि केरी ने अपनी सदा की रीति के अनुसार आंखें मूंदकर और सतही ढंग से आंकड़ों की पंचमेल खिचड़ी में कड़छी चलाते रहने के बजाय ख़ुद अपनी आधारिकाओं को प्रमाणित किया होता, तो भी यह निष्कर्ष बेतुका ही रहता। सबसे बढ़िया बात यह है कि केरी का यह दावा नहीं है कि परिस्थिति सचमुच वही है, जो उनके सिद्धांत के अनुसार होनी चाहिए। कारण कि राज्य के हस्तक्षेप ने स्वाभाविक आर्थिक संबंधों को विकृत कर दिया है। इसलिए केरी की राय में अलग-अलग देशों की राष्ट्रीय मजदूरी का हिसाब लगाते समय हमें यह मानकर चलना चाहिए कि हर देश में मजदूरी का जो हिस्सा करों के रूप में राज्य के कोषागार में चला जाता है, वह मजदूर को ही मिलता है। मि० केरी को एक क़दम आगे बढ़कर यह क्यों नहीं सोचना चाहिए कि ये "राज्य के ख़र्चे" कहीं पूंजीवादी विकास के "स्वाभाविक" फल तो नहीं हैं? इस प्रकार का तर्क ऐसे आदमी को ही शोभा देता है, जिसने शुरू में तो यह घोषणा की थी कि पूंजीवादी उत्पादन के संबंध प्रकृति और विवेक के शाश्वत नियमों पर आधारित हैं, जिनकी स्वतंत्र और सुमेल कार्रवाइयों में राज्य के हस्तक्षेप से केवल गड़बड़ ही पैदा होती है, लेकिन बाद को यह आविष्कार कर डाला कि दुनिया की मंडी पर इंगलैंड का जो शैतानी प्रभाव पड़ रहा है (और जो प्रभाव, लगता है, पूंजीवादी उत्पादन के प्राकृतिक नियमों से उत्पन्न नहीं होता), उसके कारण राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है, अर्थात् उसके कारण प्रकृति तथा विवेक के इन नियमों को राज्य द्वारा संरक्षण की – यानी संरक्षण-प्रणाली की – आवश्यकता होने लगी है। इसके अलावा उन्होंने यह आविष्कार भी किया था कि रिकार्डो तथा अन्य अर्थशास्त्रियों के जिन प्रमेयों में वर्तमान सामाजिक विग्रहों और विरोधों को सूत्रबद्ध किया गया है, वे एक वास्तविक आर्थिक क्रिया की भावगत उपज नहीं हैं, बल्कि इसके विपरीत इंगलैंड में तथा अन्यत्र पूंजीवादी उत्पादन के जो वास्तविक विरोध पाये जाते हैं, वे रिकार्डो तथा अन्य अर्थशास्त्रियों के सिद्धांतों का फल हैं। और अंत में मि० केरी ने आविष्कार किया है कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के सहज सौंदर्य तथा माधुर्य को जो चीज़ आख़िर में नष्ट कर देती है, वह है वाणिज्य। मि० केरी एक क़दम और आगे बढ़े होते, तो शायद यह आविष्कार भी कर डालते कि पूंजीवादी उत्पादन में केवल एक ही चीज बुरी है, और वह पूंजी है। इस व्यक्ति में आलोचनात्मक क्षमता का इतना भयानक अभाव और साथ ही नक़ली पाण्डित्य का ऐसा बाहुल्य है कि अपने संरक्षणवादी धर्मद्रोह के बावजूद केवल वही इस योग्य है कि बस्तिया जैसे आदमी की और स्वतंत्र व्यापार के समर्थक, आजकल के अन्य सभी आशावादियों की सुमेल बुद्धिमत्ता का गुप्त स्रोत बन जाये।

---

[66] *Essay on the Rate of Wages: with an Examination of Causes of the Differences in the Conditions of the Labouring Population throughout the World*, Philadelphia, 1835.

भाग ७

पूंजी का संचय

मूल्य की वह मात्रा, जो पूंजी की तरह काम करनेवाली है, पहला क़दम यह उठाती है कि द्रव्य की एक रक़म को उत्पादन के साधनों और श्रम-शक्ति में बदल देती है। यह रूपांतरण मंडी में, परिचलन के क्षेत्र के भीतर, होता है। दूसरा क़दम – यानी उत्पादन की प्रक्रिया – उस वक़्त पूरा होता है, जब उत्पादन के साधन उन पण्यों में बदल जाते हैं, जिनका मूल्य अपने संघटक भागों के मूल्य से अधिक होता है और इसलिए जिनमें शुरू में लगायी गयी पूंजी और साथ ही कुछ बेशी मूल्य भी निहित होता है। उसके बाद इन पण्यों को परिचलन में डालना होता है। उनको बेचकर उनका मूल्य द्रव्य के रूप में वसूल करना होता है, फिर इस द्रव्य को नये सिरे से पूंजी में बदलना पड़ता है, – और वही क्रम फिर आरंभ हो जाता है। यह चक्रीय गति, जिसमें लगातार उन्हीं क्रमिक अवस्थाओं से गुज़रना होता है, पूंजी का परिचलन कहलाती है।

संचय की पहली शर्त यह है कि पूंजीपति अपना सारा पण्य बेचने में कामयाब हुआ हो और इस तरह उसे जो द्रव्य मिला हो, उसके अधिकांश को उसने पूंजी में बदल डाला हो। आगे के पृष्ठों में हम यह मानकर चलेंगे कि पूंजी का परिचलन अपने सामान्य ढंग से होता है। इस प्रक्रिया का विस्तृत विश्लेषण दूसरी पुस्तक में मिलेगा।

जो पूंजीपति बेशी मूल्य पैदा करता है, अर्थात् जो प्रत्यक्ष रूप में मज़दूरों का अवेतन श्रम चूसता है और उसे पण्यों में जमाता है, वह इसमें संदेह नहीं कि इस बेशी मूल्य को सबसे पहले हस्तगत करता है, लेकिन इसका यह मतलब हरगिज़ नहीं है कि आख़िर तक यह बेशी मूल्य उसी के हाथ में रहता है। बेशी मूल्य में से इस पूंजीपति को अन्य पूंजीपतियों को, ज़मींदारों, आदि को हिस्सा देना पड़ता है, जो सामाजिक उत्पादन की संहति में अन्य प्रकार के कार्यों को पूरा करते हैं। इसलिए बेशी मूल्य बहुत से भागों में बंट जाता है। ये टुकड़े अलग-अलग कोटियों के व्यक्तियों के हिस्से में पड़ते हैं और विभिन्न प्रकार के रूप धारण कर लेते हैं, जिनमें से प्रत्येक रूप दूसरे से स्वतंत्र होता है। ये रूप हैं लाभ, ब्याज, व्यापारी का लाभ, किराया, इत्यादि। बेशी मूल्य के इन परिवर्तित रूपों पर केवल तीसरी पुस्तक में ही विचार करना संभव होगा।

इसलिए एक ओर तो हम यह माने लेते हैं कि पूंजीपति ने जो पण्य तैयार किया है, उसको वह उसके मूल्य पर बेचता है; और परिचलन के क्षेत्र में पूंजी जो नये-नये रूप धारण करती है या इन रूपों के पीछे पुनरुत्पादन की जो ठोस परिस्थितियां छिपी रहती हैं, उनकी तरफ़ हम कोई ध्यान नहीं देते। दूसरी ओर, हम पूंजीवादी उत्पादक को पूरे बेशी मूल्य का मालिक मानकर चलते हैं, या शायद यह कहना बेहतर होगा कि उसके साथ और जितने लोग लूट में हिस्सा बंटाते हैं, हम उसे उन सबका प्रतिनिधि मान लेते हैं। अतएव सबसे पहले हम

संचय पर एक अमूर्त दृष्टिकोण से, अर्थात् उसे उत्पादन की वास्तविक प्रक्रिया की एक विशेष अवस्था मात्र समझकर उसपर विचार करते हैं।

जहां तक संचय होता है, वहां तक यह आवश्यक है कि पूंजीपति ने अपना पण्य बेच दिया हो और उसकी बिक्री से जो द्रव्य प्राप्त हुआ है, उसे पूंजी में बदल डाला हो। इसके अलावा बेशी मूल्य के अनेक हिस्सों में बंट जाने से न तो उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन आता है और न ही वे परिस्थितियां बदलती हैं, जिनमें बेशी मूल्य संचय का एक तत्त्व बनता है। औद्योगिक पूंजीपति बेशी मूल्य के जिस भाग को अपने पास रखता है या जिसे दूसरों को देता है, उसका अनुपात कुछ भी हो, बेशी मूल्य पर सबसे पहले वही अधिकार करता है। इसलिए जो कुछ सचमुच होता है, हम उसके सिवा और कुछ मानकर नहीं चल रहे हैं। दूसरी ओर, संचय की प्रक्रिया के सरल एवं मौलिक रूप पर परिचलन की घटना से, जिसका संचय फल होता है, और बेशी मूल्य के बंट जाने से एक पर्दा सा पड़ जाता है। इसलिए इस प्रक्रिया का ठीक-ठीक विश्लेषण करने के लिए आवश्यक है कि हम कुछ समय के लिए उन तमाम घटनाओं को अनदेखा कर दें, जिनसे इस प्रक्रिया के आंतरिक यंत्र की कार्यविधि पर आवरण पड़ जाता है।

अध्याय २३

साधारण पुनरुत्पादन

समाज में उत्पादन की प्रक्रिया का रूप कुछ भी हो, यह आवश्यक है कि वह एक निरंतर चलनेवाली प्रक्रिया हो और एक निश्चित अवधि के बाद बार-बार उन्हीं अवस्थाओं में से गुज़रे। जिस तरह कोई समाज कभी उपभोग करना बंद नहीं कर सकता, उसी प्रकार वह कभी उत्पादन करना भी बंद नहीं कर सकता। इसलिए यदि उत्पादन-प्रक्रिया पर एक संबद्ध इकाई के रूप में और एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में विचार किया जाये, जो हर बार नये सिरे से आरंभ हो जाती है, तो उत्पादन की प्रत्येक सामाजिक प्रक्रिया साथ ही पुनरुत्पादन की भी प्रक्रिया होती है।

जो बातें उत्पादन के लिए आवश्यक होती हैं, वे ही पुनरुत्पादन के लिए भी आवश्यक होती हैं। उस वक़्त तक कोई समाज लगातार उत्पादन नहीं कर सकता, दूसरे शब्दों में, उस वक़्त तक कोई समाज पुनरुत्पादन नहीं कर सकता, जब तक कि वह अपने उत्पाद के एक भाग को बार-बार उत्पादन के साधनों में, अथवा नये उत्पादों के तत्त्वों में, नहीं बदलता। यदि अन्य सभी बातें ज्यों की त्यों रहें, तो केवल एक ही तरीक़ा है, जिससे समाज अपने धन का पुनरुत्पादन कर सकता है और उसे एक स्तर पर क़ायम रख सकता है। वह तरीक़ा यह है कि वह सदा उत्पादन के साधनों की प्रतिस्थापना करता जाये, अर्थात् साल भर में जितने श्रम के औज़ार, कच्चा माल तथा सहायक पदार्थ ख़र्च हो जाते हैं, उतनी ही मात्रा में ये वस्तुएं फिर से तैयार करे। इन वस्तुओं को वर्ष के बाक़ी उत्पाद से अलग करके नये सिरे से उत्पादन की प्रक्रिया में शामिल देना होता है। इसलिए हर साल के उत्पाद का एक निश्चित भाग उत्पादन के क्षेत्र की संपत्ति होता है। इस भाग के लिए पहले से ही यह तय होता है कि उसका उत्पादक ढंग से उपभोग किया जायेगा, और वह अधिकतर ऐसी वस्तुओं की शक्ल में होता है, जो व्यक्तिगत उपभोग के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होती हैं।

यदि उत्पादन का रूप पूंजीवादी है, तो पुनरुत्पादन का रूप भी वही होगा। जिस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन में श्रम-प्रक्रिया पूंजी के आत्मविस्तार का एक साधन मात्र होती है, उसी प्रकार पूंजीवादी पुनरुत्पादन में वह निवेशित मूल्य का पूंजी के रूप में—अर्थात् स्वयं अपना विस्तार करनेवाले मूल्य के रूप में—पुनरुत्पादन करने का साधन मात्र होती है। कोई आदमी पूंजीपति का आर्थिक भेस केवल इसीलिए धर सकता है कि उसका द्रव्य लगातार पूंजी की तरह काम करता रहता है। उदाहरण के लिए, यदि इस साल १०० पाउंड की रक़म पूंजी में बदली गयी है और उससे २० पाउंड का बेशी मूल्य पैदा हुआ है, तो अगले वर्ष और उसके बाद आनेवाले वर्षों में भी उसको बार-बार यही क्रिया दोहरानी पड़ेगी। बेशी मूल्य पेशगी

लगायी गयी पूंजी की नियतकालिक वृद्धि की शक्ल में, अथवा क्रियारत पूंजी के नियतकालिक फल की शक्ल में, पूंजी से उत्पन्न होनेवाली आय का रूप धारण कर लेता है।[1]

यदि यह आय केवल पूंजीपति के उपभोग की वस्तुएं मुहैया करने के ही काम में आती है और जिस तरह वह एक नियत अवधि में पैदा होती है, यदि उसी तरह एक नियत अवधि के भीतर ख़र्च कर दी जाती है, तो अन्य बातों के ज्यों की त्यों रहते हुए यह साधारण पुनरुत्पादन होता है। और यद्यपि इस प्रकार का पुनरुत्पादन पुराने पैमाने की उत्पादन की प्रक्रिया की एक पुनरावृत्ति मात्र होती है, तथापि महज़ यह पुनरावृत्ति अथवा निरंतरता ही उत्पादन की प्रक्रिया को एक नया स्वरूप दे देती है। या शायद यह कहना बेहतर होगा कि एक अलग-थलग, विरल क्रिया के रूप में उत्पादन की प्रक्रिया में जो कुछ दृष्ट विशेषताएं होती हैं, वे इस पुनरावृत्ति अथवा निरंतरता के कारण ग़ायब हो जाती हैं।

एक निश्चित अवधि के लिए श्रम-शक्ति का ख़रीदा जाना उत्पादन की प्रक्रिया की प्रस्तावना है। और वह निश्चित अवधि जब-जब पूरी हो जाती है, यानी जब-जब उत्पादन का निश्चित काल, जैसे एक सप्ताह या एक महीना, समाप्त हो जाता है, तब-तब यह प्रस्तावना फिर से दोहरायी जाती है। लेकिन मज़दूर को उस वक़्त तक उजरत नहीं मिलती, जब तक कि वह अपनी श्रम-शक्ति को ख़र्च नहीं कर देता और उसके मूल्य को ही नहीं, बल्कि बेशी मूल्य को भी पण्यों का मूर्त रूप नहीं दे देता। इस तरह वह केवल बेशी मूल्य ही नहीं पैदा करता, जिसको हमने फ़िलहाल पूंजीपति के निजी उपभोग की आवश्यकताओं को पूरा करनेवाला कोष मान रखा है, बल्कि परिवर्ती पूंजी नाम का वह कोष भी पहले ही से पैदा कर देता है, जिसमें से ख़ुद उसकी उजरत आती है और जो बाद को मज़दूरी की शक्ल में उसके पास लौट आता है, और उससे केवल उसी समय तक काम लिया जाता है, जब तक कि वह इस कोष का पुनरुत्पादन करता रहता है। इसी से अर्थशास्त्रियों का वह सूत्र निकला है, जिसका हमने १८वें अध्याय में ज़िक्र किया था और जिसमें मज़दूरी को ख़ुद उत्पाद के एक हिस्से के रूप में पेश किया गया है।[2] मज़दूरी की शक्ल में मज़दूर के पास जो चीज़ फिर लौट आती

---

[1] "लेकिन ये धनी लोग, जो दूसरों के श्रम से उत्पादित वस्तुओं को ख़र्च करते हैं, विनिमय" (पण्यों की ख़रीद) "के सिवा और किसी तरह इन वस्तुओं को नहीं प्राप्त कर सकते। किंतु यदि वे अपनी पसंद की इन नयी वस्तुओं के एवज़ में अपना पहले से कमाकर इकट्ठा किया हुआ धन देने लगते हैं, तो उनके सुरक्षित कोष के तेज़ी से ख़त्म हो जाने का ख़तरा पैदा हो जाता है। यह मैं कह चुका हूं कि ये लोग ख़ुद काम नहीं करते और यहां तक कि वे काम करने की योग्यता भी नहीं रखते। इसलिए सोचा जा सकता है कि उनके धन का कोष धीरे-धीरे ख़ाली होता जायेगा, और जब उसमें कुछ भी नहीं रहेगा, तब वे शायद कोई और चीज़ देकर मज़दूरों को अपने लिए काम करने को तैयार कर सकें... लेकिन हमारी समाज-व्यवस्था में धन में दूसरों के श्रम की सहायता से अपना पुनरुत्पादन करने का गुण पैदा हो गया है, और इस श्रम में धन के मालिक को कोई हिस्सा नहीं लेना पड़ता। श्रम की भांति और श्रम की सहायता से धन में भी हर साल फल लगता है, जिसे हर साल नष्ट कर देने पर भी धन के मालिक का कोई नुक़सान नहीं होता। पूंजी से जो आय उत्पन्न होती है, वही यह फल है।" (*Sismondi, Nouveaux Principes d'Économie Politique*, Paris, 1819, t. I, pp. 81, 82.)

[2] "मुनाफ़ों की तरह मज़दूरी को भी असल में तैयार उत्पाद का ही एक हिस्सा समझना चाहिए।" (G. Ramsay, l. c., p. 142.) "उत्पाद का वह हिस्सा, जो मज़दूरी की शक्ल में

है, वह उस उत्पाद का एक हिस्सा है, जिसका वह लगातार पुनरुत्पादन करता रहता है। यह सच है कि पूंजीपति उसे द्रव्य की शक्ल में उजरत देता है, परंतु यह द्रव्य केवल मज़दूर के श्रम के उत्पाद का परिवर्तित रूप ही होता है। जिस समय वह उत्पादन के साधनों के एक हिस्से को उत्पाद में परिवर्तित करता है, उसी दौरान उसकी पहले की पैदावार का एक भाग द्रव्य में परिवर्तित कर दिया जाता है। मज़दूर की इस सप्ताह या इस वर्ष की श्रम-शक्ति की क़ीमत उसके पिछले सप्ताह या पिछले वर्ष के श्रम के द्वारा अदा की जाती है। यदि हम एक अकेले पूंजीपति और एक अकेले मज़दूर के बजाय पूंजीपतियों के पूरे वर्ग और मज़दूरों के पूरे वर्ग को लें, तो द्रव्य के हस्तक्षेप से पैदा होनेवाला भ्रम तत्काल ग़ायब हो जाता है। पूंजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग को द्रव्य के रूप में लगातार कुछ ऐसे आर्डर-नोट देता रहता है, जिनके ज़रिये मज़दूर वर्ग अपने द्वारा तैयार किये गये उन पण्यों का एक हिस्सा हासिल कर सकता है, जिनपर पूंजीपति वर्ग ने अधिकार जमा रखा है। मज़दूर उसी ढंग से इन आर्डर-नोटों को लगातार पूंजीपति वर्ग को लौटाते रहते हैं, और इस तरह उनको ख़ुद अपने उत्पाद का वह भाग मिल जाता है, जो उनके हिस्से में आया है। इस पूरे लेन-देन पर उत्पाद के पण्य-रूप और पण्य के द्रव्य-रूप का आवरण पड़ा रहता है।

अतः परिवर्ती पूंजी केवल उस कोष की अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट ऐतिहासिक रूप है, जिसमें से मज़दूरों को जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं दी जाती हैं। या यूं कहिये कि इस विशिष्ट ऐतिहासिक रूप में वह श्रम-कोष प्रकट होता है, जिसकी मज़दूर को अपना तथा अपने परिवार का जीवन-निर्वाह करने के लिए आवश्यकता होती है और जिसका, सामाजिक उत्पादन की प्रणाली कुछ भी हो, उसको ख़ुद ही उत्पादन और पुनरुत्पादन करना पड़ता है। यदि यह श्रम-कोष बराबर उस द्रव्य के रूप में उसके पास लौटता रहता है, जिसके द्वारा मज़दूर के श्रम की उजरत अदा की जाती है, तो इसका कारण यह है कि उसने जो उत्पाद पैदा किया था, वह पूंजी के रूप में लगातार उससे दूर हटता जाता है। लेकिन इस सबसे इस तथ्य में कोई अंतर नहीं आता कि पूंजीपति मज़दूर को जो कुछ पेशगी देता है, वह उत्पाद के रूप में साकार बना हुआ मज़दूर का अपना ही श्रम होता है।[3] मान लीजिये, एक किसान है, जिसे अपने सामंत को बेगार देनी पड़ती है। वह सप्ताह में ३ दिन ख़ुद अपनी ज़मीन पर अपने उत्पादन के साधनों से काम करता है। बाक़ी ३ दिन उसे अपने सामंत के खेतों पर बेगार करनी पड़ती है। अपने श्रम-कोष का वह लगातार पुनरुत्पादन करता रहता है, लेकिन यहां पर उसका कभी यह रूप नहीं होता कि उसके श्रम की उजरत कोई और व्यक्ति द्रव्य की शक्ल में पेशगी दे देता हो। लेकिन इसके साथ-साथ उसे सामंत के लिए बेगार के रूप में जो अवेतन श्रम करना पड़ता है, वह भी स्वेच्छा से किये गये सवेतन श्रम का रूप कभी नहीं लेता। यदि एक रोज़ यकायक सामंत इस किसान की ज़मीन, ढोरों और बीज पर, संक्षेप में कहिये, तो उसके उत्पादन के साधनों पर, क़ब्ज़ा कर ले, तो उस दिन से किसान को मजबूर होकर अपनी श्रम-शक्ति सामंत के हाथ बेचनी

मज़दूर को मिलता है।" (James Mill, *Éléments d'Économie Politique*, translated by Parissot, Paris, 1823, p. 34.)

[3] "जब पूंजी मज़दूर को उसकी मज़दूरी पेशगी देने के काम में आती है, तब उससे श्रम के जीवन-निर्वाह के कोष में कोई वृद्धि नहीं होती।" (माल्थस की रचना *Definitions in Political Economy*, London, 1853, p. 22 के काज़ेनोवे के संस्करण में काज़ेनोवे का फ़ुटनोट।)

पड़ेगी। तब अन्य बातों के ज्यों की त्यों रहते हुए किसान पहले की तरह ही सप्ताह में ६ दिन श्रम करेगा – ३ दिन ख़ुद अपने लिए और ३ दिन अपने सामंत के लिए, जो इस दिन से मज़दूरी देनेवाला पूंजीपति बन जायेगा। पहले की ही भांति अब भी वह उत्पादन के साधनों को उत्पादन के साधनों की तरह ख़र्च करेगा और उनके मूल्य को उत्पाद में स्थानांतरित कर देगा। पहले की ही भांति अब भी उत्पाद का एक निश्चित भाग पुनरुत्पादन में लगाया जायेगा। लेकिन जिस क्षण बेगार मज़दूरी में बदल जाती है, उसी क्षण से श्रम-कोष, जिसका उत्पादन और पुनरुत्पादन किसान पहले की तरह अब भी ख़ुद ही करता है, सामंत द्वारा मज़दूरी के रूप में पेशगी दी गयी पूंजी का रूप धारण कर लेता है। बुर्जुआ अर्थ-शास्त्री का संकुचित मस्तिष्क असली वस्तु को उस रूप से अलग नहीं कर पाता, जिसमें वह वस्तु प्रकट होती है। वह इस तथ्य की ओर से आंख मूंद लेता है कि पृथ्वी पर कुछ इने-गिने स्थान ही हैं, जहां आज भी श्रम-कोष पूंजी के रूप में दिखायी देता है।[4]

यह सच है कि परिवर्ती पूंजी का पूंजीपति के कोष में से निकालकर पेशगी दिये गये मूल्य का रूप केवल उसी समय समाप्त होता है,[4a] जब हम पूंजीवादी उत्पादन पर हर बार नये सिरे से शुरू हो जानेवाली एक निरंतर प्रक्रिया के रूप में विचार करते हैं। लेकिन इस प्रक्रिया का कहीं पर और कभी श्रीगणेश भी तो हुआ होगा। इसलिए हमारे वर्तमान दृष्टिकोण से तो यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि कभी पूंजीपति के पास दूसरों के अवेतन श्रम के बिना ही किसी प्रकार द्रव्य का संचय हो गया होगा और इसी तरह उसमें श्रम-शक्ति के ख़रीदार के रूप में मंडी में प्रवेश करने की सामर्थ्य पैदा हुई होगी। यह जैसे भी हुआ हो, इस प्रक्रिया की केवल निरंतरता ही, अर्थात् केवल साधारण पुनरुत्पादन ही कुछ और बड़े चमत्कारपूर्ण परिवर्तन पैदा कर देता है, जिनका न केवल परिवर्ती पूंजी पर, बल्कि कुल पूंजी पर भी प्रभाव पड़ता है।

यदि १,००० पाउंड की पूंजी से हर साल २०० पाउंड का बेशी मूल्य पैदा होता हो और यदि यह बेशी मूल्य हर साल ख़र्च कर दिया जाता हो, तो यह बात साफ़ है कि ५ वर्ष में जो बेशी मूल्य ख़र्च होगा, वह ५×२०० पाउंड या १,००० पाउंड के बराबर होगा। यानी वह उस रक़म के बराबर होगा, जो शुरू में पेशगी लगायी गयी थी। यदि बेशी मूल्य का केवल एक भाग – मान लीजिये, केवल आधा भाग – ख़र्च होता है, तो यही बात १० वर्ष में होगी, क्योंकि १०×१०० पाउंड=१,००० पाउंड। इससे यह सामान्य नियम निकलता है कि अगर शुरू में लगायी गयी पूंजी को हर साल ख़र्च कर दिये जानेवाले बेशी मूल्य से भाग दिया जाये, तो हमें पुनरुत्पादन की अवधि मालूम हो जाती है, यानी हमें यह पता लग जाता है कि पूंजीपति अपनी शुरू में लगायी हुई पूंजी को कितने वर्षों में ख़र्च कर डालता है, या कितनी अवधि के पूरा हो जाने पर शुरू में लगायी गयी पूंजी ग़ायब हो

---

[4] "दुनिया में कुल जितने मज़दूर हैं, उनमें से एक चौथाई से भी कम की मज़दूरी पूंजीपति पेशगी देते हैं।" (R. Jones, *Textbook of Lectures on the Political Economy of Nations*, Hertford, 1852, p. 36.)

[4a] "बनानेवाले को" (यानी मज़दूर को) "हालांकि उसका मालिक पेशगी मज़दूरी दे देता है, फिर भी असल में इसमें मालिक का कुछ ख़र्चा नहीं होता, क्योंकि इस मज़दूरी का मूल्य, मय कुछ मुनाफ़े के, प्रायः उस वस्तु के बढ़े हुए मूल्य में सुरक्षित रहता है, जिसपर मज़दूर का श्रम ख़र्च होता है।" (A. Smith, l. c., Book II, Ch. III, p. 311.)

जाती है। पूंजीपति समझता है कि वह दूसरों के अवेतन श्रम के उत्पाद को – अर्थात् बेशी मूल्य को – खर्च कर रहा है और अपनी मूल पूंजी उसने ज्यों की त्यों बचा रखी है। लेकिन वह जो कुछ समझता है, उससे तथ्यों में परिवर्तन नहीं आ सकता। एक निश्चित अवधि बीत जाने के बाद उसके पास जो पूंजीगत मूल्य होता है, वह उस बेशी मूल्य के जोड़ के बराबर होता है, जो उसने इन वर्षों में हस्तगत किया है, और इस अवधि में वह जो मूल्य खर्च कर डालता है, वह उसकी मूल पूंजी के बराबर होता है। यह सच है कि तब उसके पास जो पूंजी होती है, उसका परिमाण पहले जितना ही होता है, और उसका एक भाग, जैसे मकान, मशीनें, आदि उस वक्त भी मौजूद थे, जब उसने अपना व्यवसाय आरंभ किया था। लेकिन यहां हमारा संबंध इस पूंजी के भौतिक तत्वों से नहीं, बल्कि उसके मूल्य से है। जब कोई व्यक्ति अपनी संपत्ति के मूल्य के बराबर उधार लेकर अपनी सारी संपत्ति का सफ़ाया कर डालता है, तब यह बात स्पष्ट होती है कि उसकी संपत्ति उसके क़र्ज़ की कुल रक़म के सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करती। पूंजीपति पर भी यही बात लागू होती है। जब वह अपनी मूल पूंजी का समतुल्य खर्च कर डालता है, तब उसकी बची हुई पूंजी का मूल्य उस बेशी मूल्य की कुल राशि के सिवा और किसी चीज़ का प्रतिनिधित्व नहीं करता, जिसे उसने बिना उजरत दिये हुए हस्तगत कर लिया था। तब उसकी पुरानी पूंजी के मूल्य का लेशमात्र भी बाक़ी नहीं रहता।

इसलिए किसी भी प्रकार के संचय से अलग, उत्पादन की प्रक्रिया की केवल निरंतरता ही – दूसरे शब्दों में, केवल साधारण पुनरुत्पादन ही – कभी न कभी प्रत्येक पूंजी को अनिवार्य रूप से संचित पूंजी अथवा पूंजीकृत बेशी मूल्य में बदल देता है। यदि पूंजी शुरू में मालिक के व्यक्तिगत श्रम से कमायी गयी हो, तब भी वह आज नहीं, तो कल ऐसा मूल्य बन जाती है, जिसपर बिना समतुल्य दिये अधिकार कर लिया गया है, वह दूसरों का अवेतन श्रम बन जाती है, जो या तो द्रव्य में, या किसी अन्य वस्तु में भौतिक रूप प्राप्त कर लेता है।

हमने चौथे-छठे अध्यायों में यह देखा था कि द्रव्य को पूंजी में बदलने के लिए केवल पण्यों का उत्पादन और परिचलन ही काफ़ी नहीं होता। हमने देखा था कि इसके लिए एक तरफ़, मूल्य अथवा द्रव्य के मालिक को और दूसरी तरफ़, मूल्य पैदा करनेवाले पदार्थ के मालिक को, एक तरफ़, उत्पादन और जीवन-निर्वाह के साधनों के मालिक को और दूसरी तरफ़, उसको जिसके पास श्रम-शक्ति के सिवा और कुछ नहीं है, ग्राहक और विक्रेता के रूप में एक दूसरे के सामने खड़ा होना पड़ता है। इसलिए असल में श्रम का श्रम के उत्पाद से अलग हो जाना, वैयक्तिक श्रम-शक्ति का श्रम के लिए आवश्यक वस्तुगत परिस्थितियों से अलग हो जाना ही पूंजीवादी उत्पादन का वास्तविक आधार और प्रस्थान-बिंदु था।

लेकिन जो शुरू में केवल एक प्रस्थान-बिंदु था, वह महज़ प्रक्रिया की निरंतरता के फलस्वरूप, केवल साधारण पुनरुत्पादन द्वारा, पूंजीवादी उत्पादन का एक अनोखा, हर बार नये सिरे से पैदा होनेवाला और इस तरह एक स्थायी परिणाम बन जाता है। एक तरफ़, उत्पादन की प्रक्रिया भौतिक धन को बराबर पूंजी में, पूंजीपति के लिए और अधिक धन पैदा करने के साधनों में और विलास के साधनों में बदलती रहती है। दूसरी तरफ़, मज़दूर जब इस प्रक्रिया के बाहर निकलता है, तो उसकी वही दशा होती है, जो इस प्रक्रिया में प्रवेश करने के समय थी, यानी तब भी वह दूसरों के लिए धन का स्रोत होता है, पर ख़ुद उसके पास ऐसी कोई चीज़ नहीं होती, जिससे वह इस धन को अपना बना सके।

उत्पादन की प्रक्रिया में प्रवेश करने के पहले ही वह अपने श्रम से हाथ धो चुका था; उसने अपनी श्रम-शक्ति बेच डाली थी; पूंजीपति ने उसके श्रम पर अधिकार करके उसका अपनी पूंजी में समावेश कर लिया था। इसलिए उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान उसका श्रम जिस उत्पाद में साकार होता है, उसपर भी मज़दूर का कोई अधिकार नहीं होता। उत्पादन की प्रक्रिया चूंकि साथ ही वह प्रक्रिया भी होती है, जिसके द्वारा पूंजीपति श्रम-शक्ति का उपभोग करता है, इसलिए मज़दूर का उत्पाद बराबर न सिर्फ़ पण्यों में, बल्कि पूंजी में रूपांतरित होता रहता है। वह ऐसा मूल्य बनता जाता है, जो मूल्य पैदा करनेवाली शक्ति को सोख लेता है; वह जीवन-निर्वाह के ऐसे साधनों का रूप धारण कर लेती है, जिनसे मज़दूर का शरीर ख़रीदा जाता है; वह उत्पादन के ऐसे साधनों का रूप धारण कर लेती है, जो उल्टे उत्पादकों पर हुक्म चलाने लगते हैं।[5] इसलिए मज़दूर लगातार भौतिक एवं वस्तुगत धन पैदा करता रहता है, परंतु यह धन पूंजी के रूप में होता है, वह एक ऐसी परायी शक्ति के रूप में होता है, जो मज़दूर को अपना ताबेदार बना लेती है और उसका शोषण करती है; और पूंजीपति उतने ही लगातार ढंग से श्रम-शक्ति पैदा करता रहता है, परंतु यह श्रम-शक्ति धन के एक वैयक्तिक स्रोत के रूप में होती है, जो उन वस्तुओं से अलग हो जाता है, जिनकी मदद से और जिनके रूप में ही यह स्रोत काम में आ सकता है, संक्षेप में, पूंजीपति लगातार श्रमजीवी को पैदा करता जाता है, मगर यह श्रमजीवी मज़दूरी पर श्रम करनेवाले मज़दूर के रूप में होता है।[6] यह अनवरत पुनरुत्पादन, मज़दूर की नस्ल को क़ायम रखने की यह क्रिया पूंजीवादी उत्पादन की conditio sine quâ non [अपरिहार्य शर्त] होती है।

मज़दूर दो तरह से उपभोग करता है। उत्पादन करते समय वह अपने श्रम के द्वारा उत्पादन के साधनों का उपभोग करता है और उनको शुरू में लगायी गयी पूंजी के मूल्य से अधिक मूल्य के उत्पाद में बदल देता है। यह उसका उत्पादक उपभोग है। यह क्रिया साथ ही उसकी श्रम-शक्ति के उपभोग की भी क्रिया होती है। उसकी श्रम-शक्ति का वह पूंजीपति उपभोग करता है, जिसने श्रम-शक्ति को ख़रीद रखा है। दूसरी ओर, मज़दूर को उसकी श्रम-शक्ति के एवज़ में जो द्रव्य मिलता है, उसको वह जीवन-निर्वाह के साधनों में बदल डालता है। यह उसका व्यक्तिगत उपभोग है। इसलिए मज़दूर का उत्पादक उपभोग

---

[5] "यह उत्पादक श्रम का एक बहुत ही अनोखा गुण है। जिस किसी वस्तु का उत्पादक ढंग से उपभोग किया जाता है, वह पूंजी है, और वह उपभोग के ज़रिये पूंजी बनती है।" (James Mill, l. c., p. 242.) मगर जेम्स मिल इस "बहुत ही अनोखे गुण" की तह तक कभी न पहुंच पाये।

[6] "यह निश्चय ही सच है कि शुरू-शुरू में किसी उद्योग के चालू होने से बहुत से ग़रीबों को काम मिल जाता है, मगर उनकी ग़रीबी दूर नहीं होती; और अगर यह उद्योग क़ायम रहता है, तो वह बहुत से नये लोगों को ग़रीब बना देता है।" (*Reasons for a Limited Exportation of Wool*, London, 1677, p. 19.) "अब काश्तकार बिल्कुल बेतुके ढंग से यह दावा करता है कि वह ग़रीबो को पालता-पोसता है। पर वास्तव में यह उनकी ग़रीबी को पालना-पोसना है।" (*Reasons for the Late Increase of the Poor Rates: or a Comparative View of the Prices of Labour and Provisions*, London, 1777, p. 31.)

ग्रौर उसका व्यक्तिगत उपभोग बिल्कुल ग्रलग-ग्रलग चीज़ें हैं। उत्पादक उपभोग में वह पूंजी की चालक शक्ति का काम करता है, ग्रौर उसपर पूंजीपति का ग्रधिकार होता है; व्यक्तिगत उपभोग में ग्रपने ऊपर उसका ख़ुद ग्रपना ग्रधिकार होता है, ग्रौर वह उत्पादन की प्रक्रिया के क्षेत्र के बाहर ग्रपने जीवन के लिए ग्रावश्यक कुछ कार्य करता है। एक का परिणाम यह होता है कि पूंजीपति ज़िंदा रहता है, दूसरे के फलस्वरूप मज़दूर ज़िंदा रहता है।

काम के दिन पर विचार करते हुए हमने देखा था कि मज़दूर को ग्रकसर मजबूर होकर ग्रपने व्यक्तिगत उपभोग को उत्पादन की प्रक्रिया का एक ग्रंग मात्र बना देना पड़ता है। ऐसी हालत में मज़दूर ग्रपनी श्रम-शक्ति को क़ायम रखने के हेतु जीवन के लिए ग्रावश्यक वस्तुग्रों का ठीक उसी तरह उपभोग करता है, जिस तरह से भाप से चलनेवाला इंजन कोयले ग्रौर पानी का ग्रौर पहिया तेल का उपभोग करते हैं। तब उसके उपभोग के साधन उत्पादन के किसी साधन के लिए ग्रावश्यक उपभोग के साधन होते हैं, तब उसका व्यक्तिगत उपभोग प्रत्यक्ष रूप में उत्पादक उपभोग होता है। किंतु यह एक ऐसी बुराई प्रतीत होती है, जो बुनियादी तौर पर पूंजीवादी उत्पादन के साथ नहीं जुड़ी हुई है।[7]

जब हम किसी ग्रकेले पूंजीपति ग्रौर किसी ग्रकेले मज़दूर पर नहीं, बल्कि पूरे पूंजीपति वर्ग ग्रौर पूरे मज़दूर वर्ग पर विचार करते हैं, यानी जब हम उत्पादन की किसी एक ग्रलग प्रक्रिया पर नहीं, बल्कि ग्रपने वास्तविक सामाजिक पैमाने पर पूरे ज़ोर से चालू पूंजीवादी उत्पादन पर विचार करते हैं, तब मामले का एक बिल्कुल दूसरा पहलू सामने ग्राता है। ग्रपनी पूंजी के एक भाग को श्रम-शक्ति में बदलकर पूंजीपति ग्रपनी पूरी पूंजी के मूल्य में वृद्धि कर देता है। वह एक पंथ दो काज करता है। उसे मज़दूर से जो कुछ मिलता है, उससे तो वह मुनाफ़ा कमाता ही है; वह ख़ुद मज़दूर को जो कुछ देता है, उससे भी मुनाफ़ा कमाता है। श्रम-शक्ति के एवज़ में दी गयी पूंजी जीवन के लिए ग्रावश्यक वस्तुग्रों में बदल दी जाती है, जिनके उपभोग से मौजूदा मज़दूरों की मांस-पेशियों, स्नायुग्रों, हड्डियों ग्रौर मस्तिष्क का पुनरुत्पादन होता है ग्रौर नये मज़दूर पैदा किये जाते हैं। इसलिए जो नितांत ग्रावश्यक है, उसकी सीमाग्रों के भीतर मज़दूर वर्ग का व्यक्तिगत उपभोग श्रम-शक्ति के एवज़ में पूंजी द्वारा दिये गये जीवन-निर्वाह के साधनों को पुनः नयी श्रम-शक्ति में बदल देता है, ताकि पूंजी उसका शोषण कर सके। मज़दूर वर्ग का व्यक्तिगत उपभोग उत्पादन के उस साधन का उत्पादन तथा पुनरुत्पादन है, जिसके बिना पूंजीपति का काम नहीं चल सकता, ग्रर्थात् वह स्वयं मज़दूर का उत्पादन तथा पुनरुत्पादन है। इसलिए मज़दूर का व्यक्तिगत उपभोग चाहे वर्कशाप के भीतर होता हो या उसके बाहर, चाहे उत्पादन की प्रक्रिया का एक भाग हो या न हो, वह हर हालत में पूंजी के उत्पादन ग्रौर पुनरुत्पादन का ही एक तत्त्व होता है। यह उसी तरह की बात है, जैसे मशीनों की सफ़ाई चाहे मशीनों के चलते हुए की जाये ग्रौर चाहे मशीनों के रुक जाने पर, वह पूंजी के उत्पादन ग्रौर पुनरुत्पादन का ही एक ग्रंग होती है। इस बात से इसमें कोई फ़र्क़ नहीं ग्राता कि मज़दूर ग्रपने जीवन-निर्वाह के साधनों का पूंजीपति को ख़ुश करने के लिए नहीं,

---

[7] रोस्सी यदि सचमुच "उत्पादक उपभोग" के रहस्य को समझने में सफल हुए होते, तो वह इसके विरुद्ध इतने ज़ोरों से शोर न मचाते।

बल्कि ख़ुद अपने मतलब से उपभोग करता है। लद्दू जानवर के सामने जो चारा डाला जाता है, उसे खाने में यदि जानवर को मज़ा आता है, तो इससे इस बात में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि उसका चारा खाना उत्पादन की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है। मज़दूर वर्ग को जीवित रखना और उसका पुनरुत्पादन पूंजी के पुनरुत्पादन की एक आवश्यक शर्त है और हमेशा रहेगा। लेकिन पूंजीपति पूरे भरोसे के साथ इस काम को मज़दूर की जीवित रहने और अपनी नस्ल को बढ़ाने की नैसर्गिक प्रवृत्तियों के सहारे छोड़ सकता है। उसको केवल इतनी ही फ़िक्र रहती है कि मज़दूर के व्यक्तिगत उपभोग को घटाकर जहां तक मुमकिन हो, केवल नितांत आवश्यक उपभोग तक ही सीमित कर दिया जाये, और वह निश्चय ही दक्षिणी अमरीका के उन बेरहम खान-मालिकों की कभी नक़ल नहीं करता, जो अपने मज़दूरों को कम पौष्टिक भोजन की अपेक्षा अधिक पौष्टिक भोजन ज़बर्दस्ती खिलाना ज़्यादा पसंद करते हैं।[8]

अतः पूंजीपति और उसका वैचारिक प्रतिनिधि राजनीतिक अर्थशास्त्री, दोनों मज़दूर के व्यक्तिगत उपभोग के केवल उसी भाग को उत्पादक समझते हैं, जो मज़दूर वर्ग को ज़िंदा रखने के लिए आवश्यक होता है और इसलिए जिसके बिना पूंजीपति को शोषण करने के लिए श्रम-शक्ति नहीं मिल सकती। इस भाग के अलावा मज़दूर जो कुछ अपने मज़े के लिए उपभोग करता है, वह अनुत्पादक उपभोग की मद में आता है।[9] यदि पूंजी के संचय से मज़दूरी में वृद्धि और मज़दूर के उपभोग में कुछ इज़ाफ़ा हो जाये, पर उसके साथ-साथ पूंजी के द्वारा श्रम-शक्ति के उपभोग में कोई वृद्धि न हो, तो नयी पूंजी का अनुत्पादक ढंग से उपभोग होने लगेगा।[10] असल में, जहां तक ख़ुद मज़दूर का संबंध है, उसका व्यक्तिगत उपभोग अनुत्पादक होता है, क्योंकि उससे एक ज़रूरतमंद व्यक्ति के अतिरिक्त और किसी चीज़ का पुनरुत्पादन नहीं होता; पर पूंजीपति और राज्य के लिए उसका व्यक्तिगत उपभोग उत्पादक उपभोग होता है, क्योंकि उससे उस शक्ति का उत्पादन होता है, जो उनके धन को उत्पन्न करती है।[11]

---

[8] "दक्षिणी अमरीका की खानों में काम करनेवाले मज़दूरों का दैनिक काम (जो शायद दुनिया में सबसे भारी काम है) यह है कि वे १८०-२०० पाउंड धातु को ४५० फ़ुट की गहराई से अपने कंधों पर लादकर ऊपर लाते हैं। पर ये लोग केवल रोटी और सेम पर ज़िंदा रहते हैं। वे ख़ुद तो महज़ रोटी ही खाना पसंद करते, मगर उनके मालिकों को चूंकि यह पता है कि इनसान महज़ रोटी खाकर इतनी सख़्त मेहनत नहीं कर सकते, इसलिए वे मज़दूरों के साथ घोड़ों जैसा व्यवहार करते हैं और उनको ज़बर्दस्ती सेम खिलाते हैं। बेशक सेम में रोटी की अपेक्षा वह चूना (चूने का फ़ासफ़ेट) ज़्यादा होता है, जिससे हड्डियां बनती हैं।" (Liebig, *Die Chemie in ihrer Anwendung auf Agrikultur und Physiologie*, 7. Aufl., 1862, 1. Theil, S. 194, पाद-टिप्पणी।)

[9] James Mill, l.c., p. 238.

[10] "यदि श्रम का दाम इतना अधिक बढ़ जाये कि पूंजी की वृद्धि के बावजूद और अधिक श्रम से काम लेना असंभव हो जाये, तो मैं कहूंगा कि पूंजी की इस प्रकार की वृद्धि का अब भी अनुत्पादक ढंग से उपभोग होगा।" (Ricardo, l.c., p. 163.)

[11] "जिसे सचमुच उत्पादक उपभोग कहा जा सकता है, वह केवल वह उपभोग है, जिसमें पूंजीपति पुनरुत्पादन के उद्देश्य से धन का उपभोग करते हैं या धन को" (यहां धन से उसका मतलब उत्पादन के साधनों से है) "नष्ट करते हैं... जो व्यक्ति मज़दूर को

इसलिए जब मज़दूर वर्ग प्रत्यक्ष रूप से श्रम-प्रक्रिया में व्यस्त नहीं होता, सामाजिक दृष्टि से तब भी वह श्रम के साधारण औज़ारों की तरह ही पूंजी का उपांग होता है। कुछ ख़ास सीमाओं के भीतर उसका व्यक्तिगत उपभोग तक उत्पादन की प्रक्रिया का एक तत्त्व मात्र होता है। किंतु उत्पादन की प्रक्रिया इसका पूरा ख़याल रखती है कि ये सचेतन औज़ार उसको बीच मंझधार में छोड़कर अलग न हो जायें। इसके लिए वह उनके उत्पाद को, जैसे ही वह बनकर तैयार होता है, उनके ध्रुव से हटाकर पूंजी के प्रतिध्रुव पर पहुंचा देती है। व्यक्तिगत उपभोग से एक तरफ़, श्रम के इन सचेतन औज़ारों के ज़िंदा रहने और पुनरुत्पादन के साधन मिल जाते हैं, दूसरी ओर, व्यक्तिगत उपभोग जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को नष्ट करके श्रम की मंडी में मज़दूर के हमेशा मौजूद रहने का पक्का प्रबंध कर देता है। रोमन ग़ुलाम को ज़ंजीरों से बांधकर रखा जाता था; मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूर को उसके मालिक के साथ अदृश्य धागों से बांध दिया जाता है। मालिकों के लगातार बदलते रहने और क़रार के fictio juris [क़ानूनी झूठ] के ज़रिये मज़दूर की आज़ादी का ढोंग क़ायम रखा जाता है।

पुराने वक़्तों में जब कभी पूंजी को इसकी आवश्यकता होती थी, वह क़ानून बनाकर स्वतंत्र मज़दूर पर अपना स्वामित्व का अधिकार जमा लेती थी। उदाहरण के लिए, १८१५ तक इंगलैंड के मशीन बनानेवाले कारीगरों को देश छोड़कर जाने की सख़्त मनाही थी। जो कोई इस प्रतिबंध को भंग करता था, उसको भयानक कष्ट उठाना पड़ता था और कठोर दंड का भागी बनना पड़ता था।

मज़दूर वर्ग के पुनरुत्पादन के साथ-साथ कुशलता का संचय होता चलता है, जिसे हर पीढ़ी अपने बाद में आनेवाली पीढ़ी को सौंपती जाती है।[12] जैसे ही कोई संकट आता है और इस बात का ख़तरा पैदा होता है कि पूंजीपति को कुशल मज़दूर अब और नहीं मिलेंगे, वैसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पूंजीपति इस प्रकार के कुशल वर्ग के अस्तित्व को किस हद तक उत्पादन के उन तत्त्वों में गिनता है, जिनपर उसको स्वामित्व का अधिकार प्राप्त है, और किस हद तक वह सचमुच उसको अपनी परिवर्ती पूंजी की वास्तविकता समझता है। जब अमरीका में गृह-युद्ध छिड़ा और उसके साथ-साथ कपास का अकाल भी पड़ा, तब जैसा कि सब जानते हैं, लंकाशायर की सूती मिलों के अधिकतर मज़दूरों को काम से जवाब मिल गया। उस वक़्त मज़दूर वर्ग और समाज के अन्य हलक़ों, दोनों ही क्षेत्रों से यह आवाज़ उठी कि "फ़ालतू" मज़दूरों को देश छोड़कर उपनिवेशों को या संयुक्त राज्य अमरीका को चले जाने के लिए राज्य की ओर से सहायता मिलनी चाहिए या राष्ट्रीय पैमाने पर सभी लोगों से चंदा करके उनको मदद दी जानी चाहिए। इसपर The Times ने

काम पर रखता है, उसके लिए और राज्य के लिए मज़दूर एक उत्पादक उपभोक्ता होता है, लेकिन अगर बिल्कुल सही-सही देखा जाये, तो ख़ुद अपने लिए वह उत्पादक उपभोक्ता नहीं होता।" (Malthus, *Definitions in Political Economy*, London, 1853, p. 30.)

[12] "केवल एक ही चीज़ है, जिसके बारे में हम कह सकते हैं कि वह पहले से संचित होती जाती है और तैयार की जाती है। वह है मज़दूर की कुशलता... कुशल श्रम का संचय और संग्रह, यह अति महत्त्वपूर्ण क्रिया, जहां तक अधिकतर मज़दूरों का संबंध है, बिना किसी पूंजी के ही संपन्न हो जाती है।" (Th. Hodgskin, *Labour Defended etc.*, pp., 12, 13.)

२४ मार्च १८६३ को मैंचेस्टर के चेंबर्स ग्राफ़ कामर्स के एक भूतपूर्व ग्रध्यक्ष, एडमंड पॉटर का एक पत्र प्रकाशित किया। इस पत्र को हाउस ग्राफ़ कामन्स में ठीक ही कारखानेदारों का घोषणापत्र कहा गया था।[13] यहां पर हम इस पत्र के कुछ ऐसे विशिष्ट ग्रंश छांटकर उद्धृत कर रहे हैं, जिनमें बिना शर्महया के श्रम-शक्ति पर पूंजी के स्वामित्व के ग्रधिकार का दावा किया गया है।

"उस ग्रादमी को" (जिस ग्रादमी की रोज़ी छूट गयी है) "बताया जा सकता है कि सूती मिलों में काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या बहुत ग्रधिक बढ़ गयी है... ग्रौर सच तो यह है कि... उसमें शायद एक तिहाई की कमी करना ग्रावश्यक हो गया है, ग्रौर उसके बाद जो दो तिहाई मज़दूर बचेंगे, उनके लिए एक स्वस्थ ढंग की मांग होगी... जनमत उनके उत्प्रवास के पक्ष में है... मालिक इसके लिए राज़ी नहीं हो सकता कि उसके लिए श्रम की पूर्ति का स्रोत ही ख़त्म कर दिया जाये; उसके विचार से यह ग़लत भी है ग्रौर दोषपूर्ण भी है... लेकिन यदि सार्वजनिक कोष का उत्प्रवास में सहायता देने के लिए ही उपयोग किया जाता है, तो मालिक को ग्रपनी बात कहने ग्रौर शायद इसका विरोध करने का भी हक़ है।" इसके ग्रागे मि० पॉटर ने यह बताया है कि सूती व्यवसाय कितना लाभदायक है, किस प्रकार इस "धंधे ने ग्रायरलैंड ग्रौर इंगलैंड के खेतिहर डिस्ट्रिक्टों की फ़ालतू ग्राबादी को खींच लिया है", वह कितना विस्तार प्राप्त कर चुका है, किस प्रकार १८६० में इंगलैंड के कुल निर्यात-माल का $\frac{५}{१३}$ भाग इस धंधे का तैयार किया हुग्रा था ग्रौर किस तरह कुछ वर्षों के बाद, जब मंडी का विस्तार हो जायेगा ग्रौर ख़ास कर जब हिंदुस्तानी मंडी का विस्तार हो जायेगा ग्रौर कपास ६ पेंस फ़ी पाउंड के दाम पर बहुतायत के साथ मिलने लगेगी, तब यह धंधा फिर से विस्तार प्राप्त कर लेगा। इसके बाद मि० पॉटर ने लिखा है: "किसी न किसी दिन... एक साल में, दो साल में या, हो सकता है, तीन साल में ग्रावश्यक मात्रा फिर मिलने लगेगी... तो मैं जो सवाल करना चाहता हूं, वह यह है: क्या यह धंधा इस लायक़ है कि उसे ज़िंदा रखा जाये? क्या यह वाजिब होगा कि इन मशीनों को" (यहां उसका मतलब श्रम करनेवाली जीवित मशीनों से है) "ग्रच्छी हालत में रखा जाये, ग्रौर उनसे हाथ धो बैठना क्या हद दर्जे की मूर्खता नहीं होती? मैं तो समझता हूं कि यह बड़ी भारी मूर्खता होगी। मैं यह मानता हूं कि मज़दूर किसी की संपत्ति नहीं हैं, वे लंकाशायर की या मालिकों की संपत्ति नहीं हैं। लेकिन वे इन दोनों की शक्ति तो हैं; वे एक ऐसी मानसिक एवं प्रशिक्षित शक्ति हैं, जिसका स्थान एक पीढ़ी तक नहीं भरा जा सकता, हालांकि जिन मशीनों पर वे काम करते हैं, उनमें से बहुत सी ऐसी हैं, जिनको लाभपूर्वक बारह महीने के ग्रंदर ही हटाकर उनकी जगह नयी ग्रौर पहले से बेहतर मशीनें लगायी जा सकती हैं।[14] कार्य-शक्ति

---

[13] "उस ख़त को कारख़ानेदारों का घोषणापत्र समझा जा सकता है।" (Ferrand, *Motion on the Cotton Famine*, H. o. C., 27th April 1863.)

[14] पाठक यह नहीं भूले होंगे कि साधारण परिस्थितियों में, जब मज़दूरी कम करने का सवाल सामने ग्राता है, तब यही पूंजी सर्वथा दूसरा राग ग्रलापने लगती है। तब मालिक लोग एक स्वर में यह कहते हैं कि "फ़ैक्टरी के मज़दूरों को यह तथ्य ग्रच्छी तरह याद रखना चाहिए कि उनका श्रम वास्तव में एक हीन कोटि का कुशल श्रम है ग्रौर दूसरा ऐसा कोई

को विदेश चले जाने के लिए प्रोत्साहन दीजिये या इसकी अनुमति (!) दे दीजिये, लेकिन पूंजीपति का क्या होगा? .. "मज़दूरों में जो सर्वोत्तम लोग हैं, उनको हटा दीजिये, स्थिर पूंजी का भारी मात्रा में मूल्यह्रास हो जायेगा और अस्थायी पूंजी उस ख़राब क़िस्म के श्रम के रहते संघर्ष करने को राज़ी नहीं होगी, जो बहुत थोड़ी मात्रा में ही मिलेगा... हमसे कहा जाता है कि मज़दूर इसे" (उत्प्रवास को) "चाहते हैं। उनके लिए ऐसा चाहना तो बहुत स्वाभाविक है... सूती व्यवसाय की कार्यकारी शक्ति को छीनकर या मज़दूरी के ख़र्चे में, मान लीजिये, पांचवें हिस्से की – या पचास लाख की – कमी करके इस धंधे का विस्तार कम कर दीजिये, उसे दबाकर छोटा कर दीजिये और फिर देखिये कि मज़दूरों के ऊपर जो वर्ग है, यानी छोटे-छोटे दूकानदार, उनका क्या हाल होता है? और ज़मीन के लगान का, झोंपड़ों के किरायों का क्या हाल होता है? .. फिर यह भी पता लगाइये कि इस सबका छोटे काश्तकारों पर, खाते-पीते गृहस्थों पर और... ज़मींदारों पर क्या असर होता है? और तब बताइये कि क्या देश के सभी वर्गों के लिए इससे अधिक आत्मघाती सुझाव कोई और हो सकता है कि राष्ट्र की कलकारख़ानों में काम करनेवाली आबादी के सर्वोत्तम भाग का निर्यात करके और उसकी सबसे अधिक उपजाऊ उत्पादक पूंजी और धन बढ़ाने के साधनों के एक भाग के मूल्य को नष्ट करके राष्ट्र को निर्बल बना दिया जाये? मेरी तो यह सलाह है कि (पचास या साठ लाख पाउंड स्टर्लिंग के) एक ऋण का प्रबंध किया जाये... उसे संभवतया दो या तीन वर्षों पर फैलाया जा सकता है; और उसकी व्यवस्था करने के लिए विशेष क़ानून बनाकर सूती व्यवसाय वाले डिस्ट्रिक्टों के बोर्डों में कुछ विशेष नये कमिश्नर जोड़ दिये जायें और इस तरह मज़दूरों के लिए किसी धंधे का या किसी प्रकार के श्रम का इन्तज़ाम किया जाये, ताकि जिन लोगों को ऋण दिया जाये, उनका कम से कम नैतिक स्तर क़ायम रहे... ज़मींदारों या मालिकों के लिए इससे बुरी बात और क्या हो सकती है कि उनके सबसे अच्छे मज़दूर उनसे छिन जायें और बाक़ी का एक दीर्घ एवं क्षयकारी उत्प्रवास के फलस्वरूप और एक पूरे प्रांत में पूंजी तथा मूल्य के क्षय के परिणामस्वरूप नैतिक मनोबल टूट जाये और वे निराशा के गर्त में डूब जायें?"

कारख़ानेदारों के विशिष्ट प्रवक्ता पॉटर ने दो क़िस्म की "मशीनों" में भेद किया है। दोनों ही प्रकार की मशीनें पूंजीपति की संपत्ति होती हैं, पर उनमें से एक प्रकार की मशीनें सदा फ़ैक्टरी में खड़ी रहती हैं, जब कि दूसरे प्रकार की मशीनें रात के समय और

श्रम नहीं है, जिसे इतनी आसानी से सीखा जा सकता हो या जो इसी स्तर का श्रम हो और फिर भी जिसके लिए इससे अधिक पारिश्रमिक दिया जाता हो, या जिसे सबसे कम कुशलता रखनेवाले किसी विशेषज्ञ से थोड़ी सी शिक्षा लेकर इससे जल्दी तथा इससे अधिक पूर्णता के साथ सीखा जा सकता हो... उत्पादन के व्यवसाय में मालिक की मशीनें वास्तव में मज़दूर के श्रम तथा कुशलता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं" (हालांकि अब हमें बताया जाता है कि इन मशीनों को १२ महीने के अंदर ही हटाकर उनकी जगह पर फ़ायदे के साथ नयी मशीनें लगायी जा सकती हैं), "और यह कुशलता तो ६ महीने की शिक्षा से प्राप्त की जा सकती है, और कोई भी साधारण खेतिहर मज़दूर उसे प्राप्त कर सकता है" (हालांकि अब हमें बताया जाता है कि यह कुशलता ३० वर्ष में भी नहीं प्राप्त की जा सकती)। (देखिये इसी पुस्तक में पीछे, पृष्ठ ४५१।)

इतवार के दिन फ़ैक्टरी के बाहर, झोंपड़ियों में रहती हैं। एक क़िस्म निर्जीव मशीनों की होती है, दूसरी जीवित मशीनों की। निर्जीव मशीनें न सिर्फ़ रोज़ ब रोज़ घिसती जाती हैं और उनका मूल्यह्रास होता जाता है, बल्कि उनका एक बड़ा भाग निरंतर होनेवाली प्राविधिक प्रगति के कारण इतनी जल्दी पुराना पड़ जाता है कि चंद महीनों के बाद ही उनको हटाकर नयी मशीनें लगाने में फ़ायदा नज़र आने लगता है। इसके विपरीत जीवित मशीनों से जितनी ज़्यादा देर तक काम लिया जाता है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को विरासत के रूप में मिलनेवाली कुशलता जितनी अधिक संचित होती जाती है, ये मशीनें उतनी ही अधिक उपयोगी बनती जाती हैं। The Times ने सूती व्यवसाय के इस सेठ को यह जवाब दिया था :

"मि० एडमंड पॉटर सूती मिलों के मालिकों के असाधारण एवं सर्वोच्च महत्त्व से इतने अधिक प्रभावित हैं कि इस वर्ग को जीवित रखने तथा उसके धंधे को अमर बनाने के उद्देश्य से वह श्रमजीवी वर्ग के पांच लाख लोगों को उनकी इच्छा के विरुद्ध एक विशाल नैतिक मुहताज-ख़ाने में बंद करके रखना चाहते हैं। मि० पॉटर ने प्रश्न किया है कि क्या यह धंधा इस लायक़ है कि उसे ज़िंदा रखा जाये? हम उत्तर देते हैं कि हां निस्संदेह वह इस लायक़ है कि उसे ईमानदारी के तरीक़ों से ज़िंदा रखा जाये। मि० पॉटर फिर सवाल करते हैं कि क्या यह वाजिब होगा कि इन मशीनों को अच्छी हालत में रखा जाये? इस सवाल का जवाब देने में हमें हिचकिचाहट होती है। 'मशीनों' से मि० पॉटर का मतलब मानव-मशीनों से है, क्योंकि इसके आगे वह यह कहते हैं कि इन मशीनों का सर्वथा अपनी संपत्ति के रूप में उपयोग करने का उनका कोई इरादा नहीं है। हमें यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि हम इसे न तो वाजिब और न संभव ही समझते हैं कि मानव-मशीनों को अच्छी हालत में रखा जाये, यानी जब तक कि उनकी फिर ज़रूरत नहीं होती, तब तक के लिए उनको तेल-वेल लगाकर कहीं बंद कर दिया जाये। मानव-मशीनें यदि निष्क्रिय रहती हैं, तो उनमें आप चाहे जितना तेल लगायें और उनको चाहे जितना घिसें-मांजें, वे मोरचा ज़रूर खायेंगी। इसके अलावा जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, मानव-मशीनों में अपने आप भाप भर जायेगी और फिर वे या तो फट पड़ेंगी या हमारे बड़े-बड़े शहरों में पागल होकर मार-पीट करने लगेंगी। जैसा कि मि० पॉटर का कहना है, मज़दूरों के पुनरुत्पादन में कुछ समय लग सकता है, लेकिन जब मशीनों पर काम करनेवाले कुशल कारीगर और पूंजीपति दोनों हमारे देश में मौजूद हैं, तो हमें लगन से काम करनेवाले परिश्रमी और उद्योगी व्यक्ति हमेशा मिल सकते हैं, जिनमें से हम इतनी बड़ी संख्या में कुशल मज़दूर तैयार कर सकते हैं, जिसकी हमें कभी आवश्यकता नहीं होती। मि० पॉटर का कहना है कि एक साल में, दो साल में या, हो सकता है, तीन साल में व्यवसाय में नयी जान आयेगी, और इसलिए वह हमसे चाहते हैं कि कार्यकारी शक्ति को विदेशों को चले जाने के लिए प्रोत्साहन या अनुमति (!) न दी जाये। उनका कहना है कि यह बहुत स्वाभाविक बात है कि मज़दूर विदेशों को जाना चाहते हैं; परंतु मि० पॉटर की राय है कि इन लोगों की इच्छा के बावजूद राष्ट्र को चाहिए कि इन पांच लाख मज़दूरों को, उनके ७ लाख आश्रितों समेत, व्यवसाय वाले डिस्ट्रिक्टों में बंद करके रखे। और इसके लाज़िमी नतीजे के तौर पर मि० पॉटर की, ज़ाहिर है, यह भी राय है कि इन लोगों के असंतोष को राष्ट्र को बलपूर्वक दबा देना चाहिए और उनको भीख के ज़रिये और इस उम्मीद के सहारे ज़िंदा

रखना चाहिए कि हो सकता है कि किसी दिन सूती मिलों के मालिकों को उनकी ज़रूरत पड़े... अब इन द्वीपों के महान जनमत के मैदान में उतरने का और इस 'कार्यकारी शक्ति' की उन लोगों से रक्षा करने का समय आ गया है, जो उसके साथ लोहे, कोयले और कपास के समान व्यवहार करना चाहते हैं।"[15]

परंतु *The Times* का लेख केवल शब्दचातुरी का प्रदर्शन करने के लिए लिखा गया था। "महान जनमत" भी असल में मि० पॉटर के ही मत का था। वह भी यही सोचता था कि फ़ैक्टरी-मज़दूर फ़ैक्टरी के अस्थावर उपकरणों का ही एक भाग हैं। चुनांचे मज़दूरों के उत्प्रवास पर रोक लगा दी गयी।[16] उनको उस "नैतिक मुहताज-ख़ाने" में, सूती व्यवसाय वाले डिस्ट्रिक्टों में, बंद कर दिया गया; और आज वे पहले की तरह ही लंकाशायर के सूती मिलों के मालिकों की "शक्ति" बने हुए हैं।

इसलिए पूंजीवादी उत्पादन ख़ुद ही श्रम-शक्ति और श्रम के साधनों के बीच पाये जाने-वाले अलगाव को पुनः पैदा कर देता है। इस तरह वह मज़दूर के शोषण के लिए आवश्यक परिस्थितियों का पुनरुत्पादन करता रहता है और उनको स्थायी बना देता है। वह सदा मज़दूर को इसके लिए मजबूर करता है कि यदि वह ज़िंदा रहना चाहता है, तो अपनी श्रम-शक्ति बेचे; उधर पूंजीपति को वह यह अवसर देता है कि श्रम-शक्ति को ख़रीद-कर वह अपना धन बढ़ाये।[17] अब मंडी में पूंजीपति और मज़दूर का ग्राहक और विक्रेता के रूप में एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़ा होना कोई संयोग की बात नहीं रह जाती। ख़ुद उत्पादन की प्रक्रिया ही मज़दूर को बार-बार श्रम-शक्ति के विक्रेता के रूप में मंडी में धकेलती जाती है और उसके उत्पाद को एक ऐसे साधन में बदलती जाती है, जिसके ज़रिये कोई और आदमी मज़दूर को ख़रीद सकता है। वास्तव में तो मज़दूर पूंजी के हाथ अपने को बेचने के पहले से ही पूंजी की संपत्ति होता है। उसको समय-समय पर जिस तरह अपने आपको बेचना पड़ता है, जिस तरह अपने मालिकों को बदलना पड़ता है और श्रम-शक्ति के

---

[15] *The Times*, २४ मार्च १८६३।

[16] संसद ने उत्प्रवास में सहायता के लिए एक पाई भी ख़र्च करने की इजाज़त नहीं दी, बल्कि कुछ ऐसे क़ानून पास कर दिये, जिनमें नगरपालिकाओं को मज़दूरों को अधभूखी हालत में रखने, यानी साधारण से भी कम मज़दूरी देकर उनका शोषण करने का अधिकार दिया गया था। दूसरी ओर, इसके ३ वर्ष बाद जब पशुओं में बड़े पैमाने पर बीमारी फैली, तो संसद ने अपनी सारी रूढ़ियों को यकायक तोड़कर फेंक दिया और करोड़-पति ज़मींदारों की क्षति-पूर्ति के लिए झट से करोड़ों की रक़म ख़र्च करने की इजाज़त दे दी, हालांकि मांस का भाव बढ़ जाने के कारण इन ज़मींदारों के काश्तकार नुक़सान उठाने से बच गये थे। १८६६ में संसद का अधिवेशन आरंभ होने के समय इन भूस्वामियों ने बैलों की भांति जिस तरह फुंकारना शुरू किया, उससे प्रकट होता था कि आदमी हिंदु न होने पर भी गऊ माता की पूजा कर सकता है और जुपीटर न होते हुए भी कभी-कभी बैल बन सकता है।

[17] "मज़दूर रोटी-कपड़ा चाहता है, ताकि ज़िंदा रह सके; मालिक श्रम चाहता है, ताकि मुनाफ़ा कमा सके।" (Sismondi, *Nouveaux Principes d'Économie Politique*, Paris, t. I, p. 91.)

बाज़ार-भाव में जिस तरह के उतार-चढ़ाव आते रहते हैं, ये सारी बातें मज़दूर की आर्थिक दासता[18] के कारणों का भी काम करती हैं और उसके आवरण का भी।[19]

इसलिए पूंजीवादी उत्पादन एक निरंतर चलनेवाली संबद्ध प्रक्रिया के रूप में, या पुन-रुत्पादन की प्रक्रिया के रूप में, केवल पण्यों का या केवल बेशी मूल्य का ही उत्पादन नहीं करता, बल्कि वह पूंजीवादी संबंध का, एक तरफ़, पूंजीपति का तथा दूसरी तरफ़, मज़दूरी पर श्रम करनेवाले मज़दूर का भी उत्पादन और पुनरुत्पादन करता है।[20]

---

[18] इस दासता का एक बर्बर ढंग से भद्दा रूप डरहम नामक काउंटी में देखने को मिलता है। यह उन चंद काउंटियों में से है, जिनमें ऐसी परिस्थितियां पायी जाती हैं, जिनके फलस्वरूप काश्तकार को खेतिहर मज़दूर पर स्वामित्व का अधिकार निर्विवाद रूप में नहीं मिला हुआ है। खानों के उद्योग के कारण काश्तकारों के लिए काम करना या न करना कुछ हद तक खेतिहर मज़दूरों की इच्छा पर निर्भर करता है। अन्य स्थानों में जो प्रथा पायी जाती है, उसके विपरीत इस काउंटी के काश्तकार केवल ऐसे फ़ार्म लगान पर लेते हैं, जिनकी ज़मीन पर मज़दूरों की झोंपड़ियां भी बनी होती हैं। झोंपड़ी का किराया मज़दूरी का हिस्सा होता है। ये झोंपड़ियां "खेतिहर मज़दूरों के घर" कहलाती हैं। वे कुछ सामंती ढंग की हरी-बेगार के एवज़ में मज़दूरों को किराये पर उठा दी जाती हैं। मज़दूर और काश्तकार के बीच एक क़रार हो जाता है, जो "बंधक" कहलाता है। इसमें अन्य बातों के अलावा यह शर्त भी होती है कि जिन दिनों मज़दूर कहीं और नौकरी करने जायेगा, उन दिनों वह अपने स्थान पर किसी और को, जैसे अपनी बेटी को, छोड़ जायेगा। मज़दूर ख़ुद "क्रीतदास" कहलाता है। यहां जिस प्रकार का संबंध स्थापित होता है, उससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि मज़दूर द्वारा किया जानेवाला व्यक्तिगत उपभोग किस प्रकार एक बिल्कुल नये दृष्टिकोण से पूंजी के हित में किया गया उपभोग, अर्थात् उत्पादक उपभोग, बन जाता है। "यह बात देखने में बहुत अजीब लगती है कि नौकर और क्रीतदास का पाख़ाना तक उसके सामंत के काम में आता है, जो सब चीज़ों का पहले से ही हिसाब लगा लेता है... और सामंत अपने शौचगृह के अलावा आसपास में कोई और शौचगृह नहीं बनने देता। वह अपने ज़मींदाराना हक़ों में ज़रा भी कमी करने के बजाय यह ज़्यादा पसंद करता है कि किसी के बग़ीचे के लिए थोड़ी-बहुत खाद अपने पास से दे दे।" (*Public Health, 7th Report 1864*, p. 188.)

[19] पाठक यह नहीं भूले होंगे कि जहां बच्चों, आदि से काम कराने का सवाल होता है, वहां अपना श्रम अपनी मर्ज़ी से बेचने की रस्म पूरी करने की भी ज़रूरत नहीं रहती।

[20] "पूंजी के लिए मज़दूरी का और मज़दूरी के लिए पूंजी का अस्तित्व आवश्यक है। उनमें से प्रत्येक दूसरे के अस्तित्व के लिए ज़रूरी है, और दोनों एक दूसरे को जन्म देते हैं। क्या किसी सूती मिल में काम करनेवाला मज़दूर सूती सामान के सिवा और कुछ नहीं पैदा करता? नहीं, वह पूंजी पैदा करता है। वह उन मूल्यों को पैदा करता है, जिनसे उसके श्रम पर पूंजी को नया अधिकार प्राप्त हो जाता है, और यह अधिकार फिर नये मूल्य पैदा करने के लिए इस्तेमाल होता है।" (Karl Marx, *Lohnarbeit und Kapital*, देखिये *Neue Rheinische Zeitung*, No. 266, 7th April 1849. *Neue Rheinische Zeitung* में उपर्युक्त शीर्षक से जो लेख प्रकाशित हुए थे, वे मेरे कुछ भाषणों के अंश थे। मैंने ये भाषण इसी विषय पर १८४७ में ब्रसेल्स की जर्मन मज़दूर सोसाइटी के सामने दिये थे, और फ़रवरी की क्रांति के कारण उनका प्रकाशन बीच में ही रुक गया था।

अध्याय २४

बेशी मूल्य का पूंजी में रूपांतरण

अनुभाग १ – उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने का पूंजीवादी उत्पादन। पण्यों के उत्पादन के संपत्ति संबंधी नियमों का पूंजीवादी हस्तगतकरण के नियमों में बदल जाना

अभी तक हमने इसकी छानबीन की कि पूंजी से बेशी मूल्य कैसे उत्पन्न होता है। अब हमें यह देखना है कि बेशी मूल्य से पूंजी कैसे पैदा होती है। बेशी मूल्य को पूंजी के रूप में इस्तेमाल करना, उसे पुनः पूंजी में बदल देना, पूंजी का संचय कहलाता है।[21]

आइये, पहले हम किसी एक पूंजीपति के दृष्टिकोण से इस प्रक्रिया पर विचार करें। मान लीजिये कि सूत की कताई का व्यवसाय करनेवाले किसी पूंजीपति ने १०,००० पाउंड की पूंजी लगा रखी है। उसके पांच में से चार हिस्से (८,००० पाउंड) कपास, मशीनों, आदि पर और एक हिस्सा (२,००० पाउंड) मजदूरी पर ख़र्च हुए हैं। मान लीजिये, वह साल भर में २,४०,००० पाउंड सूत तैयार करता है, जिसका मूल्य १२,००० पाउंड के बराबर होता है। बेशी मूल्य की दर चूंकि १०० प्रतिशत है, इसलिए जो बेशी मूल्य पैदा होता है, वह ४०,००० पाउंड सूत की बेशी अथवा शुद्ध उत्पाद में – यानी कुल उत्पाद के छठे भाग में – निहित होता है, जिसका मूल्य २,००० पाउंड होता है, जो सूत को बेचकर प्राप्त होगा। अब २,००० पाउंड तो २,००० पाउंड होते हैं। द्रव्य की इस रक़म में बेशी मूल्य का न तो कोई चिह्न दिखायी देता है और न ही उसकी ज़रा भी बू आती है। जब हमें यह मालूम होता है कि अमुक मूल्य बेशी मूल्य है, तब हम यह भी जान जाते हैं कि यह बेशी मूल्य उसके स्वामी को कैसे प्राप्त हुआ था, लेकिन उससे न तो मूल्य के और न द्रव्य के स्वरूप में कोई परिवर्तन होता है।

यदि तमाम परिस्थितियां पहले जैसी रहती हैं, तो २,००० पाउंड की इस अतिरिक्त रक़म को पूंजी में बदलने के लिए सूत की कताई का व्यवसाय करनेवाला पूंजीपति उसके पांच में से चार हिस्से (१,६०० पाउंड) कपास, आदि ख़रीदने पर ख़र्च करेगा और एक हिस्सा (४०० पाउंड) अतिरिक्त मजदूरों को ख़रीदने में लगायेगा, जिनको मंडी में जीवन के लिए आवश्यक वे वस्तुएं मिल जायेंगी, जिनका मूल्य उनके मालिक ने उनको पेशगी दे दिया है। उसके बाद २,००० पाउंड की नयी पूंजी कताई मिल में काम करने लगेगी, और अब उससे ४०० पाउंड का बेशी मूल्य प्राप्त होगा।

पूंजीगत मूल्य शुरू में द्रव्य-रूप में लगाया गया था। इसके विपरीत बेशी मूल्य शुरू में कुल उत्पाद के एक ख़ास हिस्से का मूल्य होता है। यदि यह कुल उत्पाद बेचकर द्रव्य में बदल दिया जाता है, तो पूंजीगत मूल्य पुनः अपना मूल रूप प्राप्त कर लेता है। इसके आगे पूंजीगत मूल्य और बेशी मूल्य दोनों द्रव्य की दो रक़में होते हैं और उनको हूबहू एक ही ढंग से पूंजी

---

[21] "पूंजी का संचय – आय के एक भाग का पूंजी की तरह इस्तेमाल किया जाना है।" (Malthus, *Definitions etc.*, ed. Cazenove, p. 11.) "आय का पूंजी में बदल दिया जाना।" (Malthus, *Principles of Political Economy*, 2nd Ed., London, 1836, p. 320.)

में बदला जाता है। पूंजीपति इन दोनों ही रक़मों को उन पण्यों की ख़रीद पर ख़र्च करता है, जिनकी सहायता से वह नये सिरे से अपने सामान का निर्माण शुरू कर सकता है और इस बार जिनकी सहायता से वह पहले से बड़े पैमाने पर सामान तैयार कर सकता है। लेकिन वह इन पण्यों को तभी ख़रीद सकता है, जब वे उसे मंडी में तैयार मिल जायें।

ख़ुद उसके सूत का केवल इसलिए परिचलन होता है कि साल भर में उसकी जितनी मात्रा तैयार होती है, वह उसे मंडी में ले जाता है, जिस तरह बाक़ी तमाम पूंजीपति भी अपना-अपना पण्य वहां ले जाते हैं। लेकिन मंडी में आने के पहले ये तमाम पण्य उस सामान्य वार्षिक उत्पाद के हिस्से थे, वे हर क़िस्म की वस्तुओं की उस कुल राशि के भाग थे, जिसमें अलग-अलग पूंजियों का जोड़, अर्थात् समाज की कुल पूंजी वर्ष भर के अंदर रूपांतरित कर दी गयी थी और जिसका हर अलग पूंजीपति के हाथ में केवल एक ही भाग था। मंडी में जो सौदे होते हैं, उनसे केवल इस वार्षिक उत्पाद के अलग-अलग हिस्सों की अदला-बदली ही संपन्न होती है, वे एक हाथ से निकलकर दूसरे हाथ में चले जाते हैं; लेकिन उनसे न तो कुल वार्षिक उत्पाद में कोई वृद्धि हो सकती है और न ही उत्पादित वस्तुओं के स्वरूप में कोई परिवर्तन हो सकता है। अतएव कुल वार्षिक उत्पाद का क्या उपयोग किया जा सकता है, यह पूरी तरह केवल उसकी अपनी संरचना पर ही निर्भर करता है और परिचलन पर किसी तरह भी निर्भर नहीं करता।

वार्षिक उत्पाद से सबसे पहले तो वे तमाम वस्तुएं (उपयोग-मूल्य) मिलनी चाहिए, जिनके द्वारा पूंजी के उन भौतिक संघटकों की प्रतिस्थापना की जानी है, जो साल भर में ख़र्च हो गये हैं। इनको घटा देने पर शुद्ध अथवा बेशी उत्पाद बच जाता है, जिसमें बेशी मूल्य निहित होता है। और इस बेशी उत्पाद में कौन सी चीज़ें शामिल होती हैं? क्या उसमें केवल वे ही चीज़ें शामिल होती हैं, जिनका काम पूंजीपति वर्ग की आवश्यकताओं और इच्छाओं को पूरा करना होता है और इसलिए जो पूंजीपतियों के उपभोग-कोष का भाग होती हैं? यदि ऐसा होता, तो बेशी मूल्य का प्याला एकदम ख़ाली हो जाता और उसमें तलछट तक न बचती, और साधारण पुनरुत्पादन के सिवा कभी और कुछ न होता।

संचय करने के लिए बेशी उत्पाद के एक भाग को पूंजी में बदलना आवश्यक होता है। लेकिन कोई अलौकिक चमत्कार हो जाये, तो बात दूसरी है, वरना केवल उन्हीं वस्तुओं को पूंजी में बदला जा सकता है, जिनको श्रम-प्रक्रिया में इस्तेमाल किया जा सकता है (अर्थात् जो वस्तुएं उत्पादन के साधन होती हैं), और इसके अलावा उन वस्तुओं को भी पूंजी में बदला जा सकता है, जो मज़दूर के भरण-पोषण के लिए उपयुक्त हैं (अर्थात् जो वस्तुएं जीवन-निर्वाह के साधन होती हैं)। चुनांचे शुरू में लगायी गयी पूंजी की प्रतिस्थापना के लिए उत्पादन तथा जीवन-निर्वाह के साधनों की जिस मात्रा का उत्पादन करना आवश्यक था, उसके अलावा वार्षिक बेशी श्रम का एक भाग उत्पादन तथा जीवन-निर्वाह के साधनों की एक अतिरिक्त मात्रा के उत्पादन पर ख़र्च किया गया होगा। संक्षेप में यूं कहिये कि यदि बेशी मूल्य को पूंजी में बदला जा सकता है, तो इसका एक मात्र कारण यह है कि जिस बेशी उत्पाद का यह मूल्य होता है, उसमें पहले से ही नयी पूंजी के भौतिक तत्त्व मौजूद होते हैं।[21a]

[21a] हम यहां पर निर्यात-व्यापार की ओर कोई ध्यान नहीं देते, जिसके द्वारा कोई भी राष्ट्र विलास की वस्तुओं को उत्पादन के साधनों अथवा जीवन-निर्वाह के साधनों में या इन

अब इन तत्त्वों को यदि सचमुच पूंजी की तरह काम करना है, तो पूंजीपति वर्ग के पास अतिरिक्त श्रम होना चाहिए। यदि पहले से काम में लगे हुए मजदूरों के शोषण का विस्तार अथवा तीव्रता नहीं बढ़ती, तो अतिरिक्त श्रम-शक्ति को लगाना आवश्यक होगा। पूंजी-वादी उत्पादन के तंत्र में इसके लिए पहले से ही व्यवस्था कर दी गयी है, क्योंकि उसमें मजदूर वर्ग को मजदूरी पर निर्भर एक ऐसे वर्ग में परिणत कर दिया गया है, जिसकी साधारण मजदूरी न केवल उसके जीवन-निर्वाह के लिए, बल्कि इस वर्ग की वृद्धि के लिए भी पर्याप्त होती है। मजदूर वर्ग हर वर्ष अलग-अलग आयु के मजदूरों की शक्ल में इस अतिरिक्त श्रम-शक्ति को तैयार कर देता है। पूंजी को बस इतना ही करना होता है कि इस अतिरिक्त श्रम-शक्ति का वार्षिक उत्पाद में शामिल उत्पादन के साधनों के साथ समावेश कर दे, और ऐसा करते ही बेशी मूल्य का पूंजी में रूपांतरण संपन्न हो जाता है। यदि ठोस दृष्टिकोण से देखा जाये, तो संचय का अर्थ यह होता है कि उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर पूंजी का पुनरुत्पादन हो। साधारण उत्पादन जिस वृत्त में घूमता है, उसका रूप बदल जाता है, और यदि सिस्मोंदी के दिये हुए नाम का प्रयोग किया जाये, तो वह एक सर्पिल में बदल जाता है।[21b]

आइये, अब हम अपने उदाहरण की ओर लौट चलें। वह बिल्कुल उस पुरानी कहानी की तरह है कि इब्राहीम के इसहाक़ पैदा हुआ, इसहाक़ के याकूब, और यह वंश परंपरा इसी तरह बढ़ती गयी। मूल पूंजी १०,००० पाउंड की थी; उससे २,००० पाउंड का बेशी मूल्य पैदा हुआ। उसका पूंजीकरण हो जाता है। २,००० पाउंड की नयी पूंजी से ४०० पाउंड का बेशी मूल्य उत्पन्न होता है, और उसका भी पूंजीकरण हो जाता है और वह एक नयी अतिरिक्त पूंजी में बदल दिया जाता है। फिर उसकी बारी आती है, और उससे ८० पाउंड का नया बेशी मूल्य उत्पन्न हो जाता है। और इसी तरह यह क्रम चलता रहता है।

बेशी मूल्य के जिस भाग का पूंजीपति उपभोग कर डालता है, उसकी ओर हम यहां ध्यान नहीं दे रहे हैं। इसी तरह फ़िलहाल इस बात से भी हमारा कोई संबंध नहीं है कि नयी पूंजी मूल पूंजी में जोड़ दी जाती है या उसे अलग करके उससे स्वतंत्र रूप से काम लिया जाता है। फ़िलहाल हम इस बात की भी कोई परवाह नहीं करते कि जिस पूंजीपति ने इस अतिरिक्त पूंजी का संचय किया है, वह ख़ुद उसका उपयोग करता है या उसे किसी और पूंजीपति को दे देता है। हमें केवल यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि नव-निर्मित पूंजी के साथ-साथ मूल पूंजी भी अपना पुनरुत्पादन करना और बेशी मूल्य पैदा करना जारी रखती है और यह बात समस्त संचित पूंजी तथा उससे उत्पन्न होनेवाली अतिरिक्त पूंजी के लिए भी सच है।

मूल पूंजी का १०,००० पाउंड निवेश करके निर्माण किया गया था। यह रक़म उसके मालिक के पास कहां से आयी थी? राजनीतिक अर्थशास्त्र के समस्त प्रवक्ता एक स्वर से उत्तर

साधनों को विलास की वस्तुओं में बदल सकता है। हम जिस विषय की छानबीन कर रहे हैं, उसका उसकी समग्रता में तथा समस्त विघ्नकारी गौण परिस्थितियों से अलग करके अध्ययन करने के लिए हमें पूरी दुनिया को एक राष्ट्र समझना और यह मानकर चलना होगा कि हर जगह पूंजीवादी उत्पादन क़ायम हो गया है और उसने उद्योग की प्रत्येक शाखा पर अधिकार कर लिया है।

[21b] सिस्मोंदी ने संचय का जो विश्लेषण किया है, उसमें एक बड़ा दोष यह है कि वह बहुधा केवल "आय का पूंजी में रूपांतरण" शब्दों का प्रयोग करके ही संतोष कर लेते हैं और इस क्रिया की भौतिक परिस्थितियों की तह में नहीं जाते।

देते हैं: "यह रक़म मालिक के ख़ुद अपने और उसके पूर्वजों के श्रम का फल थी।"[21c] और सचमुच केवल उनकी यह मान्यता ही पण्यों के उत्पादन के नियमों के अनुरूप प्रतीत होती है।

परंतु २,००० पाउंड की अतिरिक्त पूंजी पर यह बात लागू नहीं होती। वह कैसे पैदा हुई, यह हम अच्छी तरह जानते हैं। उसके मूल्य में एक परमाणु भी ऐसा नहीं है, जो अवेतन श्रम से न उत्पन्न हुआ हो। उत्पादन के वे साधन, जिनके साथ अतिरिक्त श्रम-शक्ति का समावेश किया जाता है, और जीवन के लिए आवश्यक वे वस्तुएं, जिनसे मज़दूरों का भरण-पोषण होता है, वे सभी बेशी उत्पाद के संघटक भागों के सिवा और कुछ नहीं होतीं। वे उस सालाना ख़िराज का ही हिस्सा होती हैं, जो पूंजीपति वर्ग हर साल मज़दूर वर्ग से वसूलता है। जब इस ख़िराज के एक हिस्से से पूंजीपति वर्ग अतिरिक्त श्रम-शक्ति ख़रीदता है, तब यदि वह उसके पूरे दाम भी दे डालता है और यहां समतुल्य का समतुल्य के साथ ही विनिमय होता है, तब वह पुराना चकमा ही इस्तेमाल किया जाता है, जिसके द्वारा प्रत्येक विजेता जीते हुए देश के लोगों का द्रव्य लूटकर फिर उसी से उनका पण्य ख़रीद लेता था।

यदि अतिरिक्त पूंजी उसी व्यक्ति को नियोजित करती है, जिसने उसे उत्पन्न किया है, तो इस उत्पादक को न केवल मूल पूंजी के मूल्य में वृद्धि करने का अपना काम जारी रखना पड़ता है, बल्कि उसे अपने पहले के श्रम के उत्पाद को उसकी लागत से अधिक श्रम देकर ख़रीदना पड़ता है। यदि इस चीज़ पर पूंजीपति वर्ग और मज़दूर वर्ग के बीच होनेवाले लेन-देन के रूप में विचार किया जाये, तो इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि अतिरिक्त मज़दूरों को पहले से काम में लगे हुए मज़दूरों के अवेतन श्रम के द्वारा काम पर रखा जाता है। यह भी हो सकता है कि पूंजीपति अतिरिक्त पूंजी को ऐसी मशीन में बदल डाले, जो यह पूंजी पैदा करनेवालों को काम से जवाब दे दे और उनकी जगह पर कुछ बच्चों को रख ले। हर हालत में मज़दूर वर्ग एक वर्ष के बेशी श्रम से उस पूंजी का सृजन कर देता है, जिसे अगले वर्ष नये श्रम को नियोजित करना है।[22] इसी को पूंजी से पूंजी पैदा करना कहते हैं।

२,००० पाउंड की पहली अतिरिक्त पूंजी का संचय होने के लिए पहले यह आवश्यक था कि पूंजीपति के पास उसके "आदिम श्रम" के फलस्वरूप १०,००० पाउंड का मूल्य हो, जिसे वह व्यवसाय में लगाये। इसके विपरीत ४०० पाउंड की दूसरी अतिरिक्त पूंजी के संचय के लिए केवल इतना ही आवश्यक था कि २,००० पाउंड पहले से संचित हो गये हों, जिसका ये ४०० पाउंड पूंजीकृत बेशी मूल्य होते हैं। बस इसी समय से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर जीवित अवेतन श्रम को हस्तगत करने की एकमात्र शर्त यह बन जाती है कि भूतकाल में किये गये अवेतन श्रम पर स्वामित्व हो। पूंजीपति जितना संचय कर चुका होता है, भविष्य में वह उतना ही अधिक संचय कर सकता है।

जिस हद तक कि वह बेशी मूल्य, जिससे अतिरिक्त पूंजी नं० १ तैयार होती है, मूल पूंजी के एक भाग से श्रम-शक्ति के ख़रीदे जाने का नतीजा होता है, और यह ख़रीदारी पण्यों के

[21c] "वह आदिम श्रम, जिससे उसकी पूंजी का जन्म हुआ है।" (Sismondi, *Nouveaux Principes d'Économie Politique*, éd. Paris, t. I, p. 109.)

[22] "पूंजी श्रम को नियोजित करे, इसके पहले श्रम पूंजी को उत्पन्न करता है।" (E. G. Wakefield, *England and America*, London, 1833, Vol. II, p. 110.)

विनिमय के नियमों के अनुसार हुई थी और क़ानूनी दृष्टि से इस ख़रीदारी के लिए इससे अधिक और कुछ नहीं चाहिए था कि मज़दूर को ख़ुद अपनी कार्य-क्षमता को स्वतंत्रतापूर्वक बेचने का अधिकार हो और द्रव्य अथवा पण्यों के मालिक को अपने मूल्यों को बेचने का अधिकार हो; जिस हद तक कि दूसरी अतिरिक्त पूंजी महज़ पहली अतिरिक्त पूंजी का नतीजा और इसलिए उपर्युक्त परिस्थितियों का परिणाम होती है; जिस हद तक कि प्रत्येक अलग-अलग सौदा अनिवार्य रूप से पण्यों के विनिमय के नियमों के अनुसार होता है, अर्थात् पूंजीपति सदा श्रम-शक्ति ख़रीदता है और मज़दूर सदा उसे बेचता है और – हम यह भी माने लेते हैं कि – श्रम-शक्ति अपने वास्तविक मूल्य पर ख़रीदी और बेची जाती है – जिस हद तक कि ये सारी बातें सच हैं, उस हद तक यह बात भी स्पष्ट है कि हस्तगतकरण के नियम, अथवा निजी संपत्ति के नियम, जो पण्यों के उत्पादन तथा परिचलन पर आधारित होते हैं, ख़ुद अपने आंतरिक एवं अनिवार्य द्वंद्व के फलस्वरूप अपने बिल्कुल उल्टे नियमों में बदल जाते हैं। हमने शुरू किया था एक ऐसी क्रिया से, जिसमें समतुल्यों का विनिमय हुआ था; वह अब इस तरह बदल जाती है कि केवल दिखावटी विनिमय ही होता है। इसका कारण एक तो यह है कि श्रम-शक्ति के साथ जिस पूंजी का विनिमय होता है, वह ख़ुद दूसरों के श्रम के उत्पाद का एक हिस्सा होती है, जिसे उसके एवज़ में कोई समतुल्य दिये बग़ैर ही हस्तगत कर लिया गया है। और दूसरे, उसका कारण यह है कि उत्पादक को न केवल इस पूंजी की प्रतिस्थापना करनी है, बल्कि उसके साथ-साथ कुछ अतिरिक्त पूंजी भी पैदा करनी पड़ती है। इस तरह पूंजीपति और मज़दूर के बीच विनिमय का जो संबंध क़ायम रहता है, वह परिचलन की क्रिया से संबंधित एक आभास मात्र, एक रूप मात्र बनकर रह जाता है, जिसका इस लेन-देन के मूल तत्त्व से तनिक भी संबंध नहीं होता और जो उसे केवल एक रहस्यमय आवरण से ढंक देता है। श्रम-शक्ति की बारंबार होनेवाली ख़रीद और बिक्री अब रूप मात्र रह जाती हैं; वास्तव में जो कुछ होता है, वह यह है कि पूंजीपति बार-बार बिना कोई समतुल्य दिये दूसरों के पहले से भौतिक रूप में परिवर्तित श्रम के एक भाग पर अधिकार करता जाता है और जीवित श्रम की पहले से अधिक मात्रा के साथ उसका विनिमय करता जाता है। शुरू में हमें लगता था कि संपत्ति का अधिकार आदमी के अपने श्रम पर आधारित होता है। कम से कम इस तरह की कोई बात मान लेना ज़रूरी था, क्योंकि केवल समान अधिकार वाले पण्यों के मालिक ही एक दूसरे के सामने आते थे और केवल एक ही तरीक़ा था, जिससे कोई आदमी दूसरे आदमी के पण्यों का मालिक बन सकता था, और वह यह कि वह ख़ुद अपने पण्यों को हस्तांतरित कर दे, और उसके इन पण्यों की प्रतिस्थापना केवल श्रम के द्वारा ही की जा सकती थी। लेकिन अब यह मालूम होता है कि पूंजीपति के लिए संपत्ति का अर्थ यह होता है कि उसे दूसरों के अवेतन श्रम को या उस श्रम के उत्पाद को हस्तगत करने का हक़ मिल जाता है, और मज़दूर के लिए यह कि उसके लिए ख़ुद अपने उत्पाद को हस्तगत करना असंभव हो जाता है। जो नियम ऊपर से देखने में श्रम और संपत्ति के एकात्म्य से उत्पन्न हुआ था, श्रम और संपत्ति का अलगाव उसका एक अनिवार्य फल बन गया है।[23]

---

[23] दूसरों के श्रम के उत्पाद पर पूंजीपति का स्वामित्व "केवल हस्तगतकरण के उस नियम का परिणाम है, जिसका मूल सिद्धांत इसके विपरीत यह था कि हर मज़दूर का ख़ुद अपने श्रम के उत्पाद पर अनन्य अधिकार होता है।" (Cherbuliez, *Richesse ou Pauvreté*,

इसलिए* ऊपर से देखने में भले ही यह लगता हो कि हस्तगतकरण की पूंजीवादी प्रणाली पण्यों के उत्पादन के मौलिक नियमों के बिल्कुल ख़िलाफ़ जाती है, पर असल में यह प्रणाली इन नियमों के अतिक्रमण से नहीं, बल्कि उनके लागू किये जाने से पैदा होती है। उत्तरोत्तर अवस्थाओं के जिस अनुक्रम की चरम परिणति पूंजीवादी संचय है, उसके संक्षिप्त सिंहावलोकन से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

पहले तो हम यह देख चुके हैं कि जब शुरू-शुरू में मूल्यों की एक निश्चित मात्रा पूंजी में बदली गयी थी, तो यह परिवर्तन सर्वथा विनिमय के नियमों के अनुसार हुआ था। क़रार करनेवाले दो पक्षों में से एक ने अपनी श्रम-शक्ति बेची थी, दूसरे ने उसे ख़रीदा था। पहले को उसके पण्य का विनिमय-मूल्य मिल गया था, जब कि उसका उपयोग-मूल्य, अर्थात् श्रम, दूसरे के स्वामित्व में चला गया था। उत्पादन के साधनों पर दूसरे पक्ष का स्वामित्व होता है; इन्हीं साधनों की भांति उसके स्वामित्व में आये हुए श्रम की मदद से वह इन साधनों को नये उत्पाद में बदल देता है; इस नये उत्पाद पर भी उसी को ही स्वामित्व का अधिकार प्राप्त होता है।

इस उत्पाद के मूल्य में एक तो उत्पादन के उन साधनों का मूल्य शामिल होता है, जो ख़र्च कर दिये गये हैं। उपयोगी श्रम उत्पादन के इन साधनों को उनका मूल्य नये उत्पाद में स्थानांतरित किये बग़ैर ख़र्च नहीं कर सकता। लेकिन बिक्री के योग्य बनने के लिए श्रम-शक्ति में उद्योग की उस शाखा को उपयोगी श्रम दे सकने की क्षमता होनी चाहिए, जहां उससे काम लिया जानेवाला है।

इसके अलावा नये उत्पाद के मूल्य में श्रम-शक्ति के मूल्य का समतुल्य और कुछ बेशी मूल्य शामिल होता है। यह इसलिए कि एक निश्चित समय के लिए, जैसे एक दिन, एक सप्ताह, आदि के लिए, बेची गयी श्रम-शक्ति का मूल्य कम और इस समय में उस श्रम-शक्ति के उपयोग से पैदा होनेवाला मूल्य अधिक होता है। लेकिन, जैसा कि हर बिक्री और ख़रीद के समय होता है, मज़दूर को उसकी श्रम-शक्ति का विनिमय-मूल्य मिल गया है और उसने बदले में अपनी श्रम-शक्ति का उपयोग-मूल्य किसी और को सौंप दिया है।

इस तथ्य से कि श्रम-शक्ति नामक इस विशिष्ट पण्य में श्रम देने का और इसलिए मूल्य पैदा करने का एक विचित्र उपयोग-मूल्य होता है, पण्यों के उत्पादन के सामान्य नियम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसलिए यदि उत्पाद में महज़ मज़दूरी की शक्ल में पेशगी दिये गये मूल्यों के जोड़ का ही पुनरुत्पादन नहीं होता, बल्कि उसमें बेशी मूल्य भी जुड़ जाता है, तो इसका कारण यह नहीं है कि बेचनेवाले के साथ धोखा हुआ है, क्योंकि उसे तो वास्तव में अपने पण्य का मूल्य मिल गया है। इसका कारण तो केवल यह है कि ख़रीदार ने इस पण्य का उपयोग कर लिया है।

विनिमय के नियम के अनुसार एक हाथ से दूसरे हाथ में जानेवाले पण्यों में केवल विनिमय-मूल्यों की समानता आवश्यक होती है। विनिमय का नियम शुरू से ही उनके उपयोग-मूल्यों में असमानता की कल्पना करके चलता है, और इस नियम का इन पण्यों के उपभोग से कोई संबंध

Paris, 1841, p. 58; किंतु इस रचना में इसके द्वंद्वात्मक विपर्यय को ढंग से विकसित नहीं किया गया है।)

*आगे का अंश (पृ० ६२० पर "परिवर्तित हो जाते हैं" तक) अंग्रेज़ी पाठ में, जिसके अनुसार हिंदी पाठ है, चौथे जर्मन संस्करण के अनुसार जोड़ा गया है।–सं०

नहीं होता, क्योंकि वह तो उस वक़्त तक आरंभ नहीं होता, जब तक कि यह लेन-देन पूरा नहीं हो जाता।

इसलिए बिल्कुल शुरू-शुरू में द्रव्य का पूंजी में जो रूपांतरण होता है, वह पूरी तरह पण्यों के उत्पादन के आर्थिक नियमों तथा उनसे व्युत्पन्न संपत्ति के अधिकार के अनुसार होता है। फिर भी उसके निम्नलिखित परिणाम होते हैं:

१) उत्पाद पर मज़दूर का नहीं, पूंजीपति का अधिकार होता है;

२) इस उत्पाद के मूल्य में पेशगी लगायी गयी पूंजी के मूल्य के अलावा कुछ बेशी मूल्य भी शामिल होता है। इस बेशी मूल्य के उत्पादन में मज़दूर का श्रम ख़र्च होता है, मगर पूंजीपति का कुछ भी ख़र्च नहीं होता, और फिर भी यह उत्पाद पूंजीपति की विधिसंगत संपत्ति बन जाता है;

३) मज़दूर के पास उसकी श्रम-शक्ति बनी रहती है, और यदि उसे ख़रीदार मिल जाये, तो वह उसे फिर बेच सकता है।

साधारण पुनरुत्पादन इस पहली क्रिया की एक नियतकालिक पुनरावृत्ति मात्र होता है। उसके द्वारा द्रव्य हर बार पूंजी में रूपांतरित कर दिया जाता है। इससे सामान्य नियम का अतिक्रमण नहीं होता; इसके विपरीत उसे निरंतर कार्य करने का अवसर मिल जाता है। "उत्तरोत्तर होनेवाले अनेक विनिमय-कार्यों ने केवल अंतिम को प्रथम का प्रतिनिधि बना दिया है।" (Sismondi, *Nouveaux Principes d'Économie Politique*, t. I, p. 70.)

फिर भी हम यह देख चुके हैं कि जहां तक कि इस पहली क्रिया को एक अलग-थलग क्रिया समझा जाता है, वहां तक साधारण पुनरुत्पादन उसपर एक सर्वथा उल्टे स्वरूप की छाप डाल देने के लिए पर्याप्त सिद्ध होता है। "राष्ट्रीय आय को जो लोग आपस में बांटते हैं, उनमें से कुछ को" (मज़दूरों को) "हर वर्ष नया श्रम करके इस उत्पाद के अपने हिस्से पर अधिकार प्राप्त करना पड़ता है; दूसरों" (पूंजीपतियों) "ने शुरू में कुछ कार्य करके पहले से ही अपने हिस्से पर स्थायी अधिकार प्राप्त कर लिया है।" (Sismondi, l. c., pp. 111.) यह निश्चय ही एक सर्वविदित तथ्य है कि श्रम का क्षेत्र ही ऐसा एकमात्र क्षेत्र नहीं है, जहां ज्येष्ठाधिकार का सिद्धांत बड़े-बड़े चमत्कार करता है।

यदि साधारण पुनरुत्पादन के स्थान पर विस्तारित पैमाने का पुनरुत्पादन होने लगता है, संचय होने लगता है, तो उससे भी स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता। पहले में पूंजीपति सारा बेशी मूल्य ख़र्च कर डालता है, दूसरे में वह उसके केवल एक भाग को ख़र्च करके और बाक़ी को द्रव्य में बदलकर अपने बुर्जुआ गुणों का परिचय देता है।

बेशी मूल्य उसकी संपत्ति होता है, उसपर कभी किसी और का अधिकार नहीं रहा है। यदि वह उसे उत्पादन में लगा देता है, तो जब वह पहले दिन मंडी में आया था, तब उसने जिस तरह अपने कोष में से धन निकालकर ख़र्च किया था, उसी तरह वह आज भी उसे अपने कोष में से निकालकर ख़र्च करता है। इस बात से ज़रा भी फ़र्क़ नहीं पड़ता कि वर्तमान उदाहरण में यह कोष उसके मज़दूर के अवेतन श्रम से प्राप्त हुआ है। यदि क नामक मज़दूर द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य से ख नामक मज़दूर को काम पर रखा जाता है, तो पहली बात तो यह है कि इस बेशी मूल्य को तैयार करने के कारण ऐसा नहीं हुआ है कि क को उसके पण्य का उचित दाम न मिला हो या उसमें एक पाई की भी कटौती की गयी हो, और दूसरी बात यह

है कि इस सौदे से ख का तनिक भी संबंध नहीं है। ख जो कुछ मांगता है और जिसे मांगने का उसे अधिकार है, वह यही है कि पूंजीपति उसको उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य अदा करे। "दोनों पक्षों को लाभ होता है : मजदूर को इस तरह कि किसी भी तरह का श्रम करने के पहले ही" (कहना यूं चाहिए : उसके अपने श्रम से कोई फल निकलने के पहले ही) "उसे अपने श्रम का फल पेशगी मिल जाता है" (यूं कहिये : उसे दूसरों के अवेतन श्रम का फल मिल जाता है), "और मालिक को इसलिए कि यह मजदूर जो श्रम करता है, उसका मूल्य उसकी मजदूरी से अधिक होता है" (यूं कहना चाहिए : अपनी मजदूरी के मूल्य से अधिक मूल्य का उत्पादन करता है)। (Sismondi, l. c., p. 135.)

यह सच है कि जब हम पूंजीवादी उत्पादन पर उसके नवीकरण के निरंतर प्रवाह की दृष्टि से विचार करते हैं और जब हम एक अलग पूंजीपति तथा एक अलग मजदूर के बजाय एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़े हुए पूरे पूंजीपति वर्ग और पूरे मजदूर वर्ग पर विचार करते हैं, तब मामले का एक बिल्कुल दूसरा पहलू सामने आता है। लेकिन इस तरह विचार करते समय हमें पण्यों के उत्पादन के सिलसिले में एक सर्वथा पराये मापदंड का प्रयोग करना होगा।

पण्यों के उत्पादन में केवल एक दूसरे से स्वतंत्र विक्रेता और ग्राहक आपस में मिलते हैं। उनके पारस्परिक संबंध उनके आपसी क़रार के समाप्त होने के साथ-साथ ख़त्म हो जाते हैं। यदि वह सौदा दोहराया जाता है, तो एक नया क़रार करना पड़ता है, जिसका पहले क़रार से कोई संबंध नहीं होता, और केवल संयोगवश ही वही विक्रेता फिर उसी ग्राहक से जा भिड़ता है।

इसलिए यदि पण्यों के उत्पादन को या उससे संबद्ध किसी प्रक्रिया को स्वयं उसी के आर्थिक नियमों के आधार पर आंकना है, तो हमें प्रत्येक विनिमय-कार्य पर अलग-अलग विचार करना पड़ेगा, और उसके पहले जो विनिमय-कार्य हुआ था और उसके बाद जो विनिमय-कार्य होनेवाला है, उन दोनों से उसे अलग करके देखना होगा। और चूंकि क्रय और विक्रय व्यक्तियों के बीच होते हैं, इसलिए उनके पीछे समाज के पूरे वर्गों के संबंधों को देखना अनुचित होगा।

इस वक़्त जो पूंजी काम कर रही है, वह नियतकालिक पुनरुत्पादनों और पूर्वकालिक संचय-क्रियाओं के चाहे जितने लंबे क्रम से गुज़र चुकी हो, उसका आदिम कौमार्य सदा ज्यों का त्यों रहता है। जब तक कि हर अलग-अलग विनिमय-कार्य में विनिमय के नियमों का पालन किया जाता है, तब तक हस्तगतकरण की प्रणाली में संपूर्ण क्रांति हो जाने पर भी संपत्ति के उन अधिकारों में ज़रा भी अंतर नहीं पड़ता, जो पण्यों के उत्पादन के अनुरूप होते हैं। चाहे हम उस समय को लें, जब उत्पाद पर पैदा करनेवाले का अधिकार था और यह पैदा करनेवाला समतुल्य के साथ समतुल्य का विनिमय करते हुए केवल अपने श्रम से ही अपना धन बढ़ा सकता था, और चाहे हम उस समय को लें, जब पूंजीवाद के अंतर्गत सामाजिक धन अधिकाधिक उन लोगों की संपत्ति बनता जाता है, जो लगातार और बार-बार दूसरों के अवेतन श्रम को हस्तगत कर लेने की स्थिति में होते हैं—हर हालत में ये ही अधिकार क़ायम रहते हैं।

जैसे ही स्वतंत्र मजदूर ख़ुद अपनी श्रम-शक्ति को पण्य की तरह बेचने लगता है, वैसे ही यह परिणाम अनिवार्य हो जाता है। किंतु इसी समय से यह भी होता है कि पण्यों का उत्पादन सर्वव्यापी हो जाता है और उत्पादन का प्रतिनिधि रूप बन जाता है; इसी समय से यह होता है कि हर उत्पाद शुरू से ही बिक्री के लिए बनाया जाता है और जितना भी धन पैदा होता है, उस सबको परिचलन के क्षेत्र से गुज़रना होता है। जिस समय और जिस स्थान

पर मज़दूरी पर किया जानेवाला श्रम, अर्थात् मज़दूरी पण्यों के उत्पादन का आधार बन जाती है, केवल उस समय और उस स्थान पर ही पण्यों का उत्पादन पूरे समाज पर हावी हो पाता है; मगर तभी और उसी स्थिति में वह अपनी गुप्त क्षमताएं भी व्यक्त कर पाता है। यदि कोई यह कहता है कि मज़दूरी के सहसा प्रवेश से पण्यों का उत्पादन विकृत हो जाता है, तो वह तो यह कहने के समान है कि यदि पण्यों के उत्पादन में विकृति नहीं आनी है, तो उसका विकास नहीं होना चाहिए। मालों का उत्पादन अपने अंतर्निहित नियमों के अनुसार विकास करता हुआ जिस हद तक पूंजीवादी उत्पादन में परिवर्तित हो जाता है, उसी हद तक पण्यों के उत्पादन के संपत्ति के नियम भी पूंजीवादी हस्तगतकरण के नियमों में परिवर्तित हो जाते हैं।[24]

हम यह देख चुके हैं कि साधारण पुनरुत्पादन की सूरत में भी हर प्रकार की पूंजी, उसका मूल स्रोत चाहे कुछ भी रहा हो, संचित पूंजी में, पूंजीकृत बेशी मूल्य में, परिवर्तित हो जाती है। लेकिन उत्पादन की बाढ़ में शुरू-शुरू में लगायी गयी पूंजी प्रत्यक्ष रूप से संचित होनेवाली पूंजी के मुक़ाबले में, यानी उस बेशी मूल्य अथवा बेशी उत्पाद के मुक़ाबले में, जो पुनः पूंजी में रूपांतरित कर दिया जाता है, एक लुप्त होती मात्रा (गणित के अर्थ में magnitudo evanescens) बन जाती है; इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता कि यह पूंजी जमा करनेवाले के हाथ में रहकर या दूसरों के हाथों में रहकर काम करती है। इसलिए राजनीतिक अर्थशास्त्र में पूंजी को सामान्य रूप से ऐसा "संचित धन" (रूपांतरित बेशी मूल्य अथवा आय) कहा गया है, "जिससे पुनः बेशी मूल्य के उत्पादन का काम लिया जाता है",[25] और पूंजीपति को राजनीतिक अर्थशास्त्र में "बेशी मूल्य का मालिक"[26] कहा गया है। इसी बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्रकार की वर्तमान पूंजी संचित अथवा पूंजीकृत ब्याज होती है; कारण कि ब्याज बेशी मूल्य का एक अंश मात्र ही होता है।[27]

अनुभाग २ – उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने के पुनरुत्पादन के विषय में राजनीतिक अर्थशास्त्र की ग़लत धारणा

संचय की – या बेशी मूल्य के पूंजी में पुनः रूपांतरण की – आगे छानबीन करने के पहले हमें क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों द्वारा पैदा की गयी एक अस्पष्टता का निवारण करना पड़ेगा।

---

[24] इसलिए जब प्रूदों पण्यों के उत्पादन पर आधारित संपत्ति के शाश्वत नियमों को लागू करके पूंजीवादी संपत्ति को ख़त्म कर देने का इरादा ज़ाहिर करते हैं, तब हम यदि उनकी चतुराई को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं, तो यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है।

[25] "पूंजी, यानी वह संचित धन, जिससे मुनाफ़ा कमाया जाता है।" (Malthus, *Definitions, ets.*) "पूंजी ... उस धन को कहते हैं, जो आय में से बचाकर मुनाफ़ा कमाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।" (R. Jones, *An Introductory Lecture on Political Economy*, London, 1833, p. 16.)

[26] "बेशी उत्पाद या पूंजी के स्वामी।" (*The Source and Remedy of the National Difficulties. A Letter to Lord John Russel*, London, 1821.)

[27] "बचायी हुई पूंजी के प्रत्येक अंश पर लगनेवाले चक्रवृद्धि ब्याज के साथ पूंजी की ऐसी वृद्धि हुई है कि संसार का वह सारा धन, जिससे कुछ आय होती है, बहुत समय पहले से पूंजी का ब्याज बन गया है।" (London, *Economist*, 19th July 1851.)

पूंजीपति बेशी मूल्य का एक भाग देकर जिन पण्यों को ख़ुद अपने उपभोग के लिए ख़रीदता है, वे उत्पादन तथा मूल्य के सृजन के काम में नहीं आते। इसी तरह वह अपनी प्राकृतिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो श्रम ख़रीदता है, वह भी उत्पादक श्रम नहीं होता। बेशी मूल्य को पूंजी में रूपांतरित करने के बजाय वह इन पण्यों को और इस श्रम को ख़रीदकर बेशी मूल्य को उल्टे आय के रूप में ख़र्च कर डालता है या उसका उपभोग कर डालता है। जैसा कि हेगेल ने ठीक ही कहा है, सामंती काल के पुराने अभिजात वर्ग के जीवन का प्रचलित ढंग यह था कि "जो कुछ हाथ में है, ख़र्च कर डालो"; यह बात व्यक्तिगत नौकर-चाकर रखने के रूप में ख़ास तौर पर प्रकट होती थी। जीवन के इस ढंग से वास्ता पड़ने पर बुर्जुआ अर्थशास्त्र के लिए इस सिद्धांत की घोषणा करना अत्यंत आवश्यक था कि पूंजी का संचय करना प्रत्येक नागरिक का प्रथम कर्तव्य है। इसके लिए यह अनवरत रूप से प्रचार करना आवश्यक था कि जो आदमी अपनी आय का एक अच्छा हिस्सा अतिरिक्त उत्पादक मजदूरों को काम पर रखने पर ख़र्च नहीं करता और इस तरह उनके जरिये लागत से ज्यादा आमदनी नहीं कमाता और जो इसके बजाय अपनी सारी आय ख़ुद खा जाता है, वह कभी संचय नहीं कर सकता। दूसरी ओर, अर्थशास्त्रियों को उस बहुप्रचलित पूर्वाग्रह से भी लड़ना पड़ा, जो पूंजीवादी उत्पादन को धन-अपसंचय के साथ गड़बड़ा देता है[28] और जो समझता है कि संचित धन या तो वह होता है, जिसे उसके वर्तमान रूप में नष्ट कर दिये जाने से—यानी ख़र्च कर दिये जाने से—बचा लिया जाता है, या वह होता है, जिसको परिचलन के क्षेत्र से हटा लिया जाता है। यदि धन को परिचलन से हटा लिया जायेगा, तो पूंजी के रूप में उसके आत्म-विस्तार की तनिक भी संभावना नहीं रहेगी; और मालों के रूप में धन का अपसंचय करना तक परले दर्जे की मूर्खता होगी।[28a] बहुत बड़े परिमाणों में मालों का संचय या तो उस समय होता है, जब अति उत्पादन होने लगता है, या उस समय कि जब परिचलन बीच में रुक जाता है।[29] यह सच है कि जनसाधारण के दिमाग़ पर इस दृश्य का बड़ा प्रभाव पड़ता है कि एक तरफ़, धनिकों ने बहुत सारा सामान धीरे-धीरे उपभोग के लिए जमा कर रखा है और दूसरी तरफ़, बिक्री के मालों के रिज़र्व स्टाक जमा किये जा रहे हैं। यह बाद वाली चीज़ उत्पादन की सभी प्रणालियों में होती है, और जब हम परिचलन का विश्लेषण करने बैठेंगे, तब हम एक क्षण के लिए उसपर भी विचार करेंगे।

इसलिए क्लासिकीय अर्थशास्त्र का यह दावा बिल्कुल सही है कि अनुत्पादक मजदूरों के

---

[28] "आजकल का कोई राजनीतिक अर्थशास्त्री केवल अपसंचय के अर्थ में बचत शब्द का प्रयोग नहीं कर सकता; और इस संकुचित तथा अपर्याप्त कार्रवाई के आगे राष्ट्रीय धन के संबंध में इस शब्द के केवल उसी प्रयोग की कल्पना की जा सकती है, जिसमें जो कुछ बचाया जाता है, उसका कोई भिन्न उपयोग किया जाता है, जो कि उसके द्वारा पोषित श्रम के विभिन्न प्रकारों के बीच पाये जानेवाले वास्तविक भेद पर आधारित होता है।" (Malthus, *Defenitions in Political Economy*, pp. 38, 39.)

[28a] मिसाल के लिए, बाल्ज़ाक ने, जिन्होंने हर प्रकार के लोभ का बहुत ही गहरा अध्ययन किया था, बुड्ढे सूदख़ोर गोबसेक के बारे में लिखा है कि जब उसने मालों को बटोरना शुरू किया, तो वह एकदम सठिया गया।

[29] "मालों का जमा हो जाना... विनिमय का न होना... अति उत्पादन का होना।" (Th. Corbet, l.c., p. 104.)

बजाय उत्पादक मज़दूरों द्वारा बेशी पैदावार का उपभोग संचय की क्रिया की एक चरित्रगत विशेषता है। लेकिन इसी बिंदु पर ग़लतियां भी शुरू हो जाती हैं। ऐडम स्मिथ ने संचय को उत्पादक मज़दूरों द्वारा बेशी पैदावार के उपभोग के सिवा कुछ और न समझने का फ़ैशन बना दिया है। यह तो यह कहने के समान है कि बेशी मूल्य का पूंजीकरण केवल बेशी मूल्य को श्रम-शक्ति में बदल देना है। मिसाल के लिए, देखिये कि रिकार्डो क्या कहते हैं: "हमें यह समझ लेना चाहिए कि किसी भी देश की समस्त पैदावार ख़र्च कर दी जाती है। लेकिन इस बात से कि उसका उपभोग क्या वे लोग करते हैं, जो पुनरुत्पादन करते हैं, या वे, जो किसी और मूल्य का पुनरुत्पादन नहीं करते, बहुत ही बड़ा फ़र्क़ पड़ जाता है। जब हम यह कहते हैं कि आय बचा ली जाती है और पूंजी में जोड़ दी जाती है, तब वास्तव में हमारा यह मतलब होता है कि आय का वह हिस्सा, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि वह पूंजी में जोड़ दिया जाता है, उसका उपभोग अनुत्पादक मज़दूरों के बजाय उत्पादक मज़दूर करते हैं। यदि कोई यह समझता है कि अनुपभोग से पूंजी में वृद्धि होती है, तो इससे बड़ी ग़लती कोई और नहीं हो सकती।"[30] हां, उससे बड़ी ग़लती कोई और नहीं हो सकती, जो रिकार्डो तथा बाद के सभी अर्थशास्त्रियों ने ऐडम स्मिथ की यह बात दुहराकर की है कि "आय का वह हिस्सा, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि वह पूंजी में जोड़ दिया जाता है, उसका उपभोग उत्पादक मज़दूर करते हैं।" इस मत के अनुसार तो वह सारा बेशी मूल्य, जो पूंजी में बदल जाता है, परिवर्ती पूंजी बन जाता है। असल में यह नहीं होता, बल्कि मूल पूंजी की भांति बेशी मूल्य भी स्थिर पूंजी और परिवर्ती पूंजी में, उत्पादन के साधनों और श्रम-शक्ति में विभाजित हो जाता है। श्रम-शक्ति वह रूप है, जिसमें परिवर्ती पूंजी उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान पायी जाती है। इस प्रक्रिया में ख़ुद श्रम-शक्ति का उपभोग तो पूंजीपति कर डालता है, और अपना कार्य करने के दौरान, यानी श्रम करने के दौरान, उत्पादन के साधनों का श्रम-शक्ति उपभोग कर डालती है। साथ ही श्रम-शक्ति को ख़रीदने के लिए दी गयी मुद्रा जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं में बदल दी जाती है, जिनका "उत्पादक श्रम" नहीं, बल्कि "उत्पादक श्रमजीवी" उपभोग करता है। ऐडम स्मिथ बुनियादी तौर पर ग़लत विश्लेषण करके इस बेतुके नतीजे पर पहुंचते हैं कि यद्यपि प्रत्येक अलग-अलग पूंजी स्थिर और परिवर्ती भागों में बंट जाती है, तथापि पूरे समाज की पूंजी केवल परिवर्ती पूंजी में परिणत होती है, अर्थात् वह महज़ मज़दूरी अदा करने पर ख़र्च की जाती है। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि कपड़े की किसी मिल का मालिक २,००० पाउंड की रक़म को पूंजी में बदल देता है। उसका एक भाग वह बुनकरों को ख़रीदने में लगाता है और दूसरा भाग ऊनी धागा, मशीनें, आदि ख़रीदने पर ख़र्च करता है। परंतु वह जिन लोगों से धागा और मशीनें ख़रीदता है, उनको अपने माल की बिक्री से जो द्रव्य मिलता है, उसका एक भाग वे श्रम पर ख़र्च करते हैं, और इसी तरह अन्य लोग भी करते जाते हैं, यहां तक कि अंत में जाकर २,००० पाउंड की पूरी रक़म मज़दूरी देने में ख़र्च हो जाती है, अर्थात् अंत में उस पूरी पैदावार का, जिसका प्रतिनिधित्व २,००० पाउंड की वह रक़म करती थी, उत्पादक मज़दूर उपभोग कर डालते हैं। यह स्पष्ट है कि इस युक्ति का सारा सार इन शब्दों में निहित है: "और इसी तरह अन्य लोग भी करते जाते हैं।" ये शब्द

---

[30] Ricardo, *Principles of Politcal Economy*, 3rd Ed., London, 1821, p. 163, Note.

हमें धोबी का कुत्ता बना देते हैं। सच पूछिये, तो ऐडम स्मिथ ठीक उसी जगह पर अपनी छान-बीन बंद कर देते हैं, जहां कठिनाइयां आरंभ होती हैं।[31]

जब तक हम केवल वर्ष भर के कुल उत्पाद के दृष्टिकोण से उसपर विचार करते हैं, तब तक पुनरुत्पादन की वार्षिक प्रक्रिया को आसानी से समझा जा सकता है। लेकिन इस उत्पाद के प्रत्येक संघटक को अलग-अलग माल के रूप में मंडी में लाना होता है, और बस यहीं से कठिनाई आरंभ हो जाती है। अलग-अलग पूंजियों और व्यक्तिगत आमदनियों की गतियां एक दूसरी को काटती हुई चलती हैं और आपस में घुल-मिल जाती हैं और सामान्य स्थान-परिवर्तन में – समाज के धन के परिचलन में – खो जाती हैं। इससे देखनेवाले की आंखें चकाचौंध हो जाती हैं, और उसे बहुत ही जटिल समस्याओं को हल करना पड़ता है। दूसरी पुस्तक के तीसरे भाग में मैं तथ्यों के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण करूंगा। फ़िज़ियोक्रैटों का यह एक बड़ा गुण है कि उन्होंने अपनी Tableau économique ['आर्थिक तालिका'] में सबसे पहले वार्षिक उत्पाद को उस शक्ल में पेश करने की कोशिश की थी, जिस शक्ल में वह परिचलन की प्रक्रिया में से गुज़रने के बाद हमारे सामने आती है।[32]

बाक़ी, यह बात स्वतःस्पष्ट है कि पूंजीपति वर्ग का हितसाधन करते हुए राजनीतिक अर्थशास्त्र ऐडम स्मिथ के इस सिद्धांत से लाभ उठाने से नहीं चूका है कि बेशी उत्पाद का जो भाग पूंजी में रूपांतरित हो जाता है, वह सारे का सारा मज़दूर वर्ग द्वारा ख़र्च कर दिया जाता है।

अनुभाग ३ – बेशी मूल्य का पूंजी तथा आय में विभाजन। परिवर्जन का सिद्धांत

पिछले अध्याय में हम बेशी मूल्य (या बेशी उत्पाद) को केवल पूंजीपति के व्यक्तिगत उपभोग की पूर्ति का कोष मानकर चले थे। इस अध्याय में हम अभी तक उसको केवल संचय का कोष मानकर चले हैं। किंतु वह न तो केवल पूंजीपति के व्यक्तिगत उपभोग की पूर्ति का कोष

---

[31] जब जॉन स्टुअर्ट मिल के पूर्वगामी इस प्रकार का विश्लेषण करते हैं, तब उसमें इतनी त्रुटियां होने पर भी मिल अपने 'तर्कशास्त्र' के बावजूद उसको कभी पकड़ नहीं पाते, हालांकि विज्ञान के बुर्जुआ दृष्टिकोण से भी उसमें संशोधन की भारी आवश्यकता है। एक शिष्य जैसी हठधर्मिता के साथ वह सदा अपने गुरु के उलझे हुए विचारों की नक़ल करते हैं। चुनांचे उन्होंने लिखा है: "पूंजी स्वयं अंत में जाकर पूर्णतया मज़दूरी बन जाती है, और जब पैदावार की बिक्री के द्वारा उसका स्थान भर दिया जाता है, तब वह फिर मज़दूरी बन जाती है।"

[32] पुनरुत्पादन तथा संचय की प्रक्रियाओं का ऐडम स्मिथ ने जो वर्णन किया है, उसमें वह अपने पूर्वगामियों और विशेषकर फ़िज़ियोक्रैटों से न केवल ज़रा भी आगे नहीं बढ़ पाये हैं, बल्कि यहां तक कि वह कई प्रकार से उनसे पीछे ही रह गये। हमारी पुस्तक में जिस भ्रांति का ज़िक्र किया गया है, उससे संबंधित एक सचमुच आश्चर्यजनक सिद्धांत ऐडम स्मिथ एक विरासत के रूप में राजनीतिक अर्थशास्त्र के लिए छोड़ गये हैं। वह सिद्धांत यह है कि पण्यों का दाम मज़दूरी, मुनाफ़े (ब्याज) और लगान से – यानी मज़दूरी और बेशी मूल्य से – मिलकर बनता है। इस सिद्धांत से आरंभ करके श्टोर्ख़ बड़े भोलेपन के साथ स्वीकार करता है कि "आवश्यक दाम को उसके सरलतम तत्त्वों में परिणत करना असंभव है।" (Storch, l.c., Petersb. éd., 1815, t. II, p. 141, Note.) ख़ूब है यह अर्थशास्त्र भी, जो घोषित करता है कि पण्य के दाम को उसके सरलतम तत्त्वों में परिणत करना असंभव है! तीसरी पुस्तक के सातवें भाग में इस मामले की और छानबीन की जायेगी।

होता है और न केवल संचय का कोष होता है; वह तो ये दोनों काम करता है। उसके एक भाग को पूंजीपति आय[33] के रूप में उपभोग कर देता है। दूसरा भाग पूंजी की तरह इस्तेमाल किया जाता है, यानी दूसरे भाग का संचय हो जाता है।

यदि बेशी मूल्य की कुल राशि पहले से निश्चित हो, तो इन दोनों भागों में एक जितना बड़ा होगा, दूसरा उतना ही छोटा होगा। यदि अन्य बातें ज्यों की त्यों रहती हैं, तो संचय का परिमाण इन भागों के अनुपात से निर्धारित होगा। परंतु इन दो भागों का विभाजन तो केवल बेशी मूल्य का मालिक, केवल पूंजीपति, ही करता है। यह विभाजन वह जान-बूझकर करता है। मज़दूर से वह जो ख़िराज वसूलता है, उसके एक भाग का वह संचय करता है, और इस भाग के बारे में कहा जाता है कि पूंजीपति ने उसे बचा लिया है। कारण कि वह उसे खा नहीं जाता, अर्थात् वह पूंजीपति के कार्य को संपन्न करता है और अपना धन बढ़ाता है।

पूंजीपति का इसके सिवा कोई और ऐतिहासिक मूल्य नहीं है कि वह मूर्तिमान पूंजी होता है। और इसके सिवा उसका उस ऐतिहासिक अस्तित्व पर भी कोई अधिकार नहीं है, जिसपर, हाज़िर-जवाब लिख़नोव्स्की के शब्दों में, "कोई तारीख़ नहीं पड़ी है"। और केवल इसी हद तक उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की क्षणिक आवश्यकता में ख़ुद पूंजीपति के क्षणिक अस्तित्व की आवश्यकता भी निहित होती है। लेकिन जिस हद तक कि वह मूर्तिमान पूंजी है, उस हद तक उसे कार्य-क्षेत्र में उतरने की प्रेरणा उपयोग-मूल्यों और उनका भोग करने की इच्छा से नहीं, बल्कि विनिमय-मूल्य और उसमें वृद्धि करने की इच्छा से प्राप्त होती है। उसके सिर पर मूल्य से ख़ुद अपना विस्तार कराने का भूत सवार रहता है, और वह निर्मम होकर मनुष्यजाति को केवल उत्पादन के हेतु उत्पादन करने के लिए विवश करता है। इस प्रकार वह बलपूर्वक समाज की उत्पादक शक्तियों का विकास कराता है और उन भौतिक परिस्थितियों को जन्म देता है, जो कि समाज के उच्चतर रूप के लिए एकमात्र वास्तविक आधार बनती हैं। यह वह समाज होगा, जिसका मूल सिद्धांत प्रत्येक व्यक्ति के पूर्ण एवं स्वतंत्र विकास का नियम होगा। पूंजीपति केवल मूर्तिमान पूंजी के रूप में ही आदर का पात्र होता है। इस रूप में कंजूस की तरह उसको भी सदा धन के रूप में धन का मोह रहता है। लेकिन कंजूस का मोह जहां मात्र उसकी मानसिक विलक्षणता होता है, वहां पूंजीपति का मोह सामाजिक यंत्र का एक प्रभाव होता है, जिसका पूंजीपति महज़ एक पहिया है। इसके अतिरिक्त पूंजीवादी उत्पादन के विकास के लिए यह आवश्यक होता है कि किसी भी ख़ास औद्योगिक उद्यम में जो पूंजी लगी हुई है, उसमें लगातार वृद्धि होती जाये, और प्रतियोगिता के कारण पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्निहित नियमों

---

[33] पाठक ने इस बात की ओर ध्यान दिया होगा कि "आय" शब्द का दोहरे अर्थ में प्रयोग किया जाता है। पहले, बेशी मूल्य को द्योतित करने के लिए, जिस हद तक कि वह पूंजी से पैदा होनेवाला नियतकालिक फल है, और दूसरे, इस फल के उस भाग को इंगित करने के लिए, जिसका पूंजीपति नियतकालिक ढंग से उपभोग कर डालता है, या जो उस कोष में जुड़ जाता है, जिससे पूंजीपति के निजी उपभोग की पूर्ति होती है। शब्द के इस दोहरे अर्थ को मैंने इसलिए बनाये रखा है कि वह अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी अर्थशास्त्रियों की भाषा से मेल खाता है।

को प्रत्येक अलग-अलग पूंजीपति बलपूर्वक अमल में आनेवाले बाह्य नियमों के रूप में अनुभव करता है। प्रतियोगिता पूंजीपति को अपनी पूंजी को सुरक्षित रखने के वास्ते उसका लगातार विस्तार करते रहने के लिए विवश कर देती है। लेकिन उत्तरोत्तर संचय के सिवा उसके सामने विस्तार करने का और कोई तरीक़ा नहीं है।

इसलिए जिस हद तक कि पूंजीपति का कार्यकलाप केवल पूंजी का ही एक कार्य है – और पूंजी उसके व्यक्तित्व के द्वारा चेतना तथा इच्छा-शक्ति प्राप्त कर लेती है – उस हद तक उसका अपना निजी उपभोग भी संचय के क्षेत्र पर डाका मारकर ही संभव हो सकता है। यह उसी तरह की बात है, जैसे दोहरे खतान वाले बही-खातों में पूंजीपति का निजी ख़र्च उसके हिसाब में नामे बाजू में डाल दिया जाता है। संचय करना सामाजिक धन की दुनिया को जीतना है। पूंजीपति जिस मानव-समुदाय का शोषण करता है, संचय करना उसकी संख्या में वृद्धि करना है; और इस प्रकार संचय का अर्थ पूंजीपति के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ढंग के प्रभुत्व का विस्तार करना है।[34]

---

[34] पूंजीपति के उस पुराने ढंग के, पर हर बार नये सिरे से सामने आनेवाले प्रारूप – सूदख़ोर – को अपने विवेचन का विषय बनाते हुए लूथर ने बहुत ही समुचित रूप में यह दिखाया है कि धनी बनने की इच्छा का एक तत्त्व शक्ति का प्रेम भी होता है। लूथर ने लिखा है: "मूर्तिपूजकों ने विवेक की सहायता से यह समझ लिया था कि सूदख़ोर पक्का चोर और हत्यारा है। लेकिन हम ईसाई लोग सूदख़ोरों का इतना आदर करते हैं कि उनके पैसे के कारण लगभग उनकी पूजा करने लगते हैं... जो कोई किसी और का पोषण खा जाता है, छीन लेता है और चुरा लेता है, वह (जहां तक उसका बस चलता है) उतनी ही बड़ी हत्या करता है, जितनी बड़ी हत्या वह करता है, जो किसी आदमी को भूखों मारता है या उसका सत्यानाश कर देता है। सूदख़ोर हत्या करता है और फिर भी अपनी गद्दी पर सुरक्षित बैठा रहता है, जब कि होना यह चाहिए था कि वह फांसी पर टंगा होता और उसने जितने पैसे चुराये हैं, उतने ही कौए उसकी बोटियां नोचते। पर, ज़ाहिर है, यह तभी संभव था, जब उसके बदन पर इतना मांस होता कि इतनी बड़ी संख्या में कौए अपनी चोंचें उसमें गड़ाकर हिस्सा बंटा सकते। मगर हम लोग तो छोटे चोरों को फांसी पर लटकाने में लगे हुए हैं... छोटे चोरों को हम काठ में डालकर रखते हैं, पर बड़े चोर सोने और रेशम से लदे हुए अकड़कर चलते हैं... इसलिए इस पृथ्वी पर इनसान का (शैतान के बाद) सूदख़ोर या कुसीदी से बड़ा दुश्मन और कोई नहीं है। कारण कि सूदख़ोर तो सब इनसानों के ऊपर राज करनेवाला परमात्मा बनना चाहता है। तुर्क, सिपाही और अत्याचारी भी बुरे होते हैं, परंतु उनके लिए ज़रूरी होता है कि लोगों को ज़िंदा रहने दें, और वे ख़ुद तसलीम कर लेते हैं कि वे बुरे आदमी हैं और दुश्मन हैं, और कभी-कभी तो वे कुछ इनसानों पर रहम भी करते हैं, बल्कि कहना चाहिए कि उनको रहम करना पड़ता है। लेकिन जहां तक सूदख़ोर और अर्थ-पिशाच का संबंध है, यदि उसका बस चले, तो वह सारी दुनिया को भूख और प्यास, ग़रीबी और अभाव से मार डाले, ताकि संसार में जो कुछ है, वह सब उसी का हो जाये और फिर वह परमात्मा की तरह हरेक को भीख बांटा करे और हर आदमी सदा के लिए उसका दास बन जाये। वह बढ़िया लबादे ओढ़ना चाहता है, सोने की मालाएं और अंगूठियां पहनना चाहता है, अपना मुंह धोना चाहता है। वह चाहता है कि लोग उसे भला आदमी समझें और धर्मात्मा मानें... सूदख़ोरी भेड़िये के समान एक भयानक राक्षस है, जो हर एक को तबाह कर देता है। ऐसी तबाही तो कोई कैकस, गेरिओन और ऐंटस भी नहीं ढा सकता। और फिर भी वह ख़ूब सजधज कर निकलता है और चाहता है कि लोग उसे बड़ा धर्मात्मा समझें और उनको यह न मालूम होने पाये कि उनके सारे बैल कहां ग़ायब हो गये हैं, और वे यह न जान पायें कि यही राक्षस उनके सारे बैलों

परंतु मूल पाप हर जगह अपना चमत्कार दिखाता है। जैसे-जैसे पूंजीवादी उत्पादन, संचय और धन का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे पूंजीपति केवल पूंजी का अवतार नहीं रह जाता। उसे ख़ुद अपने भीतर के मनुष्य के साथ सहानुभूति है और उसको जो शिक्षा मिलती है, वह धीरे-धीरे उसे लोगों पर हंसना सिखा देती है, जो संन्यास के लिए बड़ा उत्साह दिखाते हैं। वह धीरे-धीरे सीख जाता है कि संन्यास पुराने ढंग के कंजूस का एक पूर्वाग्रह मात्र है। पुराने ढंग का पूंजीपति जहां व्यक्तिगत उपभोग को अपने स्वाभाविक कार्य के विरुद्ध पाप तथा संचय का "परिवर्जन" समझता था, वहां आधुनिक ढर्रे का पूंजीपति संचय को सुख का "परिवर्जन" समझने की योग्यता रखता है। "अफ़सोस कि उसके हृदय में दो आत्माएं हैं और दोनों की एक दूसरी से नहीं बनती।"*

जब इतिहास में पूंजीवादी उत्पादन का उदय होता है – और हर पूंजीवादी नये रईस को व्यक्तिगत रूप में इस ऐतिहासिक अवस्था से गुज़रना पड़ता है – तब लालच और धनी बनने का मोह, इन दो भावनाओं का ज़ोर रहता है। परंतु पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति केवल भोग और विलास के संसार का ही सृजन नहीं करती, वह सट्टेबाज़ी और ऋण-व्यवस्था के रूप में यकायक धनी बन बैठने के हज़ारों स्रोत खोल देती है। जब विकास एक ख़ास अवस्था पर पहुंच जाता है, तो एक प्रचलित मात्रा की फ़िज़ूलख़र्ची "अभागे" पूंजीपति के लिए एक व्यावसायिक आवश्यकता बन जाती है। वह फ़िज़ूलख़र्ची साथ ही दौलत का दिखावा भी होती है, इसलिए उससे साख बनती है और उधार मिलने में आसानी होती है। अब विलास पूंजीपति के दिखावा क़ायम रखने के ख़र्चे का एक अंग बन जाता है। इसके अतिरिक्त पूंजीपति का धन कंजूस के धन की तरह उसके व्यक्तिगत श्रम और नियंत्रित उपभोग के अनुपात में नहीं बढ़ता, बल्कि वह इस अनुपात में बढ़ता है कि पूंजीपति दूसरों की श्रम-शक्ति को कितना चूसता है और मज़दूरों को किस हद तक जीवन के सारे सुख और आनंद का परिवर्जन कर देने के लिए मजबूर कर देता है। इसलिए यद्यपि पूंजीपति की फ़िज़ूलख़र्ची में कभी मुक्तहस्त सामंत की फ़िज़ूलख़र्ची

को पीछे से पकड़कर अपनी खोह में घसीट ले गया है। लेकिन एक दिन इन बैलों की और इस राक्षस के क़ैदियों की चीख़ें हरक्यूलीज़ को सुनायी देंगी और वह खड़ी चट्टानों और पहाड़ियों में घुसकर कैकस को ढूंढ़ निकालेगा और इस बदमाश से बैलों को छुड़ाकर एक बार फिर उनको मुक्त करेगा। कारण कि कैकस का मतलब है वह बदमाश, जो सूदख़ोरी करता है और ऊपर से धर्मात्मा बनता है और जो हर एक के यहां चोरी करता है, डाका डालता है और सब कुछ खा जाता है; और यह कभी तसलीम नहीं करता कि वह सब कुछ खा गया है, बल्कि समझता है कि इस बात का किसी को पता नहीं लग पायेगा, क्योंकि बैलों को पीछे की तरफ़ से पकड़कर खोह में खींचा गया है और यदि उनके खुरों के निशानों को कोई देखेगा, तो वह यही समझेगा कि कुछ बैल खोह के अंदर से बाहर लाकर छोड़ दिये गये हैं। इस तरह सूदख़ोर दुनिया को धोखा देना चाहता है, ताकि लोग समझें कि उसने संसार का बड़ा उपकार किया है और ये सारे बैल उसी ने दिये हैं, जब कि सचाई यह है कि वह अकेला उन सबको चीर-फाड़कर खा जाता है... और जब हम रहज़नों, हत्यारों और सेंधमारों को तरह-तरह की यातनाएं देते हैं और उनका सिर काट देते हैं, तब इन तमाम सूदख़ोरों को तो हमें और भी ज़्यादा यातनाएं देनी चाहिए, जान से मार डालना चाहिए... खोज-खोजकर मारना चाहिए, शाप देना चाहिए और उनका सिर धड़ से अलग कर देना चाहिए।" (Martin Luther, l. c.)

* गेटे की रचना 'फ़ाउस्ट' देखिये। – सं०

की सचाई नहीं होती, बल्कि इसके विपरीत उसके पीछे से सदा अत्यंत घृणित धन तृष्णा और एक-एक पाई का हिसाब रखने की भावना झांका करती है, तथापि संचय के साथ-साथ पूंजीपति का ख़र्च भी बढ़ता जाता है और यह ज़रूरी नहीं रहता कि एक के कारण दूसरे पर कोई सीमा लग जाये। लेकिन इस विकास के साथ-साथ पूंजीपति के हृदय में संचय की भावना और भोग की भावना के बीच फ़ाउस्ट के मन के संघर्ष के समान संघर्ष छिड़ जाता है।

१७९५ में प्रकाशित एक रचना में डा० आइकिन ने लिखा है: "मैंचेस्टर के व्यवसाय के इतिहास को चार कालों में बांटा जा सकता है। पहला काल वह था, जब कारख़ानेदारों को अपनी जीविका कमाने के लिए कड़ी मेहनत करनी पड़ती थी।" वे लोग अपना धन बढ़ाने के लिए मुख्यतया उन मां-बाप को लूटा करते थे, जिनके बच्चे उनके यहां काम सीखते थे। मां-बाप काम सीखने की ऊंची फ़ीस देते थे, जब कि सीखनेवाले बच्चे भूखों मरते थे। दूसरी ओर, मुनाफ़ा औसतन कम होता था और संचय करने के लिए हद दर्जे की कृपणता बरतनी पड़ती थी। ये कारख़ानेदार कंजूसों की तरह रहते थे और अपनी पूंजी का सूद तक भी ख़र्च नहीं करते थे। "दूसरा काल वह है, जब कारख़ानेदार थोड़ा धन बटोरने में तो कामयाब हो जाते थे, पर मेहनत अब भी उतनी ही सख़्त करते थे", क्योंकि, जैसा कि दासों से काम लेनेवाला हर आदमी अच्छी तरह जानता है, श्रम का प्रत्यक्ष शोषण करने में काफ़ी श्रम ख़र्च होता है, "और पहले जैसा ही सादा जीवन बिताते थे... तीसरा काल वह है, जब भोग-विलास शुरू हो गया और व्यवसाय को तेज़ करने के लिए राज्य के प्रत्येक ऐसे नगर में, जहां मंडी लगती थी, हरकारे भेजकर माल के आर्डर मंगवाये जाने लगे... यह संभव है कि १६९० के पहले यहां ३,०००-४,००० पाउंड की ऐसी बहुत कम पूंजियां थीं या बिल्कुल नहीं थीं, जो व्यवसाय के द्वारा अर्जित की गयी हों। किंतु १६९० के लगभग या उसके थोड़े बाद की बात है कि व्यवसाइयों के पास काफ़ी रुपये आ गये और वे लकड़ी और पलस्तर के मकानों के स्थान पर ईंटों के आधुनिक मकान बनवाने लगे थे।" यहां तक कि १८ वीं सदी के शुरू के हिस्से में भी, अगर मैंचेस्टर का कोई कारख़ानेदार अपने मेहमानों के सामने थोड़ी सी विदेशी शराब भी खोलकर रख देता था, तो उसके सारे पड़ोसी उंगली उठाने और कानाफूसी करने लगते थे। मशीनों के अभ्युदय के पहले शाम को शराबख़ाने में, जहां कारख़ानेदार इकट्ठा हुआ करते थे, किसी कारख़ानेदार का ख़र्चा एक गिलास शराब के लिए छः पेंस और तंबाकू के लिए एक पेनी से ज्यादा नहीं बैठता था। ऐसा १७५८ के पहले कभी नहीं हुआ था – और यह एक युगांतरकारी घटना थी – कि सचमुच व्यवसाय में लगा हुआ कोई व्यक्ति ख़ुद अपनी घोड़ागाड़ी में बैठा दिखायी दे। "चौथा काल", यानी १८ वीं सदी के अंतिम ३० वर्ष, "वह है, जिसमें ख़र्च और भोग-विलास बहुत बढ़ जाते हैं, और व्यवसाय के सहारे चलते हैं, जिसे इस बीच हरकारों और आढ़तियों के ज़रिये यूरोप के हरेक हिस्से में फैला दिया गया था।"[35] यदि डा० आइकिन अपनी क़ब्र से उठकर आजकल के मैंचेस्टर को देख पाते, तो क्या कहते?

संचय करो, संचय करो! पूंजीपति के लिए मूसा का और बाक़ी तमाम पैग़म्बरों का बस यही संदेश है। "उद्योग वही सामग्री देता है, जिसका बचत संचय कर देती है।"[36]

---

[35] Dr. Aikin, *Description of the Country from 30 to 40 miles round Manchester*, London, 1795, p. 182, sqq.

[36] A. Smith, *Wealth of Nations*, Book III, Ch. III.

इसलिए बचत करो, बचत करो, अर्थात् बेशी मूल्य या बेशी पैदावार के अधिक से अधिक बड़े हिस्से को पूंजी में बदल डालो! संचय की ख़ातिर संचय करो! उत्पादन की ख़ातिर उत्पादन करो! – इस सूत्र के द्वारा क्लासिकीय अर्थशास्त्र ने पूंजीपति वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका को व्यक्त किया था और धन के जन्म-काल की प्रसव-पीड़ा के बारे में एक क्षण के लिए भी कभी अपने को धोखा नहीं दिया था।[37] परंतु इतिहास के तक़ाज़े के सामने रोने-धोने से क्या होता है? क्लासिकीय अर्थशास्त्र के लिए यदि सर्वहारा बेशी मूल्य के उत्पादन का एक यंत्र मात्र है, तो पूंजीपति उसकी दृष्टि में केवल इस बेशी मूल्य को अतिरिक्त पूंजी में परिणत कर देने का यंत्र है। राजनीतिक अर्थशास्त्र पूंजीपति के ऐतिहासिक कार्य को अत्यंत गंभीर दृष्टि से देखता है। उसके हृदय में भोग की इच्छा और धन की तृष्णा के बीच जो भयानक संघर्ष चला करता है, उसे किसी तरह शांत करने के लिए माल्थस ने १८२० के लगभग एक ऐसे श्रम-विभाजन का प्रस्ताव किया था, जिसमें सचमुच उत्पादन में लगे हुए पूंजीपति को तो संचय करने का काम दिया गया था, और बेशी मूल्य में हिस्सा बंटानेवाले अन्य लोगों – ज़मींदारों, सरकारी अधिकारियों, पैसा पानेवाले पादरियों, आदि – को ख़र्च करने का काम सौंपा गया था। माल्थस ने लिखा है कि यह बात अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि "ख़र्च करने की भावना और संचय करने की भावना को अलग-अलग रखा जाये।"[38] मगर पूंजीपति बहुत दिन से जीवन का आनंद ले रहे थे और अनुभवी तथा व्यावहारिक आदमी थे। उन्होंने सुना तो लगे चीख़-पुकार मचाने। उनके एक प्रवक्ता ने, जो रिकार्डो के शिष्य थे, कहा कि यह क्या हो रहा है? क्या मि० माल्थस यह चाहते हैं कि लगान और किराये बढ़ा दिये जायें, ऊंचे कर लगाये जायें, इत्यादि ताकि अनुत्पादक उपभोगी सदा उद्यमी व्यक्तियों को अंकुश लगा-लगाकर उनसे काम कराते रहें? उत्पादन, निरंतर बढ़ते हुए पैमाने का उत्पादन – यह सूत्र तो ठीक है, लेकिन "इस प्रकार की प्रक्रिया से उत्पादन में तेज़ी आने के बजाय वह और दब जायेगा। और न ही यह बात उचित है कि अनेक ऐसे व्यक्तियों को केवल दूसरों को कोंचने के लिए निकम्मा रखा जाये, जिनका स्वभाव ऐसा है कि यदि उनसे ज़बर्दस्ती काम कराया जाये, तो वे सफलतापूर्वक काम कर सकते हैं।"[39] औद्योगिक पूंजीपति की रोटी का मक्खन हटाकर उसे कोंचना इस लेखक को अनुचित प्रतीत होता है, परंतु फिर भी मज़दूर को "सदा मेहनती बनाये रखने के लिए" उसकी मज़दूरी को कम से कम कर देना वह बहुत आवश्यक समझता है। और वह इस बात को कभी नहीं छिपाता कि बेशी मूल्य का रहस्य अवेतन श्रम को हस्तगत करने में निहित है। "मज़दूरों की ओर से बढ़ी हुई मांग का इससे अधिक और कुछ अर्थ नहीं होता कि वे ख़ुद अपनी पैदावार का पहले से कम हिस्सा अपने वास्ते चाहते हैं और पहले से अधिक हिस्सा अपने मालिक के पास छोड़ देने को राज़ी हैं। और अगर यह कहा जाये कि इससे तो प्रचुरता पैदा

---

[37] यहां तक कि जे० बी० सेय ने भी लिखा है: "धनी लोग ग़रीबों का गला काटकर पैसा बचाते हैं।" और सिस्मोंदी के शब्द हैं: "रोमन सर्वहारा लगभग पूर्णतया समाज के ख़र्चे पर पलता था... आधुनिक समाज के बारे में हम एक तरह से यह कह सकते हैं कि वह सर्वहारा के ख़र्चे पर पलता है; श्रम की उजरत में से जो कुछ काट लिया जाता है, समाज उसी के सहारे ज़िंदा रहता है।" (Sismondi, *Études etc.*, t. I, p. 24.)

[38] Malthus, l.c., pp. 319, 320.

[39] *An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand etc.*, p. 67.

हो जायेगी, क्योंकि" (मज़दूरों के द्वारा) "उपभोग कम हो जायेगा, तो इसका मैं केवल यही जवाब दे सकता हूं कि प्रचुरता मोटे मुनाफ़ों का ही दूसरा नाम है।"[40]

परंतु यह पंडिताऊ झगड़ा कि मज़दूर को चूसकर जो लूट मचायी जाये, उसको अधिक से अधिक संचय करने के दृष्टिकोण से औद्योगिक पूंजीपति और हाथ पर हाथ रखकर खानेवाले धनी के बीच किस तरह बांटा जाये, जुलाई की क्रांति का सामना होने पर जल्दी-जल्दी दबा दिया गया। उसके थोड़े समय बाद लियों के शहरी सर्वहारा ने क्रांति का शंख फूंका और इंगलैंड का देहाती सर्वहारा खलिहानों और अनाज के ढेरों में आग लगाने लगा। इंग्लिश चैनल के इस ओर ओवेनवाद फैलने लगा, उस ओर से सिमोंवाद और फ़ूरियेवाद का प्रसार होने लगा। अब सतही अर्थशास्त्र के उदय की घड़ी आ पहुंची थी। जिस दिन नस्साउ डब्ल्यू० सीनियर ने मैंचेस्टर में यह आविष्कार किया था कि पूंजी का मुनाफ़ा (मय ब्याज के) काम के दिन के बारह घंटों में से केवल अंतिम घंटे की पैदावार होता है, उसके ठीक एक वर्ष पहले वह दुनिया के सामने एक और आविष्कार की घोषणा कर चुका था। उसने बड़े गर्व के साथ कहा था: "उत्पादन के एक औज़ार के रूप में पूंजी शब्द के स्थान पर मैं परिवर्जन शब्द का प्रयोग करता हूं।"[41] सतही अर्थशास्त्र के आविष्कारों का यह एक बेमिसाल नमूना है! यहां एक आर्थिक परिकल्पना के स्थान पर एक चाटुकारितापूर्ण शब्द रख दिया गया है – voilà tout [और बस]। सीनियर ने लिखा है: "जब जंगली आदमी धनुष बनाता है, तब वह उद्योग तो करता है, परंतु परिवर्जन नहीं करता।" इससे पता चलता है कि समाज के शुरू के रूपों में श्रम के औज़ार पूंजीपति के परिवर्जन के बिना ही क्यों और कैसे तैयार हो गये थे। "समाज जितना विकास करता जाता है, परिवर्जन की मांग उतनी ही बढ़ती जाती है"[42] – और यह परिवर्जन उनको करना पड़ता है, जो दूसरों के श्रम के फलों को हस्तगत करने का श्रम करते हैं। श्रम-प्रक्रिया को संपन्न करने के लिए जितनी बातें आवश्यक हैं, वे सब यकायक

---

[40] *An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand etc.*, p. 59.

[41] (Senior, *Principes fondamentaux de l'Économie Politique*, trad. Arrivabene, Paris, 1836, p. 309.) पुराने क्लासिकीय अर्थशास्त्र के मतावलंबियों के लिए इस बात को सहन करना असंभव था। उन्होंने लिखा: "इसके" (श्रम और मुनाफ़ा – इस शब्दावली के) "स्थान पर मि० सीनियर श्रम और परिवर्जन – इस शब्दावली का प्रयोग करते हैं। जो अपनी आय को रूपांतरित कर देता है, वह उस भोग का परिवर्जन कर देता है, जो उसे इस आय को ख़र्च कर देने पर प्राप्त होता। मुनाफ़ा पूंजी से नहीं, पूंजी के उत्पादक ढंग के उपयोग से पैदा होता है।" (John Cazenove, l. c., p. 130, Note.) इसके विपरीत जॉन स्टुअर्ट मिल एक तरफ़ तो रिकार्डो के मुनाफ़े के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं और दूसरी तरफ़, सीनियर के "परिवर्जन की उजरत" के सिद्धांत को भी अपना लेते हैं। सभी प्रकार के द्वंद्व का स्रोत, हेगेलीय विरोध, उनके लिए जितना अरुचिकर है, बेतुके विरोधों से उनको उतना ही आनंद प्राप्त होता है। इस सतही अर्थशास्त्री के दिमाग़ में यह साधारण सा विचार कभी नहीं आया कि प्रत्येक मानव-कार्य को उसके उल्टे कार्य का "परिवर्जन" समझा जा सकता है। भोजन करना उपवास का परिवर्जन है, चलना निश्चल खड़े रहने का परिवर्जन है, काम करना काहिली का परिवर्जन है, काहिली काम का परिवर्जन है, इत्यादि। इन महानुभावों को कभी-कभार स्पिनोज़ा की इस उक्ति पर भी विचार करना चाहिए: "Determinatio est negatio" ["निर्धारण निषेध है"]।

[42] Senior, l. c. p. 342.

पूंजीपति के परिवर्जन के कृत्य बन जाती हैं। यदि अनाज सारा खा नहीं लिया जाता, बल्कि उसका एक भाग बो दिया जाता है, तो यह पूंजीपति का परिवर्जन है। यदि शराब को उठने के लिए रख दिया जाता है, तो यह भी पूंजीपति का परिवर्जन है।[43] जब कभी पूंजीपति "मजदूर को उत्पादन के औज़ार उधार (!) देता है", यानी जब कभी वह उत्पादन के औज़ारों का – भाप के इंजनों, कपास, रेल, खाद, घोड़ों और दूसरी तमाम चीज़ों का – उपभोग ख़ुद नहीं कर लेता, या, सतही अर्थशास्त्रियों की बचकानी भाषा में, जब कभी वह इन तमाम चीज़ों का "मूल्य" विलास की वस्तुओं तथा उपभोग की चीज़ों पर ज़ाया नहीं कर देता, बल्कि इसके बजाय उनके साथ श्रम-शक्ति का समावेश करके इस श्रम-शक्ति से बेशी मूल्य निकालने के लिए उनका उपयोग करता है, तब हर बार वह ख़ुद अपने घर में डाका डालता है।[44] एक वर्ग के रूप में पूंजीपति यह कमाल कैसे करेंगे, यह एक ऐसा रहस्य है, जिसका उद्घाटन करने के लिए सतही अर्थ-शास्त्र आज तक तैयार नहीं हुआ। उसके लिए बस इतना ही काफ़ी है कि इस आधुनिक विष्णु-भक्त – पूंजीपति – के प्रायश्चित और आत्मताड़ना के प्रताप से संसार आज भी किसी तरह हिचकोले खाता हुआ चला जा रहा है। न केवल संचय के लिए, बल्कि "महज़ पूंजी को सुरक्षित रखने के लिए भी उसका उपभोग कर डालने के प्रलोभन से लगातार संघर्ष करना पड़ता है।"[45] अतएव साधारण मानवता का तक़ाज़ा है कि पूंजीपति को इस शहादत से और इस प्रलोभन से मुक्ति दिला दी जाये, जिस प्रकार हाल में दास-प्रथा का अंत करके जार्जिया के दासों के मालिक को इस दुविधा से छुटकारा दिला दिया गया था कि अपने हबशियों को कोड़े मार-मार वह जो बेशी उत्पाद तैयार कराता है, उसे फ़िज़ूलख़र्ची के ज़रिये लुटा दे या उसके एक हिस्से को पुनः नये हबशियों और नयी ज़मीन में परिणत कर डाले।

समाज के अत्यंत भिन्न प्रकार के आर्थिक रूपों में केवल साधारण पुनरुत्पादन ही नहीं, बल्कि अलग-अलग मात्रा में उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन होता है। हर बार पहले से अधिक उत्पादन और अधिक उपभोग होता है और इसलिए हर बार पहले से अधिक उत्पाद को उत्पादन के साधनों में बदलना पड़ता है। किंतु जब तक मज़दूर के उत्पादन के साधन और उनके साथ-साथ उसका उत्पाद तथा जीवन-निर्वाह के साधन पूंजी की शक्ल में उसके मुक़ाबले में नहीं खड़े हो जाते, तब तक यह प्रक्रिया पूंजी के संचय के रूप में या किसी पूंजीपति के कार्य

---

[43] "जब तक किसी को अतिरिक्त मूल्य कमाने की आशा नहीं होगी, तब तक... वह यह हरगिज़ नहीं करेगा कि अपनी पैदावार का या उसके समतुल्य का तुरंत उपभोग कर डालने के बजाय, मिसाल के लिए, अपना गेहूं बो डाले और उसे बारह महीने तक ज़मीन में गड़ा रहने दे, या अपनी शराब को बरसों तक तहख़ाने में डाले रखे।" (Scrope, *Political Economy*, ed.by A. Potter, New York, 1841, pp. 133-134.

[44] "अपने उत्पादन के औज़ारों का ख़ुद अपने लिए उपयोग न करके और उनका मूल्य उपयोगी वस्तुओं या विलास की वस्तुओं में न बदलकर पूंजीपति उनको मज़दूर को उधार देकर जो कष्ट उठाता है।" (G. de. Molinari, l.c., p. 36.) (यहां "उधार देना" शब्दों का एक शिष्टोक्ति के रूप में प्रयोग किया गया है। सतही अर्थशास्त्र की अनुमोदित पद्धति का प्रयोग करते हुए इस शिष्टोक्ति के द्वारा उस मज़दूर को, जिसका शोषण किया जाता है, उस औद्योगिक पूंजीपति के साथ एकाकार कर दिया गया है, जो शोषण करता है और जिसको दूसरे पूंजीपति द्रव्य उधार देते हैं।)

[45] Courcelle-Seneuil, l.c., p. 57.

के रूप में सामने नहीं आती।[46] रिचर्ड जोन्स ने, जिनकी कुछ वर्ष पहले ही मृत्यु हुई है और जिन्होंने हेलीबरी कालिज में माल्थस के उत्तराधिकारी के रूप में अर्थशास्त्र के आचार्य का पद ग्रहण किया था, दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों के प्रकाश में इस विषय का अच्छा विवेचन किया है। भारत की आबादी का अधिकांश चूंकि किसानों का है, जो ख़ुद अपनी ज़मीन जोतते-बोते हैं, इसलिए उनका उत्पाद, उनके श्रम के औज़ार और जीवन-निर्वाह के साधन कभी "आय में से बचाये हुए किसी ऐसे कोष का रूप धारण नहीं करते, जो इस कारण पहले से संचय की किसी प्रक्रिया से गुज़र चुका हो"।[47] दूसरी ओर, उन प्रांतों में, जहां अंग्रेज़ी शासन ने पुरानी व्यवस्था को सबसे कम गड़बड़ किया है, खेती के सिवा कोई और काम करनेवाले मज़दूर प्रत्यक्ष रूप में ऐसे रईसों के यहां नौकर हैं, जिनको खेती के बेशी उत्पाद का एक भाग ख़िराज या लगान के रूप में मिलता है। इस उत्पाद का एक भाग ये रईस जिंस की शक्ल में ख़र्च कर जाते हैं, दूसरा भाग उनके उपयोग के वास्ते मज़दूरों द्वारा विलास की वस्तुओं तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं में बदल दिया जाता है, बाक़ी भाग मज़दूरों की मज़दूरी का काम करता है, जो अपने श्रम के औज़ारों के ख़ुद मालिक होते हैं। यहां उत्पादन और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन बराबर होता चलता है, लेकिन उसके लिए उस विचित्र संत के, क्षुब्ध मुखाकृति वाले उस सूरमा सरदार के, उस "परिव्राजक" पूंजीपति के हस्तक्षेप की कभी आवश्यकता नहीं पड़ती।

अनुभाग ४—बेशी मूल्य के पूंजी तथा आय में सानुपातिक विभाजन से स्वतंत्र किन बातों से संचय की राशि निर्धारित होती है? श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा। श्रम की उत्पादिता। व्यवसाय में लगी हुई पूंजी और ख़र्च कर दी गयी पूंजी का बढ़ता हुआ अंतर। पेशगी लगायी गयी पूंजी का परिमाण

यदि यह पहले निश्चित हो कि बेशी मूल्य किस अनुपात में पूंजी तथा आय में विभाजित होता है, तो स्पष्ट है कि संचित पूंजी का परिमाण बेशी मूल्य के निरपेक्ष परिमाण पर निर्भर करेगा। मान लीजिये कि ८० प्रतिशत का पूंजीकरण और २० प्रतिशत का उपभोग हो जाता

---

[46] "राष्ट्रीय पूंजी की प्रगति में आय के जिन विशिष्ट प्रवर्गों से सबसे अधिक सहायता मिलती है, वे अपनी प्रगति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में बदलते रहते हैं और इसलिए इस प्रगति की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्थिति रखनेवाले राष्ट्रों में इस प्रकार के आय के प्रवर्ग बिल्कुल अलग-अलग होते हैं... समाज की प्रारंभिक अवस्थाओं में मज़दूरी और लगान की तुलना में... मुनाफ़ा... संचय का एक महत्वहीन स्रोत होता है... जब राष्ट्रीय उद्योग की शक्तियों का सचमुच बहुत काफ़ी विकास हो जाता है, तब कहीं मुनाफ़ा संचय के एक स्रोत के रूप में तुलनात्मक महत्त्व प्राप्त करता है।" (Richard Jones, *Textbook of Lectures on the Political Economy of Nations*, pp. 16. 21.)

[47] l. c., p. 36, sq.

है। तब यदि कुल बेशी मूल्य ३,००० पाउंड है, तो संचित पूंजी २,४००, और यदि वह १,५०० पाउंड है, तो संचित पूंजी १,२०० पाउंड होगी। इसलिए जिन तमाम बातों से बेशी मूल्य की राशि निर्धारित होती है, उन्हीं से संचय का परिमाण भी निर्धारित होता है। इन तमाम बातों का हम संक्षेप में एक बार फिर वर्णन किये देते हैं, लेकिन केवल उसी हद तक, जिस हद तक कि उनसे संचय के विषय में कुछ नये दृष्टिकोणों से विचार करने में सहायता मिलती है।

पाठक को याद होगा कि बेशी मूल्य की दर मुख्यतया श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा पर निर्भर करती है। राजनीतिक अर्थशास्त्र इस तथ्य को इतना अधिक महत्त्व देता है कि श्रम की बढ़ी हुई उत्पादिता के फलस्वरूप संचय में जो तेज़ी आ जाती है, उसे अर्थशास्त्र कभी-कभी मज़दूर के बढ़े हुए शोषण के फलस्वरूप आयी हुई तेज़ी समझ बैठता है।[48] बेशी मूल्य के उत्पादन से संबंध रखनेवाले अध्यायों में हम बराबर यह मानकर चले थे कि मज़दूरी कम से कम श्रम-शक्ति के मूल्य के बराबर ज़रूर होती है। किंतु व्यवहार में मज़दूरी को ज़बर्दस्ती इस मूल्य के भी नीचे गिरा देने के प्रयत्नों का इतना अधिक महत्त्व होता है कि हम ज़रा रुककर इस विषय पर विचार किये बिना नहीं रह सकते। वस्तुतः कुछ सीमाओं के भीतर इस प्रकार के प्रयत्न मज़दूर के आवश्यक उपभोग के कोष को पूंजी के संचय के कोष में परिणत कर देते हैं।

जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है: "मज़दूरी में कोई उत्पादक शक्ति नहीं होती, मज़दूरी उत्पादक शक्ति का दाम होती है। श्रम के साथ-साथ मज़दूरी का पण्यों के उत्पादन में कोई भाग नहीं होता, जैसे औज़ारों के साथ-साथ औज़ारों के दाम का उसमें कोई भाग नहीं होता। यदि श्रम को बिना ख़रीदे हासिल करना संभव होता, तो मज़दूरी के बग़ैर ही काम चल सकता था।"[49] लेकिन यदि मज़दूरों के लिए केवल हवा खाकर ज़िंदा रहना मुमकिन होता, तो उनको किसी भी दाम पर ख़रीदा नहीं जा सकता था। इसलिए गणित की दृष्टि से मज़दूरों की लागत की सीमा यह है कि वह शून्य के बराबर हो जाये; पर यह सीमा सदा पहुंच के बाहर रहती है, हालांकि हम सदा उसके अधिकाधिक निकट पहुंच सकते हैं। पूंजी की सदा यह प्रवृत्ति होती है कि श्रम की लागत को ज़बर्दस्ती इस शून्य की तरफ़ धकेलने की कोशिश करे। जब १८वीं सदी का एक लेखक, जिसको हम पहले भी अकसर उद्धृत कर चुके हैं और जिसने *Essay on Trade and Commerce* लिखा है, यह घोषणा करता है कि इंगलैंड की ऐतिहासिक भूमिका अंग्रेज़ों की मज़दूरी को ज़बर्दस्ती घटाकर फ़्रांसीसियों और डच लोगों के स्तर पर पहुंचा देना

---

[48] "रिकार्डो ने लिखा है: 'समाज की अलग-अलग अवस्थाओं में पूंजी का संचय – या श्रम से काम लेने' (अर्थात् उसका शोषण करने) 'के साधनों का संचय – अधिक या कम तेज़ होता है, और हर हालत में वह लाज़िमी तौर पर श्रम की उत्पादक शक्तियों पर निर्भर करता है। सामान्यतया श्रम की सबसे अधिक उत्पादक शक्तियां वहां होती हैं, जहां उपजाऊ भूमि की बहुतायत होती है।' यदि पहले वाक्य में श्रम की उत्पादक शक्तियों से लेखक का अर्थ किसी भी उपज के उस अशेषभाजक भाग की अल्पता से है, जो उन लोगों को मिल जाता है, जिनके हाथ के श्रम से वह उपज पैदा हुई है, तो यह वाक्य लगभग एक सा है, क्योंकि बचा हुआ अशेषभाजक भाग उस कोष का होता है, जिससे यदि मालिक चाहे, तो पूंजी का संचय किया जा सकता है। परंतु यह बात आम तौर पर ऐसे स्थानों पर नहीं होती, जहां बहुत अधिक उपजाऊ भूमि होती है।" (*Observations on Certain Verbal Disputes etc.*, pp. 74. 75.)

[49] J. Stuart Mill, *Essays on Some Unsettled Questions of Political Economy*, London, 1844, p. 90.

है, तब वह वास्तव में अंग्रेज़ी पूंजीवाद की आत्मा के गूढ़तम रहस्य को खोलकर रख देता है।[60] अन्य बातों के अलावा इस लेखक ने बड़े भोलेपन के साथ यह भी लिखा है: "परंतु यदि हमारे यहां के ग़रीब लोग" (यह मजदूरों का पारिभाषिक नाम है) "विलास का जीवन व्यतीत करेंगे, तो... जाहिर है कि श्रम अनिवार्य रूप से महंगा हो जायेगा... जब हम इसपर विचार करते हैं कि कारख़ानों में काम करनेवाली आबादी विलास की कैसी-कैसी वस्तुओं का उपभोग करती है, जैसे ब्रांडी, जिन, चाय, चीनी, विदेशी फल, तेज़ बियर, पटसन के छपे हुए कपड़े, नसवार, तंबाकू, आदि, तो हम हक्के-बक्के रह जाते हैं।"[51] इस लेखक ने नॉर्थम्पटनशायर के एक कारख़ानेदार की रचना को उद्धृत किया है, जिसने आकाश की ओर देखकर आह भरते हुए कहा था: "इंगलैंड की अपेक्षा फ़ांस में श्रम एक तिहाई अधिक सस्ता है, क्योंकि वहां ग़रीब लोग सख़्त मेहनत करते हैं और मोटा खाते हैं तथा मोटा पहनते हैं। उनका मुख्य भोजन रोटी, फल, वनस्पति, जड़ें और सुखायी हुई मछली है। वे मांस बहुत कम खाते हैं, और जब गेहूं महंगा हो जाता है, तब वे रोटी भी बहुत कम खाने लगते हैं।"[52] हमारे निबंधकार ने इसके आगे लिखा है: "इसके साथ हम यह भी जोड़ सकते हैं कि ये लोग या तो पानी पीते हैं, या हल्की शराबें और इसलिए बहुत कम पैसा ख़र्च करते हैं... यह हालत पैदा कर देना बहुत कठिन तो है, पर असंभव नहीं, क्योंकि आख़िर फ़ांस और हालैंड दोनों जगह यह हालत पैदा कर दी गयी है।"[53] इसके बीस वर्ष बाद एक अमरीकी मक्कार ने, बेंजामिन थॉम्पसन (उर्फ़ काउंट रमफ़ोर्ड) नामक एक यांकी ने, जिसे काउंट की उपाधि देकर अभिजात वर्ग में शामिल कर दिया गया था, मानव-कल्याण से प्रेरित होकर इसी प्रकार के विचारों को

---

[60] *An Essay on Trade and Commerce*, London, 1770, p.44; इसी प्रकार दिसंबर १८६६ और जनवरी १८६७ के *The Times* ने अंग्रेज़ खानों के मालिकों के हृदय के कुछ भावों को प्रकाशित किया है। इन लेखों में बेल्जियम के उन खान-मज़दूरों के सुखी जीवन का वर्णन किया गया है, जो उससे अधिक न तो मांगते थे और न पाते थे, जो उनके लिए अपने "मालिकों" के हित में जीवित रहने के वास्ते बिल्कुल जरूरी था। बेल्जियम के मज़दूरों को बहुत सारे कष्ट उठाने पड़ते हैं, मगर यह तो हद है कि *The Times* में उनकी आदर्श मज़दूरों के रूप में चर्चा की जाये! १८६७ के फ़रवरी महीने के शुरू में *The Times* को इसका जवाब मिला: मारशियेन में बेल्जियन खान-मज़दूरों ने हड़ताल कर दी, जिसे गोलियों से दबाया गया।

[51] l. c., pp. 44, 46.

[52] नॉर्थम्पटनशायर के इस कारख़ानेदार ने यहां एक मासूम चाल चली है, जो ऐसे आदमी के लिए क्षम्य है, जिसका दिल इतना भरा हुआ हो, यहां पर उसने कहने के लिए इंगलैंड और फ़ांस के कारख़ानों में काम करनेवाले मजदूरों की तुलना की है, पर वास्तव में ऊपर उद्धृत किये गये शब्दों में उसने फ़ांस के खेतिहर मजदूरों का वर्णन किया है, और अपने उलझे हुए ढंग से उसने यह बात स्वीकार भी कर ली है।

[53] *An Essay on Trade and Commerce*, London, 1770, pp. 70, 71. [**तीसरे जर्मन संस्करण की पाद-टिप्पणी**: तब से अब तक चूंकि संसार की मंडी में प्रतियोगिता आरंभ हो गयी है, इसलिए मामला और आगे बढ़ गया है। संसद-सदस्य मि० स्टेपलटन अपने निर्वाचकों के सामने भाषण करते हुए कहते हैं: "यदि चीन एक बड़ा औद्योगिक देश बन जाये, तो मेरी समझ में नहीं आता कि कारख़ानों में काम करनेवाली यूरोप की आबादी अपने प्रतियोगियों के जीवन-स्तर पर पहुंचे बिना कैसे उनसे प्रतियोगिता कर पायेगी।" (*The Times*, September 3, 1873, p. 8.) अतः [अंग्रेज़ी पूंजी का वांछित लक्ष्य अब यूरोपीय नहीं, बल्कि चीनी मजदूरी है]।

व्यक्त किया, जिनसे भगवान और इनसान दोनों को बड़ा संतोष हुआ होगा। इन महाशय के *Essays* असल में पाकशास्त्र की पुस्तक है, जिसमें मज़दूरों के साधारण, महंगे भोजन के स्थान पर सस्ती वस्तुएं प्रयोग करने के तरह-तरह के अनेक नुसखे दिये हुए हैं। इस विचित्र दार्शनिक का एक विशेष रूप से सफल नुसखा इस प्रकार है: "५ पाउंड जौ का सत्तू, साढ़े ७ पेंस का; ५ पाउंड मक्का, सवा ६ पेंस की; हेरिंग मछली, ३ पेंस की; नमक, १ पेनी का; सिरका, १ पेनी का; काली मिर्च और मसाले, २ पेंस के। कुल मिलाकार हुए पौने २१ पेंस। इससे ६४ आदमियों के लिए शोरबा तैयार हो जायेगा, और जौ तथा मक्का के साधारण दामों के आधार पर... यह शोरबा चौथाई पेनी प्रति २० आउंस के हिसाब से दिया जा सकेगा।"[54] पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति के साथ-साथ खाने-पीने की वस्तुओं में इतनी ज़्यादा मिलावट होने लगी कि थॉम्पसन का आदर्श अनावश्यक बन गया।[55]

१८वीं सदी के अंत में और १९वीं सदी के पहले दस वर्षों में अंग्रेज़ काश्तकारों और ज़मींदारों ने ज़बर्दस्ती मज़दूरी को उसकी निरपेक्ष रूप से अल्पतम सीमा पर पहुंचा दिया। वह इस तरह कि वे ख़ुद तो खेतिहर मज़दूरों को मज़दूरी की शक्ल में अल्पतम से भी कम देने लगे, और बाक़ी पैसा मज़दूरों को चर्च की ओर से सार्वजनिक सहायता के रूप में मिलने लगा। मज़दूरी की दरें "क़ानूनी ढंग से" निश्चित करने में अंग्रेज़ ज़मींदार कैसे मसख़रेपन से काम लेते हैं, इसकी एक मिसाल देखिये: "मि० बर्क ने बताया है कि नॉरफ़ोक के ज़मींदारों ने जिस समय मज़दूरी की दर निश्चित की थी, उस समय वे रात का खाना खा चुके थे। पर बेक्र्स के ज़मींदारों ने १७९५ में जब स्पीनहैमलैंड में मज़दूरी की दर तय की, तो उस समय, मालूम पड़ता है, उनका यह ख़याल था कि मज़दूरों को रात का खाना नहीं खाना चाहिए... वहां उन्होंने यह फ़ैसला किया कि जिन दिनों एक गैलन या आधा पेक वाली ८ पाउंड ११ आउंस

---

[54] Benjamin Thompson, *Essays Political, Economical, and Philosophical etc.*, 3 Vols., London, 1796-1802; Vol. I, p. 294. सर एफ़० एम० ईडन ने अपनी पुस्तक *The State of the Poor, or an History of the Labouring Classes in England etc.* में बड़े ज़ोरदार ढंग से मुहताज-ख़ानों के निरीक्षकों को सलाह दी है कि उन्हें यह रमफ़ोर्ड-मार्का भिखारियों का शोरबा इस्तेमाल करना चाहिए; और साथ ही उन्होंने शिकायत के अंदाज़ में अंग्रेज़ मज़दूरों को आगाह किया है कि "बहुत से ग़रीब लोग, ख़ास कर स्कॉटलैंड में, महीनों नमक मिले जई और जौ के सत्तू के घोल को पीकर ज़िंदा रहते हैं और बहुत आराम से ज़िंदा रहते हैं।" (l. c., Vol. I, Book. I, Ch. 2, p. 503.) १९वीं सदी में भी इसी प्रकार की बातें सुनने को मिलती हैं। "(अंग्रेज़ खेतिहर मज़दूरों ने) आटे का अत्यंत स्वास्थ्य-प्रद मिश्रण खाने से इनकार कर दिया है... स्कॉटलैंड में, जहां लोग ज़्यादा शिक्षित हैं, शायद यह पूर्वाग्रह नहीं पाया जाता।" (Charles H. Parry, M. D., *The Question of the Necessity of the Existing Corn Laws Considered*, London, 1816, p. 69.) किंतु इन्हीं पैरी की यह भी शिकायत है कि ईडन के समय (१७९७) में अंग्रेज़ मज़दूर की जो हालत थी, उसके मुक़ाबले में अब (१८१५ में) उसकी हालत बहुत ज़्यादा ख़राब हो गयी है।

[55] जीवन-निर्वाह के साधनों में मिलावट की जांच करने के लिए जो अंतिम संसदीय आयोग नियुक्त किया गया था, उसकी रिपोर्टों से पता चलता है कि इंगलैंड में दवाइयों तक में मिलावट की जाती है, और यह बात अपवाद नहीं, बल्कि नियम सी बन गयी है। मिसाल के लिए, लंदन के ३४ दवाफ़रोशों के यहां से अफ़ीम के ३४ नमूने ख़रीदे गये, तो पता चला कि उनमें से ३१ में पोस्त की डोंड़ी, गेहूं का आटा, गोंद, रेत, आदि मिले हुए थे। कुछ नमूनों में तो अफ़ीम का एक कण भी नहीं था।

की डबल रोटी का भाव १ शिलिंग हो, उन दिनों एक मज़दूर की (साप्ताहिक) ग्राय ३ शिलिंग होनी चाहिए, और डबल रोटी का भाव बढ़ने के साथ-साथ मज़दूरी भी बढ़ती रहनी चाहिए; पर जब रोटी का भाव १ शिलिंग ५ पेंस के ऊपर चढ़ने लगे, तब उसके २ शिलिंग पर पहुंचने तक मज़दूरी को बराबर घटाते जाना चाहिए। २ शिलिंग का भाव हो जाने पर मज़दूर के भोजन में $\frac{१}{५}$ की कमी ग्रा जानी चाहिए।"[56] १८१४ में हाउस ग्राफ़ लॉर्ड्स की जांच-समिति के सामने जब ए० बेनेट नामक एक बड़ा काश्तकार, जो मजिस्ट्रेट, ग़रीबों की मदद के क़ानून का संरक्षक और मज़दूरी का नियामक भी था, गवाही देने के लिए ग्राया, तो उससे यह प्रश्न किया गया कि "क्या मज़दूर के दैनिक श्रम के मूल्य का कोई भाग ग़रीबों की सहायता के लिए कर लगाकर जमा किये गये कोष में से ग्रदा किया जाता है?" उत्तर: "हां, एक भाग उसमें से ग्रदा किया जाता है। इस तरह हर परिवार की साप्ताहिक ग्राय एक गैलन वाली डबल रोटी (जिसका वज़न ८ पाउंड ११ ग्राउंस होता है) और ३ पेंस प्रति व्यक्ति तक कर दी जाती है... हमने यह मान लिया है कि प्रति सप्ताह एक गैलन वाली डबल रोटी परिवार के सभी सदस्यों के लिए एक हफ़्ते के वास्ते काफ़ी होती है; और ३ पेंस कपड़ों के लिए होती हैं; और यदि कपड़े चर्च की ग्रोर से सार्वजनिक सहायता के कोष से मिल जाते हैं, तो ये ३ पेंस काट लिये जाते हैं। यह प्रथा विल्टशायर के पूरे पश्चिमी भाग में और, मैं समझता हूं, पूरे देश में प्रचलित है।"[57] उस काल के एक बुर्जुग्रा लेखक ने लिखा है: "वर्षों से उन्होंने" (काश्तकारों ने) "ग्रपने देशवासियों के एक सम्मानित भाग को मुहताज-ख़ाने की सहायता लेने के लिए विवश करके पतन के गढ़े में धकेल दिया है... काश्तकार ग्रपने लाभ में तो वृद्धि करता जाता है, पर ग्रपने श्रमजीवी ग्राश्रितों को ज़रा भी संचय नहीं करने देता।"[58] हमारे ज़माने में बेशी मूल्य और इसलिए पूंजी के संचय-कोष के निर्माण में मज़दूर के ग्रावश्यक उपभोग-कोष पर सीधे डाके की क्या भूमिका है, यह तथाकथित घरेलू उद्योग से साफ़ हो गया है (देखिये इस पुस्तक का पंद्रहवां ग्रध्याय, ग्रनुभाग ८, ग)। इस विषय से संबंधित कुछ और तथ्य हम ग्रागे प्रस्तुत करेंगे।

यद्यपि उद्योग की सभी शाखाग्रों में स्थिर पूंजी के उस भाग के लिए, जिसमें श्रम के ग्रौज़ार शामिल होते हैं, यह ग्रावश्यक होता है कि वह मज़दूरों की एक ख़ास संख्या के लिए (जो व्यवसाय विशेष के ग्राकार से निर्धारित होती है) पर्याप्त हो, फिर भी इसका सदा यह ग्रर्थ कदापि नहीं होता कि वह उसी ग्रनुपात में बढ़ता जायेगा, जिस ग्रनुपात में मज़दूरों की संख्या में वृद्धि होती जायेगी। मान लीजिये कि किसी फ़ैक्टरी में १०० मज़दूर ८ घंटे रोज़ाना

---

[56] G. B. Newnham (barrister-at-law), *A Review of the Evidence before the Committee of the two Houses of Parliament on the Corn Laws*, London, 1815, p. 20, Note.

[57] l. c., pp. 19, 20.

[58] Ch. H. Parry, l.c., pp. 77, 69. उधर ज़मींदारों ने न केवल इसकी व्यवस्था कर ली थी कि जैकोबिन विरोधी युद्ध में, जिसे उन्होंने इंगलैंड के नाम पर चलाया था, उनका जितना ख़र्चा हुग्रा था, उसकी पूरी "क्षति-पूर्ति हो जाये", बल्कि उन्होंने ग्रपने धन में बेशुमार इज़ाफ़ा कर लिया था। "ग्रठारह वर्ष में उनके लगान पहले से दुगुने, चौगुने और यहां तक कि छः गुने बढ़ गये थे।" (l.c., pp. 100, 101.)

काम करके काम के ८०० घंटे देते हैं। यदि पूंजीपति इस राशि को ड्योढ़ा कर देना चाहता है, तो वह ५० मज़दूर और रख सकता है। परंतु तब उसको न सिर्फ़ मज़दूरी की मद में, बल्कि श्रम के औज़ारों की मद में भी कुछ नयी पूंजी लगानी पड़ेगी। लेकिन यह भी मुमकिन है कि वह १०० मज़दूरों से ८ घंटे के बजाय १२ घंटे रोज़ाना काम लेने लगे। तब श्रम के जो औज़ार पहले से मौजूद थे, वे ही काफ़ी होंगे। अंतर केवल यह होगा कि वे पहले से ज़्यादा तेज़ी के साथ ख़र्च हो जायेंगे। इस प्रकार श्रम-शक्ति के पहले से अधिक तनाव से उत्पन्न अधिक श्रम से अधिक बेशी उत्पाद और अधिक बेशी मूल्य का उत्पादन हो सकता है (अर्थात् संचय की विषय-वस्तु में वृद्धि हो सकती है), पर उसके लिए पूंजी के स्थिर भाग में तदनुरूप वृद्धि न करनी पड़े।

निस्सारक उद्योगों – खानों, आदि – में पेशगी लगायी जानेवाली पूंजी में कच्चा माल शामिल नहीं होता। इन उद्योगों में श्रम की विषय-वस्तु किसी पूर्वकालिक श्रम की पैदावार नहीं होती, बल्कि वह प्रकृति से मुफ़्त में मिल जाती है, जैसे धातुएं, खनिज पदार्थ, कोयला, पत्थर, इत्यादि। ऐसे उद्योगों में स्थिर पूंजी में प्रायः केवल श्रम के औज़ार ही शामिल होते हैं, जो बिना किसी कठिनाई के पहले से अधिक श्रम का अवशोषण कर सकते हैं (जैसे कि उस समय होता है, जब मज़दूरों से दो पालियों में दिन के साथ-साथ रात में भी काम कराया जाता है)। अन्य बातों के समान रहते हुए, जितना अधिक श्रम ख़र्च किया जायेगा, उत्पाद की राशि तथा मूल्य उसके अनुलोम अनुपात में बढ़ते जायेंगे। जैसा कि उत्पादन के पहले दिन देखा गया था, उपज के वे मूल निर्माता, जो अब पूंजी के भौतिक तत्त्वों के सृजनकर्ता बन गये हैं – अर्थात् मनुष्य और प्रकृति – अब भी साथ-साथ काम करते हैं। श्रम-शक्ति की प्रत्यास्थता के प्रताप से स्थिर पूंजी में पहले से कोई वृद्धि किये बिना भी संचय के क्षेत्र का विस्तार हो जाता है।

खेती में जब तक पहले से अधिक बीज और खाद मुहैया नहीं किये जाते, तब तक पहले से ज़्यादा ज़मीन को जोता-बोया नहीं जा सकता। परंतु जब एक बार बीज और खाद की व्यवस्था कर दी जाती है, तो धरती को केवल यांत्रिक ढंग से तैयार करने का भी पैदावार की मात्रा पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है। इस तरह जितने मज़दूर पहले काम करते थे, उतने ही मज़दूर अब भी पहले से अधिक मात्रा में श्रम करके धरती की उर्वरता को बढ़ा देते हैं, और इसके लिए श्रम के औज़ारों पर कोई नयी रक़म नहीं ख़र्च करनी पड़ती। एक बार फिर हम यह देखते हैं कि किसी नयी पूंजी के हस्तक्षेप के बिना मनुष्य प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर प्रभाव डालकर संचय में तुरंत वृद्धि कर सकता है।

अंत में, जो कारख़ानों का उद्योग कहलाता है, उसमें जब-जब पहले से अधिक श्रम से काम लेना होता है, तब हर बार तदनुरूप पहले नये कच्चे माल का प्रबंध करना पड़ता है, लेकिन उसके लिए श्रम के नये औज़ार अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं होते। और चूंकि कारख़ानों के उद्योग को कच्चा माल और श्रम के औज़ार की सामग्री निस्सारक उद्योगों तथा खेती से मिलती है, इसलिए उसे उस अतिरिक्त उत्पाद से भी लाभ पहुंचता है, जिसे निस्सारक उद्योगों तथा खेती ने नयी पूंजी लगाये बिना ही तैयार कर दिया है।

इस सबका सामान्य परिणाम यह निकलता है कि धन के दो मूल स्रष्टाओं का – अर्थात् श्रम-शक्ति और भूमि का – अपने साथ समावेश करके पूंजी विस्तार करने की एक ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेती है, जिसके द्वारा वह अपने संचय के तत्त्वों को उन सीमाओं से भी आगे परिवर्द्धित कर सकती है, जो लगता है कि स्वयं उसके परिमाण के कारण इन तत्त्वों पर लग गयी

थीं, या जो पहले से उत्पादित उत्पादन के उन साधनों के मूल्य तथा राशि के कारण उनपर लग गयी थीं, जिनमें यह पूंजी निहित होती है।

पूंजी के संचय का एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व सामाजिक श्रम की उत्पादिता की मात्रा होती है।

श्रम की उत्पादक शक्ति के साथ उत्पादित वस्तुओं की राशि बढ़ जाती है, जिसमें एक ख़ास मूल्य और इसलिए एक ख़ास परिमाण का बेशी मूल्य निहित होता है। यदि बेशी मूल्य की दर ज्यों की त्यों रहे या यदि वह गिरती भी जाये, तो जहां तक उसके गिरने की गति श्रम की उत्पादक शक्ति के बढ़ने की गति की अपेक्षा मंद रहती है, वहां तक बेशी उत्पाद की राशि बढ़ती ही जाती है। इसलिए यदि इस उत्पाद का आय तथा अतिरिक्त पूंजी में पहले के ही अनुपात में विभाजन होता रहे, तो भी यह मुमकिन है कि पूंजीपति का उपभोग बढ़ जाये, पर संचय के कोष में कोई कमी न आये। बल्कि यह भी संभव है कि उपभोग-कोष में कुछ कमी आ जाये और संचय-कोष के तुलनात्मक परिमाण में कुछ वृद्धि हो जाये और फिर भी पण्यों के सस्ते हो जाने के फलस्वरूप पूंजीपति को पहले के समान या उनसे भी अधिक भोग के साधन मिलते रहें। परंतु जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, असल मजदूरी के बढ़ते जाने पर भी श्रम की उत्पादिता के बढ़ने के साथ-साथ मजदूर पहले से सस्ता होता जाता है और इसलिए बेशी मूल्य की दर ऊपर उठती जाती है। असल मजदूरी कभी श्रम की उत्पादक शक्ति की वृद्धि के अनुपात में नहीं बढ़ती। इसलिए परिवर्ती पूंजी के रूप में पहले जितना ही मूल्य पहले से अधिक श्रम-शक्ति को और इसलिए पहले से अधिक श्रम को गतिमान बना देता है। स्थिर पूंजी के रूप में पहले जितना ही मूल्य अब पहले से अधिक उत्पादन के साधनों में, अर्थात् पहले से अधिक श्रम के औज़ारों, श्रम की सामग्री और सहायक सामग्री में, निहित होता है। और इसलिए स्थिर पूंजी के रूप में पहले जितना ही मूल्य अब उपयोग-मूल्य और मूल्य दोनों के उत्पादन के पहले से अधिक तत्त्वों को और इसलिए पहले से अधिक श्रम के अवशोषकों को प्रस्तुत करता है। इसलिए यदि अतिरिक्त पूंजी का मूल्य ज्यों का त्यों रहे या यहां तक कि कुछ कम भी हो जाये, तो भी पहले से ज्यादा तेज संचय होता है। न केवल पुनरुत्पादन का पैमाना भौतिक दृष्टि से बढ़ जाता है, बल्कि बेशी मूल्य के उत्पादन में अतिरिक्त पूंजी के मूल्य की अपेक्षा ज्यादा तेजी के साथ वृद्धि होती है।

श्रम की उत्पादक शक्ति के विकास का उस मूल पूंजी पर भी प्रभाव पड़ता है, जो पहले से उत्पादन की प्रक्रिया में लगी हुई है। कार्यरत स्थिर पूंजी का एक भाग मशीनों, आदि का, अर्थात् श्रम के ऐसे औज़ारों का होता है, जो जब तक काफ़ी लंबा समय नहीं बीत जाता, तब तक ख़र्च नहीं होते, और इसलिए उस समय तक उनका पुनरुत्पादन करना या उसी प्रकार के औज़ारों के द्वारा उनका रिक्त स्थान भरना आवश्यक नहीं होता। लेकिन श्रम के औज़ारों का एक भाग हर साल नष्ट हो जाता है, या अपने उत्पादक कार्य को अंतिम सीमा पर पहुंच जाता है। इसलिए प्रति वर्ष इन औज़ारों के नियतकालिक पुनरुत्पादन का या उनके रिक्त स्थान को उसी प्रकार के औज़ारों से भरने का समय आ जाता है। यदि श्रम के इन औज़ारों के ख़र्च होने के दौरान श्रम की उत्पादिता बढ़ जाती है (और वह विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की अबाध प्रगति के साथ लगातार बढ़ती जाती है), तो अधिक कार्यक्षम और (उनकी बढ़ी हुई कार्य-क्षमता को देखते हुए) अधिक सस्ती मशीनें पुराने औज़ारों और उपकरणों का स्थान ले लेती हैं। श्रम के जो औज़ार पहले से इस्तेमाल में आ रहे हैं, उनमें जो तफ़सीली सुधार बराबर होते रहते हैं, उनके अलावा पुरानी पूंजी का अब अधिक उत्पादक रूप में पुनरुत्पादन होता है।

स्थिर पूंजी के दूसरे भाग का – कच्चे माल और सहायक पदार्थों का – पुनरुत्पादन एक साल से कम में ही हो जाता है; खेती से पैदा होनेवाले कच्चे माल और सहायक पदार्थों का प्रायः हर वर्ष पुनरुत्पादन होता है। इसलिए हर बार जब उत्पादन में पहले से उन्नत तरीक़े इस्तेमाल किये जाते हैं, तब उनका पूंजी पर और पहले से कार्यरत पूंजी पर लगभग एक साथ प्रभाव पड़ता है। रसायनविज्ञान में जब कभी कोई प्रगति होती है, तो उससे न केवल उपयोगी पदार्थों की संख्या में और पहले से ज्ञात पदार्थों को उपयोग में लाने के तरीक़ों में वृद्धि हो जाती है और इसी प्रकार पूंजी की वृद्धि के साथ-साथ उसके विनियोजन क्षेत्र का भी विस्तार होता जाता है। उसके साथ-साथ लोग उत्पादन और उपभोग की प्रक्रियाओं के मलोत्सर्ग को फिर से पुनरुत्पादन की प्रक्रिया के चक्र में डाल देने के तरीक़े सीख जाते हैं, जिससे पेशगी पूंजी लगाये बिना ही पूंजी की नयी सामग्री का सृजन हो जाता है। जिस प्रकार केवल श्रम-शक्ति के तनाव में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप प्राकृतिक धन से पहले से अधिक लाभ उठाया जाने लगता है, उसी प्रकार विज्ञान और प्रौद्योगिकी पूंजी को विस्तार करने की एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देते हैं, जो इस बात से स्वतंत्र होती है कि सचमुच कार्य में लगी हुई पूंजी का परिमाण कितना है। साथ ही विज्ञान और प्रौद्योगिकी का मूल पूंजी के उस भाग पर भी प्रभाव पड़ता है, जो अपने नवीकरण की अवस्था में प्रवेश कर चुका है। मूल पूंजी का यह भाग अपना नया रूप धारण करते समय मुफ़्त में ही उस सामाजिक प्रगति का अपने में समावेश कर लेता है, जो उस समय संपन्न हो रही थी, जिस समय उसकी पुरानी शक्ल का उपयोग हो रहा था। ज़ाहिर है, उत्पादक शक्ति के इस विकास के साथ-साथ कार्यरत पूंजी का आंशिक मूल्यह्रास हो जाता है। इस मूल्यह्रास का जिस हद तक प्रतियोगिता पर उग्र प्रभाव पड़ता है, उस हद तक उसका बोझा मज़दूर के कंधे बरदाश्त करते हैं, क्योंकि पूंजीपति उसका पहले से अधिक शोषण करके अपनी क्षति-पूर्ति करने की कोशिश करता है।

श्रम उत्पादन के जिन साधनों को ख़र्च कर डालता है, उनका मूल्य वह अपने उत्पाद में स्थानांतरित कर देता है। दूसरी ओर, श्रम की एक निश्चित मात्रा उत्पादन के जिन साधनों को गतिमान बनाती है, उनके मूल्य तथा राशि में श्रम की उत्पादिता के बढ़ने के साथ-साथ वृद्धि होती जाती है। यद्यपि श्रम की एक सी मात्रा अपने उत्पाद में सदा एक सा नया मूल्य जोड़ती है, फिर भी श्रम की उत्पादिता के बढ़ने के साथ-साथ उस पुराने पूंजी-मूल्य में वृद्धि होती जाती है, जो श्रम के द्वारा उत्पाद में स्थानांतरित कर दिया जाता है।

मिसाल के लिए, हो सकता है कि एक अंग्रेज़ कताई करनेवाला और एक चीनी कताई करनेवाला, दोनों एक सी तीव्रता के साथ समान समय तक काम करते रहें। तब वे दोनों एक सप्ताह तक बराबर मूल्यों का सृजन करेंगे। परंतु इस समानता के बावजूद एक विशाल स्वसंचालित यंत्र पर काम करनेवाले अंग्रेज़ मज़दूर के सप्ताह भर के उत्पाद के मूल्य और उस चीनी मज़दूर के सप्ताह भर के उत्पाद के मूल्य में, जिसके पास केवल एक चर्खा है, बहुत बड़ा अंतर होगा। जितने समय में चीनी मज़दूर एक पाउंड कपास कातता है, उतने ही समय में अंग्रेज़ कई सौ पाउंड कपास कात डालता है। उसके उत्पाद का मूल्य उन पुराने मूल्यों की सैकड़ों गुनी बड़ी राशि के कारण बढ़ जाता है, जो इस उत्पाद में एक नये उपयोगी रूप में पुनः प्रकट होते हैं और जो इसलिए एक बार फिर पूंजी की तरह कार्य कर सकते हैं। जैसा कि फ़्रेडरिक एंगेल्स ने हमें बताया है: "१७८२ में इंगलैंड में ऊन की तीन साल की पूरी पैदावार मज़दूरों के अभाव के कारण ज्यों की त्यों पड़ी थी, और यदि नव-आविष्कृत मशीनें उसकी सहायता को न

आतीं और उसे कात न डालतीं, तो वह उसी तरह पड़ी रहती।"[59] मशीनों के रूप में निहित श्रम, जाहिर है, प्रत्यक्ष रूप से तो एक भी मज़दूर को पैदा नहीं कर सका, परंतु उसके कारण मज़दूरों की पहले से कम संख्या के लिए अपेक्षाकृत कम नये जीवित श्रम के साथ न केवल उसका उत्पादक ढंग से उपभोग करना और उसमें नया मूल्य जोड़ना संभव हो गया, बल्कि वे ऊन के धागे, आदि के रूप में उसके पुराने मूल्य को सुरक्षित रखने में भी कामयाब हुए। साथ ही उसके कारण ऊन के पहले से अधिक पुनरुत्पादन की प्रेरणा मिली और अधिक पुनरुत्पादन होने लगा। जीवित श्रम में यह स्वाभाविक गुण होता है कि वह नया मूल्य उत्पन्न करने के साथ-साथ पुराना मूल्य भी स्थानांतरित कर देता है। इसलिए जब उत्पादन के साधनों की दक्षता, विस्तार तथा मूल्य में वृद्धि होती है और उसके फलस्वरूप जब उत्पादक शक्ति के विकास के साथ-साथ संचय होता है, तो श्रम एक निरंतर बढ़ते हुए पूंजी-मूल्य को नित नये रूप में क़ायम रखे रहता है और उसे अजर-अमर बना देता है।[60] श्रम की यह स्वाभाविक शक्ति उस पूंजी का नैसर्गिक गुण प्रतीत होने लगती है, जिसमें इस श्रम का समावेश हो जाता है। यह

[59] Friedrich Engels, *Die Lage der arbeitenden Klasse in England*, S. 20.

[60] क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र ने चूंकि श्रम-प्रक्रिया का और मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया का सही-सही विश्लेषण नहीं किया है, इसलिए, जैसा कि रिकार्डो की रचनाओं में देखा जा सकता है, वह पुनरुत्पादन के इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को कभी नहीं समझ पाया है। मिसाल के लिए, रिकार्डो ने लिखा है कि उत्पादक शक्ति में चाहे जैसा परिवर्तन आ जाये, "दस लाख व्यक्ति उद्योगों में सदा उतना ही मूल्य पैदा करते हैं।" यह बात बिल्कुल सही है, बशर्ते कि इन व्यक्तियों के श्रम का विस्तार और तीव्रता पहले से निश्चित हों। मगर फिर भी यह मुमकिन है (और कुछ निष्कर्ष निकालते समय रिकार्डो यह बात अनदेखी कर जाते हैं) कि यदि दस लाख व्यक्तियों का श्रम भिन्न-भिन्न स्तर की उत्पादिता का हो, तो वे उत्पादन के साधनों की बहुत भिन्न राशियों को उत्पाद में रूपांतरित करेंगे और इसलिए अपने-अपने उत्पाद में मूल्य की भिन्न-भिन्न राशियों को सुरक्षित रखेंगे, जिसके फलस्वरूप उनकी उत्पादित वस्तुओं के मूल्य में भी बहुत अंतर होगा। यहां चलते-चलते हम यह भी बता दें कि रिकार्डो ने इसी उदाहरण के द्वारा जे० बी० सेय को यह समझाने की वृथा कोशिश की थी कि उपयोग-मूल्य (जिसे रिकार्डो ने वहां धन या भौतिक संपदा कहा था) और विनिमय-मूल्य में क्या अंतर होता है। जे० बी० सेय ने उत्तर दिया है: "मि० रिकार्डो यह एतराज़ करते हैं कि उन्नत प्रक्रियाओं के द्वारा दस लाख व्यक्ति पहले से दुगुना या तिगुना धन पैदा कर सकते हैं, हालांकि उसके मूल्य में कोई वृद्धि नहीं होती। इस एतराज़ के जवाब में हमारा कहना यह है कि जब हम उत्पादन पर एक ऐसे विनिमय के रूप में विचार करते हैं, जिसमें मनुष्य उत्पाद प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने श्रम, अपनी भूमि और अपनी पूंजी की उत्पादक सेवाएं दे देता है—और वास्तव में हमें उत्पादन पर इसी रूप में विचार करना चाहिए—तब यह कठिनाई ग़ायब हो जाती है। दुनिया में जितनी तरह की उत्पादित वस्तुएं हैं, उन सबको हम इन उत्पादक सेवाओं के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। अब... उत्पादन नामक विनिमय में इन सेवाओं के द्वारा हम उपयोगी वस्तुओं की पहले से जितनी बड़ी मात्रा प्राप्त करने में सफल होते हैं, हम उतने ही अधिक धनी बन जाते हैं।" (J. B. Say, *Lettres à M. Malthus*, Paris, 1820, pp. 168, 169.) सेय यहां पर जिस "कठिनाई" को दूर करने की कोशिश कर रहे हैं—वास्तव में उसका अस्तित्व केवल सेय के लिए ही है, रिकार्डो के लिए नहीं—वह यह है कि जब श्रम की उत्पादक शक्ति के बढ़ जाने के फलस्वरूप उपयोग-मूल्यों की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, तब उनके विनिमय-मूल्य में वृद्धि क्यों नहीं हो जाती? और उनका उत्तर यह है कि उपयोग-मूल्य को विनिमय-मूल्य कहने लगें, यह कठिनाई दूर हो जायेगी। विनिमय-मूल्य एक ऐसी वस्तु है, जिसका

उसी तरह की बात है, जैसे सामाजिक श्रम की उत्पादक शक्तियां पूंजी के नैसर्गिक गुणों का रूप धारण कर लेती हैं और जैसे पूंजीपतियों द्वारा बेशी श्रम का निरंतर हस्तगतकरण पूंजी के निरंतर आत्मविस्तार का रूप धारण कर लेता है।

पूंजी की वृद्धि हो जाने पर व्यवसाय में लगी हुई पूंजी और ख़र्च कर दी गयी पूंजी का अंतर पहले से बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में, श्रम के ऐसे औज़ारों के मूल्य में और भौतिक राशि में वृद्धि हो जाती है, जैसे मकान, मशीनें, नालियों के पाइप, काम करनेवाले पशु और ऐसा हर उपकरण, जो बार-बार दुहरायी जानेवाली उत्पादन-प्रक्रियाओं में कम या ज्यादा समय तक इस्तेमाल होता है या जो किसी ख़ास ढंग का उपयोगी प्रभाव पैदा करने के काम में आता है, पर जो ख़ुद केवल धीरे-धीरे ही घिसता है और इसलिए जो अपना मूल्य सिर्फ़ थोड़ा-थोड़ा करके ही खोता है और इसलिए इस मूल्य को केवल थोड़ा-थोड़ा करके ही उत्पाद में स्थानांतरित करता है। श्रम के ये औज़ार जिस अनुपात में उत्पाद में नया मूल्य जोड़े बग़ैर ही मूल्य

विनिमय से कोई न कोई संबंध ज़रूर होता है। इसलिए यदि उत्पादन को उत्पाद के साथ श्रम तथा उत्पादन के साधनों के विनिमय का नाम दे दिया जाये, तो यह बात दिन के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो जाती है कि उत्पादन से जितना अधिक उपयोग-मूल्य तैयार होगा, आपको उतना ही अधिक विनिमय-मूल्य मिल जायेगा। दूसरे शब्दों में, काम के एक दिन में, मिसाल के लिए, मोज़े बनानेवाले किसी पूंजीपति को जितना अधिक उपयोग-मूल्य, यानी जितने अधिक मोज़े मिलने लगते हैं, मोज़ों के रूप में उसका धन उतना ही बढ़ जाता है। परंतु यहां पर यकायक सेय को यह याद आता है कि जब मोज़ों की "पहले से अधिक मात्रा" पैदा होने लगती है, तब उनका "दाम" (जिसका, ज़ाहिर है, उनके विनिमय-मूल्य से कोई संबंध नहीं होता!) गिर जाता है, "क्योंकि प्रतियोगिता उत्पादकों को विवश कर देती है कि वे अपने उत्पाद उसकी लागत के बराबर दामों पर दे दें।" परंतु यदि पूंजीपति अपना पण्य लागत पर बेच देता है, तो उसका मुनाफ़ा कहां से आता है? उसकी परवाह मत करो! सेय जवाब देते हैं कि यदि पहले एक निश्चित समतुल्य के एवज़ में एक जोड़ी मोज़े मिलते थे, तो अब उत्पादिता के बढ़ जाने के फलस्वरूप हरेक को उसी समतुल्य के एवज़ में दो जोड़ी मोज़े मिल जाते हैं। इस तरह वह जिस परिणाम पर पहुंचते हैं, वह रिकार्डो की ठीक वही प्रस्थापना है, जिसका वह खंडन करना चाहते थे। चिंतन के क्षेत्र में यह महान प्रयास करने के बाद सेय विजयोल्लास के साथ माल्थस को संबोधन करते हुए कहते हैं: "तो जनाब, यह है वह सुगठित सिद्धांत जिसके अभाव में – मैं कहता हूं – राजनीतिक अर्थशास्त्र की मुख्य कठिनाइयों को स्पष्ट करना असंभव है, और सबसे बड़ी बात यह कि जिसके अभाव में इस प्रश्न का उत्तर देना असंभव है कि हालांकि धन मूल्य होता है, फिर भी यह कैसे संभव होता है कि किसी राष्ट्र के उत्पाद का मूल्य गिर जाने पर भी उसका धन बढ़ जाता है!" (l.c., p. 170.) सेय ने अपनी रचना Lettres में इस प्रकार की कुछ और भी हाथ की सफ़ाई दिखायी है। उसपर टिप्पणी करते हुए एक अंग्रेज़ अर्थशास्त्री ने लिखा है: "जिसे मोसिये सेय अपना सिद्धांत कहते हैं और जिसे हर्टफ़ोर्ड में पढ़ाने के लिए उन्होंने माल्थस पर ज़ोर डाला है, क्योंकि यूरोप के अनेक भागों में वह पहले ही से पढ़ाया जा रहा है, उसमें आम तौर पर बस इसी बनावटी ढंग से बातें कही गयी हैं। सेय ने लिखा है: 'यदि आपका यह विचार है कि इन तमाम प्रस्थापनाओं में विरोधाभास झलकता है, तो मैं कहूंगा कि ज़रा उन वस्तुओं पर ग़ौर कीजिये, जिनको ये प्रस्थापनाएं व्यक्त करती हैं, और मेरा ख़याल है कि आपको हर चीज़ अत्यंत सरल और अत्यंत विवेकसंगत प्रतीत होगी।' निस्संदेह और इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप ये सारी प्रस्थापनाएं और कुछ भी प्रतीत होने लगें, पर मौलिक नहीं प्रतीत होंगी।" (*An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand etc.*, pp. 116, 110.)

के निर्माताओं का काम करते हैं, अर्थात् जिस अनुपात में वे पूरे के पूरे इस्तेमाल में आते हैं, पर ख़र्च केवल आंशिक रूप में होते हैं, उस अनुपात में वे उसी प्रकार की मुफ़्त सेवा करते हैं, जिस प्रकार की मुफ़्त सेवा प्राकृतिक शक्तियां – पानी, भाप, हवा, बिजली, आदि – करती हैं। भूतकालिक श्रम पर जब जीवित श्रम अधिकार कर लेता है और उसमें आत्मा का संचार कर देता है, तब वह इस प्रकार की मुफ़्त सेवा करने लगता है, और संचय की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अवस्थाओं के साथ-साथ इस मुफ़्त की सेवा में भी वृद्धि होती जाती है।

भूतकालिक श्रम चूंकि सदा पूंजी का भेस धारण किये रहता है, अर्थात् चूंकि क, ख, ग, आदि का निष्क्रिय श्रम ग़ैरमज़दूर क्ष के हाथों में पहुंचकर सक्रिय बन जाता है, इसलिए बुर्जुआ लोग और राजनीतिक अर्थशास्त्र सदा भूतकालिक मृत श्रम की सेवाओं की प्रशंसा किया करते हैं। स्कॉटलैंड की महान प्रतिभा मैककुलोच के मतानुसार तो उसको ब्याज, मुनाफ़े, आदि की शक्ल में एक ख़ास उजरत मिलनी चाहिए।[61] इसलिए उत्पादन के साधनों के रूप में भूतकालिक श्रम जीवित श्रम-प्रक्रिया को जो ज़ोरदार और निरंतर बढ़ती जानेवाली सहायता देता है, उसके बारे में कहा जाता है कि यह भूतकालिक श्रम के उस रूप का विशेष गुण है, जिस रूप में वह अवेतन श्रम की तरह ख़ुद मज़दूर से अलग कर दिया जाता है, अर्थात् कहा जाता है कि यह भूतकालिक श्रम के पूंजीवादी रूप का विशेष गुण है। जिस प्रकार दासों का मालिक यह नहीं सोच सकता कि कभी कोई ऐसा मज़दूर भी हो सकता है, जो दास न हो, उसी प्रकार पूंजीवादी उत्पादन के व्यावहारिक अभिकर्ता और बाल की खाल निकालनेवाले उनके विचारक यह नहीं सोच सकते कि उत्पादन के साधन ऐसे भी हो सकते हैं, जिन्होंने आज जैसा विग्रहपूर्ण सामाजिक मुखौटा न लगा रखा हो।

यदि श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा पहले से निश्चित हो, जो बेशी मूल्य पैदा होगा, उसकी कुल राशि इस बात से निर्धारित होगी कि कितने मज़दूरों का एक साथ शोषण किया गया है। और मज़दूरों की संख्या परिवर्तनशील अनुपात में ही सही, पर वह पूंजी के परिमाण के अनुरूप होती है। इसलिए उत्तरोत्तर संपन्न होनेवाली संचय-क्रियाओं के द्वारा पूंजी जितनी बढ़ जाती है, उतना ही वह कुल मूल्य बढ़ जाता है, जो उपभोग-कोष और संचय-कोष में विभाजित किया जाता है। इसलिए तब पूंजीपति ज़्यादा आनंद का जीवन बिता सकता है और साथ ही पहले से अधिक "परिवर्जन" का प्रमाण दे सकता है। और अंतिम बात यह है कि पेशगी लगायी गयी पूंजी की राशि के साथ-साथ उत्पादन का पैमाना जितना विस्तार करता जाता है, उत्पादन की सारी कमानियां पहले की अपेक्षा उतनी ही ज़्यादा लचक के साथ काम करने लगती हैं।

अनुभाग ५ – तथाकथित श्रम-कोष

इस अन्वेषण के दौरान यह बताया जा चुका है कि पूंजी का कोई स्थायी परिमाण नहीं होता, बल्कि वह सामाजिक धन का एक ऐसा लचकदार भाग होती है, जिसका परिमाण नये बेशी मूल्य का आय तथा अतिरिक्त पूंजी में विभाजन होने के साथ-साथ लगातार बदलता

---

[61] जिस समय सीनियर ने "परिवर्जन की मज़दूरी" के अपने आविष्कार का एकस्वकरण कराया था, उसके बहुत दिन पहले मैककुलोच "भूतकालिक श्रम की मज़दूरी" के अपने आविष्कार का एकस्वकरण करा चुके थे।

रहता है। इसके अलावा यह बात भी साफ़ हो चुकी है कि जब कार्यरत पूंजी का परिमाण पहले से निश्चित होता है, तब भी पूंजी में निहित श्रम-शक्ति, विज्ञान और भूमि (आर्थिक दृष्टि से भूमि से हमारा मतलब श्रम के लिए आवश्यक उन तमाम तत्त्वों से है, जो मनुष्य से स्वतंत्र प्रकृति से मिल जाते हैं) उसकी ऐसी लोचदार शक्तियां बन जाती हैं, जो कुछ सीमाओं के भीतर उसे एक ऐसा कार्यक्षेत्र प्रदान कर देती हैं, जिसका विस्तार स्वयं पूंजी के अपने परिमाण से स्वतंत्र होता है। इस अन्वेषण में हमने परिचलन की प्रक्रिया के उन तमाम प्रभावों को अनदेखा कर रखा है, जिनके कारण पूंजी की एक सी राशि में बहुत भिन्न-भिन्न मात्रा की दक्षता पैदा हो सकती है। और चूंकि हम पूंजीवादी उत्पादन की सीमाओं को स्वीकार करके चल रहे थे, अर्थात् चूंकि हम सामाजिक उत्पादन का एक ऐसा रूप स्वीकार करके चल रहे थे, जिसका विशुद्ध स्वयंस्फूर्त ढंग से विकास हुआ था, इसलिए हमने इस प्रश्न की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया था कि इस समय उत्पादन के जितने साधन और जितनी श्रम-शक्ति मौजूद है, क्या उनका प्रत्यक्ष रूप में और सुनियोजित ढंग से उपयोग करते हुए कोई अधिक विवेकसंगत व्यवस्था की जा सकती है। क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र को सामाजिक पूंजी को एक निश्चित दक्षता की एक निश्चित मात्रा समझने का सदा बड़ा शौक़ रहा है। परंतु इस पूर्वाग्रह की उस घोर कूपमंडूक, १९वीं शताब्दी की साधारण पूंजीवादी बुद्धि के उस नीरस, पंडिताऊ, चमड़े की ज़बान वाले भविष्यवक्ता जेरेमी बेंथम ने सब से पहले जड़सिद्धांत के रूप में स्थापना की थी।[62] बेंथम का दार्शनिकों में वही स्थान है, जो कवियों में मार्टिन टपर का है। दोनों का निर्माण केवल इंगलैंड में ही संभव था।[63] बेंथम के जड़सिद्धांत के प्रकाश में

---

[62] उदाहरण के लिए, देखिये Jeremy Bentham, *Théorie des Peines et des Récompenses*, traduct. d' Et. Dumond, 3ème édit. Paris, 1826, t. II, l. IV, ch.II.

[63] बेंथम एक विशुद्ध अंग्रेज़ी चीज़ हैं। किसी काल में और किसी देश में किसी ने – यहां तक कि जर्मन दार्शनिक क्रिश्चियन वोल्फ़ भी इसके अपवाद नहीं हैं – ऐसी तुच्छ और साधारण बातें इतने घोर आत्मसंतोष और गर्व के साथ पेश नहीं की हैं। उपयोगिता का सिद्धांत बेंथम का आविष्कार नहीं था। हेलवेतियस तथा अन्य फ़्रांसीसियों ने जो बात १८वीं शताब्दी में इतने ओजपूर्ण ढंग से कही थी, उसे बेंथम ने अपने नीरस ढंग से दुहरा भर दिया है। कुत्ते के लिए क्या चीज़ उपयोगी है, इसका पता लगाने के लिए कुत्ते के स्वभाव का अध्ययन करना पड़ेगा। ख़ुद इस स्वभाव का उपयोगिता के सिद्धांत के आधार पर पता नहीं लगाया जा सकता। इसी बात को मनुष्य पर लागू करते हुए जो कोई समस्त मानव-कार्यों, गतियों, संबंधों, इत्यादि की उपयोगिता के सिद्धांत के ज़रिये आलोचना करना चाहता है, उसे पहले सामान्य मानव-स्वभाव का अध्ययन करना चाहिए और फिर यह देखना चाहिए कि प्रत्येक ऐतिहासिक युग में मानव-स्वभाव में क्या परिवर्तन हो जाते हैं। लेकिन बेंथम इस सारे क़िस्से को एकबारगी निपटा देते हैं। अत्यंत शुष्क भोलेपन के साथ वह आधुनिक दूकानदार को, ख़ास कर अंग्रेज़ दूकानदार को, सामान्य मानव मान लेते हैं। इस विचित्र ढंग के सामान्य मानव और उसके संसार के लिए जो कुछ उपयोगी है, वही निरपेक्ष रूप से सबके लिए उपयोगी है। और फिर बेंथम भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों को इस मापदंड से माप डालते हैं। उदाहरण के लिए, ईसाई धर्म "उपयोगी" है, क्योंकि वह धर्म के नाम पर ठीक उन्हीं बुराइयों पर रोक लगाता है, जिनपर दंड-संहिता ने क़ानून के नाम पर रोक लगा रखी है। इसके विपरीत कला की आलोचना "हानिकारक" है, क्योंकि वह भद्र जनों को मार्टिन टपर के काव्य का आनंद लेने से रोकती है और उसमें विघ्न डालती है, इत्यादि। और इस तरह की बकवास लिख-लिखकर इस बहादुर आदमी ने, जिसका मूल मंत्र यह है कि "बिना कुछ पंक्तियां लिखे कोई दिन नहीं जाना चाहिए", किताबों के पहाड़ खड़े

उत्पादन की प्रक्रिया की साधारणतम घटनाएं – मसलन, उसका यकायक फैल जाना और यकायक सिकुड़ जाना और यहां तक कि ख़ुद संचय भी – सर्वथा कल्पनातीत बातें बन जाती हैं[64]। ख़ुद बेंथम ने और माल्थस, जेम्स मिल, मैककुलोच, आदि ने भी इस जड़सिद्धांत का बचाव पक्ष जैसी दलील के रूप में और ख़ास तौर पर यह साबित करने के लिए प्रयोग किया था कि पूंजी का एक भाग, अर्थात् परिवर्ती भाग, या वह भाग, जो श्रम-शक्ति में परिणत कर दिया जाता है, एक स्थिर मात्रा होता है। इन लोगों ने यह क़िस्सा गढ़ रखा था कि परिवर्ती पूंजी की सामग्री, अर्थात् परिवर्ती पूंजी मज़दूर के लिए जीवन-निर्वाह के साधनों की जिस राशि का प्रतिनिधित्व करती है, वह, या तथाकथित श्रम-कोष, सामाजिक धन का एक बिल्कुल अलग भाग होती है, जिसके परिमाण को प्राकृतिक नियमों ने निर्धारित कर रखा है और जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। सामाजिक धन के जिस भाग को स्थिर पूंजी की भूमिका अदा करनी है, या इसी बात को यदि भौतिक रूप में व्यक्त किया जाये, तो जिस भाग को उत्पादन के साधनों की भूमिका अदा करनी है, उसे गतिमान बनाने के लिए जीवित श्रम की एक निश्चित राशि की आवश्यकता होती है। यह राशि कितनी बड़ी होगी, यह प्रौद्योगिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। परंतु न तो यह ही पहले से निश्चित होता है कि श्रम-शक्ति की इस राशि को प्रवाहमान बनाने के लिए कितने मज़दूरों की आवश्यकता होगी (यह संख्या हर अलग-अलग श्रम-शक्ति के शोषण की मात्रा के साथ बदलती रहती है) और न ही इस श्रम-शक्ति का दाम पहले से निश्चित होता है; केवल उसके दाम की अल्पतम सीमा पहले से निश्चित होती है, और उसमें भी बहुत परिवर्तन होता रहता है। इस जड़सिद्धांत की तह में जो तथ्य निहित हैं, वे इस प्रकार हैं: एक ओर तो सामाजिक धन का ग़ैरमज़दूरों के भोग के साधनों और उत्पादन के साधनों में जो विभाजन होता है, मज़दूर को उसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है।[65] दूसरी ओर, केवल बहुत अनुकूल और विशिष्ट परिस्थितियों में ही मज़दूर धनी की "आय" में कमी करके इस तथाकथित श्रम-कोष में वृद्धि कर सकता है।

कर दिये हैं। यदि मुझमें अपने मित्र हाइनरिख़ हाइने जैसी हिम्मत होती, तो मैं कहता कि मि० जेरेमी बुर्जुआ मूर्खता के महान प्रतिभाशाली उदाहरण हैं।

[64] "अर्थशास्त्री बहुधा यह समझते हैं कि पूंजी की एक ख़ास मात्रा और मज़दूरों की एक ख़ास संख्या सदा एक सी शक्ति के उत्पादक यंत्र होती हैं, या वे सदा एक ख़ास ढंग की एक सी तीव्रता के साथ काम करती हैं... जो यह मानते हैं... कि वस्तुएं उत्पादन के एकमात्र तत्त्व हैं... वे यह सिद्ध करते हैं कि उत्पादन को कभी बढ़ाया नहीं जा सकता, क्योंकि उसको बढ़ाने की एक अनिवार्य शर्त यह होती है कि खाद्य-पदार्थ, कच्चा माल और औज़ार पहले से बढ़ा दिये गये हों, जिसका अर्थ वस्तुतः यह होता है कि तब तक उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हो सकती, जब तक उसमें पहले भी वृद्धि न की जा चुकी हो; दूसरे शब्दों में, वृद्धि करना असंभव है।" (S. Bailey, *Money and its Vicissitudes*, pp. 58, 70.) बेली ने मुख्यतया परिचलन की क्रिया के दृष्टिकोण से बेंथम के जड़सिद्धांत की आलोचना की है।

[65] जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक *Principles of Political Economy* में कहा है: "श्रम के जो प्रकार सचमुच आदमी को थका देनेवाले और सचमुच अप्रिय होते हैं, उनके लिए अन्य प्रकारों की अपेक्षा अच्छी मज़दूरी नहीं, बल्कि प्रायः सदा ही सबसे कम मज़दूरी मिलती है... कोई धंधा जितना अरुचिकर होता है, उसकी उजरत निश्चित रूप से उतनी ही कम होती है... कष्ट और आय के बीच अनुलोम अनुपात नहीं होता, जैसा कि किसी भी न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था में होगा, बल्कि आम तौर पर उनके बीच प्रतिलोम अनु-

श्रम-कोष की पूंजीवादी सीमाओं को उसकी स्वाभाविक एवं सामाजिक सीमाओं के रूप में पेश करने पर कैसी मूर्खतापूर्ण पुनरुक्ति सामने आती है, यह प्रोफ़ेसर फ़ॉसेट के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है।[66] उन्होंने लिखा है: "किसी देश की प्रचल पूंजी उसका मज़दूरी का कोष होती है। इसलिए यदि हम इसका हिसाब लगाना चाहते हैं कि प्रत्येक मज़दूर को कितनी औसत नक़द मज़दूरी मिलेगी, तो हमें बस इतना ही करना है कि इस पूंजी की कुल रक़म को श्रमजीवी जनसंख्या से भाग दे दें।"[67] मतलब यह हुआ कि विभिन्न मज़दूरों को जो अलग-अलग मज़दूरियां सचमुच दी जाती हैं, पहले हम उन सबको जोड़ लेते हैं और फिर बताते हैं कि यह कुल रक़म "श्रम-कोष" के कुल मूल्य का प्रतिनिधित्व करती है, जिसे भगवान ने और प्रकृति ने निर्धारित करके हमें दे दिया है। और फिर अंत में हम इस रक़म को मज़दूरों की संख्या से भाग देकर यह पता लगा लेते हैं कि हर मज़दूर को कितनी औसत मज़दूरी मिलती है। बहुत ही धूर्ततापूर्ण झांसा है यह! पर इसके बाद एक ही सांस में मि० फ़ॉसेट को यह कहने में भी कोई कठिनाई नहीं हुई कि "इंगलैंड में हर वर्ष कुल जितना धन बचता है, वह दो भागों में बांट दिया जाता है। एक भाग हमारे उद्योगों को क़ायम रखने के लिए पूंजी की तरह इस्तेमाल होता है और दूसरे भाग का विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है... इस देश में हर साल जो धन बचता है, उसका केवल एक अंश ही हमारे अपने उद्योगों में लगाया जाता है, और संभवतः यह अंश बड़ा नहीं होता।"[68]

इस प्रकार हर वर्ष अंग्रेज़ मज़दूर से छल करके जो बढ़ता हुआ बेशी उत्पाद छीन लिया जाता है – क्योंकि उसके एवज़ में उसे कोई समतुल्य नहीं मिलता – वह इंगलैंड में नहीं, बल्कि विदेशों में पूंजी की तरह इस्तेमाल किया जाता है। परंतु इस तरह जो अतिरिक्त पूंजी विदेशों को भेज दी जाती है, उसके साथ-साथ भगवान तथा बेंथम द्वारा आविष्कृत "श्रम-कोष" का एक भाग भी विदेश चला जाता है।[69]

पात का संबंध होता है।" यहां ग़लतफ़हमी से बचने के लिए मैं यह भी कह दूं कि यद्यपि जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे व्यक्ति इस बात के दोषी हैं कि उनके परंपरागत आर्थिक सिद्धांतों और उनकी आधुनिक प्रवृत्तियों के बीच एक विरोध पाया जाता है, तथापि उनको पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की वकालत करनेवाले सतही अर्थशास्त्रियों के रेवड़ में शामिल कर देना बहुत ग़लत होगा।

[66] H. Fawcett, Professor of Political Economy at Cambridge, *The Economic Position of the British Labourer*, London, 1865, p. 120.

[67] मैं यहां पाठक को यह याद दिला दूं कि "परिवर्ती पूंजी" और "स्थिर पूंजी" की परिकल्पनाओं का सबसे पहले मैंने प्रयोग किया था। इन परिकल्पनाओं के बीच जो मौलिक अंतर है, उसे राजनीतिक अर्थशास्त्र ने ऐडम स्मिथ के समय से ही उस औपचारिक अंतर के साथ गड्डमड्ड कर रखा है, जो स्थायी पूंजी और प्रचल पूंजी के बीच पाया जाता है और जो परिचलन की प्रक्रिया में उत्पन्न होता है। इस विषय की और विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए देखिये दूसरी पुस्तक का भाग २।

[68] H. Fawcett, l. c., pp. 122, 123.

[69] कहा जा सकता है कि इंगलैंड से हर वर्ष न केवल पूंजी का, बल्कि उत्प्रवासियों के रूप में मज़दूरों का भी विदेशों को निर्यात होता है। किंतु ऊपर पाठ में बात उत्प्रवासियों की निजी संपत्ति की नहीं चल रही है, क्योंकि उत्प्रवासियों में से अधिकतर मज़दूर नहीं होते। उनका अधिकांश तो काश्तकारों के बेटों का होता है। हर वर्ष विदेश जानेवाले लोगों की संख्या का देश की जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि के साथ जो अनुपात होता है, उसकी तुलना में हर वर्ष जो अतिरिक्त पूंजी ब्याज पर उठायी जाने के लिए विदेशों को भेज दी जाती है, उसका वार्षिक संचय के साथ कहीं अधिक ऊंचा अनुपात होता है।

अध्याय २५

पूंजीवादी संचय का सामान्य नियम

अनुभाग १ – पूंजी की संरचना के ज्यों की त्यों रहते हुए संचय के साथ-साथ श्रम-शक्ति की मांग का बढ़ जाना

इस अध्याय में हम इस विषय पर विचार करते हैं कि पूंजी की वृद्धि का श्रमजीवी वर्ग की अवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस अन्वेषण का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व पूंजी की संरचना और उसमें संचय की प्रक्रिया के दौरान होनेवाले परिवर्तन हैं।

पूंजी की संरचना के दो अर्थ लगाये जा सकते हैं। यदि मूल्य के पक्ष को लिया जाये, तो पूंजी की संरचना इस बात से निर्धारित होती है कि वह स्थिर पूंजी – अथवा उत्पादन के साधनों के मूल्य – और परिवर्ती पूंजी – अथवा श्रम-शक्ति के मूल्य या मजदूरी की कुल रक़म – के बीच किस अनुपात में बंटी हुई है। यदि पूंजी की सामग्री के पक्ष को लिया जाये और उसपर इस दृष्टि से विचार किया जाये कि उत्पादन की प्रक्रिया में उसकी क्या भूमिका है, तो सारी पूंजी उत्पादन के साधनों और जीवित श्रम-शक्ति में बंटी रहती है। इस दृष्टि से पूंजी की संरचना इस बात से निर्धारित होती है कि एक तरफ़ तो उत्पादन के जो तमाम साधन इस्तेमाल किये जा रहे हैं, उनकी कुल राशि और दूसरी तरफ़, इन साधनों को इस्तेमाल करने के लिए जितना श्रम आवश्यक होता है, उसकी राशि के बीच क्या संबंध है। पले प्रकार की संरचना को मैंने पूंजी की मूल्य-संरचना और दूसरे प्रकार की संरचना को पूंजी की प्राविधिक संरचना का नाम दिया है। दोनों के बीच एक कड़ा सह-संबंध होता है। इस सह-संबंध को व्यक्त करने के लिए मैं पूंजी की मूल्य-संरचना को, जिस हद तक कि वह पूंजी की प्राविधिक संरचना से निर्धारित होती है और उसके परिवर्तन को प्रतिबिंबित करती है, पूंजी की आंगिक संरचना कहता हूं। जब कभी मैं बिना किसी और विशेषण के केवल पूंजी की संरचना का ज़िक्र करता हूं, तब मेरा मतलब सदा आंगिक संरचना से होता है।

उत्पादन की किसी ख़ास शाखा में जो बहुत सी अलग-अलग पूंजियां लगायी जाती हैं, उनकी न्यूनाधिक रूप में एक दूसरी से भिन्न प्रकार की संरचना होती है। उनकी अलग-अलग प्रकार की संरचनाओं का औसत निकालने पर हमें पता चलता है कि उत्पादन की इस शाखा में जो कुल पूंजी लगी हुई है, उसकी संरचना क्या है। अंतिम बात यह है कि उत्पादन की तमाम शाखाओं की औसत संरचनाओं का औसत निकालने पर हमें यह मालूम हो जाता है कि किसी देश की कुल सामाजिक पूंजी की संरचना क्या है; और आगे के अन्वेषण में हम अंत में जाकर केवल इसी संरचना पर विचार करेंगे।

पूंजी की वृद्धि के साथ-साथ उसके परिवर्ती अंश में – या श्रम-शक्ति पर ख़र्च किये गये भाग में – भी वृद्धि होती है। जो बेशी मूल्य अतिरिक्त पूंजी में बदल दिया गया है, उसके एक भाग को सदा अनिवार्य रूप से परिवर्ती पूंजी में, या अतिरिक्त श्रम-कोष में, पुनः रूपांतरित करना

होता है। यदि हम यह मान लें कि अन्य बातों के ज्यों की त्यों रहते हुए पूंजी की संरचना भी ज्यों की त्यों रहती है (अर्थात् उत्पादन के साधनों की एक ख़ास मात्रा को गतिमान बनाने के लिए श्रम-शक्ति की सदा एक सी मात्रा की आवश्यकता होती है), तब यह स्पष्ट है कि श्रम की मांग और मजदूरों के जीवन-निर्वाह-कोष की मांग उसी अनुपात में बढ़ती जायेगी, जिस अनुपात में पूंजी बढ़ती है, और जितनी तेज़ी से पूंजी बढ़ेगी, उतनी तेज़ी से वह भी बढ़ती जायेगी। चूंकि पूंजी हर साल कुछ बेशी मूल्य पैदा करती है, जिसका एक भाग हर साल मूल पूंजी में जुड़ जाता है; चूंकि कार्यरत पूंजी का परिमाण बढ़ने के साथ-साथ ख़ुद इस वृद्धि की मात्रा में भी हर साल वृद्धि होती जाती है और अंत में चूंकि धनी बनने के किसी विशेष उत्साह से प्रेरित होकर, जैसे नयी मंडियों के खुलने पर या नव-विकसित सामाजिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप पूंजी लगाने के नये क्षेत्र तैयार हो जाने पर, आदि कभी-कभी केवल बेशी मूल्य या बेशी उत्पाद के पूंजी तथा आय के बीच विभाजन के अनुपात में परिवर्तन करके ही यकायक संचय के पैमाने का विस्तार कर दिया जाता है, तो यह मुमकिन है कि पूंजी के संचय की आवश्यकताएं श्रम-शक्ति की या मजदूरों की संख्या की वृद्धि से आगे निकल जायें, मजदूरों की मांग पूर्ति से ज्यादा हो जाये और इसलिए मजदूरी चढ़ जाये। बल्कि असल में तो यह होना अनिवार्य है, बशर्ते कि ऊपर हमने जिन बातों को मान लिया था, वे ज्यों की त्यों रहें। कारण कि हर वर्ष चूंकि पिछले वर्ष की अपेक्षा अधिक मजदूर रखे जाते हैं, इसलिए देर या सबेर एक ऐसी अवस्था का आना अनिवार्य है, जब संचय की आवश्यकताएं श्रम की प्रचलित पूर्ति से आगे निकलना आरंभ करती हैं और इसलिए जब मजदूरी ऊपर चढ़ जाती है। इस बात को लेकर इंगलैंड में १५ वीं सदी में बराबर और १८ वीं सदी के पहले पचास वर्षों में बड़ी चीख़-पुकार हुई थी। मजदूरी पर काम करनेवाला वर्ग जिन न्यूनाधिक अनुकूल परिस्थितियों में अपना भरण-पोषण तथा पुनरुत्पादन करता है, उनसे पूंजीवादी उत्पादन के मौलिक स्वरूप में कोई फ़र्क़ नहीं आता। जिस तरह साधारण पुनरुत्पादन स्वयं पूंजी के संबंध का – अर्थात् एक ओर, पूंजीपतियों और दूसरी ओर, मजदूरी पर काम करनेवालों के संबंध का – भी लगातार पुनरुत्पादन करता रहता है, उसी तरह उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने का पुनरुत्पादन, अथवा संचय, पूंजी के संबंध का उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन करता है, और एक छोर पर अधिकाधिक बड़ी संख्या में या अधिकाधिक बड़े आकार के पूंजीपति पैदा होते जाते हैं और दूसरे छोर पर मजदूरों की संख्या बढ़ती जाती है। ऐसी श्रम-शक्ति का पुनरुत्पादन, जिसके लिए अनिवार्य हो कि वह पूंजी के आत्मविस्तार के हित में उस पूंजी के साथ हर बार अपना पुनः समावेशन करती जाये, जिसके लिए पूंजी से मुक्ति पाना संभव न हो और जिसकी दासता पर केवल इस बात का आवरण पड़ा हो कि उसको बहुत से अलग-अलग पूंजीपतियों के हाथ अपने को बेचना पड़ता है, – ऐसी श्रम-शक्ति का पुनरुत्पादन वास्तव में स्वयं पूंजी के पुनरुत्पादन का एक आवश्यक अंग होता है। अतएव पूंजी का संचय सर्वहारा की वृद्धि है।[70]

---

[70] Karl Marx, *Lohnarbeit und Kapital.* "यदि जनता के उत्पीड़न की मात्रा ज्यों की त्यों रहती है, तो सर्वहारा की संख्या जितनी अधिक होगी, देश उतना ही अधिक धनी होगा।" (Colins, *L'Économie Politique, Source des Révolutions et des Utopies prétendues socialistes,* Paris, 1857, III, p. 331.) हमारा "सर्वहारा" आर्थिक दृष्टि से मजदूरी पर काम करनेवाले उस मजदूर के सिवा और कोई नहीं है, जो पूंजी को पैदा करता है और उसमें वृद्धि करता है और जिसको जब वह, पेक्योर के शब्दों में, "श्रीमान पूंजी" के आत्म-विस्तार की जरूरतों के लिए अनावश्यक हो जाता है, तो तुरंत उठाकर सड़कों पर फेंक दिया

क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र ने इस तथ्य को ऐसी अच्छी तरह से समझा था कि, जैसा कि हम ऊपर भी बता चुके हैं, ऐडम स्मिथ, रिकार्डो, आदि संचय को और उत्पादक मजदूरों द्वारा बेशी उत्पाद के समस्त पूंजीकृत भाग के उपभोग को, या उसके अतिरिक्त मज़दूरों में रूपांतरित कर दिये जाने को, गलती से एक ही चीज़ समझ बैठे थे। जॉन बैलेर्स ने १६९६ में ही यह कहा था कि "यदि किसी के पास एक लाख एकड़ ज़मीन और एक लाख पाउंड द्रव्य तथा एक लाख ढोर हों, पर मज़दूर एक भी न हो, तो यह धनी व्यक्ति मज़दूर के सिवा और क्या हो सकता है? और चूंकि मज़दूरों के कारण ही आदमी धनी बनता है, इसलिए मज़दूर संख्या में जितने अधिक होंगे, धनी आदमियों की संख्या भी उतनी ही बढ़ जायेगी... ग़रीबों का श्रम धनियों की खानों का काम करता है।"[71] इसी प्रकार बेर्नार दे मैंदेवील ने भी १८वीं शताब्दी के आरंभ में यह लिखा था कि "जहां संपत्ति भली भांति सुरक्षित है, वहां ग़रीबों के बिना जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा मुद्रा के बिना जीवन व्यतीत करना ज्यादा आसान होगा, क्योंकि ग़रीब न होंगे, तो काम कौन करेगा?.. जिस प्रकार उनको [ग़रीबों को] भूखों नहीं मरने देना चाहिए, उसी प्रकार उनको इतना अधिक भी नहीं दिया जाना चाहिए कि वे कुछ बचा सकें। यदि निम्नतम वर्ग का कोई व्यक्ति कभी-कभार असाधारण परिश्रम करके और अपना पेट काटकर उस अवस्था से ऊपर उठने में कामयाब हो जाये, जिसमें वह पला था, तो उसके रास्ते में किसी को रुकावट नहीं डालनी चाहिए; नहीं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक परिवार के लिए सबसे अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण मार्ग यही है कि वह मितव्ययिता से काम ले; परंतु सभी धनी राष्ट्रों का हित इस बात में है कि ग़रीबों का अधिकतर भाग लगभग कभी भी ख़ाली हाथ न बैठने पाये और फिर भी जो कुछ उसे मिले, उसे लगातार ख़र्च करता जाये... जो लोग रोज़ाना श्रम करके अपनी जीविका कमाते हैं... उनको काम करने की प्रेरणा केवल अपने अभाव से ही मिलती है, जिसको कुछ कम कर देना तो दूरदर्शिता है, पर बिल्कुल दूर कर देना सरासर मूर्खता है। इसलिए एक ही चीज़ है, जो श्रम करनेवाले आदमी को मेहनती बना सकती है, और वह है मुद्रा की एक परिमित मात्रा। कारण कि उसे यदि बहुत कम मात्रा में मुद्रा दी गयी, तो अपने स्वभाव के अनुसार वह या तो हतोत्साहित हो जायेगा, या विद्रोह कर उठेगा, और यदि उसे बहुत अधिक मुद्रा दे दी गयी, तो वह और काहिल बन जायेगा... ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह बात स्पष्ट है कि किसी भी ऐसे स्वतंत्र राष्ट्र में, जहां दास रखने की इजाज़त नहीं है, सबसे अधिक सुनिश्चित

जाता है। "आदिम जंगल का मरियल सर्वहारा" रोशर की एक सुंदर कल्पना है। आदिम जंगलवासी आदिम जंगल का मालिक होता है, और वह जंगल का अपनी संपत्ति के रूप में उसी आज़ादी के साथ इस्तेमाल करता है, जिस आज़ादी के साथ बनमानुस उसका इस्तेमाल करता है। इसलिए उसे सर्वहारा कहना उचित नहीं है। उसे सर्वहारा उसी हालत में कहा जा सकता है, जब वह जंगल का शोषण न करता हो, बल्कि उल्टे जंगल उसका शोषण करता हो। जहां तक उसके स्वास्थ्य का संबंध है, उसकी स्थिति न केवल आधुनिक सर्वहारा से बेहतर होती है, बल्कि उपदंश और कंठमाला से रुग्ण ऊपरी वर्गों से भी बेहतर होती है। लेकिन ज़ाहिर है कि जब श्री विल्हेल्म रोशर "आदिम जंगल" की चर्चा करते हैं, तब उनका मतलब असल में केवल लूनेबुर्ग की अपनी वनभूमि से होता है।

[71] John Bellers, *Proposals for raising a College of Industry*, London, 1696, p. 2.

प्रकार का धन मेहनती ग़रीबों की विशाल संख्या के रूप में होता है। कारण कि एक तो वे समुद्री बेड़ों और सेनाओं के लिए अक्षय भंडार का काम करते हैं और दूसरे, उनके बिना न तो किसी प्रकार का भोग-विलास हो सकता है और न ही किसी देश की पैदावार मूल्यवान हो सकती है। समाज को" (जिसका अर्थ, ज़ाहिर है, काम न करनेवाले लोग ही हैं) "सुखी बनाने के लिए और जनता को बुरी से बुरी हालत में भी संतुष्ट रखने के लिए ज़रूरी है कि उसकी बड़ी संख्या को ग़रीबी के साथ-साथ जहालत में भी रखा जाये। ज्ञान हमारी इच्छाओं के आकार और संख्या दोनों में वृद्धि कर देता है, और आदमी जितनी कम वस्तुओं की इच्छा करता है, उसकी आवश्यकताओं को उतनी ही आसानी से पूरा किया जा सकता है।"[72] मैंदेवील एक ईमानदार व्यक्ति थे, और उनका दिमाग़ साफ़ था। पर इस समय तक वह यह नहीं समझ पाये थे कि संचय की प्रक्रिया का यंत्र स्वयं पूंजी के साथ-साथ "मेहनती ग़रीबों" की संख्या में, अर्थात् उन उजरती मज़दूरों की संख्या में भी वृद्धि करता जाता है, जो अपनी श्रम-शक्ति को बढ़ती हुई पूंजी की आत्मविस्तार करने की बढ़ती हुई शक्ति में परिणत कर डालते हैं और जो इसके फलस्वरूप ख़ुद अपनी पैदावार के साथ, जिसका मूर्त रूप पूंजीपति होते हैं, अपने अधीनता के संबंध को अजर-अमर बना देते हैं। अधीनता के इस संबंध की चर्चा करते हुए सर एफ़० एम० ईडन ने अपनी रचना *The State of the Poor: or an History of the Labouring Classes in England* में कहा है कि "हमारी धरती की प्राकृतिक उपज निश्चय ही हमारे जीवन-निर्वाह के लिए पूरी तरह पर्याप्त नहीं है। हमें न तो पहनने को कपड़े मिल सकते हैं, न रहने को घर मिल सकते हैं और न ही खाने को भोजन मिल सकता है, जब तक कि अतीत में श्रम न किया गया हो। समाज के कम से कम एक भाग को तो निरंतर काम में लगाये रखना चाहिए... कुछ और लोग हैं, जो हालांकि 'न तो मेहनत और न कताई करते हैं', फिर भी उद्योग की उपज के मालिक होते हैं। इन लोगों को केवल सभ्यता और व्यवस्था के कारण ही मेहनत करने से छुटकारा मिला हुआ है... ये लोग विशिष्ट रूप से नागरिक संस्थाओं की सृष्टि होते हैं,[73] जिन्होंने यह सिद्धांत मान रखा है कि विभिन्न व्यक्ति श्रम करने के अलावा कुछ अन्य उपायों से भी संपत्ति प्राप्त कर सकते हैं...जिन व्यक्तियों के पास स्वतंत्र आय के साधन हैं... उनको यह विशेष सुविधा किसी भी तरह अपने ही किसी गुण की बदौलत नहीं प्राप्त हुई है, बल्कि वह लगभग पूर्णतया... दूसरों के परिश्रम

---

[72] Bernard de Mandeville, *The Fable of the Bees*, 5th Ed., London, 1728, Remarks, pp. 212, 213, 328. "संयत जीवन व्यतीत करना और हमेशा काम में जुटे रहना ग़रीबों के लिए विवेकसंगत सुख का" (जिससे लेखक का, बहुत संभव है, यही अर्थ है कि काम के दिन बहुत लंबे हों और बहुत कम खाने-पहनने को मिले) "और राज्य के लिए" (अर्थात् जमींदारों, पूंजीपतियों और उनके राजनीतिक पदाधिकारियों तथा अभिकर्ताओं के लिए) "समृद्धि और शक्ति का प्रत्यक्ष मार्ग है।" (*An Essay on Trade and Commerce*, London, 1770, p. 54.)

[73] यहां पर ईडन को ख़ुद अपने से यह प्रश्न करना चाहिए था कि फिर ये "नागरिक संस्थाएं" किसकी सृष्टि हैं? उनका दृष्टिकोण क़ानूनी भ्रम का दृष्टिकोण है। इसलिए वह क़ानून को उत्पादन के भौतिक संबंधों की उपज नहीं मानते, बल्कि इसके विपरीत उत्पादन के संबंधों को क़ानून की उपज मानते हैं। मोंतेस्क्यू की भ्रांतिमूलक "*Esprit des lois*" ["क़ानून की आत्मा"] को लेंगे ने एक वाक्य से पराजित कर दिया था। उसने कहा था: "L'esprit des lois, c'est la propriété" ["क़ानून की आत्मा तो संपत्ति है"]।

से उनको मिली है। समाज के संपन्न भाग और श्रमजीवी भाग के बीच जो विशेष अंतर पाया जाता है, वह यह नहीं है कि संपन्न भाग भूमि या द्रव्य का स्वामी होता है, बल्कि यह है कि उसे दूसरों से श्रम कराने का अधिकार प्राप्त होता है... यह योजना [ईडन द्वारा अनुमोदित योजना] संपत्तिवान व्यक्तियों का उन लोगों पर, जो... उनके लिए काम करते हैं, पर्याप्त प्रभाव और अधिकार क़ायम कर देगी (परंतु वह बहुत ज़्यादा अधिकार उनको हरगिज़ नहीं देगी), और यह योजना मज़दूरों को बिल्कुल दयनीय या दास नहीं बना देगी, बल्कि उनको ऐसी सहज एवं उदार अधीनता की स्थिति में रखेगी, जो जैसा कि मानव-स्वभाव और उसके इतिहास का ज्ञान रखनेवाले सभी लोग मानेंगे, उनके अपने सुख के लिए आवश्यक है।"[74] यहां चलते-चलते यह भी कह दिया जाये कि ऐडम स्मिथ के १८ वीं सदी के शिष्यों में से एक सर एफ़० एम० ईडन ही ऐसे हैं, जिन्होंने कोई महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है।[75]

---

[74] Eden, *The State of the Poor: or an History of the Labouring Classes in England*, Vol. I, Bk.I, Ch.I, pp.1,2 Preface, p. XX.

[75] यदि पाठक इस बात पर मुझे माल्थस की याद दिलायेंगे, जिनकी रचना *Essay on Population* १७९८ में प्रकाशित हो गयी थी, तो मैं उनको यह याद दिलाऊंगा कि यह पुस्तिका अपनी पहली शक्ल में डेफ़ो, सर जेम्स स्टुअर्ट, टाउनसेंड, फ़्रैंकलिन, वालेस, आदि की स्कूली लड़कों जैसी, बहुत सतही ढंग की नक़ल के सिवा और कुछ नहीं है और उसमें एक भी ऐसा वाक्य नहीं है, जो माल्थस के दिमाग़ की उपज हो। इस पुस्तिका के प्रकाशन से जो सनसनी पैदा हुई थी, उसका एकमात्र कारण दलगत स्वार्थ थे। ब्रिटेन में अनेक व्यक्तियों ने बड़े जोश के साथ फ़्रांसीसी क्रांति का समर्थन किया था। इसलिए जब १८ वीं सदी में धीरे-धीरे "जनसंख्या के सिद्धांत" को विकसित किया गया और उसके बाद जब एक सामाजिक संकट के काल में ढोल पीटकर और तुरही बजाकर यह घोषणा की गयी कि यह सिद्धांत कोंदोर्से, आदि की सीख के ज़हर को मारने के लिए एक अचूक दवा का काम करता है, तो अंग्रेज अभिजात तंत्र ने उसका मानव-विकास की समस्त आकांक्षाओं को नष्ट कर देनेवाली एक महान शक्ति के रूप में विजयोल्लास के साथ स्वागत किया। माल्थस को अपनी सफलता पर बहुत आश्चर्य हुआ, और वह झट से अपनी पुस्तक में सतही ढंग से एकत्रित की गयी सामग्री ठूंसने और नया मसाला भरने में जुट गये, जिसको उन्होंने खोजकर नहीं निकाला था, बल्कि दूसरों की पुस्तकों से उठा लिया था। इसके अलावा यह बात भी याद रखनी चाहिए कि यद्यपि माल्थस इंगलैंड के राजकीय चर्च के पादरी थे, फिर भी उन्होंने ब्रह्मचारी का जीवन बिताने की प्रतिज्ञा कर रखी थी: कैंब्रिज के प्रोटेस्टेंट विश्वविद्यालय का फ़ैलो होने के लिए यह एक ज़रूरी शर्त थी। "हम अपने कालिजों में विवाहित लोगों को फ़ैलो नहीं होने देते। यदि कोई फ़ैलो विवाह कर लेता है, तो वह फ़ैलो नहीं रहता।" (*Reports of Cambridge University Commission*, p. 172.) इस बात में माल्थस अन्य प्रोटेस्टेंट पादरियों से श्रेष्ठ हैं, जिन्होंने पादरियों के ब्रह्मचारी रहने के नियम को उठाकर ताक़ पर रख दिया है और यही अपना विशिष्ट बाइबली मिशन समझा है कि "उपजाऊ बनो और नस्ल को बढ़ाओ"। वे इस उत्साह के साथ इस कर्तव्य का पालन कर रहे हैं कि जनसंख्या की वृद्धि में उनका योगदान अशोभनीय सीमा तक पहुंच गया है। इसके साथ-साथ वे मज़दूरों को "जनसंख्या के सिद्धांत" के उपदेश सुनाते रहते हैं। यह बात काफ़ी अर्थ रखती है कि मनुष्य का आर्थिक पतन, आदिपुरुष आदम का यह सेब, यह "उग्र भूख" और, जैसा कि पादरी टाउनसेंड ने हास्यपूर्ण ढंग से कहा है, "वे प्रतिबंध, जो कामदेव के बाणों को कुंठित कर देते हैं" – इस नाज़ुक सवाल पर प्रोटेस्टेंट धर्मशास्त्र के – या कहना चाहिए, प्रोटेस्टेंट चर्च के – पादरियों ने अपना एकाधिकार जमा रखा है। एक वेनिसवासी ईसाई साधु ओर्तेस को छोड़कर, जो एक मौलिक एवं चतुर लेखक हैं, "जनसंख्या के सिद्धांत" के अधिकतर प्रचारक प्रोटेस्टेंट पादरी हैं। उदाहरण के लिए, ब्रुकनर की रचना *Théorie du Sys-*

संचय की जिन परिस्थितियों को हम अभी तक मानकर चल रहे थे, वे मजदूरों के लिए सबसे अधिक अनुकूल परिस्थितियां हैं। उनके रहते हुए मजदूरों का पूंजी के साथ अधीनता का जो संबंध होता है, वह सहनीय रूप, या, ईडन के शब्दों में "सहज और उदार" रूप, धारण

---

tème animal, Leyde, 1767 देखिये, जिसमें जनसंख्या के आधुनिक सिद्धांत के पूरे विषय का अत्यंत विस्तार के साथ विवेचन किया गया है और जिसमें इस विषय से संबंधित विचार केने तथा उनके शिष्य, ज्येष्ठ मिराबो के बीच अस्थायी विवाद से उधार लिये गये हैं। उसके बाद, यदि उस धारा के कम महत्त्वपूर्ण पादरी लेखकों की चर्चा न भी की जाये, तो भी पादरी वालेस, पादरी टाउनसेंड, पादरी माल्थस और उनके शिष्य, महापादरी टॉमस चामर्स का नाम लेना अत्यंत आवश्यक है। पहले अर्थशास्त्र का अध्ययन किया करते थे हॉब्स, लॉक और ह्यूम जैसे दार्शनिक, टॉमस मोर, टैम्पुल, सुली, दे विट, नॉर्थ, लॉ, वैंडरलिन्ट, कैंतिलों और फ्रैंकलिन जैसे व्यवसायी तथा राजनीतिज्ञ और इस क्षेत्र में विशेष सफलता पानेवाले पैटी, बार्बोन, मैंडेवील और केने जैसे डाक्टर। यहां तक कि १८वीं सदी के मध्य में भी अपने काल के प्रमुख अर्थशास्त्री, पादरी मि० टकर ने धन-देवता के क्षेत्र में टांग अड़ाने के लिए क्षमा-याचना की थी। बाद को, और सच पूछिये, तो जनसंख्या के इस सिद्धांत के सामने आने के साथ-साथ, प्रोटेस्टेंट पादरियों के लिए अपने जौहर दिखाने की घड़ी आ पहुंची। पैटी जनसंख्या को धन का आधार समझते थे और ऐडम स्मिथ की तरह वह भी पादरियों का विरोध करने में कभी नहीं हिचकिचाते थे। उन्होंने जो कुछ लिखा है, उससे ऐसा लगता है, जैसे उनको पहले से ही यह अंदेशा था कि पादरी लोग उनके क्षेत्र में अनाड़ियों की तरह टांग अड़ायेंगे। उन्होंने कहा है कि "धर्म सबसे अधिक उस समय फलता-फूलता है, जब पादरी लोग सबसे अधिक दबे रहते हैं, जैसा कि कभी क़ानून के बारे में कहा गया था कि वह उस वक़्त सबसे ज्यादा पनपता है, जब वकीलों के करने के लिए कम से कम काम होता है।" इसलिए पैटी ने पादरियों को सलाह दी है कि यदि उन्होंने एक बार सदा के लिए संत पॉल का अनुसरण न करने और ब्रह्मचर्य का कष्ट न उठाने का निश्चय कर लिया है, तो उन्हें कम से कम इतना तो ख्याल करना चाहिए कि "देश में जितने पादरियों का गुजारा हो सकता है, उससे ज्यादा पादरी न पैदा हो जायें, यानी यदि इंगलैंड और वेल्स में १२ हजार पादरियों के लिए स्थान है, तो पाल-पोसकर २४,००० पादरी तैयार कर देना ख़तरे से ख़ाली नहीं है, क्योंकि तब १२ हजार की जीविका का कोई प्रबंध न होगा और उनको किसी न किसी ढंग से जीविका कमाने की फ़िक्र पड़ जायेगी, और उसका सबसे आसान तरीक़ा उनको यही दिखायी देगा कि जनता को यह समझाने की कोशिश करें कि जीविका कमा पानेवाले वे १२ हजार पादरी लोगों की आत्माओं में विष घोल रहे हैं या उनको आध्यात्मिक दृष्टि से भूखा मार रहे हैं और उनको स्वर्ग का मार्ग दिखाने के बजाय गुमराह कर रहे हैं।" (Petty, *A Treatise of Taxes and Contributions*, London, 1667, p. 57.) अपने काल के प्रोटेस्टेंट पादरियों के बारे में ऐडम स्मिथ की राय निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। नोरविच के बिशप डा० होर्न ने *A Letter to A. Smith, L. L. D. On the Life, Death, and Philosophy of his Friend, David Hume. By one of the People called Christians* (4th Ed., Oxford, 1784) में ऐडम स्मिथ को इस बात के लिए फटकारा है कि उन्होंने मि० स्ट्रैहेन के नाम प्रकाशित एक पत्र में "अपने मित्र डेविड" (अर्थात् ह्यूम) "की स्मृति को अमर बना दिया था" और दुनिया को बताया था कि किस प्रकार "मृत्युशय्या पर भी ह्यूम लुसियन की रचनाएं पढ़कर और ताश खेलकर अपना दिल बहलाया करते थे", और उन्होंने ह्यूम के बारे में यह तक लिखने की भी जुरअत की थी कि "मैंने उनके जीवन-काल में तथा उनकी मृत्यु के बाद सदा यह समझा है कि मानव-दुर्बलताओं के स्वरूप को देखते हुए जहां तक संभव हो सकता है, ह्यूम एक पूर्णतया बुद्धिमान एवं सदाचारी मनुष्य की परिकल्पना के मूर्त रूप थे।" बिशप महोदय आगबबूला होकर चिल्ला उठते हैं: "श्रीमान, आपने क्या यह सही काम किया है कि एक

कर लेता है। पूंजी के विकास के साथ-साथ अधिकाधिक उग्र रूप धारण करने के बजाय इन परिस्थितियों में पराधीनता का यह संबंध केवल अधिक विस्तार प्राप्त कर लेता है, अर्थात् पूंजी के शोषण और शासन का क्षेत्र स्वयं पूंजी के आकार तथा उसकी प्रजा की संख्या के बढ़ने के साथ-साथ केवल विस्तार में ही बढ़ता है। पूंजी के प्रजाजनों का बेशी उत्पाद बराबर बढ़ता जाता है और लगातार अतिरिक्त पूंजी में रूपांतरित होता रहता है। उसका एक अपेक्षाकृत बड़ा भाग भुगतान के साधनों की शक्ल में ख़ुद उन्हीं के पास लौट आता है, जिससे वे अपने भोग और आनंद के क्षेत्र का विस्तार कर सकते हैं, कपड़ों, फ़र्नीचर, आदि के अपने उपभोग-कोष में कुछ वृद्धि कर सकते हैं और कुछ मुद्रा आरक्षित कोष के रूप में बचा सकते हैं। परंतु जिस प्रकार यदि दास को पहले से कुछ अच्छा कपड़ा, भोजन, आदि मिलने लगता है और उसके साथ मालिक के बरताव में कुछ सुधार हो जाता है तथा उसके पास कुछ अधिक संपत्ति हो जाती है, तो उससे दास का शोषण समाप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार इन बातों से मज़दूर का शोषण ख़त्म नहीं होता। पूंजी के संचय के फलस्वरूप श्रम के दाम में जो वृद्धि हो जाती है, उसका असल में केवल इतना ही मतलब होता है कि मज़दूर ने अपने लिए सोने की जो जंजीर गढ़कर तैयार की है, उसकी लंबाई तथा वज़न इतना अधिक बढ़ गये हैं कि अब उसको पहले जितना कसकर बांधने की ज़रूरत नहीं है। इस विषय पर जितना वाद-विवाद हुआ है, उसमें मुख्य तथ्य यानी पूंजीवादी उत्पादन का differentia specifica [वह विशिष्ट गुण, जो उसे अन्य उत्पादन-व्यवस्थाओं से अलग करता है] प्रायः अनदेखा कर दिया गया है। आजकल श्रम-शक्ति इस उद्देश्य से नहीं बेची जाती कि वह अपनी सेवा अथवा अपनी

ऐसे व्यक्ति के चरित्र तथा आचरण को 'पूर्णतया बुद्धिमान एवं सदाचारी' व्यक्ति के चरित्र एवं आचरण के रूप में हमारे सामने पेश किया है, जिसको उन तमाम बातों से चिढ़ थी, जिनको हम धर्म कहते हैं, जिसमें इस चिढ़ ने एक असाध्य रोग का रूप धारण कर लिया था, और जिसने मनुष्यों के हृदय में धर्म की भावना को दबाने, कुचलने और जड़ से मिटा देने के लिए अपनी एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया था, और जिसका यदि बस चलता, तो लोग धर्म का नाम तक भूल जाते?" (l. c., p. 8.) "परंतु सत्य के प्रेमियों को हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। अनीश्वरवाद बहुत दिनों तक ज़िंदा नहीं रह सकता।" (l. c., p. 17.) ऐडम स्मिथ "के मन में इतना घोर पाप भरा हुआ था कि उन्होंने सारे देश में अनीश्वरवाद का प्रचार किया" (मिसाल के लिए, उनके *Theory of moral sentiments* का उल्लेख किया जा सकता है)। "मोटे तौर पर डाक्टर, आपका उद्देश्य अच्छा है, परंतु मैं समझता हूं, इस बार आपको सफलता नहीं मिलेगी। आप श्री डेविड ह्यूम का उदाहरण देकर हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि निराशा की एकमात्र दवा और मृत्यु-भय का सही इलाज अनीश्वरवाद है... आप बाबुल के ध्वंसावशेषों को देखकर मुसकरा सकते हैं और संगदिल फ़राऊन को लाल सागर तक पहुंचने के लिए बधाई दे सकते हैं।" (l. c., pp. 21, 22.) ऐडम स्मिथ के कालिज के दिनों के एक परंपरानिष्ठ मित्र ने उनकी मृत्यु के बाद लिखा है: "स्मिथ के हृदय में ह्यूम के लिए उचित ही बड़ा स्नेह था... और इस स्नेह ने उनको ईसाई नहीं रहने दिया... ऐडम स्मिथ जब कभी ऐसे ईमानदार व्यक्तियों से मिलते थे, जो उनको अच्छे लगते थे... तो वे लगभग जो कुछ भी कहते थे, वह उसपर तुरंत विश्वास कर लेते थे। यदि वह सुयोग्य एवं चतुर होरोक्स के मित्र होते, तो वह इस बात पर भी विश्वास कर लेते कि आकाश में मेघों का एक टुकड़ा न होने पर भी चंद्रमा कभी-कभी आंखों से ओझल हो जाता है... अपने राजनीतिक सिद्धांतों में वह गणतंत्रवाद के निकट पहुंच गये थे।" (*The Bee*. By James Anderson, 18 Vols., Vol. 3, Edinburgh, 1791-1793, pp. 166, 165.) पादरी टॉमस चामर्स को संदेह है कि ऐडम

पैदावार के द्वारा ख़रीदार की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करेगी। ख़रीदार का उद्देश्य तो अपनी पूंजी में वृद्धि करना होता है; उसका उद्देश्य ऐसे पण्यों का उत्पादन करना होता है, जिनमें जितने श्रम के उसने दाम दिये हैं, उससे ज्यादा श्रम लगा हो और इसलिए जिनके मूल्य में एक ऐसा भाग हो, जिसके एवज़ में उसको कुछ भी न देना पड़ा हो और जो फिर भी पण्यों की बिक्री होने पर उसे प्राप्त हो जाता हो। बेशी मूल्य का उत्पादन उत्पादन की इस प्रणाली का निरपेक्ष नियम है। श्रम-शक्ति उसी हद तक बिक्री के योग्य होती है, जिस हद तक कि वह उत्पादन के साधनों को पूंजी के रूप में सुरक्षित रखती है, ख़ुद अपने मूल्य का पूंजी के रूप में पुनरुत्पादन कर देती है और अपने अवेतन श्रम को अतिरिक्त पूंजी के स्रोत के रूप में सौंप देती है।[76] इसलिए श्रम-शक्ति की बिक्री जिन शर्तों पर होती है, वे मज़दूर के लिए कम अनुकूल हों या ज्यादा, उनमें यह बात अवश्य शामिल होती है कि श्रम-शक्ति की निरंतर और बार-बार बिक्री होती रहनी चाहिए और समस्त प्रकार के धन का पूंजी के रूप में सदा बढ़ते हुए पैमाने पर पुनरुत्पादन होना चाहिए। जैसा कि हम देख चुके हैं, मजदूरी का स्वरूप ही ऐसा है कि मज़दूर को सदा एक निश्चित मात्रा में अवेतन श्रम भी करना पड़ता है। इस बात के अलावा कि श्रम का दाम गिर जाने की हालत में भी मजदूरी में वृद्धि हो सकती है, इत्यादि, इस प्रकार की वृद्धि का अधिक से अधिक इतना ही अर्थ होता है कि मज़दूर को जो अवेतन श्रम करना पड़ता है, उसमें थोड़ी परिमाणात्मक कमी आ जाती है। पर यह कमी कभी उस बिंदु तक नहीं पहुंच सकती, जहां उससे स्वयं व्यवस्था के लिए ही ख़तरा पैदा हो जाये। मज़दूरी की दर के सवाल को लेकर जो भयानक झगड़े छिड़ जाते हैं, उनके अलावा (और ऐडम स्मिथ ने पहले ही यह बात स्पष्ट कर दी है कि इस प्रकार के झगड़ों में कुल मिलाकर सदा मालिक का ही पलड़ा भारी रहता है), पूंजी के संचय से श्रम के दाम में जो वृद्धि होती है, उसके कारण निम्नलिखित दो वैकल्पिक परिस्थितियों में से एक सामने आती है:

या तो श्रम का दाम ऊपर चढ़ता जाता है, क्योंकि उसके ऊपर चढ़ने से संचय की प्रगति में कोई बाधा नहीं पड़ती। इसमें कोई अचंभे की बात नहीं है, क्योंकि, ऐडम स्मिथ के शब्दों में, "इनके (मुनाफ़ों के) घट जाने के बाद भी न केवल यह संभव है कि पूंजी में वृद्धि होती जाये, बल्कि यह भी मुमकिन है कि उसमें पहले से ज्यादा तेज़ी के साथ वृद्धि होने लगे... बड़े मुनाफ़े वाली छोटी पूंजी की अपेक्षा छोटे मुनाफ़े वाली बड़ी पूंजी आम तौर पर ज्यादा तेज़ी से बढ़ती है।" (l.c., II, p. 189.) इस सूरत में यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि अवेतन श्रम में जो कमी आती है, उससे पूंजी के क्षेत्र के विस्तार में कोई बाधा नहीं पड़ती। — या दूसरी ओर, यह हो सकता है कि श्रम के दाम की वृद्धि के कारण संचय की गति धीमी पड़ जाये,

---

स्मिथ ने "अनुत्पादक मज़दूरों" की कोटि का केवल प्रोटेस्टेंट पादरियों के लिए आविष्कार किया था, हालांकि वे परमात्मा के बग़ीचे में बड़े सवाब का काम करते हैं।

[76] "कारख़ाना-मज़दूर और खेतिहर मज़दूर दोनों में से कोई भी हो, उससे काम लेने की सीमा एक ही बात से निश्चित होती है; वह बात यह है कि मालिक को कारख़ाना-मज़दूर या खेतिहर मज़दूर की मेहनत के फल से मुनाफ़ा कमाने की कितनी संभावना दिखायी देती है। यदि मज़दूरी की दर ऐसी है कि उसके कारण मालिक का मुनाफ़ा पूंजी के औसत मुनाफ़े के स्तर से भी नीचे रह जाता है, तो वह इन खेतिहर मज़दूरों या कारख़ाना-मज़दूरों से काम लेना बंद कर देगा या केवल इस शर्त पर उनसे काम लेगा कि वे मज़दूरी में कटौती मंजूर कर लें।" (John Wade, l.c., p. 240.)

क्योंकि उससे नफ़ा कमाने की आशा से पहले जो पूंजी के संचय की प्रेरणा मिलती थी, वह कुंठित हो जाती है। संचय की दर धीमी पड़ जाती है, परंतु उसके धीमी पड़ जाने पर दर कम होने का मुख्य कारण ख़त्म हो जाती है, अर्थात् पूंजी तथा शोषणयोग्य श्रम-शक्ति के बीच जो विषमता पैदा हो गयी थी, वह नहीं रहती। पूंजीवादी उत्पादन-प्रक्रिया का यंत्र अस्थायी रूप से जिन बाधाओं को खड़ा करता है, उनको ख़ुद ही मिटा देता है। श्रम का दाम कम होकर फिर उस स्तर पर आ जाता है, जो पूंजी के आत्मविस्तार की आवश्यकताओं के अनुरूप होता है, चाहे वह स्तर मजदूरी में वृद्धि होने के पहले वाले सामान्य स्तर से नीचा हो, या ऊंचा हो, या उसके बराबर हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहली सूरत में श्रम-शक्ति अथवा श्रमजीवी जनसंख्या की निरपेक्ष अथवा सानुपातिक वृद्धि की दर में कमी आ जाने के कारण पूंजी आवश्यकता से अधिक नहीं हो जाती, बल्कि इसके विपरीत पूंजी के अत्यधिक हो जाने के कारण शोषणयोग्य श्रम-शक्ति अपर्याप्त हो जाती है। दूसरी सूरत में श्रम-शक्ति अथवा श्रमजीवी जनसंख्या की निरपेक्ष अथवा सानुपातिक वृद्धि की दर के बढ़ जाने के कारण पूंजी अपर्याप्त नहीं हो जाती, बल्कि इसके विपरीत पूंजी में जो तुलनात्मक कमी आ जाती है, उसके कारण शोषणयोग्य श्रम-शक्ति, या कहना चाहिए कि उसका दाम आवश्यकता से अधिक हो जाता है। पूंजी के संचय का यह निरपेक्ष उतार-चढ़ाव ही शोषणयोग्य श्रम-शक्ति की कुल राशि के सापेक्ष उतार-चढ़ाव के रूप में प्रतिबिंबित होता है और इसलिए श्रम-शक्ति की स्वतंत्र गतिविधि का परिणाम जैसा लगता है। गणित की भाषा में कहा जाये, तो संचय की दर परतंत्र चर नहीं होती, बल्कि स्वतंत्र चर होती है, और मजदूरी की दर स्वतंत्र चर न होकर परतंत्र चर होती है। चुनांचे जब औद्योगिक चक्र संकट की अवस्था में होता है, तब पण्यों के दामों में जो आम गिराव आता है, वह द्रव्य के मूल्य के ऊपर चढ़ जाने के रूप में अभिव्यक्त होता है, और समृद्धि की अवस्था में पण्यों के दामों में जो आम उभार आ जाता है, वह द्रव्य के मूल्य के गिर जाने के रूप में अभिव्यक्त होता है। तथाकथित "मुद्रा संप्रदाय" के अर्थशास्त्रियों ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि जब दाम ऊंचे होते हैं, तब बहुत कम मुद्रा संचलन में होती है, और जब दाम नीचे होते हैं, तब बहुत ज्यादा मुद्रा संचलन में रहती है। इन लोगों के अज्ञान तथा तथ्यों की ग़लत समझ[77] का मुक़ाबला केवल उन अर्थशास्त्रियों के अज्ञान और नासमझी से ही किया जा सकता है, जो संचय से संबंधित उपरोक्त घटनाओं का यह अर्थ लगाते हैं कि समाज में मजदूरों की संख्या कभी तो आवश्यकता से कम हो जाती है और कभी आवश्यकता से अधिक रह जाती है।

जनसंख्या के तथाकथित "प्राकृतिक नियम" की तह में पूंजीवादी उत्पादन का जो नियम सचमुच काम करता है, वह केवल यह है कि पूंजी के संचय और मजदूरी की दर का सहसंबंध पूंजी में रूपांतरित अवेतन श्रम और इस अतिरिक्त पूंजी को गतिमान बनाने के लिए आवश्यक अतिरिक्त सवेतन श्रम के सह-संबंध के सिवा और कुछ नहीं है। अतएव यह दो ऐसी मात्राओं का संबंध नहीं है, जो एक दूसरी से स्वतंत्र हैं, यानी यह एक ओर, पूंजी की मात्रा और दूसरी ओर, श्रमजीवी जनसंख्या का संबंध नहीं है; बल्कि अगर इसकी तह तक जाइये, तो पता चलता है कि यह उसी श्रमजीवी जनसंख्या के केवल अवेतन और सवेतन श्रम का संबंध है। मजदूर वर्ग जो अवेतन श्रम करता है और जिसका पूंजीपति वर्ग संचय करता जाता है, उसकी मात्रा यदि इतनी तेजी से बढ़ने लगती है कि उसको पूंजी में रूपांतरित करने के

---

[77] देखिये Karl Marx, *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, S. 166, seq.

लिए सवेतन श्रम में असाधारण वृद्धि करना ज़रूरी हो जाता है, तो मज़दूरी की दर बढ़ जाती है और अन्य बातों के ज्यों की त्यों रहते हुए अवेतन श्रम उसी अनुपात में घट जाता है। परंतु जैसे ही वह घटते-घटते उस बिंदु पर पहुंच जाता है, जहां पूंजी का पोषण करनेवाले बेशी श्रम का सामान्य मात्रा में मिलना बंद हो जाता है, वैसे ही उल्टी क्रिया आरंभ हो जाती है: तब आय के पहले से छोटे भाग का पूंजीकरण होने लगता है, संचय धीमा पड़ जाता है और मज़दूरी की दर का ऊपर चढ़ना रुक जाता है। इसलिए मज़दूरी की दर केवल उन्हीं सीमाओं के भीतर ऊपर चढ़ सकती है, जिनके भीतर न सिर्फ़ पूंजीवादी व्यवस्था की बुनियादें सुरक्षित तौरह हैं, बल्कि साथ ही इस व्यवस्था का उत्तरोत्तर बड़े पैमाने पर पुनरुत्पादन होता रहता है। पूंजीवादी संचय का नियम, जिसे अर्थशास्त्रियों ने एक तथाकथित प्राकृतिक नियम में बदल दिया है, वास्तव में केवल इतना ही कहता है कि ख़ुद संचय के स्वरूप के कारण श्रम के शोषण की मात्रा में कोई ऐसी कमी नहीं आ सकती और श्रम के दाम में कोई ऐसी वृद्धि नहीं हो सकती, जिससे पूंजीवादी संबंधों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पैमाने पर निरंतर पुनरुत्पादन के लिए कोई गंभीर ख़तरा पैदा हो जाये। उत्पादन की एक ऐसी प्रणाली में, जहां भौतिक धन मज़दूर के विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत जहां मज़दूर पहले से मौजूद मूल्यों के आत्मविस्तार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विद्यमान होता है, ऐसी प्रणाली में और कुछ नहीं हो सकता। जिस प्रकार धर्म के क्षेत्र में मनुष्य पर स्वयं उसके मस्तिष्क की पैदावार शासन करती है, उसी प्रकार पूंजीवादी उत्पादन में स्वयं उसके हाथ की पैदावार उसपर शासन करती है।[77a]

अनुभाग २ – संचय की प्रगति और उसके साथ चलनेवाली संकेंद्रण की क्रिया के साथ-साथ पूंजी के परिवर्ती अंश की मात्रा में सापेक्ष कमी

स्वयं अर्थशास्त्रियों के मतानुसार मज़दूरी में वृद्धि न तो सामाजिक धन के वास्तविक विस्तार के कारण और न ही उस पूंजी के परिमाण के कारण होती है, जो पहले से काम कर रही है, बल्कि वह केवल संचय की निरंतर प्रगति और इस प्रगति की तेज़ी के कारण होती है। (Adam Smith, [*Wealth of Nations*] Bk. I, Ch. 8.) अभी तक हमने इस प्रक्रिया की केवल एक विशेष अवस्था पर ही विचार किया है, अर्थात् जब पूंजी की प्राविधिक संरचना के स्थिर रहते हुए पूंजी की वृद्धि होती है। लेकिन प्रक्रिया इस अवस्था से आगे भी जारी रहती है।

पूंजीवादी व्यवस्था का सामान्य आधार स्थापित हो जाने पर संचय के दौरान एक ऐसा

[77a] "अब यदि हम फिर अपने पहले विवेचन पर लौट आयें, जिससे यह ज्ञात हुआ था कि पूंजी स्वयं केवल मानव-श्रम का फल होती है, तो... यह बात क़तई समझ में नहीं आती कि मनुष्य पर पूंजी का, ख़ुद उसकी पैदावार का आधिपत्य क़ायम हो सकता है और वह उसके अधीन बन सकता है; और चूंकि वास्तव में निर्विवाद रूप से यही बात हो गयी है, इसलिए बरबस यह सवाल दिमाग़ में आता है कि मज़दूर, जो पूंजी का मालिक था, क्योंकि उसने पूंजी को पैदा किया था, उसका ग़ुलाम कैसे बन गया?" (Von Thünen, *Der isolierte Staat*, Theil II, Abtheilung II, Rostock, 1863, S. 5, 6.) ठूनेन इसके लिए प्रशंसनीय हैं कि उन्होंने यह प्रश्न किया। परंतु इस प्रश्न का उन्होंने जो उत्तर दिया है, वह बिल्कुल बचकाना है।

बिंदु आता है, जब सामाजिक श्रम की उत्पादिता का विकास संचय का सबसे अधिक शक्तिशाली लीवर बन जाता है। ऐडम स्मिथ ने लिखा है: "जिस कारण से श्रम की मज़दूरी बढ़ती है, उसी कारण से, अर्थात् पूंजी की वृद्धि से, श्रम की उत्पादक शक्तियां भी बढ़ने लगती हैं और श्रम की पहले से छोटी मात्रा पहले से अधिक मात्रा में काम निबटाने लगती है।"

प्राकृतिक परिस्थितियों के अलावा जैसे भूमि की उर्वरता, आदि और स्वतंत्र रूप से तथा अलग-अलग काम करनेवाले उत्पादकों की कुशलता के अलावा (जो उनकी पैदावार की मात्रा की अपेक्षा उसकी गुणात्मक श्रेष्ठता में ज़्यादा अभिव्यक्त होती है), किसी भी समाज में श्रम की उत्पादिता की मात्रा इस बात में व्यक्त होती है कि मज़दूर एक निश्चित समय में श्रम-शक्ति के पहले जितने तनाव के साथ काम करते हुए तुलनात्मक दृष्टि से कितने अधिक उत्पादन के साधनों को उत्पादों में बदल देता है। इस प्रकार वह उत्पादन के जिन साधनों को रूपांतरित कर देता है, उनकी राशि उसके श्रम की उत्पादिता के साथ-साथ बढ़ती जाती है। परंतु उत्पादन के ये साधन दोहरी भूमिका अदा करते हैं। कुछ साधनों की वृद्धि श्रम की उत्पादिता के बढ़ने के कारण होती है, कुछ की वृद्धि श्रम की उत्पादिता के बढ़ने के लिए आवश्यक होती है। उदाहरण के लिए, मैन्यूफ़ैक्चर में श्रम का विभाजन हो जाने और मशीनों के प्रयोग के कारण उतने ही समय में पहले से ज़्यादा कच्चा माल इस्तेमाल किया जाता है और इसलिए पहले से ज़्यादा मात्रा में कच्चा माल और सहायक पदार्थ श्रम-प्रक्रिया में प्रवेश कर जाते हैं। यह बढ़ती हुई श्रम-उत्पादिता का परिणाम होता है। दूसरी ओर, अधिक संख्या में मशीनें, बोझा ढोने के पशु, रासायनिक खाद, पानी बाहर निकालने के पाइप, आदि श्रम की उत्पादिता की वृद्धि के लिए आवश्यक होते हैं। मकानों, भट्ठियों, परिवहन के साधनों, आदि में संकेंद्रित उत्पादन के साधनों के लिए भी यही बात सच है। परंतु उत्पादन के साधनों की वृद्धि श्रम की उत्पादिता के बढ़ने का चाहे कारण हो या परिणाम, उत्पादन के साधनों में समाविष्ट श्रम-शक्ति की तुलना में इन साधनों का जो विस्तार होता है, उसके द्वारा श्रम की बढ़ती हुई उत्पादिता अभिव्यक्त होती है। अतएव उत्पादिता में जो वृद्धि होती है, वह इस रूप में सामने आती है कि श्रम की राशि उत्पादन के उन साधनों की राशि की तुलना में घट जाती है, जिनको वह श्रम गतिमान बनाता है; या यूं कहिये कि वह इस रूप में सामने आती है कि श्रम-प्रक्रिया के वस्तुगत तत्त्व की तुलना में वैयक्तिक तत्त्व में कमी आ जाती है।

पूंजी की प्राविधिक संरचना में इस तरह जो परिवर्तन आता है, उत्पादन के साधनों में जान डालनेवाली श्रम-शक्ति की कुल राशि की तुलना में इन साधनों की कुल राशि में जो वृद्धि हो जाती है, वह पुनः पूंजी की मूल्य-रचना में प्रतिबिंबित होती है। वह इस तरह कि पूंजी का परिवर्ती संघटक अंश कम हो जाता है और स्थिर अंश बढ़ जाता है। मिसाल के लिए, मुमकिन है कि शुरू में किसी पूंजी का ५० प्रतिशत भाग उत्पादन के साधनों में लगाया गया हो और ५० प्रतिशत श्रम-शक्ति पर ख़र्च किया गया हो, पर बाद को, श्रम की उत्पादिता का विकास हो जाने पर, उसका ८० प्रतिशत भाग उत्पादन के साधनों पर खर्च होने लगे और २० प्रतिशत श्रम-शक्ति पर; और आगे भी इसी तरह का परिवर्तन हो सकता है। परिवर्ती पूंजी की तुलना में स्थिर पूंजी की उत्तरोत्तर वृद्धि के इस नियम की पण्यों के दामों का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर हर क़दम पर (जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है) पुष्टि होती जाती है, उसके लिए हम चाहे भिन्न-भिन्न आर्थिक युगों की और चाहे एक ही युग में अलग-अलग राष्ट्रों की तुलना करें। दाम का जो तत्त्व केवल उत्पादन के साधनों के मूल्य का प्रति-

निधित्व करता है या जो केवल ख़र्च कर डाली गयी पूंजी के स्थिर अंश का प्रतिनिधित्व करता है, उसका सापेक्ष परिमाण संचय की प्रगति के अनुलोम अनुपात में होता है, जब कि दाम के उस दूसरे तत्त्व का सापेक्ष परिमाण (या पूंजी के परिवर्ती अंश का सापेक्ष परिमाण,) जिसके द्वारा श्रम को उजरत दी जाती है, संचय की प्रगति के प्रतिलोम अनुपात में होता है।

किंतु पूंजी के स्थिर अंश की तुलना में उसके परिवर्ती अंश में जो कमी आती है, या पूंजी की मूल्य-संरचना में जो परिवर्तन आ जाता है, उससे केवल यही प्रकट होता है कि पूंजी के भौतिक संघटकों की संरचना में मोटे तौर पर क्या परिवर्तन हुआ है। मिसाल के लिए, कताई में आजकल जो पूंजी-मूल्य इस्तेमाल होता है, यदि उसका $\frac{७}{८}$ भाग स्थिर है और $\frac{१}{८}$ परिवर्ती है, जब कि उसके मुक़ाबले में १८वीं सदी के आरंभ में उसका आधा भाग स्थिर और आधा भाग परिवर्ती हुआ करता था, तो दूसरी ओर, १८वीं सदी के आरंभ में कताई के श्रम की एक निश्चित मात्रा कच्चे माल, श्रम के औज़ारों, आदि की जितनी बड़ी राशि को उत्पादक ढंग से ख़र्च कर देती थी, आज वह उनकी उससे कई सौ गुनी राशि को ख़र्च कर डालती है। इसका कारण केवल यह है कि श्रम की उत्पादिता के बढ़ने के साथ-साथ न केवल उसके द्वारा ख़र्च कर दिये गये उत्पादन के साधनों की राशि बढ़ती जाती है, बल्कि उनकी राशि की तुलना में उनका मूल्य घटता जाता है। इसलिए उनका मूल्य निरपेक्ष दृष्टि से तो बढ़ जाता है, पर उनकी राशि के अनुपात में नहीं बढ़ता। अतएव स्थिर पूंजी उत्पादन के साधनों की जिस राशि में रूपांतरित कर दी जाती है और परिवर्ती पूंजी श्रम-शक्ति की जिस राशि में बदल दी जाती है, इन दो राशियों के अंतर में जितनी अधिक वृद्धि हो जाती है, उसकी अपेक्षा स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के अंतर में बहुत कम वृद्धि होती है। दूसरे प्रकार का अंतर पहले प्रकार के अंतर के साथ-साथ बढ़ता है, पर उससे कम मात्रा में।

परंतु यदि संचय की प्रगति से पूंजी के परिवर्ती अंश का सापेक्ष परिमाण कम हो जाता है, तो यह कदापि नहीं होता कि ऐसा होने से उसके निरपेक्ष परिमाण में वृद्धि होने की सारी संभावना ख़त्म हो जाती हो। मान लीजिये कि एक पूंजी-मूल्य पहले ५० प्रतिशत स्थिर और ५० प्रतिशत परिवर्ती पूंजी में बांटा गया था और बाद को वह ८० प्रतिशत स्थिर और २० प्रतिशत परिवर्ती पूंजी में बांट दिया जाता है। यदि इस बीच में मूल पूंजी, जो, मान लीजिये, ६,००० पांउड थी, बढ़कर १८,००० पांउड हो गयी है, तो ज़ाहिर है कि उसका परिवर्ती संघटक भी बढ़ गया होगा। पहले वह ३,००० पांउड था, तो अब वह ३,६०० पांउड हो गया होगा। परंतु जहां पहले श्रम की मांग में २० प्रतिशत की वृद्धि करने के लिए पूंजी में २० प्रतिशत की वृद्धि काफ़ी थी, अब उसके लिए मूल पूंजी को तिगुना करना पड़ेगा।

चौथे भाग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार सामाजिक श्रम की उत्पादिता के विकास के लिए बड़े पैमाने की सहकारिता का पहले से विद्यमान होना आवश्यक होता है; किस प्रकार इस तरह की सहकारिता के आधार पर ही श्रम का विभाजन और संयोजन संगठित किया जा सकता है और उत्पादन के साधनों का एक विशाल पैमाने पर संकेंद्रण करके उनकी बचत की जा सकती है; किस प्रकार केवल इसी आधार पर श्रम के ऐसे औज़ारों का जन्म होता है, जिनका स्वरूप ही ऐसा होता है कि उनका सामूहिक ढंग से ही उपयोग किया जा सकता है, जैसे मशीनों की प्रणाली; किस प्रकार इस आधार पर प्रकृति की विराट शक्तियों को उत्पादन की सेवा में लगा देना संभव होता है और किस

प्रकार इस आधार पर उत्पादन की प्रक्रिया को विज्ञान के प्रौद्योगिक उपयोग का रूप दिया जा सकता है। पण्यों के उत्पादन के आधार पर, जहां उत्पादन के साधनों पर व्यक्तियों का निजी स्वामित्व होता है और जहां इसलिए कारीगर या तो औरों से अलग तथा स्वतंत्र रूप से पण्य तैयार करता है, या अपनी श्रम-शक्ति को पण्य के रूप में बेच देता है, क्योंकि उसके पास स्वतंत्र उद्योग के साधन नहीं होते—ऐसी परिस्थिति में बड़े पैमाने की सहकारिता केवल अलग-अलग पूंजियों की वृद्धि में ही मूर्त रूप धारण कर सकती है, या यूं कहिये कि वह केवल उसी अनुपात में अमल में आ सकती है, जिस अनुपात में सामाजिक उत्पादन के साधन और जीवन-निर्वाह के साधन पूंजीपतियों की निजी संपत्ति में रूपांतरित हो जाते हैं। पण्यों के उत्पादन के आधार पर बड़े पैमाने का उत्पादन केवल पूंजीवादी रूप में ही संभव है। इसलिए उत्पादन की विशिष्टतया पूंजीवादी प्रणाली के लिए पण्यों के अलग-अलग उत्पादकों के पास पूंजी का कुछ संचय पहले से ही आवश्यक होता है। अतः हमें यह मानकर चलना पड़ा था कि यह संचय दस्तकारी के पूंजीवादी उद्योग में रूपांतरित होने के दौरान हो जाता है। इसे आदिम संचय कहा जा सकता है, क्योंकि यह विशिष्टतया पूंजीवादी उत्पादन का ऐतिहासिक परिणाम नहीं, बल्कि उसका ऐतिहासिक आधार होता है। यह ख़ुद किस तरह आरंभ होता है, यहां पर इसकी छानबीन करने की अभी कोई आवश्यकता नहीं है। यहां तो इतना जान लेना ही काफ़ी है कि आदिम संचय प्रस्थान-बिंदु का काम करता है। परंतु इस आधार पर श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति को बढ़ाने के जितने तरीक़े निकाले जाते हैं, वे इसके साथ-साथ बेशी मूल्य या बेशी उत्पाद का उत्पादन बढ़ाने के भी तरीक़े होते है, जो ख़ुद संचय का सृजनात्मक तत्त्व होता है। और इसलिए वे पूंजी से पूंजी का उत्पादन करने के, या उसका पहले से तेज़ गति से संचय करने के भी तरीक़े होते हैं। बेशी मूल्य का पूंजी में जो निरंतर पुनः रूपांतरण होता रहता है, वह अब उत्पादन की प्रक्रिया में प्रवेश करनेवाली पूंजी के परिमाण की वृद्धि का रूप धारण कर लेता है। यह चीज़ ख़ुद उत्पादन के पैमाने को बढ़ाने का आधार बन जाती है; यह चीज़ श्रम की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने के उन नये-नये तरीक़ों का आधार बन जाती है, जो उसके साथ-साथ निकलते रहते हैं; यह चीज़ बेशी मूल्य के उत्पादन में तेज़ी लाने का आधार बन जाती है। इसलिए अगर एक ख़ास मात्रा तक पूंजी का संचित हो जाना उत्पादन की विशिष्टतया पूंजीवादी प्रणाली की एक आवश्यक शर्त प्रतीत होता है, तो दूसरी ओर, यह प्रणाली ख़ुद पूंजी के संचय को और तेज़ कर देती है। इसलिए पूंजी के संचय के साथ-साथ उत्पादन की विशिष्टतया पूंजीवादी प्रणाली विकसित होती जाती है और उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के विकास के साथ-साथ पूंजी का संचय बढ़ता जाता है। ये दोनों आर्थिक तत्त्व एक दूसरे को जो प्रोत्साहन देते रहते हैं, उसके मिश्र-अनुपात में वे पूंजी की प्राविधिक संरचना में वह परिवर्तन पैदा कर देते हैं, जिससे उसका परिवर्ती संघटक स्थिर संघटक की तुलना में सदा अधिकाधिक कम होता जाता है।

प्रत्येक अलग-अलग पूंजी में उत्पादन के साधनों का बड़ा या छोटा संकेंद्रण होता है, और उसके अनुसार उस पूंजी को छोटी या बड़ी श्रम-सेना से काम लेने का अधिकार प्राप्त होता है। प्रत्येक संचय नये संचय का साधन बन जाता है। पूंजी का काम करनेवाले धन की राशि के बढ़ने के साथ-साथ संचय अलग-अलग पूंजीपतियों के हाथों में इस धन के संकेंद्रण को बढ़ाता जाता है और उसके द्वारा बड़े पैमाने के उत्पादन का और पूंजीवादी उत्पादन की विशिष्ट पद्धतियों के आधार का विस्तार करता जाता है। बहुत सी अलग-अलग पूंजियों के विकास के

फलस्वरूप सामाजिक पूंजी का विकास होता है। अन्य बातों के समान रहते हुए अलग-अलग पूंजियां और साथ-साथ उत्पादन के साधनों का संकेंद्रण उस अनुपात में बढ़ता है, जिस अनुपात में ये पूंजियां सामाजिक पूंजी का अशेषभाजक भाग होती हैं। इसके साथ-साथ मूल पूंजियों के कुछ हिस्से अलग होकर नयी और स्वतंत्र पूंजियों के रूप में काम करने लगते हैं। अन्य कारणों के अलावा पूंजीवादी परिवारों में होनेवाला संपत्ति का बंटवारा भी इस क्रिया में बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है। इसलिए पूंजी के संचय के साथ-साथ पूंजीपतियों की संख्या में भी न्यूनाधिक वृद्धि होती रहती है। इस संकेंद्रण की, जो प्रत्यक्ष रूप से संचय के आधार पर होता है, या कहना चाहिए कि जो वही चीज़ है, जो संचय है, दो विशेषताएं होती हैं। पहली यह कि अन्य बातों के ज्यों की त्यों रहते हुए अलग-अलग पूंजीपतियों के हाथों में उत्पादन के सामाजिक साधनों का बढ़ता हुआ संकेंद्रण इस बात से सीमित होता है कि सामाजिक धन में कितनी वृद्धि हुई है। दूसरी बात यह है कि सामाजिक पूंजी का जो भाग उत्पादन के प्रत्येक अलग-अलग क्षेत्र में होता है, वह बहुत से पूंजीपतियों के बीच बंट जाता है, जो एक दूसरे से प्रतियोगिता करनेवाले स्वतंत्र पण्य-उत्पादकों के रूप में एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़े होते हैं। अतएव संचय और उसके साथ-साथ होनेवाला संकेंद्रण न केवल बहुत से बिंदुओं पर बिखर जाते हैं, बल्कि नयी पूंजियों के निर्माण तथा पुरानी के उपविभाजन से प्रत्येक कार्यरत पूंजी की वृद्धि भी होती जाती है। इसलिए संचय एक ओर तो उत्पादन के साधनों और श्रम से काम लेने के अधिकार के बढ़ते हुए संकेंद्रण के रूप में सामने आता है, और दूसरी ओर, वह बहुत सी अलग-अलग पूंजियों के पारस्परिक विकर्षण के रूप में प्रकट होता है।

समाज की कुल पूंजी का जो इस तरह बहुत सी अलग-अलग पूंजियों में विभाजन हो जाता है, या उसके अंशों के बीच जो पारस्परिक विकर्षण की क्रिया चलती है, पारस्परिक आकर्षण उसका प्रतिकार करता है। इस आकर्षण से हमारा अर्थ उत्पादन के साधनों के और श्रम से काम लेने के अधिकार के उस साधारण संकेंद्रण से नहीं है, जो वही चीज़ होता है, जो संचय है। यह पहले से निर्मित पूंजियों का संकेंद्रण, उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अंत, पूंजीपति द्वारा पूंजीपति का स्वत्वहरण, बहुत सी छोटी-छोटी पूंजियों का इनी-गिनी बड़ी पूंजियों में परिणत होना है। यह प्रक्रिया पहली प्रक्रिया से इस बात में भिन्न होती है कि इसके लिए केवल पहले से विद्यमान एवं कार्यरत पूंजी के वितरण में परिवर्तन होना आवश्यक होता है। इसलिए उसका कार्यक्षेत्र सामाजिक धन की निरपेक्ष वृद्धि से या संचय की निरपेक्ष सीमाओं से सीमित नहीं होता। इस प्रक्रिया में तो पूंजी एक स्थान पर इस कारण एक विशाल राशि के रूप में एक हाथ में जमा हो जाती है कि दूसरे स्थान पर वह बहुत से हाथों से निकल गयी है। संचय और संकेंद्रण से बिल्कुल अलग यह केंद्रीयकरण की प्रक्रिया है।

पूंजियों के केंद्रीयकरण के नियमों का, या पूंजी के आकर्षण के नियमों का यहां पर विकास नहीं किया जा सकता। कुछ तथ्यों की ओर संकेत भर कर देना ही पर्याप्त होगा। प्रतियोगिता की लड़ाई पण्यों को सस्ता करके लड़ी जाती है। अन्य बातों के समान रहते हुए पण्यों का सस्तापन श्रम की उत्पादिता पर निर्भर करता है, और वह ख़ुद उत्पादन के पैमाने पर निर्भर करती है। इसलिए बड़ी पूंजियां छोटी पूंजियों को हरा देती हैं। पाठक को यह भी याद होगा कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का विकास होने पर पूंजी की उस अल्पतम मात्रा में वृद्धि हो जाती है, जो सामान्य परिस्थितियों में व्यवसाय चालू रखने के लिए आवश्यक होती है। इसलिए अपेक्षाकृत छोटी पूंजियां उत्पादन के प्रायः उन क्षेत्रों में घुस जाती हैं, जिनपर आधु-

निक उद्योग केवल कहीं-कहीं या अपूर्ण ढंग से ही अधिकार कर पाया है। यहां परस्पर विरोधी पूंजियों की संख्या के अनुलोम अनुपात में और उनके परिमाणों के प्रतिलोम अनुपात में प्रतियोगिता चलती है। उसका फल सदा यह होता है कि बहुत से छोटे-छोटे पूंजीपति तबाह हो जाते हैं और उनकी पूंजियां कुछ हद तक तो उनके विजेताओं के हाथों में चली जाती हैं और कुछ हद तक ग़ायब हो जाती हैं। इसके अलावा पूंजीवादी उत्पादन का विकास होने पर एक बिल्कुल नयी शक्ति का जन्म हो जाता है। यह है साख-प्रणाली, जो शुरू में* संचय के एक विनम्र सहायक के रूप में चुपचाप समाज में घुस आती है और समाज की सतह पर हर जगह छोटी या बड़ी मात्राओं में द्रव्य के संसाधनों को अदृश्य धागों से खींचकर अलग-अलग या संबद्ध पूंजीपतियों के हाथों में इकट्ठा कर देती है। परंतु शीघ्र ही वह प्रतियोगिता के संघर्ष में एक नये और ख़ौफ़नाक हथियार का काम करने लगती है, और अंत में तो अपने को पूंजियों के केंद्रीयकरण के एक विशाल सामाजिक यंत्र में रूपांतरित कर देती।

जिस अनुपात में पूंजीवादी उत्पादन तथा संचय का विकास होता जाता है, उसी अनुपात में केंद्रीयकरण के दो सबसे शक्तिशाली लीवरों – प्रतियोगिता और साख-प्रणाली – का भी विकास होता जाता है। इसके साथ-साथ संचय की प्रगति के फलस्वरूप उस सामग्री की वृद्धि हो जाती है, जिसका केंद्रीयकरण किया जा सकता है, अर्थात् अलग-अलग पूंजियों की वृद्धि हो जाती है। उधर पूंजीवादी उत्पादन का विस्तार उन विराट औद्योगिक उद्यमों के लिए, जिनको खड़ा करने के वास्ते यह ज़रूरी होता है कि पहले से पूंजी का केंद्रीयकरण हो गया हो, एक ओर, अगर सामाजिक मांग पैदा कर देता है, तो दूसरी ओर, उनके लिए प्राविधिक साधन भी तैयार कर देता है। इसलिए आज अलग-अलग पूंजियों के पारस्परिक आकर्षण की शक्ति और केंद्रीयकरण की प्रवृत्ति जितनी मज़बूत हैं, उतनी पहले कभी नहीं थीं। लेकिन केंद्रीयकरण की प्रक्रिया का सापेक्ष विस्तार और तेज़ी यदि किसी हद तक इस बात से निर्धारित होती हैं कि पूंजीवादी धन कितना बढ़ गया है और आर्थिक यंत्र श्रेष्ठता के किस स्तर पर पहुंच गया है, तो केंद्रीयकरण की प्रगति इस बात पर हरगिज़ निर्भर नहीं करती कि सामाजिक पूंजी के परिमाण में कितनी सकारात्मक वृद्धि हो गयी है। केंद्रीयकरण और संकेंद्रण की क्रियाओं का यही एक विशिष्ट भेद है, क्योंकि संकेंद्रण केवल परिवर्द्धित पैमाने के पुनरुत्पादन का ही दूसरा नाम है। केंद्रीयकरण महज़ पहले से मौजूद पूंजियों के वितरण में कुछ परिवर्तन के द्वारा संपन्न हो सकता है; वह केवल सामाजिक पूंजी के संघटकों के परिमाणात्मक विन्यास में कुछ परिवर्तनों के द्वारा हो सकता है। ऐसी सूरत में बहुत से व्यक्तियों के हाथों से निकलकर पूंजी एक बड़ी राशि में एक हाथ में संचित हो सकती है। यदि उद्योग की किसी ख़ास शाखा में लगी हुई तमाम अलग-अलग पूंजियां एक अकेली पूंजी में एकीकृत हो जायें, तो उस शाखा में केंद्रीयकरण चरम सीमा पर पहुंच जाता है।[77B] कोई समाज विशेष केंद्रीयकरण की चरम सीमा पर केवल उस वक़्त

---

*यहां से ("साख-प्रणाली, जो शुरू में" से) पृ० ६६१ पर "संचित हो गयी होंगी" वाक्यांश तक अंग्रेज़ी पाठ को और अतः हिंदी पाठ को चौथे जर्मन संस्करण के अनुसार बदल दिया गया है। – सं०

[77B] [**चौथे जर्मन संस्करण की पाद-टिप्पणी:** इंगलैंड और अमरीका के नवीनतम "ट्रस्ट" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अभी से यह प्रयत्न कर रहे हैं कि उद्योग की किसी एक शाखा में कम से कम तमाम बड़ी कंपनियों को जोड़कर एक ऐसी विशाल ज्वाइंट-स्टाक कंपनी क़ायम कर दी जाये, जिसे व्यावहारिक एकाधिकार प्राप्त हो। – फ़े० एं०]

पहुंचेगा, जब समस्त सामाजिक पूंजी या तो किसी एक अकेले पूंजीपति के हाथ में, या किसी एक अकेली कंपनी के हाथ में एकीभूत हो जायेगी।

केंद्रीयकरण औद्योगिक पूंजीपतियों को अपनी कार्रवाइयों का पैमाना बढ़ाने के योग्य बनाकर संचय के कार्य को पूरा करता है। यह लक्ष्य चाहे संचय के द्वारा प्राप्त हो, चाहे केंद्रीयकरण के द्वारा और केंद्रीयकरण भी चाहे बलपूर्वक अधिकारस्थापन की उस क्रिया के द्वारा संपन्न हो, जिसमें कुछ पूंजियां अन्य पूंजियों के लिए आकर्षण का ऐसा केंद्र बन जाती हैं कि वे उनका व्यक्तिगत संजन भंग कर देती हैं और उनके बिखरे हुए टुकड़ों को अपनी ओर खींच लेती हैं, या जो पूंजियां पहले से मौजूद हैं, अथवा जिनका निर्माण हो रहा है, उनके एकीकरण के जरिये ज्वाइंट-स्टाक कंपनियां बनाने के अपेक्षाकृत अधिक सहज मार्ग पर चलकर संपन्न हो, दोनों सूरतों में आर्थिक परिणाम एक सा होता है। हर जगह औद्योगिक प्रतिष्ठानों का परिवर्द्धित पैमाना बहुत से प्रतिष्ठानों के सामूहिक श्रम का अधिक व्यापक रूप में संगठन करने के लिए, उसकी भौतिक चालक शक्तियों का अधिक व्यापक विकास करने के लिए, दूसरे शब्दों में, प्रचलित ढंग से कार्यान्वित की जानेवाली अलग-अलग उत्पादन-प्रक्रियाओं को अधिकाधिक सामाजिक रूप से संयुक्त और वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित उत्पादन-प्रक्रियाओं का रूप देने के लिए प्रस्थान-बिंदु का काम करता है।

किंतु यह बात स्पष्ट है कि संचय की क्रिया, अर्थात् वृत्ताकार रूप से कुंतलाकार रूप धारण करते हुए पुनरुत्पादन के द्वारा पूंजी की क्रमिक वृद्धि की क्रिया केंद्रीयकरण की तुलना में बहुत धीमी प्रक्रिया होती है। केंद्रीयकरण के लिए तो केवल इतना ही आवश्यक होता है कि सामाजिक पूंजी के अभिन्न अंगों के परिमाणात्मक समूहन में हेर-फेर कर दे। यदि दुनिया को उस वक़्त का इंतज़ार करना पड़ता, जब कि संचय के द्वारा कुछ अलग-अलग पूंजियां रेल बनाने के योग्य हो जातीं, तो आज भी दुनिया में रेलों का अभाव ही होता। दूसरी ओर, केंद्रीयकरण ने स्टाक-कंपनियां बनवाकर आन की आन में यह काम पूरा कर दिया। इस प्रकार संचय के प्रभावों में तेज़ी लाकर और उनकी तीव्रता को बढ़ाकर केंद्रीयकरण साथ ही पूंजी की प्राविधिक संरचना में होनेवाले उन क्रांतिकारी परिवर्तनों में भी तेज़ी ला देता है और उनका विस्तार कर देता है, जिनके फलस्वरूप पूंजी के परिवर्ती अंश में कमी आ जाती है और स्थिर अंश में वृद्धि हो जाती है और इस तरह श्रम की सापेक्ष मांग घट जाती है।

केंद्रीयकरण पूंजी की जिन राशियों का रातोंरात एकीकरण कर देता है, वे पूंजी की अन्य राशियों की ही तरह अपना पुनरुत्पादन तथा विस्तार करती हैं। अंतर केवल यह होता है कि ये राशियां अपना पुनरुत्पादन तथा विस्तार ज्यादा तेज़ी से करती हैं और इस तरह सामाजिक संचय का एक नया एवं शक्तिशाली लीवर बन जाती हैं। इसलिए आजकल अगर कभी सामाजिक संचय की प्रगति की चर्चा की जाती है, तो अव्यक्त रूप से यह भी मान लिया जाता है कि केंद्रीयकरण का प्रभाव भी उसमें शामिल है।

सामान्य संचय के दौरान जिन अतिरिक्त पूंजियों का निर्माण होता है (देखिये चौबीसवां अध्याय, अनुभाग १), वे मुख्यतया नये आविष्कारों और नयी खोजों से और आम तौर पर सभी प्रकार के औद्योगिक सुधारों से लाभ उठाने के साधनों का काम करती हैं। किंतु पुरानी पूंजी के लिए भी आख़िर वह घड़ी आ ही जाती है, जब उसे सिर से पैर तक अपना नवीकरण करना पड़ता है, जब उसे अपनी पुरानी केंचुल उतारकर फेंक देनी पड़ती है और जब उसका भी अपने उस परिष्कृत प्राविधिक रूप में पुनर्जन्म होता है, जिस रूप में श्रम की अल्पतर मात्रा

अधिक मशीनों और कच्चे माल को गतिमान बना देने के लिए पर्याप्त होती है। इसके फलस्वरूप आवश्यक रूप से श्रम की मांग में जो निरपेक्ष कमी आ जाती है, वह स्पष्टतया उतनी ही बड़ी होगी, जितनी कि कायाकल्प की इस प्रक्रिया में से गुज़रनेवाली ये पूंजियां केंद्रीयकरण की प्रक्रिया के कारण पहले ही से बड़ी-बड़ी राशियों में संचित हो गयी होंगी।

इसलिए एक तरफ़ तो संचय के दौरान निर्मित अतिरिक्त पूंजी अपने परिमाण की तुलना में अधिकाधिक कम मज़दूरों को अपनी ओर आकर्षित करती है। दूसरी तरफ़, पुरानी पूंजी, जिसका एक निश्चित अवधि के बाद बार-बार उसकी संरचना में परिवर्तन करके पुनरुत्पादन किया जाता है, अधिकाधिक संख्या में अपने पुराने मज़दूरों को अपने पास से हटाती जाती है।

अनुभाग ३ – सापेक्ष बेशी आबादी या औद्योगिक रिज़र्व सेना का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ उत्पादन

शुरू में ऐसा लगता था कि पूंजी के संचय के दौरान उसका केवल परिमाणात्मक विस्तार ही होता है। परंतु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, पूंजी का संचय उसकी संरचना में उत्तरोत्तर होनेवाले गुणात्मक परिवर्तनों के द्वारा संपन्न होता है; वह इस तरह संपन्न होता है कि पूंजी के स्थिर संघटक में लगातार वृद्धि होती जाती है और उसका परिवर्ती संघटक लगातार घटता जाता है।[77c]

उत्पादन की विशिष्टतया पूंजीवादी प्रणाली, श्रम की उत्पादक शक्ति का तदनुरूप विकास और इसके फलस्वरूप पूंजी की आंगिक संरचना में पैदा हो जानेवाला परिवर्तन – ये सारी बातें केवल उसी गति के साथ सामने नहीं आतीं, जिस गति के साथ संचय बढ़ता है, या सामाजिक धन में वृद्धि होती है। उनका कहीं अधिक तीव्र गति से विकास होता है, क्योंकि साधारण संचय या समाज की कुल पूंजी में होनेवाली निरपेक्ष वृद्धि के साथ-साथ यह कुल पूंजी जिन अलग-अलग पूंजियों का जोड़ है, उनका केंद्रीयकरण भी होता जाता है, और क्योंकि अतिरिक्त पूंजी की प्रौद्योगिक संरचना में जो परिवर्तन आता है, उसके साथ-साथ मूल पूंजी की प्रौद्योगिक संरचना में भी उसी प्रकार का परिवर्तन आ जाता है। इसलिए संचय की प्रगति के साथ-साथ परिवर्ती पूंजी के साथ स्थिर पूंजी का अनुपात बदल जाता है। शुरू में यदि, मान लीजिये, १:१ का अनुपात था, तो अब उत्तरोत्तर २:१, ३:१, ४:१, ५:१, ७:१, इत्यादि का अनुपात होता जाता है, जिसका नतीजा यह होता है कि जैसे-जैसे पूंजी में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे उसके कुल मूल्य के $\frac{१}{२}$ भाग के बजाय केवल $\frac{१}{३}$, $\frac{१}{४}$, $\frac{१}{५}$, $\frac{१}{६}$, $\frac{१}{८}$, इत्यादि भाग ही श्रम-

[77c] [**तीसरे जर्मन संस्करण की पाद-टिप्पणी:** मार्क्स की पांडुलिपि में यहां हाशिये पर यह टिप्पणी लिखी हुई मिलती है: "बाद में विस्तार के साथ विवेचन करने के लिए यहां यह बात ध्यान में रखनी है: यदि पूंजी का केवल परिमाणात्मक विस्तार होता है, तो व्यवसाय की उसी शाखा में बड़ी पूंजी लगाने पर बड़ा मुनाफ़ा होगा और छोटी पूंजी लगाने पर छोटा मुनाफ़ा होगा। यदि परिमाणात्मक विस्तार से गुणात्मक परिवर्तन भी हो जाता है तो उसके साथ-साथ ज्यादा बड़ी पूंजी के मुनाफ़े की दर भी बढ़ जायेगी।" – फ़्रें० एं०]

शक्ति में रूपांतरित किये जाते हैं और दूसरी ओर, $\frac{२}{३}$, $\frac{३}{४}$, $\frac{४}{५}$, $\frac{५}{६}$, $\frac{७}{८}$, इत्यादि भाग उत्पादन के साधनों में बदल दिये जाते हैं। चूंकि श्रम की मांग कुल पूंजी की मात्रा से नहीं, बल्कि केवल उसके परिवर्ती संघटक की मात्रा से निर्धारित होती है, इसलिए कुल पूंजी के बढ़ने के साथ-साथ यह मांग उसके अनुपात में नहीं बढ़ती, जैसा कि हमने पहले मान रखा था, बल्कि वह उत्तरोत्तर घटती जाती है। कुल पूंजी के परिमाण की तुलना में यह मांग कम हो जाती है, और जैसे-जैसे कुल पूंजी का परिमाण बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे यह मांग अधिकाधिक तेज रफ़्तार के साथ घटती जाती है। कुल पूंजी में वृद्धि होने पर उसका परिवर्ती संघटक या उसमें समाविष्ट श्रम भी बढ़ता है, पर लगातार घटते हुए अनुपात में बढ़ता है। वे अंतर्कालीन अवधियां छोटी हो जाती हैं, जिनमें संचय केवल एक निश्चित प्राविधिक आधार पर उत्पादन का साधारण विस्तार करता है। मजदूरों की अतिरिक्त संख्या को काम में लगाने के लिए, या यहां तक कि पुरानी पूंजी के अनवरत रूपांतरण के कारण पहले से काम में लगे हुए मजदूरों को काम पर लगाये रखने के लिए भी कुल पूंजी के पहले से तेज गति के संचय की आवश्यकता होती है और जरूरी होता है कि संचय की गति उत्तरोत्तर अधिक तेज होती जाये – बात इतनी ही नहीं है। इस बढ़ते हुए संचय और केंद्रीयकरण के फलस्वरूप पूंजी की संरचना में नये परिवर्तन हो जाते हैं और उसके स्थिर संघटक की तुलना में उसका परिवर्ती संघटक और भी तेज गति से घटने लगता है। कुल पूंजी की पहले से तेज वृद्धि के साथ-साथ उसके परिवर्ती संघटक में जो यह पहले से तेज तुलनात्मक कमी आती है और जो कमी कुल पूंजी की वृद्धि की गति से अधिक तीव्र गति से बढ़ती है, वह दूसरे ध्रुव पर इसका उल्टा रूप धारण कर लेती है, और लगता है, जैसे श्रमजीवी आबादी में निरपेक्ष वृद्धि होती जा रही है, और वह भी ऐसी तीव्र गति से कि परिवर्ती पूंजी या रोजगार देने के साधनों की वृद्धि की गति सदा उससे पीछे रहती है। परंतु वास्तव में तो पूंजीवादी संचय ख़ुद ही लगातार मजदूरों की एक अपेक्षाकृत अनावश्यक संख्या का उत्पादन करता रहता है, अर्थात् पूंजी के आत्मविस्तार की औसत आवश्यकताओं के लिए जो आबादी पर्याप्त होती है, पूंजीवादी संचय उससे बड़ी आबादी का, जो इस कारण बेशी आबादी होती है, उत्पादन करता रहता है, और यह उत्पादन वह स्वयं अपनी ऊर्जा और विस्तार के प्रत्यक्ष अनुपात में करता है।

यदि सामाजिक पूंजी पर उसकी समग्रता में विचार किया जाये, तो हम देखते हैं कि उसके संचय की प्रक्रिया कभी तो न्यूनाधिक रूप में समूची पूंजी पर असर डालनेवाले नियतकालिक परिवर्तन पैदा करती है और कभी एक ही समय में उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रों में इस प्रक्रिया की अलग-अलग अवस्थाएं दिखायी देने लगती हैं। कुछ क्षेत्रों में पूंजी के निरपेक्ष परिमाण में कोई वृद्धि नहीं होती, पर साधारण केंद्रीयकरण के फलस्वरूप उसकी संरचना में परिवर्तन हो जाता है; कुछ अन्य क्षेत्रों में पूंजी की निरपेक्ष वृद्धि के साथ-साथ उसके परिवर्ती संघटक में, या वह पूंजी जिस श्रम-शक्ति का अवशोषण करती है, उसमें निरपेक्ष कमी आ जाती है; फिर कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं कि जिनमें पूंजी कुछ समय तक तो अपने पुराने प्राविधिक आधार पर बढ़ती रहती है, और अपनी वृद्धि के अनुपात में अतिरिक्त श्रम-शक्ति को अपनी ओर आकर्षित करती है, पर उसके बाद उसमें आंगिक परिवर्तन हो जाता है और उसके परिवर्ती संघटक में कमी आ जाती है; सभी क्षेत्रों में पूंजी के परिवर्ती भाग में और इसलिए वह जिन मजदूरों से काम लेती है, उनकी संख्या में जो भी वृद्धि होती है, वह सदा बेशी आबादी के जबर्दस्त उतार-

चढ़ाव और क्षणिक उत्पादन के साथ जुड़ी होती है—यह चीज चाहे पहले से काम में लगे हुए मजदूरों को जवाब मिल जाने के अधिक स्पष्ट रूप में सामने आये, या इस अपेक्षाकृत कम स्पष्ट, किंतु उतने ही वास्तविक रूप में कि प्रचलित तरीक़ों के द्वारा बेशी आबादी को हज़म करना पहले से बहुत कठिन हो जाता है।[78] पहले से कार्यरत सामाजिक पूंजी के परिमाण तथा उसकी वृद्धि की मात्रा बढ़ने के साथ-साथ, उत्पादन के पैमाने का विस्तार होने तथा पूंजी जिन मजदूरों को गतिमान बनाती है, उनकी संख्या के बढ़ने के साथ-साथ, इन मजदूरों के श्रम की उत्पादिता में वृद्धि होने के साथ-साथ और धन के सभी स्रोतों की व्यापकता एवं पूर्णता में वृद्धि होने के साथ-साथ पूंजी और भी बड़े पैमाने पर पहले से अधिक मजदूरों को अपनी ओर आकर्षित करने के साथ-साथ उनको पहले से ज्यादा जोर से अपने से दूर धकेलने लगती है, इसके साथ-साथ पूंजी की आंगिक संरचना में और उसके प्राविधिक रूप में पहले से ज्यादा तेजी के साथ परिवर्तन होने लगते हैं और उत्पादन के क्षेत्रों की एक बढ़ती हुई संख्या कभी एक साथ और कभी बारी-बारी से इस परिवर्तन की लपेट में आने लगती है। इसलिए श्रम करनेवाली आबादी पूंजी के संचय के साथ-साथ उन साधनों को भी पैदा करती जाती है, जो ख़ुद इस

---

[78] इंगलैंड और वेल्स की जनगणना के आंकड़ों से पता चलता है: खेती में लगे सभी व्यक्तियों की (जिनमें जमींदार, काश्तकार, माली, गड़रिये, आदि शामिल थे) संख्या १८५१ में २०,११,४४७ थी और १८६१ में १९,२४,११० हो गयी थी, यानी उसमें ८७,३३७ की कमी आ गयी थी। बटे हुए ऊन का सामान तैयार करने के धंधे में लगे हुए तमाम व्यक्तियों की संख्या १८५१ में १,०२,७१४ थी और १८६१ में ७९,२४२ रह गयी थी। रेशम की बुनाई में १८५१ में १,११,९४० व्यक्ति काम करते थे, १८६१ में उनकी संख्या १,०१,६७८ रह गयी थी। दरेस की छपाई के धंधे में काम करनेवाले व्यक्तियों की संख्या १८५१ में १२,०९८ थी, और १८६१ में १२,५५६ हो गयी थी—इस उद्योग का जितना जबर्दस्त विकास हुआ था, उसको देखते हुए मजदूरों की संख्या की यह वृद्धि बहुत ही कम थी, और उसका अर्थ यह था कि सापेक्ष दृष्टि से इस धंधे में काम करनेवाले मजदूरों की संख्या में बहुत बड़ी कमी आ गयी थी। टोप बनाने के धंधे में काम करनेवालों की संख्या १८५१ में १५,९५७ थी, १८६१ में वह १३,८१४ रह गयी थी। पुआल के टोप और टोपियां बनाने के व्यवसाय में यह संख्या १८५१ में २०,३९३ और १८६१ में १८,१७६ थी। जौ की शराब बनाने के धंधे में यह संख्या १८५१ में १०,५६६ और १८६१ में १०,६७७ थी। मोमबत्तियां बनाने के धंधे में काम करनेवालों की संख्या १८५१ में ४,९४९ थी और १८६१ में ४,६८६ रह गयी थी,—अन्य कारणों के अलावा इस कमी का एक कारण यह भी था कि लोग गैस की रोशनी इस्तेमाल करने लगे थे। कंघे बनाने के धंधे में काम करनेवालों की संख्या १८५१ में २,०३८ और १८६१ में १,४७८ थी। आराकशों की तादाद १८५१ में ३०,५५२ थी और १८६१ में ३१,६४७—यह थोड़ी सी वृद्धि लकड़ी काटने की मशीनों की संख्या में वृद्धि आ जाने के कारण हुई थी। कीलें बनाने के उद्योग में १८५१ में २६,९४० व्यक्ति काम करते थे और १८६१ में २६,१३०—यह कमी मशीनों की प्रतियोगिता के कारण आयी थी। टिन और तांबे की खानों में काम करनेवालों की संख्या १८५१ में ३१,३६० और १८६१ में ३२,०४१ थी। दूसरी ओर, सूत की कताई और बुनाई के उद्योग में काम करनेवालों की संख्या १८५१ में ३,७१,७७७ थी और १८६१ में ४,५६,६४६ तक पहुंच गयी थी; कोयले की खानों में काम करनेवालों की तादाद १८५१ में १,८३,३८९ थी और १८६१ में २,४६,६१३ तक पहुंच गयी थी। "१८५१ के बाद से मजदूरों की संख्या में सबसे अधिक वृद्धि आम तौर पर उद्योग की ऐसी शाखाओं में हुई है, जिनमें अभी तक मशीनों का प्रयोग सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता है।" (*Census of England and Wales for 1861*, Vol. III, London, 1863, p. 36.)

आबादी को तुलनात्मक दृष्टि से अनावश्यक बना देते हैं और जो उसे सापेक्ष बेशी आबादी में परिणत कर देते हैं; और इन साधनों को वह सदा बढ़ते हुए परिमाण में पैदा करती जाती है।[79] जनसंख्या का यह नियम उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का एक विशिष्ट नियम है, और सच तो यह है कि उत्पादन की प्रत्येक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रणाली के जनसंख्या के अपने विशेष नियम होते हैं, जो केवल उसी प्रणाली की सीमाओं के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य होते हैं। जनसंख्या का निरपेक्ष नियम केवल पौधों और पशुओं पर लागू होता है, और वह भी केवल उसी हद तक, जिस हद तक कि मनुष्य ने उनके मामले में हस्तक्षेप नहीं किया है।

परंतु यदि श्रमजीवियों की बेशी आबादी पूंजीवादी आधार पर धन के संचय अथवा विकास की अनिवार्य उपज है, तो यह बेशी आबादी उलट कर पूंजीवादी संचय का लीवर भी बन जाती है – नहीं, बल्कि कहना चाहिए कि वह उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के अस्तित्व की एक आव-

---

[79] [**चौथे जर्मन संस्करण में जोड़ी गयी पाद-टिप्पणी:** परिवर्ती पूंजी के सापेक्ष परिमाण में जो उत्तरोत्तर कमी आती जाती है और मज़दूरी पर काम करनेवालों के वर्ग की स्थिति पर उसका जो प्रभाव पड़ता है, उनके नियम का क्लासिकीय संप्रदाय के कुछ प्रमुख अर्थशास्त्रियों ने कुछ-कुछ आभास तो पाया है, पर पूरी तरह समझा नहीं है। इस मामले में सबसे बड़ी सेवा जॉन बार्टन ने की थी, हालांकि दूसरे लोगों की तरह उन्होंने भी स्थिर तथा स्थायी और परिवर्ती तथा प्रचल पूंजी को गड्डमड्ड कर दिया है। बार्टन ने लिखा है:] "श्रम की मांग प्रचल पूंजी की वृद्धि पर निर्भर करती है, स्थायी पूंजी की वृद्धि पर नहीं। यदि यह बात सच होती कि इन दो प्रकार की पूंजियों के बीच हर समय और हर परिस्थिति में एक सा अनुपात रहता है, तो निश्चय ही उससे यह निष्कर्ष निकलता कि काम पर लगे मज़दूरों की संख्या राज्य के धन के अनुपात में होती है। परंतु इस प्रकार की स्थापना में तो संभाव्यता का आभास तक नहीं है। धंधों का जैसे-जैसे विकास होता है, सभ्यता का जैसे-जैसे विस्तार होता है, वैसे-वैसे प्रचल पूंजी की तुलना में स्थायी पूंजी का अनुपात बढ़ता जाता है। अंग्रेज़ी मलमल के एक थान के उत्पादन में जो स्थायी पूंजी इस्तेमाल होती है, उसका परिमाण उसी प्रकार की हिंदुस्तानी मलमल के एक थान के उत्पादन में इस्तेमाल होनेवाली स्थायी पूंजी के परिमाण से कम से कम सौगुना और संभवतया हज़ार गुना बड़ा होता है, और उसमें इस्तेमाल होनेवाली प्रचल पूंजी का अनुपात सौ गुना या हज़ार गुना कम होता है... यदि वर्ष भर की पूरी बचत स्थायी पूंजी में जोड़ दी जाये, तो भी उससे श्रम की मांग में कोई वृद्धि नहीं होगी।" (John Barton, *Observations on the Circumstances which Influence the Condition of the Labouring Classes of Society*, London, 1817, pp. 16, 17.) "जिस कारण से देश की शुद्ध आय बढ़ सकती है, उसी कारण से साथ ही यह भी हो सकता है कि जनसंख्या अनावश्यक बन जाये और मज़दूर की हालत ख़राब हो जाये।" (Ricardo, *Principles of Political Economy*, p. 469.) पूंजी की वृद्धि होने पर [श्रम की] "मांग घटती जायेगी"। (*l*.c., p. 480, Note.) "पूंजी की जो राशि श्रम के जीवन-निर्वाह के लिए इस्तेमाल होती है, वह पूंजी की कुल राशि में कोई परिवर्तन न आने पर भी घट-बढ़ सकती है... यह संभव है कि पूंजी की प्रचुरता के बढ़ने के साथ-साथ काम पर लगे मज़दूरों की संख्या में बार-बार भारी उतार-चढ़ाव आने लगें और उसके फलस्वरूप लोगों को बहुत कष्ट उठाना पड़े।" (Richard Jones, *An Introductory Lecture on Political Economy*, London, 1833, p. 12.) [श्रम की] "मांग... सामान्य पूंजी के संचय के अनुपात में नहीं बढ़ेगी... इसलिए राष्ट्रीय पूंजी का जो भाग पुनरुत्पादन में लगाया जानेवाला है, उसमें होनेवाली प्रत्येक वृद्धि का समाज की प्रगति के साथ-साथ मज़दूर की दशा पर अधिकाधिक कम प्रभाव पड़ता है।" (G. Ramsay, l.c., pp. 90, 91.)

श्यक शर्त बन जाती है। यह बेशी आबादी एक औद्योगिक रिज़र्व सेना का रूप धारण कर लेती है, जिसपर पूंजी का ऐसा परमाधिकार होता है कि मानो स्वयं पूंजी ने ही उसे अपने ख़र्चे से पाल-पोसकर तैयार किया हो। आबादी में सचमुच कितनी वृद्धि होती है, उसकी सीमाओं से स्वतंत्र होकर यह बेशी आबादी पूंजी के आत्मविस्तार की बदलती हुई आवश्यकताओं के लिए मानव-सामग्री की एक ऐसी राशि का सृजन कर देती है, जिसका सदैव ही शोषण किया जा सकता है। संचय और उसके साथ श्रम की उत्पादिता का जो विकास होता है, उनके साथ-साथ पूंजी की यकायक विस्तार कर जाने की शक्ति भी बढ़ जाती है। वह केवल इसीलिए नहीं बढ़ती कि पहले से काम में लगी हुई पूंजी की लोच में वृद्धि हो जाती है; वह केवल इसीलिए नहीं बढ़ती कि समाज का निरपेक्ष धन बढ़ जाता है, जिसका पूंजी केवल एक लोचदार भाग होती है; वह केवल इसीलिए नहीं बढ़ती कि हर प्रकार की विशेष उत्तेजना के फलस्वरूप साख-प्रणाली इस धन के एक असाधारण अंश को फ़ौरन अतिरिक्त पूंजी के रूप में उत्पादन को सौंप देती है; वह इसीलिए भी बढ़ जाती है कि उत्पादन की क्रिया के लिए जो प्राविधिक परिस्थितियां आवश्यक होती हैं – मशीनें, परिवहन के साधन, इत्यादि – वे ख़ुद अब यह संभव बना देती हैं कि बेशी उत्पाद को तीव्रतम गति से उत्पादन के अतिरिक्त साधनों में रूपांतरित कर दिया जाये। संचय की प्रगति के साथ सामाजिक धन की बाढ़ सी आ जाती है, और उसे अतिरिक्त पूंजी में बदला जा सकता है। यह धन मानो पागल होकर या तो उत्पादन की पुरानी शाखाओं में घुसने की कोशिश करता है, जिनकी मंडी का यकायक विस्तार हो जाता है, या वह उन नव-निर्मित शाखाओं में, जैसे रेलों, आदि में, प्रवेश कर जाता है, जिनकी आवश्यकता पुरानी शाखाओं के विकास के फलस्वरूप पैदा होती है। ऐसी तमाम सूरतों में इस बात की आवश्यकता होती है कि अन्य क्षेत्रों में उत्पादन के पैमाने को कोई हानि पहुंचाये बिना निर्णायक बिंदुओं पर बहुत बड़ी संख्याओं में मनुष्यों को झोंका जा सके। ये मनुष्य जनाधिक्य से प्राप्त होते हैं। आधुनिक उद्योग जिस विशिष्ट क्रम में से गुज़रता है, जो कि औसत दर्जे की क्रियाशीलता, बहुत तेज़ उत्पादन, संकट और ठहराव के कालों का एक दसवर्षीय चक्र है (जिसके बीच-बीच में अपेक्षाकृत छोटे प्रदोलन आते रहते हैं), वह इस बात पर निर्भर करता है कि बेशी आबादी अथवा औद्योगिक रिज़र्व सेना का निर्माण, न्यूनाधिक अवशोषण और पुनर्निर्माण बराबर होता रहे। उधर औद्योगिक चक्र की विभिन्न अवस्थाएं बेशी आबादी में नयी भर्ती करती चलती हैं और उसके पुनरुत्पादन का एक अत्यंत क्रियाशील अभिकर्ता बन जाती हैं।

आधुनिक उद्योग का यह विचित्र क्रम मानव-इतिहास के किसी भी पुराने युग में नहीं देखा गया था, और पूंजीवादी उत्पादन के बाल्यकाल में भी उसका होना असंभव था। पूंजी की संरचना में बहुत ही धीरे-धीरे परिवर्तन होता था। इसलिए जिस गति से पूंजी का संचय होता था, लगभग उसी गति से श्रम की मांग में भी तदनुरूप वृद्धि होती जाती थी। अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक काल की तुलना में उन दिनों हालांकि संचय की प्रगति बहुत धीमी थी, फिर भी वह शोषण के योग्य श्रमजीवी आबादी की प्राकृतिक सीमाओं से आगे नहीं बढ़ पाती थी, और इन सीमाओं को केवल ज़बर्दस्ती ही तोड़ा जा सकता था, जिसका ज़िक्र हम आगे करेंगे। उत्पादन के पैमाने का रुक-रुककर जो विस्तार होता है, वह उसके उतने ही आकस्मिक संकुचन की भूमिका होता है। और यह संकुचन फिर विस्तार के प्रेरक का काम करता है। परंतु यदि काम में जोत देने के लिए मानव-सामग्री का अभाव हो, यदि जनसंख्या की निरपेक्ष वृद्धि से स्वतंत्र रूप से मज़दूरों की संख्या में वृद्धि न हो गयी हो, तो विस्तार करना असंभव होता है।

यह वृद्धि उस सरल क्रिया के द्वारा संपन्न होती है, जो मज़दूरों के एक भाग को लगातार "मुक्त करती" जाती है। यह वृद्धि उन तरीक़ों के ज़रिये होती है, जिनसे काम में लगे हुए मज़दूरों की संख्या को बढ़े हुए उत्पादन के अनुपात में घटा दिया जाता है। अतएव आधुनिक उद्योग की गति का पूरा रूप इस बात पर निर्भर करता है कि वह श्रमजीवी जनसंख्या के एक भाग को लगातार बेकार या अर्ध-बेकार मज़दूरों में बदलती जाती है। राजनीतिक अर्थशास्त्र का छिछलापन इस बात से प्रकट होता है कि वह साख के विस्तार तथा संकुचन को, जो औद्योगिक चक्र के नियतकालिक परिवर्तनों का एक चिह्न मात्र होता है, उनका कारण समझता है। जिस तरह आकाश के नक्षत्र एक बार एक निश्चित प्रकार की गति में आ जाने के बाद सदा उसी गति को दोहराते रहते हैं, उसी तरह जब सामाजिक उत्पादन एक बार क्रमानुसार आनेवाले विस्तार और संकुचन के इस चक्र में फंस जाता है, तो वह उसी को दोहराता रहता है। प्रभाव अपनी बारी आने पर कारण बन जाते हैं, और इस पूरी क्रिया के, जो कि सदा अपनी आवश्यक परिस्थितियों का पुनरुत्पादन करती रहती है, आकस्मिक उतार-चढ़ाव नियतकालिकता का रूप धारण कर लेते हैं। जब एक बार यह नियतकालिकता सुदृढ़ हो जाती है, तब राजनीतिक अर्थशास्त्र भी यह समझ जाता है कि सापेक्ष बेशी आबादी का उत्पादन – अर्थात् पूंजी के आत्मविस्तार की औसत आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से बेशी आबादी का उत्पादन – आधुनिक उद्योग की एक आवश्यक शर्त है।

एच० मेरीवेल ने, जो पहले आक्सफ़ोर्ड में राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर थे और बाद में अंग्रेज़ी सरकार के औपनिवेशिक दफ़्तर में कर्मचारी हो गये थे, लिखा है: "मान लीजिये कि ऐसा कोई संकट आने पर राष्ट्र आंदोलित हो उठता है और कुछ लाख बेकार मज़दूरों से उत्प्रवास के द्वारा छुटकारा पाना चाहता है। उसका क्या परिणाम होगा? उसका परिणाम यह होगा कि श्रम की मांग के पुनः पैदा होते ही श्रम की कमी महसूस होने लगेगी। पुनरुत्पादन चाहे जितना तेज़ क्यों न हो, वयस्क श्रम का स्थान भरने में हर सूरत में एक पीढ़ी का समय गुज़र जाता है। अब हमारे कारख़ानेदारों का मुनाफ़ा मुख्यतया इस बात पर निर्भर करता है कि जिस समय मांग ज्यादा होती है, समृद्धि के उस क्षण से लाभ उठाने और कम मांग वाले व्यवधान की क्षति-पूर्ति करने की उनमें कितनी शक्ति है। यह शक्ति मशीनों और हाथ के श्रम से काम लेने के अधिकार से प्राप्त होती है। इसके लिए यह ज़रूरी है कि उनके पास हमेशा काम करने के लिए मज़दूर तैयार रहें और वे जब ज़रूरत हो, तब अपनी कार्रवाइयों को तेज़ कर सकें, और मंडी की हालत के अनुसार जब चाहें, तब फिर उनको मंद कर सकें। इस चीज़ के अभाव में कारख़ानेदार संभवतया प्रतियोगिता की दौड़ में अपनी उस श्रेष्ठता को क़ायम नहीं रख सकते, जिसपर देश के धन की नींव खड़ी है।"[80] यहां तक कि माल्थस भी यह बात स्वीकार करते हैं कि आधुनिक उद्योग के लिए जनाधिक्य का होना आवश्यक है, हालांकि अपने संकुचित ढंग के अनुसार वह जनाधिक्य का यह कारण बताते हैं कि श्रमजीवी जनसंख्या निरपेक्ष दृष्टि से बहुत ज्यादा बढ़ जाती है – तुलनात्मक दृष्टि से अनावश्यक बनने के कारण नहीं। उन्होंने लिखा है: "मुख्यतया कारख़ानों और वाणिज्य पर निर्भर करनेवाले देश के श्रमजीवी वर्ग में, विवाह के विषय में विवेकशीलता का जो अभ्यास पाया

---

[80] H. Merivale, *Lectures on Colonisation and Colonies*, London, 1841 and 1842, Vol. I, p. 146.

जाता है, उससे देश को हानि पहुंच सकती है... जनसंख्या का स्वरूप ही ऐसा होता है कि किसी विशेष मांग के फलस्वरूप १६ या १८ वर्ष के पहले मंडी में मजदूरों की संख्या को नहीं बढ़ाया जा सकता, और मुमकिन है कि बचत के द्वारा आय को इससे कहीं अधिक तेज़ी के साथ पूंजी में बदला जा सके। प्रत्येक देश में यह संभव है कि श्रम के जीवन-निर्वाह के कोष की मात्रा जनसंख्या की अपेक्षा अधिक तेज़ी से बढ़ती जाये।"[81] इस प्रकार यह प्रमाणित करने के बाद कि मजदूरों की सापेक्ष बेशी आबादी का निरंतर उत्पादन पूंजीवादी संचय के लिए अत्यंत आवश्यक है, राजनीतिक अर्थशास्त्र ने एक चिरकुमारी का अत्यंत समुपयुक्त रूप धारण करके अपने "आदर्श प्रेमी" – पूंजीपति – के मुंह से उन बेकार मजदूरों को संबोधन करते हुए, जो ख़ुद बेशी पूंजी का सृजन करने के कारण बेकार हो गये हैं, निम्नलिखित शब्द कहलवाये हैं: "उस पूंजी को बढ़ाकर, जिसके सहारे तुम्हारी परवरिश होती है, हम कारख़ानेदार तो तुम लोगों के लिए जो कुछ संभव है, सब कुछ कर रहे हैं, बाक़ी तुमको करना चाहिए, और वह यह कि अपनी संख्या को जीवन-निर्वाह के साधनों के अनुरूप कर लो।"[82]

जनसंख्या की प्राकृतिक वृद्धि के फलस्वरूप श्रम-शक्ति की जो मात्रा पूंजीवादी उत्पादन के लिए तैयार होती रहती है, उससे पूंजीवादी उत्पादन को कदापि संतोष नहीं हो सकता। ख़ूब खुलकर खेलने के लिए उसको एक ऐसी औद्योगिक रिज़र्व सेना की ज़रूरत होती है, जो इन प्राकृतिक सीमाओं से स्वतंत्र हो।

अभी तक हम यह मानकर चलते रहे हैं कि परिवर्ती पूंजी में जो घटा-बढ़ी होती है, वह काम में लगे हुए मज़दूरों की संख्या की घटा-बढ़ी के पूरी तरह अनुरूप होती है।

परंतु यह संभव है कि पूंजी के अधीन काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या तो ज्यों की त्यों रहे या यहां तक कि गिर भी जाये, परंतु परिवर्ती पूंजी की मात्रा फिर भी बढ़ती रहे। यह उस समय होता है, जब मज़दूर व्यक्तिगत रूप से पहले से अधिक श्रम करने लगता है और इसलिए उसकी मज़दूरी बढ़ जाती है, हालांकि श्रम का दाम ज्यों का त्यों रहता है या यहां तक कि गिर भी जाता है, परंतु श्रम की राशि की वृद्धि की तुलना में ज्यादा धीरे-धीरे गिरता है। ऐसी हालत में परिवर्ती पूंजी की वृद्धि इस बात की सूचक होती है कि पहले से अधिक श्रम हो रहा है, परंतु वह इस बात की सूचक नहीं होती कि पहले से अधिक संख्या में मज़दूरों से काम लिया जा रहा है। इसमें प्रत्येक पूंजीपति का परम स्वार्थ होता है कि यदि लागत लगभग एक सी बैठती है, अधिक मज़दूर लगाने के बजाय अपेक्षाकृत कम मज़दूरों से ही एक निश्चित मात्रा का श्रम करा लिया जाये। जब अधिक मज़दूरों से उतना ही श्रम कराया जाता है, तब स्थिर पूंजी का ख़र्चा श्रम की जो राशि हरकत में आती है, उसके अनुपात में बढ़ जाता है। पर जब छोटी संख्या से उतना ही श्रम कराया जाता है, तब इस ख़र्च में उससे बहुत कम वृद्धि होती है। उत्पादन का पैमाना जितना अधिक विस्तृत होता है, यह स्वार्थ इतना ही अधिक बलवान होता है। पूंजी के संचय के साथ-साथ यह भावना भी अधिकाधिक बल पकड़ती जाती है।

---

[81] Malthus, *Principles of Political Economy*, pp. 215, 319, 320; इस रचना में माल्थस ने अंत में सिस्मोंदी की सहायता से पूंजीवादी उत्पादन की शानदार त्रिमूर्ति का आविष्कार किया है। यह त्रिमूर्ति है: अति उत्पादन, अति जनसंख्या और अति उपभोग, जो तीनों निश्चय ही बड़े विचित्र राक्षस हैं। देखिये एंगेल्स की रचना *Umrisse zu einer Kritik der Nationalökonomie*, l.c., p. 107, et seq.

[82] Harriet Martineau, *A Manchester Strike*, London, 1832, p. 101.

हम यह देख चुके हैं कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली और श्रम की उत्पादक शक्ति का विकास, जो संचय का कारण भी है और परिणाम भी, पूंजीपति को इस योग्य बना देता है कि वह पहले जितनी ही परिवर्ती पूंजी लगाकर, पर हर अलग-अलग श्रम-शक्ति का पहले से अधिक (व्यापक या तीव्र) शोषण करके पहले से अधिक श्रम को गतिमान बना सकता है। हम यह भी देख चुके हैं कि जैसे-जैसे पूंजीपति कुशल मज़दूरों के स्थान पर अकुशल, परिपक्व श्रम-शक्ति के स्थान पर अपरिपक्व, पुरुषों के स्थान पर स्त्रियों को और वयस्कों के स्थान पर लड़के-लड़कियों तथा बच्चों को रखता जाता है, वैसे-वैसे वह पहले जितनी ही पूंजी लगाकर उत्तरोत्तर श्रम-शक्ति की पहले से बड़ी राशि ख़रीदता जाता है।

इसलिए एक ओर तो संचय की प्रगति के साथ-साथ पहले से बड़ी परिवर्ती पूंजी नये मज़दूरों को भर्ती किये बिना ही पहले से अधिक श्रम को गतिमान बनाती है; दूसरी ओर, पहले जितनी मात्रा की परिवर्ती पूंजी श्रम-शक्ति की पहले जितनी राशि का ही इस्तेमाल करते हुए पहले से अधिक श्रम को गतिमान बना देती है, और तीसरे, वह ज्यादा ऊंचे दर्जे की श्रम-शक्ति को जवाब देकर नीचे दर्जे की श्रम-शक्ति से पहले से बड़ी संख्या में काम लेती है।

अतः सापेक्ष बेशी आबादी के उत्पादन की प्रक्रिया, या मज़दूरों को बेरोज़गार बनाने की प्रक्रिया, उत्पादन प्रक्रिया की उस प्राविधिक क्रांति से भी अधिक तेज़ गति के साथ चलती है, जो संचय की प्रगति के साथ-साथ होती रहती है और जिसकी गति संचय के कारण और तेज़ हो जाती है; और इस क्रांति के साथ-साथ पूंजी के स्थिर अंश की तुलना में उसका परिवर्ती अंश जितनी तेज़ी से घटता है, सापेक्ष बेशी आबादी के उत्पादन की प्रक्रिया उससे भी ज़्यादा तेज़ी के साथ चलती है। उत्पादन के साधनों का विस्तार और कारगरता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, जैसे-जैसे यदि मज़दूरों को नौकर रखने के साधनों के रूप में उनकी क्षमता घटती जाती है, तो इस चीज़ में इस तथ्य से फिर यह संशोधन हो जाता है कि श्रम की उत्पादिता जितनी बढ़ जाती है, पूंजी अपनी मज़दूरों की मांग की अपेक्षा श्रम की पूर्ति को उतनी ही ज्यादा तेज़ी से बढ़ा लेती है। मज़दूर वर्ग का काम पर लगा हुआ भाग जो अत्यधिक श्रम करता है, उससे रिज़र्व भाग की संख्या और बढ़ जाती है; दूसरी ओर, रिज़र्व भाग अपनी प्रतियोगिता के द्वारा नौकरी में लगे हुए भाग पर अब पहले से अधिक दबाव डालता है, और उसके फलस्वरूप इस भाग को अत्यधिक श्रम करने तथा चुपचाप पूंजी का हुक्म बजाने के लिए मजबूर कर देता है। मज़दूर वर्ग के एक भाग से अत्यधिक काम कराके दूसरे भाग को ज़बर्दस्ती बेकार बनाये रखना और एक भाग को ज़बर्दस्ती ख़ाली हाथ बैठाकर दूसरे भाग से अत्यधिक काम लेना — यह अलग-अलग पूंजीपतियों का धन बढ़ाने का साधन बन जाता है,[83] और साथ ही उससे औद्यो-

---

[83] यहां तक कि १८६३ के कपास के अकाल के दिनों में भी हम यह पाते हैं कि कपास की कताई करनेवाले ब्लैकबर्न के कारीगरों की एक पुस्तिका में मज़दूरों से अत्यधिक काम लेने की प्रथा की सख़्त निंदा की गयी है। फ़ैक्टरी-क़ानूनों के फलस्वरूप इस प्रथा का बेशक केवल वयस्क पुरुषों पर ही प्रभाव पड़ता था। पुस्तिका में लिखा है: "इस मिल के वयस्क कारीगरों से १२ से १३ तक घंटे तक रोज़ाना काम करने के लिए कहा गया है, और उधर सैकड़ों ऐसे आदमी बेकार पड़े हैं, जो अपने बाल-बच्चों को ज़िंदा रखने के लिए और अपने भाइयों को अत्यधिक श्रम के कारण असमय मृत्यु का ग्रास बन जाने से बचाने के लिए हर रोज़ थोड़े समय तक काम करने के लिए भी राज़ी होंगे..." पुस्तिका में आगे लिखा है: "हम यह प्रश्न करना चाहेंगे कि क्या कुछ मज़दूरों से ओवरटाइम काम कराने की प्रथा के द्वारा मालिकों और कामगारों के बीच सद्भावना पैदा होगी? जिनसे ओवरटाइम काम लिया जाता है, वे भी इसे उतना ही बड़ा अन्याय समझते हैं, जितना वे कारीगर समझते हैं, जिन्हें ज़बर्दस्ती बेकार बनाकर रखा जाता है। हमारे इलाक़े में लगभग इतना काम है कि यदि उसका ठीक-ठीक बंटवारा किया जाये, तो सभी कारीगरों को आंशिक रोज़गार मिल सकता है। जब हम मालिकों से यह प्रार्थना

गिक रिज़र्व सेना के उत्पादन में तेज़ी आती है, और वह सामाजिक संचय की प्रगति के अनुरूप पैमाना प्राप्त कर लेता है। सापेक्ष बेशी आबादी के निर्माण में इस तत्त्व का कितना बड़ा महत्त्व है, यह बात इंगलैंड के उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। इंगलैंड के पास श्रम की बचत करने के अत्यधिक प्राविधिक साधन हैं। फिर भी यदि कल सुबह से आम तौर पर केवल विवेकसंगत मात्रा में मज़दूरों से श्रम कराया जाये और पूरे काम को आयु तथा लिंग भेद के अनुसार मज़दूर वर्ग के अलग-अलग हिस्सों में बांट दिया जाये, तो इस समय इंगलैंड में जितनी श्रमजीवी जनसंख्या मौजूद है, वह राष्ट्रीय उत्पादन को उसके वर्तमान पैमाने पर चलाने के लिए सर्वथा अपर्याप्त सिद्ध होगी। इस समय के "अनुत्पादक" मज़दूरों में से ज़्यादातर को तब "उत्पादक" मज़दूरों में बदल देना पड़ेगा।

यदि मज़दूरी के सामान्य उतार-चढ़ाव की सामान्य क्रियाओं की समग्रता पर विचार किया जाये, तो हम देखते हैं कि औद्योगिक रिज़र्व सेना का विस्तार और संकुचन ही अनन्य रूप से उनका नियमन करते हैं, और ये विस्तार और संकुचन औद्योगिक चक्र के नियतकालिक परिवर्तनों के अनुरूप होते हैं। इसलिए मज़दूरी के उतार-चढ़ाव की ये क्रियाएं इस बात से निर्धारित नहीं होतीं कि श्रमजीवियों की निरपेक्ष संख्या में कितनी घटा-बढ़ी हो गयी है, बल्कि वे इस बात से निर्धारित होती हैं कि सक्रिय तथा रिज़र्व सेना के बीच मज़दूर वर्ग का विभाजन किस अनुपात में हुआ है, बेशी आबादी की सापेक्ष मात्रा में वृद्धि हुई है या कमी आ गयी है और किस हद तक उसका उद्योग में अवशोषण हो जाता है या उसे किस हद तक फिर उद्योग से निकाल दिया जाता है। दसवर्षीय चक्रों और नियतकालिक अवस्थाओं वाले इस आधुनिक उद्योग के लिए, जिसके ये चक्र तथा अवस्थाएं संचय का विकास होने पर अधिकाधिक शीघ्रता के साथ एक दूसरे का अनुसरण करनेवाले अनियमित प्रदोलनों के कारण और भी जटिल बन जाती हैं, वह सचमुच एक बड़ा सुंदर नियम है, जो यह कहता है कि श्रम की मांग और पूर्ति का नियमन पूंजी के बारी-बारी से होनेवाले विस्तार और संकुचन से होता है, और यह कि जब पूंजी का विस्तार होता है, तब श्रम की मंडी में तुलनात्मक दृष्टि से कम श्रम दिखायी देने लगता है, और जब पूंजी का संकुचन होता है, तब मंडी फिर श्रम से अटी हुई मालूम

करते हैं कि उन्हें मज़दूरों के एक हिस्से से ओवरटाइम काम कराने के बजाय, जिसके कारण बाक़ी मज़दूरों को काम के अभाव में दान के सहारे ज़िंदा रहना पड़ता है, आम तौर पर हर रोज़ कम घंटे काम लेने की प्रथा पर चलना चाहिए और ख़ास तौर पर जब तक हम लोगों के लिए फिर से अच्छे दिन नहीं आ जाते, तब तक इसी प्रणाली का अनुसरण करना चाहिए, तब हम बिल्कुल न्यायोचित मांग करते हैं।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1863*, p. 8.) *Essay on Trade and Commerce* के लेखक ने अपनी सामान्य एवं अचूक पूंजीवादी सहजबुद्धि से यह बात भली भांति समझ ली है कि रोज़गार में लगे मज़दूरों पर सापेक्ष बेशी आबादी का क्या असर होता है। उसने लिखा है: "इस राज्य के लोगों में जो काहिली पायी जाती है, उसका एक और कारण यह है कि यहां श्रम करनेवाले मज़दूरों की पर्याप्त संख्या का अभाव है... जब कभी कारख़ानों की बनी चीज़ों की असाधारण मांग के कारण श्रम की कमी महसूस होती है, तब मज़दूर ख़ुद अपना महत्त्व महसूस करने लगते हैं और उसे मालिकों को भी महसूस कराना चाहते हैं; —यह बड़े आश्चर्य की बात है, मगर इन लोगों की प्रवृत्तियां इतनी दूषित हो गयी हैं कि ऐसा होने पर अकसर कुछ मज़दूर मालिक को तंग करने के लिए इकट्ठा हो जाते हैं और मिलकर पूरा दिन काहिली में बिता देते हैं।" (*Essay etc*,. pp. 27, 28.) असल में ये लोग अपनी मज़दूरी बढ़वाना चाहते थे।

होने लगती है, बल्कि जो इसके बजाय यह दावा करता है कि ख़ुद पूंजी की गति जनसंख्या के निरपेक्ष परिवर्तनों पर निर्भर करती है। परंतु अर्थशास्त्री इसी रूढ़ि से चिपके हुए हैं। उनके मतानुसार मज़दूरी पूंजी के संचय के फलस्वरूप बढ़ती है। मज़दूरी बढ़ जाती है, तो उससे काम करनेवाली आबादी को पहले से ज्यादा तेज़ी के साथ अपनी संख्या को बढ़ाने की प्रेरणा मिलती है, और यह चीज़ उस वक़्त तक जारी रहती है, जब तक कि श्रम की मंडी फिर नहीं अट जाती और इसलिए जब तक कि श्रम की पूर्ति की तुलना में पूंजी फिर अपर्याप्त नहीं हो जाती। तब मज़दूरी गिर जाती है और तस्वीर का दूसरा रुख़ हमारे सामने आता है। मज़दूरी के गिरते जाने के फलस्वरूप काम करनेवाली आबादी थोड़ी-थोड़ी करके नष्ट होती जाती है, जिससे मज़दूरों की तुलना में पूंजी की मात्रा फिर ज्यादा हो जाती है, या, जैसा कि कुछ दूसरे इसे व्यक्त करते हैं, मज़दूरी के गिरते जाने और मज़दूर के शोषण में तदनुरूप वृद्धि होते जाने के फलस्वरूप संचय में फिर तेज़ी आ जाती है और उधर इसके साथ-साथ कम मज़दूरी मज़दूर वर्ग की वृद्धि पर रोक लगाये रहती है। इसके बाद फिर वह समय आता है, जब श्रम की पूर्ति उसकी मांग से कम हो जाती है, मज़दूरी बढ़ने लगती है, और वह पूरा क्रम फिर शुरू हो जाता है। विकसित पूंजीवादी उत्पादन की गति की यह कितनी सुंदर विधि है! इसके पहले कि मज़दूरी के बढ़ जाने के फलस्वरूप सचमुच काम करने के योग्य आबादी में कोई ठोस वृद्धि हो, वह समय कई बार आ-आकर गुज़र जायेगा, जिसमें यह औद्योगिक संग्राम चलाया जा चुका होगा और लड़ाई लड़कर जीती जा चुकी होगी।

१८४९ और १८५९ के बीच इंगलैंड के खेतिहर डिस्ट्रिक्टों में मज़दूरी में थोड़ी सी वृद्धि हुई, जो व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्वहीन थी, हालांकि यह सही है कि उसके साथ-साथ अनाज के दाम गिर गये थे। मिसाल के लिए, विल्टशायर में साप्ताहिक मज़दूरी ७ शिलिंग से ८ शिलिंग हो गयी थी, डॉरसेटशायर में ७ शिलिंग या ८ शिलिंग से ९ शिलिंग हो गयी थी, और इसी तरह अन्य स्थानों में भी। यह इस बात का परिणाम था कि युद्ध की आवश्यकताओं और रेलों, फ़ैक्टरियों, खानों, आदि के विस्तार के कारण खेतिहरों की बेशी आबादी असाधारण परिमाण में गांवों को छोड़कर चली गयी थी। मज़दूरी जितनी नीची होती है, इस प्रकार की महत्त्वहीन वृद्धि उसके अनुपात में उतनी ही ऊंची प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए, यदि साप्ताहिक मज़दूरी २० शिलिंग हो और वह बढ़कर २२ शिलिंग हो जाये, तो उसमें १० प्रतिशत की वृद्धि होगी; परंतु यदि वह केवल ७ शिलिंग हो और बढ़कर ९ शिलिंग हो जाये, तो उसमें २८$\frac{४}{७}$ प्रतिशत की वृद्धि हो जायेगी, जो बहुत प्रभावपूर्ण प्रतीत होगी। चुनांचे हर तरफ़ काश्तकार लोग चीख़-पुकार मचा रहे थे, और मज़दूरी की इन दरों के बारे में, जिनके सहारे आदमी केवल आधा पेट खाकर ही ज़िंदा रह सकता था, लंदन के *Economist* ने पूर्ण गंभीरता के साथ कहा था कि खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी में "आम तौर पर और पर्याप्त वृद्धि" हो गयी है।[84] तब काश्तकारों ने क्या किया? क्या उन्होंने इसके लिए इन्तज़ार किया कि इस शानदार उजरत के नतीजे के तौर पर खेतिहर मज़दूरों की तादाद इतनी ज्यादा बढ़ जायेगी और उनकी नस्ल इतनी अधिक फलेगी-फूलेगी कि रूढ़िवादी आर्थिक मस्तिष्क के आदेशानुसार उनकी मज़दूरी फिर अपने आप लाज़िमी तौर पर गिर जायेगी? नहीं, काश्तकारों ने पहले

---

[84] *Economist*, Jan. 21, 1860.

से ज्यादा मशीनें इस्तेमाल करना शुरू कर दिया, और देखते ही देखते मज़दूर फिर उस अनुपात में अनावश्यक बन गये, जो काश्तकारों तक के लिए संतोषजनक था। अब "पहले से ज्यादा पूंजी" पहले से अधिक उत्पादक रूप में खेती में लगा दी गयी थी। इसके फलस्वरूप श्रम की मांग न केवल सापेक्ष दृष्टि से कम हो गयी, बल्कि निरपेक्ष दृष्टि से भी गिर गयी।

उपर्युक्त आर्थिक कपोल-कल्पना मज़दूरी के आम उतार-चढ़ाव का, या मज़दूर वर्ग – अर्थात् कुल श्रम-शक्ति – और कुल सामाजिक पूंजी के अनुपात का नियमन करनेवाले नियमों को उन नियमों के साथ गड़बड़ा देती है, जिनके अनुसार काम करनेवाली आबादी का उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रों में बंटवारा होता है। मिसाल के लिए, यदि कुछ अनुकूल परिस्थितियों के फलस्वरूप उत्पादन के किसी ख़ास क्षेत्र में संचय में विशेष रूप से तेज़ी आ जाती है और इस क्षेत्र के मुनाफ़े औसत मुनाफ़ों से ऊंचे होने के कारण नयी पूंजी को इस क्षेत्र की ओर आकर्षित करते हैं, तो ज़ाहिर है कि वहां श्रम की मांग बढ़ जायेगी और उसके साथ मज़दूरी भी बढ़ जायेगी। ऊंची मज़दूरी के कारण काम करनेवाली आबादी का भी पहले से बड़ा भाग इस क्षेत्र की ओर खिंच आयेगा, और यह चीज़ उस वक़्त तक जारी रहेगी, जब तक कि यह क्षेत्र श्रम-शक्ति से अट नहीं जाता और जब तक मज़दूरी आख़िर फिर अपने औसत स्तर पर या मज़दूरों की अत्यधिक पूर्ति के कारण उसके भी नीचे नहीं पहुंच जाती। तब न सिर्फ़ उद्योग की इस विशेष शाखा में मज़दूरों का आगमन रुक जायेगा, बल्कि उसके स्थान पर इस शाखा से मज़दूरों का बहिर्गमन आरंभ हो जायेगा। यहां राजनीतिक अर्थशास्त्री को यह ख़याल होता है कि इस बिंदु पर पहुंचकर वह यह बात पूरी तरह समझ जाता है कि ऐसा क्यों और किस कारण से होता है कि मज़दूरी बढ़ जाने पर मज़दूरों की संख्या में निरपेक्ष वृद्धि हो जाती है और मज़दूरों की संख्या में निरपेक्ष वृद्धि होने पर मज़दूरी घट जाती है। परंतु वास्तव में वह उत्पादन के केवल एक ख़ास क्षेत्र की श्रम की मंडी में आनेवाले स्थानीय प्रदोलनों को ही देखता है, वह केवल उन्हीं घटनाओं को देखता है, जो पूंजी की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार पूंजी लगाने के अलग-अलग क्षेत्रों में काम करनेवाली आबादी के विभाजन के साथ घटती हैं।

ठहराव और औसत समृद्धि के काल में औद्योगिक रिज़र्व सेना सक्रिय श्रमिक सेना के गले का पत्थर बन जाती है; अति उत्पादन और अंधाधुंध तेज़ी के ज़माने में वह सक्रिय श्रमिकों की मांगों और दावों को रोके रखती है। इसलिए सापेक्ष बेशी आबादी वह धुरी है, जिसके सहारे श्रम की मांग और पूर्ति का नियम काम करता है। वह इस नियम के कार्यक्षेत्र को शोषण की क्रिया और पूंजी के प्रभुत्व के लिए सर्वथा सुविधाजनक सीमाओं तक सीमित कर देती है।

इस स्थान पर हमें फिर वर्तमान व्यवस्था की वकालत करनेवाले अर्थशास्त्रियों के एक बड़े शानदार कारनामे पर विचार करना होगा। पाठकों को याद होगा कि जब नयी मशीनों का इस्तेमाल शुरू करके या पुरानी मशीनों का विस्तार करके परिवर्ती पूंजी के एक भाग को स्थिर पूंजी में बदल दिया जाता है, तो वर्तमान व्यवस्था की वकालत करनेवाला अर्थशास्त्री इस क्रिया का, जो पूंजी को "अचल बना देती है" और साथ ही मज़दूरों को रोज़गार से "मुक्त" कर देती है, बिल्कुल उल्टा अर्थ लगाता है और कहता है कि यह क्रिया तो मज़दूरों के लिए पूंजी को मुक्त कर देती है। वर्तमान व्यवस्था के इन वकीलों की धृष्टता पूरी तरह केवल अब स्पष्ट होती है। जिनको मुक्ति मिल जाती है, उनमें सिर्फ़ वे ही मज़दूर शामिल नहीं होते, जिनको मशीनें आते ही काम से निकलवा देती हैं, बल्कि उनमें आनेवाली पीढ़ियों के वे लोग भी शा-

मिल होते हैं, जो इन मज़दूरों का भविष्य में स्थान लेंगे, और उनमें मज़दूरों का वह नया जत्था भी शामिल होता है, जिसको व्यवसाय का पुराने आधार पर सामान्य विस्तार होने पर नियमित रूप से काम मिलता जाता। अब इन तमाम लोगों को "मुक्ति मिल जाती है" और अपने लिए कार्यक्षेत्र की तलाश करनेवाला पूंजी का हर नया टुकड़ा उनका इच्छानुसार प्रयोग कर सकता है। वह पूंजी चाहे इन मज़दूरों को अपनी ओर खींचे, चाहे किन्हीं और मज़दूरों को, यदि वह परिमाण में केवल उन मज़दूरों को ही मंडी से निकाल ले जाने के लिए काफ़ी है, जिनको मशीनों ने मंडी में पटक दिया था, तो श्रम की सामान्य मांग पर उसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि यह पूंजी इससे कम संख्या में मज़दूरों को काम देती है, तो फ़ालतू मज़दूरों की संख्या बढ़ जायेगी; यदि वह इससे अधिक संख्या में मज़दूरों को रख लेती है, तो इन मज़दूरों की संख्या "मुक्त कर दिये गये" मज़दूरों की संख्या से जितनी ज्यादा होगी, श्रम की सामान्य मांग में केवल उतनी ही वृद्धि होगी। अतः अपने लिए कार्यक्षेत्र तलाश करनेवाली अतिरिक्त पूंजी से किसी और परिस्थिति में श्रम की सामान्य मांग को जो बढ़ावा मिलता, उसका असर यहां पर हर हालत में उस हद तक ख़त्म हो जायेगा, जिस हद तक कि मशीन मज़दूरों को काम से जवाब दिलवा देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूंजीवादी उत्पादन का यंत्र ऐसा प्रबंध करता है कि पूंजी की निरपेक्ष वृद्धि होने पर उसके साथ-साथ श्रम की सामान्य मांग में तदनुरूप वृद्धि नहीं होती। और वर्तमान व्यवस्था की वकालत करनेवाला अर्थशास्त्री कहता है कि इससे उन समस्त दुःखों, यातनाओं और संभावित मौतों की क्षति-पूर्ति हो जाती है, जिनका पहाड़ विस्थापित मज़दूरों पर संक्रमणकाल में टूट पड़ता है, जब कि ये मज़दूर उद्योगों से निकाले जाकर औद्योगिक रिज़र्व सेना में भर्ती होने के लिए मजबूर कर दिये जाते हैं! श्रम की मांग और पूंजी की वृद्धि – ये दोनों एक चीज़ नहीं हैं, न ही श्रम की पूर्ति और मज़दूर वर्ग की वृद्धि एक चीज़ हैं; यहां ऐसा नहीं है कि दो स्वतंत्र शक्तियां एक दूसरी पर प्रभाव डाल रही हों। Les dés sont pipés [यहां तो पांसा हमेशा एक के ही पक्ष में पड़ता है]। पूंजी एक ही समय में दोनों तरफ़ अपने हाथ दिखाती है। यदि एक ओर, उसके संचय से श्रम की मांग बढ़ जाती है, तो दूसरी ओर, वह मज़दूरों को "मुक्त करके" उनकी पूर्ति को बढ़ा देती है, और साथ ही बेकार मज़दूरों का दबाव काम से लगे मज़दूरों को पहले से अधिक श्रम करने के लिए मजबूर कर देता है और इसलिए कुछ हद तक श्रम की पूर्ति को मज़दूरों की पूर्ति से स्वतंत्र कर देता है। इस आधार पर श्रम की पूर्ति और मांग का नियम जिस तरह कार्य करता है, उससे पूंजी की निरंकुशता संपूर्ण हो जाती है। अतः जैसे ही मज़दूरों को इस रहस्य का पता चलता है कि वे जितना अधिक काम करते हैं, दूसरों के लिए जितनी अधिक दौलत पैदा करते हैं और उनके श्रम की उत्पादिता जितनी अधिक बढ़ती जाती है, पूंजी के आत्मविस्तार के एक साधन के रूप में उनका कार्य किस तरह ख़ुद उनके लिए ही उतना ज्यादा ख़तरनाक बनता जाता है; जैसे ही मज़दूरों को यह मालूम होता है कि ख़ुद उनके बीच जो प्रतियोगिता चलती रहती है, उसकी तीव्रता की मात्रा पूरी तरह इस बात पर निर्भर करती है कि उनपर सापेक्ष बेशी आबादी का कितना दबाव पड़ रहा है; और इसलिए जैसे ही वे अपने वर्ग को पूंजीवादी उत्पादन के इस स्वाभाविक नियम के सत्यानाशी प्रभाव से मुक्त करने या उसके प्रभाव को कमज़ोर करने के लिए ट्रेड-यूनियनों, आदि के ज़रिये, काम से लगे मज़दूरों और बेकार मज़दूरों के बीच नियमित सहकारिता का संगठन करने का प्रयत्न करते हैं, वैसे ही पूंजी और उसका चाटुकार, राजनीतिक अर्थशास्त्र, यह चिल्लाने लगते हैं

कि पूर्ति और मांग के "शाश्वत" और मानो "पावन" नियम का उल्लंघन किया जा रहा है। काम से लगे हुए मज़दूरों और बेकार मज़दूरों का प्रत्येक सहयोग इस नियम के "निर्विघ्न रूप से" कार्य करने में बाधा डालता है। मगर दूसरी ओर, जैसे ही प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण (मिसाल के लिए, उपनिवेशों में) औद्योगिक रिज़र्व सेना के निर्माण में बाधा पड़ती है और इसलिए मज़दूर वर्ग पूरी तरह पूंजीपति वर्ग के अधीन नहीं बनता, वैसे ही पूंजी, मय अपने मुसाहब अर्थशास्त्र के, पूर्ति और मांग के इस "पावन" नियम के विरुद्ध विद्रोह कर उठती है और ज़ोर-ज़बर्दस्ती तथा राज्य के हस्तक्षेप के द्वारा उसको अमल में आने से रोकने की कोशिश करने लगती है।

अनुभाग ४ – सापेक्ष बेशी आबादी के विभिन्न रूप। पूंजीवादी संचय का सामान्य नियम

सापेक्ष बेशी आबादी हर संभव रूप में मिलती है। हर मज़दूर जब केवल आंशिक रूप से रोज़गार से लगा होता है या पूरी तरह बेकार होता है, तब वह इसी श्रेणी में गिना जाता है। औद्योगिक चक्र की बदलती हुई अवस्थाएं सापेक्ष बेशी आबादी को प्रभावित करती हैं। जब संकट का काल आता है, तो वह बहुत उग्र रूप धारण कर लेती है; जब मंदी का जमाना आता है, तो वह दीर्घस्थायी बन जाती है। पर यदि हम बार-बार सामने आनेवाले इन व्यापक एवं नियतकालिक रूपों की ओर ध्यान न दें, तो सापेक्ष बेशी आबादी हमेशा तीन रूपों में दिखायी देती है: अस्थायी, अव्यक्त और गतिरुद्ध रूप में।

आधुनिक उद्योग के केंद्रों में – फ़ैक्टरियों, कारख़ानों, लोहे के कारख़ानों, खानों, आदि में – कभी मज़दूरों को काम से जवाब मिल जाता है, कभी पहले से बड़ी संख्या में फिर रख लिया जाता है, और इस तरह काम से लगे हुए मज़दूरों की संख्या कुल मिलाकर बढ़ती जाती है, हालांकि उत्पादन के पैमाने के अनुपात में वह बराबर कम होती जाती है। यह बेशी आबादी का अस्थायी रूप होता है।

स्वसंचालित फ़ैक्टरियों में और उसी भांति उन सभी बड़ी वर्कशापों में भी, जहां मशीनें व्यवस्था में प्रवेश कर गयी हैं या जहां केवल आधुनिक ढंग का श्रम-विभाजन है, लड़कों को बहुत बड़ी संख्या में काम पर रखा जाता है। वे वयस्क होने तक वहां काम करते हैं। जब एक बार यह अवस्था आ जाती है, तब उनमें से बहुत ही कम ऐसे होते हैं, जिनको उद्योग की उन्हीं शाखाओं में काम मिलती है, और उनमें से अधिकतर को वयस्क होते ही नियमित रूप से बर्ख़ास्त कर दिया जाता है। इन मज़दूरों का यह अधिकतर भाग अस्थायी बेशी आबादी का भाग बन जाता है, जो उद्योग की इन शाखाओं के विस्तार के साथ-साथ परिमाण में बढ़ता जाता है। उनमें से कुछ देश छोड़कर चले जाते हैं; वे वास्तव में देश छोड़कर चली जानेवाली पूंजी का ही अनुसरण करते हैं। इसका एक नतीजा यह होता है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की आबादी ज्यादा तेज़ी से बढ़ती है, जैसा कि हम इंगलैंड में देख सकते हैं। यह बात कि मज़दूरों की संख्या में जो स्वाभाविक वृद्धि होती है, उससे पूंजी के संचय की आवश्यकताएं पूरी नहीं होतीं और फिर भी वह हमेशा उनसे ज्यादा रहती है – यह विरोध स्वयं पूंजी की गति के भीतर निहित है। पूंजी सदा लड़कों को पहले से बड़ी संख्या में और वयस्कों को पहले से छोटी संख्या में नौकर रखना चाहती है। यह विरोध इस विरोध से अधिक भयानक नहीं है कि एक तरफ़ तो मज़दूरों की कमी का रोना रोया जाता है और उसी के साथ-साथ दूसरी तरफ़,

हज़ारों आदमी बेकार रहते हैं, क्योंकि श्रम-विभाजन उनको उद्योग की एक ख़ास शाखा के साथ बांधे रखता है।[85]

इसके अलावा पूंजी इतनी तेज़ी के साथ श्रम-शक्ति का उपभोग करती है कि मज़दूर की आधी उम्र भी नहीं बीतने पाती, और उसका लगभग सारा सत निकल जाता है। तब वह या तो बेकारों की पांत में शरीक हो जाता है या उसे पहले से निम्न स्तर का काम करने का मजबूर होना पड़ता है। सबसे कम समय तक ज़िंदा रहनेवाले लोग हमें आधुनिक उद्योग के मज़दूरों में ही मिलते हैं। मैंचेस्टर के स्वास्थ्य-अफ़सर, डा० ली ने बताया कि "मैंचेस्टर में... उच्च मध्य वर्ग के लोगों की मृत्यु औसतन ३८ वर्ष की आयु में होती है, जब कि श्रम-जीवी वर्ग के लोग औसतन १७ वर्ष की उम्र में ही मौत का शिकार हो जाते हैं। लिवरपूल में उच्च मध्य वर्ग के लोग औसतन ३५ वर्ष की आयु में और श्रमजीवी वर्ग के लोग १५ वर्ष की आयु में मरते हैं। इससे प्रकट होता है कि खाते-पीते वर्गों की जीवन-अवधि कम भाग्यशाली नागरिकों की जीवन-अवधि की दुगुनी से भी अधिक होती है।"[85a] ऐसी परिस्थिति में सर्वहारा के इस हिस्से की संख्या में इस प्रकार की निरपेक्ष वृद्धि होनी चाहिए कि उसके अलग-अलग सदस्यों के बहुत तेज़ी से मरते-खपते रहने के बावजूद इस हिस्से की कुल संख्या बराबर बढ़ती जाये। इसलिए ज़रूरी है कि बहुत जल्दी-जल्दी मज़दूरों की एक पीढ़ी का स्थान दूसरी पीढ़ी लेती जाये (आबादी के अन्य वर्गों पर यह नियम लागू नहीं होता)। यह सामाजिक आवश्यकता इस तरह पूरी होती है कि मज़दूरों के बच्चों का बहुत जल्दी विवाह हो जाता है। आधुनिक उद्योग में मज़दूरों को जिन परिस्थितियों में रहना पड़ता है, उनका यह लाज़िमी नतीजा होता है। दूसरे, यह सामाजिक आवश्यकता इस तरह पूरी होती है कि बच्चों के श्रम के इस्तेमाल के परिणामस्वरूप मज़दूरों को बच्चे पैदा करने में फ़ायदा दिखायी देने लगता है।

जैसे ही पूंजीवादी उत्पादन खेती पर अधिकार कर लेता है, वैसे ही और जिस हद तक वह ऐसा करता है, उस हद तक खेतिहर श्रमजीवी जनसंख्या की मांग निरपेक्ष रूप से कम हो जाती है और दूसरी ओर, खेती में लगी हुई पूंजी का तेज़ी से संचय होने लगता है, परंतु अन्य उद्योगों की तरह यहां पर मज़दूरों के प्रतिकर्षण की आकर्षण की वृद्धि के द्वारा क्षति-पूर्ति नहीं होती। इसलिए खेतिहर आबादी का एक भाग हमेशा शहरी सर्वहारा में अथवा उद्योगों में काम करनेवाले मज़दूरों में सम्मिलित हो जाने को विवश होता है और इस रूपांतरण के लिए अनुकूल परिस्थितियां खोजा करता है। (यहां पर उद्योगों से हमारा मतलब खेती के अलावा तमाम उद्योगों से है)।[86] इस प्रकार सापेक्ष बेशी आबादी का यह स्रोत लगातार बहता रहता है।

---

[85] १८६६ के अंतिम छः महीनों में लंदन के अस्सी-नब्बे हज़ार मज़दूरों की रोज़ी छिन गयी थी, पर इसी छमाही की फ़ैक्टरी रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि "यह कहना पूरी तरह सच नहीं प्रतीत होता कि मांग हमेशा ठीक उसी समय पूर्ति को पैदा कर देती है, जिस समय उसकी आवश्यकता होती है। श्रम की पूर्ति इस तरह नहीं पैदा हो सकी है, क्योंकि पिछले वर्ष बहुत सारी मशीनें मज़दूरों के अभाव के कारण बेकार पड़ी रही हैं।" (*Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1866*, p. 81.)

[85a] सफ़ाई-सम्मेलन, बर्मिंघम, १५ जनवरी १८७५ का उद्घाटन-भाषण; शहर के मेयर और आजकल (१८८३ में) व्यापार-बोर्ड के अध्यक्ष जे० चैम्बेरलेन द्वारा।

[86] १८६१ की जनगणना में इंगलैंड और वेल्स के जिन ७८१ शहरों का ज़िक्र है, उनमें "१,०६,६०,६६८ व्यक्ति रहते थे, जबकि गांवों में और देहाती बस्तियों के लोगों की संख्या

परंतु शहरों की ओर लगातार जो धारा बहती रहती है, उसके लिए ज़रूरी है कि ख़ुद देहात में हमेशा अव्यक्त बेशी आबादी बनी रहे, जिसका विस्तार केवल उसी समय स्पष्ट रूप से दिखायी देता है, जब इस धारा के द्वार असाधारण चौड़ाई तक खोल दिये जाते हैं। इसीलिए खेतिहर मज़दूर को सदा कम से कम मज़दूरी मिलती है, और उसका एक पैर सदा कंगाली के दलदल में फंसा रहता है।

तीसरे प्रकार की सापेक्ष बेशी आबादी, निष्प्रवाह बेशी आबादी, सक्रिय श्रमिक सेना का ही एक भाग होती है, परंतु उसको बहुत ही अनियमित रूप से काम मिलता है। अतः उसके रूप में पूंजी के लिए सदा उपलब्ध श्रम-शक्ति का एक अक्षय भंडार तैयार हो जाता है। इन श्रमिकों का जीवन-स्तर मज़दूर वर्ग के औसत सामान्य जीवन-स्तर के नीचे गिर जाता है, और इस कारण श्रमिकों का यह हिस्सा तुरंत ही पूंजीवादी शोषण की विशेष शाखाओं का व्यापक आधार बन जाता है। इस हिस्से की विशेष बात यह होती है कि उसे ज़्यादा से ज़्यादा देर तक काम करना पड़ता है और कम से कम मज़दूरी मिलती है। इसके प्रधान रूप का हम 'घरेलू उद्योग' शीर्षक से पहले ही परिचय प्राप्त कर चुके हैं। इस हिस्से में आधुनिक उद्योग और खेती के फ़ालतू मज़दूर बराबर भर्ती होते रहते हैं, उसमें ख़ास तौर पर उद्योग की उन पतनोन्मुख शाखाओं के मज़दूर भर्ती होते हैं, जिनमें दस्तकारी मैन्यूफ़ैक्चर के सामने ख़त्म होती जा रही है और मैन्यूफ़ैक्चर को मशीनें कुचलती जा रही हैं। जैसे-जैसे संचय के विस्तार और तेज़ी के साथ बेशी आबादी बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे यह हिस्सा भी बढ़ता जाता है, परंतु इसके साथ-साथ मज़दूर वर्ग का यह एक ऐसा तत्त्व है, जो ख़ुद अपना पुनरुत्पादन करता रहता है, जो अपने को हमेशा ज़िंदा रखता है और जो मज़दूर वर्ग की सामान्य वृद्धि में उसके अन्य तत्त्वों की अपेक्षा ज़्यादा बड़ा हिस्सा लेता है। सच पूछिये, तो न सिर्फ़ जन्म और मृत्यु की संख्या का, बल्कि परिवारों के निरपेक्ष आकार का भी मज़दूरी की दर की ऊंचाई के साथ प्रतिलोम अनुपात होता है, अर्थात् उनका अलग-अलग कोटि के मज़दूरों को जीवन-निर्वाह के जो साधन मिलते हैं, उनकी मात्रा के साथ प्रतिलोम अनुपात होता है। पूंजीवादी समाज का यह नियम जंगलियों के संबंध में और यहां तक कि सभ्य उपनिवेशियों के संबंध में भी बिल्कुल बेतुका प्रतीत होगा। उससे उन पशुओं के अंधाधुंध और सीमाहीन पुनरुत्पादन की याद आती है, जिनमें से हरेक अलग-अलग बहुत कमज़ोर होता है और इसलिए जो हमेशा दूसरे पशुओं के शिकार बनते रहते हैं।[87]

६१,०५,२२६ थी। १८५१ की जनगणना में ५८० शहरों का शहर के रूप में ज़िक्र किया गया था, और उनकी तथा इर्दगिर्द के देहात की आबादी लगभग बराबर थी। परंतु उसके बाद के दस वर्षों में जहां गांवों और देहात की आबादी में ५ लाख का इज़ाफ़ा हुआ, वहां ५८० शहरों की आबादी में पंद्रह लाख (१५,५४,०६७) की वृद्धि हुई। देहाती बस्तियों की आबादी ६.५ प्रतिशत बढ़ गयी, शहरों की आबादी १७.३ प्रतिशत बढ़ गयी। वृद्धि की दर के इस अंतर का कारण यह है कि लोग देहात छोड़कर शहरों में चले आये थे। आबादी में कुल जितनी वृद्धि हुई है, उसका तीन चौथाई भाग शहरों की आबादी में वृद्धि का है।" (*Census etc.*, pp. 11, 12.)

[87] "ग़रीबी प्रजनन के लिए अनुकूल प्रतीत होती है" (ऐडम स्मिथ)। रसिक और परिहासप्रिय पादरी गालियानी का तो यह तक विचार है कि यह एक विशेष रूप से बुद्धिमत्तापूर्ण ईश्वरीय विधान है। "इसी का नतीजा है कि जो लोग प्राथमिक उपयोगिता के धंधों में काम करते हैं, वे ख़ूब बच्चे पैदा करते हैं।" (Galiani, l.c., p. 78.) "तबाही यदि अकाल और

अंत में हम सापेक्ष बेशी आबादी की सबसे नीचे की तलछट पर आते हैं, जो कंगाली की दुनिया में रहती है। आवारा लोगों, अपराधियों, वेश्याओं और एक शब्द में कहें, तो "ख़तरनाक" वर्गों के अलावा समाज के इस स्तर में तीन प्रकार के लोग होते हैं। एक, वे, जो काम कर सकते हैं। इंगलैंड में कंगालों के आंकड़ों पर एक सतही नज़र डालने पर भी यह बात साफ़ हो जाती है कि कंगालों की संख्या हर संकट के साथ बढ़ जाती है, व्यवसाय में नयी जान पड़ने पर हर बार घट जाती है। दूसरे, इस स्तर में अनाथ और मुहताज बच्चे शामिल होते हैं। ये औद्योगिक रिज़र्व सेना में भर्ती होने के उम्मीदवार होते हैं, और जब बहुत समृद्धि का काल आता है, जैसा, मिसाल के लिए, १८६० में आया था, तब ये बहुत जल्दी से और बहुत बड़ी संख्या में मज़दूरों की सक्रिय सेना में भर्ती हो जाते हैं। तीसरे, इस स्तर में वे लोग आते हैं, जिनका मनोबल टूट चुका है, जो पतन के गर्त में बहुत गहरे गिर गये हैं और जो काम करने के अयोग्य हैं। ये बहुधा वे लोग होते हैं, जिनमें श्रम-विभाजन के कारण यह क्षमता नहीं रहती कि जो काम उनको मिल सकता है, उसको कर सकें, और जो अपनी अक्षमता के सामने सिर झुका देते हैं; ये वे लोग होते हैं, जिनकी आयु मज़दूर की सामान्य आयु से आगे निकल गयी है; इनमें उद्योग के मारे हुए लोग – अपंग, रोगी, विधवाएं, आदि – भी शामिल होते हैं, जिनकी संख्या ख़तरनाक मशीनों, खानों, रासायनिक कारख़ानों, आदि की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती जाती है। कंगाली सक्रिय श्रमिक सेना का अस्पताल और औद्योगिक रिज़र्व सेना के गले का पत्थर होती है। सापेक्ष बेशी आबादी पैदा होती है, तो उसके साथ-साथ कंगाल भी पैदा होते जाते हैं। जैसे सापेक्ष बेशी आबादी का होना आवश्यक है, वैसे ही कंगालों का होना भी आवश्यक है। बेशी आबादी के साथ-साथ कंगाली का होना भी पूंजीवादी उत्पादन की और धन के पूंजीवादी विकास की एक आवश्यक शर्त है। वह पूंजीवादी उत्पादन के faux frais [अनुत्पादक व्यय] का भाग है, परंतु पूंजी इस ख़र्चे को – या उसके अधिकतर भाग को – अपने कंधों से हटाकर मज़दूर वर्ग के और निम्न मध्य वर्ग के कंधों पर डाल देने का तरीक़ा जानती है।

सामाजिक धन, कार्यरत पूंजी, उसके विकास का विस्तार तथा तेज़ी और इसलिए सर्वहारा की निरपेक्ष संख्या तथा उसके श्रम की उत्पादिता जितनी बढ़ती जाती हैं, औद्योगिक रिज़र्व सेना का भी उतना ही विस्तार होता जाता है। जिन कारणों से पूंजी के विस्तार की शक्ति बढ़ती है, उन्हीं कारणों से पूंजी के इस्तेमाल के लिए सदा तैयार रहनेवाली श्रम-शक्ति भी बढ़ती जाती है। इसलिए औद्योगिक रिज़र्व सेना का सापेक्ष परिमाण धन की संभावी क्रिया-शक्ति के साथ-साथ बढ़ता जाता है। परंतु सक्रिय श्रमिक सेना के अनुपात में यह रिज़र्व सेना जितनी बड़ी होती है, उतनी ही विशाल समेकित बेशी आबादी तैयार हो जाती है, जिसकी ग़रीबी सक्रिय श्रमिक सेना की मेहनत की यातना के सीधे अनुपात में होती है।* और अंत में

महामारी की चरम सीमा तक बढ़ जाये, तो भी आबादी का बढ़ना रुकता नहीं, बल्कि उल्टे वह और बढ़ जाती है।" (S. Laing, *National Distress*, 1844, p. 69.) अपने कथन को आंकड़ों से प्रमाणित करने के बाद लेंग ने आगे लिखा है: "यदि सभी लोगों को सुख और चैन से रहने का अवसर मिले, तो पृथ्वी शीघ्र ही जनहीन हो जायेगी।"

*मूल पाठ में लिखा था: "उसकी मेहनत की यातना के प्रतिलोम अनुपात में है।" किंतु यह सुधार लेखक द्वारा अनुमोदित फ़्रांसीसी अनुवाद के अनुसार किया गया है। – सं०

मज़दूर वर्ग का यह कंगाल स्तर और औद्योगिक रिज़र्व सेना जितने बड़े होते हैं, सरकारी काग़ज़ों में उतने ही अधिक मुहताज दर्ज किये जाते हैं। **यह पूंजीवादी संचय का निरपेक्ष सामान्य नियम है।** अन्य सभी नियमों की तरह यह नियम भी जब व्यवहार में आता है, तब उसमें ऐसी बहुत सी बातों के फलस्वरूप कुछ संशोधन हो जाता है, जिनका यहां विश्लेषण करने की ज़रूरत नहीं है।

अब अर्थशास्त्र के उन पण्डितों की मूर्खता बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है, जो मज़दूरों से यह कहा करते हैं कि उनको अपनी संख्या सदा पूंजी की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाये रखनी चाहिए। पूंजीवादी उत्पादन और संचय का यंत्र तो स्थायी रूप से इस व्यवस्थापन को प्रभावित करता रहता है। इस अनुकूलन की पुस्तक का पहला शब्द यह है कि एक सापेक्ष बेशी आबादी अथवा औद्योगिक रिज़र्व सेना पैदा कर दी जाती है; उसका आख़िरी शब्द है श्रमिकों की सक्रिय सेना के लगातार बढ़ते हुए हिस्सों की ग़रीबी और उनके गले में लटका हुआ मुहताजी का पत्थर।

जिस नियम के अनुसार सामाजिक श्रम की उत्पादिता के विकास के फलस्वरूप उत्तरोत्तर कम मानव-शक्ति ख़र्च करके उत्पादन के साधनों की अधिकाधिक बड़ी मात्रा को गतिमान बनाना संभव होता है, वह नियम पूंजीवादी समाज में, जहां मज़दूर उत्पादन के साधनों से काम नहीं लेता, बल्कि उत्पादन के साधन मज़दूर से काम लेते हैं, बिल्कुल उल्टा रूप धारण कर लेता है। पूंजीवादी समाज में यह नियम इस प्रकार व्यक्त होता है कि श्रम की उत्पादिता जितनी ज़्यादा होती है, काम के साधनों पर मज़दूरों का दबाव उतना ही बढ़ जाता है और इसलिए मज़दूरों के अस्तित्व की शर्त का पूरा होना उतना ही मुश्किल हो जाता है, अर्थात् अपनी श्रम-शक्ति को दूसरे का धन बढ़ाने के लिए, या पूंजी के आत्मविस्तार के लिए बेचना उनके लिए उतना ही कठिन हो जाता है। अतः यह तथ्य कि उत्पादन के साधन और श्रम की उत्पादिता उत्पादक आबादी की अपेक्षा ज़्यादा तेज़ी से बढ़ते हैं, पूंजीवादी समाज में इस उल्टे रूप में व्यक्त होता है कि श्रमजीवी आबादी उन परिस्थितियों की अपेक्षा सदा ज़्यादा तेज़ी से बढ़ती है, जिनमें पूंजी इस वृद्धि का अपने आत्मविस्तार के लिए उपयोग कर सकती है।

भाग ४ में सापेक्ष बेशी मूल्य के उत्पादन का विश्लेषण करते हुए हमने यह देखा था कि पूंजीवादी समाज के भीतर श्रम की सामाजिक उत्पादिता को बढ़ाने के सारे तरीक़े मज़दूर का गला काटकर अमल में आते हैं; उत्पादन का विकास करने के सारे साधन उत्पादकों पर आधिपत्य जमाने तथा उनका शोषण करने के साधनों में बदल जाते हैं, वे मज़दूर का अंग-भंग करके उसको मनुष्य का एक अपखंड बना देते हैं, उसको किसी मशीन का उपांग मात्र बना देते हैं, मज़दूर के लिए उसके काम का सारा आकर्षण ख़त्म कर देते हैं तथा उसे एक घृणित श्रम में परिणत कर देते हैं; जिस हद तक श्रम-प्रक्रिया में विज्ञान का एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में समावेश होता जाता है, उसी हद तक उत्पादन के विकास के ये साधन मज़दूर को श्रम-प्रक्रिया की बौद्धिक क्षमताओं से दूर करते जाते हैं; मज़दूर जिन परिस्थितियों में काम करता है, वे उनको विकृत कर देते हैं; वे श्रम-प्रक्रिया के दौरान मज़दूर को एक ऐसी निरंकुशता के अधीन बना देते हैं, जो अपनी तुच्छता के कारण और भी अधिक घृणित होती है; वे उसके पूरे जीवन-काल को श्रम-काल में बदल देते हैं और उसकी पत्नी और बच्चों को भी पूंजी के रथ के नीचे कुचले जाने के लिए ला पटकते हैं। लेकिन बेशी मूल्य के उत्पादन के सारे तरीक़े साथ ही संचय के भी तरीक़े होते हैं, और संचय का जब कभी विस्तार होता है, तो वह इन

तरीक़ों को और विकसित करने का साधन बन जाता है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस अनुपात में पूंजी का संचय होता जाता है, उसी अनुपात में मजदूर की हालत बिगड़ती जाती है – उसको चाहे ज्यादा मजदूरी मिलती हो, चाहे कम। अंत में वह नियम, जो सापेक्ष बेशी आबादी या औद्योगिक रिजर्व सेना का संचय के विस्तार और तेजी के साथ सदा संतुलन स्थापित किया करता है, मजदूर को पूंजी के साथ इतनी मजबूती के साथ जकड़ देता है, जितनी मजबूती के साथ वल्कन की बनायी हुई कीलें भी प्रोमीथियस को चट्टान के साथ नहीं जकड़ सकी थीं। पूंजी के संचय के साथ-साथ इस नियम के फलस्वरूप ग़रीबी का भी संचय होता जाता है। इसलिए यदि एक छोर पर धन का संचय होता है, तो उसके साथ-साथ दूसरे छोर पर – यानी उस वर्ग के छोर पर, जो ख़ुद अपने श्रम की पैदावार को पूंजी के रूप में तैयार करता है – ग़रीबी, यातनापूर्ण परिश्रम, दासता, अज्ञान, पाशविकता और मानसिक पतन का संचय होता जाता है।

पूंजीवादी संचय के इस आत्मविरोधी स्वरूप[88] की अर्थशास्त्रियों ने अनेक प्रकार से व्याख्या की है, हालांकि वे लोग उसे बहुधा ऐसी घटनाओं के साथ गड़बड़ा देते हैं, जो कुछ हद तक तो जरूर इस चीज से मिलती-जुलती हैं, पर फिर भी जो बुनियादी तौर पर बिल्कुल भिन्न कोटि की घटनाएं होती हैं और जिनका संबंध पूंजीवाद से पहले की उत्पादन-प्रणालियों से है।

वेनिस का संन्यासी ओर्तेस १८वीं शताब्दी के महान अर्थशास्त्रियों में गिना जाता है। वह पूंजीवादी उत्पादन के इस आत्मविरोधी स्वरूप को सामाजिक धन का सामान्य एवं स्वाभाविक नियम मानता है। उसने लिखा है: "किसी भी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में अच्छी बातें और बुरी बातें सदा एक दूसरी का संतुलन करती रहती हैं (il bene ed il male economico in una nazicne sempre all, istessa misura): कुछ लोगों के पास धन की जितनी बहुतायत होती है, दूसरों के पास धन का ठीक उतना ही अभाव होता है (la copia dei beni in alcuni sempre eguale alla mancanza di essi in altri): थोड़े से लोगों के पास यदि बेशुमार दौलत होती है, तो उसके साथ-साथ सदा बहुत से अन्य लोगों के पास जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं का भी सर्वथा अभाव होता है। किसी भी राष्ट्र का धन उसकी जनसंख्या के अनुपात में होता है, और उसकी ग़रीबी उसके धन के अनुपात में होती है। कुछ लोगों की मेहनत दूसरों को काहिल बना देती है। ग़रीब और बेकार लोग धनी और सक्रिय लोगों का लाजिमी नतीजा होते हैं", इत्यादि, इत्यादि।[89] ओर्तेस के यह

---

[88] "दिन ब दिन यह बात स्पष्ट होती जा रही है कि उत्पादन के जिन संबंधों के भीतर पूंजीपति वर्ग घूमता है, उनका न तो कोई अखंड और न ही सरल स्वरूप होता है, बल्कि उनका दोहरा स्वरूप होता है; जितना अधिक धन पैदा होता है, उतनी ही अधिक ग़रीबी भी पैदा होती जाती है, और जितना उत्पादन की शक्तियों का विकास होता है, उतना ही दमन पैदा करनेवाली एक शक्ति का विकास होता जाता है; ये संबंध पूंजीवादी धन का, अर्थात् पूंजीपति वर्ग के धन का उत्पादन करते हैं, तो केवल इसी तरह कि वे इस वर्ग के अलग-अलग सदस्यों के व्यक्तिगत धन को लगातार नष्ट करते चलते हैं और एक ऐसे सर्वहारा को जन्म देते हैं, जिसकी संख्या लगातार बढ़ती जाती है।" (Karl Marx, *Misère de la Philosophie*, p. 116.)

[89] G.. Ortes, *Della Economia Nazionale libri sei*, 1777, देखिये Custodi, Parte Moderna, t. XXI, pp. 6, 9, 22, 25 etc. इसी पुस्तक के पृ० ३२ पर ओर्तेस ने लिखा

लिखने के लगभग दस वर्ष बाद अंग्रेज़ी चर्च के पादरी टाउनसेंड ने बड़ी ही क्रूरता का परिचय देते हुए धन की आवश्यक शर्त के रूप में ग़रीबी का गुणगान किया। उन्होंने लिखा: "यदि (लोगों को) क़ानूनी ढंग से (श्रम करने के लिए) बाध्य किया जाये, तो उसमें बहुत परेशानी उठानी पड़ती है, ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी पड़ती है, और बहुत हो-हल्ला मचता है... परंतु भूख न केवल एक शांतिपूर्ण और ख़ामोश ढंग के निरंतर दबाव का काम करती है, बल्कि वह उद्योग और परिश्रम करने की सबसे अधिक स्वाभाविक प्रेरणा के रूप में लोगों से ज़बर्दस्त ढंग की मेहनत कराती है।" इसलिए सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि किसी तरह मज़दूर वर्ग के लिए भूख को एक स्थायी चीज़ बना दिया जाये; और टाउनसेंड का ख़याल है कि इसके लिए जनसंख्या के सिद्धांत ने, जो कि ग़रीबों में ख़ास तौर पर सक्रिय रहता है, समुचित व्यवस्था कर दी है। उन्होंने लिखा है: "मालूम होता है कि ग़रीबों का किसी हद तक अदूर-दर्शी होना भी प्रकृति का ही नियम है" (इतने अदूरदर्शी कि वे किसी धनी के घर में नहीं पैदा होते), "ताकि कुछ लोग हमेशा ऐसे भी हों, जो समाज के सबसे नीच, सबसे गंदे और सबसे ज़्यादा ज़िल्लत वाले कामों को पूरा करें। इससे मानव-सुख के भंडार की भारी वृद्धि हो जाती है, और अधिक सुकुमार व्यक्तियों को न केवल कठिन परिश्रम से छुटकारा मिल जाता है... बल्कि अपनी-अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों के अनुसार वे जिन धंधों के लिए उपयुक्त होते हैं, उनको उनका निर्बाध अनुसरण करने की स्वतंत्रता मिल जाती है... संसार में भगवान तथा प्रकृति ने जो व्यवस्था क़ायम कर रखी है, यह" (ग़रीबों का क़ानून) "उसके माधुर्य एवं सौंदर्य को और उसकी सममिति तथा व्यवस्था को नष्ट कर सकता है।"[90] यदि वेनिस का वह संन्यासी सोचता था कि जिस नियति ने ग़रीबी को एक शाश्वत चीज़ बना दिया है, उसी में ईसाइयों की दानवृत्ति, ब्रह्मचर्य, मठों और पवित्र स्थानों के अस्तित्व का औचित्य निहित है, तो यह दान-दक्षिणा पर निर्भर प्रोटेस्टेंट पादरी सोचता है कि नियति के इस विधान के कारण

है: "काल्पनिक व्यवस्थाएं गढ़ने के बजाय, जिनसे लोगों को सुखी बनाने में ज़रा भी सहायता नहीं मिलेगी, मैं अपने को केवल उनके दु:खों के कारणों का अध्ययन करने तक ही सीमित रखूंगा।"

[90] *A Dissertation on the Poor Laws. By a Well-Wisher of Mankind* (The Rev. J. Townsend), 1786; १८१७ में लंदन में पुन: प्रकाशित, पृ० १५, ३९, ४१; इस "सुकुमार" पादरी की ऊपर उद्धृत को गयी रचना से तथा उसकी पुस्तिका *Journey through Spain* से भी माल्थस ने अकसर पूरे के पूरे पृष्ठ नक़ल किये हैं, लेकिन ख़ुद इस पादरी ने अपने मत का अधिकांश सर जेम्स स्टुअर्ट से उधार लिया है, हालांकि उधार लेते हुए उसने उनके विचारों में हेर-फेर कर दिया है। मिसाल के लिए, स्टुअर्ट ने लिखा था कि "यहां, दास-प्रथा में" (काम न करनेवालों के हित में) "लोगों को मेहनती बनाने का तरीक़ा था – ज़बर्दस्ती... तब मनुष्यों से इसलिए ज़बर्दस्ती काम कराया जाता था" (यानी उनसे इस कारण दूसरों के हित में मुफ़्त काम कराया जाता था) "कि वे दूसरों के दास थे; अब मनुष्यों को इसलिए काम करना पड़ता है" (यानी उनको इस कारण काम न करनेवालों के हित में मुफ़्त काम करना पड़ता है) "कि वे ज़रूरतों के दास होते हैं।" लेकिन यह लिखने के बाद स्टुअर्ट ने मुफ़्त की खानेवाले उस मोटे पादरी की तरह इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला था कि मज़दूरों को सदा उपवास करते रहना चाहिए। इसके विपरीत उनकी इच्छा यह थी कि मज़दूरों की ज़रूरतें बराबर बढ़ती जायें और उनकी ज़रूरतों की बढ़ती हुई संख्या से उनको "अधिक सुकुमार" व्यक्तियों के लिए श्रम करने की प्ररणा मिलती रहे।

उन तमाम क़ानूनों को अनुचित घोषित कर देना चाहिए, जिनके मातहत ग़रीबों को थोड़ी सी सार्वजनिक सहायता पाने का अधिकार मिल जाता है।

श्टोर्ख़ ने लिखा है: "सामाजिक धन बढ़ता है, तो उससे समाज का यह उपयोगी वर्ग उत्पन्न हो जाता है... वह सबसे ज्यादा थका देनेवाले, सबसे गंदे और सबसे अधिक घृणित काम करता है – और संक्षेप में कहा जाये, तो जीवन में जो कुछ भी अरुचिकर और दासोचित है, उसे वह अपने कंधों पर संभाल लेता है और इस प्रकार अन्य वर्गों के लिए अवकाश, चित्त की प्रसन्नता और चरित्र की रूढ़िगत (c'est bon!) [ख़ूब!] गरिमा को संभव बनाता है।"[91] उसके बाद श्टोर्ख़ अपने से प्रश्न करते हैं कि जब इस पूंजीवादी सभ्यता के साथ-साथ इतनी ग़रीबी फैलती है और आम जनता का ऐसा पतन होता है, तब बर्बरता की तुलना में उसे प्रगति का सूचक क्यों समझा जाता है? इस प्रश्न का श्टोर्ख़ के पास केवल एक ही जवाब है। वह यह कि पूंजीवाद में मनुष्यों को सुरक्षा प्राप्त होती है!

सिस्मोंदी ने लिखा है: "उद्योग तथा विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप हरेक मज़दूर उसके उपभोग के लिए जितना आवश्यक होता है, वह रोज़ाना उससे कहीं ज्यादा पैदा कर सकता है। लेकिन इसके साथ ही साथ यह भी है कि उसका श्रम वैसे तो धन पैदा करता है, परंतु इस धन का यदि वह खुद उपयोग करने लगे, तो वह उसकी श्रम करने की योग्यता को पहले से कम कर देगा।" सिस्मोंदी के विचार से, "लोग" [अर्थात् काम न करनेवाले] "संभवत: कला के समस्त विकास और कारखानों की बनी तमाम चीज़ों के आनंद से वंचित रहना ही ज्यादा पसंद करेंगे, यदि इन चीजों के एवज़ में उन्हें मज़दूरों की तरह लगातार मेहनत करनी पड़े... आजकल मेहनत और उसके मुआवज़े के बीच में एक दीवार खड़ी हो गयी है। जो आदमी काम करता है, बाद को वही आराम नहीं करता, बल्कि एक क्योंकि काम करता है, इसलिए दूसरा आराम करता है... अतएव श्रम की उत्पादक शक्तियों के लगातार बढ़ते जाने का केवल यही परिणाम हो सकता है कि निठल्ले अमीर लोगों के विलास और भोग में वृद्धि होती जाये।"[92]

अंत में उस हृदयहीन पूंजीवादी मतवादी, देस्तु दे त्रासी को सुनिये, जिसने साफ़-साफ़ और दो-टूक कह दिया है कि "ग़रीब राष्ट्रों में जनता सुख से रहती है; धनी राष्ट्रों में वह आम तौर पर ग़रीबी का जीवन बिताती है।"[93]

अनुभाग ५ – पूंजीवादी संचय के सामान्य नियम के उदाहरण

क) इंगलैंड १८४६ से १८६६ तक

पूंजीवादी संचय का अध्ययन करने के लिए आधुनिक समाज का और कोई काल इतना उपयोगी नहीं है, जितना पिछले २० वर्ष का काल है। लगता है, जैसे इस काल को कहीं पर फ़ोरचुनेटस की थैली पड़ी हुई मिल गयी थी। लेकिन अन्य सब देशों की अपेक्षा सबसे अच्छा उदाहरण फिर इंगलैंड में ही मिलता है। वह इसलिए कि दुनिया की मंडी में उसका सर्वप्रमुख स्थान है; वही एक ऐसा देश है, जहां पूंजीवादी उत्पादन का पूर्ण विकास हुआ है, और अंतिम

---

[91] Storch, *Cours d'Économie Politique*, éd. Pétersbourg, 1815, t. III, p.223.
[92] Sismondi, *Nouveaux Principes d'Économie Politique*, t. I, pp. 79, 80, 85.
[93] Destutt de Tracy, l.c., p. 231.

कारण यह कि १८४६ से वहां स्वतंत्र व्यापार का स्वर्ण-युग क़ायम हो गया है, जिसके फलस्वरूप सतही अर्थशास्त्र का आख़िरी सहारा भी टूट गया है। इंगलैंड में उत्पादन ने जो प्रचंड प्रगति की है – और उसमें भी इन बीस वर्षों के काल का उत्तरार्ध पूर्वार्ध से जिस तरह बहुत आगे निकल गया है – उसकी ओर भाग ४ में पर्याप्त संकेत किया जा चुका है।

यद्यपि पिछले पचास वर्षों में इंगलैंड की जनसंख्या में बहुत बड़ी निरपेक्ष वृद्धि हुई है, तथापि उसकी सापेक्ष वृद्धि, या वृद्धि की दर, लगातार कम होती गयी है, जैसा कि जनगणना से ली गयी निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है:

इंगलैंड और वेल्स की जनसंख्या में
हर वर्ष की औसत प्रतिशत वृद्धि
(दशकों के अनुसार)

१८११-१८२१	१.५३३ प्रतिशत
१८२१-२८३१	१.४४६ »
१८३१-१८४१	१.३२६ »
१८४१-१८५१	१.२१६ »
१८५१-१८६१	१.१४१ »

दूसरी ओर, यह देखिये कि धन में कितनी वृद्धि हुई है। यहां हमारी जानकारी का सबसे पक्का आधार है उन मुनाफ़ों, ज़मीन के किराये, आदि का उतार-चढ़ाव, जिसपर आय-कर लगता है। इंगलैंड में जिन मुनाफ़ों पर आय-कर लगता है (इनमें काश्तकारों और कुछ अन्य लोगों के मुनाफ़े शामिल नहीं हैं), उनमें १८५३ और १८६४ के बीच ५०.४७ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, जिसका वार्षिक औसत ४.५८ प्रतिशत बैठता है।[94] इसी काल में जनसंख्या की वृद्धि कोई १२ प्रतिशत रही है। ज़मीन के जिस किराये पर कर लगता है (जिसमें मकानों, रेलों, खानों, मीन-क्षेत्रों, आदि का किराया भी शामिल है), उसमें १८५३ से १८६४ तक ३८ प्रतिशत – या $३\frac{५}{१२}$ प्रतिशत सालाना – की वृद्धि हुई थी। इस मद में सबसे अधिक वृद्धि निम्नलिखित कोटियों में हुई है:

	१८५३ की अपेक्षा १८६४ में कितनी अधिक वार्षिक आय हुई	वार्षिक वृद्धि
मकान	३८.६० प्रतिशत	३.५० प्रतिशत
पत्थर की खानें . . .	८४.७६ »	७.७० »
खानें	६८.८५ »	६.२६ »
लोहे के कारख़ाने . . .	३९.९२ »	३.६३ »
मीन-क्षेत्र	५७.३७ »	५.२१ »
गैस के कारख़ाने . . .	१२६.०२ »	११.४५ »
रेलें	८३.२९ »	७.५७ »[95]

[94] *Tenth Report of the Commissioners of H. M. Inland Revenue*, London, 1866, p. 38.

[95] l. c.

यदि हम १८५३ से १८६४ तक के तीन चारवर्षीय कालखंडों की एक दूसरे के साथ तुलना करें, तो हम पाते हैं कि आय की वृद्धि की दर लगातार बढ़ती जाती है। मिसाल के लिए, मुनाफ़ों से होनेवाली आय में १८५३ से १८५७ तक १.७३ प्रतिशत, १८५७ से १८६१ तक २.७४ प्रतिशत और १८६१ से १८६४ तक ६.३० प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई। युनाइटेड किंगडम में आय-कर की मद में आनेवाली कुल आय १८५६ में ३०,७०,६८,८६८ पाउंड स्टर्लिंग, १८५६ में ३२,८१,२७,४१६ पाउंड स्टर्लिंग, १८६२ में ३५,१७,४५,२४१ पाउंड स्टर्लिंग, १८६३ में ३५,६१,४२,८६७ पाउंड स्टर्लिंग, १८६४ में ३६,२४,६२,२७६ पाउंड स्टर्लिंग और १८६५ में ३८,५५,३०,०२० पाउंड स्टर्लिंग थी।[96]

पूंजी के संचय के साथ-साथ उसके संकेंद्रण और केंद्रीयकरण की प्रक्रियाएं भी चलती रही थीं। यद्यपि इंगलैंड में खेती के कोई सरकारी आंकड़े नहीं हैं (आयरलैंड में हैं), तथापि १० काउंटियों में लोगों ने स्वेच्छा से खेती के आंकड़े दिये हैं। इनसे पता चलता है कि १८५१ से १८६१ तक १०० एकड़ से कम के फ़ार्मों की संख्या ३१,५८३ से कम होकर २६,५६७ रह गयी थी, जिसका मतलब यह है कि ५,०१६ फ़ार्म बड़े फ़ार्मों में मिल गये थे।[97] १८१५ से १८२५ तक १०,००,००० पाउंड से अधिक की कोई व्यक्तिगत भूसंपत्ति उत्तराधिकार-कर की मद में नहीं आयी थी; लेकिन १८२५ और १८५५ के बीच ऐसी ८ भूसंपत्तियां और १८५६ तथा जून १८५६ के बीच, अर्थात् $४\frac{१}{२}$ वर्षों में, ऐसी ४ भूसंपत्तियां उत्तराधिकार-कर की मद में आयीं।[98] लेकिन केंद्रीयकरण का सबसे अच्छा उदाहरण १८६४ और १८६५ की आय-कर की अनुसूची D (फ़ार्मों, आदि के सिवा अन्य प्रकार के मुनाफ़ों पर लगनेवाला आय-कर) का संक्षिप्त विश्लेषण करने पर देखा जा सकता है। सबसे पहले मैं यह बता दूं कि इस मद में ६० पाउंड से अधिक की प्रत्येक आय पर आय-कर देना पड़ता है। इंगलैंड, वेल्स और स्कॉटलैंड में इस प्रकार की आयों का कुल जोड़ १८६४ में ६,५८,४४,२२२ पाउंड और १८६५ में १०,५४,३५,५७६ पाउंड था।[99] जिन व्यक्तियों पर कर लगा, १८६४ में उनकी कुल संख्या ३,०८,४१६

[96] ये आंकड़े तुलना करने के लिए तो ठीक हैं, पर निरपेक्ष दृष्टि से वे झूठे हैं, क्योंकि हर साल शायद १०,००,००,००० पाउंड की आय की सरकार को कोई सूचना नहीं मिलती। अंतर्देशीय राजस्व कमिश्नर अपनी रिपोर्टों में हर बार राज्य को सुनियोजित ढंग से ठगे जाने की शिकायत करते हैं और कहते हैं कि ऐसा ख़ास तौर पर व्यापारी तथा औद्योगिक वर्ग द्वारा किया जाता है। मिसाल के लिए, एक रिपोर्ट में कहा गया है: "एक संयुक्त पूंजी कंपनी ने अपने हिसाब में ६,००० पाउंड का ही ऐसा मुनाफ़ा दिखाया कि जिसपर आय-कर लगना चाहिए; आपरीक्षक ने इस रक़म को बढ़ाकर ८८,००० पाउंड कर दिया, और अंत में कंपनी को कर इसी रक़म पर देना पड़ा। एक और कंपनी ने अपने हिसाब में १,६०,००० पाउंड का मुनाफ़ा दिखाया, पर अंत में उसे स्वीकार करना पड़ा कि असल में यह रक़म २,५०,००० पाउंड होनी चाहिए थी।" (Ibid., p. 42)

[97] *Census etc.*, Vol III, p. 29. जॉन ब्राइट के इस कथन का आज तक खंडन नहीं हुआ है कि १५० जमींदार आधे इंगलैंड के मालिक हैं और १२ जमींदार स्कॉटलैंड की आधी भूमि के स्वामी हैं।

[98] *Fourth Report etc. of Inland Revenue*, London, 1860, p. 17.

[99] ये शुद्ध आय की रक़में हैं, अर्थात् उनमें से कुछ ऐसी रक़में घटा दी गयी हैं, जिनको काट देने की क़ानूनी अनुमति मिली हुई है।

थी, जब कि देश की आबादी २,३८,९१,००९ थी; और १८६५ में उनकी संख्या ३,३२,४३१ थी, जब कि देश की आबादी २,४१,२७,००३ थी। नीचे की तालिका में दिखाया गया है कि इन दो वर्षों में इन आयों का बंटवारा किस तरह हुआ था:

	५ अप्रैल १८६४ को समाप्त होनेवाला वर्ष		५ अप्रैल १८६५ को समाप्त होनेवाला वर्ष	
	मुनाफ़ों से होनेवाली आय	व्यक्तियों की संख्या	मुनाफ़ों से होनेवाली आय	व्यक्तियों की संख्या
कुल आय	६,५८,४४,२२२ पाउंड	३,०८,४१६	१०,५४,३५,७३८	३,३२,४३१
इसमें से	५,७०,२८,२८९ "	२३,३३४	६,४५,५४,२९७	२४,२६५
–"–	३,६४,१५,२२५ "	३,६१९	४,२५,३५,५७६	४,०२१
–"–	२,२८,०९,७८१ "	८३२	२,७५,५५,३१३	९७३
–"–	८७,४४,७६२ "	९१	१,१०,७७,२३८	१०७

१८५५ में युनाइटेड किंगडम में ६,१४,५३,०७९ टन कोयला निकाला गया था, जिसका मूल्य १,६१,१३,१६७ पाउंड था, १८६४ में वहां ९,२७,८७,८७३ टन कोयला निकाला गया, जिसका मूल्य २,३१,९७,९६८ पाउंड था। १८५५ में युनाइटेड किंगडम में ३२,१८,१५४ टन कच्चा लोहा तैयार किया गया था, जिसका मूल्य ८०,४५,३८५ पाउंड था, १८६४ में ४७,६७,९५१ टन कच्चा लोहा तैयार किया गया, जिसका मूल्य १,१९,१९,८७७ पाउंड था। १८५४ में युनाइटेड किंगडम में रेल की कुल जितनी लाइनें इस्तेमाल होती थीं, उनकी लंबाई ८,०५४ मील थी और उनमें २८,६०,६८,७९४ पाउंड की प्रदत्त पूंजी लगी हुई थी; १८६४ तक रेलों की लंबाई १२,७८९ मील हो गयी और प्रदत्त पूंजी ४२,५७,१९,६१३ पाउंड पर पहुंच गयी। १८५४ में युनाइटेड किंगडम के आयात और निर्यात का कुल जोड़ २६,८२,१०,१४५ पाउंड था, १८६५ तक वह ४८,९९,२३,२८५ पाउंड हो गया। निर्यात की गति इस तालिका से स्पष्ट हो जाती है:

१८४६– ५,८८,४२,३७७ पाउंड स्टर्लिंग
१८४९– ६,३५,९६,०५२ »
१८५६–११,५८,२६,९४८ »
१८६०–१३,५८,४२,८१७ »
१८६५–१६,५८,६२,४०२ »
१८६६–१८,८९,१७,५६३ » [100]

---

[100] इस समय, यानी मार्च १८६७ में, हिंदुस्तानी और चीनी मंडियां फिर अंग्रेज़ी सूती माल की गांठों से अटी हुई हैं। १८६६ में सूती मिलों के कामगारों की मजदूरी में ५ प्रतिशत की कटौती हुई थी। १८६७ में इसी प्रकार की एक कटौती के परिणामस्वरूप प्रेस्टन में २०,००० मजदूरों की हड़ताल भी हुई। [**चौथे जर्मन संस्करण की पाद-टिप्पणी:** यह उस संकट की भूमिका थी, जो इसके शीघ्र बाद ही फूट पड़ा।–फ़े० एं०]

इन चंद उदाहरणों के बाद यह बात समझ में आ जाती है कि ब्रिटिश जनता के रजिस्ट्रार-जनरल ने इतने विजयोल्लास के साथ यह क्यों कहा था कि "देश की जनसंख्या तेज़ी से बढ़ी है, पर वह उतनी तेज़ी से नहीं बढ़ी है, जितनी तेज़ी से उद्योग और धन का विकास हुआ है।"[101]

आइये, अब इस उद्योग के प्रत्यक्ष अभिकर्ताओं, या इस धन के उत्पादकों, अर्थात् मज़दूर वर्ग की ओर ध्यान दें। ग्लैडस्टन ने कहा है: "इस देश की सामाजिक अवस्था की एक सबसे शोचनीय विशेषता यह है कि जिस समय जनता की उपभोग-शक्ति घट रही थी और जिस समय श्रमजीवी वर्ग तथा कारीगरों की ग़रीबी और कष्ट बढ़ रहे थे, उसी समय ऊपरी वर्गों में लगातार धन का संचय होता जा रहा था और उनकी पूंजी लगातार बढ़ती जा रही थी।"[102] इस बगुलाभगत मंत्री ने १३ फ़रवरी १८४३ को हाउस आफ़ कामन्स में यह कहा था। इसके बीस वर्ष बाद उसने १६ अप्रैल १८६३ को बजट पेश करते हुए अपने भाषण में यह कहा कि "१८४२ से १८५२ तक देश की कर लगाने योग्य आय में ६ प्रतिशत की वृद्धि हुई... १८५३ से १८६१ तक के ८ वर्षों में वह १८५३ को आधार वर्ष मानने पर २० प्रतिशत ऊपर उठ गयी! यह तथ्य इतना आश्चर्यजनक है कि सहसा विश्वास नहीं होता... धन और शक्ति की यह मदोन्मत्त कर देनेवाली वृद्धि... पूरी तरह संपत्तिवान वर्गों तक सीमित है... उससे श्रमजीवी जनसंख्या को अप्रत्यक्ष लाभ पहुंचना चाहिए, क्योंकि इससे सामान्य उपभोग के माल सस्ते हो जाते हैं। इधर धनी अधिकाधिक धनी होते जा रहे हैं, उधर ग़रीबों की ग़रीबी कम होती जा रही है। बहरसूरत मैं यह दावा नहीं करता कि दरिद्रता की चरम सीमाएं कुछ कम हो गयी हैं।"[103] कहां तो ग्लैडस्टन इतने ऊंचे उड़ रहे थे और कहां यकायक इतने नीचे आ गिरे! यदि मज़दूर वर्ग अब भी "ग़रीब" बना हुआ है, यदि उसकी ग़रीबी केवल उसी अनुपात में कम हुई है, जिस अनुपात में वह धनी वर्ग के लिए "धन और शक्ति की मदोन्मत्त कर देनेवाली वृद्धि" कर रहा है, तो ज़ाहिर है कि सापेक्ष दृष्टि से वह अब भी उतना ही ग़रीब है। यदि ग़रीबी की चरम सीमाएं पहले से कम नहीं हुई हैं, तो ज़ाहिर है कि वे बढ़ गयी हैं, क्योंकि उधर धन की चरम सीमाएं बढ़ गयी हैं। जहां तक जीवन-निर्वाह के साधनों के सस्ते होने का प्रश्न है, सरकारी आंकड़ों से, मिसाल के लिए, लंदन अनाथालय के हिसाब से पता चलता है कि यदि १८६० से १८६२ तक के तीन वर्षों के औसत की १८५१-१८५३ के औसत से तुलना की जाये, तो दामों में २० प्रतिशत की वृद्धि हो गयी है। अगले तीन साल में, यानी १८६३-१८६५ में, मांस, मक्खन, दूध, चीनी, नमक, कोयला और जीवन-निर्वाह के कई अन्य

---

[101] *Census etc.*, Vol. III, p. 11.

[102] १३ फ़रवरी १८४३ को हाउस आफ़ कामन्स में ग्लैडस्टन का भाषण। *The Times*, 14th February 1843. "इस देश की सामाजिक अवस्था की एक सबसे शोचनीय विशेषता यह है कि हम आज यह देखते हैं और इसमें तनिक भी संदेह की गुंजाइश नहीं है कि जहां जनता की उपभोग करने की शक्तियों में इस समय कमी आ गयी है और ग़रीबी और कष्ट का दबाव बढ़ता जा रहा है, वहां उसके साथ-साथ ऊपरी वर्गों में धन का लगातार संचय हो रहा है, उनकी भोग-विलास की प्रवृत्तियां बढ़ती जा रही हैं और उनके भोग-विलास के साधनों में वृद्धि हो गयी है।" (*Hansard*, 13th February 1843.)

[103] १६ अप्रैल १८६३ को हाउस आफ़ कामन्स में ग्लैडस्टन का भाषण। *Morning Star*, April 17th.

आवश्यक साधनों के दाम उत्तरोत्तर बढ़ते गये।[104] ग्लैडस्टन ने अगला बजट पेश करने के समय, ७ अप्रैल १८६४ को, जो भाषण दिया, उसमें बशी मूल्य कमाने की कला और "ग़रीबी" की चाशनी के साथ मिली हुई जनता की ख़ुशी का महाकवि पिंदार जैसा प्रशस्तिगान किया गया है। उसमें उन्होंने कंगाली के कगार पर खड़े जनसाधारण की चर्चा की है, व्यवसाय की उन शाखाओं का ज़िक्र किया है, जिनमें "मज़दूरी नहीं बढ़ी है", और अंत में मज़दूर वर्ग की ख़ुशी का निचोड़ इन शब्दों में पेश किया है: "दस में से नौ आदमियों के लिए मानव-जीवन किसी तरह ज़िंदा रहने के संघर्ष का नाम है।"[105] प्रोफ़ेसर फ़ॉसेट को चूंकि ग्लैडस्टन की तरह सरकारी हित-अहित का कोई ख़्याल नहीं था, इसलिए वह साफ़-साफ़ कहते हैं कि "ज़ाहिर है, मैं इससे इनकार नहीं करता कि" (पिछले दस वर्षों में) "पूंजी की जो वृद्धि हुई है, उसके फलस्वरूप नक़द मज़दूरी में इज़ाफ़ा हुआ है, लेकिन ऊपर से देखने में जो यह लाभ हुआ है, वह काफ़ी हद तक बेकार साबित हो जाता है, क्योंकि जीवन के लिए आवश्यक बहुत सी वस्तुएं अधिकाधिक महंगी होती जा रही हैं" (प्रोफ़ेसर फ़ॉसेट का ख़्याल है कि इसका कारण बहुमूल्य धातुओं के मूल्य में आयी गिरावट है)... "धनी तेज़ी के साथ और भी धनी बनते जा रहे हैं, जब कि औद्योगिक वर्गों की सुख-सुविधाओं में कोई प्रगति दृष्टिगोचर नहीं होती... उनको" (मज़दूरों को) "जिन व्यापारियों का क़र्ज़ा देना होता है, उनके वे लगभग ग़ुलाम बन जाते हैं।"[106]

काम के दिन और मशीनों संबंधी अध्यायों में पाठक देख चुके हैं कि ब्रिटिश मज़दूर वर्ग

---

[104] सरकारी प्रकाशन *Miscellaneous Statistics of the United Kingdom* (Part VI, London, 1866, pp. 260-273, passim.) में सरकारी विवरण देखिये; अनाथालयों, आदि के आंकड़ों के बजाय यदि मंत्रियों की पत्रिकाओं के उन लेखों को पढ़ा जाये, जिनमें राजकुमारों और राजकुमारियों के विवाहों के लिए दहेज की सिफ़ारिश की गयी है, तो उनसे भी इस बारे में काफ़ी जानकारी मिल सकती है। कारण कि इन लेखों में जीवन-निर्वाह के साधनों की बढ़ी हुई महंगाई को हमेशा ध्यान में रखा जाता है।

[105] ७ अप्रैल १८६४ को हाउस आफ़ कामन्स में ग्लैडस्टन का भाषण। *Hansard* में यह अंश इस प्रकार है: "फिर—और यह बात और भी अधिक व्यापक रूप में सत्य है—ज़्यादातर लोगों के लिए मानव-जीवन किसी तरह ज़िंदा रहने के संघर्ष के सिवा और क्या है?"— ग्लैडस्टन के १८६३ और १८६४ के बजट-भाषणों में जो इतनी सारी परस्पर विरोधी बातें दिखायी देती हैं, उनके लिए एक अंग्रेज़ लेखक ने बुआलो (*Boileau, Oeuvres,* t. I, Londres, 1780, p. 135.) की निम्न पंक्तियां उद्धृत की हैं:

> "यह है वह इनसान कि जो पल भर में रंग बदलता है,
> संध्या की अपनी बातों का प्रातः ही खंडन करता है,
> बन शील-विनय की मूर्ति स्वयं के हित का अनहित करता है
> हर घड़ी बदलते फ़ैशन सा मन को हर घड़ी बदलता है।"

([H. Roy] *The Theory of Exchanges* etc., London, 1864, p. 135.)

[106] H. Fawcett, *The Economic Position of the British Labourer*, London 1865, pp. 67, 82. जहां तक फुटकर दूकानदारों पर मज़दूरों की बढ़ती हुई निर्भरता का संबंध है, वह इस बात का नतीजा है कि मज़दूरों की रोज़ी में अकसर उतार-चढ़ाव आते रहते हैं और बीच-बीच में वह उनसे छिन भी जाती है।

ने किन परिस्थितियों में संपत्तिवान वर्गों के लिए "धन और सत्ता की मदोन्मत्त कर देनेवाली वृद्धि" की थी। वहां हमने मज़दूर के केवल सामाजिक कार्य पर विचार किया था। लेकिन संचय के नियम का पूरी तरह स्पष्टीकरण करने के लिए हमें इसपर भी विचार करना चाहिए कि वर्कशाप के बाहर उसकी क्या हालत है और भोजन तथा निवास-स्थान की दृष्टि से उसकी क्या दशा है। स्थानाभाव के कारण हम यहां पर केवल औद्योगिक सर्वहारा के सबसे कम मज़दूरी पानेवाले हिस्से पर, और खेतिहर मज़दूरों पर ही विचार करेंगे; ये दोनों हिस्से मिलकर मज़दूर वर्ग का अधिकांश हो जाते हैं।

लेकिन उसके पहले दो शब्द सरकारी मुहताजों के बारे में, या मज़दूर वर्ग के उस भाग के बारे में कह दिये जायें, जो ज़िंदा रहने की शर्त पूरी करने में (यानी अपनी श्रम-शक्ति बेचने में) असमर्थ है और जो सार्वजनिक भीख के सहारे एड़ियां रगड़ रहा है। १८५५ में इंगलैंड[107] में मुहताजों की सरकारी सूची में ८,५१,३६६ व्यक्ति दर्ज थे, १८५६ में ८,७७,७६७ और १८६५ में ९,७१,४३३। कपास के अकाल के कारण १८६३ में उनकी संख्या बढ़कर १०,७९,३८२, और १८६४ में १०,१४,९७८ हो गयी। १८६६ के संकट का लंदन पर सबसे अधिक भयानक प्रभाव पड़ा। उसने संसार की मंडी के इस केंद्र में, जिसकी जनसंख्या पूरे स्कॉटलैंड की जनसंख्या से अधिक है, मुहताजों की संख्या को इतना ज़्यादा बढ़ा दिया कि १८६५ की तुलना में १८६६ में उनकी तादाद १९.५ प्रतिशत अधिक हो गयी और १८६४ की तुलना में २४.४ प्रतिशत बढ़ गयी, और १८६६ की तुलना में १८६७ के शुरू के महीनों में तो मुहताजों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि हो गयी। मुहताजों के आंकड़ों का विश्लेषण करने पर दो बातें सामने आती हैं। एक तो यह कि मुहताजों की संख्या में जो उतार-चढ़ाव आता रहता है, उसमें औद्योगिक चक्र के नियतकालिक परिवर्तन प्रतिबिंबित होते हैं। दूसरी यह कि जैसे-जैसे पूंजी के संचय के साथ-साथ वर्ग-संघर्ष का और इसलिए श्रमजीवियों की वर्ग-चेतना का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे मुहताजों की वास्तविक संख्या के बारे में सरकारी आंकड़े अधिकाधिक भ्रामक बनते जाते हैं। उदाहरण के लिए, पिछले दो साल से अंग्रेज़ी पत्र-पत्रिकाएं (*The Times, Pall Mall Gazette*, आदि) इसका बड़ा शोर मचा रही हैं कि मुहताजों के साथ बर्बर व्यवहार किया जा रहा है, परंतु असल में यह चीज़ बहुत पुरानी है। फ़े० एंगेल्स ने १८४४ में ठीक इन्हीं विभीषिकाओं का वर्णन किया था और बताया था कि उस ज़माने में भी "सनसनीखेज़ ख़बरें" छापनेवाले अख़बारों ने कुछ समय के लिए इसी तरह का ढोंग रचा था और इन चीज़ों के बारे में बहुत शोर मचाया था। लेकिन पिछले दस वर्षों में लंदन में "भूख से मरनेवालों" की संख्या में जो भयानक वृद्धि हुई है, उससे इस बात में ज़रा भी संदेह नहीं रहता कि मज़दूरीपेशा लोग मुहताज-खानों की दासता से, जहां लोगों को उनकी ग़रीबी की सज़ा दी जाती है, कितना डरते हैं और उनका यह डर कितनी तेज़ी से बढ़ता जा रहा है।[108]

---

[107] यहां वेल्स को हर जगह इंगलैंड में शामिल कर लिया गया है।

[108] ऐडम स्मिथ के दिनों के मुक़ाबले में अब ज़माना कितनी तरक़्क़ी कर गया है, इसका एक सबूत यह है कि ऐडम स्मिथ तक कभी-कभी मैन्यूफ़ैक्टरी के लिए "मुहताज-ख़ाना" शब्द का प्रयोग करते थे। उदाहरण के लिए, श्रम-विभाजन संबंधी अध्याय के शुरू में उन्होंने लिखा था: "धंधे की हर अलग-अलग शाखा में काम करनेवालों को अकसर एक ही मुहताज-ख़ाने में इकट्ठा किया जा सकता है।"

ख) ब्रिटिश औद्योगिक मजदूर वर्ग का बहुत कम मजदूरी पानेवाला हिस्सा

१८६२ के कपास के अकाल के दिनों में प्रिवी काउंसिल ने डा० स्मिथ को लंकाशायर और चेशायर के दुखी कारख़ाना-मज़दूरों की पोषण संबंधी स्थिति की जांच करने का काम दिया था। इसके पहले, अनेक वर्षों के निरीक्षण के बाद, डा० स्मिथ इस नतीजे पर पहुंचे थे कि "भूख से जो बीमारियां पैदा हो जाती हैं, उनको दूर रखने के लिए" ज़रूरी है कि औसत ढंग की स्त्री के दैनिक भोजन में कम से कम ३,६०० ग्रेन कार्बन और १८० ग्रेन नाइट्रोजन हो और औसत ढंग के पुरुष के दैनिक भोजन में कम से कम ४,३०० ग्रेन कार्बन और २०० ग्रेन नाइट्रोजन हो; इसका मतलब यह है कि स्त्रियों को उतने पोषक पदार्थ मिलने चाहिए, जितने २ पाउंड वज़न की गेहूं की अच्छी डबल रोटी में होते हैं, और पुरुषों के भोजन में उससे $\frac{१}{६}$ अधिक पोषक पदार्थ होने चाहिए; इस प्रकार वयस्क पुरुषों और स्त्रियों को सप्ताह में औसतन कम से कम २८,६०० ग्रेन कार्बन और १,३३० ग्रेन नाइट्रोजन मिलने चाहिए। डा० स्मिथ का यह अनुमान उस समय बड़े आश्चर्यजनक ढंग से व्यवहार में प्रमाणित हो गया, जब अभाव और दरिद्रता ने सूती मिलों के मज़दूरों के उपभोग को कम करते-करते अल्पतम सीमा पर पहुंचा दिया और जब यह पता चला कि यह सीमा वही थी, जिसपर डा० स्मिथ अपने अध्ययन के फलस्वरूप पहुंचे थे। दिसंबर १८६२ में सूती मज़दूरों का औसत उपभोग प्रति सप्ताह २६,२११ ग्रेन कार्बन और १,२६५ ग्रेन नाइट्रोजन पर पहुंच गया था।

१८६३ में प्रिवी काउंसिल ने अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग के सबसे कम पोषण पानेवाले हिस्से की जांच करने का आदेश दिया। प्रिवी काउंसिल के मेडिकल अफ़सर डा० साइमन ने इस काम के लिए उपरोक्त डा० स्मिथ को चुना। उनकी जांच के क्षेत्र में एक तरफ़, यदि खेतिहर मज़दूर आते थे, तो दूसरी तरफ़, वह रेशम की बुनाई करनेवाले मज़दूरों, सीने-पिरोने का काम करनेवाली औरतों, चमड़े के दस्ताने बनानेवालों, मोज़े बनानेवालों, दस्ताने बनानेवालों और जूते बनानेवालों तक फैला हुआ था। मोज़े बनानेवालों को छोड़कर ये तमाम औद्योगिक मज़दूर शहरों के रहनेवाले थे। जांच के लिए यह नियम बना लिया गया था कि प्रत्येक कोटि में से केवल सबसे अधिक स्वस्थ परिवारों को, जिनकी दशा औरों से अच्छी है, छांटा जायेगा।

और इस जांच का सामान्य परिणाम यह निकला कि "घर के अंदर काम करनेवाले कारीगरों की जितनी कोटियों की जांच की गयी, उनमें से केवल एक ही कोटि ऐसी थी, जिसको मात्र पर्याप्तता के अनुमानित मानदंड (अर्थात् जितनी नाइट्रोजन भूख से पैदा होनेवाली बीमारियों को दूर रखने के लिए आवश्यक थी) से ज़रा सी अधिक नाइट्रोजन मिल जाती थी, एक और कोटि लगभग अनुमानित मानदंड तक पहुंच जाती थी और दो के पोषण में नाइट्रोजन और कार्बन दोनों की कमी थी – और एक कोटि के पोषण में तो ये दोनों तत्त्व बहुत ही कम थे। इसके अलावा जहां तक उन खेतिहर परिवारों का संबंध है, जिनकी जांच की गयी, उनके बारे में यह पता चला कि उनमें से बीस प्रतिशत से अधिक को कार्बन वाला भोजन पर्याप्तता के अनुमानित मानदंड से कम मिलता है, एक तिहाई से अधिक को नाइट्रोजन वाला भोजन पर्याप्तता के अनुमानित मानदंड से कम मिलता है और तीन काउंटियों (बर्कशायर, आक्सफ़ोर्डशायर और सॉमरसेटशायर) के औसत ढंग के स्थानीय भोजन में नाइट्रोजन वाले पदार्थ पर्याप्त मात्रा

में नहीं होते।"[109] जहां तक खेतिहर मज़दूरों का संबंध था, युनाइटेड किंगडम के सबसे धनी भाग – यानी इंगलैंड – के खेतिहर मज़दूरों को सबसे ख़राब भोजन मिलता था।[110] खेतिहर मज़दूरों में अपर्याप्त भोजन का सबसे घातक प्रभाव मुख्यतया स्त्रियों और बच्चों पर पड़ता था, क्योंकि समझा जाता था कि "पुरुष को तो खाना ही चाहिए, क्योंकि उसे काम करना है।" जिन शहरी मज़दूरों की जांच की गयी, उनकी हालत और भी ख़राब निकली। "इन लोगों को इतना बुरा भोजन मिलता है कि उनमें घोर अभाव के मारे हुए लोगों की संख्या निश्चय ही बहुत बड़ी होगी।"[111] (यह सब पूंजीपति के "अभावों" का, अर्थात् केवल ज़िंदा रहने के लिए जितने जीवन-निर्वाह साधन नितांत आवश्यक हैं, उनको ख़रीदने के लिए पूंजीपति द्वारा अपने मज़दूरों को पर्याप्त मज़दूरी देने से "परिवर्जन" का ही तो सूचक है!)

डा० स्मिथ द्वारा निर्धारित अल्पतम मानदंड की तुलना में और सूती मिलों के मज़दूरों को सबसे ज़्यादा मुसीबत के ज़माने में जितना भोजन मिलता था, उसकी तुलना में विशुद्ध रूप से शहरों में रहनेवाले मज़दूरों की ऊपर गिनायी गयी कोटियों को कितना पोषण मिलता था, यह नीचे दी गयी तालिका से स्पष्ट हो जाता है:

स्त्री और पुरुष दोनों	कार्बन की प्रति सप्ताह औसत मात्रा	नाइट्रोजन की प्रति सप्ताह औसत मात्रा
इमारत के भीतर किये जानेवाले पांच धंधों के मज़दूर . . .	२८,८७६ ग्रेन	१,१९२ ग्रेन
लंकाशायर के बेकार मज़दूर	२८,२११ "	१,२९५ "
लंकाशायर के मज़दूरों के लिए प्रस्तावित न्यूनतम मात्रा (यह हिसाब पुरुषों और स्त्रियों की संख्या को बराबर मानकर लगाया गया था)	२८,६०० "	१,३३० "[112]

जितने प्रकार के औद्योगिक मज़दूरों की हालत की जांच की गयी, उनमें से आधों को, या $\frac{६०}{१२५}$ को, बियर की एक बूंद भी नहीं मिलती थी और २८ प्रतिशत को एक क़तरा भी दूध नहीं मिलता था। मज़दूर-परिवारों को प्रति सप्ताह औसतन जितना द्रव पोषण मिलता था, उसकी मात्रा सबसे कम सीने-पिरोने का काम करनेवाली औरतों में थी, जिनको सात आउंस द्रव पोषण मिलता था, और सबसे ज़्यादा मोज़े बनानेवालों में थी, जिनको २४$\frac{३}{४}$ आउंस द्रव पोषण मिलता था। जिन्हें दूध नहीं मिलता था, उनका अधिकतर भाग लंदन की सीने-पिरोने का काम करनेवाली औरतों का था। प्रति सप्ताह सबसे कम रोटी का उपभोग सीने-पिरोने का काम करनेवाली औरतें करती थीं, जिनकी रोटी की खपत औसतन केवल

[109] *Public Health, 6th Report etc. for 1863*, London, 1864, p. 13.
[110] l. c., p. 17.
[111] l. c., p. 13.
[112] l. c., Appendix, p. 232.

७$\frac{3}{4}$ पाउंड थी, और सबसे अधिक रोटी जूते बनानेवालों के यहां ख़र्च होती थी, जो औसतन ११$\frac{1}{2}$ पाउंड रोटी का हर हफ़्ते उपयोग करते थे; यदि तमाम मज़दूरों का औसत निकाला जाये, तो सप्ताह में एक वयस्क मज़दूर ६.६ पाउंड रोटी का उपभोग करता था। चमड़े के दस्ताने बनानेवाले सबसे कम शक्कर (शीरा, राब, आदि की शक्ल में) खाते थे। वे प्रति सप्ताह ४ आउंस शक्कर इस्तेमाल करते थे। मोज़े बनानेवाले सबसे ज़्यादा – ११ आउंस शक्कर – इस्तेमाल करते थे। और सभी प्रकार के मज़दूरों का औसत निकालने पर प्रति सप्ताह और प्रति वयस्क मज़दूर का ८ आउंस शक्कर का ख़र्च बैठता था। मक्खन (चर्बी, आदि) का औसत साप्ताहिक ख़र्च ५ आउंस प्रति वयस्क मज़दूर था। मांस (सूअर का मांस, इत्यादि) के साप्ताहिक ख़र्च का औसत रेशम की बुनाई करनेवालों में सबसे कम था – ७$\frac{1}{4}$ आउंस, और चमड़े के दस्ताने बनानेवालों में सबसे ज़्यादा था – १८$\frac{1}{4}$ आउंस, विभिन्न प्रकार के तमाम मज़दूरों का औसत निकाला जाये, तो मांस की प्रति वयस्क मज़दूर साप्ताहिक खपत १३.६ आउंस थी। एक वयस्क मज़दूर हर सप्ताह अपने भोजन पर कुल कितना पैसा ख़र्च करता था, इसका औसत निकालने पर प्रत्येक कोटि के लिए निम्नलिखित आंकड़े सामने आते हैं: रेशम बुननेवाला २ शिलिंग २$\frac{1}{2}$ पेंस, सीने-पिरोने का काम करनेवाली औरत २ शिलिंग ७ पेंस, चमड़े के दस्ताने बनानेवाला २ शिलिंग ९$\frac{1}{2}$ पेंस, जूते बनानेवाला २ शिलिंग ७$\frac{3}{4}$ पेंस और मोज़े बनानेवाला २ शिलिंग ६$\frac{1}{4}$ पेंस। मैक्लेज़फ़ील्ड के रेशम मज़दूरों में से प्रत्येक केवल १ शिलिंग ८$\frac{1}{2}$ पेंस प्रति सप्ताह भोजन पर ख़र्च करता था। सबसे ख़राब हालत सीने-पिरोने का काम करनेवाली औरतों, रेशम की बुनाई करनेवालों और चमड़े के दस्ताने बनानेवालों की थी।[113]

डा० साइमन ने सामान्य स्वास्थ्य की अपनी रिपोर्ट में इन तथ्यों की चर्चा करते हुए कहा है: "जिस डाक्टर ने भी ग़रीबों के क़ानून के मातहत लोगों का इलाज किया है या जिसे अस्पतालों के वार्डों या बाह्य रोगी-कक्षों का थोड़ा बहुत अनुभव है, वह इस बात की पुष्टि कर सकता है कि बहुत से रोग दोषपूर्ण भोजन के कारण पैदा होते हैं, या उग्र रूप धारण कर लेते हैं... परंतु, मेरी राय में, यहां एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सफ़ाई संबंधी संदर्भ को याद रखना ज़रूरी है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भोजन के अभाव को लोग बहुत अनिच्छापूर्वक सहन करते हैं, और आम तौर पर भोजन में कमी उस वक़्त आती है, जब उसके पहले अन्य प्रकार के अभाव आ चुके होते हैं। इसके बहुत पहले कि भोजन की कमी स्वास्थ्य की दृष्टि से चिंता का विषय बन जाये और शरीरक्रियाविज्ञानी नाइट्रोजन और कार्बन के उन कणों को गिनने की सोचें, जो जीवन और भुखमरी के बीच सीमा-रेखा का काम करते हैं, इसके बहुत पहले घर का सारा

[113] *Public Health, 6th Report etc. for 1863*, London, 1864, pp. 232, 233.

भौतिक सुख चला जाता है; कपड़े और ईंधन की कमी भोजन की कमी से भी ज़्यादा भयानक रूप धारण कर लेती है; मौसम की निष्ठुरताओं से बचने के बहुत कम साधन रह जाते हैं; रहने का स्थान इतना कम हो जाता है कि भीड़ के कारण बीमारियां पैदा होने या बढ़ने लगती हैं; घर का सारा फ़र्नीचर और बर्तन-भांडे चले जाते हैं, और यहां तक कि सफ़ाई रखना भी बहुत महंगा या बहुत मुश्किल काम प्रतीत होने लगता है, और यदि इस हालत पर पहुंच जाने के बाद भी सफ़ाई रखने की आत्मसम्मानपूर्ण कोशिश की जाती है, तो ऐसी हर कोशिश के लिए पेट और भी ज़्यादा काटा जाता है। घर सबसे कम किराये वाले मुहल्लों में लिया जाता है; ये वे मुहल्ले होते हैं, जहां सफ़ाई संबंधी निरीक्षणों का सबसे कम असर हुआ है, जहां गंदे पानी की निकासी का सबसे कम इंतज़ाम है, जहां सबसे कम सफ़ाई होती है, जहां सबसे कम और ख़राब सड़कें हैं, जहां पानी का सबसे कम या सबसे ख़राब इंतज़ाम है, और यदि शहर का मामला है, तो जहां सबसे कम रोशनी और हवा मयस्सर होती है। जब ग़रीबी इस हद तक पहुंच जाती है कि खाने की तंगी होने लगती है, तब स्वास्थ्य के लिए इन तमाम ख़तरों का पैदा हो जाना लगभग अनिवार्य हो जाता है। और जहां ये सारे ख़तरे मिलकर ज़िंदगी के लिए एक बहुत भयानक चीज़ बन जाते हैं, वहां अकेली भोजन की कमी ही अत्यंत चिंताजनक बात होती है... ये बातें ऐसी हैं, जिनके बारे में सोचकर बहुत दुःख होता है, ख़ास तौर पर इसलिए कि यहां जिस ग़रीबी की चर्चा है, वह काहिलों की ग़रीबी नहीं है, जिसका अपना औचित्य होता है। यह तो हर जगह मेहनत करनेवालों की ग़रीबी है। सच पूछिये, तो जहां तक मकानों के भीतर काम करनेवालों का संबंध है, सबसे कम भोजन प्रायः उन लोगों को मिलता है, जिनको सबसे ज़्यादा देर तक काम करना पड़ता है। ज़ाहिर है कि इस तरह के काम को केवल एक सीमित अर्थ में ही आत्मनिर्भर व्यक्तियों का काम समझा जा सकता है... और यह नाममात्र की आत्मनिर्भरता प्रायः मुहताजी के संक्षिप्त या लंबे मार्ग का ही काम करती है।"[114]

मज़दूर वर्ग के सबसे ज़्यादा मेहनती हिस्सों की भुखमरी और पूंजीवादी संचय पर आधारित धनी लोगों के असंस्कृत अथवा सुसंस्कृत अपव्ययी उपभोग के बीच जो अंतरंग संबंध होता है, वह तभी दिखायी दे पाता है, जब आर्थिक नियमों का ज्ञान होता है। "ग़रीबों के रहने की व्यवस्था" की बात दूसरी है। पूर्वाग्रहरहित हर पर्यवेक्षक जानता है कि उत्पादन के साधनों का जितना अधिक केंद्रीयकरण होता है, मज़दूरों की उतनी ही बड़ी संख्या को थोड़े से स्थान के भीतर भर दिया जाता है; और पूंजीवादी संचय जितनी तेज़ी से होता है, मेहनत करनेवालों के रहने के मकान उतने ही ख़राब होते हैं। धन की वृद्धि होने के साथ-साथ जब शहरों का "सुधार" किया जाता है, यानी बेढंगे मकानों को गिरा दिया जाता है, बैंकों, गोदामों, आदि के लिए महल खड़े किये जाते हैं, व्यावसायिक यातायात के लिए, धनियों की बड़ी-बड़ी गाड़ियों और ट्राम-गाड़ियों, आदि के लिए सड़कें चौड़ी की जाती हैं, तो ग़रीबों को और भी बुरे तथा और भी अधिक भीड़ से भरे बिलों में छिपने के लिए मजबूर कर दिया जाता है। दूसरी ओर, हर कोई जानता है कि मकानों का किराया उनकी अच्छाई के प्रतिलोम अनुपात में होता है, और मकान किराये पर उठाकर लोगों को लूटनेवाले ग़रीबी की खानों से जितना कम ख़र्च करके जितना ज्यादा मुनाफ़ा कमाते हैं, उतने कम ख़र्च से उतना ज्यादा मुनाफ़ा तो पोतोसी की चांदी

---

[114] *Public Health, 6th Report etc. for 1863*, London, 1864, pp. 14, 15.

की खानों के मालिक भी नहीं कमा पाते थे। पूंजीवादी संचय का विरोधपूर्ण स्वरूप और इसलिए आम तौर पर पूंजीवादी संपत्ति-संबंधों का भी विरोधपूर्ण स्वरूप[115] यहां इतने स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है कि इस विषय की सरकारी रिपोर्टें तक "संपत्ति तथा उसके अधिकारों" की तीव्र एवं परंपराद्रोही आलोचनाओं से भरी हुई हैं। उद्योग के विकास, पूंजी के संचय और शहरों के विकास तथा "सुधार" के साथ-साथ यह बुराई ऐसा भयानक रूप धारण कर लेती है कि १८४७ और १८६४ के बीच केवल छूत की बीमारियों के डर से, जो कि "संभ्रांत लोगों" को भी नहीं छोड़ती हैं, संसद ने सफ़ाई के बारे में कम से कम १० क़ानून बनाये और लिवर-पूल, ग्लासगो, आदि कुछ शहरों के सहमे हुए पूंजीपतियों ने अपनी नगर-पालिकाओं के ज़रिये ज़ोरदार क़दम उठाये। फिर भी डा० साइमन ने अपनी १८६५ की रिपोर्ट में कहा है: "यदि मोटे तौर पर देखा जाये तो हम कह सकते हैं कि इंगलैंड में इन बुराइयों पर कोई नियंत्रण नहीं है।" १८६४ में प्रिवी कौंसिल के आदेश पर खेतिहर मज़दूरों के रहने के स्थानों की जांच की गयी, १८६५ में शहरों के ज़्यादा ग़रीब वर्गों के रहने के घरों की जांच की गयी। डा० जूलियन हंटर के इस प्रशंसनीय कार्य के निष्कर्ष हमें *Public Health* की सातवीं (१८६५) और आठवीं (१८६६) रिपोर्टों में मिलते हैं। खेतिहर मज़दूरों का मैं बाद को ज़िक्र करूंगा। शहरी मज़दूरों की क्या हालत थी, इसके विषय में मैं पहले डा० साइमन की एक सा-मान्य टिप्पणी उद्धृत करूंगा। उन्होंने लिखा है: "यद्यपि मेरा सरकारी दृष्टिकोण केवल भौतिक बातों से ही संबंध रखता है, तथापि साधारण मानवता का तक़ाज़ा है कि इस बुराई के दूसरे पहलुओं को अनदेखा न किया जाये... जब रहने के घरों में बहुत ज़्यादा भीड़ हो जाती है, तब उसके परिणामस्वरूप अनिवार्य रूप से सारा संकोच इस बुरी तरह ख़त्म हो जाता है, देहों और दैहिक व्यापारों की ऐसी अशोभनीय गड़बड़ पैदा हो जाती है और दैहिक एवं लैंगिक नग्नता का ऐसा उद्घाटन होता है कि उसे मनुष्योचित न कहकर पाशविक कहना ज़्यादा सही होगा। ऐसे घातक प्रभावों से प्रभावित होना पतन के गढ़े में गिर जाना है, और जिनपर ये प्रभाव लगातार काम करते रहते हैं, उनके लिए यह गढ़ा अधिकाधिक गहरा होता जाता है। जो बच्चे ऐसे घरों में पैदा होते हैं, वे बहुधा जन्म लेते ही इस गढ़े में गिर पड़ते हैं। और यदि कोई यह चाहता है कि ऐसी परिस्थितियों में रहनेवाले व्यक्ति अन्य बातों में कभी सभ्यता के उस वातावरण तक पहुंचने की चेष्टा करेंगे, जिसका मूल शारीरिक एवं नैतिक स्वच्छता है, तो उसके मन की इच्छा हरगिज़-हरगिज़ पूरी नहीं हो पायेगी।"[116]

भीड़ से भरे हुए ऐसे घरों के मामले में, जो इनसानों के रहने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं, पहला नंबर लंदन का है। डा० हंटर ने लिखा है: "दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं। एक यह कि लंदन में लगभग दस-दस हज़ार व्यक्तियों की कोई २० ऐसी बड़ी-बड़ी बस्तियां हैं, जिनकी हालत इतनी ख़राब है कि वैसी हालत मैंने इंगलैंड में और कहीं नहीं देखी, और वह लगभग पूर्णतया रहने के बुरे स्थानों के कारण है। दूसरी बात यह है कि २० वर्ष पहले की तुलना में

---

[115] "श्रमजीवी वर्ग के रहने के स्थानों के संबंध में जैसे ऐलानिया ढंग से और जितनी बेशर्मी के साथ संपत्ति के अधिकारों की वेदी पर व्यक्तियों के अधिकारों का बलिदान किया गया है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है। हर बड़े शहर को नर-बलि का स्थान समझा जा सकता है, जहां लोभ के देवता की भेंट के रूप में हज़ारों को हर साल आग में जलना पड़ता है।" (S. Laing, l. c., p. 150.)

[116] *Public Health, 8th Report*, London, 1866, p. 14, Note.

आज इन बस्तियों के घरों में कहीं ज़्यादा भीड़ है और वे कहीं अधिक टूट-फूट गये हैं।"[117] "कोई अतिशयोक्ति न होगी, यदि हम यह कहें कि लंदन और न्यूकैसल के कुछ हिस्सों में लोग नरक का जीवन बिताते हैं।"[118]

इसके अलावा लंदन का जितना "सुधार" होता जाता है, उसकी पुरानी सड़कें और मकान जितने नष्ट होते जाते हैं, राजधानी में कारख़ानों की संख्या तथा मनुष्यों की भीड़ जितनी बढ़ती जाती है और अंत में भूमि के साथ-साथ मकानों का किराया जितना ज़्यादा होता जाता है, उतना ही वहां के मज़दूर वर्ग का अपेक्षाकृत खाता-पीता भाग तथा छोटे दूकानदार और निम्न मध्य वर्ग के अन्य तत्त्व भी रहने के घरों के मामले में इसी प्रकार की नारकीय परिस्थितियों के शिकार होते जाते हैं। "किराये इतने बढ़ गये हैं कि मेहनत करनेवाले बहुत कम आदमी ऐसे हैं, जो एक से ज़्यादा कमरे किराये पर ले सकते हैं।"[119] लंदन में लगभग कोई मकान ऐसा नहीं है, जिसके ऊपर कई-एक बिचवइयों का बोझा न हो। कारण कि लंदन में ज़मीन का दाम उसकी वार्षिक आय की तुलना में हमेशा बहुत ज़्यादा होता है और इसलिए हर ख़रीदार यह सट्टा लगाता है कि कुछ समय बाद वह ज़मीन के लिए जूरी का दाम वसूल करने में कामयाब हो जायेगा (जब ज़मीन पर ज़बर्दस्ती अधिकार कर लिया जाता है, तब जूरी उसका दाम निर्धारित करती है), या पड़ोस में कोई बड़ा कारख़ाना बन जाने के कारण ज़मीन के मूल्य में असाधारण वृद्धि हो जायेगी। इसका नतीजा यह हुआ है कि "ख़त्म होने को आ रहे पट्टों" को ख़रीदने का बाक़ायदा धंधा चल पड़ा है। "जो भद्र लोग यह धंधा करते हैं, वे जो कुछ करते हैं, उनसे उसी की आशा की जानी चाहिए – जब तक किरायेदार उनकी मुट्ठी में रहते हैं, तब तक वे उनसे जितना वसूल कर सकते हैं, करते हैं और अपने उत्तराधिकारियों के वास्ते कम से कम छोड़ते हैं।"[120]

किराया हफ़्तेवार वसूला जाता है, इसलिए इन भद्र पुरुषों को इसका कोई ख़तरा नहीं रहता कि उसका किराया मारा जायेगा। शहर में रेल की लाइनें बिछ जाने के कारण लंदन के पूर्वी भाग में हाल में "यह दृश्य देखने में आया है कि शनिवार की रात को बहुत से परिवार अपने इने-गिने सामान की पोटली उठाये इधर-उधर घूम रहे हैं और सिवाय मुहताज-ख़ाने के और कोई स्थान उनके सिर छिपाने के लिए नहीं है।"[121] मुहताज-ख़ानों में पहले से ही भीड़ लगी हुई है, और संसद जिन "सुधारों" की अनुमति दे चुकी है, वे अभी आरंभ ही

[117] *Public Health, 8th Report*, London, 1866, p. 89. इन बस्तियों के बच्चों का ज़िक्र करते हुए डा० हंटर ने लिखा है: "ग़रीबों की घनी बस्तियों के इस युग के आरंभ होने के पहले बच्चों को किस तरह पाला जाता था, यह बतानेवाला अब कोई ज़िंदा नहीं है। और बच्चों की इस मौजूदा पीढ़ी से, जो ऐसी परिस्थितियों में बड़ी हो रही है, जैसी परिस्थितियां इस देश में पहले कभी नहीं देखी गयी थीं, जो आधी-आधी रात तक हर उम्र के अधनंगे, नशे में चूर, गंदी बातें करनेवाले झगड़ालू व्यक्तियों के साथ बैठी रहती है और जो इस तरह भविष्य में "ख़तरनाक वर्गों" में अपनी गिनती कराने के लिए अभी से शिक्षा प्राप्त कर रही है, इस पीढ़ी से भविष्य में किस प्रकार के व्यवहार की आशा की जानी चाहिए, अभी से यह बताने के लिए भविष्यवक्ता होने की आवश्यकता नहीं है।" (l. c., p. 56.)

[118] l.c. p. 62.

[119] *Report of the Officer of Health of St. Martins-in-the-Fields*, 1865.

[120] *Public Health, 8th Report*, London, 1866, p. 91.

[121] l. c., p. 88.

हुए हैं। यदि मज़दूरों के पुराने घर गिरा दिये जाते हैं, तो वे अपने पुराने मुहल्लों को छोड़ते नहीं, ज्यादा से ज्यादा वे उसकी सीमा पर जाकर बस जाते हैं और यथासंभव उसके नज़दीक ही रहते हैं। "ज़ाहिर है कि वे अपने कारख़ानों के ज़्यादा से ज़्यादा नज़दीक रहने की कोशिश करते हैं। एक मुहल्ले के रहनेवाले उस मुहल्ले के या अधिक से अधिक अगले मुहल्ले के आगे नहीं जाते और दो कमरों के बजाय एक-एक कमरे में ही रहना शुरू कर देते हैं, और यहां तक कि एक कमरे में भी काफ़ी सारे लोग रहने लगते हैं... विस्थापित लोगों को पहले से ज़्यादा किराया देने पर भी वैसा घर नहीं मिलता, जैसा मामूली सा घर वे छोड़ आये हैं... स्ट्रैंड के... आधे मज़दूरों को काम पर पहुंचने के लिए दो-दो मील पैदल चलना पड़ता है।"[121a] यही स्ट्रैंड लंदन की एक मुख्य और बड़ी सड़क है, जिसको देखकर आगन्तुक लंदन की समृद्धि से सहज ही प्रभावित हो जाता है; पर वह इस बात का भी एक अच्छा उदाहरण है कि इस शहर में इनसानों को कैसे ठसाठस भर दिया गया है। स्वास्थ्य-अफ़सर ने हिसाब लगाया था कि इस सड़क के एक मुहल्ले में ५८१ व्यक्ति प्रति एकड़ भरे हुए हैं, हालांकि टेम्स नदी का आधा पाट भी इस हिसाब में शामिल है। यह बात स्वतःस्पष्ट है कि सफ़ाई का प्रत्येक ऐसा क़दम, जो रहने के अयोग्य मकानों को गिराकर मज़दूरों को एक मुहल्ले से भगा देता है – और लंदन में अभी तक यही होता रहा है – उनका महज़ यही नतीजा होता है कि किसी और मुहल्ले में मज़दूरों की और भी ज़्यादा भीड़ हो जाती है। डाक्टर हंटर ने लिखा है: "या तो यह सारी कार्रवाई एक बेहूदगी होने के नाते अपने आप बंद हो जायेगी, या जनता का दिल पसीजेगा (!) और वह प्रभावपूर्ण ढंग से इस ज़िम्मेदारी को समझेगी – जिसे अब बिना किसी अतिशयोक्ति के राष्ट्रीय ज़िम्मेदारी कहा जा सकता है – कि जिन लोगों के पास पूंजी नहीं है और जो इस कारण ख़ुद अपने लिए आश्रय का प्रबंध नहीं कर सकते, पर जो अपने आश्रय-दाताओं को क़िस्तों के रूप में पुरस्कृत कर सकते हैं, उनके लिए आश्रय का प्रबंध करना समाज का काम है।"[122] पूंजीवादी न्याय भी कमाल की चीज़ है! जब ज़मीन के मालिक की, मकान के मालिक की या व्यवसायी आदमी की संपत्ति "नगर-सुधार" के लिए – जैसे रेल की लाइन बिछाने के लिए, या नयी सड़कें, वग़ैरह बनाने के लिए – छीनी जाती है, तो उसको न सिर्फ़ पूरा मुआवज़ा मिलता है, बल्कि मानव एवं ईश्वरीय नियम का यह भी तक़ाज़ा है कि उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल जो "परिवर्जन" करना पड़ा है, उसके एवज़ में उसे मोटे मुनाफ़े के द्वारा दिलासा भी दिया जाये। पर जब मज़दूर को उसके बाल-बच्चों और चीज़-बस्त के साथ सड़क पर फेंक दिया जाता है, और यदि वह उन मुहल्लों में भीड़ बढ़ाता है, जहां मर्यादा का पालन करना आवश्यक होता है, तो सफ़ाई के नाम पर उसके विरुद्ध क़ानूनी कार्रवाई की जाती है!

१९वीं सदी के शुरू में लंदन को छोड़कर इंगलैंड में १,००,००० निवासियों का एक भी शहर नहीं था। केवल ५ शहरों में ५०,००० से ज्यादा आबादी थी। अब २८ शहर ऐसे हैं, जिनकी आबादी ५०,००० से अधिक है। "इस परिवर्तन का फल यह हुआ है कि न केवल शहरी लोगों के वर्ग में भारी वृद्धि हो गयी है, बल्कि पुराने, बहुत घने बसे हुए छोटे-छोटे क़स्बे अब केंद्रीय भाग हो गये हैं और उनके इर्दगिर्द हर तरफ़ मकान बन गये हैं; इस तरह

[121a] *Public Health, 8th Report*, London, 1866, p. 88.

[122] l. c., p. 89.

इन पुराने केंद्रों में ताज़ा हवा आने के लिए कोई रास्ता नहीं रह गया है। अब उनमें रहना धनियों को अच्छा नहीं लगता, इसलिए वे उनको छोड़-छोड़कर शहरों के बाहरी छोर के अधिक सुखकर स्थानों में बसते जा रहे हैं। इन धनियों के स्थान पर जो लोग रहने को आये हैं, वे बड़ी-बड़ी हवेलियों में प्रति परिवार एक कमरे के हिसाब से रहते हैं (...और साथ ही दो या तीन किरायेदार भी अपने साथ रख लेते हैं...)। इस तरह एक ऐसी आबादी वहां बस गयी है, जिसके लायक़ ये मकान नहीं हैं और न ही जिसके लिए ये बनाये गये थे। और यह आबादी ऐसे वातावरण में रहती है, जो वयस्कों को सचमुच पतन के गढ़े में ढकेल देता है और बच्चों को चौपट कर देता है।"[123] किसी औद्योगिक अथवा व्यापारी नगर में जितनी तेज़ी के साथ पूंजी का संचय होता है, शोषणयोग्य मानव-सामग्री भी उतनी ही तेज़ी के साथ बह-बहकर उस नगर में आने लगती है और इन मज़दूरों के रहने के लिए जल्दी-जल्दी जो प्रबंध किया जाता है, वह उतना ही अधिक ख़राब होता जाता है। नरक जैसे घरों के मामलों में लंदन के बाद दूसरा नंबर न्यूकैसल-ऑन-टाइन का है, जो कोयले और लोहे के एक ऐसे क्षेत्र का केंद्र है, जहां उत्पादिता बराबर बढ़ती जा रही है। यहां कम से कम ३४,००० व्यक्ति एक-एक कोठरी में रहते हैं। न्यूकैसल और गेट्सहेड में अधिकारियों ने मकानों की एक बड़ी संख्या को गिरवा दिया है, क्योंकि उनसे पूरी बस्ती के लिए ख़तरा पैदा हो गया था। नये मकान बन रहे हैं, परंतु बहुत धीरे-धीरे, जब कि व्यवसाय बड़ी तेज़ी से तरक़्क़ी कर रहा है। चुनांचे १८६५ में इस शहर में ऐसी ज़बर्दस्त भीड़ थी, जैसी इसके पहले कभी नहीं देखी गयी थी। एक भी कोठरी किराये के लिए ख़ाली नहीं थी। न्यूकैसल ज्वर अस्पताल के डा० एम्बेलटन ने बताया है: "इसमें ज़रा भी संदेह नहीं किया जा सकता कि टाइफ़स ज्वर के फैलने और इतने समय तक जारी रहने का प्रधान कारण यह है कि शहर में लोगों का जमाव बहुत ज्यादा है और रहने के मकान बहुत गंदे हैं। बहुत से मज़दूर जिन कोठरियों में रहते हैं, वे चारों ओर से बंद और गंदे अहातों या आंगनों में स्थित हैं और स्थान, रोशनी, हवा और सफ़ाई की दृष्टि से वे अपर्याप्तता और अस्वास्थ्यप्रदता का नमूना हैं। ये कोठरियां किसी भी सभ्य समाज के लिए कलंक हैं। रात को उनमें पुरुष, स्त्रियां और बच्चे, सब ठसे हुए पड़े रहते हैं। जहां तक पुरुषों का संबंध है, दिन की पाली वाले सोकर उठते हैं, तो रात की पाली वाले उनकी जगह पर सोने के लिए आ जाते हैं, और रात की पाली वाले जागते हैं, तो दिन की पाली वाले आ जाते हैं, और कुछ समय तक यह क्रम इसी तरह चलता रहता है और बीच में एक बार भी नहीं टूटता, जिससे बिस्तरों को ठंडा होने के लिए भी समय मुश्किल से ही मिलता है। पूरी इमारत में पानी का इंतज़ाम बहुत ख़राब होता है, और शौच-स्थानों की दशा तो इससे भी बुरी होती है – वे गंदे होते हैं, उनमें साफ़ हवा के आने की व्यवस्था नहीं होती और वहां से बीमारियां फैलती हैं।"[124] इस तरह की कोठरियों का किराया ८ पेंस से लेकर ३ शिलिंग प्रति सप्ताह तक होता है। डा० हंटर ने लिखा है: "न्यूकैसल-ऑन-टाइन में हमारे देशवासियों की सबसे अच्छी नस्ल के लोग रहते हैं, पर रहने के स्थान तथा पास-पड़ोस की बाह्य परिस्थितियों के कारण वे पतन के गर्त में गिरकर बहुधा जंगलियों की सी अवस्था को पहुंच जाते हैं।"[125]

---

[123] *Public Health, 8th Report*, London, 1866, p. 56.

[124] l. c., p. 149.

[125] l. c., p. 50.

पूंजी और श्रम में चूंकि एक ज्वार-भाटा सा आता रहता है, इसलिए यह मुमकिन है कि किसी भी औद्योगिक नगर में रहने के मकानों की हालत आज थोड़ी सहनीय हो जाये और कल को फिर वहां नरक बन जाये। या यह भी संभव है कि आज नगर के सार्वजनिक अधिकारी सबसे अधिक भयानक बुराइयों को दूर करने की मन में ठानें और कल को फटेहाल आयरलैंड-वासी या जर्जर अंग्रेज़ खेतिहर मज़दूर टिड्डी दल की तरह आकर नगर में भर जायें। ये लोग तहख़ानों और कोठों में भर दिये जाते हैं, या जो अभी तक किसी इज़्ज़तदार मज़दूर के रहने की जगह थी, उसे सराय या भटियारख़ाने में तब्दील कर दिया जाता है, जिसके निवासी उसी तेज़ी के साथ बदलते रहते हैं, जिस तेज़ी के साथ तीससाला जंग के ज़माने में फ़ौजियों के ठहरने के स्थानों के निवासी बदला करते थे। इसका एक उदाहरण है ब्रैडफ़ोर्ड (यॉर्कशायर)। वहां कुछ समय पहले नगरपालिका के कूपमंडूक अधिकारी नगर का सुधार करने में व्यस्त थे। इसके अलावा १८६१ में ब्रैडफ़ोर्ड में १,७५१ मकान ख़ाली पड़े थे। परंतु तभी व्यापार में नयी जान पड़ी, जिसका हबशियों के मित्र, कुछ-कुछ उदारपंथी मि० फ़ोर्स्टर ने हाल में इतना ढोल पीटा है। और व्यापार में नयी जान पड़ने के साथ-साथ नित घटती-बढ़ती "रिज़र्व सेना" अथवा "सापेक्ष बेशी आबादी" की लहरों ने आ-आकर नगर को आप्लावित कर दिया। डा० हंटर को एक बीमा कंपनी के एजेंट से रहने के स्थानों की एक सूची[120] प्राप्त हुई थी। उसमें जितने भयानक तहख़ाने और कोठरियां दर्ज थीं, उनमें मुख्यतया अच्छी मज़दूरी पानेवाले मज़दूर रहते थे। इन लोगों का कहना था कि अगर उन्हें रहने के लिए बेहतर जगह मिल सके, तो वे उसके लिए ख़ुशी-ख़ुशी ज्यादा किराया देने को तैयार हैं। पर इसके पहले कि उनके लिए किसी

[120] *Public Health, 8th Report*, p. 111. किराया वसूलनेवाले एजेंट की सूची (ब्रैडफ़ोर्ड):

	मकान		
वल्कन स्ट्रीट, नं० १२२	१	कोठरी	१६ व्यक्ति
लमले स्ट्रीट, नं० १३	१	"	११ "
बौवर स्ट्रीट, नं ४१	१	"	११ "
पोर्टलैंड स्ट्रीट, नं० ११२	१	"	१० "
हार्डी स्ट्रीट, नं० १७	१	"	१० "
नार्थ स्ट्रीट, नं० १८	१	"	१६ "
नार्थ स्ट्रीट, नं० १७	१	"	१३ "
वाइमर स्ट्रीट, नं० १९	१	"	८ वयस्क
जॉवेट स्ट्रीट, नं० ५६	१	"	१२ व्यक्ति
जॉर्ज स्ट्रीट, नं० १५०	१	"	३ परिवार
राइफ़ल कोर्ट मेरीगेट, नं० ११	१	"	११ व्यक्ति
मार्शल स्ट्रीट, नं० २८	१	"	१० "
मार्शल स्ट्रीट, नं० ४९	३	कोठरियां	३ परिवार
जॉर्ज स्ट्रीट, नं० १२८	१	कोठरी	१८ व्यक्ति
जॉर्ज स्ट्रीट, नं० १३०	१	"	१६ "
एडवर्ड स्ट्रीट, नं० ४	१	"	१७ "
जॉर्ज स्ट्रीट, नं० ४९	१	"	२ परिवार
यॉर्क स्ट्रीट, नं० ३४	१	"	२ "
साल्ट पाई स्ट्रीट (सबसे नीचे की मंजिल)	२	कोठरियां	२६ व्यक्ति

बेहतर जगह का बंदोबस्त हो, वे तो पतन के गढ़े में गिर जाते हैं, सबके सब बीमार पड़ जाते हैं, और उधर संसद का वह कुछ-कुछ उदारपंथी सदस्य फ़ोर्स्टर स्वतंत्र व्यापार के वरदानों और बटी हुई ऊन की चीज़ों का व्यवसाय करनेवाले ब्रैडफ़ोर्ड के प्रतिष्ठित नागरिकों के मोटे हुए मुनाफ़ों पर हर्ष के आंसू बहाने में व्यस्त रहता है। ब्रैडफ़ोर्ड में ग़रीबों के क़ानून के मातहत जो डाक्टर तैनात हैं, उनमें से एक का नाम है डा० बेल है। उन्होंने ५ सितंबर १८६५ की रिपोर्ट में यह मत प्रकट किया है कि उनके इलाक़े में बुख़ार के रोगियों की जो इतनी मौतें हो रही हैं, उसका मुख्य कारण उनके रहने की कोठरियां है। उन्होंने लिखा है: "१,५०० घनफ़ुट के एक छोटे से तहख़ाने में... दस व्यक्ति रहते हैं... विंसेंट स्ट्रीट, ग्रीन एयर प्लेस और लेज़ में २२३ मकान हैं, जिनमें १,४५० व्यक्ति रहते हैं, और उनके लिए कुल ४३५ बिस्तर और ३६ पाख़ाने हैं... हरेक बिस्तर के पीछे—और फटे-पुराने गंदे चीथड़ों या लकड़ी की छीलन का ढेर भी बिस्तर कहलाता है—३.३ व्यक्तियों का औसत पड़ता है; बहुत से बिस्तरों को ५-६ व्यक्ति इस्तेमाल करते हैं। और मुझे बताया गया कि कुछ लोगों को किसी तरह का भी बिस्तर मयस्सर नहीं होता। वे अपने रोज़मर्रा के कपड़ों को पहने हुए नंगे तख़्तों पर सो रहते हैं। युवक और युवतियां, विवाहित और अविवाहित, सब इसी तरह इकट्ठे सोते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये कोठरियां अंधेरी, सीलनभरी, गंदी और बदबूदार होती हैं, वे इनसानों के रहने के लिए हरगिज़ उपयुक्त नहीं हैं। उनसे ही बीमारियां और मौतें उन लोगों के बीच फैलती हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति बेहतर है, पर जिन्होंने इन विषैले कीटाणुओं को समाज में पनपने और फैलने की अनुमति दे रखी है।"[127]

रहने के घरों की तंगी और गंदगी के मामले में तीसरा नंबर ब्रिस्टल का है, "उस ब्रिस्टल का, जो यूरोप का सबसे धनी नगर है, पर जहां भयानकतम दरिद्रता और रिहायशी मकानों के अभाव का बोलबाला है।"[128]

ग) ख़ानाबदोश आबादी

अब हम एक ऐसे वर्ग पर विचार करना चाहते हैं, जिसका जन्म देहात में हुआ है, पर जिसका धंधा मुख्यतया औद्योगिक है। यह वर्ग पूंजी की पैदल सेना है, जिसे वह अपनी आवश्यकता के अनुसार कभी यहां झोंकती है, तो कभी वहां। जब यह सेना कहीं कूच नहीं करती

	तहख़ाने		
रीजेंट स्क्वायर . .	. १	तहख़ाना	८ व्यक्ति
एकर स्ट्रीट	. १	"	७ "
३३ रॉबर्ट्स कोर्ट	. १	"	७ "
बैक प्रैट स्ट्रीट, एक ठठेरे की दुकान .	. १	"	७ "
२७ एबनेज़ेर स्ट्रीट . .	. १	"	६ " (१८ वर्ष से अधिक उम्र का एक भी पुरुष नहीं)

[127] *Public Health, 8th Report*, London, 1866, p. 114.

[128] l. c., p. 50.

होती, तो अस्थायी "पड़ाव" डाल लेती है। इन ख़ानाबदोश मज़दूरों को मकान बनाना, नालियां बनाना, ईंटें तैयार करना, चूना फूंकना, रेल की लाइन बिछाना, आदि अनेक प्रकार के कामों में इस्तेमाल किया जाता है। ये लोग महामारियों के द्रुतगामी दस्ते की तरह होते हैं, जो जहां भी अपना पड़ाव डालता है, वहां आसपड़ोस में चेचक, टाइफ़स ज्वर, हैज़ा, स्कारलट ज्वर, आदि रोग फैला देता है।[129] जिन उद्यमों में – जैसे रेलें, आदि – बहुत अधिक पूंजी लगानी पड़ती है, उनमें ठेकेदार मज़दूरों की अपनी सेना के लिए लकड़ी के झोंपड़ों, आदि का प्रायः ख़ुद ही बंदोबस्त कर देता है। इस तरह स्थानीय बोर्डों के नियंत्रण के बाहर और सफ़ाई की किसी भी प्रकार की व्यवस्था से विहीन पूरे गांव के गांव अस्थायी रूप से खड़े हो जाते हैं। ठेकेदार की ख़ूब बन आती है। वह दोहरे ढंग से मज़दूर का शोषण करता है: एक तो उद्योग के सैनिकों के रूप में; दूसरे, किरायेदारों के रूप में। लकड़ी के एक झोंपड़े में १, २ अथवा ३ ख़ाने होते हैं और इसके अनुसार उसमें रहनेवाले को, वह चाहे खुदाई का काम करता हो या और कोई काम, १ शिलिंग, ३ शिलिंग या ४ शिलिंग प्रति सप्ताह किराया देना पड़ता है।[130] यहां एक उदाहरण काफ़ी होगा। सितंबर १८६४ में डा० साइमन ने रिपोर्ट दी थी कि सेवन-ओक्स की सार्वजनिक उपद्रव उन्मूलन समिति के अध्यक्ष ने गृहमंत्री, सर जॉर्ज ग्रे के पास यह शिकायत भेजी थी: "लगभग बारह महीने पहले तक इस इलाक़े में चेचक का एक भी बीमार देखने को नहीं मिलता था। पर उसके कुछ समय पहले यहां लेवीशेम से टनब्रिज तक रेल की लाइन बिछाने का काम शुरू हुआ। इस संबंध में मुख्य काम इस नगर के बिल्कुल पास होना था। इसके अलावा यहां पूरे काम का डिपो खोल दिया गया था, जिसकी वजह से यहां लाज़िमी तौर पर बहुत बड़ी संख्या में लोगों को काम पर रखा गया। इन सब के लिए कस्बे के घरों में स्थान मिलना असंभव था; इसलिए जहां-जहां काम होना था, वहां-वहां ठेकेदार मि० जे ने इन मज़दूरों के रहने के लिए झोंपड़ों की लाइन खड़ी कर दी। इन झोंपड़ों में न तो साफ़ हवा के आने की कोई व्यवस्था थी और न ही गंदे पानी के बाहर निकलने का कोई इंतज़ाम था। इसके अलावा लाज़िमी तौर पर उनमें बहुत भीड़ थी, क्योंकि हालांकि हर झोंपड़े में केवल दो कोठरियां थीं, पर उसमें रहनेवाले हर मज़दूर को, उसका अपना परिवार चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो, कुछ किरायेदारों को जगह देनी पड़ती थी। हमें जो डाक्टरी रिपोर्ट मिली है, उसके मुताबिक़ इसका नतीजा यह हुआ कि झोंपड़ियों की खिड़कियों के ठीक नीचे ठहरे हुए गंदे पानी और पाख़ानों से उठनेवाली ज़हरीली बदबू से बचने के लिए इन बेचारों को खिड़कियां बंद करके सोना पड़ता था और इसलिए सारी रात उनका दम घुटता रहता था। आख़िर एक डाक्टर ने, जिसे इन झोंपड़ों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ था, सार्वजनिक उपद्रव उन्मूलन समिति से शिकायत की। उसने रहने के स्थान के रूप में इन झोंपड़ों की अत्यंत कठोर शब्दों में निंदा की और इस बात का भय प्रकट किया कि अगर सफ़ाई का बंदोबस्त करने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की जाती, तो इसके बहुत ख़तरनाक नतीजे हो सकते हैं। लगभग एक वर्ष हुए मि० जे ने वायदा किया था कि वह अपना एक झोंपड़ा इसके लिए अलग कर देंगे कि अगर उनके किसी मज़दूर को कोई छूत की बीमारी हो जाये, तो उसको फ़ौरन इस झोंपड़े में हटा दिया जाये। पिछली २३ जुलाई को उन्होंने यह वायदा फिर दोहराया, परंतु अपना

---

[129] *Public Health, 7th Report*, London, 1865, p. 18.

[130] l. c., p. 165.

वायदा पूरा करने के लिए उन्होंने आज तक कोई क़दम नहीं उठाया है, हालांकि इस तारीख़ के बाद उनके झोंपड़ों में चेचक के कई केस हो चुके हैं और उसी बीमारी से दो मौतें भी हो चुकी हैं। ६ सितंबर को सर्जन मि० केल्सन ने मुझे रिपोर्ट दी कि इन्हीं झोंपड़ों में चेचक के और कई केस सामने आये हैं, और उन्होंने बताया कि इन झोंपड़ों की हालत अत्यंत लज्जाजनक है। आपकी (गृहमंत्री की) जानकारी के लिए मैं यह और जोड़ दूं कि हमारे इलाक़े में और घरों से अलग एक मकान है, जो बीमारों का घर कहलाता है और जो इलाक़े के उन निवासियों के लिए सुरक्षित रहता है, जिनको छूत की बीमारियां हो जाती हैं। पिछले कई महीनों से यह मकान लगातार ऐसे बीमारों से भरा रहता है और इस समय भी भरा हुआ है। मैं यह भी बता दूं कि एक परिवार में पांच बच्चे चेचक और बुख़ार से मर गये हैं। इस साल हमारे इलाक़े में पहली अप्रैल से पहली सितंबर तक, पांच महीने के अंदर, कम से कम १० व्यक्ति चेचक से मर चुके हैं, जिनमें से चार उपर्युक्त झोंपड़ों के रहनेवाले थे। और इस रोग से अभी तक कुल कितने लोग बीमार हो चुके हैं, इसकी सही संख्या का पता लगाना असंभव है, हालांकि यह मालूम है कि उनकी तादाद काफ़ी बड़ी है। कारण कि हर परिवार इस रोग के समाचार को जहां तक संभव होता है, छिपाकर रखने का प्रयत्न करता है।"[131]

कोयला खानों तथा अन्य खानों में काम करनेवाले मज़दूर ब्रिटिश सर्वहारा के सबसे अच्छी मज़दूरी पानेवाले हिस्सों में आते हैं। उनको अपनी मज़दूरी की क्या क़ीमत चुकानी पड़ती है, यह हम पहले एक पृष्ठ पर देख चुके हैं।[132] यहां पर मैं केवल उनके रहने के स्थानों पर एक सरसरी नज़र डालना चाहता हूं। सामान्यतया जो भी किसी खान का उपयोग करता है, वह चाहे उसका मालिक हो, या चाहे उसने ठेके पर मालिक से खान ले रखी हो, वह सदा अपने मज़दूरों के लिए कुछ झोंपड़े बनवाता है। मज़दूरों को रहने के लिए झोंपड़े और आग जलाने के लिए कोयला "मुफ़्त में" मिल जाते हैं, अर्थात् ये वस्तुएं उनकी मज़दूरी का एक ऐसा हिस्सा होती हैं, जो उनको चीज़ों की शक्ल में दे दिया जाता है। जिनको इस तरह के झोंपड़ों में रहने की जगह नहीं मिलती, उनको प्रति वर्ष ४ पाउंड मुआवज़े के तौर पर मिलते हैं। खानों वाले इलाक़ों की आबादी बहुत तेज़ी से बढ़ती है। उसमें एक तो ख़ुद खान-मज़दूर होते हैं, दूसरे वे तमाम कारीगर, दूकानदार, आदि, जो खान-मज़दूरों के इर्दगिर्द इकट्ठे हो जाते

---

[131] *Public Health, 7th Report*, London, 1865, p. 18, Note. शापेल-अं-ले-फ़िथ यूनियन के सहायता-अफ़सर ने रजिस्ट्रार-जनरल को निम्नलिखित रिपोर्ट दी है: "डवहोल्स में चूने की राख (चूने के भट्ठों के कचरे) के एक बड़े टीले को कई जगहों पर थोड़ा-थोड़ा खोद डाला गया है। इस तरह जो गढ़े बन गये हैं, उनका रहने के स्थान की तरह इस्तेमाल किया जाता है। उस टीले के पड़ोस में आजकल जो रेल की लाइन बिछायी जा रही है, उसपर काम करनेवाले मज़दूर तथा अन्य लोग इन गढ़ों में रहते हैं। ये गढ़े बहुत छोटे और सीलन से भरे हैं। उनमें न तो गंदा पानी बाहर निकलने के लिए नालियां हैं और न ही उनके आसपास पाख़ाने हैं। और साफ़ हवा के अंदर आने का इन गढ़ों में कोई भी रास्ता नहीं है। सिर्फ़ छत में एक सूराख़ होता है, जो धुआं बाहर निकालने की चिमनी की तरह इस्तेमाल किया जाता है। इसका नतीजा यह है कि कुछ समय से इन "(गढ़ों में रहनेवालों)" में चेचक फैली हुई है और कुछ की उससे मृत्यु भी हो गयी है।" (l. c., Note 2.)

[132] भाग ४ के अंत में जो विस्तृत विवरण हमने दिया है, उसका संबंध विशेष रूप से कोयला खानों के मज़दूरों से है। धातु की खानों के मज़दूरों की हालत और भी ख़राब है। उसके बारे में देखिये १८६४ के शाही आयोग की रिपोर्ट, जो बहुत ही ईमानदारी के साथ तैयार की गयी है।

हैं। भूमि के किराये की दरें बहुत ऊंची होती हैं, क्योंकि जहां भी आबादी घनी होती है, वहां आम तौर पर ऐसा ही होता है। इसलिए मालिक यह कोशिश करता है कि खान के मुंह के बिल्कुल नज़दीक, कम से कम रक़बे में केवल इतने झोंपड़े बनाकर खड़ा कर दें, जो उसके मज़दूरों और उनके परिवारों को ठसाठस भरने के लिए ज़रूरी हों। यदि पड़ोस में नयी खानें खुल जाती हैं या पुरानी खानें फिर काम करने लगती हैं, तो आबादी का दबाव बढ़ जाता है। झोंपड़े बनाने में केवल एक ही बात का महत्त्व होता है। वह यह कि पूंजीपति को हर ऐसे ख़र्च से, जो नितांत अपरिहार्य नहीं है, "परिवर्जन" करना पड़ता है। डा० जूलियन हंटर ने बताया है: "नॉर्थम्बरलैंड और डरहम की कोयला-खानों से संबंधित कोयला निकालनेवालों तथा अन्य मज़दूरों को जिस तरह के घरों में रहना पड़ता है, कुल मिलाकर शायद उनसे ज़्यादा ख़राब और महंगे घर सिर्फ़ मौनमथशायर के इसी प्रकार के इलाक़ों को छोड़कर इंगलैंड में और कहीं नहीं मिल सकते...' सबसे ज़्यादा ख़राब बात यह है कि एक-एक कोठरी के अंदर अनेक व्यक्ति रहते हैं, ज़मीन के ज़रा से टुकड़े पर बहुत सारे घर खड़े कर दिये जाते हैं, पानी का अभाव रहता है, पाख़ाने नहीं होते और अकसर एक घर के ऊपर दूसरा घर खड़ा कर दिया जाता है या एक घर को कई परिवारों के रहने के लिए चालों में बांट दिया जाता है... जिसने खान पट्टे पर ले रखी है, वह ऐसे व्यवहार करता है कि जैसे पूरी बस्ती वहां रहती नहीं है, बल्कि उसने वहां महज़ पड़ाव डाल रखा है।"[133]

डाक्टर स्टीवेन्स ने लिखा है: "मुझे जो हिदायतें मिली थीं, उनके मुताबिक़ मैंने डरहम यूनियन के अधिकतर कोयला-खानों वाले गांवों का निरीक्षण किया... बहुत थोड़े अपवादों को छोड़कर इन सभी गांवों के बारे में आम तौर पर यह कहना सही होगा कि उनके निवासियों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए कोई भी क़दम नहीं उठाया जाता... सभी कोयला-मज़दूर बारह महीने के लिए ठेकेदार या मालिक के वास्ते काम करने के लिए बंधे होते हैं" ("अधीनता" शब्द की तरह "बंधा होना" भी कृषिदास-प्रथा के ज़माने का शब्द है)। "यदि कोयला-मज़दूर किसी प्रकार का असंतोष व्यक्त करते हैं या किसी अन्य बात से अपने निरीक्षक को नाराज़ कर देते हैं, तो उनके नाम के आगे निशान लगा दिया जाता है या कुछ लिख दिया जाता है, और साल ख़त्म होने पर जब फिर मज़दूरों को 'बांधा' जाता है, तो ऐसे तमाम मज़दूरों को निकाल दिया जाता है... मुझे लगता है कि इन घने बसे हुए ज़िलों में जो देखने में आता है, trucksystem [जिंस-मज़दूरी प्रणाली] का कोई हिस्सा उससे बदतर नहीं हो सकता। कोयला-खान के मज़दूर को मजबूरन ऐसा घर किराये पर लेना पड़ता है, जो चारों ओर बीमारियों के प्रभावों से घिरा होता है। वह ख़ुद अपनी मदद नहीं कर सकता, और इसमें काफ़ी संदेह है कि उसके मालिक के सिवा कोई और उसकी कुछ सहायता कर सकता है (क्योंकि हर दृष्टि से वह कृषिदास होता है) और उसका मालिक हर चीज़ के लिए पहले अपना बही-खाता देखता है, और उसका क्या नतीजा होता है, यह पहले से निश्चित रहता है। कोयला-मज़दूर को अकसर पानी भी मालिक की तरफ़ से मिलता है, और वह अच्छा हो या ख़राब, उसे उसके पैसे देने पड़ते हैं, या कहना चाहिए कि पानी के पैसे उसकी मज़दूरी में से काट लिये जाते हैं।[134]

---

[133] *Public Health, 7th Report*, London, 1865, pp. 180, 182.

[134] l. c., pp. 515, 517.

जब पूंजी का "जनमत" से या यहां तक कि स्वास्थ्य-अफ़सरों से भी कोई झगड़ा होता है, तो उसे आंशिक रूप में ख़तरनाक और आंशिक रूप में पतन के गढ़े में गिरानेवाली इन परिस्थितियों को, जिनके भीतर वह मज़दूर के रिहायशी तथा श्रम संबंधी जीवन को बंद करके रखती है, उचित सिद्ध करने में कोई कठिनाई नहीं होती। उसकी दलील यह होती है कि उसके मुनाफ़े के लिए ये परिस्थितियां आवश्यक हैं। जब पूंजी फ़ैक्टरी में ख़तरनाक मशीनों से मज़दूरों की रक्षा करने के लिए या खानों, आदि में साफ़ हवा तथा सुरक्षा का प्रबंध करने के लिए किसी भी प्रकार के क़दम का "परिवर्जन" करती है, तब भी वह यही दलील देती है। यहां खान-मज़दूरों के रहने के स्थानों के बारे में भी वही बात है। प्रिवी काउंसिल के मैडिकल अफ़सर डा० साइमन ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में कहा है: "रहने के मकानों की जो बहुत ही ख़राब व्यवस्था है, उसकी सफ़ाई में... यह कहा जाता है कि खानें आम तौर पर ठेके पर उठा दी जाती हैं और ठेकेदार की दिलचस्पी की मियाद (जो कोयला-खानों में आम तौर पर २१ साल होती है) इतनी कम होती है कि अपने मज़दूरों के लिए और व्यापारियों तथा विभिन्न धंधों के अन्य लोगों के लिए, जो खानों की ओर खिंच आते हैं, रहने का अच्छा प्रबंध करने में वह अपना कोई हित नहीं देखता। कहा जाता है कि यदि ठेकेदार इस मामले में थोड़ी उदारता दिखाना भी चाहे, तो भी वह कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि ज़मीन की सतह के ऊपर एक साफ़-सुथरा और आरामदेह गांव बसाने के अधिकार के एवज़ में, जिसमें ज़मींदार की ज़मीन की सतह के नीचे की संपदा बाहर लानेवाले मज़दूर रह सकें, ज़मींदार भूमि के लगान के तौर पर ठेकेदार से इतना अधिक अतिरिक्त पैसा मांग लेता है कि गांव बसाना उसके बूते के बाहर हो जाता है; और यदि ठेकेदार के अलावा कोई और आदमी मज़दूरों के वास्ते मकान बनाना चाहे, तो (यदि ज़मींदार साफ़-साफ़ इसकी मनाही नहीं कर देता, तो) यह अत्यधिक ऊंचा दाम उसे भी कुछ नहीं करने देता। इस दलील का गुण-दोष विवेचन करना इस रिपोर्ट की सीमाओं से बाहर जाना होगा। न ही यहां इस प्रश्न पर विचार करने की ही आवश्यकता है कि यदि मज़दूरों के वास्ते रहने का अच्छा प्रबंध किया जाये, तो उसका ख़र्चा... अंत में किसके – ज़मींदार के, ठेकेदार के, मज़दूर के या समाज के – मत्थे पड़ेगा। परंतु इस रिपोर्ट के साथ जो और रिपोर्टें" (डा० हंटर, डा० स्टीवेन्स, आदि की रिपोर्टें) "नत्थी हैं, उनमें ऐसे लज्जाजनक तथ्य दिये गये हैं कि इस परिस्थिति का इलाज करना ज़रूरी है... ज़मींदारी के हक़ का एक ऐसा बेजा फ़ायदा उठाया जा रहा है, जिससे एक बहुत बड़ी सार्वजनिक बुराई पैदा हो गयी है। खान के मालिक के रूप में ज़मींदार पहले एक औद्योगिक बस्ती को अपनी ज़मीन पर मेहनत करने के लिए बुलाता है, और फिर वह ख़ुद जिन मज़दूरों को वहां इकट्ठा करता है, उनके लिए ज़मीन की सतह के मालिक के रूप में अच्छे मकानों में रहना असंभव बना देता है। उधर ठेकेदार" (पूंजीवादी शोषक) "का भी इसमें कोई आर्थिक हित नहीं है कि वह इस अजीब सौदे का विरोध करे, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि यदि यह सौदा बहुत महंगा पड़ता है, तो उसके लिए नहीं, बल्कि मज़दूरों के लिए महंगा पड़ता है, और मज़दूरों में इतनी शिक्षा नहीं है कि अपने स्वास्थ्य संबंधी अधिकारों के महत्त्व को जान पायें, और उनको चाहे गंदे से गंदा रहने का स्थान दिया जाये या चाहे कीचड़ जैसा पानी पिलाया जाये, वे इसके कारण कभी हड़ताल करने को तैयार नहीं होंगे।"[135]

---

[135] *Public Health, 7th Report*, London, 1865, p. 16.

घ) मज़दूर वर्ग के सबसे अच्छी मज़दूरी पानेवाले हिस्से पर संकटों का प्रभाव

नियमित ढंग के खेतिहर मज़दूरों की चर्चा करने के पहले मैं एक उदाहरण द्वारा यह दिखाना चाहता हूं कि सबसे अच्छी मज़दूरी पानेवाले मज़दूरों पर भी, अर्थात् मज़दूर वर्ग के अभिजात स्तर पर भी, औद्योगिक संकटों का क्या असर होता है। पाठकों को याद होगा कि १८५७ में एक बहुत बड़ा संकट आया था। यह इस प्रकार का संकट था, जिसके साथ एक नियत अवधि पूरी हो जाने पर औद्योगिक चक्र संपूर्ण हो जाता है। अगला औद्योगिक चक्र १८६६ में संपूर्ण होनेवाला था। परंतु फ़ैक्टरियों के इलाक़ों में कपास के अकाल ने पहले ही संकट की सी परिस्थिति पैदा कर दी। उसके कारण बहुत सी पूंजी अपने सामान्य क्षेत्र से निकलकर द्रव्य की मंडी के बड़े केंद्रों में आ गयी, और इसलिए संकट ने इस बार विशेष रूप से वित्तीय रूप धारण कर लिया। १८६६ में यह संकट इस प्रकार आरंभ हुआ कि बड़े लंदन बैंक का दिवाला निकल गया और उसके बाद फ़ौरन ही अनगिनत ठग-कंपनियां ठप्प हो गयीं। लंदन में उद्योग की जिन बड़ी शाखाओं पर यह विपत्ति आयी, उनमें से एक थी लोहे के जहाज़ बनाने की शाखा। इस धंधे के मालिकों ने व्यवसाय की तेज़ी के दिनों में न केवल अंधाधुंध अति उत्पादन किया था, बल्कि इसके अलावा उन्होंने आगे के लिए भी बड़े-बड़े सौदे कर रखे थे। उन्हें यह आशा थी कि उतनी ही बड़ी रक़में उन्हें आगे भी उधार मिल जायेंगी। पर अब इसकी भयानक प्रतिक्रिया आरंभ हुई। यह प्रतिक्रिया इस उद्योग में तथा लंदन के अन्य उद्योगों में इस समय तक (यह मार्च १८६७ के अंत की बात है) जारी है।[136] मज़दूरों की क्या दशा है, इसका कुछ आभास कराने के लिए मैं नीचे *Morning Star* के एक संवाददाता की रिपोर्ट उद्धृत कर रहा हूं, जिसने १८६६ के अंत में और १८६७ के आरंभ में उन मुख्य केंद्रों की यात्रा की थी, जहां लोगों को सबसे अधिक कष्ट था: "पूर्वी क्षेत्र के पॉप्लर, मिलवाल, ग्रीनविच, डेप्टफ़ोर्ड, लाइमहाउस और कैनिंगटाउन नामक क्षेत्रों में कम से कम १५,००० मज़दूर और उसके परिवार बिल्कुल कंगाली की हालत में रह रहे हैं, और ३,००० कुशल मिस्त्री (६ महीने तक कंगाली में रहने के बाद) मुहताज-ख़ाने के आंगन में पत्थर तोड़ रहे हैं... मुहताज-ख़ाने के फाटक तक पहुंचने में मुझे बड़ी कठिनाई हुई, क्योंकि उसे एक भूखी भीड़ ने घेर रखा था... ये लोग टिकट पाने के इंतज़ार में थे, परंतु

---

[136] "लंदन के ग़रीबों में आम भुखमरी... पिछले कुछ दिनों में लंदन की दीवारों पर बड़े-बड़े पोस्टर लगाये गये हैं, जिनमें यह विचित्र घोषणा पढ़ने को मिलती है: 'मोटे बैल! भूखे इनसान! मोटे बैल अपने शीश-महल से धनियों के विलासगृहों में उनका पेट भरने के लिए गये हैं, जब कि भूखे इनसान अपने टूटे-फूटे झोंपड़ों में तड़प-तड़पकर जान दे रहे हैं।' इस प्रकार की अशुभ घोषणा वाले ये पोस्टर थोड़ी-थोड़ी देर बाद दीवारों पर चिपकाये जाते हैं। जैसे ही एक बार लगाये गये पोस्टरों को फाड़-फूड़ दिया जाता है या ढंक दिया जाता है, वैसे ही उन्हीं स्थानों पर या उसी प्रकार के अन्य सार्वजनिक स्थानों पर नये पोस्टर नज़र आने लगते हैं... यह सब देखकर... उन गुप्त क्रांतिकारी दलों की याद आती है, जिन्होंने फ़्रांसीसी जनता को १७८९ की घटनाओं के लिए तैयार किया था... इस समय, जब कि अंग्रेज़ मज़दूर मय अपने बाल-बच्चों के ठंड और भूख से जान दे रहे हैं, करोड़ों के मूल्य का अंग्रेज़ी सोना — जो कि अंग्रेज़ी श्रम की उपज है — रूसी, स्पेनी, इतालवी और अन्य विदेशी उद्यमों में लगाया जा रहा है।" — *Reynolds' Newspaper*, January 20th 1867.

टिकटों के वितरण में अभी देर थी। आंगन एक बड़े चौक की तरह था, जिसके चारों ओर एक खुला हुआ शेड था। आंगन के मध्य में खड़ंजों पर बर्फ़ जम गयी थी। मध्य में ही, थोड़ी-थोड़ी जगहों को टट्टियां लगाकर घेर दिया गया था। वे भेड़ों के बाड़े जैसी लगती थीं। अच्छे मौसम में वहीं लोग काम करते थे। पर जिस रोज़ मैं वहां पहुंचा, उस रोज़ इन बाड़ों में इतनी बर्फ़ जमी हुई थी कि उनके भीतर कोई बैठ नहीं सकता था। लेकिन खुले शेड में लोग पत्थर तोड़कर गिट्टी बनाने में व्यस्त थे। हर आदमी एक बड़े पत्थर पर बैठा हुआ था और एक बड़े हथौड़े से पाले से ढके हुए ग्रेनाइट पर टुकड़े-टुकड़े होने तक चोट करता था। ज़रा ध्यान दीजिये कि उसे पांच बुशेल गिट्टी तैयार करनी थी, तब कहीं उसका दिन भर का काम समाप्त होता और उसे एक दिन की मज़दूरी मिलती – तीन पेंस और कुछ खाने का सामान। आंगन के एक दूसरे हिस्से में एक छोटा और लकड़ी का कमज़ोर सा मकान था। जब हमने उसका दरवाज़ा खोला, तो देखा कि उसके अंदर कुछ लोग एक दूसरे के कंधे से कंधा सटाये हुए बैठे हैं, ताकि उन्हें एक दूसरे के बदन और सांस से गरमी मिलती रहे। ये लोग पुराने रस्सों का सन चुन रहे थे और साथ ही इसपर बहस करते जा रहे थे कि भोजन की खास मात्रा के सहारे सबसे ज्यादा देर तक कौन काम कर सकता है, क्योंकि इन लोगों के बीच सहन-शक्ति सम्मान की चीज़ थी। इस एक मुहताज-ख़ाने में ... सात हज़ार आदमियों को ... सहायता मिलती थी ... पता लगा कि छः या आठ महीने पहले इनमें से सैंकड़ों आदमी ... सबसे ऊंची मज़दूरी पानेवाले कारीगर थे ... इन लोगों की संख्या दुगुनी होगी, यदि हम इनके साथ उन लोगों को और शामिल कर लें, जिनकी बचत तो सारी ख़त्म हो गयी है, पर फिर भी जो सार्वजनिक सहायता नहीं लेना चाहते, क्योंकि अभी उनके पास गिरवी रखने के लिए कुछ सामान बचा हुआ है। मुहताज-ख़ाने से निकलकर मैं उन सड़कों का चक्कर लगाने लगा, जहां अधिकतर छोटे-छोटे इकमंज़िले मकान थे, जो पॉप्लर के आसपास बहुत बड़ी संख्या में हैं। मेरा पथप्रदर्शक बेकारों की समिति का एक सदस्य था ... पहले मैं लोहे का काम करनेवाले एक मज़दूर के घर पर गया, जो सत्ताईस हफ़्ते से बेकार था। यह व्यक्ति अपने परिवार के साथ पीछे के एक नन्हे से कमरे में बैठा हुआ था। कमरे में कोई भी फ़र्नीचर न हो, ऐसा नहीं था। आग भी जल रही थी। वह इसलिए ज़रूरी थी कि छोटे बच्चों के नंगे पैर पाले के शिकार न हो जायें, क्योंकि उस रोज़ ज़ोरों की ठंड थी। आग के सामने एक ट्रे में पुराने रस्सों का सन पड़ा हुआ था, जिसे इस आदमी की बीवी और बच्चे सार्वजनिक कोष से मिलनेवाली सहायता के एवज़ में चुन रहे थे। पुरुष ख़ुद मुहताज-ख़ाने के आंगन में पत्थर तोड़ता था, जिसके बदले में उसे कुछ भोजन और तीन पेंस प्रति दिन मिलते थे। वह रात के खाने के लिए घर लौटा था और, जैसा कि उसने हमें उदास ढंग से मुस्कराते हुए बताया, उसे ख़ूब भूख लगी हुई थी। और उसका रात का खाना था डबल रोटी के कुछ टुकड़े और बिना दूध की एक प्याली चाय ... हमने अगले दरवाज़े पर दस्तक दी, तो उसे एक प्रौढ़ महिला ने खोला, जो चुपचाप हमें पीछे की ओर एक छोटी बैठक में ले गयी, जहां उसका पूरा परिवार ख़ामोश बैठा हुआ तेज़ी से बुझती हुई आग को टकटकी लगाये देख रहा था। इन लोगों के चेहरों पर और उनके इस छोटे से कमरे में ऐसी घोर निराशा और हताशा छायी हुई थी, जिसे मैं दोबारा देखना पसंद नहीं करूंगा। महिला ने अपने लड़कों की ओर इशारा करके कहा : 'छब्बीस हफ़्ते से इन लोगों को काम नहीं मिला है, जनाब, और हमारा सारा पैसा ख़र्च हो गया है। जब समय अच्छा था, तब इनके बाप ने और मैंने बीस पाउंड बचाये थे; सोचा था, जब हम काम करने के

योग्य नहीं रहेंगे, तब यह पैसा काम आयेगा; पर वह भी सब ख़र्च हो गया है। 'देखिये इसे,' उसने तीव्र स्वर में कहा और बैंक की पासबुक निकालकर हमारे सामने कर दी, जिसमें जमा की गयी और निकाली गयी सारी रक़में बहुत साफ़-साफ़ दिखायी गयी थीं और जिससे हम देख सकते थे कि यह थोड़ा सा धन पहले-पहल कैसे पांच शिलिंग जमा करने के साथ शुरू हुआ था और किस तरह वह धीरे-धीरे बढ़कर बीस पाउंड हो गया था, और फिर वह किस तरह ख़त्म होने लगा था, और यहां तक कि रक़में पाउंड के बजाय शिलिंग में लिखी जाने लगी थीं, और आख़िरी इंदराज के बाद तो पासबुक कोरे काग़ज़ की तरह मूल्यहीन बनकर रह गयी थी। इस परिवार को मुहताज-ख़ाने से सहायता मिलती थी, जो दिन भर में केवल एक बार ज़रा सा भोजन पेट में डाल लेने के लिए काफ़ी होती थी... इसके बाद हम लोहे का काम करनेवाले एक आयरिश मज़दूर की पत्नी से मिले, जिसका पति जहाज़ निर्माण गोदियों में काम कर चुका था। भोजन के अभाव के कारण यह स्त्री बीमार पड़ी थी और अपने कपड़े पहने हुए एक गद्दे पर लेटी थी। उसने अपने ऊपर दरी का एक टुकड़ा ओढ़ रखा था, क्योंकि सभी बिस्तर गिरवी रख जा चुके थे। दो दुखियारे बच्चे उसकी देखभाल कर रहे थे, हालांकि ख़ुद उनको भी मां के समान ही देखभाल की आवश्यकता थी। उन्नीस हफ़्ते की बेकारी ने इन लोगों की यह दशा कर दी थी। मां हमें अपने बीते हुए दिनों का दुखभरा इतिहास सुनाती हुई इस तरह कराहती थी, जैसे उसका यह विश्वास अब बिल्कुल मर गया हो कि भविष्य में उसका दुख कभी दूर हो जायेगा... हम बाहर निकले, तो एक नौजवान दौड़ता हुआ हमारे पीछे आया और बोला कि 'ज़रा मेरे घर भी चलिये और बताइये कि क्या आप मेरी कुछ मदद कर सकते हैं।' उसके घर में उसकी जवान बीवी, दो सुंदर बच्चों, गिरवी की दूकान के टिकटों के ढेर और एक ख़ाली कमरे के सिवा और कुछ न था।"

१८६६ के संकट के बाद जो विपत्ति आयी, उसके बारे में अनुदार दल के समर्थक एक अख़बार का निम्नलिखित उद्धरण देखिये। यहां पाठक को यह नहीं भूलना चाहिए कि इस उद्धरण में लंदन के पूर्वी छोर का ज़िक्र है, जो न केवल लोहे के जहाज़ बनाने के उपर्युक्त उद्योग का केंद्र है, बल्कि एक तथाकथित "घरेलू उद्योग" का भी केंद्र है, जिसके मज़दूरों को हमेशा बहुत कम मज़दूरी मिलती है। अख़बार ने लिखा है: "राजधानी के एक भाग में कल एक ख़ौफ़नाक दृश्य देखने को मिला। यद्यपि पूर्वी भाग के हज़ारों बेकारों ने अपने काले झंडों के साथ कोई सामूहिक जलूस नहीं निकाला था, परंतु फिर भी नरमुंडों की वह धारा दिल पर बहुत असर डालती थी। हमें याद रखना चाहिए कि ये लोग कैसे घोर कष्ट में हैं। वे भूखों मर रहे हैं। बस इतनी ही, पर कितनी भयानक बात है। उनकी संख्या ४०,००० है... हमारी आंखों के सामने, इस सुंदर राजधानी के एक भाग में, और दुनिया ने अभी तक धन का जो सबसे बड़ा भंडार देखा है, ठीक उसकी बग़ल में, उससे बिल्कुल सटे हुए एक इलाक़े में ४०,००० निस्सहाय, भूखे नर-नारी भरे हुए हैं। अब ये हज़ारों लोग दूसरे इलाक़ों में घुसते आ रहे हैं। हमेशा अधभूखे रहनेवाले ये लोग चीख़-चीख़कर अपनी दर्द-कहानी हमारे कानों तक पहुंचाते हैं, भगवान को पुकारते हैं। अपने गंदे और तंग घरों से वे चीख़-चीख़कर हमसे कह रहे हैं कि उनको कोई काम नहीं मिलता और उनके लिए भीख मांगना भी व्यर्थ है। सार्वजनिक कर देते-देते स्थानीय करदाता ख़ुद मुहताजी की हद तक पहुंच गये हैं।" — (*Standard*, 5th April 1867.)

अंग्रेज़ पूंजीपतियों में बेल्जियम को श्रमजीवी वर्गों का स्वर्ग मानने का एक चलन सा है, क्योंकि वहां "श्रम की स्वतंत्रता", या, जो कि एक ही बात है, "पूंजी की स्वतंत्रता" को

न तो मज़दूर-यूनियनों की निरंकुशता सीमित कर सकी है और न ही फ़ैक्टरी-क़ानून उसपर कोई प्रतिबंध लगा सके हैं। इसलिए आइये, थोड़ा बेल्जियमवासी मज़दूर के "सुखी जीवन" पर भी विचार करें। इस "सुखी जीवन" के रहस्यों को जितनी अच्छी तरह स्वर्गीय एम० दुकपेतियो जानते थे, शायद उतनी अच्छी तरह और कोई नहीं जानता था। ये महाशय बेल्जियम के जेलख़ानों और ख़ैराती संस्थाओं के इंस्पेक्टर-जनरल तथा बेल्जियम के केंद्रीय सांख्यिकी कमीशन के सदस्य थे। उनकी रचना *Budgets économiques des classes ouvrières en Belgique* (Bruxelles, 1855) को लीजिये। उसमें अन्य बातों के अलावा बेल्जियम के एक सामान्य मज़दूर के परिवार से हमारी भेंट होती है। लेखक ने बहुत सही तथ्यों के आधार पर इस परिवार की वार्षिक आय और ख़र्च का हिसाब लगाया है और फिर उसको मिलनेवाले पोषण की फ़ौजी सिपाही, जहाज़ी मल्लाह और क़ैदी को मिलनेवाले पोषण से तुलना की है। परिवार में कुल इतने लोग हैं—"बाप, मां और चार बच्चे"। इन ६ व्यक्तियों में से "चार ऐसे हैं, जो पूरे वर्ष उपयोगी काम कर सकते हैं"। लेखक यह मानकर चलता है कि "उनमें न तो कोई बीमार है और न कोई काम करने के अयोग्य है", और "गिरजाघर की सीटों के लिए उनको जो थोड़ा सा पैसा देना पड़ता है, उसके अतिरिक्त वे धार्मिक, नैतिक तथा बौद्धिक प्रयोजनों के लिए ज़रा भी ख़र्च नहीं करते", न ही "किसी हितकारी समिति में" कुछ जमा करते हैं, और "भोगविलास के लिए या अपव्ययिता के कारण भी कोई ख़र्चा नहीं करते।" हां, बाप और सबसे बड़ा बेटा तंबाकू ज़रूर पीते हैं और इतवार को शराबख़ाने में जाते हैं। इस मद में हर सप्ताह ८६ सांतीम का ख़र्च मान लिया जाता है। "विभिन्न व्यवसायों में मज़दूरों को जो मज़दूरी मिलती है, उसके आंकड़े जमा करने पर पता चलता है कि दैनिक मज़दूरी का सबसे ऊंचा औसत पुरुषों के लिए १ फ़ांक ५६ सांतीम बैठता है, स्त्रियों के लिए ८९ सांतीम, लड़कों के लिए ५६ सांतीम और लड़कियों के लिए ५५ सांतीम। इस आधार पर हिसाब लगाया जाये, तो पूरे परिवार की वार्षिक आय अधिक से अधिक १,०६८ फ़ांक होगी... जिस परिवार को हम अन्य सब परिवारों का प्रतिनिधि मानकर चल रहे हैं... उसकी प्रत्येक संभव आय को हमने जोड़ लिया है, परंतु मां की मज़दूरी जोड़ते समय हम यह सवाल उठाते हैं कि अगर वह काम करती है, तो घर का संचालन कौन करेगा? घर की अंदरूनी अर्थव्यवस्था की देखभाल कौन करेगा? छोटे बच्चों को कौन संभालेगा? खाना कौन पकायेगा, और कपड़े कौन धोयेगा और कौन उनकी मरम्मत करेगा? मज़दूर हमेशा इस पेशोपेश में पड़े रहते हैं।"

इस आधार पर परिवार का बजट इस प्रकार है:

बाप	३०० दिन काम करके	१.५६	फ़ांक प्रति दिन की दर पर	कमाता है	४६८	फ़ांक
मां	" " " "	०.८९	" " " " " "	कमाती है	२६७	"
लड़का	" " " "	०.५६	" " " " " "	कमाता है	१६८	"
लड़की	" " " "	०.५५	" " " " " "	कमाती है	१६५	"
				कुल जोड़	१,०६८	फ़ांक

परिवार का वार्षिक ख़र्चा आय से ज़्यादा होता है। परिवार के लिए कितनी कमी रहेगी, यह इसपर निर्भर करता है कि मज़दूर किस तरह का खाना खाता है:

जंगी बेड़े के मल्लाह के भोजन का ख़र्च	१,८२८ फ्रांक .	. घाटा ७६० फ्रांक
फ़ौजी सिपाही " " " "	१,४७३ "	. " ४०५ "
क़ैदी " " " "	१,११२ "	" ४४ "

"इस प्रकार हम देखते हैं कि जंगी बेड़े के मल्लाह या सिपाही के भोजन की बात तो एक तरफ़, क़ैदी के औसत स्तर तक भी बहुत कम मज़दूर परिवार पहुंच पाते हैं। १८४७-१८४९ में अलग-अलग जेलख़ानों में प्रत्येक क़ैदी पर जो ख़र्च हुआ, उसका सामान्य औसत ६३ सांतीम बैठता है। इस रक़म का यदि मजदूर के दैनिक ख़र्च से मुकाबला किया जाये, तो १३ सांतीम का अंतर दिखायी पड़ता है। इसके अलावा हम यह भी याद रखें कि यदि जेलख़ाने के ख़र्च में प्रबंध तथा निगरानी का ख़र्च शामिल होता है, तो दूसरी ओर, क़ैदियों को रहने के स्थान का किराया नहीं देना पड़ता, जेल की दूकान से वे जो चीज़ें ख़रीदते हैं, उनका दाम उनके ख़र्च में नहीं गिना जाता, और क्योंकि जेलख़ाने में बहुत से आदमी साथ रहते हैं और भोजन-सामग्री तथा उपभोग की अन्य वस्तुएं चूंकि सब थोक ख़रीदी जाती हैं, या उनका ठेका दे दिया जाता है, इसलिए क़ैदियों के जीवन-निर्वाह का ख़र्च वैसे भी आम तौर पर बहुत कम हो जाता है... फिर यह कैसे होता है कि मज़दूरों की एक बड़ी संख्या, बल्कि हम कह सकते हैं कि उनकी भारी बहुसंख्या क़ैदियों से भी कम ख़र्च पर ज़िंदा रहती है? इसके लिए... मज़दूर कुछ ऐसे उपायों का प्रयोग करता है, जिनके रहस्य को केवल वही जानता है। वह अपने दैनिक भोजन में कमी कर देता है। गेहूं की जगह पर मोटे अनाज की रोटी खाता है। मांस कम खाता है या बिल्कुल छोड़ देता है। मक्खन और चटनी-मसालों का प्रयोग कम कर देता है या बिल्कुल बंद कर देता है। एक या दो कोठरियों से ही संतोष करता है, जिनमें लड़के और लड़कियां पास-पास और अकसर एक ही चटाई पर सोते हैं। वह कपड़ों पर, धुलाई पर पैसे बचाता है। वह मर्यादा और शिष्टता की परवाह न करके पैसे बचाता है। वह इतवार को अपना दिल बहलाने के लिए कहीं बाहर नहीं जाता। संक्षेप में, यह कि मज़दूर और उसके परिवार के लोग तरह-तरह के अत्यंत कष्टदायक अभावों को सहन करते हैं और इस तरह अपना ख़र्च कम करते हैं। और जब वे एक बार कमख़र्ची की इस चरम सीमा पर पहुंच जाते हैं, तो फिर यदि भोजन के दाम ज़रा भी चढ़ जाते हैं, या काम बंद हो जाता है, या कोई बीमार पड़ जाता है, तो मज़दूर का कष्ट और भी बढ़ जाता है और वह संपूर्ण तबाही के निकट पहुंच जाता है। उसके क़र्ज़े बढ़ने लगते हैं, उसको सामान उधार नहीं मिलता, अत्यंत आवश्यक कपड़े और फ़र्नीचर गिरवी रख दिये जाते हैं, और अंत में परिवार को मुहताजों की सूची में अपना नाम दर्ज करा लेना पड़ता है।" (Ducpétiaux, l. c., pp. 151, 154, 155.) सच तो यह है कि "पूंजीपतियों के इस स्वर्ग" में जीवन-निर्वाह के अत्यंत आवश्यक साधनों के दामों में तनिक सा भी परिवर्तन होते ही मरनेवालों की तादाद और अपराधों की संख्या में परिवर्तन हो जाता है! (देखिये *Manifest der Maatschappij De Vlamingen Vooruit!* Brussels, 1860, p. 12.) सारे बेल्जियम में कुल मिलाकर ९,३०,००० परिवार रहते हैं। सरकारी आंकड़ों के अनुसार उनमें से ९०,००० धनियों के परिवार हैं, जिनके नाम मतदाताओं की सूची में दर्ज हैं। ये ९०,००० परिवार=४,५०,००० व्यक्ति। ३,९०,००० परिवार शहरों और गांवों के निम्न मध्य वर्ग के हैं, जिनके अधिकतर भाग का जीवन-स्तर लगातार गिरता और सर्वहारा के स्तर पर पहुंचता जा रहा है। यह हिस्सा=१९,५०,००० व्यक्ति। अंत में ४,५०,०००

परिवार मज़दूर वर्ग के हैं, जो=२२,५०,००० व्यक्ति, जिनमें से प्रथम श्रेणी के परिवार वह महान सुख भोगते हैं, जिसका दुकपेतियो ने वर्णन किया है। ४,५०,००० मज़दूर-परिवारों में से २,००,००० से अधिक परिवार मुहताजों की सूची में दर्ज हैं।

च) ब्रिटेन का खेतिहर सर्वहारा

पूंजीवादी उत्पादन और संचय का आत्मविरोधी स्वरूप जितने कठोर रूप में इंगलैंड की खेती (जिसमें पशुपालन भी शामिल है) के विकास और खेतिहर मज़दूरों के पतन की शक्ल में सामने आता है, वैसा और कहीं पर सामने नहीं आता। अंग्रेज़ खेतिहर मज़दूर की वर्तमान दशा पर विचार करने के पहले मैं गुज़रे हुए ज़माने पर एक सरसरी नज़र डालना चाहता हूं। इंगलैंड में आधुनिक खेती १८ वीं शताब्दी के मध्य में आरंभ हुई थी, हालांकि भूसंपत्ति में उसके बहुत पहले क्रांति हो गयी थी, और यह क्रांति ही उत्पादन की बदली हुई प्रणाली का आधार थी।

आर्थर यंग सतही ढंग के विचारक है, किंतु पर्यवेक्षण में वह बहुत सावधानी दिखाते हैं। १७७१ के खेतिहर मज़दूर की स्थिति के बारे में यदि हम उनके दिये हुए विवरण को देखें, तो हम यह पाते हैं कि १५ वीं शताब्दी की बात तो जाने दीजिये – वह "शहर और देहात के अंग्रेज़ मज़दूर का स्वर्ण-युग" कहलाती है – १४ वीं शताब्दी के अंतिम दिनों के मुक़ाबले में भी, "जब कि मज़दूर... ख़ूब अच्छी तरह खा-पहन सकता था और कुछ पैसे जमा कर सकता था",[137] १७७१ के मज़दूर की हालत बहुत ही पतली थी। लेकिन हमें इतने पीछे जाने की ज़रूरत नहीं है। १७७७ की एक बहुत उपयोगी रचना में हमें यह पढ़ने को मिलता है: "बड़ा काश्तकार उठता-उठता भद्र पुरुष के स्तर तक पहुंच गया है, जब कि ग़रीब मज़दूर गिरता-गिरता लगभग ज़मीन से लग गया है। यदि हम उसकी वर्तमान दशा का केवल चालीस वर्ष पहले की उसकी दशा से मुक़ाबला करें, तो उसकी शोचनीय अवस्था पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगी, और अब... ज़मींदार और काश्तकार... दोनों ने मिलकर मज़दूर को दबा रखा है।"[138] इसके बाद इस रचना में विस्तार के साथ यह प्रमाणित किया गया है कि १७३७ और १७७७ के बीच खेतिहर मज़दूरी में लगभग एक चौथाई, या २५ प्रतिशत की कमी आयी। डा० रिचर्ड प्राइस ने भी लिखा है कि "आधुनिक नीति ऊपरी वर्गों के अधिक अनुकूल है; और कुछ समय बाद इसका यह परिणाम हो सकता है कि पूरे राज्य में केवल कुलीन लोग और भिखारी, या धनी लोग और उनके ग़ुलाम, ये दो ही वर्ग रह जायें।"[139]

---

[137] James E. Thorold Rogers (आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर), *A History of Agriculture and Prices in England*, Oxford, 1866. Vol. I, p. 690. यह पुस्तक बड़े अध्यवसाय और परिश्रम का फल है। अभी तक उसके दो खंड प्रकाशित हुए हैं। उनमें केवल १२५९ से १४०० तक का ही विवरण है। दूसरे खंड में सिर्फ़ आंकड़े दिये गये हैं। इस काल के दामों के इतिहास पर यह पहली प्रामाणिक रचना है।

[138] *Reasons for the Late Increase of the Poor Rates: or a Comparative View of the Prices of Labour and Provisions*, London, 1777, pp. 5, 11.

[139] Dr. Richard Price, *Observations on Reversionary Payments*, 6th Ed. By W. Morgan, London, 1803, Vol. II, pp. 158, 159. प्राइस ने पृ० १५९ पर लिखा है: "दिन भर के श्रम का दाम इस समय १५१४ के दाम के चौगुने या अधिक से अधिक पांचगुने से ज़्यादा नहीं है। परंतु अनाज का दाम तब से सातगुना हो गया है और मांस तथा कपड़े का

इन तमाम बातों के बावजूद १७७० से १७८० तक अंग्रेज़ खेतिहर मज़दूर की भोजन और रहने के स्थान के मामले में और साथ ही आत्मसम्मान तथा मनोरंजन, आदि की दृष्टि से जो स्थिति थी, उसे एक ऐसा आदर्श माना जा सकता है, जिसतक वह उसके बाद फिर कभी नहीं पहुंच सका। उसकी औसत मज़दूरी, यदि उसे गेहूं के पाइंटों में व्यक्त किया जाये, तो १७७० से १७७१ तक ६० पाइंट थी, जब कि ईडन के काल में (१७६७ में) वह सिर्फ़ ६५ पाइंट और १८०८ में ६० पाइंट रह गयी थी।[140]

जैकाबिन विरोधी युद्ध में ज़मीन के मालिकों, काश्तकारों, कारख़ानेदारों, सौदागरों, साहूकारों, शेयर बाज़ार के दलालों, फ़ौज के ठेकेदारों, आदि ने असाधारण रूप से धन बटोरा था। उसके अंतिम दिनों में खेतिहर मज़दूर की क्या हालत थी, यह ऊपर बताया जा चुका है। कुछ हद तक तो बैंक-नोटों का मूल्यह्रास हो जाने के कारण और कुछ हद तक इसलिए कि इस मूल्यह्रास से स्वतंत्र रूप से भी जीवन-निर्वाह के प्राथमिक साधनों के दाम बढ़ गये थे, इन दोनों कारणों से खेतिहर मज़दूरों की नक़दी मज़दूरी में वृद्धि हो गयी थी। परंतु असल मज़दूरी में क्या परिवर्तन आया था, इसका बहुत आसानी से पता लगाया जा सकता है, और उसके लिए अनावश्यक विस्तार में जाने की कोई ज़रूरत नहीं है। १८१४ में भी ग़रीबों का क़ानून और उसका अमली रूप १७६५ के समान ही था। पाठकों को यह याद होगा कि देहाती इलाक़ों में इस क़ानून को कैसे अमल में लाया जाता था। मज़दूर को किसी तरह केवल ज़िंदा रहने के लिए जिस रक़म की आवश्यकता थी, उसमें और उसकी नक़दी मज़दूरी में जितना अंतर होता था, वह चर्च-कोष से दी जानेवाली भीख के द्वारा पूरा कर दिया जाता था। काश्तकार जो मज़दूरी देता था और सार्वजनिक कोष से जो कमी पूरी की जाती थी, उनके अनुपात से दो बातें प्रगट होती हैं। एक तो यह बात सामने आती है कि मज़दूरों की मज़दूरी अल्पतम सीमा के कितने नीचे गिर गयी थी। दूसरे, यह स्पष्ट होता है कि खेतिहर मज़दूर किस हद तक मज़दूर और मुहताज का मिश्रण बन गया था, या वह किस हद तक अपने गांव या क़स्बे का अर्ध-दास बन गया था। आइये, एक ऐसी काउंटी को लें, जो सभी काउंटियों में पायी जानेवाली औसत परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करती है। १७६५ में नॉर्थम्पटनशायर में औसत साप्ताहिक मज़दूरी ७ शिलिंग ६ पेंस थी। ६ व्यक्तियों के परिवार का कुल वार्षिक ख़र्चा ३६ पाउंड १२ शिलिंग ५ पेंस बैठता था। उनकी कुल आय २६ पाउंड १८ शिलिंग होती थी। सार्वजनिक कोष से ६ पाउंड १४ शिलिंग ५ पेंस की कमी पूरी की जाती थी। १८१४ में इसी काउंटी में साप्ताहिक मज़दूरी १२ शिलिंग २ पेंस हो गयी थी। ५ व्यक्तियों के परिवार का कुल वार्षिक ख़र्चा ५४ पाउंड १८ शिलिंग ४ पेंस बैठता था। उनकी कुल आय होती थी ३६ पाउंड २ शिलिंग। सार्वजनिक कोष से १८ पाउंड ६ शिलिंग ४ पेंस की कमी पूरी की जाती थी।[141] १७६५ में कमी मज़दूरी के $\frac{१}{४}$ से भी कम थी, १८१४ में मज़दूरी के आधे से भी ज्यादा की

दाम लगभग पंद्रहगुना ज्यादा हो गया है। इसलिए रहन-सहन के ख़र्चे में जो इज़ाफ़ा हो गया है, श्रम का दाम उसके अनुपात में नहीं बढ़ा है, बल्कि वह इससे इतना दूर है कि पहले उसका इस ख़र्चे के साथ जो अनुपात था, अब उसका आधा भी प्रतीत नहीं होता।"

[140] Barton, l. c., p. 26. (१८वीं सदी के अंतिम दिनों के लिए देखिये Eden, l. c.)

[141] Parry, *The Question of the Necessity of the Existing Corn Laws*, London, 1816, p. 80.

कमी रह जाती थी। यह बात स्वतःस्पष्ट है कि ईडन के काल में भी खेतिहर मज़दूर के झोंपड़े में जो थोड़ा सा आराम दिखायी देता था, वह ऐसी परिस्थितियों में १८१४ तक गायब हो गया था।[142] तभी से काश्तकार के पास जितनी तरह के जानवर होते हैं, उनमें से मज़दूर पर – या instrumentum vocale [बोलनेवाले औज़ार] पर – सबसे ज़्यादा ज़ुल्म हो रहा है, उसे सबसे ख़राब भोजन मिलता है और उसके साथ सबसे अधिक पाशविक व्यवहार किया जाता है।

जब तक कि "१८३० के स्विंग उपद्रवों ने हमारे सामने" (अर्थात् शासक वर्गों के सामने) "जलते खलिहानों के प्रकाश में यह बात स्पष्ट नहीं कर दी कि खेतिहर इंगलैंड की सतह के नीचे भी वैसी ही ग़रीबी और वैसा ही भयानक, विद्रोही असंतोष सुलग रहे हैं, जैसे औद्योगिक इंगलैंड की सतह के नीचे सुलग रहे हैं",[143] तब तक चुपचाप यही हालत चलती रही। इसी समय सैडलर ने हाउस आफ़ कामन्स में बोलते हुए खेतिहर मज़दूरों को "सफ़ेद चमड़ीवाले गुलामों" का नाम दिया था, और एक बिशप ने यही नाम हाउस आफ़ लार्ड्स में दोहराया था। उस काल के सबसे उल्लेखनीय अर्थशास्त्री, ई० जी० वेकफ़ील्ड ने लिखा है: "दक्षिणी इंगलैंड का किसान... न तो स्वतंत्र मनुष्य है और न ही दास है; वह मुहताज है।"[144]

अनाज संबंधी क़ानूनों के मंसूख़ होने के ठीक पहले जो ज़माना आया, उसने खेतिहर मज़दूरों की हालत पर नयी रोशनी डाली। एक ओर तो मध्यवर्गीय प्रचारकों का हित यह प्रमाणित करने में था कि अनाज संबंधी क़ानूनों से उन लोगों की बहुत कम रक्षा हुई है, जो सचमुच अनाज पैदा करते हैं। दूसरी ओर, भूस्वामी अभिजात वर्ग फ़ैक्टरी-व्यवस्था की जो तीव्र निंदा कर रहा था और ये सर्वथा भ्रष्ट, हृदयहीन और कुलीन कहलानेवाले आवारा कारखानों में काम करनेवाले मज़दूरों के साथ जो दिखावटी सहानुभूति प्रकट कर रहे थे तथा फ़ैक्टरी-क़ानून बनवाने के लिए जिस "कूटनीटिक उत्साह" का प्रदर्शन कर रहे थे, उसे देख-देखकर औद्योगिक पूंजीपति वर्ग क्रोध से आग-बबूला हो रहा था। अंग्रेज़ी की एक पुरानी कहावत है कि "जब चोरों में खटपट हो जाती है, तब भले लोगों की बन आती है।" और सचमुच इस प्रश्न को लेकर कि शासक वर्ग के इन दो गुटों में से कौनसा मज़दूरों का अधिक लज्जाजनक ढंग से शोषण करता है, उनके बीच जो झगड़ा छिड़ गया था और जिसके सिलसिले में इतना शोर मचाया जा रहा था और इतना तैश दिखाया जा रहा था, उससे दोनों की असलियत सामने आ गयी थी। फ़ैक्टरियों के ख़िलाफ़ अभिजातवर्गीय लोकोपकारियों के इस आंदोलन के प्रधान सेनापति शैफ़्ट्सबरी के अर्ल थे, जो लॉर्ड ऐशले भी कहलाते थे। चुनांचे १८४५ में *Morning Chronicle* खेतिहर मज़दूरों की दशा पर प्रकाश डालनेवाले जो लेख प्रकाशित करता था, उनमें इन महोदय की अकसर चर्चा रहती थी। यह पत्र उन दिनों देश का सबसे महत्वपूर्ण उदारपंथी पत्र था। उसने अपने विशेष प्रतिनिधियों को खेतिहर इलाक़ों की जांच करने के लिए भेजा। उन्होंने केवल सामान्य विवरण लिखकर या आंकड़े जमा करके ही संतोष नहीं किया, बल्कि उन्होंने मज़दूरों के जिन परिवारों के बयान लिये, उनके तथा इन परिवारों के ज़मींदारों के नाम भी छाप दिये। निम्नलिखित सूची में दिखाया गया है कि ब्लैनफ़ोर्ड, विमबोर्न और पूल

---

[142] Parry, l. c., p. 213.

[143] S. Laing, l. c., p. 62.

[144] *England and America*, London, 1833, Vol. I, p. 47.

पहला गांव

क) बच्चों की संख्या	ख) परिवार में सदस्यों की संख्या	ग) पुरुषों की साप्ताहिक मजदूरी		घ) बच्चों की साप्ताहिक मजदूरी		च) पूरे परिवार की साप्ताहिक आय		छ) साप्ताहिक किराया		ज) किराया कटने के बाद साप्ताहिक आय		झ) प्रति व्यक्ति साप्ताहिक आय	
		शिलिंग	पेंस	शिलिंग	पेंस	शिलिंग	पेंस	शिलिंग	पेंस	शिलिंग	पेंस	शिलिंग	पेंस
२	४	८	०	—		८	०	२	०	६	०	१	६
३	५	८	०	—		८	०	१	६	६	६	१	३ १/२
२	४	८	०	—		८	०	१	०	७	०	१	९
२	४	८	०	—		८	०	१	०	७	०	१	९
६	८	७	०	१ २	६ ०	१०	६	२	०	८	६	१	० ३/४
३	५	७	०	—		७	०	१	४	५	८	१	१ १/२

दूसरा गांव

क	ख	ग शिलिंग	ग पेंस	घ शिलिंग	घ पेंस	च शिलिंग	च पेंस	छ शिलिंग	छ पेंस	ज शिलिंग	ज पेंस	झ शिलिंग	झ पेंस
६	८	७	०	१ १	६ ६	१०	०	१	६	८	६	१	० ३/४
६	८	७	०	—		७	०	१	३ १/२	५	८ १/२	०	८ १/२
८	१०	७	०	—		७	०	१	३ १/२	५	८ १/२	०	७
४	६	७	०	—		७	०	१	६ १/२	५	५ १/२	०	११
३	५	७	०	—		७	०	१	६ १/२	५	५ १/२	१	१

तीसरा गांव

क	ख	ग शिलिंग	ग पेंस	घ शिलिंग	घ पेंस	च शिलिंग	च पेंस	छ शिलिंग	छ पेंस	ज शिलिंग	ज पेंस	झ शिलिंग	झ पेंस
४	६	७	०	—		७	०	१	०	६	०	१	०
३	५	७	०	२ २	० ६	११	६	०	१०	१०	८	२	१ ३/५
०	२	५	०	—		५	०	१	०	४	०	२	० [145]

[145] London, *Economist*, March 29th, 1845, p. 290.

के पड़ोस में तीन गांवों में मज़दूरों को कितनी मज़दूरी मिलती थी। ये गांव मि० जी० बैंक्स और शैफ़्ट्सबरी के अर्ल की संपत्ति थे। पाठक देखेंगे कि बैंक्स की तरह ही अंग्रेज़ धर्मसुधारकों का यह नेता, लो चर्च का यह पोप भी मकान के किराये के नाम पर मज़दूरों की मज़दूरी का एक बड़ा हिस्सा ख़ुद हड़प जाता था। [देखिये पृ० ७०६, तालिका।]

अनाज संबंधी क़ानूनों के मंसूख हो जाने से इंगलैंड की खेती को आश्चर्यजनक प्रोत्साहन मिला।[146] इस युग की विशेषताएं थीं: बहुत बड़े पैमाने पर पानी की निकासी का बंदोबस्त, मवेशियों को बांधकर खिलाने और चारे की फ़सलों की खेती के नये तरीक़ों का प्रयोग, यांत्रिक ढंग से खाद देने के उपकरणों का इस्तेमाल, चिकनी मिट्टी वाली भूमि को नये तरीक़े से तैयार करना, रासायनिक खादों का पहले से अधिक प्रयोग, भाप के इंजन और हर प्रकार की नयी मशीनों का इस्तेमाल और आम तौर पर पहले से अधिक गहन खेती। रायल एग्रीकल्चरल सोसायटी के अध्यक्ष मि० पुसी ने ऐलान किया है कि नयी मशीनों के इस्तेमाल से खेती का (सापेक्ष) ख़र्चा लगभग आधा कम हो गया है। दूसरी ओर, धरती की असली उपज तेज़ी से बढ़ी। नये तरीक़े के लिए यह बिल्कुल जरूरी था कि फ़ी एकड़ पहले से ज्यादा पूंजी लगायी जाये, जिसके फलस्वरूप खेतों का संकेंद्रण और तेज़ी के साथ होने लगा।[147] साथ ही १८४६ और १८५६ के बीच खेती के रक़बे में ४,६४,११९ एकड़ का इज़ाफ़ा हो गया। इसमें पूर्वी काउंटियों का वह बड़ा इलाक़ा शामिल नहीं है, जहां पहले सिर्फ़ ख़रगोशों को पालने के अहाते और घटिया क़िस्म की चरागाहें थीं, पर जो बाद को अनाज के शानदार खेतों में बदल गया था। हम यह पहले ही बता चुके हैं कि इसके साथ-साथ खेती में काम करनेवाले व्यक्तियों की कुल संख्या घट गयी। जहां तक ख़ास खेतिहर मज़दूरों का संबंध है, १८५१ में हर उम्र के खेतिहर मज़दूरों और मज़दूरिनों की कुल संख्या १२,४१,३९६ थी और १८६१ में वह घटकर ११,६३,२१७ रह गयी थी।[148] इसलिए अंग्रेज़ रजिस्ट्रार-जनरल ने ठीक ही कहा है कि "१८०१ के बाद से काश्तकारों और खेतिहर मज़दूरों की संख्या में जो वृद्धि हुई है, वह... खेती की उपज की वृद्धि के अनुपात में कुछ भी नहीं है;"[149] परंतु यह व्यनुपात एकदम अंतिम काल में अधिक

[146] भूस्वामी अभिजात वर्ग ने इसके लिए राज्य के कोष से बहुत सारा धन बहुत सस्ते सूद पर उधार ले लिया, जिसे काश्तकारों को सूद की बहुत ऊंची दर के साथ अदा करना पड़ रहा है। ज़ाहिर है, यह काम भूस्वामी अभिजात वर्ग ने संसद के ज़रिये किया था।

[147] मध्यवर्गीय काश्तकारों की संख्या में कितनी कमी आ गयी है, यह ख़ास तौर पर जनगणना की इस मद के आंकड़ों से मालूम किया जा सकता है: "काश्तकार का बेटा, पोता, भाई, भतीजा, बेटी, पोती, बहिन, भतीजी", या, एक शब्द में, उसके अपने परिवार के सदस्य, जो उसके लिए काम करते हैं। १८५१ में २,१६,८५१ व्यक्ति इस मद में आते थे, १८६१ में उनकी संख्या केवल १,७६,१५१ रह गयी। १८५१ से १८७१ तक २० एकड़ से कम के फ़ार्मों की संख्या में ९०० से अधिक की कमी हो गयी, ५० एकड़ से ७५ एकड़ तक के फ़ार्मों की संख्या ८,२५३ से ६,३७० रह गयी और १०० एकड़ से कम के बाक़ी सब फ़ार्मों का भी यही हाल हुआ। दूसरी ओर, इन्हीं बीस वर्षों में बड़े फ़ार्मों की संख्या बढ़ गयी। ३०० एकड़ से ५०० एकड़ तक के फ़ार्मों की तादाद ७,७७१ से बढ़कर ८,४१० हो गयी, ५०० एकड़ से ऊपर के फ़ार्म २,७५५ से बढ़कर ३,९१४ और १,००० एकड़ से ऊपर के फ़ार्म ४९२ से बढ़कर ५८२ हो गये।

[148] गड़रियों की संख्या १२,५१७ से बढ़कर २५,५५९ हो गयी।

[149] *Census*, l. c., p. 36.

देखने में आया, जब कि खेतिहर जनसंख्या में ठोस कमी होने के साथ-साथ खेती का रक़बा बढ़ गया, पहले से अधिक गहन खेती होने लगी, ज़मीन के साथ समाविष्ट और उसके विकास में लगी हुई पूंजी का अभूतपूर्व संचय हुआ, धरती की उपज में ऐसी वृद्धि हुई, जिसकी इंगलैंड की खेती के इतिहास में दूसरी मिसाल नहीं मिलती, ज़मींदारों की जमाबंदियां फूलकर गुबारा हो गयीं और पूंजीवादी काश्तकारों का धन बढ़ने लगा। इसके साथ-साथ यदि हम यह भी याद करें कि इस काल में मंडियों का – जैसे शहरों का – अविराम विस्तार हुआ और स्वतंत्र व्यापार का राज्य रहा, तो secundum artem [सिद्धांत के अनुसार] यह सोचना अस्वाभाविक न होगा कि post tot discrimina rerum [इतने दिनों बाद आख़िर] खेतिहर मज़दूर हर्षोन्मत्त कर देनेवाली परिस्थितियों में रहने लगा होगा।

लेकिन प्रोफ़ेसर रोजर्स इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि खेतिहर मजदूर के १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा १५ वीं शताब्दी के पूर्वजों की बात तो जाने दीजिये, आज के अंग्रेज खेतिहर मज़दूर की हालत १७७० से १७८० तक के पूर्वजों की तुलना में भी असाधारण रूप से ख़राब हो गयी है, "किसान फिर कृषि-दास बन गया है", और कृषि-दास भी ऐसा, जिसको पहले से ख़राब भोजन और पहले से ख़राब कपड़ा मिलता है।[150] खेतिहर मज़दूरों के निवास-स्थानों के संबंध में अपनी युगांतरकारी रिपोर्ट में डा० जूलियन हंटर ने कहा: "हाइंड" (खेतिहर मज़दूर का नाम, जो भूदास-प्रथा के काल से विरासत में मिला है, कम्मी) "का ख़र्चा इस आधार पर निर्धारित किया जाता है कि वह कम से कम कितनी रक़म में ज़िंदा रह सकता है... उसे कितनी मज़दूरी और आश्रय मिलना चाहिए, इसका हिसाब इस आधार पर नहीं लगाया जाता कि उसकी मेहनत से कितना मुनाफ़ा हासिल किया जा सकता है। खेती के हिसाब-किताब में उसे तो शून्य मान लिया जाता है...[151] और उसके जीवन-निर्वाह के साधनों को हमेशा एक स्थिर मात्रा माना जाता है।"[152] "जहां तक उसकी आय के और घटा दिये जाने का सवाल है, वह कह सकता है कि nihil habeo nihil curo [मेरे पास न तो कुछ है, और न मैं कोई परवाह करता हूं]। उसे भविष्य का कोई भय नहीं है, क्योंकि अब उसके पास केवल उतना ही है, जितना उसके ज़िंदा रहने के लिए ज़रूरी है। वह उस शून्य पर पहुंच गया है, जहां से काश्तकार का हिसाब आरंभ होता है। अब तो भविष्य कैसा भी हो, वह न तो समृद्धि में हिस्सा बंटा सकता है और न विपत्ति में।"[153]

१८६३ में उन अपराधियों के पोषण और श्रम संबंधी स्थिति की सरकारी जांच हुई, जिनको काले पानी की और कड़ी क़ैद की सज़ा मिली हुई थी। इस जांच के नतीजे दो बड़े पोथों में दर्ज हैं। अन्य बातों के अलावा उनमें कहा गया है कि "इंगलैंड के जेलख़ानों में दंडित

---

[150] Rogers, l. c., p. 693. मि० रोजर्स उदारपंथी मत के अर्थशास्त्री और कॉबडेन और ब्राइट के व्यक्तिगत मित्र हैं, और इसलिए यह संभव नहीं है कि वह laudator temporis acti [प्राचीन लाक के पुजारी] हों।

[151] *Public Health, 7th Report*, London, 1865, p. 242. इसलिए ज्यों ही यह सुनायी देता है कि मजदूर पहले से कुछ ज्यादा कमा लेता है, त्यों ही अगर ज़मींदार अपना किराया बढ़ा देता है, या काश्तकार अगर इस बहाने से कि "मज़दूर की पत्नी को कुछ काम मिल गया है", उसकी मजदूरी कम कर देता है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। (l. c.)

[152] l. c., p. 135.

[153] l. c., p. 134.

बंदियों के भोजन की इसी देश के मुहताज-ख़ानों में मुहताजों तथा स्वतंत्र खेतिहर मजदूरों के भोजन के साथ विस्तारपूर्वक तुलना करने पर निश्चय ही यह बात सामने आती है कि बंदियों को दूसरे दोनों वर्गों से बहुत अच्छा भोजन मिलता है", [154] जब कि "कड़ी क़ैद भोगनेवाले एक साधारण बंदी को जितना श्रम करना पड़ता है, वह साधारण खेतिहर मजदूर द्वारा किये जाने-वाले श्रम का लगभग आधा होता है।" [155] गवाहों के बयानों के कुछ उल्लेखनीय अंश सुनिये। एडिनबरा जेलख़ाने के गवर्नर जॉन स्मिथ ने कहा: नं० ५०५६–"इंगलैंड में जेलख़ानों का भोजन साधारण खेतिहर मजदूरों के भोजन से बेहतर होता है।" नं० ५०५७–"यह बिल्कुल सच है कि... स्कॉटलैंड के साधारण खेतिहर मजदूरों को बहुत मुश्किल से ही कभी जरा सा मांस मिलता है।" उत्तर नं० ३०४७–"क्या आपको किसी ऐसे कारण की जानकारी है, जिससे इन लोगों को साधारण खेतिहर मजदूरों की अपेक्षा बहुत अच्छा भोजन देना जरूरी है?"– "जी नहीं।" नं० ३०४८–"क्या आपके विचार से कुछ और प्रयोगों के द्वारा यह पता लगाने की कोशिश करनी चाहिए कि सार्वजनिक निर्माण-कार्यों में जिन क़ैदियों से काम लिया जा रहा है, उनके लिए क्या ऐसे भोजन की व्यवस्था नहीं की जा सकती, जो स्वतंत्र मजदूरों के भोजन से मिलता-जुलता हो?" [156] "... वह" (खेतिहर मजदूर) "कह सकता है कि 'मैं सख़्त मेहनत करता हूं और फिर भी मुझे खाने को काफ़ी नहीं मिलता, पर जब मैं जेल में था, तो पेट भरकर खाता था, मगर यहां से ज्यादा मेहनत नहीं करनी पड़ती थी। इसलिए यहां रहने से तो यही बेहतर है कि फिर जेल चला जाऊं'।" [157] रिपोर्ट के पहले खंड के साथ जो तालिकाएं नत्थी हैं, उनका निचोड़ निकालकर मैंने यह तुलनात्मक तालिका तैयार की है:

भोजन की साप्ताहिक मात्रा

	नाइट्रोजनी अंश की मात्रा	ग़ैरनाइट्रोजनी अंश की मात्रा	खनिज पदार्थ की मात्रा	कुल जोड़
	आउंस	आउंस	आउंस	आउंस
पोर्टलैंड का क़ैदी . .	२८.९५	१५०.०६	४.६८	१८३.६९
जहाजी बेड़े का मल्लाह	२९.६३	१५२.९१	४.५२	१८७.०६
फ़ौजी सिपाही . . .	२५.५५	११४.४९	३.९४	१४३.९८
बग्घी बनानेवाला कारीगर	२४.५३	१६२.०६	४.२३	१९०.८२
कम्पोजिटर	२१.२४	१००.८३	३.१२	१२५.१९
खेतिहर मजदूर . .	१७.७३	११८.०६	३.२९	१३९.०८ [158]

[154] *Report of the Commissioners... relating to Transportation and Penal Servitude*, London, 1863, p. 42, No. 50.

[155] l. c., p. 77. Memorandum by the Lord Chief Justice.

[156] l. c., Vol. II, Minutes of Evidence.

[157] l. c., Vol. I, Appendix, p. 280.

[158] l. c., pp. 274, 275.

१८६३ के डाक्टरी-कमीशन ने सबसे ख़राब भोजन पानेवाले वर्गों के खाने की जो जांच की थी, उसके सामान्य परिणामों से पाठक पहले ही परिचित हो चुके हैं। उनको याद होगा कि खेतिहर मजदूरों के अधिकतर परिवारों का भोजन उस अल्पतम मात्रा से भी कम होता है, जो "भूख से पैदा होनेवाली बीमारियों को दूर रखने के लिए" आवश्यक है। कॉर्नवाल, डेवन, सॉमरसेट, विल्ट्स, स्टैफ़र्ड, आक्सफ़ोर्ड, बर्क्स और हेर्ट्स जैसे तमाम विशुद्ध रूप से देहाती डिस्ट्रिक्टों में ख़ास तौर पर यह बात देखने में आती है। डा० ई० स्मिथ ने कहा है: "ख़ुद मजदूर को जितना पोषण मिलता है, वह औसत मात्रा से कुछ अधिक होता है, क्योंकि वह परिवार के अन्य सदस्यों की अपेक्षा.... भोजन का ज्यादा बड़ा हिस्सा खाता है... ताकि वह मेहनत कर सके; अधिक ग़रीब डिस्ट्रिक्टों में लगभग सारा मांस और सूअर का नमकीन गोश्त भी उसी के हिस्से में आता है... मजदूर की बीवी और बच्चों को उनके तेज विकास के काल में भी लगभग प्रत्येक काउंटी में अपर्याप्त भोजन मिलता है, जिसमें ख़ास तौर पर नाइट्रोजन की बहुत कमी होती है।"[159] जो नौकर-नौकरानियां ख़ुद काश्तकार के घर में रहते हैं, उन्हें काफ़ी अच्छा पोषण मिलता है। परंतु उनकी संख्या, जो १८५१ में २,८८,२७७ थी, १८६१ में केवल २,०४,९६२ रह गयी। डा० स्मिथ ने लिखा है: "खेतों में स्त्रियों के काम करने से और जो भी बुराई पैदा होती हो... वर्तमान परिस्थिति में वह परिवार के लिए लाभदायक है, क्योंकि उससे आय में वह वृद्धि हो जाती है... जिससे जूते और कपड़े आ जाते हैं, किराया दे दिया जाता है और इसलिए जिसकी वजह से भोजन भी बेहतर मिलने लगता है।"[160] इस जांच से एक बहुत ही उल्लेखनीय निष्कर्ष यह निकला था कि युनाइटेड किंगडम के अन्य भागों के खेतिहर मजदूरों की तुलना में इंगलैंड के खेतिहर मजदूर को सबसे ख़राब भोजन मिलता है। इस संबंध में नीचे दी गयी तालिका देखिये:

औसत वयस्क खेतिहर व्यक्ति की सप्ताह में कार्बन और नाइट्रोजन की कितनी खपत है

	कार्बन (ग्रेन में)	नाइट्रोजन (ग्रेन में)
इंगलैंड	४६,६७३	१,५९४
वेल्स	४८,३५४	२,०३१
स्कॉटलैंड	४८,९८०	२,३४८
आयरलैंड	४३,३६६	२,४३४[161]

[159] *Public Health, 6th Report*, 1864. pp. 238. 249, 261, 262.

[160] l. c., p. 262.

[161] l. c., p. 17. अंग्रेज खेतिहर मजदूर को आयरलैंडवासी खेतिहर मजदूर के मुक़ाबले में केवल चौथाई दूध और आधी रोटी खाने को मिलती है। *Tour in Ireland* शीर्षक अपनी रचना में आर्थर यंग ने इस शताब्दी के आरंभ में ही इस बात का ज़िक्र किया था कि आयरलैंडवासी खेतिहर मजदूरों को बेहतर भोजन मिलता है। कारण बहुत साधारण था। आयरलैंड का ग़रीब काश्तकार इंगलैंड के धनी काश्तकार की अपेक्षा बहुत सहृदय होता है। जहां तक वेल्स का संबंध है, हमने ऊपर जो कुछ कहा है, वह केवल दक्षिण-पश्चिमी भाग पर लागू नहीं होता। वेल्स के तमाम डाक्टर इस बात से सहमत हैं कि आबादी की शारीरिक हालत के बिगड़ने पर तपेदिक़, ग्रंथियों की सूजन, आदि रोगों से मरनेवालों की संख्या में बहुत तेज़ी से वृद्धि होने लगती है; और सभी डाक्टरों की राय है कि आबादी की शारीरिक हालत ग़रीबी के कारण

डा० साइमन ने अपनी स्वास्थ्य संबंधी सरकारी रिपोर्ट में कहा है: "हमारे खेतिहर मज़दूरों के पास रहने का स्थान कितना कम और कैसा ख़राब है, इसका प्रमाण डा० हंटर की रिपोर्ट के प्रत्येक पृष्ठ पर मिल जाता है। और अनेक वर्षों से इस मामले में मज़दूर की हालत धीरे-धीरे बिगड़ती ही जा रही है। अब घर के वास्ते स्थान पाने में उसको अधिक कठिनाई होती

बिगड़ती है। "अनुमान है कि खेतिहर मज़दूर के जीवन-निर्वाह पर पांच पेंस रोज़ाना ख़र्च होते हैं, लेकिन बताया जाता है कि बहुत से डिस्ट्रिक्टों में काश्तकार" (जो ख़ुद बहुत ग़रीब होता है) "इससे भी बहुत कम ख़र्च करता है... नमक लगा हुआ ज़रा सा मांस या सूअर का गोश्त... जो सूखकर और नमक लगकर आबनूस की लकड़ी जैसा कड़ा हो गया है और जिसको हज़म करने में जितनी ताक़त लगती है, उतनी उसको खाने से बदन में नहीं आती... यह ज़रा सा मांस आटा या सतू और गंदना घास के बने शोरबे या दलिये में मांस की ख़ुशबू पैदा करने के लिए डाल दिया जाता है; और दिन के बाद दिन बीतते चले जाते हैं, और मज़दूर को रोज़ यही भोजन मिलता है।" उद्योगों के विकास का उसके लिए यह परिणाम हुआ कि इस सख़्त ठंडे और नम जलवायु में रहते हुए भी उसने "घर का कता गाढ़ा पहनना बंद कर दिया और उसकी जगह सस्ता और तथाकथित सूती कपड़ा पहनने लगा" और शराब या बियर पीना बंद करके तथाकथित चाय पीने लगा। "खेतिहर कई घंटे तक हवा और पानी में काम करने के बाद अपने झोंपड़े में जाकर आग तापने के लिए बैठ जाता है। आग या तो पीट से जलायी जाती है, या कोयले के चूरे को मिट्टी में सानकर गोले बना लिये जाते हैं और उनको जलाया जाता है, जिनसे कार्बोनिक और सलफ़्यूरिक अम्ल का ढेरों धुआं निकला करता है। झोंपड़े की दीवारें गारे और पत्थरों की बनी होती हैं; फ़र्श उसी नंगी मिट्टी का होता है, जो झोंपड़ा बनने के पहले भी इसी हालत में थी। छत की जगह पर भारी फूस का एक ढीला सा छप्पर बंधा रहता है। झोंपड़े को गरम रखने के लिए हरेक सूराख़ बंद कर दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप सारा वातावरण ज़हरीली बदबू से भरा रहता है। इस वातावरण में मिट्टी के कच्चे फ़र्श पर बैठा हुआ या लेटा हुआ मज़दूर अपने बीवी-बच्चों के साथ खाना खाता है और सोता है। उसकी एकमात्र पोशाक उसकी पीठ पर ही सूखती है। जिन दाइयों या डाक्टरों ने प्रसव में मदद करने के लिए इन झोंपड़ों में रात का कोई हिस्सा बिताया है, वे बताते हैं कि किस तरह उनके पैर फ़र्श के कीचड़ में धंस गये थे और किस तरह उनको सांस लेने के लिए दीवार में सूराख़ करना पड़ा था (जो, ज़ाहिर है, बहुत आसान काम था)। जीवन के विभिन्न स्तरों से संबंध रखनेवाले अनेक गवाहों ने यह बताया कि अपर्याप्त पोषण पानेवाले किसान को हर रात इस गंदे वातावरण में बितानी पड़ती है। और इसका जो नतीजा होता है, उसके फलस्वरूप क्षीण देह तथा रोगी लोगों की जो आबादी देहात में नज़र आती है, उसके अस्तित्व के प्रमाणों का कोई अभाव नहीं है... कारमार्थेनशायर और कार्डिगनशायर के सहायता-अधिकारियों के बयानों से भी बिल्कुल इसी तरह की हालत ज़ाहिर होती है। इसके अलावा वहां "एक और भी भयंकर महामारी फैली हुई है, वह यह कि वहां मूर्खों की तादाद बहुत बड़ी है।" अब जलवायु के बारे में भी कुछ बता दिया जाये। "साल में ८ या ९ महीने पूरे देश में तेज़ दक्षिण-पश्चिमी हवा चलती है, जो अपने साथ मूसलाधार पानी लाती है। यह पानी मुख्यतया पहाड़ियों की पश्चिमी ढालों पर बरसता है। कुछ परिरक्षित स्थानों को छोड़कर पेड़ बहुत कम हैं, और जहां उनकी रक्षा करने के लिए कोई चीज़ नहीं है, वहां हवा उनको एकदम तोड़-मरोड़ डालती है। झोंपड़े आम तौर पर किसी पुश्ते की गोद में या किसी घाटी या गढ़े में दुबके रहते हैं, और हद दर्जे की छोटी भेड़ों तथा देशी गायों के अलावा और कोई पशु चरागाहों पर नहीं ठहर पाता... लड़के-लड़कियां पूर्व के ग्लामौर्गन और मौनमथ के खानों वाले डिस्ट्रिक्टों को चले जाते हैं। कारमार्थेनशायर खानों में काम करनेवालों का प्रजनन-स्थल भी है और अस्पताल भी। इसलिए यहां की आबादी बहुत मुश्किल से ही अपनी तादाद को क़ायम रख पाती है।" चुनांचे कार्डिगनशायर की आबादी के आंकड़े देखिये:

है, और अब यदि उसे कोई स्थान मिलता भी है, तो उसकी आवश्यकताओं को देखते हुए वह इतना अनुपयुक्त होता है, जितना अनुपयुक्त स्थान शायद उसे कई सदियों से नहीं मिला था। पिछले बीस या तीस वर्षों में ख़ास तौर पर यह बुराई बहुत बढ़ गयी है, और घर के मामले में खेतिहर मज़दूर की हालत इस समय बहुत ही शोचनीय है। उसका श्रम जिन लोगों को दौलतमंद बनाता है, वे ही भले कभी-कभार उसपर थोड़ी दया दिखा दें, पर वैसे मज़दूर इस मामले में बिल्कुल असहाय होता है। वह जिस ज़मीन को जोतता है, उसपर उसे रहने के लिए कोई स्थान मिलेगा या नहीं, वह स्थान मनुष्यों के रहने के लायक़ होगा या सूअरों के, और वह अपने घर के पास एक छोटा सा बग़ीचा लगा पायेगा या नहीं, जो कि उसके ग़रीबी के बोझे को बहुत हल्का कर देता है – यह सब इसपर निर्भर नहीं करता कि वह जिस प्रकार का अच्छा स्थान चाहता है, उसका किराया देने की उसमें इच्छा तथा योग्यता है या नहीं, बल्कि यह सब दूसरों की इच्छा पर निर्भर करता है। उनको अधिकार मिला हुआ है कि "वे अपनी संपत्ति के साथ जो चाहें, कर सकते हैं।" यह सब इसपर निर्भर करता है कि दूसरे लोग अपने इस अधिकार का किस प्रकार प्रयोग करते हैं। कोई फ़ार्म कितना भी बड़ा क्यों न हो, ऐसा कोई क़ानून नहीं है कि उसके आकार के अनुपात में मज़दूरों के रहने के लिए घर बनवाना ज़रूरी हो (अच्छे घरों की तो बात ही जाने दीजिये); न ही कोई क़ानून यह कहता है कि जिस धरती के लिए मज़दूर की मेहनत उतनी ही आवश्यक है, जितनी धूप और बारिश, उसपर मज़दूर का भी किंचित मात्र अधिकार होता है... एक बाहरी तत्त्व हमेशा उसके विरोधी पलड़े को भारी रखता है... वह बाहरी तत्त्व है ग़रीबों के क़ानून की बसावट तथा करयोग्यता संबंधी धाराएं।[162] इन धाराओं के प्रभाव का यह फल होता है कि प्रत्येक गांव या क़स्बे का आर्थिक हित यही होता है कि अपने यहां बसे हुए मज़दूरों की संख्या को कम से कम रखे। कारण कि दुर्भाग्यवश कठोर परिश्रम करनेवाले मज़दूर तथा उसके परिवार को खेतों पर काम करके सुरक्षित भविष्य तथा स्थायी स्वाधीनता नहीं प्राप्त होती, बल्कि यह उसके लिए प्रायः अंत में मुहताजी की स्थिति में पहुंचने का छोटा या लंबा रास्ता साबित होता है और इस पूरे रास्ते के दौरान मुहताजी की यह मंज़िल उसके इतनी नज़दीक होती है कि कोई भी बीमारी या थोड़ी देर की बेकारी आती है, तो मज़दूर को फ़ौरन सार्वजनिक सहायता मांगनी पड़ती है, और इसलिए प्रत्येक गांव या क़स्बे के लिए खेतिहर मज़दूरों के वहां बसने का मतलब यह होता है कि उसे मुहताजों की सहायता के कोष के वास्ते ज्यादा कर देना पड़ता है... ज़मीन के बड़े-बड़े मालिक[163]... यदि बस इतना तय कर लेते हैं कि उनकी ज़मीनों पर मज़दूरों के मकान नहीं

	१८५१	१८६१
पुरुष	४५,१५५	४४,४४६
स्त्रियां	५२,४५६	५२,६५५
	६७,६१४	६७,४०१

(डा० हंटर की रिपोर्ट, *Public Health, 7th Repors, 1864*, London, 1865, pp. 498-502, passim.)

[162] १८६५ में इस क़ानून में कुछ सुधार किया गया। पर शीघ्र ही अनुभव से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि इस तरह के पैबंद लगाने से कोई लाभ नहीं है।

[163] इसके आगे जो कुछ लिखा है, उसको समझने के लिए हमें यह याद रखना चाहिए कि

बनने पायेंगे, तो उनकी ज़मींदारियां उसी समय से मुहताजों की सहायता करने की आधी ज़िम्मेदारी से मुक्त हो जाती हैं। अंग्रेज़ी विधान और क़ानून की दृष्टि से ज़मीन पर इस प्रकार का प्रतिबंधरहित स्वामित्व कहां तक उचित है और वे इस बात की कहां तक अनुमति देते हैं कि ज़मींदार अपनी संपत्ति का इच्छानुसार उपयोग करते हुए ज़मीन के जोतने-बोनेवालों के साथ विदेशियों जैसा व्यवहार करे और चाहे, तो अपने इलाक़े से उन्हें जलावतन कर दे–यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसपर मैं यहां विचार करने की ज़रूरत नहीं समझता... कारण कि वह बेदख़ल करने का (अधिकार)... केवल सैद्धांतिक ही नहीं है। बहुत बड़े पैमाने पर यह अधिकार अमल में लाया जाता है... और इस तरह अमल में लाया जाता है कि जहां तक रहने के लिए घर का सवाल है, खेतिहर मज़दूर का जीवन मुख्यतया इसी अधिकार के प्रयोग पर निर्भर करता है... यह बुराई कितनी फैली हुई है, यह बताने के लिए केवल उस सामग्री का हवाला देना ही काफ़ी है, जो डा० हंटर ने पिछली जनगणना से एकत्रित की है। उससे पता चलता है कि स्थानीय रूप से घरों की मांग बहुत बढ़ जाने के बावजूद इंगलैंड के ८२१ अलग-अलग गांवों या क़स्बों में पिछले दस वर्ष से घर नष्ट किये जा रहे हैं। इसका प्रमाण यह है कि जिन लोगों को (जिस गांव या क़स्बे में वे काम करते हैं, उस गांव या क़स्बे के लिए) जबर्दस्ती अन्यत्रवासी बना दिया जाता है, वे चाहे जैसे लोग रहे हों, १८६१ में इन गांवों और क़स्बों में १८५१ की तुलना में $५\frac{१}{३}$ प्रतिशत अधिक आबादी $४\frac{१}{२}$ प्रतिशत कम निवास-स्थान में भरी हुई थी। डाक्टर हंटर का कहना है कि जब आबादी को उजाड़ने की प्रक्रिया पूरी हो जाती है, तब उसके फलस्वरूप एक नुमायशी गांव तैयार हो जाता है, जिसमें झोंपड़ों की संख्या बहुत कम रह जाती है, और उन लोगों के सिवा, जिनकी गड़रियों, मालियों या आखेट-रक्षकों के रूप में ज़रूरत होती है और जिनके साथ नियमित नौकरों के रूप में अच्छा व्यवहार किया जाता है, वहां और कोई नहीं रह पाता।[164] लेकिन ज़मीन को जोतना-बोना ज़रूरी होता है, और आप देखेंगे कि अब जो मज़दूर इस गांव की ज़मीन पर काम करने के लिए नौकर रखे गये हैं, वे अपने मालिक के किरायेदार नहीं हैं, बल्कि पड़ोस के, संभवतया तीन मील दूर के किसी खुले गांव से यहां काम करने के लिए आते हैं। जब बंद गांवों में इन लोगों के घरों को नष्ट कर दिया गया था, तो इस खुले गांव के छोटे मालिकों ने उन्हें अपने घरों में आश्रय दिया था। जो गांव उपर्युक्त अवस्था के निकट पहुंच रहे हैं, उनमें जो झोंपड़े अभी तक खड़े

बंद गांव वे हैं, जिनके मालिक एक या दो बड़े ज़मींदार हैं, और खुले गांव वे हैं, जिनके मालिक बहुत से छोटे-छोटे ज़मींदार हैं। मकानों का व्यवसाय करनेवाले लोग इन खुले गांवों में ही झोंपड़े और सराय, आदि बनवा सकते हैं।

[164] इस प्रकार का नुमायशी गांव देखने में बहुत अच्छा लगता है, पर वह उतना ही अवास्तविक होता है, जितने अवास्तविक वे गांव थे, जिनको कैथेरीन द्वितीया ने क्राइमिया जाते हुए रास्ते में देखा था। हाल ही में अकसर गड़रियों को भी नुमायशी गांवों से बहिष्कृत कर दिया गया है। मिसाल के लिए, मार्केट हारबोरो के नज़दीक कोई ५०० एकड़ का एक भेड़ फ़ार्म है, जहां केवल एक आदमी काम करता है। गड़रिये को इन फैले हुए मैदानों को, लीसेंस्टर और नॉर्थम्पटन की सुंदर चरागाहों को, पैदल चलकर न पार करना पड़े, इस ख्याल से उसे फ़ार्म पर ही एक झोंपड़ा दे दिया जाता था। अब उसे घर किराये पर लेने के लिए १ शिलिंग अलग से मिलता है, और इस तरह उसकी कुल मज़दूरी १२ से १३ शिलिंग हो गयी है; पर उसे घर दूर किसी खुले गांव में लेना पड़ता है।

हैं, वे भी प्रायः अपनी ख़राब हालत और मरम्मत के अभाव के द्वारा यह व्यक्त करते रहते हैं कि अंत में उनका क्या हाल होनेवाला है। इन घरों को प्राकृतिक टूट-फूट की विभिन्न अवस्थाओं में देखा जा सकता है। पर जब तक घर साबित रहता है, तब तक मज़दूर को भी उसको किराये पर लेने की इजाज़त रहती है; और अकसर उसे इस बात की बहुत ख़ुशी होती है कि वह इस टूटे-फूटे मकान को अच्छे मकान का भाड़ा देकर किराये पर ले सकता है। परंतु इस घर की कोई मरम्मत नहीं होगी, न ही उसमें कोई सुधार किया जायेगा; हां, उसमें रहनेवाला निर्धन मज़दूर अपने ख़र्चे से कोई मरम्मत या सुधार कराना चाहे, तो करा सकता है। और जब आख़िर घर क़तई तौर पर किसी के लायक़ नहीं रहता, यानी जब वह भूदास-प्रथा के निम्नतम स्तर के दृष्टिकोण से भी रहने के अयोग्य हो जाता है, तब, तब क्या चिंता है, एक झोंपड़ा और गिरा दिया जायेगा और मुहताजों की सहायता के लिए जो कर देना पड़ता है, वह कुछ हल्का हो जायेगा। बड़े मालिक इस तरह अपनी ज़मीनों पर बस्तियों को उजाड़-उजाड़कर करों के बोझ को कम करते हैं; उधर जो क़स्बा या खुला गांव सबसे नज़दीक होता है, निकाले हुए मज़दूर वहां रहने के लिए पहुंच जाते हैं। मैंने कहा "सबसे नज़दीक", पर इसका मतलब यह भी हो सकता है कि जिस फ़ार्म पर मज़दूर को रोज़ मेहनत-मशक़्क़त करनी पड़ती है, उससे यह जगह तीन या चार मील दूर हो। रोज़ की उस मशक़्क़त में तब छः या आठ मील रोज़ाना पैदल चलने की मशक़्क़त और जुड़ जायेगी, और इस तरह जुड़ जायेगी, जैसे कुछ नहीं हुआ है, क्योंकि बिना इतना पैदल चले तो मज़दूर अपनी रोटी कमा नहीं सकता। और यदि उसकी बीवी और बच्चे भी फ़ार्म पर कुछ काम करते हैं, तो अब उनके लिए भी वही कठिनाई पैदा हो जायेगी। और फिर ऐसा भी नहीं है कि इस दूरी के कारण उसे केवल पैदल चलने की ही मशक़्क़त करनी पड़ती हो। खुले गांव में झोंपड़े बनाकर किराये पर उठाने-वाले मुनाफ़ाख़ोर ज़मीन की छोटी-छोटी कतरनें ख़रीद लेते हैं, फिर उनपर सस्ते से सस्ते दड़बे बनाकर ज़्यादा से ज़्यादा घनी बस्ती खड़ी कर देते हैं। और इन अति निकृष्ट निवास-स्थानों में (जिनमें खुले देहात के पास होने पर भी शहरों के सबसे ख़राब मकानों के कुछ सबसे भयानक दुर्गुण होते हैं) इंगलैंड के खेतिहर मज़दूरों को भर दिया जाता है...[165] परंतु दूसरी ओर,

---

[165] "(खुले गांवों में, जिनमें, ज़ाहिर है, सदा बहुत अधिक भीड़ भरी रहती है) मज़दूरों के घर आम तौर पर लाइनों में बनाये जाते हैं, और उनका पिछवाड़ा ज़मीन के उस टुकड़े के छोर से मिला रहता है, जिसको मकान बनानेवाला अपना टुकड़ा कह सकता था; और इस कारण मज़दूरों के घरों में सामने से तो कुछ रोशनी और हवा आ सकती हैं, पर और किसी तरफ़ से नहीं आ सकती।" (डा० हंटर की रिपोर्ट, *Public Health, 7th Report 1864*, London, 1865, p. 135.) अकसर गांव का मोदी या बियर बेचनेवाला ही मकान भी किराये पर उठाता है। ऐसी स्थिति में खेतिहर मज़दूर के ऊपर काश्तकार के अलावा एक और मालिक चड्ढी गांठ लेता है। मज़दूर को इस आदमी का ख़रीदार भी बनना पड़ता है और किरायेदार भी। "मज़दूर को जो थोड़ी सी चाय, शक्कर, आटा, साबुन, मोमबत्तियां और बियर चाहिए, वह सब उसे मुंहमांगी दामों पर... १० शिलिंग प्रति सप्ताह की अपनी मज़दूरी में से ख़रीदनी पड़ती है, जब कि उसमें से ४ पाउंड सालाना किराये के कट जाते हैं।" (l.c., p. 132.) सच पूछिये, तो ये खुले गांव इंगलैंड के खेतिहर मज़दूरों के वर्ग के लिए जेलख़ाने हैं, जहां उन्हें बामशक़्क़त क़ैद काटनी पड़ती है। बहुत से झोंपड़े महज़ भटियारख़ाने होते हैं, जिनमें आसपड़ोस के सारे ऐरे-ग़ैरे आते-जाते रहते हैं। आम तौर पर देहाती मज़दूर और उसका परि-वार ख़राब से ख़राब हालत में रहते हुए भी सचमुच बड़े ही आश्चर्यजनक ढंग से अपनी ईमान-

हमें यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि जब मज़दूर को उसी ज़मीन पर रहने को कोई स्थान मिल जाता है, जिसे वह जोतता-बोता है, तब घर के मामले में आम तौर पर उसकी स्थिति वैसी हो जाती है, जैसी उसके उत्पादक उद्योग को देखते हुए होनी चाहिए। यहां तक कि राजकुमारों की जागीरों पर भी... मज़दूर का झोंपड़ा... ख़राब से ख़राब ढंग का हो सकता है। कुछ ज़मींदार हैं, जो मज़दूर और उसके परिवार के लिए गंदे से गंदे अस्तबल को भी बहुत अच्छा समझते हैं, मगर जब किराये का सवाल आता है, तो उसकी खाल उतार लेने में भी संकोच नहीं करते।[166] मुमकिन है कि यह केवल एक कमरे का झोंपड़ा हो, जिसमें न तो अंगीठी है, न पाख़ाना और न कोई खिड़की ही; जोहड़ के सिवा पानी का और कोई इंतज़ाम न हो, और कोई बग़ीचा भी न हो, मगर मज़दूर लाचार है, वह इस अन्याय के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता... और उपद्रव निवारण क़ानून... कोरे काग़ज़ के टुकड़े बनकर... रह गये हैं, क्योंकि... इन क़ानूनों का अमल में आना बहुत हद तक उन मकान-मालिकों पर ही निर्भर करता है, जिनसे इस मज़दूर ने यह दड़बा किराये पर ले रखा था... न्याय का तक़ाज़ा है कि अब सुंदर, किंतु अपवादस्वरूप दृश्यों की ओर से ध्यान हटाकर उन तथ्यों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया जाये, जिनकी इस समय देश में बहुतायत है और जो इंगलैंड की सभ्यता के माथे पर कलंक का टीका हैं। यह सचमुच बहुत ही दुःख की बात है कि मौजूदा घरों की हालत क्या है, यह अच्छी तरह जानते हुए भी सभी योग्य पर्यवेक्षकों का समान रूप से यह मत है कि मकानों की अपर्याप्त संख्या के मुक़ाबले में उनकी मौजूदा हालत भी अपेक्षाकृत कम फ़ौरी बुराई है। देहाती मज़दूरों के घरों में जो अत्यधिक भीड़ भरी

दारी तथा चरित्र की शुद्धता को सुरक्षित रखते हैं। पर इन भटियारख़ानों में पहुंचकर वे भी एकदम चौपट हो जाते हैं। मकानों के किराये से अपनी थैलियां भरनेवालों, छोटे ज़मींदारों और खुले गांवों को देखकर छिः-छिः करने का अभिजातवर्गीय रक्त-शोषकों में, ज़ाहिर है, बड़ा चलन है। पर वे अच्छी तरह जानते हैं कि उनके "बंद गांव" और "नुमायशी गांव" खुले गांवों के जन्म-स्थान हैं, और वे उनके बिना क़ायम नहीं रह सकते। "यदि छोटे मालिक न होते, तो... अधिकतर मज़दूरों को, जिन फ़ार्मों पर वे काम करते हैं, उनके पेड़ों के नीचे सोना पड़ता।" (Dr. Hunter, l.c., p.135.) "खुले" और "बंद" गांवों की यह व्यवस्था सभी मध्यदेशीय काउंटियों में और सारे पूर्वी इंगलैंड में पायी जाती है।

[166] "वह मालिक... प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से मुनाफ़ा... कमाता है, जो किसी आदमी को १० शिलिंग प्रति सप्ताह पर नौकर रखता है और फिर उस ग़रीब मज़दूर से ४ पाउंड या ५ पाउंड सालाना उस घर के किराये के वसूल कर लेता है, जिसकी क़ीमत स्वतंत्र मंडी में २० पाउंड भी नहीं होगी। लेकिन इस घर की क़ीमत ज़बर्दस्ती बढ़ा दी जाती है, और वह इसलिए कि उसका मालिक किसी भी समय अपने किरायेदार से यह कह सकता है कि 'या तो मेरे घर में रहो या कहीं और जाकर नौकरी तलाश करो, याद रखो कि मैं तुम्हें चरित्र-प्रमाणपत्र नहीं दूंगा...' मान लीजिये कि कोई आदमी थोड़ा ज्यादा कमाने के उद्देश्य से रेल लाइन बिछानेवाले का काम या पत्थर की खान में काम करना चाहता है। तब फिर वही मालिक उससे कहेगा: 'या तो जितनी मज़दूरी मैं देता हूं, उतनी लेकर मेरे यहां काम करो या एक हफ़्ते का नोटिस देकर मेरे घर से निकल जाओ; और अपना सूअर भी साथ लेते जाओ, और तुम्हारे बग़ीचे में जो आलू लगे हुए हैं, उनको भी जिस भाव पर बने, बेच डालो।' और यदि मालिक का हित इसमें हो, तो वह (यानी काश्तकार) काम छोड़ने की सज़ा के रूप में मज़दूर से थोड़ा ज्यादा किराया वसूल कर सकता है।" (l.c., p. 132.)

रहती है वह वर्षों से न केवल सफ़ाई की ओर ध्यान देनेवाले लोगों के लिए, बल्कि उन लोगों के लिए भी चिंता का विषय बनी हुई है, जो मर्यादित तथा नैतिक जीवन चाहते हैं। कारण कि देहाती इलाक़ों में महामारियों के प्रसार की रिपोर्टें देनेवाले व्यक्तियों ने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया है – और उसके लिए इस हद तक एक सी शब्दावली का प्रयोग किया है कि उन सबकी रिपोर्टें एक सांचे में ढली हुई मालूम होने लगती हैं – कि इस सिलसिले में इस भीड़ का अत्यधिक महत्त्व होता है, क्योंकि जब एक बार कोई बीमारी कहीं पर घुस आती है, तो इस भीड़ के कारण उसको फैलने रोकना लगभग असंभव हो जाता है। और यह बात बार-बार कही जा चुकी है कि देहात के जीवन में जो अनेक स्वास्थ्यप्रद बातें हैं, उनके बावजूद इस भीड़ से न सिर्फ़ छूत की बीमारियों के फैलने में मदद मिलती है, बल्कि वे रोग भी फैलते हैं, जो संक्रामक नहीं हैं। एक और बुराई है, जिसके बारे में वे लोग ख़ामोश नहीं रहे हैं, जिन्होंने हमारी देहाती आबादी के बहुत अधिक भीड़ से भरे इन स्थानों में रहने की निंदा की है। जहां पर इन लोगों को मुख्यतया केवल स्वास्थ्य को पहुंचनेवाली हानि का ख़याल था, वहां पर भी उनको अकसर एक तरह से मजबूर होकर कुछ और संबंधित बातों का भी ज़िक्र करना पड़ा है। उनकी रिपोर्टों में बताया गया है कि बहुधा वयस्क पुरुष और वयस्क स्त्रियां, विवाहित और अविवाहित, सबके सब सोने के लिए एक ही कमरे में ठसाठस भर जाते हैं। इन रिपोर्टों में यह बात प्रमाणित कर दी गयी है कि उन्होंने जिस प्रकार की परिस्थितियों का वर्णन किया है, उनमें मर्यादा का अतिक्रमण होना और नैतिकता का नष्ट हो जाना अवश्यम्भावी है।[167] उदाहरण के लिए, मेरी पिछली वार्षिक रिपोर्ट के परिशिष्ट में डा० ओर्ड ने बकिंघमशायर के विंग नामक स्थान में महामारी के रूप में बुख़ार के फैलने के विषय में अपनी रिपोर्ट देते हुए बताया था कि इस स्थान में सबसे पहले एक नौजवान विंग्रेव से बुख़ार लेकर आया था। 'अपनी बीमारी के शुरू के दिनों में वह नौ अन्य व्यक्तियों के साथ एक कमरे में सोता रहा। नतीजा यह हुआ कि चौदह दिन के भीतर इनमें से कई व्यक्तियों को बीमारी ने घेर लिया, कुछ सप्ताह के भीतर नौ में से पांच को बुख़ार हो आया और एक मर भी गया...' सेंट जॉर्ज अस्पताल के डा० हारवे से, जो महामारी के दिनों में अपने धंधे से संबंध रखनेवाले किसी निजी काम से विंग गये थे, मुझे निम्नलिखित सूचना मिली, जो उपर्युक्त रिपोर्ट से हूबहू मेल खाती है: '...एक युवती को बुख़ार था। रात को वह उसी कमरे में सोयी, जिसमें उसके मां-बाप, उसका हरामी बच्चा, दो लड़के (उसके भाई) और उसकी दो बहनें – दोनों मय

---

[167] "जब भाई-बहन बड़े हो जाते हैं, तो नव-विवाहित दंपतियों को बराबर देखते रहना उनके लिए हितकारी नहीं हो सकता; और हम यहां पर विशिष्ट घटनाओं का तो ज़िक्र नहीं कर सकते, लेकिन यह कहने के लिए हमारे पास पर्याप्त तथ्य मौजूद हैं कि सगोत्र संभोग के अपराध में जो लड़की भाग लेती है, उसे तरह-तरह की मुसीबतें सहनी पड़ती हैं और कभी-कभी तो उसकी मौत तक हो जाती है।" (Dr. Hunter, l.c., p. 137.) देहाती पुलिस के एक कर्मचारी ने, जिसने अनेक वर्षों तक लंदन के सबसे ख़राब इलाक़ों में ख़ुफ़िया का काम किया है, अपने गांव की लड़कियों के बारे में कहा है: "मैंने अनेक वर्षों तक पुलिस में काम किया है और लंदन के सबसे ख़राब मुहल्लों में ख़ुफ़िया का भी काम किया है, पर इन लड़कियों जैसी बेहयाई और बेशर्मी मैंने कभी नहीं देखी थी... ये सब सूअरों की तरह रहते हैं। बहुत सी जगहों में बड़े लड़के-लड़कियां और मां-बाप सब एक कमरे में सोते हैं।" (*Children's Employment Commission, 6th Report*, London, 1867, Appendix, p. 77, No. 155.)

एक-एक हरामी बच्चे के – यानी कुल मिलाकर दस व्यक्ति सोये हुए थे। कुछ सप्ताह पहले इस कमरे में १३ व्यक्ति सोते थे।'"[168]

डा० हंटर ने न केवल विशुद्ध रूप में खेतिहर डिस्ट्रिक्टों में, बल्कि इंगलैंड की सभी काउंटियों में कुल ५, ३७५ घरों की जांच की थी। इनमें से २,१९५ में सोने का केवल एक ही कमरा था (जो अक्सर उठने-बैठने के काम में भी आता था), २,९३० में केवल दो कमरे सोने के लिए थे और २५० में दो से ज्यादा थे। मैं नीचे एक दर्जन काउंटियों में से चुने हुए कुछ नमूने पेश करता हूं।

१) बेडफ़ोर्डशायर

रेसलिंगवर्थ। सोने के कमरों की लंबाई लगभग १२ फ़ुट और चौड़ाई १० फ़ुट है, हालांकि बहुत से इससे भी छोटे हैं। छोटे एकमंज़िले घरों को अक्सर तख़्ते लगाकर सोने के दो कमरों में बांट दिया जाता है, एक बिस्तर प्रायः ५ फ़ुट छः इंच ऊंची रसोई में डाल दिया जाता है। किराया ३ पाउंड सालाना है। पाख़ाने किरायेदारों को ख़ुद अपने बनाने पड़ते हैं, मालिक केवल एक गढ़े की व्यवस्था कर देता है। ज्यों ही कोई किरायेदार पाख़ाना बनाता है, त्यों ही आस-पड़ोस के सारे आदमी उसको इस्तेमाल करने लगते हैं। रिचर्डसन नामक एक परिवार का घर इतना सुंदर था कि उस जैसा दूसरा मकान मिलना ही मुश्किल है। "उसकी चूने का पलस्तर की हुई दीवारें जगह-जगह पर इस तरह बाहर को निकल आयी थीं, जैसे अभिवादन करने के लिए झुकती हुई महिला की पोशाक बाहर को निकल आती है। घर का एक कोना उतल था, दूसरा अवतल था, और इस दूसरे कोने पर दुर्भाग्य से एक चिमनी टिकी हुई थी, जो हाथी की सूंड की तरह मुड़ी हुई, मिट्टी और लकड़ी की एक नली थी। चिमनी को गिरने से रोकने के लिए एक लंबे डंडे की टेक लगा दी गयी थी। दरवाज़ा और खिड़की समचतुर्भुजाकार थे।" १७ घरों की जांच की गयी; उनमें से केवल ४ में एक से अधिक सोने के कमरे थे, और इन चारों घरों में ज़रूरत से बहुत ज्यादा लोग रहते थे। जिन घरों में एक ही सोने का कमरा था, उनमें से एक में ३ वयस्क और ३ बच्चे रहते थे, दूसरे में ६ बच्चों के साथ एक विवाहित दंपति, और ऐसे ही अन्य घरों में भी।

डंटन। किराये ऊंचे हैं – ४ पाउंड से ५ पाउंड तक। पुरुष की साप्ताहिक मज़दूरी १० शिलिंग है। परिवार पुआल की चीज़ें बनाकर घर का किराया अदा करने की आशा रखता है। किराया जितना ऊंचा होता है, उसे अदा करने के वास्ते उतने ही अधिक लोगों को मिलकर काम करना पड़ता है। छः वयस्क व्यक्ति, जो सोने के एक कमरे में ४ बच्चों के साथ रहते हैं, इतनी जगह के लिए ३ पाउंड १० शिलिंग किराया देते हैं। डंटन में सबसे सस्ता घर बाहर से १५ फ़ुट लंबा और १० फ़ुट चौड़ा है और ३ पाउंड सालाना पर उठा हुआ है। जितने घरों की जांच की गयी, उनमें से केवल एक में सोने के २ कमरे थे। गांव के कुछ बाहर एक घर है, जिसमें "रहनेवाले लोग घर की दीवार के पास ही पाख़ाना फिरने बैठ जाते हैं।" इस घर के दरवाज़े का नीचे का हिस्सा ९ इंच की ऊंचाई तक एकदम सड़कर ख़त्म हो गया है। रात के समय चटाई में कुछ ईंटें लपेटकर इस सूराख़ में बड़ी होशियारी के साथ ठूंस दी जाती हैं और इस तरह उसे बंद कर दिया जाता है। आधी खिड़की, शीशे और चौखटे समेत, प्रत्येक

[168] *Public Health, 7th Report 1864*, pp. 9-14, passim.

नश्वर वस्तु की भांति काल का ग्रास बन गयी है। फ़र्नीचररहित इस घर में ३ वयस्क और ५ बच्चे रहते हैं। और बिगल्सवेड यूनियन के बाक़ी हिस्सों के मुक़ाबले में डंटन की हालत कोई ख़ास ख़राब नहीं है।

२) बर्कशायर

बीनहैम। जून १८६४ की बात है कि एक पुरुष, उसकी पत्नी और ४ बच्चे एक एकमंज़िले घर में रहते थे। बेटी नौकरी से लौटी, तो स्कार्लेट ज्वर साथ ले आयी। वह मर गयी। एक बच्चा बीमार हो गया, और वह भी चल बसा। जिस समय डा० हंटर को बुलाया गया, उस समय मां और एक बच्चा टाइफ़स ज्वर में पड़े हुए थे। बाप और एक बच्चा घर के बाहर सोते थे, लेकिन बीमारों को बाक़ी लोगों से अलग करने की कठिनाई यहां भी दिखायी दी, क्योंकि ज्वरग्रस्त परिवार के घरेलू कपड़े इस ग़रीब गांव के भीड़ भरे बाज़ार में धुलाई के लिए पड़े हुए थे। "एच" के घर का किराया १ शिलिंग प्रति सप्ताह है। सोने का एक कमरा है, जिसमें मियां, बीवी और ६ बच्चे रहते हैं। एक घर ८ पेंस प्रति सप्ताह पर उठा हुआ है; यह १४ फ़ुट ६ इंच लंबा और ७ फ़ुट चौड़ा है; रसोई ६ फ़ुट ऊंची है। सोने के कमरे में न तो खिड़की है, न अंगीठी है, न ही कोई दरवाज़ा या किसी और तरह का छेद है; हां, दालान में ज़रूर एक रास्ता खुलता है। बग़ीचा भी नहीं है। इस घर में कुछ समय तक एक पुरुष अपनी दो वयस्क बेटियों और एक वयस्क बेटे के साथ रहता था। बाप और बेटा बिस्तर पर सोते थे, लड़कियां ज़मीन पर। इस घर में रहते हुए दोनों लड़कियों के एक-एक बच्चा हुआ, लेकिन एक लड़की प्रसव के लिए मुहताज-ख़ाने गयी थी और उसके बाद घर लौट आयी थी।

३) बकिंघमशायर

१,००० एकड़ भूमि पर ३० घर हैं, जिनमें लगभग १३०-१४० व्यक्ति रहते हैं। ब्रेडेनहैम नामक गांव का रक़बा १,००० एकड़ है। १८५१ में उसपर ३६ घर बने हुए थे, जिनमें ८४ पुरुष और ५४ स्त्रियां रहती थीं। स्त्रियों और पुरुषों की संख्या का यह अंतर कुछ हद तक १८६१ में दूर हो गया, जब कि पुरुषों की तादाद ९८ और स्त्रियों की ८७ हो गयी। यानी १० साल में पुरुषों में १४ और स्त्रियों में ३३ की वृद्धि हो गयी। इस बीच मकानों की तादाद में एक की कमी हो गयी।

विंस्लो। इस गांव का अधिकतर भाग नया और अच्छे ढंग से बना हुआ है। घरों की मांग बहुत ज्यादा मालूम होती है, क्योंकि बहुत ही ख़राब क़िस्म के एकमंज़िले घरों का किराया भी १ शिलिंग से १ शिलिंग ३ पेंस तक प्रति सप्ताह है।

वाटर ईटन। यहां आबादी को बढ़ते हुए देखकर ज़मींदारों ने लगभग २० प्रतिशत मकानों को नष्ट कर दिया है। एक ग़रीब मज़दूर को काम करने के वास्ते ४ मील पैदल चलकर जाना होता है। उससे प्रश्न किया गया कि क्या उसे अपने काम के स्थान के नज़दीक कोई घर नहीं मिल सकता। उसने जवाब दिया: "नहीं, वे लोग इतने मूर्ख नहीं हैं कि इतने बड़े परिवार वाले आदमी को घर किराये पर दें।"

टिंकर्स एंड (विंस्लो के पास)। सोने का एक कमरा, जिसमें ४ वयस्क व्यक्ति और ४ बच्चे रह रहे थे, ११ फ़ुट लंबा और ९ फ़ुट चौड़ा था, और उसके सबसे ऊंचे हिस्से की ऊंचाई ६ फ़ुट ५ इंच थी। एक और कमरा ११ फ़ुट ३ इंच लंबा, ९ फ़ुट चौड़ा और ५ फ़ुट

१० इंच ऊंचा था, जिसमें ६ व्यक्तियों ने आश्रय ले रखा था। जेल में एक क़ैदी के लिए कम से कम जितना स्थान आवश्यक समझा जाता है, इसमें से प्रत्येक परिवार के पास उससे कम स्थान था। किसी घर में एक से अधिक सोने का कमरा नहीं था। किसी में पिछवाड़े की तरफ़ दरवाज़ा नहीं था। पानी की बहुत कमी थी। साप्ताहिक किराया १ शिलिंग ४ पेंस से २ शिलिंग तक था। १६ घरों को देखा गया; उनमें केवल १ पुरुष ऐसा मिला, जो १० शिलिंग प्रति सप्ताह कमा लेता था। ऊपर जिन परिस्थितियों का वर्णन किया गया है, उनमें प्रत्येक व्यक्ति को हवा की उतनी ही मात्रा मिलती थी, जितनी उसे उस स्थिति में मिलती, जब उसे रात भर एक ४ फ़ुट लंबे, ४ फ़ुट चौड़े और ४ फ़ुट ऊंचे बक्स में बंद करके रखा जाता। परंतु ज़ो घर बहुत पुराने पड़ गये थे, उनमें उनके बनानेवालों की इच्छा के विपरीत हवा आने के कुछ रास्ते खुल जाते थे।

४) कैंब्रिजशायर

गैंबलिंगे कई ज़मींदारों की संपत्ति है। इस गांव में जितने ख़राब एकमंजिले घर हैं, उतने ख़राब और कहीं नहीं हैं। पुआल की बुनाई यहां बहुत होती है। गैंबलिंगे में "एक प्राणघातक थकन, गंदगी के सामने आत्मसमर्पण कर देने की निराशा भरी भावना" छायी रहती है। उसके बीच के भाग में यदि लापरवाही का राज है, तो उत्तर और दक्षिण के छोर के भागों में सड़ांध का राज है, जहां घर सड़-गलकर टूटते जा रहे हैं। अन्यत्रवासी ज़मींदार इस ग़रीब गांव का सारा ख़ून चूसे ले रहे हैं। किराये बहुत ऊंचे हैं। ८ या ६ व्यक्ति सोने के एक कमरे में भर दिये जाते हैं; दो जगहों पर देखा गया कि एक छोटी सी कोठरी में ६ वयस्क रह रहे हैं, जिनमें से हरेक के पास एक-एक, दो-दो बच्चे भी हैं।

५) एस्सेक्स

इस काउंटी के बहुत से गांवों में रहनेवालों की संख्या और घरों की संख्या साथ-साथ कम होती जा रही हैं। किंतु कम से कम २२ गांव ऐसे हैं, जिनमें घरों के गिरा दिये जाने से आबादी का बढ़ना नहीं रुका है और न ही इन गांवों से लोगों का निष्कासन हुआ है, जो आम तौर पर "गांव छोड़कर शहर चले जाने" के नाम से होता है। फ़िंग्रिंगहो नामक गांव में, जिसका रक़बा ३,४४३ एकड़ है, १८५१ में १४५ घर थे, जब कि १८६१ में वहां केवल ११० घर रह गये। लेकिन लोग गांव छोड़कर नहीं जाना चाहते थे, और यहां तक कि इस परिस्थिति में भी उनकी संख्या में वृद्धि हो गयी। रैम्सडेन क्रैग्स में १८५१ में २५२ व्यक्ति ६१ घरों में रहते थे, पर १८६१ में २६२ व्यक्ति ठूंस-ठांसकर ४६ घरों में भर दिये गये। बेसिलडेन में १८५१ में १५७ व्यक्ति १,८२७ एकड़ के रक़बे पर ३५ घरों में रहते थे; दस वर्ष बाद पता चला कि वहां १८० व्यक्ति २७ घरों में रह रहे हैं। फ़िंग्रिंगहो, दक्षिणी फ़ार्नब्रिज, विडफ़ोर्ड, बेसिलडेन, और रैम्सडेन क्रैग्स नामक गांवों में १८५१ में १,३६२ व्यक्ति ८,४४६ एकड़ के रक़बे में बने हुए ३१६ घरों में रहते थे; १८६१ में देखा गया कि उसी रक़बे पर १,४७३ व्यक्ति २४६ घरों में रह रहे हैं।

६) हियरफ़ोर्डशायर

"किरायेदारों को निकालने की भावना" से इस छोटी सी काउंटी को जितना नुक़सान पहुंचा है, उतना इंगलैंड की और किसी काउंटी को नहीं पहुंचा। नैडबाई नामक गांव में

ग्राम तौर पर सभी घरों में बहुत ज्यादा लोग रहते हैं। उनमें सोने के केवल २ कमरे होते हैं। उनके मालिक प्रायः काश्तकार हैं। वे बड़ी ग्रासानी से उनको ३ पाउंड या ४ पाउंड सालाना किराये पर उठा देते हैं, ग्रौर ग्रपने मजदूरों को मजदूरी देते हैं ६ शिलिंग प्रति सप्ताह।

७) हंटिंगडन

हार्टफ़ोर्ड में १८५१ में ८७ घर थे। उसके थोड़े ही समय बाद १,७२० एकड़ रक़बे के इस छोटे से गांव के १६ घर नष्ट कर दिये गये। ग्राबादी १८३१ में ४५२,१८५१ में ८३२ ग्रौर १८६१ में ३४१ थी। १४ घरों को जाकर देखा गया। प्रत्येक में एक-एक सोने का कमरा था। एक में एक विवाहित दंपत्ति, ३ वयस्क बेटे, १ वयस्क बेटी ग्रौर ४ बच्चे, यानी कुल मिलाकर १० व्यक्ति रह रहे थे। एक ग्रौर कमरे में ३ वयस्क ग्रौर ६ बच्चे रहते थे। इनमें से एक कमरा, जिसमें ८ व्यक्ति सोते थे, १२ फ़ुट १० इंच लंबा, १२ फ़ुट २ इंच चौड़ा ग्रौर ६ फ़ुट ६ इंच ऊंचा था; कमरे के ग्रंदर की तरफ़ उभरी हुई दीवारों, ग्रादि में जो स्थान चला गया था, उसको न घटाते हुए प्रति व्यक्ति के पीछे १३० घनफ़ुट स्थान का ग्रौसत बैठता था। १४ सोने के कमरों में ३४ वयस्क ग्रौर ३३ बच्चे रहते थे। इन घरों के साथ बगीचे तो कभी-कभार ही होते हैं, पर उनमें रहनेवाले बहुत से लोगों को १० शिलिंग या १२ शिलिंग फ़ी रूड ($\frac{१}{४}$ एकड़) के लगान पर ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़े साग-सब्ज़ी उगाने के लिए मिल जाते हैं। ये टुकड़े घरों से दूर होते हैं, ग्रौर घरों में पाख़ाने नहीं होते। परिवार को या तो जाकर ज़मीन के इन टुकड़ों में पाख़ाना फिरना पड़ता है, या "एक ऐसी कोठरी इस्तेमाल करनी पड़ती है, जिसमें ग्रलमारी की दराज़ जैसा एक कठौता रखा रहता है, जिसे सप्ताह में एक बार उठाकर पाख़ाना वहां फेंक ग्राना पड़ता है, जहां इसकी ज़रूरत होती है।" जापान में जीवन-चक्र इससे ग्रधिक सुचारु ढंग से संपन्न होता है।

८) लिंकनशायर

लैंगटॉफ़्ट। यहां राइट के घर में एक ग्रादमी ग्रपनी पत्नी, सास ग्रौर पांच बच्चों के साथ रहता है। घर में सामने की तरफ़ एक रसोई है, सामान रखने की कोठरी है ग्रौर रसोई के ऊपर सोने का कमरा है। रसोई ग्रौर सोने का कमरा १२ फ़ुट २ इंच लंबे ग्रौर ६ फ़ुट ५ इंच चौड़े हैं। पूरी निचली मंज़िल २१ फ़ुट २ इंच लंबी ग्रौर ६ फ़ुट ५ इंच चौड़ी है। सोने का कमरा दुछत्ती की तरह है। उसकी दीवारें ऊपर उठने के साथ-साथ एक दूसरे की ग्रोर झुकती जाती हैं, जिससे कमरे की शक्ल तिकोने जैसी हो गयी है। सामने की तरफ़ एक खिड़की बाहर को निकली हुई है। इस ग्रादमी से पूछा गया: "वह यहां क्यों रहता है? क्या बग़ीचे की वजह से?" "नहीं, वह तो बहुत छोटा है।" "फिर क्या किराया कम है?" "नहीं, किराया बहुत ज्यादा है – १ शिलिंग ३ पेंस प्रति सप्ताह।" "तब क्या काम की जगह यहां से नज़दीक पड़ती है?" "नहीं, वह तो यहां से ६ मील दूर है, जिसके कारण उसे रोज़ाना १२ मील पैदल ग्राना-जाना पड़ता है।" यहां सिर्फ़ इसलिए रहता है कि यह घर किराये पर उठा था, ग्रौर वह किसी भी किराये पर, किसी

भी दशा में और किसी भी स्थान पर अपने लिए अलग एक घर चाहता था। लैंगटॉफ़्ट के १२ घरों के आंकड़े नीचे देखिये। इन १२ घरों में १२ सोने के कमरे थे, जिनमें ३८ वयस्क और ३६ बच्चे रहते थे।

लैंगटॉफ़्ट के १२ घर

घर	सोने के कमरों की संख्या	वयस्कों की संख्या	बच्चों की संख्या	कुल कितने व्यक्ति रहते हैं	घर	सोने के कमरों की संख्या	वयस्कों की संख्या	बच्चों की संख्या	कुल कितने व्यक्ति रहते हैं
घर नं० १	१	३	५	८	घर नं० ७	१	३	३	६
,, २	१	४	३	७	,, ८	१	३	२	५
,, ३	१	४	४	८	,, ९	१	२	०	२
,, ४	१	५	४	९	,, १०	१	२	३	५
,, ५	१	२	२	४	,, ११	१	३	३	६
,, ६	१	५	३	८	,, १२	१	२	४	६

९) कैंट

१८५९ में केनिंग्टन में रहनेवालों की संख्या बहुत ही ज्यादा बढ़ गयी थी। उस साल वहां डिफ़्थीरिया का रोग फैला, और गांव के डाक्टर ने ज्यादा ग़रीब लोगों की हालत की डाक्टरी जांच की। उसको पता चला कि इस स्थान में, जहां बहुत अधिक मजदूरों से काम लिया जा रहा था, बहुत से पुराने घर तोड़ डाले गये हैं और उनकी जगह पर नये नहीं बनाये गये हैं। एक मुहल्ले में चार घर थे, जो चिड़िया के पिंजड़े कहलाते थे; उनमें से हरेक में ४ कमरे थे, जिनकी लंबाई, चौड़ाई और ऊंचाई नीचे दी गयी है:

रसोई: ९'५" × ८'११" × ६'६";

सामान रखने की कोठरी: ८'६" × ४'६" × ६'६";

सोने का कमरा: ८'५" × ५'१०" × ६'३";

सोने का कमरा: ८'३" × ८'४" × ६'३"।

१०) नॉर्थम्पटनशायर

ब्रिनवर्थ, पिकफ़ोर्ड और फ़्लूर। इन गांवों में जाड़ों के मौसम में २०-३० आदमी काम के अभाव में गलियों में बेकार घूम रहे थे। अनाज और टूरनीप के खेतों को काश्तकार हमेशा उतना नहीं जोतते, जितना उनको जोतना चाहिए। इसलिए जमींदार ने अपने लिए यह बेहतर पाया है कि अपने सारे खेतों को इकट्ठा करके २ या ३ थोक बना दे। इसी से यह बेकारी फैल गयी थी। एक ओर, जमीन मजदूरों की मांग करती है, दूसरी ओर, बेकार मजदूर भूखी नजरों से जमीन को ताकते हैं। गरमियों में इनसे इतना काम कराया जाता है कि उनका सारा सत निकल जाता है, जाड़ों में उनको भूखों मरने के लिए छोड़

दिया जाता है। कोई आश्चर्य नहीं, यदि यहां के लोग अपनी बोली में कहते हैं कि «the parson and gentlefolk seem frit to death at them."[168a]

उदाहरण के लिए, फ़्लूर में सबसे छोटे आकार के सोने के कमरों में चार-चार, पांच-पांच और छः-छः बच्चों के साथ विवाहित दंपति रह रहे थे या ५ बच्चों के साथ ३ वयस्क रहते रहे थे, या पति-पत्नी का जोड़ा अपने दादा और ६ बच्चों के साथ रह रहा था, और बच्चे सब स्कार्लेट ज्वर में पड़े हुए थे, इत्यादि, इत्यादि। दो घरों में सोने के दो-दो कमरे थे। उनमें से एक में ८ वयस्कों का और दूसरे में ६ वयस्कों का परिवार रहता था।

११) विल्टशायर

स्ट्रेटन। ३१ घरों को देखा गया। ८ में सोने का केवल एक कमरा था। इसी गांव के पॅटिल नामक स्थान में एक घर था, जो १ शिलिंग ३ पेंस प्रति सप्ताह के किराये पर उठा हुआ था और जिसमें ४ वयस्क और ४ बच्चे रहते थे। छोटे-बड़े पत्थर के टुकड़ों के ऊबड़-खाबड़ फ़र्श से लेकर सड़े-गले फूस की छत तक इस घर में दीवारों के सिवा और कोई चीज़ सही-सलामत न थी।

१२) वोरस्टरशायर

यहां घरों को उतने अंधाधुंध ढंग से नहीं गिराया गया है। फिर भी १८५१ और १८६१ के बीच प्रत्येक घर के निवासियों की औसत संख्या ४.२ से बढ़कर ४.६ हो गयी है।

बैडसे। यहां बहुत से घर और उनके छोटे-छोटे बग़ीचे हैं। कुछ काश्तकारों का कहना है कि "ये घर हमारे लिए निरी मुसीबत हैं, क्योंकि उनके लालच से ग़रीब-गुरबा यहां आकर भीड़ लगाते हैं।" एक भद्र पुरुष ने कहा: "और इन घरों से ग़रीबों का कोई लाभ भी नहीं होता। यदि आप ५०० मकान बनायेंगे, तो वे भी बहुत जल्दी किराये पर चढ़ जायेंगे; और सच पूछिये, तो जितने मकान बनते जाते हैं, उतना ही इन लोगों की मांग बढ़ती जाती है" (इन सज्जन की राय में घरों से उनमें रहनेवालों का जन्म होता है, जो उसके बाद प्रकृति के एक नियम के अनुसार "निवास के साधनों" पर दबाव डालने लगते हैं)। डाक्टर हंटर ने कहा है: "ज़ाहिर है, ज़रूर कोई ऐसा स्थान है, जहां से ये ग़रीब लोग यहां आते हैं, पर चूंकि बैडसे में बेकारों के लिए सदावर्त जैसी कोई आकर्षक चीज़ भी नहीं है, इसलिए किसी दूसरे अनुपयुक्त स्थान से प्रतिकर्षण के फल-स्वरूप ही वे यहां आते होंगे। यदि उनमें से हर आदमी को अपने काम की जगह के नज़दीक घर मिल जाता, तो ज़ाहिर है कि वह बैडसे को न पसंद करता, जहां उसे ज़मीन के टुकड़े के लिए काश्तकार से दुगुनी रक़म देनी पड़ती है।"

गांव छोड़कर लोगों का लगातार शहरों में जाकर बसते जाना, खेतों के संकेंद्रण, जोतने योग्य ज़मीन के चरागाहों में परिवर्तित हो जाने, मशीनों के उपयोग, आदि के परिणामस्वरूप देहात में बेशी आबादी का लगातार बढ़ते जाना और खेतिहर आबादी के घरों के गिरा दिये जाने के फलस्वरूप उसका बराबर बेदख़ल होते जाना—ये सारी बातें साथ-साथ होती हैं। कोई इलाक़ा मनुष्यों से जितना ज्यादा ख़ाली होता है, वहां "सापेक्ष बेशी आबादी"

[168a] "पादरी और बड़े लोगों का तो उन्हें देखते ही दम निकल जाता है।"

उतनी ही अधिक होती है, रोज़गार के साधनों पर उसका दबाव उतना ही ज़्यादा होता है, रहने के घरों की तुलना में खेतिहर आबादी उतने ही निरपेक्ष ढंग से बढ़ जाती है और इसलिए गांवों में स्थानीय ढंग की बेशी आबादी तथा मनुष्यों को जानवरों की तरह ठूंस-ठूंसकर भरना तथा बीमारियों को जन्म देना भी उतना ही अधिक बढ़ जाता है। बिखरे हुए, छोटे-छोटे गांवों और छोटे-छोटे देहाती क़स्बों में लोगों का इस तरह जमाव हो जाना इस बात से मेल खाता है कि ज़मीन से लोगों को ज़बर्दस्ती बेदख़ल किया जाता है। हालांकि खेतिहर मज़दूरों की संख्या बराबर घटती जाती है और उनके द्वारा दिये जानेवाले उत्पादों की मात्रा बराबर बढ़ती जाती है, फिर भी चूंकि उनमें बेकारों की संख्या बराबर बढ़ती जाती है, इस कारण उनमें मुहताजी पैदा हो जाती है। यह मुहताजी अंत में उनके घरों से निकाल दिये जाने का कारण बन जाती है और यह ख़ास वजह होती है, जिससे उनको इतने ख़राब क़िस्म के घरों में रहना पड़ता है और जो उनकी प्रतिरोध की शक्ति को आख़िरी तौर पर समाप्त कर देती है तथा उनको ज़मीन के मालिकों और काश्तकारों का महज़ गुलाम बना देती है।[169] इस प्रकार कम से कम मज़दूरी पाना उनके लिए एक प्राकृतिक नियम बन जाता है। दूसरी ओर, देहात में लगातार "सापेक्ष बेशी आबादी" होने के बावजूद ज़मीन के लिए हमेशा आबादी की कमी रहती है। यह बात स्थानीय रूप से न केवल उन्हीं जगहों में देखने में आती है, जहां के बहुत अधिक लोग शहरों में, खानों में या जहां रेल की लाइनें बिछायी जा रही हैं, आदि-आदि स्थानों पर काम करने चले गये हैं। यह बात हर जगह देखने को मिलती है, फ़सल कटाई के समय भी और वसंत तथा गरमियों में भी – प्रायः आनेवाले ऐसे हर मौक़े पर, जब इंगलैंड की इतनी सुव्यवस्थित तथा गहन खेती को अतिरिक्त मज़दूरों की आवश्यकता होती है। भूमि की जुताई-बोवाई की साधारण आवश्यकताओं की दृष्टि से सदा मज़दूरों की बहुतायत तथा उसकी असाधारण अथवा अस्थायी आवश्यकताओं की दृष्टि से हमेशा मज़दूरों की कमी रहती है।[170] इसीलिए सरकारी

---

[169] कम्मी का यह विधाता द्वारा निर्धारित काम इस स्थिति में भी उसे एक अनोखी गरिमा प्रदान कर देता है। वह दास नहीं है, बल्कि शांति-काल का सैनिक है; और वह विवाहित मनुष्यों के लिए बनाये गये उन घरों में स्थान पाने का अधिकारी है, जिनको ज़मींदार बनायेगा, वही ज़मींदार, जो कम्मी को उसी तरह श्रम करने के लिए बाध्य करता है, जिस तरह देश सैनिक को बाध्य करता है। जिस प्रकार सैनिक को उसके काम का दाम बाज़ार-भाव के अनुसार नहीं मिलता, उसी प्रकार कम्मी को भी नहीं मिलता। सैनिक की तरह उसे भी युवावस्था में ही पकड़ लिया जाता है, जब उसे किसी बात का ज्ञान नहीं होता और जब वह केवल अपने धंधों से और अपने गांव से ही परिचित होता है। सैनिक पर भर्ती का क़ानून और ग़दर का क़ानून जो असर डालते हैं, वही असर बाल-विवाह की प्रथा और बसने के विभिन्न क़ानूनों की प्रक्रियाएं खेतिहर मज़दूर पर डालती हैं।" (Dr. Hunter, *Public Health, 7th Report 1864*, London, 1865, p. 132.) कभी-कभी कोई ज़मींदार असाधारण रूप से कोमल-हृदय होता है, तो उसे ख़ुद अपने पैदा किये हुए अकेलेपन पर दुःख होने लगता है। जब लॉर्ड लीस्टर को हुकहैम की पूर्ति पर बधाई दी गयी, तो उन्होंने कहा: "अपने इलाक़े में अकेले होना काफ़ी दुःख की बात है। मैं चारों ओर नज़र दौड़ाता हूं, लेकिन अपने मकान के सिवा मुझे कहीं एक भी घर नज़र नहीं आता। जैसे कि मैं कोई दुर्ग में रहनेवाला देव हूं, जो अपने तमाम पड़ोसियों को निगल गया है।"

[170] फ़्रांस में भी पिछले १० वर्षों से कुछ इसी तरह की चीज़ दिखायी दे रही है। वहां जिस अनुपात में पूंजीवादी उत्पादन खेती पर अधिकार करता जाता है, उसी अनुपात में

काग़ज़ों में हमें एक ही जगह पर मज़दूरों की कमी और मज़दूरों के आधिक्य की परस्पर विरोधी शिकायतें एक साथ पढ़ने को मिलती हैं। मज़दूरों की अस्थायी अथवा स्थानीय मांग से मज़दूरी की दर नहीं बढ़ती, बल्कि उसका केवल यही असर होता है कि स्त्रियों और बच्चों को भी खेतों में झोंक दिया जाता है और जिस आयु पर उनका शोषण आरंभ हो जाता है, वह अधिकाधिक नीचे गिरती जाती है। और जैसे ही स्त्रियों और बच्चों का पहले से बड़े पैमाने पर शोषण होने लगता है, वैसे ही यह चीज़ ख़ुद पुरुष मज़दूरों को फ़ालतू बना देने और उनकी मज़दूरी को बढ़ने से रोकने का एक नया साधन बन जाती है। इंगलैंड के पूर्वी भाग में इस प्राण-लेवा चक्र का एक नया फल उत्पन्न हुआ है। वह है तथा-कथित gang-system [टोलियों की प्रणाली], जिसका अब मैं संक्षेप में वर्णन करूंगा।[171]

टोलियों की प्रणाली लगभग अनन्य रूप से लिंकनशायर, हंटिंग्डनशायर, कैंब्रिजशायर, नॉरफ़ोक, सफ़ोक और नॉटिंघमशायर में तथा कहीं-कहीं पर पड़ोस की नॉर्थम्पटन, बेड्फ़ोर्ड और रूटलैंड नामक काउंटियों में पायी जाती है। हम लिंकनशायर को उदाहरण के रूप में लेंगे। इस काउंटी का एक बड़ा हिस्सा नयी ज़मीन का है, जहां पहले दलदल था। ऊपर जिन पूर्वी काउंटियों का नाम लिया गया है, उन्हीं की भांति इसकी ज़मीन भी अभी हाल ही में समुद्र में से निकाली गयी है। पानी की निकासी के मामले में भाप के इंजन ने बड़े-बड़े चमत्कार कर दिखाये हैं। जहां कुछ समय पहले दलदल या रेतीले किनारे थे, वहां अब अनाज के विशाल खेत लहलहा रहे हैं और इन टुकड़ों के लगान की दर और सब ज़मीनों की दर से ऊंची है। मानव-श्रम से एक्सहोल्म के द्वीप में तथा ट्रेंट नदी के तट पर बसे अन्य गांवों में जो कछार की भूमि उपलब्ध हुई है, वहां भी आज इसी प्रकार

वह "बेशी" खेतिहर आबादी को गांवों से शहरों में खदेड़ता जाता है। वहां भी रहने के घरों के मामले में तथा अन्य बातों में मज़दूरों की हालत बिगड़ने का मूल कारण बेशी आबादी में ही दिखायी देता है। ज़मीन के इस तरह छोटे-छोटे टुकड़े कर देने से फ़्रांस में जो विशेष ढंग का "देहाती सर्वहारा" पैदा हो गया है, उसके बारे में अन्य पुस्तकों के अलावा पहले उद्धृत की हुई कोलें की रचना *L'Économie Politique* और मेरी रचना *Der achtzehnte Brumaire des Louis Bonaparte*, Hamburg, 1869, S. 56 sq. का अवलोकन कीजिये। १८४६ में फ़्रांस की शहरी आबादी कुल आबादी का २४.४२ प्रतिशत और खेतिहर आबादी ७५.५८ प्रतिशत थी ; १८६१ तक शहरी आबादी २८.८६ प्रतिशत हो गयी और खेतिहर आबादी ७१.१४ प्रतिशत रह गयी। पिछले पांच वर्षों में खेतिहर आबादी और भी कम हो गयी है। पियेर दयूपों ने १८४६ में ही अपनी *Ouvriers* में यह कहा था :

गंदे नाले से सटे हुए,
कूड़े-कचरे के ढेर बीच,
अंधियारे के प्रेमी उलूक
रहते हैं सुख से चोर नीच
जिस जगह, वहीं हम दुखियारे,
मैले-गंदे चिथड़े धारे,
टूटे-फूटे से दरबों में
रहते हैं सारे के सारे!

[171] *6th and last Report of the Children's Employment Commission*, जो मार्च १८६७ के अंत में प्रकाशित हुई थी। इसमें केवल खेतिहर मज़दूरों की टोलियों की प्रणाली का ही वर्णन है।

का दृश्य दिखायी देता है। जैसे-जैसे नये फ़ार्म खुलते गये, वैसे-वैसे न सिर्फ़ नये घर नहीं बने, बल्कि पुराने घरों को तोड़-तोड़कर गिरा दिया गया, और मजदूरों को मीलों दूर, खुले गांवों से पहाड़ियों में चक्कर लगाते हुए लंबे रास्तों को तय करके यहां काम करने के लिए आना पड़ा। पुराने दिनों में शीत ऋतु की अनवरत बाढ़ से डरकर भागनेवाले लोगों को केवल इन्हीं गांवों में आश्रय मिलता था। ४०० से १,००० एकड़ तक के फ़ार्मों पर जो मजदूर रहते हैं (वे "बंद मजदूर" कहलाते हैं), उनसे खेती का केवल उसी तरह का काम लिया जाता है, जो स्थायी ढंग का कठिन काम है और जिसे घोड़ों की मदद से करना पड़ता है। हर १०० एकड़ पर औसतन मुश्किल से एक घर होता है। मिसाल के लिए, भूतपूर्व दलदल में खेती करनेवाले एक काश्तकार ने जांच-आयोग के सामने बयान देते हुए कहा था: "मैं ३२० एकड़ जमीन पर खेती करता हूं। यह सारी जमीन खेतीयोग्य है। मेरे फ़ार्म पर एक भी झोंपड़ा नहीं। आजकल मेरे फ़ार्म पर केवल एक मजदूर काम करता है। ४ साईस भी फ़ार्म पर ही रहते हैं। हल्का काम हम लोग टोलियों से करवाते हैं।"[172] यहां की धरती के लिए बहुत सारे हल्के ढंग के श्रम की आवश्यकता पड़ती है, जैसे निराने, गोड़ने, खाद डालने, पत्थरों को हटाने, इत्यादि के लिए। यह सारा काम टोलियां, या खुले गांवों में रहनेवाले मजदूरों के संगठित जत्थे करते हैं।

हर टोली में १० से ४० या ५० व्यक्ति तक होते हैं, जिनमें स्त्रियां, लड़के और लड़कियां (लड़के-लड़कियों की आयु १३ से १८ वर्ष तक होती है, हालांकि १३ वर्ष की आयु होने पर लड़कों को प्रायः जवाब दे दिया जाता है) तथा (६ से १३ वर्ष तक के) बच्चे और बच्चियां दोनों होते हैं। टोली का एक मुखिया होता है, जो सदा कोई साधारण खेतिहर मजदूर ही होता है; आम तौर पर उनमें से कोई ऐसा बदमाश, निकम्मा, बेपेंदी का लोटा और शराबी आदमी इस काम के लिए छांटा जाता है, जिसमें थोड़ी उद्यमशीलता और योग्यता हो। वही टोली को भर्ती करता है, और टोली काश्तकार के मातहत नहीं, बल्कि इस मुखिया के मातहत ही काम करती है। मुखिया प्रायः काश्तकार से काम का ठेका ले लेता है। उसकी आय, जो प्रायः एक साधारण खेतिहर की आय से बहुत अधिक नहीं होती,[173] लगभग पूरी तरह इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें अपनी टोली से कम से कम समय में ज्यादा से ज्यादा श्रम करा लेने की कितनी योग्यता है। काश्तकारों का अनुभव है कि स्त्रियां केवल पुरुषों की देखरेख में ही ध्यान से काम करती हैं, लेकिन स्त्रियों और बच्चों को यदि एक बार काम में लगा दीजिये, तो फिर, जैसा कि फ़ूरिये ने भी लिखा है, वे अंधाधुंध काम करते जाते हैं और अपने को एकदम खपा डालते हैं, जब कि वयस्क पुरुष ज्यादा चालाक होता है और अपनी शक्ति को कम से कम खर्च करता है। टोली का मुखिया एक फ़ार्म से दूसरे फ़ार्म में घूमता रहता है और इस तरह अपनी टोली को साल में ६-८ महीने काम में लगाये रखता है। इसलिए मजदूरी करनेवाले परिवारों के लिए किसी ख़ास काश्तकार के यहां काम करने की अपेक्षा, जो केवल कभी-कभार बच्चों को नौकर रखता है, टोली के मुखिया के जरिये काम हासिल करने में

[172] *Children's Employment Commission, 6th Report*, Evidence, p. 37, No. 173.

[173] लेकिन कुछ टोलियों के मुखिया पांच-पांच सौ एकड़ के काश्तकार या मकानों की पूरी लाइन के मालिक बन बैठे हैं।

अधिक लाभ तथा सुनिश्चितता रहती है। इससे खुले गांवों में टोली के मुखिया का इतना जबर्दस्त असर क़ायम हो जाता है कि बच्चों को भी आम तौर पर उसके ज़रिये ही नौकर रखवाया जा सकता है। बच्चों को टोली से अलग रूप से काम पर रखवाना मुखिया का दूसरा धंधा होता है।

इस प्रणाली की "त्रुटियां" ये हैं कि बच्चों और लड़के-लड़कियों से बहुत ज्यादा काम लिया जाता है, उनको रोज़ाना बहुत दूर चलकर काम पर जाना पड़ता है, क्योंकि उनके घरों से फ़ार्म ५-५, ६-६ और कभी-कभी तो ७-७ मील दूर होते हैं, और टोली का जीवन बच्चों के आचार-विचार के लिए बहुत घातक होता है। मुखिया को हालांकि कुछ इलाक़ों में "ड्राइवर" कहा जाता है और उसके पास सदा एक लंबी छड़ी भी रहती है, फिर भी वह उसका इस्तेमाल बहुत कम करता है और उसके ख़िलाफ़ बुरे व्यवहार की शिकायतें बहुत कम सुनी जाती हैं। वह एक जनवादी सम्राट या हैमेलिन के पाइड पाइपर की तरह होता है। इसलिए उसके वास्ते अपनी प्रजा का स्नेह-पात्र होना आवश्यक होता है। इस स्नेह का आधार वह आकर्षक यायावर जीवन होता है, जो उसकी देखरेख में उसकी प्रजा को उपलब्ध होता है। एक अनगढ़ सी स्वतंत्रता, ज़िंदादिली से भरा हुआ शोर-शराबा और अशिष्टता की तमाम सीमाओं को पार कर जानेवाली शोख़ी—इन बातों से टोली का जीवन आकर्षक बन जाता है। आम तौर पर मुखिया किसी शराबख़ाने में बैठकर मजदूरों को मजदूरी बांटता है। उसके बाद वह घर लौटता है, तो शराब के नशे में लड़-खड़ाता हुआ चलता है। दायें-बायें दो मर्दनुमा औरतें उसको संभाले रहती हैं, और उसके पीछे टोली के मजदूरों का जलूस होता है, जिसके पृष्ठभाग में शोर मचाते हुए और हंसी-मज़ाक़ के गंदे गीत गाते हुए बच्चे और लड़के-लड़कियां चलते हैं। गांव लौटने के समय टोली में, फ़ूरिये के शब्दों में, "phanerogamie" (मुक्त यौन संबंधों) का राज्य रहता है। १३ और १४ वर्ष की लड़कियों का इसी आयु के अपने सहयोगी लड़कों के द्वारा गर्भ-वती बना दिया जाना बहुत सामान्य घटना है। जिन खुले गांवों के निवासी इन टोलियों में भर्ती होते हैं, वे पाप के केंद्र[174] बन जाते हैं। इन गांवों में अवैध संतानों की जन्म-संख्या राज्य के बाक़ी भाग की अपेक्षा दुगुनी है। इन पाठशालाओं में जिन बालिकाओं की दीक्षा होती है, उनका नैतिक चरित्र विवाहितावस्था में कैसा रहता है, यह ऊपर बताया जा चुका है। उनके बच्चे अकसर तो मां की खिलायी हुई अफ़ीम के शिकार हो जाते हैं और जो बच जाते हैं, वे जन्म से ही इन टोलियों के रंगरूट बन जाते हैं।

प्रायः देखी जानेवाली जिस प्रकार की टोली का हमने ऊपर वर्णन किया है, वह सार्व-जनिक टोली, सामान्य टोली या घूमती-फिरती टोली कहलाती है। कारण कि कुछ निजी टोलियां भी होती हैं। इनमें सामान्य टोली की भांति ही भर्ती होती है, पर आदमी कम होते हैं, और वे टोली के मुखिया के बजाय फ़ार्म के किसी बूढ़े नौकर के मातहत काम करते हैं, जो काश्तकार की दृष्टि में किसी और काम लायक़ नहीं रह गया होता। इन टोलियों में ख़ानाबदोशों की ज़िंदादिली तो ग़ायब हो जाती है, पर सभी पर्यवेक्षकों का कहना है कि इनमें मजदूरी कम होती है और बच्चों के साथ व्यवहार ज्यादा ख़राब किया जाता है।

टोलियों की प्रणाली का चलन पिछले वर्षों में बराबर बढ़ता गया है।[175] ज़ाहिर है

---

[174] "लुडफ़ोर्ड की आधी लड़कियां" (टोलियों में काम करने के लिए) "बाहर जाने के कारण ख़राब हो गयी हैं।" (*Child. Empl. Comm., 6th Report*, Evidence, p. 6, No. 32.)

कि टोलियों से इसलिए नहीं काम कराया जाता कि उससे टोली के मुखिया का लाभ होगा। उनसे बड़े काश्तकारों[176] का और अप्रत्यक्ष ढंग से ज़मींदारों[177] का धन बढ़ाने के लिए काम कराया जाता है। काश्तकार के लिए, अपने मज़दूरों की संख्या को सामान्य स्तर से कम रखने और फिर भी अतिरिक्त काम के लिए हमेशा अतिरिक्त मज़दूरों को पा जाने और कम से कम पैसा ख़र्च करके[178] ज्यादा से ज्यादा काम लेने तथा वयस्क पुरुषों को "अनावश्यक" बना देने का इससे बेहतर तरीक़ा और कोई नहीं हो सकता था। ऊपर जो वर्णन किया गया है, उससे यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि ऐसा क्यों है कि एक ओर तो यह स्वीकार किया जाता है कि खेतिहर मज़दूरों के लिए रोज़ी का न्यूनाधिक अभाव रहता है, और दूसरी ओर, यह भी ऐलान किया जाता है कि वयस्क पुरुषों की इतनी कमी हो गयी है और वे इतनी बड़ी संख्या में शहरों में चले गये हैं कि टोलियों की प्रणाली अत्यंत "आवश्यक" हो गयी है।[179] लिंकनशायर में, जहां ज़मीन के झाड़-झंखाड़ को बड़ी मेहनत के

---

[175] "पिछले कुछ वर्षों में उनकी (टोलियों) की संख्या बहुत बढ़ गयी है। कुछ स्थानों में अभी हाल में ही उनका प्रयोग शुरू हुआ है। अन्य स्थानों में, जहां टोलियां... अनेक वर्षों से काम कर रही हैं... बच्चों से ज्यादा बड़ी संख्या में काम लिया जाता है और ज्यादा छोटे बच्चे नौकर रखे जाते हैं।" (*Child. Empl. Comm., 6th Report*, Evidence, p. 79, No. 174.)

[176] "छोटे काश्तकार टोलियों से कभी काम नहीं लेते।" "बड़ी संख्या में स्त्रियों और बच्चों से ख़राब ज़मीन पर नहीं, बल्कि ४० शिलिंग से ५० शिलिंग तक का लगान देनेवाली ज़मीनों पर काम कराया जाता है।" (l.c., pp. 17, 14.)

[177] इनमें से एक महानुभाव को अपना लगान इतना प्रिय था कि वह जांच-आयोग के सामने ग़ुस्से से लाल-पीले होते हुए बोले कि इस प्रणाली के ख़िलाफ़ केवल उसके नाम के कारण इतना शोर मचाया जा रहा है। यदि इनको "टोलियां" न कहकर "खेतिहर तरुण-तरुणियों के आत्मनिर्भर औद्योगिक संघ" कहा जाये, तो सारा झगड़ा मिट जायेगा।

[178] "टोलियों का काम दूसरे मज़दूरों के काम से सस्ता होता है, इसीलिए उनसे काम लिया जाता है," – यह एक भूतपूर्व मुखिया का कथन है। (l.c., p. 17, No.14.) और एक काश्तकार ने कहा है: "टोलियों की प्रणाली काश्तकार के लिए निश्चय ही सबसे सस्ती और बच्चों के लिए निश्चय ही सबसे अधिक घातक प्रणाली होती है।" (l.c ., p. 16, No. 3.)

[179] "इसमें कोई संदेह नहीं कि आजकल टोलियों में बच्चों से जो काम कराया जाता है, उसमें से बहुत सा काम पहले पुरुषों और स्त्रियों से कराया जाता था। जहां बच्चों और स्त्रियों से काम लिया जाता है, वहां बेकार पुरुषों की संख्या पहले से बढ़ गयी है।" (l.c., p. 43, No. 202.) दूसरी ओर, "कुछ खेतिहर डिस्ट्रिक्टों में, ख़ास कर जहां जोतने-बोने योग्य ज़मीन है, वहां प्रव्रजन के फलस्वरूप और इस कारण कि रेलें बन जाने से बड़े शहरों को चले जाने की सुविधा हो गयी है, श्रम के प्रश्न ने इतना गंभीर रूप धारण कर लिया है कि मैं" (यह "मैं" महोदय एक बड़े श्रीमंत के कारिंदे हैं) "समझता हूं कि अब बच्चों से काम लेना हमारे लिए एकदम अनिवार्य हो गया है।" (l.c., p. 80, No. 180.) असल में बाक़ी सभ्य संसार से बिल्कुल भिन्न, इंगलैंड के खेतिहर डिस्ट्रिक्टों में "श्रम का प्रश्न" ज़मींदारों और काश्तकारों का प्रश्न होता है। यहां इस प्रश्न का अर्थ यह है कि इस बात के बावजूद कि खेतिहर लोग अधिकाधिक बड़ी संख्या में गांव छोड़कर जा रहे हैं, देहात में पर्याप्त परिमाण में सापेक्ष बेशी आबादी बनाये रखना और उसके द्वारा खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी को अल्पतम स्तर पर रखना किस प्रकार संभव है?

साथ साफ़ कर दिया जाता है, पर मनुष्यरूपी झाड़-झंखाड़ हर तरफ़ फैले हुए नज़र आते हैं, हम पूंजीवादी उत्पादन के ध्रुव और प्रतिध्रुव दोनों को देख सकते हैं।[180]

छ) आयरलैंड

इस अनुभाग को समाप्त करने के पहले आयरलैंड पर एक नज़र डालना ज़रूरी है। पहले मैं वहां से संबंधित मुख्य तथ्य आपके सामने रखता हूं।

---

[180] *Public Health Report* में बच्चों की मृत्यु-दर की चर्चा करते हुए चलते-चलाते टोलियों की प्रणाली का भी ज़िक्र कर दिया गया है। परंतु समाचारपत्रों को और इसलिए ब्रिटिश जनता को उसकी जानकारी नहीं है। दूसरी ओर, बाल-सेवायोजन आयोग की अंतिम रिपोर्ट में समाचारपत्रों को कुछ इस तरह का सनसनीखेज़ मसाला मिल गया था, जिसका अख़बार हमेशा स्वागत करते हैं। उदारपंथी पत्रों ने प्रश्न किया कि यह कैसे संभव हुआ कि ये तमाम भद्र पुरुष और भद्र महिलाएं और राजकीय चर्च के मोटी तनख़्वाह पानेवाले पादरी लोग, जिनसे लिंकनशायर सदा भरा रहता है, ये तमाम सहृदय लोग, जो ख़ास "दक्षिणी सागर के द्वीपों के निवासियों की नैतिकता को ऊपर उठाने के लिए" एकदम दूसरे ध्रुव के प्रदेश में अपने मिशनरी भेजा करते हैं, यह कैसे संभव हुआ कि ये तमाम लोग देखते रहे और इनकी आंखों के सामने, उनकी ज़मींदारियों पर ऐसी भयानक व्यवस्था क़ायम हो गयी। अधिक सुसंस्कृत पत्रों ने केवल इस बात पर दुःख प्रकट करने तक ही अपने को सीमित रखा कि खेतिहर आबादी का इतना घोर पतन हो गया है कि लोग अपने बच्चों को चंद पैसों के लिए ऐसी भयानक ग़ुलामी में बेच देते हैं। सचाई यह है कि इन "नाज़ुक मिज़ाज" लोगों ने खेतिहर मज़दूरों को जिस नरक में रख छोड़ा है, उसमें यदि वे अपने बच्चों को खा भी जायें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। आश्चर्य की बात तो असल में यह है कि ऐसी हालत में रहते हुए भी उनका चरित्र-बल अधिकांश रूप में इतना कम क्षीण हुआ है। सरकारी रिपोर्टों से प्रमाणित हो जाता है कि जिन इलाक़ों में टोलियों की प्रणाली पायी जाती है, उनमें भी मां-बाप इस प्रणाली को हृदय से घृणा करते हैं।" गवाहों के बयानों में इस तरह की काफ़ी सामग्री मौजूद है, जिससे पता चलता है कि बहुत से बच्चों के मां-बाप को ख़ुशी होगी, यदि कोई क़ानून बनाकर उनपर कोई ऐसी ज़िम्मेदारी डाल दी जाये, जिससे उनको उस दबाव और लालच का मुक़ाबला करने में मदद मिले, जिसका उनको बराबर सामना करना पड़ता है। उनपर कभी-कभी गांव के अफ़सर और कभी-कभी मालिक इसके लिए दबाव डालते हैं कि उनको अपने बच्चों को ऐसी आयु में ही काम करने के वास्ते भेज देना चाहिए, जब कि... स्कूल की हाज़िरी देने में... स्पष्ट ही उनका अधिक लाभ होगा, और मालिक तो यह धमकी भी देते हैं कि अगर वे नहीं मानेंगे, तो ख़ुद उनको भी बर्ख़ास्त कर दिया जायेगा... मज़दूरों का इस तरह जो समय और शक्ति ज़ाया होते हैं, ख़ुद उनको और उनके बच्चों को अत्यधिक और अलाभप्रद परिश्रम करने से जो कष्ट होता है, ऐसा प्रत्येक उदाहरण, जब कि मां-बाप इस नतीजे पर पहुंचे होंगे कि उनके बच्चे का नैतिक पतन घरों की भीड़ के घातक प्रभाव अथवा सार्वजनिक टोली के ज़हरीले असर के कारण हुआ है – ये सारी बातें ऐसी हैं, जिन्होंने श्रम करनेवाले ग़रीबों के मन में ऐसी भावनाएं पैदा कर दी होंगी, जिनको आसानी से समझा जा सकता है और जिनको यहां गिनाना अनावश्यक है। उनके मन में ज़रूर यह विचार आता होगा कि उनको इतना अधिक शारीरिक एवं मानसिक कष्ट ऐसे कारणों से उठाना पड़ा है, जिनकी ज़िम्मेदारी उनपर क़तई नहीं है और जिनको यदि उनके बस में होता, तो वे हरगिज़ बर्दाश्त न करते, और जिनके ख़िलाफ़ संघर्ष उनकी शक्ति के बाहर है।" (l.c., p. XX, No. 82; p. XXIII, No. 96.)

१८४१ में आयरलैंड की जनसंख्या ८२,२२,६६४ पर पहुंच गयी थी; १८५१ तक वह घटकर केवल ६६,२३,६८५ रह गयी; १८६१ में वह ५८,५०,३०६ हो गयी और १८६६ में तो केवल ५५ लाख ही रह गयी, यानी वह लगभग १८०१ के स्तर पर पहुंच गयी। यह कमी आरंभ हुई थी १८४६ में, जब कि अकाल पड़ा था, और इस तरह बीस साल से कम समय में आयरलैंड अपनी आबादी के $\frac{५}{१६}$ हिस्से को खो बैठा।[181] मई १८५१ से जुलाई १८६५ तक आयरलैंड से १५,६१,४८७ व्यक्ति विदेशों को चले गये; १८६१ से १८६५ तक ५ लाख से अधिक लोग उत्प्रवासी बन गये। बसे हुए घरों की तादाद में १८५१ से १८६१ तक ५२,६६० की कमी आ गयी। १८५१-१८६१ में १५ से ३० एकड़ तक के फ़ार्मों की संख्या में ६१,००० की और ३० एकड़ से ऊपर के फ़ार्मों की संख्या में १,०६,००० की वृद्धि हो गयी, मगर सभी प्रकार के फ़ार्मों की कुल संख्या में १,२०,००० की कमी आ गयी। इन आंकड़ों का यह मतलब है कि यह पूरी कमी केवल १५ एकड़ से कम के फ़ार्मों के मिट जाने से, अर्थात् उनका संकेंद्रण हो जाने से, आयी थी।

तालिका (क)

पशु-धन

वर्ष	घोड़े		गायें		
	कुल संख्या	कमी	कुल संख्या	कमी	वृद्धि
१८६०	६,१६,८११	–	३६,०६,३७४	–	–
१८६१	६,१४,२३२	५,५७६	३४,७१,६८८	१,३४,६८६	–
१८६२	६,०२,८६४	११,३३८	३२,५४,८६०	२,१६,७६८	–
१८६३	५,७६,६७८	२२,६१६	३१,४४,२३१	१,१०,६५६	–
१८६४	५,६२,१५८	१७,८२०	३२,६२,२६४	–	१,१८,०६३
१८६५	५,४७,८६७	१४,२६१	३४,६३,४१४	–	२,३१,१२०

वर्ष	भेड़ें			सूअर		
	कुल संख्या	कमी	वृद्धि	कुल संख्या	कमी	वृद्धि
१८६०	३५,४२,०८०	–	–	१२,७१,०७२	–	–
१८६१	३५,५६,०५०	–	१३,६७०	११,०२,०४२	१,६६,०३०	–
१८६२	३४,५६,१३२	६६,६१८	–	११,५४,३२४	–	५२,२८२
१८६३	३३,०८,२०४	१,४७,६८२	–	१०,६७,४५८	८६,८६६	–
१८६४	३३,६६,६४१	–	५८,७३७	१०,५८,४८०	८,६७८	–
१८६५	३६,८८,७४२	–	३,२१,८०१	१२,६६,८६३	–	२,४१,४१३

[181] आयरलैंड की जनसंख्या १८०१ में ५३,१६,८६७; १८११ में ६०,८४,६६६; १८२१ में ६८,६६,५४४; १८३१ में ७८,२८,३४७ और १८४१ में ८२,२२,६६४ थी।

इन तालिकाओं से यह निष्कर्ष निकलता है:

घोड़े	गायें	भेड़ें	सूअर
निरपेक्ष कमी	निरपेक्ष कमी	निरपेक्ष वृद्धि	निरपेक्ष वृद्धि
७१,९४४	१,१२,९६०	१,४६,६६२	२८,८२१ [182]

तालिका (ख)

विभिन्न फ़सलों और घास के रक़बे में कितनी वृद्धि या कमी हुई (एकड़ में)

वर्ष	अनाज की फ़सलें	हरी फ़सलें		घास और तिपतिया घास		फ़्लैक्स		जोती-बोयी गयी कुल भूमि	
	कमी	कमी	वृद्धि	कमी	वृद्धि	कमी	वृद्धि	कमी	वृद्धि
१८६१	१५,७०१	३६,९७४	—	४७,९६९	—	—	१९,२७१	८१,३७३	—
१८६२	७२,७३४	७४,७८५	—	—	६,६२३	—	२,०५५	१,३८,८४१	—
१८६३	१,४४,७१९	१९,३५८	—	—	७,७२४	—	६३,९२२	९२,४३१	—
१८६४	१,२२,४३७	२,३१७	—	—	४७,४८६	—	८७,७६१	—	१०,४९३
१८६५	७२,४५०	—	२५,२४१	—	६८,९७०	५०,१५९	—	२८,३९८	—
१८६१ से १८६५ तक	४,२८,०४१	१,०८,१९३	—	—	८२,८३४	—	१,२२,८५०	३,३०,५५०	—

[182] यदि हम और पीछे के आंकड़ों को देखें, तो और भी ख़राब स्थिति सामने आती है। १८६५ में भेड़ों की संख्या ३६,८८,७४२ थी, पर १८५६ में उनकी संख्या ३६,९४, २९४ हो गयी। सूअरों की तादाद १८६५ में १२,९९,८९३ थी, पर उसके पहले १८५८ में वह १४,०९,८८३ थी।

१८६४ की तुलना में १८६५ में अलग-अलग फ़सलों के रक़बे में, प्रति एकड़ पैदावार में और

फ़सल	फ़सल का रक़बा (एकड़)		रक़बे की कमी या वृद्धि, १८६५		प्रति एकड़ पैदावार	
	१८६४	१८६५	वृद्धि	कमी	१८६४	१८६५
गेहूं . . .	२,७६,४८३	२,६६,६८६	–	६,४६४	१३.३ हं० वे०	१३ हं० वे०
जई . . .	१८,१४,८८६	१७,४५,२२८	–	६६,६५८	१२,१ "	१२.३ "
जौ . . .	१,७२,७००	१,७७,१०२	४,४०२	–	१५.६ "	१४.६ "
बीयर Bere }	८,८६४	१०,०६१	१,१६७	–	१६.४ "	१४.८ "
रई . . . }					८.५ "	१०.४ "
आलू . . .	१०,३६,७२४	१०,६६,२६०	२६,५३६	–	४.१ टन	३.६ टन
शलजम . .	३,३७,३५५	३,३४,२१२	–	३,१४३	१०.३ "	६.६ "
चुकंदर . .	१४,०७३	१४,३८६	३१६	–	१०.५ "	१३.३ "
गोभी . .	३१,८२१	३३,६२२	१,८०१	–	६.३ "	१०.४ "
फ़्लैक्स . .	३,०१,६६३	२,५१,४३३	–	५०,२६०	३४.२ स्टोन	२५.२ स्टोन
सूखी घास .	१६,०६,५६६	१६,७८,४६३	६८,६२४	–	१,६ टन	१.८ टन

अनुबद्ध आयों पर आय-कर (पाउंड स्टर्लिंग)

	१८६०	१८६१
अनुसूची (क) जमीन का किराया ...	१,३८,६३,८२६	१,३०,०३,५५४
अनुसूची (ख) काश्तकारों का मुनाफ़ा ...	२७,६५,३८७	२७,७३,६४४
अनुसूची (घ) उद्योगों, आदि का मुनाफ़ा ...	४८,६१,६५२	४८,३६,२०३
समस्त अनुसूचियां (क) से (च) तक ...	२,२६,६२,८८५	२,२६,६८,३६४

[183] पुस्तक के मूल पाठ में जो आंकड़े दिये गये हैं, वे १८६० और आगे के वर्षों के *Agricultural Statistics, Ireland, General Abstracts* (Dublin) और *Agricultural Statistics, Ireland. Tables showing the Estimated average Produce etc.*, (Dublin, 1866) से लिये गये हैं। ये सारे आंकड़े सरकारी हैं और हर वर्ष संसद के सामने पेश किये जाते थे।

[**दूसरे संस्करण में जोड़ा गया अंश :** १८७२ के सरकारी आंकड़ों की १८७१ के आंकड़ों से तुलना करने पर पता चलता है कि खेती के रक़बे में १,३४,६१५ एकड़ की कमी हो गयी थी। हरी फ़सलें – शलजम, चुकंदर, आदि – के रक़बे में वृद्धि हो गयी थी। गेहूं के रक़बे में १६,००० एकड़ की कमी हो गयी थी, जई में १४,००० एकड़ की, जौ और रई

तालिका (ग)

कुल पैदावार में कितनी वृद्धि या कमी हुई[183]

प्रति एकड़ पैदावार में वृद्धि या कमी, १८६५		कुल पैदावार की मात्रा		कुल पैदावार में वृद्धि या कमी १८६५	
वृद्धि	कमी	१८६४	१८६५	वृद्धि	कमी
		क्वार्टर		क्वार्टर	
–	०.३ हं० वे०	८,७५,७८२	८,२६,७८३	–	४८,९९९
०,२ हं० वे०	–	७८,२६,३३२	७६,५९,७२७	–	१,६६,६०५
–	१.० हं० वे०	७,६१,९०९	७,३२,०१७	–	२९,८९२
–	१.६ हं० वे०	१५,१६०	१३,९८९	–	१,१७१
१.९ हं० वे०	–	१२,६८०	१८,३६४	५,६८४	–
		टन		टन	
–	०.५ टन	४३,१२,३८८	३८,६५,९९०	–	४,४६,३९८
–	.०.४ टन	३४,६७,६५९	३३,०१,६८३	–	१,६५,९७६
२.८ टन	–	१,४७,२८४	१,९१,९२७	४४,६५३	–
१.१ टन	–	२,९७,३७५	३,५०,२५२	५२,८७७	–
–	९.० स्टोन	६४,५०६	३९,५६१	–	२४,९४५
०.२ टन	–	२६,०७,१५३	३०,६८,७०७	४,६१,५५४	–

तालिका (घ)

१८६२	१८६३	१८६४	१८६५
१,३३,९८,९३८	१,३४,९४,०९१	१,३४,७०,७००	१,३८,०१,६१६
२९,३७,८९९	२९,३८,९२३	२९,३०,८७४	२९,४६,०७२
४८,५८,८००	४८,४६,४९७	४५,४६,१४७	४८,५०,१९९
२,३५,९७,५७४	२,३६,५८,६३१	२,३२,३६,२९८	२,३९,३०,३४०[184]

में ४,००० एकड़ की, आलुओं में ६६,६३२ एकड़ की, फ़्लेक्स में ३४,६६७ एकड़ की और घास, तिपतिया घास, उड़द तथा रैप-सीड में ३०,००० एकड़ की कमी आ गयी थी। गेहूं का रक़बा पिछले ५ वर्षों में इस तरह घटता गया है: १८६८–२,८५,००० एकड़, १८६९–२,८०,००० एकड़, १८७०–२,५९,००० एकड़, १८७१–२,४४,००० एकड़ और १८७२–२,२८,००० एकड़। १८७२ में स्थूल संख्याओं में घोड़ों की संख्या में २,६०० की, गायों में ८०,००० की और भेड़ों में ६८,६०९ की वद्धि हो गयी है और सूअरों में २,३६,००० की कमी आ गयी है।)

[184] *Tenth Report of the Commissioners of Inland Revenue*, London, 1866.

तालिका (च)

अनुसूची (घ)। आयरलैंड में (६० पाउंड से अधिक के) मुनाफ़ों से होनेवाली आय

	१८६४		१८६५	
	आय (पाउंड)	कितने व्यक्तियों के बीच बंट गयी	आय (पाउंड)	कितने व्यक्तियों के बीच बंट गयी
कुल वार्षिक आय	४३,६८,६१०	१७,४६७	४६,६६,६७६	१८,०८१
६० पाउंड से अधिक, किंतु १०० पाउंड से कम की वार्षिक आय	२,३८,७२६	५,०१५	२,२२,५७५	४,७०३
कुल वार्षिक आय का एक भाग	१६,७६,०६६	११,३२१	२०,२८,५७१	१२,१८४
कुल वार्षिक आय का बाक़ी भाग	२१,५०,८१८	१,१३१	२४,१८,८३३	१,१६४
इस भाग में से	१०,७३,६०६	१,०१०	१०,६७,६२७	१,०४४
	१०,७६,६१२	१२१	१३,२०,६०६	१५०
	४,३०,५३५	६५	५,८४,४५८	१२२
	६,४६,३७७	२६	७,३६,४४८	२८
	२,६२,८१६	३	२,७४,५२८	३ [185]

आबादी में कमी आयी, तो स्वभावतया उसके साथ-साथ पैदावार की राशि में भी कमी आ गयी। यहां पर १८६१ से १८६५ तक के उन ५ वर्षों पर ही विचार कर लेना काफ़ी होगा, जिनके दौरान ५ लाख से ज्यादा आदमी देश छोड़कर चले गये थे और कुल आबादी में सवा तीन लाख से अधिक की कमी आ गयी थी।

अब आइये, खेती पर विचार करें, जिससे पशुओं और मनुष्यों के जीवन-निर्वाह के साधन प्राप्त होते हैं। निम्न तालिका में यह दिखाया गया है कि हर अलग-अलग वर्ष की पैदावार में उसके पहले वर्ष की तुलना में कितनी कमी आयी या कितनी वृद्धि हुई। 'अनाज की फ़सलें' शीर्षक में गेहूं, जई, जौ, रई, फलियां और मटर शामिल हैं। 'हरी फ़सलें' शीर्षक में आलू, शलजम, चुकंदर, गोभी, गाजर, गर्जरिका और उड़द, आदि शामिल हैं। देखिये तालिका (ख)।

१८६५ के वर्ष में १,२७,४७० एकड़ नयी ज़मीन 'घास की ज़मीन' वाली मद में

[185] अनुसूची (घ) की कुल वार्षिक आय इस तालिका में पिछली तालिका से कुछ भिन्न दिखायी गयी है, क्योंकि क़ानून के अनुसार उसमें से कुछ रक़में काट दी गयी हैं।

जुड़ गयी। इसका मुख्य कारण यह था कि 'दलदल और अनधिकृत परती ज़मीन' की मद के रक़बे में १,०१,५४३ एकड़ की कमी आ गयी थी। यदि हम १८६५ की १८६४ के साथ तुलना करें, तो हम यह पाते हैं कि अनाज के उत्पादन में २,४६,६६७ क्वार्टर की कमी आ गयी थी, जिसमें से ४८,६९९ क्वार्टर की कमी गेहूं में, १,६०,६०५ क्वार्टर की कमी जई में, २९,८९२ की कमी जौ में और इसी प्रकार अन्य अनाजों मेंकमी आयी थी। आलुओं में ४,४६,३९८ टन की कमी आयी, हालांकि उनकी फ़सल का रक़बा १८६५ में बढ़ गया था। देखिये तालिका (ग)।

आयरलैंड की आबादी और खेती की पैदावार में जो उतार-चढ़ाव आता रहा है, उसे देखने के बाद अब हमें यह देखना चाहिए कि वहां के ज़मींदारों, बड़े काश्तकारों और औद्योगिक पूंजीपतियों के धन में क्या उतार-चढ़ाव आया है। यह उतार-चढ़ाव आय-कर के उतार-चढ़ाव में प्रतिबिंबित होता है। पाठकों को याद होगा कि अनुसूची (घ) (जिसमें काश्तकारों के अलावा बाक़ी सबके मुनाफ़े दिखाये जाते हैं) में तथाकथित "वृत्तियों के मुनाफ़े", अर्थात् वकीलों, डाक्टरों, आदि की आय भी शामिल होती है और अनुसूची (ग) और (च) में, जिनमें ब्योरे की बातें नहीं दी जातीं, कर्मचारियों, अफ़सरों, राज्य से मुफ़्त में तनख़्वाह पानेवालों और राजकीय बंधकधारियों, आदि की आय भी शामिल होती है।

अनुसूची (घ) के अनुसार आयरलैंड में १८५३ से १८६४ तक आय में औसत वार्षिक वृद्धि केवल ०.९३ प्रतिशत हुई थी, जब कि उन्हीं वर्षों में ग्रेट ब्रिटेन में आय में औसत वार्षिक वृद्धि ४.५८ प्रतिशत हुई। तालिका (च) बताती है कि १८६४ और १८६५ में (काश्तकारों को छोड़कर बाक़ी सब लोगों के) मुनाफ़ों का बंटवारा किस प्रकार हुआ था।

इंगलैंड एक ऐसा देश है, जिसमें पूंजीवादी उत्पादन का पूर्ण विकास हुआ है। वह प्रधानतया एक औद्योगिक देश है। आयरलैंड की आबादी में जितनी बड़ी कमी आयी है, यदि उतनी बड़ी कमी इंगलैंड की आबादी में आ जाती, तो उसका तो दम ही निकल जाता। लेकिन आजकल तो आयरलैंड महज़ इंगलैंड का एक खेतिहर इलाक़ा बना हुआ है, यद्यपि एक चौड़ा जलडमरूमध्य उसे इंगलैंड से जुदा किये हुए है। वह इंगलैंड को अनाज, ऊन, ढोर और उद्योग-धंधों तथा सेना के लिए रंगरूट देता है।

आयरलैंड की आबादी के उजड़ जाने के कारण वहां की बहुत सारी ज़मीन खेती से निकल गयी है, धरती की पैदावार बहुत कम हो गयी है,[186] और हालांकि उस ज़मीन का रक़बा पहले से बढ़ गया है, जिसपर ढोर पाले जाते हैं, लेकिन फिर भी पशु-प्रजनन की कुछ शाखाओं में निरपेक्ष ढंग की कमी आ गयी है, और अन्य शाखाओं में नाम मात्र की वृद्धि हुई है, और वह भी रुक-रुककर। किंतु इन सब बातों के बावजूद आबादी की तादाद में कमी आने के साथ-साथ लगान और काश्तकारों के मुनाफ़े बढ़ते गये हैं, हालांकि ये मुनाफ़े उतने अनवरत ढंग से नहीं बढ़े हैं, जितने अनवरत ढंग से लगान बढ़े हैं। इसका

[186] जब हम यह देखते हैं कि प्रति एकड़ पैदावार भी सापेक्ष दृष्टि से कम हो गयी है, तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि डेढ़ सौ वर्ष से इंगलैंड अप्रत्यक्ष ढंग से आयरलैंड की धरती का निर्यात करता आ रहा है, और साथ ही उसने धरती के जोतनेवालों के पास इसके भी कोई साधन नहीं छोड़े हैं, जिनसे वे धरती के उन संघटक अंशों की कमी को पूरा कर देते, जो ख़त्म हो गये हैं।

कारण आसानी से समझ में आ जाता है। एक ओर यह हुआ है कि छोटी जोतों के बड़ी जोतों में मिल जाने से और खेती योग्य ज़मीन के चरागाहों में बदल दिये जाने से पूरी पैदावार का एक बड़ा हिस्सा बेशी पैदावार में बदल गया। बेशी पैदावार बढ़ गयी, हालांकि कुल पैदावार, जिसका बेशी पैदावार एक अंश होती है, घट गयी। दूसरी ओर, पिछले २० वर्षों में और विशेषकर आख़िरी १० वर्षों में इंगलैंड की मंडी में मांस, ऊन, आदि का भाव बढ़ जाने के फलस्वरूप इस बेशी पैदावार का द्रव्य-मूल्य उसके कुल परिमाण से भी अधिक तेज़ी से बढ़ गया है।

उत्पादन के वे बिखरे हुए साधन, जो ख़ुद उत्पादकों के लिए रोज़गार तथा जीवन-निर्वाह के साधनों का काम करते हैं और दूसरे लोगों के श्रम का अपने साथ समावेश करके स्वयं अपने मूल्य का विस्तार नहीं करते, वे उसी तरह पूंजी की मद में नहीं आते, जिस तरह वह पैदावार पण्य की मद में नहीं आती, जिसे उसका पैदा करनेवाला ख़ुद ख़र्च कर डालता है। यदि एक तरफ़, आबादी के कम होने के साथ-साथ खेती में लगे हुए उत्पादन के साधनों में भी कमी आ गयी, तो दूसरी तरफ़, खेती में लगी हुई पूंजी बढ़ गयी, क्योंकि उत्पादन के बिखरे हुए साधनों के एक भाग का संकेंद्रण हो गया और वह पूंजी में बदल गया।

आयरलैंड में खेती के बाहर उद्योग तथा व्यापार में जो पूंजी लगी हुई है, उसका संचय पिछली दो दशाब्दियों में धीरे-धीरे हुआ है और संचय की इस क्रिया के दौरान बार-बार और बहुत बड़े-बड़े उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। मगर इस पूंजी के अलग-अलग संघटकों का संकेंद्रण उतनी ही ज्यादा तेज़ी से हुआ है। और उसमें निरपेक्ष ढंग की वृद्धि भले ही बहुत कम हुई हो ,पर देश की घटती हुई आबादी के अनुपात में वह बहुत बढ़ गयी है।

अतः यहां हम अपनी आंखों के सामने और बड़े पैमाने पर एक ऐसी प्रक्रिया को संपन्न होते हुए देखते हैं, जिससे बेहतर कोई चीज परंपरानिष्ठ अर्थशास्त्र को अपनी इस रूढ़ि के समर्थन के लिए नहीं मिल सकती थी कि ग़रीबी निरपेक्ष बेशी आबादी से उत्पन्न होती है और जब आबादी का एक हिस्सा उजड़ जाता है, तो संतुलन फिर ठीक हो जाता है। इस संबंध में आयरलैंड का यह प्रयोग १४वीं शताब्दी के मध्य के उस प्लेग से कहीं अधिक महत्त्व रखता है, जिसकी माल्यस के अनुयायी इतनी प्रशंसा किया करते हैं। यहां हम यह और बता दें कि केवल स्कूल-मास्टर जैसा भोलापन ही यह ग़लती कर सकता था कि १९वीं सदी की उत्पादन और आबादी की परिस्थितियों को १४वीं सदी के माप-दंड से मापे, लेकिन यह भोलापन तो इस बात को भी अनदेखा कर डालता है कि यदि प्लेग की महामारी और उसमें आबादी के नष्ट होने के बाद इंगलिश चैनेल के इस पार, इंगलैंड में, खेतिहर आबादी को मुक्तिदान प्राप्त हुआ था और उसकी समृद्धि बढ़ी थी, तो चैनेल के उस पार, फ़्रांस में, खेतिहर आबादी पहले ज़्यादा भयानक ग़ुलामी और ग़रीबी में फंस गयी थी।[186a]

[186a] आयरलैंड को "जनसंख्या सिद्धांत" की दृष्टि से एक आदर्श देश समझा जाता है। चुनांचे थ० सैडलर ने आबादी से संबंधित अपनी रचना प्रकाशित करने के पहले *Ireland,*

आयरलैंड के १८४६ के अकाल में १०,००,००० से अधिक लोग मारे गये, लेकिन सिर्फ़ ग़रीब लोग ही इस अकाल के शिकार हुए। देश के धन में उससे ज़रा भी कमी नहीं आयी। अगले बीस वर्षों में आबादी के बहिर्वाह से, जिसकी रफ़्तार अब भी बराबर बढ़ती ही जा रही है, तीस वर्ष के युद्ध की भांति मनुष्यों के साथ-साथ उनके उत्पादन के साधनों में कमी नहीं आयी। आयरलैंडवासियों की बुद्धि ने ग़रीब लोगों को अपने दुखी देश से उठाकर हज़ारों मील दूर ले जाने का एक बिल्कुल नया तरीक़ा खोज निकाला। आयरलैंड के जो लोग अमरीका में जाकर बस गये हैं, वे हर साल उन लोगों के सफ़र-ख़र्च के लिए रुपये भेजते हैं, जो आयरलैंड में छूट गये हैं। हर साल जो जत्था विदेश जाता है, वह अगले साल एक नये जत्थे को वहां खींचकर बुला लेता है। इस प्रकार उत्प्रवास के इस काम में आयरलैंड का एक पैसा भी ख़र्च नहीं होता; उल्टे वह उसके निर्यात-व्यापार की एक सबसे अधिक लाभदायक शाखा बन गया है। आख़िरी बात यह है कि यह सुनियोजित प्रक्रिया है, जिससे आबादी में केवल अस्थायी रूप से कमी नहीं आती, बल्कि हर साल जितने लोग नये पैदा होते हैं, उनसे अधिक लोग देश छोड़कर चले जाते हैं और इस तरह वर्ष प्रति वर्ष जनसंख्या का निरपेक्ष स्तर गिरता ही जाता है।[186B]

आयरलैंड के जो मज़दूर देश में ही रह गये और जो इस तरह बेशी आबादी के अभिशाप से मुक्त हो गये, उनपर इसका क्या असर पड़ा? यही कि आज भी आयरलैंड में सापेक्ष बेशी आबादी उतनी ही बड़ी है, जितनी १८४६ के पहले थी; मज़दूरी भी पहले की तरह ही कम मिलती है; हां, मज़दूरों पर अत्याचार बढ़ गया है और ग़रीबी के कारण देश में एक नया संकट पैदा हो रहा है। कारण बहुत सीधे-सादे हैं। उत्प्रवास के साथ-साथ खेती में क्रांति होती गयी है। जनसंख्या में जितनी निरपेक्ष ढंग की कमी आयी है, उससे अधिक सापेक्ष बेशी आबादी पैदा हो गयी है। तालिका (ग) पर नज़र डालिये, तो आप समझ जायेंगे कि खेती योग्य ज़मीन के चरागाहों में बदल दिये जाने का जितना असर इंगलैंड में हुआ है, उससे ज़्यादा असर आयरलैंड में हुआ होगा। इंगलैंड में पशुपालन के साथ-साथ हरी फ़सलों की खेती बढ़ती जाती है; आयरलैंड में वह घटती जाती है। एक तरफ़, बहुत सारी ज़मीन, जो पहले जोती-बोयी जाती थी, बेकार पड़ी है या स्थायी रूप से घास के मैदानों में बदल दी गयी है; दूसरी तरफ़, बहुत सी ऐसी बंजर और दलदली ज़मीन, जो पहले किसी काम में नहीं आती थी, अब पशुपालन का विस्तार करने के काम में आने लगी है। छोटे और मझोले काश्तकारों की संख्या – जो लोग १०० एकड़ से ज़्यादा की खेती नहीं करते, उन सबको मैं इसी श्रेणी में रखता हूं – अब भी काश्तकारों की कुल

---

its Evils and their Remedies (2nd Ed., London, 1829) नामक पुस्तक प्रकाशित की थी। इसमें अलग-अलग प्रांतों की और हर प्रांत की अलग-अलग काउंटियों की तुलना करके सैडलर ने यह साबित किया है कि आयरलैंड में ग़रीबी आबादी के अनुपात में नहीं बढ़ती, जैसा कि माल्थस का कहना है, बल्कि वह उसके प्रतिलोम अनुपात में घटती-बढ़ती है।

[186B] १८५१ से १८७४ तक कुल २३,२५,९२२ व्यक्ति आयरलैंड छोड़कर चले गये।

संख्या का $\frac{८}{१०}$ भाग है।[188c] पूंजी द्वारा संचालित खेती की प्रतियोगिता उनका एक-एक करके ऐसा बुरी तरह सत्यानाश करती है, जैसा इसके पहले कभी नहीं देखा गया था, और इसलिए इन लोगों में से मजदूरों के वर्ग को लगातार नये रंगरूट मिलते रहते हैं। आयरलैंड में बड़ा उद्योग एक है: सन का कपड़ा बनाने का उद्योग। उसके लिए अपेक्षाकृत कम संख्या में वयस्क पुरुषों की आवश्यकता होती है, और हालांकि १८६१-१८६६ में कपास के दाम बढ़ जाने के बाद इस उद्योग का काफ़ी विस्तार हो गया है, फिर भी इसमें कुल मिलाकर आबादी का एक अपेक्षाकृत महत्त्वहीन भाग काम करता है। आधुनिक ढंग के अन्य बड़े उद्योगों की तरह इस उद्योग में भी निरंतर उतार-चढ़ाव आता रहता है और उसके फलस्वरूप वह भी ख़ुद अपने क्षेत्र में लगातार बेशी आबादी उत्पन्न करता रहता है; इस उद्योग में काम करनेवालों की निरपेक्ष संख्या में जब वृद्धि होती है, तब भी सापेक्ष बेशी आबादी का उत्पादन नहीं रुकता। खेतिहर आबादी की ग़रीबी की बुनियाद पर क़मीजें बनानेवाले दैत्याकार कारख़ाने खड़े हो गये हैं, जिनके मजदूरों की विशाल सेनाएं आम तौर पर देहात में बिखरी रहती हैं। यहां फिर उपरिवर्णित घरेलू उद्योग की वह प्रणाली हमारे सामने आती है, जिस प्रणाली के कम मजदूरी देने और अत्यधिक काम लेने के रूप में फ़ालतू मजदूरों को पैदा करने के अपने सुनियोजित तरीक़े हैं। अंतिम बात यह है कि हालांकि आबादी के कम हो जाने का यहां उतना घातक प्रभाव नहीं होता है, जितना किसी पूर्णतया विकसित पूंजीवादी उत्पादन वाले देश में होता, फिर भी उसका घरेलू मंडी पर लगातार असर पड़ता है। यहां उत्प्रवास से जो कमी पैदा हो जाती है, वह न केवल श्रम की स्थानीय मांग को घटा देती है, बल्कि छोटे दूकानदारों, कारीगरों, व्यापारी-पेशा लोगों की आय को भी आम तौर पर सीमित कर देती है। यही कारण है कि तालिका (च) में ६० पाउंड और १०० पाउंड के बीच की आमदनियां कम हो गयी हैं।

आयरलैंड में खेतिहर मजदूरों की स्थिति का एक स्पष्ट चित्र आयरलैंड के ग़रीबों के क़ानून के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टों (१८७०) में मिलता है।[188d] ये इंस्पेक्टर एक ऐसी सरकार के कर्मचारी हैं, जो केवल संगीनों के बल पर और प्रकट अथवा अप्रकट आपात-स्थिति के जरिये क़ायम रहती है। इसलिए उन्हें अपनी भाषा में ऐसी हर प्रकार की सावधानी बरतनी पड़ती है, जिसे इंगलैंड के इंस्पेक्टर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। फिर भी वे अपनी सरकार को किसी प्रकार के भ्रम में नहीं रहने देते। उनका कहना है कि देहात में मजदूरी की दर, जो अब भी बहुत कम है, पिछले २० वर्षों में ५०-६० प्रतिशत बढ़ गयी

[188c] Murphy की रचना *Ireland Industrial, Political and Social* (1870) में दी गयी एक तालिका के अनुसार ९४.६ प्रतिशत जोतें १०० एकड़ तक नहीं पहुंचतीं, ५.४ प्रतिशत १०० एकड़ से ऊपर हैं।

[188d] *Reports from the Poor Law Inspectors on the Wages of Agricultural Labourers in Ireland*, Dublin, 1870. *Agricultural Labourers (Ireand). Return etc.*, 8th March 1861 (London, 1862) भी देखिये।

है और इस समय वह औसतन ६ शिलिंग से ९ शिलिंग तक प्रति सप्ताह है। लेकिन इस दिखावटी बढ़ती के पीछे असल में मजदूरी का गिराव छिपा हुआ है, क्योंकि इस बीच जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के दामों में जो उभार आ गया है, उसके मुक़ाबले में मजदूरी बहुत कम बढ़ी है। इसके सबूत में नीचे की तालिका में आयरलैंड के एक मुहताज-ख़ाने के सरकारी हिसाब का एक अंश देखिये:

प्रति व्यक्ति औसत साप्ताहिक ख़र्च

वर्ष समाप्त होने की तारीख़	खाने-पीने की वस्तुओं और अन्य आवश्यक वस्तुओं पर	कपड़ों पर	कुल जोड़
२९ सितंबर १८४९	१ शिलिंग ३$\frac{१}{४}$ पेंस	३ पेंस	१ शिलिंग ६$\frac{१}{४}$ पेंस
२९ सितंबर १८६९	२ शिलिंग ७$\frac{१}{४}$ पेंस	६ पेंस	३ शिलिंग १$\frac{१}{४}$ पेंस

इसलिए २० वर्ष पहले के मुक़ाबले में जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों का दाम दुगुने से भी अधिक और कपड़ों का दाम ठीक-ठीक दुगुना हो गया है।

इस असंतुलन के अलावा भी केवल नक़द मजदूरी की दरों की तुलना करने से भी एक ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है, जो पर्याप्त रूप से सही न हो। अकाल के पहले खेतिहर मजदूरों की मजदूरी ज्यादातर जिंस की शक्ल में दी जाती थी; केवल एक बहुत ही छोटा भाग नक़दी में दिया जाता था। आजकल नक़द मजदूरी देने का नियम है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि असल मजदूरी कुछ भी हो, नक़द मजदूरी में जरूर वृद्धि हुई होगी। "अकाल के पहले मजदूर ख़ुद अपने झोंपड़े में रहता था... जिसके साथ एक रूड या आधी एकड़ या एकड़ भर जमीन भी होती थी, और वह... उसपर आलू की कुछ फ़सल पैदा कर सकता था। वह सूअर पाल सकता था और मुर्ग़ियां रख सकता था... लेकिन अब मजदूरों को रोटी ख़रीदनी पड़ती है और उनके पास ऐसा कोई कूड़ा-करकट भी नहीं होता, जिसे वे सूअर या मुर्ग़ियों को खिला सकें, और इसलिए वे सूअर, मुर्ग़ी या अंडे बेचकर कुछ नहीं कमा सकते।"[187] असल में खेतिहर मजदूर पहले सबसे छोटे काश्तकारों के समान होते थे और मोटे तौर पर मझोले और बड़े फ़ार्मों के, जिनपर उनको काम मिल जाता था, पृष्ठदल का काम करते थे। यह बात तो केवल १८४६ की दुर्घटना के बाद ही देखने में आयी है कि ये लोग विशुद्ध रूप से मजदूरी करनेवालों के वर्ग का,

---

[187] *Reports from the Poor Law Inspectors on the Wages of Africultural Labourers in Ireland*, Dublin, 1870. *Agricultural Labourers (Ireland). Return etc.*, 8th March 1861 (London, 1862), pp 29, 1.

उस विशेष वर्ग का भाग बनते जा रहे हैं, जिसका मज़दूरी देनेवाले अपने मालिकों के साथ केवल मुद्रा का ही संबंध होता है।

हम जानते हैं कि १८४६ में उनके घरों की क्या हालत थी। तब से उनकी हालत और भी ख़राब हो गयी है। खेतिहर मज़दूरों का एक भाग, हालांकि उसकी संख्या दिन प्रति दिन कम होती जा रही है, आज भी काश्तकारों की ज़मीन पर बने हुए, भीड़ भरे उन घरों में रहता है, जिनकी भयानकता के सामने इंगलैंड के खेतिहर मज़दूरों के ख़राब घर भी अच्छे लगेंगे। और अलूस्टर के कुछ इलाक़ों को छोड़कर बाक़ी जगह आम तौर पर यही हालत है, जैसे दक्षिण की कॉर्क, लिमेरिक, किलकेन्नी, इत्यादि काउंटियों में; पूर्व में विकलो, वेक्सफ़ोर्ड, आदि में; आयरलैंड के मध्य में किंग्स एंड क्वीन्स काउंटी, डबलिन, आदि में; उत्तर में डौन, एन्ट्रीम, टिरोन, इत्यादि में; पश्चिम में स्लिगो, रोसकॉमन, मेयो, गैलवे, आदि में। एक इंस्पेक्टर ने लिखा है: "खेतिहर मज़दूरों के झोंपड़े ईसाइयत और इस देश की सभ्यता के माथे पर कलंक का टीका हैं।"[187a] इन दड़बों को मज़दूरों के लिए और भी आकर्षक बनाने के वास्ते, अति प्राचीन काल से उनके साथ जुड़े हुए ज़मीन के टुकड़ों को भी सुनियोजित ढंग से ज़ब्त कर लिया जाता है। "केवल इस विचार ने कि ज़मींदारों और उनके कारिंदों ने उनपर इस प्रकार का प्रतिबंध लगा रखा... मज़दूरों के दिमाग़ों में उन लोगों के विरुद्ध, जिनके बारे में उनका ख़याल है कि वे लोग मज़दूरों के साथ... एक ग़ुलाम नस्ल जैसा... व्यवहार करते हैं, विरोध और असंतोष की भावनाएं पैदा कर दी हैं।"[187b]

खेती में जो क्रांति हुई, उसने पहला काम यह किया कि श्रम के क्षेत्र में खड़े झोंपड़ों को नष्ट कर दिया। यह चीज़ बहुत ही बड़े पैमाने पर हुई, और इस तरह हुई, जैसे किसी ने ऊपर से इसका हुक्म दिया हो। चुनांचे बहुत से मज़दूरों को गांवों और शहरों में आश्रय खोजना पड़ा। वहां उनको कूड़े-करकट की तरह सबसे ज्यादा गंदे मुहल्लों की अटारियों, दड़बों, तहख़ानों और कोनों में भर दिया गया। यद्यपि अंग्रेज़ों का मस्तिष्क जातीय पूर्वाग्रहों से संकुचित रहता है, तथापि वे यह मानते हैं कि आयरलैंड के लोगों का अपने घर-द्वार से एक अजीब लगाव होता है और उनके घरेलू जीवन में एक उल्लेखनीय हर्षोत्फुल्लता तथा निर्मलता होती है। परंतु इन्हीं आयरलैंडवासियों के हज़ारों परिवारों को उनकी भूमि से उखाड़कर यकायक पाप की नगरी में बसा दिया गया। पुरुषों को पास-पड़ोस के फ़ार्मों पर काम तलाशना पड़ता है और उनको सिर्फ़ रोज़नदारी पर रखा जाता है, जिससे हमेशा काम छूट जाने का ख़तरा बना रहता है। चुनांचे "इन लोगों को काम करने के लिए कभी-कभी बहुत दूर पैदल चलकर जाना और वहां से लौटना पड़ता है, वे अकसर भीग जाते हैं, बहुत कष्ट उठाते हैं, और अंत में बहुधा इसका यह परिणाम होता है कि वे बीमार पड़ जाते हैं और उनको रोग तथा अभाव आ घेरते हैं।"[187c]

[187a] *Reports from the Poor Law Inspectors on the Wages of Agricultural Labourers in Ireland*, Dublin, 1870. *Agricultural Labourers (Ireland). Return etc.*, 8th March 1861 (London, 1962), p. 12.

[187b] l.c., p. 12.

[187c] l.c., p. 25.

"देहात में फ़ालतू समझे जानेवाले वर्ष प्रति वर्ष आकर क़स्बों में भर जाते हैं।"[187d] मगर फिर भी यह देखकर आश्चर्य होता है कि "क़स्बों और गांवों में अब भी मजदूरों का अतिरेक है, पर देहाती इलाक़ों में या तो मजदूरों की कमी है, या कमी होने की आशंका है।"[187e] सच तो यह है कि यह कमी केवल "फ़सल की कटाई के दिनों में, या वसंत में, या ऐसे समय" दिखायी देती है, "जब खेती के कामों में तेज़ी आ जाती है; वर्ष के बाक़ी महीनों में तो बहुत से मजदूर बेकार रहते हैं।"[187f] सचाई यह है कि "अक्तूबर के महीने से, जब कि आलू की मुख्य फ़सल खोदकर निकाली जाती है, अगले वसंत के शुरू होने तक... इन लोगों के लिए कोई काम नहीं रहता।"[187g] और जब खेती के कामों में तेज़ी आती है, तब भी उनको "खंडित दिन की प्रणाली के अनुसार काम करना पड़ता है और तरह-तरह के कारणों से उनका श्रम बीच में रुक-रुक जाता है।"[187h]

खेती की क्रांति के ये परिणाम – अर्थात् खेती योग्य ज़मीन का चरागाहों में बदल दिया जाना, मशीनों का प्रयोग करना, श्रम के उपयोग में हद से ज़्यादा मितव्ययिता बरतना, इत्यादि – उन आदर्श ज़मींदारों के कारण और भी उग्र रूप धारण कर लेते हैं, जो दूसरे देशों में जाकर लगान की अपनी आय फूंकने के बजाय आयरलैंड में अपनी ज़मींदारियों में ही रहने की कृपा करते हैं। इस दृष्टि से कि कहीं पूर्ति और मांग का नियम भंग न हो जाये, ये महानुभाव अपनी "श्रम-पूर्ति... मुख्यतया अपने छोटे किसानों से करते हैं, जिनको बहुधा मजदूरी की ऐसी दरों पर ज़मींदार के लिए काम करने के वास्ते हाज़िर हो जाना पड़ता है, जो अकसर साधारण मज़दूरों की मजदूरी की दरों से काफ़ी कम होती हैं, और जिनके बारे में इसका भी कोई ख़याल नहीं रखा जाता कि बुवाई या कटाई के नाज़ुक दिनों में ख़ुद अपना काम न कर पाने के कारण उनको क्या असुविधा या हानि होगी"।[187i]

रोज़गार पाने की अनिश्चितता और अनियमितता, बार-बार श्रम की मंडी में मजदूरों का आधिक्य हो जाना और इस स्थिति का बहुत देर तक बने रहना – बेशी आबादी के ये सारे लक्षण आयरलैंड के खेतिहर सर्वहारा की कठिनाइयों के रूप में ग़रीबों के क़ानून के इंस्पेक्टरों की रिपोर्टों में हमारे सामने आते हैं। पाठकों को याद होगा कि इंगलैंड के खेतिहर सर्वहारा के संबंध में भी हमने यही बात देखी थी। परंतु दोनों में अंतर यह है कि इंगलैंड एक औद्योगिक देश है, और वहां उद्योग-धंधों के मजदूरों की रिज़र्व सेना अपने रंगरूट देहाती इलाक़ों से भर्ती करती है, जब कि आयरलैंड एक खेतिहर देश है, और यहां खेतिहर मजदूरों की रिज़र्व सेना अपने रंगरूट शहरों और क़स्बों से भर्ती करती है, जहां निष्कासित खेतिहर मजदूर आश्रय

[187d] *Reports from the Poor Law Inspectors on the Wages of Agricultural Labourers in Ireland*, Dublin, 1870. *Agricultural Labourers (Ireland). Return etc.*, 8th March 1861 (London, 1862), p. 27.

[187e] l.c., p. 26.

[187f] l.c., p. 1.

[187g] l.c., pp. 31, 32.

[187h] l.c., p. 25.

[187i] l.c., p. 30.

लेते हैं। इंगलैंड में खेती के बेशी लोग फ़ैक्टरी-मजदूरों में बदल जाते हैं; आयरलैंड में खेती के जिन लोगों को शहरों में भगा दिया जाता है, वे शहरों के मजदूरों की मजदूरी की दर को तो नीचे गिरा देते हैं, पर ख़ुद खेतिहर मजदूर ही बने रहते हैं और सदा देहाती इलाक़ों में काम की तलाश किया करते हैं।

सरकारी इंस्पेक्टरों ने खेतिहर मजदूरों की भौतिक स्थिति का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है: "हद से ज्यादा कमखर्ची बरतते हुए भी उसकी अपनी मजदूरी एक साधारण परिवार का पेट भरने तथा घर का किराया देने के लिए मुश्किल से ही काफ़ी होती है, और उसे अपने वास्ते तथा अपने बीवी-बच्चों के वास्ते कपड़े बनवाने के लिए कोई और सहारा खोजना पड़ता है... इन लोगों को जो और कष्ट उठाने पड़ते हैं, उनके साथ मिलकर इन दड़बों के वातावरण ने इस पूरे वर्ग को इतना कमजोर बना दिया है कि टाइफ़स और फेफड़ों की तपेदिक़ उनको कभी भी आ घेरती हैं।"[187] तब क्या आश्चर्य है, यदि सभी इंस्पेक्टरों के कथनानुसार इस वर्ग की पांतों में एक चिंताजनक असंतोष फैला हुआ है, ये लोग सदा बीते हुए दिनों की याद किया करते हैं, वर्तमान से घृणा करते हैं और भविष्य के बारे में सर्वथा निराश हो गये हैं, "प्रचारकों के कुप्रभाव" में आ जाते हैं, और अब उनके दिमाग़ में सदा एक ही विचार घूमता रहता है, और वह यह कि किसी तरह अपना देश छोड़कर अमरीका चले जायें। माल्थस की उस महान सर्वदु:खहारी औषधि ने – आबादी के उजड़ने की दवा ने – एरिन [आयरलैंड] के हरित द्वीप को आलस्य और भोग-विलास के ऐसे कल्पना-लोक में परिणत कर डाला है।

आयरलैंड का फ़ैक्टरी-मजदूर कैसा सुखी जीवन बिताता है, यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। अंग्रेज फ़ैक्टरी-इंस्पेक्टर रॉबर्ट बेकर ने लिखा है: "हाल में मैंने उत्तरी आयरलैंड की यात्रा की, तो वहां के एक कुशल मजदूर ने अपने बच्चों को शिक्षा देने की क्या-क्या कोशिशें की हैं, उसके बारे में मुझे कुछ जानकारी प्राप्त हुई। इस मजदूर ने जो कुछ कहा, मैं उसे ज्यों का त्यों उद्धृत किये दे रहा हूं। वह कुशल फ़ैक्टरी-मजदूर था, यह इस बात से प्रमाणित हो जाता है कि उससे मैंचेस्टर की मंडी के वास्ते सामान तैयार करवाया जाता था। इस व्यक्ति ने, जिसका नाम जॉनसन था, मुझे यह कुछ बताया: 'मैं बीटलर हूं और सोमवार से शुक्रवार तक सुबह के ६ बजे से रात के ११ बजे तक काम करता रहता हूं। शनिवार को शाम को ६ बजे काम बंद हो जाता है और तीन घंटे खाने और आराम करने के लिए मिल जाते हैं। मेरे कुल पांच बच्चे हैं। इस काम के लिए मुझे १० शिलिंग ६ पेंस प्रति सप्ताह मिलते हैं। मेरी पत्नी भी उसी कारख़ाने में काम करती है; वह ५ शिलिंग प्रति सप्ताह पाती है। सबसे बड़ी लड़की, जिसकी उम्र १२ वर्ष है, घर की देखभाल करती है। खाना भी वही पकाती है और घर का सारा काम करती है। वही बच्चों को स्कूल जाने के लिए तैयार करती है। एक लड़की, जो इस समय हमारे मकान के पास से गुजरती है, सुबह को साढ़े पांच बजे मुझे जगा देती है। मेरी पत्नी भी मेरे साथ ही जाग जाती है और मेरे साथ ही कारख़ाने चली आती है। काम पर आने के पहले हम लोगों को खाने को कुछ नहीं मिलता। १२ वर्ष की बच्ची दिन भर छोटे बच्चों को संभालती है। और हम लोग सुबह का नाश्ता ८ बजे करते हैं। ८ बजे हम घर चले आते हैं। सप्ताह में एक बार हमें चाय मिल जाती है। बाक़ी रोज

[187] l.c., pp. 21,13.

हम लपसी खाते हैं, कभी जई के ग्राटे की, कभी मक्का के ग्राटे की, – जब जो चीज़ मिल जाये। जाड़ों में हम मक्का के ग्राटे की ग्रपनी लपसी में थोड़ी शक्कर ग्रौर पानी मिला लेते हैं। गरमियों में हमें कुछ ग्रालू मिल जाते हैं, जो हमने ज़मीन के एक छोटे से टुकड़े में ख़ुद लगाये होते हैं। जब ग्रालू ख़त्म हो जाते हैं, तो हम फिर लपसी खाना शुरू कर देते हैं। कभी-कभी संभव हुग्रा, तो थोड़ा सा दूध मिल जाता है। चाहे रविवार हो, चाहे कोई ग्रौर दिन हो, बारहों महीने हमारे जीवन का क्रम इसी तरह चलता रहता है। मैं रात को जब काम ख़त्म करके घर लौटता हूं, तो हमेशा बहुत थका हुग्रा होता हूं। कभी-कभार हमें ज़रा से मांस के भी दर्शन हो जाते हैं, लेकिन ऐसा दिन बड़ा दुर्लभ होता है। हमारे तीन बच्चे स्कूल जाते हैं, जिनकी फ़ीस हमें हर सप्ताह १ पेनी प्रति बच्चा देनी पड़ती है। मकान का किराया ६ पेंस प्रति सप्ताह है। ग्राग जलाने के लिए पीट पर बहुत कम करने पर भी दो हफ़्ते में १ शिलिंग ६ पेंस तो ख़र्च हो ही जाते हैं।"[188] ऐसी है ग्रायरलैंड के मज़दूरों की मज़दूरी ग्रौर ऐसा है उनका जीवन!

ग्रसल में ग्राजकल ग्रायरलैंड की ग़रीबी एक बार फिर इंगलैंड में लोगों की चर्चा का विषय बन गयी है। १८६६ के ग्रंत में ग्रौर १८६७ के ग्रारंभ में ग्रायरलैंड के एक बड़े भूस्वामी, लॉर्ड डफ़रिन ने *The Times* में इस समस्या का एक हल सुझाने का प्रयत्न किया था। "Wie menschlich von solch grossem Herrn!" ["इतने बड़े ग्रादमी ने कितनी उदारता दिखायी है!"]

तालिका (च) में हमने देखा था कि १८६४ में ४३,६८,६१० पाउंड के कुल मुनाफ़े में से बेशी मूल्य बनानेवाले केवल तीन व्यक्तियों को २,६२,८१९ पाउंड मिले थे, लेकिन १८६५ में ४६,६६,९७९ पाउंड के कुल मुनाफ़े में से "परिवर्जन" की कला के ये ही तीन महान ग्राचार्य २,७४,५२८ पाउंड मार ले गये; १८६४ में बेशी मूल्य कमानेवाले २६ व्यक्तियों ने ६,४६,३७७ पाउंड कमाये थे; १८६५ में २८ ने ७,३६,४४८ पाउंड कमाये; १८६४ में बेशी मूल्य कमानेवाले १२१ व्यक्तियों ने १०,७६,९१२ पाउंड कमाये थे; १८६५ में १५० ने १३,२०,९०६ पाउंड कमाये; १८६४ में बेशी मूल्य कमानेवाले १,१३१ व्यक्तियों ने २१,५०,८१८ पाउंड कमाये थे, जो साल भर के मुनाफ़ों की कुल रक़म का लगभग ग्राधा होते थे; १८६५ में बेशी मूल्य कमानेवाले १,१९४ व्यक्तियों ने २४,१८,८३३ पाउंड कमाये, जो साल भर के मुनाफ़ों की कुल रक़म का ग्राधे से ज्यादा होते थे। लेकिन इंगलैंड, स्कॉटलैंड ग्रौर ग्रायरलैंड के मुट्ठी भर बड़े भूस्वामी वार्षिक राष्ट्रीय ग्राय का इतना बड़ा भाग निगल जाते हैं कि दूरदर्शी ग्रंग्रेज़ी राज्य यह ठीक नहीं समझता कि लगान की ग्राय के वितरण के बारे में भी उसी प्रकार के ग्रांकड़े प्रकाशित किये जायें, जिस प्रकार के ग्रांकड़े मुनाफ़ों के वितरण के बारे में प्रकाशित किये जाते हैं। इन बड़े भूस्वामियों में से एक लॉर्ड डफ़रिन भी हैं। लगान की दर या मुनाफ़े भी कभी "बहुत ऊंचे" हो सकते हैं या उनके ग्राधिक्य का जनता की ग़रीबी के ग्राधिक्य से कोई संबंध हो सकता है – यह एक ऐसा विचार है, जो जितना "ग़लत" है, उतना ही "बदनाम" भी है। इसलिए लॉर्ड डफ़रिन ग्रपने को तथ्यों तक सीमित रखते हैं। तथ्य यह है कि ग्रायरलैंड की ग्राबादी जैसे-जैसे कम होती जाती है, वैसे-वैसे वहां की जमाबंदी फूलती जाती है। तथ्य यह है कि ग्राबादी के उजड़ने से ज़मींदारों का लाभ होता है ग्रौर इसलिए उससे भूमि को भी लाभ

---

[188] *Reports of Insp. of Fact. for 31st October 1866*, p. 96.

होता है, और जनता चूंकि भूमि का उपांग है, इसलिए उससे जनता को भी लाभ होता है। चुनांचे लॉर्ड डफ़रिन फ़रमाते हैं कि आयरलैंड की आबादी अब भी जरूरत से ज्यादा है और बहिर्गमन या परावास की धारा अभी भी बहुत धीरे-धीरे बह रही है। पूर्णतया सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए आयरलैंड को तीन लाख से कुछ अधिक श्रमजीवियों को अभी कहीं भेज देना पड़ेगा। कोई आदमी यह न समझे कि लॉर्ड डफ़रिन, जिनकी कल्पना-शक्ति तो कवयोचित है ही, सांग्रेडो संप्रदाय के डाक्टर हैं, जो जब कभी उसका कोई बीमार अच्छा नहीं होता था, तो उसकी फ़सद खोल देता था और उस वक़्त तक बराबर नश्तर लगाता जाता था, जब तक कि बीमार अपने ख़ून के साथ-साथ अपनी बीमारी से भी छुटकारा नहीं पा जाता था। नहीं, लॉर्ड डफ़रिन तो सिर्फ़ यह चाहते हैं कि एक बार और नश्तर लगाकर दस लाख में से केवल एक तिहाई को कहीं रवाना कर दिया जाये। वह यह थोड़ा ही चाहते हैं कि लगभग तीन लाख को निकाल बाहर किया जाये, हालांकि असल में बीस लाख को निकाले बिना आयरलैंड में स्वर्ग की स्थापना नहीं की जा सकती। इसका प्रमाण देना बहुत सहज है।

१८६४ में आयरलैंड में फ़ार्मों की संख्या और विस्तार

(१) १ एकड़ से कम के फ़ार्म		(२) १ एकड़ से ५ एकड़ तक के फ़ार्म		(३) ५ एकड़ से ऊपर, पर १५ एकड़ तक के फ़ार्म		(४) १५ एकड़ से ऊपर, पर ३० एकड़ तक के फ़ार्म	
संख्या	एकड़	संख्या	एकड़	संख्या	एकड़	संख्या	एकड़
४८,६५३	२५,३९४	८२,०३७	२,८८,९१६	१,७६,३६८	१८,३६,३१०	१,३६,५७८	३०,५१,३४३

(५) ३० एकड़ से ऊपर, ५० एकड़ तक के फ़ार्म		(६) ५० एकड़ से ऊपर, पर १०० एकड़ तक के फ़ार्म		(७) १०० एकड़ से ऊपर के फ़ार्म		(८) कुल रक़बा
संख्या	एकड़	संख्या	एकड़	संख्या	एकड़	एकड़
७१,९६१	२९,०६,२७४	५४,२४७	३९,८३,८८०	३१,९२७	८२,२७,८०७	२,६३,१९,९२४ [188a]

१८५१ से १८६१ तक केंद्रीयकरण ने प्रधानतया पहली तीन कोटियों के—अर्थात् १५ एकड़ तक के—फ़ार्मों को नष्ट कर डाला। सबसे पहले उनका ख़ात्मा ज़रूरी था। उसके फलस्वरूप ३,०७,०५८ काश्तकार "फ़ालतू" हो गये, और यदि एक परिवार में केवल चार व्यक्ति के आधार पर भी हिसाब लगाया जाये, तो कुल १२,२८,२३२ व्यक्ति "फ़ालतू" हो गये। यदि हम बहुत बढ़ा-चढ़ाकर यह मान लें कि खेती में क्रांति पूरी हो जाने के बाद इनमें से एक चौथाई को फिर काम मिल जायेगा, तो भी ९,२१,१७४ व्यक्ति बच जाते हैं, जिनको देश छोड़कर चले जाना पड़ेगा। जैसा कि इंगलैंड में बहुत दिनों से लोग जानते हैं, १५ एकड़ से ऊपर,

---

[188a] कुल क्षेत्रफल में पीट वाले दलदल और बंजर जमीन भी शामिल है।

पर १०० एकड़ तक की चौथी, पांचवीं और छठी कोटियां अनाज की पूंजीवादी खेती के लिए बहुत छोटी हैं और उनपर भेड़ पालना भी अब लगभग बंद होता जा रहा है। इसलिए पूर्वोक्त मान्यता के आधार पर और ७,८८,७६१ व्यक्तियों को आयरलैंड छोड़कर चले जाना पड़ेगा। इस तरह कुल १७,०६,५३२ व्यक्तियों को देश से निकालना पड़ेगा। और चूंकि l'appétit vient en mangeant [भूख खाने के साथ बढ़ती जाती है], इसलिए आयरलैंड की आबादी के ३५ लाख हो जाने पर भी भूस्वामियों को ख़याल आयेगा कि यह देश अभी तक दुखी रहता है, और यह इसीलिए कि उसकी आबादी ज़रूरत से ज़्यादा है; और इसलिए वे कहेंगे कि आयरलैंड की आबादी को कम करने का काम जारी रहना चाहिए, ताकि यह देश अपनी सच्ची भूमिका अदा कर सके और इंगलैंड के लिए भेड़ों और पशुओं की चरागाह का काम कर सके।[188b]

इस निकम्मी दुनिया में जितनी अच्छी चीज़ें हैं, उन सबमें कुछ न कुछ बुराई तो होती ही है। सो इस लाभदायक पद्धति में भी कुछ त्रुटियां हैं। यदि आयरलैंड में लगान चढ़ता जाता

[188b]इस ग्रंथ के तीसरे खंड के भूसंपत्ति वाले अनुभाग में मैं अधिक विस्तार के साथ यह बताऊंगा कि अलग-अलग ज़मींदारों और इंगलैंड की संसद, दोनों ने खेती की क्रांति को ज़बर्दस्ती पूरा करने के लिए तथा आयरलैंड की आबादी को घटाकर ज़मींदारों के मनपसंद स्तर पर ले आने के लिए किस तरह ख़ूब समझ-बूझकर अकाल तथा उसके परिणामों से अधिक से अधिक लाभ उठाया था। वहां मैं छोटे काश्तकारों और खेतिहर मज़दूरों की हालत की भी एक बार फिर चर्चा करूंगा। इस समय केवल एक उद्धरण और देना काफ़ी होगा। नस्साउ डब्ल्यू० सीनियर ने अपनी निधनोत्तर प्रकाशित रचना *Journals, Conversations and Essays Relating to Ireland* (2 Vols., London, 1868; Vol. II, p. 282) में अन्य बातों के अलावा यह भी लिखा है: "'हां,'—डाक्टर जी० ने कहा,— 'हमारे यहां ग़रीबों का क़ानून भी है, जिससे ज़मींदारों को बड़ी भारी मदद मिलती है। उनकी सहायता के लिए एक और तथा ज़्यादा शक्तिशाली साधन उत्प्रवास है... आयरलैंड का हितैषी कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहेगा कि'" (ज़मींदारों और छोटे केल्टिक काश्तकारों के बीच) "'यह युद्ध लंबा खिंच जाये, और यह तो कोई और भी कम चाहेगा कि इस युद्ध में काश्तकारों की जीत हो... जितनी जल्दी यह युद्ध समाप्त हो जायेगा—जितनी जल्दी आयरलैंड चरागाहों का देश बन जायेगा और जितनी जल्दी उसकी आबादी सिर्फ़ इतनी रह जायेगी, जितनी चरागाहों के एक देश की होनी चाहिए, उतना ही सब वर्गों का भला होगा।'" १८१५ में इंगलैंड में जो अनाज-क़ानून बनाये गये थे, उनसे आयरलैंड को ब्रिटेन को स्वतंत्रतापूर्वक अनाज निर्यात करने का एकाधिकार मिल गया था। इसलिए इन क़ानूनों से अनाज की खेती को बनावटी ढंग का बढ़ावा मिला था। १८४६ में अनाज-क़ानूनों को रद्द करके अकस्मात् इस एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया। अन्य तमाम कारणों के अलावा अकेली यह घटना ही आयरलैंड की खेती योग्य ज़मीन को चरागाहों में बदलने की क्रिया को, फ़ार्मों के संकेंद्रण की क्रिया को और छोटे कृषकों की बेदख़लियों को ज़बर्दस्त बढ़ावा देने के लिए काफ़ी थी। १८१५ से १८४६ तक आयरलैंड की भूमि की उर्वरता की प्रशंसा करने और यह घोषित करने के बाद कि स्वयं प्रकृति ने इस भूमि को गेहूं की खेती करने के लिए बनाया है, इंगलैंड के कृषि-वैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने अकस्मात् यह आविष्कार किया कि आयरलैंड की भूमि तो चारा पैदा करने के सिवा और किसी काम की नहीं है। इंग्लिश चैनेल के उस पार मोसिये लेओंस दे लावेर्ने ने यही बात दुहराने में बड़ी मुस्तैदी दिखायी है। लावेर्ने जैसा कोई "गंभीर" व्यक्ति ही इस बकवास के भुलावे में आ सकता है।

है, तो उधर अमरीका में आइरिश लोगों की संख्या भी उसी गति से बढ़ती जाती है। भेड़ों और बैलों ने जिसे जलावतन कर दिया है, वह आइरिश मानव महासागर के दूसरे किनारे पर आयरलैंड की अंग्रेज़ी सरकार का तख़्ता उलटने के लिए संघर्ष करनेवाली फ़ेनियन लीग के सदस्य के रूप में प्रकट होता है, और समुद्रों की बुढ़िया रानी – बरतानिया – के मुक़ाबले में एक महान तरुण प्रजातंत्र अधिकाधिक भयावह रूप धारण करता जाता है :

दुर्भाग्य रोमनों का पीछा कर रहा है,
उन्होंने भ्रातृ-हत्या का पाप किया है।

भाग ८

तथाकथित ग्रादिम संचय

ग्रध्याय २६

ग्रादिम संचय का रहस्य

हम यह देख चुके हैं कि द्रव्य किस तरह पूंजी में बदल दिया जाता है, किस तरह पूंजी से बेशी मूल्य पैदा किया जाता है ग्रौर फिर बेशी मूल्य से किस तरह ग्रौर पूंजी बना ली जाती है। लेकिन पूंजी का संचय होने के लिए बेशी मूल्य का पैदा होना ग्रावश्यक है, बेशी मूल्य पैदा होने के लिए पूंजीवादी उत्पादन का होना ज़रूरी है ग्रौर पूंजीवादी उत्पादन के ग्रस्तित्व में ग्राने के लिए ग्रावश्यक है कि पण्यों के उत्पादकों के हाथों में पूंजी ग्रौर श्रम-शक्ति की काफ़ी बड़ी राशियां पहले से मौजूद हों। इसलिए ऐसा लगता है, जैसे यह पूरी क्रिया एक ग्रपचक्र के भीतर चलती रहती है, जिससे बाहर निकलने का केवल एक यही रास्ता है कि हम यह मान लें कि पूंजीवादी संचय के पहले ग्रादिम संचय (जिसे ऐडम स्मिथ ने "previous accumulation" ["पूर्वकालिक संचय"] कहा है) हुग्रा था, यानी कभी एक ऐसा संचय हुग्रा था, जो उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का परिणाम नहीं था, बल्कि उसका प्रस्थान-बिंदु था।

यह ग्रादिम संचय राजनीतिक ग्रर्थशास्त्र में लगभग वही भूमिका ग्रदा करता है, जो धर्मशास्त्र में मूल पाप ग्रदा करता है। ग्रादम ने सेब को चखा, इस कारण मनुष्यजाति पाप के पंक में फंस गयी। उसकी व्युत्पत्ति बीते हुए ज़माने की एक कथा सुनाकर स्पष्ट कर दी जाती है। इसी तरह हमसे कहा जाता है कि बहुत-बहुत दिन बीते दुनिया में दो तरह के ग्रादमी थे। एक ग्रोर, कुछ चुने हुए लोग थे, जो परिश्रमी थे, बुद्धिमान थे, ग्रौर सबसे बड़ी बात यह कि मितव्ययी थे। दूसरी ग्रोर थे काहिल ग्रौर बदमाश, जो ग्रपना सारा सत्व भोग-विलास ग्रौर दुराचरण में लुटाये दे रहे थे। धर्मशास्त्र का मूल पाप हमें यह निश्चित रूप से बता देता है कि ग्रादमी को रोटी पाने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक क्यों करना पड़ता है। लेकिन ग्रर्थशास्त्र के मूल पाप का इतिहास हमें बताता है कि कुछ ऐसे लोग भी क्यों होते हैं, जिनके लिए रोटी पाने के लिए मेहनत करना ग्रावश्यक नहीं है। ख़ैर, जाने दीजिये। सो, इस तरह पहली क़िस्म के लोगों ने धन संचय कर लिया ग्रौर दूसरी क़िस्म के लोगों के पास ग्रंत में ग्रपनी खाल के सिवा कुछ भी बेचने के लिए नहीं बचा। ग्रौर इसी मूल पाप का यह नतीजा हुग्रा कि दुनिया में ज्यादातर ग्रादमी ग़रीब हैं ग्रौर दिन-रात मेहनत करने के बावजूद ग्राज भी उनके पास बेचने के लिए ग्रपने तन के सिवा ग्रौर कुछ नहीं है। ग्रौर यही कारण है कि थोड़े से लोगों के पास सारा धन है, ग्रौर हालांकि इन लोगों ने बहुत दिन पहले काम करना बंद कर दिया था, पर फिर भी यह धन बराबर बढ़ता ही जाता है। संपत्ति की हिमायत में हमें हर रोज़ इस तरह की नीरस ग्रौर बचकाना बकवास सुनायी जाती है। मिसाल के लिए, मो-

सिये थियेर में इतना आत्मविश्वास था कि उन्होंने एक राजनेता के समस्त गांभीर्य के साथ उस फ़्रांसीसी क़ौम के सामने यह बात दुहरायी थी, जो किसी समय एक बड़ी प्रतिभाशाली क़ौम थी। लेकिन जैसे ही कहीं पर संपत्ति का सवाल उठ खड़ा होता है, वैसे ही यह घोषणा करना हरेक आदमी का पुनीत कर्तव्य बन जाता है कि शिशु का बौद्धिक भोजन ही हर आयु और विकास की प्रत्येक अवस्था में मनुष्य की सबसे अच्छी ख़ुराक होता है। यह बात सर्वविदित है कि वास्तविक इतिहास में देश जीतने, दूसरों को ग़ुलाम बनाने, डाकाज़नी, हत्या और संक्षेप में कहें, तो बल-प्रयोग की प्रमुख भूमिका है। लेकिन राजनीतिक अर्थशास्त्र के मधुर इतिहास में बाबा आदम के ज़माने से केवल सुंदर बातों की ही चर्चा है। उसके अनुसार तो सदा केवल अधिकार और "श्रम" से ही धन एकत्रित हुआ है। हां, "चालू साल" की बात हमेशा दूसरी रहती है। किंतु सच्ची बात यह है कि आदिम संचय जिन तरीक़ों से हुआ है, वे और कुछ भी हों, सुंदर हरगिज़ नहीं थे।

जिस तरह उत्पादन के साधन तथा जीवन-निर्वाह के साधन ख़ुद अपने में पूंजी नहीं होते, उसी तरह द्रव्य और पण्य भी ख़ुद अपने में पूंजी नहीं होते। उनको तो पूंजी में रूपांतरित करना पड़ता है। परंतु यह रूपांतरण ख़ुद केवल कुछ विशेष प्रकार की परिस्थितियों में ही हो सकता है। इन परिस्थितियों की केंद्रीय बात यह है कि दो बहुत भिन्न प्रकार के पण्यों के मालिकों को एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़ा होना चाहिए और एक दूसरे के संपर्क में आना चाहिए। एक तरफ़, होने चाहिए द्रव्य, उत्पादन के साधनों और जीवन-निर्वाह के साधनों के मालिक, जो दूसरों की श्रम-शक्ति को ख़रीदकर अपने मूल्यों की राशि को बढ़ाने के लिए उत्सुक हों। दूसरी तरफ़, होने चाहिए स्वतंत्र मज़दूर, जो ख़ुद अपनी श्रम-शक्ति बेचते हों और इसलिए जो श्रम बेचते हों। इन मज़दूरों को इस दोहरे अर्थ में स्वतंत्र होना चाहिए कि वे न तो दासों, कृषिदासों, आदि की भांति ख़ुद उत्पादन के साधनों का एक अंश हों और न ही ख़ुद अपनी ज़मीन जोतनेवाले किसानों की भांति उत्पादन के साधन उनकी संपत्ति हों। इसलिए वे उत्पादन के हर प्रकार के साधनों से बिल्कुल मुक्त होते हैं, और उनके सिर पर किसी भी प्रकार के ख़ुद अपने उत्पादन के साधनों का बोझा नहीं होता। पण्यों की मंडी में इस प्रकार का ध्रुवण हो जाने पर पूंजीवादी उत्पादन के लिए आवश्यक मूलभूत परिस्थितियां तैयार हो जाती हैं। पूंजीवादी उत्पादन के लिए यह आवश्यक होता है कि मज़दूर जिन साधनों के द्वारा अपने श्रम को मूर्त रूप दे सकते हैं, उनपर मज़दूरों का तनिक भी स्वामित्व न रहे और इस प्रकार के स्वामित्व से मज़दूरों का बिल्कुल अलगाव हो जाये। जब एक बार पूंजीवादी उत्पादन अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है, तो फिर वह न सिर्फ़ इस अलगाव को क़ायम रखता है, बल्कि उसका बढ़ते हुए पैमाने पर लगातार पुनरुत्पादन करता जाता है। इसलिए पूंजीवादी व्यवस्था के वास्ते रास्ता तैयार करनेवाली प्रक्रिया केवल वही प्रक्रिया है, जो मज़दूर से उसके उत्पादन के साधनों का स्वामित्व छीन ले, जो एक ओर तो जीवन-निर्वाह और उत्पादन के सामाजिक साधनों को पूंजी में और दूसरी ओर, प्रत्यक्ष उत्पादकों को मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों में बदल डाले। अत: तथाकथित आदिम संचय उत्पादक को उत्पादन के साधनों से अलग कर देने की ऐतिहासिक प्रक्रिया के सिवा और कुछ नहीं है। वह आदिम प्रक्रिया इसलिए प्रतीत होती है कि वह पूंजी और तदनुरूप उत्पादन-प्रणाली के प्रागैतिहासिक काल की अवस्था होती है।

पूंजीवादी समाज का आर्थिक ढांचा सामंती समाज के आर्थिक ढांचे में से निकला है। जब

सामंती समाज का आर्थिक ढांचा छिन्न-भिन्न हो जाता है, तो पूंजीवादी ढांचे के तत्त्व उन्मुक्त हो जाते हैं।

प्रत्यक्ष उत्पादक, या मज़दूर, केवल उसी समय अपनी देह को बेच सकता था, जब वह धरती से न बंधा हो और किसी अन्य व्यक्ति का दास या कृषिदास न हो। इसके अलावा श्रम-शक्ति का स्वतंत्र विक्रेता बनने के लिए, जो जहां श्रम-शक्ति की मांग हो, वहीं पर उसे बेच सके, यह भी आवश्यक था कि मज़दूर को शिल्पी संघ के शासन से, शागिर्द मज़दूरों तथा मज़दूर-कारीगरों के लिए बनाये गये शिल्पी संघों के नियमों से और उनके श्रम के क़ायदों की रुकावटों से मुक्ति मिल गयी हो। अतः वह ऐतिहासिक प्रक्रिया, जो उत्पादकों को मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों में बदल देती है, एक ओर तो इन लोगों को कृषिदास-प्रथा से तथा शिल्पी संघों के बंधनों से आज़ाद कराने की प्रक्रिया प्रतीत होती है, और हमारे बुर्जुआ इतिहासकारों को उसका केवल यही पहलू नज़र आता है। लेकिन दूसरी ओर, इस तरह जिन लोगों को नयी स्वतंत्रता मिलती है, वे केवल उसी हालत में ख़ुद अपने विक्रेता बनते हैं, जब पहले उत्पादन के सारे साधन उनसे छीन लिये जाते हैं और पुरानी सामंती व्यवस्था के अंतर्गत उनको जीवन-निर्वाह की जितनी प्रतिभूतियां मिली हुई थीं, उन सबसे वे वंचित कर दिये जाते हैं। और इस प्रक्रिया की, इस संपत्तिहरण की कहानी मनुष्यजाति के इतिहास में रक्तरंजित एवं आग्नेय अक्षरों में लिखी हुई है।

उधर इन नये शक्तिमानों को, औद्योगिक पूंजीपतियों को, न केवल दस्तकारियों के शिल्पी संघों के उस्तादों को विस्थापित करना था, बल्कि धन के स्रोतों के स्वामी, सामंती प्रभुओं का स्थान भी छीनना था। इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि औद्योगिक पूंजीपतियों को सामंती प्रभुओं तथा उनके घिनौने विशेषाधिकारों के विरुद्ध और शिल्पी संघों तथा उत्पादन के स्वतंत्र विकास एवं मनुष्य द्वारा मनुष्य के स्वच्छंद शोषण पर इन संघों द्वारा लगाये गये प्रतिबंधों के विरुद्ध सफलतापूर्वक संघर्ष करके सामाजिक सत्ता प्राप्त हुई है। लेकिन उद्योग के धनी सरदारों को तलवार के धनी सरदारों का स्थान छीन लेने में यदि सफलता मिली, तो केवल इसलिए कि उन्होंने कुछ ऐसी घटनाओं से लाभ उठाया, जिनके लिए वे क़तई ज़िम्मेदार नहीं थे। उन्होंने ऊपर उठने के लिए उतने ही घटिया हथकंडों का प्रयोग किया, जितने घटिया हथकंडों का प्रयोग किसी ज़माने में रोम के मुक्त दासों ने अपने स्वामियों का स्वामी बनने के लिए किया था।

जिस विकासक्रम के फलस्वरूप मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूर और पूंजीपति दोनों का जन्म हुआ है, उसका प्रस्थान-बिंदु मज़दूर की ग़ुलामी था। प्रगति इस बात में हुई थी कि इस ग़ुलामी का रूप बदल गया था और सामंती शोषण पूंजीवादी शोषण में रूपांतरित हो गया था। इस विकासक्रम को समझने के लिए हमें बहुत पीछे जाने की ज़रूरत नहीं है। यद्यपि पूंजीवादी उत्पादन की शुरुआत के कुछ स्वतःस्फूर्त प्रारंभिक चिह्न हमें इक्के-दुक्के ढंग से भूमध्यसागर के कुछ नगरों में १४वीं या १५वीं शताब्दी में भी मिलते हैं, तथापि पूंजीवादी युग का श्रीगणेश १६वीं शताब्दी से ही हुआ है। पूंजीवाद केवल उन्हीं स्थानों में प्रकट होता है, जहां कृषिदास-प्रथा बहुत दिन पहले समाप्त कर दी गयी है और जहां मध्ययुगीन विकास की सर्वोच्च देन, प्रभुसत्तासंपन्न नगर काफ़ी समय से पतनोन्मुख अवस्था में हैं।

आदिम संचय के इतिहास में ऐसी तमाम क्रांतियां युगांतरकारी होती हैं, जो विकासमान पूंजीपति वर्ग के लिए लीवर का काम करती हैं। सबसे अधिक यह बात उन क्षणों के लिए सच है, जब बड़ी संख्या में मनुष्यों को यकायक और ज़बर्दस्ती उनके जीवन-निर्वाह के साधनों

से अलग कर दिया जाता है और स्वतंत्र एवं "अनाश्रित" सर्वहारा के रूप में श्रम की मंडी में फेंक दिया जाता है। इस पूरी प्रक्रिया का आधार है खेतिहर उत्पादक – किसान – की जमीन का उससे छीन लिया जाना। इस भूमिहरण का इतिहास अलग-अलग देशों में अलग-अलग रूप धारण करता है और हर जगह एक भिन्न क्रम में तथा भिन्न कालों में अपनी अनेक अवस्थाओं में से गुजरता है। किंतु उसका सबसे ठेठ रूप केवल इंगलैंड में देखने को मिलता है, जिसको हम यहां मिसाल की तरह पाठकों के सामने पेश करेंगे।[189]

[189]इटली में, जहां पूंजीवादी उत्पादन सबसे पहले शुरू हुआ था, कृषिदास-प्रथा भी अन्य स्थानों की अपेक्षा पहले छिन्न-भिन्न हो गयी थी। भूमि पर कोई रूढ़िगत अधिकार प्राप्त करने के पहले ही वहां का कृषिदास मुक्त कर दिया गया था। वह मुक्त हुआ, तो तुरंत ही स्वतंत्र सर्वहारा में बदल गया और वह भी एक ऐसे सर्वहारा में, जिसका मालिक उन शहरों में बैठा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था, जो प्रायः रोमन काल से विरासत में मिले थे। जब १५ वीं शताब्दी के लगभग आख़िर में दुनिया की मंडी में क्रांति आयी और उसने वाणिज्य के क्षेत्र में उत्तरी इटली की श्रेष्ठता का अंत कर दिया, तो एक उल्टा विकासक्रम आरंभ हुआ। तब शहरों के मजदूरों को बड़ी संख्या में गांवों में खदेड़ दिया गया, और उससे बाग़बानी के ढंग की छोटे पैमाने की खेती को अभूतपूर्व प्रोत्साहन मिला।

अध्याय २७

खेतिहर आबादी की जमीनों का अपहरण

इंगलैंड में १४वीं शताब्दी के अंतिम भाग में कृषिदास-प्रथा का वस्तुतः अंत हो गया था। उस समय – और १५वीं शताब्दी में तो और अधिक – आबादी की प्रबल बहुसंख्या[190] अपनी भूमि के मालिक स्वतंत्र किसानों की थी, भले ही उनके स्वामित्व को कैसा भी सामंती नाम क्यों न दिया गया हो। ज़्यादा बड़ी जागीरों में पुराने कारिंदे का, जो ख़ुद भी किसी समय कृषिदास था, स्वतंत्र कृषक ने स्थान ले लिया था। मज़दूरी लेकर खेती में काम करनेवाले मज़दूरों का एक भाग किसानों का था, जो अवकाश के समय का उपयोग करने के लिए बड़ी जागीरों में काम करने चले आते थे, और दूसरा भाग वेतनभोगी मज़दूरों के एक स्वतंत्र एवं विशिष्ट वर्ग का था, जिनकी संख्या सापेक्ष एवं निरपेक्ष दृष्टि से बहुत कम थी। इन मज़दूरों को एक तरह से किसान भी कहा जा सकता था, क्योंकि मज़दूरी के अलावा उनको अपने घरों के साथ-साथ ४ एकड़ या उससे ज़्यादा खेती के लायक़ ज़मीन भी मिल जाती थी। इसके अतिरिक्त अन्य किसानों के साथ-साथ इन लोगों को भी गांव की सामुदायिक भूमि के उपयोग का अधिकार मिला हुआ था, जिसपर उनके ढोर चरते थे और जिससे उनको इमारती लकड़ी, जलाने के लिए लकड़ी, पीट, आदि मिल जाती थी।[191] यूरोप के सभी देशों में सामंती उत्पादन का विशेष लक्षण यह है कि

---

[190] "उस समय ... ख़ुद अपने हाथों अपने खेतों को जोतने-बोनेवाले और थोड़े-बहुत ख़ुशहाल छोटे मालिक किसान... आजकल की अपेक्षा राष्ट्र के अधिक महत्त्वपूर्ण भाग थे। यदि उस युग के आंकड़ों का विवेचन करनेवाले सबसे अच्छे लेखकों पर विश्वास किया जाये, तो हम यह पाते हैं कि उन दिनों कम से कम १,६०,००० मालिक छोटी-छोटी माफ़ी-ज़मींदारियों के सहारे जीवन-निर्वाह करते थे। अपने परिवारों के साथ ये लोग उस ज़माने की कुल आबादी के सातवें हिस्से से ज़्यादा रहे होंगे। इन छोटे ज़मींदारों की औसत सालाना आय... लगभग ६० और ७० पाउंड के बीच होती थी। हिसाब लगाया गया था कि ख़ुद अपनी ज़मीन जोतनेवाले व्यक्तियों की संख्या उन लोगों से अधिक थी, जो दूसरों की ज़मीन जोतते थे।" (Macaulay, *History of England*, 10th Ed., London, 1854. Vol.I, pp. 333, 334.) १७वीं शताब्दी की आख़िरी तिहाई में भी इंगलैंड के रहनेवालों में पांच में से चार आदमी खेती का धंधा करते थे। (l. c., p. 413.) मैंने मैकाले को इसलिए उद्धृत किया है कि इतिहास को सुनियोजित ढंग से तोड़-मरोड़कर पेश करनेवाले लेखक के रूप में वह इस प्रकार के तथ्यों पर कम से कम जोर देते हैं।

[191] हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि कृषिदास केवल अपने घर के साथ जुड़े हुए ज़मीन के टुकड़े का ही मालिक नहीं होता था – हालांकि उसे इस ज़मीन के लिए अपने सामंत को ख़िराज देना पड़ता था – बल्कि अन्य लोगों के साथ-साथ उसका भी गांव की सामूहिक भूमि पर अधिकार माना जाता था। मिराबो ने लिखा है कि (फ़्रेडरिक द्वितीय

ज़मीन सामंतों के अधीनस्थ किसानों की बड़ी से बड़ी संख्या में बंटी रहती है। राजा की भांति सामंती प्रभु की शक्ति भी उसकी जमाबंदी की लंबाई पर नहीं, बल्कि उसके प्रजा-जनों की संख्या पर निर्भर करती थी; और उसकी प्रजा की संख्या भूमिपति किसानों की संख्या पर निर्भर करती थी।[192] इसलिए यद्यपि इंगलैंड की ज़मीन नॉर्मन विजय के बाद बड़ी-बड़ी जागीरों में बंट गयी थी, जिनमें से एक-एक में अकसर नौ-नौ सौ पुरानी एंग्लो-सेक्सन ज़मींदारियां शामिल थीं, फिर भी सारे देश में किसानों की छोटी-छोटी भूसंपत्तियां बिखरी हुई थीं और बड़ी-बड़ी जागीरें केवल उनके बीच-बीच में जहां-तहां पायी जाती थीं। इन्हीं परिस्थितियों का और १५ वीं शताब्दी में ख़ास तौर पर शहरों में जो समृद्धि पायी जाती थी, उसका यह फल था कि आम लोगों का धन ख़ूब बढ़ गया था, जिसका चांसलर फ़ोर्तेस्क्यू ने अपनी रचना *Laudibus Legum Angliae* में बहुत ज़ोरदार वर्णन किया है। लेकिन इन परिस्थितियों के कारण पूंजीवादी धन का बढ़ना असंभव था।

जिस क्रांति ने उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की नींव डाली, उसकी प्रस्तावना १५ वीं शताब्दी की आखिरी तिहाई में और १६ वीं शताब्दी के पहले दशक में लिखी गयी थी। इस काल में सामंतों के भृत्यों और अनुगामियों के दल, जिनसे, सर जेम्स स्टुअर्ट के न्यायोचित शब्दों में, "हर घर और क़िला व्यर्थ में भरा रहता था", भंग कर दिये गये, और इसके फलस्वरूप स्वतंत्र सर्वहारा मज़दूरों की एक बहुत बड़ी संख्या श्रम की मंडी में झोंक दी गयी। यद्यपि यह सच है कि राज-शक्ति ने, जो ख़ुद भी बुर्जुआ विकास की उपज थी, अपनी अबाध प्रभुसत्ता क़ायम करने के लिए संघर्ष करते हुए भृत्यों और अनुगामियों के इन दलों को बलपूर्वक जल्दी-जल्दी भंग करा दिया था, तथापि इनके भंग हो जाने का यही एकमात्र कारण नहीं था। इससे कहीं अधिक बड़ा सर्वहारा वर्ग बड़े-बड़े सामंतों ने राजा और संसद के विरुद्ध धृष्टतापूर्वक संघर्ष करते हुए किसानों को ज़बर्दस्ती उन ज़मीनों से खदेड़कर, जिनपर उनका भी ख़ुद सामंतों के समान ही सामंती अधिकार था, और सामूहिक भूमि को छीनकर पैदा कर दिया। फ़्लैंडर्स में ऊन के उद्योग का तेज़ विकास होने और उसके साथ-साथ इंगलैंड में ऊन का भाव बढ़ जाने से इन बेदख़लियों को प्रत्यक्ष रूप में बढ़ावा मिला। पुराना अभिजात वर्ग बड़े-बड़े सामंती युद्धों में मर-खप गया था। नया अभिजात वर्ग अपने युग की संतान था, जिसके लिए पैसा ही सबसे बड़ी ताक़त था। इसलिए उसका नारा था कि खेती की ज़मीनों को भेड़ों के बाड़ों में बदल डालो! हैरिसन ने अपनी रचना *Description of England. Prefixed to Holinshed's Chronicles* में बताया है कि छोटे किसानों की ज़मीनों के छिन जाने के

के राज्यकाल में साइलीसिया में) "किसान कृषिदास होता है"। परंतु इन कृषिदासों का सामूहिक भूमि पर अधिकार होता था। "साइलीसिया के लोगों को अभी तक सामूहिक भूमि को बांट लेने के लिए राज़ी नहीं किया जा सका है, हालांकि नैमार्क में मुश्किल से ही कोई ऐसा गांव होगा, जहां इस तरह का बंटवारा अत्यधिक सफलता के साथ नहीं कर दिया गया है।" (Mirabeau, *De la Monarchie Prussienne*, Londres, 1788, t. II, pp. 125, 126.)

[192] इतिहास की हमारी सभी पुस्तकें प्रायः पूंजीवादी पूर्वाग्रहों के साथ लिखी गयी हैं। इसलिए उनकी अपेक्षा तो यूरोपीय मध्य युग का कहीं अधिक सच्चा चित्र हमें जापान में देखने को मिलता है, जहां भूसंपत्ति का विशुद्ध सामंती ढंग का संगठन और छोटे पैमाने की विकसित खेती पायी जाती है। मध्य युग को कोसकर "उदारपंथी" कहलाने में बहुत सुविधा रहती है।

फलस्वरूप किस प्रकार देश चौपट हुआ जा रहा है। पर "ज़मीन छीननेवाले बड़े लोगों को इसकी क्या चिंता है?" किसानों के घर और मज़दूरों के झोंपड़े गिरा दिये गये हैं या सड़-गलकर गिर जाने के लिए छोड़ दिये गये हैं। हैरिसन ने लिखा है: "यदि हर जागीर के काग़ज़ देखे जायें, तो शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि कुछ जागीरों में सत्रह, अठारह या बीस घर तक नष्ट हो गये हैं... और इंगलैंड में आजकल जितनी कम आबादी है, उतनी कम पहले कभी न थी... मैं ऐसे अनेक शहरों और क़स्बों का वर्णन कर सकता हूं... जो या तो बिल्कुल तबाह हो गये हैं, या जिनका चौथाई या आधा भाग बरबाद हो गया है, हालांकि यह भी मुमकिन है कि जहां-तहां एकाध शहर पहले से थोड़ा बढ़ गये हों; और मैं ऐसे क़स्बों के बारे में कुछ बता सकता हूं, जिनको गिराकर भेड़ों के बाड़े बना दिये गये हैं और जिनकी जगहों पर अब केवल सामंती प्रभुओं के महल खड़े हैं।" इन पुराने इतिहासकारों की शिकायतों में कुछ अतिशयोक्ति हमेशा रहती है, परंतु उनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उस ज़माने में उत्पादन की परिस्थितियों में जो क्रांति आयी थी, उसका उस ज़माने के लोगों के दिमाग़ों पर क्या असर पड़ा था। चांसलर फ़ोर्तेस्क्यू और टॉमस मोर की रचनाओं की तुलना कीजिये; यह स्पष्ट हो जायेगा कि १५वीं और १६वीं शताब्दियों के बीच कितनी बड़ी खाई है। जैसा कि थॉर्नटन ने ठीक ही कहा है, अंग्रेज़ मज़दूर वर्ग को किसी संक्रमण-काल से नहीं गुज़रना पड़ा, बल्कि उसको तो यकायक स्वर्ण-युग से उठाकर सीधे लौह-युग में पटक दिया गया।

क़ानून बनानेवाले इस क्रांति को देखकर भयभीत हो उठे। अभी तक वे सभ्यता के उस शिखर पर नहीं पहुंचे थे, जहां "राष्ट्र का धन" बढ़ाने (अर्थात् पूंजी का निर्माण तथा जन-साधारण का निर्मम शोषण करने और उसकी ग़रीबी को लगातार बढ़ाते जाने) को हर प्रकार की राजनीति की ultima Thule [पराकाष्ठा] समझा जाता है। हेनरी सातवें की जीवनी में बेकन ने लिखा है: "उस समय (१४८९ में) सामूहिक ज़मीन को घेरकर अपनी व्यक्तिगत संपत्ति बना लेने का चलन बहुत बढ़ गया, जिसके फलस्वरूप खेती की ज़मीन (जिसे लोगों और उनके बाल-बच्चों के अभाव में जोतना-बोना संभव नहीं था) चरागाह में बदल दी गयी, जिसपर चंद गड़रिये बड़ी आसानी से ढोरों के रेवड़ की देखभाल कर सकते थे; और जिन ज़मीनों पर किसानों को एक निश्चित अवधि के लिए, जीवन भर के लिए या अस्थायी तौर पर अधिकार मिला हुआ था" (और अधिकतर स्वतंत्र कृषक इसी प्रकार की ज़मीनों पर रहते थे), "वे सामंतों की सीर बन गयीं। इससे लोगों का पतन होने लगा और (उसके फलस्वरूप) शहरों, धर्म-संगठनों, दशांश-व्यवस्था, आदि का पतन होने लगा... इस बुराई को दूर करने में राजा ने और उस काल की संसद ने बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया... उन्होंने आबादी को उजाड़नेवाली इस बाड़ाबंदी को और आबादी को उजाड़नेवाली इन चरागाहों की प्रथा को बंद कर देने के लिए क़दम उठाया।" हेनरी सातवें के राज्य-काल के १४८९ के एक क़ानून (अध्याय १९) के द्वारा "ऐसे तमाम काश्तकारों के मकानों" को गिराने पर प्रतिबंध लगा दिया गया, जो कम से कम २० एकड़ ज़मीन के मालिक थे। हेनरी आठवें के राज्य-काल का २५वां क़ानून बनाकर यह प्रतिबंध फिर से लगा दिया गया। इस क़ानून में अन्य बातों के अलावा यह भी कहा गया है कि बहुत से फ़ार्म और ढोरों के – विशेषकर भेड़ों के – बड़े-बड़े रेवड़ चंद आदमियों के हाथों में संकेंद्रित हो गये हैं, जिसके फलस्वरूप लगान बहुत बढ़ गया है और खेती के रक़बे में कमी आ गयी है, बहुत से गिरजाघर

और मकान गिरा दिये गये हैं और अति विशाल संख्या में लोगों से ऐसे तमाम साधन छीन लिये गये हैं, जिनसे वे अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट पाल सकते थे। चुनांचे इस क़ानून के ज़रिये आदेश दिया गया कि जीर्ण फ़ार्मों को फिर से बनाया जाये, और अनाज की खेती की ज़मीन तथा चरागाह की ज़मीन का अनुपात निश्चित कर दिया गया, इत्यादि, इत्यादि। १५३३ के एक क़ानून में कहा गया कि कुछ मालिकों के पास २४,००० भेड़ें हैं, और उसके ज़रिये यह प्रतिबंध लगा दिया गया कि कोई व्यक्ति २,००० से अधिक भेड़ें नहीं रख सकता।[193] छोटे काश्तकारों और किसानों के संपत्तिहरण के विरुद्ध लोगों ने बहुत शोर मचाया और हेनरी सातवें के बाद डेढ़ सौ वर्ष तक इस संपत्तिहरण को रोकने के लिए अनेक क़ानून भी बनाये गये। लेकिन दोनों ही चीज़ें व्यर्थ सिद्ध हुईं। लोगों की शिकायतों और इन क़ानूनों के निकम्मेपन का क्या रहस्य था, यह बेकन ने हमें अनजाने में बता दिया है। उसने अपने *Essays, Civil and Moral* के २९वें निबंध में लिखा है कि "हेनरी सातवें ने एक बहुत ही गूढ़ और प्रशंसनीय उपाय खोज निकाला था। वह यह कि काश्तकारों के फ़ार्मों और घरों को एक निश्चित अनुमाप के अनुसार बनाया जाये, अर्थात् उनको इस अनुपात में ज़मीन दी जाये, जिससे प्रजाजन दासत्व की स्थिति में न रहें, बल्कि सुविधाजनक समृद्धि में जीवन व्यतीत करें, और जिससे हल महज़ भाड़े के मज़दूरों के हाथों में न रहकर मालिकों के हाथ में रहें।"[193a] पूंजीवादी व्यवस्था के लिए दूसरी ओर, यह आवश्यक था कि जनसाधारण पतन

---

[193] टॉमस मोर ने अपनी पुस्तक *Utopia* में कहा है कि इंगलैंड में "तुम्हारी वे भेड़ें, जो कभी इतनी नम्र और विनीत और इतनी मिताहारी हुआ करती थीं, अब मैं सुनता हूं कि ऐसी सर्वभक्षी और इतनी जंगली हो गयी हैं कि ख़ुद मनुष्यों को भी चबाकर निगल जाती हैं।" (*Utopia*, transl. by Robinson, ed. Arber, London, 1869, p. 41.)

[193a] बेकन ने इस ओर भी संकेत किया है कि स्वतंत्र, खाते-पीते किसानों तथा अच्छी पैदल सेना के बीच क्या संबंध होता है। "राज्य की शक्ति और आचरण से इस बात का घनिष्ठ संबंध था कि फ़ार्मों को ऐसे आकार का रखा जाये, जो समर्थ मनुष्य को अभाव से बचाकर जीवित रखने के लिए पर्याप्त हो; और इससे राज्य की ज़मीन का एक बड़ा भाग सचमुच काश्तकारों या मध्य वर्ग के ऐसे लोगों की काश्त और क़ब्ज़े में आ गया है, जिनकी हैसियत भद्र पुरुषों और झोंपड़ों में रहनेवालों तथा किसानों के बीच की है... कारण कि युद्ध संबंधी सर्वश्रेष्ठ जानकारी रखनेवाले लोगों का सामान्य मत यह है कि युद्धों में... किसी भी सेना की मुख्य शक्ति पैदल सैनिकों की होती है। और अच्छी पैदल सेना भर्ती करने के लिए ज़रूरी होता है कि लोगों का लालन-पालन दासत्व अथवा अभाव की अवस्था में न होकर स्वतंत्रता एवं समृद्धि में हुआ हो। इसलिए यदि किसी राज्य में केवल सामंतों और भद्र पुरुषों का ही ख़याल रखा जाता है और काश्तकार तथा हल चलानेवाले महज़ उनके टहलुए और मज़दूरों की तरह होते हैं या उनकी हैसियत केवल झोंपड़ों में रहनेवालों की होती है (जो आश्रयप्राप्त भिखारियों से अधिक कुछ नहीं होते), तो उस राज्य में घुड़सवार सेना तो अच्छी बन सकती है, लेकिन अच्छे और टिकाऊ पैदल दस्ते कभी नहीं भर्ती किये जा सकते... और फ़्रांस और इटली में तथा अन्य कई विदेशी इलाक़ों में यही स्थिति है। वहां असल में या तो अभिजात वर्ग के लोग हैं, या किसान हैं... यहां तक कि इन देशों को अपनी पैदल पलटनों के लिए स्विट्ज़रलैंडवासियों में से या किसी और देश के रहनेवालों में से भाड़े के सिपाही भर्ती करने पड़ते हैं; और उसका यह नतीजा भी होता है कि इन देशों में रहनेवालों की संख्या तो बहुत बड़ी होती है, पर वहां सिपाही बहुत कम होते हैं।" (*The Reign of Henry VII. Verbatim Reprint from Kennet's England, ed. 1719*, London, 1870, p. 308.)

ग्रौर लगभग दासत्व की स्थिति में हों, उनको भाड़े के टट्टुग्रों में परिणत कर दिया जाये ग्रौर उनके श्रम के साधनों को पूंजी में बदल दिया जाये। परिवर्तन के इस काल में क़ानून बनाकर इस बात की भी कोशिश की गयी कि खेतिहर वेतनभोगी मज़दूर के झोंपड़े के साथ ४ एकड़ ज़मीन का टुकड़ा जुड़ा रहे, ग्रौर उसे ग्रपने झोंपड़े में किरायेदार रखने की मनाही कर दी गयी। जेम्स प्रथम के राज्य-काल में फ़्रण्टमिल के रोजर क्रोकर को १६२७ में इस बात के लिए सज़ा दी गयी कि उसने फ़्रण्टमिल की ग्रपनी ज़मींदारी में एक झोंपड़ा बना लिया था, हालांकि उसके साथ ४ एकड़ ज़मीन का कोई टुकड़ा स्थायी रूप से नहीं जुड़ा हुग्रा था। इसके बाद चार्ल्स प्रथम के राज्य-काल के समय, १६३८ में पुराने क़ानूनों को – ख़ास कर ४ एकड़ ज़मीन वाले क़ानून को – ग्रमल में लाने के लिए एक शाही ग्रायोग नियुक्त किया गया। यहां तक कि क्रॉमवेल के समय में भी लंदन के ४ मील के घेरे में उस समय तक कोई मकान नहीं बनाया जा सकता था, जब तक कि उसके साथ ४ एकड़ ज़मीन न हो। इतना ही नहीं, १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भी यदि किसी खेतिहर मज़दूर के झोंपड़े के साथ दो-एक एकड़ ज़मीन का टुकड़ा नहीं होता था, तो शिकायत कर दी जाती थी। ग्राजकल यदि उसे ग्रपने झोंपड़े के साथ एक छोटा सा बग़ीचा लगाने के लिए ज़रा सी ज़मीन मिल जाती है या वह ग्रपने झोंपड़े से काफ़ी दूर दो-एक रूड ज़मीन लगान पर ले सकता है, तो वह ग्रपने को बहुत सौभाग्यशाली समझता है। डा० हंटर ने लिखा है: "इस मामले में ज़मींदारों ग्रौर काश्तकारों की मिली-भगत रहती है। झोंपड़े के साथ यदि दो-एक एकड़ ज़मीन भी हो, तो मज़दूर ग्रत्यधिक स्वतंत्र हो जायेंगे।"[194]

लोगों की संपत्ति का बलपूर्वक ग्रपहरण कर लेने की प्रक्रिया को १६ वीं शताब्दी में रोमन चर्च के सुधार से ग्रौर उसके फलस्वरूप चर्च की संपत्ति की लूट से एक नया ग्रौर ज़बर्दस्त बढ़ावा मिला। चर्च-सुधार के समय कैथोलिक चर्च इंगलैंड की भूमि के एक बहुत बड़े हिस्से का सामंती स्वामी था। जब मठों, ग्रादि पर ताले डाल दिये गये, तो उनमें रहनेवाले लोग सर्वहारा की पांतों में भर्ती हो गये। चर्च की जागीरें ग्रधिकतर राजा के लुटेरे कृपा-पात्रों को दे दी गयीं या नाममात्र के दाम पर सट्टेबाज़ काश्तकारों ग्रौर नागरिकों के हाथ बेच दी गयीं, जिन्होंने सारे के सारे पुश्तैनी शिकमीदारों को ज़मीन से खदेड़ दिया ग्रौर उनकी जोतों को मिलाकर एक कर लिया। क़ानून ने ग्रधिक ग़रीब लोगों को चर्च के दशांश में से एक भाग पाने का ग्रधिकार दे रखा था; ग्रब वह ग्रधिकार भी छीन लिया गया।[105] रानी एलिज़ाबेथ इंगलैंड की यात्रा करने के बाद चिल्ला पड़ी थी कि "यहां तो सब ग्रोर कंगाल ही कंगाल हैं।" उसके राज्य-काल के ४३ वें वर्ष में राष्ट्र को ग़रीबों की ग्रार्थिक सहायता करने के लिए कर लगाकर सरकारी तौर पर यह मान लेना पड़ा कि देश में मुहताजी फैली हुई है। "मालूम

---

[194] Dr. Hunter, *Public Health, 7th Report 1864*, London, 1865, p. 134. "(पुराने क़ानूनों के ग्रनुसार) जितनी ज़मीन होनी चाहिए थी, वह ग्रब मज़दूरों के लिए बहुत ग्रधिक समझी जाती है, ग्रौर लोगों का विचार है कि इतनी ग्रधिक ज़मीन तो मज़दूरों को छोटे काश्तकारों में बदल देगी।" (George Roberts, *The Social History of the People of the Southern Counties of England in Past Centuries*, London, 1856, pp. 184, 185.)

[105] "दशांश पर ग़रीबों का ग्रधिकार प्राचीन काल के क़ानूनों के ग्रनुसार स्थापित है।" (Tuckett, l. c., Vol. II, pp. 804-805.)

होता है कि इस क़ानून के रचयिताओं को यह बताने में संकोच होता था कि इस प्रकार का क़ानून बनाने की आवश्यकता क्यों हुई, क्योंकि" (परंपरागत प्रथा के विपरीत) "इस क़ानून में किसी भी प्रकार की प्रस्तावना नहीं है।"[196] चार्ल्स प्रथम के राज्य-काल में बनाये गये १६ वें क़ानून के चौथे अध्याय के द्वारा ग़रीबों की आर्थिक सहायता के इस क़ानून को एक चिरस्थायी क़ानून घोषित कर दिया गया, और असल में तो कहीं १८३४ में जाकर ही इस क़ानून ने एक नया और अधिक कड़ा रूप धारण किया।[197] चर्च-सुधार के ये तात्कालिक परिणाम उसके

---

[196] William Cobbett, *A History of the Protestant Reformation*, § 471.

[197] अन्य बातों के अलावा निम्नलिखित उदाहरण से भी प्रोटेस्टेंट मत की "भावना" स्पष्ट हो जाती है। दक्षिणी इंगलैंड के कुछ भूस्वामियों और खाते-पीते काश्तकारों ने आपस में मंत्रणा करके एलिज़ाबेथ के काल में बनाये गये ग़रीबों की आर्थिक सहायता संबंधी क़ानून की सही व्याख्या के विषय में दस प्रश्न तैयार किये। और इन प्रश्नों को उन्होंने उस काल के एक विख्यात क़ानूनदां, सार्जेंट स्निग (जो बाद को जेम्स प्रथम के काल में जज नियुक्त हुए) के सामने पेश किया और उनकी राय मांगी। "प्रश्न ६ यह था कि इस इलाक़े के कुछ अपेक्षाकृत अधिक धनी काश्तकारों ने एक धूर्ततापूर्ण तरीक़ा निकाला है, जिससे इस क़ानून को (एलिज़ाबेथ के राज्य-काल के ४३ वें वर्ष में बनाये गये क़ानून को) अमल में लाने के सारे झंझट से बचा जा सकता है। उनका सुझाव है कि इस इलाक़े में एक जेलख़ाना बनाया जाये और फिर आसपड़ोस के लोगों से यह कह दिया जाये कि यदि कुछ लोग इस इलाक़े के ग़रीबों के जीवन-निर्वाह का ठेका लेना चाहते हैं, तो वे किसी निश्चित दिन अपने मुहरबंद सुझाव दाख़िल कर दें कि वे कम से कम कितने पैसों में इन ग़रीबों की परवरिश की ज़िम्मेदारी हमारे कंधों से ले सकते हैं। साथ ही यह बात भी साफ़ कर दी जानी चाहिए कि जब तक कोई ग़रीब आदमी उपर्युक्त जेलख़ाने में बंद कर दिये जाने के लिए तैयार नहीं होगा, तब तक उन्हें यह अधिकार रहेगा कि उसे किसी भी तरह की आर्थिक सहायता न दें। इस योजना के प्रस्तावकों का विचार है कि आसपास की काउंटियों में ऐसे अनेक आदमी मिलेंगे, जो श्रम करने को तैयार नहीं हैं और जिनके पास इतने साधन या इतनी साख भी नहीं है कि श्रम किये बिना रहने के उद्देश्य से कोई फ़ार्म या जहाज़ ले सकें, और इसलिए जो, संभव है कि इस संबंध में इलाक़े के सामने कोई बहुत लाभदायक सुझाव रखने को तैयार हों। यदि ग़रीबों में से कोई आदमी ठेकेदार की देखरेख में मर जाता है, तो इसका पाप ठेकेदार के सिर पर पड़ेगा, क्योंकि इलाक़ा तो उसे ठेकेदार को सौंपकर अपना कर्तव्य पूरा कर चुका होगा। लेकिन हमें डर है कि मौजूदा क़ानून (एलिज़ाबेथ के राज्य-काल के ४३ वें वर्ष में बनाया गया क़ानून) इस तरह का विवेकसंगत क़दम उठाने की इजाज़त नहीं देगा। मगर आपको मालूम होना चाहिए कि इस काउंटी के और पड़ोस की **ख** नामक काउंटी के बाक़ी माफ़ीदार अपने भाईबंदों को एक ऐसे क़ानून का प्रस्ताव करने की सलाह देने के लिए बड़ी आसानी से तैयार हो जायेंगे, जिसमें किसी व्यक्ति को ग़रीबों को ताले में बंद करके उनसे काम लेने का ठेका देने की व्यवस्था हो और जिसके ज़रिये यह घोषणा कर दी जाये कि जो व्यक्ति इस तरह ताले में बंद होकर काम करने से इनकार करेगा, वह किसी भी प्रकार की सहायता पाने का अधिकारी नहीं होगा। आशा की जाती है कि इस प्रकार का क़ानून ग़रीब लोगों को सार्वजनिक सहायता मांगने से रोकेगा और इस तरह बस्तियों का सार्वजनिक ख़र्च कम हो जायेगा।" (R. Blakey, *The History of Political Literature from the Earliest Times*, London, 1855, Vol. II, pp. 84-85.) स्कॉटलैंड में कृषिदास-प्रथा का अंत इंगलैंड की अपेक्षा कुछ शताब्दी बाद हुआ था। यहां तक कि १६९८ में भी साल्तूननिवासी फ़्लेचर ने स्कॉटलैंड की संसद में यह कहा था कि "स्कॉटलैंड में भिखारियों की संख्या २,००,००० से कम नहीं समझी जाती। मैं सिद्धांततः प्रजातंत्रवादी हूं और फिर भी मैं इसकी एक यही दवा सुझा सकता हूं कि कृषिदास-प्रथा को

अधिक स्थायी परिणाम नहीं थे। चर्च की संपत्ति भूसंपत्ति की परंपरागत व्यवस्था का धार्मिक आधार बनी हुई थी। उसके पतन के साथ ही इस व्यवस्था का क़ायम रहना भी असंभव हो गया।[198]

१७ वीं शताब्दी के अंतिम दशक में भी स्वतंत्र किसानों का वर्ग काश्तकारों के वर्ग से संख्या में अधिक था। क्रॉमवेल की शक्ति का मुख्य आधार ये ही लोग थे, और यहां तक कि मैकाले भी यह बात मानता है कि शराब के नशे में चूर ज़मींदारों और उनकी नौकरी करनेवाले, उन देहाती पादरियों की तुलना में, जिन्हें अपने मालिकों की छोड़ी हुई रखैलों के विवाह की व्यवस्था करनी पड़ती थी, ये स्वतंत्र किसान कहीं अधिक योग्य सिद्ध होते थे। १७५० के लगभग स्वतंत्र किसानों के इस वर्ग का लोप हो गया था,[199] और उसके साथ-साथ १८ वीं शताब्दी के अंतिम दशक में खेतिहर मज़दूरों की सामूहिक भूमि का भी आख़िरी निशान तक ग़ायब हो गया था। यहां हम खेती में होनेवाली क्रांति के विशुद्ध आर्थिक कारणों पर विचार नहीं कर रहे हैं। यहां तो हम केवल ज़ोर-ज़बर्दस्ती के तरीक़ों की चर्चा कर रहे हैं।

स्टुअर्ट राजवंश के पुनः सत्तारूढ़ हो जाने के बाद भूस्वामियों ने क़ानूनी उपायों से एक ऐसा सत्ताहरण किया, जो महाद्वीपीय यूरोप में हर जगह बिना किसी क़ानूनी औपचारिकता के

फिर से चालू कर दिया जाये और जो लोग ख़ुद अपने जीवन-निर्वाह का कोई प्रबंध नहीं कर सकते, उन सबको दास बना दिया जाये।" ईडन ने अपनी उपर्युक्त रचना (*The State of the Poor*, Vol.I, Ch.I, pp. 60-61) में लिखा है: "कृषिदास-प्रथा के चलन में कमी आने का युग ही वह युग था, जब मुहताजों का जन्म हुआ था। कलकारख़ाने और वाणिज्य हमारे राष्ट्र के मुहताजों के दो जनक हैं।" हमारे उस सिद्धांततः प्रजातंत्रवादी स्कॉट की तरह ईडन ने भी केवल यही एक ग़लती की है कि वह यह नहीं समझ पाये हैं कि खेतिहर मज़दूर यदि सर्वहारा और अंत में मुहताज बन गया, तो इसका कारण यह नहीं था कि कृषिदास-प्रथा का अंत कर दिया गया था, बल्कि इसका कारण यह था कि धरती पर खेतिहर मज़दूर का कोई स्वामित्व नहीं रह गया था। फ़्रांस में यह संपत्तिहरण एक और ढंग से संपन्न हुआ। इंगलैंड में जो काम ग़रीबों की सहायता संबंधी क़ानूनों ने किया, वहां वही काम मूलां के आर्डिनेंस (१५६६) ने और १६५६ के फ़रमान ने किया।

[198] यद्यपि प्रोफ़ेसर रोजर्स पहले प्रोटेस्टेंट कट्टरता के गढ़—आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय—में राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर थे, तथापि उन्होंने *History of Agriculture* की भूमिका में इस तथ्य पर ज़ोर दिया है कि चर्च-सुधार के फलस्वरूप साधारण लोग मुहताज बन गये हैं।

[199] देखिये *A Letter to Sir T. C. Bunbury, Bart.; On the High Price of Provisions. By a Suffolk Gentleman*, Ipswich, 1795, p. 4; यहां तक कि बड़े फ़ार्मों की प्रणाली के कट्टर समर्थक, *Inquiry into the Connexion Between the Present Price of Provisions and the Size of Farms etc.* (London, 1773) के लेखक ने भी (पृ० १३६ पर) यह लिखा है कि "स्वतंत्र किसानों के उस वर्ग के नष्ट हो जाने पर मुझे अत्यधिक दुःख है, जिसने ही वास्तव में इस राष्ट्र की स्वाधीनता को सुरक्षित रखा था, और मुझे यह देखकर बड़ा अफ़सोस होता है कि उन लोगों की ज़मीनें अब एकाधिकारी प्रभुओं के हाथों में चली गयी हैं, जो उनको छोटे काश्तकारों को लगान पर उठा देते हैं; और इन काश्तकारों के पट्टों के साथ ऐसी-ऐसी शर्तें लगी रहती हैं, जिनके फलस्वरूप उनकी दशा लगभग ग़ुलामों के समान हो जाती है, जिन्हें मामूली सी गड़बड़ के लिए भी जवाब देना पड़ता है।"

संपन्न हुआ था। उन्होंने भूमि की सामंती व्यवस्था का अंत कर दिया, अर्थात् उन्होंने भूमि को राज्य के प्रति तमाम जिम्मेदारियों से मुक्त कर दिया; राज्य की "क्षति-पूर्ति" इस तरह की गयी कि किसानों पर और बाक़ी जनता पर कर लगा दिये गये; जिन जागीरों पर उनको पहले केवल सामंती अधिकार प्राप्त था, उनपर उनको आधुनिक ढंग के निजी स्वामित्व का अधिकार मिल गया; और अंत में उन्होंने बंदोबस्त के ऐसे क़ानून बना दिये, जिनका mutatis mutandis [कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ] अंग्रेज़ खेतिहर मजदूरों पर वही प्रभाव हुआ, जो रूसी किसानों पर तातार बोरिस गोदुनोव के फ़रमान का हुआ था।

"गौरवशाली क्रांति" के परिणामस्वरूप सत्ता ओरेंज के विलियम[200] ही नहीं, बेशी मूल्य हड़पनेवाले ज़मींदारों और पूंजीपतियों के हाथ में भी चली गयी। उन्होंने सरकारी ज़मीनों की बहुत ही बड़े पैमाने पर लूट मचाकर नये युग का समारंभ किया, इसके पहले यह लूट कुछ छोटे पैमाने पर होती थी। ये सरकारी जागीरें ईनाम में दे दी गयीं, हास्यास्पद दामों पर बेच दी गयीं या यहां तक कि सीधे-सीधे जबर्दस्ती करके निजी जागीरों में मिला ली गयीं।[201] और यह सब करते हुए क़ानूनी शिष्टाचार की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया। इस प्रकार जिन राजकीय ज़मीनों पर धोखाधड़ी के ज़रिये अधिकार कर लिया गया और चर्च की जिन जागीरों को लूट लिया गया, वे जिस हद तक कि प्रजातंत्रवादी क्रांति के समय फिर अपने नये मालिकों के हाथों से नहीं चली गयीं, उस हद तक उन्हीं ज़मीनों से अंग्रेज़ अल्पतंत्र की वर्तमान बड़ी-बड़ी जागीरों का आधार तैयार हुआ है।[202] बुर्जुआ लोगों ने इस क्रिया का अन्य बातों के अलावा इस उद्देश्य से भी समर्थन किया कि इससे ज़मीन के स्वतंत्र व्यापार को बढ़ावा मिलेगा, बड़े फ़ार्मों की प्रणाली के अनुसार आधुनिक ढंग की खेती का क्षेत्र बढ़ाया जा सकेगा, और इस तरह मज़दूरी करने के लिए सदैव तैयार रहनेवाले स्वतंत्र सर्वहारा खेतिहर मज़दूरों की संख्या में वृद्धि हो जायेगी। इसके अलावा भूस्वामियों का यह नया अभिजात वर्ग बैंकपतियों के नये वर्ग का—नवजात बड़े थैलीशाहों का—और उन बड़े-बड़े उद्योगपतियों का स्वाभाविक

---

[200] इस पूंजीवादी नायक के निजी नैतिक चरित्र के विषय में अन्य बातों के अलावा यह अंश भी देखिये: "१६९५ में लेडी ओर्कनी को आयरलैंड में जो बड़ी जागीर ईनाम में दी गयी, वह राजा के प्रेम का और इस महिला के प्रभाव का एक सर्वविदित प्रमाण है... समझा जाता है कि लेडी ओर्कनी का प्रीतिकर कार्य यह था कि उसको foeda labiorum ministeria [ओंठों का असम्मानप्रद कार्य] करना पड़ता था।" (ब्रिटिश संग्रहालय में *Sloane Manuscript Collection*, No. 4224; इस हस्तलिपि का शीर्षक है: *The Character and Behaviour of King William, Sunderland etc., as represented in Original Letters to the Duke of Shrewsbury from Somers Halifax, Oxford, Secretary Vernon etc.* इस हस्तलिपि में अजीब-अजीब बातें पढ़ने को मिलती हैं।)

[201] "शाही जागीरों का कुछ हद तक बिक्री के ज़रिये और कुछ हद तक ईनाम के ज़रिये जिस ग़ैरक़ानूनी ढंग से हस्तांतरण किया गया, वह इंगलैंड के इतिहास का एक कलंकमय अध्याय है... इस तरह राष्ट्र के साथ एक बड़ा भारी धोखा किया गया।" (F. W. Newman, *Lectures on Political Economy*, London, 1851, pp. 129, 130.) [इंगलैंड के मौजूदा बड़े भूस्वामियों के हाथ में ये जागीरें किस तरह आयीं, इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिये: *Our Old Nobility. By Noblesse Oblige*, London, 1879. —फ़्रे० एं०]

[202] मिसाल के लिए, बेडफ़ोर्ड के ड्यूक-वंश के संबंध में ई० बर्क की पुस्तिका देखिये "उदारतावाद की फुदकी", लॉर्ड जॉन रसेल इसी वंश की उपज थे।

मित्र था, जो उस ज़माने में अपनी सुरक्षा के लिए विदेशी माल पर लगायी जानेवाली चुंगी पर निर्भर करते थे। इंगलैंड के बुर्जुआ वर्ग ने उतनी ही बुद्धिमानी के साथ अपने हितों की रक्षा की, जितनी बुद्धिमानी के साथ स्वीडेन के बुर्जुआ वर्ग ने अपने हितों की रक्षा की थी, हालांकि स्वीडिश बुर्जुआ वर्ग ने इस क्रिया को उलटकर अपने आर्थिक मित्र – किसानों – के साथ मिलकर अभिजात वर्ग से शाही ज़मीनें फिर से छीन लेने में राजाओं की मदद की थी। चार्ल्स दसवें और चार्ल्स ग्यारहवें के राज्य-काल में १६०४ से यह क्रिया आरंभ हो गयी थी।

सामुदायिक संपत्ति, जिसे हमें उस राजकीय संपत्ति से सदा अलग करके देखना चाहिए, जिसका अभी-अभी वर्णन किया गया है, एक पुरानी ट्यूटोनिक प्रथा थी, जो सामंतवाद की रामनामी ओढ़कर जीवित थी। हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार १५वीं शताब्दी के अंत में इस सामुदायिक संपत्ति का बलपूर्वक अपहरण आरंभ हुआ था और १६वीं शताब्दी में जारी रहा था और किस तरह उसके साथ-साथ आम तौर पर खेती की ज़मीनें चरागाहों की ज़मीनों में बदल दी गयी थीं। परंतु उस समय यह प्रक्रिया व्यक्तिगत हिंसक कार्यों के द्वारा संपन्न हो रही थी, जिनको रोकने के लिए क़ानून बना-बनाकर डेढ़ सौ वर्ष तक बेकार कोशिशें होती रहीं। १८वीं शताब्दी में जो प्रगति हुई, वह इस रूप में व्यक्त होती है कि क़ानून ख़ुद लोगों की ज़मीनें चुराने का साधन बन जाता है, हालांकि बड़े काश्तकार अपने छोटे स्वतंत्र उपायों का प्रयोग भी जारी रखते हैं।[203] इस लूट का संसदीय रूप सामुदायिक ज़मीनों की बाड़ाबंदी से संबंधित क़ानूनों या उन अध्यादेशों की शक्ल में सामने आता है, जिनके द्वारा ज़मींदार जनता की ज़मीन को अपनी निजी संपत्ति घोषित कर देते हैं और जिनके द्वारा वे जनता की संपत्ति का अपहरण कर लेते हैं। सर एफ़० एम० ईडन ने सामुदायिक संपत्ति को उन बड़े ज़मींदारों की निजी संपत्ति साबित करने की कोशिश की है, जिन्होंने सामंती प्रभुओं का स्थान ले लिया है। मगर जब वह यह मांग करते हैं कि "सामुदायिक ज़मीनों की बाड़ाबंदी के बारे में संसद को एक सामान्य क़ानून बनाना चाहिए" (और इस तरह जब वह यह स्वीकार कर लेते हैं कि सामुदायिक संपत्ति को निजी संपत्ति में रूपांतरित करने के लिए आवश्यक है कि संसद में क़ानून बनाकर उसका हठात् अपहरण कर लिया जाये), और इसके अलावा जब वह संसद से उन ग़रीबों की क्षति-पूर्ति करने के लिए भी कहते हैं, जिनकी संपत्ति छीन ली गयी है, तब वह वास्तव में अपने धूर्ततापूर्ण तर्क का ख़ुद ही खंडन कर डालते हैं।[204]

एक ओर, स्वतंत्र किसानों का स्थान कच्चे असामियों, साल-साल भर के पट्टों पर ज़मीन जोतनेवाले छोटे काश्तकारों और ज़मींदारों की दया पर निर्भर रहनेवाले दासों जैसे लोगों की भीड़ ने ले लिया। दूसरी ओर, राजकीय जागीरों की चोरी के साथ-साथ सामुदायिक ज़मीनों

---

[203] "काश्तकार लोग झोंपड़ों में रहनेवाले मज़दूरों को अपने बाल-बच्चों के सिवा किसी और प्राणी को झोंपड़ों में रखने की मनाही कर देते हैं। इसके लिए बहाना यह बनाया जाता है कि यदि मज़दूर जानवर या मुर्ग़ी, आदि रखेंगे, तो वे काश्तकारों के खलिहानों से अनाज चुरा-चुराकर उन्हें खिलायेंगे। काश्तकार लोग यह भी कहते हैं कि मज़दूरों को ग़रीब बनाकर रखो, तो वे मेहनती बने रहेंगे, इत्यादि। लेकिन मुझे यक़ीन है कि असली बात यह है कि काश्तकार लोग इस तरह सारी सामुदायिक ज़मीन केवल अपने अधिकार में रखना चाहते हैं।" (*A Political Inquiry into the Consequences of Enclosing Waste Lands*, London, 1785, p. 75.)

[204] Eden, l. c., Preface.

की सुनियोजित लूट ने ख़ास तौर पर उन बड़े फ़ार्मों का ग्राकार बढ़ाने में मदद दी, जो १८वीं शताब्दी में कैपीटल फ़ार्म[205] या सौदागरों के फ़ार्म[206] कहलाते थे, और साथ ही खेतिहर ग्राबादी को कलकारख़ानों वाले उद्योगों में काम करने के लिए "उन्मुक्त करके" सर्वहारा में परिणत कर दिया।

लेकिन १८वीं शताब्दी ने ग्रभी तक १६वीं शताब्दी की भांति पूरे तौर पर यह बात नहीं स्वीकार की थी कि राष्ट्र का धन और जनता की ग़रीबी – ये दोनों एक ही चीज़ हैं। चुनांचे उस ज़माने के ग्रार्थिक साहित्य में "सामुदायिक ज़मीनों की बाड़ाबंदी" के प्रश्न के संबंध में हमें बड़ी गरम बहसें सुनने को मिलती हैं। मेरे सामने जो ढेरों सामग्री पड़ी हुई है, उसमें से मैं केवल कुछ उद्धरण ही यहां पेश करूंगा, जिनसे उस काल की परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जायेगा।

एक व्यक्ति ने बड़े क्रोध के साथ लिखा है: "हर्टफ़ोर्डशायर के कुछ गांवों में ग्रौसतन ५० एकड़ से १५० एकड़ तक के २४ फ़ार्मों को जोड़कर तीन फ़ार्मों में इकट्ठा कर दिया गया है।"[207] "नॉर्थम्पटनशायर और लीसेस्टरशायर में बहुत बड़े पैमाने पर सामुदायिक ज़मीनों को घेर लिया गया है, और इस बाड़ाबंदी के फलस्वरूप जो नयी ज़मींदारियां क़ायम हुई हैं, उनमें से ग्रधिकतर को चरागाहों में बदल दिया गया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि जिन ज़मींदारियों में पहले हर साल १,५०० एकड़ ज़मीन जोती जाती थी, उनमें ग्रब ५० एकड़ ज़मीन भी नहीं जोती जाती... पुराने रहने के घरों, खलिहानों, ग्रस्तबलों, ग्रादि के ध्वंसावशेष" ही ग्रब यह बताते हैं कि वहां कभी कुछ लोग रहा करते थे। "कुछ खुले खेतों वाले गांवों में सौ घर और परिवार... कम होते-होते ग्राठ या दस रह गये हैं... जिन गांवों में केवल १५ या २० वर्ष से ही बाड़ाबंदी हुई है, उनमें से ग्रधिकतर में खुले खेतों के ज़माने में जितने भूमिधर रहा करते थे, ग्रब उनकी तुलना में बहुत कम किसान रह गये हैं। यह कोई बहुत ग्रसाधारण बात नहीं है कि जो इलाक़ा पहले २० या ३० काश्तकारों और इतने ही छोटे ग्रसामियों और मालिकों के क़ब्ज़े में था, उसे ४ या ५ बड़े ज़मींदारों ने घेरकर ग्रपनी चरागाहों में बदल दिया है। और इस तरह इन सारे काश्तकारों, छोटे ग्रसामियों और मालिकों की और उनके परिवारों की और बहुत से ग्रन्य परिवारों की, जो मुख्यतया इन लोगों के लिए काम किया करते थे और इनपर निर्भर करते थे, जीविका छूट जाती है।"[208] न केवल उस ज़मीन पर, जो परती पड़ी हुई थी, बल्कि उस ज़मीन पर भी, जिसे लोग सामूहिक ढंग से जोता करते थे या जिसको कुछ ख़ास व्यक्ति ग्राम-समुदाय को एक निश्चित लगान देकर जोतते थे, ग्रासपड़ोस के ज़मींदार बाड़ाबंदी के बहाने क़ब्ज़ा कर लेते थे। "मैं

---

[205] "Capital Farms" – यह नाम देखिये *Two Letters on the Flour Trade and the Dearness of Corn. By a person in Business* (London, 1767, pp. 19, 20.) में।

[206] "Merchant Farms" – यह नाम *An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions* (London, 1767, p. 111, Note.) में मिलता है। – यह सुंदर पुस्तक, जो लेखक के ग्रपने नाम से नहीं प्रकाशित हुई थी, रैवेरंड नथेनियल फ़ोर्स्टर की रचना है।

[207] Thomas Wright, *A Short Address to the Public on the Monopoly of Large Farms*, 1779, pp. 2, 3.

[208] Rev. Addington, *Inquiry into the Reasons for or against Enclosing Open Fields*, London, 1772, pp. 37, 43, passim.

यहां खुले खेतों और ऐसी ज़मीनों के घेरे जाने का ज़िक्र कर रहा हूं, जिनमें पहले ही काफ़ी सुधार किया जा चुका है। बाड़ाबंदी का समर्थन करनेवाले लेखक भी यह बात स्वीकार करते हैं कि इन गांवों के संकुचित हो जाने से बड़े फ़ार्मों की इजारेदारियों में इज़ाफ़ा होता है, खाने-पीने की वस्तुओं के दाम चढ़ जाते हैं और आबादी उजड़ जाती है... और यहां तक कि परती पड़ी हुई ज़मीनों की बाड़ाबंदी से (जिस तरह आजकल वह की जाती है) भी ग़रीबों के कष्ट बहुत बढ़ जाते हैं, क्योंकि उससे आंशिक रूप में उनकी जीविका के साधन नष्ट हो जाते हैं, और उसका केवल यही नतीजा होता है कि बड़े-बड़े फ़ार्म, जिनका आकार पहले ही से बहुत बढ़ गया था, और भी बड़े हो जाते हैं।"[209] डा० प्राइस ने लिखा है: "जब यह ज़मीन चंद बड़े-बड़े काश्तकारों के हाथों में चली जायेगी, तब इसका आवश्यक रूप से यह परिणाम होगा कि छोटे काश्तकार" (जिनके बारे में डा० प्राइस पहले बता चुके हैं कि "छोटे मालिकों और असामियों की यह विशाल संख्या उस ज़मीन की उपज से, जो उसके क़ब्ज़े में होती है, सामुदायिक भूमि पर चरनेवाली अपनी भेड़ों की मदद से और मुर्ग़ियों, सूअरों, आदि के सहारे अपना तथा अपने परिवारों का पेट पालती है और इसलिए उसे जीवन-निर्वाह के किसी साधन को ख़रीदने की बहुत कम ज़रूरत पड़ती है") "ऐसे लोगों में परिणत हो जायेंगे, जिनको अपनी जीविका के लिए दूसरों के वास्ते मेहनत करनी पड़ेगी और जिनको ज़रूरत की हर चीज़ बाज़ार से ख़रीदनी पड़ेगी... तब शायद श्रम पहले से अधिक होगा, क्योंकि लोगों के साथ पहले से ज़्यादा ज़बर्दस्ती की जायेगी... शहरों और कारख़ानों की संख्या बढ़ जायेगी, क्योंकि निवास-स्थान और नौकरी की तलाश में पहले से अधिक संख्या में लोग वहां पहुंचेंगे। फ़ार्मों के आकार को बढ़ाने का स्वभावतः यही परिणाम होता है। और इस राज्य में अनेक वर्षों से असल में यही चीज़ हो रही है।"[210] बाड़ाबंदी के परिणामों का सारांश लेखक ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है: "कुल मिलाकर निचले वर्गों के लोगों की हालत लगभग हरेक दृष्टि से पहले से ज़्यादा ख़राब हो जाती है। पहले वे ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़ों के मालिक थे; अब उनकी हैसियत मज़दूरों और भाड़े के टट्टुओं की हो जाती है, और साथ ही उनके लिए इस अवस्था में अपना जीवन-निर्वाह करना और अधिक कठिन हो जाता है।"[211] बल्कि सच तो यह है कि सामुदायिक ज़मीनों के अपहरण का और

[209] Dr. R. Price, *Observations on Reversionary Payments*, 6*th* Ed. By W. Morgan, London, 1803, Vol.II, p.155. फ़ोर्स्टर, ऐडिंग्टन, केंट, प्राइस और जेम्स ऐंडर्सन की रचनाओं को देखिये और चाटुकार मैककुलोच ने अपने सूचीपत्र *The Literature of Political Economy* (London, 1845) में जिस तरह की टुच्ची बकवास की है, उसके साथ इन रचनाओं की तुलना कीजिये।

[210] Dr. R. Price, l.c., p. 147.

[211] Dr. R. Price, l.c., p. 159. इससे हमें प्राचीन रोम की याद आती है। वहां "धनियों ने अविभाजित भूमि के अधिकांश पर अधिकार कर लिया था। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उनको इसका पूर्ण विश्वास था कि यह भूमि उनसे कभी वापस नहीं ली जायेगी, और इसलिए उनकी ज़मीनों के आसपास ग़रीबों की जो भूमि थी, उन्होंने उसको भी या तो उसके मालिकों की रज़ामंदी से ख़रीद लिया था, या उसपर ज़बर्दस्ती अधिकार कर लिया था, और इस तरह अब वे इक्के-दुक्के खेतों के बजाय बहुत फैली हुई जागीरों को जोतते थे। फिर वे खेती और पशु-प्रजनन में दासों से काम लेते थे, क्योंकि स्वतंत्र मनुष्यों से काम कराने के लिए उनको सैनिक सेवा से हटाना पड़ता। दासों के स्वामी होने से उनका बड़ा लाभ होता

उसके साथ-साथ खेती में जो क्रांति आ गयी थी, उसका खेतिहर मज़दूरों पर इतना बुरा प्रभाव पड़ा था कि ईडन के कथनानुसार भी १७६५ और १७८० के बीच उनकी मज़दूरी आवश्यक अल्पतम मज़दूरी से भी कम हो गयी थी और वे ग़रीबों के क़ानून के मातहत सार्वजनिक सहायता लेने लगे थे। ईडन ने लिखा है कि "जीवन के लिए नितांत आवश्यक वस्तुएं ख़रीदने के लिए जो रक़म ज़रूरी होती थी, खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी उससे अधिक नहीं होती थी।"

अब एक क्षण के लिए एक ऐसे आदमी की बात भी सुनिये, जो बाड़ाबंदी का समर्थक और डा० प्राइस का विरोधी था। "यदि लोग खुले खेतों में व्यर्थ का श्रम करते नहीं दिखायी देते, तो इसका यह मतलब नहीं है कि आबादी कम हो गयी है... यदि छोटे काश्तकारों को दूसरों के वास्ते काम करनेवाले मनुष्यों में परिणत करके उनसे पहले से अधिक श्रम कराया जाता है, तो इससे सारे राष्ट्र का लाभ होता है, और राष्ट्र को इसका स्वागत करना चाहिए" (पर, ज़ाहिर है, कि जिन लोगों को इस प्रकार "परिणत किया गया है", वे इस राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं) "...क्योंकि जब इन लोगों से एक फ़ार्म पर संयुक्त श्रम कराया जाता है, तब पैदावार ज्यादा होती है, कारख़ानों के वास्ते अतिरिक्त पैदावार तैयार हो जाती है और इस तरह जितना अधिक अनाज पैदा होता है, उतनी ही अधिक कारख़ानों की वृद्धि होती है, जो राष्ट्र के लिए धन की खान का काम करते हैं।"[212]

जब उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली की नींव डालने के लिए इसकी आवश्यकता होती है, तब "संपत्ति के पवित्र अधिकार" के अत्यंत लज्जाहीन अतिक्रमण और व्यक्तियों पर अत्यंत भोंड़े हमलों को भी अर्थशास्त्री जिस निःस्पृह भाव और जिस निरुद्विग्न मन के साथ देखता रहता है, उसका एक उदाहरण सर एफ़० एम० ईडन हैं, जो बड़े दानवीर और साथ ही अनुदारदली भी हैं। १५ वीं शताब्दी की अंतिम तिहाई से लेकर १८वीं शताब्दी के अंत तक जनता की संपत्ति का जिस तरह बलपूर्वक अपहरण होता रहा और उसके साथ-साथ जो चोरियां

था, क्योंकि दासों से सेना में काम नहीं लिया जा सकता था और इसलिए वे खुलकर अपनी नस्ल को बढ़ा सकते थे और ख़ूब बच्चे पैदा कर सकते थे। अतएव शक्तिशाली व्यक्ति सारा धन अपने पास खींचे ले रहे थे और देश दासों से भर गया था। दूसरी ओर, इटालियनों की संख्या बराबर कम होती जा रही थी, क्योंकि उनको ग़रीबी, कर और सैनिक सेवा खाती थी। यहां तक कि जब शांति के दिन आये, तब भी ये लोग निष्क्रिय ही बने रहे, क्योंकि ज़मीन धनियों के क़ब्ज़े में थी, जो उसे जुतवाने के लिए स्वतंत्र मनुष्यों के बजाय दासों से काम लेते थे।" (Appian, *Roman Civil Wars* I, 7.) इस अंश में लिसिनस के क़ानूनों के बनने के पहले के काल का वर्णन किया गया है। जिस सैनिक सेवा ने रोम के जनसाधारण की तबाही की क्रिया को इतना तेज कर दिया था, उसी ने शार्लेमान के हाथों में स्वतंत्र जर्मन किसानों को ज़बर्दस्ती कृषिदासों और क्रीतदासों में रूपांतरित कर देने के मुख्य साधन का काम किया।

[212] *An Inquiry into the Connexion Between the Present Price of Provisions* etc., pp.124, 129. निम्नलिखित उद्धरण इसके उल्टे दृष्टिकोण से लिखा गया है, पर उससे भी इसी मत की पुष्टि होती है: "मज़दूरों को उनके झोंपड़ों से खदेड़कर नौकरी की तलाश में शहरों में मारे-मारे फिरने के लिए मजबूर कर दिया जाता है; पर तब पहले से अधिक अतिरिक्त पैदावार तैयार होती है, और इस प्रकार पूंजी में वृद्धि होती है।" ([R. B. Seeley] *The Perils of the Nation*, 2nd Ed., London, 1843, p. 14.)

और अत्याचार होते रहे और जनता पर जो मुसीबत का पहाड़ टूटता रहा, उस सबका अध्ययन करने के बाद सर एफ़० एम० ईडन केवल इस सुविधाजनक परिणाम पर ही पहुंचते हैं कि "खेती की ज़मीन और चरागाह की ज़मीन के बीच एक सही अनुपात क़ायम करना ज़रूरी था। पूरी १४वीं शताब्दी में और १५वीं शताब्दी के अधिकतर भाग में एक एकड़ चरागाह के पीछे २, ३ और यहां तक कि ४ एकड़ खेती की ज़मीन हुआ करती थी। १६वीं शताब्दी के मध्य के लगभग यह अनुपात बदलकर २ एकड़ खेती की ज़मीन का हो गया, बाद को २ एकड़ चरागाह के पीछे १ एकड़ खेती की ज़मीन का अनुपात हो गया और आख़िर ३ एकड़ चरागाह के पीछे १ एकड़ खेती की ज़मीन का सही अनुपात भी क़ायम हो गया।"

१६वीं शताब्दी में, ज़ाहिर है, इस बात की किसी को याद तक नहीं रह गयी कि खेतिहर मज़दूर का सामुदायिक ज़मीन से भी कभी कोई संबंध था। अभी हाल के दिनों की बात जाने दीजिये; १८०१ और १८३१ के बीच जो ३५,११,७७० एकड़ सामुदायिक ज़मीन खेतिहर आबादी से छीन ली गयी और संसद के हथकंडों के ज़रिये ज़मींदारों के द्वारा ज़मींदारों को भेंट कर दी गयी, क्या उसके एवज़ में खेतिहर आबादी को एक कौड़ी का भी मुआवज़ा मिला है?

बड़े पैमाने पर खेतिहर आबादी की भूमि के अपहरण की अंतिम क्रिया वह है, जिसका नाम है "जागीरों को साफ़ करना", अर्थात् उनको जनविहीन बना देना। इंगलैंड में भूमिहरण के जितने तरीक़ों पर हमने अभी तक विचार किया है, वे सब मानो इस "सफ़ाई" के रूप में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं। पिछले एक अध्याय में हमने आधुनिक परिस्थितियों का वर्णन किया था और बताया था कि जहां उजाड़े जाने के लिए स्वतंत्र किसान नहीं रह गये हैं, वहां झोंपड़ों की "सफ़ाई" शुरू हो जाती है, जिससे खेतिहर मज़दूरों को उस भूमि पर, जिसे वे जोतते-बोते हैं, रहने के लिए एक चप्पा ज़मीन भी नहीं मिलती। लेकिन "जागीरों की सफ़ाई" का असल में और सही तौर पर क्या मतलब होता है, यह हमें केवल आधुनिक रोमानी कथा-साहित्य की आदर्श भूमि, स्कॉटलैंड के पर्वतीय प्रदेश में ही देखने को मिलता है। वहां इस प्रक्रिया की विशेषता यह है कि वह बड़े सुनियोजित ढंग से संपन्न होती है; एक ही चोट में बड़े भारी इलाक़े की सफ़ाई हो जाती है (आयरलैंड में ज़मींदारों ने कई-कई गांव एक साथ साफ़ कर दिये हैं, पर स्कॉटलैंड में तो जर्मन रियासतों जितने बड़े इलाक़े एक ही बार में साफ़ कर दिये जाते हैं); और अंतिम बात यह कि ग़बन की हुई ज़मीनें एक विचित्र प्रकार की संपत्ति का रूप धारण कर लेती हैं।

स्कॉटलैंड के पर्वतीय प्रदेश में रहनेवाले केल्ट लोग कुलों में संगठित थे। प्रत्येक कुल जिस भूमि पर बसा हुआ था, उसका मालिक था। कुलों का प्रतिनिधि, उसका मुखिया, या "बड़ा आदमी", केवल नाम के लिए इस संपत्ति का मालिक होता था, जैसे इंगलैंड की रानी नाम के लिए राष्ट्र की समस्त भूमि की स्वामिनी है। जब अंग्रेज़ सरकार इन "बड़े आदमियों" की आपसी लड़ाइयों को बंद कराने में कामयाब हो गयी और स्कॉटलैंड के मैदानी भागों पर ये "बड़े आदमी" लगातार जो चढ़ाइयां किया करते थे, जब वे भी रोक दी गयीं, तो इन कुलों के मुखियाओं ने डकैती का अपना पुराना पुश्तैनी पेशा छोड़ नहीं दिया, बल्कि उसका केवल रूप बदल दिया। जो नाममात्र का अधिकार था, उसे उन्होंने ख़ुद अपनी मर्ज़ी से निजी संपत्ति के अधिकार में बदल दिया, और इससे चूंकि उनका ख़ुद अपने कुलों के लोगों के साथ टकराव हुआ, इसलिए उन्होंने इन लोगों को ज़बर्दस्ती ज़मीनों से भगाने का निश्चय कर लिया।

प्रोफ़ेसर न्यूमैन ने लिखा है: "इस तरह तो इंगलैंड का राजा यह दावा कर सकता था कि उसे अपनी प्रजा को समुद्र में धकेल देने का अधिकार है।"[213] स्कॉटलैंड में यह क्रांति दावेदार के समर्थकों के अंतिम विद्रोह के बाद आरंभ हुई थी। सर जेम्स स्टुअर्ट[214] और जेम्स ऐंडर्सन[215] की रचनाओं में हम उसके प्रथम चरणों का अध्ययन कर सकते हैं। १८ वीं शताब्दी में अपनी ज़मीनों से खदेड़े हुए गेल लोगों को देश छोड़कर चले जाने की भी मनाही कर दी गयी, ताकि उनके सामने ग्लासगो तथा अन्य औद्योगिक नगरों में जाकर रहने के सिवा और कोई चारा न रह जाये।[216] १९ वीं शताब्दी में किस तरह के तरीक़े इस्तेमाल किये जाते हैं,[217] इसके एक

---

[213] F. W. Newman, *Lectures on Political Economy*, London, 1851, p. 132.

[214] स्टुअर्ट ने लिखा है: "यदि आप इन ज़मीनों के विस्तार के साथ उनके लगान की तुलना करें" (यहां उसने ग़लती से लगान में उस ख़िराज को भी शामिल कर लिया है, जो कुल के लोग अपने मुखिया को दिया करते थे), "तो आप पायेंगे कि लगान बहुत कम मालूम होता है। यदि आप लगान की तुलना इस बात से करेंगे कि फ़ार्म के सहारे कितने मनुष्यों का पेट पलता है, तो आप यह पायेंगे कि किसी अच्छे उपजाऊ प्रांत की एक जागीर पर जितने लोगों का लालन-पालन होता है, स्कॉटलैंड के पर्वतीय प्रदेश में उतने ही मूल्य की जागीर से उससे शायद दसगुने अधिक लोगों का जीवन-निर्वाह होता है।" (J. Steuart, *An Inquiry into the Principles of Political Economy*, London, 1767, Vol. I, Ch. XVI, p. 104.)

[215] James Anderson, *Observations on the Means of Exciting a Spirit of National Industry etc.*, Edinburgh, 1777.

[216] जिन लोगों की ज़मीनें जबर्दस्ती छीन ली गयी थीं, उनको १८६० में धोखा देकर कनाडा भेज दिया गया। कुछ लोग पहाड़ों में भाग गये और आसपास के द्वीपों को चले गये। पुलिस ने उनका पीछा किया। उसके साथ उनकी मार-पीट भी हुई। पर आख़िर वे भाग जाने में कामयाब हुए।

[217] १८१४ में ऐडम स्मिथ के टीकाकार ब्यूकानन ने लिखा है: "स्कॉटलैंड के पर्वतीय प्रदेश में संपत्ति की प्राचीन प्रणाली पर नित नये प्रहार हो रहे हैं... ज़मींदार पुश्तैनी असामी का कोई ख़याल नहीं करता" (यहां पुश्तैनी असामी नामक परिकल्पना का ग़लती से प्रयोग किया गया है), "बल्कि अपनी ज़मीन उसे देता है, जो सबसे ऊंचा लगान देने को तैयार होता है। यदि यह आदमी सुधारक होता है, तो वह तुरंत ही एक नये ढंग की खेती चालू कर देता है। पहले ज़मीन पर छोटे असामियों या मज़दूरों की एक बड़ी संख्या बिखरी रहती थी, और आबादी ज़मीन की उपज के अनुपात में होती थी। अब सुधरी हुई खेती और बढ़े हुए लगान की नयी प्रणाली के अनुसार कम से कम ख़र्चा करके ज़्यादा से ज़्यादा उपज पैदा की जाती है, और इस उद्देश्य से, जो मज़दूर अनावश्यक होते हैं, उनको ज़मीन से हटा दिया जाता है और इस तरह आबादी को उस संख्या से घटाकर, जिसकी ज़मीन परवरिश कर सकती है, उस संख्या पर ले आया जाता है, जिसको ज़मीन काम दे सकती है... तब जिन असामियों की बेदख़ली की जाती है, वे पड़ोस के क़स्बों में जीविका की तलाश करते हैं, इत्यादि।" (David Buchanan, *Observations on etc., A. Smith's Wealth of Nations*, Edinburgh, 1814, Vol. IV, p. 144.) "स्कॉटलैंड के धनी लोग किसानों के परिवारों को यों बेदख़ल करते थे कि जैसे झाड़ियों के जंगल को साफ़ कर रहे हों, और वे गांवों तथा उनमें रहनेवाले लोगों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करते थे, जिस प्रकार का व्यवहार जंगली जानवरों से परेशान हिंदुस्तानी प्रतिहिंसा की भावना से उन्मत्त होकर शेरों से भरे हुए जंगल के साथ करते हैं... इनसान की भेड़ की खाल या मांस के लोथड़े के साथ अदला-बदली कर ली जाती है, बल्कि कभी-कभी तो इनसान को उससे भी सस्ता समझा जाता

उदाहरण के रूप में केवल सदरलैंड की डचेस द्वारा की गयी "सफ़ाई" का ज़िक्र कर देना काफ़ी होगा। यह महिला अर्थशास्त्र में पारंगता थी। इसलिए अपनी जागीर की बागडोर संभालते ही उसने उसमें एक मौलिक सुधार करने का निश्चय किया और तय कर दिया कि वह अपनी पूरी काउंटी को, जिसकी आबादी इसी प्रकार की अन्य कार्रवाइयों के फलस्वरूप पहले ही केवल १५,००० रह गयी थी, भेड़ों की चरागाह में बदल देगी। १८१४ से १८२० तक इन १५,००० निवासियों के लगभग ३,००० परिवारों को सुनियोजित ढंग से उजाड़ा और खदेड़ा गया। उनके सारे गांव नष्ट कर दिये गये और जला डाले गये। उनके तमाम खेतों को चरागाहों में बदल दिया गया। उनको बेदख़ल करने के लिए अंग्रेज़ सिपाही भेजे गये, जिनकी गांवों के निवासियों के साथ कई बार मार-पिटाई हुई। एक बुढ़िया ने अपने झोंपड़े से निकलने से इनकार कर दिया था। उसे उसी में जलाकर भस्म कर दिया गया। इस प्रकार इस भद्र महिला ने ७,९४,००० एकड़ ऐसी ज़मीन पर अधिकार कर लिया, जिसपर बाबा आदम के ज़माने से कुल का अधिकार था। निकाले हुए ग्रामवासियों को उसने समुद्र के किनारे ६,००० एकड़ ज़मीन दे दी – यानी प्रति परिवार दो एकड़। यह ६,००० एकड़ ज़मीन अभी तक बिल्कुल परती पड़ी हुई थी, और उससे उसके मालिकों को ज़रा भी लाभ नहीं होता था। परंतु डचेस के मन में अपनी प्रजा के लिए यकायक इस हद तक दया उमड़ी कि उसने इस ज़मीन को केवल २ शिलिंग ६ पेंस प्रति एकड़ के औसत लगान पर उनको उठा दिया और यह लगान उसने कुल के उन लोगों से वसूल किया, जो सदियों से उसके परिवार के लिए अपना ख़ून बहाते आये थे। कुल की चुरायी हुई ज़मीन को उसने २९ बड़े-बड़े भेड़ पालने के फ़ार्मों में बांट दिया, जिनमें से हरेक में केवल एक परिवार रहता था और जिनमें प्रायः इंगलैंड से मंगाये हुए खेतिहर मज़दूरों को बसाया गया था। १८३५ के आते-आते १५,००० गेल नर-नारियों का स्थान १,३१,००० भेड़ों ने ले लिया था। मूलवासियों में से बचे-खुचे लोग समुद्र के किनारे पर पटक दिये गये, जहां वे मछलियां पकड़कर ज़िंदा रहने की कोशिश करने लगे। एक अंग्रेज़ लेखक के शब्दों में, ये लोग जलस्थलचर बन गये थे और आधे धरती पर और आधे पानी में रहते थे, और फिर भी दोनों जगह अर्धजीवित अवस्था में ही रह पाते थे।[218]

है... अरे, सच पूछिये, तो यह उन मंगोलों के इरादों से कहीं अधिक भयानक है, जिन्होंने चीन के उत्तरी प्रांतों में घुसने के बाद अपनी परिषद के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि वहां के निवासियों को मार डाला जाये और भूमि को चरागाह में परिणत कर दिया जाये। स्कॉटलैंड के पर्वतीय प्रदेश के बहुत से भूस्वामियों ने ख़ुद अपने देश में और अपने देशवासियों का गला काटकर इस योजना को कार्यान्वित कर दिखाया है।" (George Ensor, *An Inquiry Concerning the Population of Nations*, London, 1818, pp. 215, 216.)

[218] जब सदरलैंड की मौजूदा डचेस ने 'टॉम काका की कुटिया' की लेखिका श्रीमती बीचर स्टो को लंदन में एक शानदार दावत दी और इस तरह अमरीकी प्रजातंत्र के हबशी दासों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करनी चाही – हालांकि गृह-युद्ध के समय, जब कि इंगलैंड का प्रत्येक अभिजातवर्गीय हृदय दासों के मालिकों के हितों की चिंता में व्यग्र था, अभिजात वर्ग के अपने अन्य सहयोगियों के साथ-साथ सदरलैंड की डचेस भी अपनी इस सहानुभूति को भूल गयी थीं – तब मैंने *New York Tribune* में सदरलैंड के दासों से संबंधित कुछ तथ्य प्रकाशित करवाये थे (जिनमें से कुछ केरी की रचना *The Slave Trade*, Philadelphia, 1853, pp. 203, 204 में उद्धृत किये गये थे)। मेरे लेख को एक स्कॉटिश

लेकिन बहादुर गेल लोग कुल के "बड़े आदमियों" की जो रोमानी एवं पर्वतीय ढंग की पूजा किया करते थे, उसकी उन्हें अभी और भी महंगी क़ीमत चुकानी थी। उनकी मछलियों की सुगंध "बड़े आदमियों" की नाकों तक भी पहुंची। उनको उसमें मुनाफ़े की बू आयी और उन्होंने समुद्र का किनारा लंदन के मछलियों के बड़े व्यापारियों को ठेके पर उठा दिया। बेचारे गेल लोगों को दोबारा खदेड़ दिया गया।[219]

लेकिन अंत में भेड़ों की चरागाहों का एक हिस्सा हिरनों के जंगलों में बदल दिया जाता है। हर कोई जानता है कि इंगलैंड में बड़े जंगल नहीं हैं। बड़े लोगों के बग़ीचों में पलनेवाले हिरन लंदन के नगर-पिताओं जैसे मोटे, थलथल और पालतू ढोर हैं। इसलिए "बड़े आदमियों के शौक़" को पूरा करने के लिए अब एकमात्र उचित स्थान स्कॉटलैंड ही बचा है। १८४८ में सॉमर्स ने लिखा था: "स्कॉटलैंड के पर्वतीय प्रदेश में कुकरमुत्तों की तरह नये-नये जंगल पैदा हो रहे हैं। यहां, गैक के इस तरफ़, यदि ग्लेनफ़ेशी का नया जंगल है, तो वहां दूसरी तरफ़, आर्डवेरिकी का नया जंगल है। इसी सीध में ब्लैक माउंट भी है। यह विशाल वीरान इलाक़ा भी अभी हाल में तैयार किया गया है। पूर्व से पश्चिम तक – ऐबरडीन के पास से लेकर ओबान के टीलों तक – अब जंगलों की एक अनवरत पंक्ति दिखायी देती है। उधर पर्वतीय प्रदेश के अन्य भागों में लोख़ आर्केग, ग्लेनगार्री, ग्लेनमॉरिस्टन, आदि के नये जंगल खड़े हो गये हैं। जिन घाटियों में कभी छोटे काश्तकारों की बस्तियां बसी हुई थीं, उनमें भेड़ों को बसा दिया गया था और काश्तकारों को ज़्यादा ख़राब और कम उपजाऊ ज़मीन पर भोजन तलाश करने के लिए खदेड़ दिया गया था। अब भेड़ों का स्थान हिरन ले रहे हैं, और अब हिरन छोटे काश्तकारों का घर-द्वार छीनते जा रहे हैं। इन काश्तकारों को अब पहले से भी ज़्यादा ख़राब ज़मीन पर जाकर बसना होगा और पहले से भी अधिक भयानक ग़रीबी में जीवन बिताना पड़ेगा। हिरनों के जंगलों[219a] और मनुष्यों का सह-अस्तित्व असंभव है। दोनों में से एक न एक को हट जाना पड़ेगा। पिछले पचीस साल से जंगल संख्या और विस्तार में जिस तरह बढ़ रहे हैं, उसी तरह अगले पचीस साल तक उन्हें और बढ़ने दीजिये, तो पूरी की पूरी गेल जाति अपने देश से निष्कासित हो जायेगी... पर्वतीय प्रदेश के भूस्वामियों में से कुछ के लिए हिरनों के जंगल बनाने की इच्छा ने एक महत्त्वाकांक्षा का रूप धारण कर लिया है... कुछ शिकार के शौक़ के कारण यह काम करते हैं... और दूसरे, जो अधिक व्यावहारिक

समाचारपत्र ने भी छापा, जिसके फलस्वरूप सदरलैंड-परिवार के चाटुकारों और इस समाचार-पत्र के बीच अच्छा-ख़ासा वाद-विवाद छिड़ गया।

[219] मछलियों के इस व्यापार का रोचक और विस्तृत विवरण मि० डैविड अर्कहार्ट के *Portfolio. New Series* में मिलेगा। नस्साउ डब्ल्यू० सीनियर की जो रचना (*Journals, Conversations and Essays Relating to Ireland*, London, 1868) उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई थी और जिसे हम पहले भी उद्धृत कर चुके हैं, उसमें "सदरलैंड-शायर की इस कार्रवाई को मनुष्य की स्मृति में एक सबसे अधिक लाभदायक सफ़ाई" कहा गया है। l.c.

[219a] स्कॉटलैंड के हिरनों के जंगलों में एक भी पेड़ नहीं है। नंगी पहाड़ियां हैं, जिनसे भेड़ों को भगा दिया गया है और हिरनों को लाकर बसा दिया गया है, और इन पहाड़ियों का नाम रख दिया गया है हिरनों के जंगल। यहां पेड़ लगाने और वन-विकास की भी कोई व्यवस्था नहीं है।

ढंग के लोग हैं, केवल मुनाफ़ा कमाने की दृष्टि से हिरनों का धंधा करते हैं। कारण कि बहुत सी पहाड़ियों को भेड़ों की चरागाहों के रूप में ठेके पर उठाने की अपेक्षा उनको हिरनों के जंगलों के रूप में इस्तेमाल करने में मालिकों को अधिक लाभ रहता है... शिकार के लिए हिरनों का जंगल चाहनेवाला शिकारी उसके लिए कोई भी रक़म देने को तैयार रहता है। अपनी थैली के आकार के सिवा वह इस मामले में और किसी चीज़ का ख़याल नहीं करता... पर्वतीय प्रदेश के लोगों पर जो मुसीबतें ढायी गयी हैं, वे उन मुसीबतों से किसी तरह भी कम नहीं हैं, जिनका पहाड़ नॉर्मन राजाओं की नीति के फलस्वरूप लोगों पर टूट पड़ा था। हिरनों के निवास-स्थानों का विस्तार अधिकाधिक बढ़ता जाता है, जब कि मनुष्यों को एक अधिकाधिक संकुचित घेरे में बंद किया जा रहा है... जनता के एक के बाद दूसरे अधिकार की हत्या हो रही है... अत्याचार दिन प्रति दिन बढ़ते ही जा रहे हैं... लोगों को उनकी ज़मीनों से हटाना और इधर-उधर बिखेर देना मालिकों के लिए एक निर्णीत सिद्धांत और खेती की आवश्यकता बन गया है। वे इनसानों की बस्तियों का उसी तरह सफ़ाया करते हैं, जिस तरह अमरीका या आस्ट्रेलिया में परती ज़मीन पर खड़े हुए पेड़ों या झाड़ियों को हटाया जाता है, और यह कार्य बहुत ही ख़ामोशी के साथ और बड़े कामकाजी ढंग से किया जाता है, इत्यादि।"[220]

---

[220] Robert Somers, *Letters from the Highlands: or the Famine of 1847*, London, 1848, pp. 12-28, passim. ये पत्र शुरू में *The Times* में प्रकाशित हुए थे। १८४७ में गेल क़ौम को जिस अकाल की विभीषिका से गुज़रना पड़ा था, उसका अंग्रेज़ अर्थशास्त्रियों ने, ज़ाहिर है, यह कारण बताया था कि आबादी बहुत ज्यादा बढ़ गयी थी। और यह भी नहीं, तो आबादी खाने-पीने की वस्तुओं की मात्रा की तुलना में तो अवश्य ही बहुत बढ़ गयी थी। जर्मनी में "जागीरों की सफ़ाई", या, वहां की भाषा में, "Bauernlegen", ख़ास तौर पर ३० वर्षीय युद्ध के बाद हुई थी, और उसके फलस्वरूप १७६० में भी कुरसाख़सेन में किसानों के विद्रोह हुए थे। विशेष रूप से पूर्वी जर्मनी में इस तरह की सफ़ाई हुई। प्रशा के अधिकतर प्रांतों में पहली बार फ़्रेडरिक द्वितीय ने किसानों को संपत्ति रखने का अधिकार दिलवाया था। साइलीसिया को जीतने के बाद उसने ज़मींदारों को झोंपड़े और खलिहान, आदि फिर से बनवाने और किसानों को ढोर और औज़ार देने के लिए मजबूर किया था। उसे अपनी सेना के लिए सिपाही और ख़ज़ाने के लिए कर देनेवाले चाहिए थे। लेकिन बाक़ी बातों में फ़्रेडरिक की वित्तीय प्रणाली और निरंकुश शासन – नौकरशाही तथा सामंतवाद के उस गड़बड़झाले – के अंतर्गत रहनेवाले किसान कितना सुखमय जीवन बिताते थे, यह फ़्रेडरिक द्वितीय के प्रशंसक मिराबो के निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है: "उत्तरी जर्मनी में फ़्लैक्स की खेती काश्तकार के लिए धन के एक प्रधान स्रोत का काम करती है। मनुष्य-जाति के दुर्भाग्य से यह केवल ग़रीबी को दूर रखने का ही काम कर सकती है, क्योंकि उसे सुख और समृद्धि का साधन नहीं समझा जा सकता। प्रत्यक्ष कर और तरह-तरह की बेगारें मिलकर जर्मन कृषक का कचूमर निकाल देते हैं। इसके अलावा वह जो भी चीज़ ख़रीदता है, उसपर उसे अप्रत्यक्ष कर देने पड़ते हैं... मुसीबत चूंकि कभी अकेले नहीं आती, इसलिए वह अपनी पैदावार को, जहां चाहे, वहां और जिस तरह चाहे, उस तरह नहीं बेच सकता। अपनी ज़रूरत की चीज़ें वह उन व्यापारियों से नहीं ख़रीद सकता, जो उनको सबसे कम दामों पर बेचने को तैयार हैं। इन तमाम कारणों से धीरे-धीरे वह चौपट हो जाता है, और यदि चर्ख़ा उसकी मदद न करे, तो वह प्रत्यक्ष कर भी न अदा कर पाये। चर्ख़ा उसकी कठिनाइयों को कुछ हद तक हल करने में मदद करता है, क्योंकि उससे उसकी पत्नी को, उसके बच्चों को, उसके नौकर-नौकरानियों को और ख़ुद उसको भी एक उपयोगी धंधा करने को मिल

चर्च की संपत्ति की लूट, राज्य के इलाक़ों पर धोखेधड़ी से क़ब्ज़ा कर लेना, सामूहिक भूमि की डाकाज़नी, सामंती संपत्ति तथा कुलों के संपत्तिहरण और आतंकवादी तरीक़ों का अंधाधुंध प्रयोग करके उसे आधुनिक ढंग की निजी संपत्ति में बदल देना – ये ही वे सुंदर तरीक़े

जाता है। लेकिन इस सहायता के बावजूद उसका जीवन कितना दयनीय होता है! गरमियों में वह नाव खेनेवाले ग़ुलाम की तरह काम करता है और ज़मीन को जोतता है और फ़सल काटता है। रात को ६ बजे वह सोने के लिए लेटता है और सुबह को २ बजे उठ खड़ा होता है, क्योंकि यदि वह देर करे, तो दिन का काम पूरा नहीं हो सकता। जाड़ों में उसे देर तक आराम करके अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त करना चाहिए। लेकिन राज्य के कर अदा करने के लिए उसे द्रव्य चाहिए, और द्रव्य प्राप्त करने के लिए उसे अपना सारा अनाज बेच देना चाहिए, और यदि वह अपना सारा अनाज बेच देता है, तो उसके पास रोटी खाने के लिए और अगली फ़सल बोने के लिए बीज भी नहीं बचते। इस कमी को पूरा करने के लिए उसे कताई करनी चाहिए... और उसमें ख़ूब मेहनत करनी चाहिए। चुनांचे जाड़ों में किसान आधी रात को या एक बजे सोने के लिए लेटता है और ५ या ६ बजे उठ जाता है। या वह रात को ६ बजे सो जाता है और सुबह २ बजे ही उठकर काम में लग जाता है। इतना अधिक काम और इतनी कम नींद आदमी का सारा सत सोख लेती है, और यही कारण है कि शहरों की अपेक्षा गांवों में लोग बहुत जल्दी बूढ़े हो जाते हैं।" (Mirabeau, l.c., t. III, pp. 212 sqq.)

दूसरे संस्करण में जोड़ा गया अंश: रॉबर्ट सॉमर्स की जिस रचना को हमने ऊपर उद्धृत किया है, उसके प्रकाशन के १८ वर्ष बाद, अप्रैल १८६६ में, प्रोफ़ेसर लिओन लेवी ने धंधों की परिषद के सामने भेड़ों की चरागाहों के हिरनों के जंगलों में बदल दिये जाने के बारे में एक भाषण दिया था, जिसमें उन्होंने बताया था कि स्कॉटलैंड के पर्वतीय प्रदेश को किस तरह उजाड़ा गया है। अन्य बातों के अलावा उन्होंने इस भाषण में यह भी कहा था: "बस्तियों को उजाड़कर भेड़ों की चरागाहों में बदल देना बिना कुछ ख़र्च किये आमदनी हासिल करने का सबसे सुविधाजनक उपाय था... पर्वतीय प्रदेश में यह अकसर देखने में आता था कि भेड़ों की चरागाह का स्थान हिरनों के जंगल ने ले लिया है। जिस तरह एक समय ज़मींदारों ने इनसानों को अपनी जागीरों से निकाल बाहर किया था, उसी तरह अब उन्होंने भेड़ों को निकाल बाहर किया और अपनी ज़मीनों पर नये किरायेदारों को – जंगली जानवरों और पक्षियों को – ला बसाया... फ़ोरफ़ारशायर में डलहौज़ी के अर्ल की जागीर से चलना शुरू करके जॉन ओ'ग्रोट्स तक चलते जाइये, आप कभी जंगलों के बाहर नहीं निकलेंगे... इनमें से बहुत से जंगलों में लोमड़ियां, बन-बिलाव, मार्टन, गन्धमार्जार, वीज़ेल और पहाड़ी ख़रगोश बहुतायत से मिलते हैं; और खरहे, गिलहरियां और चूहे अभी हाल ही में इस इलाक़े में पहुंचे हैं। इस प्रकार स्कॉटलैंड के सांख्यिकीय वर्णन में जिस भूमि को बहुत ही श्रेष्ठ कोटि की विस्तृत चरागाहों के रूप में पेश किया गया है, उसके विशाल खंडों में अब किसी तरह की खेती या सुधार नहीं हो सकते, और अब वे वर्ष में कुछ दिन केवल चंद व्यक्तियों के शिकार खेलने के काम में आते हैं।"

२ जून १८६६ के लंदन के *Economist* ने लिखा है: "पिछले सप्ताह के एक स्कॉट पत्र में जो समाचार प्रकाशित हुए हैं, उनमें से एक इस प्रकार है: '...सदरलैंडशायर के एक सर्वोत्तम भेड़ फ़ार्म को, जिसके लिए अभी हाल में १,२०० पाउंड वार्षिक लगान देने का प्रस्ताव आया था, मौजूदा पट्टे की अवधि की समाप्ति पर हिरनों के जंगल में बदल दिया जायेगा।' यहां हम सामंतवाद की आधुनिक प्रवृत्तियों को काम करते हुए देखते हैं... वे अब भी लगभग नॉर्मन विजेता के समय की तरह ही काम कर रही हैं... उस समय नया जंगल बनाने के लिए छत्तीस गांव बरबाद कर दिये गये थे... बीस लाख एकड़ ज़मीन... जिसमें स्कॉटलैंड के कुछ सबसे अधिक उपजाऊ इलाक़े शामिल हैं, पूरी तरह उजाड़ दिये गये हैं। ग्लेन टिल्ट की प्राकृतिक घास पेर्थ की काउंटी की सबसे अधिक पौष्टिक घास मानी जाती थी।

हैं, जिनके ज़रिये आदिम संचय हुआ था। इन तरीक़ों के ज़रिये पूंजीवादी खेती के लिए मैदान साफ़ किया गया, भूमि को पूंजी का अभिन्न अंग बनाया गया, और शहरी उद्योगों की आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक "स्वतंत्र" और निराश्रय सर्वहारा को जन्म दे दिया गया।

बेन ऑल्डर का हिरनों का जंगल कभी बैडेनओक के विस्तृत डिस्ट्रिक्ट में सबसे अच्छी चरागाह समझा जाता था। ब्लैक माउंट के जंगल का एक भाग काले चेहरों वाली भेड़ों के लिए स्कॉटलैंड की सबसे अच्छी चरागाह माना जाता था। स्कॉटलैंड में केवल शिकार खेलने के लिए कितना बड़ा इलाक़ा उजाड़ दिया गया है, इसका कुछ आभास इस बात से हो सकता है कि इस इलाक़े का रक़बा पर्थ की पूरी काउंटी से भी अधिक है। बेन ऑल्डर के जंगल के संसाधनों से इसका कुछ अनुमान किया जा सकता है कि इन इलाक़ों को ज़बर्दस्ती उजाड़ देने से कितना भारी नुक़सान हुआ है। इस जंगल की ज़मीन पर १५,००० भेड़ों को चराया जा सकता था, और यह स्कॉटलैंड की जंगलों वाली पुरानी ज़मीन के ३० वें हिस्से से अधिक नहीं थी... इत्यादि... जंगलों की यह सारी ज़मीन अब इस तरह से अनुत्पादक हो गयी है... मानो वह जर्मन सागर के जल में डूब गयी हो... इस तरह के बनावटी बियाबानों और उजाड़ों को और फैलने से रोकने के लिए क़ानूनों को निर्णायक रूप से हस्तक्षेप करना चाहिए।"

अध्याय २८

संपत्तिहृत लोगों के खिलाफ़ १५ वीं शताब्दी के अंत से ख़ूनी क़ानूनों का निर्माण। संसद के क़ानूनों द्वारा मजदूरी में जबर्दस्ती कमी

यह संभव नहीं था कि सामंती चाकरों के दस्तों को भंग करके और लोगों की ज़मीनों को ज़बर्दस्ती छीनकर जिस "स्वतंत्र" सर्वहारा का निर्माण किया गया था, उसकी संख्या जिस तेज़ी के साथ बढ़ती जाती थी, वह उसी तेज़ी के साथ नवजात उद्योगों में काम पाता जाये। दूसरी ओर, इन लोगों को उनके जीवन के परंपरागत ढंग से यकायक अलग कर दिया गया था, और यह मुमकिन न था कि उनके नये ढंग के जीवन के लिए आवश्यक अनुशासन भी उनमें उतने ही यकायक ढंग से पैदा हो जाता। चुनांचे इन लोगों की एक विशाल संख्या भिखारियों, डाकुओं और आवारा लोगों में बदल गयी। यह कुछ हद तक उनकी अपनी प्रवृत्तियों का और कुछ हद तक परिस्थितियों का परिणाम था। अतएव १५ वीं शताब्दी के अंतिम हिस्से में और १६ वीं शताब्दी में लगातार सारे पश्चिमी यूरोप में आवारागर्दी को रोकने के लिए अत्यंत निर्मम क़ानून बनाये गये। वर्तमान मज़दूर वर्ग के पूर्वजों को इस बात का दंड दिया गया कि उनको दूसरों ने ज़बर्दस्ती आवारा और मुहताज बना दिया था। क़ानून उनके साथ ऐसा व्यवहार करता था, जैसे वे अपनी इच्छा से अपराधी बन गये हों, और यह मानकर चलता था कि जो परिस्थितियां अब रह नहीं गयी थीं, उन्हीं में काम करते रहना केवल उनकी अपनी भलमनसाहत पर निर्भर करता था।

इंगलैंड में हेनरी सातवें के राज्य-काल में इस तरह के क़ानूनों का बनना आरंभ हुआ।

हेनरी आठवें के राज्य-काल में १५३० में एक क़ानून बनाया गया, जिसके अनुसार ऐसे भिखारियों को, जो बूढ़े हो गये थे और काम करने के लायक़ नहीं रह गये थे, भीख मांगने का लाइसेंस मिल जाता था। दूसरी ओर, हट्टे-कट्टे आवारा लोगों को कोड़े लगाये जाते थे और जेलख़ानों में डाल दिया जाता था। क़ानून के अनुसार इन लोगों को गाड़ी के पीछे बांधकर उस वक़्त तक कोड़े लगाये जाते थे, जब तक कि उनके बदन से ख़ून नहीं बहने लगता था, और उसके बाद उनसे क़सम खिलवायी जाती थी कि वे अपने जन्म-स्थान को लौट जायेंगे या उस जगह चले जायेंगे, जहां वे पिछले तीन साल से रह रहे थे, और वहां "श्रम करेंगे"। यह भी कैसी भयानक विडंबना थी! हेनरी आठवें के राज्य-काल के २७ वें वर्ष में एक क़ानून के द्वारा यह पुराना क़ानून बहाल कर दिया गया, और कुछ नयी धाराएं पहले से भी कड़ी बना दी गयीं। नये क़ानून के अनुसार यदि कोई आदमी दूसरी बार आवारागर्दी के अपराध में पकड़ा जाता था, तो उसको एक बार फिर कोड़े लगाये जाते थे और आधा कान काट डाला जाता था; और तीसरी बार पकड़े जाने पर तो उसे एक पक्के अपराधी और समाज के शत्रु के रूप में फांसी दे दी जाती थी।

एडवर्ड छठे के राज्य-काल के प्रथम वर्ष – १५४७ – में एक क़ानून बनाया गया, जिसके अनुसार यदि कोई आदमी काम करने से इनकार करता था, तो उसे उस व्यक्ति की ग़ुलामी

करनी पड़ती थी, जिसने उसके ख़िलाफ़ शिकायत की थी कि वह अपना समय काहिली में बिताता है। गुलाम के मालिक को उसे रोटी और पानी, पतला शोरबा और बचा-बचाया मांस ही खाने को देना होता था। वह उससे किसी भी तरह का काम ले सकता था, चाहे वह काम कितना ही घिनौना क्यों न हो, और इसके लिए कोड़े का और ज़ंजीरों का इस्तेमाल कर सकता था। यदि गुलाम काम से चौदह दिन ग़ैरहाज़िर रहता था, तो उसे जीवन भर की गुलामी की सज़ा दी जाती थी और उसके माथे या गाल पर गुलामी का S निशान दाग़ दिया जाता था। यदि वह तीसरी बार काम से भाग जाता था, तो उसको एक घोर अपराधी क़रार देकर फांसी दे दी जाती थी। अपनी किसी भी अन्य व्यक्तिगत संपत्ति या पशु की तरह मालिक गुलाम को बेच सकता था और किराये पर उठा सकता था। यदि गुलाम अपने मालिकों के ख़िलाफ़ कुछ करने की कोशिश करते थे, तो उनको भी फांसी दे दी जाती थी। स्थानीय मजिस्ट्रेट सूचना मिलते ही ऐसे बदमाशों को पकड़ मंगवाते थे। यदि यह देखा जाता था कि कोई आवारा आदमी तीन दिन से कुछ नहीं कर रहा है, तो उसे उसके जन्म-स्थान पर ले जाता था और लोहा लाल करके उसकी छाती पर आवारागर्दी का V चिह्न दाग़ दिया जाता था और फिर ज़ंजीरों से जकड़कर उससे सड़क कुटवायी जाती थी या कोई और काम लिया जाता था। यदि आवारा आदमी अपने जन्म-स्थान का ग़लत पता बताता था, तो उसे जीवन भर इस स्थान की, वहां के निवासियों की और वहां की कार्पोरेशन की गुलामी करनी पड़ती थी और उसके माथे पर गुलामी का S चिह्न दाग़ दिया जाता था। सभी व्यक्तियों को आवारा आदमियों के बच्चों को उठा ले जाने और शागिर्द मज़दूरों के रूप में उनसे काम लेने का अधिकार था – लड़कों से २४ वर्ष की आयु तक और लड़कियों से २० वर्ष की आयु तक। यदि ये बच्चे भाग जाते थे, तो उनको उपरोक्त आयु तक अपने मालिकों की गुलामी करनी पड़ती थी, जो इच्छा होने पर उनको ज़ंजीरों में बांधकर रख सकते थे, कोड़े लगा सकते थे, आदि। हर मालिक अपने गुलाम के गले में, बांहों में या टांगों में लोहे का छल्ला डाल सकता था, ताकि गुलाम को ज्यादा आसानी से पहचाना जा सके और वह भाग न सके।[221] क़ानून के अंतिम भाग में कहा गया है कि कुछ ग़रीब लोगों को ऐसा कोई भी स्थान या व्यक्ति नौकर रख सकता है, जो उनको खाने-पीने को देने को राज़ी हो और जो उनके लिए कोई काम निकाल सके। Roundsmen के नाम से, इस प्रकार के ग्राम-दासों से इंगलैंड में १९ वीं शताब्दी के काफ़ी वर्ष बीत जाने तक काम लिया जाता था।

एलिज़ाबेथ के राज्य-काल में १५७२ में एक क़ानून बनाया गया, जिसके अनुसार १४ वर्ष से अधिक आयु के ऐसे भिखारियों को, जिनके पास लाइसेंस न हो, बुरी तरह कोड़े लगाये जाते थे और उनका बायां कान दाग़ दिया जाता था। इस दंड से वे केवल उसी हालत में छूट सकते थे, जब कोई आदमी उनको दो साल के लिए नौकर रखने को तैयार हो जाये। दोबारा पकड़े जाने पर, यदि उनकी उम्र १८ वर्ष से अधिक होती थी और कोई आदमी उनको दो साल के लिए नौकर रखने को राज़ी नहीं होता था, तो उनको फांसी दे दी जाती थी। और तीसरी बार पकड़े जाने पर तो उनको हर हालत में घोर अपराधी क़रार देकर मार

---

[221] *Essay on Trade etc.* (1770) के लेखक ने कहा है: "मालूम होता है कि एडवर्ड छठे के राज्य-काल में अंग्रेज़ लोग सचमुच पूरी गंभीरता के साथ उद्योगों को प्रोत्साहन देने और ग़रीबों से काम लेने लगे थे। इसका प्रमाण है एक उल्लेखनीय क़ानून, जिसमें कहा गया है कि सभी आवारागर्द लोगों को दाग़ दिया जायेगा, इत्यादि।" (l. c., p. 5.)

डाला जाता था। इसी प्रकार कुछ और क़ानून भी बनाये गये जैसे एलिज़ाबेथ के राज्य-काल का १८वीं क़ानून (१३वां अध्याय) और १५९७ का एक और क़ानून।[221a]

जेम्स प्रथम के राज्य-काल में यह विधान था कि यदि कोई आदमी आवारागर्दी करते हुए और भीख मांगते हुए पाया जाता था, तो उसे बदमाश और आवारा घोषित कर दिया जाता था। स्थानीय मजिस्ट्रेटों को इस बात का अधिकार दे दिया गया था कि वे ऐसे लोगों

[221a] टॉमस मोर ने अपनी रचना *Utopia* में लिखा है: "इस प्रकार अकसर यह देखने में आता है कि कोई लालची और पेटू आदमी, जिसके लोभ की कोई सीमा नहीं होती और जो अपनी मातृभूमि के लिए शाप के समान होता है, वह कई हज़ार एकड़ ज़मीन को एक बाड़े के भीतर घेर लेता है, वहां रहनेवाले काश्तकारों को उनकी ज़मीनों से निकाल देता है या तो धोखे और फ़रेब से, या ज़बर्दस्त अत्याचार के द्वारा उनको वहां से खदेड़ देता है, या उनको इतना तंग करता है और इतने दुःख देता है कि वे थककर अपना सब कुछ बेच देने को तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार किसी न किसी तरक़ीब से, किसी न किसी हेराफेरी से, इन ग़रीब, जाहिल, अभागे मनुष्यों को इसके लिए मजबूर कर ही दिया जाता है कि तमाम स्त्री-पुरुष, पति-पत्नियां, अनाथ बच्चे, विधवाएं और गोद में बालक उठाये हुए दुखियारी माताएं और उनका सारा परिवार – जिसकी हैसियत बहुत छोटी और संख्या बहुत बड़ी होती है, क्योंकि काश्तकारी में बहुत काम करनेवालों की ज़रूरत पड़ती है – ये सारे लोग अपना घर-द्वार छोड़कर निकल जायें। मैं कहता हूं कि ये लोग बेचारे एक बार अपना पुराना घर छोड़ने के बाद सदा इधर-उधर भटकते ही रहते हैं और उन्हें अपना सिर छिपाने के लिए भी कोई जगह नहीं मिलती। उनके घर के सारे सामान का मूल्य बहुत कम होता है, हालांकि फिर भी वह अच्छे दामों में बिक सकता था; मगर यकायक उठाकर घर के बाहर फेंक दिये जाने पर उनको मजबूर होकर उसे मिट्टी के मोल बेच देना पड़ता है। और इस तरह उन्हें जो चंद पैसे मिलते हैं, जब वे पैसे इधर-उधर भटकते-भटकते सब ख़र्च हो जाते हैं, तो फिर वे इसके सिवा और क्या कर सकते हैं कि चोरी करें और सर्वथा न्यायोचित ढंग से फांसी पर लटक जायें, या भीख मांगते हुए घूमें? और उस हालत में भी उनको आवारा क़रार देकर जेल में डाला जा सकता है, क्योंकि वे इधर-उधर घूमते हैं और काम नहीं करते, हालांकि सचाई यह है कि वे काम पाने के लिए चाहे जितना गिड़गिड़ायें, उनको कोई आदमी काम नहीं देता।" इन खदेड़े जानेवाले ग़रीबों में से, जिनको टॉमस मोर के कथनानुसार मजबूर होकर चोरी करनी पड़ती थी, हेनरी आठवें के राज्य-काल में "७२,००० छोटे-बड़े चोर जान से मार डाले गये थे।" (Holinshed, *Description of England*, Vol. I, p. 186.) एलिज़ाबेथ के काल में "बदमाशों को बड़ी मुस्तैदी के साथ फांसी पर लटकाया जाता था, और आम तौर पर कोई साल ऐसा नहीं बीतता था, जब तीन या चार सौ आदमी फांसी न चढ़ाये जाते हों।" (Strype's *Annals of the Reformation and Establishment of Religion, and Other Various Occurrences in the Church of England during Queen Elizabeth's Happy Reign*, 2nd Ed., 1725, Vol. II.) इसी लेखक – स्ट्राइप – के कथनानुसार सॉमरसेटशायर में एक साल में ४० व्यक्तियों को फांसी दी गयी, ३५ डाकुओं का हाथ जला दिया गया, ३७ को कोड़े लगाये गये और १८३ को "पक्के आवारा" क़रार देकर छोड़ दिया गया। फिर भी इस लेखक की राय है कि क़ैदियों की यह बड़ी संख्या वास्तविक अपराधियों की संख्या का पांचवां हिस्सा भी नहीं थी, क्योंकि मजिस्ट्रेट इस मामले में बड़ी लापरवाही दिखाते थे और लोग-बाग अपनी मूर्खता के कारण इन बदमाशों पर तरस खाते थे; और इंगलैंड की अन्य काउंटियों की हालत इस मामले में सॉमरसेटशायर से बेहतर नहीं थी, बल्कि कुछ की हालत तो और भी ख़राब थी।

को सार्वजनिक रूप से कोड़े लगवायें और पहले अपराध के वास्ते छः महीने और दूसरे अपराध के वास्ते २ वर्ष तक जेल में बंद कर दें। स्थानीय मजिस्ट्रेट उनको जेल के अंदर जब चाहें, तब, और जितने चाहें, उतने कोड़े लगवा सकते थे... जो बदमाश ज़्यादा ख़तरनाक समझे जाते थे और जिनके सुधार की कोई आशा नहीं की जाती थी, उनके बायें कंधे पर बदमाशी का R चिह्न दाग़कर उनको सख़्त काम में जोत दिया जाता था, और यदि वे इसके बाद भी भीख मांगते हुए पकड़े जाते थे, तो उनको निर्ममता के साथ फांसी दे दी जाती थी। ये क़ानून १८वीं शताब्दी के आरंभ तक लागू रहे और केवल उस समय रद्द हुए, जब रानी ऐन के राज्य-काल का १२वां क़ानून (२३वां अध्याय) बनाया गया।

फ़्रांस में भी इसी तरह के क़ानून बनाये गये थे। वहां १७वीं शताब्दी के मध्य में पेरिस में "आवारा लोगों का राज्य" क़ायम किया गया था। लुई सोलहवें का राज्य-काल आरंभ होने के समय भी (१३ जुलाई १७७७ को) यह क़ानून बना दिया गया कि १६ से ६० वर्ष तक की आयु का प्रत्येक ऐसा पुरुष, जिसके पास जीवन-निर्वाह का कोई साधन नहीं है और जो कोई धंधा नहीं करता, फ़ौजी बेड़े में मल्लाह की मशक़्क़त करने के लिए भेज दिया जायेगा। नीदरलैंड के लिए चार्ल्स पांचवें ने इसी तरह का एक क़ानून (अक्तूबर १५३७ में) बनाया था, और हालैंड के राज्यों तथा नगरों के (१० मार्च १६१४ के) पहले आदेश में और संयुक्त प्रांतों के (२६ जून १६४९ के) प्लाकाट में भी इसी प्रकार का नियम बनाया गया था, इत्यादि, इत्यादि।

इस प्रकार खेती करनेवाले लोगों की सबसे पहले ज़बर्दस्ती ज़मीनें छीनी गयीं, फिर उनको उनके घरों से खदेड़ा गया, आवारा बनाया गया और उसके बाद उनको निर्मम और भयानक क़ानूनों का उपयोग करके कोड़े लगाये गये, दहकते लोहे से दाग़ा गया, तरह-तरह की यातनाएं दी गयीं और इस प्रकार उनको मज़दूरी की प्रणाली के लिए आवश्यक अनुशासन सिखाया गया।

केवल इतना ही काफ़ी नहीं है कि समाज के एक छोर पर श्रम के लिए आवश्यक तमाम चीज़ें पूंजी की शक्ल में केंद्रित हो जाती हैं और दूसरे छोर पर मनुष्यों की वह विशाल संख्या एकत्रित हो जाती है, जिसके पास अपनी श्रम-शक्ति के सिवा और कुछ बेचने को नहीं होता। न ही यह काफ़ी है कि वे अपनी श्रम-शक्ति को स्वेच्छा से बेचने के लिए मजबूर होते हैं। पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति एक ऐसे मज़दूर वर्ग का विकास करती है, जो अपनी शिक्षा, परंपरा और अभ्यास के कारण उत्पादन की इस प्रणाली की परिस्थितियों को प्रकृति के स्वतःस्पष्ट नियमों के समान समझने लगता है। जब पूंजीवादी उत्पादन-प्रक्रिया का संगठन एक बार पूर्णतया विकसित हो जाता है, तो फिर वह सारे प्रतिरोध को ख़त्म कर देता है। सापेक्ष बेशी आबादी का निरंतर उत्पादन श्रम की पूर्ति और मांग के नियम को और इसलिए मज़दूरी को एक ऐसी लीक में फंसाये रखता है, जो पूंजी की आवश्यकताओं के अनुरूप होती है। आर्थिक संबंधों का भोंडा दबाव मज़दूर को पूरी तरह पूंजीपति के अधीन बना देता है। आर्थिक परिस्थितियों के अलावा कुछ प्रत्यक्ष बल-प्रयोग अब भी किया जाता है, लेकिन केवल अपवाद के रूप में। साधारणतया मज़दूर को "उत्पादन के प्राकृतिक नियमों" के भरोसे छोड़ा जा सकता है, अर्थात् उसको पूंजी पर निर्भरता के भरोसे छोड़ा जा सकता है, जो निर्भरता स्वयं उत्पादन की परिस्थितियों से उत्पन्न होती है और जो उन परिस्थितियों के रहते हुए कभी नहीं मिट सकती। परंतु पूंजीवादी उत्पादन के ऐतिहासिक जन्म-काल में परिस्थिति इससे भिन्न होती है। अपने उभार के काल

में बुर्जुआ वर्ग को मज़दूरी का "नियमन" करने के लिए, अर्थात् उसको ज़बर्दस्ती कम करके ऐसी सीमाओं के भीतर रखने के लिए, जो बेशी मूल्य बनाने के लिए सहायताजनक हों, काम के दिन को लंबा करने के लिए और ख़ुद मज़दूर की सामान्य परवशता को बनाये रखने के लिए राज्य की शक्ति की आवश्यकता होती है और वह उसका प्रयोग भी करता है। तथा-कथित आदिम संचय का यह एक अत्यंत आवश्यक तत्त्व है।

१४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों के जिस वर्ग का जन्म हुआ था, वह उस समय और अगली शताब्दी में भी आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा था। देहात में भूमि के स्वामी स्वतंत्र किसानों के कारण और शहरों में शिल्पी संघों के कारण वह पूरी तरह सुरक्षित था। देहात में और शहरों में सामाजिक दृष्टि से मालिक और मज़दूर की हैसियत में कोई विशेष फ़र्क़ नहीं था। पूंजी के संबंध में श्रम की अधीनता केवल औपचारिक ढंग की थी, अर्थात् ख़ुद उत्पादन की प्रणाली ने अभी कोई विशिष्ट पूंजीवादी रूप धारण नहीं किया था। स्थिर पूंजी के मुक़ाबले में परिवर्ती पूंजी का पलड़ा बहुत भारी था। इसलिए पूंजी के प्रत्येक संचय के साथ मज़दूरों की मांग बढ़ती जाती थी, जब कि उनकी पूर्ति केवल धीरे-धीरे बढ़ रही थी। राष्ट्रीय पैदावार का एक बड़ा हिस्सा, जो बाद को पूंजीवादी संचय के कोष में परिणत हो गया, अभी तक मज़दूर के उपभोग के कोष का ही भाग बना हुआ था।

इंगलैंड में मज़दूरों के बारे में क़ानून बनाने की शुरूआत १३४९ में हुई थी, जब एडवर्ड तृतीय के राज्य-काल में मज़दूरों का परिनियम बनाया गया था (इन क़ानूनों का उद्देश्य शुरू से ही मज़दूर का शोषण करना था और प्रत्येक काल में उनका स्वरूप समान रूप से मज़दूर-विरोधी रहा)।[222] १३५० में राजा जॉन के नाम से फ़्रांस में जो फ़रमान जारी हुआ था, वह भी इसी प्रकार का था। इंगलैंड और फ़्रांस के क़ानून समानांतर चलते हैं और उनका अभिप्राय भी एक सा रहता है। जहां तक मज़दूर-क़ानूनों का उद्देश्य काम के दिन को लंबा करना था, मैं इस विषय की पुनःचर्चा नहीं करूंगा, क्योंकि उसपर पहले ही (दसवें अध्याय के अनुभाग ५ में) विचार किया जा चुका है।

मज़दूरों का परिनियम हाउस आफ़ कामन्स के बहुत ज़ोर देने पर पास किया गया था। एक अनुदारदली लेखक ने बड़े भोलेपन के साथ कहा है: "पहले ग़रीब लोग इतनी ऊंची मज़दूरी मांगा करते थे कि उद्योग और धन-संपदा के लिए ख़तरा पैदा हो गया था। अब उनकी मज़दूरी इतनी कम हो गयी है कि उद्योग और धन-संपदा के लिए फिर वैसा ही और शायद उससे भी बड़ा ख़तरा पैदा हो गया है, मगर यह ख़तरा एक दूसरे रूप में सामने आता है।"[223] क़ानून बनाकर तय कर दिया गया कि शहर और देहात में कार्यानुसार मज़दूरी और समयानुसार मज़दूरी की दरें क्या होंगी। खेतिहर मज़दूरों के लिए निश्चय हुआ कि वे पूरे साल के लिए नौकर हुआ करेंगे, और शहरी मज़दूरों के लिए तय हुआ कि वे किसी भी अवधि के

---

[222] ऐडम स्मिथ के अनुसार "जब कभी विधान-सभा मालिकों और उनके मज़दूरों के मतभेदों का नियमन करने का प्रयत्न करती है, तब सदा मालिक ही उसके परामर्शदाताओं का काम करते हैं।" लेंगे ने कहा है: "क़ानूनों की आत्मा है संपत्ति।"

[223] *Sophisms of Free Trade. By a Barrister*, Lonbon, 1850, p. 206. इसके आगे वह बड़े तीखे ढंग से कहते हैं: "मालिकों के हित में तो हम तत्काल हस्तक्षेप करने को तैयार हो गये थे; अब क्या काम करनेवालों के हित में कुछ नहीं किया जा सकता?"

लिए "खुली मंडी में" अपनी श्रम-शक्ति को बेचेंगे। क़ानून के द्वारा मज़दूरी की जो दरें निश्चित कर दी गयी थीं, उनसे अधिक मज़दूरी देने की मनाही कर दी गयी और ऐलान कर दिया गया कि इस अपराध के लिए क़ैद की सज़ा दी जायेगी। लेकिन निश्चित दर से अधिक मज़दूरी लेनेवालों के लिए देनेवालों से अधिक कड़ी सज़ा का विधान किया गया था। इसी प्रकार एलिज़ाबेथ के राज्य-काल में शागिर्द मज़दूरों का जो क़ानून बनाया गया था, उसकी १८ वीं और १९ वीं धाराओं में निश्चित दर से अधिक मज़दूरी देनेवालों के लिए दस दिन की क़ैद का विधान था, पर लेनेवालों के लिए इक्कीस दिन की क़ैद निश्चित की गयी थी। १३६० में एक क़ानून बनाकर इन सज़ाओं को और बढ़ा दिया गया और मालिकों को यह अधिकार दे दिया गया कि क़ानूनी दर पर श्रम लेने के लिए वे मज़दूरों को मार-पीट भी सकते हैं। राजगीरों और बढ़इयों ने जिन विभिन्न प्रकार के संयोजनों, क़रारों, क़समों, आदि के ज़रिये अपने को एक दूसरे से बांधा हुआ था, उन सबको रद्द घोषित कर दिया गया। १४ वीं शताब्दी से १८२५ तक, जब कि ट्रेड-यूनियनों पर प्रतिबंध लगानेवाले क़ानूनों को मंसूख़ किया गया, मज़दूरों का संगठन करना एक भयानक अपराध समझा जाता था। १३४९ के मज़दूर परिनियम तथा उसकी शाखा-प्रशाखाओं की मूल भावना इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि राज्य अधिकतम मज़दूरी तो हमेशा निश्चित कर देता था, पर अल्पतम मज़दूरी किसी हालत में निर्धारित नहीं करता था।

जैसा कि हमें मालूम है, १६ वीं शताब्दी में मज़दूरों की हालत बहुत ज्यादा ख़राब हो गयी थी। नक़द मज़दूरी बढ़ी, पर उस अनुपात में नहीं, जिस अनुपात में द्रव्य का मूल्य कम हो गया था या जिस अनुपात में मालों के दाम बढ़ गये थे। इसलिए असल में मज़दूरी पहले से कम हो गयी थी। फिर भी मज़दूरी को बढ़ने से रोकनेवाले सारे क़ानून ज्यों के त्यों लागू रहे, और "जिनको कोई भी आदमी नौकर रखने को तैयार नहीं था", उनके पहले की तरह अब भी कान काटे जाते थे और उनको लाल लोहे से दाग़ा जाता था। एलिज़ाबेथ के राज्य-काल के ५ वें वर्ष में शागिर्द मज़दूरों का जो क़ानून पास हुआ था, उसके तीसरे अध्याय के द्वारा स्थानीय मजिस्ट्रेटों को यह अधिकार दे दिया गया था कि वे कुछ ख़ास तरह के मज़दूरों की मज़दूरी निश्चित कर सकते हैं और मौसम तथा मालों के दामों का ख़याल रखते हुए उनमें हेर-फेर कर सकते हैं। जेम्स प्रथम ने श्रम के इन तमाम नियमों को बुनकरों, कताई करनेवालों और प्रत्येक संभव कोटि के मज़दूरों पर लागू कर दिया।[224] जॉर्ज द्वितीय ने मज़दूरों

---

[224] जेम्स प्रथम के राज्य-काल के दूसरे क़ानून (अध्याय ६) की एक धारा से पता चलता है कि कपड़ा तैयार करनेवाले कुछ कारख़ानेदारों ने स्थानीय मजिस्ट्रेटों के रूप में ख़ुद अपने कारख़ानों में ज़बर्दस्ती सरकारी तौर पर मज़दूरी की दरें निश्चित कर दी थीं। जर्मनी में, ख़ास कर तीसवर्षीय युद्ध के बाद, मज़दूरी को बढ़ने से रोकने के लिए क़ानून बनाना एक आम बात थी। "उजड़े हुए इलाक़ों में नौकरों और मज़दूरों की कमी से भूस्वामियों को बहुत कष्ट हो रहा था। चुनांचे तमाम गांववालों को आदेश दिया गया कि अविवाहित पुरुषों और स्त्रियों को कोठरियां किराये पर मत दो, बल्कि इन सबकी अधिकारियों को सूचना दो। यदि ये लोग काम करने को राज़ी नहीं होंगे, तो उनको जेल में डाल दिया जायेगा। अगर वे कोई और काम कर रहे हैं, जैसे किसानों से रोज़ाना मज़दूरी लेकर बुवाई कर रहे हैं या अनाज की ख़रीदारी और बिक्री कर रहे हैं, तो भी यह नियम लागू होगा।" (*Kaiserliche Privilegien und Sanctionen für Schlesien*, I, 125). "छोटे-छोटे जर्मन राजाओं के

के संगठनों पर प्रतिबंध लगानेवाले क़ानूनों को मैन्यूफ़ैक्चरों पर भी लागू कर दिया।

जिसे सचमुच मैन्यूफ़ैक्चर का काल कहा जा सकता है, उस काल में उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली इतनी काफ़ी मज़बूत हो गयी थी कि मज़दूरी का क़ानून बनाकर नियमन करना जितना अनावश्यक, उतना ही अव्यावहारिक भी हो गया था। लेकिन शासन करनेवाले वर्ग इसके लिए तैयार नहीं थे कि ज़रूरत के वक़्त इस्तेमाल करने के लिए भी उनके तरकश में ये पुराने तीर न रहें। इसलिए जॉर्ज द्वितीय के ८वें क़ानून के अनुसार लंदन में और आसपास दर्ज़ीगीरी का काम करनेवाले मज़दूरों को २ शिलिंग ७$\frac{१}{२}$ पेंस से अधिक मज़दूरी देने की मनाही कर दी गयी थी। केवल सार्वजनिक शोक के समय ही इससे अधिक मज़दूरी दी जा सकती थी। जॉर्ज तृतीय के राज्य-काल के १३वें वर्ष में बनाये गये एक क़ानून के ६८वें अध्याय के मातहत रेशम की बुनाई करनेवाले मज़दूरों की मज़दूरी का नियमन करने की ज़िम्मेदारी स्थानीय मजिस्ट्रेटों को दे दी गयी थी। उसके भी बाद, १७९६ में, उच्चतर न्यायालयों के दो निर्णयों के बाद कहीं यह प्रश्न तय हो पाया था कि स्थानीय मजिस्ट्रेटों का मज़दूरी का नियमन करने का अधिकार ग़ैरखेतिहर मज़दूरों पर भी लागू होता है या नहीं। इसके भी बाद, १७९९ में, संसद ने एक क़ानून बनाकर यह आदेश दिया था कि स्कॉटलैंड के खान-मज़दूरों की मज़दूरी का नियमन एलिज़ाबेथ के परिनियम और १६६१ तथा १६७१ के दो स्कॉट क़ानूनों के अनुसार ही होता रहेगा। इस बीच परिस्थिति में कितना मौलिक परिवर्तन हो गया था, यह इंगलैंड के हाउस आफ़ कामन्स की एक अभूतपूर्व घटना से स्पष्ट हो जाता है। वहां चार सौ वर्षों से अधिक समय से अधिकतम मज़दूरी निर्धारित करनेवाले क़ानून बनाये जा रहे थे, जिनके द्वारा तय कर दिया जाता था कि मज़दूरी किसी भी हालत में अमुक दर से ऊपर नहीं उठ पायेगी। पर इसी हाउस आफ़ कामन्स में १७९६ में व्हाइटब्रैड ने खेतिहर मज़दूरों के लिए एक अल्पतम मज़दूरी निश्चित करने का प्रस्ताव किया। पिट ने इसका विरोध किया, मगर यह स्वीकार किया कि "ग़रीबों की हालत सचमुच बहुत ख़राब है।" अंत में १८१३ में मज़दूरी का नियमन करनेवाले क़ानून रद्द कर दिये गये। अब वे एक हास्यास्पद असंगति प्रतीत होते थे, क्योंकि पूंजीपति अपने निजी क़ानूनों द्वारा अपनी फ़ैक्टरी का नियमन करता था और खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी को ग़रीबों को मिलनेवाली सार्वजनिक सहायता के द्वारा अपरिहार्य अल्पतम स्तर पर पहुंचा सकता था। श्रम परिनियमों की वे धाराएं आज भी (१८७३ में) पूरी तरह लागू हैं, जिनका मालिकों तथा मज़दूरों के क़रार, नोटिस

आदेशों में पूरी एक शताब्दी तक हमें बार-बार यह कटु शिकायत सुनने को मिलती है कि बदमाश और बदतमीज़ लोगों की भीड़ अपने फूटे हुए भाग्य पर सब्र करके नहीं बैठती और क़ानूनी मज़दूरी से संतोष नहीं करती। राज्य ने जो दरें निश्चित कर दी थीं, कोई भूस्वामी व्यक्तिगत रूप से उनसे अधिक मज़दूरी नहीं दे सकता था। और फिर भी युद्ध के बाद नौकरी की शर्तें कभी-कभी इतनी अच्छी होती थीं कि उसके सौ वर्ष बाद भी उतनी अच्छी शर्तों पर नौकरी नहीं मिलती थी। १६५२ में साइलीसिया के खेतिहर मज़दूरों को हफ़्ते में दो बार खाने को मांस मिल जाता था, जब कि हमारी वर्तमान शताब्दी में ऐसे इलाक़े भी हैं, जहां खेतिहर मज़दूरों को वर्ष में केवल तीन बार ही मांस मिलता है। इसके अलावा युद्ध के बाद मज़दूरी भी अगली शताब्दी की तुलना में ऊंची थी।" (G. Freytag, [*Neue Bilder aus dem Leben des deutschen Volkes*, Leipzig, 1862, S. 35, 36.])

की आवश्यकता और इसी प्रकार की अन्य बातों से संबंध है। इन धाराओं के अनुसार मालिक के क़रार तोड़ने पर उसके ख़िलाफ़ केवल दीवानी कार्रवाई ही की जा सकती थी, लेकिन इसके विपरीत क़रार तोड़नेवाले मज़दूर के ख़िलाफ़ फ़ौजदारी कार्रवाई हो सकती थी।

ट्रेड-यूनियनों पर प्रतिबंध लगानेवाले बर्बर क़ानून क्रुद्ध सर्वहारा के डर से १८२५ में रद्द कर दिये गये। फिर भी उनको केवल आंशिक रूप में ही समाप्त किया गया। पुराने परिनियम के कुछ सुंदर अंश १८५६ तक लागू रहे। अंत में २९ जून १८७१ को संसद ने एक क़ानून के द्वारा ट्रेड-यूनियनों को क़ानूनी स्वीकृति देकर इस प्रकार के क़ानूनों के अंतिम अवशेषों को भी मिटा देने का ढोंग रचा। परंतु असल में उसी तारीख़ को एक और क़ानून, वह क़ानून, जिसके द्वारा हिंसा, धमकियों और हमलों से संबंधित क़ानून में संशोधन किया गया था, बनाकर पुरानी परिस्थिति को एक नये रूप में पुनः स्थापित कर दिया गया। इस संसदीय बाज़ीगरी के ज़रिये मज़दूर हड़ताल या तालाबंदी के समय जिन साधनों का प्रयोग कर सकता था, उनको सभी नागरिकों पर सामान्य रूप से लागू होनेवाले क़ानूनों के क्षेत्र से हटाकर कुछ असाधारण दंड संबंधी क़ानूनों के अधीन कर दिया गया तथा इन क़ानूनों की व्याख्या करने का अधिकार स्थानीय मजिस्ट्रेटों के रूप में ख़ुद मालिकों को ही प्राप्त हुआ। इसके दो वर्ष पहले इसी हाउस आफ़ कामन्स में और इन्हीं मि० ग्लैडस्टन ने अपने सुपरिचित स्पष्टवादी ढंग से मज़दूर वर्ग के ख़िलाफ़ बनाये गये असाधारण दंड संबंधी तमाम क़ानूनों को रद्द करने के लिए एक बिल पेश किया था। परंतु उस बिल को द्वितीय पठन के आगे नहीं बढ़ने दिया गया, और वह उस वक़्त तक खटाई में पड़ा रहा, जब तक कि "महान उदार दल" ने अनुदार दल के साथ गठबंधन करके उसी सर्वहारा का विरोध करने का साहस नहीं कर लिया, जिसके बल पर वह सत्ता प्राप्त करने में सफल हुआ था। "महान उदार दल" को इस विश्वासघात से भी संतोष नहीं हुआ। उसने अंग्रेज न्यायाधीशों को, जो शासक वर्गों की सेवा के लिए सदैव प्रस्तुत रहते हैं, "षड्यंत्र" और "साज़िश" रोकने के लिए बनाये गये पुराने क़ानूनों को फिर से खोदकर निकालने और मज़दूरों के संगठनों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करने की अनुमति दे दी। इस तरह हम देखते हैं कि इंगलैंड की संसद ने ५०० वर्ष तक अत्यंत अहंवादी निर्लज्जता के साथ ख़ुद मज़दूरों के ख़िलाफ़ पूंजीपतियों की एक स्थायी यूनियन के रूप में काम करने के बाद केवल अपनी इच्छा के विरुद्ध और जनता के दबाव से मजबूर होकर ही हड़तालों और ट्रेड-यूनियनों के ख़िलाफ़ बनाये गये क़ानूनों को रद्द किया था।

फ़्रांस के बुर्जुआ वर्ग ने क्रांति की पहली आंधी उठने के समय ही मज़दूरों से संगठन का कुछ ही समय पहले प्राप्त अधिकार छीन लेने का दुस्साहस किया था। १४ जून १७९१ के एक अध्यादेश के द्वारा मज़दूरों के तमाम संगठनों को "स्वतंत्रता तथा मनुष्य के अधिकारों की घोषणा का अतिक्रमण करने का प्रयत्न" क़रार दे दिया गया और ऐलान कर दिया गया कि ऐसे प्रत्येक प्रयत्न के लिए ५०० लिव्र जुर्माना किया जायेगा और अपराधी व्यक्ति से एक वर्ष के लिए सक्रिय नागरिक के समस्त अधिकार छीन लिये जायेंगे।[225] यह क़ानून, जिसने राज्य

[225] इस क़ानून की पहली धारा इस प्रकार है: "समान सामाजिक स्तर और पेशे के लोगों के हर प्रकार के संगठनों को नष्ट कर देना चूंकि फ़्रांसीसी विधान का एक मूलाधार है, इसलिए ऐसे संगठनों की किसी भी बहाने से और किसी भी रूप में पुनर्स्थापना करने पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है।" चौथी धारा में कहा गया है कि यदि "समान धंधों, कलाओं

की शक्ति का प्रयोग करके, पूंजी और श्रम के संघर्ष को पूंजी के लिए सुविधाजनक सीमाओं के भीतर सीमित कर दिया था, अनेक क्रांतियों और राजवंशों के परिवर्तनों के बावजूद जीवित रहा। यहां तक कि "आतंक का शासन" भी उसे नहीं छू पाया। यह क़ानून केवल अभी हाल में रद्द हुआ है। इस बुर्जुआ सत्ता-परिवर्तन के लिए जो बहाना बनाया गया, वह बहुत अर्थपूर्ण है। इस क़ानून के संबंध में बनायी गयी प्रवर समिति की ओर से रिपोर्ट पेश करते हुए शैंपेलिए ने कहा था: "यह मानते हुए भी कि आजकल जितनी मज़दूरी मिलती है, उससे थोड़ी ज़्यादा मिलनी चाहिए... और वह जिसको दी जाती है, उसके लिए पर्याप्त होनी चाहिए, ताकि वह व्यक्ति नितांत परवशता की उस अवस्था में न पहुंच जाये, जो जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के अभाव के कारण पैदा हो जाती है और जो लगभग दासता के समान होती है", यह सब मानते हुए भी मज़दूरों को ख़ुद अपने हितों के बारे में आपस में समझौता करने या कोई संयुक्त कार्रवाई करने की और इस तरह अपनी उस "नितांत परवशता" को कम करने की इजाज़त नहीं देनी चाहिए, "जो लगभग दासता के समान होती है", क्योंकि ऐसा करके मज़दूर असल में "अपने भूतपूर्व मालिकों और वर्तमान उद्यमकर्ताओं" को हानि पहुंचायेंगे और क्योंकि शिल्पी संघों के भूतपूर्व मालिकों की निरंकुशता का मिलकर विरोध करना–जानते हैं क्या है?–उन शिल्पी संघों की पुनर्स्थापना करना है, जिनको फ़्रांसीसी विधान ने भंग कर दिया है।[226]

या व्यवसायों में लगे हुए नागरिक अपने उद्योग अथवा अपने श्रम के रूप में सहायता देने से इनकार करने के उद्देश्य से या केवल एक निश्चित दाम के एवज़ में बेचने के उद्देश्य से आपस में विचार-विनिमय करेंगे या कोई समझौता करेंगे, तो उस प्रकार के प्रत्येक विचार-विनिमय और समझौते को... अवैध घोषित कर दिया जायेगा और उसे स्वतंत्रता तथा मनुष्य के अधिकारों की घोषणा पर आक्रमण समझा जायेगा, इत्यादि।" असल में पुराने मज़दूर-क़ानूनों की ही भांति इस क़ानून के द्वारा भी मज़दूर-संगठन को एक घोर अपराध क़रार दे दिया गया था। (*Révolutions de Paris*, Paris, 1791, III, p. 523.)

[226] Buchez et Roux, *Histoire Parlementaire*, t. X, p. 195.

अध्याय २९

पूंजीवादी काश्तकार की उत्पत्ति

इस विषय पर हम विचार कर चुके हैं कि जिनको किसी भी क़ानून का संरक्षण नहीं प्राप्त था, ऐसे सर्वहाराओं के वर्ग को किस तरह ज़बर्दस्ती पैदा किया गया था। हम उस बर्बर अनुशासन का भी अध्ययन कर चुके हैं, जिसके द्वारा इन लोगों को मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों में बदल दिया गया था। और हम यह भी देख चुके हैं कि श्रम के शोषण की मात्रा को बढ़ाकर पूंजी के संचय में तेज़ी लाने के उद्देश्य से राज्य ने कितने निर्लज्ज ढंग से अपनी पुलिस का इस्तेमाल किया था। अब केवल यह प्रश्न रह जाता है कि इन पूंजीपतियों की शुरू में कैसे उत्पत्ति हुई थी? कारण कि खेतिहर आबादी के संपत्ति-हरण से प्रत्यक्ष रूप में केवल बड़े-बड़े भूस्वामियों का ही जन्म होता है। लेकिन जहां तक पूंजीवादी काश्तकार की उत्पत्ति का संबंध है, हम उसके रहस्य का भी पता लगा सकते हैं, क्योंकि वह एक बहुत ही धीमी प्रक्रिया थी, जिसमें कई शताब्दियां लग गयी थीं। छोटे-छोटे स्वतंत्र भूस्वामियों की तरह कृषिदासों को भी अनेक प्रकार की शर्तों पर भूमि मिली हुई थी, और इसलिए उनको बहुत भिन्न प्रकार की आर्थिक परिस्थितियों में कृषिदासता से मुक्ति प्राप्त हुई।

इंगलैंड में काश्तकार का पहला रूप bailiff [कारिंदे] का था, जो ख़ुद भी कृषिदास था। उसकी स्थिति प्राचीन रोम के villicus की स्थिति से मिलती-जुलती थी, हालांकि उसका कार्यक्षेत्र अधिक सीमित था। १४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उसका स्थान एक ऐसे काश्तकार ने ले लिया, जिसको बीज, ढोर और औज़ार ज़मींदार से मिल जाते थे। उसकी हालत किसान की हालत से बहुत भिन्न नहीं थी। अंतर केवल इतना था कि वह मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों के श्रम का अधिक शोषण करता था। शीघ्र ही वह "métayer", यानी बटाई पर खेती करनेवाला किसान बन गया, जो एक तरह से आधा काश्तकार था। खेती में कुछ पूंजी वह और कुछ ज़मींदार लगाता था। कुल उपज को दोनों क़रार में निश्चित अनुपात के अनुसार बांट लेते थे। इंगलैंड में यह रूप भी शीघ्र ही ख़त्म हो गया, और उसकी जगह वास्तविक काश्तकार ने ले ली, जो मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों को नौकर रखकर ख़ुद अपनी पूंजी का विस्तार करता है और बेशी पैदावार का एक भाग जिंस या द्रव्य के रूप में ज़मींदार को बतौर लगान के दे देता है।

१५वीं शताब्दी में, जब तक स्वतंत्र किसान और आंशिक रूप में मज़दूरी के एवज़ में और आंशिक रूप में ख़ुद अपने लिए काम करनेवाला खेतिहर मज़दूर ख़ुद अपने श्रम से अपना धन बढ़ाते रहे, तब तक काश्तकार की आर्थिक हालत कभी बहुत अच्छी नहीं हुई और उसका उत्पादन का क्षेत्र भी बहुत नहीं बढ़ पाया। १५वीं शताब्दी की अंतिम तिहाई में जो कृषि-क्रांति आरंभ हुई और जो १६वीं शताब्दी में (उसके अंतिम दशक को छोड़कर) लगभग

बराबर जारी रही, उसने ग्राम खेतिहर ग्राबादी को जितना जल्दी ग़रीब बनाया, उतना ही जल्दी काश्तकार को धनी भी बना दिया।[227]

सामुदायिक ज़मीन के ग्रपहरण से उसे लगभग एक पैसा ख़र्च किये बिना ग्रपने पशुग्रों की संख्या बढ़ाने का मौक़ा मिला ग्रौर पशुग्रों की बढ़ी हुई संख्या से उसे ग्रपनी धरती को उपजाऊ बनाने के लिए पहले से कहीं ग्रधिक खाद मिलने लगी। १६ वीं शताब्दी में एक बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व इसके साथ जुड़ गया। उस ज़माने में फ़ार्मों के पट्टे बहुत लंबी ग्रवधि के लिए, ग्रौर ग्रकसर ६६ वर्ष के लिए, लिखे जाते थे। बहुमूल्य धातुग्रों के मूल्य में ग्रौर इसलिए द्रव्य के मूल्य में उत्तरोत्तर गिराव ग्राते जाने से काश्तकारों की चांदी हो गयी। ऊपर हम जिन विभिन्न कारणों की चर्चा कर चुके हैं, उन कारणों के ग्रलावा इस कारण से भी मज़दूरी की दर कम हो गयी। ग्रब मज़दूरी का एक भाग फ़ार्म के मुनाफ़े में जुड़ गया। ग्रनाज, ऊन, मांस ग्रौर संक्षेप में कहें, तो खेती की हर तरह की पैदावार के दाम लगातार बढ़ते जा रहे थे। उसका फल यह हुग्रा कि काश्तकार के किसी यत्न के बिना ही उसकी नक़द पूंजी में बहुत इज़ाफ़ा हो गया। ग्रौर उसे जो लगान देना पड़ता था, वह चूंकि द्रव्य के पुराने मूल्य के ग्रनुसार ही लिया जाता था, इसलिए वह ग्रसल में कम हो गया।[228] इस प्रकार काश्तकार लोग ग्रपने

---

[227] हैरिसन ने ग्रपनी रचना *Description of England* में कहा है कि "पुराना लगान, संभव है, चार पाउंड से बढ़कर चालीस पाउंड हो गया हो, पर यदि वर्ष के ग्रंत में काश्तकार के पास छः या सात साल का लगान–पचास या सौ पाउंड नहीं बच रहते, तो वह समझेगा कि उसे बहुत कम लाभ हुग्रा है।"

[228] १६ वीं शताब्दी में द्रव्य के मूल्यह्रास का समाज के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ा, इसके विषय में *A Compendious or Briefe Examination of Certayne Ordinary Complaints of Divers of our Countrymen in these our Days. By W. S. Gentleman* (London, 1581) देखिये। यह रचना संवाद के रूप में लिखी गयी है। इसलिए बहुत समय तक लोगों का यह विचार रहा कि उसके रचयिता शेक्सपियर हैं, ग्रौर यहां तक कि १७५१ में भी वह शेक्सपियर के नाम से प्रकाशित हुई थी। वास्तव में उसके लेखक विलियम स्टैफ़र्ड थे। इस पुस्तक में एक स्थल है, जहां सूरमा सरदार इस प्रकार तर्क करता है:

सूरमा सरदार: "ग्राप, मेरे पड़ोसी, जो काश्तकारी करते हैं, ग्रौर ग्राप, जो कपड़े का व्यापार करते हैं, ग्रौर ग्राप भी, जो कसेरे हैं, तथा ग्रन्य सब कारीगर, ग्राप सब ख़ूब कमा रहे हैं। क्योंकि तमाम चीज़ें पहले के मुक़ाबले में जितनी महंगी हो गयी हैं, ग्रापने ग्रपने सामान के दाम ग्रौर ग्रपनी सेवाग्रों के दाम, जिन्हें ग्राप फिर बेच देते हैं, उतने ही बढ़ा दिये हैं। लेकिन हमारे पास तो ऐसी कोई भी चीज़ बेचने के लिए नहीं है, जिसके दाम बढ़ाकर हम उन चीज़ों के बढ़े हुए दामों की क्षति-पूर्ति कर लेते, जो हमें ग्रवश्य ही फिर ख़रीदनी पड़ेंगी।" एक ग्रौर स्थल है, जहां सूरमा सरदार डाक्टर से पूछता है: "कृपा करके यह तो बताइये कि वे कौन लोग हैं, जिनका ग्राप ज़िक्र कर रहे हैं। ग्रौर सबसे पहले, वे लोग कौनसे हैं, जिनके धंधे में, ग्रापके विचार से, नुक़सान नहीं हो सकता?" डाक्टर: "मेरा मतलब उन लोगों से है, जो क्रय-विक्रय करके जीविका कमाते हैं, क्योंकि वे जितना महंगा ख़रीदते हैं, उतना ही महंगा बेचते हैं।" सूरमा सरदार: "ग्रौर कौन लोग हैं, जो, ग्राप कहते हैं, फ़ायदे में रहेंगे?" डाक्टर: "वाह! ग्ररे, वे सब लोग, जिनको पुराने लगान पर ज़मीन जोतने के लिए मिली हुई है, क्योंकि वे लगान देते हैं पुरानी दर के मुताबिक़ ग्रौर बेचते हैं नयी दर के ग्रनुसार। यानी ग्रपनी ज़मीन की उन्हें बहुत सस्ती क़ीमत देनी होती है ग्रौर उसपर जो तमाम चीज़ें पैदा होती हैं, उन्हें वे बहुत महंगी बेचते हैं..." सूरमा सरदार: "ग्रौर,

मज़दूरों और ज़मींदारों, दोनों का गला काटकर अधिकाधिक धनी बनते गये। अतः कोई आश्चर्य नहीं, यदि १६ वीं शताब्दी के अंत तक इंगलैंड में पूंजीवादी काश्तकारों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया था, जो उस काल की परिस्थितियों को देखते हुए काफ़ी धनी था।[229]

आपके कहने के मुताबिक़ इन लोगों को जितना मुनाफ़ा होता है, उससे ज्यादा जिनका नुक़सान हो रहा है, वे लोग कौनसे हैं?" डाक्टर: "वे हैं ये सारे अभिजात वर्ग के लोग, भद्र पुरुष और वे सब, जो या तो एक निश्चित लगान या एक निश्चित वेतन के सहारे रहते हैं, या जो ज़मीन को नहीं जोतते, या जो क्रय-विक्रय नहीं करते।"

[229] फ़्रांस में régisseur, जो मध्य युग के शुरू के दिनों में सामंती प्रभुओं का मुनीम, कारिंदा और लगान जमा करनेवाला गुमाश्ता भी था, शीघ्र ही व्यवसायी व्यक्ति बन गया, और नोच-खसोट, धोखाधड़ी, आदि के ज़रिये अपनी थैलियां भरकर पूंजीपति बन बैठा। इन régisseurs में से कुछ गुमाश्ते तो ख़ुद भी कभी अभिजात वर्ग के थे। उदाहरण के लिए, निम्नलिखित उद्धरण देखिये: "बेसांसों के दुर्गपति सरदार श्री जैंक दे थोरेस ने दिजों में बर्गंदी के ड्यूक और काउंट की ओर से हिसाब-किताब रखनेवाले श्रीमंत के सामने उपर्युक्त जागीर में २५ दिसंबर १३५६ से दिसंबर १३६० के अट्ठाईसवें दिन तक की लगान की वसूली की रिपोर्ट पेश की।" (Alexis Monteil, *Traité de matériaux manuscrits etc.*, pp. 234, 235.) यहां वह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस प्रकार सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में सर्वोत्तम भाग बिचौलिये हड़प जाते हैं। मिसाल के लिए, आर्थिक क्षेत्र में वित्त-प्रबंधक, शेयर-बाज़ार के सट्टेबाज़, सौदागर और दूकानदार सारी मलाई खा जाते हैं; दीवानी के मामलों में वकील अपने मुवक्किलों को मूंड़ लेता है; राजनीति में प्रतिनिधि का मतदाताओं से और मंत्री का राजा से अधिक महत्त्व होता है; धर्म में भगवान को "मध्यस्थ"—अथवा ईसा मसीह—पृष्ठभूमि में डाल देता है, और ईसा मसीह को पादरी लोग पृष्ठभूमि में धकेल देते हैं, क्योंकि ईसा और उसकी "भेड़ों" के बीच उनकी मध्यस्थता अनिवार्य होती है। इंगलैंड की तरह फ़्रांस में भी सामंतों की बड़ी-बड़ी जागीरें असंख्य छोटी-छोटी जोतों में बंट गयी थीं, मगर वहां वह बंटवारा जनता के दृष्टिकोण से इंगलैंड की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिकूल परिस्थितियों में हुआ था। १४ वीं शताब्दी में फ़ार्मों—अथवा terriers—का जन्म हुआ। उनकी संख्या बराबर बढ़ती गयी और १,००,००० से कहीं आगे निकल गयी। इन फ़ार्मों को जो लगान देना पड़ता था, वह जिंस या द्रव्य के रूप में उनकी उपज के बारहवें हिस्से से लेकर पांचवें हिस्से तक होता था। इन फ़ार्मों की हैसियत उनके मूल्य तथा विस्तार के अनुसार जागीरों और उप-जागीरों, आदि की होती थी। उनमें से बहुत से तो केवल कुछ ही एकड़ के फ़ार्म थे। लेकिन इन काश्तकारों को अपनी भूमि पर रहनेवालों के मुक़दमे निपटाने का कुछ हद तक अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार के अधिकारों की चार कोटियां थीं। ये छोटे-छोटे अत्याचारी खेतिहर आबादी पर कैसा ज़ुल्म करते होंगे, यह आसानी ने समझ में आ सकता है। मोंतेयील ने बताया है कि फ़्रांस में, जहां आजकल मय स्थानीय मजिस्ट्रेटों के केवल ४,००० अदालतें काफ़ी हैं, एक समय १,६०,००० न्यायाधीश थे।

अध्याय ३०

कृषि-क्रांति की उद्योग में प्रतिक्रिया। औद्योगिक पूंजी के लिए घरेलू मंडी का जन्म

खेतिहर आबादी के संपत्तिहरण और निष्कासन की क्रिया बीच-बीच में रुक जाती थी, पर वह हर बार नये सिरे से शुरू भी हो जाती थी। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इस क्रिया से शहरों में उद्योगों को सर्वहारा मजदूरों की एक ऐसी विशाल संख्या प्राप्त हुई थी, जिसका संगठित शिल्पी संघों से तनिक भी संबंध न था और जिसके लिए इन शिल्पी संघों के बंधनों का कोई अस्तित्व न था। यह परिस्थिति इतनी सुविधाजनक थी कि वृद्ध ए० ऐंडर्सन (जिनको जेम्स ऐंडर्सन के साथ नहीं गड़बड़ा देना चाहिए) तो अपने *History of Commerce* में यह मत प्रकट कर बैठे कि इस चीज़ के पीछे ज़रूर भगवान का प्रत्यक्ष हाथ रहा होगा। यहां हमें फिर एक क्षण के लिए रुककर आदिम संचय के इस तत्त्व पर विचार करना होगा। स्वतंत्र, आत्मनिर्भर किसानों की संख्या कम हो जाने का केवल यही फल नहीं हुआ कि शहरों में औद्योगिक सर्वहारा की उसी तरह रेल-पेल होने लगी, जिस तरह जोफ़ुआ सें हिलेयर की व्याख्या के अनुसार जब अंतरिक्षीय पदार्थ का एक स्थान पर विरलन हो जाता है, तो दूसरे स्थान पर उसका संघनन हो जाता है।[230] भूमि के जोतनेवालों की संख्या तो पहले से कम हो गयी थी, पर उपज पहले जितनी ही या उससे भी अधिक होती थी, क्योंकि भूसंपत्ति के रूपों में क्रांति होने के साथ-साथ खेती के तरीक़ों में अनेक सुधार हो गये थे, पहले से अधिक सहकारिता का प्रयोग होने लगा था, उत्पादन के साधनों का संकेंद्रण हो गया था, इत्यादि, और क्योंकि न केवल खेतिहर मजदूरों से पहले से अधिक तीव्र परिश्रम कराया जाता था,[231] बल्कि वे उत्पादन के जिस क्षेत्र में अपने लिए काम करते थे, वह अधिकाधिक संकुचित होता जाता था। इसलिए जब खेतिहर आबादी के एक भाग को भूमि से मुक्त कर दिया गया, तो पोषण के भूतपूर्व साधनों का भी एक भाग मुक्त हो गया। ये साधन अब परिवर्ती पूंजी के भौतिक तत्त्वों में रूपांतरित हो गये। किसान, जिसकी संपत्ति छिन गयी थी और जो अब दर-दर की ठोकर खाता घूम रहा था, उसे अब अपने नये मालिक औद्योगिक पूंजीपति से इन साधनों का मूल्य अनिवार्यतः मजदूरी के रूप में प्राप्त करना था। जो बात जीवन-निर्वाह के साधनों के लिए सच है, वही घरेलू खेती पर निर्भर करनेवाले उद्योग के कच्चे माल के लिए भी सच है। यह कच्चा माल स्थिर पूंजी का एक तत्त्व बन गया।

उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि वेस्टफ़ालिया के उन किसानों के एक भाग को, जो फ़्रेडरिक द्वितीय के राज्य-काल में फ़्लैक्स की कताई किया करते थे, भूमि से खदेड़ दिया जाता

---

[230] जोफ़ुआ सें हिलेयर ने यह बात अपनी रचना *Notions de Philosophie Naturelle* (Paris, 1838) में कही है।

[231] इस बात पर सर जेम्स स्टुअर्ट ने ज़ोर दिया है।

है और उसकी संपत्ति छीन ली जाती है, और उनका जो भाग वहां बच जाता है, वह बड़े काश्तकारों के खेतों पर मजदूरी करने लगता है। साथ ही फ़्लैक्स की कताई और बुनाई के बड़े-बड़े कारख़ाने खुल जाते हैं, जिनमें वे लोग मजदूरी करते हैं, जो इस तरह "मुक्त" कर दिये गये हैं। फ़्लैक्स देखने में अब भी पहले जैसा ही लगता है। उसका एक रेशा तक नहीं बदला, मगर अब उसकी देह में एक नयी सामाजिक आत्मा आकर बैठ गयी है। अब वह कारख़ाने के मालिक की स्थिर पूंजी का एक भाग बन गया है। पहले वह बहुत से छोटे-छोटे उत्पादकों के बीच बंटा हुआ था, जो ख़ुद उसकी खेती किया करते थे और अपने बाल-बच्चों की मदद से थोड़ा-थोड़ा करके उसे घर पर ही कात डालते थे। अब वह सारा एक पूंजीपति के हाथों में केंद्रित हो जाता है, जो दूसरे आदमियों से अपने लिए उसकी कताई और बुनाई कराता है। पहले फ़्लैक्स की कताई में जो अधिक श्रम ख़र्च होता था, वह अनेक किसान परिवारों की अधिक आय के रूप में साकार हो उठता था, या संभव है कि फ़्रेडरिक द्वितीय के काल में वह प्रशा के राजा को दिये जानेवाले करों का रूप धारण कर लेता हो। पर अब वह चंद पूंजीपतियों के मुनाफ़े का रूप धारण कर लेता है। चर्ख़े और करघे, जो पहले सारे देहात में बिखरे हुए थे, अब मजदूरों और कच्चे माल के साथ चंद बड़ी-बड़ी श्रम-बारिकों में एकत्रित कर दिये जाते हैं। और ये चर्ख़े, करघे और कच्चा माल अब पहले की तरह कताई करनेवालों तथा बुनाई करनेवालों के स्वतंत्र जीविका कमाने के साधन न रहकर इन लोगों पर हुक्म चलाने[232] और उनका अवेतन श्रम चूसने के साधन बन जाते हैं। बड़ी-बड़ी मैन्यूफ़ैक्टरियों और बड़े-बड़े फ़ार्मों को देखकर कोई यह नहीं सोचेगा कि उत्पादन के बहुत से छोटे-छोटे केंद्रों को एक में जोड़ देने से इनका जन्म हुआ है और बहुत से छोटे-छोटे स्वतंत्र उत्पादकों की संपत्ति का अपहरण करके इनका निर्माण किया गया है। परंतु जनता की सहज बुद्धि ने वास्तविकता को समझने में ग़लती नहीं की। क्रांति-केसरी मिराबो के काल में भी बड़ी-बड़ी मैन्यूफ़ैक्टरियां manufactures réunies, यानी "कई वर्कशापों को जोड़कर बनायी गयी संयुक्त वर्कशापें" कहलाती थीं, जैसे खेतों के बारे में कहा जाता था कि कई खेत मिलाकर एक कर दिये गये हैं। मिराबो ने कहा है: "हम केवल उन विशाल मैन्यूफ़ैक्टरियों की ओर ही ध्यान देते हैं, जिनमें सैकड़ों आदमी एक संचालक की देखरेख में काम करते हैं और जिनको आम तौर पर manufactures réunies [कई वर्कशापों को जोड़कर बनायी गयी संयुक्त वर्कशापें] कहा जाता है। उन मैन्यूफ़ैक्टरियों की ओर हम कोई ध्यान नहीं देते, जिनमें बहुत सारे मजदूर अलग-अलग और अपने ही लिए काम करते हैं। वे पहले ढंग की मैन्यूफ़ैक्टरियों से एकदम दूर जा पड़ती हैं। लेकिन उनको पृष्ठभूमि में डाल देना एक बहुत भारी ग़लती है, क्योंकि असल में ये दूसरे ढंग की मैन्यूफ़ैक्टरियां ही राष्ट्रीय समृद्धि का महत्त्वपूर्ण आधार होती हैं... बड़ी वर्कशाप (manufacture réunie) से एक या दो उद्यमकर्ता असाधारण रूप से धनी बन जायेंगे, लेकिन मज़दूर न्यूनाधिक मजदूरी पानेवाले मजदूर ही बने रहेंगे और व्यवसाय की सफलता में उनका कोई भाग नहीं होगा। छोटी और अलग से काम

[232] पूंजीपति का कहना यह है कि "मैं तुम्हें यह इज्जत बख्शूंगा कि तुमसे अपनी सेवा कराऊंगा, बशर्ते कि तुम्हें हुक्म देने में मुझे जो कष्ट होगा, उसके एवज में तुम्हारे पास जो कुछ बचा है, वह तुम मुझे सौंप दो।" (J. J. Rousseau, *Discours sur l'Économie Politique*, [Jeneva, 1756, p. 70.])

करनेवाली वर्कशाप (manufacture séparée) में इसके विपरीत कोई धनी नहीं बन पायेगा, लेकिन बहुत से मजदूर आराम से जीवन बिता सकेंगे। उनमें जो मितव्ययी और परिश्रमी होंगे, वे थोड़ी सी पूंजी जमा कर लेंगे और संतानोत्पत्ति के समय के लिए, बीमारी के वक़्त के लिए, अपने ऊपर ख़र्च करने के लिए या कोई चीज़-बसत ख़रीदने के लिए कुछ बचा लेंगे। मितव्ययी और परिश्रमी मज़दूरों की संख्या बढ़ती जायेगी, क्योंकि वे ख़ुद अपने अनुभव से यह देखेंगे कि अच्छा आचरण और क्रियाशीलता मूलतया उनकी अपनी स्थिति में सुधार करने का साधन है, न कि मज़दूरी में थोड़ा इज़ाफ़ा कराने का, जिसका भविष्य के लिए कभी कोई महत्त्व नहीं हो सकता और जिसका एकमात्र परिणाम यही होता है कि आदमी थोड़ी बेहतर ज़िंदगी बिताने लगता है, मगर फिर भी उसे रोज़ कुआं खोदकर पानी पीना पड़ता है... बड़ी वर्कशाप कुछ व्यक्तियों का निजी व्यवसाय होती है, जो मज़दूरों को रोज़ाना मज़दूरी देकर उनसे अपने हित में काम कराते हैं। इस प्रकार की वर्कशापों से इन व्यक्तियों को सुख मिल सकता है, लेकिन वे कभी इस लायक़ नहीं बन सकतीं कि सरकारें उनकी ओर ध्यान दें। स्वतंत्र वर्कशाप केवल अलग-अलग काम करनेवाले मज़दूरों की उन छोटी वर्कशापों को ही समझा जा सकता है, जिनके साथ प्रायः छोटी-छोटी जोतों की खेती भी जुड़ी रहती है।"[233] जब खेतिहर आबादी के एक भाग की संपत्ति छीन ली गयी और उसे ज़मीन से बेदख़ल कर दिया गया, तो उससे न केवल मज़दूर, उनके जीवन-निर्वाह के साधन तथा श्रम की सामग्री औद्योगिक पूंजी के वास्ते काम करने को स्वतंत्र हो गयी, बल्कि घरेलू मंडी भी तैयार हो गयी।

सच तो यह है कि जिन घटनाओं ने छोटे किसानों को मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों में और उनके जीवन-निर्वाह तथा श्रम करने के साधनों को पूंजी के भौतिक तत्त्वों में बदल डाला था, उन्हीं घटनाओं ने पूंजी के लिए एक घरेलू मंडी भी तैयार कर दी थी। पहले किसान का परिवार जीवन-निर्वाह के साधन और कच्चा माल तैयार करता था, और इन चीज़ों के अधिकतर भाग का उपभोग भी प्रायः किसान और उसके परिवार के लोग ही कर डालते थे। पर अब इस कच्चे माल ने और जीवन-निर्वाह के इन साधनों ने पण्यों का रूप धारण कर लिया है। इन चीज़ों को बड़े-बड़े काश्तकार बेचते हैं; उनकी मंडी है मैन्यूफ़ैक्टरियां। सूत, लिनेन, ऊन का मोटा सामान – वे तमाम चीज़ें, जिनका कच्चा माल पहले हर किसान-परिवार की पहुंच के भीतर था और जिनको प्रत्येक किसान-परिवार अपने निजी इस्तेमाल के लिए कात-बुनकर तैयार कर लिया करता था, अब मैन्यूफ़ैक्चर की चीज़ों में रूपांतरित हो गयीं, और देहाती इलाक़े इनके लिए तुरंत मंडियों का काम करने लगे। पहले स्वयं अपने हित में उत्पादन करनेवाले छोटे-छोटे कारीगर अपनी बनायी हुई चीज़ें बहुत से बिखरे हुए ग्राहकों के हाथ बेच दिया करते थे। अब वे ग्राहक एक बड़ी मंडी में केंद्रित हो जाते हैं, जिसकी आवश्यकताओं की पूर्ति औद्योगिक पूंजी करती है।[234] इस प्रकार जहां एक ओर,

---

[233] Mirabeau, l.c., t. III, pp. 20-109, passim. मिराबो यदि अलग-अलग काम करनेवाले मज़दूरों की वर्कशापों को "संयुक्त" वर्कशापों की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभदायक और उत्पादक समझते थे और "संयुक्त" वर्कशापों को सरकार द्वारा बनावटी ढंग से पैदा किया गया एक परदेशी पौधा मानते थे, तो उसका कारण यह है कि उस काल के यूरोपीय महाद्वीप के अधिकतर कारख़ानों की हालत कुछ इसी तरह की थी।

[234] "जब मज़दूर का परिवार अपने अन्य कामों के बीच-बीच में ख़ुद अपने उद्योग से बीस पाउंड ऊन को चुपचाप अपने वर्ष भर के कपड़ों में बदल डालता है, तब उसको लेकर

आत्मनिर्भर किसानों का संपत्तिहरण किया जाता है और उनको उनके उत्पादन के साधनों से अलग कर दिया जाता है, वहां दूसरी ओर, इसके साथ-साथ देहात के घरेलू उद्योग को भी नष्ट कर दिया जाता है और इस प्रकार मैन्यूफ़ैक्चर और खेती का संबंध-विच्छेद करने की क्रिया संपन्न की जाती है। और केवल देहात के घरेलू उद्योग के विनाश से ही किसी देश की अंदरूनी मंडी को वह विस्तार तथा वह स्थिरता प्राप्त हो सकती है, जिनकी उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली को आवश्यकता होती है।

फिर भी जिसे सचमुच मैन्यूफ़ैक्चर का काल कहा जा सकता है, वह इस रूपांतरण को मूलभूत रूप से तथा पूरी तरह कार्यान्वित करने में सफल नहीं होता। पाठकों को याद होगा कि जिसे सचमुच मैन्यूफ़ैक्चर कहा जा सकता है, वह राष्ट्रीय उत्पादन के सारे क्षेत्र पर केवल आंशिक रूप से ही अधिकार कर पाता है, और वह अपने अंतिम आधार के रूप में सदा शहरी दस्तकारियों और देहाती इलाक़ों के घरेलू उद्योग पर ही निर्भर करता है। यदि वह इन दस्तकारियों और इस घरेलू उद्योग को एक रूप में, कुछ ख़ास शाखाओं में या कुछ ख़ास बिंदुओं पर नष्ट कर देता है, तो अन्यत्र वह उनको पुनः जन्म दे देता है, क्योंकि एक ख़ास बिंदु तक उसको कच्चा माल तैयार करने के लिए इनकी आवश्यकता होती है। अतएव मैन्यूफ़ैक्चर ग्रामवासियों के एक नये वर्ग को उत्पन्न कर देता है, जो खेती तो एक सहायक धंधे के रूप में करता है, पर जिसका मुख्य धंधा औद्योगिक श्रम करना होता है, जिसकी पैदावार वह सीधे-सीधे या सौदागरों के माध्यम से मैन्यूफ़ैक्चरों को बेच देता है। यह बात एक ऐसी घटना का कारण बन जाती है—हालांकि वह उसका मुख्य कारण नहीं है—जो इंगलैंड के इतिहास के विद्यार्थी को शुरू-शुरू में काफ़ी उलझन में डाल देती है। १५वीं शताब्दी की अंतिम तिहाई से ही वह लगातार यह शिकायत सुनता आ रहा है, हालांकि बीच-बीच में कुछ समय के लिए वह नहीं भी सुनायी दी है, कि देहाती इलाक़ों में पूंजीवादी खेती का प्रसार बढ़ता जा रहा है और उसके फलस्वरूप किसानों का वर्ग नष्ट होता जा रहा है। दूसरी ओर, वह सदा यह भी देख रहा है कि किसानों का यह वर्ग हर बार नया जन्म लेकर सामने आ जाता है, हालांकि उसकी संख्या कम होती जा रही है और उसकी हालत हर बार पहले से ज्यादा ख़राब है।[235] इसका मुख्य कारण यह है कि इंगलैंड कभी तो मुख्यतया अनाज पैदा करनेवाला देश बन जाता है और कभी मुख्यतया पशुओं का प्रजनन करनेवाले देश का रूप धारण कर लेता है, और ये रूप बारी-बारी से सामने आते रहते हैं और उनके साथ-साथ किसानों की खेती का विस्तार भी घटता-बढ़ता रहता है। केवल और अंतिम रूप से आधुनिक उद्योग ही पूंजीवादी खेती को मशीनरी के रूप में उसका स्थायी आधार प्रदान करता है। वही

कोई तमाशा नहीं होता। लेकिन इसी ऊन को ज़रा मंडी में ले आइये और उसे फ़ैक्टरी में और वहां से आढ़ती के पास और उसके यहां से दूकानदार के पास तक पहुंचने भर दीजिये कि विशाल व्यापारिक क्रियाएं आरंभ हो जायेंगी और इस ऊन के मूल्य की बीसगुनी प्राधिकृत पूंजी कार्यरत हो जायेगी... इस प्रकार मजदूर वर्ग को लूटकर फ़ैक्टरियों से संबंधित एक अभागी आबादी को, मुफ़्तख़ोर दूकानदार वर्ग को और वाणिज्य, द्रव्य और वित्त की एक झूठी व्यवस्था को जीवित रखा जाता है।" (David Urquhart, l.c., p. 120.)

[235] क्रॉमवेल का समय इसका अपवाद था। जब तक प्रजातंत्र जीवित रहा, तब तक के लिए इंगलैंड की आम जनता का प्रत्येक स्तर उस पतन के गर्त्त से ऊपर उठ आया था, जिसमें वह ट्यूडर राजाओं के शासन-काल में डूब गया था।

खेतिहर आबादी के अधिकांश की संपत्ति का पूरी तरह अपहरण करता है और इस उद्योग की जड़ों को – कताई और बुनाई को – उखाड़कर फेंक देता है।[236] और इसलिए वही पहली बार औद्योगिक पूंजी की ओर से पूरी घरेलू मंडी पर विजय प्राप्त करता है।[237]

---

[236] टकेट जानते हैं कि आधुनिक ऊनी उद्योग का मशीनों का प्रयोग आरंभ होने के साथ-साथ वास्तविक मैन्यूफ़ैक्चर से तथा देहाती एवं घरेलू उद्योगों के विनाश से जन्म हुआ है। (Tuckett, *A History of the Past and Present State of the Labouring Population*, London, 1846, Vol. I, p. 144.) डेविड अर्कहार्ट ने लिखा है: "हल और जुए के बारे में कहा जाता है कि उनका आविष्कार देवताओं ने किया था और उनका उपयोग वीर लोग करते थे। परंतु क्या करघे, चर्खे और तकुए के जनक इतने श्रेष्ठ कुल के नहीं थे? तकुए और हल तथा चर्खे और जुए का संबंध-विच्छेद कर दीजिये और आपके सामने ही फ़ैक्टरियां और मुहताज-ख़ाने, जमी हुई साख और बदहवासी, एक दूसरे के शत्रु दो राष्ट्र – एक खेती करनेवाला और दूसरा वाणिज्य और व्यवसाय करनेवाला – खड़े हो जायेंगे।" (David Urquhart l.c., p. 122.) परंतु अर्कहार्ट के बाद केरी आते हैं और शिकायत करने लगते हैं – और उनकी शिकायत बेबुनियाद नहीं प्रतीत होती – कि इंगलैंड दूसरे सभी देशों को महज़ खेतिहर राष्ट्र बना डालने की कोशिश कर रहा है और उन सबके लिए कारख़ानों का सामान तैयार करनेवाला देश ख़ुद बनना चाहता है। केरी दावा करते हैं कि तुर्की को इसी तरह बरबाद किया गया है, क्योंकि वहां "ज़मीन के मालिकों और ज़मीन के जोतनेवालों को हल और करघे तथा हथौड़े और हेंगे के बीच स्वाभाविक मैत्री स्थापित करके अपने को शक्तिशाली बनाने की इंगलैंड ने कभी अनुमति नहीं दी।" (*The Slave Trade*, p. 125.) केरी के मतानुसार अर्कहार्ट ने ख़ुद भी तुर्की की तबाही में बहुत बड़ा हिस्सा लिया है, क्योंकि उसने वहां इंगलैंड के हित में स्वतंत्र व्यापार का प्रचार किया है। और सबसे बड़ा मज़ाक़ यह है कि केरी, जो कि रूस के बड़े प्रशंसक और प्रेमी हैं, खेती और घरेलू उद्योग के संबंध-विच्छेद की इस क्रिया को संरक्षण की उसी प्रणाली के द्वारा रोकना चाहते हैं, जिससे उसे प्रोत्साहन मिलता है।

[237] जिस प्रकार ईश्वर ने केन से उसके भाई हाबिल के बारे में पूछा था, उसी प्रकार मिल, रोजर्स, गोल्डविन स्मिथ, फ़ॉसेट, जैसे लोकोपकारी अंग्रेज़ अर्थशास्त्री और जॉन ब्राइट तथा उसके संगी-साथियों जैसे उदारपंथी कारख़ानेदार अंग्रेज़ भूस्वामियों से पूछते हैं: "हमारे हज़ारों माफ़ीदार किसान कहां चले गये?" लेकिन ख़ुद तुम लोग कहां से पैदा हुए हो? उन्हीं माफ़ीदारों को नष्ट करके। फिर एक क़दम और आगे बढ़कर यह भी क्यों नहीं पूछते कि स्वतंत्र बुनकर, कताई करनेवाले और कारीगर कहां चले गये हैं?

अध्याय ३१

औद्योगिक पूंजीपति की उत्पत्ति

औद्योगिक[238] पूंजीपति की उत्पत्ति उतने धीरे-धीरे नहीं हुई, जितने धीरे-धीरे पूंजीवादी काश्तकार की उत्पत्ति हुई थी। इसमें कोई शक नहीं कि शिल्पी संघों के बहुत से छोटे उस्तादों ने और उससे भी बड़ी संख्या में छोटे स्वतंत्र दस्तकारों ने या यहां तक कि मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों ने भी अपने को छोटे पूंजीपतियों में बदल डाला था, और बाद में वे (धीरे-धीरे मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों के शोषण को बढ़ाकर और उसके साथ-साथ पूंजी के संचय को तेज़ करके) पूर्ण प्रस्फुटित पूंजीपति बन गये थे। पूंजीवादी उत्पादन की बाल्यावस्था में भी बहुधा उसी प्रकार की घटनाएं होती थीं, जिस प्रकार की घटनाएं मध्ययुगीन नगरों की बाल्यावस्था में हुआ करती थीं, जहां पर यह प्रश्न कि गांवों से भागकर आये हुए कृषिदासों में से कौन मालिक बनेगा और कौन नौकर, अधिकतर इस बात से तय होता था कि कौन गांव से पहले और कौन बाद को भागा था। यह क्रिया इतने धीरे-धीरे चलती थी कि १५ वीं शताब्दी के अंतिम भाग की महान खोजों ने जिस संसारव्यापी मंडी का निर्माण कर दिया था, उसकी आवश्यकताएं उससे कदापि पूरी नहीं हो सकती थीं। परंतु मध्य युग से पूंजी के स्पष्टतया दो भिन्न रूप विरासत में मिले थे, जो बहुत ही भिन्न प्रकार की आर्थिक सामाजिक व्यवस्थाओं के भीतर परिपक्व हुए थे और जिनको उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का युग आरंभ होने के पहले वास्तविक पूंजी समझा जाता था। ये दो रूप थे ब्याजी पूंजी और व्यापारी पूंजी।

"इस समय समाज का समस्त धन पहले पूंजीपति के अधिकार में चला जाता है... वह ज़मींदार को उसका किराया देता है, मज़दूर को उसकी मज़दूरी देता है, कर तथा दशांश वसूल करनेवालों को उनका पावना देता है और श्रम की वार्षिक पैदावार का एक बड़ा हिस्सा – और सच पूछिये, तो सबसे बड़ा और निरंतर बढ़ता हुआ हिस्सा – वह ख़ुद अपने लिए रख लेता है। पूंजीपति के बारे में अब यह कहा जा सकता है कि वह समाज के समस्त धन का प्रथम स्वामी होता है, हालांकि किसी क़ानून ने उसको उस संपत्ति के स्वामित्व का अधिकार नहीं दिया है... यह परिवर्तन पूंजी पर सूद लेने के फलस्वरूप संपन्न हुआ है... और यह कम विचित्र बात नहीं है कि यूरोप के सभी क़ानून बनानेवालों ने क़ानून बनाकर इस चीज़ को रोकने की कोशिश की थी; मिसाल के लिए, सूदख़ोरी के ख़िलाफ़ इसी उद्देश्य से क़ानून बनाये गये थे... देश के समस्त धन पर पूंजीपति का अधिकार स्थापित हो जाने से

---

[238] यहां "औद्योगिक" शब्द का प्रयोग "खेतिहर" शब्द के विरोध में किया गया है। एक आर्थिक प्रवर्ग के अर्थ में तो काश्तकार भी उसी हद तक औद्योगिक पूंजीपति होता है, जिस हद तक कि कारख़ानेदार होता है।

संपत्ति का अधिकार संपूर्णतया बदल गया है। और यह परिवर्तन किस क़ानून अथवा किन क़ानूनों के द्वारा संपन्न हुआ है?"[239] लेखक को याद रखना चाहिए था कि क्रांतियां क़ानूनों के द्वारा संपन्न नहीं होतीं।

सूदख़ोरी और वाणिज्य के द्वारा जिस नक़द पूंजी का निर्माण हुआ था, उसे देहात में सामंती व्यवस्था ने और शहरों में शिल्पी संघों की व्यवस्था ने औद्योगिक पूंजी नहीं बनने दिया था।[240] जब सामंती समाज का विघटन हुआ और देहाती आबादी की संपत्ति छीन ली गयी तथा आंशिक रूप में उसे ज़मीनों से खदेड़ दिया गया, तो ये बंधन भी टूट गये। नये कारख़ानेदार समुद्र किनारे के बंदरगाहों में या देश के भीतर ऐसे स्थानों पर जाकर जम गये, जो पुरानी नगरपालिकाओं और उनके शिल्पी संघों के नियंत्रण के बाहर थे। इसीलिए इंगलैंड में इन नयी औद्योगिक नर्सरियों के साथ निगमित नगरों का बड़ा कटु संघर्ष हुआ।

अमरीका में सोने और चांदी की खोज; आदिवासी आबादी का समूल नष्ट कर दिया जाना, ग़ुलाम बनाया जाना और खानों में ज़िंदा दफ़ना दिया जाना; ईस्ट इंडिया की विजय तथा लूट का श्रीगणेश; अफ़्रीका का हबशियों के व्यापारिक आखेट की भूमि बन जाना – इसी प्रकार की घटनाओं के द्वारा यह संकेत मिला था कि पूंजीवादी उत्पादन का अरुणोदय हो रहा है। इन सुखद क्रियाओं का आदिम संचय में मुख्य भाग रहा है। उनके बाद तुरंत ही यूरोपीय राष्ट्रों का वाणिज्य-युद्ध आरंभ हो गया, जिसका क्षेत्र पूरा भूगोल था। वह शुरू हुआ स्पेन के आधिपत्य के विरुद्ध नीदरलैंड के विद्रोह से, इंगलैंड के जैकोबिन विरोधी युद्ध में उसने भयानक विस्तार प्राप्त किया और चीन के ख़िलाफ़ अफ़ीम-युद्धों के रूप में वह आज भी जारी है, इत्यादि।

आदिम संचय के विभिन्न तत्त्व अब न्यूनाधिक रूप से कालक्रमानुसार ख़ास तौर पर स्पेन, पुर्तगाल, हालैंड, फ़्रांस और इंगलैंड के बीच बंट गये थे। इंगलैंड में १७वीं शताब्दी के अंत में उन सबको उपनिवेश-प्रणाली, राष्ट्रीय ऋण, आधुनिक कर-प्रणाली और संरक्षण-प्रणाली के रूप में सुनियोजित ढंग से जोड़ दिया गया। कुछ हद तक ये तरीक़े पाशविक बल पर निर्भर करते हैं, जिसका उदाहरण है औपनिवेशिक व्यवस्था। लेकिन जिस तरह गरम नर्सरी में पौधों का विकास जल्दी से पूरा कर डालने की कोशिश की जाती है, उसी प्रकार सामंती उत्पादन-प्रणाली को पूंजीवादी प्रणाली में रूपांतरित करने की क्रिया को जल्दी से पूरा कर डालने के लिए और उसको संक्षिप्त कर देने के उद्देश्य से इन सभी तरीक़ों में समाज के संकेंद्रित एवं संगठित बल का – राज्य की सत्ता का – प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक ऐसे पुराने समाज के लिए, जिसके गर्भ में नये समाज का अंकुर बढ़ रहा है, बल-प्रयोग बच्चा जनवानेवाली दाई का काम करता है। बल-प्रयोग स्वयं एक आर्थिक शक्ति है।

डब्ल्यू० हॉविट ने, जिन्होंने ईसाई धर्म का विशेष रूप से अध्ययन किया है, ईसाई औपनिवेशिक व्यवस्था के बारे में लिखा है: "ईसाई कहलानेवाली नस्ल ने संसार के प्रत्येक

---

[239] *The Natural and Artificial Rights of Property Contrasted*, London, 1832, pp. 98-99; इस गुमनाम पुस्तक के लेखक टॉमस हॉजस्किन थे।

[240] १७६४ की बात है कि लीड्स के छोटे कपड़ा तैयार करनेवालों ने एक प्रतिनिधिमंडल भेजकर संसद को यह दरख़्वास्त दी थी कि क़ानून बनाकर सौदागरों को कारख़ानेदार बनने से रोक दिया जाये। (Dr. Aikin, *Description of the Country from thirty to forty miles round Manchester*, London, 1795.)

इलाक़े में और हर ऐसी क़ौम पर, जिसे वह जीतने में सफल हुई है, जैसे बर्बर और भयानक अत्याचार किये हैं, वैसे अत्याचार पृथ्वी के किसी भी युग में किसी और नस्ल ने, वह चाहे जितनी ख़ूंख़ार, जाहिल और दया तथा लज्जा से विहीन क्यों न रही हो, नहीं किये हैं।"[241] हालैंड के औपनिवेशिक प्रशासन का इतिहास – और ध्यान रहे कि हालैंड १७ वीं शताब्दी का प्रमुख पूंजीवादी देश था – "विश्वासघात, घूसख़ोरी, हत्याकांड और नीचता की एक अत्यंत असाधारण कहानी है।"[242] हालैंड वाले जावा में ग़ुलामों के रूप में इस्तेमाल करने के लिए इनसानों की चोरी किस तरह किया करते थे, उससे उनके तरीक़ों पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। कुछ लोगों को इनसानों को चुराने की विशेष शिक्षा दी जाती थी। चोर, दुभाषिये और बेचनेवाले इस व्यापार के मुख्य आढ़ती थे और देशी राजा मुख्य बेचनेवाले थे। जिन युवक-युवतियों को चुराया जाता था, उनको जब तक वे दासों के समान काम करने के लायक़ नहीं होते और जहाज़ों में भरकर नहीं भेजे जाते, तब तक सेलेबीज़ के गुप्त क़ैदख़ानों में बंद करके रखा जाता था। एक सरकारी रिपोर्ट में लिखा है: "मिसाल के लिए, यह एक शहर, मैकेस्सर, गुप्त जेलख़ानों से भरा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक दूसरे से अधिक भयानक है और जिनमें लोभ और अन्याय के शिकार वे अभागे इनसान भर हुए हैं, जिनको उनके परिवारों से ज़बर्दस्ती अलग करके ज़ंजीरों में जकड़ दिया गया है।" मलाका को जीतने के लिए डच लोगों ने पुर्तगाली गवर्नर को घूस देने का वायदा करके अपनी तरफ़ कर लिया था। उसने १६४१ में उनको शहर में घुस जाने दिया। इन्होंने शहर में प्रवेश करते ही पहले उसी गवर्नर के मकान पर चढ़ाई की और उसे क़त्ल कर दिया, ताकि उसके विश्वासघात की क़ीमत के रूप में २१,८७५ पाउंड न देने पड़ें। डच लोगों ने जहां कहीं क़दम रखा, वहीं तबाही आ गयी और बस्तियां उजाड़ हो गयीं। १७५० में जावा के बांजूवांगी प्रांत की आबादी ८०,००० थी, १८११ तक वह केवल १८,००० रह गयी। कितना मधुर व्यवसाय था यह!

जैसा कि सुविदित है, अंग्रेज़ों की ईस्ट इंडिया कंपनी का हिंदुस्तान में राजनीतिक शासन तो था ही, इसके अलावा उसको चाय के व्यापार का, चीन के साथ सभी प्रकार का व्यापार करने का और यूरोप से माल लाने और यूरोप में माल ले जाने का एकाधिकार भी मिला हुआ था। परंतु हिंदुस्तान के समुद्री किनारे के व्यापार और पूर्वी द्वीपों के पारस्परिक व्यापार और साथ ही हिंदुस्तान के अंदरूनी व्यापार पर भी कंपनी के ऊंचे कर्मचारियों का एकाधिकार था। नमक, अफ़ीम, पान और अन्य मालों के व्यापार का एकाधिकार धन की अक्षय खान का काम करता था। इन चीज़ों के दाम ख़ुद कंपनी के कर्मचारी निश्चित करते थे और अभागे

---

[241] William Howitt, *Colonization and Christianity: A Popular History of the Treatment of the Natives by the Europeans in all their Colonies*, London, 1838, p. 9; दासों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता था, इसके बारे में शार्ल कोंत की रचना *Traité de la Législation*, 3ème éd., Bruxelles, 1837) में काफ़ी जानकारी इकट्ठी कर दी गयी है। जो लोग यह जानना चाहते हैं कि जहां कहीं बुर्जुआ वर्ग बेरोकटोक और इच्छानुसार दुनिया का पुनर्निर्माण कर सकता है, वहां वह ख़ुद अपने को और मज़दूर को क्या बना डालता है, उनको इस रचना का विस्तार के साथ अध्ययन करना चाहिए।

[242] देखिये जावा द्वीप के भूतपूर्व लेफ़्टिनेंट-गवर्नर Stamford Raffles की रचना *The History of Java*, London, 1817.

हिंदुओं को इच्छानुसार लूटते थे। इस प्राइवेट व्यापार में गवर्नर-जनरल भी भाग लेता था। उसके कृपापात्रों को इतनी अच्छी शर्तों पर ठेके मिल जाते थे कि वे, कीमियागरों से अधिक होशियार होने के कारण, मिट्टी से सोना बनाया करते थे। चौबीस घंटे के अंदर कुकुरमुत्तों की तरह ढेरों दौलत बटोर ली जाती थी; एक शिलिंग भी पेशगी के रूप में लगाना नहीं पड़ता था और आदिम संचय धड़ल्ले से चल निकलता था। वारेन हेस्टिंग्ज़ के मुक़दमे में इस तरह के अनेक मामले सामने आये थे। एक उदाहरण देखिये। सुलीवान नामक एक व्यक्ति को भारत के एक ऐसे भाग में, जो अफ़ीम के इलाक़े से बहुत दूर था, सरकारी काम पर भेजा जा रहा था। चलते समय उसे अफ़ीम का ठेका दे दिया गया। सुलीवान ने अपना ठेका बिन नामक एक व्यक्ति को ४०,००० पाउंड में बेच दिया। बिन ने उसी रोज़ उसे ६०,००० पाउंड में किसी अन्य व्यक्ति के हाथ बेच दिया, और इस आख़िरी ख़रीदार ने, जिसने सचमुच ठेके को कार्यान्वित किया, बताया कि इतने ऊंचे दाम देने के बाद भी वह ठेके से बहुत भारी मुनाफ़ा कमाने में कामयाब हुआ है। संसद के सामने पेश की गयी एक सूची के अनुसार १७५७ से १७६६ तक कंपनी तथा उसके कर्मचारियों को हिंदुस्तानियों से ६०,००,००० पाउंड उपहारों के रूप में प्राप्त हुए थे। १७६६ और १७७० के बीच अंग्रेज़ों ने हिंदुस्तान का सारा चावल ख़रीद लिया और उसे अत्यधिक ऊंचे दाम पाये बिना बेचने से इनकार करके वहां अकाल पैदा कर दिया।[243]

आदिवासियों के साथ सबसे बुरा व्यवहार, ज़ाहिर है, केवल निर्यात-व्यापार के लिए लगाये गये बाग़ानों वाले उपनिवेशों में किया जाता था – जैसे वेस्ट इंडीज़ में – और मैक्सिको तथा हिंदुस्तान जैसे धनी और घने बसे हुए देशों में भी, जो अंधाधुंध लूटे जा रहे थे। लेकिन जिनको सचमुच उपनिवेश कहा जा सकता था, उनमें भी आदिम संचय का ईसाई स्वरूप अक्षुण्ण था। प्रोटेस्टेंट मत के उन गंभीर साधकों – न्यू इंगलैंड के प्यूरिटनों – ने १७०३ में अपनी एसेंबली के कुछ अध्यादेशों के द्वारा अमरीकी आदिवासियों को मारकर उनकी खोपड़ी की त्वचा लाने या उन्हें ज़िंदा पकड़ लाने के लिए प्रति आदिवासी ४० पाउंड पुरस्कार की घोषणा की थी। १७२० में प्रति त्वचा १०० पाउंड पुरस्कार का ऐलान किया गया था। १७४४ में, जब मैस्साचुसेट्स-बे ने एक ख़ास क़बीले को विद्रोही घोषित किया, तो निम्नलिखित पुरस्कारों की घोषणा की गयी: १२ वर्ष या उससे अधिक आयु के पुरुषों को मार डालने के लिए प्रति त्वचा १०० पाउंड (नयी मुद्रा में), पुरुषों को पकड़ लाने के लिए प्रति व्यक्ति १०५ पाउंड, स्त्रियों और बच्चों को पकड़ लाने के लिए प्रति व्यक्ति ५५ पाउंड, स्त्रियों और बच्चों को मार डालने के लिए प्रति त्वचा ५० पाउंड। कुछ दशक और बीत जाने के बाद औपनिवेशिक व्यवस्था ने न्यू इंगलैंड के उपनिवेशों की नींव डालनेवाले इन piligrim fathers [पवित्र-हृदय यात्रियों] के वंशजों से बदला लिया, जो इस बीच विद्रोही बन बैठे थे। अंग्रेज़ों के उकसाने पर और अंग्रेज़ों के पैसे के एवज़ में अमरीकी आदिवासी अपने गंड़ासों से इन लोगों के सिर काटने लगे। ब्रिटिश संसद ने घोषणा की कि विद्रोही अमरीकियों के पीछे शिकारी कुत्ते

---

[243] १८६६ में अकेले उड़ीसा नामक प्रांत में दस लाख से अधिक हिंदु भूख से मरे। इसके बावजूद जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं बहुत ऊंचे दामों पर भूखे लोगों को बेचकर सरकारी ख़ज़ाने को बढ़ाने की कोशिश की गयी।

छोड़कर ग्रौर ग्रादिवासियों से उनके सिर कटवाकर वह केवल "भगवान ग्रौर प्रकृति के दिये हुए साधनों" का ही उपयोग कर रही है।

जिस तरह गरम नर्सरी में पौधे जल्दी-जल्दी बढ़कर तैयार हो जाते हैं, उसी तरह ग्रौपनिवेशिक व्यवस्था की छत्रछाया में व्यापार ग्रौर नौ-परिवहन बहुत तेज़ी से विकास करने लगे। लूथर ने जिनको "एकाधिकारी कंपनियां" कहा था, उन्होंने पूंजी के संकेंद्रण में शक्तिशाली साधनों का काम किया। उपनिवेशों में नवजात उद्योगों के लिए मंडियां तैयार हो गयीं, ग्रौर मंडियों पर एकाधिकार होने के कारण ग्रौर भी तेज़ी से संचय होने लगा। यूरोप के बाहर खुली लूट-मार करके, लोगों को ग़ुलाम बनाकर ग्रौर हत्याएं करके जिन ख़ज़ानों पर क़ब्ज़ा किया जाता था, वे सब मातृभूमि में पहुंचा दिये जाते थे ग्रौर वहां वे पूंजी में बदल जाते थे। ग्रौपनिवेशिक व्यवस्था का पूर्ण विकास सबसे पहले हालैंड ने किया था। वह १६४८ में ही वाणिज्य के क्षेत्र में ग्रपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया था। "ईस्ट इंडिया के साथ जो व्यापार होता था ग्रौर दक्षिण-पूर्वी तथा उत्तर-पश्चिमी यूरोप के बीच जो व्यापार चलता था", उसपर हालैंड का "लगभग एकाधिकार था। कोई ग्रन्य देश उसके मीन-क्षेत्रों, समुद्री जहाजों ग्रौर उद्योगों का मुक़ाबला नहीं कर सकता था। डच प्रजातंत्र की कुल पूंजी शायद बाक़ी सारे यूरोप की संयुक्त पूंजी से ज्यादा थी।" [G. Gülich, *Geschichtliche Darstellung etc.*, Jena, 1830, Bd. I, S. 371.] गूलीह को यहां यह ग्रौर लिखना चाहिए था कि १६४८ के ग्राते न ग्राते हालैंड के लोगों से जितना ज्यादा काम लिया जाता था, वे जैसी ग़रीबी में रहते थे ग्रौर उनपर जैसा पाशविक ग्रत्याचार किया जाता था, बाक़ी सारा यूरोप मिलकर भी उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता था।

ग्राजकल ग्रौद्योगिक श्रेष्ठता का ग्रर्थ वाणिज्यिक श्रेष्ठता भी होता है। परंतु जिसे सचमुच मैन्यूफ़ैक्चर का युग कहा जा सकता था, उस युग में इसके विपरीत जिसकी वाणिज्य के क्षेत्र में श्रेष्ठता होती थी, उसी को ग्रौद्योगिक क्षेत्र में भी प्रधानता प्राप्त हो जाती थी। यही कारण है कि उस काल में ग्रौपनिवेशिक व्यवस्था ने इतनी बड़ी भूमिका ग्रदा की। यह व्यवस्था एक नये ग्रौर "विचित्र देवता" के समान थी, जो देव-स्थान पर यूरोप के पुराने देवताग्रों के बिल्कुल बराबर में जाकर बैठ गया था ग्रौर जिसने फिर एक दिन एक धक्के से उन सारे देवताग्रों को नीचे गिरा दिया था। इस व्यवस्था ने बेशी मूल्य कमाना ही मानवता का एकमात्र लक्ष्य ग्रौर उद्देश्य घोषित कर दिया था।

सार्वजनिक साख ग्रथवा राष्ट्रीय ऋण की प्रणाली ने, जिसका जन्म हम मध्य युग में ही जेनोग्रा ग्रौर वेनिस में हो गया पाते हैं, मैन्यूफ़ैक्चर के युग में ग्राम तौर पर सारे यूरोप पर छा गयी। ग्रौपनिवेशिक व्यवस्था ग्रपने समुद्री व्यापार ग्रौर व्यापारिक युद्धों के द्वारा इस प्रणाली के विकास को ग्रौर प्रेरित कर रही थी। चुनांचे पहले-पहल इस प्रणाली ने हालैंड में जड़ जमायी। राष्ट्रीय ऋण उठाने की प्रणाली ने, ग्रर्थात् राज्य को – वह चाहे निरंकुश राज्य हो, चाहे वैधानिक राज्य, या चाहे प्रजातांत्रिक राज्य – उधार देने की प्रणाली ने पूरे पूंजीवादी युग पर ग्रपनी छाप छोड़ी। राष्ट्रीय ऋण ही तथाकथित राष्ट्रीय धन का वह एकमात्र भाग है, जो ग्राधुनिक काल में सचमुच किसी देश की जनता की सामूहिक संपत्ति बनता है।[243a]

[243a] विलियम कॉबेट ने कहा है कि इंगलैंड में सभी सार्वजनिक संस्थाग्रों को "शाही" संस्थाग्रों का नाम दिया जाता है, लेकिन इसकी क्षति-पूर्ति करने के लिए एक "राष्ट्रीय" ऋण भी है।

इसी के एक अनिवार्य परिणाम के रूप में यह आधुनिक सिद्धांत सामने आता है कि किसी राष्ट्र का ऋण जितना अधिक बढ़ता है, वह उतना ही अधिक धनी होता जाता है। सार्वजनिक साख पूंजी का ईमान बन जाती है। और राष्ट्रीय ऋण उठाने की प्रणाली के प्रसार के साथ-साथ "पवित्र आत्मा" की निंदा के अक्षम्य अपराध का स्थान राष्ट्रीय ऋण में विश्वास न रखने का अपराध ले लेता है।

सार्वजनिक ऋण आदिम संचय का एक सबसे शक्तिशाली साधन बन जाता है। वह मानो किसी जादुई छड़ी के इशारे से बांझ द्रव्य में भी संतान पैदा करने की शक्ति उत्पन्न कर देता है और इस प्रकार उसे पूंजी में बदल लेता है। और इस परिवर्तन के लिए द्रव्य को उन तमाम झंझटों और ख़तरों में डालने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती, जिनका उसको उद्योग में या यहां तक कि सूदख़ोरी में लगाये जाने पर भी अनिवार्य रूप से सामना करना पड़ता है। राज्य को क़र्ज़ा देनेवाले असल में कुछ नहीं देते, क्योंकि वे जो रक़म उधार देते हैं, वह सार्वजनिक बांडों में रूपांतरित कर दी जाती है, और ये बांड बड़ी आसानी से बिक जाते हैं तथा इसलिए वे उन लोगों के हाथ में वही काम पूरा करते हैं, जो उतने ही मूल्य का नक़द रुपया करता। इस प्रकार इस प्रणाली का केवल यही परिणाम नहीं होता कि सरकारी बांडों के वार्षिक ब्याज के सहारे काहिली में जीवन बितानेवालों का एक वर्ग उत्पन्न हो जाता है, सरकार तथा जनता के बीच आढ़तियों का काम करनेवाले वित्त-प्रबंधकों के पास बिना किसी कष्ट के दौलत इकट्ठी हो जाती है और कर-वसूली का काम करनेवालों, सौदागरों और कारख़ानेदारों का जन्म भी हो जाता है, जिनको प्रत्येक राष्ट्रीय ऋण का एक भाग आकाश से गिरी हुई पूंजी के रूप में मिलने लगता है। इसके अलावा राष्ट्रीय ऋण की प्रणाली के फलस्वरूप सम्मिलित पूंजी वाली कंपनियां, हर प्रकार की विनिमयशील प्रतिभूतियों का लेनदेन, बट्टे का व्यापार, और संक्षेप में कहें, तो शेयर-बाज़ार का सट्टा आरंभ हो जाता है और थोड़े से आधुनिक बैंकपतियों के आधिपत्य की नींव पड़ जाती है।

राष्ट्रीय उपाधियों से विभूषित बड़े-बड़े बैंक अपने जन्म के समय निजी हित में सट्टा खेलनेवाले कुछ ऐसे व्यक्तियों के संघ मात्र थे, जो सरकारों की सहायता करने लगे थे और जो राज्य से प्राप्त विशेषाधिकारों के प्रताप से राज्य को उधार देने की स्थिति में थे। इसीलिए राष्ट्रीय ऋण के संचय का इन बैंकों की शेयर-पूंजी में उत्तरोत्तर होनेवाली वृद्धि से अधिक उभ्रांत प्रमाण और कोई नहीं है। इन बैंकों का पूर्ण विकास १६६४ में हुआ, जब कि बैंक आफ़ इंगलैंड की नींव पड़ी। बैंक आफ़ इंगलैंड ने सरकार को ८ प्रतिशत ब्याज पर उधार देकर श्रीगणेश किया। साथ ही उसको संसद ने इसी पूंजी को बैंक-नोटों की शक्ल में फिर से जनता को उधार देकर मुद्रा ढालने की इजाज़त दे दी। उसको इन नोटों के द्वारा हुंडियां भुनाने, मालों के दाम पेशगी देने और बहुमूल्य धातुएं ख़रीदने की भी इजाज़त मिल गयी। बहुत समय नहीं बीता कि इस साख-द्रव्य ने ही, जिसे ख़ुद इस बैंक ने बनाया था, उस माध्यम का रूप धारण कर लिया, जिसके द्वारा बैंक आफ़ इंगलैंड राज्य को उधार देता था और राज्य की ओर से सरकारी ऋण का ब्याज अदा करता था। इतना ही काफ़ी नहीं था कि बैंक एक हाथ से जितना देता था, उससे अधिक दूसरे हाथ से ले लेता था। बराबर लेते रहने के बावजूद वह सदा राष्ट्र का शाश्वत लेनदार बना रहता था और राज्य को दी हुई उसकी एक-एक पाई राष्ट्र के मत्थे चढ़ी रहती थी। धीरे-धीरे वह अनिवार्य रूप से देश के सारे सोने-चांदी का भंडार-गृह और समस्त व्यापारिक साख का आकर्षण-केंद्र बन गया। बैंक-

पतियों, वित्त-पोषकों, सरकारी बांडों के ब्याज के सहारे मज़ा मारनेवालों, दलालों, शेयर-बाज़ार के सट्टेबाज़ों, आदि के इस पूरे रेवड़ का यकायक जन्म हो जाने का उनके समकालीन लोगों पर क्या प्रभाव पड़ा था, यह उस काल की रचनाओं से – उदाहरण के लिए, बोलिंगब्रूक की रचनाओं से – स्पष्ट हो जाता है।[243b]

राष्ट्रीय ऋण की प्रणाली के साथ-साथ उधार की एक अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली का भी जन्म हुआ। इस प्रणाली के पीछे अकसर किसी क़ौम के आदिम संचय का एक स्रोत छिपा रहता है। चुनांचे वेनिस में लूट की जिस पद्धति का विकास हुआ था, उसके नीच कृत्य हालैंड के पूंजीगत धन का एक गुप्त स्रोत थे, क्योंकि वेनिस अपने पतन के काल में हालैंड को बड़ी-बड़ी रक़में उधार दिया करता था। हालैंड और इंगलैंड के बीच भी कुछ इसी तरह के संबंध थे। १८वीं शताब्दी के आरंभ होते-होते डच उद्योग-धंधे प्रगति की दौड़ में बहुत पीछे पड़ गये थे। वाणिज्य तथा उद्योग के क्षेत्र में हालैंड अब सबसे प्रधान राष्ट्र नहीं रह गया था। इसलिए १७०१ से १७७६ तक उसका एक मुख्य व्यवसाय विशेषकर अपने महान प्रतिद्वंद्वी इंगलैंड को पूंजी की बड़ी-बड़ी रक़में उधार देना था। आजकल इंगलैंड और संयुक्त राज्य अमरीका के बीच भी ऐसा ही सिलसिला चल रहा है। आज जो पूंजी बिना किसी जन्म-प्रमाणपत्र के संयुक्त राज्य अमरीका में प्रकट हो रही है, वह कल तक इंगलैंड में अंग्रेज़ बच्चों के पूंजीकृत रक्त के रूप में विद्यमान थी।

राष्ट्रीय ऋण का आधारस्तंभ सार्वजनिक आय होती है। ब्याज, आदि के रूप में हर साल जो भुगतान करने पड़ते हैं, वे इसी आय में से किये जाते हैं। इसलिए आधुनिक कर-प्रणाली राष्ट्रीय ऋण-प्रणाली की आवश्यक पूरक है। ऋण लेकर सरकार असाधारण ढंग की मदों का ख़र्चा पूरा कर सकती है, जिसका बोझा करदाताओं को तत्काल अनुभव नहीं होता; लेकिन जिसके फलस्वरूप करों में वृद्धि करना आवश्यक हो जाता है। दूसरी ओर, एक के बाद दूसरा ऋण लेते जाने के कारण चूंकि सरकार पर बहुत सारा क़र्ज़ा चढ़ जाता है और उसकी वजह से करों में बहुत वृद्धि हो जाती है, इसलिए नये असाधारण ढंग के ख़र्चों के लिए सरकार को मजबूर होकर हमेशा नये ऋण लेने पड़ते हैं। आधुनिक राजस्व-नीति की धुरी है जीवन-निर्वाह के अत्यंत आवश्यक साधनों पर कर लगाना (और इस तरह उनके दामों को बढ़ा देना)। अतएव आधुनिक राजस्व-नीति के भीतर करों के अपने आप बराबर बढ़ते जाने की प्रवृत्ति छिपी रहती है। अत्यधिक कराधान अब कोई आकस्मिक चीज़ न रहकर एक सिद्धांत बन जाता है। चुनांचे हालैंड में, जहां इस प्रणाली का सबसे पहले श्रीगणेश किया गया था, महान देशभक्त दे विट ने अपनी रचना Maxims में इस प्रणाली की मज़दूरों को विनम्र, मितव्यी और परिश्रमी बनाने – और उनपर कमरतोड़ श्रम का बोझा लाद देने – की सबसे अच्छी प्रणाली के रूप में बहुत प्रशंसा की है। लेकिन यह प्रणाली मज़दूरों का जिस तरह सत्यानाश करती है, उससे हमारा यहां उतना संबंध नहीं है, जितना इस बात से है कि उसके फलस्वरूप किसानों, दस्तकारों और संक्षेप में कहें, तो निम्न मध्य वर्ग के सभी तत्त्वों का संपत्तिहरण हो जाता है। इस विषय पर तो बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों में भी दो मत नहीं हैं। लोगों का

[243b] "यदि तातार आज यूरोप पर हमला करें, तो उन्हें यह समझा पाना बहुत ही कठिन होगा कि जिसे हम वित्त-पोषक कहते हैं, वह क्या बला होता है।" (Montesquieu, *Esprit des lois*, éd. Londres, 1769, t. IV, p. 33.)

संपत्तिहरण करने के मामले में आधुनिक कर-प्रणाली की कार्य-क्षमता संरक्षण की प्रणाली के कारण और भी बढ़ जाती है, जो कि इस प्रणाली का एक अभिन्न अंग होती है।

धन के पूंजीकरण और जनता के संपत्तिहरण में सार्वजनिक ऋणों की प्रणाली ने और तदनुरूप राजस्व-प्रणाली ने भी जो महत्त्वपूर्ण भाग लिया है, उसे ध्यान में रखते हुए कॉबेट, डबलडे, आदि अनेक लेखक ग़लती से इन प्रणालियों को आधुनिक काल में जनता की ग़रीबी का मूल कारण समझ बैठे हैं।

संरक्षण की प्रणाली बनावटी ढंग से कारख़ानेदारों को निर्मित करने, स्वतंत्र कारीगरों का संपत्तिहरण करने तथा उत्पादन और जीवन-निर्वाह के राष्ट्रीय साधनों का पूंजीकरण करने और मध्ययुगीन उत्पादन-प्रणाली तथा आधुनिक उत्पादन-प्रणाली के बीच के संक्रमण-काल को ज़बर्दस्ती छोटा कर देने की एक तरक़ीब थी। इस आविष्कार पर किसका एकाधिकार है, इस प्रश्न को लेकर यूरोपीय राज्यों ने एक दूसरे को चीरना-फाड़ना शुरू कर दिया था; और जब एक बार इन राज्यों ने बेशी मूल्य बनानेवालों की सेवा करना स्वीकार कर लिया, तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने न केवल अप्रत्यक्ष रूप से संरक्षण-कर लगाकर और प्रत्यक्ष रूप से निर्यात होनेवाले पण्य पर प्रीमियम देकर स्वयं अपनी जनता को मूंड़ा, बल्कि अपने पराधीन देशों में भी हर प्रकार के उद्योग-धंधों को ज़बर्दस्ती नष्ट कर दिया। मिसाल के लिए, इंगलैंड ने आयरलैंड के ऊनी माल के मैन्यूफ़ैक्चर के साथ यही किया। यूरोपीय महाद्वीप में कोलबर का अनुकरण करते हुए इस पूरी क्रिया को अत्यधिक सरल बना दिया गया। यहां आंशिक तौर पर आदिम औद्योगिक पूंजी प्रत्यक्ष रूप में राज्य के ख़ज़ाने से आयी। मिराबो चिल्ला उठता है: "सप्तवर्षीय युद्ध के पहले सैक्सोनी की औद्योगिक समृद्धि का कारण खोजने के लिए बहुत दूर जाने की क्या ज़रूरत है? अरे, उसका कारण यह था कि राज्य ने १८,००,००,००० का ऋण लिया था!"[244]

जिसे सचमुच मैन्यूफ़ैक्चर का काल कहा जा सकता है, उसकी संतान का—औपनिवेशिक व्यवस्था, सार्वजनिक ऋणों, भारी करों, संरक्षण-प्रणाली, व्यापारिक युद्धों, आदि का—आधुनिक उद्योग के बाल्य-काल में विराट पैमाने पर विकास हुआ। आधुनिक उद्योग के जन्म की पूर्वसूचना के रूप में निर्दोष व्यक्तियों की एक बड़ी भारी संख्या की हत्या की गयी। रायल नेवी की तरह फ़ैक्टरियों के लिए भी लोगों को ज़बर्दस्ती भर्ती किया जाता था। १५ वीं शताब्दी की अंतिम तिहाई से लेकर सर एफ़० एम० ईडन के काल तक जिस ख़ौफ़नाक ढंग से खेतिहर आबादी की ज़मीनें छीनी गयी थीं, उसके ईडन अभ्यस्त से हो गये थे। इस क्रिया से, जिसको वह पूंजीवादी खेती की स्थापना के लिए और "खेती की ज़मीन तथा चरागाहों की ज़मीन के बीच उचित अनुपात क़ायम करने के लिए" नितांत "आवश्यक" समझते थे, ईडन साहब को बड़ा संतोष था और प्रसन्नता थी। लेकिन इतनी आर्थिक सूझ उनमें नहीं थी कि वह यह भी मान लेते कि मैन्यूफ़ैक्चर-प्रणाली के शोषण को फ़ैक्टरी-प्रणाली के शोषण में रूपांतरित करने के लिए और पूंजी तथा श्रम-शक्ति के बीच "सच्चा संबंध" स्थापित करने के लिए बच्चों को चुराना और उनको ग़ुलाम बनाकर रखना भी नितांत आवश्यक है। ईडन ने लिखा है: "जनता को शायद इस प्रश्न की ओर ध्यान देना चाहिए कि क्या ऐसे किसी मैन्यूफ़ैक्चर से भी व्यक्तियों का या राष्ट्र का कल्याण हो सकता है, जिसको सफलतापूर्वक चलाने के लिए इसकी

---

[244] Mirabeau, *De la Monarchie Prussienne*, Londres, 1788, t. VI, p. 101.

आवश्यकता पड़ती हो कि झोंपड़ों और मुहताज-ख़ानों से ग़रीब बच्चे पकड़कर मंगवाये जायें, रात के अधिकतर भाग में उनसे बारी-बारी से काम करवाया जाये तथा उनको उस विश्राम से भी वंचित कर दिया जाये, जो वैसे तो सभी के लिए अपरिहार्य होता है, पर जिसकी बच्चों को सबसे अधिक आवश्यकता होती है, और अलग-अलग आयु की तथा विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियां रखनेवाली स्त्रियों और पुरुषों, दोनों को एक ही स्थान पर इस तरह इकट्ठा कर दिया जाये कि केवल एक दूसरे को देख-देखकर ही उनका दुश्चरित्र और दुराचारी बन जाना अनिवार्य हो जाये।"[245] फ़ील्डेन ने लिखा है: "डर्बीशायर और नॉटिंघमशायर की काउंटियों में और विशेष रूप से लंकाशायर में नव-आविष्कृत मशीनें प्रायः ऐसी नदियों के तट पर बनी हुई बड़ी फ़ैक्टरियों में इस्तेमाल की गयी हैं, जिनसे पनचक्की चलायी जा सकती है। शहरों से बहुत दूर, इन स्थानों में यकायक हज़ारों मज़दूरों की आवश्यकता होती थी। ख़ास तौर पर लंकाशायर उस समय तक बहुत ही कम आबादी वाला, एक उजाड़ स्थान था; वहां केवल अच्छी आबादी की ही कमी थी। सबसे अधिक मांग चूंकि छोटी-छोटी, फुर्तीली उंगलियों वाले नन्हे बच्चों के लिए रहती थी, इसलिए तत्काल ही लंदन, बर्मिंघम तथा अन्य स्थानों के सार्वजनिक मुहताज-ख़ानों से शागिर्द बच्चों को मंगवा भेजने की प्रथा प्रचलित हो गयी। ७ वर्ष से लेकर १३ या १४ वर्ष तक की आयु के ऐसे हज़ारों छोटे-छोटे निस्सहाय बच्चों को उत्तर में काम करने के लिए भेज दिया गया। प्रथा यह थी कि इन शागिर्द बच्चों का मालिक उनको रोटी-कपड़ा देता था और फ़ैक्टरी के नज़दीक 'शागिर्दों के घरों' में उनको रखता था। उनकी देखरेख के लिए कुछ निरीक्षक नियुक्त कर दिये जाते थे, जिनका हित इस बात में होता था कि बच्चों से ज़्यादा काम लें, क्योंकि वे बच्चों से जितना अधिक काम ले पाते थे, उनको उतनी ही अधिक तनख़्वाह मिलती थी। ज़ाहिर है, इसका नतीजा होता था बेरहमी... कारख़ानों वाले बहुत से डिस्ट्रिक्टों में और, मेरे ख़याल में, ख़ास तौर से उस अपराधी काउंटी में, जिससे मेरा संबंध है [लंकाशायर में], इन निर्दोष, निस्सहाय बच्चों को, जिनको कारख़ानेदारों के संरक्षण में रख दिया गया था, अत्यंत मर्मभेदी क्रूरताओं का शिकार बनना पड़ता था। उनसे इतना अधिक काम कराया जाता था कि अत्यधिक परिश्रम के कारण वे मानो मृत्यु के कगार पर पहुंच जाते थे... उनको कोड़ों से मारने, ज़ंजीरों में जकड़कर रखने और यातनाएं देने के नये-नये तरीक़े निकालने में क्रूरता ने बड़ी सूझबूझ का परिचय दिया था... उनमें से बहुतों को काम के समय कोड़ों से पीटा जाता था और भूखा रखा जाता था, जिससे उनकी हड्डियां निकल आती थीं... और यहां तक कि कुछ तो... आत्महत्या तक कर लेते थे... जनता की निगाह से छिपी हुई डर्बीशायर, नॉटिंघमशायर और लंकाशायर की सुंदर और मनोरम घाटियां दारुण और मनहूस यातनागृहों में और बहुतों के लिए तो वध-स्थलों में परिणत हो गयी थीं। कारख़ानेदारों को बेशुमार मुनाफ़े होते थे, लेकिन इससे उनकी भूख संतुष्ट होने के बजाय अधिकाधिक तीव्र होती जाती थी और इसलिए कारख़ानेदारों ने एक ऐसी तरक़ीब निकाली, जिससे उनको आशा थी कि उनके मुनाफ़े बराबर बढ़ते ही जायेंगे और उनका बढ़ना कभी नहीं रुकेगा। उन्होंने उस प्रणाली का प्रयोग करना आरंभ किया, जो 'रात को काम करना' कहलाती थी। मतलब यह कि जब मज़दूरों का एक दल दिन में लगातार काम करते रहने के कारण थककर चूर हो जाये, तब तक एक दूसरा दल रात भर काम करने

---

[245] Eden, *The State of the Poor*, Book. II, Ch. 1, p. 421.

को तैयार हो जाये। दिन की पाली वाले मजदूर तब उन्हीं बिस्तरों पर जाकर लेट रहते हैं, जिनपर से रात की पाली वाले उठकर आये हैं, और रात की पाली वाले उन बिस्तरों में शरण पाते हैं, जिनको दिन की पाली वाले सुबह को ख़ाली कर देते हैं। लंकाशायर की परंपरा है कि वहां बिस्तर कभी ठंडे नहीं होते।"[246]

मैन्यूफ़ैक्चर के काल में पूंजीवादी उत्पादन के विकास के साथ-साथ यूरोप का लोकमत लज्जा और विवेक के अंतिम अवशेषों को भी खो बैठा था। सभी राष्ट्र हर ऐसे अनाचार की, जिससे पूंजीवादी संचय का काम निकलता था, बढ़-बढ़कर डींग मार रहे थे। उदाहरण के लिए, सुयोग्य ए० ऐंडर्सन की भोलेपन से भरी रचना – वाणिज्य का इतिहास – पढ़िये। उसमें यह घोषणा की गयी है कि यह अंग्रेज़ों की राजनीतिज्ञता की बड़ी भारी सफलता थी कि उत्रेख़्त की संधि पर हस्ताक्षर करने के समय उन्होंने आसिएंतो संधि [दास-व्यापार संबंधी संधि] के द्वारा अफ़्रीका और स्पेनी अमरीका के बीच हबशियों का व्यापार करने का अधिकार स्पेनवालों से छीन लिया था। इसके पहले केवल अफ़्रीका और ब्रिटिश वेस्ट इंडीज़ के बीच ही वे हबशियों का व्यापार कर सकते थे। इस संधि के द्वारा इंगलैंड को १७४३ तक प्रति वर्ष ४,८०० हबशी स्पेनी अमरीका भेजने का अधिकार मिल गया। इसके साथ-साथ अंग्रेज़ लोग जो चोरी का व्यापार किया करते थे, उसपर भी सरकारी आवरण पड़ गया। लिवरपूल दासों के व्यापार से धन कमा-कमाकर मोटा होने लगा। यही उसका आदिम संचय का तरीक़ा था। और यहां तक कि आज भी लिवरपूल के "सुप्रतिष्ठित लोग" दासों के व्यापार का प्रशस्ति-गान किया करते हैं। उदाहरण के लिए, आइकिन की जिस रचना (१७९५) को हम ऊपर

---

[246] John Fielden, *The Curse of the Factory System*, London, 1836, pp. 5,6; फ़ैक्टरी-व्यवस्था की इससे पहले की कलंकपूर्ण विशेषताओं के बारे में देखिये Dr. Aikin, *Description of the Country from thirty to forty miles round Manchester*, (London, 1795, p. 218) और Gisborne, *Inquiry into the Duties of Men* (1795, Vol. 2.) जब भाप के इंजन ने देहात में जल-प्रपातों के निकट स्थित फ़ैक्टरियों को वहां से उखाड़कर शहरों के बीचोंबीच ला खड़ा किया, तो बेशी मूल्य बनानेवाले "परिवर्जनशील" पूंजीपति को बच्चों के रूप में पहले से तैयार मानव-सामग्री मिल गयी, उसे गुलामों की तलाश में मुहताज-ख़ानों के दरवाज़े नहीं खटखटाने पड़े। जब सर आर० पील ("plausibility [बगुलाभगती] के मंत्री" पील के बाप) ने १८१५ में बच्चों के संरक्षण के लिए अपना विधेयक संसद में पेश किया, तो कलधौत-समिति के प्रतिभाशाली सदस्य और रिकार्डो के अंतरंग मित्र, फ़्रांसिस हॉर्नर ने हाउस आफ़ कामन्स में भाषण देते हुए कहा था: "यह काफ़ी प्रसिद्ध बात है कि एक दिवालिया व्यक्ति की संपत्ति के साथ-साथ इन बच्चों की टोली (यदि इस शब्द का प्रयोग वांछनीय समझा जाये तो) भी बिक्री के लिए पेश की गयी थी और संपत्ति के एक भाग के रूप में उसका खुलेआम विज्ञापन किया गया था। Court of King's Bench [राज-न्यायालय] के सामने दो वर्ष पहले एक अत्यंत दारुण उदाहरण प्रस्तुत हुआ था। लंदन के एक क्षेत्र के अधिकारियों ने कुछ बच्चों को शागिर्द मजदूरों के रूप में एक कारख़ानेदार के यहां रखवा दिया था। वहां से वे एक दूसरे कारख़ानेदार के यहां भेज दिये गये। उसके यहां कुछ दयालु व्यक्तियों ने उनको एकदम भुखमरी की हालत में देखा। इससे भी अधिक भयंकर एक उदाहरण मुझे देखने को मिला था, जब मैं एक संसदीय समिति के सदस्य के रूप में काम कर रहा था... वह यह कि कुछ ही वर्ष पहले लंदन के एक क्षेत्र के साथ लंकाशायर के एक कारख़ानेदार का यह समझौता हो गया था कि हर बीस स्वस्थ बच्चों के साथ उसको एक पागल बच्चे को भी अपने यहां काम पर रखना होगा।"

उद्धृत भी कर चुके हैं, उसमें लिखा है कि दासों का व्यापार "निर्भय साहसिकता की उस भावना से मेल खाता है, जो लिवरपूल के व्यापार का एक विशेष गुण है और जिसकी सहायता से ही लिवरपूल इतनी तेज़ी से अपनी वर्तमान समृद्धि को प्राप्त कर सका है; उससे जहाज़ों को और मल्लाहों को बड़े पैमाने पर काम मिला है और देश के मैन्यूफ़ैक्चरों के बने सामान की मांग बढ़ी है।" (पृ० ३३९)। लिवरपूल दासों के व्यापार के लिए १७३० में १५ जहाज़ों को इस्तेमाल करता था; १७५१ तक उनकी संख्या ५३, १७६० में ७४, १७७० में ९६ और १७९२ में १३२ हो गयी थी।

इंगलैंड में सूती उद्योग ने बच्चों की दासता का श्रीगणेश किया था, पर संयुक्त राज्य अमरीका में उससे पुराने ज़माने की न्यूनाधिक पितृसत्तात्मक दासता को एक व्यापारिक शोषण-व्यवस्था में रूपांतरित कर देने के लिए बढ़ावा मिला। असल में यूरोप में मजदूरी पर काम करनेवालों की जो छद्म दासता स्थापित हो रही थी, उसके आधारस्तंभ के रूप में नयी दुनिया में सीधी-सच्ची दासता स्थापित करना आवश्यक था।[247]

उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के "शाश्वत प्राकृतिक नियमों" की स्थापना करने के लिए, श्रम करने के लिए आवश्यक तमाम साधनों से मज़दूर के संबंध-विच्छेद की क्रिया को पूरा करने के लिए, एक छोर पर उत्पादन तथा जीवन-निर्वाह के साधनों को पूंजी में रूपांतरित करने के लिए और दूसरे छोर पर जनसाधारण को आधुनिक समाज की उस बनावटी पैदावार में, मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों में, या "स्वतंत्र मेहनतकश ग़रीबों"[248] में, बदल डालने के लिए tantae molis erat [इतना सब कष्ट और दुःख उठाना जरूरी था]। यदि, औजिये के कथनानुसार मुद्रा "अपने गाल पर एक जन्मजात रक्त

---

[247] १७९० में अंग्रेज़ों द्वारा अधिकृत वेस्ट इंडीज़ में हर स्वतंत्र मनुष्य के पीछे दस, फ़ांसीसियों द्वारा अधिकृत वेस्ट इंडीज़ में चौदह और डच लोगों द्वारा अधिकृत वेस्ट इंडीज़ में तेईस दास थे। (Henry Brougham, *An Inquiry into the Colonial Policy of the European Powers*, Edinburgh, 1803, Vol. II, p. 74.)

[248] "Labouring poor" ["मेहनतकश ग़रीबों"] का इंगलैंड के क़ानूनों में उसी क्षण से ज़िक्र होने लगता है, जिस क्षण से मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों का वर्ग नज़र आने लगता है। इस नाम का एक ओर तो "idle poor ["काहिल ग़रीबों"], "भिखारियों, आदि के विरोध में प्रयोग किया जाता है, और दूसरी ओर, उसका उन मज़दूरों के मुक़ाबले में इस्तेमाल किया जाता है, जिनके पास, उन कबूतरों की तरह, जिनके पर अभी काटे नहीं गये हैं, अब भी श्रम करने के कुछ साधन मौजूद हैं। क़ानूनों की पुस्तकों से यह नाम राजनीतिक अर्थशास्त्र में प्रवेश कर गया, और कलपेपर, जे० चाइल्ड, आदि की रचनाओं से वह ऐडम स्मिथ और ईडन को मिला। इतना सब जानने के बाद हम ख़ुद इसका निर्णय कर सकते हैं कि जब "घृणित राजनीतिक शब्दाडंबर रचने में सिद्धहस्त" एडमंड बर्क ने "मेहनतकश ग़रीब" नाम के प्रयोग को "घृणित राजनीतिक शब्दाडंबर" कहा था, तब उन्होंने कितने सद्भाव का परिचय दिया था। यह ख़ुशामदी आदमी जब अंग्रेज धनिक-तंत्र से तनख़्वाह पाता था, तब वह फ़ांसीसी क्रांति के ख़िलाफ़ की जानेवाली कार्रवाइयों की प्रशंसा किया करता था, और उसी प्रकार जब अमरीकी उपद्रवों के शुरू में वह उत्तरी अमरीका के उपनिवेशों से तनख़्वाह पाता था, तब उसने इंगलैंड के धनिक-तंत्र के विरुद्ध उदारपंथी होने का ढोंग रचा। असल में वह एक शत प्रतिशत गंवार बुर्जुआ था। उसने लिखा था: "वाणिज्य के नियम प्रकृति के नियम हैं और इसलिए वे ईश्वर के बनाये हुए नियम हैं।" (E. Burke, *Thoughts and Details on Scarcity*, ed. London, 1800, pp. 31, 32.) अतः कोई

का धब्बा लिये हुए संसार में आती है",[249] तो हम कहेंगे कि जब पूंजी संसार में आती है, तब उसके सिर से पैर तक प्रत्येक छिद्र से रक्त और गंदगी टपकती रहती है।[250]

आश्चर्य नहीं, यदि वह ईश्वर तथा प्रकृति के नियमों के अनुसार अपने को सदा सबसे ऊंचे दामों में बेचा। जिन दिनों यह एडमंड बर्क उदारपंथी था, उन दिनों का उसका एक अच्छा चित्र हमें रेवरेंड टकर की रचनाओं में देखने को मिलता है। टकर पादरी था और अनुदार-दली था। परंतु फिर भी, जहां तक बाक़ी बातों का संबंध है, वह एक स्वाभिमानी व्यक्ति और योग्य राजनीतिक अर्थशास्त्री था। आजकल जैसी गर्हित असैद्धांतिकता का बोलबाला है और "वाणिज्य के नियमों" में जो अटूट विश्वास किया जाता है, उनको देखते हुए हमारा यह परम कर्तव्य हो जाता है कि बर्क जैसे उन लोगों की असलियत को बार-बार खोलकर रखें, जो अपने उत्तराधिकारियों से केवल एक ही बात में भिन्न थे, और वह यह कि उनमें कुछ प्रतिभा थी!

[249] Marie Augier, *Du Crédit Public*, Paris, 1842.

[250] "*Quarterly Reviewer* ने कहा है कि पूंजी अशांति और संघर्ष से दूर भागती है और बहुत भीरु होती है। यह बात बिल्कुल ठीक है, परंतु केवल इतना ही कहना प्रश्न को बहुत अपूर्ण रूप में प्रस्तुत करना है। जिस प्रकार पहले कहा जाता था कि प्रकृति शून्य से घृणा करती है, उसी प्रकार पूंजी इसे बहुत नापसंद करती है कि मुनाफ़ा न हो या बहुत कम हो। पर्याप्त मुनाफ़ा हो, तो पूंजी बहुत साहस दिखाती है। १० प्रतिशत मुनाफ़ा मिले, तो पूंजी को किसी भी स्थान पर लगाया जा सकता है। २० प्रतिशत का मुनाफ़ा निश्चित हो, तो पूंजी में उत्सुकता दिखायी पड़ने लगती है। ५० प्रतिशत की आशा हो, तो पूंजी स्पष्ट ही दिलेर बन जाती है। १०० प्रतिशत का मुनाफ़ा निश्चित हो, तो वह मानवता के सभी नियमों को पैरों तले रौंदने को तैयार हो जायेगी। और यदि ३०० प्रतिशत मुनाफ़े की आशा हो, तो ऐसा कोई भी अपराध नहीं है, जिसके करने में पूंजी को संकोच होगा, और कोई भी ख़तरा ऐसा नहीं है, जिसका सामना करने को वह तैयार नहीं होगी। यहां तक कि अगर पूंजी के मालिक के फांसी पर टांग दिये जाने का ख़तरा हो, तो भी वह नहीं हिचकिचायेगी। यदि अशांति और संघर्ष से मुनाफ़ा होता दिखायी देगा, तो वह इन दोनों चीज़ों को जी खोलकर प्रोत्साहन देगी। यहां जो कुछ कहा गया है, चोरी का व्यापार और दासों का व्यापार इसको पूरी तरह प्रमाणित करते हैं।" (T. J. Dunning, *Trades' Unions and Strikes*, London, 1860, pp. 35, 36.)

अध्याय ३२

पूंजीवादी संचय की ऐतिहासिक प्रवृत्ति

पूंजी के आदिम संचय का – अर्थात् उसकी ऐतिहासिक उत्पत्ति का – आख़िर क्या मतलब होता है? जहां तक कि आदिम संचय में दास और कृषि दास तत्काल ही मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों में रूपांतरित नहीं हो जाते और इसलिए जहां तक कि उसमें केवल रूप का परिवर्तन नहीं होता, वहां तक उसका केवल इतना ही अर्थ होता है कि प्रत्यक्ष उत्पादकों का संपत्तिहरण कर लिया जाता है, अर्थात् मालिक के ख़ुद अपने श्रम पर आधारित निजी संपत्ति को समाप्त कर दिया जाता है।

सामाजिक, सामूहिक संपत्ति की विरोधी निजी संपत्ति केवल वहीं होती है, जहां श्रम के साधन और श्रम करने के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियां व्यक्तियों की निजी संपत्ति होते हैं। लेकिन ये व्यक्ति कामगार हैं या कामगार नहीं हैं, इसके अनुसार निजी संपत्ति का स्वरूप भी भिन्न होता है। पहली दृष्टि में संपत्ति के जो असंख्य भिन्न-भिन्न रूप नज़र आते हैं, वे इन दो चरम अवस्थाओं के बीच की अवस्थाओं के अनुरूप होते हैं।

अपने उत्पादन के साधनों पर कामगार का निजी स्वामित्व छोटे उद्योग का आधार होता है, चाहे वह छोटा उद्योग खेती से संबंधित हो या मैन्यूफ़ैक्चर से अथवा दोनों से। यह छोटा उद्योग सामाजिक उत्पादन के विकास और ख़ुद कामगार के स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास की एक आवश्यक शर्त होता है। बेशक उत्पादन की यह क्षुद्र प्रणाली दास-प्रथा, कृषिदास-प्रथा और पराधीनता की अन्य अवस्थाओं में भी पायी जाती है। लेकिन वह फलती-फूलती है, अपनी समस्त शक्ति का प्रदर्शन करती है और पर्याप्त एवं प्रामाणिक रूप प्राप्त करती है केवल उसी जगह, जहां कामगार अपने श्रम के साधनों का ख़ुद मालिक होता है और उनसे ख़ुद काम लेता है, यानी जहां किसान उस धरती का मालिक होता है, जिसे वह जोतता है, और दस्तकार उस औज़ार का स्वामी होता है, जिसका वह सिद्धहस्त ढंग से प्रयोग करता है।

उत्पादन की इस प्रणाली के होने के लिए यह आवश्यक है कि ज़मीन छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटी हुई हो और उत्पादन के अन्य साधन बिखरे हुए हों। जिस प्रकार इस प्रणाली के रहते हुए उत्पादन के इन साधनों का संकेंद्रण नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह भी असंभव है कि उसके अंतर्गत सहकारिता, उत्पादन की हर अलग-अलग प्रक्रिया के भीतर श्रम-विभाजन, प्रकृति की शक्तियों के ऊपर समाज का नियंत्रण तथा उनका समाज के द्वारा उत्पादक ढंग से उपयोग और सामाजिक उत्पादक शक्तियों का स्वतंत्र विकास हो सके। यह प्रणाली तो केवल एक ऐसी उत्पादन-व्यवस्था और केवल एक ऐसे समाज से ही मेल खाती है, जो संकुचित तथा न्यूनाधिक रूप में आदिम सीमाओं के भीतर ही गतिमान रहता है। जैसा कि पेक्योर ने ठीक ही कहा है, इस प्रणाली को चिरस्थायी बना देना "हर चीज़ को सर्वत्र अल्पविकसित बने रहने का आदेश दे देना है।" अपने विकास की एक ख़ास अवस्था में पहुंचने पर यह प्रणाली

स्वयं अपने विघटन के भौतिक साधन पैदा कर देती है। बस उसी क्षण से समाज के गर्भ में नयी शक्तियां और नयी भावनाएं जन्म ले लेती हैं। परंतु पुराना सामाजिक संगठन उनको श्रृंखलाओं में जकड़े रहता है और विकसित नहीं होने देता। इस सामाजिक संगठन को नष्ट करना आवश्यक हो जाता है। वह नष्ट कर दिया जाता है। उसका विनाश, उत्पादन के बिखरे हुए व्यक्तिगत साधनों का सामाजिक दृष्टि से संकेंद्रित साधनों में रूपांतरित हो जाना, अर्थात् बहुत से लोगों की छोटी-छोटी संपत्तियों का थोड़े से लोगों की अति विशाल संपत्ति में बदल जाना, अधिकतर जनता की भूमि, जीवन-निर्वाह के साधनों तथा श्रम के साधनों का अपहरण, साधारण जनता का यह भयानक तथा अत्यंत कष्टदायक संपत्तिहरण पूंजी के इतिहास की भूमिका मात्र होता है। उसमें नाना प्रकार के बल-प्रयोग के तरीक़ों से काम लिया जाता है। हमने इनमें से केवल उन्हीं पर इस पुस्तक में विचार किया है, जो पूंजी के आदिम संचय के तरीक़ों के रूप में युगांतरकारी हैं। प्रत्यक्ष उत्पादकों का संपत्तिहरण निर्मम ध्वंस-लिप्सा से और अत्यंत जघन्य, अत्यंत कुत्सित, क्षुद्रतम, नीचतम तथा अत्यंत गर्हित भावनाओं से अनुप्रेरित होकर किया जाता है। अपने श्रम से कमायी हुई निजी संपत्ति का स्थान, जो मानो पृथक रूप से श्रम करनेवाले स्वतंत्र व्यक्ति के अपने श्रम के तत्त्वों के साथ मिलकर एक हो जाने पर आधारित है, पूंजीवादी निजी संपत्ति ले लेती है, जो कि दूसरे लोगों के नाम मात्र के लिए स्वतंत्र श्रम पर – अर्थात् मजदूरी पर – आधारित होती है।[251]

रूपांतरण की यह प्रक्रिया जैसे ही पुराने समाज को ऊपर से नीचे तक काफ़ी छिन्न-भिन्न कर देती है, कामगार जैसे ही सर्वहारा बन जाते हैं और उनके श्रम के साधन पूंजी में रूपांतरित हो जाते हैं, पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली ख़ुद जैसे ही अपने पैरों पर खड़ी हो जाती है, वैसे ही श्रम का और अधिक समाजीकरण करने का प्रश्न, भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों को सामाजिक ढंग से इस्तेमाल किये गये साधनों में और इसलिए सामूहिक साधनों में और भी अधिक रूपांतरित कर देने का प्रश्न और साथ ही निजी संपत्ति का अधिक अपहरण करने का प्रश्न एक नया रूप धारण कर लेते हैं। अब जिसका संपत्तिहरण करना आवश्यक हो जाता है, वह ख़ुद अपने लिए काम करनेवाला कामगार नहीं है, बल्कि वह है बहुत से कामगारों का शोषण करनेवाला पूंजीपति।

यह संपत्तिहरण स्वयं पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्भूत नियमों के अमल में आने के फलस्वरूप पूंजी के केंद्रीयकरण के द्वारा संपन्न होता है। एक पूंजीपति हमेशा बहुत से पूंजीपतियों की हत्या करता है। इस केंद्रीयकरण के साथ-साथ, या यूं कहिये कि कुछ पूंजीपतियों द्वारा बहुत से पूंजीपतियों के इस संपत्तिहरण के साथ-साथ, अधिकाधिक बढ़ते हुए पैमाने पर श्रम-प्रक्रिया का सहकारी स्वरूप विकसित होता जाता है, प्राविधिक विकास के लिए सचेतन ढंग से विज्ञान का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है, भूमि को उत्तरोत्तर अधिक सुनियोजित ढंग से जोता-बोया जाता है, श्रम के औज़ार ऐसे औज़ारों में बदलते जाते हैं, जिनका केवल सामूहिक ढंग से ही उपयोग किया जा सकता है, उत्पादन के साधनों का संयुक्त, समाजीकृत श्रम के साधनों के रूप में उपयोग करके हर प्रकार के उत्पादन के साधनों का मितव्ययिता के साथ इस्तेमाल किया जाता है, सभी क़ौमें संसारव्यापी मंडी के जाल में फंस जाती हैं और इसलिए पूंजीवादी शासन का

---

[251] "हम इस समय पूर्णतया नयी सामाजिक परिस्थितियों में रह रहे हैं... हमारी प्रवृत्ति यह है कि हम हर प्रकार की संपत्ति का हर तरह के श्रम से संबंध-विच्छेद कर देना चाहते हैं।" (Sismondi, *Nouveaux Principes de l'Économie Politique*, t. II [Paris, 1827] p. 434.)

स्वरूप अधिकाधिक अंतर्राष्ट्रीय होता जाता है। रूपांतरण की इस प्रक्रिया से उत्पन्न होनेवाली समस्त सुविधाओं पर जो लोग ज़बर्दस्ती अपना एकाधिकार क़ायम कर लेते हैं, पूंजी के उन बड़े-बड़े स्वामियों की संख्या यदि एक ओर, बराबर घटती जाती है, तो दूसरी ओर, ग़रीबी, अत्याचार, ग़ुलामी, पतन और शोषण में लगातार वृद्धि होती जाती है। लेकिन इसके साथ-साथ मज़दूर वर्ग का विद्रोह भी अधिकाधिक तीव्र होता जाता है। यह वर्ग संख्या में बराबर बढ़ता जाता है और स्वयं पूंजीवादी उत्पादन-प्रक्रिया का यंत्र ही उसे अधिकाधिक अनुशासनबद्ध, एकजुट और संगठित करता जाता है। पूंजी का एकाधिकार उत्पादन की उस प्रणाली के लिए एक बंधन बन जाता है, जो इस एकाधिकार के साथ-साथ और उसके अंतर्गत जन्मी है और फूली-फली है। उत्पादन के साधनों का केंद्रीयकरण और श्रम का समाजीकरण अंत में एक ऐसे बिंदु पर पहुंच जाते हैं, जहां वे अपने पूंजीवादी खोल के भीतर नहीं रह सकते। खोल फाड़ दिया जाता है। पूंजीवादी निजी संपत्ति की मौत की घंटी बज उठती है। संपत्तिहरण करनेवालों का संपत्तिहरण हो जाता है।

हस्तगतकरण की पूंजीवादी प्रणाली, जो कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का फल होती है, पूंजीवादी निजी संपत्ति को जन्म देती है। ख़ुद मालिक के श्रम पर आधारित व्यक्तिगत निजी संपत्ति का इस प्रकार पहली बार निषेध होता है। परंतु पूंजीवादी उत्पादन प्रकृति के नियमों की निर्ममता के साथ ख़ुद अपने निषेध को जन्म देता है। यह निषेध का निषेध होता है। इससे उत्पादक के लिए निजी संपत्ति की पुनर्स्थापना नहीं होती, किंतु उसे पूंजीवादी युग की उपलब्धियों पर आधारित – अर्थात् सहकारिता और भूमि तथा उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व पर आधारित – व्यक्तिगत संपत्ति मिल जाती है।

व्यक्तिगत श्रम से उत्पन्न होनेवाली बिखरी हुई निजी संपत्ति के पूंजीवादी निजी संपत्ति में रूपांतरित हो जाने की प्रक्रिया स्वभावतया पूंजीवादी निजी संपत्ति के समाजीकृत संपत्ति में रूपांतरित हो जाने की प्रक्रिया की तुलना में कहीं अधिक लंबी, कठिन और हिंसात्मक होती है, क्योंकि पूंजीवादी निजी संपत्ति तो व्यवहार में पहले से ही समाजीकृत उत्पादन पर आधारित होती है। पहली सूरत में ज़बर्दस्ती अधिकार करनेवाले चंद व्यक्तियों ने आम जनता का संपत्तिहरण किया था, दूसरी सूरत में आम जनता ज़बर्दस्ती अधिकार करनेवाले चंद व्यक्तियों की संपत्ति का हरण करती है।[252]

---

[252] "बुर्जुआ वर्ग न चाहते हुए भी उद्योग-धंधों की उन्नति करता है; इसमें आपसी होड़ के कारण उत्पन्न हुआ मज़दूरों का बिलगाव ख़त्म हो जाता है और उसकी जगह एकता पर आधारित उनका क्रांतिकारी संगठन पैदा हो जाता है। इस तरह आधुनिक उद्योग-धंधों का विकास बुर्जुआ वर्ग के पैरों के नीचे से उस ज़मीन को ही खिसका देता है, जिसके आधार पर वह उत्पादन और पैदावार का अपहरण करता है। इसलिए बुर्जुआ वर्ग जो सबसे बड़ी चीज़ पैदा करता है, वह है ख़ुद उसी की क़ब्र खोदनेवाले लोगों का वर्ग। उसका ख़ात्मा और मज़दूर वर्ग की जीत, दोनों ही समान रूप से अनिवार्य हैं... बुर्जुआ वर्ग के ख़िलाफ़ आज जितने भी वर्ग खड़े हैं, उन सबमें केवल मज़दूर वर्ग ही वास्तविक रूप से क्रांतिकारी वर्ग है। दूसरे वर्ग आधुनिक उद्योग-धंधों की चपेट में आकर नष्ट-भ्रष्ट और अंत में ग़ायब हो जाते हैं; मज़दूर वर्ग ही उनकी विशेष और बुनियादी पैदावार है। निम्न मध्य वर्ग के लोग – छोटे कारख़ानेदार, दूकानदार, दस्तकार, किसान, ये सब – अपनी मध्यवर्गीय हस्ती को बनाये रखने के लिए बुर्जुआ वर्ग से लोहा लेते हैं... वे प्रतिक्रियावादी हैं, क्योंकि वे इतिहास के चक्र को पीछे की ओर घुमाने की कोशिश करते हैं।" (Karl Marx und Friedrich Engels, *Manifest der Kommunistischen Partei*, London, 1848, S. 9, 11.)

अध्याय ३३

उपनिवेशीकरण का आधुनिक सिद्धांत[253]

राजनीतिक अर्थशास्त्र निजी संपत्ति के दो भिन्न प्रकारों को सिद्धांततः गड़बड़ा देता है। इनमें से एक प्रकार की निजी संपत्ति उत्पादक के अपने श्रम पर आधारित होती है और दूसरे प्रकार की निजी संपत्ति अन्य लोगों के श्रम से काम लेने पर आधारित होती है। राजनीतिक अर्थशास्त्र यह भूल जाता है कि दूसरे प्रकार की संपत्ति न केवल पहले प्रकार की संपत्ति का प्रत्यक्ष विलोम होती है, बल्कि वह एकमात्र उसकी ही क़ब्र पर खड़ी हो सकती है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र की मातृभूमि – पश्चिमी यूरोप – में आदिम संचय की प्रक्रिया न्यूनाधिक रूप में संपूर्ण हो चुकी है। यहां पूंजीवादी शासन ने या तो प्रत्यक्ष रूप में राष्ट्रीय उत्पादन के संपूर्ण क्षेत्र पर अधिकार कर लिया है, या उन देशों में, जहां आर्थिक परिस्थितियों का कम विकास हुआ है, वह कम से कम अप्रत्यक्ष रूप में समाज के उन सभी स्तरों का नियंत्रण करने लगा है, जो वैसे तो उत्पादन की प्राचीन प्रणाली से संबंध रखते हैं, पर नयी प्रणाली के साथ-साथ क्रमिक पतनोन्मुख अवस्था में जीवित हैं। पूंजी के इस बने-बनाये तैयार संसार पर राजनीतिक अर्थशास्त्री क़ानून और संपत्ति की अपनी उन धारणाओं को लागू करता है, जो उसको पूंजीवादपूर्व युग से विरासत में मिली हैं; और जितने ज़ोरों से तथ्य उसकी विचार-धारा का खंडन करते हैं, वह इन धारणाओं को लागू करने में उतना ही अधिक व्यग्र उत्साह और पाखंड दिखाता है।

उपनिवेशों की बात दूसरी है। वहां हर जगह पूंजीवादी शासन उस उत्पादक के प्रतिरोध से टकराता है, जो श्रम के लिए आवश्यक तत्त्वों का स्वामी होने के नाते उस श्रम का ख़ुद धनी बनने के लिए, न कि पूंजीपति का धन बढ़ाने के लिए उपयोग करता है। इन दो सर्वथा विरोधी अर्थव्यवस्थाओं का विरोध यहां पर व्यवहार में दोनों के संघर्ष के रूप में प्रकट होता है। जहां कहीं पूंजीपति के पीछे उसकी मातृभूमि का बल होता है, वहां वह उत्पादक के स्वतंत्र श्रम पर आधारित उत्पादन तथा हस्तगतकरण की प्रणालियों को ज़बर्दस्ती अपने रास्ते से हटा देने की चेष्टा करता है। जो स्वार्थ पूंजी के चाटुकार, राजनीतिक अर्थशास्त्री, को स्वदेश में यह घोषणा करने के लिए विवश कर देता है कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली और उसकी विरोधी प्रणाली, दोनों सिद्धांत की दृष्टि से एक ही हैं, वही स्वार्थ उपनिवेशों में उसे सच्ची बात कहने के लिए और उत्पादन की दोनों प्रणालियों के विरोध को स्वीकार करने के

---

[253] यहां हम असली उपनिवेशों की चर्चा कर रहे हैं, जहां की धरती अछूती थी और जिन्हें स्वतंत्र आप्रवासियों ने आबाद किया था। आर्थिक दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका आज भी यूरोप का एक उपनिवेश ही है। इसके अलावा वे पुराने बाग़ान भी इस कोटि में सम्मिलित हैं, जहां दास-प्रथा का अंत कर दिये जाने के फलस्वरूप पहले की परिस्थितियां एकदम बदल गयी हैं।

लिए मजबूर कर देता है। इसी उद्देश्य से वह यह साबित करता है कि जब तक मजदूरों का संपत्तिहरण नहीं किया जाता और तदनुसार उनके उत्पादन के साधनों को पूंजी में नहीं बदल दिया जाता, तब तक श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति का विकास, सहकारिता, श्रम-विभाजन, बड़े पैमाने पर मशीनों का उपयोग, आदि सब असंभव रहते हैं। तथाकथित राष्ट्रीय धन को बढ़ाने के लिए अर्थशास्त्री जनता को बनावटी ढंग से ग़रीब बनाये रखने के उपाय खोजता है। इसलिए यहां पर उसका तर्कपूर्ण पक्ष-समर्थन का कवच सड़ी हुई लकड़ी की तरह थोड़ा-थोड़ा करके टूटने और बिखरने लगता है।

ई० जी० वेकफ़ील्ड को उपनिवेशों के बारे में कोई नयी बात खोजकर निकालने का श्रेय नहीं है,[254] उनको श्रेय इस बात का है कि उन्होंने उपनिवेशों में इस सत्य की खोज की है कि मातृभूमि में पायी जानेवाली पूंजीवादी उत्पादन की परिस्थितियां सचमुच कैसी हैं। जिस प्रकार संरक्षण की प्रणाली ने अपने प्रारंभिक दिनों में[255] मातृभूमि में बनावटी ढंग से पूंजी-पतियों को पैदा करने की कोशिश की थी, उसी प्रकार वेकफ़ील्ड के उपनिवेशीकरण के सिद्धांत ने, जिसे कुछ समय तक इंगलैंड ने संसद में क़ानून बनाकर जबर्दस्ती लागू करने की कोशिश की थी, उपनिवेशों में मज़दूरी पर श्रम करनेवाले मज़दूरों को बनावटी ढंग से पैदा करने की चेष्टा की। इसे वेकफ़ील्ड ने "सुनियोजित उपनिवेशीकरण" का नाम दिया है।

उपनिवेशों में वेकफ़ील्ड ने सबसे पहले यह पता लगाया कि द्रव्य, जीवन-निर्वाह के साधनों, मशीनों और उत्पादन के अन्य साधनों का स्वामी होने पर भी आदमी पर उस वक़्त तक पूंजी-पति होने का ठप्पा नहीं लगता, जब तक कि उसका सहसंबंधी मज़दूरी पर काम करनेवाला मज़दूर भी वहां नहीं होता, यानी जब तक कि वहां एक और आदमी ऐसा नहीं होता, जो स्वेच्छा से अपने को बेचने के लिए मजबूर हो। वेकफ़ील्ड ने पता लगाया कि पूंजी कोई वस्तु नहीं है, बल्कि व्यक्तियों के बीच पाया जानेवाला एक ऐसा सामाजिक संबंध है, जो वस्तुओं के माध्यम से स्थापित होता है।[256] इनको इस बात का बड़ा दुःख है कि मि० पील इंगलैंड से पश्चिमी आस्ट्रेलिया के स्वान नदी नामक स्थान को जाते समय अपने साथ ५०,००० पाउंड की क़ीमत के जीवन-निर्वाह और उत्पादन के साधन ले गये थे और साथ ही उन्होंने मज़दूर वर्ग के ३,००० व्यक्ति – स्त्री, पुरुष और बच्चे – भी अपने साथ ले जाने की दूरदर्शिता दिखायी थी। मगर गंतव्य स्थान पर पहुंचते ही हुआ यह कि "मि० पील के

---

[254] आधुनिक उपनिवेशीकरण के सार की वेकफ़ील्ड ने जो थोड़ी सी झलकें दी हैं... उनको फ़िज़ियोक्रेट मिराबो (ज्येष्ठ) पहले ही भांप चुके थे, और उनके भी पहले अंग्रेज अर्थशास्त्रियों ने वे सब बातें कह दी थीं।

[255] बाद को अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के संघर्ष में संरक्षण-प्रणाली एक अस्थायी आवश्यकता बन गयी। लेकिन उसका प्रयोजन कुछ भी हो, उसके परिणाम सदा एक जैसे ही होते हैं।

[256] "हबशी हबशी होता है। कुछ ख़ास तरह की परिस्थितियों में वह दास बन जाता है। म्यूल कपास कातने की एक मशीन है। केवल कुछ ख़ास तरह की परिस्थितियों में ही वह पूंजी बनती है। जैसे सोना ख़ुद अपने में द्रव्य नहीं होता और चीनी ख़ुद चीनी का दाम नहीं होती, वैसे ही इन परिस्थितियों के बाहर म्यूल भी पूंजी नहीं होता... पूंजी उत्पादन का एक सामाजिक संबंध है। वह उत्पादन का एक ऐतिहासिक संबंध है।" (Karl Marx, *Lohnarbeit und Kapital*, *Neue Rheinische Zeitung*, No. 266, April 7, 1849.)

पास एक भी नौकर नहीं रह गया, जो उनका बिस्तर बिछा दे या नदी से पानी ले आये।"[257] बेचारे मि० पील! वह सब कुछ लेकर स्वान नदी पहुंचे थे, मगर केवल इंगलैंड की उत्पादन-प्रणाली साथ लाना भूल गये थे!

वेकफ़ील्ड के नीचे दिये गये आविष्कारों को समझने के लिए दो बातें पहले से ही कह देना आवश्यक है। हम यह जानते हैं कि उत्पादन और जीवन-निर्वाह के साधन जब तक प्रत्यक्ष उत्पादक की संपत्ति रहते हैं, तब तक वे पूंजी नहीं होते। ये साधन केवल उन्हीं परिस्थितियों में पूंजी बनते हैं, जिनमें वे साथ ही मज़दूर का शोषण करने और उसको पराधीन बनाने के साधनों के रूप में भी काम में आते हैं। लेकिन राजनीतिक अर्थशास्त्री के मस्तिष्क में उनकी यह पूंजीवादी आत्मा उनकी भौतिक देह से इतने अंतरंग रूप से जुड़ी रहती है कि अर्थशास्त्री उनको सभी परिस्थितियों में, यहां तक कि उन परिस्थितियों में भी, जब कि वे पूंजी की सर्वथा विरोधी अवस्था में होते हैं, पूंजी ही कहता है। वेकफ़ील्ड भी यही ग़लती करते हैं। इसके अलावा यदि उत्पादन के साधनों के टुकड़े-टुकड़े करके उनको स्वयं अपने हित में काम करनेवाले बहुत से स्वतंत्र मज़दूरों के बीच उनकी व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में बांट दिया जाये, तो उसे वह पूंजी का समान बंटवारा कहते हैं। इस प्रकार राजनीतिक अर्थशास्त्री वही काम करता है, जो सामंती विधिवेत्ता ने किया था। सामंती विधिवेत्ता ने सामंती विधि से प्राप्त नामों की पर्चियां विशुद्ध द्रव्यगत संबंधों पर चिपका दी थीं।

वेकफ़ील्ड ने लिखा है: "यदि यह मानकर चला जाये कि समाज के सभी सदस्यों के पास पूंजी का समान भाग है... तो कोई व्यक्ति जितनी पूंजी का ख़ुद अपने हाथों से उपयोग कर सकता है, उससे अधिक पूंजी जमा करने की उसे इच्छा न होगी। अमरीका की नयी बस्तियों में कुछ हद तक इसी तरह की हालत है। वहां भूमि पर अधिकार करने की प्रबल इच्छा मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों के वर्ग को अस्तित्व में नहीं आने देती।"[258] इसलिए जब तक मज़दूर ख़ुद अपने लिए संचय कर सकता है—और यह वह उस वक़्त तक करता रहेगा, जब तक कि वह अपने उत्पादन के साधनों का ख़ुद मालिक रहता है—तब तक पूंजीवादी संचय का होना और पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली का अस्तित्व में आना असंभव रहता है। कारण कि इन दो चीज़ों के लिए मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों के जिस वर्ग की आवश्यकता होती है, उसका उस समय तक अभाव रहता है। तब फिर पुराने यूरोप में मज़दूर से वे तमाम साधन कैसे छीने गये, जो उसके श्रम के लिए आवश्यक थे? अर्थात् वहां पूंजी और मज़दूरी का सह-अस्तित्व कैसे क़ायम किया गया? एक बिल्कुल मौलिक ढंग के सामाजिक क़रार के द्वारा। "पूंजी के संचय को प्रोत्साहन देने के लिए मनुष्यजाति ने... एक सरल उपाय का उपयोग किया है।" ज़ाहिर है, असल में तो बाबा आदम के ज़माने से ही यह पूंजी का संचय मनुष्यजाति के अस्तित्व के एकमात्र एवं अंतिम लक्ष्य के रूप में उसके कल्पना-लोक में मंडरा रहा था। वह उपाय यह है कि "मनुष्यजाति ने अपने को पूंजी के मालिकों और श्रम के मालिकों में विभाजित कर दिया है... यह विभाजन सहकारिता और संयोजन का फल था"।[259] संक्षेप में "पूंजी के संचय" के सम्मान में मनुष्यजाति के अधिकतर भाग ने ख़ुद

---

[257] E. G. Wakefield, *England and America*, London, 1833, Vol. II, p. 33.
[258] l.c., Vol. I, p. 17.
[259] l.c., Vol. II, p. 18.

अपना संपत्तिहरण कर लिया। ग्रस्तु, कोई भी यह सोचेगा कि ग्रात्मत्याग की यह उन्मत्त भावना विशेषकर उपनिवेशों में सबसे ग्रधिक खुलकर सामने ग्रायेगी, क्योंकि केवल उपनिवेशों में ही वे मनुष्य तथा वे परिस्थितियां पायी जाती हैं, जो सामाजिक क़रार को स्वप्न से वास्तविकता में परिणत कर सकती थीं। लेकिन तब स्वयंस्फूर्त, ग्रनियमित उपनिवेशीकरण पर भरोसा करने के बजाय उसके प्रतिपक्षी "सुनियोजित उपनिवेशीकरण" का सहारा क्यों लिया जाये? किंतु... किंतु... "ग्रमरीकी संघ के उत्तरी राज्यों में ग्राबादी का दसवां हिस्सा भी मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों की मद में ग्रायेगा, इसमें संदेह है... इंगलैंड में... ग्राबादी का ग्रधिकांश श्रमजीवी वर्ग का है।"[260] लेकिन पूंजी की विजय के लिए ख़ुद ग्रपना संपत्तिहरण करवा देने की भावना श्रमजीवी मनुष्यों में इतनी कम है कि ग्रौपनिवेशिक समृद्धि का एकमात्र ग्राधार – ख़ुद वेकफ़ील्ड के मतानुसार भी – दास-प्रथा ही हो सकती है। वेकफ़ील्ड के लिए सुनियोजित उपनिवेशीकरण केवल एक pis aller [कामचलाऊ उपाय] है, क्योंकि दुर्भाग्य से उनका वास्ता दासों के बजाय स्वतंत्र मनुष्यों से पड़ा है। "स्पेन के जो लोग सेंट डोमिंगो में पहले-पहल जाकर बसे थे, वे स्पेन से ग्रपने साथ मज़दूरों को नहीं ले गये थे। लेकिन मज़दूरों के ग्रभाव में या तो उनकी सारी पूंजी नष्ट हो जाती, या कम से कम घटते-घटते शीघ्र ही इतनी ग्रल्प मात्रा में रह जाती, जिसका प्रत्येक व्यक्ति ग्रपने हाथों से उपयोग कर पाता था। ग्रंग्रेज़ों ने सबसे ग्राख़िर में जिस उपनिवेश – यानी स्वान नदी की बस्ती – की नींव डाली थी, वहां सचमुच यही बात देखने में ग्रायी है। वहां पूंजी – बीज, ग्रौज़ारों ग्रौर पशुग्रों – की एक बड़ी भारी राशि उसका उपयोग करनेवाले मज़दूरों के ग्रभाव के कारण नष्ट हो गयी है, ग्रौर ग्रब वहां बसे हुए किसी भी व्यक्ति के पास जितनी पूंजी का वह ग्रपने हाथों से उपयोग कर सकता है, उससे ग्रधिक पूंजी नहीं है।"[261]

हम यह देख चुके हैं कि ग्रधिकतर जनता की भूमि का ग्रपहरण कर लेना ही उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली का ग्राधार है। इसके विपरीत किसी भी स्वतंत्र उपनिवेश का सारतत्त्व इस बात में निहित होता है कि वहां की ग्रधिकतर भूमि उस समय भी सार्वजनिक संपत्ति होती है ग्रौर इसलिए इस भूमि पर बसा हुग्रा प्रत्येक व्यक्ति उसके एक भाग को ग्रपनी निजी संपत्ति ग्रौर उत्पादन के व्यक्तिगत साधनों में बदल सकता है ग्रौर फिर भी इसके बाद ग्राकर बसनेवालों के रास्ते में कोई बाधा नहीं पड़ती। वे भी इसी क्रिया को दुहरा सकते हैं।[262] उपनिवेशों की समृद्धि का ग्रौर उनके सबसे बड़े दुर्गुण का, यानी उपनिवेशों में पूंजी की स्थापना का जो विरोध होता है, उसका यही रहस्य है। "जहां ज़मीन बहुत सस्ती होती है ग्रौर सभी मनुष्य स्वतंत्र होते हैं, जहां ख़ुद ग्रपने लिए ज़मीन का एक टुकड़ा चाहनेवाला हर ग्रादमी ग्रासानी से उसे पा सकता है, वहां न केवल उत्पाद में मज़दूर के हिस्से की दृष्टि से श्रम बहुत महंगा पड़ता है, बल्कि संयुक्त श्रम तो किसी भी दाम पर कराना कठिन होता है।"[263]

---

[260] E. G. Wakefild, *England and America*, London, 1833, Vol. II, pp. 42, 43, 44.

[261] l.c., Vol. II, p. 5.

[262] "यदि भूमि को उपनिवेशीकरण का एक तत्त्व बनना है, तो उसके लिए केवल इतना ही ग्रावश्यक नहीं है कि भूमि परती पड़ी हो, बल्कि उसके लिए यह भी ग्रावश्यक है कि वह सार्वजनिक संपत्ति हो ग्रौर उसे निजी संपत्ति में बदला जा सकता हो।" (l.c., Vol. II, p. 125.)

[263] l.c., Vol. I, p. 247.

जिस प्रकार उपनिवेशों में श्रम के लिए आवश्यक तत्त्वों से और उनकी जड़ – धरती – से अभी मज़दूर का संबंध-विच्छेद नहीं होता, या अगर होता है, तो केवल कहीं-कहीं या बहुत ही छोटे पैमाने पर, उसी प्रकार वहां न तो उद्योग से खेती का संबंध-विच्छेद होता है और न ही किसानों के घरेलू उद्योग का विनाश हो चुका होता है। तब फिर पूंजी के लिए अंदरूनी मंडी कैसे तैयार होगी? "दासों और उनके मालिकों को छोड़कर, जिन्होंने विशिष्ट कामों में पूंजी और श्रम को एक साथ जोड़ रखा है, अमरीका की आबादी का ऐसा कोई भाग नहीं है, जो विशुद्ध रूप से खेतिहर हो। धरती जोतनेवाले स्वतंत्र अमरीकी बहुत से अन्य धंधे भी करते हैं। वे जो फ़र्नीचर और औज़ार इस्तेमाल करते हैं, उनका एक हिस्सा प्रायः ख़ुद बना लेते हैं। अकसर वे अपने घर भी ख़ुद ही बनाकर खड़े कर लेते हैं और अपने उद्योग की पैदावार को ख़ुद ही मंडी में लेकर जाते हैं, वह मंडी चाहे कितनी भी दूर क्यों न हो। ये लोग कताई और बुनाई करते हैं, साबुन और मोमबत्तियां बनाते हैं और बहुत से तो जूते और कपड़े भी अपने इस्तेमाल के लिए ख़ुद ही तैयार कर लेते हैं। अमरीका में धरती को जोतना-बोना तो बहुधा किसी लोहार, किसी पनचक्की वाले या किसी दूकानदार का गौण धंधा होता है।"[264] ऐसे अजीब लोगों के रहते हुए पूंजीपतियों के "परिवर्जन" के लिए कौनसा क्षेत्र बचता है?

पूंजीवादी उत्पादन का महान सौंदर्य इस बात में निहित है कि वह न केवल मज़दूरी पर काम करनेवाले व्यक्ति का लगातार मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूर के ही रूप में पुनरुत्पादन करता जाता है, बल्कि पूंजी के संचय के अनुपात में सदा मज़दूरी पर काम करनेवालों की सापेक्ष दृष्टि से बेशी आबादी का उत्पादन करता रहता है। चुनांचे श्रम की पूर्ति और मांग का नियम सदा एक सही लीक में चलता है, मज़दूरी का उतार-चढ़ाव कभी पूंजीवादी शोषण के लिए सुविधाजनक सीमाओं के बाहर नहीं निकल पाता, और अंतिम बात यह है कि पूंजीपति पर मज़दूर की सामाजिक निर्भरता, जो पूंजीवादी शोषण के लिए अपरिहार्य रूप से आवश्यक होती है, सदा सुरक्षित रहती है। परनिर्भरता अथवा पराधीनता के इस स्पष्ट संबंध को आत्मसंतुष्ट राजनीतिक अर्थशास्त्री स्वदेश में – उपनिवेश पर शासन करनेवाले देश में – ज़रूर एक ऐसे स्वतंत्र क़रार के संबंध के रूप में पेश कर सकता है, जो ख़रीदार और बेचनेवाले के बीच, समान रूप से स्वतंत्र दो पण्यों के मालिकों के बीच, पूंजी नामक पण्य के मालिक और श्रम नामक पण्य के मालिक के बीच क़ायम होता है। लेकिन उपनिवेशों में यह सुंदर कल्पना तुरंत ही चकानाचूर हो जाती है। यहां शासक राज्य की अपेक्षा निरपेक्ष जनसंख्या बहुत तेज़ी से बढ़ती है, क्योंकि बहुत से मज़दूर पले-पलाये वयस्क व्यक्तियों के रूप में इस दुनिया में प्रवेश करते हैं। मगर फिर भी श्रम की मंडी में श्रम की सदा कमी रहती है। श्रम की पूर्ति और मांग का नियम टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। एक ओर, पुरानी दुनिया यहां लगातार शोषण और "परिवर्जन" करने की इच्छा से आतुर पूंजी को झोंकती जाती है; दूसरी ओर, मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूर का मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूर के रूप में नियमित पुनरुत्पादन अत्यंत धृष्ट एवं आंशिक रूप से अजेय बाधाओं से टकराता रहता है। ऐसी परिस्थिति में पूंजी के संचय के अनुपात से अधिक मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों के उत्पादन का क्या होता है? आज जो मज़दूरी पर काम करनेवाला मज़दूर है, वह कल को ख़ुद अपने लिए काम

---

[264] l. c., p. 21, 22.

करनेवाला स्वतंत्र किसान या दस्तकार बन जाता है। वह श्रम की मंडी से तो ग़ायब हो जाता है, परंतु मुहताज-ख़ाने में नहीं जाता। मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूर इस तरह लगातार स्वतंत्र उत्पादकों में बदलते जाते हैं, जो पूंजी के लिए नहीं, बल्कि ख़ुद अपने लिए काम करते हैं और जो पूंजीवादी भद्र पुरुषों का धन बढ़ाने के लिए नहीं, बल्कि ख़ुद धनी बनने के लिए काम करते हैं। और इस अनवरत रूपांतरण का श्रम की मंडी पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। न केवल मज़दूरों के शोषण की मात्रा सारी मर्यादा को त्यागकर सदा बहुत कम ही बनी रहती है, बल्कि इसके अतिरिक्त मज़दूर चूंकि पराधीनता के संबंध से वंचित रहता है, इसलिए उसके हृदय में मितव्ययी पूंजीपति पर निर्भर रहने की तनिक भी इच्छा नहीं रहती। इसी से वे तमाम असुविधाएं पैदा होती हैं, जिनका हमारे वेकफ़ील्ड महोदय ने इतनी हिम्मत के साथ, इतने शब्द-चातुर्य के साथ और इतने हृदयस्पर्शी ढंग से वर्णन किया है।

वह शिकायत करते हैं कि मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों की पूर्ति न तो स्थिर रहती है, न नियमित ढंग से होती है और न ही पर्याप्त समझी जा सकती है। "श्रम की पूर्ति सदा ही न केवल बहुत कम, बल्कि बहुत अनिश्चित भी रहती है।"[265] पूंजीपति और मज़दूर के बीच विभाजित होनेवाला उत्पाद यदि बहुत अधिक है, तो भी उसमें मज़दूर का हिस्सा इतना बड़ा होता है कि वह शीघ्र ही पूंजीपति बन जाता है... जो असाधारण रूप से लंबा जीवन पाते हैं, उनमें से भी बहुत कम लोग धन की कोई बड़ी राशि जमा कर पाते हैं।"[266] मतलब यह कि मज़दूर पूंजीपति को साफ़ तौर पर इसकी इजाज़त नहीं देते कि वह उनके अधिकांश श्रम की क़ीमत देने के मामले में भी "परिवर्जन" का परिचय दे। यदि पूंजीपति यह चतुराई करता है कि पूंजी के साथ-साथ मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूर भी यूरोप से मंगा लेता है, तो भी उसका कोई फ़ायदा नहीं होता। ये मज़दूर भी जल्द ही "मज़दूरी करना... बंद कर देते हैं। वे... यदि श्रम की मंडी में अपने भूतपूर्व मालिकों के प्रतियोगी नहीं बनते, तो स्वतंत्र भूस्वामी बन जाते हैं।"[267] ज़रा परिस्थिति की भयानकता पर तो विचार कीजिये! बेचारा पूंजीपति अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा ख़र्च करके यूरोप से कुछ आदमियों को मंगवाता है; वे वहां पहुंचकर ख़ुद उसी के प्रतिद्वंद्वी बन जाते हैं। यह सर्वनाश नहीं, तो और क्या है? कोई आश्चर्य नहीं, यदि वेकफ़ील्ड को इस बात का बहुत दुःख है कि उपनिवेशों में किसी भी प्रकार की पराधीनता नहीं है और वहां के मज़दूरों में पराधीनता या परनिर्भरता के लिए ज़रा भी स्नेह नहीं पाया जाता। वेकफ़ील्ड के शिष्य मेरीवेल ने कहा है कि मज़दूरी की दरें ऊंची होने के कारण उपनिवेशों में "ऐसे मज़दूर पाने की अत्यधिक चाह है, जो अधिक सस्ते हों और अधिक आज्ञाकारी हों। यानी वहां फ़ौरन एक ऐसा वर्ग चाहिए, जिसका हुक्म पूंजीपतियों को न बजाना पड़े, बल्कि जिसपर पूंजीपति ख़ुद अपना हुक्म चला सकें... प्राचीन एवं सभ्य देशों में मज़दूर स्वतंत्र होते हुए भी प्रकृति के नियमानुसार पूंजीपति के अधीन रहता है; उपनिवेशों में बनावटी ढंग से यह पराधीनता पैदा करनी होगी।"[268]

---

[265] l. c., Vol. II, p. 116.

[266] l. c., Vol. I, p. 131.

[267] l. c., Vol. II, p. 5.

[268] Merivale, *Lectures on Colonisation and Colonies*, London, 1841-1842,

अच्छा, तो उपनिवेशों में जो यह शोचनीय स्थिति पैदा हो गयी है, वेकफ़ील्ड के मतानुसार उसका क्या परिणाम हुआ है? उसका परिणाम हुआ है उत्पादकों और राष्ट्रीय धन के "बिखर जाने की एक बर्बर प्रवृत्ति"।[269] अब उत्पादन के साधन ख़ुद अपने हित में काम करनेवाले असंख्य उत्पादकों के बीच बंट जाते हैं, तो पूंजी का संकेंद्रण समाप्त हो जाने के साथ-साथ संयुक्त श्रम का समस्त आधार नष्ट हो जाता है। अब ऐसा कोई धंधा नहीं किया जा सकता, जिसके पूरा होने में कई वर्ष लग जाने की आशंका हो और जिसमें स्थायी पूंजी की बड़ी राशि लगाना आवश्यक हो। यूरोप में पूंजीपतियों को पूंजी लगाने में एक क्षण के लिए भी हिचकिचाहट नहीं होती, क्योंकि वहां मज़दूर वर्ग पूंजी का एक सजीव उपांग मात्र है और उसकी संख्या हमेशा पूंजी की आवश्यकता से अधिक रहती है, और वह सदा उसका हुक्म बजाने को तैयार रहता है। लेकिन उपनिवेशों में क्या हालत है! वेकफ़ील्ड वहां के बारे में हमें एक बहुत ही दुखद कथा सुनाते हैं। वह कनाडा तथा न्यूयार्क राज्य के कुछ पूंजीपतियों से बात कर रहे थे, जहां कि आप्रवासियों का प्रवाह अकसर रुक जाता है और कुछ "अनावश्यक" मज़दूरों की तलछट छोड़ जाता है। भावनाओं पर तीक्ष्ण आघात करनेवाली इस कथा का एक पात्र कहता है: "हमारी पूंजी ऐसे कई काम शुरू करने के लिए तैयार बैठी थी, जिनको पूरा करने के लिए काफ़ी लंबे समय की आवश्यकता थी। लेकिन हम इस तरह के कामों में ऐसे मज़दूरों को साथ लेकर हाथ नहीं लगा सकते थे, जो, हम जानते थे, जल्दी ही हमें छोड़कर

Vol. II, pp. 235-314, passim. यहां तक कि मृदुभाषी, स्वतंत्र व्यापार के समर्थक, सतही अर्थशास्त्री मोलिनारी ने भी यह लिखा है: "जिन उपनिवेशों में दास-प्रथा समाप्त कर दी गयी है, लेकिन बेगार के श्रम का स्थान स्वतंत्र श्रम की उतनी ही मात्रा नहीं ग्रहण कर सकी है, वहां, जो कुछ हम रोज़ाना अपनी आंखों के सामने होते हुए देखते हैं, उसका बिल्कुल उल्टा होता है। वहां हम यह पाते हैं कि साधारण मज़दूर उल्टे उद्यमकर्ताओं का शोषण करने लगते हैं और उनको पैदावार का जितना हिस्सा सचमुच मिलना चाहिए, उससे बहुत अधिक मांगने लगते हैं। बाग़ान के मालिक चूंकि अपनी चीनी इतने ऊंचे दामों पर नहीं बेच पाते, जिनसे कि बढ़ी हुई मज़दूरी का पड़ता पूरा हो सके, इसलिए उनको मजबूर होकर उसे पहले अपने मुनाफ़े में से और फिर अपनी पूंजी तक में से पूरा करना पड़ता है। इस तरह बाग़ान के बहुत से मालिक एकदम बरबाद हो गये हैं। दूसरों ने बरबादी से बचने के लिए चीनी बनाने के अपने कारख़ाने बंद कर दिये हैं... इसमें तो संदेह नहीं कि मनुष्यों की कई पीढ़ियों के नष्ट हो जाने की अपेक्षा यह बेहतर है कि संचित पूंजी जाया हो जाये।" (अहा, मि० मोलिनारी ने यहां कितनी उदारता दिखायी है!) "लेकिन इससे भी बेहतर क्या यह नहीं होता कि पूंजी भी ज्यों की त्यों रहती और इनसान भी ज़िंदा रहते?" (Molinari, *Études Économiques*, Paris, 1846, pp. 51, 52.) मि० मोलिनारी, यह आप क्या कह रहे हैं! अगर यूरोप में "उद्यमकर्ता" मज़दूर को पैदावार के उसके न्यायोचित भाग से वंचित कर सकता है, और वेस्ट इंडीज़ में मज़दूर उद्यमकर्ता से उसका न्यायोचित भाग छीन सकता है, तो फिर दस आदेशों का, मूसा तथा अन्य पैग़म्बरों का और पूर्ति तथा मांग के नियम का क्या होगा? और कृपया यह तो बताइये कि यह "न्यायोचित भाग" कौनसा है, जिसे ख़ुद आपके कथनानुसार यूरोप में पूंजीपति रोज़ाना देने से इनकार कर देता है? मि० मोलिनारी इसके लिए अत्यंत उत्सुक हैं कि अन्य स्थानों में पूर्ति और मांग का जो नियम अपने आप काम करता है, उससे वहां दूर उन उपनिवेशों में, जहां मज़दूर इतने "भोले" हैं कि पूंजीपतियों का "शोषण" करने लगते हैं, पुलिस के ज़रिये काम ठीक-ठाक कराया जाये।

[269] Wakefield, l. c., Vol. II, p. 52.

चले जायेंगे। यदि हमें इसका विश्वास होता कि ये आप्रवासी हमारे यहां ही काम करते रहेंगे, तो हम उनको तुरंत रख लेते और काफ़ी ऊंचे दाम देकर रख लेते। और यह जानते हुए भी कि वे हमें छोड़कर चले जायेंगे, हम उनको रख लेते, अगर हमें केवल इतना यक़ीन होता कि जब कभी ज़रूरत होगी, तब हमें नये मज़दूर मिल जायेंगे।"[270]

इंगलैंड की पूंजीवादी खेती तथा उसके "संयुक्त" श्रम का अमरीकी किसानों की बिखरी हुई खेती के साथ मुक़ाबला करने के बाद वेकफ़ील्ड अनजाने में हमें तसवीर का दूसरा पहलू भी दिखा देते हैं। वह बताते हैं कि अमरीका की साधारण जनता सुखी और स्वतंत्र जीवन व्यतीत करती है और बड़ी उद्यमशील तथा अपेक्षाकृत सुसंस्कृत है, जब कि "इंगलैंड का खेतिहर मज़दूर दुखिया, अभागा और कंगाल होता है... और उत्तरी अमरीका तथा कुछ नये उपनिवेशों को छोड़कर और किस देश में खेती का काम करने के लिए रखे गये स्वतंत्र मज़दूरों की मज़दूरी केवल जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक मज़दूरी से बहुत अधिक होती है?.. इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि इंगलैंड में खेती में इस्तेमाल होनेवाले घोड़ों को, मूल्यवान संपत्ति होने के नाते, अंग्रेज़ किसानों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा भोजन खाने को मिलता है।"[271] लेकिन कोई बात नहीं! यहां पर फिर राष्ट्रीय समृद्धि अपने स्वरूप के ही कारण जनता की ग़रीबी के साथ एकाकार हो गयी है।

तो फिर उपनिवेशों के इस पूंजीपति विरोधी नासूर का कैसे इलाज किया जाये? यदि लोग एक ही झटके में सारी धरती को सार्वजनिक संपत्ति से निजी संपत्ति में बदल देने को तैयार हो जायें, तो निश्चय ही इस बीमारी की जड़ कट जायेगी, लेकिन साथ ही उपनिवेश भी नष्ट हो जायेंगे। असल में कोई ऐसी तरकीब निकालनी है, जिससे एक पंथ दो काज वाली बात हो जाये। सरकार को चाहिए कि पूर्ति और मांग के नियम की अवहेलना करके अछूती धरती के लिए एक कृत्रिम दाम नियत कर दे। यह दाम इतना ऊंचा हो कि आप्रवासी मज़दूर को ज़मीन ख़रीदने लायक़ धन कमाने और इस प्रकार स्वतंत्र किसान बनने के पहले लंबे समय तक मज़दूरी पर काम करना पड़े।[272] इतने ऊंचे दामों पर ज़मीन बेचकर कि उनके कारण मज़दूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों के लिए ज़मीन ख़रीदना लगभग असंभव हो जाये, और पूर्ति तथा मांग के पवित्र नियम का उल्लंघन करके मज़दूरों की मज़दूरी में से जो धन चुराया जायेगा, उसके जमा होने से सरकार के पास एक कोष संचित हो जायेगा। उसका सरकार यह उपयोग

---

[270] Wakefield, *England and America*, London, 1833, Vol. II, pp. 191, 192.

[271] l. c., Vol. I, pp. 47, 246.

[272] "तो आपका कहना यह है कि ज़मीन और पूंजी पर कुछ व्यक्तियों का निजी स्वामित्व होने का ही यह फल है कि जिस मनुष्य के पास अपने हाथों के सिवा और कुछ नहीं है, उसे भी काम मिल सकता है और वह अपनी जीविका कमा सकता है... मैं आपसे कहता हूं कि बात इसकी उल्टी है। भूमि पर कुछ व्यक्तियों का निजी स्वामित्व होने का ही यह नतीजा है कि कुछ ऐसे लोग हैं, जिनके पास उनके हाथों के सिवा और कुछ नहीं है... जब आप किसी आदमी को शून्य में बंद कर देते हैं, तब आप उसके लिए हवा पाना असंभव बना देते हैं। जब आप ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर लेते हैं, तब भी आप यही करते हैं... आप मनुष्य को एक ऐसे शून्य में बंद कर देते हैं, जिसमें ज़रा सा भी धन नहीं छोड़ा गया है, और यह आप इसलिए करते हैं कि वह आदमी सदा आपकी इच्छा का दास बना रहे।" (Colins, *L'Économie Politique. Source des Révolutions et des Utopies, prétendues socialistes*, Paris, 1857, t. III. pp. 268-271, passim.)

करेगी कि ज्यों-ज्यों यह कोष बढ़ता जायेगा, त्यों-त्यों वह यूरोप से कंगाल लोगों को उपनिवेशों में मंगाती जायेगी, ताकि इस तरह मज़दूरों की मंडी पूंजीपतियों के हित में हमेशा माल से भ्रटी रहे। ऐसा होने पर "tout sera pour le mieux dans le meilleur des mondes possibles" ["सब दुनियाओं से अच्छी इस दुनिया में हर चीज़ भलाई के लिए ही होगी।"] यही है "सुनियोजित उपनिवेशीकरण" का महान रहस्य। वेकफ़ील्ड ने विजयोल्लास के साथ कहा है कि इस योजना का प्रयोग करने पर "श्रम की पूर्ति अनिवार्य रूप से स्थिर और नियमित हो जायेगी, क्योंकि एक तो कोई भी मज़दूर चूंकि बहुत समय तक मज़दूरी पर काम किये बिना ज़मीन नहीं प्राप्त कर सकेगा, इसलिए सभी आप्रवासी मज़दूरों को काफ़ी समय तक मज़दूरी पर संयुक्त श्रम करना होगा और इस तरह वे और अधिक मज़दूरों को रखने के लिए पूंजी तैयार कर देंगे; दूसरे, हर ऐसा मज़दूर, जो मज़दूरी पर काम करना बंद करके भूस्वामी बनना चाहेगा, उसको ज़मीन ख़रीदनी पड़ेगी, जिससे नये मज़दूरों को उपनिवेश में लाने के लिए एक कोष जमा हो जायेगा।"[273] राज्य द्वारा नियत धरती के दाम को, ज़ाहिर है, "पर्याप्त दाम" होना चाहिए, अर्थात् वह इतना ऊंचा दाम होना चाहिए कि उसके कारण "मज़दूर उस वक़्त तक स्वतंत्र भूस्वामी न बन पाये, जब तक कि उनका स्थान लेने के लिए नये मज़दूर न आ जायें।"[274] यह "पर्याप्त दाम" एक कोमल वक्रोक्ति के सिवा और कुछ नहीं है, जिसके पीछे वह फिरौती छिपी हुई है, जो मज़दूर को मज़दूरों की मंडी को छोड़कर खेती करने की अनुमति प्राप्त करने के एवज़ में पूंजीपति को देनी पड़ती है। पहले मज़दूर को पूंजीपति के लिए "पूंजी" पैदा करनी पड़ती है, ताकि वह उसके ज़रिये और अधिक मज़दूरों का शोषण कर सके। फिर उसे अपने ख़र्चे से अपना एक एवज़ी श्रम की मंडी में बुलाना पड़ता है, जिसे सरकार उसके भूतपूर्व स्वामी – पूंजीपति – के लाभार्थ समुद्र पार कराके उपनिवेश में लाती है।

यह बहुत सारगर्भित बात है कि मि० वेकफ़ील्ड ने "आदिम संचय" का जो तरीक़ा विशिष्ट रूप से उपनिवेशों के लिए सुझाया है, उसका इंगलैंड की सरकार वर्षों से उपयोग कर रही है। ज़ाहिर है, उसको इस मामले में भी उतनी ही बड़ी असफलता मिली है, जितनी बड़ी असफलता सर रॉबर्ट पील के बैंक-क़ानून के मामले में मिली थी। उसका परिणाम केवल यह हुआ कि उत्प्रवास की धारा ब्रिटिश उपनिवेशों से मुड़कर संयुक्त राज्य अमरीका की ओर बहने लगी। इस बीच यूरोप में पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति और सरकार के बढ़ते हुए दबाव ने वेकफ़ील्ड के नुस्खे को अनावश्यक बना दिया है। एक ओर तो अमरीका में वर्ष प्रति वर्ष मनुष्यों की जो बड़ी धारा निरंतर पहुंच रही है, वह संयुक्त राज्य अमरीका के पूर्वी भाग में एक स्थिर तलछट छोड़ती जाती है। कारण कि यूरोप से आनेवाली आप्रवास की लहर जितनी तेज़ी के साथ मनुष्यों को वहां की श्रम की मंडी में लाकर पटकती जाती है, उतनी तेज़ी के साथ पूर्व से पश्चिम की ओर जानेवाली उत्प्रवास की लहर उनको वहां से हटा नहीं सकती। दूसरी ओर, अमरीकी गृह-युद्ध के साथ-साथ एक दैत्याकार राष्ट्रीय ऋण देश के कंधों पर आ पड़ा है और उसके साथ-साथ करों का बोझा बढ़ गया है, एक नीचतम वित्तीय अभिजात वर्ग पैदा हो गया है, सार्वजनिक भूमि का एक बहुत बड़ा भाग रेलों, खानों, आदि से मुनाफ़ा

---

[273] Wakefield, *England and America*, London, 1833, Vol. II, p. 192.

[274] l. c., p. 45.

कमाने के उद्देश्य से स्थापित की जानेवाली सट्टेबाज़ कंपनियों पर लुटा दिया गया है, और संक्षेप में कहिये, तो पूंजी का बहुत ही तेज़ी के साथ संकेंद्रण हो रहा है। चुनांचे यह महान प्रजातंत्र अब उत्प्रवासी मज़दूरों का स्वर्ग नहीं रह गया है। हालांकि वहां अभी मज़दूरी को कम करके और मज़दूर की पराधीनता को बढ़ाकर यूरोप के सामान्य स्तर पर नहीं पहुंचाया जा सका है, फिर भी पूंजीवादी उत्पादन वामन-डगों से प्रगति कर रहा है। परती पड़ी हुई औपनिवेशिक भूमि को इंगलैंड की सरकार जिस लज्जाहीन ढंग से अभिजात वर्ग के लोगों तथा पूंजीपतियों पर लुटा रही है, उसकी वेकफ़ील्ड तक ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में निंदा की है। ख़ास तौर पर आस्ट्रेलिया में[275] इस चीज़ ने सोने की खानों से आकृष्ट होकर आस्ट्रेलिया की ओर खिंचनेवाले मनुष्यों की अनवरत धारा और इंगलैंड के बने हुए माल के आस्ट्रेलिया में आने के कारण वहां के छोटे दस्तकार को भी जिस प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा था, उसके साथ मिलकर श्रमजीवियों की एक काफ़ी बड़ी "सापेक्ष बेशी आबादी" पैदा कर दी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जब भी आस्ट्रेलिया की डाक इंगलैंड पहुंचती है, तो हर बार यह रोना सुना जाता है कि "आस्ट्रेलिया की श्रम की मंडी मज़दूरों से एकदम अटी हुई है", और वहां कुछ स्थानों में वेश्यावृत्ति का उसी अनियंत्रित ढंग से प्रसार हो रहा है, जिस अनियंत्रित ढंग से वह लंदन के हेमार्केट में फैली हुई है।

लेकिन यहां पर उपनिवेशों की दशा से हमारा कोई संबंध नहीं है। यहां हमारी दिलचस्पी केवल उस रहस्य तक ही सीमित है, जिसका पुरानी दुनिया के राजनीतिक अर्थशास्त्रियों ने नयी दुनिया में आविष्कार किया है और जिसकी वे खुलेआम घोषणा कर रहे हैं। और वह रहस्य यह है कि उत्पादन और संचय की पूंजीवादी प्रणाली के और इसलिए पूंजीवादी निजी संपत्ति के अस्तित्व में आने की बुनियादी शर्त यह है कि मनुष्य द्वारा ख़ुद कमायी हुई निजी संपत्ति का विनाश कर दिया जाये, या, दूसरे शब्दों में, मज़दूर का संपत्तिहरण कर लिया जाये।

[275] जब आस्ट्रेलिया अपने लिए ख़ुद क़ानून बनाने लगा, तब उसने, ज़ाहिर है, वहां बसे हुए लोगों के हित में क़ानून बनाये, लेकिन अंग्रेज़ सरकार इसके पहले ही ज़मीन को लुटा चुकी थी, और यह बात इन क़ानूनों के मार्ग में बाधा डालती थी। "१८६२ के नये भूमि-अधिनियम का पहला और मुख्य उद्देश्य लोगों को बसाने के लिए पहले से अधिक सुविधाएं देना है।" (*The Land Law of Victoria*, by the Hon. C. G. Duffy, Minister of Public Lands, London, 1862, [p. 3.])

नाम-निर्देशिका

ऐ

ओ

य

र

ल

श

ह

साहित्यिक और पौराणिक नाम-सूची

आदम – बाइबल के अनुसार प्रथम मानव, जिसे ईश्वर ने मिट्टी से बनाया था और जो बाद में पापग्रस्त हो गया था; "आदम से मुक्ति पा जाने" का अर्थ पापमय आदतों को छोड़ना और आत्मिक पुनरुत्थान है। – १२२, ६४९, ७४९, ८०६

एक्कर्ट – मध्ययुगीन जर्मन गाथाओं का एक पात्र, वफ़ादार आदमी और विश्वसनीय पहरी का प्रतीक। – ३००

केन – बाइबल के अनुसार आदम का ज्येष्ठ पुत्र और अपने छोटे भाई हाबिल का हत्यारा। – ७८८

क्विकली – शेक्सपियर के ऐतिहासिक नाटक *King Henry IV* की एक पात्र, भटियारिन। – ६७

गोबसेक – बाल्ज़ाक के इसी नाम के उपन्यास का मुख्य पात्र। – ६२१

जुपीटर – रोमन पुराणकथाओं के अनसार सर्वोच्च देवता, यूनानी देवता ज़ीयस का समकक्ष। – ३८९, ६१०

जेहोवाह – हिब्रू धर्म का मुख्य देवता। – ३८६

डान क्विक्ज़ोट – सर्वांतेस के इसी नाम के उपन्यास का नायक। – १००

थोर – स्कैंडिनेवियाई पौराणिक कथाओं के अनुसार वृष्टि और विद्युत का देवता, कृषि का संरक्षक, हाथ में हथौड़ा लिये हुए दिखाया जाता था। – ४११

डोगबेरी – शेक्सपियर की कामेडी *Much Ado About Hothing* का एक पात्र, जो शासकीय अधिकारियों के दंभ और मूर्खता का प्रतीक समझा जाता है। – १०२, ४५३

पर्सियस – प्राचीन यूनानी पौराणिक कथाओं का एक नायक, ज़ीयस और दनाई का बेटा, अनेक कारनामे दिखाये, जिनमें राक्षस मेदूसा का सिर काटना भी शामिल है। – १९

पीटर – दांते की *Divine Comedy* का एक पात्र, धर्मप्रचारक संत। – १२२

पोलोनियस – शेक्सपियर की ट्रेजेडी *Hamlet* का एक पात्र, चालाक और बातूनी दरबारी की एक ठेठ मिसाल। – २९७

प्रोमीथियस – यूनानी पुराणकथाओं के अनुसार एक टाइटन, जिसने देवताओं से अग्नि चुराकर लोगों को दी थी। ज़ीयस के आदेश से दंडस्वरूप उसे एक चट्टान से बांध दिया गया, जहां एक चील ने चोंच से उसका जिगर निकालकर खा डाला। – ६७८

प्लूटो – रोमन पौराणिक कथाओं के अनुसार पाताल लोक का देवता। – १५१

फ़ाउस्ट – गेटे की इसी नाम की ट्रेजेडी का मुख्य पात्र। – १०२

फ़ारचुनेटस – एक जर्मन लोकगाथा का नायक, जिसके पास एक कभी खाली न होनेवाला जादुई झोला और जादुई टोपी थी। – ४८७, ६८०

बुज़ीरिस – यूनानी पौराणिक आख्यानों के अनुसार मिस्र का राजा। – ३९२

मारीतोर्नेस – सर्वांतेस के उपन्यास *Don Quixote* की एक पात्र। – १०४

मूसा – बाइबल के अनुसार एक पैग़ंबर, जिसने प्राचीन यहूदियों को मिस्री फ़राऊनों के अत्याचारों से मुक्ति दिलायी थी। – ४०१, ६२७, ८१०

मेदूसा – यूनानी पुराणकथाओं के अनुसार एक राक्षस, जिसकी ओर देखने से ही लोग पत्थर बन जाते थे। – १६

मैन फ़्राइडे – डेफ़ो के उपन्यास *Robinson Cruso* का एक पात्र। – ३१३

युलीसिस – होमर के इसी नाम के एक प्राचीन यूनानी महाकाव्य का नायक, इताकी द्वीप का मिथकीय राजा, अपने शौर्य, बुद्धि और चातुर्य के लिए प्रसिद्ध। उसकी पाताल लोक की यात्रा और वहां मतकों की आत्माओं से उसकी बातचीत के बारे में प्राचीन यूनान में कथाएं कही जाती थीं। – २७५

रॉबिन्सन क्रूसो – डेफ़ो के इसी नाम के उपन्यास का नायक। – ६४-६७

वल्कन – यूनानी पुराण कथाओं के अनुसार अग्नि का देवता और लुहार-देवता। – ६७८

शाइलोक – शेक्सपियर के नाटक *Merchant of Venice* का एक पात्र, बेरहम साहूकार। – ३११, ३१२

संत जॉर्ज – एक ईसाई संत, अजगर का विजेता। – ५१

संत पॉल – बाइबल के अनुसार एक ईसाई धर्मप्रचारक। – ६५०

सांग्रेडो – लेसाझ के उपन्यास 'सांतिल्यानी के जिल ब्लास की करतूतें' का एक पात्र, डाक्टर, जो रक्तमोचन और गरम पानी पीने को सभी रोगों का इलाज मानता था। – ७४६

साइक्लोप – यूनानी पुराणकथाओं के एक आंख-वाले दानव। – – २५८

साइक्स, बिल – डिकन्स के उपन्यास *Oliver Twist* का एक पात्र, डाकू। – ४७१

सिकोल – शेक्सपियर के नाटक *Much Ado About Hothing* का एक पात्र। – १०२

सिसाइफ़स – यूनानी पौराणिक आख्यानों के अनुसार कोरिंथ का राजा, जिसे कपट कर्म के लिए देवताओं ने एक बड़ा पत्थर ऊपर पहाड़ पर चढ़ाने की सज़ा दी थी। पत्थर लुढ़कर फिर नीचे आ जाता था और इस तरह सिसाइफ़स उसे ऊपर कभी नहीं पहुंचा पाया। "सिसाइफ़सी मेहनत" मुहावरा भारी और निरर्थक काम के लिए प्रयुक्त किया जाता है। – १५२, ४५०

हाबिल – बाइबल के अनुसार आदम का पुत्र, जिसे ईर्ष्यावश बड़े भाई केन ने मार डाला था। – ७८८

हैमेलिन का पाइड पाइपर – एक जर्मन लोक-कथा का पात्र; हैमेलिन नगर के निवासियों ने चूंकि उसे उसके काम – चूहों को नष्ट करना – का मेहनताना देने से इंकार कर दिया था, तो वह प्रतिशोधस्वरूप जादुई बांसुरी की आवाज़ से उनके सभी बच्चों को लुभाकर नगर के बाहर ले गया था। – ७२६

उद्धृत प्रकाशनों की सूची

A

ADDINGTON, Stephen, *An Inquiry into the Reasons for and against Enclosing Open Fields*, 2nd Edition, London, 1772. – ७६२

AIKIN, John, *Description of the Country from 30 to 40 miles round Manchester*, London, 1795. – ७२७, ७६०, ७६८

ANDERSON, Adam, *An Historical and Chronological Deduction of the Origin of Commerce from the Earliest Accounts to the Present Time*, London, 1764. – ७८४, ७६८

ANDERSON, James, *Observations on the Means of Exciting a Spirit of National Industry, Chiefly Intended to Promote the Agriculture, Commerce, Manufactures, and Fisheries of Scotland. In a Series of Letters to a Friend Written in the year 1775*, Edinburgh, 1777. – ५६३, ७६६

— *The Bee*, 18 vols, Edinburgh, 1791, Vol. III. – ६५१

APPIAN of Alexandria, *Roman Civil Wars*. – ७६४

(ARBUTHNOT, J.), *An Inquiry etc.* (1773). देखिये 'गुमनाम रचनाएं'

ARISTOTELES, *Ethicorum ad Nicomachum libri decem*. – ७८-७६

— *De Republica*, Berlin, 1831. – १०४, १७२, १८६

ASHLEY, Lord, *Ten Hours' Factory Bill. — The Speech of Lord Ashley, March 15th. 1844*, London, 1844. – ४३०, ४४०

ATHENAEUS of Naucratis, *Deipnosophistarum libri quindecim*, Strassburg, 1802. – ११६, १५१

AUGIER, Marie, *Du Crédit Public et de son histoire depuis les temps anciens jusqu' à nos jours*, Paris, 1842. – ८००

B

BABBAGE, Charles, *On the Economy of Machinery and Manufactures*, London, 1832. – ३७१, ३७४, ४०२, ४१८, ४३२

BACON, Francis, Lord Verulam, *The Reign of Henry VII. Verbatim reprint from Kennet's "England", 1719*, London, 1870. – ७५६

— *Essays or Counsels. Civil and Moral*, London, 1597. – ७५६

(BAILEY, Samuel), *A Critical Dissertation on the Nature, Measures, and Causes of Value: chiefly in reference to the Writings of Mr. Ricardo and his Followers. By the author of Essays on the Formation and Publication of Opinions etc*, London, 1825. – ८२, १०१, ५६४

BAILEY, Samuel, *Money and its Vicissitudes in Value; as They Affect National Industry and Pecuniary*

Contracts: with a Postscript on Joint Stock Banks. London, 1837. – ६६, ६४३

BALZAC, Honoré de, *Scenes de la vie privée: Gobseck.* – ६२१

BARBON, Nicholas, *A Discourse Concerning Coining the New Money Lighter. In Answer to Mr. Locke's Considerations about Raising the Value of Money,* London, 1696. – ५५, ५६, ५८, १४८, १६३, १६४

BARTON, John, *Observations on the Circumstances which Influence the Condition of the Labouring Classes of Society,* London, 1817 – ६५४, ७०७

BAYNES, *The Cotton Trade etc.* – ४१४-४१५

BECCARIA, Cesare, *Elementi di Economia Pubblica. Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna* में। Vol. XI, Milano, 1804. – ३६०

BELLERS, John, *Essays about the Poor. Manufactures, Trade, Plantations, and Immorality,* London, 1699. – १५०, १६५, ४५६, ५१०

— *Proposals for Raising a College of Industry of All Useful Trades and Husbandry,* London, 1696. – १५७, ३५१, ५२०, ६४७

BENTHAM, Jeremy, *Théorie des Peines et des Récompenses. (The Theory of Reward and Punishment),* 3rd Edition, Paris, 1826. – ६४२

BERKELEY, George, *The Querist,* London, 1751. – ३६०, ३७६

BIBLE, The Holy. (Book of Revelation.) – १०५

BIDAUT, J. N., *Du Monopole qui s'établit dans les arts industriels et le commerce, au moyen des grands appareils de fabrication. Deuxième livraison. Du Monopole de la fabrication et de la vente,* Paris, 1828. – ३४५

BIESE, Franz, *Die Philosophie des Aristoteles,* Berlin. 1842. – ४३५

BLAKEY, Robert, *The History of Political Literature from the Earliest Times,* Vol. II, London, 1855. – ७५८

BLANQUI, Jérôme. Adolphe, *Cours d'Économie Industrielle. Année 1837-38,* Paris, 1838-39. – ३६२

— *Des classes ouvrières en France pendant l'année 1848,* Paris, 1849. – ३६२

BLOCK, Maurice, *Les Théoriciens du Socialisme en Allemagne. Extrait du Journal des Economistes, Juillet et Août 1872,* Paris, 1872. – २७

BOILEAU, Etienne, *Reglements sur les arts et métiers de Paris, rédigés au 13ième siècle et connus sous le nom du livre des métiers, Paris,* 1837. – ५१७

BOILEAU, Nicolas, *Satire VIII.* A. M. Morel, docteur de Sorbonne. *Oeuvres,* t. I, Londres, 1780. – ६८५

BOISGUILLEBERT, Pierre de, *Dissertation sur la nature des richesses, de l'argent et des tributs,* Vol. I: *Economistes Financiers du XVIIIième siècle,* Paris, 1843. – १५६

BOXHORN, M. S., *Institutiones Politicae,* Leyden, 1663. – ४५६

BROADHURST, J., *Political Economy,* London, 1842. – ७४

BROUGHAM, Henry, *An Inquiry into the Colonial Policy of the European Powers,* Vol. II, Edinburgh, 1803. – ७६६

BRUCKNER, J., *Théorie du système animal,* Leyde, 1767. – ६४६

BUCHANAN, David, *Inquiry into the Taxation and Commercial Policy of*

Great Britain, Edinburgh, 1844.–१४५

— *Adam Smith, Wealth of Nations.* With notes, and an additional volume by D. Buchanan, Vols. I-IV, Edinburgh, 1814.–५९१, ७६६

BUCHEZ, Philippe, et Pierre ROUX-LAVERGNE, *Histoire Parlementaire de la Révolution Française ou Journal des assemblées nationales depuis 1789 jusqu'en 1815*, Vol. X, Paris, 1834.–७८०

BURKE, Edmund, *A Letter from the Rt. Hon. Ed. Burke to a Noble Lord, on the Attacks Made upon him and his Pension in the House of Lords, by the Duke of Bedford and the Earl of Lauderdale*, London, 1796.–७६०

— *Thoughts and Details on Scarcity, Originally Presented to the Rt. Hon. W. Pitt in the Month of November 1795*, London, 1800.–२२६, २५५, ३४८, ६३४, ७९९

BUTLER, Samuel, *Hudibras.*–५५-५७

C

CAIRNES, J. E., *The Slave Power*, London, 1862.–२१६, २८९, ३५७

CAMPBELL, George, *Modern India. A Sketch of the System of Civil Government*, London, 1852.–३८३

CANTILLON, Richard, *Essai sur la Nature du Commerce en Général*, Amsterdam, 1756.–५८६

— *The Analysis of Trade, Commerce, Coin, Bullion, Banks and Foreign Exchanges*, London, 1759.–५८६

CAREY, Henry Charles, *Essay on the Rate of Wages: with an Examination of the Causes of the Differences in the Condition of the Labouring Population throughout the World*, Philadelphia, 1835.–५९५

— *The Slave Trade, Domestic and Foreign: Why It Exists, and How It May Be Extinguished*, Philadelphia, 1853.–५६२, ७६७, ७८८

CARLI, G. R., *Notes on P. Verri, Meditazioni sulla Economia Politica. Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna* में। Vol. XV, Milano, 1804.–३५४

CARLYLE, Thomas, *Ilias Americana in nuce. Macmillan's Magazine*, August 1863.–२७७

CAZENOVE, John, *Notes on "Definitions in Political Economy", by Malthus*, London, 1853.–६००, ६२९

— *Outlines of Political Economy etc.*, London, 1832.–५५३

CHALMERS, Thomas, *On Political Economy in Connexion with the Moral State and Moral Prospects of Society*, 2nd Edition, 1832.–१७३

CHAMBERLAIN, Joseph, *Speech at Sanitary Congress, Birmingham. The Times*, January 15, 1875.–६७४

CHERBULIEZ, A. E., *Richesse ou Pauvreté, Paris, 1841.*–२०५, ३१६

COBBETT, William, *A History of the Protestant Reformation in England and Ireland. Showing how that Event has Impoverished and Degraded the Main Body of the People in Those Countries. In a Series of Letters, Addressed to All Sensible and Just Englishmen*, London, 1824.–७५८, ७९३

COLINS, H., *L'Economie Politique. Source des Révolutions et des Utopies prétendues socialistes*, Vol. III, Paris, 1857.–६४६, ७२७, ८११

COLUMBUS, Christopher, *Letter from Jamaica, 1503.* – १५०

COMTE, François Charles, *Traité de la Législation*, Vols. III and IV, 3rd edition, Brussels, 1837. – ७६१

CONDILLAC, E. B. de, *Le Commerce es le Gouvernement* (1776). *Collection des principaux économistes* में। Vol. XIV, Paris. 1847. – १७६

CORBET, Th., *An Inquiry into the Causes and Modes of the Wealth of Individuals, or the Principles of Trade and Speculation Explained*, London, 1841, – १७०, ६२१

CORBON, A., *De l'enseignement professionnel*, 2ème édition, Paris, 1860. – ५१६

COURCELLE-SENEUIL, J. G., *Traité théorique et pratique des entreprises industrielles, commerciales et agricoles ou Manuel des effaires*, 2ème édition, Paris, 1857. – २५३, ६३०

(CUNNINGHAM, J.), *An Essay on Trade and Commerce*, London, 1770. – २५२, २५३, २९७, २९९, ३००, ६३२, ७७३

CUVIER, Georges, *Discours sur les révolutions du globe*, Paris, 1863. – ५४५

D

DANTE ALIGHIERI, *Divina Comedia.* – १२२

DARWIN, Charles, *On the Origin of Species by Means of Natural Selection*, London, 1859. – ३६६, ३९८

DE LA RIVIÉRE. देखिये *Mercier.*

DE QUINCEY, Thomas, *The Logic of Political Economy*, London, 1844. – ४२२

DESCARTES, René, *Discours de la Méthode pour bien conduire sa raison*, Paris, 1668. – ४१६

DE TRACY, Destutt, *Élémens d'idéologie*, Vols. IV and V: *Traité de la Volonté et de ses Effets*, Paris, 1826. – १७७, १७८, १८३, ३५०, ३५३, ६८०

DIODORUS SICULUS, *Historische Bibliothek*, Vols. I, III, Stuttgart, 1828. – १६२, २५६, ३६५, ३९२, ५४३

DUCPÉTIAUX, Ed., *Budgets économiques des classes ouvrières en Belgique. Subsistances, salaires, population*, Bruxelles, 1855. – ७०४, ७०५

DUFFY, Gavan, *The Land Law of Victoria*, London, 1862. – ८१३

DUNNING, T. J, *Trades' Unions and Strikes: their Philosophy and Intention*, London, 1860. – ५८१, ५८५, ८००

DUPONT, Pierre, *Chant des Ouvriers*, Paris, 1854. – ७२७

E

EDEN, Sir Frederic Morton, *The State of the Poor: or an History of the Labouring Classes in England, from the Conquest to the Present Period*, London, 1797. – २६४, ६३४, ६४८, ६४९, ७०७, ७५९, ७६१, ७९७

ENGELS, Friedrich, *Umrisse zu einer Kritik der Nationalökonomie. Deutsch-Französische Jahrbücher* में। Paris, 1844. – ९३, १७१, ६६७

— *Die Lage der arbeitenden Klasse in England*, Leipzig, 1845. – २६०, २६५, २७६, २९१, ४२६, ४५०, ४५२, ४७४, ६३९

— *Die englische Zehnstudenbill. Neue Rheinische Zeitung Revue* में। Hamburg, 1850. – ३१५, ३२७

ENSOR, George, *An Inquiry Concerning the Population of Nations Containing a Refutation of Mr. Malthus's Essay on Population*, London, 1818. – ७६७

F

FAWCETT, Henry, *The Economic Position of the British Labourer*, Cambridge and London, 1865.—५८६, ६४४, ६८५

FERGUSON, Adam, *An Essay on the History of Civil Society*, Edinburgh, 1767.—१४२, ३७६, ३८६, ३८७, ३८८

FERRIER, F. L., A. *Du Gouvernement considéré dans ses rapports avec le Commerce*, Paris, 1805.—८०

FIELDEN, John, *The Curse of the Factory System: or, a short account of the origin of factory cruelties etc.*, London, 1836.—४३१, ४४०, ७६८

FLEETWOOD, William, *Chronicon Preciosum: or, an Account of English Gold and Silver Money*, London, 1707, 2nd Edition, London, 1745.—२६५-२६६

FONTERET, A. L., *Hygiène physique et morale de l'ouvrier dans les grandes villes en général, et dans la ville de Lyon en particulier*, Paris, 1858.—३८८

FORBONNAIS, Fr. Veron de, Élémens *du commerce*, Leyde, 1766.—१०६

(FORSTER, Nathaniel), *An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions*, London. 1767.—२६८, ४५६, ५४४, ७६२

FORTESCUE, John, *De laudibus Legum Angliae*, 1537.—७५४

FRANKLIN, Benjamin, *Works*, Boston, 1836.—७०, १८४

FREYTAG, Gustav, *Neue Bilder aus dem Leben des deutschen Volkes.*—७७८

FULLARTON, John, *On the Regulation of Currencies, being an Examination of the Principles on which it is Proposed to Restrict Within Certain Fixed Limits the Future Issues on Credit of the Bank of England and of the Other Banking. Establishments throughout the Country*, 2nd Edition, London, 1845.—१४७, १६०, १६४

G

GALIANI, Fernando, *Della, Moneta*, (1750). *Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna* में। Vol. III, Milano, 1803.—६२, १०८, ११६, १७३, १७८, २४०, ६७५

GANILH. Charles, *La théorie de l'Économie Politique*, Paris, 1815.

—*Des Systèmes d'Economie Politique, de la valeur comparative de leurs doctrines, et de celle qui parait la plus favorable aux progrès de la Richesse*, Vols. I-II, Paris, 1821.—८०, १६४, ४७७

GARNIER, Germain, *Abrégé élémentaire des principes de l'Économie Politique*, Paris, 1796.—३८८, ५८३

GASKELL, P., *The Manufacturing Population of England etc.*, London, 1833.—४६४, ४७३

GENOVESI, Antonio, *Lezioni di Economia Civile. Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna* में। Vol. VIII, Milano, 1803.—१७३

GISBORNE, Thomas, *Enquiry into the Duties of Men in the Higher Rank and Middle Classes of Society in Great Britain*, Vol. II, 1795.—७६८

GLADSTONE, William. देखिये *Hansard Parliamentary Reports.*

GOETHE, W. von, *Faust.*—१०५, ६२६

(GRAY, JOHN), *The Essential Principles* etc., London, 1797.—१८० देखिये 'गुमनाम रचनाएं'

(GREG, R. H.), *The Factory Question*,

Considered in Relation to its Effects on the Health and Morals of Those Empoyed in Factories. And the Ten Hours Bill, London, 1837. – ३१५

GRÉGOIR, H., *Les Typographes devant le Tribunal correctionnel de Bruxelles*, Bruxelles, 1865. – ५८७

GROVE, W. R., *On the Correlation of Physical Forces*, London, 1846. – ५५६

GÜLICH, G., *Geschichtlische Darstellung des Handles, der Gewerbe und des Ackerbaus der bedeutendsten handeltreibenden Staaten unserer Zeit*, Bände I-II, Jena, 1830. – २४, ७६३

H

HALLER, Carl Ludwig v., *Restauration der Staatswissenschaft*, Berne, 1816-34. – ४१६

HANSSEN, Georg, *Die Aufhebung der Leibeigenschaft*, Petersburg, 1861. – २५७

HARRIS, James, *Dialogue Concerning Happiness*, London, 1741. – ३६०

HARRISON, William John, *Description of England. Prefixed to Holinshed's Chronicles*, London, 1587. – ७५४, ७८२

HASSALL, A. H., *Adulterations Detected or plain instructions for the discovery of frauds in food and medicine*, 2nd Edition, London, 1861. – १६४, २६६

HEGEL, Georg Wilhelm Friedrich, *Enzyklopädie der philosophischen Wissenschaften*, Berlin, 1840. – ७७, १६६, २८५

— *Grundlinien der Philosophie des Rechts*, Berlin, 1840. – ६४, १८८, ३८६

HOBBES, Thomas, *Leviathan; or the Matter, Form and Power of a Commonwealth, Ecclesiastical and Civil*, London, 1839-44. – १६०

(HODGSKIN, Thomas), *Labour Defended Against the Claims of Capital; or the Unproductiveness of Capital Proved by A Labourer*, London, 1825. – ३८०, ६०६

— *The Natural and Artificial Rights of Property Contrasted*, London, 1832. – ७६०

HODGSKIN, Thomas, *Popular Political Economy*, London, 1827. – ३६४, ३७८, ५६६

HOLINSHED, Raphael, *Chronicles of England, Scotland, and Ireland*, London. 1578. – ७५४, ७७४

HOMER, *Iliad*. – ८१

— *Odyssey*. – ३६०

HOPKINS, Thomas, *On Rent of Land and its Influence on Subsistence and Population: with Observations on the Operating Causes of the Condition of the Labouring Classes in Various Countries*, London, 1828. – २५०

(HORNE, George), *A Letter to Adam Smith, LL. D., on the Life, Death, and Philosophy of his Friend David Hume. By one of the People called Christians*, 4th Edition, Oxford, 1784. – ६५०

HORNER, Leonard, *A Letter to Mr. Senior* etc., London, 1837. – २४४

— *Suggestions for Amending the Factory Acts to Enable the Inspectors to Prevent Illegal Working, Now Becoming Very Prevalent. In Factories Regulation Acts.* Ordered by the House of Commons to be printed, 9th Edition, 1859. – २६१

Factories, Reports of H. M. Inspectors भी देखिये।

HOUGHTON, John, *Husbandry and Trade Improved*, Vols. I-IV, London, 1727.—४५६

HOWITT, William, *Colonisation and Christianity: A Popular History of the Treatment of the Natives by the Europeans in all their Colonies*, London, 1838.—७९१

HUME, David. *Essays*.—१४२

HUNTER, Julian, *Public Health, 6th, 7th, 8th Reports*, London, 1864, 1865, 1866.—६९१

HUTTON, Charles, *Course of Mathematics*, Vols. I-II, London, 1841-43. —३९८

I

ISOCRATES, *Busiris*.—३९२

J

JACOB, William, *An Historical Enquiry into the Production and Consumption of the Precious Metals*, London, 1831.—६०

—*A Letter to Samuel Whitbread Esq... on the Protection Required by British Agriculture* etc., London, 1815.—२३९

JONES, Richard, *An Essay on the Distribution of Wealth, and on the Sources of Taxation*, London, 1831. —३५४

—*An Introductory Lecture on Political Economy*, London, 1833.—६२०, ६६४

—*Textbook of Lectures on the Political Economy of Nations*, Hertford, 1852.—३३३, ३४५, ३५९, ६०१, ६३१

K

KOPP, H., *Entwicklung der Chemie in der neueren Zeit*, München, 1871-74.—३३४

L

LABORDE, Alexandre de, *De l'Esprit d'Association dans tous les intérêts de la Communauté*, Paris, 1818.—५६२

LAING, Samuel, *National Distress, its Causes and Remedies*, London, 1844.—२१८, ६७६, ६९१, ७०८

LANCELLOTTI, Secondo, *Farfalloni de gli Antici Historici*, Venetia, 1636.—४५६

LASSALLE, Ferdinand, *Di Philosophie Herakleitos des Dunkeln von Ephesus*, Berlin, 1858.—१२४

—*Herr Bastiat-Schulze von Delitzsch, der ökonomische Julian, oder Kapital und Arbeit*, Berlin, 1864.—१५

LAW, John, *Considérations sur le numéraire et le commerce. Collection des principaux économistes* में। T. I, *Economistes Financiers du XVIIIième siècle*, Paris, 1843.—१०९

LE TROSNE, Guillaume Fr., *De l'intérêt Social etc. Collection des principaux économistes* में। Partie II. *Physiocrates*, Paris, 1846.—५६, ५९, १०९, १२०, १३०, १३५, १३८, १६४, १७८, १७९, १८१, १८३, २३०

LEVI, Leone, *Lecture before the Society of Arts*, April 1866.—७७०

LIEBIG, Justus v., *Ueber Theorie und Praxis in der Landwirtschaft*, Braunschweig, 1856.—३५३, ६०५

—*Die Chemie etc.*, 7th Edition, Braunschweig, 1862.—२६०, ५३७

LINGUET, N., *Théorie des Lois Civiles ou Principes fondamentaux de la Société*, Vol. II, London, 1767. —२५३, ३५९, ६४८, ७७६

LOCKE, John, *Some Considerations on the Consequences of the Lowering of Interest and Raising the Value of Money. Works* में। Vol.

II, 8th Edition, London, 1777. – ५६, १०६, १४३

LUCRETIUS, *De Rerum Naturae*. – २३४

LUTHER, Martin, *An die Pfarrherrn, wider den Wucher zu predigen*, Wittemberg, 1540. – १५४, २१२, ३३४, ६२६

M

MACAULAY, Thomas Babington, *History of England from the Accession of James the Second*, 10th Edition, London, 1854. – २६७, ७५३

MACCULLOCH, John Ramsay, *The Principles of Political Economy; with a Sketch of the Rise and Progress of the Science*, 2nd Edition, London, 1830. – १७३, २११-२१२, ४७१, ५५१, ६४१

— *The Literature of Political Economy, a Classified Catalogue of Select Publications in the Different Departments of that Science*, London, 1845. – १६३, ७६३

— *A Dictionary, Practical, Theoretical, and Historical of Commerce and Commercial Navigation*, London, 1847. – १७०

MACLAREN, James, *A Sketch of the History of the Currency*, London, 1858. – ११६

MACLEOD, Henry Dunning, *The Theory and Practice of Banking: with the Elementary Principles of Currency, Prices, Credit and Exchanges*, Vol. I, London, 1855. – ८०, १७४

MALTHUS, Thomas Robert, *An Essay on the Principle of Population*, London, 1798. – ५३८, ५६७

— *An Inquiry into the Nature and Progress of Rent and the Principles by which it is Regulated*, London, 1815. – ३३६, ५५८, ५८८, ६२८

— *Principles of Political Economy Considered with a View to Their Practical Application*, 2nd Edition, London, 1836. – २३२, ६१२, ६२०, ६२१, ६२८

— *Definitions in Political Economy*. Edited by Cazenove, London, 1853. – ६००, ६०६, ६१२, ६२०, ६२१

MANDEVILLE, Bernard, *The Fable of the Bees, or Private Vices, Publick Benefits*, 5th Edition, London, 1728. – ३८०, ६४८

MARTINEAU, Harriet, *A Manchester Strike. A Tale. Illustrations of Political Economy*, No. VII, London, 1832. – ६६७

MARX, Karl, *Misère de la Philosophie. Réponse à la Philosophie de la Misère par M. Proudhon*, Paris and Brussels, 1847. – १००, ३८२, ३८५, ३८७, ४४८, ५६६, ६७८

— *Lohnarbeit und Kapital. Neue Rheinische Zeitung*, 1849. – ६११, ६४६, ८०५

— *Zur Kritik der Politischen Oekonomie*, Berlin, 1859. – १५, २३, २५, २८, ५५, ६०, ६१, ६४, ६६, १००, १०६, १०८, ११३, ११५, ११६, १२०, १३३, १४१, १४३, १५५, १५७, १६१, १६३, २१२, ५६८, ६५३

— *Der achtzehnte Brumaire des Louis Bonaparte*, 2nd Edition, Hamburg, 1869. – ७२७

— *Address and Provisional Rules of the International Working Men's Association etc.*, London, 1864. – ४८, ४६, ५१

MARX, Karl, und ENGELS, Friedrich, *Manifest der Kommunistischen Partei*, London, 1848. – ५१८, ८०३

(MASSIE, Joseph.) *An Essay on the Governing Causes of the Natural*

Rate of Interest, London, 1750. – ५४५

MAURER, Georg Ludwig v., *Einleitung zur Geschichte der Mark-, Hof-, Dorf-, und Stadtverfassung*, München, 1854. – ९०

— *Geschichte der Fronhöfe etc.*, Vol. IV. 1863. – २५७

MEITZEN, August, *Der Boden und die landwirtshaftlichen Verhältnisse des Preussischen Staates etc.*, 1866. – २५७

MERCIER DE LA RIVIERE, *L'Ordre naturel et essentiel des Sociétés politiques. Collection des principaux économistes* में। Paris, 1846. – १२८, १२९, १४९, १६७, १७७, १८१, २१०

MERIVALE, Herman, *Lectures on Colonisation and Colonies*, London, 1841-42. – ६६६, ८०९

MILL, James, *Elements of Political Economy*, London, 1821. – १३३, १४३, १७४, २०५, ३७८, ६००, ६०३, ६०५

— *Colony. Encyclopaedia Britannica*, 1831 के परिशिष्ट का एक लेख। – २१८

MILL, John Stuart, *System of Logic*, London, 1843. – ६२३

— *Essays on Some Unsettled Questions of Political Economy*, London, 1844. – १४३, ६२२

— *Principles of Political Economy with Some of Their Applications to Social Philosophy*, London, 1848; London, 1868. – १४३, ३९७, ५३७, ५४८, ६४३

— *Reports on Bank Acts. John Stuart Mill's Evidence*, 1857. – १५३

MIRABEAU, Honoré de, *De la Monarchie Prussienne sous Fréderic le Grand*, Vols. II-IV, London, 1788. – ७५४, ७७०, ७८६, ७९६

MOLINARI, Gustave de, *Études Économiques*, Paris, 1846. – ४५०, ६३०, ८१०

MOMMSEN, Theodor, *Römische Geschichte*, Berlin, 1856. – १८८, १९१

MONTEIL, Amans Alexis, *Traité de matériaux manuscrits de divers genres d'histoire*, Vol. I, Paris, 1836. – ७८३

MONTESQUIEU, Charles de, *De l'Esprit des lois. Oeuvres* में। Vol. II, London, 1767. – १०९, १४३, ६४८, ७९५

MORE, Thomas, *Utopia* (1516). English translation by Ralph Robinson. Arber's Classics में। London, 1869. – ७५६, ७७४

MORTON, John C., *Labourer. A Cyclopaedia of Agriculture, Practical and Scientific*, London, 1855 का एक लेख। – ४०२, ५८५

— *The Forces Employed in Agriculture*. Paper read before the Society of Arts, 1861. – ४०२

MÜLLER, Adam Heinrich, *Die Elemente*. – १४४

MUN, Thomas, *England's Treasure by Foreign Trade. Or the Balance of our Foreign Trade is the Rule of our Treasure*, London, 1669. – ५४४

MURPHY, John Nicholas, *Ireland Industrial, Political, and Social*, 1870. – ७४०

MURRAY, Hugh, and WILSON, James etc., *Historical and Descriptive Account of British India etc.*, Vol. II, Edinburgh, 1832. – ३६५

N

NEWMAN, Francis William, *Lectures on Politcal Economy*, London, 1851. – ७६०, ७६६

NEWMAN, Samuel Phillips, *Elements of Political Economy*, Andover and New York, 1835. – १८०, २२७

NEWMARCH, W. – ३२० देखिये *Tooke, Th.*

NEWNHAM, G. B., *A Review of the Evidence before the Committee of the two Houses of Parliament on the Corn Laws*, London, 1815. – ६३५

NIEBUHR, Berthold Georg, *Römische Geschichte*, Berlin, 1863. – २५५

(NORTH, Sir Dudley), *Discourses upon Trade; Principally Directed to the Cases of the Interest, Coynage, Clipping, Increase of Money*, London, 1691. – १४०, १४४, १५३, ४१७

O

OLMSTED, Frederick Law, *A Journey in the Seaboard Slave States with Remarks on Their Economy*, New York, 1856. – २१६

OPDYKE, George, *A Treatise on Political Economy*, New York, 1851. – १८४

ORTES, Giammaria, *Della Economia Nazionale libri sei*, Vol. VII (1777). *Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna* में। Milano, 1804. – ६७८

OTWAY, J. H., *Judgment of Mr. J. H. Otway, Belfast Hilary Sessions, County Antrim*, 1860. – ३०२

OWEN, Robert, *Observations on the Effects of the Manufacturing System*, 2nd Edition, London, 1817. – ३२४, ४३०

P

PAGNINI, Giovanni Francesco, *Saggio sopra il giusto pregio delle cose, la giusta valuta della moneta et sopra il commercio dei romani* (1751). *Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna* में। Vol. II, Milano, 1803. – ११०

(PAPILLON, Thomas), *The East-India Trade etc.* – १०९ देखिये 'गुमनाम रचनाएं'

PARRY, Charles Henry, *The Question of the Necessity of the Existing Corn Laws, Considered, in Their Relation to the Agricultural Labourer, the Tenantry, the Landholder, and the Country*, London, 1816. – ६३४, ६३५, ७०७, ७०८

PETTY, William, *A Treatise of Taxes and Contributions*, London, 1667. – ११०, १४१, ६५०

— *Political Anatomy of Ireland*, London, 1691. – १६१, १६५, २९६, ३३८

— *Quantulumcunque Concerning Money, 1682. To the Lord Marquis of Halifax*, London, 1695. – १२०, १६५

PINTO, Isaac, *Traité de la Circulation et du Crédit*, Amsterdam, 1771. – १७०

PLATO, *De Republica*. Platonis opera omnia में। 21 vols, Zürich, 1839-41. – ३९१

POSTLETHWAYT, Malachy, *First Preliminary Discourse, also Supplement to Universal Dictionary of Trade and Commerce*, London, 1751. – २९८, २९९

— *Britain's Commercial Interest Explained and Improved*, London, 1755. – २९८

POTTER, Edmund, (*The Times letter.*) – ६०७-६०९

PRICE, Richard, *Observations on Reversionary Payments*, Vol. II, 6th Edition, London, 1803. – ७०६, ७६३

Q

QUESNAY, François, *Dialogues sur le Commerce et les Travaux des*

Artisans. Collection des principaux économistes में। Vol. II, Paris, 1846. xxiii. – १२७, ३४५

— *Maximes générales du gouvernement économique d'un Royaume agricole.* (1758). *Collection des principaux économistes* में। Vol. II, *Physiocrates*, Paris, 1846. – १२७

R

RAFFLESS, Sir Thomas Stamford, *The History of Java*, Vol. I, London, 1817. – ३८३, ७६१

RAMAZZINI, Bernardino, *De morbis artificum diatriba.* (1713). *Encyclopédie des Sciences Médicales* में। 1841. – ३८८

RAMSAY, George, *An Essay on the Distribution of Wealth*, Edinburgh, 1836. – १८२, १८५, ३४१, ५४२, ५६६, ६६४

RAVENSTONE, Piercy, *Thoughts on the Funding System and its Effects*, London, 1824. – ४५८, ५४२

READ, George, *The History of Baking*, London, 1848. – २७२

REDGRAVE, Alexander, *Report of a Lecture Delivered at Mechanics' Institute in Bradford, December 1871. Journal of the Society of Arts* में। London, January 1872. – ४४४, ४७७

REGNAULT, Elias, *Histoire politique et sociale de Principautés Danubiennes*, Paris, 1855. – २५६

REICH, Eduard, *Ueber die Entartung des Menschen*, 1868. – ३८८

RICARDO, David, *On the Principles of Politicol Economy, and Taxation*, 3rd Edition, London, 1821. – ६८, १४३, १८७, २०७, २५०, ४१४, ४१६, ४२०, ४५६, ४६०, ४६६, ६०५, ६२२, ६६४

RICHARDSON, B. W., Work and Overwork. *Social Science Review*, July 18, 1863 में। London. – २७७, २७८

ROBERTS, George, *The Social History of the People of the Southern Counties of England in Past Centuries*, London, 1856. – ७५७

RODBERTUS-JAGETZOW, Karl, *Soziale Briefe etc.*, Berlin, 1851. – ५६१

— *Briefe und socialpolitische Aufsätze*, Berlin, 1881. – ५६१

ROGERS, James E. Thorold, *A History of Agriculture and Prices in England from the year after the Oxford Parliament (1259) to the Commencement of the Continental War 1793*, Vol. I, Oxford, 1866. – ७०६, ७११, ७५६

ROSCHER, Wilhelm, *Die Grundlagen der Nationalökonomie*, 1858. – १११, १७६, २२५, २२६, २३६, ३४६, ३८६

ROSSI, P., *Cours d'Économie Politique*, Brussels, 1842. – १६३, ६०४

ROUARD DE CARD, François Pie-Marie, *De la falsification des substances sacramentelles*, Paris, 1856. – २७०

ROUSSEAU, Jean Jacques, *Discours sur l'Économie Politique. OEuvres*, Vol. I, Geneva, 1760. – ७८५

RUMFORD, Benjamin, Count of (Benjamin Thompson), *Essays, Political, Economical and Philosophical*, Vols. I-III, London, 1796-1802. – ६३४

S

SADLER, Michael Thomas, *Ireland, its Evils and Their Remedies*, 2nd Edition, London, 1829. – ७३६

SAINT-HILAIRE, Geoffroy Etienne, *Notions synthétiques, historiques et physiologiques de Philosophie Naturelle*, Paris, 1838. – ७८४

SAY, Jean Baptiste, *Traité d'Économie Politique, ou simple Exposition*

de la Manière dont se forment, se distribuent et se consomment les Richèsses, 3rd edition, Vols. I-III, Paris, 1817.—६६, १७३, १८३, २२५, ५६६, ६२८
—*Lettres à M. Malthus sur différents sujets d'Économie Politique, notamment sur les causes de la stagnation générale du commerce*, Paris, 1820. —६३६, ६४०
SCHORLEMMER, Carl, *The Rise and Development of Organic Chemistry*, London, 1879.—३३४
SCHOUW, Joakim Frederik, *Die Erde, die Pflanzen und der Mensch*, Leipzig, 1854.—५४६
SCHULZ, Wilhelm, *Die Bewegung der Produktion*, Zürich, 1843.—३६८
SCROPE, G. P., *Political Economy*, New York, 1841.—६३०
(SEELEY, R. B.) *The Perils of the Nations*. देखिये 'गुमनाम रचनाएं'
SENIOR, Nassau William, *Three Lectures on the Rate of Wages*, London, 1830.—५७४, ५७८
—*An Outline of the Science of Political Economy*, London, 1836.—२४६
—*Principes Fondamentaux de l'Économie Politique*. Trad. I. Arrivabene, Paris, 1836.—६२६, ६३०
—*Letters on the Factory Act, as it Affects the Cotton Manufacture*, London, 1837.—२४३, २४६, ४०३
—*Report of Proceedings, etc.*, London, 1863 में प्रकाशित 'सामाजिक विज्ञान के राष्ट्रीय प्रोत्साहन-संगठन की सातवीं वार्षिक कांग्रेस में दिया गया भाषण।—५१४, २२४
—*Journals, Conversations and Essays Relating to Ireland*, London, 1868. —७४७, ७६८
SHAKESPEARE, *Henry IV*.—६७
— *Much Ado About Nothing*.—१०२
—*The Merchant of Venice*.—३११,
—*Timon of Athens*.—१५१
SIEBER, N., *David Ricardo's Theory of Value and Capital* (Russian), Kiev, 1871.—२७
SISMONDI, J. Ch. L. Simonde de, *De la Richesse Commerciale ou Principes d'Économie Politique, appliqués à la législation du Commerce*, Vol. I, Genève, 1803.—५६५
—*Etudes sur l'Économie Politique*, Vol. I, Brussels, 1836.—३४०, ६२८
—*Nouveaux Principes d'Économie Politique etc.*, Vols. I-II, Paris, 1819. —१७५, १६३, ५६६, ६१०, ६१५, ६१८, ६२६, ६८०, ८०२
SKARBEK, Frédéric, *Théorie des richesses sociales*, Vol. I, 2éme éd., Paris, 1839.—३५२, ३७६
SMITH, Adam, *An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations*. Ed. E. G. Wakefield, London, 1835-39; Ed. David Buchanan, Edinburgh, 1814.—६६, १४२, ३७३, ३७७, ३८०, ३८७, ५६५, ५७०, ५६१, ६०१, ६२३, ६२७, ६५२, ६५४
—*The Theory of moral sentiments*, London, 1759.—६५१
SOMERS, Robert, *Letters from the Highlands: or the Famine of 1847*, London, 1848.—७६६
SOPHOCLES, *Antigone*.—१५१
(STAFFORD, William), *A Compendious or Briefe Examination of Certayne Ordinary Complaints of Divers of our Countrymen in these our Days. By W. S. Gentleman*, London, 1581.—७८२
STEUART, Sir James, *An Inquiry into the Principles of Political Economy. Being an Essay on the Science of Domestic Policy in Free Nations*, Vol. I, London, 1767, 2nd Edition, Dublin, 1770.—१६८, ३५७, ४५८

— *Works*. Ed. Sir J. Steuart, London, 1805. – १६८, ७६६
— *Recherche des principes de l'economie politique*, t. I, Paris, 1789. – ४५८
STEWART, Dugald, *Lectures on Political Economy. Collected Works* में। Vol. VIII, Ed. by Sir W. Hamilton, Edinburg, 1855. – ३४५, ३७०, ३८५, ५१७
STOLBERG, Christian Graf zu., *Gedichte aus dem Griechischen uebersetzt*, Hamburg, 1782. – ४३५
STORCH, H. Fr. *Cours d'Économie Politique; ou Exposition des Principes qui déterminent la prosperité des nations*, Vols. II and III, Petersburg, 1815. Paris, 1823. – १९४, ३७६, ३८५, ३८६, ६२३, ६८०
STRANGE, W., *Health*, 1864. – २८०
STRYPE, John, *Annals of the Reformation and Establishment of Religion and Other Various Occurrences in the Church of England during Queen Elizabeth's Happy Reign*, 2nd Edition, 1725. – ७७४

T

THIERS, Adolphe, *De la Propriété*, Paris, 1848. – ४७१
THOMPSON, Benjamin. देखिये *Rumford*.
THOMPSON, William, *An Inquiry into the Principles of the Distribution of Wealth, Most Conducive to Human Happiness, Applied to the Newly Proposed System of Voluntary Equality of Wealth*, London, 1824. – ३८७
THORNTON, William Thomas, *Overpopulation and its Remedy*, London, 1846. – १९१, २९२, ७५५
THUCYDIDES, *History of the Peloponnesian War*. – ३९१
THÜNEN, Johann Heinrich v., *Der isolierte Staat etc.*, Rostock, 1863. – ६५४
TOOKE, Thomas and NEWMARCH, W., *A History of Prices and of the State of the Circulation from 1793 to 1856*, London, 1838-57. – ३२०
TORRENS, Robert, *An Essay on the External Corn Trade*, London, 1815. – १९२
— *An Essay on the Production of Wealth; with an Appendix, in which the Principles of Political Economy are Applied to the Actual Circumstances of this Country*, London, 1821. – १८१, २०४
— *On Wages and Combination*, London, 1834. – ४३२
(TOWNSEND, Joseph), *A Dissertation on the Poor Laws. By a Well-Wisher of Mankind*, London, 1786, 1817. – ६७९
TREMENHEERE, H. S., *The Grievances Complained of by the Journeymen Bakers, ets.* London, 1862. देखिये *Report, etc., Relative to the Grievances*, etc. – १९३
TSCHERNYSCHEWSKY, *Outlines of Political Economy According to Mill*, Petersburg, 1865. – २६
TUCKETT, J. D., *A History of the Past and Present State of the Labouring Population, Including the Progress of Agriculture, Manufactures and Commerce, Showing the Extremes of Opulence and Destitution among the operative classes, with practical means for their employment and future prosperity*, London, 1846. – ३८७, ७५७, ७८८
TURGOT, A. R. J., *Réflexions sur la Formation et la Distribution des*

Richesses. Oeuvres में Vol. I, Paris, 1844. – १९९, ३३८, ५६३

U

URE, Andrew, *The Philosophy of Manufactures: or an Exposition of the Scientific, Moral and Commercial Economy of the Factory System of Great Britain*, 2nd Edition, London, 1835. – ३२४, ३७५, ३९३, ३९४, ४०६, ४३१, ४४७, ४४८, ४५२, ४६०, ४६१, ४६२, ४६५, ४६६, ५८४, ५८८

URQUHART, David, *The Portfolio, a Diplomatic Review. New Series*, London, 1843. etc. – ७६८

— *Familiar Words as Affecting England and the English*, London, 1855. – ११९, ३८९, ५३६, ७८७, ७८८

V

VANDERLINT, Jacob, *Money Answers All Things*, London, 1734. – १४२, १४९, १६४, २९८, ३३८, ३५६

VERRI, Pietro, *Meditazioni sulla Economia Politica* (1773). *Scrittori Classici Italiani di Economia Politica. Parte Moderna* में। Vol. 15, Milano, 1804. – ६३, १०८, १५२, ३५४

VISSERING, S., *Handbock van Praktische Staatshuishoudkunde*, Amsterdam, 1860-1862. – ५३४

W

(WADE, John.), *History of the Middle and Working Classes, etc.*, *3rd* Edition, London, 1835. – २६४, २९५, ६५२

WAKEFIELD, Edward Gibbon, *England and America. A Comparison of the Social and Political State of Both Nations*, London, 1833. – २९२, ६१५, ७०८, ८०६, ८०७, ८०९, ८१०, ८११, ८१२

— *A View of the Art of Colonisation*, London, 1849. – ३५१

— *Notes to Adam Smith's "Wealth of Nations"*. – ५६५

WARD, John, *The Borough of Stokeu-pon-Trent*, London, 1843. – २९०

WATSON, Dr. John Forbes. *Paper Read Before the Society of Arts, April 17, 1860*. – ४१८

WATTS, John, *Facts and Fictions of Political Economists, Being a Review of the Principles of ihe Science, Manchester*, 1842. – ५८१

— *Trade Societies and Strikes etc.*, Manchester, 1865. – ५८१, ५८४

WAYLAND, F., *The Elements of Political Economy*, Boston, 1843. – १८३, २२६

(WEST, Sir Edward), *Essay on the Application of Capital to Land. By a Fellow of the University College of Oxford*, London, 1815. – ५७२, ५७३, ५७४

— *Price of Corn and Wages of Labour, with Observations upon Dr. Smith's, Mr. Ricardo's and Mr. Malthus's Doctrines upon these Subjects etc.*, London, 1826. – ५७२, ५७३, ५७४

WILKS, Lieut.-Col. Mark, *Historical Sketches of the South of India, etc.*, London, 1810-1817. – ३८३

WILSON, James. देखिये *Murray*.

WRIGHT, Thomas, *A Short Address to the Public on the Monopoly of Large Farms*, London, 1779. – ७६२

X

XENOPHON, *Cyropaedia*. – ३९२

Y

YOUNG, Arthur, *Political Arithmetic, Containing Observations on the Present State of Great Britain, and the*

Principles of her Policy in the Encouragement of Agriculture, London, 1774. – १४१, २५०, ७०६
– *A Tour in Ireland; with General Observations on the Present State of that Kingdom: Made in the Years 1776, 1777 and 1778 and Brought down to the End of 1779*, 2nd Edition, London, 1780. – ७१३

गुमनाम रचनाएं

A

The Advantages of the East-India Trade to England, etc., London, 1720. – ३४४, ३६४, ३६६, ३७०, ३७३, ४५६, ५४३

C

The Case of our English Wool, London, 1685. – २७२
The Character and Behaviour of King William, Sunderland etc., as Represented in Original Letters to the Duke of Shrewsbury from Somers, Halifax, Oxford, Secretary Vernon, etc. (Sloane MSS.) – ७६०
On Combination of Trades, London, 1834. – ५६०
A Compendious or Briefe Examination, etc. देखिये Stafford, William.
Considerations Concerning Taking off the Bounty on Corn Exported, etc., London, 1753. – ३४५
Considerations on Taxes as They are Supposed to Affect the Price of Labour etc. (J. Cunningham), London, 1765. – २६७
A Critical Dissertation on the Nature, Measures and Causes of Value etc. देखिये *Bailey*. – ८२
The Currency Theory Reviewed: in a Letter to the Scottish People etc. By A Banker of England, Edinburgh, 1845. – १५८

D

A Defence of the Landowners and Farmers of Great Britain, etc., London, 1814. – ५८८
A Discourse Concerning Trade and that in Particular of the East Indies, London, 1689. – १०६
A Discourse of the General Notions of Money, Trade and Exchanges, as They Stand in Relation Each to Other. By a Merchant, London. 1695. – १०८-१०६
A Discourse on the Necessity of Encouraging Mechanick Industry, London, 1690. – २६६

E

The East-India Trade a Most Profitable Trade. (Thomas Papillon), London, 1677. – १०६
An Enquiry into the Causes of the Present High Price of Provisions. देखिये *Forster.*
Essay on the Application of Capital to Land. देखिये *West, Sir Edward.*
An Essay on Credit and the Bankrupt Act, London, 1707. – १५४
An Essay on the Political Economy of Nations, London, 1821. – २२०, ३३२
Essays on Political Economy in which are Illustrated the Principal Causes of the Present National Distress, London, 1830. – ५५६
An Essay upon Public Credit, 3rd Edition, London, 1710. – १५६
An Essay on Trade and Commerce, Containing Observations on Taxes

etc. (J. Cunningham.), London, 1770. – २५२, २५३, २६७, २६६, ३००, ५७४, ६३३, ६४८, ६६६, ७७३

The Essential Principles of the Wealth of Nations. (John Gray), London, 1797. – १८०

F

The Factory Question etc. देखिये *Greg, R. H.*

H

History of the Middle and Working Classes etc. देखिये *Wade, John.*

I

The Industry of Nations. Part II. Survey of the Existing State of Arts, Machines and Manufactures, London, 1855. – ३६६, ४११

An Inquiry into the Connexion Between the Present Price of Provisions and the Size vf Farms, etc. By a Farmer. (J. Arbuthnot), London, 1773. – ३३३, ३५१, ३५३, ७५६, ७६४

An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand and the Necessity of Consumptiond, lately advocated by Mr. Malthus, London, 1821. – १८२, १६४, ४७६, ६२८, ६२६, ६४०

K

Die Krankheiten. etc., Ulm, 1860. – ३८८

L

Labour Defended Against the Claims of Capital. देखिये *Hodgskin, Th.*

A Letter to Adam Smith etc. देखिये Horne, George.

A Letter to Sir T. C. Bunbury, Bart. On the Poor Rates and the High Price of Provisions. By a Suffolk Gentleman. Ipswich, 1795. – ७५६

N

The Natural and Artificial Rights of Property Contrasted. देखिये *Hodgskin, Th.*

O

Observations on Certain Verbal Disputes in Political Economy, Particularly Relating to Value and to Demand and Supply, London, 1821. – १०१, १०२, २२४, ५६५, ६३२

Our Old Nobility. By Noblesse Oblige, London, 1879. – ७६०

Outlines of Political Economy etc., London, 1832. – २१८, २४६, ३४३, ५५३

P

The Parils of the Nations. An Appeal to the Legislature etc. (R. B. Seeley), London, 1843. – ७६४

A Political Inquiry into the Consequences of Enclosing Waste Lands and the Causes of the Present High Price of Butchers' Meat, London, 1785. – ७६१

Price of Corn and Wages of Labour etc. देखिये *West, Sir Edward.*

A Prize Essay on the Comparative Merits of Competition and Co-operation, London, 1834. – ३४५, ४६०

Public Economy Concentrated, or a Connected View of Currency, Agriculture and Manufactures. By an Enquirer into First Principles, Carlisle, 1833. – ४२३

R

Reasons for the Late Increase of the Poor Rates: or a Comparative View of the Prices of Labour and Provisions etc., London, 1777. – ६०३, ७०६

Reasons for a Limited Exportation of Wool, London, 1677. – ६०३

Remarks on the Commercial Policy of Great Britain, London, 1815. – ५८७

S

Some Thoughts on the Interest of Money in General and Particularly in the Public Funds, London, c. 1749-50. – ५६, ६६

Sophisms of Free Trade and Popular Political Economy Examined by a Barrister. (I. B. Byles), London, 1850. – २६५, ७७६

The Source and Remedy of the National Difficulties. A Letter to Lord John Russell, London, 1821. – ६२०

T

The Theory of the Exchanges. The Bank Charter Act of 1844, London, 1864. – १५६, ६८५

Two Letters on the Flour Trade and the Dearness of Corn. By a Person in Business, London, 1767. – ७६२

पत्र और पत्रिकाएं

Bayerische Zeitung, May 9, 1862. – २५६

Bengal Hurkaru. Bi-Monthly Overland Summary of News, July 22, 1861. – ३५३

Bury Guardian, May 12, 1860. – २६०

Concordia, March 7, 1872. – ४८, ४६

— July 4, 1872. – ४६

— July 11, 1872. – ५०

Daily Telegraph, January 17, 1860. – २६५

Deutsch-Französische Jahrbücher, edited by A. Ruge and K. Marx, Paris, 1844. – ६३, १७१

Economist, London, March 29, 1845. – ७०६

— April 15, 1848. – २४६

— July 19, 1851. – ६२०

— January 21, 1860. – ६७०

— June 2, 1866. – ७७०

The European Messenger, May 1872. – २८

Evening Standard, London, November 1, 1886. – ४६

Glasgow Daily Mail, April 25, 1849. – ३३६

Journal of the Society of Arts, London, January 5, 1872. – ४४४

Macmillan's Magazine, August 1863. – २७७

Morning Advertiser, London, April 17, 1863. – ५०

Morning Chronicle (1845). – ७०८

Morning Star, London, April 17, 1863. – ५०, ६८४

— June 23, 1863. – २७७

— January 7, 1867. – ७०१

Neue Rheinische Zeitung, Köln, April 7, 1849. – ६११, ८०५

Neue Rheinische Zeitung. Politischökonomische Revue, Hamburg, April 1850. – ३१५

New York Daily Tribune, February 9, 1853. – ७६७

The Observer, London, April 24, 1864. – १५७

Pall Mall Gazette. – ६८६

Révolutions de Paris, Paris, 1791. – ७८०

Revue Positiviste, Paris, Nov./Dez. 1863. – २७

संसदीय रिपोर्टें और अन्य सरकारी प्रकाशन

विषय-निर्देशिका

इ

ई

उ

ए

औ

ख

ग

त

द

फ

भ

म

य

र

ल

व

श

ह

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन को इस पुस्तक के अनुवाद और डिज़ाइन के संबंध में आपकी राय जानकर और आपके अन्य सुझाव प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता होगी। अपने सुझाव हमें इस पते पर भेजें :

प्रगति प्रकाशन,

१७, ज़ूबोव्स्की बुल्वार, मास्को, सोवियत संघ।

Редактор русского текста *В. А. Дементьев*
Контрольный редактор *И. Г. Кудинова*
Художник *В. Н. Ходоровский*
Художественный редактор *Я. А. Маликов*
Технический редактор *Н. И. Касаткина*

ИБ № 14894

Фотоофсет. Подписано в печать 08.12.87.
Формат 70x108 1/16. Бумага офсетная № 1.
Гарнитура хинди. Печать офсетная.
Условн. печ. л. 77,44 + 0,17 печ. л. вклеек.
Усл. кр.-отт. 97,03. Тираж 10210 экз. Заказ №1351.
Цена 3 р. 90 к. Изд. № 41249.

Ордена Трудового Красного Знамени издательство "Прогресс" Государственного комитета СССР по делам издательств, полиграфии и книжной торговли.
119847, ГСП, Москва, Г-21, Зубовский бульвар, 17.
Отпечатано на Можайском полиграфкомбинате Союзполиграфпрома при Государственном комитете СССР по делам издательств, полиграфии и книжной торговли.
Можайск, 143200, ул. Мира, 93.